OUR OTHER PUBLICATIONS IN POLITICS

		Rs
१	राजनीतिक विचारों का इतिहास (Political Thought from Plato to Burke) *By* Dr Prabhu Dutt Sharma M A, Ph D (U S A) University of Rajasthan, Jaipur	16 00
२	तुलनात्मक राजनीतिक सस्थाए (Comparative Political Institutions) *By* Dr Prabhu Dutt Sharma, M A, Ph D (U S A)	16 00
३	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारभूमि (Theory of International Politics Theory) *By* Dr Prabhu Dutt Sharma, M A, Ph D (U S A) & H C Sharma M A	16 00
४	राजनीतिक निबन्ध (Political Essays) *By* Dr Prabhu Dutt Sharma, M A, Ph D (U S A)	10 00
५	भारत मे लोक–प्रशासन (Public Administration in India) *By* H C Sharma, M A	16 00
६	लोक प्रशासन के नये क्षितिज (Principles of Public Administration) *By* Dr Prabhu Dutt Sharma M A, Ph D (U S A)	20 00
७	तुलनात्मक लोक–प्रशासन (Comparative Public Administration) *(With special reference to the Administration in U K U S A, France and U S S R)* *By* H C Sharma	20 00

प्रकाशक
कॉलेज बुक डिपो
त्रिपोलिया, जयपुर

प्रथम सस्करण 1967

मूल्य बीस रुपये मात्र

मुद्रक
कालेज प्रेस
जयपुर

प्राक्कथन

पाश्चात्य राजनीति दर्शन के इतिहास में आधुनिक युग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। एक ओर जबकि वह प्राचीन और मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की भावभूमि पर खड़ा हुआ अतीत की उपज है तो दूसरी ओर उसमें उन सब के प्रति विद्रोह के अंकुर भी हैं जिनके कारण वे दोनों युग आधुनिक नहीं बन सके। बेन्थम, मिल, स्पेन्सर, मार्क्स, हीगल, ग्रीन और गांधी इस इतिहास के इतिवृत केवल नायक मात्र नहीं हैं वरन् उनके विचारों की द्वन्द्वात्मकता ही मानव विचारों के बौद्धिक विकास की वह आत्मा है जिसमें समुचा युग अपनी समग्र परिस्थितियों के साथ प्रतिबिम्बित एवं प्रति-ध्वनित होता सुनाई पड़ता है।

प्रस्तुत रचना इस आधुनिक राजनीतिक विचारों के इतिहास को विद्यार्थियों के हित की दृष्टि में संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिए तैयार की गई है। बहुत थोड़े शब्दों में, स्पष्ट ढंग से वे सभी मूल बातें कहने का प्रयास किया गया है जिनका आधार लेकर एक गम्भीर विद्यार्थी अपना अध्ययन अपने आप चला सकता है। भाषा-शैली एवं विवेचना की दृष्टि से भी सर-लता, स्पष्टता और बोधगम्यता की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहा गया है।

आशा है विद्यार्थी जगत इसे उपयोगी पायेगा और इसके अनुशीलन से लाभान्वित हो सकेगा।

अनुक्रमणिका

PART–SECOND

आदर्शवादी विचारक

(The Idealists)

PART–THIRD
विकासवादी विचारक
(The Evolutionists)

PART–FOURTH

सर्वहारावाद-मार्क्स से वर्तमान काल तक

(Proletarian Theory—From Marx to the Present Day)

PART-FIFTH

गांधी, लास्की, कोल और रसल के राजनैतिक विचार

(Political Ideas of Gandhi, Laski, Cole and Russel)

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन और उसकी पृष्ठभूमि

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के प्रथम ग्रंथ में प्राचीन यूनान के आरम्भ से लेकर बर्क तक के राजनीतिक विचार की समीक्षा की गयी थी। आधुनिक राजनीतिक विचारों की पृष्ठभूमि को समझने के संदर्भ में यह अनुपयुक्त नहीं होगा कि हम प्राचीन यूनान से चलकर ही आधुनिक युग तक के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास पर एक सरसरी निगाह डालें।

यूनान के नगर-राज्यों के स्वरूप का प्रभाव हमें यूनान के महान राजनीतिक विचारकों की विचारधारा पर स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। प्लेटो तथा अरस्तु के राजनीतिक विचारों की आधारशिला नगर-राज्य की प्रकृति पर ही टिकी हुई है। रोमन साम्राज्य की स्थापना से नगर-राज्य की स्वतन्त्रता छिन्न-भिन्न हो गई। नगर-राज्यों की दीवालें गिराकर महान रोमन साम्राज्य का स्वप्न साकार हुआ। स्टोइक्स के विचारों पर मूलतः इस नई स्थिति का प्रभाव पड़ा। तत्पश्चात् ईसाई धर्म का आविर्भाव हुआ जिससे यूनानी रोमन सभ्यता में एक नूतन तत्व का प्रवेश हुआ। शनैः शनैः ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राजकीय धर्म बन गया। इस तथ्य ने राजनीतिक विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान की तथा राजनीतिक विचारक पोपशाही तथा साम्राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने लगे। १६वीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन हुए तथा पश्चिमी यूरोप के क्षितिज पर राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ। इनके परिणामस्वरूप मध्यकालीन यूरोप का आधुनिकरण प्रारम्भ हुआ तथा राजनीतिक विचारधारा में भी एक नया मोड़ आया। राजनीतिक विचारक राष्ट्र राज्य की प्रकृति एवं स्वरूप का अध्ययन करने लगे। राष्ट्र राज्य का ऐसा स्वरूप सामने आया जो धर्म निरपेक्ष होने के साथ-साथ सर्व प्रभुसत्ता सम्पन्न था। इस शताब्दी में राजनीतिक विचारक राष्ट्र-राज्य के स्वरूप के संबंध में ही विचार करते रहे।

१७वीं शताब्दी में मुख्यतया दो राजनीतिक विचारधारायें रही। एक ओर राजनीतिक विचारकों ने राज्य के निरकुंशवाद का समर्थन किया और दूसरी ओर नागरिकों को स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये निरकुंशवाद पर कठोर प्रहार किया। एक ओर बोदां और हाब्स ने निरंकुशवाद का समर्थन किया तो दूसरी ओर लॉक ने सांविधानिक राजतंत्र का समर्थन किया। रूसो ने सर्वांगीण सम्पन्न लोकप्रिय सार्वभौमिकता का पक्ष लिया। माण्टेस्क्यू ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में दलील पेश की। कुछ समय पश्चात् फ्रांस में

एक महान् क्राति हुई । यह महान क्राति 'स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व' के सिद्धातो पर आधारित थी । ये सिद्धात अल्प समय मे ही सम्पूर्ण यूरोप के गूजने लगे । जन साधारण मे भी चेतना जाग्रत हुई । उनका मनोबल इतना दृढ हो गया कि आगे चलकर उन्होने नेपोलियन जैसी निरंकुश शक्तियों का भी डटकर विरोध किया । यह क्राति फ्रास तक ही सीमित नही रही वरन् इसका प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप एव उत्तरी अमरीका पर भी पडा । क्रातिकारियो की उग्रता बढ़ती देखकर इग्लैंड मे बर्क और अमेरिका मे हेमिल्टन तथा मेडीसन सरीखे नम्रवादियो को धक्का लगा तथा क्राति के विरुद्ध एक रूढिवादी प्रतिक्रिया का जन्म हुआ । टॉमस पेन ने बर्क के विरुद्ध लोकप्रिय संप्रभुता का प्रबल समर्थन किया । फ्रासीसी क्राति तथा लोकतत्र के सिद्धान्त के गुणो के मध्य विवाद उठ खडा हुआ जिसमे अनेक राजनीतिक दार्शनिको ने भाग लिया । यह क्राति फ्रास तक ही सीमित नहीं रही वरन् पूरे यूरोप तथा अमेरिका तक इसकी लहरें पहुँची । इस क्राति के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी शक्तियो का जन्म हुआ जिन्होने १९वी शताब्दी के राजनीतिक विचारो तथा घटनाओं पर गहरा प्रभाव डाला । इसी काल मे नेपोलियन बोनापार्ट का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शक्ति के आधार पर यूरोप मे निरकुश शासन की स्थापना की तथा जिसने लोकतन्त्र को पूर्णतया धराशायी कर दिया । नेपोलियन द्वारा विजित प्रदेशो मे देश-भक्ति और राष्ट्रीय भावना की धारा उमड पड़ी, यही आगे चलकर १९वी शताब्दी मे राष्ट्र-राज्य का एक प्रधान तत्व बन गई । इस शताब्दी मे सविधान-निर्माण का कार्य इतने बडे पैमाने पर हुआ जिसका उदाहरण मानव जाति के इतिहास मे उससे पहिले नही मिलता ।

फ्रास की इस क्राति के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण क्राति हुई जिसका आरम्भ तो १८वी शताब्दी में हुआ किन्तु जिसके परिणाम १९वीं शताब्दी मे परिलक्षित हुए । यह क्राति एक यान्त्रिक क्राति थी । इस यात्रिक क्राति ने मानव जीवन मे एक आमूलचूल परिवर्तन कर डाला । यह घटना मानव इतिहास मे अपना सानी नहीं रखती । ऐसा परिवर्तन इससे पूर्व कभी नहीं हुआ था । दो हजार वर्षो से मानव जाति जिस विचार एव व्यवहार मे विश्वास करती चली आ रही थी वह सब इन दो पीढियो मे ही बदल गया । नगर–जीवन से होने वाले समस्त परिवर्तन भी इसके सामने लुप्त हो गये । १९वी और २०वी शताब्दी के राजनीतिक विचारो को भली प्रकार हृदयगम करने के लिये उस परिवर्तन का ज्ञान लेना अति आवश्यक है जो कि औद्योगिक क्राति के परिणामस्वरूप हुआ ।

औद्योगिक क्राति—१८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भाप से चलनेवाले इजिन का आविष्कार हुआ और उसी क्षण से औद्योगिक क्राति का श्रीगणेश हुआ । धीरे-धीरे मशीनो को चलाने के लिये वाष्प-इंजिन का प्रयोग किया जाने लगा । १९वीं शताब्दी मे अनेकानक अन्य आविष्कारो से उसका विकास हुआ । इस विकास का परिणाम यह हुआ कि शिल्पकारी तथा कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई तथा उसके स्थान पर यान्त्रिक उत्पादन पद्धति आ गई । इसमे यन्त्रीकरण तथा केन्द्रीकरण की समस्याए पैदा हो गई । यान्त्रिक उत्पादन पद्धति ने एक नवीन सभ्यता का जन्म दिया जो कि नगरो मे

केन्द्रित हुई। इस क्रांति के परिणामस्वरूप एक नवीन मध्यम वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह नवीन वर्ग अपनी शक्ति से परिचित था तथा इस शक्ति का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये करना चाहता था। यन्त्रकला का इतना महत्व बढ़ा कि उसी के नाम पर इस युग का नामकरण भी कर दिया गया। यन्त्रकला का असीम विकास हुआ; वायुयान, वायरलेस, टेलीविजन, परमाणु तथा उद्जन बम आदि सब यन्त्रकला के विकास की सृष्टि हैं।

औद्योगिक क्रांति के अनेक परिणाम हुए। एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या में काफी वृद्धि हो गई। एक बात यह और हुई कि गांवों में रहनेवाले लोग नागरिक जीवन की ओर आकृष्ट हुये। बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य गांवों को छोड़कर नगरों की ओर जाने लगे। इस प्रकार नगरों की आबादी बहुत बढ़ गई। इस वृद्धि से नई-नई आर्थिक और सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो गई। स्वास्थ्य, शिक्षा, पारिवारिक जीवन में अनेक समस्यायें पैदा हो गई। नगरों में जनसंख्या का जो केन्द्रीकरण हुआ, उसके कुछ अच्छे परिणाम भी निकले। इससे लोगों के विचार तथा जीवन की प्रवृत्तियों में एक अद्भुत परिवर्तन आ गया।

अपनी औद्योगिक प्रगति तथा यन्त्रकला की कुशलता के कारण यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के देशों से आगे निकल गया। १९वीं शताब्दी में यूरोपीय देश साम्राज्य विस्तार में लग गये। विजित देशों का शोषण किया जाने लगा। इंग्लैंड ने भारत, बर्मा, मलाया, चीन, ईरान तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। यूरोपीय ताकतों ने अफ्रीका को आपस में बांट लिया। १९वीं शताब्दी में साम्राज्यवादी विचारधारा की प्रमुखता रही। आर्थिक राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद ये दो औद्योगिक क्रांति के महान परिणाम थे। अपने औद्योगिक प्रगति एव यान्त्रिक कला-कौशल के बल पर ही अमेरिका दुनियां के अन्य देशों से काफी आगे बढ़ गया।

औद्योगिक क्रान्ति का एक अन्य परिणाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसने राजनीतिक विचार को अधिक प्रभावित किया है। यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप मालिक और मजदूरों के सम्बन्ध बिल्कुल बदल गये और समाज में एक नवीन श्रमिक वर्ग का जन्म हुआ। १९वीं शताब्दी में सरकारों ने 'लैसे फेयर' (*Laissez Faire*) की नीति अपनाई। इससे आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतिस्पर्धा होती रही जिसके परिणामस्वरूप मजदूरों का शोषण होता रहा। मजदूरों के इस शोषण को देखकर कुछ लोगों ने सुधारों की मांग की। इस प्रकार कल्पनावादी (*Utopian*) समाजवाद का जन्म हुआ। इसके बाद कार्ल मार्क्स ने समाजवादी विचार को एक नई दिशा प्रदान की। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा २०वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाज में एक नवीन व्यवस्था की स्थापना करने वाले समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतों का व्यापक प्रचार हुआ। मार्क्स के सिद्धांतों से श्रमिक वर्ग में राजनीतिक चेतना आई और वह संगठित हो गया।

यन्त्रीकरण ने यातायात तथा आवागमन को काफी सुविधाजनक बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय बाजारों ने विश्व बाजार तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं ने विश्व अर्थ व्यवस्थाओं का रूप ले लिया। विश्व

मे मजदूर विश्व व्यापी सगठन मे सगठित होने लगे। विश्व साम्यवाद की समावना न पूजीपति देशों को एक ओर सगठित कर दिया तथा वे साम्यवाद के बढने हुए प्रवाह को रोकने के लिए अनेक साधनो का प्रयोग करने मे सलग्न हुए। आज स्थिति यह है कि सारा विश्व दो परस्पर गुटो मे विभक्त है तथा तृतीय महायुद्ध के बादल मडरा रहे हैं।

राजनीतिक सिद्धांतों का ऐतिहासिक विकास—१६वीं शताब्दी में न केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही क्रांति हुई वरन बौद्धिक क्षेत्र मे भी एक महान् क्रांति हुई। १८५६ ई० मे चार्ल्स डारविन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ओरिजिन आफ स्पीसिज' (*Origin of Species*) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने बौद्धिक क्षेत्र मे एक हलचल पैदा कर दी। विकास का एक नया क्रम सामने आया। राजनीतिक विचारकों ने विकास की भाषा मे सोचना आरम्भ कर दिया। प्रत्येक क्षेत्र मे विकासवादी सिद्धात लागू किया गया। जीवशास्त्र, समाज-रचना शास्त्र मनोविज्ञान शास्त्र, आचार शास्त्र भू गर्भ शास्त्र, तथा ज्योतिष शास्त्र सभी पर इसका प्रभाव पडा। इस प्रकार की विचारधारा का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अब तक धर्म तथा मानवीय विषयक मनुष्य की परम्परागत धारणायें सरल मान्यताओ पर आधारित थी, पर अब उन मान्यताओं मे उतना विश्वास नहीं रह गया तथा उनका परीक्षण किया जाने लगा। धीरे-धीरे विज्ञान भी अपने चरण आगे बढा रहा था। विज्ञान की प्रगति से मानव की धम मे आस्था हिल उठी। शिक्षा का प्रसार तेजी से हुआ इससे भी परम्परा तथा धर्म के प्रति लोगो की आस्था में फर्क आया।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे लेकर बीसवीं शताब्दी तक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। इस काल मे अनेक विचारक हुए उनके विचारो से प्रभावित होकर अनेक क्रांतिया हुई। इस काल की प्रमुख विशेषता यह रही कि इसमे अनेक प्रभावशाली विचारधाराओ का उत्कर्ष एव अपकर्ष हुआ। इन विचारधाराओ ने राजनीतिक क्षेत्र मे उथल पुथल मचा दी तथा नवीन क्रांतियो को जन्म दिया। अमेरिका तथा फ्रास मे राज्य-क्रांतिया हुई, उसी समय औद्योगिक क्रांति भी हुई। इन सबने मानवीय विचारधारा को ही प्रभावित नही किया वरन मनुष्यो के सोचने का ढग ही बदल गया। राजनीतिक विचारधारा में एक नवीन चेतना अनुभव की जाने लगी। इसके परिणामस्वरूप जन-जीवन के सामाजिक, राजनैतिक एव आर्थिक क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवतन हुए।

इस काल मे मॉण्टेस्क्यू, वाइको, ह्यूम, बर्क आदि अनेक ऐतिहासिक विचारक हुए। इन्होने अपनी तर्कशक्ति से सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को कसौटी पर कसा। वह इस कसौटी पर खरा नहीं उतरा, अतएव उसकी कोई उपयोगिता नही रह गई। इन महान् विचारको ने राजनीतिक विचारधारा की प्रणाली पर अधिक बल दिया। इससे अनेक नयी राजनीतिक विचारधाराओ का जन्म हुआ।

१८वीं शताब्दी मे 'उपयोगितावाद' की राजनीतिक विचारधारा ने अत्यधिक जोर पकडा। 'उपयोगितावाद' ने तर्कवादी युग के भावात्मक सिद्धान्तो का खण्डन किया। इसने, जो मौलिक रूप से इंगलैंड की राजनीतिक

दार्शनिकता की उपज है, व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग मानते हुए यह मान्यता प्रकट की कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह उसकी उपयोगिता को देखकर ही करता है। प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृति यही होती है कि वह अधिकाधिक सुख प्राप्त करे और दुःख से दूर रहे। वह वही काम करता है जिससे उसे सुख मिले, और वह प्रत्येक ऐसे कार्य को करने के लिए अनिच्छुक रहता है जिससे उसे मिलने की सम्भावना न हो। समाज का प्रत्येक व्यक्ति इसी इच्छा से प्रेरित होता है, अतः समाज में एक नियमित व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्थिर रखने के लिए राज्य की आवश्यकता अनुभव होती है। राज्य का उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' करे। उपयोगितावाद के प्रवर्तकों में डेविड ह्यूम, प्रीस्टले और हचिसन के नाम लिये जाते हैं। जर्मी बेन्थम उपयोगितावादियों में सर्वाधिक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न विद्वान हुआ और उसके बाद अन्त में जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन करते हुए बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों की पुनर्समीक्षा की। १९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में ब्रिटेन पर उपयोगितावादी चिन्तन की ही प्रधानता छायी रही।

उपयोगितावाद इंगलैण्ड मे औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न स्थिति से सामना करने मे असमर्थ रहा और प्रवृति समष्टिवाद की ओर उन्मुख हुई जिसका कोई औचित्य उपयोगितावाद के पास न था। इन परिवर्तित परिस्थितियों में उपयोगितावाद को राजनीतिक रूप से निष्फल अनुभव किया गया। विचारशील व्यक्ति यह सोचने लगे कि राज्य के स्वरूप और उसके व्यक्ति से सम्बन्ध के किसी उपयुक्त सिद्धांत की रचना करने से पूर्व शुरुआत ही एक नवीन सिरे से करनी होगी। उन्हें विश्वास हो चला कि मानव-स्वभाव की उपयोगितावादी खोखली धारणा की जगह एक अधिक ठोस धारणा प्रस्थापित करनी होगी। यह कार्य आदर्शवादियों ने किया जिनके विचार का केन्द्र बिन्दु सामाजिक सम्पूर्ण है और जिसके साथ वे व्यक्ति का सामजस्य करना चाहते हैं। इंगलैण्ड में टॉमस हिल ग्रीन ने उदारवादी आदर्शवाद की वास्तविक अर्थों में नींव रखी, यद्यपि वहां आदर्शवादी धारा का प्रवाह तात्कालिक रूप से जर्मन दार्शनिक आदर्शवाद का आगमन था। जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात इमेनुअल काण्ट से हुआ और इसकी चरम परिणति हीगल में देखने को मिली। आदर्शवादियों ने सर्व सामान्य प्रमुख सिद्धांतों को प्रस्थापित करते हुए यह माना कि राज्य एक नैतिक और अनिवार्य संस्था है, राज्य सर्वशक्तिमान है तथा उसमें और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है, राज्य का अपना उद्देश्य व व्यक्तित्व है तथा वह मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। आदर्शवादियों ने राजाज्ञा-पालन को स्वतन्त्रता माना और राज्य को अधिकारों का जन्मदाता बताया।

१९वीं शताब्दी की उपयोगितावादी तथा उग्रवाद एवं उदारवाद इन दो रूपों को लिए हुए आदर्शवादी चिन्तन ने तो प्रभावित किया ही, किन्तु इनके अतिरिक्त एक अन्य विचारधारा ने भी १९वीं सदी के चिन्तन को एक नया मोड़ दिया। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यह विचारधारा वैज्ञानिक विचारधारा के नाम से प्रख्यात है। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने मानव-

जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के शब्दों में करने का प्रयास किया। उन्होंने राज्य और उसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए जीव-शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया। दूसरी ओर कतिपय ऐसे दार्शनिक हुए जिन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त समझा। यदि हरबर्ट स्पेन्सर जीव-शास्त्रीय व्याख्या के जनक के रूप में सामने आया तो बेजहॉट मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अग्रदूत बना। स्पेन्सर ने आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र को जीवन के नियमों के विज्ञान के समान और उनका एक अंग माना तथा अपने विकासवादी दर्शन के द्वारा भौतिक शास्त्र एवं जीवशास्त्र जैसे दो विभिन्न विषयों को समन्वित करने का प्रयास किया। बेजहॉट ने सामाजिक और राजनीतिक व्यापार के प्रति मनोवैज्ञानिक पद्धति को ग्रहण किया जिसे अन्य अनेक ब्रिटिश, फ्रेंच एवं अमेरिकन विद्वानों ने विकसित किया। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि बेजहॉट के समय से ही राजनीतिक सिद्धांतवादी सामाजिक मनोवैज्ञानिक बन गये हैं। मानव-जीवन की समस्याओं के समाधान में मनोविज्ञान का प्रयोग आज का फैशन बन गया है। इस प्रसंग में हमें मेन (*Main*) तथा सेविग्नी (*Savigny*) सरीखे विचारकों को भी नहीं भूलना चाहिए जिनकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक थी।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स और एंजिल्स के सिद्धान्तों ने राजनीतिक कल्प-विकल्प पर व्यापक प्रभाव डाला और वह प्रभाव २०वीं शताब्दी के आज के चिन्तन पर भी व्यापक रूप से छाया हुआ है। आज का तो युग ही समाजवाद का युग कहा जाता है जो किसी न किसी रूप में संसार के करोड़ों व्यक्तियों का एक धर्म सा बन गया है, और उनके विचारों एवं कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से टामस मूर ने एक आदर्शवादी समाजवादी व्यवस्था का चित्र खींचा। तत्पश्चात् इसके सूत्रधारों में कल्पनावादी विचारक सेण्ट साइमन तथा फोरियर और उनके समकालीन रोबर्ट ओवन एवं कुछ अन्य विचारक हुए। इन सब ने १६वीं शताब्दी में संसार के सामने समाजवाद के विकासवादी, अहिंसात्मक या शान्तिवादी तथा आदर्शवादी पक्ष पर बल दिया। लेकिन राजनीति में कार्ल मार्क्स के पदार्पण ने समाजवादी शान्तिपूर्ण धारा को भयंकर, वेगवती और क्रान्तिकारी नदी में परिवर्तित कर दिया। पूंजीवाद, स्वतन्त्र व्यापार तथा प्रतिस्पर्द्धा और 'लैसे फेयर' के सिद्धान्तों पर, जिन पर कि गतियुग का सामाजिक ढांचा आधारित था, मार्क्स और एन्जिल्स ने कड़ा प्रहार किया। उन्होंने समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और उसे केवल क्रान्ति ही मानकर जनक्रान्ति के रूप में बदल दिया। आज के युग में समाजवाद के विकासवादी और क्रांतिवादी दोनों ही रूप स्पष्ट रूप से वर्तमान राजनीति में ढूढ़े जा सकते हैं। रूसी और चीनी साम्यवाद मार्क्सवाद के ही रूसी और चीनी संस्करण हैं।

कार्ल मार्क्स और एन्जिल्स से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले विचारकों ने सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। कट्टर मार्क्सवाद की अपेक्षा प्रजातांत्रिक एवं विकासवादी समाजवाद इंगलैण्ड की धरती के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ और वहां नाना-समाजवादी

आन्दोलनों ने जन्म लिया जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'फेबियनवाद' सिद्ध हुआ। १८८७ में फेबियनवादियों ने अपने समाज का उद्देश्य प्रकट करते हुए कहा कि फेबियन समाज समाजवादियों का समाज है जिसका उद्देश्य समाज का नव-सगठन करना है, यह नया संगठन भूमि तथा उद्योगधन्धों को व्यक्तिगत तथा वर्ग के स्वामित्व से निकाल कर समाज को उसका स्वामी बनाकर किया जायेगा जिससे सब सामान्य लाभ के लिए कार्य करें और केवल इस रीति से ही समस्त लाभों का समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जा सकेगा। वास्तव में फेबियनवाद ने क्रांति और हिंसा से दूर रहते हुए वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना करने का आग्रह किया है और विनाश की अपेक्षा सुधार को अधिक महत्व दिया है। विकासवादी समाजवाद का एक महत्वपूर्ण पहलू समष्टिवाद के रूप में सामने आया जिसे राज्य समाजवाद, समूहवाद आदि नामों से भी पुकारा जाता है। यह समाजवाद का एक परिष्कृत सम्प्रदाय है जो समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शांतिपूर्ण उपायों पर बल देता है। समष्टिवादी परिवर्तन को क्रमिकता में विश्वास रखते हुए चाहते हैं कि राज्य में समाजवादी क्रांति बिना किसी रक्तपात तथा हिंसा के धीरे-धीरे लायी जाय। विकासवादी समाजवाद की एक प्रमुख शाखा पुनर्विचारवाद के रूप में प्रतिफलित हुई जिसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्याता बर्नस्टाइन हुआ। पुनर्विचारवादियों द्वारा मार्क्स के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी और इस बात पर बल दिया गया कि मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल दिया जाना चाहिए और परिवर्तित परिस्थितियों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों में आवश्यकतानुसार संशोधन किये जाने चाहिए।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन के गर्भ से श्रमजीवी वर्ग के लिए श्रमी संघवाद नामक एक नये सामाजिक सिद्धान्त का जन्म हुआ। यह एक क्रांतिकारी विचारधारा है जो शांति और विकासवाद दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार कर मजदूरों को तुरन्त सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना चाहती है। इस विचारधारा में मजदूरों का स्वाधीनता प्रेम इस सीमा तक पहुँच गया है कि यह औद्योगिक क्षेत्र उद्योगपतियों के अधिकार के विरुद्ध ही नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध भी विद्रोह करती है। संघवाद उद्योगों का संचालन व स्वामित्व राज्य के हाथों में न देकर मजदूरों के हाथ में रखना चाहता है। समाजवाद की एक अन्य प्रशाखा, जिसे हम समाजवाद का अंग्रेजी संस्करण कह सकते हैं, श्रेणी समाजवाद है। मध्यमार्गीय यह विचारधारा अंग्रेजी फेबियनवाद और फ्रेन्च संघवाद का 'बुद्धिजीवी शिशु' है जिसका प्रतिपादन २०वीं शताब्दी की प्रथम एवं द्वितीय दशाब्दियों में किया गया। सामान्य रूप में श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य उद्योग में उन लोगों के स्वराज्य की स्थापना करना, जो उसमें संलग्न हैं तथा वर्तमान वेतन प्रथा का अन्त करना है। इसके अनुसार एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए जिसमें श्रमिकों की रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण हो सके। पूंजीवादी व्यवस्था और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का विनाश करके वह चाहता है कि इनके स्थान पर औद्योगिक समाज में उत्पादकों के संघ हों और ये संघ संख्या में इतने हों जितने कि

समाज मे होनेवाले कार्य। क्रमिक परिवर्तन में विश्वास करनेवाली इस विचारधारा का आज सक्रिय राजनीति से एक प्रकार स सन्यास हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ म आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की दो अन्य महत्वपूर्ण विचारधाराओ अराजकतावाद एव गाधीवाद पर प्रकाश डाला गया है। अराजकतावाद किसी निश्चित सिद्धान्त का नाम नहीं है अपितु एक आधारभूत विचार का सूचक है जिसे कतिपय विचारकों ने अपनाकर अपने अपने ढग से व्यक्त किया है। इसका आधारभूत विचार यह है कि राजनीतिक शक्ति किसी भी रूप मे एक बुराई है, अन अवाछनीय एव अनावश्यक है। मानवीय सम्बन्धो मे न्याय की स्थापना करने के लिए राज्य को समूल नष्ट कर दिया जाना चाहिए और उसके स्थान पर एक स्वतन्त्र समाज का सगठन किया जाना चाहिए जिसमे सामन्जस्य की स्थापना उत्पादन उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की नाना आवश्यकताओं को सतुष्ट करने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक बनाये गये विभिन्न सगठनो मे स्वतन्त्र समझौते द्वारा होती है। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योकि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है। गाधीवाद, जो आज के युग की एक अत्यन्त सजीव, सुधारवादी और प्राणदायिनी विचारधारा है, इस रूप मे अराजकतावादी है कि यह आधुनिक केन्द्रीभूत राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु समझती है। यह दमन वैयक्तिक सम्पत्ति और निर्बाध प्रतिस्पर्धा पर आधारित वतमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर सत्य और अहिंसा पर आधारित ऐसे नवीन समाज की रचना करना चाहता है जिसमे व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। इस तरह यह मार्क्सवाद या साम्यवाद, अराजकतावाद या अन्य और किसी वाद की अपेक्षा अधिक जीवन्त और अधिक क्रातिकारी है। अन्त मे समकालीन राजनीतिक विचार-क्षेत्र के तीन महारथियो लास्की, कोल तथा रसल के विचार पठनीय हैं।

PART – FIRST
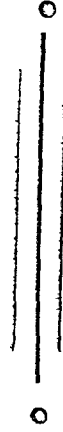
उपयोगितावादी विचारक
(The Utilitarians)

१. जर्मी वेन्थम

२. जॉन स्टुअर्ट मिल

'Happiness is the only ultimate criterion and liberty must submit itself to that criterion. The end of the state is the maximum happiness, not the maximum liberty."

—*Wayper*

"Sum up all the values of all the pleasures on the one side, and those of all the pains on the other. The balance if it be on the side of pleasure, will give the good tendancy of the act upon the whole, with respect to the interests of that individual," if on the side of pain, the bad tendency if it upon the whole persons."

—*Benthem*

'If all mankind minus one were of my opinion and only one person were of the contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he, if had not the power, would be justified in silencing mankind."

—*John Stuart Mill*

जर्मी बेंथम
(JEREMY BENTHAM)
(1748–1832)

उपयोगितावाद मौलिक रूप से इंगलैण्ड की राजनीतिक दार्शनिकता की ही उपज है, क्योंकि इसके सभी मूल लेखक इंगलैण्ड के ही निवासी थे। इस दर्शन ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया और इसका महत्व इतना बढ़ा कि उस युग को ही उपयोगितावादी युग (Utilitarian Age) के नाम से पुकारा जाने लगा। १९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में ब्रिटेन पर उपयोगितावादी चिन्तन की प्रधानता रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान तथा नैतिक तर्क-वितर्क में लोगों की दिलचस्पी बढ़ी और व्यावहारिक राजनीति में सामाजिक सुधार तथा मंगलकारी विवेचन इतने बड़े पैमाने पर हुआ जितना कि पहले कभी सोचा भी न गया था।[1]

डा० वेपर (Wayper) ने लिखा है कि "उपयोगितावाद के प्रवर्तक डेविड ह्यूम, प्रीस्टले और हुचिसन थे। पेले ने इसका प्रतिपादन किया, हेलविटियस और वकेरिया के विदेशी विचार-स्रोतों ने इसका परिपोषण। सर्वप्रथम जर्मी बेंथम के समय से, जो सब उपयोगितावादियों में सर्वाधिक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् था, इस विचारधारा के समर्थकों का संगठन होने लगा। बेंथम के उत्साही और रूढ़िवादी जेम्स मिल के साथ संसर्ग ने, जिसने बेंथम को उग्रवादियों में मिला लिया, कठोर अर्थशास्त्रियों को बेंथम की विचारधारा के घनिष्ट सम्पर्क में ला दिया, उन प्रसिद्ध व्यक्तियों के संगठन को जन्म दिया जिन्हें हम उपयोगितावादी अथवा दार्शनिक उग्रवादी के नाम से पुकारते हैं।"

उपयोगितावाद की ऐतिहासिक परम्परा (History of Utilitarianism)—उपयोगितावाद अपने नूतन रूप में यद्यपि १९वीं शताब्दी का ही

---

1. "Their views helds way for the greater part of the nineteenth century, and the result was awakened interest psychological investigation and ethical discussion; and in active politics, social reforms and beneficent legislation to an extent that had previously been unthought of."

—*Davidson*, op. cit., P. 249

दर्शन है, तथापि आचार शास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान की एपीक्यूरियन प्रणाली (Epicurian School) से माना जा सकता है। प्राचीन यूनान के निवासी राज्य को एक नैतिक पुरुष मानते थे। एपीक्यूरियन प्रणाली के समर्थक मनुष्य को पूर्णत सुखवादी मानते थे। उनका विचार है कि मनुष्य सुख की ओर दौडता है तथा दुख से मुख मोडता है। यूनानियो ने राज्य को नैतिक सस्था मानते हुए भी, उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार नही किया और स्वाभाविक होने के साथ साथ उसे मनुष्य की आवश्यकता पूर्तियो के लिये आवश्यक माना।

१७वी शताब्दी मे उपयोगितावादी परम्परा का थोडा सा विकास सामाजिक अनुबन्ध के लेखकों अथवा दार्शनिकों (Social Contract Philosophers) ने किया। हॉब्स (Hobbes) ने अपने मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद (Psychological Materialism) के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मनुष्य पशुवत् आचरण करनेवाला एक सुखदायी प्राणी (Hedonistic Being) है जिसमे नतिक भावनाओ का अभाव पाया जाता है। लॉक (Locke) के राज्य का अस्तित्व भी हॉब्स के राज्य की भांति ही उपयोगितावादी है और वह इसलिये बनाया गया है कि उसके बिना प्राकृतिक अवस्था की विपत्तिया नही मिट सकती। पाश्चात्य दर्शन के सिरेनायक वर्ग (Cyranaics Schools) के प्रचारको ने भी उपयोगितावाद का प्रचार किया था। १८वी शताब्दी मे एक प्रमुख विचारक कम्बरलैण्ड (Comberland) ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए राज्य की उपयोगिता के सामने उसके नैतिक अस्तित्व (Moral Existance) तथा विवेकपूर्ण चेतना (Rational Consciousness) आदि सब सिद्धान्तो को गौण (Secondary) बताया।

वर्तमान काल मे बुद्धिवादो विकास के साथ साथ भौतिक सुखवाद का दर्शन राजनीति के क्षेत्र मे पुन प्रवेश करने लगा है। उपयोगितावाद का स्पष्ट रूप मे मूल लेखक डेविड ह्यूम को समझा जाता है। लस्ली स्टीफेन के मतानुसार उपयोगितावाद का जैसा सगतिबद्ध रूप डैविड ह्यूम ने प्रस्तुत किया है, उतना १९वी शताब्दी के किसी भी लेखक ने नही किया है। उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तो मे स्टुअर्ट मिल तक कोई आधारभूत परिवर्तन नही हुआ। १९वी शताब्दी को इगलैण्ड की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितिया इस सिद्धान्त को एक निश्चित धारा के रूप मे बदलने मे बहुत सहायक सिद्ध हुई और मिल, बेंथम तथा आस्टिन आदि विचारको के हाथों मे पडकर यह १९वीं शताब्दी की एक बहुत महत्वपूर्ण विचारधारा बन गई।

उपयोगितावादी सिद्धान्त
(Principles of Utilitarianism)

'उपयोगितावाद' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, एक ऐसा दर्शन है जो किसी भी वस्तु के नैतिक अथवा भावात्मक पक्ष को न देखकर उसके यथार्थवादी पक्ष को ही देखता है। उपयोगितावाद की एक सर्वसामान्य परिभाषा करना इसलिये कठिन है कि इस दर्शन को किसी एक विद्वान ने समुचित रूप

से एक बार प्रतिपादित करके प्रसारित नहीं किया। मौलिक रूप से यह एक आन्दोलन था। जिस समय एक ओर तो धर्म प्रचारक और कवि लोग व्यक्ति के मूल्य और गौरव पर बल देते हुए आदर्शों की प्रतिस्थापना कर रहे थे तथा दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति मानव जीवन को पतनोन्मुख बनाते हुए मनुष्य को कठोर एवं भयावह स्थिति में कार्य करने को विवश कर रही थी। उस समय, आदर्श तथा यथार्थ में विरोध की कठिन स्थिति में, सर्व साधारण के कष्टों के निवारणार्थ **"बेंथम जैसे क्रान्तिकारी सुधारकों ने मनुष्य के सुखोप-भोग के अधिकार पर बल दिया और सरकार के सामने जीवन तथा कार्य की स्थितियों में सुधार करने और उन्हें नियमित करने की तुरन्त आवश्यकता को प्रभावशाली ढंग से रखा।"** परिवर्तनशील युग की आवश्यकताओं के अनुसार इस 'आन्दोलन' में परिवर्तन करना पड़ा, लेकिन परिवर्तनों की गोद में खेलते हुए भी, एक मूल विचारधारा विद्यमान रही जिसे हम लगभग सभी उपयो-गितावादी विचारकों के लेखों में पाते हैं।

दर्शन है, तथापि आचार शास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान की एपीक्यूरियन प्रणाली (Epicurian School) से माना जा सकता है। प्राचीन यूनान के निवासी राज्य को एक नैतिक पुरुष मानते थे। एपीक्यूरियन प्रणाली के समर्थक मनुष्य को पूर्णत मुखवादी मानते थे। उनका विचार है कि मनुष्य सुख की ओर दौडता है तथा दुख से मुख मोडता है। यूनानियो ने राज्य को नैतिक सस्था मानते हुए भी, उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार नही किया और स्वाभाविक होने के साथ साथ उसे मनुष्य की आवश्यकता-पूर्तियों के लिये आवश्यक माना।

१७वी शताब्दी मे उपयोगितावादी परम्परा का थोडा सा विकास सामाजिक अनुबन्ध के लेखको अथवा दार्शनिको (Social Contract Philosophers) ने किया। हॉब्स (Hobbes) ने अपने मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद (Psychological Materialism) के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मनुष्य पशुवत् आचरण करनेवाला एक सुखदायी प्राणी (Hedonistic Being) है, जिसमे नतिक भावनाओ का अभाव पाया जाता है। लॉक (Locke) के राज्य का अस्तित्व भी हॉब्स के राज्य की भाति ही उपयोगितावादी है और वह इसलिये बनाया गया है कि उसके बिना प्राकृतिक अवस्था की विपत्तिया नहीं मिट सकती। पाश्चात्य दर्शन के सिरेनायक वर्ग (Cyranaics Schools) के प्रचारको ने भी उपयोगितावाद का प्रचार किया था। १८वी शताब्दी म एक प्रमुख विचारक कम्बरलैण्ड (Comberland) ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए राज्य की उपयोगिता के सामने उसके नैतिक अस्तित्व (Moral Existance) तथा विवेकपूर्ण चेतना (Rational Consciousness) आदि सब सिद्धान्तो का गौण (Secondary) बताया।

वतमान काल मे बुद्धिवादी विकास के साथ साथ भौतिक सुखवाद का दर्शन राजनीति क क्षेत्र म पुन प्रवेश करन लगा है। उपयोगितावाद का स्पष्ट रूप म मूल लेखक डेविड ह्यू म को समझा जाता है। लेस्ली स्टीफेन के मतानुसार उपयोगितावाद का जैसा सगतिबद्ध रूप डेविड ह्यू म ने प्रस्तुत किया है, उतना १६वी शताब्दी के किसी भी लखक ने नही किया है। उसके द्वारा प्रस्तुत किये गय सिद्धान्तो ने स्टुअर्ट मिल तक कोई आधारभूत परिवतन नहीं हुआ। १६वी शताब्दी को इ गलैण्ड की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितिया इस सिद्धान्त को एक निश्चित धारा के रूप मे बदलन म बहुत सहायक सिद्ध हुई और मिल, बेथम तथा आस्टिन आदि विचारको के हाथो मे पडकर यह १६वीं शताब्दी की एक बहुत महत्वपूर्ण विचारधारा बन गई।

उपयोगितावादी सिद्धान्त
(Principles of Utilitarianism)

'उपयोगितावाद' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, एक ऐसा दर्शन है जो किसी भी वस्तु के नैतिक अथवा भावात्मक पक्ष को न देखकर उसके यथार्थवादी पक्ष को ही देखता है। उपयोगितावाद की एक सर्वसामान्य परिभाषा करना इसलिये कठिन है कि इस दर्शन को किसी एक विद्वान ने समुचित रूप

से एक बार प्रतिपादित करके प्रसारित नहीं किया। मौलिक रूप से यह एक आन्दोलन था। जिस समय एक ओर तो धर्म प्रचारक और कवि लोग व्यक्ति के मूल्य और गौरव पर बल देते हुए आदर्शों की प्रतिस्थापना कर रहे थे तथा दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति मानव जीवन को पतनोन्मुख बनाते हुए मनुष्य को कठोर एवं भयावह स्थिति में कार्य करने को विवश कर रही थी। उस समय, आदर्श तथा यथार्थ में विरोध की कठिन स्थिति में, सर्व साधारण के कष्टों के निवारणार्थ "बेंथम जैसे क्रान्तिकारी सुधारकों ने मनुष्य के सुखोप-भोग के अधिकार पर बल दिया और सरकार के सामने जीवन तथा कार्य की स्थितियों में सुधार करने और उन्हें नियमित करने की तुरन्त आवश्यकता को प्रभावशाली ढंग से रखा।" परिवर्तनशील युग की आवश्यकताओं के अनुसार इस 'आन्दोलन' में परिवर्तन करना पड़ा, लेकिन परिवर्तनों की गोद में खेलते हुए भी, एक मूल विचारधारा विद्यमान रही जिसे हम लगभग सभी उपयो-गितावादी विचारकों के लेखों में पाते हैं।

उपयोगितावादी दर्शन ने सुखवाद (Hedonism) से प्रेरणा ली है जिसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, और दुख से सदैव बचने की कोशिश करता है। उपयोगिता का अंकन सुख और दुःख की मात्रा से होता है। किसी कार्य के अच्छे या बुरे होने की परीक्षा उससे प्राप्त होनेवाले सुख या दुःख की मात्रा से की जाती है। बुरा काम वही है जिसके करने से दुःख होता है और अच्छा कार्य वह है जिसके करने से सुख होता है। यह सत्य है कि जीवन में अन्य बातें भी अपना-अपना स्थान रखती हैं किन्तु मुख्य संघर्ष सुख और दुःख में ही है। बेंथम के शब्दों में "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख, दो प्रभुत्व-सम्पन्न स्वामियों की सत्ता में रखा है। इनका शासन हम पर, हम जो भी बोलते हैं और जो भी सोचते हैं, उस सब पर है और उनकी बेड़ियां उठा फेंकने का प्रयत्न हमारी दासता का प्रदर्शन और उसकी पुष्टि करता है। एक व्यक्ति शब्दों में उनके शासन से बचने का बहाना भले ही कर ले, किन्तु वास्तविकता में वह सदैव उनके अधीन ही रहेगा।"[1] यही वह प्रथम सिद्धान्त है जिस पर लगभग सभी उपयोगितावादी एकमत हैं। उपयोगितावादी सिद्धान्त व्यक्ति के आनन्द के आधार बिन्दु को लेकर ही आगे बढ़ता है। इसके अनुसार व्यव-स्थापकों (Legislators) एवं राजनीतिज्ञों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे नियम

---

1. "Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure. It is for them alone to point out what we ought to do, as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the chain of causes and effects are fastened to their throne. They govern us in all we think every effort we can make to throw off our subjection will serve but to demonstrate and confirm it. In words a man may pretend to abjure their empire; but in reality he will remain subject to it all the while."

—*Bentham*, Principles of Moral and Legislation, P. 1

बनाये जिनसे अधिक से अधिक मनुष्यों को सुख पहुचे तथा उनके दुख कम हो। उपयोगितावाद के सुखवादी सिद्धान्त का अभिप्राय समझ लेने पर यह स्पष्ट है कि उपयोगितावाद किसी भी प्रकार के आत्मानुभूतिवाद (Intuitionism) से भिन्न है जिसके अनुसार कुछ कार्य अपने परिणामो से अलग भी स्वभावत अच्छे अथवा बुरे होते हैं। जहा काण्ट (Kant) जैसा आत्मानुभूतिवादी कहेगा कि असत्य वचन स्वभावत एव सवदा बुरा है, वहा एक उपयोगितावादी असत्य वचन को इसलिए बुरा बतायेगा क्योकि उससे सुख के कम हो जाने की सम्भावना है, लेकिन यदि किसी कारणवश उससे सुख की वृद्धि होती है तो उपयोगितावादी की दृष्टि मे वह असत्य वचन भी पूर्णत सही होगा। वस्तुत उपयोगितावाद के अनुसार उपयोगिता का सम्बन्ध सुख और दुख की मात्रा से है और किसी कार्य का सद् असद् होना उसके परिणाम की अच्छाई या बुराई पर निर्भर करता है।

उपयोगितावाद की दूसरी विशेषता उसका प्रयोगात्मक होना है। अनुभव ही इसका मुख्य आधार है। उपयोगितावादी विचारकों ने कल्पनावादियों की निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) के स्थान पर व्याप्तिमूलक या आगमनात्मक (Inductive) तथा अनुभूतिमूलक (Empirical) पद्धति का अवलम्बन लिया है। उपयोगितावाद का सम्बन्ध जीते जागते स्त्री पुरुषो से है केवल काल्पनिक व्यक्तियों से नहीं; इसका आधार जीवन के तथ्य और ठोस वास्तविकतायें हैं कोरी और अमूर्त सिद्धान्तवादिता नहीं, यह जीवन-संघर्ष का प्रतीक है इससे भाग जाने का नहीं। वास्तव में यह मूलत, कर्मशीलता का परिचायक है और प्रत्येक वस्तु की वास्तविक उपयोगिता की कसौटी पर कसना है। रुडोल्फ के शब्दों मे "इसकी उत्पत्ति छात्रो के अध्ययनागारों तथा कक्षा कक्षो मे इतनी नहीं हुई जितनी कि जीवन की आवश्यकताओं तथा जीवन के लिए प्रतिदिन होनेवाले संघर्ष के उतार चढ़ाव मे।"[1] इसके अनुसार जो वस्तु कार्यशीलता की दृष्टि से अपूर्ण है वह व्यर्थ है। हमारी अच्छाई और बुराई की धारणा दुख-सुख की भावना से सम्बन्धित है, मौलिक रूप से प्रयोगात्मक है। एक उपयोगितावादी किसी भी विचार अथवा सिद्धान्त को व्यावहारिकता की तराजू मे तोलता है यथार्थ जीवन मे उसका मूल्य आकता है। इसी अन्तर्निहित विचार के कारण बेंथम ने 'मूल अधिकारो के सिद्धान्त को रूढिवादी, अस्थिर और काल्पनिक बताते हुए उसके स्थान पर उपयोगिता के सिद्धान्त की स्थापना की। अपने व्यावहारिक स्वरूप के कारण ही उपयोगितावाद शिक्षा समाज सुधार राजनीति आदि क्षेत्रो मे किसी भी अन्य आन्दोलन अथवा विचार की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रभाव डालने में सक्षम हो सका।' संक्षेप मे कहना चाहिये कि उपयोगितावाद की पद्धति आगमनात्मक (Inductive), आधारशिला प्रयोगात्मक

1 'It grew up not so much from the closets of students or from *lecture rooms* as from the hard *necessities of life* and fluctuating daily struggle for existence '
—*Rudolf*, A Hundred Years of British Philosophy, P 49

तथा अन्त व्यावहारिक है। इसका व्यावहारिक नीतिशास्त्र और राजनीति से घनिष्ट सम्बन्ध है।

उपयोगितावाद के व्यवहार-प्रधान (Pragmatic) स्वरूप से सम्बद्ध एक अन्य बात यह है कि इस सिद्धान्त को मानने वाले सभी लोग व्यक्तिवादी (Individualists) हैं और यह मानते है कि राज्य व्यक्ति के लिये है न कि व्यक्ति राज्य के लिये। वे राज्य के अस्तित्व का औचित्य इसी में स्वीकार करते है कि वह (राज्य) अपने नागरिकों को शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान करके अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि में उनका सहायक होता है। राज्य की आवश्यकता को उपयोगितावादी इसलिए महत्व देते है क्योंकि व्यक्ति को सुख अथवा आनन्द, चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा सारे समाज का, राज्य के अस्तित्व और संगठन मे ही प्राप्त हो सकता है। मानव की आकाक्षाओ में और उसके अन्तिम इष्ट आनन्द का राज्य के क्रिया-कलापों तथा उसकी गतिविधि से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी राजनैतिक कृत्य का महत्व उसी समय है जबकि उससे जन-कल्याण होता हो। वह उपयोगितावाद का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही है कि वह *सामाजिक कल्याण* को *व्यक्तियों के* व्यक्तिगत सुखों का संग्रह मात्र मानता है, व्यक्तिगत अधिकारों को प्राथमिकता देता है और अधिकतम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक है। **उपयोगितावादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर केवल एक सीमा है और वह है सार्वजनिक व्यवस्था एवं शान्ति।** उपयोगितावाद के अनुसार राज्य को नागरिकों के विकास के लिए आवश्यक कृत्य करने चाहिए और विकास के मार्ग मे आनेवाली बाधाओं को दूर करने के लिए विधियां बनानी चाहिये। उसकी दृष्टि में ऐसी विधि का कोई मूल्य नहीं है जिससे राज्य के अधिकतम लोगों का कल्याण न हो। इस दृष्टि से उपयोगितावादियों ने **विधियों के दो पक्ष बतलाये हैं—(१) निषेधात्मक और (२) सकारात्मक।** जिस विधि या उसके किसी भाग से बुरी परिस्थितियों और विषाक्त वातावरण का नाश हो—वह निषेधात्मक (Negative) है और जिससे निर्माण कार्य हो—वह सकारात्मक या रचनात्मक (Positive)। यहां यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति के सुख के अधिकार को अत्यन्त महत्व देते हुए भी उपयोगितावाद इस बात में विश्वास प्रकट करता है कि व्यक्ति दूसरों से सर्वथा स्वतन्त्र रह कर सुखी नही रह सकता। उपयोगितावादियों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों से मानवीय प्रेम और सहअस्तित्व के बन्धनों से बधा रहे।

स्पष्ट है कि उपयोगितावादी व्यक्ति के विकास के लिए समाज की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के सघवाद (Associationism) पर बल देते हैं। डेविडसन (Davidson)[1] ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास

1. "By association is meant the attempt to explain philosophically the nature and formation of knowledge and mind out of units of sensation, and an exposition of the principles according to which the formation is effected. It is through going in its application and includes all the processes of the mind intellectual, vocational and emotional and therefore claims to be effective in ethics and in morals as in other provinces of mental science." —*Davidson*

के लिए सघवाद के विचारों को बहुत महत्वपूर्ण बनलाया है ।

उपयोगितावाद एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो मनोवैज्ञानिक रीति से मनुष्य के मस्तिष्क के तत्वो का विश्लेषण करता है । इसके अनुसार मनुष्य को बाहरी वस्तुओ का ज्ञान मस्तिष्क मे उत्पन्न अनेक प्रकार की सवेदनाओं (Sensations) द्वारा होता है । यह सवेद या तो आनन्ददायक होता है या दु खदायक और स्वभावत मनुष्य सुखदायक वस्तुओ को पसन्द करता है तथा दु खदायक वस्तुओ से घृणा । किन्तु चू कि मानव जीवन मे कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दु खमुक्त नही हो सकता अत सदैव इस दिशा मे ही प्रयत्नशील होना चाहिए कि सुख की उपलब्धि अधिकाधिक मात्रा मे हो तथा दु ख की कम मात्रा मे ।

उपयोगितावाद की उपरोक्त सभी विशेषताओं के आधार पर सामान्य रूप से सभी उपयोगितावादी यह मानते हैं कि सभी मनुष्य सुख के अभिलाषी हैं तथा सुख अपने में ही एक मात्र वाछनीय वस्तु है । बुद्धि जीवन के साध्य को निर्दिष्ट न करके उन साधनों का निर्धारण करती है जिन्हे ग्रहण करके हम उस साध्य की प्राप्ति कर सकते हैं । वह कार्य सद् है जो दु ख की अपेक्षा अधिक सुख देनेवाला है और वह असद् है जो दु ख को बढाता है। सार्वजनिक नीतियों एव प्रशासकीय विधियो के औचित्य की कसौटी उपयोगिता अथवा "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" (Greatest good of the Greatest number) का सिद्धान्त है। राज्य स्वय साध्य (End) न होकर नागरिकों के कल्याण मे सहायक होनेवाला साधन (Means) है।

यहा यह कहना अप्रासगिक न होगा कि "उपयोगितावादी सदैव अल्प मत म रहते थे और वे कभी भी लोकप्रिय नहीं रहे। वे अत्यधिक मानहीन बुद्धिवादी, अत्यन्त कठोर और विद्वतावादी थे, और मानव-स्वभाव सम्बन्धी उनकी धारणा मनुष्यो को आकर्पित अथवा खुश करनेवाली नही थी । लेकिन बहुत समय तक उनका कोई गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी पैदा नही हुआ । उनके समकालीन महान् विचारको-रूसो, काण्ट, संत साइमन, मार्क्स को इंगलैण्ड मे कोई आदर नहीं मिला । इ गलैण्ड मे ही उनके जो आलोचक थे वे अपनी बात का किसी को विश्वास न दिला सके । परिणामस्वरूप उनका प्रभाव उनकी सख्या के अनुपात से कहीं बहुत अधिक था ।"[1]

जर्मी बेन्थम (१७४८-१८३२)

[Jeremy Bentham]

जीवन परिचय—जर्मी बेन्थम का जन्म १७४८ ई० मे लन्दन के

1. "They were always in a minority and they were never popular They were too coldly intellectual, too frigid and scholastic, and men were not flattered by their view of mankind. But for long they were without serious competitors Their great contemporaries—Rousseau, Kant, St Simon, Marx—were unhonoured in England, their critics at home were unconvincing. In consequence, their influence was out of all proportion to their numbers"

—*Wayper* Political Thought, P. 83

एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ और ८४ वर्ष की अवस्था में, जबकि इसकी ख्याति चरम सीमा पर पहुंची हुई थी, यह महान दार्शनिक इस असार संसार से चल बसा।

राज-दर्शन में उपयोगितावाद का सच्चा संस्थापक सर्वप्रथम अंग्रेज दार्शनिक जर्मी वेन्थम ही था। यद्यपि राजनीतिक उपयोगितावाद का सूत्रपात वेन्थम से पूर्व हो चुका था, किन्तु इसके संस्थापक होने का श्रेय वेन्थम को ही मिला। वह एक महान सुधारवादी सिद्ध हुआ। हेनरी मेन के अनुसार १९वीं शताब्दी में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक जितने भी सुधार हुए, उनमें से शायद ही ऐसा कोई सुधार हो जिस पर वेन्थम का प्रभाव न पड़ा हो।

बेंथम के पिता और पितामह श्रेष्ठ कानून विशेषज्ञ थे। पिता जिरमिह बेंथम (Jeremiah Bentham) की आकांक्षा थी कि उनका पुत्र भी एक नामी वकील बने और वकालत के व्यवसाय द्वारा पारिवारिक समृद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि करे। अतः उन्होंने अपने विलक्षण प्रतिभाशाली पुत्र की शिक्षा-दीक्षा के प्रति लेशमात्र भी लापरवाही नहीं बरती। बेंथम ने बचपन में घर पर ही नृत्य, चित्रकला, फ्रेंच भाषा एवं संगीत की शिक्षा उच्चकोटि के शिक्षकों द्वारा प्राप्त की। बेंथम भी अद्भुत प्रतिभा का धनी छात्र था। शैशवावस्था में ही, जबकि अधिकांशतः बालक मनोरंजक कहानियां पढ़ना पसन्द करते हैं, बेंथम ने लेटिन ग्रीक और फ्रेंच भाषाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। १७५५ में वह वेस्टमिस्टर स्कूल में तथा १७६० में क्वींस कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में प्रविष्ट हुआ। १७६३ ई० में, जबकि वह मात्र १५ वर्ष का ही था, उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात उसने 'लिकंस इन' (Lincoln's Inn) में कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश किया। वकालत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद १७७२ ई० में बेंथम ने वकालत करना आरम्भ कर दिया। अपने पुत्र की अपूर्व प्रतिभा को देख कर पिता को यह आशा बंधी कि उसका पुत्र एक दिन इंगलैंड का मुख्य न्यायाधिपति बनेगा। लेकिन पिता की यह आशा फलीभूत नहीं हुई। बेंथम को वकालत के व्यवसाय के प्रति अनुराग न होकर विरक्ति हो गई। अन्ततः थोड़े समय बाद ही उसने इस व्यवसाय को तिलांजलि दे दी।

बेंथम वस्तुतः अपने युग का एक बौद्धिक आश्चर्य था, प्रकाण्ड विद्वान था। कुछ समय तक वकालत करने के बाद ही वह इस निष्कर्ष पर पहुंच गया था कि प्रचलित कानूनों में अनेक त्रुटियां हैं और उनके रहते न्याय-व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक निरर्थक सी है। केवल औपचारिकता के बोझ मात्र एवं देश के लिए अनुपयोगी इन कानूनों में बेंथम ने संशोधन व परिवर्तन कराने का निश्चय किया। इस तरह वकालत करने की अपेक्षा उसने विधियों और अधिनियमों में ही संशोधन करने का कार्य संभाल लिया, वह विधि-सुधार-आन्दोलन में जुट गया। विधि-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित बेंथम ने अपने इस उद्देश्य में सफलता भी अर्जित की।

बेंथम में जन्म से ही सामाजिक समस्याओं के हल ढूंढ निकालने के प्रति रुचि थी। परिणामस्वरूप वह एक श्रेष्ठ समाज-सुधारक बन गया।

उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन पुस्तक लिखने, संसार भर में पत्र व्यवहार करने और कानूनी सुधारों के लिए सामग्री एकत्रित करने मे ही व्यतीत हो गया। उसके विषय मे यह कहा जाता है कि उसका मस्तिष्क एक चीनी सन्दूक के समान था और इसी कारण वह किसी भी काम को समाप्त किये बिना ही एक काम से दूसरे काम पर जा पहुँचता था। अपने लेखों के रूप के विषय मे वह अत्यन्त बेपरवाह था। अपने जीवन के आरम्भ मे ही बना ली गई अपनी योजना के अनुरूप वह कठोर परिश्रम करता था, प्रतिदिन कुछ पृष्ठ लिखता था किन्तु उनके लिपिबद्ध सकलन एव उनकी उपयोगिता के प्रति उदासीन रहता था। प्रतिदिन लिखे जानेवाले पृष्ठों का वह अपनी योजना मे स्थान इगित कर देता था, और तब उन्हे उठा कर एक ओर रख देता था और फिर उनकी कोई सुधि नही लेता था। उसके लेखों के चयन, पुनरावलोकन और प्रकाशन आदि का कार्य उसके कुछ घनिष्ठ मेधावी मित्रो, शिष्यों आदि द्वारा किया गया।

बेथम ने अपने जीवन के लगभग २ वर्ष यूरोप महाद्वीप का भ्रमण करने मे बिताये। फ्रास के उपयोगितावादियों से प्रभावित होकर उसने अपने विचारो मे स्पष्टीकरण एव परिवर्धन किये। उसके विचारो का प्रभाव दूर-दूर तक फैला। जातीय एव वर्गीय विभेदों मे अविश्वास रखनेवाले बेंथम ने इगलैण्ड फ्रास, अमरिका, भारत, मेक्सिको, चिली आदि देशो के लिए विधि सहिता (Legale Code) बनाने या सकलित करने का प्रयत्न किया।

बेंथम न केवल उच्चकोटि का सुधारक था अपितु सहृदयता, भाव-प्रवणता एव विशाल दृष्टिकोण का कोष भी था। यही कारण था कि उसके विचारो का सर्वत्र सम्मान किया गया और उसे प्रत्येक क्षेत्र म समर्थन एव सहयोग प्राप्त हुआ। १७९२ मे फ्रास की राष्ट्रीय ससद् ने उसे 'फ्रासीसी नागरिक" की उपाधि से विभूषित किया। विधि (कानून) और कारागारो के सुधार सम्बन्धी अनेक ग्रथ लिखने के कारण वह यूरोप मे ही नहीं बल्कि अन्य देशो मे भी प्रसिद्ध हो गया। १८२०-२१ मे पुर्तगाल के वैधानिक दल ने वैधानिक समस्याओ पर उसके सुझाव निमत्रित किये। १८२८ मे उसने मिश्र की स्वेज नहर के निर्माण का सुझाव दिया। उसने रूस के सम्राट जार से रूस के लिये विधि-नियमावली की रचना करने की इच्छा व्यक्त की। सम्राट् जार ने बेंथम की भूरी-भूरी प्रशसा की।

अपने ८४ वर्ष के दीर्घकालीन जीवन मे बेंथम ने उपयोगितावाद के साथ-साथ सुधारवाद की नींव भी दृढ़ की। उपयोगितावाद की परम्परा उसकी मृत्यु के बाद भी सफलतापूर्वक चलती रही। उपयोगिता सिद्धान्त का आदि प्रवतक न होते हुए भी वह इसका सस्थापक माना गया क्योंकि उसने उसके महत्व को पहिचाना, उसे अपने चिन्तन का मूल सिद्धान्त बनाया और उस पर एक सुनिश्चित एव सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली का महल खडा किया। इस सम्बन्ध मे रुडाल्फ का यह कथन स्मरणीय है—'शायद ही कोई दूसरा विचार प्रणाली ऐसी हो जिसमे किसी एक सिद्धान्त को इस भांति पूर्ण रूप से क्रमबद्ध बनाकर उसे अनुभव की इतनी अपार विधि से प्रतिष्ठित किया गया हो जितना कि बेथम ने किया।" बेंथम से पहले उपयोगिता सिद्धान्त का

प्रतिपादन इंगलैंड में ह्यूम एवं प्रीस्टले द्वारा हो चुका था। बेंथम ने ह्यूम के ग्रंथ 'Treatise of Human Nature' का अध्ययन किया और मानव-व्यवहार के लिये उपयोगिता की धारणा के महत् मूल्य को उसने समझा। प्रीस्टले के ग्रंथ 'Essay on Government' में उसने "अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख" वाक्यांश पढ़ा और उसका हृदय भाव-विभोर हो उठा। उसके स्वयं के शब्दों में, 'उसी पेम्फलेट और उसमें लिखे इसी वाक्यांश द्वारा सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत नैतिकता के विषय में मेरे सिद्धान्तों का निर्धारण हुआ। मैंने उसी पेम्फलेट और उसके उसी पृष्ठ से यह वाक्यांश लिया जिसका महत्व और जिसके शब्द समस्त सभ्य संसार में इतने व्यापक रूप से व्याप्त है। उस वाक्यांश को देखते ही मैं एक आत्मिक उन्माद में विभोर हो गया और जिस प्रकार तरल पदार्थ सम्बन्धी शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त की खोज करने पर आर्कीमिडीज चिल्लाया था, उसी प्रकार मैं भी चिल्ला पड़ा—'यूरेका'।"[1] प्रो. सोर्ले (Sorley) ने यद्यपि इस विचार से असहमति प्रकट की है कि बेंथम ने उपरोक्त वाक्यांश प्रीस्टले से लिया था, किन्तु यदि इस विवाद को एक ओर छोड़ दिया जाय तो भी इसमें कोई संशय नहीं कि बेंथम ने 'उपयोगिता' एवं 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की पूर्व स्थित धारणा को पुष्पित, पल्लवित किया और उसके आधार पर उपयोगितावादी राज दर्शन का विशाल वट-वृक्ष खड़ा किया।

बेंथम स्वयं अपने लेखों के प्रति बेपरवाह था किन्तु उसके योग्य सहकारियों और शिष्यों ने उसकी शिक्षाओं का पूर्ण अध्ययन और प्रचार किया। इन शिष्यों में प्रमुखतम शिष्य जेम्स मिल (James Mill) था। प्रसिद्ध वकील सर सेमुअल रोमिले ने भी बेंथम की सेवा की। महान् अर्थशास्त्री रिकार्डो भी उसका अनुयायी था। रिकार्डो के बारे में बेंथम ने लिखा है, 'मैं मिल का आध्यात्मिक पिता था और मिल रिकार्डो का आध्यात्मिक पिता था, इस प्रकार रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र था।" बेंथम के अत्यन्त उत्साही शिष्यों में स्विस नागरिक ड्यूमोण्ट (Dumont) का नाम उल्लेखनीय है जिसने बेंथम की पुस्तकों का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया, उन्हें संक्षिप्त किया और उनमें रह जानेवाली आवश्यक बातों की पूर्ति की। ड्यूमोण्ट ने बेंथम के यश और सम्मान को सम्पूर्ण यूरोप में फैलाया।

बेंथम १८वीं शताब्दी के अन्तर्गत के अपने जीवन में उपयोगितावादी विचार पर आधारित अपने नवीन दर्शन के प्रकाश में प्रचलित विचारों से जूझता रहा और एक रूढ़िवादी बना रहा किन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तर्गत के

---

1. "It was by that pamphlet and this phrase in it that my principles on the subject of morality, public and private, were determined. It was from that pamphlet and that page of it that I drew the phrase, the words and the importance of which have so widely diffused over the civilised world. At the sight of it I cried out, as it were in an inward ecstasy, like Archimedes on the discovery of the fundamental principles of hydrostatics, Eureka."

—*Wayper*, Political Thought, Page 84

अपने जीवन में वह एक नवीनतावादी बन गया। उसकी न्यायिक सुधार योजनाओं और आदर्श कारागार की स्थापना के विचारों का विरोध किया गया जिससे उसके हृदय को बडी ठेस पहुँची और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ब्रिटेन का धन सभी शासक वर्ग शासितों के हितों का नहीं, अपितु स्व-हितों का चिन्तक है। बेंथम और जेम्स मिल के संसर्ग से 'दार्शनिक नवीनतावादी' नामक एक नवीन संगठन का उदय हुआ जिसके माध्यम से बेंथम ने उन सुधारों को, जिनका वह प्रचार कर रहा था, क्रियान्वित रूप देने का प्रयत्न किया। अपने जीवनके उत्तरार्ध मे रुढ़िवादी बेंथम जनतन्त्रवादी बन गया और देशके राजनीतिक जीवन मे अधिकाधिक भाग लेता गया। १८३२ मे जब इस महान् दार्शनिक विचारक की मृत्यु हुई तो, डॉयल (Doyle) के शब्दो मे, 'एक शिष्य समूह ने एक पितामह और एक आध्यात्मिक नेता के रूप में उसका सम्मान किया, उसकी एक देवता के रूप में प्रतिष्ठा हुई जिसका सेंटपाल था जेम्स मिल।'

बेंथम की रचनाएं (Works of Bentham)—बेंथम एक महान् लेखक था जिसने अपनी मृत्यु से पूर्व तक लिखने का कार्य जारी रखा। उसने सबसे पहले सामयिक पत्र पत्रिकाओं (यथा 'लदन रिव्यू', 'वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू' आदि) मे निबन्ध लिखे जिनसे उसका अभ्यास बढा और उसे प्रसिद्धि मिली। १७७६ ई० से १८२४ ई० के भीतर उसकी लगभग सभी महत्वपूर्ण रचनायें प्रकाशित हुई। उसके ग्रथो का प्रचार तो काफी हुआ ही, विभिन्न भाषाओ मे उनका अनुवाद भी हुआ और बहुत सी प्रकाशनीय सामग्री उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुई। लदन के यूनीवर्सिटी कॉलेज म बहुत सी मजुषाएं उसकी पाण्डुलिपियों से भरी सुरक्षित हैं जिनम से बहुत सी अभी तक प्रकाशित भी नही हुई है। ब्रिटेन के सग्रहालय मे भी उसके अप्रकाशित ग्रथो की पाण्डुलिपिया रखी हैं। उसके ग्रथ विधि, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र धर्म बैंक, प्रशासन, जनगणना, समाज सेवा, आन्तरिक शासन आदि विभिन्न विषयो पर लिखे गये है। उसके श्रेष्ठ एव प्रमुख ग्रथ निम्नलिखित माने जाते हैं—

1 Fragment on Government (1776)
2, Defence of Usury (1787)
3 Introduction to the Principles of Morals and Legislation (1789)
4 Emancipate your Colonoies (1783)
5 A Table of the Springs of Action
6. Principles of International Law
7 Anarchical Fallacies
8 Manual of Political Economy
9 Essay on Political Tactics (1791)
10. Catechism of Parliamentary Reform (1809)
11 Christomathia (1816)
12 Church of England (1818)
13 Radicalism not Dangerous (1819)

बेंथम का उपयोगितावाद, एव सुखवादी-मापक यन्त्र
(Bentham's Utilitarianism and Hedonistic Calculus)

बेंथम के उपयोगितावाद की आधारशिला सुख और दुःख की मात्रा

के ऊपर है। जिस कार्य से मानव सुख में वृद्धि होती है वही कार्य उपयोगी और उचित है और जिस कार्य से मानव को दुःख प्राप्त होता है वह कार्य अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। यह व्यक्ति के सुख में वृद्धि या कमी, कार्य के औचित्य-अनौचित्य, आनन्ददायिनी या आनन्द-विनाशिनी शक्तियों की स्थिति आदि के निर्णय करने का प्रभावशाली सिद्धान्त है। यह केवल व्यक्ति के जीवन से ही नहीं, शासन के कार्यों से भी सम्बन्ध रखता है। मनुष्य के कार्य सुख दुःख पर आश्रित हैं और यही सुख-दुःख उपयोगिता है। सारे नैतिक कार्य उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को समझाते हुए बेंथम ने लिखा है, "उपयोगिता के सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि या कमी होती है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को या तो उचित ठहराता है या अनुचित या दूसरे शब्दों में जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात हर कार्य के लिये कहता हूं और इसलिये मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि हर सरकारी कार्य के सम्बन्ध में भी लागू होती है।"[1] बेंथम के विचारानुसार, सुख और दुःख ही मनुष्य के जीवन को गति प्रदान करते हैं। "प्रकृति ने मानव-समाज को दो सर्वाधिकार सम्पन्न स्वामियों सुख और दुःख के आधिपत्य में रख दिया है। इन स्वामियों का ही यह कर्त्तव्य है कि वे हमें बतायें कि हमें क्या करना चाहिये तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते हैं।"[2] इस तरह बेंथम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एक मात्र मापदण्ड यह है कि वह कहां तक सुख की वृद्धि करती है और कहां तक दुःख को कम करती है। बेंथम और उसके अनुयायियों ने उपयोगिता की एकदम सुखवादी (Hedonistic) व्याख्या की है। बेंथम ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है, 'उपयोगिता का सिद्धान्त इस बात में है कि हम अपनी तर्कना की प्रक्रिया में सुख और दुःख के तुलनात्मक अनुमान को अपना आरम्भ बिन्दु बनाकर चलते हैं। जब मैं अपने किसी कार्य (व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक) की अच्छाई या बुराई का निर्णय इस बात से करता हूं कि उसकी प्रवृत्ति सुख-वृद्धि की है; या दुःख की, जब मैं न्यायपूर्ण, अन्यायपूर्ण, नैतिक, अनैतिक एवं

अच्छा अथवा बुरा शब्दों को प्रयुक्त करता हू जो कि किसी निश्चित सुख के विचार के तुलनात्मक माप को ही बताते हैं और जिनका कोई दूसरा अर्थ होता ही नहीं तो मैं उपयोगिता सिद्धान्त का ही अनुसरण करता हू । इस सिद्धान्त का अनुयायी किसी कार्य विशेष को केवल इसलिये अच्छा समझता है क्योंकि उसका फल सुख की वृद्धि करना है और इसी भाति वह किसी कार्य विशेष को बुरा भी इसलिये समझता है क्योंकि उसका परिणाम दु ख होता है ।'[1] स्पष्ट है कि उपयोगितावादियों के मत में सुख स्वय अपने मे ही जीवन का साध्य है, शेष सब भौतिक वस्तुए और सदाचार तक सुख प्राप्ति के लिये साधनमात्र हैं ।

बेंथम के अनुसार सुख चार प्रकारों से प्राप्त किया जा सकता है—
(१) धम द्वारा, (२) राजनीति द्वारा, (३) नीति द्वारा एव (४) भौतिक साधनो द्वारा । उदाहरण के लिये यदि किसी मनुष्य को धम मे विश्वास करने से सुख मिलता है तो उसे धम प्रदत्त सुख कहा जायेगा यदि किसी व्यक्ति को राजनीति म सुख की उपलब्धि होती है तो उसे राजनीति प्रदत्त सुख की सज्ञा दी जायेगी । इसी भाति यदि किसी काय को करने से सुख की अनुभूति होती है तो उसे नैतिक सुख कहा जायेगा एवं यदि आधी जल, वर्षा आदि से कोई लाभ होता है तो वह प्राकृतिक सुख कहलायेगा । बेंथम का मत है कि अपने आप कोई चीज भली बुरी नहीं होती बल्कि उसकी उपयोगिता के कारण वह भली बुरी हो जाती है । सुख के बारे मे मनोवैज्ञानिक विचार प्रकट करते हुए बेंथम बताता है कि मनुष्य के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है, और जैसा कि हम देख चुके हैं उसकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख की गुणात्मकता में कोई अन्तर नहीं है, सुख दु ख के भेद केवल मात्रात्मक हैं । एक स्थान पर वह कहता है कि 'Quantity of pleasure being equal pushpin is as good as poetry" अर्थात् "सुख की मात्रा बराबर होने से बच्चो का खेल और काव्य का अध्ययन एक ही कोटि के हैं ।"

तर्क की अनुभूति प्रधान अथवा वैज्ञानिक पद्धति अपनाने के कारण बेंथम की यह धारणा है कि जैसे एक भौतिकशास्त्री भौतिक व्यापार को सुनिश्चित रूप से नाप तोल करता है, वैसे ही प्रत्येक सामाजिक घटना की भी नाप तोल की जानी चाहिये । बेंथम की यह हार्दिक इच्छा थी कि सुख प्राप्ति के लिये मानवीय कर्मों को अनुशासित करनेवाले नियमों की खोज की जाए

---

1 'The principle of utility consists in taking as our starting point, in every process of reasoning, the calculus of comparative estimates of pains and pleasures I am an adherent of the principle of utility when I measure my approval or disapproval of any act public or private by its tendency to produce pains and pleasures, when I use the term just, unjust, moral immoral, good, bad, as comparative terms which embrace the idea of certain pleasures, and have no other meaning whatsoever. An adherent of the principle of utility holds virtue to be a good thing by reason only of the pleasures which result from the practice of it he esteems vice to be a bad thing by reason only of the pains which follow in its train' —*Bentham*

और उन्हें एक गणितशास्त्रीय सूत्र की तरह सुनिश्चित रूप प्रदान किया जाय। बेंथम ने इसी दिशा में प्रयत्न किया और परिणामतः उसके हाथ में जाकर उपयोगिता-सिद्धान्त ने "नैतिक एवं राजनैतिक घटना-व्यापार के मात्रा प्रधान निर्धारण को जन्म दिया।" बेंथम की यह धारणा सभी उपयोगितावादियों के विश्वास और आस्था का केन्द्र बन गई कि मानव-समाज के सम्पूर्ण व्यापार अथवा कार्यकलापों का सचालन विशुद्धतः तार्किक नाप-तोल द्वारा होना चाहिये। इसी धारणा ने बेंथम को अपने सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Calculus) को विकसित करने को प्रेरित किया।

सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Calculus) :—बेंथम ब्रिटिश कानून और न्यायिक प्रक्रिया मे सशोधन चाहता था क्योंकि उनमें अनेक अस्पष्टताएं तथा औपचारिकताएं प्रवेश किये हुए थी जिनसे जनता के लिये उनकी उपयोगिता घट गई थी। उसकी मान्यता थी कि विधियां वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित होनी चाहिये और उन आवश्यकताओं क एक मात्र कसौटी है—"अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख (Greatest good of the greatest number)।" वह चाहता था कि जनता के सुख के इस उद्देश्य को सरलता, शीघ्रता एवं कुशलतापूर्वक प्राप्त करने की दृष्टि से सुख-दुःख की मात्राओं का सही निर्धारण करने अथवा सुनिश्चित अनुमान लगाने के लिये एक सुनिश्चित प्रणाली जनता के समक्ष प्रस्तुत की जाए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बेंथम ने अपने सुखवादी मापक यंत्र के सिद्धान्त को विकसित किया जिसके अनुसार उसके मत में सुख और दुःख की मात्रा को मापा जा सकता है। सुखवादी मापक यंत्र को बनाने के लिये उसने पहले सुख व दुःख के उद्गमों को खोजा है और बताया है कि धर्म, राजनीति, नीति एवं भौतिक साधन—ये सुख-दुःख के चार मूलाधार हैं।

बेंथम ने अपने उपरोक्त बहुर्चाचित सुख एवं दुःख को दो प्रकारों में विभाजित किया है—

(१) सामान्य, एवं (२) जटिल।

उसने सामान्य सुख के १४ तथा सामान्य दुःख के १२ भेद बताए हैं जो ये हैं :–

सामान्य सुख के भेद—(१) इन्द्रिय सुख, (२) धन सम्पत्ति सुख, (३) निपुणता का सुख, (४) मित्रता या सद्भावना का सुख, (५) यश का सुख, (६) शक्ति या सत्ता का सुख, (७) धार्मिक सुख, (८) दया का सुख, (९) निर्दयता का सुख, (१०) स्मृति सुख, (११) कल्पना का सुख, (१२) आशा का सुख, (१३) सम्पर्क या मिलन का सुख, (१४) सहायता का सुख।

सामान्य दुःख के भेद—(१) दरिद्रता, (२) भावना, (३) परेशानियां व हिचकिचाहट, (४) शत्रुता, (५) अपयश, (६) धार्मिकता, (७) दया, (८) निर्दयता या दुर्भावना, (९) स्मृति, (१०) कल्पना, (११) आशा, (१२) सम्पर्क।

बेंथम का कहना है कि परिमाण या मात्रा को ध्यान में रखते हुए सुख या दुःख उसी अनुपात में कम या अधिक हो सकता है। सुख और दुःख

की मात्रा निर्धारित करने के लिये ही उसने सुखवादी मापक यंत्र को विकसित किया जिसके अनुसार माप तोल करके सरकार यह ज्ञात कर सके कि उसके अमुक कार्य की सामान्य प्रवृत्ति सुखवर्द्धन करने की है अथवा नहीं। वेपर के शब्दों में बेंथम ने बताया कि "जब हम सुखों की माप करते हैं तो हमें उनकी तीव्रता और स्थिरता को ध्यान में रखना चाहिये। हमें उनकी निश्चितता और अनिश्चितता का ध्यान रखना चाहिये क्योंकि वह सुख जो अधिक निश्चित होता है उस सुख के बनिस्पत अधिक होता है जो सुख कम निश्चित होता है। उनकी निकटता और दूरी भी हमारी गणना में आनी चाहिये, वह सुख जो अधिक समीप होता है अथवा अधिक सरलता से प्राप्य होता है उस सुख से अधिक होता है जो दूर होता है और जिसे पाने में अधिक कठिनाई होती है। हमें उनकी जनन शक्ति और उनकी विशुद्धता पर भी विचार करना चाहिये क्योंकि ऐसा सुख अधिक आनन्ददायक होता है जिसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख भी आये और उसको विपरीत भावनाएं होने के अवसर कम हों।"[1] जैसा कि इस अवतरण से भी स्पष्ट है, सुख-दुःख का मापदन्ड स्थापित करने के लिये बेंथम ने निम्नलिखित ७ बातों को ज्ञात करने पर बल दिया है—

(१) तीव्रता (Intensity)
(२) स्थिरता (Duration)
(३) निश्चितता (Certainty)
(४) समय की निकटता (Propinquity) अथवा दूरता (Remoteness)
(५) जनन-शक्ति (Fecundity)
(६) विशुद्धता (Purity) तथा
(७) विस्तार (Extent)।

इसके अतिरिक्त बेंथम ने सुख-दुःख का व्यापक अंतर बताने के लिये ३२ लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण किया है। इनमें प्रमुख शारीरिक रचना, सवेदनशीलता, चरित्र निर्माण, शिक्षा, जाति वर्ग, लिंग आदि हैं जिनका सुख की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है।

---

1 [illegible] take [illegible]

propinquity or remoteness must also come into our calculations, a pleasure that is closer or more easily available being greater than one which is farther away and more inaccessible. We must consider their fecundity and their purity, since one pleasure is greater than another of its [illegible] the same kind [illegible] by sensation [illegible]

— [illegible] Thought, P. 90

सुख-दुःख के इन मापदण्डों के आधारों में जनन-शक्ति (Fecundity) और विशुद्धता (Purity) विशेष महत्त्वपूर्ण है। किसी सुख की जनन-शक्ति का तात्पर्य यह है कि उसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख भी आयें। बौद्धिक सुखों में यह गुण एक बड़ी सीमा तक होता है ऐन्द्रिक सुखों में यह नहीं होता। किसी सुख की विशुद्धता का अभिप्राय यह है कि उसके पीछे उसकी विपरीत भावनायें उत्पन्न न हों। बौद्धिक सुख इसी प्रकार का विशुद्ध सुख है क्योंकि इससे दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती, लेकिन इसके विपरीत ऐन्द्रिक सुख अशुद्ध होते हैं जिन्हें अधिक भोग करने से स्वास्थ्य को निश्चित हानि पहुँचती है और जिनका अधिक रसास्वादन हमारी पाचन शक्ति को दुर्बल बनाता है।

बेंथम के अनुसार उपरोक्त में से प्रथम छः बातें या कारण तो व्यक्तिगत सुख-दुःख के मापदण्ड हैं, किन्तु समूह अथवा अनेक व्यक्तियों के सुख का जब परिमाण जानना होता है तो उसमें हम 'विस्तृता (Extent) से कार्य लेते हैं। व्यक्ति को कौनसा कार्य करना उपयोगी होगा—इसके लिये उसे उपरोक्त सातों आधारों को अंक देकर अधिक अंकवाले आधार से कार्य करना होगा। बेंथम के अनुसार उपरोक्त कारणों का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख तोल सकते हैं बल्कि इनके द्वारा धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक विश्वासों तथा मूल्यों का निर्णय भी कर सकते है। बेंथम की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है और इसीलिये उस व्यक्ति को ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे निश्चित, विशुद्ध, फलदायक, स्थिर एवं तीव्र सुख उत्पन्न हो।

अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए बेंथम आगे बताता है कि कुछ सुख ऐसे होते है जिनमें यद्यपि तीव्रता होती है किन्तु स्थायित्व नहीं होता और इसीलिये परिणामस्वरूप कुछ दुःख उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कुछ सुख विशुद्ध होते है और उनका स्थायित्व भी अधिक होता है, यद्यपि उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती। इन विशुद्ध सुखों का परिणाम प्रायः दुःख नहीं होता। इसलिये बेंथम का कहना है कि हमें सुख को विशेष मूल्यवान करने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिये। ऐसा करने के लिये, अथवा सुखों और दुःखों की गणना करके किसी एक निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिये बेंथम ने एक प्रक्रिया दी है जो उसी के शब्दों में इस प्रकार है—"समस्त सुखों के समस्त मूल्यों को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिये। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाता है तो उसका मतलब यह होगा कि अमुक कार्य ठीक है अथवा (सम्बन्धित कार्य की प्रवृत्ति सुख की ओर है) और यदि शेष दुःख रहे तो यह समझ लेना चाहिये कि अमुक कार्य ठीक नहीं है क्योंकि उसका परिणाम दुःख में निकलता है।"[1]

---

1. "Sum up all the values of all the pleasures on the one side, and those of all the pains on the other. The balance if it be on the side of pleasure, will give the good tendency of the act upon the whole, with respect to the interests of that individual," if on the side of pain, the bad tendency if it upon the whole persons."
—*Benthem*

बेंथम आगे कहता है कि यदि किसी कार्य का प्रभाव दूसरो पर भी पड़ता हो तो यह उचित है कि हम उपरोक्त प्रक्रिया को उनमे से प्रत्येक के ऊपर भी करें और उनके हितो को भी ध्यान मे रखें। इसे सुख का विस्तार (Extent of happiness) कहते हैं। जब प्रत्येक सम्बन्धित और प्रभावित व्यक्ति पर इस प्रक्रिया का प्रयोग किया जा चुके तो दुःखों के प्रयोग को सुखों के योग में घटा लेने पर जो सुख शेष रहेगा वह इस बात का प्रमाण होगा कि अमुक कार्य अथवा घटना शुभ एवं कल्याणकारी है। इसके विपरीत यदि सुख की अपेक्षा दुःख अधिक निकले तो इसका स्पष्ट एवं स्वाभाविक अर्थ है कि अमुक कार्य अथवा घटना अशुभ एवं अवाछनीय है।

बेंथम के विचारानुसार विधायक (Legislator) का नियम अथवा कानून बनाते समय केवल इतना ही कार्य है कि वह सुखों का सारा महत्व एक ओर तथा दुःखों का सारा महत्व दूसरी ओर रखकर उनकी परस्पर तुलना करे। जो शेष रहे, यदि वह सुख के पक्ष मे है तो वह प्रत्येक नागरिक के प्रति सुखदायक किन्तु यदि शेष दुःख के पक्ष में है तो वह जनसाधारण के लिये कष्टकारक कानून है। बेंथम लिखता है कि "नवीन कानून से सम्बन्धित व्यक्तियों की गणना करके उपरोक्त विधि से प्रत्येक व्यक्ति की तुलना करनी चाहिये। उन सब सुखों को जो अच्छी प्रवृत्ति के द्योतक हैं इस दृष्टिकोण से जोड़ लेना चाहिये जहातक कि वे सार्वजनिक कल्याण के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के लिये शुभ है। जो शेष है यदि वह सुख के पक्ष में है तो नया कानून सर्व-साधारण के लिये शुभ है किन्तु यदि 'शेष' दुःख के पक्ष मे है तो वह उस सम्बन्धित समाज के प्रति अहितकर होगा।" वह पुनः लिखता है कि "इस बात की आशा नहीं करनी चाहिये कि इस पद्धति को सब प्रकार के सदाचार अथवा सब प्रकार के सवैधानिक अथवा न्याय सम्बन्धी आधारों से भी अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। यह बात सर्वंव ध्यान में रखनी होगी कि इस पद्धति को इन अवसरो पर जितना अधिक अपनाया जावेगा उतना ही अधिक इसके आधार पर किया गया निर्णय ठीक होगा।"

यहा यह तथ्य उल्लेखनीय है कि बेंथम ने अपने सुख को महत्व देने के बाद समाज के सुख को भी महत्व दिया है और इस तरह उपयोगितावाद को व्यक्ति से ऊपर उठाकर विकसित किया है क्योंकि व्यक्ति ही सब कुछ नहीं है—उसे सर्वसाधारण की भलाई का भी ध्यान रखना चाहिये। बेंथम अधिक-तम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' अथवा 'सर्वाधिक सख्या का सर्वाधिक कल्याण' सिद्धान्त का समर्थक है। उसका कहना है कि एक व्यक्ति के सुख की अपेक्षा अधिक लोगो का सुख अनुसरणीय है। समाज के सर्वतोन्मुखी कल्याण के सम-र्थक बेंथम की दृढ़ धारणा है कि राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' होना आवश्यक है। उपयोगिता का सिद्धान्त ही उसके विचार मे सब कार्यों के औचित्य का मापदण्ड है और इसीलिये उसने इसे एक ऐसा सिद्धान्त बताया है जो सब प्रकार के कार्यों का समर्थन अथवा विरोध करता है और सम्बन्धित समाज की समृद्धि में उन्नति अथवा ह्रास की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। बेंथम ने स्पष्ट कहा है कि इन "सब प्रकार के कार्यों से मेरा आशय समस्त क्रियाओ से है तथा केवल व्यक्तियों के कार्यों से नहीं

अपितु शासन के समस्त कार्यों से है।" बेंथम के मत में राज्य के वे ही कार्य उपयोगी हैं जो व्यक्तियों का सुख पहुंचाते हैं।

बेंथम का राज-दर्शन
(Bentham's Political Philosophy)

बेंथम सर्वप्रथम एक विधि-सुधारक था न कि राजनैतिक दार्शनिक। उसका प्रमुख ध्येय किसी एक राज-दर्शन को प्रतिपादित करना न होकर किन्हीं वैधानिक एवं राजनैतिक सुधारों पर विचार प्रकट करना था। इसीलिए एक महान् राज-दार्शनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक राज्य सुधारक कहना अधिक उपयुक्त है जिसने अपने सुधार-कार्यक्रम की पृष्ठभूमि के लिए कतिपय राज्य सम्बन्धी विचारों को भी प्रकट किया। इस प्रकार प्रकट किये गये उसके राज्य-विषयक विचारों को ही उसके राज दर्शन के मूल तत्वों की संज्ञा दी जा सकती है। राज्य विषयक विचार प्रकट करते हुए उसने राज्य के स्वरूप, राज्य की सम्प्रभुता, विधि अथवा कानून, दण्ड, कारागृह तथा संसद सम्बन्धी सुधारों आदि विषयों को स्पर्श किया है और इन सब का केन्द्र है उसका उपयोगिता-सिद्धान्त जिसकी कि वह एक सुखवादी व्याख्या करता था।

बेंथम के राज-दर्शन के दो भाग—बेंथम के राज-दर्शन का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है—निषेधात्मक भाग एवं विधेयात्मक भाग। निषेधात्मक भाग का सम्बन्ध बेंथम के उन विचारों से है जिनके द्वारा उसने अपने पूर्ववर्ती राजनैतिक विचारों का खण्डन किया है। इस भाग अथवा पक्ष में हम बेंथम को एक क्रांतिकारक विचारक के रूप में देखते हैं और इसीलिए उसे सदा-सदा (Radical) तक कह दिया जाता है। विधेयात्मक भाग का सम्बन्ध बेंथम के उन विचारों से है जो उसके द्वारा कतिपय राज्य विषयक विषयों पर प्रकट किये गये हैं। इस भाग में विधि, सम्प्रभुता आदि पर व्यक्त किये गये विचार सम्मिलित हैं। सुविधा की दृष्टि से बेंथम के राज-दर्शन पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जा सकता है—

१. **प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खंडन**—बेंथम ने आदर्शवादी सिद्धान्तों के विषय में कभी चिन्ता नहीं की। वह काल्पनिक सिद्धान्तों के विरुद्ध था। वह जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को अधिक महत्व देता था और अपने समकालीन समाज की इन समस्याओं का हल निकालने में संलग्न था। ब्रिटिश कानून और न्यायिक प्रक्रिया का अध्ययन करते समय उसने उनमें अनेक अस्पष्टताओं और अनुपयोगी औपचारिकताओं को खोज निकाला और उसने उनको हटाने की मांग की। दुर्भाग्यवश उनकी उचित मांगों का जो उसे प्रत्युत्तर मिला वह यह था कि ब्रिटिश कॉमन लॉ (Common Law) अति प्राचीन है, शताब्दियों के विकास से उसकी सिद्धि हुई है और सुप्रसिद्ध न्यायविद्ों ने उसे विकसित करने में योगदान दिया है, अतः ऐसे कामन लॉ के बारे में आपत्ति उठाना हास्यास्पद है। बेंथम की आत्मा असन्तोष से विद्रोह कर उठी क्योंकि उसकी मान्यता थी कि किसी संस्थान की प्राचीनता तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की प्रसिद्धि उस संस्थान की श्रेष्ठता का न्याय संगत एवं निश्चित प्रमाण नहीं हो सकता। उसने घोषणा की कि

विधियाँ समाज की वर्तमान आवश्यकताओ के अनुरूप होनी चाहिये। प्राचीन विधियो का मूल्याकन करने और नवीन विधियो का निर्माण करने की एक ही उचित कसौटी सामाजिक हित है। अपनी इसी व्यावहारिक बुद्धि एव धारणा से प्रेरित होकर बेंथम ने लॉक द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित अधिकारो (Natural Rights) के सिद्धान्त को पूर्णत अमान्य ठहराया। बेंथम ने प्राकृतिक अधिकारो सम्बन्धी विचारधारा को 'मूर्खतापूर्ण', 'प्रकल्पित अधिकार तथा आधारहीन अधिकार' एव 'आध्यात्मिक तथा विभ्रम और प्रमोद का एक गडबड घोटाला' कहकर पुकारा। लाक ने कहा कि प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्ति अपनी प्राकृतिक दशा मे रहता था। उसने उस दशा को 'शाति', 'सहयोग' और स्थिरता बताया। लाक ने बताया कि उस दशा मे कुछ प्राकृतिक नियम (Natural Laws) तथा कुछ प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) प्रचलित थे। ये व्यक्ति की प्रारम्भिक दशा के मौलिक अधिकार थे। लाक ने प्राकृतिक अधिकारो क सिद्धान्त पर बल देते हुए कहा कि प्राकृतिक अधिकार राज्य से बाहर हैं और इनकी रक्षा करने के लिये ही मनुष्य ने राज्य की उत्पत्ति की है। राज्य द्वारा मानव के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करने पर लाक मानव को यह भी अधिकार दता है कि वह राज्य के प्रति विद्रोह कर दे। बेंथम ने इन सिद्धान्तो का विरोध करत हुए कहा कि इनस व्यक्तियो के सुख मे कोई वृद्धि नही होनी। प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त का खण्डन करने मे बेंथम न अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' वाले उपयोगितावादी सूत्र का आश्रय लिया है। उसके मतानुसार कवल मात्र वही सिद्धान्त मान्य एव उचित है जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियो को अधिकाधिक सुख उपलब्ध करा दें। उसका यह विश्वास है कि 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' मे कोई विद्येयात्मक दन न दे सकनेवाला सिद्वात व्यथ है एव इसीलिये उसका अनुसरण त्याज्य है। बेंथम ने कहा कि अधिकारो का निर्माण तो सामाजिक परिस्थितियो से होता है, "अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हे राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।" बेंथम ने ह्यूम की भाति ही प्राकृतिक अधिकारो के उस सिद्धान्त पर कठोर आक्षेप किये हैं जो अमेरिकन एव फासीसी क्रातिकारियो को बडा प्रिय हो गया था। उसने दृढ विश्वास प्रकट किया कि राज्य सम्पूर्ण अधिकारो का स्रोत है और नागरिक राज्य के विरुद्ध अपने किसी भी प्रकार क प्राकृतिक अधिकारों का दावा नही कर सकते। कोई भी अधिकार राज्य के सीमा-क्षेत्र के बाहर नहीं हैं। सभी अधिकार राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव हैं। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत एक व्यथ की बात है। 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' की बात ही अधिकारो के मूल म निहित रहती है।

सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त बहुमत की निरकुशता का मर्यादित कर सकन वाला प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार मे देखन को यही मिलता है कि फास मे मानव-अधिकारों की घोषणा उन हजारों व्यक्तियो मे स किसी की भी प्राण रक्षा न कर सकी जिन्हें फ्रांस के क्रांतिकारी न्यायालय के समक्ष ला खडा किया गया था और इसी प्रकार अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा न एक भी हब्शी को दासता से मुक्ति प्रदान नही की

थी। आदर्शवादी काल्पनिक विचारों से चिढ़नेवाले बेंथम ने 'समानाधिकार' के सिद्धान्त के विषय में लिखा है कि, "पूर्ण समानता नितान्त असम्भव है। पूर्ण स्वतन्त्रता सब प्रकार के शासनतन्त्र की सीधी विरोधी है। क्या वास्तव में सब मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं? क्या वास्तव में सब मनुष्य स्वतन्त्र रहते हैं? यथार्थ रूप से सत्य यह है कि सब मनुष्य बिना एक भी अपवाद के-दासता की स्थिति में जन्म लेते हैं।" चूंकि बेंथम ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के व्यावहारिक मूल को बहुत कम पाया, इसीलिये उसने उपयोगिता के आधार पर उसका तिरस्कार करना ही उचित समझा।

२. समझौतेवादी धारणा का खण्डन—बेंथम राज्य की उत्पत्ति के बारे में अनुबन्ध अथवा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त तथा सावयव सिद्धान्त को बिल्कुल नहीं मानता है। समझौतेवाद का खण्डन करते हुए वह कहता है कि समझौते सिद्धान्त द्वारा आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य की कोई निश्चित व्याख्या नहीं होती। व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन इसलिये नहीं करता है कि उसके पूर्वजों ने इसके लिये एक समझौता किया था। व्यक्ति राजाज्ञा-पालन के लिये किसी ऐतिहासिक समझौते द्वारा बाध्य नहीं है। व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिये करता है क्योंकि ऐसा करना उसके लिये उपयोगी है। बेंथम के मतानुसार राजनैतिक समाज, राज्य, अधिकार एवं कर्त्तव्य आदि किसी समझौते या सहमति से उत्पन्न नहीं हुए हैं, अपितु उनके उत्पन्न होने, चलने और सफल होने में वर्तमान रुचि तथा उपयोगिता की भावना प्रबल रही है। सामाजिक उपयोगिता के विचार से ही राज्य का जन्म हुआ है। मनुष्य राज्य एवं राज्य की आज्ञा इसलिये शिरोधार्य करता है कि उसकी सुख-प्राप्ति का मार्ग निष्कण्टक हो। इसीलिये वह विधियों का पालन करता है। इसी भांति वह आज्ञापालन की एक आदत डाल लेता है। जिस समूह में इस प्रकार की आदत या आदतें बन जाती हैं अथवा बनती जाती हैं वह राजनैतिक समाज कहा जाने लगता है। अतः आदत ही समाज और राज्य का आधार है न कि समझौता।

३. बेंथम की राज्य सम्बन्धी धारणा का उपयोगितावादी आधार—बेंथम के सम्पूर्ण राज-दर्शन का निर्माण उपयोगितावादी आधार पर हुआ है। वह राज्य को एक ऐसा समूह समझता है जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख-वृद्धि के लिये संगठित किया है। वह राज्य के उद्देश्य की व्याख्या सर्वप्रथम एक संकुचित रूप में करता है। उसके, उपरोक्त शब्दों के अनुसार, राज्य का उद्देश्य है "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" (The greatest happiness of the greatest number)। उसके मतानुसार व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है। इस भांति वह प्लेटो एवं अरस्तू की इस धारणा का विरोधी है कि राज्य का उद्देश्य एक शुभ अथवा नैतिक जीवन का विकास करना है। साथ ही वह रूसो के इस विचार का भी पक्षपाती नहीं बनता कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति को 'अधिकतम सच्ची स्वतंत्रता' प्रदान करना है।

बेंथम की राज्य सम्बन्धी धारणा में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके अनुसार "अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों के व्यक्तिगत सुखों का एक योग मात्र है, इसमें समस्त समाज का सामूहिक हित शामिल नहीं है। इस

तरह बेंथम व्यक्ति को ही अंतिम सत्य मानता है जब कि समाज को एक ऐसा काल्पनिक विकास जिसको उसके घटक नागरिकों के अस्तित्व के अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है। बेंथम के मत में व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिये नहीं है अपितु राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है। यद्यपि बेंथम का मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई में विश्वास नहीं है तथापि वह पेन, रूसो अथवा लाक आदि के स्तर के व्यक्तिवाद का समर्थक है। उसके शब्दों में समाज एक कृत्रिम संगठन है और वह इसके सदस्य माने जानेवाले व्यक्तियों से बना है। व्यक्ति के कल्याण की बात समझे बिना समाज के कल्याण की चर्चा करना व्यर्थ है। किसी भी वस्तु को हितकारी अथवा किसी व्यक्ति के लिये लाभदायक तभी कहा जाता है जबकि वह उसके सुखों के योगफल में वृद्धि करे अथवा दूसरे शब्दों में उसके दुखों के योगफल में कमी करने में सहायक हो। राजनैतिक आज्ञापालन के कर्त्तव्य की व्याख्या करते हुए बेंथम बताता है कि राजाज्ञा-पालन का वास्तविक कारण यह नहीं है कि हमारे पूर्वजों में आज्ञापालन करने का कभी कोई समझौता था और न ही उसका कारण हमारी अनुमति है।[1] उसके अपने शब्दों में 'राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिये करते हैं कि ऐसा करना उनके लिये लाभदायक एवं उपयोगी है और आज्ञा पालन के संभावित दोष अवज्ञा के सम्भावित दोषों की अपेक्षा कहीं कम हैं।[1]

बेंथम के अनुसार कोई भी सरकार तभी तक जीवित रह सकती है जब तक प्रजा उसका साथ देती है। राज्य नागरिकों को सामान्य हित के लिये अपना अथवा निजी हित तक बलिदान करने के लिये पुरस्कार एवं दण्ड व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्त्तव्य अर्थात् समाज के सामान्य सुख का ध्यान रखने का पालन नहीं करती है तो जनता को उसकी आज्ञा की अवहेलना करने का अधिकार है। बेंथम का यह मत है कि राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है एक नैतिक समुदाय नहीं जिसका ध्येय जनता का नैतिक कल्याण हो।

४ बेंथम की कानून सम्बन्धी धारणा (**Bentham's Theory of Law**)—यह कहा जा चुका है कि बेंथम के मत में राज्य कोई नैतिक समुदाय नहीं है अपितु वह एक विधि अथवा कानून निर्माता निकाय है। जनता के साथ इसका सम्बन्ध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। बेंथम के अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु की इच्छा कानून के रूप में प्रकट होती है और इसलिये उसको मान्यता है। इस सम्बन्ध में उसकी यह धारणा हॉब्स की भांति ही है। बेंथम का कहना है कि सम्प्रभु के निश्चित आदेशों का अर्थात् कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा पालन में ही उसका और सबका कल्याण निहित है अर्थात् कानूनों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है अतः उसका पालन होना चाहिए। प्राकृतिक कानूनों को अस्वीकार करते हुए बेंथम ने दो ही कानून माने हैं—दैवी तथा मानवी।

---

1 'Men obey the laws of the state because they knew that probable mischief of obedience are less than the probable mischief of disobedience

—*Bentham*

तरह बेंथम व्यक्ति को ही अन्तिम सत्य मानता है जब कि समाज को एक ऐसा काल्पनिक विकास जिसकी उसके घटक नागरिकों के अस्तित्व से अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है। बेंथम के मत में व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिये नहीं है अपितु राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिये है। यद्यपि बेंथम का मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई में विश्वास नहीं है तथापि वह पेन, रूसो अथवा लॉक आदि के स्तर के व्यक्तिवाद का समर्थक है। उसके शब्दों में "समाज एक कृत्रिम संगठन है और वह इसके सदस्य माने जानेवाले व्यक्तियों से बना है। व्यक्ति के कल्याण की बात समझे बिना समाज के कल्याण की चर्चा करना व्यर्थ है। किसी भी वस्तु को हितकारी अथवा किसी व्यक्ति के लिये लाभदायक तभी कहा जाता है जबकि वह उसके सुखों के योगफल में वृद्धि करे अथवा दूसरे शब्दों में उसके दुखों के योगफल में कमी करने में सहायक हो।" राजनैतिक आज्ञापालन के कर्त्तव्य की व्याख्या करते हुए बेंथम बताता है कि राजाज्ञा-पालन का वास्तविक कारण यह नहीं है कि "हमारे पूर्वजों में आज्ञापालन करने का कभी कोई समझौता था, और न ही उसका कारण हमारी अनुमति है।' उसके अपने शब्दों में 'राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिये करते हैं कि ऐसा करना उनके लिये लाभदायक एवं उपयोगी हैं और आज्ञा पालन के संभावित दोष अवज्ञा के सम्भावित दोषों की अपेक्षा कहीं कम हैं।'[1]

बेंथम के अनुसार कोई भी सरकार तभी तक जीवित रह सकती है जब तक प्रजा उसका साथ देती है। राज्य नागरिकों को सामान्य हित के लिये अपना अथवा निजी हित तक बलिदान करने के लिये पुरस्कार एवं दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्त्तव्य अर्थात् समाज के सामान्य सुख का ध्यान रखने का पालन नहीं करती है तो जनता को उसकी आज्ञा की अवहेलना करने का अधिकार है। बेंथम का यह मत है कि राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है एक नैतिक समुदाय नहीं जिसका ध्येय जनता का नैतिक कल्याण हो।

४ बेंथम की कानून सम्बन्धी धारणा (Bentham's Theory of Law)—यह कहा जा चुका है कि बेंथम के मत में राज्य कोई नैतिक समुदाय नहीं है अपितु वह एक विधि अथवा कानून निर्माता निकाय है। जनता के साथ इसका सम्बन्ध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। बेंथम के अनुसार कानून सप्रभु का आदेश है। सप्रभु की इच्छा कानून के रूप में प्रकट होती है और इसलिये उसको मान्यता है। इस सम्बन्ध में उसकी यह धारणा हॉब्स की भांति ही है। बेंथम का कहना है कि सप्रभु के निश्चित आदेशों का अर्थात् कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा-पालन में ही उसका और सबका कल्याण निहित है, अर्थात् कानूनों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है, अतः उसका पालन होना चाहिए। प्राकृतिक कानूनों को अस्वीकार करते हुए बेंथम ने दो ही कानून माने हैं—दैवी तथा मानवी।

---

1. "Men obey the laws of the state, because they knew that probable mischief of obedience are less than the probable mischief of disobedience"

—Bentham

बेंथम ने अपने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को विधि-निर्माण के लिये प्रयोग करने की सलाह दी। उसने कहा कि प्रत्येक विधि अथवा कानून को सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक कल्याण के उद्देश्य से ही बनाना चाहिये। सेबाइन (Sabine) का लिखना है कि, "बेंथम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धान्त एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन दे देता है। इसके द्वारा वह "विवेक तथा विधि के हाथों सुख के वस्त्र" को बना सकता है।"[1] बेंथम ने राजसत्ता द्वारा बनाई गई प्रत्येक विधि की कसौटी उसकी उपयोगिता मानी है। विधियों की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती है—(१) यह कि वह राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नहीं, (२) यह कि उससे लोगों को आवश्यकता की सामग्रियां यथेष्ट मात्रा में मिलने लगती हैं या नहीं एवं (३) यह कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नहीं। बेंथम का कहना था कि यदि विधियां उक्त कसौटियों पर उपयोगी सिद्ध होती हैं तो विधि का लक्ष्य पूरा हो जाता है। विधियां अपने स्थायित्व और अपनी समाज व्यापी मान्यता से नागरिकों को सुख देती है। किसी विधि की उपयोगिता की जांच करने के लिये यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि (क) जिस बुराई को दूर करने के लिये विधि बनाई जाती है वह वास्तव में बुराई है, और (ख) यदि एक बुराई को रोकने के लिये दूसरा बुराईपूर्ण साधन ही अपनाना पड़े तो जिसे साधन के रूप में अपनाया जाय उसकी बुराई अपेक्षाकृत कम हो। बेंथम का विचार था कि प्रत्येक विधि व्यक्तियों को, जिन्हें यह प्रभावित करती है, कुछ न कुछ असुविधा तो पहुँचती ही है। उनकी स्वच्छन्दता में कमी होती है जिससे उन्हें दुःख होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्रत्येक विधि एक बुराई है और चूंकि इस असुविधा के कारण सर्वाधिक लोगों का हित है और क्योंकि एक बड़ी बुराई इससे दूर होती है, इसलिये विधियों का निर्माण उपयोगी है।

बेंथम ने 'अहस्तक्षेप नीति' (Laissez Faire) की नीति को अपना कर मुक्त व्यापार एवं स्वच्छन्द प्रतियोगिता आदि का समर्थन किया। राजसत्ता का आधार उपयोगिता बताते हुए उसने यह मत प्रकट किया कि लोकतन्त्रात्मक राज्यों में विधि या कानून को सरल होना चाहिये ताकि लोग उसे समझ सकें। कानून अथवा विधियां उपयोगी हों—इस दृष्टि से उसने इनके दो कारण बतलाए—स्वहित तथा परहित। उसके मत में कानून का सर्वप्रमुख एवं महान् कार्य है "सर्वहित की भावना को इस प्रकार अनुशासित करना जिससे यह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख प्राप्ति में योग दे।" यदि कोई कार्य समाज हित के विरुद्ध है तो बेंथम के अनुसार वह दण्डनीय है। अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण करते समय, बेंथम ने यह भी प्रकट किया कि विधायक को हमेशा अपने हित की तरह राज्य के हित को भी

---

liberty. it is not one of the principal object of law, but a branch of security, a branch which law can not help prunning."

—*Sorley*, History of English Philosophy, P 227

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६३८

देखना चाहिये। इसके लिये उसे विधि-निर्माण में चार बातों पर ध्यान देना चाहिये—(१) आजीविका (Subsistence), (२) पर्याप्तता (Abundance), (३) समानता (Equality) और (४) सुरक्षा (Security)। विधि के कार्यों को इनके संदर्भ में ही देखना चाहिये अर्थात् अधिक से अधिक लोगों के हित में इन बातों का ध्यान रखते हुए ही विधि का निर्माण करना चाहिए। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि 'स्वतन्त्रता' को वह संरक्षण के अन्दर ही निहित मानता है। इन चारों में संघर्ष की अवस्था में यह निर्णय करना विधायक का काम है कि प्रधानता किसे दी जाय, वैसे बेंथम के अनुसार यह प्रधानता सामान्यतः इस क्रम में दी जानी उपयुक्त है—आजीविका, सुरक्षा, पर्याप्तता, समानता।

बेंथम ने इंगलैंड के तत्कालीन कानूनों की आलोचना करके उन्हें नया रूप देने का प्रयास किया और इस दृष्टि से उसने कानूनों का वर्गीकरण चार भागों में किया—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, संवैधानिक कानून, नागरिक कानून, फौजदारी कानून। बेंथम ने 'कानूनों में सुधार' का आन्दोलन बड़ी तेजी से चलाते हुये श्रेष्ठ कानून के ६ लक्षण बताये जो ये हैं—(१) कानून जनता की आशा-आकांक्षा या विवेक-बुद्धि के विपरीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि ऐसे कानूनों के प्रचलन से सामाजिक सन्तुलन बिगड़ कर विद्रोह की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है, (२) कानूनों का जनता को ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए प्रचार, उपक्रम, जनमत-निर्माण आदि का आश्रय लेना चाहिए, (३) कानूनों में विरोधाभास नहीं होना चाहिए और उपयोगिता का लक्ष्य बना रहना चाहिये, (४) कानूनों को सरल, स्पष्ट एवं सुबोध भाषा अथवा भाषाओं में बनाना चाहिये, (५) कानूनों को व्यावहारिक होना चाहिये, तथा (६) कानूनों का पूर्ण रीति से पालन होना चाहिए और कानून भंग के लिए पूर्ण दण्ड व्यवस्था भी होनी चाहिए क्योंकि कानून तोड़कर बच निकलना समाज में अराजकता का प्रथम चरण है।

न्याय व्यवस्था (Administration of Justice)—बेंथम वस्तुतः एक महान् न्याय व्यवस्था का सुधारक था जिसकी न्याय के प्रतिपादन तथा योग्य और दलित वर्ग के लोगों को सुखी देखने की बड़ी तीव्र अभिलाषा थी। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने ब्रिटेन की तत्कालीन न्याय-व्यवस्था की गम्भीर आलोचना की और कहा कि न्याय प्रशासन को निरर्थक विधियों को नष्ट कर देना, अव्यावहारिक विधियों को त्याग देना एवं शेष की सुव्यवस्थित रूप से सरल, सुबोध तथा स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कर देनी चाहिए। बेंथम ने अपने देश की विधियों का अध्ययन जन-साधारण जिनके लिये ये विधियां बनाई गई थी, के दृष्टिकोण से किया। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है कि बेंथम के अनुसार, "सभी अवस्थाओं में विधान की उपयोगिता को परखने का आधार यह है कि वह किस सीमा तक कारगर होता है, उसको कार्यान्वित करने में कितना खर्च आता है और किस सीमा तक विनियमों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर देता है जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों के लिये लाभदायक होती है। किसी कार्य को दायित्वपूर्ण बनाने के लिए उपयोगिता ही एकमात्र उचित आधार है। सम्पत्तिगत अधिकार सामान्य रूप से इसलिये ठीक होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है,

वह अपना हर काम सोच-समझ कर करता है। वह अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होनेवाली उलझनों से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार मे कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव पैदा होता है। बेंथम के मत से सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है, लेकिन उसका विचार है कि यह एक अत्यधिक अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि सम्पत्ति के वितरण का वैधानिक रक्षा हो। उसकी यह दृढ नीति थी कि विधि को इस बात का प्रयास करना चाहिये कि सम्पत्ति का समान वितरण हो या कम से कम मनमानी असमानताओं का निर्माण न हो। व्यवहार मे उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिये।'[1]

बेंथम ने इस बात की घोर निन्दा की कि मुकदमे मे वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो के लिये न्याय प्राप्ति के मार्ग मे बाधायें खड़ी कर दी जाती हैं। उस समय ब्रिटेन की न्याय-प्रशासन पद्धति बड़ी दोषपूर्ण थी। न्यायाधीशो से साक्षात् करने का कोई साधन न था—साधन केवल वकील थे जिन्हे बड़ी-बड़ी रकमे उनकी फीस के रूप मे देनी पड़ती थीं। जनसाधारण न्याय के सम्बन्ध मे सदैव आवश्यक खर्चे, असाधारण देरी, अव्यवस्था और दुश्चिन्ता से घिरा रहता था। इन परिस्थितियो मे कोई आश्चर्य नहीं कि बेंथम ने कहा 'इस देश मे न्याय बेचा जाता है—बहुत महगा बेचा जाता है और वह व्यक्ति जो इसका दाम नही चुका सकता न्याय से वंचित रह जाता है।"[2] बेंथम ने Truth Versus and Hurst नामक निबन्ध मे लिखा है 'कैसी अद्भुत बात है कि एक न्यायालय मे जिसे निरपेक्ष 'न्यायालय' कहा जाता है, एक व्यक्ति का जीवन भर विपत्ति मे फसाकर उसकी सारी सम्पत्ति को लूट लिया जाता है? सम्राट जॉन का दावा है कि हम किसी भी व्यक्ति को न्याय से वंचित नही रखगे हम किसी को भी न्याय बेचेंगे नहीं। यह दावा था उस सम्राट जॉन का जिसे 'दुष्ट जॉन' कहा जाता है। किन्तु अब सज्जन सम्राट जाज क्या करता है? वह १०० व्यक्तियों मे से ९९ को न्याय से वंचित रखता है और १००वें व्यक्ति को न्याय बेच देता है। अन्य प्रणालियों की बात तो दूर, ब्रिटेन के कानून के अनुसार उस वस्तु को जिसे न्याय कहा जाता है, केवल बेचा ही नहीं जाता अपितु बारूद की तरह होने और भिन्न-भिन्न शक्ति के बने होने के कारण इसे अलग-अलग दाम पर, तरह-तरह के खरीददारो की सामर्थ्य के अनुसार बेचा जा रहा है।"[3]

---

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६४०

2. 'In this country, justice is sold, and dearly sold—and it is denied to him who cannot disburse the price at which it is purchased"

—*Bentham*

3. "Why is it that, in a court called a court of equity, they keep a man the whole of his life in hot water, while they are stripping him of his fortune ?......"We will deny justice"—says king John—"we will sell justice to no man" This was the wicked king John How does the king George?

बेंथम "अदालतों की कार्य-विधि को आसान करना चाहता था और उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाना चाहता था। इसके लिए उसने उन सब प्रतिबन्धों और परिसीमाओं को हटाने का सुझाव दिया जो प्रजाजनों के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गये थे। बेंथम ने फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट में सांविधानिक विधि के बारे में जिन सिद्धान्तों की सिफारिश की थी, यहाँ उसने प्रक्रिया विधि के बारे में ही उन्हीं सिद्धान्तों को लागू किया। उसने यह ठीक ही बताया कि साक्ष्य की ग्राह्यता से सम्बन्धित वैधिक औपचारिकताएं और कृत्रिम नियम इस विश्वास पर आधारित हैं कि मौलिक विधि निकृष्ट है और शासन भयानक है। बेंथम का तर्क था कि यदि यह विश्वास सही है तो उचित उपचार अदालतों को कमजोर करना नहीं बल्कि विधि का सुधार करना है। उसका कहना था कि विधि में औपचारिकता, अस्पष्टता और प्राविधिकता होने के कारण खर्चा बढ़ता है देरी होती है मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिलता है, बहुत से लोगों को न्याय नहीं मिल पाता और वैधानिक प्रक्रियाओं का परिणाम सदैव अस्थिर तथा अनिश्चित रहता है। बेंथम इस पद्धति को प्राविधिक पद्धति कहता था और उसका विचार था कि यह जनता को ठगने के लिए वकीलों का एक प्रकार का षड्यन्त्र है।"[1] यह उल्लेखनीय है कि बेंथम ने 'फ्रगमेंट आन गवर्नमेंट' में ही वकीलों के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया था और वह अपने सम्पूर्ण जीवन उनके प्रति इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता रहा।

बेंथम का आदर्श यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील बनना चाहिये।" वह औपचारिक वकालत के स्थान पर एक विवाचक के सामने अनौपचारिक कार्यवाही का समर्थक था। उसका कहना था कि विवाचक दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने की कोशिश करे। मुकदमें में कोई भी साक्ष्य उपस्थित किया जा सके और असम्बद्धता के निवारण के लिये कठोर नियमों के बनिस्पत न्यायिक विवेक का आश्रय लिया जाय। अदालतों के सगठन के बारे में बेंथम को इस बात पर आपत्ति थी कि न्यायाधीशों और अदालतों के अन्य अधिकारियों को वेतन न देकर फीसें दी जाये। बेंथम को यह भी रुचिकर न था कि अदालतों के क्षेत्राधिकार एक दूसरे का अतिक्रमण करें। बेंथम जूरी प्रथा के भी विरुद्ध था। वह एक ही न्यायाधीश के द्वारा किसी मुकदमें का निर्णय किये जाने का समर्थक था। डेविडसन (Davidson) के शब्दों में, "बेंथम न्यायालय के सारे पदों पर नया उत्तरदायित्व रखने का समर्थक था

He denies it to ninety nine men out of a hundred, and sells it to the hundredth. Under English law, *not to speak of* other systems the sort of commodity called justice, *is not* only sold but, being like gun power and *spirits made of* different degrees of strength, is sold at *different prices* suited to the ockets of so many different classes *of customers.*"

—Quoted from 'A History of the Political Philosophers by *George Catlin*, P. 361

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६४२

वह अपना हर काम सोच समझ कर करता है। वह अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होनेवाली उलझनों से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार में कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव पैदा होता है। बेंथम के मत से सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है लेकिन उसका विचार है कि यह एक अत्यधिक अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि सम्पत्ति के वितरण का वैधानिक रक्षा हो। उसकी यह दृढ नीति थी कि विधि को इस बात का प्रयास करना चाहिये कि सम्पत्ति का समान वितरण हो या कम से कम मनमानी असमानताओं का निर्माण न हो। व्यवहार मे उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिये।[1]

बेंथम ने इस बात की घोर निन्दा की कि मुकदमे मे वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो के लिये न्याय प्राप्ति के मार्ग मे बाधायें खडी कर दी जाती हैं। उस समय ब्रिटेन की न्याय-प्रशासन पद्धति बडी दोषपूर्ण थी। न्यायाधीशो से साक्षात् करने का कोई साधन न था—साधन केवल वकील थे जिन्हे बडी-बडी रकमे उनकी फीस के रूप मे देनी पडती थीं। जनसाधारण न्याय के सम्बन्ध मे सदैव आवश्यक खर्चे असाधारण देरी, अव्यवस्था और दुश्चिन्ता स घिरा रहता था। इन परिस्थितियो म कोई आश्चर्य नही कि बेंथम ने कहा, 'इस देश मे न्याय बेचा जाता है—बहुत महगा बेचा जाता है, और वह व्यक्ति जो इसका दाम नही चुका सकता न्याय से वंचित रह जाता है।"[2] बेंथम ने Truth Versus and Hurst नामक निबन्ध मे लिखा है 'कैसी अद्भुत बात है कि एक न्यायालय मे जिसे निरपेक्ष 'न्यायालय' कहा जाता है, एक व्यक्ति का जीवन भर विपत्ति मे फंसाकर उसकी सारी सम्पत्ति को लूट लिया जाता है? सम्राट जान का दावा है कि हम किसी भी व्यक्ति को न्याय से वंचित नही रखगे हम किसी को भी न्याय बेचेंगे नहीं। यह दावा था उस सम्राट जान का जिसे दुष्ट जॉन' कहा जाता है। किन्तु अब सज्जन सम्राट जार्ज क्या करता है? वह १०० व्यक्तियो मे स ९९ को न्याय मे वंचित रखता है और १००वें व्यक्ति को न्याय बच देता है। अन्य प्रणालियों की बात तो दूर, ब्रिटेन के कानून के अनुसार उस वस्तु को जिसे न्याय क[illegible] जाता है, केवल बेचा ही नही जाता अपितु बारूद की तरह होने और भि[illegible] भिन्न शक्ति के बने होने के कारण इसे अलग अलग दाम पर, तरह-तरह के खरीददारो की सामर्थ्य के अनुसार बेचा जा रहा है।"[3]

---

1 सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २ पृष्ठ ६४०

2 'In this country, justice is sold, and dearly sold—and it is denied to him who cannot disburse the price at which it is purchased"

—*Bentham*

3 "Why is it that, in a court called a court of equity, they keep a man the whole of his life in hot water, while they are stripping him of his fortune? 'We will deny justice'—says king John—"we will sell justice to no man This was the wicked king John How does the king George?

बेंथम "अदालतों की कार्य-विधि को आसान करना चाहता था और उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाना चाहता था। इसके लिए उसने उन सब प्रतिबन्धों और परिमाणों को हटाने का सुझाव दिया जो प्रजाजनों के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गये थे। बेंथम ने फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट में सांविधानिक विधि के बारे में जिन सिद्धान्तों की सिफारिश की थी, यहां उसने प्रक्रिया विधि के बारे में ही उन्हीं सिद्धान्तों को लागू किया। उसने यह ठीक ही बताया कि साक्ष्य की ग्राह्यता से सम्बन्धित वैधिक औपचारिकताएं और कृत्रिम नियम इस विश्वास पर आधारित हैं कि मौलिक विधि निकृष्ट है और शासन भयानक है। बेंथम का तर्क था कि यदि यह विश्वास सही है तो उचित उपचार अदालतों को कमजोर करना नहीं बल्कि विधि का सुधार करना है। उसका कहना था कि विधि में औपचारिकता, अस्पष्टता और प्राविधिकता होने के कारण खर्चा बढ़ता है, देरी होती है, मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिलता है, बहुत से लोगों को न्याय नहीं मिल पाता और वैधानिक प्रक्रियाओं का परिणाम सदैव अस्थिर तथा अनिश्चित रहता है। बेंथम इस पद्धति को प्राविधिक पद्धति कहता था और उसका विचार था कि यह जनता को ठगने के लिए वकीलों का एक प्रकार का षड्यन्त्र है।"[1] यह उल्लेखनीय है कि बेंथम ने 'फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट' में ही वकीलों के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया था और वह अपने सम्पूर्ण जीवन उनके प्रति इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता रहा।

बेंथम का आदर्श यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील बनना चाहिये।" वह औपचारिक वकालत के स्थान पर एक विवाचक के सामने अनौपचारिक कार्यवाही का समर्थक था। उसका कहना था कि विवाचक दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने की कोशिश करे। मुकदमें में कोई भी साक्ष्य उपस्थित किया जा सके और असम्बद्धता के निवारण के लिये कठोर नियमों के बनिस्पत न्यायिक विवेक का आश्रय लिया जाय। अदालतों के संगठन के बारे में बेंथम को इस बात पर आपत्ति थी कि न्यायाधीशों और अदालतों के अन्य अधिकारियों को वेतन न देकर फीसें दी जाये। बेंथम को यह भी रुचिकर न था कि अदालतों के क्षेत्राधिकार एक दूसरे का अतिक्रमण करें। बेंथम जूरी प्रथा के भी विरुद्ध था। वह एक ही न्यायाधीश के द्वारा किसी मुकदमें का निर्णय कियेजाने का समर्थक था। डेविडसन (Davidson) के शब्दों में, "बेंथम न्यायालय के सारे पदों पर नया उत्तरदायित्व रखने का समर्थक था

He denies it to ninety nine men out of a hundred, and sells it to the hundredth. Under English law, not to speak of other systems the sort of commodity called justice, is not only sold but, being like gun power and spirits made of different degrees of strength, is sold at different prices suited to the ockets of so many different classes of customers."

—Quoted from 'A History of the Political Philosophers by *George Catlin*, P. 361

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६४२

तथा इस विषय में वह 'ट्रिब्युनल' की अपेक्षा एक ही न्यायाधीश रखने के पक्ष मे था। उसका मत था कि किसी मामले पर तीन न्यायाधीशों का निर्णय करना तीनो के ही उत्तरदायित्व मे कमी करता है।"

बेंथम न्यायाधीशों का सम्मान नही करता था। न्यायवादियो के बारे मे उसका कहना था कि,' ये लोग क्रियाहीन और शक्तिहीन जाति के हैं जो सब अपमानो को सहन कर लेते हैं तथा किसी भी बात पर झुक जाते हैं। इनकी बुद्धि न्याय और अन्याय के भेद को समझने मे असमर्थ और दोनो के प्रति उदासीन है। ये लोग बुद्धि-शून्य, अल्पदृष्टि, दुराग्रही और आलसी हैं। ये झूठे, भय से काप जानेवाले, विवेक एवं सार्वजनिक उपयोगिता की आवाज के प्रति बहरे, शक्ति के आगे नतमस्तक और साधारण से स्वार्थ के पीछे नैतिकता का परित्याग करनेवाले हैं।"[1]

बेंथम के विधि-सिद्धान्त ने विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र के दृष्टिकोण को स्थापित किया। १९वी शताब्दी में अंग्रेज और अमेरिकन विधि-वेत्ता इस पद्धति से परिचित थे। यह सम्प्रदाय जान आस्टिन के नाम से विशेषतः प्रसिद्ध है। "लेकिन ऑस्टिन ने सिर्फ यही किया था कि बेंथम के विशालकाय और अपाह्य ग्रंथो मे बिखरे हुए विचारो को व्यवस्थित रूप दे दिया। राजनीतिक सिद्धान्त मे आस्टिन के कार्य का प्रभाव यह था कि उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व दिया। यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से बेंथम की ही देन है। यह सिद्धान्त बेंथम की उस योजना का एक भाग था जिसके द्वारा वह अदालतो पर ससद का नियन्त्रण स्थापित करके उनका सुधार करना चाहता था।"[2]

बेंथम के विचार उसके जीवनकाल मे यद्यपि समुचित आदर प्राप्त न कर सके किन्तु यह उल्लेखनीय है कि उसके द्वारा प्रतिपादित लगभग सारे सुधार कालान्तर मे अपना लिये गये। बेंथम के न्यायशास्त्र के आधार पर इंगलैण्ड की न्याय व्यवस्था मे आमूल सुधार हुआ और १९वी शताब्दी मे उसे पूरी तरह से सशोधित करके आधुनिक रूप दिया गया। यद्यपि उसके विचारो का एक ही समय मे व्यवस्थित रूप से कार्य-रूप मे परिणित नहीं किया गया और उसके कुछ विचार, विशेषकर अंग्रेजी विधि को सहिताबद्ध करने से सम्बन्धित विचार, कभी स्वीकार नही किये गये, किन्तु इंगलैंड मे एक के बाद एक अधिनियम का निर्माण करके विधि और अदालतो का पूरा सुधार किया गया एवं अधिकाश अवस्थाओ मे बेंथम की आलोचना द्वारा निर्दिष्ट रास्ते को अपनाया गया।' बेंथम ने जीवन की प्रत्येक दिशा मे नेतृत्व किया। न्याय-प्रणाली और विधि सुधार के इतिहास मे बेंथम का स्थान बहुत ऊंचा है। सर हेनरीमेन ने बेंथम के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए सत्य ही कहा है, 'बेंथम के समय से आधुनिककाल तक जितने भी सुधार विधि-व्यवस्था मे हुए हैं उनमे से मुझे एक भी ऐसा ज्ञात नहीं है जिसकी प्रेरणा बेंथम से प्राप्त

1. Preface, ed. F. C. Montague 1891, P. 104
2 सेबाइन: राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६४२.

नहीं हुई हो ।''[1]

(५) बेंथम के संप्रभुता सम्बन्धी विचार (Bentham's Idea of Sovereignty)—कानून की उपरोक्त धारणा से स्पष्ट है कि बेंथम राज्य की सम्प्रभुता का पक्षपाती था। वह संप्रभुता को निरपेक्ष एवं अपरिमित मानता था और इसीलिये उसकी दृष्टि में संप्रभुता का प्रत्येक कार्य वैध है। उसकी मान्यता थी कि राज्य अपने सम्प्रभुत्व से ही व्यक्ति को अधिकतम संख्या के अधिकतम हित में कार्य करने के लिये दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है। संप्रभुता के सम्बन्ध में बेंथम ने अद्वितीय, अद्भुत, सर्वोच्च सत्ता का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि राज्य की अनन्त शक्ति या उच्चतम सत्ता मे उसका विश्वास नहीं है। वह राज्य की विधि-निर्माण की क्षमता को ही सप्रभुता मानता है किन्तु उसे भी उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। उसके अनुसार यह कहना कि राज्य की सप्रभुता पर कोई सीमा ही नहीं लग सकती अनुचित है। उसके मत मे लोकमत तथा जनतत्र सप्रभुता की मर्यादा है। राज्य की सप्रभुता के ऊपर जिस सीमा की कल्पना की जा सकती है, वह है "प्रजा द्वारा सफल विरोध की सम्भावना।" बेंथम के विचार में—'यदि विशाल जनमत **किसी विधि का विरोध करता है तो संप्रभुता का यह कर्त्तव्य है कि उसे कानून का रूप कदापि न दे।"** संप्रभुता अपने आदेशों या कानूनों द्वारा ही व्यक्ति के अधिकारों का अनुमोदन या सरक्षण करती है। बेंथम सप्रभु की आज्ञापालन और कानूनों के प्रति आदर का भाव व्यक्ति से उसी सीमा तक चाहता है जहां तक उसे लाभ हो, अथवा उपयोगिता की पूर्ति हो। यदि कानूनों की उपयोगिता नष्ट हो जाय, उनसे हानि होने लगे तो ऐसी स्थिति में प्रतिरोध करना सर्वथा उचित है। यह प्रतिरोध सामान्य से लेकर क्रांति तक का रूप धारण कर सकता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र मे उपयोगिता का दृष्टि-कोण रहना आवश्यक है। अपने उपरोक्त विचारों के साथ बेंथम यह भी स्वीकार करता है कि राज्य से बड़ी (भीतर या बाहर) कोई दूसरी शक्ति नहीं है जो राज्य को किसी अधिकार को मानने या न मानने के लिये बाध्य कर सके। इस भांति बेंथम संप्रभु को असीमित अधिकार भी देता है। उसके अनुसार **"सप्रभु के अधिकार भले ही अत्यन्त न हों किन्तु अनिश्चित होने ही चाहिये बशर्ते कि स्पष्ट परम्परागत तरीकों से उसे सीमित न किया गया हो।"** इस तरह हम देखते हैं कि बेंथम की इस परिभाषा में **"संप्रभु के असीमित तथा अनिश्चित अधिकारों का व्यापक दायरा खींचा गया है और साथ ही परम्परागत तरीकों की भी रक्षा की गई है। सम्प्रभु पर यदि प्रतिबन्ध हो सकता है तो वह जनवादी हितों पर आधारित सामूहिक प्रतिरोध की संभावना है, जिसे वह स्वयं समझ सकता है।"**

(६) बेंथम की दण्ड-सम्बन्धी धारणा (Bentham's Conception of Punishment)—बेंथम ने राज्य द्वारा अपराधियों को दिये जानेवाले दण्ड के प्रकार तथा उसकी गहनता के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये

---

1. "I do not know a single law reform effected since *Bentham's* day which cannot be treaced to his influence".
—*Sir Henry Maine*

हैं। उसने इगलैण्ड के दण्डीय कानून की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि अपराध की मात्रा के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिये। वह कहता था कि इगलैण्ड मे छोटे छोटे अपराधो के लिये भी मृत्यु दण्ड दिया जाता है, इससे वहा पर अपराधो की सख्या कम नही होती वरन और बढती है। उसने बताया कि दण्ड का मुख्य अभिप्राय समाज से अपराधो को कम करना होना चाहिये, केवल बदला लेने की भावना ही दण्ड मे नही होनी चाहिये। किसी अपराधी को मृत्यु-दण्ड केवल उस समय ही दिया जाना चाहिये जबकि उसके अतिरिक्त समाज-सुधार का और कोई उपाय न हो। दण्ड को नापने का पैमाना समाज-कल्याण होना चाहिये। बेंथम के विचार से दण्ड-विधि के क्षेत्र मे उपयोगिता के आधार पर दण्डों के एक उचित सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है। दण्ड अपराध की गहनता के उपयुक्त होना चाहिये, न्यूनाधिक नही। यह परिस्थितियो के अनुसार होना चाहिये, साथ ही अपराधी को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जाना चाहिये जिससे सर्वसाधारण को अपराधो से भय और अरुचि हो।

बेंथम के मतानुसार, दण्ड और अपराध की परस्पर तुलना करते समय और दण्ड का निर्णय करते समय कुछ मौलिक सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना चाहिये जिनमे प्रमुख ये हैं—

(१) दण्ड की मात्रा अपराध के अनुपात मे होनी चाहिये।

(२) दण्ड मे अपराधी को आवश्यक एव निर्दयतापूर्ण दर्द नहीं पहुँचना चाहिये। दण्ड समान भाव से देना चाहिये।

(३) एक से अपराध के लिये दिये जानेवाले दण्ड की मात्रा समान होनी चाहिये।

(४) अपराध की विशेषता के अनुसार ही दण्ड की विशेषता होनी चाहिये।

(५) दण्ड को आदर्श होना चाहिये, अर्थात् यह इस प्रकार का और इस तरह दिया जाना चाहिये कि यह अपराधी तथा अन्य लोगों के लिये, शिक्षाप्रद हो।

(६) दण्ड को 'उपयुक्त' पीडा देनी चाहिये अर्थात् इतनी पीड़ा पहुँचनी चाहिये कि अपराध की पुनरावृत्ति न हो और इच्छित शिक्षा मिल जाए।

(७) दण्ड मे सुधार की भावना निहित होनी चाहिये।

(८) उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान मे रखते हुए, दण्ड द्वारा अपराधी को भविष्य मे अपराध करने के अयोग्य कर देना चाहिये।

(९) अपराधी से जहा तक सम्भव हो सके, उस व्यक्ति को मुआवजा (क्षतिपूर्ति) दिलाया जाना चाहिये जिसको उसके कारण कष्ट पहुँचा हो।

(१०) दण्ड जनमत के अनुकूल होना चाहिये तथा इससे अपराधी के प्रति सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न नही होने देना चाहिये।

(११) त्रुटि की सम्भावना को दृष्टि में रखते हुए दण्ड दिया जाना चाहिये ताकि गलत दण्ड घोषित किये जाने की स्थिति मे उस निर्णय मे आवश्यक परिवर्तन किया जा सके।

उपरोक्त सिद्धान्तों से प्रकट होता है कि बेंथम की दण्ड व्यवस्था 'रोक सिद्धान्त' (Deterrent Theory) तथा 'सुधारात्मक सिद्धान्त' (Reformative Theory) का मिश्रण थी। दण्ड के अवरोधक पक्ष पर अधिक बल देने के साथ ही अपराधी के सुधार की ओर भी ध्यान दिये जाने की वकालत बेंथम ने की है। बेंथम ने अपने इस विचार को स्पष्ट प्रकट किया है कि अपराधियों की स्थिति में सतत् प्रयत्न द्वारा सुधार किया जाना चाहिये। अपराधियों को समाज के उपयोगी और स्वाभिमानी सदस्य बनाया जा सकता है। सेबाइन ने बेंथम की दण्ड-विषयक धारणा के सम्बन्ध में जो लिखा है वह उल्लेखनीय है। उनका मत है, 'बेंथम व्यवहार में सर सैमुएल रोमिली की भांति उन बर्बर और प्रभावहीन दण्डों को हटा देने के पक्ष में था जिन्होंने १९वीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैंड की दण्ड विधि को विकृत कर रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बेंथम अपनी अन्य सुधार योजनाओं की भांति दण्ड-न्यायशास्त्र के सुधार में भी लोकहित की प्रेरणा से नहीं प्रत्युत व्यवस्था और कार्यक्षमता की प्रेरणा से प्रवृत हुआ था। तथापि, यह स्वीकार करना न्यायोचित ही होगा कि बेंथम ने अपना बहुत सा समय और धन जेलों के सुधार पर खर्च किया था। बेंथम के व्यक्तित्व की प्रेरक शक्ति ज्ञानोद्दीप्ति थी। उसे गरीबों की समस्याओं अथवा अपराधी बालकों के सुधार की अपेक्षा सामान्य जनता के हितों की अधिक चिन्ता थी।"

(७) बेंथम की अधिकार सम्बन्धी धारणा (Bentham's Theory of Rights)—अधिकारों के सम्बन्ध में बेंथम के विचारों का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रसगवश अनेक स्थलों पर हो चुका है, अतः यहां इस पर संक्षेप में ही चर्चा की जायगी। अधिकारों की व्याख्या करते हुए बेंथम ने कहा है कि "वे मनुष्य के सुखमय जीवन के नियम उपनियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता दे दी गई है।" इसका तात्पर्य यह है बेंथम कानून सम्मत अधिकारों के अस्तित्व में ही विश्वास करता है। वह प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को ठुकराते हुए उसे केवल व्यर्थ की बकवास बताता है और इस भांति समझौतावादियों के मत पर खण्डन करता है। किन्तु प्राकृतिक अधिकार का तिरस्कार करते हुए भी वह निजी सम्पत्ति के अधिकार का तिरस्कार नहीं कर सका। उसने सामान्य उपयोगिता के आधार पर निजी सम्पत्ति का समर्थन किया है। निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिये बेंथम भी उतना ही चिन्तित है जितना कि लॉक। अन्तर विशेषतः यही है कि जहाँ बेंथम निजी सम्पत्ति को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है, वहा लॉक उसे एक प्राकृतिक अधिकार समझता था। बेंथम ने अधिकारों का निश्चय सामाजिक पृष्ठभूमि में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के बल पर किया है। उसने दो तरह के अधिकारों की चर्चा की है—(१) वैधानिक अर्थात् वे अधिकार जो संप्रभु शक्ति द्वारा बनाई गई विधियों से मिलते हैं और (२) नैतिक अधिकार। वैधानिक अधिकारों से जहा बाह्य आचरण के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया जाता है वहा नैतिक अधिकार का विषय आन्तरिक आचरण है।

बेंथम अधिकारों के साथ कर्त्तव्य का भी समावेश करता है क्योंकि उसकी दृष्टि में कर्त्तव्य रहित अधिकार निर्जीव हैं। अधिकारों का निर्धारण

बेंथम के अनुसार सामयिक परिस्थितियो द्वारा होता है और अधिकारों व कर्त्तव्यो का वह एक दूसरे से अन्योनाश्रित सम्बन्ध मानता है। वह वैधानिक और नैतिक अधिकारो के साथ राजनैतिक, नैतिक और धार्मिक कर्तव्य भी सम्बद्ध करता है।

बेंथम के सिद्धान्तो की आलोचना
(Criticism of Bentham's Theories)

बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त और उसके सुखवादीमापक यन्त्र मे अनेक दोष बतलाये गये हैं। आलोचको ने बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन की पृथक पृथक दृष्टिकोणो से कठोर आलोचना की है।

(१) बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धान्त पूर्णतः भौतिकवादी सिद्धान्त लगता है जिस अपनाने से व्यक्ति की उन्नति नही होती अपितु व्यक्ति और समाज दोनो को अपनी आत्मा का त्याग करना पडता है। आध्यात्मवाद और आदर्शवाद के समर्थको ने बेंथम की यह कहकर आलोचना की है कि उसने मनुष्यो को पशु मान लिया था। मुरे (Murray) के शब्दो मे "यदि हम बेंथम के अनुसार मनुष्य की विवेक शक्ति को निकाल लें तो समाज मे सदाचार और अनाचार नाम के कार्यों की विवेचना समाप्त हो जाती है, भले ही मनुष्य की क्रियायें रह जायें और वे लाभदायक तथा हानिकारक भी बनी रहें। व्यक्ति के विवेक शून्य हो जाने पर समाज मे सामाजिक विवेक भी नष्ट हो जायगा। दोषी समाज के बहिष्कार का अनुभव ही नही करेगा।" किन्तु बेन्थम के सदाचार के नियमो के प्रति इस प्रकार के विचार अनुपयुक्त हैं। बेन्थम ने सदाचार के आधार पर न्याय का उस ही कारण से विरोध किया था जिस आधार पर उसने प्राकृतिक अधिकारो, सर्वाधिकार सम्पन्नता तथा अन्य आध्यात्मिक मान्यताओ का खण्डन किया था। उसके विचार मे ये मान्यतायें अज्ञानी और स्वार्थी लोगों के हाथो मे आ जाने पर आचारभ्रष्टता और बुराई फैलाती हैं।

बेन्थम का उपयोगितावाद केवल मात्रात्मक सुख मानता है, गुणात्मक नहीं, यह एक भयावह स्थिति है। खेल कविता (Pushpin poetry) सूत्र से बेन्थम सुखों की जाच करने के लिए एक ही तरह का माप लेकर बैठ गया प्रतीत होता है। इस सूत्र का अभिप्राय यह हुआ कि ताश खेलने या सिनेमा देखने मे यदि अत्यधिक सुख हो तो वह पुस्तक पढने या लिखने से कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु तथ्य यह है कि खेल को कविता के बराबर नही बताया जा सकता और कबड्डी के खेल का आनन्द 'शाकुन्तलम्' के आनन्द की समता नही कर सकता। मिल (Mill) ने इसे सुधार कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"सुअर भाव से सन्तुष्ट रहने की अपेक्षा मानव-भाव मे असन्तुष्ट रहना अच्छा है (It is better to be a Socrates dis satisfied than a pig satisfied)।" बेन्थम ने उपयोगिता की मात्रा पर विचार करते हुए देश-प्रेम आदि को कोई महत्व प्रदान नहीं किया है। उपयोगितावादी यह तर्क कर सकते हैं कि सभी वस्तुये ससार की अपने मे महत्वपूर्ण हैं, हर एक का महत्व अपने अपने प्रसग मे है। लेकिन केवल मात्रा का भेद मानना नितान्त भ्रामक तर्क है, अव्यावहारिकता है, बौद्धिक विभ्रान्ति है। जैसा कि हम आगे

चलकर देखेंगे, वेन्थम की इसी अपूर्णता का मिल ने खण्डन किया है और उसके सिद्धान्तों मे सुधार भी।

(२) वेन्थम का सुखवादी मापक यन्त्र नितान्त दोषपूर्ण है। उसकी यह मान्यता ग्राह्य नही हो सकती कि किसी भी कार्य को करने से पूर्व उस कार्य के औचित्य या अनौचित्य का सुखवादी-मापक यन्त्र से परीक्षण कर लेना आवश्यक है। वास्तव में सभ्य मनुष्यों के पथ-प्रदर्शन हेतु नाना रीति-रिवाज, प्रथायें, नियम विनियम होते है जिनसे उन्हें अनेक कार्यों के अच्छे या बुरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और तब वे उनकी सुखात्मक प्रवृत्ति से परिचित हो जाते हैं। वेन्थम के सुखवादी मापक यन्त्र की धारणा का आधार यह है कि सुख एवं दु.ख मापे जा सकते हैं, इनका मात्रात्मक विश्लेषण और माप हो सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान बताता है कि ऐसी पद्धति मानसिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयुक्त हो सकती है, लेकिन इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। वेन्थम द्वारा प्रस्तुत सूक्ष्म विवरण उसकी कल्पना के नैतिक गणित शास्त्र की व्यावहारिकता को सिद्ध नही करता। हमारे सुखों और दु.खों को नापने के लिए एक गज या सेर जैसे मापदण्ड के आविष्कार करने की बात पर वेन्थम गम्भीरतापूर्वक विचार करता, और तीव्रता की एक इकाई की स्थिरता की एक इकाई से तुलना करता तो निश्चय ही एक सुखवादी मापदण्ड को तैयार करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य पाता।" वेन्थम का सुखवादी मापक यन्त्र इस दृष्टि से भी अग्राह्यी है कि यह कर्त्ता के उद्देश्य की ओर कोई ध्यान न देकर केवल कार्य के बाहरी परिणाम पर ही ध्यान देता है। अतः इस यन्त्र का मूल्य विधि-निर्माता के लिये भले ही हो, आचार-शास्त्री के लिये कुछ भी नहीं है। सुख दुःख के मापने में वेंथम ने व्यक्तिगत भावना की पूर्णतः उपेक्षा की है।

(३) वेंथम ने सुख दु ख के व्यापक अन्तर को बताने के लिये शारीरिक रचना, चरित्र, शिक्षा, लिग आदि ३२ लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण किया। वेंथम के इन मानचित्रों को देखकर प्रसन्नता तो होती है पर साथ ही पहाड़ों की पुस्तक याद आ जाती है। वेंथम बताता है कि कौन सा कार्य करना चाहिये—इसका निर्णय करने के लिये सुख-दु.ख की मात्रा निर्धारित करनेवाले कारणों के उत्तर के अनुसार प्रत्येक के लिये निश्चित अ क देकर उनका पूरा योग निकालना चाहिये और जिस पक्ष में अधिक अंक मिले वही काम करना चाहिये। किन्तु वेंथम की यह पूरी प्रक्रिया जटिल ही नही, भ्रामक तथा कपोल कल्पित भी है। इस प्रकार का निर्णय करने में गणित की बारीकियां तो लगाई जाती हैं परन्तु परिणाम संदिग्ध ही रहता है। गणित की तरह निश्चितता तथा यथार्थता मानसिक सामाजिक प्रक्रिया में कदापि सम्भव नहीं है। मेक्कन के अनुसार **"राजनीति में अंकगणित का प्रयोग उतना ही निरर्थक है जैसे अंकगणित में राजनीति।"**

(४) वेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की एक आलोचना यह की जाती है कि इसके अनुसार राज्य में केवल उन्हीं विधियों का निर्माण हो सकता है जिनके द्वारा साधारण स्वार्थ प्राप्त होवे, क्योंकि विरोधी तत्वों एव विरोधी परिस्थितियों में इनका प्रयोग सम्भव नहीं है और इस दशा में न्याय

के स्थान पर अन्याय होने की सम्भावना ही प्रबल रहती है। ऐसी हालत में पूंजीपति अधिकाधिक लाभ उठाकर अपने ही पक्ष में विधि-निर्माण करने हेतु प्रेरित होंगे। पुनः, बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक धरातल पर आधारित है। बेंथम यह भूल जाता प्रतीत होता है कि मानवीय इच्छाएं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः सुख-दुःख भी समान न होकर भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्हीं दो मनुष्यों की अनुभूति परस्पर समान नहीं होती। यह नितान्त सम्भव है कि जो बात एक व्यक्ति को सुखदायी मालूम हो, वही बात दूसरे व्यक्ति को दुःखदायी प्रतीत हो। इसके अतिरिक्त यदि एक अनुभूति सबको सुखदायी लगे भी तो भी यह अवश्य है कि सुख की अनुभूति किसी को तीव्र होगी तो किसी को मन्द।

(५) बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में स्पष्टतः तथ्य और असंगति -दोनों ही प्रकार की त्रुटियां पायी जाती हैं। बेंथम की विचारधारा में आन्तरिक विरोध के दर्शन होते हैं। 'एक ओर तो वह यह मानता है कि सरकार का कार्य पुरस्कार और दण्ड विधान के द्वारा उपयोगिता को बढ़ाना है। दण्ड-विधान एक अपुण्य कार्य है, अतः किसी और बड़े अपुण्य को हटाने के लिये ही सरकार दण्ड-विधान करे। दण्ड-विधान करनेवाली होने के कारण सरकार को बेंथम एक विशाल, पर आवश्यक अपुण्य मानता है, किन्तु यदि सरकार सचमुच पापराशि है तब वह निरपेक्ष सम्प्रभुतावाद का क्यों समर्थक है? सरकार अपुण्य है, ऐसी हालत में मिश्रित सरकार, जिसमें शक्ति का विभाजन रहता है शायद जनहित की दृष्टि से विशेष अच्छी है। अतः कह सकते हैं कि सरकार की पुण्यशीलता और निरपेक्ष सम्प्रभुतावाद आपस में असंगत है।"

(६) बेंथम की राज्य सम्बन्धी धारणा इस दृष्टि से भी त्रुटिपूर्ण बताई जाती है कि उसने सावयवी और समाजवादी सिद्धान्तों की उपेक्षा की है। वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सोचता है और व्यक्तिगत हित को ही राज्य का हित बताता है। समाज को या राज्य को महत्व न देकर वह व्यक्ति और समाज में ठीक सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता। उसने 'Lasaize Faire' के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसने यह विचार प्रकट किया कि व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की जाय क्योंकि वह स्वयं के हित को भलीभांति पहिचानता है। बेंथम ने सामाजिकता को गौण महत्व देते हुए यह कहा कि राज्य को वैयक्तिक हितों के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। बेंथम के इस तरह के राज्य विषयक विचार एकांगी और त्रुटिपूर्ण हैं।

(७) 'बेंथम के उपयोगितावाद के नाम से पूंजीवाद और सनातनी शिथिलता का भी समर्थन किया जा सकता है। बेंथम का सूत्र 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' न केवल रहस्यमय है बल्कि सन्देहजनक भी है। अधिकतम व्यक्तियों की कोई संख्या तो है नहीं। यदि कोई प्रभावशाली राजा या शासक हुआ तो वह स्वयं को अधिकतम व्यक्तियों का प्रतीक मानते हुए स्वयं के सुख को ही सर्वस्व समझ सकता है। इस तरह एक दानवी स्थिति (Diabolic Monstrosity) पैदा हो जाती है। 'बेंथम की अस्पष्टता, मूकवृत्ति तथा संदिग्ध व्याख्या के कारण व्यावहारिक क्षेत्र में अनुचित तरीकों का प्रयोग भी सम्भव हो जाता है।"

(८) वेंथम के राजनीतिक विचारों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर जो एक बात और प्रकट होती है वह यह है कि वह हॉब्स, लॉक, ह्यूम, प्रीस्टले, रिचर्ड आदि से प्रभावित है। वेंथम के विचार मौलिक न होकर इन विद्वानों के विचारों के निष्कर्ष है। ग्रीक एपिक्यूरियंस तथा हेडोनिस्टिक विचारों का सार वेंथम के चिन्तन में है। उसके विचारों में वही सुखवाद है जिसे हेडोनिस्टिक कहा जा सकता है। वेंथम के 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीस हचसन ने किया था और वेंथम द्वारा इसी का अनुकरण किया गया। वेपर के शब्दों में, "उसने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यूम से, सुख तथा दुःख का सिद्धान्त हेलविटियस से सहानुभूति तथा घृणा की धारणा ह्यूम से, उपयोगिता का विचार कोई दस लेखकों में से किसी एक से लिया था। मौलिकता के अभाव में और अपने पक्षपातपूर्ण कल्प-विकल्प के कारण उसके सिद्धान्त परस्पर विरोधी और उतने ही भ्रमपूर्ण हैं जितना कि वह स्वय खुशफहमी में ग्रस्त है।"[1]

वेन्थम का मूल्यांकन
(Estimate of Bentham)

उपरोक्त आलोचनाओं में सत्य का पर्याप्त अंश होते हुए भी इनके आधार पर वेंथम के दर्शन के महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। उसके उपयोगितावादी सिद्धान्त ने जीवन के एक प्रमुख तत्व का उद्घाटन किया और प्रत्येक वस्तु का निर्णय करने के लिये एक ठोस आधार सामने रखा।

मनुष्य की सुख वृद्धि में सहायक क्रियाओं को मान्य करते हुए उसने उपयोगिता के तर्क को सामने रखा और बताया कि अच्छा शासन वह है जिसमें सुचारु रीति से काम चलता है, उपयोगी विधियां चलती है और सार्वजनिक कल्याण का प्रयत्न होता रहता है।[2] वेन्थम को इस बात में कम रुचि है कि शासन का रूप कौनसा है, वह राजतंत्र है, अथवा गणतंत्र, अथवा कुलीनतंत्र। वह तो जिज्ञासु इस बात का है कि शासन उपयोगिता की दृष्टि से सुख-निर्माण को अपनी लक्ष्यपूर्ति में कहां तक सफल है। हम स्वयं भी इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि जनता भी केवल उद्देश्यों की पूर्ति से सरोकार रखती है, तरीकों के पीछे नहीं भागती। वास्तव में वेन्थम ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष का ही प्रदर्शन किया। उसने अपने समकालीन समाज

---

1. "..He took his theory of knowledge from Locke and Hume, the pleasure and pain principle from Helvetins, the notion of sympathy and antipathy from Hume, the idea of utility from any of half a score of writers. Lacking in originality and full of prejudice in his speculations, he is as confused and contradictory in his own theoretical adventures as he is complacent."

—*Wayper*, Political Thought, P. 99

2. "For forms of Govt. late fools contest
What'er is best administered is best."

को सुखी बनाने के उपाय ढूंढे, अपने युग की सड़ी-गली व्यवस्था की गलतियाँ बताकर उन्हें सुधारने की चेष्टा की। बेन्थम यथार्थवादी और वस्तुवादी था जिसने काल्पनिक और आध्यात्मिक राजनीतिशास्त्र के बदले, स्पिनोजा की भांति उसने परीक्षणात्मक राजनीति विज्ञान का सूत्रपात किया। यद्यपि उसे अपने प्रयास में पूरी सफलता नहीं मिली तथापि जिस राजनीतिक यथार्थवाद की परम्परा १६वीं और १७वीं शताब्दी में विकसित हो रही थी, बेन्थम ने उसे परिष्कृत किया। सुखवाद और उपयोगितावाद का आश्रय लेकर विकसित किया हुआ उसका राजनीतिशास्त्र पीछे के विचारकों को प्रेरणा देता रहा। मैक्सी (Maxey) ने बेन्थम का महत्त्व प्रकट करते हुए लिखा है कि—

'राजनीतिक विचारधारा के प्रति बेन्थम की सेवा महान् थी। उसकी कटु आलोचना और व्यंग ने सामाजिक अनुबंध के विचारकों द्वारा इतिहास और तर्क के थोथे आधार पर निर्मित राष्ट्र के सिद्धान्त की धज्जियां उड़ा दी। ह्यूम और स्पिनोजा से भी अधिक शक्ति और अधिक स्पष्टता से उसने इस सत्य का दिग्दर्शन कराया कि राजनीतिक समाज का आधार सर्वदा एक विशेष समय की परिस्थितियां हैं।"

आइवर ब्राउन ने बेन्थम के यथार्थवादी और व्यावहारिक रूप को दर्शाते हुए कहा है, 'बेन्थम ने इङ्गलैण्ड के सुख किस प्रकार मिलें—इसके लिये केवल बातें ही नहीं बनाईं बल्कि बातें बनाने के साथ इङ्गलैण्ड को सुखी बनाने के लिये परिश्रम भी किया।"[1] हॉलवी (Halevy) के अनुसार 'बेन्थम का मूल सिद्धान्त यह है कि उसने उपयोगिता के सिद्धान्त में एक *वैज्ञानिक नियम एक क्रियाशील प्रशासक वास्तविकता और औचित्य की* खोज की।"[2]

बेन्थम ने आचार शास्त्र के क्षेत्र में उपयोगिता के रूप में हमारे समक्ष एक मौलिक एवं महत्वपूर्ण निर्णय सूत्र रखा। उसने कर्तव्य के कानूनी रूप को व्यक्त किया जिसके न करने से मानव को दण्ड भुगतना पड़े, वही उसका कर्तव्य माना जा सकता है। इस प्रकार उपयोगितावादी नीतिशास्त्र में बेन्थम ने विधेयात्मकता की नींव रखी। कर्तव्य को, संकल्प शुद्धि के रूप में व्याख्या करने के बदले, उसने कानूनी व्याख्या की।

बेन्थम ने इस सिद्धान्त पर बल दिया कि शासन को अपनी दिन प्रति दिन की नीति एवं आचरण को जनमत के सामने उचित सिद्ध करना चाहिये। बेन्थम का यह सिद्धान्त निश्चयेन प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से भी अधिक क्रांतिकारी था। अपने इस व्यापारिक दृष्टिकोण के द्वारा बेन्थम ने

---

1 [illegible]

2 [illegible]

and the same time what is and what ought to be"
—*Halevy*, The Growth of Philosophic Radicalism, 1952

व्यक्ति को बड़ा ऊंचा उठाकर सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को व्यक्ति के जीवन के अधीन कर दिया और उन्हें उपयोगिता की कसौटी पर कसा। अब शासन पर से रहस्यात्मकता का पर्दा उठ गया। शासन को अब तत्कालीन स्थिति में सुधार करने हेतु एक साधन अथवा यंत्र माना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि संसार भर में अकुशल संस्थाओं के सुधार को बलवती प्रेरणा मिली। बेन्थम ने दण्ड-विधान के न्यायशास्त्र के क्षेत्र को सर्वाधिक प्रभावित किया और इस बात पर बल दिया कि कानून सरल एवं स्पष्ट भाषा में हों और जनसाधारण को न्याय सस्ता, सरल एवं द्रुत हो।

बेन्थम यद्यपि 'Laissez Faire' के सिद्धान्त का सही प्रवर्तक नहीं माना जाता, क्योंकि वह अर्थशास्त्री नहीं बल्कि राजनीति शास्त्री था, किन्तु उसके विचारों और सिद्धान्तों ने इसे एक तार्किक आधार प्रस्तुत किया। उसने मानव-स्वभाव एवं प्रकृति का जो चित्रण किया वह अर्थशास्त्रियों के लिये बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ। वास्तव में अर्थव्यवस्था और सरकार दोनों का पृथकत्व सिद्ध करने में बेन्थम ने एक अर्थशास्त्री की भांति ही सिद्धान्त दिया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि इंग्लैण्ड में कृषि, जिसे अनाज पर टैरिफ (Tariff) लगाने के कारण संरक्षण प्राप्त था, उद्योग की स्वतन्त्रता के कारण पीछे हो गया और व्यापार के क्षेत्र में इंग्लैण्ड दुनियां का प्रथम देश बन गया। १८३२ और १८४६ में सुधार अधिनियमों मे बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्तों का प्रभाव देखने को मिला जिसमें 'Corn Law' (१८४६) तथा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति अपनाई गई।

बेंथम के विचारों में भौतिकता और आत्म तुष्टि को ही स्थान था और इसी कारण उसकी आलोचना भी अधिक की गई। लेकिन उसने आध्यात्मवाद का न तो विरोध किया और न कभी उसकी निरर्थकता प्रमाणित करने की चेष्टा की। आध्यात्म से पहले वह भौतिक सुख–सन्तोष आवश्यक मानता था और इसलिये धार्मिक, नैतिक विचारकों के पाखण्ड के विरुद्ध वह खड़ा हो सका। "उद्योगपति तथा पूंजीपति उसे अपना हित–चिन्तक मानते थे और श्रमिकों के लिये वह मसीहा था। सरकार का वह आलोचक मित्र था और जनता का प्रतिनिधित्व भी करता था। सुधारक होने से उसका प्रत्येक क्षेत्र में आदर सम्मान था। इस तरह अधिकतम सुख की तरह अधिकतम सम्मान का मंत्र भी उसके पास था। बुद्धि–जीवियों में बेंथम का स्थान बहुत ऊंचा था और बाद के विचारक उससे प्रभावित हुए।" अपने समय के बौद्धिक वर्ग पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा। जेम्स मिल, जॉन ऑस्टिन, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि उसकी ही देन हैं। बेंथम ने केवल इंगलैण्ड को ही अपनी प्रतभिा से प्रभावित नहीं किया बल्कि उसकी प्रतिभा की किरणें रूस, पुर्तगाल, स्पेन, मेक्सिको तथा अन्य दक्षिणी अमेरिकन देशों तक पहुंची। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बेंथम का कितना सम्मान था–इसकी कल्पना इसी बात से की जा सकती है कि सन् १७९२ में स्पेन के साथ बेन्थम को भी फ्रांस की नागरिकता प्रदान की गई।

राजनीतिक सिद्धान्त में यद्यपि ऑस्टिन ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का अत्यधिक महत्व प्रदान किया, किन्तु यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से बेन्थम की

ही देन है। यह सिद्धान्त बेन्थम की उस योजना का एक भाग था जिसके द्वारा वह अदालतों पर संसद का नियन्त्रण स्थापित करके उनका सुधार करना चाहता था। बेन्थम के महत्व को दर्शाते हुए सेबाइन (Sabine) ने जो लिखा है वह यहाँ उद्धरणीय है—

"प्रभुसत्ता सिद्धान्त से भी महत्वपूर्ण कार्य यह था कि बेन्थम के न्याय-शास्त्र के आधार पर इंगलैण्ड की न्याय व्यवस्था में आमूल सुधार हुआ और १९वीं शताब्दी में उसे पूरी तरह से संशोधित करके आधुनिक रूप दे दिया गया। यह सही है कि बेन्थम के विचारों को एक ही समय में व्यवस्थित रूप से कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया उसके कुछ विचार विशेषकर अंग्रेजी विधि को संहितावद्ध करने से सम्बन्धित विचार कभी स्वीकार नहीं किये गये। लेकिन इंगलैण्ड में एक के बाद एक अधिनियम का निर्माण करके विधि तथा अदालतों का पूरा सुधार किया गया और अधिकतर अवस्थाओं में बेन्थम की आलोचना द्वारा निर्दिष्ट रास्ते को अपनाया गया। सर फ्रेडरिक पोलक ने यह ठीक ही कहा है कि १९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में विधि के क्षेत्र में जो भी सुधार हुआ उस पर बेन्थम का प्रभाव देखा जा सकता है।"[1]

भारत भी बेन्थम से मुक्त नहीं रहा। लॉर्ड विलियम बेन्टिक ने भारत में जितने सुधार किये—वे सब बेन्थम के विचारों से प्रभावित होकर किये गये थे। लॉर्ड बेंटिक ने तो बेन्थम को लिख भी दिया था कि भारत का गवर्नर जनरल वस्तुत मैं नहीं बल्कि आप होकर जा रहे हैं।

बेन्थम के प्रभाव की महानता और उसके द्वारा उपयोगितावादी-विचार-प्रणाली की स्थापना के कारण और बेन्थम के सम्पूर्ण विचार के गुण और दोष का मूल्यांकन प्रो० सोरले (Sorley) ने निम्नलिखित शब्दों में बड़े ही सार-गर्भित रूप से व्यक्त किया है—

"उसके (बेन्थम के) मस्तिष्क में दो गुणों का सम्मिश्रण था—सिद्धांत के ऊपर पूर्ण अधिकार एवं छोटे से छोटे विवरण का आश्चर्यजनक ज्ञान। प्रत्येक ठोस स्थिति का उसके तत्वों में विश्लेषण किया गया और इस तत्व के समस्त तत्वों का रहस्योद्घाटन किया गया और फिर इन तत्वों के समस्त रूपों पर प्रकाश डाला गया। जिस चीज का भी इस भांति विश्लेषण न किया जा सका उसे ही 'अनिश्चित सामान्यता' कह कर ठुकरा दिया। आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में इसने इसी पद्धति को असीम धैर्य के साथ अपनाया। मानव-प्रवृत्ति तथा समाज में जो कुछ भी है उसको उसके मूल तत्वों में खण्डित किया गया और उन मूल तत्वों में से फिर से उसका निर्माण किया गया तथा प्रत्येक तत्व में शक्ति अथवा मूल के दृष्टिकोण से केवल एक बात का महत्व था और वह था उसके सुख अथवा दुःख की मात्रा। यदि सुखों का एक स्वतन्त्र गुणात्मक विभेद जिसमें कि प्लेटो विश्वास करता था और जिसे आगे चलकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में लाने का प्रयास किया, इसमें प्रविष्ट हो जाता तो सम्पूर्ण प्रणाली अस्त-व्यस्त हो

1 सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ६४३

जाती ।"[1]

बेन्थम के मूल्यांकन एवं राजनैतिक अनुदाय को प्रकट करते हुए प्रो० मैक्सी (Maxey) ने लिखा है–"अपने निर्मम तर्क द्वारा बेन्थम ने नवीनतावादी एव रूढ़िवादी विचारकी प्राचीन धारणाओं को पूर्णतः भुला दिया । उसने स्वतंत्र एवं निरंकुश राज्यों के सैद्धान्तिक मतभेद को समाप्त कर दिया, उसने यह घोषणा की कि दैविक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, स–विरात्मक एवं सांविधानी अधिकार सभी मूर्खतापूर्ण है । उसने कहा कि शासन करने का स्वतन्त्र होने का कोई अधिकार नहीं है यहां तो केवल एक बात है और वह बात है शक्ति एवं वे परिस्थितिया जिन्होंने उस शक्ति को सत्य बनाया । बेन्थम ने अपना यह मत रखा कि किसी निरपेक्ष सत्य में विश्वास करना मूर्खता है । एक विवेकपूर्ण शासन–कला और नागरिकता के लिये हमें शक्ति के स्वरूप तथा कानूनो को समझना चाहिये, और हमें कल्याणकारी उद्देश्य के लिये उनका प्रयोग करना चाहिये ।"[2]

---

1. 'The combination in his mind of two qualities–the firm grasp of a single principle and a truly astonishing mastery of details Every concrete situation was analysed into elements and here followed out into all its elements and these elements followed out into all their ramification..whatever did not yield to this analysis was dismissed as 'vague generality'. Applying this method with infinite patience, he covered the whole field of ethics, jurisrudence and politics. Everything in human nature and in society was reduced to its elements and then reconstructed out of these elements and in each elements only one feature counted. whether in respect of force or of value—its quantum of pleasure or pain. The whole system would have been upset if an independent qualitative distinction between pleasures had been allowed, such as Plato contended for, or John Stuart Mill afterwards attempted to introduce in his utilitarianism."

—*Sorely*, History of English Philosophy, P. 228

2. "Here was a doctrine to rock the foundations of all accredited political theory. With ruthless logic Bentham had brushed aside the ancient varieties of both radical and conservative thought; had erased all distinction in principle between free and despatic politics, had put it down that divine right feudal right, historical right, neutral right, contractual right, and constitutional right equally and alike were rubbish and nonsense. There were no right to rule, he had declared. and no right to be free, there was only the fact of power and the circumstances which made that power a fact. It was folly to put any trust in categorical absolutes; the task of intelligent statecraft and similarly of intelligent citizenship was to understand the nature and laws of power and utilize them to beneficent ends." —*Maxey*, Political Philosophers, P. 469

पुन मैक्सी (Maxey) के शब्दो मे, "राजनीतिक विचारधारा के प्रति बेन्थम की सेवा महान थी। उसकी कटु आलोचना और व्यग ने सामजिक अनुबन्ध के विचारकों द्वारा इतिहास और तर्क के थोथे आधार पर निर्मित राष्ट्र के सिद्धान्त की धज्जियाँ उडा दी। ह्यूम और स्पिनोज से भी अधिक शक्ति और अधिक स्पष्टता से उसने इस सत्य का दिग्दर्शन कराया कि राजनीतिक समाज का आधार सर्वदा एक विशेष समय की परिस्थितिया हैं। प्रागैतिहासिक काल मे हुई सशयपूर्ण घटना अथवा व्यवस्थापित समाज की स्थापना से पूर्व की काल्पनिक धारणाओ को राजनीति का दृढ सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये अपितु मानव की स्वाभाविक आज्ञाकारिता तथा वर्तमान समय में उसके आज्ञा मानने के कारणों को ही राजनीतिक व्यवस्था की आधारशिला मानना चाहिये। बेन्थम और उसके अनुयायियो के अनुसार वर्तमान काल मे नियमों का पालन ही वर्तमान शासन-तन्त्र का स्रोत है और इसी कारण शासन तन्त्र की प्रकट अथवा परोक्ष रूप स उपयोगिता की मान्यता है। किन्तु वास्तव मे यह पूर्ण रूप से सत्य व्याख्या नही थी किन्तु यह सत्य है कि परोक्ष अथवा प्रकट रूप से शासन तन्त्र की उपयोगिता की मान्यता ही प्रत्येक जाति की राजनीतिक विचारधारा का अविवाद रूप से मूल तत्व है। इस मूल तत्व को पूर्ण रूप से स्पष्ट करके अथवा उसकी बार बार पुष्टि करके ही सम्भवत बेन्थम ने इस महान सिद्धान्त का निर्माण किया कि प्रत्येक शासन तन्त्र को अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए और मानव समाज की अधिकाधिक सेवा करके अपनी शक्ति का अधिकार प्राप्त करना चाहिये। यह सिद्धान्त अनेक प्रकार से क्रान्तिकारी था तथा स्वजन्य अधिकारों के प्रचण्ड सिद्धान्त से भी अधिक तात्कालिक सर्वमान्य शक्तियो को चुनौती देनेवाला था। वे लोग भी जो बेन्थम के उपयोगितावाद के 'सुख और दुःख' के सिद्धान्त के आलोचक थे, बेन्थम द्वारा प्रतिपादित बहुमुखी विद्रोह की गम्भीरता की उपेक्षा नहीं कर सके।"[1]

---

1 'Bentham's servic^ to political thought was enormous By his merciless scepticism and cold analysis the presposterous fictions of history and logic by which the social . . . . . . their theory of the . . . . . 'lore forcibly and . . . . . he drove home the truth that the basis of political society is eternally contemporary. Not some dubious occurerce in the ancient past nor some conceptual compact of presocial vintage was to be deemed the cornerstone of political authority, but the habitual obedience of man and the present underlying reasons for that obedience For Bentham and his disciples present obedience, and hence present authority, was predicated upon the conscious or subconscious realization of the utility of government That, of course, was too simple an explanation to contain the whole

उपरोक्त मतों से यह स्पष्ट है कि कुछ लोग बेन्थम को महान दार्शनिक मानते हैं तो अनेक उसके आलोचक भी हैं। लेकिन यह निर्विवाद है कि बेन्थम की मृत्यु के पश्चात् बेन्थमवाद इंगलैण्ड के सुधारों में बड़ा प्रभावशाली रहा है। बेन्थम के सिद्धान्तों को मिल, आस्टिन तथा बेन (Bain) आदि विचारकों ने भी अपनाया और उन्हें लोकप्रिय बनाया। उसका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितना प्रभाव व सम्मान था इसकी एक झलक इसी बात से मिल जाती है कि फ्रांस की सरकार ने १७६२ में पेन (Paine) के साथ उसे भी फ्रांस की नागरिकता के सम्मान से विभूषित किया। १८२५ ई० में हेजिलिट ने कहा था, "उसका नाम इंगलैण्ड में बहुत कम जानते हैं। इससे अधिक यूरोप में जानते हैं, और सबसे अधिक चिली के मैदानों में व मेक्सिको की खानों में जानते हैं। उसने नये जगत के लिए संविधान प्रस्तुत किये हैं, और भविष्य के लिए व्यवस्थापन किया है।"[1]

बेन्थम का स्थान न केवल उपयोगितावाद में बल्कि व्यावहारिक समाज सुधारकों में सुरक्षित है।

---

truth; but a conscious or subconscious recognition of the utility of the state is undeniably an important ingredient in the political psychology of every people. By bringing this into clear relief, overstressing it perhaps, Bentham wrote large the doctrine that government must justify itself and thus find its title to authority in its direct and immediate service to mankind. That was more revolutionary in many ways, more challenging to the Powers That Be, than the volcanic doctrine of natural rights. Not even those who rejected and ridiculed Bentham's pain and pleasure criterion of utility could ignore the implications of his pragmatic revolt against the unrealities of political dogma."

—*Maxey*, A History of Political Theory, P. 663-64

1. *Hazilitt* : "His name is little known in England, better in Europe, and best of all in the plains of Chili and the mines of Mexico. He has offered constitutions for the new World and legislated for future times."

2

जॉन स्टुअर्ट मिल

(JOHN STUART MILL)

(1806–1873)

जेम्स मिल (१७७३–१८३६)

(James Mill : Father of John Stuart Mill)

संक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएं—जेम्स मिल इतिहास-वेत्ता, अर्थशास्त्री, उपयोगितावादी, राजनीति शास्त्र लेखक और मनोविज्ञान विशारद था। उसका जन्म १७७३ मे स्कॉटलैण्ड मे हुआ था। उसका पिता मोची था और उसकी मा एक घर मे नौकरानी का काम करती थी। जेम्स को अपनी जीविका चलाने के लिये बडा कठोर परिश्रम करना पडता था। १७६४ ई० मे उसने एम० ए० की डिग्री प्राप्त की तत्पश्चात् वह स्कॉटलैण्ड म 'Preacher of the Gospel' हो गया। उसकी रुचि लेखन की ओर प्रवृत हुई, और १८०३ मे मुख्यत. उसी के प्रयत्नो से 'The Literary Journal' नाम के पत्र की स्थापना हुई जिसमे उसके अनेक लेख प्रकाशित हुए। उसकी लेखन कला का परिचय उसकी छोटी-सी पुस्तक 'Corn Trade' से मिला, जिसका प्रकाशन १८०४ मे हुआ। उसने जो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे वे ये हैं—

1. History of British India (1818)
2. Analysis of the Phenomena of the Human Mind (1819)
3. Elements of Political Economy (1821)
4. Fragment of Mackintosh (1835)

जेम्स मिल एक लम्बे समय तक बेन्थम के सम्पर्क मे रहा। उससे प्रभावित हो मिल ने उपयोगितावाद को शास्त्रीयवाद का रूप देने का प्रयत्न किया। इस सैद्धान्तिक प्रयत्न मे रिकार्डो और माल्थस के विचारों को भी उसने उपयोगितावाद मे स्थान दिया। जेम्स मिल और बेन्थम दोनों ही विद्वान थे और घनिष्ठ सम्पर्क मे थे, किन्तु दोनों के चरित्र और स्वभाव भिन्न थे। सम्भवत: इसीलिये बेन्थम ने जेम्स मिल के विषय में कहा था, "वह एक आदर्श है। वह अपनी प्रभावशाली भाषा से सबको दबाने तथा अपनी सक्रियात्मकता से सबको सन्तुष्ट करने की आशा करता है। उसके बोलने का तरीका

निर्दयतापूर्ण और अत्यधिक विद्वता का प्रतीक है ।'[1]

मिल का मनोविज्ञान (Mill's Psychology)—बेन्थम का दर्शन मनोविज्ञान के प्रति उदासीन था, लेकिन जेम्स मिल ने उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया । उसकी पुस्तक 'Analysis of the Phenomena of the Human Mind' उपयोगितावाद को स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करती है । मिल की विधि निष्कर्षात्मक और प्रयोगात्मक है । उसने मस्तिष्क के अध्ययन के लिये अन्त:दर्शन एव प्रयोगात्मक विधि का समर्थन किया । उसने कहा कि जैसे आणुविक सिद्धान्त द्वारा विज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है, वैसे ही ज्ञानेन्द्रिय अणुओं के द्वारा मस्तिष्क की व्याख्या की जा सकती है । जेम्स मिल की गणना साहचर्यवादी मनोविज्ञान के प्रवर्तकों में की जाती है । टॉमस हॉब्स और डेविड हार्टले के विचारों का, इस क्षेत्र में, वह ऋणी था । सहयोग या साहचर्य के विचार द्वारा मिल ने कल्पना, विचार और मस्तिष्क की अन्य परिस्थितियों की व्याख्या प्रस्तुत की और साथ ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की व्याख्या भी । मिल ने बताया कि किसी कार्य की नैतिकता और अनैतिकता से ही उसकी उपयोगिता प्रकट होती है, सुख व दु:ख नैतिकता के सार हैं। साहचर्यवादी मनोविज्ञान मानव को एक चेतन कर्त्ता *मानता है जो बुद्धि से अपना सुख-दु:ख नाप-जोख कर कार्य करता है ।* इस प्रकार इस विचारधारा से वैयक्तिक सुखवादी उपयोगितावाद और उदारवाद को पोषण प्राप्त हुआ ।

मिल का सरकार का सिद्धान्त (Mill on Government)—मिल का विश्वास था कि सभी व्यक्ति स्वयं का सुख चाहते हैं और पीड़ा या कष्ट से दूर रहना चाहते हैं । चूंकि सुख की सामग्री सीमित है, अत: सुख की सामग्री सचय के लिये व्यक्तियो मे आपस में सघर्ष और स्पर्धा होती है । व्यवहार मे होता यह है कि शक्तिशाली दुर्बलों को दबा कर इनके द्वारा उत्पन्न सुख की सामग्री हथियाने मे आनन्द अनुभव करते है । इस प्रक्रिया में सब को आनन्द मिल सके, ऐसा सम्भव नही होता । अत: सब व्यक्तियों की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि सब मिलकर कुछ व्यक्तियों को सब की सुरक्षा के उद्देश्य से शासन की शक्ति प्रदान कर दें । उन लोगों द्वारा सरकार का निर्माण हो और वे अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख (The greatest good of the greatest number) की व्यवस्था करें । मिल इस विचार से अनभिज्ञ न था कि यह मानव-प्रकृति का नियम है कि यदि किसी दूसरे व्यक्ति पर शासन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वह अपनी शक्ति का प्रयोग अपना सुख प्राप्त करने के लिये भी कर सकता है । ऐसी परिस्थिति में, उसका मत था, कि उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये, क्योंकि सरकार का मुख्य कार्य व्यक्ति के हस्तक्षेप से बचाना है । सरकार भी

---

1. "He is the character. He expects to subdue everybody by his domineering tone—to convince everybody by his positiveness. His manner of speaking is oppressive and overbearing."

Davidsen, Political Thought in England, P. 78.

आखिर व्यक्तियो को होती है और उन व्यक्तियों मे स्वार्थ की कमजोरी माना अस्वाभाविक नहीं है। यदि सरकार पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो वह निरकुशता अथवा व्यापकतम सत्ता की ओर अग्रसर होगी लोगो का दमन करने लगेगी और राज्य मे आतक फैला देगी। ऐसी दशा में, सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिये, सरकार पर नियंत्रण लगाना अनिवार्य ही जायगा। मिल ने कहा कि इसी आधार पर और इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए यह निश्चय किया जाना चाहिये कि कौनसी सरकार आदर्श होती है। राजतंत्र, श्रेणीतंत्र व लोकतंत्र मे से किसी मे जनता के अधिकार वास्तविक अर्थ मे सुरक्षित नही है। प्रत्येक मे स्वार्थ भावना का प्रभाव रहता है। मिल ने यह भी प्रकट किया कि इगलैण्ड की भाति राजतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र का समन्वय भी समस्या का सही निदान नहीं है क्योकि इन तीन तत्वों मे से कोई भी दो तत्व मिलकर जनता के अधिकारों पर आघात कर सकते हैं। फिर भी मिल ने लोकतन्त्रीय शासन को सर्वोत्तम स्वीकार किया क्योकि उसके अन्तगत उद्देश्य से विचलित पर सरकार को अपदस्थ किया जा सकता है। मिल चाहता था कि ब्रिटिश लोकसभा इतनी सशक्त होनी चाहिये कि वह राजा और लार्डसभा की सम्मिलित शक्ति को टक्कर दे सके। मिल लोकसभा को ही जनता की सभा स्वीकार करता था और लॉर्ड सभा के प्रति उसका रुख कठोर था। इसीलिये उसने यह सुझाव भी रखा कि 'यदि कोई अधिनियम लोकसभा तीन बार की विभिन्न सत्रों मे पारित कर देती है तो वह लोकसभा की बगैर स्वीकृति के ही कानून बन जाना चाहिये।"[1] वास्तव मे आज लॉर्ड सभा की शक्तियाँ लगभग इसी प्रकार की बना दी गई हैं और अब वह लोकसभा की इच्छा के सामने झुकने के लिये बाध्य है।

राज्य के कार्य क्षेत्र के विषय मे भी मिल ने एक महत्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन किया। उसने बताया कि राज्य का प्रमुख कर्तव्य ऐसी व्यवस्था करना है, जिससे कोई मनुष्य अपने सुख की प्राप्ति के लिये दूसरो का अहित करने का अवसर न पा सके। इसके लिये राज्य का यह कार्य है कि वह ऐसे कानून बनाये, जिनसे कोई व्यक्ति इस प्रकार अपने हित के कार्यों का सम्पादन न करने पाये कि उससे अन्य व्यक्तियो का अहित हो। सक्षेप में मिल के मतानुसार सार्वजनिक हित की दृष्टि से व्यक्तियों के कार्यों को मर्यादित करना राज्य का कर्त्तव्य है।

मिल ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि यह सुरक्षित कैसे हो कि जनता के प्रतिनिधि वास्तव मे जनता की भावनाओ का प्रतिनिधित्व करें और

---

1 James Mill said, "Let it be enacted, that of a bill, which has been passed by House of Commons, and thrown out by *the House of Lords is renewed in the House of Commons* in the next session of Parliament and passed, but again thrown out by the House of Lords, it shall, if passed a third time in the House of Commons, be law, without bring again sent to the Lords"

—*Davidsen* Political Thought in England, P 92

और अपने को जनता के हितों के समरूप ही समझें। मिल ने सुझाया कि प्रतिनिधियों का कार्यकाल सीमित कर दिया जाना चाहिये और समय-समय पर अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करने का जनता को अवसर मिलना चाहिये। मिल ने विश्वास प्रकट किया कि इस प्रकार की व्यवस्था जनता को अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रखेगी और साथ ही वह समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों से प्रश्न भी कर सकेगी, उनसे उनके कार्यों का विवरण मांग सकेगी। मिल ने यह भी कहा कि प्रतिनिधियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिये। यदि प्रजा के प्रतनिधि न्यून संख्या में होंगे तो वे अपने पदों पर योग्यतापूर्वक कार्य करेंगे। उन्हें इस बात का भी ध्यान रहेगा कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो उन्हें पुनः निर्वाचन का अवसर प्राप्त होगा।

मिल उन लोगों को मताधिकार देने के पक्ष में नहीं था जो लोग दूसरों पर आश्रित हैं अथवा किसी प्रकार से दूसरों के प्रभाव में हैं, क्योंकि उसका विचार था कि ऐसे लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विवेक के अनुसार अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते हैं और इस प्रकार का मत देना व्यर्थ है। इस प्रकार, मिल के अनुसार, स्त्रियों, बच्चों और पराश्रित व्यक्तियों को मत प्रदान करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। मिल, बेंथम के विपरीत, व्यापक वयस्क मताधिकार का विरोधी था। वह तो व्यापक पुरुष-मताधिकार के भी विरुद्ध था क्योंकि उसका विश्वास था कि सब मनुष्यों में मताधिकार का प्रयोग करने की समान योग्यता नहीं होती। मिल मध्यम वर्ग के लोगों को मताधिकार तथा शासनाधिकार देने के पक्ष में है, उसका विचार है कि मध्यम श्रेणी का मानव समाज ही राष्ट्र का उचित नेतृत्व कर सकता है। इस तरह उसका उपयोगितावाद मध्यम वर्ग की सर्वोच्चता का दर्शन था।

मिल के सरकार सम्बन्धी विचारों से यह स्पष्ट है कि उसने उपयोगितावादी मापदण्ड को सदैव ध्यान में रखा और उसे लोकप्रिय बनाने का पूरा प्रयास किया। यद्यपि उसने अपने विचारों को मानव-प्रकृति पर ही आधारित किया किन्तु उसमें यह कमी रही कि उसने मानव-स्वभाव की व्याख्या केवल एकतरफा की और मनुष्य में केवल स्वार्थ के ही तत्त्वों को देखा। उसने यह प्रकट करने या समझने की चेष्टा नहीं की कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अपने कार्य के साथ दूसरों का भी ध्यान रखता है और अनेक अवसरों पर परहित के लिये स्वहित का बलिदान भी दे देता है।

मिल का राजनैतिक अर्थशास्त्र (Mill on Political Economy,— राजनैतिक अर्थशास्त्र में जेम्स मिल एडमस्मिथ, माल्थस और डेविड रिकार्डो के लेखों से प्रभावित था। माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त (The Malthusian doctrine of Population) का मिल ने पूर्ण समर्थन किया था और यह उसके राजनीति दर्शन का अंग बन गया था। माल्थस ने बताया था कि पूर्णता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि जनसख्या व उत्पादन की बढ़ती हुई संख्या में सम्बन्ध ठीक नहीं रहेगा। जनसख्या जिस गति से बढ़ती है, उसी गति से उत्पादन न बढ़ने से समाज कल्याण को क्षति पहुंचती है और मनुष्य दुःखी हो जाता है। मिल ने यह कहा कि प्रतिबन्ध लगाकर ही बढ़ती हुई जनसंख्या को रोका जा सकता है। यद्यपि प्रकृति स्वय जनसंख्या की वृद्धि

पर रोक का काम करती है लेकिन मानवीय परिश्रम बुद्धि के उपयोग से भी प्रतिबन्धित किया जा सकता है। मिल का कहना था कि सामाजिक शांति के लिये यह आवश्यक है कि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की अधिकतम मात्रा लोगों को प्राप्त हो। आर्थिक और अन्य संघर्षों से कमजोरों की रक्षा करना सरकार का कार्य है। मिल में मौलिकता का अभाव था और अर्थशास्त्र पर उसकी कृति 'Elements of Political Economy' मुख्यतः रिकार्डो के मन्तव्यों पर भाष्य के समान है, वह एक तरह से पूर्णतः रिकार्डो का ही विचार है।

मिल के कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार (Mill on Law and International Law)—बेंथम की भांति मिल भी अपने समय की कानून व्यवस्था से दुःखी था। अतः वह भी कानून-सुधार के प्रति काफी उत्साहित था। कानून व न्याय के विषय में उसके कुछ अपने विचार थे। उसने अपने विचारों को दो लेखों—'Jurisprudence' तथा 'Law of Nations' में प्रकट किया है। उसके ये लेख Encyclopaedia Britannica' में प्रकाशित हुए हैं। मिल के अनुसार न्याय का लक्ष्य लोगों के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करना है। न्याय का विषय अधिकार है और उन्हें कैसे सुरक्षित बनाया जा सकता है। अधिकारों की सुरक्षा के लिये आवश्यक है कि उन्हें परिभाषित होना चाहिये। साथ ही ऐसे कार्य दण्डनीय होने चाहिये जो अधिकारों के प्रयोग में बाधक हों। इसी प्रकार से कुछ लोग इस कार्य की देखभाल करें कि अधिकारों का अतिक्रमण तो नहीं होता। सारांश यह है कि मिल ने अपने न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त में अधिकारों की परिभाषा, उल्लंघनकर्ताओं के लिये दण्ड, न्यायालयों का निर्माण व कार्य-विधि आदि विषयों पर विचार किया है।[1]

मिल ने कानून पर अपने विचारों को प्रकट करते हुए आगे कहा कि जिस तरह माल एवं फौजदारी कानून होते हैं, उसी तरह अधिकारों के विषय में मात्र कानून को उनकी परिभाषा अथवा व्याख्या करनी चाहिये और फौजदारी कानून को अपराधियों के लिए दण्ड की व्यवस्था के लिए आगे आना

---

1 Mill writes "Rights Jurisprudence takes as it guides thing and then enquires by what means they can be secured By its investigation it has established that for their security it is necessary first, that rights should be accurately defined, secondly that such acts as would impair or destroy them should be prevented by punishment Thirdly, that men should be appointed to determine all questions relating to right and the violation of them, fourthly, that the trust vested in each and the mode of exercising it should be *according to certain principles, and fixed by rules* Definition of rights, punishment of wrongs, constitution of tribunals, mode of procedure in the tribunals are the heads under which all the objects of jurisprudence are arranged" (Fragment on Mackintosh)

चाहिये। कार्य-विधि की व्याख्या एक Code या Procedure द्वारा की जानी चाहिये ताकि न्यायालयों के संगठन व उनकी कार्य-विधि पर प्रकाश पड़ सके। मिल ने कानून एवं न्याय सम्बन्धी इन विषयों पर विचार अपने लेख 'Jurisprudence' में व्यक्त किये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय में मिल एक कदम और आगे बढ़ गया है। इस सम्बन्ध में उसके विचार बहुत ही स्पष्ट और स्वतन्त्र हैं। उसके कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त और नियम व्यर्थ न होकर अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक हैं। वे राष्ट्रों के आचरण को उसी प्रकार नियन्त्रित करते हैं जिस प्रकार कि भद्रता और आचरण का नियम भद्र पुरुषों को नियन्त्रित करता है। उसकी मान्यता थी कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे निहित स्वीकृति जन भावनाओं की होती है और सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र भी इसके दबाव की अवज्ञा नहीं कर सकता विशेषतौर पर तब जबकि वह राष्ट्र प्रजातांत्रिक हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पूर्ण एवं सतोषजनक संचालन के लिए मिल ने इस बात पर बल दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून-संहिता बनायी जाय और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने के लिए एक ट्रिब्यूनल (Tribunal) अर्थात् न्यायालय की स्थापना हो जिसकी कार्य-प्रणाली सुनिश्चित हो। नियम संहिता और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—ये दोनों ही बातें मिल की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक है। जहां तक यह प्रश्न उठता है कि क्या यह दोनों बातें सम्भव हैं, मिल का उत्तर 'हां' में था। कानून या नियम संहिता (Code of International Law) से अभिप्राय: यह है कि राज्यों के अधिकार निश्चित एवं परिमार्जित कर दिये जायं। उदाहरणार्थ, शांति के समय राज्य का अपने क्षेत्र पर, अपनी नदियों पर और खुले समुद्र में व्यापार करने का अधिकार होता है। मिल का कहना था कि प्रत्येक देश को समुद्री मार्ग द्वारा दूसरे देश जाने का अधिकार समानता के आधार पर होना चाहिये। उसका विचार था कि युद्ध काल में भी यह स्वतन्त्रता सब राष्ट्रों को प्राप्त रहे कि वे खुले समुद्र में आ-जा सकें। मिल ने युद्ध और युद्ध विषयक बातों का बड़ी बुद्धिमत्ता से चित्रण किया था। उसका यह कथन उसके ज्ञान का प्रतीक है कि युद्ध न्यायोचित भी हो सकता है और ऐसे युद्ध के बाद शांति की स्थापना भी हो सकती है। यदि किसी युद्ध का उद्देश्य यह है कि किसी राज्य को उसके अतिक्रमण का दण्ड दिया जाये, तो यह युद्ध अन्यायपूर्ण नहीं है बशर्ते कि कार्य पूरा हो जाने पर युद्ध समाप्त कर दिया जाय। मिल की मान्यता थी कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राज्यों के पारस्परिक आचरण को नियन्त्रित कर सकेगा और राजनैतिक आचारों की स्थापना भी। लेकिन यह सम्भव तभी हो पायेगा जबकि न्यायालय अपने कार्यों व निर्णयों में निष्पक्ष रहे। उसने प्रकट किया कि यह ठीक है कि राज्यों को मर्यादित करनेवाली शक्ति लोकमत ही होगी लेकिन इसमें भी संशय नहीं होना चाहिये कि राज्यो के पारस्परिक झगड़ों का औचित्य एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निश्चित किया जा सकता है।[1] मिल की यह

1. *James Mill*: "Through the sanction of public opinion...... given a properly constituted tribunal, duly representative of

हार्दिक कामना थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ऐसा सुन्दर रूप बन जाये कि प्रत्येक राज्य अपने कार्यों को शांतिपूर्वक करता रहे एवं किसी अन्य देश के मामले में नाजायज हस्तक्षेप न करे। राज्य-मित्रता और सहयोगपूर्ण विश्व का वह सदैव स्वप्न देखा करता था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बारे में प्रकट किये गये जेम्स मिल के विचार निश्चित रूप से मौलिकता की छाप लिये हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन का कारण उसने लोकमत को बताया और यह विचार अपने आप में आधुनिकतम है। बड़े-बड़े न्यायवेत्ता भी इस बात से इन्कार नहीं करते कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मान्यता के मूल में लोगों की शांति से रहने की इच्छा निहित है।

मिल का शिक्षा का सिद्धान्त (Mill on Education)—जेम्स मिल शिक्षा के महत्व के प्रति उतना ही सजग था जितना कि बेंथम। वह निम्न और उच्च दोनों ही वर्गों को शिक्षा देने की आवश्यकता पर समान रूप से बल देता था। उसकी मान्यता थी कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों और समाज को एक समग्र के रूप सुख में देना है (The end of education is to give happiness to the individuals and society as a whole)। मिल के अनुसार बाह्य परिस्थिति और शिक्षा का मानव-समाज के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय मनुष्यों की योग्यता समान होती है, परन्तु पालन पोषण, शिक्षा और अन्य परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में अत्यन्त परिवर्तन और असमानता हो जाती है, अतः मनुष्य की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। मनुष्य की रुचि का निरीक्षण करके उसे उसकी चित्त वृत्ति के अनुसार उपयुक्त शिक्षा देकर उसकी अन्त स्थित तथा प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिये। मिल का शिक्षा के परिणामों पर अकाट्य विश्वास था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने पिता के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए अपनी 'आत्म-कथा' (Autobiography) में लिखा है, "मेरे पिता को मनुष्य जाति के मस्तिष्क पर विवेक शक्ति के प्रभाव का इतना अगाध विश्वास था कि उनका कहना था कि यदि समस्त व्यक्तियों को पढ़ा दिया जाय और उन्हें भाषणों तथा पुस्तकों द्वारा प्रत्येक प्रकार के मत सुनने तथा पढ़ने को मिलें तो शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जो न हो सके।"[1]

---

the nations dealing impartially with the cases brought

1. "So complete was my father's reliance on the influence of reason over the minds of mankind, whenever, it is allowed to reach them, that he felt as all would be gained if the whole population were taught to read, if all sorts of opinions were allowed to be addressed to them by word and in writing"

—*J. S. Mill* in his Autobiography, P. 106

जेम्स मिल ने अपने शिक्षा सम्बन्धी निबन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि आखिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से जो भी व्यक्ति पढ़ता लिखता है, जेम्स के मतानुसार उसका पहला उद्देश्य तो यह होता है कि वह स्वयं सुख प्राप्त करे और दूसरा उद्देश्य यह होता है कि वह अपने अर्जित ज्ञान को दूसरे लोगों में बांट कर उन्हें प्रसन्न करे। स्पष्ट है कि शिक्षा सम्बन्धी मिल का यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। मिल चाहता है कि शिक्षा ऐसी हो जिससे न केवल व्यक्तिगत सुख की वृद्धि हो बल्कि साथ ही सार्वजनिक सुख का प्रसार भी हो। इसलिये वह मनुष्य के बौद्धिक व आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विकास पर बल देता है। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिये। शिक्षा एक निश्चित आयु पर ही पूरी नहीं हो जाती, इसका अध्ययन तो जीवन-पर्यन्त चलना चाहिये।

शिक्षा का उद्देश्य निरूपण करने के बाद जेम्स मिल ने यह बतलाया है कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है ? मिल का कहना था कि मनुष्य की बुद्धि को जितना ही उर्वर बनाया जायगा, जितने ही उसके सामने विभिन्न रूपों में ज्ञान रखे जायेंगे, उतना ही उसकी बौद्धिक प्रतिभा का विकास होगा। जिस तरह खेत को जितना ही अधिक जोता जाता है उतना ही वह उर्वर होता जाता है, उसी प्रकार तरह-तरह के विचारों से मानव-मस्तिष्क को जितना ही पूरित किया जायगा उतनी ही उसकी बौद्धिक-प्रतिमा उर्वर होगी, उसमें निखार आयेगा।

मिल शिक्षा को सर्वाधिक शक्तिशाली मानता था। उसकी धारणा थी कि, "समाज में जितने भी वर्ग देखने को मिलते हैं, वे सब शिक्षा के ही परिणाम हैं। शायद ही कोई कार्य होगा जिसे शिक्षा न करती हो।"[1]

मिल के विचारों का प्रभाव समकालीन सभी वर्ग के विचारकों पर पड़ा। जॉन स्टुअर्ट मिल तो निश्चित रूप से अपने पिता के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। डेविडसन (Davidson) ने लिखा है कि "जेम्स मिल बेन्थम के बाद अतिवादी उपयोगितावादियों का नेता था और इस राजनैतिक सम्प्रदाय के व्यावहारिक सुधारों को कार्य-रूप देने में प्रधान सक्रिय शक्ति था।"[2] उपयोगितावादी दर्शन में वह सम्माननीय स्थान पाने के सर्वथा योग्य है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३)
(John Stuart Mill)

संक्षिप्त जीवन परिचय—जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अन्तिम समर्थक और व्यक्तिवाद के अग्रणी समर्थकों में से था। उसका पिता जेम्स

1. "If education does not perform anything, there is hardly anything which it does not perform."

—*Mill*

2. *James Mill* was "the leader of the Utilitarian Radicals after Bentham and the chief operative force in effecting the practical reforms of the school." He deserves a place of honour in the utilitarian philosophy.

मल सुप्रसिद्ध वेन्थमवादी विचारक था जिसने उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए सुधारकों का साथ दिया। जेम्स मिल ने यह निश्चय किया था कि वह अपने लडके को ऐसी विशिष्ट शिक्षा देगा जिससे वह उपयोगितावाद का प्रचारक बने।

जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म लदन मे २० मई सन् १८०६ को हुआ और जब वह मात्र तीन वर्ष का ही था तभी से जेम्स मिल ने अपने विचारानुसार बालक की प्राथमिक शिक्षण की व्यवस्था कर दी। घर पर ही उसने अपने पुत्र के नियमित शिक्षण का कार्य प्रारम्भ किया। बालक जॉन स्टुअर्ट मिल ने ३ वर्ष की अवस्था मे ग्रीक का और ८ वर्ष की अवस्था मे लेटिन का अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अवस्था तक उसने 'Herodotus, Diogenes Laertius का 'Lives of Philosophers,' और Isocrates का 'Ad-Demonicon समाप्त कर लिया था। वह प्लेटो के 'Thaeatetus' का भी अध्ययन कर चुका था। ११ वर्ष की अवस्था मे उसने Livy और Dionysias द्वारा रचित 'A History of the Roman Government' पढा। ११ वर्ष की अवस्था मे उसने दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन आरम्भ किया और होमर (Homer), थ्युसीडाइडस (Thucidides), अरिस्टोफेंस (Aristophanes), डिमान्सथेनीज (Demonsthenes) तथा अरस्तू के तर्कवाद (Rhetoric) का अध्ययन किया। यह बालक अपनी पुस्तकों में इतना व्यस्त रहता था कि उसे खेल कूद और मनोरंजन का समय ही नही मिलता था। उसने स्वय लिखा है, "बालकों की कहानियों की पुस्तकें अथवा अन्य खेल की चीजें मेरे पास कोई नही थी। कभी-कभी कोई भेंट मिल जाती थी या कोई परिचित मिलने आ जाता था।" जॉन स्टुअर्ट मिल अपने बाल्यकाल से ही इतने कठोर बौद्धिक अनुशासन मे से गुजरा जितना कि प्राय. दमन का नही मिलता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसका स्वास्थ्य गिर गया और वह अकाल मे ही बुढा हो गया। इसके अतिरिक्त इस काल मे, उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नही हो पायी और *न ही वह प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द उठाना सीख पाया। उसके इन दोनो* दोषो की पूर्ति तब हुई जब उसे एक वर्ष तक फ्रान्स मे घूमने और प्राकृतिक सौंदर्य का लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ। बाद मे प्रकृति के प्रति अटूट प्रेम, यात्रा के प्रति आकर्षण और फ्रेंच भाषा का धारा प्रवाह रूप में सुगमता से प्रयोग—ये सब बाते जीवन पर्यन्त उसके साथ रही।

जान स्टुअर्ट मिल प्रारम्भ से ही अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि और मेधावी था। वह प्रत्येक कार्य बडी तीव्र गति से करता था। फ्रास से लौट कर उसने सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री जॉन ऑस्टिन (John Austin) से रोमन लॉ तथा अन्य कानूनो की शिक्षा ग्रहण की। इसके बाद उसे विभिन्न सभा-सोसाइटी में अपना परिचय बढाने व प्रभाव जमाने के लिये भेजा गया। इस प्रकार उसे भाषण देने और वक्ता बनने का अभ्यास हुआ। १७ वर्ष की अवस्था में उसने स्वय एक मौलिक उपयोगितावादी सस्था को जन्म दिया जिसका उद्देश्य था रैडिकलिज्म (Radicalism) का अध्ययन तथा प्रचार करना। उसने 'वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' के सूत्रपात में भी सहायता दी। उसमे दिये गये उसके महत्वपूर्ण एव विलक्षण लेख उसके एक भव्य साहित्यिक भविष्य की सूचना

देते थे। उपयोगितावाद पर उसके लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। रैडीकलिज्म के प्रचार व पोषण की दृष्टि से ही वह विभिन्न संस्थाओं का सदस्य बना।

छोटी सी उम्र में इतनी अच्छी एवं व्यवस्थित शिक्षा पाकर मिल अपने पिता के सहायक के रूप में 'India Office' में एक पद पर नियुक्त हो गया, किन्तु नौकरी में रहते हुए भी उसने अपनी साहित्यिक गति-विधि में कोई ढील न आने दी। अनवरत श्रम और बौद्धिक व्यायाम के फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य गिर गया और २० वर्ष की अवस्था में उसे हल्के से हृदय रोग का सामना करना पड़ा जिसे उसने अपने बौद्धिक इतिहास में एक संकट की संज्ञा दी है। अब वह बहुत सुस्त रहने लगा। २३ वर्ष की आयु में उसने स्वयं स्थापित 'Devating Society' को छोड़ दिया और इसका कारण उसने यह बताया कि, "मैं भाषण देते-देते तंग आ गया हूँ।"

"निरन्तर विश्लेषण की आदत की भावनाओं ने मिल की भावनाओं के स्रोत को शुष्क कर दिया। उसकी भावनाएं, जिनकी कि उसके भावनाहीन पिता द्वारा थोपे हुए कठोर अनुशासन के कारण घोर अवहेलना की गई थी, अब तृप्ति की मांग करने लगी।" बीमारी की हालत में उसे विख्यात स्वच्छन्दतावादी कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), कॉलरिज (Coleridge) की रचनाओं से प्रेम हो गया। इन कवियों के अध्ययन से उसे सत्य की एक नवीन झांकी मिली जिसका अनुभव उसे पहले कभी नहीं हुआ था। इस सत्य की ओर बेन्थम की दृष्टि भी कभी नहीं गई थी। वर्ड्सवर्थ कॉलरिज और गेटे (Goethe) की रचनाओं के अन्तःस्थल और रससागर में डूब कर मिल को यह भान हुआ कि बेन्थम का हृदय जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओं को स्पर्श न कर सका था और मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाओं का उसे ज्ञान न था। नवीन ज्ञानोदय के कारण मिल में एक नवीन परिवर्तन हुआ उसके स्वभाव और चिन्तन में एक क्रांति का बीजारोपण हुआ। डेविडसन् **(Davidson) के शब्दों में जॉन स्टुअर्ट मिल के हृदय में "एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमें अधिक गहरी सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव प्राणी की आवश्यकताओं को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं को तृप्ति के महत्व को भी अनुभव किया था।"**[1]

सन् १८३० में, जबकि जॉन स्टुअर्ट मिल की आयु २५ वर्ष की थी, सौभाग्यवश उसका परिचय एक अत्यन्त प्रतिभाशालिनी एवं मेधावी सुन्दरी श्रीमती 'हेरियट टेलर' (Harriet Taylor) नामक उच्च वर्गीय महिला से हुआ जिसने उसके जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया। श्रीमती टेलर धनाढ्य, सभ्रांत परिवार की महिला थी। अपनी सहृदयता, बौद्धिक प्रतिभा,

---

1. There emerged in him "a new man, with a deeper sympathy, a wider intellectual outlook,a keener perception of the needs of human beings, and a realization of the importance of cultivating the emotions as well as the intellect."
—*Davidson*, Political Theory in England, P. 162

गुण ग्राहकता आदि के द्वारा उसने मिल पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि मिल ने उसके साथ अपने सम्बन्ध को अपने जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान मित्रता कह कर पुकारा है। श्रीमती टेलर के सम्पर्क से मिल के बौद्धिक सकट का अन्त हो गया। दोनो की यह मित्रता लगभग २० वर्ष तक चली और इस मध्य उन्होने अनेक रचनाओ मे परस्पर सहयोग किया। जब श्रीमती टेलर के पति की मृत्यु हो गई तब मिल ने श्रीमती टेलर से सन् १८५१ ई० मे अपना विवाह कर लिया। उसने इस बारे म अपने परिवार एवं मित्रो के विरोध की परवाह न की। परस्पर इतना तीव्र आकर्षण और अनुराग होने पर यह परिणय स्वाभाविक था। इस महिला के कारण ही मिल के विचारों मे मानवतावाद का विनम्र प्रभाव पडा। वास्तव मे यह सम्पर्क दो अद्भुत शक्तियो और प्रतिभाओ के बीच था। दुर्भाग्य से श्रीमती टेलर की मृत्यु विवाह के ७ वष बाद ही सन् १८५८ ई० मे हो गई। मिल ने अपना 'On Liberty' नामक निबन्ध उसी को (श्रीमती टेलर) समर्पित किया जो उसके शब्दों मे, 'मेरे लेखों मे जो भी सर्वोतम है उसकी प्रेरक थी तथा आंशिक रूप से उसकी लेखिका भी, जो कि मेरी मित्र और पत्नी थी, जिसकी सत्य तथा सद् की उत्कृष्ट भावना मेरी सबसे सबल प्रेरणा रही थी और जिसकी प्रशसा मेरा प्रमुख पुरस्कार था।"[1]

मिल ने अपने बौद्धिक सकट की अवस्था मे यह अनुभव कर लिया था कि एक सुविकसित व्यक्तित्व के लिये भावनाओं की तृप्ति होना आवश्यक है। वास्तव मे यह सकट मिल का 'अपने पिता के बौद्धिक शासन के विरुद्ध विद्रोह एव बेन्थमवादी उपयोगितावाद मे सशोधन तथा परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ बिन्दु माना जा सकता है। सुविकसित व्यक्तित्व के लिये भावनाओ की तृप्ति आवश्यक है'—मिल की इस धारणा की पुष्टि इसी से हो जाती है कि उसकी सर्वाधिक सुन्दर रचना का प्रारम्भ तभी से हुआ जब से वह श्रीमती टेलर क सम्पर्क मे आया। श्रीमती टेलर के प्रति मिल का अनुराग और आदरभाव उसकी मृत्यु के बाद भी बना रहा। फ्रास के 'एविगनॉन' नामक नगर म, जहा उसकी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मिल ने उसकी कब्र के पास ही एक छोटे से मकान मे जीवन के अन्तिम दिन बिताये। सन् १८७३ मे 'एविगनॉन' मे ही मिल का भी देहावसान हो गया और उसे अपनी पत्नी के बराबर ही कब्र मे दफना दिया गया।

जॉन स्टुअर्ट मिल ५९ वर्ष की आयु मे ससद सदस्य बना और १८६५ से १८६८ तक सदस्य रहा। ससद मे उसने आयरलैण्ड, किसानो की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक काय-कर्त्ताओ की स्थिति आदि विषयो पर महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये। उसने 'आयरलैण्ड मे भूमि सुधार' नाम से स्वय एक पुस्तिका लिखी जिसमे इगलैण्ड और आयरलैण्ड, दोनो देशो की एक दूसरे से पृथक

1. 'Who was the inspirer, and in part the author, of all that is best in my writings–the friend and wife whose exalted sense of truth and right was my strongest incitement and whose approbation was my chief reward."

—*J. S Mill*

होने की अयुक्तियुक्तता तथा भूमि के विषय में राज्यद्वारा पूर्ण जांच के पश्चात् वर्तमान किसानों को स्थायी कर उनसे उचित भाड़ा लेने का सुझाव दिया गया था। मिल इंगलैण्ड की लोकसभा में अग्रणी उग्र विचारक था। उसके समझौते के सुझावों पर उसके स्वयं के दल के लोग कभी-कभी चकित एवं क्रुद्ध हो जाया करते थे। अनेक समस्याओं पर उसके स्वतंत्र विचार थे और इस सम्बन्ध में वह अपने दल की नाराजगी की परवाह नहीं करता था। शासकीय और विरोधी दलों में उसका सम्मान बराबर था। संसद में मिल के जीवन के विषय में प्रधान मंत्री ग्लेडस्टन ने कहा था कि, "जब मिल का भाषण होता तो मुझे सदा ही यह अनुभूति होती थी कि मैं किसी संत का प्रवचन सुन रहा हूं।"

"मिल का जीवन वास्तव में रहस्य और आकर्षण का मनोरम संगम-स्थल था। प्रखर बौद्धिक प्रतिभा, आन्दोलनकारी क्षमता, स्नेही, संवेदनशील हृदय, अदम्य स्वातन्त्र्य वृत्ति, लेखन तथा भाषण कुशलता, इन सबका सुन्दर समन्वय उसके जीवन में हुआ।"

मिल की रचनाएं और उसकी पद्धति (Mill's Works and Method)—मिल ने अपने संघर्षमय जीवन में न्यायशास्त्र, अध्यापन-शास्त्र, आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि लगभग सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी रचनाएं कीं। उसकी रचनाओं के काल को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो वे पुस्तकें जो उसके जीवन काल में ही छपकर प्रकाशित हो गईं और दूसरी वे पुस्तकें जो मरणोत्तर काल में प्रकाशित हुईं। निम्नलिखित पुस्तकें उसके जीवनकाल में ही प्रकाशित हुईं—

1. The System of Logic, 1841—यह सम्भवत: उसका सबसे महान् ग्रंथ है जो न्याय-अनुसधान में एक युग की सूचना देता है और आगमनात्मक प्रमाण के विश्लेषण के लिये प्रसिद्ध है।
2. Some Unsettled Questions in Political Economy, 1844
3. The Principles of Political Economy, 1848
4. Examination of Hamilton's Philosophy, 1865
5. Auguste Comte and Positivism.

ये दोनों पुस्तकें (४ एवं ५) आध्यात्म शास्त्र के ऊपर मिल की उल्लेखनीय कृतियां हैं।

6. A Treatise of Liberty, 1859—राजनीति शास्त्र के ऊपर मिल की यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है जिसे उसने सन् १८५४ में लिखना शुरू किया था और ५ वर्ष के परिश्रम के बाद वह इसे लिखकर तैयार कर पाया था।
7. Considerations on Representative Government, 1860
8. Utilitarianism, 1861
9. Parliamentary Reforms, 1859
10. Subjection of Women, 1869

उपरोक्त ६ से लेकर १० तक की ये सभी पुस्तकें राजनीति-शास्त्र पर मिल की महत्वपूर्ण कृतियां मानी जाती हैं।

सन् १८७३ में मिल की मृत्यु के बाद उसकी निम्नलिखित ३ पुस्तकें और प्रकाशित हुई —

(1) Autobiography, 1873, (2) Three Essays on Religion, 1874, (3) Letters, 1910.

इन तीनो मे मिल की आत्मकथा (Autobiography) सर्वाधिक लोकप्रिय हुई। दूसरी पुस्तक मे मिल के धार्मिक विचारो का संग्रह मिलता है तो तीसरी म उसके पत्रो का संग्रह है।

मिल की उपरोक्त रचनाओ के मनोपूर्वक अध्ययन से हमे विदित होता है कि अपने पिता जेम्स मिल के बाद जॉन स्टुअर्ट मिल पर बेंथम का सबसे अधिक प्रभाव पडा था। जॉन आस्टिन का राजनैतिक क्षेत्र मे तथा अर्थ शास्त्रियो मे एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, एडम फार्गुसन आदि की 'आर्थिक उदारतावाद (Economic Liberalism)' की व्यापक विचारधारा का प्रभाव भी उस पर था। यह उल्लेख किया ही जा चुका है कि उसकी पत्नी श्रीमती टेलर न उसके जीवन को आमूल प्रभावित किया और उसे मानवतावाद (Humanism) की ओर मोडा। जीवन के अन्तिम दिनो मे उसने फ्रेंच साहित्य और दर्शन का पठन-पाठन किया था जिससे उसके बाद के ग्रंथों पर कॉम्टे और सेंट साइमन जैसे दार्शनिकों का प्रभाव भी स्पष्टत परिलक्षित होता है। वह सेंट साइमन व काल्पनिक समाजवादी विचारों के प्रभावित था। कॉलरिज की काव्यधारा और काम्टे की समाजधारा का जो प्रभाव मिल पर पड़ा उसका विवेचन उसन अपनी आत्मकथा (Autobiography) म इस प्रकार किया है, "मानव मस्तिष्क सम्भावित प्रगति की निश्चित दिशा मे चलता है जिसम कुछ बातें आगे पीछे आती रहती हैं। इस गति या नियम मे सरकार या सुधारक कुछ हद तक ही परिवर्तन कर सकते हैं, अनिश्चित या अमर्यादित सीमा तक नही। राजनीतिक संस्थान और उनकी समस्याएं निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं (Relative, not absolute)। मनुष्य की प्रगति की अलग अलग अवस्था म अलग अलग संस्थाए न केवल होगी, बल्कि होनी चाहिए। शासन सदैव समाज की सर्वोच्च शक्ति मे रहता है (सदैव उस वर्ग के हाथो म रहता है या उस वर्ग के हाथो म चला जाता है जिसकी समाज म सबसे अधिक शक्ति होती है)। यह शक्ति संस्थाओ पर निर्भर नही होनी बल्कि संस्थाए इस शक्ति पर निर्भर होती हैं। राजनीतिक दर्शन का कोई भी सामान्य सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि प्रगति का एक सिद्धान्त होता है। इतिहास क दर्शन के साथ भी यही बात लागू होती है।"[1]

मिल की रचनाओ के बारे में मत व्यक्त करते हुए सेबाइन महोदय का विचार है कि उसकी लगभग सब कृतियों मे, विशेषकर उसकी आचार शास्त्र एव राजनीति शास्त्र सम्बन्धी कृतियो म "उसकी (मिल की) सामान्य स्थिति यह है कि उसने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया है, किन्तु सिद्धान्त को व्यक्त करने के उपरात उसन कुछ रियायतें करना और कुछ बातो को इस प्रकार व्यक्त करना आरम्भ किया कि अत म पुराना सिद्धान्त समाप्त हो गया और उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त

1 Autobiography (1873), P. 162

की स्थापना नहीं हुई।"[1] इसी धारणा को मैक्सी (Maxey) ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि अपने आचार शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र सम्बन्धी विचारों में "मिल में हमें एक संघर्ष देखने को मिलता है और यह संघर्ष है उसकी वह बौद्धिक सामग्री जो उसने अपने उपयोगितावादी गुरुजनों से विरासत में प्राप्त की थी, जिनके लिये उसके हृदय में प्रेम था और जिस पर कि वह खुले मस्तिष्क तथा संवेदनात्मक पर्यवेक्षण के कारण पहुँचा था।"[2]

मिल की रचनाओं और मिल पर प्रभाव को संक्षेप में दर्शाने के पश्चात् उसकी पद्धति (Method) पर भी दो शब्द कह देना समीचीन एवं प्रासंगिक होगा। मिल ने सभी पद्धतियों का अध्ययन एवं उनका विश्लेषण करके बतलाया कि पद्धतियां चार तरह की होती हैं—(१) रासायनिक पद्धति (Chemical Method), (२) ज्यामितिक पद्धति (Geometrical Method), (३) भौतिक पद्धति (Physical Method), एवं (४) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)। रासायनिक पद्धति को केवल रसायनशास्त्री के लिए उपयुक्त बताते हुए राजनीति और राजदर्शन के क्षेत्र में मिल ने इसे निरर्थक बताया। उसने कहा कि एक प्रयोगशाला में विभिन्न तत्वों और पदार्थों को मिला-मिला कर परीक्षण किया जाता है, लेकिन जब सामाजिक तत्वों के परीक्षण का अवसर आता है तो अन्य पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नहीं किया जा सकता। ज्यामितिक पद्धति को मिल राजदर्शन, अर्थ-शास्त्र आदि विषयों के क्षेत्र में इस आधार पर अस्वीकार करता है कि यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और सामाजिक क्षेत्र में पहले से ही बने-बनाये नियम नहीं होते। मिल के अनुसार भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग राजनीति-शास्त्र में किया जा सकता है। भौतिक पद्धति में निगमनात्मक (Deductive) और व्याप्तिमूलक या आगमनात्मक (Inductive) दोनों प्रणालियों का सम्मिश्रण होता है और ऐतिहासिक पद्धति व्याप्तिमूलक (Inductive) पद्धति होती है। भौतिक पद्धति में सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उससे निकले हुए परिणामों को पुनः शोध कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। समाजशास्त्र में मानव प्रकृति के आधारभूत नियम हैं। उनका परीक्षण करके कुछ सामान्य सिद्धान्त निकाले जाते हैं। उन सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों

---

1. "His general position was a highly abstract statement of the older utilitarian theory, but having stated the principle, he proceeded to make concessions and restatements till in the end the original theory was explained away without any new principle being put in its place."
—*Sabine*, A History of Political Theory, P. 665.

2. "Mill exhibits an unresolved conflict between the intellectual furniture inherited from the utilitarian preceptors whom he loved and revered and the conclusion to which he was driven by his own open minded and sympathetic observation of facts."
—*Maxev*, Political Philosophies, P. 477.

सन् १८७३ में मिल की मृत्यु के बाद उसकी निम्नलिखित ३ पुस्तकें और प्रकाशित हुई —

(1) Autobiography, 1873; (2) Three Essays on Religion, 1874, (3) Letters, 1910

इन तीनों मे मिल की आत्मकथा (Autobiography) सर्वाधिक लोकप्रिय हुई। दूसरी पुस्तक मे मिल के धार्मिक विचारो का सग्रह मिलता है तो तीसरी में उसके पत्रो का सग्रह है।

मिल की उपरोक्त रचनाओ के मनोपूर्वक अध्ययन से हमे विदित होता है कि अपने पिता जेम्स मिल के बाद जॉन स्टुअर्ट मिल पर बेंथम का सबसे अधिक प्रभाव पडा था। जॉन आस्टिन का राजनैतिक क्षेत्र मे तथा अर्थ-शास्त्रियो मे एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, एडम फार्गुसन आदि की 'आर्थिक उदारतावाद (Economic Liberalism)' की व्यापक विचारधारा का प्रभाव भी उस पर था। यह उल्लेख किया ही जा चुका है कि उसकी पत्नी श्रीमती टेलर ने उसके जीवन को आमूल प्रभावित किया और उसे मानवतावाद (Humanism) की ओर मोड़ा। जीवन के अन्तिम दिनो मे उसने फ्रेंच साहित्य और दर्शन का पठन-पाठन किया था जिससे उसके बाद के ग्रन्थो पर कॉम्टे और सेंट साइमन जैसे दार्शनिकों का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। *वह सेंट साइमन के काल्पनिक समाजवादी विचारो से प्रभावित था।* कॉलरिज की काव्यधारा और काम्टे की समाजधारा का जो प्रभाव मिल पर पडा उसका विवेचन उसने अपनी आत्मकथा (Autobiography) मे इस प्रकार किया है, "मानव मस्तिष्क सम्भावित प्रगति की निश्चित दिशा मे चलता है जिसमे कुछ बातें आगे पीछे आती रहती हैं। इस गति या नियम मे सरकार या सुधारक कुछ हद तक ही परिवर्तन कर सकते हैं, अनिश्चित या अमर्यादित सीमा तक नही। राजनीतिक सस्थान और उनकी समस्याएं निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है (Relative, not absolute)। मनुष्य की प्रगति की अलग अलग अवस्था मे अलग अलग सस्थाए न केवल होगी, बल्कि होनी चाहिये। शासन सदैव समाज की सर्वोच्च शक्ति मे रहता है (सदैव उस वर्ग के हाथो में रहता है या उस वर्ग के हाथो मे चला जाता है जिसकी समाज मे सबसे अधिक शक्ति होती है)। यह शक्ति सस्थाओ पर निर्भर नही होती बल्कि सस्थाए इस शक्ति पर निर्भर होती हैं। राजनीतिक दर्शन का कोई भी सामान्य सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि प्रगति का एक सिद्धान्त होता है। इतिहास के दर्शन के साथ भी यही बात लागू होती है।"[1]

मिल की रचनाओ के बारे मे मत व्यक्त करते हुए सेबाइन महोदय का विचार है कि उसकी लगभग सब कृतियो मे, विशेषकर उसकी आचार शास्त्र एव राजनीति शास्त्र सम्बन्धी कृतियो मे "उसकी (मिल की) सामान्य स्थिति यह है कि उसने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त *वर्णन किया है, किन्तु सिद्धान्त को व्यक्त करने के उपरान्त उसने कुछ रियायतें* करना और कुछ बातो को इस प्रकार व्यक्त करना आरम्भ किया कि अन्त मे पुराना सिद्धान्त समाप्त हो गया और उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त

1. Autobiography (1873), P. 162.

की स्थापना नहीं हुई।"[1] इसी धारणा को मैक्सी (Maxey) ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि अपने आचार शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र सम्बन्धी विचारों में "मिल में हमें एक संघर्ष देखने को मिलता है और यह संघर्ष है उसकी वह बौद्धिक सामग्री जो उसने अपने उपयोगितावादी गुरुजनों से विरासत में प्राप्त की थी, जिनके लिये उसके हृदय में प्रेम था और जिस पर कि वह खुले मस्तिष्क तथा संवेदनात्मक पर्यवेक्षण के कारण पहुँचा था।"[2]

मिल की रचनाओं और मिल पर प्रभाव को संक्षेप में दर्शाने के पश्चात् उसकी पद्धति (Method) पर भी दो शब्द कह देना समीचीन एवं प्रासंगिक होगा। मिल ने सभी पद्धतियों का अध्ययन एवं उनका विश्लेषण करके बतलाया कि पद्धतियां चार तरह की होती हैं—(१) रासायनिक पद्धति (Chemical Method), (२) ज्यामितिक पद्धति (Geometrical Method), (३) भौतिक पद्धति (Physical Method), एवं (४) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)। रासायनिक पद्धति को केवल रसायनशास्त्री के लिए उपयुक्त बताते हुए राजनीति और राजदर्शन के क्षेत्र में मिल ने इसे निरर्थक बताया। उसने कहा कि एक प्रयोगशाला में विभिन्न तत्वों और पदार्थों को मिला-मिला कर परीक्षण किया जाता है, लेकिन जब सामाजिक तत्वों के परीक्षण का अवसर आता है तो अन्य पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नहीं किया जा सकता। ज्यामितिक पद्धति को मिल राजदर्शन, अर्थ-शास्त्र आदि विषयों के क्षेत्र में इस आधार पर अस्वीकार करता है कि यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और सामाजिक क्षेत्र में पहले से ही बने-बनाये नियम नहीं होते। मिल के अनुसार भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग राजनीति-शास्त्र में किया जा सकता है। भौतिक पद्धति में निगमनात्मक (Deductive) और व्याप्ति-मूलक या आगमनात्मक (Inductive) दोनों प्रणालियों का सम्मिश्रण होता है और ऐतिहासिक पद्धति व्याप्तिमूलक (Inductive) पद्धति होती है। भौतिक पद्धति में सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उससे निकले हुए परिणामों को पुनः शोध कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। समाजशास्त्र में मानव प्रकृति के आधारभूत नियम हैं। उनका परीक्षण करके कुछ सामान्य सिद्धान्त निकाले जाते हैं। उन सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों

1. "His general position was a highly abstract statement of the older utilitarian theory, but having stated the principle, he proceeded to make concessions and restatements till in the end the original theory was explained away without any new principle being put in its place."

—*Sabine*, A History of Political Theory, P. 665.

2. "Mill exhibits an unresolved conflict between the intellectual furniture inherited from the utilitarian preceptors whom he loved and revered and the conclusion to which he was driven by his own open minded and sympathetic observation of facts."

—*Maxey*, Political Philosophies, P. 477.

के साथ परीक्षण करके निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाते हैं, प्रयोग करते हैं। मिल का कहना है कि समाज विज्ञान के साथ एक कठिनाई है कि यह नक्षत्र विज्ञान की तरह अपने पूर्व विचार सदैव नहीं दे सकता है। परन्तु फिर भी यह राजनीति शास्त्र के अध्ययन में प्रयोग की जा सकती है। ऐतिहासिक पद्धति से मानव प्रकृति के नियम खोज निकाले जाते हैं।

मिल ने अपनी रचनाओं में भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति का सम्मिलित प्रयोग किया है। इन दोनों के समन्वय को समाजशास्त्रीय पद्धति भी कह सकते हैं जिसमें आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियों का सम्मिश्रण है और मनोविज्ञान का प्रयोग है। इसकी विशेषता यह है कि आग्रह या कट्टरता के बिना भी मिल युक्तिपूर्वक अपने विचारों की अकाट्य प्रामाणिकता सिद्ध करता है। मिल ने अनुभूति और पर्यवेक्षण पर भी बल दिया है। मिल की पद्धति के बारे में सेबाइन (Sabine) के ये शब्द उद्धृत करने योग्य हैं—

'मिल ने अपने ग्रन्थ लाजिक' की छठी पुस्तक में सामाजिक-शास्त्रों की वैज्ञानिक पद्धति के बारे में विचार किया है। अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ में जिसमें मुख्य रूप से आगमनात्मक प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति के बारे में विचार किया गया था इस विषय का समावेश महत्वपूर्ण था। इससे यह प्रकट होता था कि मिल सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता समझता था। वह यह चाहता था कि सामाजिक शास्त्रों की पद्धति को अधिक कठोर बनाया जाये और उन्हें प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष स्थान दिया जाए। सामान्य रूप से उसका विचार यह था कि सामाजिक विज्ञानों में आगमन और निगमन दोनों की जरूरत है। यह बात सही थी लेकिन इसके आधार पर सामाजिक शास्त्र अन्य विषयों से पृथक नहीं हो पाते थे। यह निष्कर्ष कुछ ऐसा था जो दार्शनिक उग्रवादियों की निगमनात्मक पद्धति की आलोचना के प्रति एक रियायत के रूप में था। इसके साथ ही इसमें इस प्रक्रिया की आवश्यकता और सार्थकता की बात कही गई थी। मिल ने 'लाजिक' में दोनों एकाकी दृष्टिकोणों को त्याग कर यह दृष्टिकोण ग्रहण किया था कि आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों पद्धतियों का प्रयोग होना चाहिये। उसका कहना था कि राजनीति आचरण के मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करती है। यह मनोवैज्ञानिक आचरण केवल आगमनात्मक पद्धति पर आधारित हो सकता है। लेकिन राजनैतिक घटनाओं की व्याख्या अधिकतर निगमनात्मक होती है क्योंकि उनकी व्याख्या का अर्थ यह होता है कि मनोविज्ञान का सहारा लिया जाए। मिल ने अपनी प्रक्रिया को काम्टे की प्रक्रिया के अनुकूल बनाने के लिए ही इसी तर्क का प्रयोग किया था। उसने यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विकास के कुछ नियम आगमनात्मक पद्धति के आधार पर निर्धारित किए जा सकते हैं। यद्यपि उसे इस प्रक्रिया के विस्तार और इसकी निश्चितता के बारे में कुछ सन्देह था, फिर भी वह यह समझता था कि मनोविज्ञान के आधार पर इन नियमों की व्याख्या की जा सकती है। इसलिये, मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन लिये दो पद्धतियाँ हैं और इन दोनों पद्धतियों को एक दूसरे का पूरक

आवश्यक है, विशेष रूप से क्या ये चीजें अथवा सुख की धारणाओं में शामिल हैं, और उनका क्या उद्देश्य है, यह एक खुला हुआ प्रश्न रह जाता है। परन्तु ये पूर्ण व्याख्याएं जीवन के उस सिद्धान्त को प्रभावित नहीं करतीं जिन पर कि नैतिकता का यह सिद्धान्त आधारित है कि सुख तथा दुःख से स्वतन्त्रता ही एक मात्र जीवन का अभिष्ट लक्ष्य है, और समस्त वाञ्छनीय वस्तुएं, जो कि उपयोगितावादी योजना में भी उतनी ही हैं जितनी कि अन्य किसी योजना में, वाञ्छनीय इसलिये हैं कि या तो उनमें ही सुख का निवास है या वे सुख की वृद्धि के द्वारा दुख-मोचन के साधन हैं।[1]

इस प्रकार मिल ने भी बेंथम के सुख-वाद को स्वीकारा है। वह भी बेंथम के समान सुख की प्राप्ति तथा दुख से विमुक्ति को ही मानव का अभीष्ट स्वीकार करता है। फिर भी आगे चलकर मिल का विवरण ऐसा सिद्ध होता है कि बेंथम के उपयोगितावाद में एक परिवर्तन सा आ गया है। यहां अब यही देखना है कि कहां तक मिल बेंथम के साथ तथा कहां तक उससे अलग चला है?

जान स्टुअर्ट मिल ने बेंथम के सिद्धान्त पर जो रूपान्तर किया है, वह इस प्रकार है—

(१) सुखों में मात्रात्मक ही नहीं अपितु गुणात्मक अन्तर भी है— बेंथम ने माना था कि हमारा एकमात्र अभीष्ट सुख की प्राप्ति और दुख से बचना है। अन्य वस्तुएं केवल उसी सीमा तक वाञ्छनीय हैं जिस सीमा तक वे जीवन के इस सर्वोपरि लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हैं। इसलिये किसी कार्य के गुणावगुण या अच्छे बुरे का निर्धारण करने के लिये हमें यह मालूम करना आवश्यक है कि सुख का स्रोत या गुण क्या है। इस बात को भली प्रकार जानकर ही बेंथम ने यह कहा था कि "यदि सुख की मात्रा समान है तो शिशु क्रीडा भी उतनी ही अच्छी है जितना कि एक मधुर काव्य।" बेंथम के इसी विचार पर आलोचकों ने कहा कि उसका यह सिद्धान्त "आंतरिक वासनाओं

---

1 "The creed which accepts at the foundation of more utility or the Greatest Happiness Principle holds that actions are right in proportion as they tend to promote happiness, [illegible]

includes in the ideas of pain and pleasure, and to what end, this is left an open question. But these supplementary explanations do not effect the theory of life on which this theory of morality is grounded—namely that pleasure and freedom from pain, are the only things desirable as ends, and that all desirable things (which are as numerous in the utilitarian as in any other scheme) are desirable either for the pleasure inherent in themselves, or as means to the promotion of pleasure and the prevention of pain."

पर अधिक बल देता है, यह मनुष्य को पतित करनेवाला है एव जीवन के प्रति एक भौतिकवादी दृष्टिकोण को सबल बनाता है।"

मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद के उपरोक्त सिद्धान्त में एक अत्यन्त हा महत्वपूर्ण संशोधन प्रस्तुत करके आलोचकों के आरोपों का खण्डन करने का प्रयास किया है। बेंथम सुखों और दुखों के मात्रा-विषयक भेद को ही मानता था, गुणात्मक भेद को वह अस्वीकार करता था। किन्तु मिल ने सुखों और दुखों के मात्रात्मक भेद के अतिरिक्त गुणात्मक भेद को भी माना। उसने बेंथम के इस कथन को स्वीकार नहीं किया कि "शिशु क्रीडा भी उतनी ही अच्छी है जितना कि एक मधुर काव्य।" मिल ने कहा कि सुख और दुख के गुणात्मक अन्तर को मानना पूर्णतः सगतपूर्ण है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिये प्राप्त करने योग्य हैं क्योंकि वे श्रेष्ट और उत्कृष्ट हैं। निश्चय ही तुलसी और कीट्स के काव्यों का आनन्द गुल्ली डंडा खेलने के आनन्द से अधिक उत्तम है। इसीलिये उसने लिखा है कि—

"यह मानना कि कुछ सुख अन्य सुखों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और अधिक मूल्यवान होते हैं, उपयोगिता-सिद्धान्त से एकदम संगति रखता है। जब हम प्रत्येक वस्तु के मूल्यांकन में गुण और मात्रा दोनों का ध्यान रखते हैं तो सुख का मूल्यांकन केवल मात्रा के आधार पर ही करना मूर्खता है।"[3]

वह आगे लिखता है कि "एक संतुष्ट सूअर होने की अपेक्षा एक असतुष्ट मानव होना कहीं अधिक अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा एक असतुष्ट सुकरात होना अधिक अच्छा है।"[2]

स्पष्ट है कि मिल ने बेंथम की इस धारणा को ठुकरा दिया है कि सुख में भेद केवल मात्रा का होता है, गुणों का नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुखों और दुखों के मध्य गुणात्मक भेद को मानकर मिल ने उपयोगिता वाद को अधिक तर्क-संगत तथा आवश्यक बना दिया, किन्तु उसने ऐसा करके अपने गुरु बेंथम के सुखवादी–मापक यन्त्रों को पूर्णतः खण्डित और उसके उपयोगिता वादी दर्शन को एक प्रकार से अस्त-व्यस्त कर दिया। लेकिन साथ ही यह भी है कि उसने उपयोगितावादी दर्शन को न्यायसंगत, भाव घटिक तथा तर्कों और आलोचनाओं का सामना कर सकने योग्य बनाया। यदि हम यह मानलें कि कुछ सुख अपने स्रोतों के कारण ही दूसरे सुखों से उत्कृष्ट होते

---

1. "It is quite compatible with the principle of utility to recognise the fact that some kinds of pleasures are more desirable and more valuable than others. It would be absured that while, in estimating all other things, quality is considered as well as quantity the estimation of pleasures should be supposed to depend upon quantity alone."
1. "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool or the pig is of a different opinion, it is because they knew only their side of the question. The other party to the comparison knows both sides."

है तथा हमारे कार्य की सद्-असद् की कसौटी ही स्वयं सुख नहीं अपितु उसका स्रोत बन जाता है। अत. हमे सुख का स्रोत देखना चाहिये और साथ ही साथ उस सुख को प्राप्त करनेवाले मनुष्य को भी देखना चाहिये। मिल ने मानव-मानस के अन्तर मे व्याप्त सुखो की भावना पर भी ध्यान दिया है। तभी तो उसने कहा कि कोई भी एक सतुष्ट सूअर जो कि विष्टा खाता है उसकी अपेक्षा एक असतुष्ट मानव होना अधिक पसन्द करेगा और इसी तरह एक सतुष्ट मूर्ख होने की बजाय कोई भी एक असतुष्ट सुकरात विद्वान होना पसन्द करेगा। यह सुख का आतरिक पक्ष है जिस पर मिल ने ध्यान दिया। बेंथम के विचार मे यह एक प्रकार का सशोधन ही है। इसी विचार के आधार पर ही तो कहा गया है कि मिल ने बेंथम के विचार को तितर-बितर कर दिया। विभिन्न सुखो मे गुणात्मक भेद स्वीकार करके मिल ने बेंथम की दो महत्वपूर्ण धारणाओ को ठुकरा दिया जो ये हैं कि 'सुख को उन वस्तुओ से जो कि उसे उत्पादन करता है और उन मनुष्यो को जो उसे अनुभव करते हैं, बिल्कुल अलग करके देखना चाहिये।'[1]

(ii) मिल का उपयोगिता सिद्धान्त नैतिक है जबकि बेंथम का राजनैतिक—एक अन्य दृष्टिकोण से भी मिल की धारणा बेंथम की धारणा से मेल नही खाती। बेंथम अधिकतम सुख के सिद्धान्त को एक राजनैतिक सिद्धान्त समझता था, नैतिक नही। इसके विपरीत मिल के उपयोगितावाद मे नैतिक स्पर्श का आधिक्य है। बेंथम चाहता था कि शासक तथा विधि-निर्माता उपयोगितावाद को अपनायें। वह नीतियो के निर्धारण और विधि-निर्माण मे इसका प्रयोग करें। उसकी यह रुचि नहीं थी कि इसे अपार अथवा नैतिकता का आधार बनाया जाय। उसका विश्वास था कि 'यदि कानून को निष्पक्ष होना है तो वह गुणात्मक भेद की बारीकियो मे नहीं जा सकता, और यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही गिना जाना है तो कानून के प्रति भी उदासीन रहना होगा। मिल ने यह चाहा कि प्रत्येक व्यक्ति उचित अनुचित का ध्यान रखें। उपयोगिता का सिद्धान्त मिल के हाथो मे पहुँच कर विधि निर्माता के लिये एक पथ प्रदर्शक नैतिकता का सिद्धान्त बन गया। मिल ने इस सिद्धान्त के राजनैतिक पहलू को धूमिल कर दिया। इस सबंध मे मिल के विचार उसके 'Utilitariansim' के द्वितीय अध्याय के निम्नलिखित शब्दो से अधिक स्पष्ट हो सकेंगे।

"जहां तक व्यक्ति के अपने और दूसरे की आनन्द की तुलना का प्रश्न है, उपयोगितावाद की माग है कि व्यक्ति को पूर्णत उसी भांति निष्पक्ष रहना चाहिये जिस भांति कि एक निष्काम अथवा करुणाशील दर्शक को। हजरत ईसा द्वारा प्रतिपादित स्वर्ण नियम मे हमे उपयोगितावादी आचार शास्त्र की पूर्ण आत्मा के पूर्ण रूप से दर्शन होते हैं। दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, अपने पड़ौसी को अपने ही समान मानो इन्हीं सिद्धान्तो पर उपयोगिता का तिलाधार अथवा उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श घटित होता है।"[3]

---

1 'As be
rianism
rested

उपरोक्त विचारों में इस सिद्धान्त की राजनैतिक पहलू का, जिसमें कि बेंथम की इतनी अधिक रुचि थी जिक्र तक नहीं किया गया है। वास्तव में मिल के उपयोगितावाद में बेंथम का राजनैतिक चरित्र वढ गया है। बेंथम की "अधिकतम सुख की अधिकतम संख्या" का राजनैतिक सिद्धान्त मिल के हाथों में पहुंच कर व्यक्तिगत नैतिकता का सिद्धान्त हो गया है। मिल ने उपयोगितावाद पर अधिक नैतिक स्तर पर उतारा है और राजनीति के साथ-साथ उसे नैतिकता के धरातल पर भी उतार दिया है।

(iii) मिल द्वारा अन्तःकरण के तत्व पर बल—बेन्थम का उपयोगितावाद भौतिकपक्षीय होने के कारण बाहरी बातों पर अधिक ध्यान देता है जबकि मिल आन्तरिक पक्ष को अधिक टटोलता है। मिल ने बेंथम के व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में एकता और सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। यह स्मरणीय है कि बेन्थम ने ऐसे चार बाह्य दबावों, जिन्हें उसने उपयोगिता की मान्यतायें कह कर पुकारा है, की चर्चा की है जो मनुष्य को सुख प्राप्ति के लिये प्रेरित करते हैं। उसने इन मान्यताओं को चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा है—शारीरिक, सार्वजनिक, धार्मिक एवं नैतिक। बेंथम ने यह सब अति विशेष सुखों और दुखों द्वारा व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हितों में एकरूपता स्थापित करने की समस्या के निराकरण के लिये किया था। लेकिन मिल ने इस निराकरण को अपर्याप्त समझा। उसका विश्वास था कि बेंथम की मान्यताएं बाह्य थी और इस तरह कृत्रिम साधनों द्वारा स्थापित की हुई हितों की एकरूपता स्थायी नहीं हो सकती थी। मिल ने एक ऐसा आधार ढूंढना चाहा जो व्यक्ति को इस बात के लिये प्रेरित करे कि वह अपने स्वार्थों की बलि देकर भी सामान्य हित-भावना की ओर उन्मुख हो। इसलिये उसने अन्तःकरण के तत्व पर अधिक बल दिया जिस पर बेंथम ने कोई ध्यान नहीं दिया था। अन्तःकरण पर विशेष बल देकर उसने कहा कि हमारा अन्तःकरण दुःख या सुख का अनुभव करता है। नैतिक तथा सद्कार्य हमारे अन्तःकरण को शांति और सुख देते हैं। पापात्मक कार्यों के कारण अन्तःकरण को पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ता है। मिल ने बताया कि सुख सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शारीरिक ही नहीं होता अपितु आत्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकता है। प्रभु ईसामसीह को हंसते-हंसते सूली पर चढ़ने में कौनसा सुख मिला? भगतसिंह फांसी के तख्ते पर लटकता हुआ भी क्यों प्रसन्न था? क्या बाह्य सुख की प्राप्ति के लिये? नहीं, इन सब का सुख आंतरिक सुख था, मानसिक सुख था। वास्तविक सुख अन्तःकरण का ही होता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि मिल ने अन्तःकरण का अर्थ आत्मानुभूतिवादियों (Intuitionists) की भांति किसी अन्तः-नैतिक शक्ति से नहीं लिया था। उसके शब्दों में अन्तःकरण, "........एक भावना का पिण्ड है जिसे हमारे पापाचार के कारण क्लेश पहुंचता है और सदाचार के नियमों का

---

of Nazareth we read the complete spirit of the ethics of utility. To do as you would be done by and to love your neighbour as yourself, constitute the ideal perfection of utilitarian morality."

उल्लंघन करके कोई काम करने से हमें पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ता है। यह अन्तःकरण का तत्व है, उसके स्वरूप और मूल के बारे में चाहे हमारे विचार कुछ भी हों।" मिल ने अन्तःकरण के तत्व को 'मानवता के कल्याण की भावना' की संज्ञा दी है, उसने इसे दूसरों के दुःख सुख की चिन्ता कहकर पुकारा है। मिल ने इसे एक स्वाभाविक भावना माना है। अपने ग्रंथ 'Utilitarianism" के तृतीय अध्याय में मिल ने लिखा है, 'किंतु यह स्वाभाविक भावना का एक शक्तिशाली आधार है, और यह वह चीज है जो उस समय उपयोगितावादी नैतिकता की नैतिक शक्ति बन जाएगी जब हम एक बार सामान्य सुख को नैतिक मापदण्ड स्वीकार कर लेंगे। यह दृढ़ आधार मानव जाति की सामाजिक भावनाओं का है, है, यह भावना अपने साथी प्राणियों के साथ हो जाने की कामना है-यह विचार पहले से ही मानव-स्वभाव का एक शक्तिशाली सिद्धान्त है और यह खुशी की बात है कि इस इच्छा की प्रवृत्ति बढ़ती हुई सभ्यता के प्रभाव अधिकाधिक सबल होने का है, चाहे स्पष्टतः इसे उत्पन्न करने का प्रयत्न न किया जाय। सामाजिक अवस्था एकदम इतनी स्वाभाविक एवं आवश्यक है तथा मनुष्य इसका इतना अभ्यस्त है कि कुछ असामान्य परिस्थितियों एवं स्वेच्छा से पृथक होने के प्रयत्न के अतिरिक्त मनुष्य एक समाज के घटक के रूप के अतिरिक्त अपनी कल्पना ही नहीं कर सकता, और जैसे-जैसे मनुष्य जंगली स्वच्छन्दता की दशा से दूर हटता जाता है, यह समुदाय अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है।"[1]

मिल के अन्तःकरण के तत्व पर बल देने में निहित अर्थ यह है कि मानव को पूर्णतया स्वार्थी समझना अनुचित है, वह परमार्थ भावना से भी कर्म के लिये प्रेरित होता है। स्पष्टतः मिल का यह विचार बेन्थम की विचार-धारा से भिन्न है और इस धारणा का परित्याग करता है कि समाज स्वार्थी मनुष्यों का समूह है एवं मनुष्य अपनी अहंवादिता के कारण अपने निजी लाभ के लिये ही कर्म करता है। मिल ने बेन्थम के समान वैयक्तिक सुख पर अधिक बल न देकर सामाजिक हित को अधिक बल दिया है। उसने व्यक्ति की प्रतिशयता को कम करके सामाजिकता का पल्ला ऊँचा उठाया है और स्पष्ट

---

1. "[illegible] natural sentiment, and [illegible] ppiness is recog- [illegible] ute the ethical [illegible] irm foundation [illegible] desire to be in [illegible] ady a powerful principle in human nature, and happily one of those which tend to become stronger, even without express inculcation, from the influence of advancing civilization The social state is at once so natural, so necessary and so habitual to *man, that except in some* unusual circumstances or by an effort of voluntary abstraction, he never conceives himself otherwise than as a member of a body, and this association is riveted more and more, as mankind are further removed from the state of savage independence."

किया है कि सामाजिक सुख की स्थिति में ही व्यक्तिगत सुख भी है। सुख साध्य है और उसके लिये साधन है नैतिकता। मिल ने नैतिकता को पूर्णतया सामाजिक बताया है। न्याय और सहानुभूति उसके आधार हैं। मिल ने कहा कि स्वस्थ सामाजिक वातावरण में ही 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' सम्भव हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुख वांछित है और उसे सामान्य प्रसन्नता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। सामान्य सुख, सबके लिये सुख का सोपान है। एक व्यक्ति का सुख अच्छा है, हरेक व्यक्ति का सुख अच्छा है और इसीलिये सामान्य सुख सभी व्यक्तियों के लिए सामूहिक रूप से अच्छा है। मिल व्यक्ति को समाज से पृथक न मानकर उसे आवश्यक रूप से समाज-सदस्य मानता है। उनकी भावनाएं सहानुभूति के साथ एकरूपता के बंधन में बन्धी हैं। मिल ने 'लेटर्स' में एक स्थान पर लिखा है, "जब मैं यह कहता हूं कि सामान्य सुख सम्मिलित रूप से सभी व्यक्तियों का सुख है तो मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि हर व्यक्ति का सुख प्रत्येक अन्य व्यक्ति का सुख है। यद्यपि मैं अच्छे समाज और शिक्षित अवस्था में इसे ऐसा मानता हूँ, मेरा केवल अभिप्राय यही है कि 'अ' का सुख अच्छा है, 'ब' का सुख अच्छा है, 'स' आदि का सुख अच्छा है और इस प्रकार इन सभी की अच्छाईयों का योग अवश्य ही अच्छा होगा।"

मिल के उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन (Estimate of Mill's Idea of Utility)—स्पष्ट है कि मिल एवं बेंथम के उपयोगिता सम्बन्धी विचारों में बहुत अन्तर है। मिल बेन्थम के विचारों में परिष्कार और संशोधन करते हुए बेन्थम की मौलिक मान्यताओं पर ही कुठाराघात करता है। मिल ने उपयोगितावाद के राजनैतिक स्वरूप को भुला कर उसे नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाने की चेष्टा में बेन्थम के सुखवाद के मौलिक विचारों को ही अस्वीकार कर दिया है। यद्यपि मिल ने अनुभव तथा सामाजिक परिवर्तन की दिशाओं को देखकर बेन्थम के संकीर्ण उपयोगितावाद को विस्तीर्ण और उदार बना दिया किन्तु उसके द्वारा उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा करने एवं उसमें संशोधन किये जाने से उसका स्वरुप ही बिगड़ गया। उसने सुख में कम अधिक के मात्रा मूलक के अन्तर के साथ ही उच्च और निम्न का गुणात्मक अन्तर भी स्पष्ट कर दिया। गुण का अन्तर यद्यपि उपयोगितावादी विचारधारा में मानवीयता लाने में सहायक हुआ लेकिन उसका मापक चक्र गड़बड़ हो गया। किस प्रकार सुखों के गुणात्मक अन्तर को नापा जाय, यह एक जटिल प्रश्न बन गया। मिल ने इस तरह का मापक प्रदान करने की चेष्टा भी नहीं की। प्रो० सेबाइन ने इसका चित्रण करते हुए बताया है कि—

"उसने अपने सुखवाद में सुख के उच्च और निम्न स्तर का नैतिक सिद्धान्त और जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह था कि मिल एक मानक को नापने के लिये एक मानक की मांग कर रहा था। यह एक तरह की विरोधोक्ति थी और इसने उपयोगितावाद को पूरी तरह से अनिश्चित सिद्धान्त बना दिया। सुखों के गुण को परखने का कभी कोई मानक नहीं बताया गया था और यदि यह मानक बताया भी जाता तो वह सुख नहीं होता।"[1] इसी संदर्भ में सेबाइन का आगे उल्लेख है कि—

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६६४

"इस भ्रम का मूल यह था कि मिल बेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उसका व्यावहारिक पक्ष यह था कि उसके आधार पर विधान की उपयोगिता को परखा जा सकता था। बेन्थम अधिकतम सुख के *सिद्धान्त* को *मुख्य रूप* से विधान के ऊपर ही लागू करना चाहता था। उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी कि व्यक्तिगत नैतिकता में किन मानकों का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत मिल के उपयोगितावाद की विशेषता यह थी कि उसने अपने व्यक्तिगत आदर्शवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक सकल्पना प्रस्तुत की। बेन्थम का कहना था कि 'पुश्पिन (बच्चों का एक प्रकार का खेल) उतना ही अच्छा है जितना कि काव्य' शर्त यह है कि वह समान सुख देता हो। मिल के अनुसार यह कथन मूर्खतापूर्ण है। उसका अपना मत यह था कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात बेहतर है। मिल का कथन एक सामान्य नैतिक प्रतिक्रिया को अवश्य व्यक्त करता है लेकिन वह *सुखवाद नहीं है।* मिल के नीतिशास्त्र का उदारवाद के लिये महत्त्व यह है कि उसने अहकारिता का त्याग किया और यह माना कि सामाजिक कल्याण एक ऐसा विषय है जिसके बारे में सभी सदाशय लोगों को चिन्ता होनी चाहिए। मिल स्वतन्त्रता, ईमानदारी, आत्मसम्मान और व्यक्तिगत अभ्युदय को अपने आप में ही अच्छी चीजें मानता था। ये चीजें सुख को बढाती जरूर हैं। यदि ये सुख को न बढाये तब भी काम्य हैं। इस तरह के नैतिक विश्वास मिल के उदारवादी समाज की सम्पूर्ण सकल्पना में निहित हैं।'

यदि देखा जाय तो बेंथम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे उनके बौद्धिक स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। मैक्सी (Maxey) ने मिल के उपयोगितावादी दर्शन पर मत प्रकट करते हुए कहा है कि "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेंथम की धारणाओं का बहुत ही कम अंश रह गया है।" यह अवश्य है कि मिल ने अपने विशाल हृदय से उपयोगितावाद को नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाया और कुछ काल के लिये जनता को मोहित कर लिया, किन्तु अन्त में जाकर इसके कारण उत्पन्न हुई असंगतियों ने मिल की ख्याति को बड़ी ठेस पहुँचाई। उपयोगितावाद की रक्षा में तर्कशास्त्र का खजाना खाली करनेवाले मिल से उपयोगितावाद का पक्ष प्रबल न हो सका। निःसंदेह उसने बेंथम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के आलोचकों को शांत कर दिया परन्तु इसके बदले उसने असख्य आलोचकों को जन्म दिया जो इस परिवर्तित और संशोधित उपयोगितावाद के विरुद्ध तर्क-तीर बरसाने लगे। मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश कर उसे मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य अवश्य किया, लेकिन दार्शनिकता की ओर बढ़ जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता समाप्त हो गई।

यहां हमें यह भी जान लेना उचित है कि उपयोगितावाद से प्रारम्भ होकर, व्यक्तिवाद का प्रतिपादन करता हुआ मिल समाजवाद की प्रशंसा करने में भी नहीं चूकता। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण वह राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में *हस्तक्षेप का समर्थन करता है।*

यद्यपि समाजवाद का झिलमिल समर्थन व्यक्तिवादी विचारधारा के सामने अस्त प्रायः हो गया तथापि यह मानना होगा कि उसके समाजवादी विचारों का उपयोगितावाद से कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु वह उसका विरोधी ही है।

यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि "मिल उस सिद्धान्त की अपेक्षा जो उसे विरासत में मिला था कहीं अधिक विशाल चित था। यदि उसमें श्रद्धा और सम्मान की भावना कुछ कम होती तो वह पुरानी विचारधारा का परित्याग करके एक नवीन सिद्धान्त की रचना कर लेता। किन्तु मिल में एक नवीन प्रणाली को जन्म देने की शायद इच्छा न थी।"

मिल के सम्बन्ध में कुछ और अधिक तब कहा जायगा जब विचारों के इतिहास में मिल के वास्तविक स्थान की समीक्षा की जायेगी।

मिल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
(Mill's Conception of Liberty)

मिल का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक चिंतन उसके 'On Liberty' नामक पुस्तक में निहित है। इसमें स्वतंत्रता सम्बन्धी मिल के विचारों की भाषा इतनी प्रवाहपूर्ण है, उसके विचार इतने स्पष्ट और तर्क इतने प्रबल हैं कि उसका यह ग्रन्थ राजनीति पर लिखे गये श्रेष्ठतम ग्रन्थों की श्रेणी में रखा जाता है। "राजनीतिक दर्शन को यह उसकी सबसे प्रमुख देन है। इस पुस्तक ने उपयोगितावाद के साहित्य में एक नये स्वर को जन्म दिया.......... मिल के लिये विचार और अनुसंधान की स्वतत्रता, विवेचन की स्वतंत्रता और स्वनियंत्रित नैतिक निर्णय एवं कार्य की स्वतंत्रता अपने आप में ही श्रेष्ठ चीजें थीं। इन आदर्शों ने उसके हृदय में ऐसा उत्साह तथा चैतन्य जागृत किया जो उसकी अन्य रचनाओं में नहीं दिखाई देता। इन गुणों के कारण मिल का स्वतंत्रता सम्बन्धी यह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में स्वतंत्रता के समर्थन में लिखा गया सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य माना जाता है। इसकी तुलना में मिल्टन के 'एरिओपेजिटिका' (Areopagitica) ग्रन्थ को ही रखा जा सकता है।"[1]

मिल के समय में राज्य का कार्य-क्षेत्र बढ़ गया था। बेन्थम के आन्दोलन के परिणामस्वरूप राज्य अनेकानेक कानून बनाने की शक्ति प्राप्त करने लगे थे। सरकारें जनहित के नाम में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विनियमित करनेवाले कानूनों का निर्माण कर रही थी। सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जन-सुख की वृद्धि के लिये अपने प्रयत्नों में ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप कर रही थी उससे मिल को यह विश्वास हो गया था कि जनता का बहुमत भी भूतकालीन निरकुश शासकों के समान आततायी हो सकता है। मिल ने प्रत्यक्ष ही देखा कि जहां एक ओर फैक्ट्री-कानूनों ने मजदूरों की स्वतत्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे वहां दूसरी ओर स्वेच्छता के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये बनाये गये शासकीय कानूनों ने व्यक्तिगत स्वेच्छता के विषय में नागरिकों की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया था। ससद ने बाल-श्रम सम्बन्धी कानूनों की रचना की थी जिनसे बालकों की अपनी आजीविका कमाने की स्वतंत्रता और माता-पिता की उन्हें

1. राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६६४–६५

अपने काम पर भेजने की स्वतन्त्रता सीमित हो गई थी। सेवाओं का विस्तार हो जाने के कारण सरकार के आकार में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई थी। इस तरह, बेन्थमवाद को अनुचित रूप से राजनीतिक जीवन पर आरोपित करने के परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। यद्यपि बेन्थम एक व्यक्तिवादी था किन्तु, डॉयल के शब्दों में, उसकी प्रवृत्ति विधायक की शक्तियों को अत्यन्त ऊंचा उठाने की थी। व्यवस्थापिका सर्वोच्च थी, बहुमत की इच्छाओं के योग का प्रतिनिधित्व करनेवाले उसके कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकते थे। बेन्थम के सिद्धान्त मे निहित बहुमत द्वारा कठोर नियन्त्रण अब सिद्धान्त से व्यवहार का रूप धारण कर रहा था। (इस समय) कार्य एवं विचार की स्वतन्त्रता जो अहमन्यता का फल है तथा आत्म चेतना के विकास की आवश्यकता—दाव पर लगी हुई थी।[1]

मिल यह भली भांति समझ रहा था कि अधिक विधियां और अधिनियमों के राज्य द्वारा बनाये जाने का अर्थ था—व्यक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्ध और अधिक प्रतिबन्धों का अर्थ था नागरिक के व्यक्तित्व का राज्य के समक्ष नत हो जाना। प्रजातन्त्रवाद के इस शत्रु का मुकाबला करने के लिये ही मिल ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के समर्थन में पूरे बल से आवाज उठाई। उसका यह सोचना ठीक ही था कि यदि नागरिक का व्यक्तिगत उत्साह समाप्त हो जाता है तो किसी भी प्रकार की राजनीतिक या सामाजिक प्रगति सम्भव न हो सकेगी। मिल ने उपरोक्त परिस्थितियों मे, यह अनुभव किया कि जनप्रिय शासन की शक्तियों की भी सीमाएं होनी चाहियें क्योंकि—

एक स्वतन्त्र राज्य मे शक्ति का प्रयोग करनेवाले लोग सदैव वे लोग नहीं होते जिन पर वह प्रयुक्त होती है और उपरोक्त स्वशासन प्रत्येक का अपने ऊपर शासन नहीं है बल्कि प्रत्येक पर शेष सब का शासन है। अतः व्यक्तियों पर शासन की शक्ति की सीमा का महत्व इसलिये कम नहीं हो सकता कि शासक गण नियमित रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी हैं। अब राजनीतिक कल्पविकल्प ने बहुमत के अत्याचार को साधारणतया उन बुराईयों में शामिल किया जाता है जिनसे समाज को अपनी रक्षा करना आवश्यक है।'[2]

---

1 He tended to exalt powers of the legislator far too high The legislative body was supreme its acts represent the sum
- sphere
nojority
ory into
orollary
of egoism and a necessity for development into self-con sciousness was at stage
— *Doyle* A History of Political Thought P 250

2 'The people who exercise power in a self governing state are not always the same people with those over whom it is exer cised and the self government spoken of is not the govern

इस प्रकार मिल ने यह माना कि राज्य को कोई अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करे। 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाये जाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों को थोप दिया जाना सर्वथा अवांच्छनीय है। वास्तव में मिल ने मानव-स्वतंत्रता का समर्थन करते हुये उपयोगितावादी सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर स्वतंत्रता के व्यक्तिवादी रूप का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ 'On Liberty' में किया है। इसमें उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्ष में जो तर्क दिये है वे उपयोगितावादी आधार पर दिये जा सकनेवाले तर्कों का भी अतिक्रमण कर गये हैं। इसीलिए सेवाइन ने कहा है, 'मिल का व्यक्तिगत स्वतत्रता का समर्थन उपयोगितावादी समर्थन से कुछ अधिक है।''

मिल के चिंतन में व्यक्ति का स्थान—मिल व्यक्ति का पुजारी है और उसका सम्पूर्ण राजनैतिक चिंतन व्यक्ति के मूल्य पर आधारित है। मिल व्यक्ति को सामाजिक प्राणी स्वीकार करता है लेकिन साथ ही यह विश्वास भी व्यक्त करता है कि व्यक्ति समाज के हित में स्वेच्छा से योग प्रदान नहीं करता। ''व्यक्ति के हितों को व्यक्ति ही समझ सकता है, न कि समाज। अपने सर्वोतम हित को व्यक्ति ही सर्वोत्तम रूप में जानता है और वही उसे सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त कर सकता है।'' मिल का विश्वास है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने, प्रसारित करने और भव्य बनाने की स्वतंत्रता है। इसके लिये आवश्यक है कि उसे विचार एवं अभिव्यक्ति क स्वतंत्रता प्रदान की जावे। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है और इसीलिये उसे अपने से सम्बन्ध में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। इस क्षेत्र में समाज को या राज्य को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये। व्यक्ति का सर्वतोन्मुखी विकास तभी संभव है जब उसे अपने लिये आवश्यक परिस्थितियों को स्वयं ही निर्धारित करने का अधिकार दे दिया जाय। मिल इस विश्वास में बड़ा दृढ था कि व्यक्ति चरम सत्य है और सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व व्यक्ति के हित-साधन के लिये ही है। सामाजिक संस्थाओं की कसौटी भी यही है कि वे व्यक्ति का हित-साधन किस सीमा तक करते हैं।

मिल की यह दृढ़ धारणा थी कि मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के विकास करने के ध्येय की प्राप्ति में राज्य और समाज के द्वारा कुछ बाधायें उपस्थित की जाती हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। मिल के अनुसार इन बाधाओं के निराकरण की शक्तियां ही स्वतंत्रता है। समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करना अनुचित है। होता यह है कि समाज यह कदापि

---

ment of each by himself, but of each by all the rest.... The limitation, therefore, of the power of government over individuals loses none of its importance when the holders of power are regularly accountable to the community.... In political speculations "the tyranny of the majority" is now generally included among the evils against which society requires to be on its guard".

—On Liberty, Chapter I

बर्दाश्त नहीं करता कि कोई उसकी मान्य परम्परा को तोड़कर नवीन परम्पराओं की स्थापना करे। यदि कोई ऐसा करने का दुस्साहस करता है तो समाज के पंजे उसे पकड़ने के लिये तत्पर रहते हैं, जबकि समाज को ऐसा कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। मिल के अनुसार समाज को तो व्यक्ति के आचरण के केवल उस भाग का नियंत्रण करना ही उचित है जो दूसरे से सम्बन्धित हो। अपने आपपर, अपने शरीर का तथा अपने मस्तिष्क का, व्यक्ति स्वयं स्वामी है। इस प्रकार उसकी मान्यता है कि व्यक्ति की समाज की निरंकुशता से रक्षा होनी चाहिये। समाज प्राय. अपने व्यवहारों, आचरणों आदि द्वारा व्यक्तियों पर एक विशिष्ट व्याख्या को थोपने का प्रयत्न करके व्यक्तित्व के निर्माण को अवरुद्ध कर देता है। कभी-कभी तो सामाजिक नियमों के कारण व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल ही रुक जाता है। समाज व्यक्ति को उसके स्वविवेकानुसार कार्य नहीं करने देता और बाध्य करता है कि वह समाज के दृष्टिकोण के अनुकूल ही अपने चरित्र का निर्माण करे। यह अवस्था बड़ी हेय है जिसको समाप्त किया जाना ही चाहिये। समाज के समान ही राज्य को भी कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को हनन करे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मिल के अनुसार 'शासक गण नियमित रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी है। अब राजनैतिक क्षेत्र में बहुमत के अत्याचार जैसी बुराई से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।' मिल की मान्यता है कि राज्य को व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। वह व्यक्ति के जीवन में केवल आत्मरक्षा के लिये ही हस्तक्षेप कर सकता है। यदि अपने कार्यों द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे की समानता में बाधक हो तो भी राज्य का हस्तक्षेप न्यायोचित है।

मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतंत्रता का स्वरूप—स्पष्ट है कि मिल जिस स्वतंत्रता का पक्षपोषण करता है, वह एक व्यापक स्वतंत्रता है। वह स्वतंत्रता का समर्थन इसलिये करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि स्वतंत्रता के अभाव में कोई आत्म-विश्वास नहीं हो सकता। मिल द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्रता के स्वरूप को उसके ही शब्दों में सर्वोत्तम ढंग से लिखा और समझा जा सकता है। इस विषय को स्पष्ट करते हुये मिल ने अपने ग्रन्थ 'On Liberty' में लिखा है कि—

"मानव जाति किसी भी घटक की स्वतंत्रता में केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकती है और वह है आत्मरक्षा। सभ्य समाज के किसी भी सदस्य के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल इसी उद्देश्य के लिये हो सकता है कि उसको दूसरों को हानि पहुंचाने से रोका जाय। उसका अपना हित भौतिक अथवा नैतिक—उसका पर्याप्त औचित्य नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी काम के करने या न करने के लिये विवश करना इस आधार पर उचित नहीं हो सकता कि ऐसा करना उसके हित में होगा, या ऐसा करने से उसके सुख में वृद्धि हो जायगी, या ऐसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा। समाज मनुष्य के आचरण के केवल उसी भाग को नियंत्रित कर सकता है जो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित हो। स्वयं अपने ही सम्बन्धित कार्यों में उसकी स्वतंत्रता अधिकारतः निरपेक्ष है। अपने आपपर, अपने शरीर और मस्तिष्क का व्यक्ति

स्वय ही स्वामी है ।"[1]

मिल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों के दो भाग—मिल ने स्वतंत्रता के पक्ष मे जो उपरोक्त विचार प्रकट किये हैं उनके अनुसार उसके स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में मिल के अनुसार स्वतत्रता के दो प्रकार हैं—

(१) विचारों की स्वतत्रता (Freedom of thought and expression)

(२) कार्यों की स्वतत्रता (Freedom of action)

(१) विचारों की स्वतंत्रता—विचारों की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में मिल ने जो प्रभावशाली तर्क उपस्थित किये, उनका बहुत कुछ वर्णन हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में कर चुके हैं। अतः यहां हम विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही विषय-वस्तु पर प्रकाश डालेंगे। मिल की मान्यता है कि समाज और राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की वैचारिक स्वतत्रता पर प्रतिबन्ध लगाये। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार रखने की स्वतत्रता होनी चाहिये—वे विचार चाहे समाज के अनुकूल हों चाहे प्रतिकूल। मिल का विश्वास है कि बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतंत्रता न केवल उस समाज के लिये ही हितकर है जो उसकी अनुमति करता है बल्कि उस व्यक्ति के लिये भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। मिल के मत मे यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और यदि एक व्यक्ति अकेला दूसरी ओर हो तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतत्रता मिलनी ही चाहिये। मिल ही के शब्दों में, **"यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति का एक ही मत हो जाये तो भी मानव जाति का उसे जबर्दस्ती चुप करने का**

---

1. "....the sole end for which man kind are warranted individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number is self-protection. That the only purpose for which power can be rightfully exercised over any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others His own good, either physical or moral, is not a sufficient warrant. He cannot rightfully be compelled to do or forbear because it will be better for him to do so, because it will make him happier; because, in the opinion of others, to do so would be wise or even right. These are good reasons for remonstrating with him, or reasoning with him.. but not for compelling him or visiting him with any evil in case he do otherwise. To justify that the conduct from which it is desired to determine must be calculated to produce evil to someone else. The only part of the conduct of any one for which he is amenable to society is that which concerns others. In the part which merely concerns himself, his independence is, of right absolute. Over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign."

—*Doyle*, A History of Political Thought, Chapter I

अधिकार नहीं है, जिस प्रकार यदि उसके पास शक्ति होती तो उसे मानव जाति को चुप करने का अधिकार नहीं होता।"[1] सेबाइन ने मिल के इस विचार पर *टिप्पणी करते हुये लिखा है कि,* "जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव जाति को एक असहमत व्यक्ति को चुप करने का अधिकार नहीं है तब वह निर्णय की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहा था। इस स्वतन्त्रता का आशय यह है कि आप अपनी बात मनवाने के लिये किसी व्यक्ति के साथ जोर-जबर्दस्ती न कीजिये बल्कि उसको अपनी बात समझाइये और उसको यकीन दिलाइये कि आपकी बात ठीक है। यह विशेषता परिपक्व व्यक्तित्व का लक्षण है। उदारवादी समाज वह है जो इस अधिकार को स्वीकार करता है और अपनी संस्थाओं को इस तरह ढालता है कि इस अधिकार को सिद्ध किया जा सके। व्यक्तित्व और व्यक्तिगत निर्णय की इस तरह से अनुमति देना मानो वे सहन की जानेवाली बुराइयां हों पर्याप्त नहीं है। उदारवादी समाज उनको वास्तविक मूल्य देता है। वह उन्हें मानव जाति के कल्याण के लिये आवश्यक समझता है तथा उच्च सभ्यता के लक्षण मानता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन ने मिल के उदारवादी शासन के मूल्यांकन पर भारी प्रभाव डाला था।"[2]

मिल के अनुसार विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता मानसिक स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इससे अधिकतम मनुष्यों को अधिकतम सुख की अनुभूति ही नहीं होती बल्कि सत्य की खोज की जा सकती है। यह वह *राजनीतिक स्वतन्त्रता है जो उच्च प्रकार के नैतिक स्वतन्त्रता को जन्म देती है।* सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा हो, राजनैतिक निर्णयों में हाथ हो, नैतिक विश्वास हो, और उन नैतिक विश्वासों को कार्यान्वित करने के लिये उत्तर दायित्व का भाव हो—*जब ये चीजें होती हैं तभी विवेक सम्पन्न मनुष्यों का* जन्म होता है। इस तरह का चरित्र-निर्माण सिर्फ इसलिये जरूरी नहीं है कि उससे किसी स्वार्थ की पूर्ति होती है। वह इसलिये जरूरी है क्योंकि वह मानवोचित है क्योंकि वह सभ्य है। 'यदि यह अनुभव किया जाय कि व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है, वह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा और संस्कृति का सहयोगी नहीं है बल्कि इन सब चीजों का एक आवश्यक भाग और अंग है तब इस बात का कोई खतरा नहीं रहेगा कि हम स्वतन्त्रता को कम कीमत आंकें।[3]

मिल ने वैचारिक स्वतन्त्रता के बारे में जो अपना तर्कपूर्ण मत प्रकट किया है उसे प्रकट करना विषय की स्पष्टता की दृष्टि से उचित होगा।

1. 'If all mankind minus one were of one opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he, if he had the power, would be justified in silencing mankind"

—'On Liberty'

2. राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६६५
3. 'On Liberty', Ch. 3

(१) मिल के अनुसार विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबन्ध लगाना है और सत्य पर प्रतिबंध का अर्थ समाज की उपयोगिता का दमन करना है जिसके परिणामस्वरूप समाज का पतन होना अवश्यंभावी है।

(२) सत्य विचारों की अभिव्यक्ति द्वारा पुष्ट होता है। दमनकारी उपायों द्वारा सत्य को बाधित नहीं किया जा सकता। सत्य केवल विलम्बित हो सकता है किन्तु पूर्णतः बाधित नहीं। हां, इस विलम्ब के फलस्वरूप सामाजिक प्रगति अवश्य बाधित होती है।

(३) सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। समान्यतः एक पक्ष सत्य के एक ही पहलू को देखता है और दूसरा पक्ष दूसरे पहलू को। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि एक पक्ष को गलत समझता है और इस भांति संघर्ष का जन्म होता है।

(४) यदि कोई व्यक्ति आंशिक सत्य बोलता है, यहां तक कि मिथ्या भाषण भी करता है तो भी राज्य को उसके विचार स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। समाज अथवा जनता स्वयं झूठी बात को समझकर उसका समर्थन नहीं करेगी। मिल का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति सनकी है तो उसे भी अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिये क्योंकि हो सकता है सनकी व्यक्ति भी किसी नई चिन्तन-पद्धति का आविष्कार करने मे सफल हो जाय।

(५) यदि किसी व्यक्ति का विचार गलत ही है तो उसको व्यक्त होने देने में समाज की क्या हानि है? इससे तो समाज द्वारा स्वीकृत सत्य का स्वरूप और अधिक निखरेगा। अधिक मिथ्या-भाषणों की तुलना करके हम सत्य को परख सकते हैं। मिथ्या और सत्य में विरोधाभास है अतः सत्य को एक जीवित ढंग से समाज में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(६) तर्क बुद्धि से सत्य की परख होती है, ज्ञान का विकास होता है और मिथ्या एवं अंधविश्वासी परम्पराओं की समाप्ति होती है।

इस प्रकार मिल के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी भी दशा में विचार व्यक्त करने से रोकना अनुचित है क्योंकि, "विचार की अभिव्यक्ति को रोकने का एक विलक्षण दोष यह है कि ऐसा करना मानव जाति की आने वाली तथा वर्तमान नस्लों को लूटना है।"[1] स्वातंत्र्य को छीनने के भयंकर परिणाम का उदाहरण देने के लिये मिल सुकरात और ईसामसीह की हत्या का उल्लेख करता हुआ कहता है—"क्या मानव जाति कभी भूल सकती है कि कभी किसी जमाने में सुकरात नाम का एक मनुष्य था जिसकी राज्याधिकारियों से एक स्मरणीय टक्कर हुई थी।"

---

1. "This peculiar evil of silencing the expression of an opinion is that it its robbing the human race, posterity as well as the existing generation".

—On Liberty

मिल ने इस बात पर बल दिया है कि एक ऐसे लोकमत की वृद्धि होना चाहिये जो सहिष्णुतापूर्ण हो, जो आपसी मतभेदों को महत्व देता हो और जो नये विचारों का स्वागत करने के लिये तैयार हो।

(२) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)—वैचारिक स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण वाह्य पक्ष कार्य है। मिल का दृढ मत है कि "विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता नहीं हो।" दृष्टि, संकल्प, सृष्टि—ये मनुष्य के अविभाज्य अंग हैं और कार्यों द्वारा मनुष्य अपना अनुदाय समाज को देता है। यह अनुदाय उसके व्यक्तित्व का मानवीय तत्व है, साथ ही सामाजिक प्रगति का अन्यतम साधन है। यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक केवल सोचता ही है पर आचरण में दूसरों की आज्ञा ही मानता है तो वह जीवित दास (Slave) है क्योंकि उसके मन और शरीर पृथक है, वह अपूर्ण मानव है। 'सोचने, समझने, बोलने और कार्य करने की स्वतन्त्रता एक ही प्रधान तत्व की सीढ़ियां हैं, इनमें से कोई हटाई नहीं जा सकती। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिंतन वैसा ही है कि पक्षी उड़ान तो चाहता है पर पंख नहीं।"

हम बता चुके हैं कि मिल का मत था कि राज्य के कार्य क्षेत्र की वृद्धि के साथ उसका मानव के कार्यों में हस्तक्षेप बढ़ने लगा है और लोकमत के नाम पर शासन जनता की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाता है, अतः यह आवश्यक है कि वैयक्तिक जीवन में राज्य द्वारा किये जानेवाले हस्तक्षेप समाप्त किये जायं। लेकिन यह स्मरणीय है कि मिल ने कार्य-स्वतन्त्रता में मर्यादा का अन्वेषण भी किया है। राज्य के कानून बनाने के अधिकार क्षेत्र की सीमा की मीमांसा करते हुए उसने लिखा है, "मानव-जाति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से अपने किसी भी सदस्य या घटक की स्वतन्त्रता में केवल एक बात के लिए हस्तक्षेप कर सकता है और वह है आत्म-रक्षा। सभ्य समाज के किसी भी घटक के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल एक उद्देश्य के लिए उचित हो सकता है और वह है—उसे दूसरों को हानि पहुंचाने से रोकना।" मिल के अनुसार मनुष्य के कार्यों पर, चाहे वे सही हों या गलत, समाज अथवा राज्य को प्रतिबन्ध लगाने का कोई हक नहीं है। हां, राज्य को व्यक्ति के ऐसे कार्य पर प्रतिबन्ध लगाने का अवश्य अधिकार है जिसके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों पर कोई अवांछित प्रभाव पड़ता हो। उदाहरणार्थ यदि मदिरा-पान एकान्त में हो तो मिल उसके लिए छूट देता है लेकिन सार्वजनिक रूप से यह स्थिति मान्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति जुआ खेलता है, लेकिन उसका सामाजिक प्रभाव नहीं है या नगण्य है तो मिल व्यक्ति के इस कार्य में राज्य द्वारा हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करता। लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने घर में आग लगा ले और दूसरों को ललकार कर कहे कि आप लोग बुझानेवाले कौन होते हैं तो यह कार्य स्वतन्त्रता का नहीं मूर्खता का द्योतक है क्योंकि उसके घर की आग पड़ोसियों का घर भी जला सकती है। सामाजिक क्षेत्र या पक्षवाले कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप करना ही पड़ता है। लेकिन व्यक्तिवादी मिल हस्तक्षेप को वहीं तक उचित मानता है जहां तक उससे असामाजिक कार्यों को रोका जा सके। उसका स्पष्ट मत है कि "मनुष्य को आत्म-रक्षा के समय दूसरे के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का हक है।" मिल यह बताना चाहता था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

सामाजिक और वैधिक अधिकारों तथा दायित्वों पर निर्भर रहती है। सेबाइन महोदय ने मिल के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

"विधान की क्या उचित सीमायें हों, इस बारे में मिल के विचार बहुत स्पष्ट थे। उसने कुछ वास्तविक मामलों पर जिस ढंग से विचार किया उससे यह बात प्रमाणित हो जाती है। उसके निष्कर्ष किसी नियम पर आधारित नहीं थे। वे निर्णय की आत्मनिष्ठ आदतों पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए मिल ने मादक द्रव्यों की बिक्री के निषेध को स्वतंत्रता का अतिक्रमण माना है। लेकिन उसने अनिवार्य शिक्षा को स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं माना है। उसके ये दोनों विचार कुछ असंगत से हैं। इस असंगति को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की शिक्षा उसके निजी व्यक्तित्व की अपेक्षा दूसरे व्यक्तियों पर ज्यादा असर डालती है। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार का व्यापक नियंत्रण स्वीकार करने के लिए तैयार था। उसने इस नियंत्रण की ठीक-ठीक सीमायें नहीं बताईं। मिल का सिद्धान्त चाहे कितना ही अस्पष्ट क्यों न रहा हो, इसका एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह सामने आया कि उसने आर्थिक निर्हस्तक्षेप को त्याग दिया। बेन्थम का कहना था कि विधान स्वभाव से ही खराब होता है और वह कम से कम रहना चाहिए। बेन्थम के इस कथन का वास्तविक आशय जो बेन्थम के लिए था, वह मिल के लिए नहीं रहा था। मिल ने आरम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को छोड़ दिया कि अधिकतम स्वतंत्रता उसी समय संभव हो सकती है जब कि विधान न हो। उसने कहा कि बल-प्रयोग की विधान के अतिरिक्त और भी अनेक विधायें हो सकती हैं। इसका दो परिणामों में से एक परिणाम हो सकता है—या तो विधान को बल प्रयोग कम करने की उदारवादी प्रयोजन के द्वारा नहीं परखा जा सकता या उदारवादी सिद्धान्त का इस तरह विस्तार किया जाना चाहिए कि उसमें वैधिक बल-प्रयोग तथा उस विधि वाह्य बल-प्रयोग के, जो राज्य के निष्क्रिय रहने से उत्पन्न होगा, सम्बन्ध पर विचार हो सके। ग्रीन ने "सकारात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धांत द्वारा इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार किया। जहां तक मिल का सम्बन्ध है, उसने मानववादी आधारों पर सामाजिक विधान की आवश्यकता को स्वीकार किया तथापि, उसने इसकी उचित सीमाओं का निर्धारण नहीं किया।"[1]

मिल के कार्यों की स्वतंत्रता सम्बन्धी उपरोक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। मिल इसी के अनुरूप मनुष्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है—

(१) स्व-सम्बन्धी कार्य (Self-regarding actions)
(२) पर-सम्बन्धी कार्य (Others-regarding actions)

स्व-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं है, जैसे कपड़े पहनना, शिक्षा प्राप्त करना, सिगरेट पीना, पान खाना आदि। स्वसम्बन्धी ऐसे कार्यों को

---

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६६८

व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इनमें राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को स्व सम्बन्धी कार्यों की स्वतन्त्रता न देना उसे पशु बनाना है। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतन्त्रता के अभाव में समाज की प्रगति का खतरा है। मिल के अनुसार, "जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार नवीन आविष्कार है, उसी प्रकार समाज मे भी जीवन और गति का आधार नवीनता मे निहित है। नवीनता (Variety) के बिना जीवन सूना हो जायेगा। अत इस नवीनता की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों मे व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता हो।"

पर-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज अथवा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं और ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि 'निश्चय ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान करके नहीं।' यदि कोई व्यक्ति समाज में अभद्रता फैलाता है, अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे सगठनों का निर्माण करता है जिससे समाज की शाति और सुरक्षा भग हो तो राज्य को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह उसके कार्यों मे हस्तक्षेप करे, लेकिन वहीं तक जहां तक यह हस्तक्षेप व्यक्ति के असामाजिक कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक हो। अपना पूर्ण हित करनेवाले व्यक्तिगत कार्य भी, मिल के अनुसार, राज्य द्वारा प्रतिबंधित हो सकते हैं, जैसे आत्महत्या का कार्य।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्षेत्रो मे विभेद करने के पश्चात् मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को चरित्र निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बताया है। "चरित्र निर्माण मे व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद किया गया सकल्प कार्य रूप मे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो लाभ देता है। बुरी आदतो या क्रियाओ को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रीति से हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परोक्ष रीतियो मे निवारणात्मक उपाय, शिक्षा-प्रचार प्रोत्साहन, चित्र प्रदशन आदि हैं। मिल की योजना के अनुसार मद्य निषेध के लिए कानून बनाकर सफलता प्राप्त नही की जा सकती, और न राज्य को ही मद्यशाला बन्द करानी चाहिए। मद्य निषेध तब सफल होता है जब शराबी मद्यशाला के पास जाकर अपने शीशे-पैमाने फोड दे, आत्म सघर्ष और विचार-मथन द्वारा यह निश्चय कर ले कि उसे शराब छोड देनी है।" मिल प्रथा, परम्परा, सामाजिक रूढियो आदि के नियन्त्रण से भी व्यक्तित्व को मुक्त करना चाहता है क्योंकि इनसे विकास दब सा जाता है। एकात, सीमित, सकुचित समाज कल्याण की भावना के विरुद्ध हैं। मिल ने अनुसधानकर्त्ता तथा आविष्कारक को अधिक श्रेय दिया है क्योंकि वह नव पथ-प्रदर्शक होता है। साराश मे मिल कार्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते समय व्यक्तिगत विभिन्नता तथा विविधता पर जोर देता है। भावहीन समरसता या एकरूपता (Dull and Dead Uniformity) का वह घोर विरोधी है। उसके विचार से प्रगतिशील होने के लिए यह आवश्यक है कि अलग अलग धाराओं का समन्वय करने की सामर्थ्य हो।

मिल की स्वतन्त्रता के मूलभूत लक्षण—मिल ने स्वतन्त्रता की जिस धारणा का प्रतिपादन किया है उसके मूलभूत लक्षणों को, उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर, साररूप मे प्रकट करना विषय की स्पष्टता की दृष्टि

से उचित ही होगा। प्रो० डेविडसन (Prof. Davidson) के अनुसार मिल के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सारांश में इस प्रकार रखा जा सकता है:—

"(क) व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं को उचित स्थान दिया जाय। बौद्धिकता द्वारा इनका पूर्णतः अपहरण नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि बौद्धिकता के महत्व को किसी प्रकार घटाया जा रहा है।

(ख) सार्वजनिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति के दृष्टिकोण को भी समुचित महत्व दिया जाय। इससे मानव-कल्याण में वृद्धि होगी और लोगों को आगे बढ़ने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रोत्साहित करने से जीवन में अपेक्षित विविधता आयेगी और आध्यात्मिक मौलिकता उत्पन्न होगी।

(ग) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध होना चाहिए जिनसे विचार और भाषण स्वातंत्र्य में बाधा पड़ती हो। मिल ऐसे कानूनों को भी हटा देने के पक्ष में है।"[1]

इस प्रकार मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतंत्रता के प्रमुख लक्षण निम्न हुए—

(१) यह नकारात्मक स्वतंत्रता है, विधेयात्मक नहीं। कानून का अभाव ही स्वतंत्रता माना गया है।

(२) मिल द्वारा स्वतंत्रता की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

(३) मिल के मत में समाज से पृथक रह कर व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है। इस तरह उसकी स्वतंत्रता की धारणा समाज की व्यक्तिवादी धारणा पर आधारित है।

(४) मिल ने स्वतत्रता के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनकी उपयोगितावादी आधार पर पुष्टि नहीं की जा सकती, क्योंकि वे उपयोगितावादी सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते है। जब मिल कहता है कि एक व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा सम्पूर्ण मानव जाति के विरुद्ध भी रक्षा की जानी चाहिए तो उसका उपयोगितावादी आधार से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

---

1. *Davidson* writes—"We can safely briefly put the doctrine of Mill under three heads : namely (a) the advocacy of the due recognition of the place and importance of impulse and desire in man, as distinguished from intellect, though in close connection with it the supreme need of amply acknowledging the active and energetic side of the individual's nature. (b) Insistence on the view that spontaniety or individuality is a necessary ingradient in happiness or human welfare. (c) Revalt against the conventionablities of society that hinder or seem to hinder, the development and expression of individuality—against the despostism of social custom."

(५) मिल स्वतन्त्रता को पिछड़े हुए राष्ट्र के लोगों को प्रदान करने के पक्ष में नहीं है।
(६) *राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उद्देश्य के समय स्वतन्त्रता छीनी जा सकती है।*

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना (Criticism of Mill conception of Liberty)—मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की पर्याप्त आलोचना दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्ष की ओर से की गई है। कहा जाता है कि स्वतन्त्रता और उसके पीछे तर्क की दीवार खड़ी करने के प्रयास में मिल स्वतः भावावेश में बह गया है और दीवार उठाने के बजाय नींव ही खोदता रह गया। मिल के स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त की की गई विभिन्न आलोचनाएं संक्षेप में निम्नानुसार हैं—

(१) अर्नेस्ट बार्कर के ये शब्द मिल के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी विचार का खोखलापन सिद्ध करके प्रतिध्वनित होते हैं कि,"मिल उसकी बचत के लिए काफी गुंजाइश छोड़ देने पर भी हमें थोथे स्वातन्त्र्य और काल्पनिक व्यक्ति का ही पैगम्बर लगता है। व्यक्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में उसके पास कोई दर्शन नहीं था। वह समाज की कोई ऐसी पूर्ण कल्पना नहीं कर पाया जिसमें 'राज्य और 'व्यक्ति' के मिथ्या अन्तर अपने आप लुप्त हो जाते।"[1] वास्तव में बार्कर का कथन बहुत कुछ सत्य है। मिल व्यक्ति को समाज से पृथक देखता है और समाज के नियमों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक मानता है, जबकि वास्तविकता यह है कि राज्य के कानूनों का व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं होता। राज्य के कानून तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सम्भव बनाने में सहायक होते हैं।

(२) मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का लम्बा और सैद्धान्तिक उपदेश दिया है, उसका कोई आधार स्पष्ट नहीं करता। यह तो ठीक है कि व्यक्ति की आत्म विषयक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और बहुमत या किसी अन्य को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। पर ऐसा क्यों ? व्यक्ति को आत्मा के क्षेत्र में, अभिव्यक्ति के क्षेत्र में, अपने व्यवसाय या अभिरुचियों के चुनाव समाज की समकक्षता में हो क्यों अधिकार मिलने चाहिए ? मिल अपने निबन्ध में इन प्रश्नों का सही उत्तर नहीं देता।

(३) मिल ने अपनी स्वतन्त्रता का कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया है। केवल तर्कों पर स्वतन्त्रता का स्थाई आधार नहीं प्राप्त किया जा सकता। मिल की स्वतन्त्रता का आधार उपयोगिता है, लेकिन उसमें उत्तर-

---

1. 'Yet when all these allowances are made it still remains true that Mill was the prophet of an empty liberty and an abstract individual He had no clear philosophy of the rights, through which the conception of liberty attains a concrete meaning *He had no clear idea of that social* ... 'State' and

)14, Page 10

दायित्व का अभाव है। कोई अधिकार बिना दायित्व के नहीं हो सकता। मान लिया कि निजी क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण अधिकार दे दिया जाय लेकिन यदि इस क्षेत्र में व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जो दूसरों को हानिकारक सिद्ध हो तो इसका उत्तरदायित्व किस पर तथा किस प्रकार निश्चित किया जायगा? स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व के अभाव में स्वेच्छाचारिता हो जाती है। मिल इस बात का कोई उत्तर प्रस्तुत नहीं करता कि यह कौन और किस प्रकार देखेगा कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र में ही अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा है।

(४) मिल ने व्यक्तियों के स्व-सम्बन्धी व पर-सम्बन्धी कार्यों में जो भेद बताया है वह अवैज्ञानिक है एवं उसमें तथ्य की प्रधानता का अभाव है। यथार्थतः व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिसका प्रभाव केवल मात्र उसी पर पड़े और समाज के अन्य सदस्य उससे अप्रभावित रह जाये। तथ्य तो यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का एक सामाजिक पहलू होता है और ऊपर से पूर्णतः व्यक्तिगत दिखाई देनेवाले कार्य भी समाज के अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं।

(५) मिल के विचारों का एक बड़ा दोष यह है कि वह असामान्य, सनकपूर्ण चिंतन को अनावश्यक महत्व देता है। वह झक्कियों और सनकियों को स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है। सनकी व्यक्ति अथवा उनके साथी विक्षिप्त होने के साथ विकृत मस्तिष्क के भी होते हैं। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दे दी गई तो समाज में संगत (Social harmony) का अभाव हो जायेगा।

(६) मिल के अनुसार व्यक्ति के वे सब कार्य जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और जिनसे किसी का अहित होता है, प्रतिबन्धित हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकार तो राज्य व्यक्ति के सभी कार्यों को पर-सम्बन्धी सिद्ध करके उन पर हस्तक्षेप कर सकता है। प्रो० लंकास्टर के शब्दों में, "In view of the fact that those complecated situations are the typical ones, Mill's liberty is of the little help."

(७) दार्शनिक और बौद्धिक पक्ष से मिल का यह विचार उचित नहीं है कि बिना तर्क और अनुभव के कोई सत्य स्वीकार नहीं करना चाहिए। यह तो एक घोर संशयवादी की स्थिति है जो 'मैं हूं या नहीं हूं'— इस द्वन्द्व में ही तर्क रहता है। संसार में ऐसे अनेक क्षेत्र और विषय हैं जहां तर्क की अपेक्षा श्रद्धा या विश्वास ही उपयुक्त रहता है। यह भी देखा जाता है कि "तर्क-वितर्क में उलझनेवाले कुतर्क ही करते हैं और व्यर्थ के वितन्त्रवाद में अपनी शक्ति क्षीण करते हैं। मिल यह भूल जाता है कि यदि दिन प्रतिदिन की छोटी-छोटी बातें भी तर्क की कसौटी पर रखी जायेंगी तो उनसे कलह, विवाद एवं मनोमालिन्य बढ़ने की ही अधिक सम्भावना होगी।

(८) मिल स्वतन्त्रता को शशि समझता है। किन्तु वास्तव में उसके विचार बड़े त्रुटिपूर्ण हैं क्योंकि स्वतन्त्रता के अनेक पहलू हैं जो अनेक स्थलों पर परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। मिल इन्हें देखने में सक्षम नहीं हो सका।

(९) मिल का यह कथन है कि पिछड़े देश के लोगों को स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए, अप्रजातान्त्रिक है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। केवल मात्र पिछड़ेपन के आधार पर ही किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसरों से वंचित कर दिया जाना सर्वथा अनुचित है।

(१०) मिल समाज में नवीनता का पुजारी है। वह मानता है कि समाज जिन्हें झक्की और सनकी समझता है, वे विद्वान और दार्शनिक होते हैं। नि सन्देह कुछ उदाहरणों में मिल का यह दृष्टिकोण सत्य सिद्ध हो सकता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह सर्वत्र ही सत्य है। सनकीपन को हम दार्शनिकता की निशानी नहीं कह सकते।

(११) मिल की स्वतन्त्रता नकारात्मक है, विधेयात्मक नहीं। उसके अनुसार *मानवीय विकास के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को हटाना* ही स्वतन्त्रता है। किन्तु स्वतन्त्रता की इतनी सीमित परिभाषा उसके महत्व को घटाती है।

(१२) मिल के द्वारा प्रतिपादित कार्य सम्पादन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। वह मानवीय चरित्रों की भिन्नता को ही सामाजिक विकास का मापक मानता है। लेकिन तथ्य यही है कि सामाजिक प्रकृति का मापक उसके सदस्यों की चारित्रिक उच्चता है अत मिल की निषेधात्मक एव ''यदमाव्य' की नीति के स्थान पर नागरिकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाना श्रेयस्कर है।

यद्यपि मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपरोक्त अनेक आलोचनायें की गई हैं लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि मिल की *'स्वतन्त्रता'* बिल्कुल ही पोली है। मिल की कल्पना मनोरंजक और प्रभावक है। व्यक्तिवाद के पक्ष में एक ही महत्वपूर्ण दलील मिल के ग्रन्थ के रूप में है। मिल के स्वतन्त्रता के दर्शन ने व्यक्तिवाद के विकास और उसकी उन्नति में बड़ा गहरा योग दिया है। स्वतन्त्रता की भावना आज न केवल विचार, भाषण, कार्य तक ही सीमित है बल्कि उसका विशदीकरण हो गया है। अन्त करण का स्वतन्त्रता धार्मिक-सास्कृतिक स्वतन्त्रता, वैचारिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति-जीवन की स्वतन्त्रता, सवैधानिक उपचारों की व्यवस्था आदि की कल्पना आज रीति से साकार हो गई है। मिल का नाम लोकतान्त्रिक जगत में तब तक सम्मान का अधिकारी रहेगा जब तक ससार 'व्यक्ति' को मान्यता देता रहेगा। मिल सही लोकतन्त्र के आधार-स्तम्भों में है। उसने लोकतन्त्र में यह शोध किया कि बहुमत भी निरकुश हो सकता है। उसकी *यह खोज बहुत बड़ा व्यावहारिक* महत्व रखती है। पुन. 'जिस *स्वतन्त्रता* की वह सराहना करता है वह *केवल नकारात्मक नहीं है बल्कि एक बहुत बड़ा विधेयात्मक आदर्श है।* मिल को राज्य और उसके सगठन से शिकायत नहीं है बल्कि उसके नागरिकों की दासतापूर्ण तथा असहिष्णुता की भावना से है। उसका आदर्श ऐसे राज्य की माग करता है जिसके नागरिक वास्तविक व्यक्ति हों, जिन्हें अपने व्यक्तित्व तथा विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करते हो। *मिल समाज के सामने मित्रता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श रखता* है, जहा मित्रों में मित्रता होती है परन्तु वे एक दूसरे के अन्तरों का सम्मान

करते हैं। यह एक आध्यात्मिक आदर्श है। इसकी प्राप्ति मनुष्य के अध्यात्मिक विकास से ही सम्भव है।"[1]

मैक्सी (Maxey) का यह विचार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि "मिल का विचारों की तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता के विषय में अध्याय राजनीति-साहित्य में बहुत उच्चकोटि का अध्याय है। यह अध्याय मिल की गणना मिल्टन, स्पिनोजा, वॉल्टेयर, रूसो, पेन, जैफरसन तथा स्वतन्त्रता के अन्य महारथियों में करता है। जिन विचारों को हम दबाना चाहते हैं, उनके विषय में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वे विचार सर्वथा गलत हैं और यदि इस बात का निश्चय भी हो जाये तो भी उन विचारों को दबाना बुरा है। वाद-विवाद पर कोई भी प्रतिबन्ध लगाना अपनी दुर्बलता को प्रकट करता है। जो व्यक्ति किसी विषय में केवल अपने दृष्टिकोण को जानता है, उसे उस विषय का पूर्ण ज्ञान कभी नहीं हो सकता। यदि मानव समाज के नेता किसी विषय का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें व्यक्तियों को लिखने तथा अपने विचारों को प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये। हमको सुकरात (Socrates) का उदाहरण याद रखना चाहिये जिसके विचारों तथा उस समय के अधिकारियों और जनमत के बीच बहुत अधिक विरोध था। उस समय सुकरात का वध किया गया, परन्तु बाद को उसके विचारों की स्वतन्त्रता से विश्व प्रभावित हुआ।"[2]

---

1. "The liberty he praises....is no more negation. It is a very positive idea. His complaint is not against the state and its organisation, but against the servile and intolerant spirit of its citizens. His ideal demands a state whose members are really individuals, proud of their individuality and variety, and respecting personality in themselves and in their neighbours....Mill seems to be holding up to society the highest ideal of friendship, where friends are different and respect each other's differences. Now this is a spiritual idea, and its attainment is only possible through the spiritual development of men."

—*Lindsay* : Introduction to Utilitarianism, Liberty and Representative Government Page XVIII, Introduction

2. "Mill's chapter on freedom of thought of discussion is one of the finest things on that subject in the annals of political literature, fully equalling the heights attaind by Milton, Sopinoza, Voltaire, Rousseau, Paine, Jefferson and other doughty champions of liberty to think and speak. Hearken to these off quoted aphorisms : ' 'We can never be sure the opinion we are endeavouring to stifle is a false opinion; and if we were sure, slifling it would be an evil still'. 'All silencing of discussion is an assumption of infallibility.' Judgment is given to men that they may use it. Because it may be used erroneously are men to be told that they ought not to use it at all?' 'He who knows only his own side of the case, knows little of that'. 'Popular opinions, on

मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception on the State)

उपयोगितावाद की परिभाषा और स्वतन्त्र सिद्धान्त की व्याख्या में मिल द्वारा संशोधन किये जाने का एक परिणाम यह भी हुआ कि उसकी राज्य सम्बन्धी धारणा में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यहां यह उल्लेखनीय है कि मिल ने जिस चीज के लिये समाज शब्द का प्रयोग किया उसके लिए हम राज्य शब्द का प्रयोग करेंगे। मिल का विश्वास था कि राज्य मानव-इच्छा का परिणाम अधिक है, स्वार्थ का नहीं। वह बेंथम की धारणा के विपरीत यह स्वीकार करता था कि राज्य के यांत्रिक सिद्धांत (Mechanistic Principles), यदि वे मानव इच्छा या मानव व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हैं तो अधूरे हैं। *मिल उन लोगों के जो राज्य और उसकी* संस्थाओं को एक स्वाभाविक संस्था मानते हैं तथा उन लोगों के जो उन्हें एक आविष्कार एवं मानव-प्रयास का फल समझते हैं, बीच का मार्ग ग्रहण करता है। वह यह विश्वास व्यक्त करता है कि राज्य का विकास हुआ है लेकिन यह विकास जड वस्तुओं की भांति नहीं है बल्कि चेतन वस्तुओं की भांति है। मिल की धारणा है कि राज्य की उत्पत्ति ही मानव-हित के लिए हुई है क्योंकि जितने भी राजनैतिक संगठन हैं उन सब की उत्पत्ति सार्वजनिक कल्याण के लिए हुई है। वह कहता है—

प्रत्येक सवास अपने अस्तित्व की प्रत्येक अवस्था में अपना वर्तमान स्वरूप मनुष्य के स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करते हैं। इसी कारण अन्य वस्तुओं की भांति इनको भी मनुष्य द्वारा ही बनाया जा सकता है वह चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यह मनुष्य की दक्षता और बुद्धि के प्रयोग पर निर्भर करता है।"[1]

---

subjects not palpable to sense, are often true, but seldom or never the whole truth.' 'The fatal tendency of mankind to leave off thinking about a thing when it is no longer doubtful, is the cause of half their errors ' If the teachers of mankind are to be cognisant of all that they ought to know everything must be free to be written and put without restraint ' 'Men are not more jealous for truth than they often are for error, and a sufficient application of legal or even of social penaltions will generally succeed in stopping the propagation of either.' Mankind can hardly be too often reminded that there was once a man named Socrates, between whom and the legal authorities and public opinion of his time there took place a memorable callision ' "

1 "In every stage of their existence they are made what they are by human voluntary agency Like all things, therefore, which are made by man, judgement and his skill may have been exerc sed in their production, or the reverse of these "
—*Mill*

आगे चलकर वह पुनः कहता है—

"इसके विपरीत हमें याद रखना चहिये कि राजनैतिक यंत्र स्वयं अपने आप कार्य नहीं करता। जैसे इसका पहली बार मनुष्यों और सदैव साधारण मनुष्यों द्वारा निर्माण किया जाता है उसी प्रकार उन्हीं के द्वारा इसे चलाया भी जाता है। उनके चुप रह जाने से नहीं बल्कि उनके सक्रिय भाग लेने पर ही यह चलता है। अतः इस राज्य को उन व्यक्तियों के गुणों और शक्तियों के अनुकूल ढाला जाना चाहिये जो इसे चलाने के लिये प्राप्त हों।"[1]

राजनैतिक संस्थाओं के निर्माण में मानव-इच्छा कहां तक सहायक है इसका स्पष्टीकरण अथवा आभास हमें मिल के इन शब्दों से मिलता है कि— "एक विश्वासवाला व्यक्ति एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जो निन्यानवे कोरे स्वार्थी व्यक्तियों के बराबर है।"

मिल राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालता है। जैसा कि हम बता चुके हैं, वह राज्य के हस्तक्षेप को व्यक्तियों के कार्यों में एकदम बन्द नहीं करता बल्कि उसका कहना है कि व्यक्ति के विकास की कुछ स्थितियों में राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। वह कहता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नहीं है, क्योंकि जीवन संघर्ष में सभी व्यक्ति समाज में समान नहीं हैं। यदि राज्य सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखमय बनाना चाहता है, आत्म-विकास की सुविधायें प्रत्येक को देना चाहता है तो राज्य को समाज में व्याप्तताओं तथा विषमता एवं भिन्नता को दूर करना चाहिए। वह चाहता है कि भूमि, उद्योग, ज्ञान आदि पर थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार न रहे। मिल के इन विचारों से यह लगता है कि एक समाजवादी न होते हुए भी उसके हृदय में समाजवाद के प्रति कुछ सहानुभूति विद्यमान है। लेकिन साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उसे उग्र समाजवादी से, जो भूमि के राष्ट्रीयकरण का समर्थक हो, कोई सहानुभूति नहीं है। सम्पत्ति का पक्षपाती वह इतना दृढ़ नहीं था कि जितना कि बेंथम थे। सकारात्मक राज्य में विश्वास होने के कारण मिल की यह धारणा थी कि राज्य को कुछ नैतिक कार्य करने पड़ते हैं। उसका कहना था कि राज्य का संविधान ऐसा होना चाहिये जिसमें कि नागरिकों के सर्वोत्तम नैतिक एवं बौद्धिक गुणों का विकास हो सके। राज्य का सविधान व्यक्ति के विकास के अनुकूल होना चाहिये। मिल राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का समर्थक था और इसे स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं मानता था। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य और कल्याण की दृष्टि से व्यापार एवं उद्योगों पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए तैयार था, यद्यपि उसने उस नियन्त्रण की ठीक ठीक सीमाएं

---

1. "On the other hand, it is to be borne in mind that political machinery does not act of itself. As it is first made so it has to be worked by men and ever by ordinary men. It needs not their simple acquiescence but their active participation and must be adjusted to the capacities and qualities of such men as are available."

—*Mill* : Representative Government, ch. I.

नहीं बनाई। वह कारखानों के लिए कानूनों, कम से कम जहाँ तक बच्चों का सम्बन्ध है, कार्य के घण्टों की सीमा आदि का समर्थन करता था। इस प्रकार उसने राज्य के आर्थिक निर्हस्तक्षेप को त्याग दिया था अथवा दूसरे शब्दों में वह समाज के आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप करने के अधिकार को मानता था। मिल के राज्य का विधेयात्मक राज्य का स्वरूप हम उसकी संविधान की परिभाषा से भी स्पष्ट होता है। उसके अनुसार 'संविधान एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की बुद्धि तथा ईमानदारी के सामान्य स्तर पर लाया जाता है और समाज के अधिक बुद्धिमान सदस्य को शासन के कार्य में लगाया जा सकता है और उनको उसमें उससे कहीं अधिक प्रभाव प्रदान किया जाता है जो अन्य किसी संगठन में हो सकता है।"

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मिल राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक दोनों कार्य बताता है। राज्य का रचनात्मक कार्य यह है कि वह एक स्वस्थ स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण करे जिसमें विचार मथन, सत्यान्वेषण, अनुभव वृद्धि चरित्र-निर्माण आदि की क्षमता हो। राज्य का निषेधात्मक कार्य है व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबन्ध लगाना। मिल सामाजिक अव्यवस्था, अराजकता अशांति आदि के समय में राज्य के हस्तक्षेप को न्यायपूर्ण और सामाजिक बताता है। वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यों की मर्यादा भंग होने पर भी राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उदाहरणार्थ मिल के अनुसार राज्य का यह कर्त्तव्य है कि यदि कोई मध्य रात्रि में माइक्रोफोन पर गाना चालू करदे या ऐसी ही कोई अन्य बात करे जिससे कि छात्रों की पढ़ाई में बाधा उपस्थित हो, तो उसे ऐसा कार्य करने से रोके। वह युद्ध उपद्रव, आर्थिक-राजनीतिक संकट अथवा किसी आपात स्थिति में लगाये जानेवाले राजकीय प्रतिबन्धों को उचित मानता है।

संक्षेप में मिल के अनुसार राज्य को केवल निम्नलिखित कार्यों से अपना सम्बन्ध रखना चाहिये—

(१) राज्य बाह्य अथवा आन्तरिक आक्रमण से देश-रक्षा के लिये फौज रखे।
(२) सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था रखने के लिए पुलिस रखे।
(३) अत्यन्त उपयोगी एवं कम से कम कानून बनाने के लिए विधान-मण्डल रखे।
(४) कानून के विरुद्ध जानेवालों को दण्डित करने के लिए न्यायालयों की व्यवस्था करे।
(५) व्यक्ति को उसका महत्व बताये और इसके लिए प्रचार करे।
(६) चेतावनी देने या आगाह करने का काम निभाए और इस तरह सम्भावित दुष्परिणामों की ओर संकेत करे।

मिल के मत में उपरोक्त कार्यों को छोड़कर शेष कार्य व्यक्ति अपेक्षाकृत भली-प्रकार कर सकता है। मिल ने जो इस प्रकार का कार्य-विवेचन किया उससे राज्य का दायरा संकुचित बना दिया और कल्याणकारी राज्य की कल्पना विकृत करदी। "अहस्तक्षेप नीति के कारण ही-उपद्रव-आतंक-दमन बढ़े, पूंजीवाद पनपा, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की जड़ें जमीं।

मिल के वक्तव्य में हस्तक्षेप घातक है, अहस्तक्षेप अकर्मण्यता का सूचक है, इसलिए दोनों विकल्प निरर्थक हैं।" वर्तमान युग मे राज्य के कार्यों की सीमा का इतना विस्तार हो गया है कि शायद ही कोई कार्य उससे वच सके।

शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली
(Best Form of Government)

मिल के मतानुसार, शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली वह नही है जो अत्यधिक कुशल हो, अपितु वह प्रणाली है जो नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करन में महत्वपूर्ण स्थान रखती हो और नागरिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान कराने में सर्वसाधारण की सेवा करती हो। मिल के विचार में श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता अथवा पहिचान यह है कि वह जनता के गुणों और वुद्धि का विकास करनेवाली हो। शासन सार्वजनिक कार्य के लिये एक सगठित व्यवस्था का नाम ही नहीं है बल्कि इसका मानव-मस्तिष्क पर उत्तम एवं गहरा प्रभाव भी होना चाहिये। शासन का मूल्य उसके कार्यो द्वारा आंका जाना चाहिये। शासन की सार्थकता मनुष्यों एवं अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभाव से मापी जानी चाहिये। शासन की उत्तमता की यह प्रथम कसौटी है कि हम यह देखें कि वह नागरिकों में मानसिक एवं नैतिक गुणों का कहां तक संचार करता है, उनके चारित्रिक एव बौद्धिक विकास के लिये कितना प्रयास करता है। इन बातों को सर्वश्रेष्ठ रूप मे क्रियान्वित करनेवाली शासन प्रणाली ही 'शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली' है। उत्तम शासन की एक ही कसौटी है और वह है कि उसके द्वारा शासितों में किस मात्रा तक वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से गुण-वृद्धि होती है। केवल प्रशासन के क्षेत्र में शासन की सफलता उसकी उत्तमता का चिन्ह नहीं है।

सभी शासन प्रणालियों का निर्माण और सचालन व्यक्तियों द्वारा होता है। प्रत्येक दिशा में उनकी सफलता उन व्यक्तियो की योग्यता एव भावनाओं पर निर्भर करती है जो उन्हें क्रियान्वित करते हैं। प्रत्येक समाज के लिये विभिन्न प्रकार का शासन उपयुक्त हो सकता है। हम किसी एक ही प्रकार के शासन को सर्वोत्तम नही कह सकते। स्वयं मिल के शब्दों मे, "यह कहने का अर्थ कि सब प्रकार के समाजो के लिये किस प्रकार की शासन प्रणाली उपयुक्त होगी, यह होगा कि राजनीतिक विज्ञान पर एक विशद शास्त्र लिखा जाये।"

मिल की प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception of Representative Government)

मिल के युग में प्रजातंत्रवाद की प्रगति बड़ी मजबूती से हो रही थी। किन्तु शासन की गम्भीर त्रुटियां तथा संसद का उच्चवर्गीय अधिनायकत्व चिन्ता के विषय थे। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रवल समर्थन करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमें व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातांत्रिक नियमों के अनुसार प्रत्येक योग्यता प्राप्त व्यक्ति इसका अवसर प्राप्त कर सके।

मिल ने कहा कि सच्चा प्रजातन्त्र तो वह है जिसमें सभी नागरिक प्रत्यक्ष रीति से शासन-कार्य में भाग लें। उसके अनुसार सर्वोत्तम आदर्श शासन वह है जिसमे सर्वोच्च *नियन्त्रण शक्ति या सम्प्रभुता पूरे समाज की* योगात्मक इकाई मे निहित हो और प्रत्येक व्यक्ति इस सम्प्रभुता के निर्माण मे भाग ही प्रदान न करे अपितु समय आने पर सार्वजनिक पद ग्रहण करके शासन मे भाग ले और अपना कर्तव्य पूरा करे। किन्तु चूंकि यह प्रयोग सम्भव नही है, आज के लम्बे-चौड़े देशो मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नही चल सकता अत मिल की दृष्टि मे सर्वोत्तम शासन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अथवा प्रतिनिधि-मूलक शासन (Representative Government) ही होना चाहिये। यद्यपि यह प्रजातन्त्र भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है, इसमें कितनी त्रुटियां हैं पर मिल का विश्वास है कि शासन का स्वरूप मनुष्य द्वारा ही निर्धारित होता है, अत *"मनुष्य द्वारा बनाई हुई अन्य सभी चीजो की भांति उसको भी अच्छा* बनाया जा सकता है और बुरा भी।" मिल का मत है कि प्रजानन्त्र के दोषों का उपचार और अधिक प्रजानन्त्र है। इसलिये प्रतिनिधि शासन मे वह वर्तमान प्रजातन्त्र के दोषो की कटु आलोचना करता हुआ उनमे सुधार के उपाय बताता है। उसके अनुसार व्यक्ति स्वातंत्र्य का अनिवार्य परिणाम प्रतिनिधि शासन है और राजनातिक जीवन के दोषो को दूर किया जाना सम्भव है। राज्य का शासन जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किया जाना चाहिये।

प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त—मिल ने सरकार की व्याख्या करते हुय बतलाया है कि सरकार वह है जो निम्नलिखित ३ शर्तों को पूरा करे—

(१) वे लोग जिनके लिये ऐसी सरकार का निर्माण किया जाये ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हो या इतने अनिच्छुक न हो कि इसकी स्थापना मे कठिन बाधा पैदा करें।

(२) ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिये जो कुछ भी करना आवश्यक हो उसे करने के लिये वे इच्छुक और योग्य हो।

(३) ऐसी सरकार के उद्देश्यो को पूरा करने के लिये ऐसे लोगो से जो कुछ सरकार चाहे उसे करने के लिये वे उद्यत और योग्य हों। ऐस कार्यों की जो आवश्यक शर्तें हो उन्हें भी वे पूरा करने के लिये तैयार हो।"

एक प्रतिनिधि सरकार में उपरोक्त ३ तत्व तो सम्मिलित हैं ही पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी हैं। प्रतिनिधि सरकार की परिभाषा करते हुये मिल ने लिखा है "प्रतिनिधि सरकार या शासन का अर्थ है कि सम्पूर्ण नागरिक, या उनका अधिकाश भाग समय समय पर स्वय द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाते हैं और शासन की सत्ता, जिसे प्रत्यक शासन मे कही न कही रहना अनिवाय है, अपने नियन्त्रण मे रखते हैं।"[1]

---

1 "The meaning of representative government is that the whole or some numerous portion of them, exercise through deputies periodically elected by themselves the ultimate controlling power which in every constitution must reside somewhere"

—*Mill*

प्रतिनिधि सरकार के तत्व—उपरोक्त परिभाषा के अनुसार मिल की प्रतिनिधि सरकार के प्रमुख तत्व ये हैं—

(१) "सम्पूर्ण या उनकी संख्या के बहुत भाग के लोगों का सहयोग।

(२) सम्पूर्ण या उनकी संख्या के बहुत अधिक भाग के लोगों के हाथ में नियंत्रण शक्ति।

(३) समय-समय पर चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा लोगों का प्रतिनिधित्व।

(४) अंतिम नियंत्रक शक्ति का संविधान मे स्थान और यदि संविधान लिखित न हो तो व्यावहारिक रूप से लोगों द्वारा उसका प्रयोग।

मिल ने उपरोक्त तत्वों में और कुछ अन्य तत्व भी जोड़े है जो इस प्रकार हैं—

(५) "राज्य की सक्रिय राजनीतिक नैतिकता या स्वस्थ परम्पराएं।

(६) वे सभी तत्व जो एक अच्छी सरकार में हों (जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।)

(७) अंगों में कार्यों का बंटवारा,

(८) एक सगठित विरोधी दल

(९) आनुपातिक प्रतिनिधित्व

(१०) सार्वजनिक मताधिकार।"

एक प्रतिनिधि सरकार को सही रूप में प्रतिनिधित्व करनेवाली सरकार बनाये रखने के लिये मिल ने उसके पीछे उदारवादी समाज के निर्माण की आवश्यकता बतलाई। उसका मत है कि यदि जनता लापरवाह है और अपनी भूमिका अदा करने की दृष्टि से उदासीन है तो सर्वोत्तम प्रशासकीय मशीनरी से भी संभवत: कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसलिये मिल का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि जनमत को हमेशा सतर्क रहना चाहिये तथा सरकार पर अपना नियंत्रण बनाये रखना चाहिये। सेवाइन के अनुसार, "व्यक्ति और सरकार के बीच मिल द्वारा एक उदारवादी समाज के निर्माण की सूझ वास्तव में मिल का अपना अन्वेषण था।" मिल ने ऐसी सही प्रतिनिधि सरकार बनाने में विश्वास प्रकट किया है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित रह सके। उसकी मान्यता थी कि केवल संसद में सही प्रतिनिधित्व से ही काम नहीं चलता। उसमे बहुमत की निरकुशता का भय विद्यमान रहता है। इसलिये अल्पमत की रक्षा के लिये वह पूर्ण सावधानी वरतना चाहता है और सरकार के पीछे एक उदारवादी समाज का नियत्रण आवश्यक समझता है। वह प्रतिनिधित्व के बारे में भी निश्चित हो जाना चाहता है और सही रूप में समाज के प्रत्येक अंग व व्यवसाय के प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है। वह अल्पमत के सुझावों को केवल इसीलिये अस्वीकार करने के पक्ष में है कि उनके सुझाव सही रूप में लोगों का प्रतिनिधित्व नही करते। मिल ससद में संगठित विरोध के पक्ष में है क्योंकि ऐसा न होने पर सरकार सही रूप में प्रतिनिधित्व न करके बहुमत के बल पर निरकुश हो जायगी। प्रशासकीय अंग अथवा कार्यपालिका की निरंकुशता पर अंकुश रखने के लिये वह एक सजग एवं सतर्क व्यवस्थापिका चाहता है जो कार्यपालिका के कार्यों का खुलकर प्रचार व

आलोचना करे और जरूरत पड़ने पर अविश्वास प्रस्ताव पास करके उसे भंग करने में भी सक्षम हो। मिल ने लिखा है —

"प्रतिनिधि सभा (पार्लियामेंट) वह है जिसमें राष्ट्र की सामान्य राय का ही प्रतिनिधित्व नहीं बल्कि उसके प्रत्येक अंग की राय का प्रतिनिधित्व हो सम्भवतः राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य व्यक्ति के विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो, जहां विचारों में स्वच्छन्द वादविवाद और उनका मन्थन हो, जहां देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों के सही प्रतिनिधित्व के लिये उपयुक्त वक्ता प्राप्त कर सके, जहां लोगों के विरोधों को केवल अनिच्छा के कारण न ठुकराकर विवेकपूर्ण और अधिक तार्किक और सही विचारों के आधार पर बहुमत का पक्ष प्रस्तुत कर चुनौती दी जाय, जहां राष्ट्र का प्रत्येक दल या जनमत अपनी अपनी शक्ति का पूरा उपयोग कर सके और सही या गलत विचारों की परख करने का अवसर प्राप्त कर सके जहां राष्ट्र के स्वीकृत विचार प्रत्यक्ष रूप में सरकार के सम्मुख अपनी उत्कृष्टता की अभिव्यक्ति कर सकें जहां सरकार को उसकी त्रुटियों के लिये झुकाया जा सके और सरकार बिना अपनी शक्ति का प्रयोग किये अपदस्थ होना स्वीकार करे • जहां प्रत्येक प्रतिनिधि सही रूप में ईमानदारी के साथ चुना गया हो ।"

संसद में प्रतिनिधि के स्थान या स्थिति के विषय में मिल के विचार बर्क के समान हैं। वह प्रतिनिधि को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) मात्र नहीं मानता। उसके अनुसार प्रतिनिधि तो एक स्वतन्त्र पथ प्रदर्शक और शिक्षा देनेवाली शक्ति होनी चाहिए। यदि उसे अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं पर विजय प्राप्त करने के लिए किन्हीं छोटी छोटी समस्याओं पर अपने विचारों को छोड़कर समझौता करना पड़े तो उसे निर्भीक रूप से अपनी सम्मति प्रगट कर देनी चाहिए। 'प्रतिनिधि शासन प्रणाली का प्रमुख दोष झूठी प्रतिज्ञाएं करना होता है,' और मिल इस दोष को दूर करना चाहता है।

प्रतिनिधि सरकार के कार्य (Functions of the Representative Government)—प्रतिनिधि शासन प्रणाली के अन्तर्गत सरकार के कार्यों की व्याख्या करते हुए मिल ने कहा है कि 'निर्वाचित प्रतिनिधि परिषद् का कार्य, शासन का नियन्त्रण तथा निरीक्षण मात्र है। सक्रिय रूप से कानून–निर्माण या शासकीय कार्य इस परिषद् को नहीं करना चाहिए।' प्रतिनिधि सरकार के जो मुख्य कार्य मिल ने बताये हैं वे निम्नानुसार हैं—

(१) मिल के अनुसार प्रतिनिधि शासन का कर्त्तव्य व्यक्तियों के विकास के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करना है। इस तरह के वातावरण में व्यक्ति को सत्य को शोधकर तदानुकूल अपने विचारों का निर्माण करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मिल का मत था कि इतनी सुविधाएं मिलने पर ही चरित्र का निर्माण हो सकता है।

(२) अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासन द्वारा ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिए जो इस प्रकार के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर सकें जिसमें रहकर व्यक्तियों का चारित्रिक उत्थान सम्भव हो सके।

(३) किन्तु इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम होना चाहिए क्योंकि कानून व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते है। शासन को अधिक कानून बनाकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जीवन के अधिकांश पहलू सरकार के विनियमों से मुक्त ही रहने चाहिए। विधि-निर्माण का कार्य विधायिका सभा (अथवा प्रतिनिधि सभा) को दिया जाना चाहिए।

(४) प्रतिनिधि सभा को इन महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना चाहिए, सरकार के ऊपर निगाह एवं पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए, सरकार के कार्यों पर प्रकाश डालना, उसके आपत्तिजनक कार्यों की समीक्षा करना एवं उनका औचित्य सिद्ध करना, विश्वासघात शासक-गणों को पद-च्युत करके उनके उत्तराधिकारियों को नियुक्त करना, सरकार के हेय कार्यों की निन्दा करना आदि। इसके अतिरिक्त सभा में अथवा संसद में जनता की या इसके किसी वर्ग की शिकायतों पर विचार विमर्श एवं वाद-विवाद भी हो सकते हैं। सार रूप में मिल के अनुसार संसद का कार्य है वाद-विवाद करना, विचार-विमर्श करना एवं शासन को जनमत से अवगत रखना। मिल ही के शब्दों में, "प्रशासकीय कार्यों में प्रतिनिधि सभा का समुचित कर्त्तव्य यह नहीं है कि वह अपने द्वारा निर्णय करे, बल्कि यह सावधानी रखना है कि जो व्यक्ति किसी भी मामले का निर्णय करे वे योग्य हों।"[1] मिल को आशा थी कि इस प्रकार नौकरशाही द्वारा शक्ति के दुरुप-योग को रोका जा सकता है।

(५) मिल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन किया है कि निर्वाचित संसद का प्रशासन के ऊपर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण होना चाहिए। वह एक ओर कुशलता और क्षमता चाहता है तथा दूसरी ओर साथ ही जन-आलोचना भी। इसलिए प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार संसद को देकर और स्थायी कर्मचारियों को मंत्रियों के अधीन रख कर वह लोकतंत्र एव शासनकुशलता का सम्मिश्रण करना चाहता था। मिल का कहना था कि—

"प्रतिनिधि निकायों के कार्यों को इन विवेक-सम्मत सीमाओं के अन्तर्गत रखकर लोकप्रिय नियन्त्रण का लाभ उठाया जा सकता है और साथ ही साथ उतनी ही महत्वपूर्ण कुशल व्यवस्थापन तथा प्रशासन की प्राप्ति भी की जा सकती है। इन दोनों को मिलाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि नियन्त्रण एवं आलोचना के पद को वास्तविक प्रशासन के पद से अलग रखा जाय और पहले को जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप दिया जाय तथा दूसरे को विशेष ज्ञान एव कुशलता प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखा जाय—उनके लिए जो राष्ट्र के प्रति पूरी तरह उत्तरदायी हों।"

---

1. 'The proper duty of a representative assembly in matters of administration is not to decide them by its own vote, but to take care that the persons who have to decide them shall be the proper persons".

निर्वाचन के विषय में मिल के विचार (Mill's Views on Election)—प्रतिनिधि सरकार का निर्माण निर्वाचनों द्वारा ही होता है, इसलिए मिल ने प्रतिनिधि शासन पर अपने विचार व्यक्त करते समय निर्वाचनों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मिल का मत है कि निर्वाचन पद्धति इस तरह की होनी चाहिये कि सरकार के सचालन मे सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और क्षमताशील व्यक्ति ही पहुँच सके। *योग्य व्यक्ति ही शासन का सचालन भली* प्रकार कर सकते हैं। मिल ने एक स्थान पर लिखा है, "*क्योंकि* किसी भी सरकार का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह अपने नागरिकों का बौद्धिक तथा नैतिक विकास करने मे सहायक हो, इसलिए एक अच्छी और बुद्धिमान सरकार का इस बात का पूर्ण प्रयास करना चाहिये कि सामाजिक जीवन के सचालन पर उसके सबसे अधिक बुद्धिमान सदस्यो की बुद्धि और सदाचार का प्रभाव पड़े।"

मिल ने बॅथम के इस विचार से असहमति प्रकट की कि निर्वाचन वार्षिक होने चाहिये और ससद के सदस्य जनता के प्रत्यायुक्त (Delegates) समझे जाने चाहिये। मिल की मान्यता थी कि श्रेष्ठतर बुद्धि के लोगो को कम प्रतिभाशाली जनता के अधीन रखा जाना, उचित नही है। डायल के शब्दो मे "उसका (मिल का) राजनैतिक सिद्धात हर जगह मानव-विषमता एवं योग्यता की विविधता से परिपूर्ण था। हर जगह वह व्यक्तियों की अज्ञात शक्तियो के विकास की पुकार करता था। वह *स्थानीय शासन के प्रसार* की माग करता था ताकि अधिकाधिक व्यक्तियों पर उत्तरदायित्व आ सके, वे नवीन भावनाओं को धारण कर सकें और उनकी आतरिक शक्तियों का विकास सम्भव हो। *बॅथम* की आधारभूत धारणाओ एवं उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त से मूल रूप से मतभेद रखता था।"[1]

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे महत्वपूर्ण सुझाव रखे जिनसे शासको का चुनाव अज्ञानी एव विवेकहीन जनता के हाथो मे न पड सके और साथ ही जिनसे सामूहिक साधारण बुद्धि के द्वारा शासन के दोष भी कम हो जावें। मिल ने इन्ही उद्देश्यो को सामने रखते हुए आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और बहुकल मतदान (Plural Voting) का सुझाव दिया। मिल को आशा थी कि "आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा *एक उम्मीदवार के लिये आवश्यक सद्गुणो को समुचित महत्व मिल सकेगा* और विवेकहीन जनता के बहुमत के कुछ दोष दूर हो सकेंगे।" आनुपातिक

---

1 "Everywhere his political theory was penetrated with the idea of human inequality and variety of ability Everywhere he urged development of unknown capacities of individuals He advocated *an extension of local government* in order to place such responsibility on an increasing number of people that they might respond to the new stimulus and develop their latent abilities Mill had diverged fundamentally from Bentham's premises and his theory of the state."

—*Doyle*, A History of Political Thought, Page 262

प्रतिनिधित्व के लिये मिल ने सुझाव दिया कि कुल मतदाताओं की संख्या में संसद की प्रतिनिधि संख्या का भाग देकर मतों की एक औसत संख्या निकाल लेनी चाहिये और मतों की एक ऐसी सख्या निर्धारित कर देनी चाहिये जिसके प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई प्रत्याशी संसद का प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सके।

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी जो महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं उन्हें स्पष्टता की दृष्टि से हम निम्नानुसार प्रकट कर सकते हैं—

(१) मिल ने कहा कि मताधिकार एक ऐसा महत्वपूर्ण अधिकार है जो सभी को प्रदान नहीं किया जाना चाहिये। प्रजातंत्र को सबसे बड़ा खतरा अनपढ़ और मूर्ख व्यक्तियों से है। अतः यह आवश्यक है कि मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को मिले जो किसी निश्चित सीमा तक शैक्षणिक योग्यता रखते हों। केवल वयस्क हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता। मिल के शब्दों में, 'मैं इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि किसी ऐसे व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जो लिखना, पढ़ना और सामान्य गणित भी न जानता हो।"[1] मिल का तो यहां तक कहना था कि—"उचित तो यही होगा कि लिखने, पढ़ने और साधारण ज्ञान के अतिरिक्त मतदाता को भूगोल, इतिहास और राजनीति का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिये।"

(२) मताधिकार प्रदान करने में लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये। मिल महिला-मताधिकार (Right of Vote to Woman) की वकालत करनेवाले सर्वप्रथम कोटि के विचारकों में से है। मिल को यह बहुत अन्यायपूर्ण लगता था कि महिलाओं को मत देने के अधिकार से वंचित रखा जाय। उन दिनों ग्रेट-ब्रिटेन में नारी का स्थान घर की चारदीवारी तक ही सीमित था। मिल नारी को समाज में वही स्थान दिलाना चाहता था जो पुरुषों को प्राप्त थे। उसने बतलाया कि महिलाओं की अयोग्यता किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नहीं है—बल्कि यह उनकी सदियो की दासता का परिणाम है। उसने कहा, "नारी और पुरुष में कोई अन्तर है भी तो पुरुष की अपेक्षा नारी को मत देने के अधिकार की आवश्यकता अधिक है क्योंकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना में निर्वल होने के कारण उसे रक्षा के लिये कानून और समाज पर निर्भर रहना पड़ता है।"[2] मिल के इन विचारों पर मिसेज टेलर का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मिल के तर्क अकाट्य थे और इस कारण उनका पर्याप्त असर भी हुआ।

---

1. "I regard as wholly inadmissible that any person should participate in sufferage, without being able to read, write and, I will add, perform the common operation of arithmetic".

2. "If there be any difference, women requires the right of vote more than men, since being physically weaker, they are dependent on law and society for protection."

(३) मिल ने कहा कि निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं बहुवल मतदान के आधार पर होना चाहिये। बहुवल मतदान (Plural Voting) की सिफारिश मिल ने इसलिये की कि शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना मे यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर का अनुपात तो मिल ही सके।

(४) मिल ने कहा कि विद्वान व्यक्ति को मूर्ख से अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिये। उसके अनुसार प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाच मत देने का अधिकार उचित है। उसने समाज को वर्गों में विभक्त करके यह भी निश्चय कर दिया कि किस वर्ग को कितने अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिये।

(५) मिल ने गुप्त मतदान का विरोध करते हुए खुले मतदान को उचित समझा है। उसके मतानुसार मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है *जिसका प्रयोग बड़ी बुद्धिमता एवं समझदारी से किया जाना* चाहिये। जब यह बुद्धिमता और समझदारी से किया गया एक पवित्र कार्य है तो इसमे गोपनीयता रखना 'किसी गुप-चुप किये जाने वाले अनुचित कार्य' के समान है।

(६) मिल ने यह सुझाव रखा कि "ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जो बौद्धिक दृष्टि से योग्य हो, अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्ता हों, जिन्होंने अपने कार्यों के कारण थोडी बहुत प्रसिद्धि हर जिले मे प्राप्त कर ली हो पर किसी *राजनैतिक दल के सदस्य न हो, वे एक ही क्षेत्र मे चुनाव लड़ने के लिये* असमर्थ हो तो उनका चुनाव पूरे राज्य मे होना चाहिये और यदि राज्य भर के मतो की सख्या प्रतिनिधित्व को आवश्यक मत सख्या के बराबर हो जाय तो उनका चुनाव कर लिया जाना चाहिये।" ऐसा होने से मतदाताओ को विवश होकर ऐसे व्यक्ति को नहीं चुनना पडेगा जिसे किसी राजनैतिक दल ने अपना प्रत्याशी बनाकर खड़ा किया हो पर वह प्रतिनिधि के योग्य न हो। मिल का यह आक्षेप था कि ससद का बहुमत स्थानीय प्रतिनिधियों का बहुमत है और देश के योग्य व्यक्तियों का अल्प मत है। इसीलिये उसका कहना था कि मतों की केवल गणना नही होनी चाहिये, उनका वजन भी होना चाहिये।

(७) मिल ससद की तानाशाही प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने की दृष्टि से द्वि-सदनीय ससद का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त समयाभाव के कारण निम्न सदन पर जो कार्यभार होता है वह उच्च सदन द्वारा हल्का कर दिया जाता है। वह द्वितीय सदन में कुछ सुधार भी चाहता था।

(८) शिक्षा की योग्यता के अतिरिक्त मिल ने इस बात पर भी बल दिया कि मतदाताओं की सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) भी होनी चाहिये क्योंकि सम्पत्तिवान मतदाता सम्पत्तिहीन मतदाताओं से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रयोग करेंगे। मिल के शब्दों में, 'यह महत्वपूर्ण बात है कि कर मना कर लगाती है वह केवल उन्हीं लोगों की बनी होनी चाहिये जो इन करों का भार वहन करेंगे। जो लोग कर नहीं देते और अपने मतदान द्वारा अन्य नागरिकों का धन कम करते हैं उनका व्यवहार

होना स्वाभाविक है, उनके मितव्ययी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में मतदान की शक्ति देना मौलिक सिद्धान्तों का हनन तथा स्वतंत्रता का विरोध होगा।"

मिल के उपरोक्त विचारों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उसने प्रजातंत्र के दोषों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया और उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाने के सुझाव दिये। वह प्रतिनिधि शासन की दुर्बलताओं और खतरों से परिचित था। प्रथम महायुद्ध के बाद लगभग प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र जिस प्रकार कार्य कर रहा है वह मिल के कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। मिल में प्रजातंत्र के प्रति हम यद्यपि इतना अविश्वास पाते हैं और उसका भी यह आग्रह था कि स्वतन्त्रता की भांति ही प्रजातंत्र सभी लोगों के लिये उपयुक्त नहीं है तथापि उसका यह विश्वास उसे प्रजातंत्रवादी घोषित करता है कि जहां भी सम्भव हो सके प्रजातंत्र शासन का सर्वोतम रूप है। मिल प्रजातंत्रवादी था क्योंकि वह उसी शासन को सर्वोत्तम समझता था जिसमें कि सम्प्रभुता अन्तिम रूप से पूर्ण समाज में निहित हो और जिसमें प्रत्येक नागरिक की सर्वोच्च इच्छा को व्यक्त करने तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार हो। मिल इस दृष्टि से भी प्रजातंत्रवादी था क्योंकि उसकी मान्यता थी कि प्रजातंत्र में मनुष्य न केवल अधिक सुखी ही रहता है अपितु वह उसमें अधिक अच्छा भी रहता है।

अपने प्रतिनिधित्व प्रणाली सम्बन्धी विचारों के लिये मिल को राजदर्शन के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मिल के प्रतिनिधि-शासन के विचारों की आलोचना (Criticism of Mill's Conception of Representative Government)—मिल के प्रतिनिधि शासन के बहुत से तत्व, तो अपना लिये गये हैं लेकिन अधिकतर सिद्धान्त व्यावहारिक से अधिक केवल आदर्शवादी हैं और अभी तक अव्यावहारिक ही हैं। अनेक सिद्धान्त तो न्यायोचित भी नहीं हैं। मिल के विचारों की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आलोचनाएं की गई हैं—

(१) मिल द्वारा मतदाता की योग्यता का जो मापदण्ड प्रस्तुत किया गया है यदि उसे लागू किया जाय तो भारत जैसे विशालकाय देश में भी सम्भवत: कुछ ही हजार व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिल सकेगा। यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति इतिहास, भूगोल एवं गणित आदि विषयों का उचित ज्ञान रखता हो।

(२) मिल शिक्षा को ही योग्यता की एक मात्र कसौटी मानता इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा योग्यता के विकास का एक श्रेष्ठ माध्यम है, किन्तु यह भी उचित नहीं है कि अनुभवजन्य योग्यता को कोई महत्व ही प्रदान न किया जाय। व्यावहारिक दृष्टि से तो शैक्षणिक योग्यता के स्थान पर अनुभवजन्य योग्यता ही जीवन में सफलता की अधिक श्रेष्ठ कुंजी सिद्ध होती है। सूर, तुलसी और कबीर को आज के पण्डितों की सी शैक्षणिक डिग्रियां प्राप्त नहीं थी। उनका समस्त ज्ञान अनुभवजन्य था, किन्तु आज के पण्डित और साहित्यकार इन कवियों की रचनाओं के विशाल ज्ञान-सागर में गोता लगाकर भी उनके ज्ञान और पाण्डित्य की पूर्ण थाह नहीं पा सके हैं। तब

मला क्या अनुभवजन्य ज्ञान की उपेक्षा करके केवल शैक्षणिक योग्यता के आधार पर ही मताधिकार किया जाना न्याय संगत है ?

(३) मिल अल्पसंख्यकों के हितार्थ आनुपातिक प्रणाली का प्रतिपादन करता है किन्तु अधिकांशतः एकल संक्रमणीय मत द्वारा ही आनुपातिक प्रतिनिधित्व सम्भव है और यह विधि सामान्य मतदाता के वश की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अन्तर्गत छोटे-छोटे राजनैतिक दलों को अवांछित प्रोत्साहन मिलने से देश में राजनैतिक दलों की संख्या में अनावश्यक बाढ़ आ सकती है और देश का राजनैतिक वातावरण दूषित होने का भय पैदा हो सकता है। राजनैतिक दलों का आधिक्य प्रजातंत्र के लिये उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

(४) मिल द्वारा खुले मतदान का समर्थन किया जाना उचित नहीं है। खुले मतदान के कारण विभिन्न प्रतिरोधी व्यक्तियों में संघर्ष और विरोध का भयंकर श्रीगणेश होने की पूर्ण सम्भावना है। मनुष्य अभी उस दैवी स्तर पर नहीं पहुंच पाया है कि वह खुले रूप में अपना विरोध सह सके अथवा कर सके। सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध खुला मत प्रयोग तो निश्चय ही आपत्ति को नियन्त्रण देना है। प्रत्यक्ष मतदान से अनैतिक सौदेबाजी को भी बढ़ावा मिलेगा क्योंकि लोग जिधर से प्रलोभन पायेंगे उधर ही हाथ उठायेंगे।

(५) मिल द्वारा प्रस्तावित आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली इतनी पेचीदी है कि सर्वसाधारण उसे नहीं समझ सकते। किसी भी बड़े देश में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को न्यायोचित होने पर भी व्यावहारिक रूप देना बहुत कठिन है। मिल ने प्रतिनिधि सरकार के नियन्त्रण के लिये एक उत्तरदायी समाज का निर्माण चाहा है पर उसका निर्माण कैसे किया जाय यह नहीं बताया गया है। संसद में बहुमत की निरंकुशता को नियन्त्रित करने के लिये 'Instructed minority' के प्रशिक्षण की बात भी समझ में नहीं आती।

(६) मिल का यह विचार कि मतों की केवल गणना नहीं की जानी चाहिये बल्कि उनका वजन भी तोला जाना चाहिये बहुत उचित मालूम होता है, पर यह तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा हो, वे स्वार्थी न हों तथा राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया जाय। लेकिन मिल विरोधी दल के संगठन के लिये स्वयं भी राजनीतिक दलों की उपयोगिता समझता है।

(७) मिल संसद के कार्यों को सीमित करके कानून बनाने और प्रशासन करने के उसके अधिकारों को नगण्य बना देता है। इस प्रकार वह संसद को केवल मात्र एक वाद विवाद समिति (Talking shop) बना देता है।

(८) मिल अपने प्रजातन्त्रीय विचारों में असमानता के गीत गाते हुये कहता है कि धनी व्यक्तियों को अनेक मत का अधिकार होना चाहिये। इसी प्रकार वह शिक्षितों का मूर्ख की अपेक्षा अधिक मतदान का अधिकारी बनाता है। मिल यह भूल जाता है कि प्रजातन्त्र का आधार ही 'समानता' है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मिल की प्रतिनिधि शासन प्रणाली अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण एवं प्रजातांत्रिक है तथापि उसमें अनेक प्रजातांत्रिक सुधारों का भी समावेश है। मिल का स्त्री मताधिकार का समर्थन उसकी दूर दृष्टि का परिचायक है। मिल का यह विचार सही ही प्रतीत होता है कि शासन में क्षमता और प्रजातंत्र का सम्मिश्रण भी किया जाना चाहिये तथा केवल योग्य व्यक्तियों को ही शासन के अधिकार मिलने चाहिये। मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि गत पचास वर्षों का इतिहास साक्षी है कि प्रजातांत्रिक देशों में कुछ सुधार आवश्यक है। मिल द्वारा प्रतिपादित यथार्थ को ही अब प्रजातन्त्र का आधार बनाना चाहिये।

मिल का अनुदाय और स्थान
(Mill's Contribution and Place)

राजनीति शास्त्र के जगत में मिल का मिश्रित स्वागत हुआ है। जहां एक ओर उसकी प्रशसा के गीत गाये गये हैं, उसकी पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखी गई, उसे एक दार्शनिक, न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री कह कर पुकारा गया है, वहां दूसरी ओर उसकी भर्त्सना की गई है एवं उस पर आरोप लगाया गया है कि उपयोगितावाद के सरक्षक के रूप में उसने उपयोगितावाद की हत्या की है। उसने प्रजातंत्र में दोषों व कमियों के सिवाय और कुछ नही देखा है। यहां तक कि वैपर और डनिंग जैसे विद्वान ने उसकी 'नारी स्वतंत्रता' सम्बन्धी विचारों का भी विरोध किया है।

यह बहुत कुछ सत्य है कि मिल ने किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, उसके सिद्धान्त में बहुत अधिक संगति-बद्धता नही है, उसके विचारों में बहुत से परस्पर विरोधी तत्व पाये जाते हैं लेकिन क्या इसीलिये वह पूर्णतया आलोचना का पात्र है? मिल की धारणाओं की विशद् आलोचना हम पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में स्थान-स्थान पर कर चुके हैं, अतः हमारे लिये तो अब यह देखना अधिक शिक्षा-प्रद होगा कि उसने जो कुछ लिखा है उसमें सत्य कितना है, उसकी विधेयात्मक देन क्या है और अपने समय पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है। "और यदि लेखकों की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि उनका नीति पर क्या प्रभाव पड़ा है तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊंचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में उसे अपने युग में एक अवतार समझा जाता था।"[1]

मिल ने एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक राजनीतिक चिन्तन के हर क्षेत्र को प्रभावित रखा और उसके ग्रन्थ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम का भाग बन गया। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और व्याप्तमूलक पद्धति (Inductive Method) की त्रुटियां दूर की। बेन्थम

---

1. "And if the calibre of writers is to be judged by their effect on policy, Mill must rank high. As logician economist, and political philosopher he was regarded as a prophet in his own age."

—*Bowle* : Politics and Opinion in the 19th Century, Page 196

के उपरान्त उपयोगितावाद के बहुत से आलोचक उत्पन्न हो गये थे और इस विचारधारा के सम्बन्ध में तरह तरह के भ्रम पैदा हो गये थे। मिल ने उन सब आलोचकों को निरुत्तर किया तथा उनके द्वारा फैलाये भ्रमों का अन्त किया। आज उपयोगितावादी अर्थशास्त्र ही अलग विषय हो गया है। मिल ने उपयोगिता की एक बहुत बड़ी त्रुटि को दूर किया। बेन्थम ने सुख को गुणात्मक नहीं, *केवल मात्रात्मक बतलाया था। मिल ने कहा कि सुखों में* गुणात्मक अन्तर भी होता है। उपयोगितावादी विचारधारा को मिल का एक जबदस्त अनुदाय था। मिल ने स्वतन्त्रता की उपयोगितावादी कल्पना की।

प्रजातंत्र की आलोचना सम्बन्धी मिल के विचारों की महत्ता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों में वे दोष पाये जाते हैं जो मिल ने बताये थे। मिल के इस कथन से भी कोई विपरीत मत व्यक्त नहीं किया जा सकता कि सुदृढ़ आधार के बिना प्रजातंत्र का भवन अधिक दिन खड़ा नहीं रह सकता तथा सार्वजनिक शिक्षा के बिना सार्वजनिक मत निरर्थक है। प्रजातंत्र की सफलता के लिये बताये गये उसके सुझाव निश्चय ही प्रशंसनीय हैं क्योंकि उनका व्यावहारिक पक्ष सबल है। प्रजातंत्र की *प्रयोगात्मक दिशा में मिल ने बहुमूल्य योग दिया है।*

इसी प्रकार नारी स्वतंत्रता सम्बन्धी उसके विचार नितांत सत्य हैं। उनकी सत्यता इससे ही प्रमाणित होती है कि लगभग समस्त देशों ने आज उसके विचारों पर मोहर लगा दी है।

राजनीतिक चिंतन का मिल की सर्वोच्च देन उसका व्यक्तिवाद है, जिसे उदारवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। वॉन हम्बोल्ट (Von Humboldt) के ये शब्द मिल के जीवन के मूल विश्वास को अभिव्यक्त करते हैं—'*इन पृष्ठों में विकसित प्रत्येक युक्ति एक ही महान और प्रधान* सिद्धान्त की ओर प्रत्यक्ष रूप से जाती है और वह यह है कि मानव का अपनी विविधता के साथ विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।'[1] मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन में जो कुछ लिखा है वह सम्पूर्ण राज*नीतिक साहित्य इस विषय पर सर्वश्रेष्ठ रचना है। मिल का यह विश्वास* भी सही ही था कि कुछ ही ऐसे प्रतिभाशाली एवं तेजस्वी व्यक्ति होते हैं जो समय-समय पर मानव सभ्यता को प्रगति की ओर ढकेलते रहते हैं। उसके इस कथन में छिपे सार को भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते कि, 'ये थोड़े से लोग पृथ्वी के लवण हैं, इनके बिना मानव-जीवन प्रगति हीन हो जायगा।"[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजातंत्रवाद, प्रतिनिधि शासन और महिलाओं की स्वतंत्रता का वर्तमान रूप बहुत कुछ मिल से प्रभावित है।

---

1 "The grand, leading principle, towards which every argument unfolded in these page directly converges, is the essential importance of human development in its richest diversity"

2. "These few are the salt of the earth, without them human life would become a stagnant pool"

अंत में, राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में मिल के मूल्यांकन पर हम जार्ज एच० सेबाइन के विचारों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते जो एक प्रकार से मिल के अनुदाय का निचोड़ है। सेबाइन महोदय ने लिखा है—

"मिल के उदारवाद का न्यायपूर्ण और इसके साथ ही सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन बहुत कठिन है। यह कह देना सचमुच बड़ा आसान होगा कि मिल ने नई शराब को पुरानी बोतलों में रख कर पेश किया। मिल के मानव प्रकृति, सदाचार, समाज और उदारवादी समाज में शासन के कार्य से सम्बन्धित समस्त सिद्धान्त उस बोझ को वहन करने के लिये अनुपयुक्त थे जो मिल ने उनके सिर पर डाल दिया था। लेकिन, इस तरह का भावपरक विश्लेषण और आलोचना न तो सहानुभूतिपूर्ण है और न ऐतिहासिक दृष्टि से सगत है। मिल की रचनाओं में एक स्पष्टता पाई जाती है हालांकि यह स्तष्टता सत्य ही है। मिल की उदारता और भावप्रवणता उसकी बहुत सी कमियों को छुपा लेती है। मिल उदारवादियों की पहली पीढ़ी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। इन्हीं सब बातों ने उसके विचारों को काफी महत्व और प्रभाव दे दिया था तथापि, मिल अपने तर्कों के पीछे इस प्रभाव के अनुपात में दार्शनिक विश्लेषण नही रख सका। मिल सदैव ही साक्ष्य के महत्व पर जोर देता था। लेकिन, व्यवहार में वह नैतिक अन्तर्दृष्टि पर बहुत अधिक निर्भर रहता था। मिल की नैतिक सवेदना बहुत बढ़ी हुई थी। सामाजिक दायित्व के प्रति भी उसके मन में गहरी चेतना थी। मिल के चिन्तन में व्यवस्था और सगति का अभाव है। फिर भी, उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी देन को चार आदर्शों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। (१) मिल ने उपयोगितावाद का महत्वपूर्ण सशोधन किया। उसके पूर्व उपयोगितावाद का नैतिक दर्शन केवल सुख और दुःख की तराजू से बन्धा हुआ था। मिल ने उसे इस बन्धन से मुक्ति दी। काण्ट की भांति मिल के नीतिशास्त्र में भी मुख्य विचार मानव जाति के प्रति सम्मान का था। मिल का कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिये। मनुष्य से नैतिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा हम तभी कर सकते हैं। मिल का नीतिशास्त्र इस अर्थ में उपयोगितावादी था कि वह व्यक्तित्व के प्रश्न को एक आध्यात्मिक रूढ़ि के रूप में नहीं देखता था। उसका विचार था कि व्यक्तित्व को स्वतत्र समाज की वास्तविक परिस्थितियों में सिद्ध किया जा सकता है। (२) मिल के उदारवाद ने राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को अपने में ही एक सिद्धि मानी थी। मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्व इसलिये नहीं है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ को सिद्ध करती है बल्कि उसका महत्व इसलिये है कि उत्तरदायी मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख को प्राप्त करने का साधन नहीं है वह खुद सुख का एक अंग है। इसलिए, एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है तथा विविध जीवन-पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है। (३) स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्तिगत हित नही है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है। यदि किसी मत को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो इससे व्यक्ति को तो नुकसान पहुँचता ही है,

इससे समाज का भी अपकार होता है। जिस समाज में विचार स्वतन्त्र चर्चा की प्रक्रिया के द्वारा जीवित रहते हैं और मरते हैं वह समाज न केवल एक प्रगतिशील समाज है बल्कि ऐसा समाज भी है जो स्वतन्त्र विवेचन के अधिकार का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। (४) स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह विधि निर्माण से विरत रह कर या यह मानकर कि चूंकि वैधिक प्रतिबंधों को हटा दिया गया है इसलिये स्वतन्त्रता की अवस्थाएं विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं कर सकता। विधान के द्वारा अवसरों का निर्माण किया जा सकता है उनका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उसके उपयोग पर मनमाने नियन्त्रण नहीं लगा सकता। उसकी सीमाएं सिर्फ एक आधार पर निश्चित की जा सकती हैं कि वह इस तरह के अवसरों को जिनमें व्यक्ति अधिक मानवोचित जीवन व्यतीत कर सके और उन्हें विवशता से मुक्ति मिल सके, कहां तक दे सकता है, उसके पास उसके लिये कहां तक साधन हैं।"[1]

जॉन ऑस्टिन
(John Austin)

प्रसंगवश जर्मी बेन्थम के एक विख्यात शिष्य जॉन ऑस्टिन के बारे में भी दो शब्द बता देना अनुचित न होगा। जॉन ऑस्टिन उपयोगितावादी न्यायशास्त्री था जिसका जन्म सन् १७९० में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद वह सेना में भर्ती हो गया और ५ वर्ष तक लेफ्टीनेंट के पद पर कार्य करता रहा। इसके बाद सेना की नौकरी से भी उसका जी ऊब गया और उसने वह काम भी छोड़ दिया। अब बैरिस्ट्री पास करने के लिये उसने कानून का अध्ययन किया। १८१८ में उसने वकालत शुरू की। लेकिन वह वकालत में सफल नहीं हो सका। ऑस्टिन आर्थिक कष्टों से सदैव परेशान रहा। उसका सारा व्यय-भार उसकी अमीर पत्नी और वकील छोटे भाई ने संभाला। वकालत में असफल होने के बाद ऑस्टिन का परिचय बेन्थम से हुआ जिसने उसे लंदन विश्वविद्यालय में १८२६ में अध्यापक का पद दिला दिया। लेकिन कुछ ही वर्षों में उसकी कक्षा के छात्रों की संख्या घटते-घटते ५ रह गयी। वह न्यायशास्त्र का अध्ययन करने जर्मनी भी गया। वह दो शाही कमीशनों का सदस्य भी रहा। सन् १८५९ में वह परलोकवासी हुआ।

जॉन ऑस्टिन की कुल मिलाकर ३ पुस्तकें प्रकाशित हुईं —

(1) The Province of Jurisprudence Determined
(2) A Plea for Constitution.
(3) On the Study of Jurisprudence.

अन्तिम कृति ऑस्टिन की मृत्यु के ४ वर्ष बाद प्रकाशित हुई। ऑस्टिन अपने समय में लोकप्रिय न हो सका इसका कारण यह था कि प्रथम तो उसका विषय ही बड़ा शुष्क था, दूसरे उसकी शैली बड़ी नीरस थी।

---

1 राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २ पृष्ठ ६६९-६७०

इंगलैण्ड में अेकटन, फ्रोर्टस्क्यू, कोक, ब्लैकस्टन, बेंथम आदि विधि-शास्त्र-वेत्ता (न्यायशात्री) हुये हैं किन्तु ऑस्टिन की विशेषता है कि नैतिकता और कानून का पूरा पार्थक्य (Separation) स्थापित कर कानून शास्त्र का विश्लेपणात्मक विशद् विवेचन उसने स्थापित किया। ऑस्टिन ने कानून को विधेयात्मक वताया और नैसर्गिक नियम की अनिर्णीत विचारधारा से उसने राजकीय कानून का क्षेत्र अलग किया।

राजनीतिशास्त्र में ऑस्टिन की विशेषता है कि उसने सम्प्रभुता का कानूनी-सिद्धान्त उपस्थित किया। उसने कहा, "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञाओं का साधारणतया पालन करता हो तथा वह निश्चित व्यक्ति किसी अन्य प्रधान की आज्ञा मानने को अभ्यस्थ न हो तो वह निश्चित व्यक्ति उस समाज में सर्वप्रधान या प्रभु है और वह समाज (उस प्रधान के सहित) एक स्वाधीन राज्य है।"[1] ईश्वर की सम्प्रभुता या सामान्य संकल्प (General Will) की सम्प्रभुता को वह स्वीकार नहीं करता। वह आज्ञात्मक कानून को सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम मानता है। ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि (i) संप्रभु कोई निश्चित व्यक्ति होना चाहिये, संप्रभुता की स्थिति किसी ऐसे व्यक्ति में नही हो सकती जो काल्पनिक हो, जिसका अपना कोई अस्तित्व नहीं हो, (ii) वह 'व्यक्ति श्रेष्ठ' कोई मनुष्य होना चाहिए मानवेत्तर अथवा अलौकिक प्राणी नहीं, (iii) एक राज्य का सप्रभु 'व्यक्ति श्रेष्ठ' अपने ही समान किसी अन्य संप्रभु की आज्ञा का स्वाभावतः पालन न करता हो, (iv) वह संप्रभु ऐसा हो कि जिस समाज में वह श्रेष्ठ माना जाता हो उस समाज के अधिकांश लोग उसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करें, (v) अपने समाज में उस व्यक्ति की श्रेष्ठता निर्विवाद होनी चाहिए—अभिप्राय यह है कि आस्टिन शासक और शासित इन दोनों के बीच अन्तर की एक स्पष्ट रेखा खींचता है, (vi) अंतिम वात यह है कि ऐसे संप्रभु के अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है कि सम्बन्धित राज्य भूमि की दृष्टि से पर्याप्त विस्तृत होना चाहिये।

ऑस्टिन ने सामाजिक नियंत्रण का कार्य करनेवाली ऐतिहासिक और नैतिक परम्पराओं तथा कानूनी संप्रभु को भी प्रेरणा एव सत्य प्रदान करने वाले निर्वाचक मण्डल तथा जनता के विराट समूह की ताकत को कानूनी मान्यता प्रदान नहीं की। किन्तु इन सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक शक्तियों और तत्वों की उपेक्षा के बावजूद भी उसकी विशेषता है कि कल्पना और नीतिशास्त्र के अतिरिक्त निर्णीत वैधिक संप्रभुतावाद का दर्शन उसने उपस्थित किया।

---

1. "If a determinate human superior, not in habit of obedience to a like superior, receive habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate—superior is sovereign in that society, and the society (including the superior) is a society political and independent."

—*Austin*, Jurisprudence, Vol. 1 Page 226

आस्टिन की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा की कठोर आलोचना हुई जिनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं—

सर हैनरीमैन का कथन है कि आस्टिन की यह धारणा कि सप्रभुता ही राज्य का आधार है, भ्रातिपूर्ण है। उनका कहना है कि इतिहास मे और ससार मे ऐसे समाज मिलते हैं जिनमे प्रत्यक्षत. किसी भी सम्प्रभु को खोजना कठिन है, फिर भी वे समाज सुव्यवस्थित ढग से जीवन निर्वाह करते हैं और राजनैतिक समाज अर्थात् राज्य भी माने जाते हैं।

आॅस्टिन के मतानुसार राज्यादेश ही कानून है। विधानशास्त्र के ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याकारो ने उपर्युक्त मत की तीव्र आलोचना की है। सर हेनरीमेन के मतानुसार कानून को किसी भी दृष्टि से सर्वोत्तम सत्ता का आदेश नही माना जा सकता। प्रत्येक समाज मे अनादिकाल से अनेक ऐसी प्रथायें और परम्परायें चलती आ रही हैं जिसे किसी भी प्रभु ने आदेश रूप म जारी नही किया, ये नियम हमारे समाज के धार्मिक और नैतिक स्तर के प्रतिबिम्ब होते हैं। कोई भी शासक इनके परिवर्तन मे तब तक समर्थ नही होता जब तक कि जनता को सत्य, औचित्य, न्याय और नैतिकता की भावनाओ मे परिवतन न हो जाय। ऐस नियमो का पालन जनता स्वय अपनी इच्छा से करती रहती है, दण्ड भय से नही।

आन्तरिक दृष्टि से अगर हम राज्य की सर्वोच्च सत्ता को मान भी लें तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसे किसी भी रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। नारमन ऐजल (Norman Angell) ने अपनी पुस्तक 'Unseen Assassians' मे राज्य प्रभुत्व को प्रमुख हत्यारों मे माना है। लास्की के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतत्र तथा प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का विचार मानवीय सुख-समृद्धि के लिये घातक है।" प्रो० लास्की का कथन आज की विश्व की स्थति को देखते हुये पूर्णतया सत्य है। विश्वशाति और मानवीय हित मे राज्यो की असीम प्रभुशक्ति का नियत्रण अनिवार्य है। अनेक ऐसे मसले हैं जो कि सम्पूर्ण मानवता से सम्बन्धित है, किसी एक राज्य की इच्छा पर उनको छोड नही देना चाहिय। आज एटम बम्ब और हाइड्रोजन बम्ब के नये से नये परीक्षण किये जा रहे हैं,पर क्या ये परीक्षण केवल रूस या अमरीका पर ही असर रखते हैं? नही, इनके साथ सम्पूर्ण मानवता का जीवन सम्बन्धित है। ऐसे मसलों का हल अन्तर्राष्ट्रीय सघ द्वारा ही होना चाहिये।

कई लेखको न इस सिद्धान्त की कडी आलोचना की है उनमे से सर हेनरी मेन तथा सिजविक प्रसिद्ध हैं। उनका मत है कि राजसत्ता एक निश्चित व्यक्ति मे नहीं रहती है। इस सिद्धान्त की इस बात पर कडी आलोचना की गई है कि यह आजकल लोकतत्र के बिल्कुल विरुद्ध है।

यह सिद्धान्त लोकमत को कोई महत्व नहीं देता और मतदाताओं का निरादर करता है। इस सिद्धान्त मे यह दोष है कि यह सारी शक्ति एक विशेष व्यक्ति को दे देता है जो किसी नियम या लोकमत से बधा नहीं है। अत यह सिद्धान्त राजा सरकार को मनमानी करने का अधिकार दे देता है।

फ्रेन्च विचारक ड्युग्वी (Duguit) ने प्रभुसत्ता के विकास का विश्लेषण करते हुये बतलाया है कि इस सिद्धान्त का प्रारम्भ १६ वी सदी मे

हुआ। तब राज्य अपने आन्तरिक संगठन में सरल था तथा उसके कार्य थोड़े से थे। वे भी केवल रक्षा और कानून व्यवस्था बनाये रखने से ही सम्बन्धित थे, तब तो वह आदेश दे सकता था। परन्तु आज उसका स्वरूप परिवर्तित हो गया है। आज का राज्य सभी कल्याणकारी कर्तव्यों को पूर्ण करता है, उसके कर्त्तव्यों की सीमा बहुत विस्तृत हो गई है। अतः उसके स्वरूप की व्याख्या १६ वीं सदी के पुराने सिद्धान्त द्वारा नहीं की जा सकती।

फिगिस, लिंडसे, बारकर, लास्की, कोल आदि ने आधुनिक युग के संघों, निगमों, समुदायों आदि की संवर्धित ताकत को देखते हुये सम्प्रभु की निरपेक्ष सत्ता को एक अतिरेकपूर्ण कल्पना की संज्ञा दी है, और विविध दृष्टियों से बहुलवाद को पुष्ट किया है।

वास्तव में आश्चर्य होता है क्योंकि ऑस्टिन जैसा उदारवादी, *सम्प्रभुतावाद का घोर समर्थक बना?* किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से मालुम पड़ता है कि विधिशास्त्री के रूप में ब्लैकस्टन और बेंथम की परिभाषाओं का शब्दतः उसने अनुसरण किया और वैधिक वाग्जाल में वह इतना उलझ पड़ा कि नैतिक तथा सामाजिक शक्तियों की उसने उपेक्षा की।

विधियां (Laws)—ऑस्टिन ने विधियों पर प्रकाश डालते हुए बेंथम की ही भांति प्राकृतिक विधियों में अविश्वास प्रकट किया है। उसने विधि अथवा कानून की परिभाषा इस प्रकार दी है—"विधि एक सुनिश्चित उच्चतर मानव द्वारा इच्छा की अभिव्यक्ति है कि एक निश्चित आचरण किया जाना चाहिये, जो व्यक्ति उसके अनुसार आचरण नहीं करेगा उसको कठिन फल भोगना पड़ेगा।"[1]

ऑस्टिन ने विधियों को तीन भागों में विभक्त किया है—(१) निश्चित विधियां, (२) अनिश्चित विधियाँ, और (३) प्रतीकात्मक विधियां। इसके बाद निश्चित विधियों को (१) दैवी, (२) राजकीय तथा (३) संवासादि की विधियों में बांटा गया है। अनिश्चित विधियों में *अन्तर्राष्ट्रीय विधियों* तथा परम्पराओं तथा सामाजिक रीति-रिवाजों आदि को रखा है। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि के नियमों को प्रतीकात्मक विधियां माना गया है। ऑस्टिन का विधियों का यह विभाजन निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट हो जायगा—

---

1. "Law as an expression of will by a determinate superior that a certain course of conduct come to pass failing, which an evil will come upon who deviates from that course."

विधियाँ (Laws)

- प्रनिश्चित विधिया (Improper Laws)
  - सामाजिक प्रोर जातिगत परम्परायें तथा रीति रिवाज (Social Customs and traditions Laws etc)
  - प्र तर्राष्ट्रीय विधियाँ (International Laws)
- निश्चित विधिया (Proper Laws)
  - दैवी विधिया (Divine Laws)
  - राजकीय विधिया (Civil Laws)
  - सवासो की विधियाँ (Laws or Rules of Associations and Other such Voluntary Institutions)
- प्रतोकात्मक विधिया (Metaphorical Laws)
  - भौतिक विज्ञानो की विधियाँ (Laws of Sciences)
  - राजनीति प्रथशास्त्र प्रादि की विधिया (Laws of Economics Politics etc.)

प्रास्टिन के न्यायशास्त्र का विषय केवल राजकीय विधियों तक ही सीमित है। उसका कहना है कि न्यायशास्त्र का सम्ब ध केवल राज्य द्वारा बनाई हुई विधियो से है प्रोर इन विधियो को बनाने का एकमात्र प्रधिकार सम्प्रभु को है। ये विधिया सम्प्रभु के प्रादेश हैं जिनका पालन न करने पर प्रजाजन दण्ड के पात्र हैं। प्र य विधियो को प्रास्टिन न्यायशास्त्र के क्षेत्र से बाहर की चीज समझता है। प्र तर्राष्ट्रीय विधियो को भी वह निश्चित विधियाँ इसलिये नही मानता क्योकि उनको लागू करनेवाली कोई सम्प्रभुता—सम्पन्न शक्ति नहीं होती। सामाजिक रीति रिवाजों प्रोर परम्पराप्रो के बारे मे भी केवल यही बात लागू होती है।

जार्ज ग्रोट एव एलेक्जेण्डर बेन
(George Grote and Alexander Bain)

बेन्थम, मिल प्रोर प्रास्टिन के प्रतिरिक्त जो कुछ प्र य उपयोगितावादी हुये उनमे जाज ग्राट तथा एलक्जेण्डर बेन भी उल्लेखनीय हैं।

जाज ग्रोट (George Grote 1794–1871) —जाज ग्रोट यूनान का एक प्रतिभावान इतिहासकार था। प्ररस्तू प्रोर प्लेटो की विचारधारा का कुशल प्रध्येता यह विद्वान बेन्थमवादी के रूप मे बड़ा विख्यात था। चूँकि यह

बहुत पहले से ही बेन्थम के व्यक्तिगत प्रभाव में आ गया था अतः उसके विचार भी उसके प्रमुख राजनैतिक ग्रन्थों में समान रूप से स्वतः ही स्थान पा गये थे। जार्ज ग्रोट एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और साथ ही में एक राजनीति प्रधान विचारक भी। मिल और वह परस्पर मित्र थे तथा मिल के विचारों का भी उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

ग्रोट का नाम विशेषकर बेलट (Ballot) द्वारा मतदान नामक आलेख से सम्बद्ध है। वह खुले मतदान का अत्यन्त विरोधी था। उसका कहना था कि इस प्रकार के मतदान से हजारों व्यक्ति जिस प्रकार मताधिकार का उपयोग करना चाहते हैं, उस प्रकार नहीं कर पाते क्योंकि मतदान करनेवालों पर मतदान के समय तरह-तरह का दबाव डाला जाता है। परिणाम यह होता है कि बहुत से लोग हस्तक्षेप के भय से मतदान के लिये जाते ही नहीं और जो जाते भी हैं तो वे मतों का अपनी इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर पाते। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में प्रतिनिधि शासन के लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो पाती और न ही संसद को लोक विश्वास का समुचित लाभ ही मिल पाता है। इस सम्बन्ध में जॉन स्टुअर्ट मिल से उसका विरोध भी हो गया और उसने मिल की आपत्तियों का बड़ा प्रभावशाली उत्तर दिया।

ग्रोट मिल के इस विचार से, कि भ्रष्टाचार दिनों-दिन कम होता जा रहा है, सहमत न था। वह यह भी नहीं मानता था कि संसदीय चुनाव में किसी भी प्रकार नाजायज दबावों का प्रयोग किसी भी मात्रा में कम हो रहा है। वह चुनाव सम्बन्धी दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुयी समस्त गुण्डागर्दियों से दुःखी था और इन बातों को चुनावों के लिये अपमानजनक मानता था। ग्रोट के संसद-सुधार सम्बन्धी विचार उसकी सुधारों सम्बन्धी प्रसिद्ध पुस्तक 'Essentials of Parliamentary Reform (1831)' में निहित हैं। इस पुस्तक में उसने सर्व-मताधिकार के पक्ष में भी अपने विचार प्रकट किये है। उसका कहना था कि धीरे-धीरे वयस्क मताधिकार सार्वभौमिक कर दिया जाना चाहिये। उसने मताधिकार को निम्न वर्ग तक ले जाने की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया था और यह सुझाव रखा था कि हर ५ वर्ष के बाद निम्न वर्ग के एक नये भाग को मत देने का अधिकार दे देना चाहिये और नये मतदाताओं को सम्मिलित कर लेना चाहिये ताकि २० या २५ वर्ष के भीतर पूरा समुदाय उस मतदान वर्ग में सम्मिलित होकर भाग ले सके।

ग्रोट अनुभूतिवादी दर्शन (Experimental Philosophy) और उपयोगितावादी नैतिकता का कट्टर समर्थक था। वह बिना किसी साम्प्रदायिक वर्ग में सम्मिलित हुये उपयोगितावाद को अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत किया करता था। संसद में वह १८३२ से १८४१ तक रहा। उसने अनेक पुस्तकें लिखीं, किन्तु उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित तीन हैं—

(1) Fragments on Ethical Subject (1876).
(2) Essentials of Parliamentary Reform (1831).
(3) Minor Works.

एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain, 1818-1903)—एलेक्जेण्डर बेन एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्री और शिक्षा विशारद था। मिल तथा ग्रोट दोनों से ही उसके बड़े अच्छे सम्बन्ध थे। उन दोनों के साथ

उसने सम्पर्कवादी और उपयोगितावादी विचारधारा को प्रसारित करने मे विशेप योग दिया था। डेविडसन के मत मे बेन का उपयोगितावादियों मे एक बडा निश्चित और स्पष्ट स्थान है। उसन उपयोगितावाद के मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धान्तों का विकास किया और इस तरह दार्शनिक उग्रवादियो की राजनैतिक विचारधारा को समर्थन प्रदान किया।[1]

ग्रोट और मिल के समान बेन राजनीतिज्ञ नहीं था और उसने ससद मे कभी प्रवेश नहीं किया। वह सुधारवादी दर्शन का माना हुआ विद्वान था और उसने शिक्षा सम्बन्धी व मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखीं। उसका दर्शन उसके निम्नलिखित ग्रन्थो में उपलब्ध है—

1 The Senses and the Intellect (1855)
2 The Emotions and the Will (1859)
3 Mental and Moral Science
4. Education as a Science
5 Logic.

राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित उसके विचार 'Logic' ग्रन्थ की पाचवीं प्रति मे बडे विवेकपूर्ण ढग से हुये हैं।

जेम्स मिल जिस तरह उपयोगितावादी दर्शन का प्रमुख मनोवैज्ञानिक विचारक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार बेन को उसका सच्चा उत्तराधिकारी भी माना जाता है। इसी तरह जिस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद के दर्शन का व्यापक अर्थ प्रदान किया, ठीक उसी रूप मे बेन ने उसे मनोवैज्ञानिक रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की। बेन द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान का रूप ग्रन्य उपयोगितावादी विचारकों ही माति की सम्पर्कवादी था और उसका प्रमुख अग 'अनुभूति' थी। किन्तु सम्पर्कवादी मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त बेन की ख्याति एक उपयोगितावादी नीतिज्ञ के रूप मे अधिक है। 'उसने आनन्द और पीडा की प्रकृति का विवेचन करके आत्मतुष्टि और उत्तेजन प्रवृति (Self-satisfaction and Stimulation) के सिद्धान्तो की व्याख्या प्रस्तुत की थी। इसमे भी आगे आनन्द का पूर्ण और तीव्र विवेचन पीडा पर यह सिद्ध किया है कि आनन्द पीडा के अतिरिक्त सुख का अ श है (The surplus of pleasure over pain) जिसे मानसिक सम्भावनायें अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण करती हैं और वेदना का अधिकाधिक सम्भावनाओ को नष्ट करने मे भाग देती हैं। उपयोगितावादियो के लिये बेन का यह मत बडा महत्वपूर्ण था।"

---

1 "Bain occupies a very definite and distinct place in the

बेन ने उपयोगितावादी विचारधारा को दूसरा महत्वपूर्ण लाभ यह प्रदान किया कि उसने उपयोगितावादी नैतिकता को "उस व्यर्थ की पीड़ा-जनक और विशादपूर्ण स्थिति से मुक्ति दिला दी जो अनन्तवादी सिद्धान्त के नाते उसे प्रतिक्षण वहन करनी पड़ती थी।" बेन ने सुख की अपनी परिभाषा देने का प्रयत्न किया। सुख और दुःख के मनोभावों का बेन द्वारा किया गया विश्लेषण उपयोगितावादी विचारकों के लिये बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। जोन स्टुअर्ट मिल ने उदासीन एवं निर्पेक्ष आनन्द भावना को प्रतिबोधन और अनुभूति के अन्तर्गत माना था। वह इन सबसे पृथक आनन्द की भावना किसी भी रूप में छिपी हुई स्वार्थप्रियता नहीं मानता था बल्कि इसके विपरीत मानव प्रकृति के स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण अस्तित्व को स्वीकार करता था। सुख और उदासीन भावना के सम्बन्ध को अपनी विचार पद्धति से प्रकट करते हुये उसने लिखा है, "जहां तक मैं उदासीन भावना का मूल्यांकन कर पाता हूँ, वे आनन्द प्राप्ति से सर्वथा भिन्न होती हैं और उनकी अभिव्यक्ति पीड़ा से बचने की प्रवृति के रूप में होती है। वे हमें आनन्द की हत्या करके बिना किसी प्रयोजन के पीड़ा स्वीकार करने की ओर ले जाती हैं। मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमको इस विरोधाभास का साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि यह सत्य है कि मनुष्य में ये चालक-शक्तियां होती हैं जो हमें आनन्द से वंचित करके उसके विरुद्ध करने की प्रेरणा देती हैं। मात्र इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं होगा कि चूंकि हम अमुक कार्य करते हैं इसलिए हमारे आनन्द की गति भी उसी के अनुकूल होती है। इस प्रकार की चिंतनविधि समस्या में आवश्यक उन्नत भाव पैदा कर देती है।..........मात्र यही एक तरीका है जो हमारी प्रकृत्यानुसार किसी भी शुभ कर्म और उदार व्यवहार का मूल्यांकन कर सकता है।"[1]

---

1. "So far as I am able to judge of our disinterested impulses they are wholly distinct from the attainment of pleasure and the avoidance of pain. They lead us, I believe, to sacrifice pleasures and incure pains, without any compensation. It seems to me that we must face the seeming paradox-that there are, in the human mind, motives that pull against our happiness. It will not to do say that because we act so and so, therefore, our greatest happiness lies in that course. This takes the very question in dispute.... This is the only view compatible with our habit of praising and rewarding acts of virtue. If a man were is as good a position under an act of great self-denial, as if he had not performed it, we might leave him unnoticed. If he has rather gained than lost by the transaction, he could dispence with any reward from us."

QUESTIONS

Q 1. "Utilitarianism is primarily an ethical theory based upon the psychological theory known as *Hedonism*" Discuss.

"उपयोगितावाद मुख्यतः एक नैतिक सिद्धान्त है जो हिडोनिज्म नामक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आश्रित है।" विवेचना कीजिए।

Q 2. "Quantity of pleasure being equal pushpin is as good as poetry." Comment.

"यदि सुख की मात्रा समान हो तो लडकों का खेल या कविता एक ही बात है।" विवेचना करो।

Q. 3. Describe critically the general features of Utilitarian Philosophy.

उपयोगितावादी दर्शन की सामान्य विशेषताओं का समालोचनात्मक वर्णन करो।

Or

What do you understand by the Theory of Utilitarian ? Discuss its defects in detail.

उपयोगितावादी सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? इसके दोषों का विस्तार के साथ विवेचन कीजिये।

Q 4. Explain and criticise the basic principles of Bentham's Utilitarianism and estimate the importance of *Bentham in the history political thought.*

बेन्थम के उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या और *उनकी आलोचना कीजिए तथा राजनीतिक विचारों के इतिहास में बेन्थम के* महत्व का मूल्यांकन करिए।

*Q 5. "Nature has placed mankind under the govern*ance of two Sovereign master, pleasure and pain It is so for them alone to point out that what we ought to do as well as to determine what we shall do." Explain and discuss this statement of Bentham.

"प्रकृति ने मनुष्य जाति को दो सम्प्रभु स्वामियों—सुख और दुःख को सौंप रखा है। हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं, यह बतलाना उन्हीं का कार्य है।" बेन्थम के इस कथन की विस्तारपूर्वक *व्याख्या* कीजिए।

Q. 6. State the *moral and psychological foundations* of Bentham's Utilitarianism.

बेन्थम के उपयोगितावाद के नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधारों की व्याख्या कीजिए।

Q 7. "The greatest good of the greatest number" is the pivot round which Bentham's political ideas rotate. Discuss Also tell whether the validity of the maxim, the greatest good of the greatest number is *unquestionable.*

"अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम कल्याण" वह धुरी है जिसके चारों ओर बेन्थम के राजनैतिक विचार चक्कर काटते हैं। विवेचना कीजिए। साथ ही यह भी बताइये कि क्या अधिकतम मनुष्यों के अधिकतम कल्याण के सिद्धान्त की वैधानिकता अविवादास्पद है।

Q. 8. Explain Bentham's views on the nature and functions of the State.

राज्य की प्रकृति एवं उसके कार्यों के बारे में बेन्थम के विचारों की व्याख्या कीजिये।

Or

Explain Benthamite political philosophy. Briefly sketch his contribution to political thought.

बेन्थम के राजनीति-दर्शन की व्याख्या कीजिए। संक्षेप में उसकी राजनीतिक चिन्तन की देन भी बताइए।

Q. 9. "Benthamism shorn off crudities is simply humanism." (Ivor Brown). Examine it critically.

"यदि बेन्थम की विचारधारा से उसके क्रूर सिद्धान्त निकाल दिये जायं तो यह मानवतावाद की एक उज्ज्वल परिचायिका सिद्ध होता है।" आइवर ब्राउन के इस कथन की विवेचना कीजिए।

Q. 10. "Each is to count for one, and no one for more than one." (Bentham) Discuss.

'प्रत्येक व्यक्ति की गिनती एक के लिए होनी चाहिये। एक से अधिक किसी को न समझा जाना चाहिए।'—बेन्थम। टिप्पणी करिए।

Q. 11. Give a critical assessment of Utilitarianism.

उपयोगितावाद की विवेचनात्मक व्याख्या कीजिये।

Q. 12. "A thing is said to promote the interest of an individual where it tends to add to the sum total of his pleasure or to diminish the sum total of his pains." Comment.

"कोई वस्तु व्यक्ति के हित की वृद्धि उस समय करती हुई कही जाती है, जब वह उसके पूरे सुख के योग को बढ़ाती हो या उसके सब दुखों के योग को घटाती हो।" विवेचना करो।

Q. 13. "In his desire to safeguard Utilitarianism from the reproaches levelled against it, Mill goes forewards over throwing the whale Utilitarion position." —(Wayper) Discuss.

"मिल उपयोगितावाद की की गई निन्दाओं से उसके बचाव करने के प्रयत्न में सम्पूर्ण उपयोगितावादी स्थिति के विपरीत चला गया।"—(वेपर) विवेचना कीजिये।

Q. 14. Was J. S. Mill a Utilitarian ? How for did he improve the principles of Bethamite Utilitarianism ?

क्या जे० एस० मिल उपयोगितावादी थे ? उन्होंने बैंथम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त में कहां तक सुधार किया ?

Q 15. Examine the leading political ideas of Bentham and show how these were modified subsequently by J. S. Mill.

बेंथम के अग्रणी राजनीतिक विचारों की परीक्षा कीजिये और बताइये कि बाद मे जे० एस० मिल द्वारा इनमे क्या सुधार किया गया।

Q 16 "In this (Mill's) interpretation of Utilitarianism very little of Bentham remains......" (Maxey) Discuss.

"मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा मे बेंथम की धारणाओं का बहुत ही कम अंश रह गया है।" विवेचना कीजिये।

Or

Q. 17 J. S Mill "added new floors to the structure of utilitarianism and weakened the foundations"

जे० एस० मिल ने "उपयोगितावाद के ढाचे के हेतु नवीन क्षेत्र प्रदान किया और आधार को दुर्बल बना दिया।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

Q 18 "Mill was the prophet of on empty liberty and abstract individual" (Barker) Elucidate and examine

"मिल खोखली स्वतन्त्रता और अमूर्त व्यक्ति के सिद्धान्त का सदेशदाता था।"—(बार्कर) इस कथन की व्याख्या और समीक्षा कीजिये।

Q. 19. "The argument of Mill's essay on liberty went far beyond a merely utilitarian defence of liberty." (Sabine) Discuss

"मिल का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन उपयोगितावादी समर्थन से कुछ अधिक है।"—(सबाइन) विवेचना कीजिये।

Or

Critically analyse the Mill's theory of Individual liberty.

मिल के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।

Q 20. Describe Mill's idea of liberty and show (i) how it was an improvement on the views of Bentham, and (ii) how far it fell short of the true theory?

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का वर्णन करिये और बताइये कि (i) यह बेंथम के विचारो पर सुधार कहां तक थे, और (ii) यह सही सिद्धान्त से कम या दूर किस भांति हो गये।

21. "If all mankind minus one were of my opinion and only one person were of the contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he, if had not the power, would be justified in silencing mankind."

Comment on this statement of John Stuart Mill

"यदि एक व्यक्ति का कोई विचार सम्पूर्ण मानव-जाति के विचार से भिन्न हो तो सम्पूर्ण मानव जाति को भी उस व्यक्ति के विचार को कुचलने का अधिकार नहीं होना चाहिए—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि यदि व्यक्ति के पास शक्ति होती तो उसे मानव-जाति को चुप करने का अधिकार नहीं है।" मिल के इस कथन की विवेचना कीजिये।

Q. 22. Examine J. S. Mill's view on Representative Government and estimate their validity today.

प्रतिनिधि सरकार के बारे में मिल के विचारों की परीक्षा कीजिये और वर्तमान काल में उनकी वैधानिकता का मूल्यांकन कीजिये।

Q. 23. "I regard it as wholly inadmissible that any person should participate in the sufferage without being able to read, write, and I will add, perform the common operations of Arithmatic." In light of this statement describe Mill's views on elections.

"मैं इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि किसी ऐसे व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जो लिखना, पढ़ना और सामान्य गणित भी न जानता हो।" इस कथन के प्रकाश में मिल के निर्वाचन सम्बन्धी विचारों को प्रकट कीजिये।

Q. 24. John Stuart Mill has been described as a 'Reluctant Democrate.' Do you agree with this estimate ? Give reasons in support of your answer.

Q. 25. John Austin has been called the father of 'Positive Law' and determinate sovereignty. Does the statement go correct ? Explain fully.

जॉन आस्टिन को 'सकारात्मक कानून' और 'निश्चित सम्प्रभुता' का पिता कहा जाता है। क्या यह कथन सत्य है ? विस्तार से बताइये।

Q. 26. "Austin's conception of sovereignty is a monistiew unacceptable in the present circumstances.' Discuss.

Or

How the Austin's conception of sovereignty has been attacked by the Historians and the Pluralists ?

"सम्प्रभुता की ऑस्टिन की धारणा एक अनन्यत्व दृष्टिकोण है जो आधुनिक परिस्थितियों में अमान्य है।" विवेचना कीजिये।

अथवा

ऑस्टिन की सम्प्रभुता की धारणा पर इतिहासज्ञों और बहुलवादियों द्वारा किस भांति आक्रमण किये गए हैं ?

Q. 27. "Law as an expression of will by a determinate Superior that a certain course of Conduct come to pass failing, which an evil will come upon deviates from that course." (Austin) Discuss.

"विधि एक सुनिश्चित उच्चतर मानव द्वारा इच्छा की अभिव्यक्ति है कि एक निश्चित आचरण किया जाना चाहिये, जो व्यक्ति उसके अनुसार आचरण नहीं करेगा उसको कठिन फल भोगना पड़ेगा।" विवेचना कीजिये।

Q. 28. Discuss the main Political ideas of—(1) George Grote, (2) Alexander Bain.

SUGGESTED READINGS

1 *Atkinson C M* — Jeremy Bentham
2 *Bowle* — Politics and Public Opinion in the 19th Century
3 *Brown, I* — English Political Theory
4 *Catlin George* — A History of the Polit al Philosophies
5 *Davidson* — Political Thought in England
6 *Doyle* — A History of Political Thought
7 *Dunning* — From Rousseau to Spencer
8 *Halevy E* — The Growth of Philosophic Radica lism, 1952
9 *Hallowell* — Main Currents in Moderh Political Thought
10 *Jones* — Masters of Political Thought
11 *Lancaster* — Masters of Political Thought
12 *Laski H J* — Political Thought in England from
13 *Maxey*
14 *Rudolf* — phy
15 *Sorley* — History of Political Philosophy
16 *Sabine* — A History of Political Theory
17 *Wayper* — Political Thought
18 *Jermy Bentham* — Fragment on Government
19 *L Stephene* — English Utilitarians
20 *R G Gettle* — History of Political Thought
21 *Allen* — So ial and Political Ideas of the Revolutionary Era
22 *Ebenstien W* — Political Thought in Perspective
23 *Coker F W* — *Readings in Political Philosophy* 1938
24 *Mill* — Utilitarianism Liberty and Representative Government Everyman s Liberty Introduction by Lindsay
25 *James Mill* — Essays on Govt
26 *J S Mill* — On Liberty
27 *J S Mill* — Representative Govt
28 *J S Ribs* — English Utilitarians
29 *Laski* — A Grammar of Polit cs
30 *Laski* — The Problem of Sovereignty
31 *Merriam* — History of Political Theories (Recent Times)

PART – SECOND
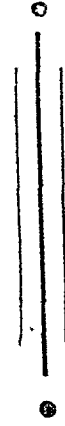
आदर्शवादी विचारक
(The Idealists)

"Nothing can possibly be conceived in the world all out of it which can be called good without qualifications except good will."

—*Kant*

freedom is the distinct quality of man. To renounce one's freedom is to renounce one's humanity, not to be free is therefore a renounciation of one's human rights and even of one's duties. Nothing sort of a state is the actualization of freedom."

—*Hegel*

"Human consciousness possulates liberty, liberty involves rights, rights demand the state."

—*Barker*

3

इमैनुअल काण्ट

(IMMANUAL KANT)
(1724-1804)

उपयोगितावाद इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न स्थिति का सामना करने में असमर्थ रहा। अब प्रवृत्ति समष्टिवाद की ओर थी और इसका कोई औचित्य उपयोगितावाद के पास न था। परिवर्तित परिस्थितियों में उपयोगितावाद राजनीतिक रूप से निष्फल हो चुका था। विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि राज्य के स्वरूप और उसके व्यक्ति से सम्बन्ध के किसी उपयुक्त सिद्धांत का रचना करने से पूर्व शुरूआत ही एक नवीन सिरे से करनी होगी। उन्हें विश्वास हो चला था कि मानव-स्वभाव की बेंथमवादी खोखली धारणा की जगह एक अधिक सच्ची और समुचित धारणा प्रस्थापित करनी होगी। यह कार्य टॉमस हिल ग्रीन (T. H. Green) ने 'राजनीतिक कर्त्तव्य' (Political Obligation) पर अपने भाषणों में करने का प्रयत्न किया। ग्रीन ऑक्सफोर्ड का एक महत्वपूर्ण आदर्शवादी (Idealist) था।

ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी धारा का प्रवाह तात्कालिक रूप से जर्मन दार्शनिक आदर्शवाद का आगमन था। जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant) से हुआ और इसकी चरम परिणति हीगल (Hegal) में देखने को मिली। इंगलैंड में यद्यपि आदर्शवादी धारा के प्रवाहित होने का एक मूल कारण जर्मन आदर्शवाद था लेकिन यह मान लेना भूल होगी कि अंग्रेज आदर्शवादी आंदोलन पूर्णतः जर्मन आदर्शवाद की ही उपज थी। ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियों ने अरस्तु और प्लेटो की दार्शनिकता से कम प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी।

आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा (Meaning and history of Idealism)—राजनीति के इतिहास में आदर्शवादी सिद्धांत अनेकों नामों से विख्यात है। चरमतावादी सिद्धांत (Absolutist Theory), दार्शनिक सिद्धांत (Philosophical Theory), तात्विक सिद्धांत (Metaphysical Theory), और मैकाइवर के शब्दों मे "रहस्यवादी सिद्धांत" (Mystical Theory) आदि एक ही आदर्शवादी सिद्धांत के विभिन्न नाम है। यथार्थ मे ये अनेकों नाम आदर्शवादी विचार के धरातल के नीचे बहने

वाले' उन धाराओं की ओर संकेत करते हैं, जो जर्मन तथा अंग्रेजी विचारक, हीगल, काण्ट, ग्रीन, बोसांक्वेट आदि के राजनैतिक दर्शनों से प्रवाहित होकर आदर्शवाद रूपी नदी को जन्म देती है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धांत राज्य तथा समाज का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है, जो व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयों से पूर्ण होते हुये भी, दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक (Abstract) तथा तर्कपूर्ण (Logical) है। राज्य को एक वास्तविक तथ्य (Actual fact) न मानकर यह उसे एक आदर्श (Ideal) अथवा पूर्ण (Perfect) वस्तु मानकर आगे बढ़ता है, जिसके कारण इसके परिणामों का आधार अनुभव तथा निरीक्षण न होकर शुद्ध तर्क तथा आध्यात्मिकता है। आदर्शवादियों को इस बात की चिन्ता नहीं कि वर्तमान राज्य का रूप क्या है। ये उसे उसकी यथार्थताओं (Realities) से अलग कर केवल इस बात पर विचार करते हैं कि एक आदर्श राज्य को कैसा होना चाहिए। इसी कारण उनके दर्शन में राज्य का स्थान दैविक महत्ता तक पहुँच गया है और व्यक्ति तथा उसकी स्वतन्त्रता बड़ी निर्दयतापूर्वक कुचल दी गई है।

राजनीति में आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कई-कई पर खण्डित होते हुए भी बहुत प्राचीन तथा लम्बा है, जो यूनानियों से लेकर आज तक शृंखलाबद्ध रूप में ढूंढा जा सकता है। राजनीतिक आदर्शवाद की अनेक बातें अरस्तु (Aristotle) और प्लेटो (Plato) के दर्शनों में प्राप्त होती है। अरस्तु का यह सूत्र कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त बन गया है। अरस्तु ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए स्वीकार की है। अरस्तु की भांति प्लेटो ने भी नैतिक प्रणाली में विश्वास प्रकट किया है।

प्राचीन यूनान के दार्शनिकों की राज्य के सम्बन्ध में नैतिक पुरुष की धारणा, मध्ययुग में चर्च तथा राज्य के संघर्ष कारण बहुत समय तक सुषुप्त अवस्था में पड़े रहे। १७ वीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल में एक बार फिर यूनानी दर्शन के प्रति विद्वानों ने जिज्ञासा जाग्रत की। टॉमस मूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना से प्रभावित होकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Utopia' की रचना की। 'यद्यपि इस युग में व्यक्तित्व के सिद्धांत का प्रतिपादन हो चुका था, जो आगे चलकर आदर्शवादी विचारधारा का आधारशिला बना परन्तु यह काल आदर्शवादी परम्परा के लिए अधिक शुभ सिद्ध नहीं हुआ।"

आधुनिक युग में यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो द्वारा किया गया। उसकी 'सामान्य इच्छा' (General Will) इसी दर्शन अर्थात् आदर्शवाद पर आधारित है। रूसो के उपरान्त जर्मनी आदर्शवाद का घर बन गया, जहाँ इस दर्शन का विकास प्रधानतः १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वास्तव में 'फ्रांस की राज्य क्रान्ति से प्रभावित जर्मन जनता के केन्द्रस्थ व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को केवल आदर्शवादी दार्शनिकों के विचार ही संतुष्ट कर सकते थे।"[1] जर्मनी के आदर्शवादी लेखकों में काण्ट (Kant), फिक्टे

(Fichte), तथा हीगल (Hegal) के नाम प्रसिद्ध हैं। कान्ट को इस दर्शन का वर्तमानयुगीन जनक पुकारा जा सकता है। उसका आदर्शवाद उदारवादी था। यह उदारवादी तत्व फिस्टे में कम होकर हीगल में पूर्णतया समाप्त हो गया। आदर्शवादी जर्मन स्कूल के साथ इंगलैण्ड में भी आदर्शवादी विचारधारा विकसित हुई। इंगलैण्ड के आदर्शवादी लेखकों मे ग्रीन, ब्रेडले, बोसांके आदि अधिक प्रसिद्ध है। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उग्रवादी था तो इंगलैण्ड का उदारवादी।

आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त
(Main Principles of Idealism)

१६वी शताब्दी की राजनैतिक विचारधाराओं में आदर्शवाद का शक्तिशाली प्रभाव रहा है। आदर्शवाद की दोनों—उग्रवादी तथा उदारवादी—प्रणालियों के मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने से पूर्व भूमिका-स्वरूप सक्षिप्त उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा—

(१) **राज्य एक नैतिक संस्था है**—आदर्शवादी विचारक राज्य को भौतिक आदर्शो की पूर्ति करनेवाला एक साधन न मानकर, उसे एक नैतिक सस्था (Ethical Institution) मानते हैं। राज्यकीय संगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकयुक्त तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं—ऐसी आदर्शवादियों की मान्यता है। इस बात पर सारे आदर्शवादी अरस्तु के साथ एक मत है कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और केवल देवता अथवा जानवरों को ही राज्य की आवश्यकता नही होती है।"[1] आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का उद्देश्य सुख-वृद्धि नही है, जैसा कि उपयोगितावादी कहते हैं, बल्कि उन परिस्थितियो को बनाये रखना है जिनका होना नागरिकों के सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिये नैतिक है। अंग्रेज विचारक बोसांके का कथन है कि, "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्तरूप (An embodiment of ethical idea) है।" आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का जन्म कहीं बाहर से नहीं हुआ बल्कि "वह हमारे नैतिक विचार का ही प्रत्यक्षीकरण (Realisation of moral idea) है जो हमारे पूर्ण विकास के लिये परम आवश्यक है। पुनः बोसांके के ही शब्दों में, "राज्य विश्वव्यापी संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है (State is the guardian of whole moral world and not a factor within an organised moral world)।" काण्ट के विचारो को विकसित करते हुए हीगल भी इसी परिणाम पर पहुंचा कि राज्य सामाजिक सदाचार की वृद्धि के लिये कायम है। हीगल के स्वयं के शब्दों में, "सामाजिक आचार की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थता का सरक्षक है।"

(२) **राज्य एक अनिवार्य संस्था है**—आदर्शवादियों की मान्यता है

---

1. "State is the first condition of civilized life—and it is only God's and animal that do not require state."

कि नैतिक सस्था होने के कारए राज्य का समाज मे ग्रस्तित्व ग्रावश्यक ही नही, ग्रनिवार्य है । ग्ररस्तू के सिद्धान्त मे उनको दृढ ग्रास्था है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है," इसलिये वह समाज ग्रथवा राज्य से पृथक रहकर कभी शाति प्राप्त नहीं कर सकता । हॉब्स, लॉक ग्रादि की भाति ग्रादर्शवादी यह नही मानते कि समाज के विकास में कोई प्राकृतिक दशा जैसा राज्य-विहीन समय भी रहा होगा । उनके ग्रनुसार राज्य से पृथक रहनेवाला मनुष्य स्वय ग्रपने मे एक विरोध (Contradiction in himself) है । राज्य-विहीन ग्रवस्था मे ग्रथवा राज्य की ग्रनुपस्थिति मे न केवल समाज ग्रव्यवस्थित एव कानूनहीन होगा बल्कि राज्यहीन समुदाय के लोग ग्रत्यन्त चरित्रहीन एव वन्य ग्राचरण करनेवाले होंगे । ग्रत: ग्रादर्शवादियो की यह निश्चित धारणा है कि, "एक सभ्य, सुसस्कृत, नैतिक एव परिपूर्ण रूप से विकसित समाज की सद्‌भावना के बिना राज्य की एक विचारशून्य कल्पना है ।"

(३) राज्य सर्व शक्तिमान है--राज्य के सम्बन्ध मे ग्रादर्शवादियो की कल्पना सर्व सत्तावादी है । उग्र ग्रादर्शवादी हीगल के शब्दों मे, "राज्य स्वय ईश्वर है । वह पृथ्वी पर स्थित दैवी विचार है (The state is God itself. It is the divine idea as it exists on earth) ।" पुन: हीगल ही के कथनानुसार "राज्य पृथ्वी पर साक्षात ईश्वर का ग्रागमन है । वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था म वास्तविक रूप मे प्रकट होती है (The state is the march of God on earth. It is the divine will

धिकारवादी राज्य (Totalitarian State) की कल्पना है, जिसके विरुद्ध विद्रोह करने का ग्रधिकार किसी को नही हो सकता । ग्रीन जैसे उदार ग्रादर्श-वादी ने व्यक्ति को कुछ परिस्थितियों मे राज्य के विरुद्ध क्राति करने का ग्रधि-कार प्रदान किया है ।

(४) राज्य ग्रौर व्यक्ति मे कोई पारस्परिक विरोध नहीं है—ग्रादर्श-वादी व्यक्ति ग्रौर राज्य मे कोई विरोध नहीं मानता । "राज्य बनाम व्यक्ति" (*State Versus Individual*) *जैसे किसी भी सम्भावित झगडे को ग्रादर्शवाद* एव नितान्त ही भ्रात धारणा मानता है । राज्य का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास है, ग्रत राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के ग्रधिकारो ग्रौर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार को ही तिलान्जली दे देनी चाहिये । ग्रादर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जडें व्यक्ति के हृदय में हैं ग्रौर एक ग्रसभ्य, बर्बर एव मूर्ख पशुवत ग्राचरण करनेवाल मनुष्य को सुसस्कृत मानव एव दिव्य बनानेवाली यह सस्था, निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है । व्यक्ति का सदाचार भी इसी बात मे निहित है कि वह ग्रपने सामाजिक धर्म के पालन से विमुख न हो । इसमे काई सन्देह नही कि ग्रपनी इन धारणाग्रों से ग्रादर्शवाद विचार-जगत मे एक क्रान्ति उत्पन्न करता है । बार्कर के कथनानुसार—"एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति से, जिसके लिए सामाजिक सगठन ढाला हुग्रा माना जाता है, ग्रारम्भ करने के

स्थान में आदर्शवादी एक केन्द्रीय सामाजिक संगठन से आरम्भ करता है जिसमें कि व्यक्ति को अपना निर्धारित कर्तव्य-क्षेत्र खोजना चाहिए।"[1]

(५) राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्यक्तित्व है—व्यक्तिवादियों के विपरीत आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का अपना पृथक एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व होता है। राज्य के सदस्यों से पृथक राज्य की अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिकों की सामूहिक इच्छा से स्वतन्त्र होते हुए भी, उससे भिन्न नहीं होती। राज्य के व्यक्तित्व की धारणा की पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल में हुई है जो राज्य को "एक आत्म-चैतन्य नैतिक तत्व, एक आत्मज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति" मानता है। "राज्य अपने घटकों के योग से कुछ अधिक है और उसकी अपनी आत्मा होती है"—आदर्शवादी विचार की यह एक आधारभूत विशेषता है।

(६) राज्य मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत, आदर्शवादी दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। आदर्शवादियों के अनुसार विभिन्न संघ, संस्थान एवं संस्थाएं, जिनका निर्माण सामान्य रुचियों की पूर्ति के हेतु किया जाता है, समूह मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु इन सब के बीच सामन्जस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी अन्तर चेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में राज्य केवल वे ही कार्य करता है जो हमारा पवित्र एवं निःस्वार्थ अन्तःकरण चाहता है अथवा जो हमें सामाजिक प्राणी होने के नाते करने चाहिये। आदर्शवाद की मान्यता है कि व्यक्तिगत विकास की परिपक्वता एवं पूरिपूर्णता का ही दूसरा नाम राज्य है।

(७) राज्य का आधार बल नहीं इच्छा है—आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति अथवा बल नहीं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा बल प्रयोग का पूर्ण निषेध नहीं है, बल्कि इसका अर्थ केवल यह है कि शक्ति-प्रयोग करने का अधिकार राज्य का मौलिक गुण नहीं है जैसा कि बेंथम, ऑस्टिन आदि मानते थे। विख्यात आदर्शवादी टी० एच० ग्रीन का स्पष्ट मत है कि राज्य के विशाल ढांचे को स्थिर रखनेवाला स्तम्भ, राज्य के जीवन का सच्चा और वास्तविक आधार बल या शक्ति न होकर इच्छा है। यदि राज्य भय उत्पन्न करके अपनी आज्ञाओं का पालन करवाता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। राज्य की सेवा करने से हम अपनी उच्चतर आत्मा के आदेश का ही पालन करते हैं। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि राज्य हमारी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है और इसके द्वारा ही वह सामान्य-हित प्राप्त किया जा सकता है जिसका कि हमारा स्वयं का हित एक अभिन्न अङ्ग है।

---

1. "Instead of starting from a central individual, to whom the social system is supposed to be adjusted, the idealist starts from a central social system, in which the individual must find his appointed orbit of duty."
—*Barker* : Political Thought in England, P. 11

(८) राज्य की आज्ञापालन करना ही स्वतन्त्रता है—आदर्शवादी स्वतन्त्रता का रूप सकारात्मक है। उनके अनुसार राज्य के सभी कानून व्यक्ति को पूर्णता दिलाने के लिए एक वातावरण का सृजन करते हैं जिसके अन्तर्गत रहकर के वह स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। इसलिए आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य के किसी भी कानून की अवज्ञा करना अपनी ही स्वतन्त्रता के मार्ग मे रोडे अटकाना है। आदर्शवादी पूर्ण स्वतन्त्रता के उपासक नही हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वाधीनता का निषेध (Negation of Libe rty) मानते हैं। बधनो की अनुपस्थिति मे स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का ही विशेषाधिकार मात्र रह जाता है। आदर्शवादियो का कहना है कि राजकीय आज्ञाओ का पालन करते समय हम किसी बाह्य सत्ता का नही अपितु स्वय की ही मूर्तिमान इच्छा की आज्ञा का पालन करते हैं। जॉजफ ब्रेडले (Bradeley) के शब्दों में "मनुष्य की स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय उस समाज के प्रति कर्तव्यो के पालन करने से है, जिसमे व्यक्ति समाज मे अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके।" स्वतन्त्रता, आदर्शवाद के अनुसार एक निश्चित वस्तु है। स्वय बार्कर के मत मे, "चेतना से स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है स्वतन्त्रता अपने उपभोग के लिए कुछ अधिकार चाहती है और अधिकार राज्य चाहते हैं।' (Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the state)

(९) राज्य अधिकारो का जन्मदाता है—आदर्शवादी, व्यक्तिवादियो एव सामाजिक अनुबन्ध के लेखको की भाति, किन्ही प्राकृतिक प्राक् राजनैतिक (Prepolitical) अधिकारो म विश्वास नहीं करते। उनकी परिभाषा के अनुसार 'अधिकार कुछ ऐसी बाह्य परिस्थितियां हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक हैं।" आदर्शवादी केवल राज्य को ही व्यक्ति के अधिकारो का नैतिक अभिभावक मानते हैं। राज्य द्वारा ही अधिकारो के सरक्षण मे उनका विश्वास है।

(१०) राज्य साध्य है साधन नहीं—जहा व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनो ही मे राज्य को व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये साधन माना गया है, वहा आदर्शवादी राज्य का साध्य मानते हैं। अवयवात्मक सिद्धान्त का समर्थन करते हुये वे व्यक्ति और राज्य की पारस्परिक निर्भरता पर बल देते हैं। वे राज्य को केवल व्यक्तियों का समूह मात्र नही मानते। फिक्टे (Fichte) के शब्दो मे, 'एक तैलचित्र केवल तैल कणों का समूह नही है, वह उससे अधिक है। जिस प्रकार एक पत्थर की मूर्ति सगमरमर के टुकडों का समूह मात्र नहीं है, जिस प्रकार एक मनुष्य घटकों तथा रक्त धमनियो का समूह मात्र न होकर उससे कही अधिक है, ठीक उसी प्रकार एक राष्ट्र वाह्य नियमो का समूह मात्र न होकर इससे अधिक है। (As an oil painting is something more than a mere aggregation of drops of oil as a statue is something more than a combination of marble particles as a man is something more than a mere quan-
so the nation is something
[illegible]दर्शवादियों की मान्यता है कि व्यक्ति
[illegible] लिये। राज्य व्यक्ति की नैतिक

संस्था है। व्यक्ति के नैतिक जीवन का राज्य न केवल माध्यम है वल्कि संरक्षक भी है। राज्य से पृथक व्यक्ति केवल भावात्मक वस्तु है।

(११) राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं है—आदर्शवादियों के अनुसार राज्य और समाज में कोई भेद नहीं है। वे मानव-कर्त्तव्यों को सामाजिक एव राजनैतिक क्षेत्रों के अन्तर्गत विभाजित नहीं करते है। वे राज्य एवं समाज के कार्यक्षेत्रो में अनुरूपता स्वीकार करते है। उनका मत है कि राज्य सामाजिक अस्तित्व का आधार है। सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं अभिन्न हैं। राज्य एव समाज दोनों का लक्ष्य भी एक है—मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना।

(१२) आदर्शवादी अंग्रेज विचारक मानते हैं कि नैतिकता एक आन्तरिक वस्तु है, जिसे राज्य न लागू करता है और न उसे कभी लागू करना चाहिये। आदर्शवादी राज्य में, व्यक्ति एक साथ ही अधिपति है और प्रजा भी, इसलिये यदि राज्य साधारण इच्छा की अवहेलना कर, परिपूर्ण जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर नही करता, तो व्यक्ति को अधिकार है कि अपने व्यक्तिगत क्षेत्र का अतिक्रमण होने पर उसके विरुद्ध विद्रोह करे। जर्मन दार्शनिक हीगल आदि व्यक्ति को यह अधिकार नहीं देते। जो भी हो इस विषय मे सभी आदर्शवादी एकमत हैं कि राज्य का सच्चा कर्त्तव्य "नागरिक के जीवन को सुलझाकर उसे परिपूर्ण बनाना है।"

प्रचलित राजनीतिक विचारधाराओं में आदर्शवाद की कटु आलोचना हुई है। हां, यह अवश्य है कि आदर्शवाद की जितनी आलोचना उसके उग्र रूप के विरुद्ध हुई है उतनी नम्र रूप के विरुद्ध नहीं हुई है। बहुत से राजनीतिज्ञ तो हीगल के नाम तक से घृणा करते हैं। गार्नर (Garner) के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र के लगभग सभी लेखक प्रत्यक्ष रूप से हीगल के विचारों और विशेषत: उसके राज्य के निरकुश सिद्धान्त, राज्य का अंधविश्वास से आज्ञा पालन करने का भाव—जबकि राजकीय शक्ति अनुचित और अत्याचारी होती है, का तिरस्कार करते है कि राज्य स्वयं ही एक साध्य है, एक सर्वोत्तम सस्था और ईश्वर की देन है जिसके अधिकार और उद्देश्य नागरिकों के अधिकार और उद्देश्यों से भिन्न है।" आदर्शवाद की, की गई विभिन्न आलोचनाओ को यहां प्रस्तुत न करके अग्रिम पृष्ठों मे विभिन्न आदर्शवादी विचारकों के दर्शन की आलोचना करते समय और सम्पूर्ण सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते समय प्रकट करेंगे। यह उल्लेखनीय है कि आदर्शवादी विचारको की सामान्य दार्शनिक धारणाओं का विस्तार से वर्णन करना विषय-वस्तु की दृष्टि से आवश्यक नही है। चूंकि विषय-वस्तु का सम्बन्ध केवल उनके राजनैतिक सिद्धान्तों से है, अत: उनके आध्यात्मिक एवं नैतिक दर्शन का उल्लेख केवल उसी सीमा तक किया जायगा जहां तक उनके राजनैतिक विचारों को समझने की दृष्टि से वह उपयोगी एव आवश्यक होगा।

जर्मन आदर्शवादी : कान्ट
(German Idealist : Kant)
(1724–1804)

संक्षिप्त जीवन-परिचय—इमेनुअल कान्ट जर्मन आदर्शवादी दर्शन का

पिता कहा जाता है। कान्ट का जन्म १७२४ ई० मे जर्मनी के कोनिग्सवर्ग क्षेत्र मे हुआ था और देहान्त १८०४ मे। कान्ट का जीवन मृत्यु-पर्यन्त बड़ा साधारण रहा। जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहकर दर्शन, गणित और नीतिशास्त्र के गहरे अनुसधान मे इसने आयु व्यतीत की। इसका जीवन मानो ऋषियों की शैली पर आधारित था। प्रत्येक कार्य को निश्चित समय पर करने का वह अभ्यासी था। हीन (Heine) के प्रायः उद्धृत शब्दों मे—"उसके जीवन का इतिहास लिखना बड़ा कठिन है क्योंकि न तो उसका जीवन था न इतिहास, क्योंकि वह जर्मनी की उत्तर-पूर्वी सीमा पर कोनिग्सबर्ग नामक एक पुराने कस्बे की शात गली मे एक यांत्रिक रूप से व्यवस्थित और कोमार्य का जीवन व्यतीत करता था। मुझे विश्वास नहीं कि गिरजाघर का महान् घंटा भी अपने कार्य को इमेनुअल कान्ट की अपेक्षा अधिक निष्काम भाव तथा नियमित रूप से करता हो। सो कर उठना, कॉफी पीना, लिखना, पढना, कालिज में व्याख्यान देना, खाना, घूमना सबका एक निश्चित समय था, और इमेनुअल कान्ट जब अपना खाकी रग का कोट पहिने हुये और मनीला छड़ी को हाथ मे लिये हुये अपने घर को छोड़कर लाइम ट्री नामक सड़क के लिये रवाना हो जाता था तो पड़ोसी समझ जाते थे कि इस समय ठीक साढ़े तीन बजे हैं··· ···· ···· ····और जब निश्चित समय पर गुजरता था तो वे मित्रतापूर्ण भाव से उसका अभिवादन करते थे और उससे अपनी घड़ी मिलाते थे।"[1]

बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि कान्ट केवल एक सैद्धान्तिक राजनीतिज्ञ था जिसने राजनीति में कभी भाग नही लिया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कान्ट कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हो गया और वहीं पर बाद में उसने आचार्य का पद सम्भाला। उसने अपने जन्म-नगर से बाहर कहीं भ्रमण नही किया। वह ३० वर्ष से भी अधिक समय तक कोनिग्सबर्ग के विश्वविद्यालय मे ही न्यायशास्त्र और आध्यात्म-शास्त्र पढ़ाता रहा। फ्रांस की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता के युद्ध ने कान्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन

1. "The history of his life is hard to write, in as much as he had neither life nor history, for he lived a mechanically ordered and abstract old bachelor life in a quiet retired street of Konigsberg, an old town on the north-east border of Germany I o not believe that the great clock of the cathedral there di[illegible]
larly than its com[illegible]
drinking writing, [illegible]
all had their fixed [illegible]
exactly half past [illegible]
coat with his Manila cane in his hand, left his house door and went to the Lime Tree avenue....and when he at the regular hour passed by, they greeted him as a friend and regulated their watches by him".

—*Heine*

इंगलैण्ड की स्थिति का भी उसे उत्तम ज्ञान था। कान्ट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन में कोई नवीनता प्रकट नहीं की। रूसो एवं मॉण्टेस्क्यू के राजनैतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके आधार लिये गये विचारों को ही नवीनता के साथ उसने क्रमबद्ध किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डनिंग शब्दों में—"राज्य के उद्‌भव और रूप के सम्बन्ध में कान्ट का सिद्धान्त ठीक वही है जो रूसो का था, और उसे उसने अपनी शब्दावली में अपनी तर्कनीति के साथ व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने में वह मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करता है।" काण्ट को साधारण मनुष्यों की नैतिक गरिमा का संदेश रूसो के ग्रन्थों के अध्ययन से मिला और इस कारण उसने रूसो को "नैतिक जगत् का न्यूटन" कहकर पुकारा। मानव-स्वभाव का सम्मान करने में वह रूसो से कितना प्रभावित हुआ—इसका आभास उसके निम्नलिखित नोट से, जो उसने एक निबन्ध के हाशिये पर लिखा था, मिलता है—

"एक समय था जब मैं यह सोचता था कि केवल यह (ज्ञान के लिये तीव्र प्यास और उसमें वृद्धि करने की अभिभ्रान्त भावना) ही मानव-जाति का सम्मान हो सकती है, और मैं उस साधारण मनुष्य से घृणा करता था जो कुछ नहीं जानता। रूसो ने मुझे सही मार्ग का दर्शन कराया। मेरा यह अंधा पक्षपात मिट गया। मैंने मानव स्वभाव का सम्मान करना सीखा, और यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मानव-अधिकारों को प्रतिष्ठित करने के लिये इस विचार से दूसरों का भी मूल्य बढ सकता है तो मैं अपने आपको एक साधारण श्रमिक से कहीं अधिक बेकार समझता।"[1]

काण्ट ने यह घोषणा की कि मानव कदापि साधन नहीं हो सकता, उसे सर्वदा साध्य ही रहना है। यह घोषणा प्रजातांत्रिक आदर्शवाद की आधारशिला है। कान्ट ने भौतिक सुखों को मान्यता न देकर आत्मिक शांति की महत्ता पर बल दिया।

रचनायें—कान्ट की वे महान् कृतियां जिनके कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई, तीन हैं—

(१) Critiques of Pure Reason (1781)—इसमें कान्ट ने तत्व-ज्ञान और बौद्धिक संवित शास्त्र की विवेचना की।

(२) Critique of Practical Reason (1788)—इसमें नीति-शास्त्र की मीमांसा की गई है।

---

1. "There was a time when I thought that this alone (a consuming thirst for knowledge and a restless passion to advance) could constitute the honour of mankind, and I despised the common man who knows nothing. Rousseau set me right. This blind prejudice vanished; I learnt to respect human nature, and I should consider myself for more useless than the ordinary working man if I did not believe that this view could give worth to all others to establish the rights of man".
—Quoted by *Carl J. Friedrich*, in his Introduction to the 'Philosophy of Kant', in the Modern Library Series. P. 22-23

(३) Critique of Judgement—इसमें काण्ट ने सौंदर्य शास्त्र का विश्लेषण कर प्रयोजन ग्राहक शक्ति का रहस्योद्घाटन किया।

इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त काण्ट की अन्य महत्वपूर्ण रचनायें ये हैं—

(४) Metaphysical First Principles of the Theory of Law (1799)—इसमें काण्ट के कानून तथा सरकार सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। इसकी रचना उसने ७० वर्ष से भी अधिक की अवस्था में की थी।

(५) Eternal Peace (1796)—इसमें काण्ट के शांति तथा युद्ध सम्बन्धी विचार संगृहीत हैं।

काण्ट का मत था कि राजनीति का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से किया जाय। अतः राजनीति का नैतिकता के प्रसंग सहित अध्ययन करना ही काण्ट प्रणाली कही जाती है। काण्ट की मान्यता थी कि नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड है। उसका यह विश्वास था कि नैतिकता से पृथक होने पर राजनीति सर्वथा मूल्यहीन है और नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतः उपयोगी एवं सार्थक हो सकता है।

काण्ट का नैतिक इच्छा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार
(Kant's Conception of Moral Will and Moral Liberty)

काण्ट के विचारों में उसकी नैतिक इच्छा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं के आधार पर उसने अपने समस्त विचारों को निर्धारित किया है। वह रूसो के नैतिक इच्छा अथवा साधारण इच्छा के सिद्धान्त में अक्षरशः विश्वास करके आगे बढ़ता है और यह सिद्धान्त ही उसके समूचे दर्शन की आधारशिला है। काण्ट का मत है कि सच्चे अर्थों में केवल वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप में स्वाधीन है। स्वतन्त्रता का अर्थ वह यथा इच्छा तथा अनियन्त्रित कार्य करने की उच्छृङ्खलता नहीं मानता। उसके मतानुसार एक व्यक्ति के उपभोग योग्य सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो दूसरों के समान तथा सार्वदेशिक कानून द्वारा मर्यादित है। स्वतन्त्रता को वह अधिकारों के साथ सम्बद्ध मानता है और उसकी मान्यता है कि स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा का अधिकार है जिसे आत्मारूपित आदेशात्मक कर्त्तव्य भी कहा जा सकता है (Freedom is a right to will, a self imposed imperative duty)। इस प्रकार अधिकार और स्वतन्त्रता के मध्य एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करता हुआ काण्ट नैतिक इच्छा की स्वाधीनता पर बल देता है।

काण्ट मानवीय इच्छाओं को दो भागों में विभाजित करता है—(१) वे इच्छाएं जिनके द्वारा मनुष्य वासना की प्रवृत्ति की ओर झुकता है, ये वासनात्मक इच्छायें अनैतिक होती हैं और मनुष्य की यथार्थ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं, (२) वे इच्छायें जो विवेक पर आधारित हैं इनका आधार नैतिकता होती है और ये मनुष्य की यथार्थ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। काण्ट का कहना था कि स्वतन्त्रता इसी नैतिक या यथार्थ इच्छा का गुण है। रूसो ने नैतिक इच्छा को 'भली इच्छा' (Good Will) के नाम से पुकारा है। काण्ट ने 'भली इच्छा' का उपयोग आचारिक (Ethical) रूप में

किया है और बताया है कि नैतिक स्वतंत्रता इसी बात में अभिहित है कि मनुष्य अपनी 'भली इच्छा' के अनुकूल ही कार्य करे।

कान्ट ने नैतिक स्वतत्रता की अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुये कहा है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, बुद्धि प्रधान और सदाचार विषयक है। यह स्वतन्त्रता इसीलिये है कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन न करके उन नियमों का पालन करता है जो स्वयं उसके अन्तःकरण की आवाज है। कान्ट ने इस प्रकार के नियमों को "कर्तव्य के अटल आदेश" (Categorical Imperative of Duty) की संज्ञा दी है। कर्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या करने से कान्ट की नैतिक स्वतंत्रता की धारणा और अधिक स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि इन दोनों का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है।

हम यह नित्य ही अनुभव करते और देखते हैं कि हमारे अधिकांश कार्यों में 'यदि' की शर्त लगी रहती है। उदाहरणार्थ हम प्राय: कहते रहते हैं 'यदि मैं प्रथम श्रेणी से पास होना चाहता हूं तो मुझे परिश्रम करना चाहिये।' 'मुझे प्रात: उठना चाहिये यदि मैं चाहता हूं कि मुझे प्रार्थना और व्यायाम दोनों के लिये समय मिले'। स्पष्ट है कि परिश्रम करना और प्रात: उठना 'मेरे' लिये तभी आवश्यक होंगे जब 'मैं' प्रथम श्रेणी मे पास होने एवं प्रार्थना तथा व्यायाम दोनों के लिये समय चाहूं। यदि मेरे समय मे कर्त्तव्य के ये दोनों आदेश उपस्थित न हों तो मेरे परिश्रम करने और प्रात: उठने का कोई मूल्य ही नहीं होगा। चूंकि उपरोक्त आदेश मेरी अन्य इच्छाओं की तृप्ति के लिये अभीष्ठ हैं अत: सशर्त आदेश (Hypothetical Imperative) कहा जा सकता है। कान्ट का कथन है कि कर्त्तव्य भी एक आदेश है जो एक विशेष प्रकार के कार्य की मांग करता है। लेकिन दूसरे सशर्त की अपेक्षा यह अटल (Categorical) है। दरअसल में हमारा कर्तव्यपालन करने का जो कर्त्तव्य है वह न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न यह किसी 'यदि की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन करे अथवा नैतिक नियम के अनुसार आचरण करे। ऐसा उसे इसलिये नही करना चाहिये कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की किसी वस्तु की कामना करता है, बल्कि केवल इसलिये कि यह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत् सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उसी हद तक शुभ है जिस तक कि वह हमारे कर्त्तव्य के अटल आदेश से निर्धारित होती है, इसलिये नहीं कि वह क्या करती है या क्या प्राप्त करती है।" कान्ट के शब्दों में "ससार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप से अच्छी हो। केवल सद्भावना ही निरपेक्ष रूप से शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णय शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत सी बातों में अच्छे और वांछनीय है। परन्तु इनका प्रयोग करनेवाली इच्छा अथवा चरित्र अच्छा नहीं है तो प्रकृति के ये ही उपहार अत्यन्त बुरे और आपत्तिपूर्ण हो उठते हैं।"[1]

---

1. 'Nothing can possibly be conceived in the world, or even outside it, which can be called good without qualification,

उपरोक्त विचारों को सार रूप से सरल शब्दों में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि "कान्ट के अनुसार मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है, नैतिक आधार पर आचरण करने से ही स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकती है क्योंकि नैतिकता मनुष्य पर बाहर से थोपी गई वस्तु न होकर उसके स्वयं के अन्त करण की ही एक आज्ञा होती है।"

काण्ट की इस समस्त धारणा की समीक्षा यही है कि मानव जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है। अत प्रश्न यह उठता है कि "इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिये ?" काण्ट का कथन है कि इसका निगमन विशुद्ध बुद्धि से हुआ है इसका कोई विशिष्ट तत्व नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार का कोई विशिष्ट तत्व होता तो यह ससार व्यापी और अटल (Categorical) नहीं हो सकता था। कांट के अनुसार इसीलिए, नैतिक नियम की माग केवल यही है अथवा हो सकती है कि हमे बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किये सदैव अपने कर्त्तव्यपालन पर लगे रहना चाहिये। हमें स्वय मे एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करनी चाहिये जो अपने आप मे स्वय शुभ हो। काट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ सूक्तियां निगमित की हैं। ये सूक्तियां, जो एक बड़ी सीमा तक हमारे आचरण का पथ प्रदर्शन कर सकती हैं, निम्नानुसार हैं—

(१) व्यवहार अथवा आचरण इस प्रकार करो जो सार्वभौमिक हो सके। मनुष्य का वही कार्य करना चाहिये जिसे सब कर सकें और जो सबके लिए उचित भी हो।

(२) अपने मे अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति मे जो मानवता है उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। ऐसे आचरण से मानवता उच्चतर स्तरों की ओर प्रगतिशील बनी रहती है।

(३) आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यों के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हम मानव-जाति के लिए भ्रातृत्व का सम्बन्ध रखना चाहिये।

उपरोक्त सूक्तियों का सम्मिलित भाव यही है कि वही कार्य पूर्ण शुभ है जिसको करनेवाला यह इच्छा प्रकट कर सके कि समस्त मनुष्यों को उसी सिद्धान्त पर चलना चाहिए जिस पर कि वह आधारित हो। साथ ही समस्त मनुष्यों को अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए साधन बनाने की कामना का त्याग करना चाहिए और सम्पूर्ण मानव-जाति को एक महान् भ्रातृ मण्डल के रूप में स्वीकार करना चाहिये।

---

except a good will Intelligence, wit, judgment and the other ... [illegible] ... by good and desirable in ... may also become ... which is to make ... constitutes what is called character, is not good."

काण्ट के राजनैतिक विचार
(Political Ideas of Kant)

कांट के राजनैतिक विचारों को स्पष्ट करने के लिए यह उचित होगा कि उन पर आवश्यकता एवं विषय-वस्तु के अनुरूप पृथक-पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाय।

काण्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण (Kant as an Individualist)—आदर्शवादी होने के साथ-साथ कांट के दर्शन में व्यक्तिवादी तत्व भी स्पष्टतः लक्षित होते हैं। व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर जो यह बार-बार बल देता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक महान् व्यक्तिवादी है। हीगल के विपरीत वह बहुत अधिक मात्रा में व्यक्तित्व की गरिमा एवं महत्ता को सम्मान की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्रबिन्दु तथा आरम्भ स्थल है। कांट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वय है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नहीं माना जा सकता। कांट यहां पर परम्परागत आदर्शवादी दर्शन (Classical Idealism) से कुछ असहमति प्रकट करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ साधन तक ही सीमित रहे। कांट व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ-साथ सार्वजनिक हित का ध्यान भी रखता है। वह यह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज को सर्वथा परे रखे हुए केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करे, निजी स्वार्थ ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो। उसके अपने शब्दों में—**"सद्-इच्छा को छोड़कर संसार में या उससे बाहर ऐसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जिसे बिना किसी रोक के अच्छा कहा जा सके।"**[1]

कांट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें व्यक्तिवाद पूर्णतः लुप्त नही हो पाया था। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक कांट स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि वह उसे राज्य की वेली पर भी बलिदान नहीं करना चाहता। वह व्यक्ति के ऊपर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती नही है। यद्यपि वह यह मानता है कि सामुहिक अथवा सार्वजनिक हित के सम्मुख वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उसके अधीन मानना चाहिये किन्तु इतने पर भी हीगल की भांति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नहीं है। वौगहान (Vaughan) के अनुसार, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक संघर्ष चल रहा है और इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का उसे कोई मार्ग नहीं सूझता है। वह इतना अधिक ईमानदार है कि दोनों में से एक को भी बलिदान करने को उद्यत नही है।'[2]

1. "Nothing can possibly be conceived in the world all out of it which can be called good without qualifications except good will."

—*Kant*

2. "It is clearly a conflict in his mind between the claims of justice and the claims of individual freedom He does not see his way fully to reconcile the two. He is too honest to sacrifice either."

—*Vaughan*

राज्य की आवश्यकता के बारे में काण्ट के विचार (Kant's Ideas about the necessity of the State)—काट ने व्यक्ति के स्वशासन पर जो इतना बल दिया है उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के साथ सामन्जस्य स्थापित करना प्रथम दृष्टि मे विचित्र लगता है क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है तो उसके जीवन मे स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। तो फिर राज्य की आवश्यकता है क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर काण्ट यह कह कर देता है कि मनुष्य मे स्वार्थ की प्रवृति रहती है। वह सदैव अपने को अधिक से अधिक सुखी बनाना चाहता है चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यों न हो। बाह्य रूप से मनुष्य समान है किन्तु उनकी प्रवृत्तियो मे बहुत अधिक असमानता है। राज्य ही एक मात्र ऐसी सस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर प्रदान करती है। इसके लिए राज्य प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है।

काण्ट का कहना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता नैतिक इच्छा के प्रस्फुटन एव कार्यरूप मे परिणत होने के लिए कुछ विशेष परिस्थितियो की आवश्यकता होती है। यह जरूरी है कि मनुष्य की अन्य नागरिको के कार्यों के कुप्रभाव मे रक्षा की जाय; राज्य इस माग की पूर्ति करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है—उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता के लिये आवश्यक है, कर्त्तव्य-पालन करने के लिए आवश्यक है। काण्ट राज्य के अस्तित्व मे जनता की इच्छा को महत्व देता है। उसके अनुसार जनता ने राज्य को यह अधिकार दे दिया है कि वह उसको नियन्त्रण और व्यवस्थित रखे। काण्ट जनता को विद्रोह या विरोध करने का अधिकार नहीं देता। उसका कथन है कि जनता के अन्दर कोई एकीकृत इच्छा नही होती, उसमे विभिन्न इच्छायें होती हैं। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है जिसके समक्ष जनता को अपना समर्पण करना चाहिये।

काट की मान्यता है कि एक व्यक्ति किसी समय जिस वस्तु की कामना करता है वह यथासम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे विश्व-व्यापक नियम का रूप दिया जा सके। बार्कर के शब्दो मे, *"जब वह यह नियम प्रतिपादित करता* है कि 'तू चोरी नही करेगा' तो वह वास्तव मे एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है, और अन्तत., क्योंकि वह एक सम्पूर्ण प्रणाली का निर्माण ही ऐसे नियमो के ऊपर करता है, वह ऐसे कानून को जन्म दे रहा है जो अनिवार्यत राज्य मे प्रतिष्ठित होने एव राज्य द्वारा लागू किये जाने चाहियें।"[1]

स्पष्ट है कि काण्ट की दृष्टि में राज्य नैतिक जीवन के लिये एक आवश्यक शर्त है। नैतिक नियम से नियमित किये जा सकनेवाले सर्वव्यापक कानूनो को राज्य ही भली प्रकार मनवा सकता है, और इसलिये राज्य

1. 'When he lays down the rule 'Thou shalt not steal', he is [illegible] ...le, and ultimately because [illegible]

by a State

—*Barker* : Political Thought in England, P. 26

निश्चयत: एक श्रेष्ठ चीज है (Positive goods) न कि एक आवश्यक बुराई (Necessary evil)। वास्तव में काण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनों को ही महत्व दिया है, और वीगहान का यह कथन दोहराना उपयुक्त ही है कि, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीज उसके मस्तिष्क में स्पष्टत: एक मानसिक संघर्ष चल रहा है और इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना ईमानदार है कि दोनों में से एक को भी बलिदान करने को तैयार नही।"

काण्ट और सामाजिक समझौता (Kant and Social Contract)—काण्ट के ऊपर व्यक्तिवादी धारणा का एक स्पष्ट परिणाम यह है कि उसने राज्य के सावयवी रूप (Organic Nature) पर अधिक बल नहीं दिया है। काण्ट ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विवेचन न करते हुए भी उसका स्वरूप संविदात्मक (Contractual) माना है। उसने संविदा अथवा सामान्य समझौते का यह विचार रूसो के दर्शन से इसलिये लिया है, क्योंकि वह मानता है कि न्याय के अनुसार राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई भी ऐसा कानून मानने के लिये बाध्य नहीं कर सकता जिसके लिये उसने पहले सहमति (Consent) न दे दी हो। काण्ट, रूसो की भांति, संविदा के विचार को एक विवेकसम्मत विचार के रूप में ग्रहण करता है। काण्ट की धारणा है कि संविदा द्वारा ही "यह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतन्त्रता का समर्पण कर देते हैं, लेकिन राज्य के घटक अथवा सदस्य के रूप में वे उसे तुरन्त ही वापिस भी प्राप्त कर लेते है। पूर्ण स्वतन्त्रता एक ऐसी स्वतन्त्रता हैं जिसे प्राप्त करने के लिये वे अपनी जगली कानूनहीन स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते हैं। ऐसा करने से उनकी स्वतन्त्रता कम नहीं होती क्योंकि यह परिवर्तन उनकी स्वयं की इच्छानुसार होता है, परन्तु यह स्वतन्त्रता एक वैधानिक परतन्त्रता का रूप ले लेती है क्योंकि इसका स्थान एक अधिकारों तथा कानूनवाले राज्य में आ जाता है।"[1] काण्ट ने लिखा है "कि राज्य मनुष्यों का एक समूह है जो कुछ कानूनों को मानकर एकता के सूत्र में बंध जाते हैं। राज्य एक प्राकृतिक अनुबन्ध है जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य अपनी बाह्य स्वतन्त्रता त्याग देता है और तुरन्त सामूहिक रूप से सम्पूर्ण सावयव की भांति स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है—ऐसा राष्ट्र एक राज्य कहलाता है।"[2]

---

1. "The men can be understood to 'surrender their external freedom in order to receive it immediately back again as members of the commonwealth' 'They abandon their wild lawless freedom in order to substitute a perfect freedom, a freedom undiminished, because it is the creation of their own free legislative will; but a freedom which nevertheless assumes the form of a lawful dependence, because it takes its place in a realm of Right or Law".

   —*Barker* : Political Thought in England, P. 26

2. "A state is the unification of a mass of people by the acceptance of a set of legal statutes. The act by which the nation constitutes itself a state is the original contract or agreement by which act of its members gives up his outward freedom,

काण्ट संविदा सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में न मानकर दार्शनिक रूप में स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि समझौते की धारणा ही व्यक्ति और राज्य को एकता के सूत्र में बांध सकती है। काण्ट का सामाजिक संविदा या समझौता एक सवैधानिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार शासन का रूप स्थापित हो जाता है और जो शासन एवं जनता के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर देती है। यह संविदा प्राकृतिक अवस्था को सगठित राज्य मे परिवर्तित नहीं करता। काण्ट की दृष्टि से सामाजिक संविदा एक ऐसा नैतिक समझौता है जिसके अनुसार राज्य का निर्माण नहीं होता अपितु "सामाजिक जीवन की एक कम सगठित स्थिति मे अधिक सगठित स्थिति मे विकसित होना व्यक्त होता है।" दूसरे शब्दो में मनुष्य एक विधानहीन स्वाधीनता को छोड़कर एक उच्चतर स्वाधीनता को प्राप्त करते हैं। राजनैतिक मौलिक प्रश्न जिसने काण्ट को आकर्षित किया वह यह था कि किस प्रकार व्यक्तिगत इच्छाओं को एक सामान्य इच्छा (General will) मे सगठित किया जाय जिससे पृथक इच्छाओं की स्वाधीनता भी नष्ट न होने पावे, वरन् उसका प्रभाव और अधिक बढ जावे तथा उसको एक नये रूप में मान्यता प्राप्त हो जाये। काण्ट के अनुसार "समस्त व्यक्तियो की इच्छा समस्त न्याय का स्रोत है, और न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता में समस्त व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से इतनी सीमा तक प्रतिबन्ध है कि वह स्वतन्त्रता सामान्य नियमों के अन्तर्गत आ सके।"[3]

सम्पत्ति पर काण्ट के विचार (Kant's views on property)—सामान्य आदर्शवादियो की भांति काण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था को स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय मे उसके विचार चरम व्यक्तिवादी है और वह यह मानता है कि सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता क्योंकि सम्पत्ति उसकी "इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र ही तो है।" लेकिन यह मानता हुआ भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ोसी के अधिकारो के सम्मान का बन्धन लगाता है। इस विचार के पीछे उसकी यह मान्यता निहित है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुत प्राकृतिक न होकर समाज-प्रदत्त अधिकार है। उसका कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये किसी भी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारो का हनन नहीं करना चाहिये। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिये उन समस्त व्यक्तियों की स्वीकृति की आवश्यकता होनी चाहिये जिनकी किसी सम्पत्ति मे रुचि हो सकती है।

---

to immediately re-assume it through his participation in the corporate whole, the nation regarded as a state".

—*Kant*

1 . . . . all justice, and justice ... ch in the interest of the ... e achieved by a general

—*Kant*

कान्ट का दण्ड सम्बन्धी विचार (Kant's views on punishment)—कॉन्ट समाज में शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने के लिये एवं कानूनों के समुचित परिपालन हेतु दण्ड व्यवस्था को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार कानून तभी भली प्रकार लागू किये जा सकते हैं जब उनके पीछे 'एक बाध्यकारी शक्ति' (Compulsion) का होना आवश्यक है। "सांविधानिक व्यवस्था (Constitutional Order) की स्थापना के लिये स्वतन्त्रता और कानून (Freedom and Law), जो कि विधेयन (Legislation) के दो साधन हैं, के साथ शक्ति (Force) का सम्मिश्रण होना चाहिये। यदि कानून और शक्ति न हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा अराजकता (Anarchism) और स्वतन्त्रता के कानून के अभाव में शक्ति का फल होगा बर्बरता (Barbarism)। इसलिये शक्ति तथा स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है।" कॉन्ट शक्ति को राज्य का एक आवश्यक तत्व मानते हुये राज्य द्वारा अपराधियो को दण्ड देना उचित समझता है। दण्ड का उद्देश्य कान्ट केवल दण्ड मानता है। उसके मत में दण्ड अपराधी को डराने व सुधारने के लिये नही दिया जाता, बल्कि अपराधी को दण्डित करने का एकमात्र कारण यही है कि समाज में न्याय की महत्ता बनी रहे और नियम तथा मर्यादाओं को भग करनेवालों को उसकी सजा मिल जाय। कॉन्ट दण्ड का औचित्य इस आधार पर नहीं देता कि दण्ड से अपराधी में कोई सुधार हो जायेगा अथवा भविष्य में अपराधों की संख्या में ही कोई कमी आ जायेगी या अपराध की पुनरावृत्ति नही होगी। कॉन्ट की मान्यता तो यह है कि दण्ड तो अपराध करनेवाले व्यक्ति के पाप का फल है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्ड सम्बन्धी सुधारवादी (Reformative) तथा निरोधात्मक (Deterreant) दोनों ही सिद्धान्तों को कॉन्ट अस्वीकार कर देता है। उसका मत केवल यही है कि दण्ड न्याय की रक्षा के हेतु आवश्यक (Punishment is essential to uphold justice) है। वह दण्ड के प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धान्त में विश्वास करता है।

कान्ट के अधिकार और कर्तव्य सम्बन्धी विचार (Kant's views on Rights and Duties)—कान्ट के अनुसार अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द (Synonymous terms) हैं। उसके शब्दों में, "मनुष्य की मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, वह है स्वाधीनता।"[1] इसी स्वाधीनता की परिभाषा करते हुये एक अन्य स्थान पर वह लिखता है, "स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने की शक्ति, जिससे अपने पड़ौसी पर किसी प्रकार का कोई आघात न पहुँचे।"[2]

इस तरह कॉन्ट अधिकारों को उनके अनुरूप कर्त्तव्यों से संयुक्त देखता है। वह कहता है कि अधिकारों व कर्त्तव्यों के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य

1. "The only original right belonging to each man by virtue of his humanity is freedom."
2. "Freedom consists in the power to do anything which inflicts no injury on one's own neighbour."

की कल्पना नही की जा सकती। अधिकार ऐसा साधन है जो व्यक्ति का विकास करता है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता का है। अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यो को अधिक महत्वपूर्ण बताते हुये वह कहता है यदि लोग अपने कर्त्तव्यो का पालन करेंगे तो अधिकार स्वत: ही प्राप्त हो जायेंगे। वह अधिकारो और कर्त्तव्यो को एक ही वस्तु के दो पहलू मानता है। उसके मतानुसार कर्त्तव्य एक आत्मारोपित वस्तु (Self imposed) है जिसे स्वीकार करने के लिये मनुष्य की अन्तर चेतना उसे विवश करती है। सरल शब्दो में कर्त्तव्य अपने आप मनुष्य के ऊपर लगता है क्योंकि यह मनुष्य की आन्तरिक चेतना का फल है। कॉन्ट ने व्यक्ति के कर्त्तव्यो को तीन रूपो मे प्रतिपादित किया है—

१. स्वय के प्रति कर्त्तव्य
२ अन्य नागरिको के प्रति कर्त्तव्य
३. राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

चूंकि कान्ट ने विशेष अवस्थाओ मे पाले जानेवाले कुछ निश्चित कर्त्तव्यो का निर्देश नही किया है अत आलोचक लोग उसे "एक विचार-विहीन धारणा (*A concept without content*)" कहकर उसका उपहास करते हैं। कान्ट ने व्यक्ति को कर्त्तव्यो के साथ साथ अधिकार प्रदान नही किये हैं, केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार को छोडकर। उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का भी अधिकार प्रदान नही किया है, चाहे शासन तन्त्र व्यक्तियो पर कितना ही अत्याचार क्यो न करे। व्यक्ति को राज्य का दास न बनाने का विचार प्रकट करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल दे करके वह स्वय को व्यक्तिवादियो की श्रेणी मे ला खडा करता है, किन्तु यह बात विलक्षण है कि वह राज्य को सर्वशक्तिमान बनाता है। हाब्स एव रूसो के इस विचार से वह सहमत है कि राज्य की रचना करते समय मनुष्यो ने अपने समस्त अधिकारो का राज्य को समर्पण कर दिया था और इस तरह राज्य के अधिकारो को निरपेक्ष एव निरकुश बना दिया था। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' मे कान्ट ने लिखा है कि, "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, और परिणाम-स्वरूप यह कानून-विहीन होती है। एक कानून द्वारा समस्त विशिष्ट इच्छाओ को एकीकृत करनेवाली एक सर्वोच्च इच्छा के सम्मुख इसका अशर्त समर्पण एक ऐसा तथ्य है जिसका जन्म केवल मात्र सर्वोच्च शक्तिपूर्ण सस्था मे ही हो सकता है, और इस प्रकार 'सार्वजनिक अधिकार' की आधार-शिला रखी जाती है। अत विरोध का अधिकार प्रदान करना और उसकी शक्ति को सीमित कर देना परस्पर विरोधी बातें हैं।"[1]

---

1. "The will of the people is naturally ununified and conse- [illegible] submission under a [illegible] law, is a [illegible] power, [illegible] a right [illegible]"

एक अन्य स्थान पर कान्ट यह स्पष्टतः घोषित करता है कि नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक है और इसलिए उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार हो ही नहीं सकता। कान्ट के मत में तो राज्य के आदेशों का पालन करना ही उचित है क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति किसी दूसरे के आदेशों का पालन नहीं करते हैं वरन् वे अपनी सद्-इच्छाओं का ही पालन करते हैं।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में कान्ट के विचार (Kant's views on the Sphere of the State):—राज्य को सर्व शक्तिमान एवं अपरिहार्य बताते हुए भी और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार का निषेध करते हुए भी कान्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ-कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण कान्ट राज्य को अधिक कार्य सौंपना नहीं चाहता। उसके राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत संकुचित तथा निषेधात्मक (Negative) है। उसके मत में राज्य प्रत्यक्ष रूप से, 'नैतिक स्वाधीनता' के विकास तथा प्रसार के लिए कुछ नहीं कर सकता। यह काम तो अपने आप करना होगा। राज्य का कर्त्तव्य तो केवल इतना ही है कि वह 'उसकी स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं को बाधित करे (To hinder the hinderance of freedom) तथा ऐसी बाह्य सामाजिक स्थितियों की स्थापना करे, जिसके अन्तर्गत नैतिक विकास सम्भव हो सके।' कान्ट के विचारानुसार नैतिकता कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर कर्म करने एव नैतिक नियम का पालन करने में निहित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी वृद्धि राज्य द्वारा नहीं की जा सकती। इस विचार को कि राज्य का प्रमुख कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करना है ग्रीन एवं बोसांके ने ही अपनाया, हिगल ने नहीं।

शासन तन्त्र की विवेचना में मोन्टेस्क्यू का अनुकरण करते हुए कान्ट शासन के कार्यों को तीन भागों में विभक्त करता है—विधायन कार्य, कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य एवं न्यायपालिका के कार्य। उसका कहना है कि व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत ही जरूरी है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका के विभाग एक दूसरे से अलग और स्वतन्त्र रहें। लॉक और मैन्टेस्क्यू की भांति कान्ट भी शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त में विश्वास करता था। कार्यपालिका को वह व्यवस्थापिका के अधीन करने का पक्षपाती है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को वह तीन स्वतन्त्र नैतिक व्यष्टि मानते हुए यह विचार प्रकट करता है कि तीनों में कोई भी दूसरे की शक्ति हड़प नहीं सकता।

शासन के विभेद (Form of Government)—कान्ट ने राज्यों का विभाजन तीन भागों में किया है—

(१) राजतन्त्र (Autocracy)
(२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
(३) प्रजातन्त्र (Democracy)

इसी प्रकार सरकार के भी उसने दो प्रकार माने हैं—(१) गणतन्त्रीय (Republican) और (२) तानाशाही (Despotic)।

सरकार के उपरोक्त दो विभेद कान्ट ने इस आधार पर किये हैं कि सरकार मे विधायिका तथा कार्यपालिका अलग अलग है या नहीं। शासन के स्वरूपो के विषय मे कान्ट के इन विचारो म कोई नवीनता नही है क्योकि शासन के इस वर्गीकरण को तो अरस्तू ने ही बहुत पहले लिख दिया था।

वस्तुत कान्ट को शासनतन्त्र के किसी स्वरूप से प्रेम न था। उसका मत तो यही था कि शासनतन्त्र का चाहे कोई भी स्वरूप हो परन्तु उसके द्वारा जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व किया जाये। उसके अनुसार, जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधित्व—*कोई भी कर सकते हैं।* इस तरह कान्ट शासनतन्त्र से उसके केवल अभीष्ट की पूर्ति चाहता है उसे उसके स्वरूप से कोई सरोकार नहीं। कान्ट के अनुसार शासन का अभीष्ट यही है कि वह व्यक्ति को राज्य में नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करे। कान्ट ने प्रतिनिधिमूलक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का जो प्रतिनिधि माना है उससे उसके राजतन्त्र वादी होने का स्पष्ट आभास मिलता है। इस सम्बन्ध मे प्रो० डानिंग ने लिखा है कि 'प्रशिया के राज्य मे एक राजकीय विश्वविद्यालय मे वयोवृद्ध प्रोफेसर होने के नाते वह राजतन्त्र के प्रति अपनी अन्धश्रद्धा त्याग म असमर्थ है।"

क्रान्ति पर कान्ट के विचार (Kant's views of Revolution)—क्रान्ति के विषय मे कान्ट के विचारो पर प्रकाश पिछले पृष्ठों मे 'अधिकारो एव कर्त्तव्यो' के प्रसग में डाल जाने के बाद इस पर और अधिक विवेचना करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। यहा इतना ही लिखना पर्याप्त है कि क्रान्ति के विषय मे कान्ट के विचारो पर फ्रास की राज्यक्रान्ति का प्रभाव पडा था। क्रान्ति से उसे घृणा थी अत 'उसने एक ऐसी अपरिवर्तनशीलता (Stagnation) का उपदेश दिया है जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता है।' नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसने विद्रोह को वह 'धर्मशास्त्र में पवित्रात्मक कार्य के प्रति किए जानेवाले पातक के समान समझता है, जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में क्षमा नही मिल सकती।'[1] यहा कान्ट जर्मन आदर्शवादी परम्पराओ को मानता है और कहता है कि 'यदि विधान मे कोई परिवर्तन करना है तो वह केवल शासक ही कर सकता है, जन-क्रान्तिया नही।" क्रान्ति के सम्बन्ध मे ऐसे विचार रखते हुए भी कान्ट ने फ्रांस की क्रान्ति को क्रान्ति न समझकर एक सामाजिक विकास समझा और उससे सहानुभूति प्रकट की—यह आश्चर्य की बात है।

सम्प्रभुता और कानून पर कान्ट के विचार (Kant's views on *Sovereignty and Law*)—कान्ट प्रभुसत्ता का भी वर्णन करता है।

---

1 [illegible] ... is an immoral and inexpi- ... Ghost spoken of by ... by in this world or in the next.

राज्य का अस्तित्व प्रभुसत्ता के विना नहीं है—इसे वह स्वीकार करता है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली जनता की इच्छा को सम्प्रभुता की मान्यता देता है। लेकिन सामान्य इच्छा काल्पनिक होती है—इसलिए कान्ट का कहना है कि उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप अवश्य होना चाहिए। कान्ट के मतानुसार, 'सामान्य इच्छा को एक व्यक्ति, या कुछ व्यक्तियों के समूह, या बहुत से व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जा सकता है।"[1] कान्ट यह स्पष्ट कहता है कि सम्प्रभुता के अभाव में राज्य की कल्पना नही की जा सकती। सामान्य इच्छा स्थित सम्प्रभुता को वह किसी एक स्थान को नही मानता।

कान्ट की कानून सम्बन्धी धारणा मध्यकाल की नैसर्गिक-विधि की धारणा से मिलती-जुलती है। वह इस विचार का तिरस्कार करता है कि कानून सम्प्रभुता का आदेशमात्र है। वह कानून को राज्य से ऊपर मानता है, किन्तु उसे दैविक इच्छा की अभिव्यक्ति न मानकर विशुद्ध बुद्धि की उपज समझता है। उसके अनुसार केवल वे ही कानून सच्चे हैं और नागरिकों की भक्ति पर दावा कर सकते हैं जो विशुद्ध-बुद्धि के अनुकूल हो। इस विषय मे कान्ट अरस्तू के निकट आ जाता है। विधियों अथवा कानूनों का स्रोत जनता को मानते हुए कान्ट कहता है कि चूकि जनता ही वस्तुतः सम्प्रभु होती है—इसलिए वही सर्वोच्च विधायका शक्ति का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतया व्यक्तियो का कोई एक सगठन समूहों से अधिक मूल्य नहीं रखता लेकिन सविधान ही व्यक्ति–समूह को राष्ट्र की संज्ञा देता है—जाति बनाता है। राज्य की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति को इसी सविधान द्वारा ही प्राप्त होती है। विधि का लक्ष्य क्या है—इसके उत्तर में कान्ट का कहना है कि विधि का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य की स्वतन्त्रता के बीच समन्वय स्थापित करना है। व्यक्ति को सदैव विधि के अनुकूल ही कार्य करना चाहिये क्योंकि विधि मनुष्य की स्वतन्त्रता के मार्ग में सहायक है।

विश्व–शान्ति और प्रगति के विषय में कान्ट के विचार (Kant's views on World Peace and the Law of Progress)—कान्ट ने स्थाई शान्ति और प्रगति के नियम को राजनैतिक रूप प्रदान किया और इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला। आगे चलकर इस विचार को हीगल ने और भी विकसित किया।

स्थाई शान्ति एवं प्रगति के नियम के सम्बन्ध मे कान्ट के विचार निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान काल मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले बोदां (Bodin) ने किया था। उसने कहा था कि 'मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नही।" १८वी सदी मे टर्गो एवं काडोरे (Turgot and Condorcet) नामक दो फ्रेंच लेखकों ने भी इस

---

1. "To give it objective, practical reality, it must be expressed in physical form, as one, or few, or many persons".
—*W. A. Dunning* : A History of Political Theories, Vol. III, P.133

विषय पर बल दिया। किन्तु इसे एक निश्चित तथा बुद्धि सम्मत रूप देने एवं राजनैतिक विचार के इतिहास में इसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का श्रेय काण्ट को ही है। हीगल में विकसित होकर यह विचार बाद में मार्क्स की शिक्षाओं की आधारशिला बन गया।

काण्ट ने लिखा है कि स्वतन्त्रता का परीक्षण करने से उसकी गतियों में एक नियमित धारा दृष्टिगोचर होती है। प्रगति का नियम (Law of Progress) एक ऐसी शक्ति है जो इस विश्व की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित करती है। यह शक्ति मानव की उत्तरोत्तर प्रगति किया करती है। प्राकृतिक अविकसित अवस्था में मनुष्य सघर्षरत रहा करता था। उस दशा से त्रस्त होकर मानव के मानस में एक विवेक का विकास हुआ जिसने नैतिकता को जन्म दिया। इस विवेक और नैतिकता के कारण मनुष्य ने कानून निर्मित किये और उनके पालन में ही सुख-शान्ति के दर्शन किए। प्रगति के नियमों का श्रेष्ठतम वर्णन निश्चय ही काण्ट ही के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। वह कहता है कि—

"जब मानव-स्वतन्त्रता की क्रीडा का मानव-इतिहास के बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो उसकी गतियों में एक नियमित धारा दिखलाई पड़ती है .....और इस प्रकार, जो चीज व्यक्तियों की स्थिति में उलझी हुई और अनियमित दिखलाई पड़ती है वही चीज सम्पूर्ण इतिहास में अपनी मूल शक्तियों की निरन्तर प्रगति-यद्यपि मथर विकास के रूप में जानी जायेगी। व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति और राष्ट्र भी अपने निजी उद्देश्यों की प्राप्ति में लगे हुए, प्रत्येक अपनी दिशा में और प्राय एक दूसरे की विरोधी दिशा में जाते हुए यह नहीं सोचते कि वे सब अनजाने में ही प्रकृति के उद्देश्य के निर्देशन में आगे बढ़ रहे हैं, जो कि उन्हें ज्ञात नहीं हैं और कि वे एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कार्य कर रहे हैं, जो कि यदि उन्हें ज्ञात भी हो जाता तो उसका कोई विशेष महत्व नहीं समझा जाता।"[1]

काण्ट के प्रगति के नियम का अर्थ सक्षेप में एक अन्य विद्वान लेखक के शब्दों में इस तरह प्रकट किया गया है—"प्रगति के नियमों का अर्थ यह है कि एक ऐसी शक्ति वर्तमान है, चाहे उसे परमात्मा कहो चाहे प्रकृति, जो

1. "When the play of the freedom of the human will is examined on the great scale of human history, a regular march will be discovered in its movements . and in this way, what appears to be tangled and unregulated in the case of individuals will be recognised in the history of the whole species

इस संसार के घटना-चक्र को नियंत्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों की विभिन्न शक्तियों का निरन्तर विकास होता जाये और मानव-जाति उन्नति करके उच्चतर स्तरों पर पहुंच जाये। सम्पूर्ण प्रकृति मानव शक्तियों के प्रस्फुटन की दिशा में अग्रसर है।"

कान्ट का विश्वास था कि "प्रकृति द्वारा मानव में अन्तर्हित समस्त शक्तियां, कालक्रम में, अपने उद्देश्य के अनुसार, अपना पूर्ण विकास कर लेंगी। मानव बुद्धिशील प्राणी है और समष्टि में ही उसका पूर्णतम विकास संभव है। समाज में स्वाभाविक संघर्ष की प्रतिक्रिया वर्तमान है किन्तु इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम अच्छा ही है क्योंकि इस कारण मानव अपनी शक्तियों का विकास करता है और अन्ततोगत्वा इस संघर्ष का शमन करने के लिये विधि द्वारा नियंत्रित व्यवस्था की रचना होती है। मानव जाति के सामने सबसे बड़ा और सबसे कठिन प्रश्न यही है कि किस प्रकार ऐसे समाज नागरिक की व्यवस्था हो जो विश्वजनीन रूप से विधि–सम्मत अधिकारों का प्रशासन करे। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण नागरिक समाज की व्यवस्था हो ही नहीं सकती जब तक राष्ट्रों के बाह्य सम्बन्ध विधि-सम्मत नहीं होते। यदि मानव जाति के इतिहास पर विचार करें तब ऐसा मालुम पड़ता है कि प्रकृति आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पूर्ण एक राजनीतिक संविधान के निर्माण के लिये यत्नशील है जिससे मनुष्य की समस्त शक्तियों का विशेष रूप से विकास हो सके।"

कान्ट ने बताया कि व्यक्ति अकेले ठीक नहीं रह सकता-यह प्रकृति विरुद्ध है। अकेले में वह झूठ बोलता है तथा धोखा देने की कोशिश करता है, किन्तु समाज में रहकर वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसे सामाजिक निन्दा का भय बना रहता है। मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है, फिर भी एकाकीपन में वह बुराई की सोचता है। सबके बीच में वह भलाई के पथ पर अग्रसर होता है। समाज में रहकर उसमें नैतिकता का विकास हो पाता है।

कान्ट ने विश्व-शान्ति और उसके मार्ग की बाधाओं के विषय में प्रकाश डाला है। अपने इतिहास के दर्शन द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व का विकास शान्ति की दिशा में ही हो रहा है। कान्ट का मत था कि यूरोपीय राज्य–व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः यह स्थाई शान्ति नहीं रह सकती।

कान्ट विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त का उपासक था और समूची मानवता को एक इकाई के रूप में देखता था। उसने बहुत पहले से ही एक संघात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की थी जिसे वह ईश्वरीय इच्छा बतलाता था और यह कामना करता था कि समस्त मानव–जाति इस संयुक्त विश्व राज्य के अन्तर्गत सुख-शान्ति से रहे। कान्ट की मान्यता थी कि जिस प्रकार अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से व्यक्तिगत जीवन में बुराइयां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार राज्यों के लिये भी अनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुरी है। जिस प्रकार व्यक्ति में स्वार्थी प्रवृति पाई जाती है, उसी प्रकार राज्यों में भी यह भावना छिपी रहती है। किसी राज्य के नागरिकों का भाग्य उसके आन्तरिक संगठन पर ही निर्भर नहीं रहता है, वरन् दूसरे राज्यों के साथ पारस्परिक संबधों पर भी निर्भर

करता है। जो राज्य सदैव अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में ही लगा रहता है वहां नैतिकता का अभाव रहता है। "राज्य एक अलग सावयव नहीं है अपितु उसका संबध अन्य राज्यों के साथ भी है जो कि उसके आन्तरिक और बाह्य नीति पर प्रभाव डालता है।" कान्ट के अनुसार सबसे शान्तिपूर्ण राज्य लोकतन्त्रात्मक है। इन देशों में युद्ध तभी हो सकता है जब जनता उसके लिये तैयार हो। बिना जनता की राय के युद्ध नहीं किया जा सकता है।

कान्ट ने बताया है कि विश्व-शान्ति तीन प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—

(१) किसी आकस्मिक सुघटना से, किन्तु इस प्रकार की आशा दुराशा मात्र है,

(२) प्रकृति के स्वाभाविक विकास-उद्देश्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन से, अथवा

(३) यदि वर्तमान झगड़ों के कारण समस्त राष्ट्र एक विश्व व्यापक निरकुश बर्बर शासन के अन्तर्गत आ जायें।

चिरकालिक अथवा चिरस्थाई शान्ति (Perpetual or permanent peace) की स्थापना के प्रारम्भिक मूल सूत्रों की विवेचना करते हुये कान्ट का कथन है कि कोई भी सन्धि विहित (Legal) नहीं माना जाना चाहिये, यदि साथ ही भावी युद्ध छेड़ने की सामग्री भी गुप्त रूप से सुरक्षित की जा रही हो। विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिये कि किसी स्वतन्त्र राज्य को अन्य राज्य दायभाग, विनिमय अथवा दान के रूप में प्राप्त न कर सकें, क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी। विश्व-शान्ति को स्थाई बनाने की दिशा में यह भी आवश्यक होगा कि स्थिर सेना (Standing Army) को हटा दिया जाये। स्थिर सेना से सर्वदा ही युद्ध को उत्तेजना मिलती है। राज्यों के बाह्य सम्बन्धों (External affairs) के सम्बन्ध में राष्ट्रीय ऋण लेना भी कान्ट के अनुसार चिरस्थाई शान्ति के लिये खतरा है। यह संसार सुख और शान्ति की नींद ले सके—इसके लिये यह आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के संविधान एवं शासन में हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित कर दिया जाये। शान्ति की दिशा में यह भी एक सहयोगी कदम होगा कि युद्ध काल में भी वधिकों का और विश्वासघात का प्रयोग नहीं होना चाहिये। ये बातें शान्ति की स्थापना में विघ्न लाती हैं। शाश्वत शान्ति का एक अन्य मूल सूत्र कान्ट ने यह बताया कि प्रत्येक देश का संविधान गणतान्त्रिक हो, स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ बने जिनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग प्रचलित हो।

स्पष्ट है कि कान्ट ने शाश्वत शान्ति (Permanent peace) के संवैधानिक और भावात्मक आधारों की बड़ी ही सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

काँट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन
(Criticism of Kantian Philosophy and His Estimate)

आलोचकों ने कान्ट के दर्शन में अनेक त्रुटियां बताई हैं और उसके राजनैतिक विचारों की अनेक आधारों पर गम्भीर आलोचना की है।

आलोचक कान्ट के आदर्श को एक काल्पनिक तथा अव्यावहारिक आदर्श बताते हैं। उनका कथन केवल काल्पनिक अधिकारों और कर्तव्यों का जीवन मे कोई विशेष महत्व नही है। उनसे समाज का कोई विकास नहीं होता। कान्ट इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सका कि साधारण दृष्टिकोण से व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये अथवा उच्च दृष्टिकोण से अर्थात् मानव की उच्च प्रवृतियों के विकास के लिये सुविधायें प्रदान करके।

कान्ट के विचारों में व्यक्तिवाद व आदर्शवाद दोनों ही दर्शनों का पुट मिलता है अत: उसके चिन्तन में अनेक विरोधाभास प्रविष्ट हो गये हैं और अनेक असगतियां उत्पन्न हो गयी हैं। कान्ट अपने दर्शन में स्थान-स्थान पर ऐसी मान्यतायें देता है जो परस्पर विरोधी हैं, और जिनमें सामन्जस्य स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ 'स्वाधीनता' की परिभाषा देते समय कभी वह व्यक्तिवादी विचारधारा मे प्रभावित होता है तो कभी उसे "उच्चतर शक्तियों के नैतिक विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियां" बतलाने लगता है। इसी भांति एक ओर तो वह जनता की सम्प्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर ऐसे शासक के बने रहने को उचित बतलाता है जिस पर किसी भांति का वैधानिक नियंत्रण न हो। सम्पत्ति, दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र आदि सभी विषयों पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। वौगहन के शब्दों में "कान्ट असफल इसलिये हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा।" राज्य को एक नैतिक संस्था समझाते हुये कान्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्यापूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह जोर न दे सका।

कान्ट के शासन सम्बन्धी विचारो में कोई नवीनता नहीं है। उसकी सामान्य इच्छा व अच्छी इच्छा आदि का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। मुख्य रूप से उसका यह कहना कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है गलत है। कान्ट अनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने में भी सर्वथा असफल रहा है। एक ओर तो वह कहता है कि शासन जनता की सहमति पर निर्भर है, वह न्याय और व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध नही करता, और दूसरी ओर वह यह भी कहता है जो शासन जनता की अनुमति बिना चलाया जाता है उसमें जनता की नैतिक स्वतन्त्रता हमेशा खतरे मे पडी रहती है। नतीजा यह होता है कि पाठक असमजस में पड़ जाता है और वह समझ नहीं पाता कि किस मार्ग का समर्थन करे।

आलोचकों के अनुसार कांट का दर्शन एक अनुभवहीन तर्कवादी दार्शनिक का दर्शन है। उसने व्यावहारिक राजनीति का न अध्ययन किया और न उससे कोई लाभ ही उठाया। इस कारण उसके दर्शन में एक अव्यावहारिकता (Impracticability) आ गई है जो उसे यथार्थ (Realities) से दूर कर

केवल कल्पना अथवा मस्तिष्क का विषय मात्र ही रहने देता है। डेवी (Dewy) के शब्दों में "ऐहिक उद्देश्यों और परिणामों से पृथक कर्त्तव्य का उद्देश्य बुद्धि को कुण्ठित करता है" (A gospel of duty separated from empirical purposes and result tends to gag intellig ence)।

अन्य जर्मन देशों के दार्शनिकों की भाँति काण्ट भी राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिसमें जनता की भावना मूर्त होती है। आगे चलकर हीगल आदि के दर्शन में राज्य की यही परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान (Omnipotent) बना देती है, अतः यह एक भयंकर परिभाषा है।

पुनश्च आदर्शवादी विचारधारा यूरोप में फैली व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी फिर भी काण्ट को एकता निगमात्मक जीवन (Corporate Life) का अनुभव न होने के कारण तथा दूसरे नैतिक स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिए जाने के कारण उसका दर्शन भी व्यक्तिवाद की तरफ ही झुक सा गया था।

यद्यपि काण्ट के विचारों की विद्वानों ने बहुत अधिक आलोचना की है किन्तु उसके सिद्धान्तों में अच्छे तत्व भी विद्यमान हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि काण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन में इस प्रकार की कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग में एक संक्रान्ति काल है (Transitional stage) और डेवी के शब्दों में "काण्ट सच्चे अर्थों में दर्शन के प्राचीन युग के अन्त तथा आधुनिक विचारधारा के आरम्भ का एक उल्लेखनीय प्रतीक है' In genuine sense Kant marks the end of the old age in Philosophy and a transition to the distinctively Modern Thought) रसल (Rusell) आदि विचारक काण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य" मानें (A mean misfortune) किन्तु राजनीति का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि वह आदर्शवाद का एक सच्चा संस्थापक है।

काण्ट के विचार यद्यपि मौलिक नहीं थे परन्तु उसने जो कुछ भी कार्य किये उनके कारण उसका दर्शन में स्थान है। डॉ० क्लिंक (Klinke) का मत है कि "काण्ट ने एक नये दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास में उसकी दार्शनिक रचनाओं ने मील के पत्थर का काम किया है। वह उन महान् एवं गम्भीर विचारकों में से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओं में बल्कि अपने जीवन से भी अपने समकालीन बुद्धिजीवियों और भावी पीढ़ियों को भी प्रभावित किया।"[1] इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसकी Critique of Pure Reason' दर्शन को एक अत्यन्त महान् देन है। काण्ट

---

1 'Kant ushered a new epoch in philosophical thought With major writings constitute a mile-stone in the history of Philosophy He is one of those great and profound thinkers who, by their works, but also by their lives exercised a lasting influence upon the intellectual life of their own time and posterity "

—*Dr W Klinke*

उन महान् लेखकों और विचारकों में से है जिन्होंने केवल अपने लेखों से ही नहीं वल्कि जीवन से भी अपने समय के तथा भविष्य के मानसिक जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला।

काण्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारों का प्रभाव वड़ा व्यापक हुआ। अनुभववाद और संशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की धारा की पुष्टि की। दृश्य-जगत और वस्तु-तत्व में जो द्वैत काण्ट ने कल्पित किया था उसका परिहार कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया। काण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और संशलेषण में पार्थक्य (Separation) का फिग्टे (Fichte) की दर्शन पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा। शॉपनहॉवर के संकल्पवाद और लाट्श के प्रयोजनमूलक विज्ञानवाद पर भी काण्ट के विचारों का असर है। फ्रीस, जार्ज सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए काण्ट के ऋणी हैं। सीमित अर्थ में यद्यपि काण्ट राजनीतिशास्त्री नहीं था फिर भी उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा असर हुआ।

काण्ट के राजनैतिक अनुदाय को हल्केपन से उड़ाया नहीं जा सकता। उसने सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा द्वारा प्रसारित किये गये नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति को अधिक महत्वपूर्ण वतलाया। उसने विवेक के स्थान को अनुभूति से उच्च वतलाया और विशुद्ध विवेक को सत्य तथा असत्य अनुभूतियों को छांटने का साधन माना। काण्ट ने सार्वभूमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला कल्पनावादी विचारक था जिसने विश्वराज्य की कल्पना की। कांट के राजनैतिक विचारों के कारण जर्मनी में उदारवादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहुंचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट (Wright) के इस कथन में वस्तुतः कोई अतिशयोक्ति नजर नहीं आती कि, "सन् १७८१ से अव तक प्रत्येक दार्शनिक, जिसका कोई महत्व है, किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, जाने में अथवा अनजाने में काण्ट और उसके उत्तराधिकारियों का ऋण रहा है।"[1]

जोहान गोटीलेव फिक्टे

(Johann Gotilab Fichte)

(1762–1814)

जोहान गोटीलेव फिक्टे (१७६२–१८१४) एक व्यावहारिक जर्मन आदर्शवादी (Practical German Idealist) था। काण्ट से प्रभावित होकर इसने अपना दर्शन विश्वबन्धुत्व से आरम्भ किया, किन्तु वाद में नेपोलियन की विजय यात्रा द्वारा उत्पन्न विपत्तियों से यह एक चरम

1. "....since 1781 every philosopher of consequence has in some way or other, positively or negatively, consciously or unconsciously been indebted to Kant and his immediate successors."

—*Wright*

राष्ट्रीयतावादी (Nationalist) बन गया। जोहान फिक्टे जिना विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। अपने विचारों की अनुदारता के कारण वह जिना विश्वविद्यालय के अपने पद से हटा दिया गया। सन् १८१० में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और सन् १८११–१२ में फिक्टे वहाँ का रेक्टर बनाया गया। फिक्टे ने राजनीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थों की रचना की, यद्यपि उसके अनुसंधान का व्यापक क्षेत्र तत्त्व ज्ञान था। फिक्टे के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम ये हैं—

1. Contributions to the Justification of the opinion of the Public on the French Revolution (1793)
2. Foundations of Natural Law according to the Principles of Scientific Theory (1796—97) the self-contained *Commercial State (1800)*
3. Addresses to the German Nation (1808)
4. The Theory of the State or The Relation of the Primitive State to the Law of Reason (1893)
5. A System of Jurisprudence (1834 में प्रकार के मरने के बाद प्रकाशित)।

फिक्टे का व्यक्तित्व जबर्दस्त था और तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएं बड़ी भावपूर्ण रहीं। 'उसका बौद्धिक जीवन स्वतन्त्रता और उदारवाद से प्रारम्भ हुआ किन्तु अन्तत उसने मनक उग्र राष्ट्रवाद और आर्थिक आत्मनिर्भरता को महत्व प्रदान कर उस दानवी जर्मनवाद का प्रश्रय दिया जिसकी भयंकरता नात्सीवाद के विस्फोट में प्रकट हुई।"

राजनीति के क्षेत्र में, अन्य जर्मन आदर्शवादियों की भांति फिक्टे भी राज्य को व्यक्ति के अहं की अभिव्यक्ति (An expression of Self) मानता है। यह व्यक्ति को विवेकशील इच्छा (Rational will) रखने का अधिकार देता है। काण्ट तथा ग्रीन की भांति फिक्टे के राज्य का चित्र सर्वाधिकारवादी (Totalitarians) नहीं है। सम्पत्ति के प्रश्न पर वह काण्ट के विचारों से प्रारम्भ करता है और उसे केवल एक अधिकार मात्र न मानकर, नैतिक महत्त्व भी देता है। उसके शब्दों में, 'सम्पत्ति व्यक्ति के अहंकार की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि सार्वभौम इच्छा की अभिव्यक्ति है (Property is not an expression of individual egotism but of universal will)।" अत बिना इस अधिकार के व्यक्ति का नैतिक आत्मनिर्णय का सर्वोच्च अधिकार (The Supreme right of everyman to moral self determination) केवल खिलवाड़ मात्र रह जाता है। अपनी पुस्तक 'Closed Commercial State' में फिक्टे ने राजकीय समाजवाद (State Socialism) का भी समर्थन किया है।

फिक्टे कलों के सामाजिक सिद्धान्त को अपना आधार बनाकर चलता है। एक स्थान पर उसने स्वयं लिखा है, 'कला की भव्य पर शान्ति तथा उसकी स्मृति पर प्रसन्नता स्थापित की जानी चाहिए क्योंकि उसने सर्वों द्वारा दी गई व्याख्या सुनाई है। मेरी व्यवस्था यदि ए पर्व तक उसके

स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार का ही विश्लेषण है।"[1] फिक्टे यद्यपि प्राकृतिक अवस्था में विश्वास नहीं करता, किन्तु उसने तीन प्रकार के समझौतों या अनुबन्धों का अपने ग्रंथ 'Foundations of Natural Law' में उल्लेख किया है—

१. सम्पत्ति-अनुबन्ध (Property Contract)—इस समझौते अथवा अनुबन्ध के सहारे किसको कितना साम्पत्तिक अधिकार रहेगा, इसकी व्यवस्था होती है। यह अनुबन्ध व्यक्तिगत रूप से और सबों के साथ किया जाता है।

२. संरक्षण या सुरक्षा अनुबन्ध (Protection Contract)—इस अनुबन्ध से प्रत्येक व्यक्ति अन्यों से उसकी विनिश्चित सम्पत्ति और अधिकारों के संरक्षण का वादा करता है, यदि वे भी उसकी सम्पत्ति और अधिकारों का संरक्षण करें।

३. सन्धि अथवा एकता अनुबन्ध (Union Contract)—इस अनुबन्ध के द्वारा सम्पत्ति अनुबन्ध और संरक्षण अनुबध की रक्षा करने हेतु एक शक्ति केन्द्र की स्थापना होती है। इस प्रकार अन्य दो अनुबन्धों के साथ यह अनुबन्ध राज्य की व्यवस्था का आधारभूत अनुबन्ध है। 'इस संविदा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति एक संगठित समूह का अंश बन जाता है और इसमें मानों द्रवीभूत ही एक बन जाता है। किन्तु फिक्टे ने स्पष्ट ऐसा कहा है कि मानव के व्यक्तित्व का एक अंश राज्य में किस प्रकार घुल-मिल जाता है, अन्यथा वह स्वतन्त्र ही रहता है।" फिक्टे के विचार उसकी बौद्धिक चचलता के प्रतिफल है। जहां सन् १७९६ में प्रकाशित अपनी 'Foundations of Natural Law' नामक पुस्तक में उसने तीन प्रकार के अनुबन्धों का विस्तृत विवेचन किया वहां सन् १८१३ में प्रकाशित 'राज्य शास्त्र' पुस्तक में उसने अनुबन्ध को सर्वथा हटा दिया।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में फिक्टे का मत है कि "राज्य सर्वप्रथम जो जिसका हैं वह उसे दे, प्रत्येक को पहली बार उसकी सम्पत्ति में प्रतिष्ठित करे तब सब से पहले उसकी उस स्थिति में रक्षा करे।" (State should give each for the first time his own, install for the first time in his property and then first protect him in it.)। उसके अनुसार राज्यों की सीमाएं भौगोलिक आधार पर होनी चाहिये। न्याय वितरण व निर्णय आदि के लिये वह प्रत्येक सरकार का एक ईफरो का संघ (A Board Ephors) बनाना चाहता है, जिनके द्वारा जनता की सर्वप्रभुत्व सम्पन्न इच्छा (Sovereign Popular will) अभिव्यक्त होनी चाहिये। इस प्रकार अपने विचारों को, काण्टियन दर्शन का आधार लेकर भी, फिक्टे उन्हें एक बिल्कुल भिन्न ढग से प्रस्तुत करता है। डेवी के अनुसार, "काण्ट का नैतिक व्यक्तिवाद, फिक्टे में आकर आचारात्मक समाजवाद बन जाता

(Moral Individualism of Kant becomes Ethical Socialism in case of Fichte) ।" फिक्टे के दर्शन में रूसो की छाप स्पष्ट रूप से प्रकट देखकर प्रो० केटलिन टीका करते हुए लिखते हैं कि, "फिक्टे एक प्रकार से रूसो का ही अधिक मानवीय, विश्ववादी, उदार, अराजकतावादी, सामूहिक राष्ट्रीयतावादी तथा राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन संस्करण था ।" (The German Rousseau-humanized, Cosmopolitan Liberal, Anarchist, Collectivist Nationalist and National Socialist)

फिक्टे ने 'Addresses to the German Nation' नामक अपनी पुस्तक में बड़े उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया किन्तु साथ ही एक अर्थ में राष्ट्र का आध्यात्मिक महत्व भी नष्ट कर दिया । उसने बताया कि राज्य राष्ट्र का निर्माता होता है । फ्रांस की राज्य क्रांति के समय यह कहा गया था कि राष्ट्र द्वारा राज्य का निर्माण होता है, लेकिन फिक्टे ने इस स्थापना को उलट दिया और इस तरह राष्ट्र के नैसर्गिक (Natural), आध्यात्मिक (Spiritual) एवं नैतिक (Moral) रूप को पर्याप्त क्षीण कर दिया ।

फिक्टे के सम्पूर्ण दर्शन पर विचार करने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि "फिक्टे की कृतियों में एक स्थिर, निश्चित विचारधारा का अभाव है । कई बार उसने अपना मत परिवर्तन किया । कभी अनुबन्धवाद की दुहाई दी तो कभी राज्य के उग्र शक्तिवाद का समर्थन किया । कभी बुद्धिवादी रहा तो कभी रोमांटिक सम्प्रदाय का समर्थन किया । अपनी प्रारम्भिक कृतियों में उसने पूरा व्यक्तिवाद का पोषण किया, फिर राज्य को सद्‌ध्वनि का संरक्षक बताकर समन्वित नीतिशास्त्र का उपस्तम्भन किया । कुछ समय तक वैयक्तिक नीतिशास्त्र के बदले जाति (सिविल) का नीतिशास्त्र उसे भाता रहा और अन्तत: राज्य की निरपेक्ष सत्ता में ही उसे कल्याणकारिता दीख पड़ी और नैसर्गिक नियम का निराकरण कर सत्ता को ही कानून का आधार माना गया । फिक्टे के विचारों में मौलिकता का अभाव है । सिर्फ तत्वज्ञान पर लिखित उसकी पुस्तक 'विशेनशाफ्टसलेहरे' में ही हमें उसकी मौलिकता का दर्शन होता है । राजनीतिशास्त्र में रूसो और काण्ट के विचारों को परिवर्तित तथा परिवर्धित उसने किया । जर्मनी की राष्ट्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए उग्र और घोर राज्यवाद का उसने समर्थन किया । नेपोलियन के विरोध में जो विमोचन युद्ध हुआ उसको भावनात्मक प्रेरणा देने में फिक्टे के ग्रंथों का भी योगदान है । निखिल-जर्मनवाद को भी उसकी कृतियों से उत्तेजना मिली ।' केटलिन (Catlin) उसकी फासीवाद के पिताओं में गणना करता है । गेटल का लिखना है कि अपने प्रारम्भिक लेखों में फिक्टे ने रूसो के उदारवादी और व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का अनुसरण किया और प्रकृति के कानून, व्यक्ति के अधिकार और जनता की सम्प्रभुता पर बल दिया । लेकिन बाद की रचनाओं में उसने राष्ट्रीय राज्य के महत्व पर बल दिया और राज्य समाजवाद की प्रणाली की ओर इसकी गतिविधियों के विस्तार को उचित ठहराया ।

जार्ज विल्हैम फ्रैड्रिक हीगल

(GEORGE WILHELM FRIEDRICH HEGEL)
(1770—1831)

संक्षिप्त जीवन-परिचय—जर्मन आदर्शवादियों में राजनीतिक विचार-धारा को सबसे अधिक प्रभावित करनेवालों में हीगल का नाम सर्वप्रथम आता है। इस महान् अध्यात्मशास्त्री का जन्म १७७० में दक्षिणी जर्मनी में एक मध्यम परिवार में हुआ। बालक हीगल की कुशाग्र बुद्धि को देखकर परिवार ने बड़ी सावधानी से उसका पालन-पोषण किया, उसकी देखरेख की। बालक हीगल ने स्कूल में अनेक इनाम जीते। युवा अवस्था में वह फ्रांस की क्रान्ति पर मुग्ध हो गया जिसे उसने 'शानदार बौद्धिक ऊषाकाल' कहा है।

हीगल ने विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जीना विश्व-विद्यालय में एक प्रोफेसर के पद पर कार्य किया और वहीं रहते हुए उसने अपने व्यापक एवं गूढ़ दर्शन के मुख्य तत्वों का विकास किया। रूसो के दर्शन का उसने विस्तृत अध्ययन किया और ईसा-मसीह के जीवन-चरित्र को लिख-कर ईसाई धर्म की नैतिक असत्यता के रूप में आलोचना की। यूनानी दार्श-निकों का उसके ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा। यूनानी लेखकों के ग्रन्थों के अध्ययन से वह इस परिणाम पर पहुंचा कि यूनानी दार्शनिक आध्यात्मिक सत्य के अधिक निकट पहुंचे हैं। जीना में नैपोलियन के युद्ध के कारण हीगल को १८०६ में विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा और वह न्यूवर्ग चला गया जहां एक स्कूल में वह प्रधानाध्यापक हो गया। इसके साथ ही वहीं वह एक पत्र का स्थानीय संपादक भी बन गया। ४७ वर्ष की अवस्था में हीडलबर्ग विश्वविद्या-लय में उसे दर्शन शास्त्र-विभाग अध्यक्ष बनने का अवसर मिला। तत्पश्चात् बर्लिन विश्वविद्यालय को उसने अपनी सेवाएं समर्पित कीं। उसने चार विद्यार्थियों के अध्यापन से अपना कार्य आरम्भ किया और कालान्तर में तीस विद्यार्थी उससे पढ़ने आने लगे। सभी विद्यार्थी एवं अन्य जन यह स्वीकार करते थे कि हीगल गुनगुनाता था और उसके व्याख्यान बहुत नर्म होते थे। बर्लिन विश्वविद्यालय में ही कार्य करते हुए ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया। वहां रहते हुए उसने अनेक शास्त्रों का गम्भीर मन्थन किया। उसके विचारों का जगत में बड़ा प्रभाव पड़ा।

हीगल ने अपने राजनैतिक सिद्धांतो को एक व्यापक दर्शन प्रणाली के अंग के रूप मे विकसित किया। वह एक यथार्थवादी दार्शनिक बना जिसने विश्व-इतिहास का अध्ययन एक बिल्कुल नवीन ढंग से किया जिसकी चरम परिणति (Culmination) होहनजोलन प्रशिया (Hohenzollern Prussia) मे मानी जाती है। हीगल केवल दार्शनिको का राजा ही नही था बल्कि राजाओ का दार्शनिक था और इसी कारण उसका प्रभाव व्यावहारिक राजनीति पर बहुत अधिक पडा। बिस्मार्क (Bismarck) ने हीगल के सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, ऐसा विश्वास किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् मैक गर्वन (Mc Govern) ने लिखा है—

'बिस्मार्क का शक्ति पर आधारित मानव-क्रिया के उच्चतम लक्ष्य के रूप मे राष्ट्र-राज्य पर बल देना उसका यह विश्वास कि राज्य केवल व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है अपितु एक सावयवी सम्पूर्ण है, उसका लोकतन्त्र के विरोध मे एक सर्व शक्तिमान राजतन्त्र तथा नौकरशाही का आधिपत्य इन सब का मूल हीगल के सिद्धातों में निहित था।"[1]

हीगल एक उच्चकोटि का राष्ट्रीयतावादी था। वह अपने समय मे प्रचलित जर्मन एकीकरण (Unification Movement) के प्रश्न से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि राज्य को ईश्वर का आगमन अथवा दैवी प्रतिरूप तक मान बैठा। नि सदेह हीगल के युग की वास्तविक राजनैतिक समस्या एक सुदृढ एव सर्वशक्तिमान राज्य की स्थापना थी और उसी के समर्थन के लिए उसने अपने राजनीतिक दर्शन का उपयोग किया। इस प्रकार हीगल अपने युग का दार्शनिक प्रतिनिधि था और जर्मन राज्य की प्रतिष्ठित महत्ता तथा सर्वशक्तिमानता को सवत्र प्रतिष्ठित करने के लिए उसने ऐसे दार्शनिक तत्व का आधार लिया जिसके अनुसार एक रहस्यमय उच्च शिखर पर पहुंच जाता है। गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर हीगल का आदर्शवाद, राष्ट्रीयतावाद की ही एक अभिव्यक्ति है जो आगे जाकर हिटलर (Hitler) तथा मुसोलिनी (Mussolini) के हाथो मे नाजीवाद (Nazism) एव फासीवाद (Fascism) के उदय का कारण बनी। तर्क के आधार पर अनेकों लोगो का दावा है कि प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व हीगल और उसके आदर्शवाद को है।

हीगल दार्शनिक के रूप मे इतना प्रख्यात हो गया था कि बहुत से शासक तथा नरेश उससे राजनीतिक मामलो मे सलाह लेने के लिए आते थे। वह अब तक उत्पन्न हुए दार्शनिकों मे सबसे अधिक आत्मविश्वासी था। उसने कभी भी गपन विषय मे चर्चा नहीं की। उसने व्यक्तिगत धारणाओं और

---

1 'Bismarck s emphasis upon the nation state based upon force or power as the supreme goal of human activity his belief that the state is not
organic whole, his
and bureaucracy in
international relatio
ciples'"

McGovern, From Luther to Hitler, P 2[illegible]5

भावनाओं को दूर रखकर निर्लेप भाव से अपने विचारानुसार सत्य का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया। उसके प्रशंसक आज भी यह विश्वास करते हैं कि वह दार्शनिक विचारों की पराकाष्टा पर पहुँच गया था। मानव-इतिहास में पहली बार उसने सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। हीगल ने प्रत्येक विषय को तर्क के आधार पर समझने का प्रयत्न किया। उसने विवेक और ज्ञान (Reason and Reality) को बहुत महत्ता प्रदान की। उसके दर्शन का महत्व दो ही बातों पर निर्भर करता है–प्रथम, द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) और द्वितीय, राज्य का आदर्शवादी विचार (Idealisation)। इन्हीं दो बातों को बाद के दार्शनिकों ने भी अपनाकर अपने दर्शन का आधार बनाया।[1]

इस महान् आदर्शवादी की सन् १८३१ में मृत्यु हुई।

रचनायें (Works)—हीगल प्रथम आदर्शवादी विचारक था जिसने इस सिद्धान्त को इसके चरमोत्कर्ष पर आरूढ़ किया। हीगल के दर्शन का परिज्ञान हम उसके निम्नलिखित ग्रन्थों में कर सकते हैं—

1. The Phenomenology of Spirit (1807).
2. Encyclopaedia of Philosophical Sciences.
3. Logic (1816)
4. The Philosophy of Right (1821)
5. The Philosophy of History (1837)

हीगल की राजनीतिक विचारधारा की कुंजी उसके ग्रन्थ 'The Phenomenology of Spirit' में है। यह पुस्तक राजनीतिक ग्रन्थ नहीं है अपितु सार्वभौमिक सत्य की खोज मात्र है।

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति
(Hegalian Dialectical Method)

द्वन्द्वात्मक प्रणाली से अभिप्राय (The Meaning of Dialectic System)—हीगल के मतानुसार मानव सभ्यता का विकास कभी भी एक सीधी रेखा में नहीं होता। जिस प्रकार से एक प्रचण्ड तूफान से थपेड़े खाता हुआ एक जहाज अपना मार्ग बनाता है, उसी प्रकार से सभ्यता भी अनेकों टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होती हुई आगे बढ़ती है। उसके स्वयं के शब्दों में "मानव सभ्यता की प्रगति एक सीधी रेखा के रूप में नहीं हुई है। इसकी प्रगति लगभग बवण्डर में झकोले खाते हुए जलपोत की तरह टेढ़ी मेढ़ी है।"[2]

---

1. "The significance of the Political Thought of Hegel centres round two points and those are the dialectic as a method and the idealisation of the nation-state. These two points become the source of the two most important stands of later Political Thought".

—*Sabine*

2. "The progress of human civilisation has not been in a positive straight line. It was zig-zag sort of movement like a ship tacking against an unfavourable wind."

—*Hegal*

हीगल मानता है कि यह विश्व एक स्थायी वस्तु (Static) न होकर प्रगतिशील (Dynamic) क्रिया है अत उसका अध्ययन सदैव एक विकास वादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। उसकी धारणा है कि विश्व के समस्त पदार्थों का विकास अविकसित तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है, जिसके कारण विरोधी वस्तुओं (*Contradictory* Forms) की स्थापना होती है। विकासवाद की इस क्रिया में निम्न कोटि की वस्तुओं ने उच्च कोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त कर ली हैं और उनकी निम्नता नष्ट होकर उच्चता ग्रहण कर लेती हैं। विकसित होने के पश्चात् कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो वह पहले थी वह कुछ आगे बढ़ जाती है। विकासवादी इस क्रिया को हीगल ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectic Method) का नाम दिया है। वस्तुत इस 'द्वन्द्वात्मक' या द्वन्द्वाद' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'Dialego' से हुई है। 'Dialego' शब्द का अर्थ वादविवाद करना' होता है। इसकी प्रक्रिया में सत्य तक पहुँचने के लिए विचार द्वारा तर्क वितर्क की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। यूनानी लोगों ने अपने विचार विमर्श में सर्वप्रथम इस 'Dialectic' प्रणाली को अपनाया था। इस प्रणाली से आपसी कथोपकथन तर्क और प्रति तर्क द्वारा वे सत्य को ही प्रमाणित नहीं करते थे बल्कि नई सत्य की खोज भी करते थे। हीगल इस प्रणाली को विचारों पर भी लागू करता है। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक Dialectic प्रणाली इस प्रकार है—' सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप (Thesis) होता है। विकासवाद के अनु सार *यह बढ़ती है और इसका विकसित रूप कालान्तर में इसके मौलिक रूप* का बिल्कुल विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते हैं। ज्यों ज्यों समय आगे बढ़ता है विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ये मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं और इन दोनों के मेल से वस्तु का नया सामंजस्य (Synthesis) बन जाता है। यह सामंजस्यपूर्ण रूप थोड़े दिनों में फिर मौलिक रूप बन जाता है और फिर यही क्रिया आवृत होने लगती है। उदाहरण के लिए दृश्य या बाह्य-जगत में यह विकासवादी क्रिया एक अण्ड (Egg) में देखी जा सकती है। अण्ड में एक जीव होता है। यह जीव मौलिक रूप (Thesis) है। धीरे धीरे गर्भाधान (Fertilization) के पश्चात् इसके निषेधात्मक गुण (Negative Property) नष्ट हो जाते हैं। यह उसका विपरीत (Anti Thesis) है किन्तु इन गुणों के नष्ट हो जाने से अण्ड के जीव की मृत्यु नहीं होती बल्कि एक नये प्रकार के जीव का जन्म होता है जो पहले दोनों रूपों से भिन्न है। इस रूप को सामंजस्यपूर्ण रूप (Synthesis) कहा जायगा।

विचार जगत में Thesis, Anti-Thesis और Synthesis को हिंदी में वाद प्रतिवाद' और सश्लेषण कहा जाता है। कोई भी वस्तु जो जन्म लेती है वाद है और उसकी विरोधी बात *प्रतिवाद' होती है। वाद तथा* प्रतिवाद दोनों में ही गुण व दोष होते हैं और चूंकि दोनों परस्पर विरोधी होती हैं अत उनमें संघर्ष होता है जिसके परिणामस्वरूप एक नई *तीसरी* चीज सश्लेषण के रूप में जन्म लेता है। विचार जगत में सत्य की खोज इस प्रक्रिया द्वारा इस तरह होती है। मान लीजिये आरम्भ में जीवन व्यतीत करने

के कोई नियम नहीं थे। ऐसी स्थिति में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि जीवन व्यतीत करने के लिए नियम होना चाहिये। इस अनुभूति के साथ अनेक नियम बने जैसे सत्य बोलो, दया करो आदि। जीवन-यापन के लिए नियम होना चाहिए—यह 'वाद' (Thesis) हुआ। परन्तु आगे चल कर ये नियम अपूर्ण लगने लगे और इनमें परस्पर विरोध दिखाई देने लगा। एक नियम का पालन करने पर स्वतः ही दूसरे नियम का उल्लघन और दूसरे नियम का पालन करने पर स्वतः ही पहले नियम का उल्लंघन हो जाय—ऐसी स्थिति पैदा हो गई। तब लोगों में यह भावना जगी कि नियम आदि व्यर्थ हैं, जैसा उचित मालूम हो, वैसा करना चाहिये। यह दशा या स्थिति पहली स्थिति की ठीक उल्टी हुई अतः यह प्रतिवाद (Anti-thesis) हुआ। लेकिन नियमहीन (Lawless) अवस्था बड़ी भयंकर होती है जिसमें दुष्टों को मनमानी करने का मौका मिलता है। इस परिस्थिति में प्रतिवाद की आलोचना होने लगती है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है। लोग सोचते हैं कि नियम होने चाहिए लेकिन नियमों का अक्षरशः पालन करने की जगह उनकी भावना की रक्षा करना चाहिए। यह 'संवाद' या 'संश्लेषण' (Synthesis) हुआ। यह संश्लेषण प्रतिवाद का उल्टा है और ऐसा लगता है कि हम फिर वाद पर पहुँच गये। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है, इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों का सामन्जस्य हो गया है और यह उन दोनों से उच्च सत्य है। इसमें नियमों की आवश्यकता (वाद) और इसके साथ ही विवेक (प्रतिवाद) दोनों विद्यमान हैं। इस तरह सत्य की खोज में आगे बढ़ते हुए हम चक्कर काट कर वहीं नहीं पहुंच जाते जहां से चले थे, बल्कि वाद और प्रतिवाद में से होते हुए संश्लेषण पर पहुंचने पर हम एक उच्च स्तर पर पहुंच जाते हैं। जो संवाद या संश्लेषण है वह फिर वाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और फिर दोनों के सत्य अंशों को लेकर नया संवाद या संश्लेषण बनता है। इस प्रकार विकास क्रम चलता रहता है और उन्नति होती रहती है। यह विकास क्रम दृश्य या बाह्य जगत और विचार जगत दोनों में ही चलता है।

हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को राइट (Wright) ने व्यक्त करते हुए कहा है कि, "द्वन्द्ववाद' विशुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति विचार के अत्यन्त साकार रूप—अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता—के साथ निरपेक्ष बुद्धि के दर्शन में होता है।"[1]

फिलिस डायल ने द्वन्द्ववाद को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—'द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा हीगल ने ऐसी व्यवस्था को लागू किया जिसके द्वारा मस्तिष्क इस विकास की प्रक्रिया का अध्ययन कर सकता है। हीगल ने यही दर्शाया कि किसी भी वस्तु की वास्तविकता एक वस्तु की उसकी प्रतिकूल वस्तु से तुलना के द्वारा ही की जा सकती है। अतः भलाई का अस्तित्व इस

---

1. "The dialectle begins with the most abstract conception of pure logic, that of mere being. and terminates with the most concrete phase of thought, the philosophy of the Absolute mind in its full comprehensiveness and concreteness."
—*Wright*, A History of Modern Philosophy, P. 328

लिये है क्योंकि बुराई का अस्तित्व है, गर्मी का इसलिये क्योंकि सर्दी का है आग का इसलिये क्योंकि सतोष का है। हीगल प्रथम को वाद तथा दूसरे को प्रतिवाद बताता है। यह प्रतिकूलता ही प्रगति का नियम है। वह यह भी बताता है कि एक बार मस्तिष्क को जब वाद तथा प्रतिवाद का अभाव हो जाता है तो उसका प्रभाव भी अनिवार्य रूप से होता है। इन दोनों के संघर्ष के परिणामस्वरूप उस सश्लेषण का ज्ञान होता है। और फिर यह क्रिया इसी प्रकार दुहराती रहती है।"[1]

ब्रह्माण्ड काल और स्थान में फैला हुआ है। इसी प्रकार मानवीय *विवेक भी विस्तृत है। हीगल के दर्शन मे असख्य त्रिकोणात्मक तर्क हैं। उसका* कहना है कि इन्ही के द्वारा अन्तिम सत्य तक पहुँचा जा सकता है। *अन्तिम सत्य केवल एक विचार (Idea) है। ब्रह्माण्ड भी स्वत एक विचार के* अतिरिक्त कुछ भी नही है। ब्रह्माण्ड के विकास म (in cosmic development) *त्रिकार (Triads) एक सीधी दिशा म एक के बाद दूसरा* (One another in a simple Linear series), आते हैं। 'ये समस्त त्रिकार अपने से बडे त्रिकारो के अन्तगत होते है, और फिर ये अपने से बडो के अन्दर। हीगल के अनुसार अनेको त्रिकार मिलकर श्रेणियो अथवा धारणाओं के एक क्षेत्र की रचना करते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमे कि बहुत से वाद प्रतिवाद और सश्लेषण होते हैं स्वय एक वाद समझा जाता है। इसके प्रतिवाद तथा सश्लेषण स्वय श्रेणियो के क्षेत्र होगे जो अपने अन्दर छोटे त्रिकार रखते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली का एक त्रिकार, विचार प्रकृति तथा आत्मा होती है। न्यायशास्त्र विचार का अपने विशुद्ध रूप मे अध्ययन करता है। प्रकृति विचार का अपने दूसरे पक्ष का रूप है। यह विचार के विशुद्ध रूप का उल्टा है। यह प्रतिवाद

---

1. [illegible] method by which the mind [illegible] e, this evolution [illegible] e to the profes [illegible] and through his [illegible] y could only be [illegible] one thing with [illegible] n it was contra- sted with [illegible] it with satiety [illegible] the first assertion made by the mind thesis [illegible] the state of negation he [illegible] progress and life He [illegible] sis and the antithesis [illegible] of these two

है। आत्मा, विचार तथा प्रकृति का, संयुक्त रूप है। यह संश्लेषण है।"[1]

हीगल द्वारा समाज तथा राज्य के विकास का द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा अध्ययन (Hegelian Study of the State by Dialectical Method)—इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा ही हीगल समाज और राज्य के विकास का अध्ययन करता है। हीगल की मान्यता है कि–(१) चेतन मस्तिष्क की सारी गतिविधियां द्वन्द्वात्मक होती हैं, (२) यथार्थता स्वयं चेतन मस्तिष्क की एक प्रणाली है, और (३) यथार्थता केवल एक विचार है। यथार्थ सत्य को प्राप्ति केवल आत्मा (Spirit) से ही हो सकती है। आत्मा का एक वाह्य रूप भी होता है। यह वाह्य रूप भौतिक होता है। इस रूप का प्रतिनिधित्व राज्य करता है।"[2]

हीगल द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा राज्य के विकास का अध्ययन करते समय यह मानता है कि यूनानी राज्य मौलिक रूप (Thesis) थे, धर्मराज्य उसके विपरीत रूप (Anti-thesis)। इसलिये राष्ट्रीय राज्य उनका एक सामन्जस्य रूप (Synthesis) होगा। कला, धर्म तथा दर्शन को भी वह इसी प्रकार मूलरूप, विपरीत रूप तथा सामन्जस्यपूर्ण रूप मानता है। इन तीनों अवस्थाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण तथा वाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होने के कारण कुछ आलोचक लोग इस प्रणाली को सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) के क्षेत्र में अनुपयुक्त बात लाते है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह प्रणाली विकासवादी अध्ययन के लिये बड़ी ठोस तथा सही प्रतीत होती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिकवादी परिभाषा देते समय हीगल की इसी प्रणाली का अनुसरण किया है।

हीगल के समय में जर्मनी अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और राष्ट्रीय भावनाएं लगभग मिटती सी जा रही थी। हीगल की कामना थी कि जर्मन जाति, जो उसके अनुसार विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति थी, एक सुदृढ राष्ट्र के रूप से संगठित हो जाय, एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उसका संगठन हो

---

1. "The whole series of triads fall within larger triads, and these again within larger Hegel regards a number of triads as constituting a single sphere of categories or notions. This whole sphere which may contain many thesis, antithesis, and synthesis, is itself regarded as a single thesis. Its antithesis and synthesis will themselves be spheres of categories or notions which contain smaller triads within them. The entire system constitutes a single traid, Idea, Nature, Spirit Logic treats of the Idea as it is in itself. Nature is the idea in its otherness. It is the opposite of the idea itself. This is antithesis. Spirit is the unity of the idea and nature. This is the synthesis."
—*Stace* : The Philosopher of Hegel P. 115
2. 'The state is the divine will as a present spirit, which unfolds itself in the actual shape of an organised world."
—*Hegal* in 'The Philosophy of Right,' Sec. 270, note

जो विश्व मे अद्वितीय हो और जिसे भगवान की इच्छा का प्रतीक कहा जा सके। हीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि समार के विकास में जर्मनी का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है और प्रकृति की समस्त शक्तियां जर्मन राष्ट्र के उत्कर्ष के पक्ष में हैं। लेकिन चूंकि जर्मनी की तत्कालीन दशा शोचनीय थी और इसलिये उसका ऐतिहासिक दर्शन तर्क-सगत प्रतीत नहीं होता था, अत उस शोचनीय परिस्थिति को विकास की धारा मे उचित स्थान देने के लिये ही सम्भवत अपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को अपनाया। द्वन्द्ववाद (Dialectic) मे हीगल ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि जर्मनी की तत्कालिक दशा ऐतिहासिक विकास म 'प्रतिवाद' (Anti thesis) थी। वास्तव मे हीगल और उस जैसे अन्य अनेक विचारको का विश्वास था कि "राष्ट्र का पुनर्निमाण उसी समय हो सकता है जबकि राष्ट्रीय सस्थाओं की निरन्तरताओं को कायम रखा जाय, राष्ट्रीय सगठन के भूतकालीन समाधनो का प्रयोग किया जाय और व्यक्ति को राष्ट्रीय सस्कृति की परम्परा पर आधारित बताया जाय। हीगल के दर्शन मे यह प्रवृति केवल प्रतिक्रियावादी ही नही थी। हा, यह जरूर है कि क्रान्ति के बाद जो मध्ययुगीन स्वच्छन्दतावाद की लहर उठी थी उसमे इस प्रवृति का स्वरूप ऐसा ही था। हीगल के दर्शन का प्रयोजन रचनात्मक था। वह पूरी तरह से अनुदार था। उसे एक प्रकार से क्रांति विरोधी भी कहा जा सकता है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) क्रांति और पुनरुद्धार की प्रतीक है। इस पद्धति के अनुसार समाज की जीवन्त शक्तियां पुरानी सस्थाओ को नष्ट कर देती है लेकिन, राष्ट्र की सृजनात्मक शक्तियां स्थिरता बनाये रखती हैं। हीगल ने प्राचीन के विनाश और नवीन के निर्माण मे व्यक्तिगत मनुष्यो को कोई महत्व नहीं दिया है। उसका विश्वास था कि समाज मे निहित निर्वैयक्तिक तत्व अपनी नियति का स्वय ही निर्माण करते हैं।"

"हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को बड़ा महत्व दिया। उसने इतिहास की जो व्याख्या की, उसमे मुख्य इकाई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समुदाय नहीं, वरन् राज्य है। हीगल के दर्शन का उद्देश्य यह था कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करे।"[1]

हीगल के राज-दर्शन में दो ही तत्व सबसे महत्वपूर्ण थे—एक तत्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का था और दूसरा तत्व राष्ट्रीय राज्य का। 'हीगल के चिन्तन मे ये दानो सिद्धान्त अभिन्न थे। हीगल द्वन्द्वात्मक चिन्तन के द्वारा राष्ट्रीय राज्य के महत्व का प्रतिपादन करता था। लेकिन, वस्तु स्थिति यह है कि इन दोनों में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं था। यदि द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण भी मान लिया जाय तो भी यह समझ मे नहीं आता कि समस्त राजनैतिक और सामाजिक समुदायों मे राष्ट्र का ही ऐसा समुदाय क्यो माना जाय जिसमे इतिहास की परिणति हुई है अथवा आधुनिक राजनैतिक इतिहास मे राज्यो के पारस्परिक तनाव

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ५८४

को ही मुख्य प्रेरक शक्ति क्यों माना जाय। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में हीगल के विचारों का मुख्य कारण उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति नहीं थी बल्कि उसकी जर्मन राष्ट्रीयता की भावना थी।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सामाजिक सस्थाओं के विकास में भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारम्भिक रूप मानते हुए उसने सामाजक विकास का सर्वोच्च रूप राज्य को बताया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है तो वह विकास के क्रम में आगे बढ़ता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यों में यह भावना विद्यमान रहती है कि 'हम सब एक हैं।' व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार की प्रारम्भिक स्थिति 'वाद' (Thesis) है। लेकिन यही वाद आगे चलकर 'प्रतिवाद' (Anti-thesis) की रचना कर लेता है। कोई भी मनुष्य अपने दृष्टिकोण में एक ही स्थान पर टिककर या कुटुम्ब पर ही आश्रित होकर प्रगति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के पोषण की भावना, जो पहले स्नेह थी, बाद में मोह बन जाती है और मेरे-तेरे का भाव उत्पन्न कर देती है। इस तरह कालान्तर में समाज का निर्माण होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए संघर्ष करता है। इस सर्वाङ्गीण सघर्ष में प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवों को व्यापक बनाता है यह समाज 'प्रतिवाद' का रूप लेता है। लेकिन वाद और प्रतिवाद का समन्वय होना भी अवश्यंभावी है। समाज में अव्यवस्था, अशान्ति, अनाचार व्यक्तियों की नैतिकता को अस्त-व्यस्त कर डालते हैं। विकास का क्रम शान्ति में ही सम्भव है। शान्ति में निर्माण होता है और संघर्ष में विनाश। अतः समाज में शान्तिमय वातावरण उत्पन्न करने के लिए राज्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् राज्य विवेक का फल है। यह राज्य कुटुम्ब और समाज का अर्थात् वाद और प्रतिवाद का सामन्जस्य है। राज्य में समाज और कुटुम्ब दोनों ही समाविष्ट हैं। इस प्रकार यह सामन्जस्यपूर्ण रूप या सश्लेषण वा संवाद (Synthesis) हुआ। राज्य के अन्दर भी मनुष्य जीवन के लिए सघर्ष करता है। लेकिन यह सघर्ष सृजनात्मक होता है, उसकी शक्तियों का विकास करता है।

हीगल ने जिस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसे शासन के रूप के विषय में भी लागू किया जा सकता है। निरंकुशतन्त्र (Despotism) का वाद (Thesis) अपने प्रतिवाद (Anti-thesis) स्वरूप प्रजातन्त्र को जन्म देता है। निरकुशतन्त्र और प्रजातन्त्र के समन्वय से एक संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy), जो संवाद या संश्लेषण (Synthesis) की उत्पत्ति होती है।

द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता [Dialectic and Historical Necessity]—हीगल के राजनैतिक और सामाजिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु इतिहास तथा इतिहास का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध था। हीगल ने अपने दर्शन में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा उसे एक शक्तिशाली उपकरण प्रदान किया। हीगल ने इतिहास में "आवश्यकता" के एक तत्व का समावेश कर दिया

था। यह तत्व कार्यकारण के सम्बन्ध और विकासशील प्रयोजन का सम्मिश्रण था। इतिहास का उचित रीति से अध्ययन करने पर उसमे वस्तुपरक आलोचना के कुछ सिद्धान्त निकलते हैं। यह वस्तुपरक समीक्षा विकास में स्वयं अन्तर्निहित है। यह सत्य को असत्य, महत्वपूर्ण को महत्वहीन से और स्थायी को क्षणिक से पृथक करती है। इतिहास के इस ढंग के अध्ययन के लिए एक विशेष उपकरण की आवश्यकता होती है और हीगल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा इसी उपकरण को प्रदान किया है। इस सम्बन्ध मे सेबाइन महोदय ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे निश्चय ही उल्लेखनीय हैं—

'उसके (हीगल के) दर्शन का आलोचनात्मक बोध और मूल्यांकन दो बातो पर निर्भर है। सर्वप्रथम, उसके इस दावे के बारे मे निर्णय की आवश्यकता है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति की एक ऐसी नयी पद्धति है जिसमे इतिहास तथा समाज मे पारस्परिक निर्भरताओं और सम्बन्धो का ज्ञान होता है जो अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति को कार्ल मार्क्स ने अपनाया था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के *आध्यात्मिक आधार मे अवश्य थोड़ा परिवर्तन किया था*, लेकिन उसकी तर्क-पद्धति को यथावत् स्वीकार किया था। इस प्रकार, द्वन्द्वात्मक पद्धति मार्क्सीय समाजवाद अथवा साम्यवाद की एक अन्तर्भूत भाग बन गई। मार्क्सवाद उसके आधार पर ही अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता का दावा करता रहा है। दूसरे, हीगल के राजनैतिक दर्शन मे मार्क्सवाद को एक ऐसे रूप में व्यक्त किया है जिसने व्यक्तिवाद की तथा मनुष्य के अधिकारों के सार्वभौमवाद की सदैव उपेक्षा की है। उसने राज्य की संकल्पना को एक ऐसा शिष्ट अर्थ दिया जो १९वी शताब्दी के आदर्श जर्मनी के राजनीति-दर्शन की विशेषता बना रहा।"

पुनः, "चूंकि 'द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोजन एक ऐसे तार्किक उपकरण को प्रदान करना था, जिसके द्वारा इतिहास की 'आवश्यकता' का ज्ञान हो जाये, अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय ऐतिहासिक आवश्यकता के उस जटिल अर्थ पर निर्भर है जो हीगल ने उसे दिया था। इस विषय पर उसका विचार इस विश्वास के साथ आरम्भ हुआ जो उसने अपने जीवन के आरम्भ मे ही अर्जित कर लिया था—राष्ट्र के इतिहास मे एक राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विकास का लेखा-जोखा होता है। यह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उसकी संस्कृति के समस्त पक्षों मे व्यक्त होती है। इतिहास के इस दृष्टिकोण के विरोध में हीगल ने एक दूसरा दृष्टिकोण रखा जो ज्ञानयुग के दृष्टिकोण के निकट था—दर्शन धर्म और संस्थाएं व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए जान-बूझकर ईजाद की गई चीजें हैं। उसका विश्वास था कि यह भ्रम केवल इस कारण पैदा हुआ क्योंकि इतिहास को राजमर्मज्ञ के लिए एक सहायक कला माना जाता रहा था।"[1]

---

1. सेबाइन-राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ५९९–६००

पुनश्च, "हीगल इतिहास को मूलतः रहस्यात्मक अथवा विवेक निरपेक्ष नहीं मानता था। उसके विचार से इतिहास में अविवेक का नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊंचे विवेक के एक नये रूप का निवास है। 'वास्तविक ही विवेक-सम्मत है और विवेक-सम्मत ही वास्तविक है।' इतिहास के सम्बन्ध में हीगल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह बेतरतीब खण्डों का विकास नहीं बल्कि एक सप्राण विकास मानता था। इस दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए एक भिन्न तर्क-पद्धति की आवश्यकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए थी। भावपरक दृष्टि से यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न का समाधान करने के लिये अत्यधिक सरल रीति थी। हीगल ने जिस विचार-सूत्र को ग्रहण किया था, वह बहुत पुराना था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति शब्द प्लेटो से ग्रहण किया था।"[1]

हीगल के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति केवल दर्शन के विकास पर ही लागू नहीं होती बल्कि वह ऐसी प्रत्येक विषय-वस्तु पर लागू हो सकती है जिसमें प्रगतिशील परिवर्तन और विकास की संकल्पनाएं निहित रहती है। यह पद्धति सामाजिक शास्त्रों पर बहुत अच्छी तरह लागू हो सकती है। "द्वन्द्वात्मक पद्धति को जब सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का सूत्र माना जाता है तब इसकी दो व्याख्याएं निकलती हैं और ये व्याख्याएं एक दूसरे की विरोधी हो सकती हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति के दृष्टिकोण से विचार क प्रत्येक कार्य मे दो प्रवृत्तियां होती हैं। एक ओर तो वह नकारात्मक होता है। प्रत्येक वाद में कुछ ऐसे अन्तर्विरोध निहित होते हैं जो स्पष्ट हो जाते हैं और स्पष्ट होने पर मूलवाद को नष्ट कर देते हैं। दूसरी ओर वह सकारात्मक और रचनात्मक भी होता है। वह एक उच्चतर धरातल पर वाद का पुनर्कथन होता है, ऐसा पुनर्कथन जिसमें अन्तर्विरोधों को उदात्त रूप दे दिया जाता है और वे एक नये सश्लेषण के रूप में प्रस्तुत होते है। चूंकि हीगल सम्पूर्ण सामाजिक विकास को 'विचार' का विकास समझता था, इसलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह द्विमुखी विशेषता सामाजिक सस्थाओं में होनेवाले प्रगतिशील परिवर्तनों में भी दिखाई देती है। प्रत्येक परिवर्तन अविच्छिन्न भी है और विच्छिन्न भी। वह भूतकाल को आगे भी ले जाता है और नई चीज को बनाने के लिए उससे नाता भी तोड़ता जाता है।......कोई विचारक द्वन्द्वात्मक पद्धति के किस पहलू पर जोर देता है, यह उसकी सम्पूर्ण विचार-पद्धति और विशेषकर उसकी मनोवृत्ति पर निर्भर है। हीगल ने कुल मिलाकर और उसके पुरातनपोषी अनुयायियों ने अविच्छिन्नता पर जोर दिया था। हीगल का विचार था कि परिवर्तन भूतकाल में हुए हैं। कार्ल मार्क्स ने दूसरे पहलू पर जोर दिया था। उसका विचार था कि परिवर्तन भविष्य में होंगे।"[1]

द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना (Criticism of Dialectic)—हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धतिकी परीक्षा करनेपर पहलीबार यह प्रकट होता हैकि

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६०१–६०४

वह अत्यधिक अस्पष्ट है। हीगल की इस पद्धति की अस्पष्टता विशेषत दो बातों से सामने आती है।

प्रथम, हीगल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का बड़ी अस्पष्टता से प्रयोग किया है। इन शब्दों की परिभाषा करना कठिन है। उदाहरण के लिए दो शब्द— विचार' और 'अन्तर्विरोध' को लिया जा सकता है। हीगल ने लिखा है कि प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक परिवतन 'विचार' मे उन्नति के कारण होता है। समस्त परिवतन विचार की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं और उनका उद्देश्य अन्तर्निहित अन्तर्विरोधो का निवारण करना होता है। यदि इन शब्दो को ठीक-ठीक अर्थ दिया जाय तो फिर सिद्धान्त ठीक नही बैठता। विज्ञान अथवा दशन मे होनेवाले नित्यनये परिवर्तनो का कारण यह नही होता कि वे प्रारम्भिक सिद्धान्तो के अन्तर्विरोधो के कारण ही सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन पर यह बात लागू होती है तो अन्य सामाजिक शास्त्रो के बारे म क्या कहा जा सकता है? "हीगल ने विचार' को सार्वभौम रूप दने की जो कोशिश की, उसका उसकी शैली के इतिहास-लेखन पर दो तरह से असर पडा—या तो असगत तथ्यो का मनमाने ढग से तकसम्मत माना गया या सामरस्य या सुसगत जैस शब्दों को ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा।" ठीक इसी तरह हीगल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का भी कोई सटीक अर्थ नही है। इस शब्द का बड़ी अस्पष्ट रीति स विरोध अथवा विपरीतता के अर्थ मे प्रयोग किया गया है। कभी-कभी इसका अर्थ ऐसी भौतिक शक्तियां होता है, जो विरोधी दिशाओ अथवा कारणों की ओर सचालित होती है और जिनके कारण विरोधी परिणाम प्रकट होते हैं। कभी कभी विरोध का अभिप्राय नैतिक गुणावगुण होता है। 'वास्तविक व्यवहार मे द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दो का मनमाने ढग से प्रयोग किया गया है। वह किसी भी प्रकार से कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। हीगल के हाथों मे पहुच कर द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले, जिन तक हीगल उसके बिना भी पहुच गया था। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने उनका कोई प्रमाण नहीं दिया है।"[1]

द्वितीय, द्वन्द्वात्मक पद्धति को ऐतिहासिक विकास की 'आवश्यकताओं' को स्पष्ट करनेवाला उपकरण माना जाता था, लेकिन 'आवश्यकता' शब्द उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि ह्यूम ने उसे प्रमाणित कर दिया था। हीगल ने इतिहास में जिस 'आवश्यकता' का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी के लिये राज्य बनना आवश्यक है तो उसका तात्पर्य यह था कि उसे ऐसा करना चाहिये, सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है, और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियां भी हैं जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं। अत द्वन्द्वात्मक पद्धति मे नैतिक निर्णय भी सम्मिलित हैं और *ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी। नैतिक निर्णय,* आवश्यकता और आकस्मिक भेद का आधार अस्पष्ट है। द्वन्द्वात्मक पद्धति का एक

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६०६

वशिष्ट दावा यह था कि वह बुद्धि और इच्छा को एक कर देती है। इस र टिप्पणी करते हुए जोशिया रोपेस ने ठीक ही कहा है कि यह 'आवेग का तर्कशास्त्र' तथा 'विज्ञान एवं काव्य' का समन्वय है। "वास्तव में द्वन्द्वात्मक पद्धति को तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र के रूप में समझना अधिक आसान था। इसमे स्पष्ट उद्देश्य की भावना नहीं थी। यह एक सूक्ष्म और कारगर नैतिक अपील के रूप में थी।"

आलोचकों ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को 'सफलताओं की सम्पूर्ण शृंखला का गौरवगान' कहा है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति में एक ऐसा नैतिक दृष्टिकोण निहित है जो बिल्कुल कठोर भी है और बिल्कुल लचीला भी। वह न्याय की केवल एक ही कसौटी प्रदान करता है और वह है सफलता।

द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कर्तव्य की कुछ विचित्र व्याख्या की है। वाद और प्रतिवाद प्रतिकूल हितों और मूल्यों को प्रकट करते हैं। उनमें संघर्ष और विरोध का रिश्ता होता है। दोनों का अर्थात् "वाद व प्रतिवाद का चरम विकास होने पर ही अन्तर्विरोध संश्लेषण के रूप में विकसित हो सकते हैं। संराधन और समझौते निश्चित रूप से होते हैं। वे 'विचार' के विकास के साथ ही साथ सामने आते है। लेकिन, यदि मनुष्य उनकी पहले से कल्पना करले और उनके लिये प्रयत्न करे तो यह उसकी भावात्मक कमजोरी है और अस्थिरता है। यह निरपेक्ष की महिमा के विरोध में एक प्रकार का राजद्रोह है। इसके फलस्वरूप समाज के ऐसे मानवी सम्बन्धों के एक समुदाय के रूप में नही जिनमें संराधन और समन्वय स्थापित किया जाय, प्रत्युत् ऐसी विरोधी शक्तियों के एक संगम के रूप में प्रकट किया गया है जो खुद ही एक अपरिहार्य परिणति की ओर पहुँच जाती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर सम्प्रेषण बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि कोई भी प्रस्थापना न तो पूरी तरह से सही होती है और न गलत। उसका अर्थ जितना मालूम पड़ता है उससे सदैव ही अधिक अथवा कम होता है।"

डा० मैकटैगर्ट (Dr. Mc Taggart) के अनुसार, "यद्यपि द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया सिद्धान्त में पूर्ण रूप से ठीक है परन्तु विभिन्न प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण में इस सिद्धान्त को लागू करने में बहुत अनुभव की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त को लागू करने में निम्नलिखित तीन कठिनाइयां पड़ती हैं—(१) पहली कठिनाई यह है कि वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण–सिवाय एक दूसरे के सम्बन्ध के और किसी अन्य प्रकार से पहचाना नहीं जा सकते, (२) दूसरी कठिनाई यह है कि धम, इतिहास, कानून तथा दर्शन में द्वन्द्ववाद प्रक्रिया के बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है और, (३) तीसरी कठिनाई यह है कि प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान के विषयों में द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया को लागू करने में हमें बहुत कठिन तथा अव्यवस्थित विषयों के साथ उलझना पड़ेगा। इन तीनों कठिनाइयों के कारण द्वन्द्ववाद प्रक्रिया व्यवहार मे अधिक सफल सिद्ध नही होगी।"[1]

---

1. *Mc Taggart, J.M.E.* : Studies in Hegelian Casmeolov (1918)

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आलोचनात्मक टिप्पणी देते हुए सेबाइन ने लिखा है—

"हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मे ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्शीकरण और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्मत या और तार्किक पद्धति का विस्तार था लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नही किया जा सकता था। व्यवहार मे उसने वास्तविक और आभासी, आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दों का मनमाने अर्थ मे प्रयोग किया था। हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियो से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नही दे सकी थी। इतने विभिन्न तत्वों और प्रयोजनो को एक सागोपाग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव सा कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की सिद्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयो को एक तार्किक आधार प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हो, तो इन्हे व्यावहारिक लक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयों को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते हैं जो हरेक के लिये खुली होती है, इन दोनों को मिलाने की कोशिश मे द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी के अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि उसने दोनो के अर्थ का उलझा दिया।"[1]

हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त

(Hegelian Individoalism and the Theory of the State)

हीगल ने अपने राजनैतिक सिद्धान्तो को एक व्यापक दर्शन प्रणाली के अंग के रूप मे विकसित किया है। उसके राजनैतिक विचार मुख्यत

1 "Hegel's dialectic was in truth a curious amalgam of hist- ... , romantic ideal- ... on it was rational ... intention defied ... upon vague contracts of popular speech like real and apparent essential and accidental, p ... assign no precise ... clear criteria T ... so incapable of definition or empirical verification into a method, and to give that method scientific precision, was infact impossible, what the dialectic accomplished was to ... to historical judge- ... y an empirical evid- ... sound, depend upon ... attempting to combine the two it tended rather to obscure than to clarify the meaning of both "

—*Sabine*, A History of Political Theory Page 543-44

उसकी रचना 'Philosophy of Right' में मिलते हैं जो १८२१ में प्रकाशित हुई थी। राजदर्शन के विद्यार्थी के लिये उसका ग्रंथ 'The Philosophy of History' भी महत्वपूर्ण है। 'फिलोसफी ऑफ राइट' ग्रंथ का वास्तविक महत्व राजनैतिक वास्तविकताओं के निर्देश पर निर्भर है। इसमें मुख्यतः मूल महत्व के दो विषयों-व्यक्ति एवं सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं के सम्बन्ध, और इन संस्थाओं एवं राज्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। हीगल राज्य को समस्त संस्थाओं में अनुपम मानता है। उसके राजदर्शन का सीमित अर्थ मे प्रयोजन यह है कि वह संवैधानिक इतिहास के द्वारा राजनैतिक सिद्धान्त की परीक्षा करना चाहता है। व्यापक अर्थ में वह व्यक्तिवाद का दार्शनिक विश्लेषण करता है और राज्य के सिद्धान्त के रूप में उसकी वैधता की परीक्षा करता है। सामाजिक दर्शन में जो भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याएं आती हैं, हीगल के दर्शन में उन सबको परखने का प्रयास किया गया है। अग्रिम पंक्तियों में हीगल के राज्य विषयक विचारों और व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर पृथक-पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा रहा है।

राज्य के उद्भव के सम्बन्ध में हीगल के विचार (Hegel on the Evolution of State)—राज्य के उद्भव के विषय में हीगल का कथन है कि सब वस्तुएं, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर आत्मा द्वारा धारण किये गये अनेक रूप हैं। यह अभौतिक संसार से वनस्पति और पशुओं के भौतिक संसार में प्रगति करती हुई आती हैं और यह प्रगति उस समय तक निरन्तर चलती है जब तक आत्मा मानव-जीवन की अपूर्ण चेतना की स्थिति में पहुँचती है। मानव-जीवन में आत्मा के शारीरिक और पाशविक शक्तियों का चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। बाह्य जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए आत्मा सामाजिक आचार (Social Morality) की संस्थाओं में प्रकट होती हैं। इन संस्थाओं में कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के सुख के लिये आत्म बलिदान की भावना है। कुटुम्ब अर्थात् वाद (Thesis) की वृद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब या परिवार का प्रतिवाद (Anti-thesis) है। कुटुम्ब में तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण काम करते है किन्तु समाज में प्रतियोगिता एवं संघर्ष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस तरह संघर्ष जन्म लेते हैं। समाज के संघर्ष में व्यक्तियों को आत्मनिर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है। लेकिन यह निरन्तर और असीमित संघर्ष अन्ततः व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति आदि का जीवन-संग्राम में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब और समाज का संवाद या संश्लेषण (Synthesis) है। राज्य कुटुम्ब और समाज दोनों के गुणों का सामन्जस्य होता है। राज्य के रूप में आत्मा का बाह्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसीलिये हीगल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलकृत किया है-राज्य विश्वात्मा अर्थात् ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय विचार है, संसार के संगठन में व्यक्त ईश्वरीय इच्छा है, वह पूर्ण

बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है, आदि । परिवार की पूर्ति समाज से करने और दोनो को राज्य मे सगठित कर देने के कारण को वेपर (Wayper) ने निम्नलिखित शब्दो में बडी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

"परिवार की विशेषता पारस्परिक प्रेम है, लेकिन पूजीवादी या बुर्जुवा समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्धा है । किन्तु परिवार की तुलना मे पूजीवादी समाज चाहे कितना ही शिथिल और आकर्षणहीन क्यों न दिखाई दे, फिर भी उसमे एव परिवार दोनो मे कुछ न कुछ सार अवश्य निहित है । पूजीवादी समाज मे व्यापार एव उद्योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये एक नवीन सगठन बन जाती है, अत उस समाज मे भी व्यक्ति परिवार के लिये ही उत्पादन कर रहा है जिससे वह अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति के साथ साथ मानव-सेवा भी करता है, जिससे पूजीवादी समाज बुद्धि सगत हो जाता है और उसमे सार्वभौमिक महत्व आ जाता है । इसके अतिरिक्त पूजीवाद समाज कानूनो की रचना करता है, यद्यपि यह आवश्यक नही कि वह न्यायसगत ही हो, वह पुलिस का निर्माण करता है और उसका रूप अधिकाधिक राज्य जैसा हो जाता है । ज्यो ज्यो इसका विकास होता जाता है यह गिल्ड और निगमो को जन्म देता है जो कि अपने घटको को अपने निजी स्वार्थों को छोडकर उस सम्पूर्ण के विषय मे सोचना सिखाते है जिनके कि वे अग होते हैं, और जो कि, क्योकि वे ऐसा करते हैं, सामाजिक भावना को नही जो कि प्रतिस्पर्धात्मक होती है, राज्य की भावना को जो सहयोगात्मक होती है, अभिव्यक्त करते हैं । प्रेम के धागे मे आबद्ध और किसी भी प्रकार के भेदो से रहित इस परिवाररूपी वाद के सामने पूजीवादी समाज का प्रतिवाद आ जाता है जो अलग अलग व्यक्तियो का योग मात्र होता है । ये व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के कारण अलग अलग रहते हैं और इनमे कोई एकता नही होती, यद्यपि यह प्रतिवाद एक महानतर एकता के लिये संघर्ष करता है—उस एकता के लिये जिसे इसने अभी प्राप्त नहीं किया है । वह सवाद या सश्लेषण जो वाद और प्रतिवाद दोनो के सर्वोत्तम तत्वों को सुरक्षित रखता है, जो न तो परिवार को नष्ट करता है और न पूजीवादी समाज को, बल्कि जो उन्हे एकता और सामन्जस्य प्रदान करता है, राज्य है ।'[1] यह उल्लेखनीय है कि आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये

---

1 "Whereas the characteristic of the family is mutual love, ... is universal competi- ... tractive in comparison ... might seem, there is a rational meaning to be discerned in it as well as in the family The whole process of trade and industry in bourgeois society becomes a new organisation for the supply of ... that society is producing for ... nts and at the same time ... bourgeois society take on ... nce Moreover, bourgeois society evolves laws, even though not necessarily just laws,

परिवार के लोग जिस विशाल समाज या संसार में पदार्पण करते हैं उस संसार अथवा समाज को ही हीगल ने पूंजीवादी या बुर्जुआ समाज (Bourgeois Society) कह कर सम्बोधित किया है।

राज्य के उद्भव के बारे में हीगल के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि उसके अनुसार राज्य एक उच्च प्रकार का भौतिक शरीर है जो समाज और परिवार का संगठन करके इन्हें उच्च स्तर पर उठा देता है जिसमें प्रत्येक इकाई समूह के हित को अपना हित मानकर व्यवहार करती है। हीगल के शब्दों में, "आधुनिक राज्य का मूल तत्व यह है कि सार्वभौम, व्यक्ति तथा विशिष्टता की पूर्ण स्वतन्त्रता से बंधा है जिससे कि परिवार और बुर्जुआ समाज का हित राज्य के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा रहे। किन्तु साथ ही यह भी अनिवार्य है कि राज्य के सार्वभौमिक उद्देश्यों की पूर्ति विशिष्ट की इच्छा और ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। सार्वभौम की पूर्ण गति से प्रगति होनी चाहिये किन्तु इसके साथ-साथ उद्देश्य की सम्पूर्ण और महत्वपूर्ण पूर्ति होनी चाहिए। जब दोनों तत्व पूर्ण शक्तिशाली होंगे केवल उसी समय राज्य को वास्तविक रूप से स्थापित तथा व्यवस्थित समझा जा सकता है।"[1] हीगल की विकासवादी प्रक्रिया में राज्य से परे तथा राज्य से उच्चतर और अधिक

---

it creates police force, and becomes more and more state-like in form. As it develops, it produces guilds and corporations, which teach their members to think not of their own interests but of the interest of the whole to which they belong, and which because they do this, reveal, not the social instinct, which is competitive, but the state instinct which is cooperative. The thesis, the family, a unity held together by love, knowing no differences, is thus confronted by one antithesis, bourgeois, an aggregate of individuals held apart by competition, knowing no unity, even though it is manifestly struggling towards a greater unity which it has nevertheless not yet attained. The synthesis, which preserves what is best in thesis and antithesis, which swallows up neither family nor bourgeois society, but which gives a unity and harmony to them is the State."

—*Wayper* : Political Thought, Pages 162-63

1. "The essence of the modern state is that the Universal is bound up with the full freedom of particularity and the welfere of individuals, that the interest of the family and of bourgeois society must contact itself with the state but also that the universality of the state's purpose cannot be advanced without the specific knowledge and will of the particular, which must maintain its rights. The universal must be actively furthered, but on the other side subjectivity must be wholly and vitally developed. Only when both elements are there in all these strength can the state be regarded as articulated and truly organised."

—*Hegel*

पूर्ण अन्य कोई वस्तु नही है। वह राज्य को बुद्धि के द्वन्द्वात्मक विकास *(Dialectical evolution of mind)* की चरम सीमा समझता है, ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि भौतिक अथवा जैविक पक्ष मे (On the Physical or Organic side) मनुष्य है, इस पर विकास समाप्त हो जाता है।

राज्य और व्यक्ति मे कोई विरोध नहीं है (No opposition between the interests of individual and those of the state)—हीगल की यह स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा जिन सस्थाओ के रूप मे प्रकट होती है, उनमे राज्य सर्वोच्च है और उसके हितों तथा व्यक्ति के हितों से कोई विरोध नही है। उसके मतानुसार "इतिहास मे राज्य ही व्यक्ति है और जीवन चरित्र मे जो स्थान व्यक्ति का है, इतिहास में वही स्थान राज्य का है (The State is to History what a given individual is to biography)।" वह राज्य को परिवार एव समाज की सुरक्षा एव पूर्णता के लिए अनिवार्य मानता है। उसका निश्चित मत है कि राज्य हमारी स्वाधीनता का प्रत्यक्षीकरण है, हमारी विवकशीलता का मत रूप है तथा हमारे परिपूर्ण ज्ञान की साकार प्रतिमा है (State is the actualisation of freedom, an embodiment of reason, and an image of perfect rationality)।" *स्पष्ट है कि ऐसा हाने पर राज्य और व्यक्ति मे कोई विरोध नही* हो सकता, दोनो के हित एक हैं। हीगल का कहना है कि राज्य हमारी सच्ची, निष्पक्ष एव नि स्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है अत राज्य और व्यक्ति के हितो म किसी पारस्परिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती और व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञा का पालन करने मे है। व्यक्ति अपनी पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के घटक के रूप मे ही कर सकता है। व्यक्ति और राज्य के हितो म किसी भी विरोध का जो निषेध हीगल ने किया है उसे स्पष्ट करते हुए प्रा० स्टैस (Stace) ने लिखा है—

"इस प्रकार राज्य केवल स्वय व्यक्ति है जिसके सयोगात्मक तथा अनित्य गुणों को विनष्ट करके और शाश्वत गुणो का समावेश करके उसका निर्माण किया गया है। व्यक्ति मूलरूपेण शाश्वत है। शाश्वतता उसका मूल तत्व है। राज्य यथार्थ शाश्वत है और इस प्रकार केवल व्यक्ति का ही यथार्थ तथा साकार रूप है। इस तरह राज्य कोई बाह्य शक्ति नहीं है जो बाह्य रूप से स्वय को व्यक्ति के ऊपर थोपती हो और उसके व्यक्तित्व को कुचलती हो। इसके विपरीत राज्य स्वय व्यक्ति है और केवल राज्य मे रहकर ही उसके व्यक्तित्व की अनुभूति हो पाती है। राज्य के द्वारा व्यक्ति अपनी आत्मा की अन्तिम रूप से प्राप्ति कर लेता है। नागरिक समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति के हित समाज-हित के विरुद्ध हो जाते हैं। जब व्यक्ति अपनी निम्न आत्मा की समाप्ति करके उच्च आत्मा को प्राप्त करता है तो उसके और राज्य के हितों मे कोई विरोध नही रह जाता।"[1]

---

1. ... himself objectified and merely accidental and of what is universal. is the actual universal,

राज्य व्यक्ति के ऊपर है एवं सर्वोच्च नैतिक समुदाय है (The state is a higher end than the Individual and is supreme ethical institution)—व्यक्ति और राज्य के हितों में किसी विरोध का अनुभव न करते हुए हीगल राज्य को सर्वोच्च नैतिक समुदाय की मान्यता देता है और उसे व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण ठहराता है। हीगल के मतानुसार राज्य का स्थान सर्वोच्च है। समस्त नैतिकता, कानून आदि उसी के अन्तर्गत हैं। उसके ऊपर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियमन नहीं हो सकता। नैतिकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य में ही होती है और राज्य ही नैतिक मापदण्ड का संरक्षक है। वह स्वतन्त्र है, प्रतिबन्धों से पूर्णतया मुक्त है और स्वयं अपना नियामक है। वह अपने नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को अपने में समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है। वह दूसरों के लिए नैतिकता के मानदण्ड स्थिर करता है, स्वयं उसके कार्य उन मानदण्डों से नहीं नापे जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वयं अपना मानदण्ड है अर्थात् वह अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है। श्रेष्ठ या निकृष्ट–इन नैतिक शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता।

हीगल ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—"राज्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही जगतों का केन्द्र है" अर्थात् राज्य के द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक और अभौतिक दोनों ही उद्देश्यों को प्राप्त करता है। राज्य की सदस्यता को प्राप्त कर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। हीगल के अनुसार मनुष्य के अन्तर में उसका आध्यात्मिक स्वरूप विद्यमान है। इस आध्यात्मिक स्वरूप का विकास ही उसका उद्देश्य है। उसकी उपलब्धि या आत्मोपलब्धि के लिए मनुष्य को बाह्य कार्य करने पड़ते हैं। उसकी इस उपलब्धि में उसकी अपूर्णताएं और उसका अज्ञान बाधक बनते है। आन्तरिक विकास यदि 'वाद' (Thesis) है तो व्यक्ति की बाह्य सीमाएं उसके विकास में 'प्रतिवाद' (Anti-thesis) हैं। राज्य 'संवाद' या 'संश्लेषण' (Synthesis) है क्योंकि यह व्यक्ति की पाशविक चेतना, अज्ञानता और अपूर्णता को नियन्त्रित करके सही रूप में उसे स्वतन्त्र कर देता है। 'राज्य स्वतन्त्रता का प्रतीक है' क्योंकि व्यक्ति के लिए आत्मोपलब्धि ही सबसे बड़ी स्वतन्त्रता हैं। राज्य व्यक्ति की अपूर्णताओं और स्वेच्छा-चारिताओं का दमन करके उसे नियन्त्रित कर देता हैं। इस तरह वह व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर देता है जिसमें उसका आध्यात्मिक विकास सम्भव हो जाता है। स्पष्ट है कि हीगल इसी आधार पर राज्य को व्यक्ति से श्रेष्ठतर और उच्चतर प्रमाणित करता है।

---

and is thus simply the individual actualized and objectified. Thus the state is no alien authority which imposes itself externally upon the individual and suppresses his individuality. On the contrary, the state is the individual himself. And it is only in the state that his individuality is realised."

—*Stace* : The Philosophy of Hegal, Page 415

हीगल की मान्यता है कि राज्य स्वयं में एक साध्य है, उसे किसी साध्य के लिये साधन मानना एक आधारभूत गलती है। "यह व्यक्ति से उच्चतर है क्योंकि यह व्यक्ति के विशुद्ध, नित्य तथा शाश्वत तत्त्व का साकार रूप है जिसमें से व्यक्ति के अनित्य गुण निकाल दिये गए हैं। दूसरे शब्दों में राज्य व्यक्ति से उच्चतर इसलिये है कि व्यक्ति का जो महत्व एवं मूल्य है वह सब उसे राज्य की घटकता के द्वारा ही प्राप्त होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि राज्य का व्यक्ति के ऊपर सर्वोच्च अधिकार है और सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का घटक बनना है।"

हीगल की दृष्टि में एक नैतिक संस्था होने के नाते राज्य अधिकारों का जन्मदाता भी है। चूंकि व्यक्ति राज्य के लिए जीता है अतः वह राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं मांग सकता। राज्य एक स्थायी संस्था है जो अपने नैतिक गुण के कारण व्यक्तियों के भाग्य की सच्ची निर्णायिका है। व्यक्ति को राज्य की आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के किसी प्रकार के अधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य पूर्ण विकसित सामाजिक आचार (Social ethics) का मूर्तिमान रूप (Embodiment) है वह स्वयं-साध्य है, उसके अपने अधिकार हैं कोई कर्त्तव्य नहीं। यदि व्यक्तियों में तथा उनके अधिकारों में संघर्ष हो तो वह व्यक्तियों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है। लेकिन वास्तव में ऐसा संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के वे ही अधिकार हो सकते हैं जो राज्य उन्हें प्रदान करता है।

हीगल के अनुसार आत्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है उनमें राज्य का स्थान सर्वोपरि है। इस आत्मा का दूसरा नाम इच्छा भी है जो स्वतन्त्र है। अतः राज्य मूर्तिमान स्वतन्त्रता है। उसकी इच्छा सामान्य इच्छा है जो विवेकपूर्ण है और कभी भ्रान्त नहीं हो सकती। उसकी इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जहां तक व्यक्ति की इच्छा दूसरों की इच्छा के अनुरूप है और सबके हित की इच्छा करती है। इसी कारण उसकी इच्छा का अर्थात् उसके आदेशों (कानूनों) का पालन करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। उसका विरोध कभी उचित नहीं हो सकता। वह हमारी परम श्रद्धा का पात्र है। यह सार्वजनिक और व्यक्तिगत इच्छा का एकीकरण है। यह स्वयं में ही एक स्थिर लक्ष्य है। हीगल नागरिकों को इसीलिए विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता, प्रत्युत् वह विद्रोह या क्रान्ति की निन्दा करता है। हीगल द्वारा इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों और क्रान्ति के निषेध की पृष्ठभूमि का चित्रित करते हुए इस विषय में प्रो० सेबाइन का कहना है कि—

"जर्मनी की राजनीति में ऐसी चीज बहुत कम थी जो जर्मनों को व्यक्तिगत अधिकारों के विचार के प्रति आकृष्ट करती। एक सिद्धान्त के रूप में प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन जर्मनों को अच्छी तरह ज्ञात था लेकिन उनके लिए वह बुद्धि विलास की ही वस्तु थी, प्रायः उसी तरह जैसे कि १८४८ में जर्मन उदारवाद रहा था। फ्रांस और इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त का निर्माण अल्पसंख्यक वर्गों के इस दावे के आधार पर हुआ था कि बहुमत के विरोध में उन्हें भी धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त होनी चाहिए। इसके विपरीत जर्मनी एक ऐसा देश था जिसमें धार्मिक मतभेद राजनीतिक सीमाओं के साथ-साथ चल

सकते थे। फ्रांस और इंगलैण्ड में प्राकृतिक अधिकारों का सहारा लेकर राजतन्त्र के विरोध में राष्ट्रीय क्रान्ति का समर्थन किया गया था, लेकिन जर्मनी में कोई क्रान्ति नहीं हुई थी। जर्मनों को इस बात की कभी जरूरत नहीं मालूम पड़ी थी कि वे राज्य के विरोध में निजी निर्णय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना पर जोर देते। इसे वे राष्ट्र के लिए कोई विशेष हितकारी चीज नहीं समझते थे।"[1] पुनः "हीगल के दर्शन ने 'राज्य' शब्द को बड़ा पवित्र बना दिया था। अंग्रेजों को यह बात थोथी भावुकता लग सकती थी, लेकिन जर्मनों के लिए यह वास्तविक और विवशताकारी राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती थी।"[2]

व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध में हीगल के विचारों से प्रो० जोड़ (Joad) निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं—

१, राज्य कभी भी अप्रतिनिधित्व रूप से कार्य नहीं करता (State never acts unrepresentatively) अर्थात् यदि पुलिस किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करती है और न्यायाधीश उसे सजा देता है तो इसका कारण यह है कि उस व्यक्ति की असली इच्छा यही है कि उसे सजा मिले।

२. व्यक्ति एक एकाकी इकाई नहीं है (Individual is not a Solitary Unit) अर्थात् वह जिस समाज में रहता है उसका एक अविभाज्य अंग है।

३. राज्य अपने नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को अपने में समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है (State Contains within itself and represents the social morality of its citziens) अर्थात् राज्य नैतिकता से ऊपर है।

इस प्रकार हीगल के राज्य की कल्पना एक निरंकुश, सर्वशक्तिमान चरम सत्तावादी तथा अभ्रान्त राज्य की कल्पना है (conception of a despotic omnipotent, absolute and infallable state) जिसे उसने "पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन (March of God on Earth)" कहा है। गार्नर ने हीगल के सिद्धान्त का संक्षेप में इस भांति विवेचन किया है—

"हीगल की दृष्टि में राज्य 'ईश्वरीय राज्य' है जो कोई गलती नहीं कर सकता, जो सर्वशक्तिशाली है जो अभ्रान्त है और जो नागरिकों के अपने हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग तथा बलिदान के लिए वह अपने नागरिकों को आदेश देता है, उसके कारण वह व्यक्ति का उत्थान करता है और उसे श्रेष्ठत्व प्रदान करता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति स्वार्थमयी है परन्तु इस प्रकार वह उसे 'सार्वभौमिक पदार्थ के जीवन में वापिस खींच ले जाता है।"

हीगल के उपरोक्त विचारों के कारण आलोचकों का विचार है कि हीगल के सिद्धान्त में व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के आधीन कर दिया गया है। हॉब

---

1. सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६१०
2. वही, पृष्ठ ६११

हाउस (Hobhouse) कहता है कि हीगल का राज्य-सिद्धान्त "राज्य को एक महानतर प्राणी एकात्मा तथा एक अतिव्यक्ति सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके अन्तःकरण उनके दावे तथा अधिकार, उनका हर्ष, उनका दुःख-ये सब केवल पराधीन तत्व हैं।"[1] इस तरह प्रो० जोड (Joad) ने लिखा है कि- 'यह स्पष्ट है कि राज्य को एक वास्तविक व्यक्ति होने के कारण उसे अपने में ही एक साध्य समझा जा सकता है जिसके अपने अधिकार होते हैं और जो व्यक्ति के तथाकथित अधिकारों के साथ दिखाई देनेवाले संघर्ष में विजयी होते हैं। सिद्धान्त मे हर समय और व्यवहार मे युद्ध के समय वह अपने नागरिकों के जीवन पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है और उसका ऐसा करना कानून के अनुसार होगा। सिद्धान्त अथवा कानून में राज्य के आदेशों अथवा कानूनों के विरोध के लिए कोई आधार नहीं हो सकता क्योंकि जिनके ऊपर राज सत्ता का प्रयोग किया जाता है और जो लोग राज सत्ता का प्रयोग करते हैं-उनमे कोई भेद नहीं है।"[2]

प्रो० मेकायवर ने भी उपरोक्त तरह के विचारों से सहमति करते हुए लिखा है कि- पुरातन विचारवादी इस बात पर बल देते थे कि राज्य अपने में साध्य नहीं है अपितु एक साध्य के लिए साधन मात्र है-साध्य है जनता की भलाई और कल्याण। इसके विपरीत हीगल ने यह घोषणा की कि राज्य स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति एक साध्य के लिए साधन मात्र है- वह साध्य है उस राज्य का ऐश्वर्य जिसके कि वे घटक हों।"[3]

---

1 "*The Hegelian theory of the state (The Metaphysical or the Idealist theory)* sets up 'the state as a greater being a spirit a super personal entity, in which individuals with

2 'It is clear that the state being a real individual, may be regarded as an end in itself, possessing rights of its own which necessarily over ride in any apparent conflict the so-called rights of the individual. In theory at all times *and in practice in war times,* it may exercise, and lawfully exercise, complete authority over the lines of its citizens Nor is there any ground in theory or law for resistance to its decrees, for those over whom it exercises *authority are* not different from those who exercise it"

—*Joad* Introduction to Modern Political Theory

3 'The old liberals had stressed the notion that the state is not an end in itself, but only a means to an end- the end *being the happiness and the welfare* of the individual ... the state was an ... ndividuals were ... glorification of ... ibers"

... o Hitler, *P* 299

इस तरह स्पष्ट है कि हीगल के लिए राज्य व्यक्ति की सुरक्षा एवं भलाई का केवल एक साधन मात्र न होकर अपने आप में स्वयं एक साध्य है। हीगल के स्वयं के शब्दों में "व्यक्ति अपने सत्य, अपने वास्तविक अस्तित्व, और नैतिक पद की प्राप्ति राज्य का घटक होकर ही कर सकता है।" आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उग्र रूप का स्रोत प्लेटो और अरस्तू के इस मत में है कि राज्य स्वाश्रयी संस्था है। यदि राज्य स्वयं स्वाश्रयी है तो वह अपने नागरिकों के लिए समस्त मानव-समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का प्राकृतिक परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप में राज्य से सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप में समस्त मानव समाज से सम्बन्ध, इन दोनों विभिन्न सम्बन्धों को बराबर एक रूप कर देता है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सकता है। इस स्थिति से निरकुशता के सिद्धान्त को पहुंच जाना सरल है। चूंकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है इसलिए वह निरपेक्ष सत्ता के साथ नागरिकों की पूर्ण भक्ति की मांग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिक पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है। हीगल की दृष्टि में इस स्थिति से व्यक्ति को जितनी हानि है, उससे कही अधिक लाभ हैं क्योंकि उसे केवल राज्य में ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी में वह नैतिकता प्राप्त करता हैं और अपने अधिकारों की प्राप्ति करता है।

हीगल के राज्य विषयक उपरोक्त विचारों से यह भ्रांति हो गई है कि वह व्यक्ति को राज्य का दास बना देना चाहता है। हीगल पर यह आरोप लगाना एक सीमा तक न्यायसंगत नहीं होगा कि वह व्यक्ति पर राज्य के सार्वभौम नियंत्रण को लाद देता है अथवा वह व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर देता है। इसका कारण यह है कि हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नहीं है, वह तो व्यक्ति की आत्मा है और व्यक्ति के सर्वोत्तम भाग की अभिव्यक्ति है। हीगल ने कहा है कि राज्य कैसा भी अपूर्ण क्यों न हो किन्तु वह व्यक्ति की बुद्धि से श्रेष्ठ होता हैं क्योंकि वह व्यक्ति की बुद्धि का विकसित रूप है। इस प्रकार उसने राज्य का आदर्श रूप प्रकट किया है। उसने व्यक्ति और राज्य में किसी प्रकार का विरोध ही नही माना है। तब ऐसी दशा में व्यक्ति को अपने विकसित रूप राज्य के सामने नतमस्तक होने में कोई हिचक होनी ही नहीं चाहिए। उसने तो राज्य में सर्वोच्च नैतिकता को निहित किया है। उसने यह स्पष्ट किया है कि राजाज्ञा पालन करने में व्यक्ति स्वय अपनी ही आत्मा की आज्ञा का पालन करता है, वह राज्य में और राज्य के द्वारा अपनी ही आत्मा की अनुभूति करता है तथा राज्य की अधीनता स्वीकार करने में अपनी ही आत्मा के आधिपत्य को मानता है। अतः इस विचार को स्वीकार करने पर यह मानने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए कि हीगल व्यक्ति को दास बना देता है। "इस प्रसंग मे यह भी स्मरणीय है कि राज्य को व्यक्ति से ऊंचा साध्य मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता कि व्यक्ति राज्य रूपी साध्य के लिए एक साधन मात्र बन कर रह गया है।"

हीगल का राज्य विषयक सिद्धान्त कहाँ तक उचित है और कहां तक नहीं, इस पर विस्तार से विवेचन अग्रिम पृष्ठों में हीगल के राज्य-दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत किया जायगा।

राज्य और नागरिक समाज में विभेद (Distinction between Civil Society and State)—उल्लेखनीय है कि हीगल राज्य और नागरिक समाज मे अन्तर करता है। यह अन्तर अथवा विभेद हीगल के सिद्धान्त का एक मुख्य अंग है। हीगल का विचार है कि विचार-क्रम मे नागरिक समाज की गणना राज्य से पहले होते हुए भी कालक्रम मे उसकी गणना राज्य के बाद है (Civil Society is prior to the State in the order of thought and not in order of time)।

हीगल के अनुसार नागरिक समाज की तीन अवस्थाए होती हैं–(क) न्याय प्रशासन, (ख) पुलिस एव (ग) निगम। इनमे अन्तिम दो अर्थात् पुलिस एव निगम का राज्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। हीगल समाज को राज्य पर आधारित और निर्विकल्प तत्व मानता है अर्थात् उसका मत है कि नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित नही रह सकता। वह एक क्षण के लिए भी यह स्वीकार नही करता कि न्यायालय, पुलिस, जेल और नागरिक समाज की अन्य सस्थाए राज्य के अस्तित्व के अभाव म सम्भव हैं। नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित ही नही रह सकता।

नागरिक समाज विचार करने पर राज्य से पहले प्रतीत होता है किंतु समय मे वह राज्य के बाद है। यह अर्थात् नागरिक समाज 'राज्य का वह स्वरूप है जिसम समाज को ऐसे स्वाधीन व्यक्तियो का समूह माना जाता है जो सम्पूर्ण समाज के अन्य घटको की सहायता से अपने अपने उद्देश्यो की प्राप्ति मे लगे हुए हैं। एक नागरिक समाज मे एक व्यक्ति दूसरों के साथ आवश्यक तायो के सूत्र मे बधा हुआ होता है और उद्योग तथा व्यापार-प्रणाली मे वह काय करता है। राज्य मे उसका दूसरो से सम्बन्ध सावयवी हो जाता है, वह फिर अपने लिए कार्य नही करता बल्कि राज्य के सर्वव्यापी जीवन में विलीन हो जाता है। उसकी स्वाथ भावना का स्थान सामान्य हित ले लेता है। इस प्रकार एक नागरिक समाज एक पूर्ण विकसित राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।'

वास्तव मे हीगल का राज्य-सिद्धान्त राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्धो के विशिष्ट स्वरूप पर आधारित है। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और पारस्परिक निर्भरता का भी। सेबाइन का कथन है कि 'हीगल के विचार से राज्य कोई ऐसी उपयोगितावादी सस्था नही है जो सार्वजनिक सेवाओ, विधि के प्रशासन, पुलिस कर्त्तव्यो के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितो के सामञ्जस्य मे लगे हों। ये सारे कार्य नागरिक समाज के हैं। राज्य आवश्यकतानुसार उनका निदेशन और विनियमन कर सकता है। लेकिन वह खुद इन कार्यों को नहीं करता। नागरिक समाज बुद्धिमतापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्व के लिये राज्य के ऊपर निर्भर रहता है। यदि हम समाज पर पृथक रूप से विचार करें तो ज्ञात होगा कि समाज उन कुछ यांत्रिक नियमों द्वारा शासित होता है जो बहुत से व्यक्तियो के अजनशील और स्वार्थपूर्ण

उद्देश्यों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं। लेकिन राज्य अपने नैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के साधनों के लिये नागरिक समाज पर निर्भर रहना है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी वे एक दूसरे से अलग अलग हैं। राज्य साधन नहीं है, बल्कि साध्य है। वह विकास में विवेक युक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्यात्मिक तथ्य को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक समाज का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ में उसका निर्माण करना है।"[1]

पुनः, उपरोक्त लेखक के ही शब्दों में "यदि हीगल ने राज्य को नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उच्च ठहराया तो उसका यह अभिप्रायः नहीं है कि उसे नागरिक समाज अथवा उसकी संस्थाओं से घृणा थी। वस्तुस्थिति इससे उल्टी थी। हीगल अपने व्यक्तिगत चरित्र और राजनैतिक चिन्तन दोनों की दृष्टि से बुर्जुआ था। स्थिरता और सुरक्षा के प्रति उसके मन में बड़ा सम्मान था। उसका विचार था कि राज्य और नागरिक सत्ता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि यह सम्बन्ध उच्च स्थिति और निम्न स्थिति का सम्बन्ध है और राज्य की सत्ता निरपेक्ष है। राज्य और उसको सांस्कृतिक मिशन समाज के ऊपर निभर है। इससे समाज के आर्थिक जीवन का नैतिक महत्व बढ़ जाता है।...हीगल ने नागरिक समाज का जो विवरण दिया है, उसमे उसने गिल्डों और निगमों, एस्टेटों और वर्गो,संस्थाओ और स्थानीय समुदायों का विस्तार से वर्णन किया है। हीगल इन संस्थाओं को या इनसे मिलती-जुलती कुछ अन्य संस्थाओं को मानवी दृष्टि से अत्यावश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि इन संस्थाओं के बिना लोग रूपविहीन भेड़ मात्र बन जायेंगे तथा व्यक्ति की स्थिति एक एटम की भांति होगी। इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल आर्थिक और संस्थागत जीवन के संदर्भ में ही सार्थक होता है। इसलिए, हीगल के दृष्टिकोण से राज्य का निर्माण मुख्यतः, व्यक्तिगत नागरिकों से मिलकर नहीं होता। राज्य को विभिन्न निगमों और समुदायों का सदस्य होना चाहिए—इसके बाद ही वह राज्य की गौरवपूर्ण नागरिकता प्राप्त कर सकता है।"[2]

राज्य में परिवार एवं समाज का अवसान अथवा विलीनीकरण किस भांति होता है—इसे बताते हुए प्रो० बोसांके ने लिखा है कि—

"राज्य एक व्याप्त आधार के रूप में परिवार का स्वभाव तथा नैतिक आदत रखता है, जिसमें व्यापार जगत की स्पष्ट चेतना और उद्देश्य मिले हुए होते हैं। राज्य के सावयव में, अर्थात् जहां तक हम नागरिकों की भांति महसूस करते और सोचते है, भावना स्नेहमयी भक्ति बन जाती है और स्पष्ट चेतना राजनीतिक सूझ बन जाती है। नागरिकों के नाते हम यह महसूस करते हैं और देखते हैं कि राज्य हमारे स्नेह और रुचि के पात्र पदार्थों को सम्मिलित

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६१६
2. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६२०

रखता है और उन्हें प्राप्त करता है–सयोग द्वारा एक जगह फेंकी हुई अलग-अलग वस्तुओं के रूप में नहीं, बल्कि सामान्य शुभ के साथ अपने सम्बन्धों द्वारा निर्मित उद्देश्यों के रूप में। यह भावना और बुद्धि देश भक्ति का सच्चा सार है।"[1]

नागरिक समाज एवं राज्य के मध्य मूलभूत अन्तर का प्रो० स्टैस (Prof Stace) ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"नागरिक समाज में एक व्यक्ति केवल अपना हित प्राप्त करने का इच्छुक होता है। अत इसका यह हित एक विशेष हित है। इसके विपरीत राज्य के हित एवं लक्ष्य बहुत ऊँचे होते हैं और इन्हीं की प्राप्ति के लिए समस्त निवासी प्रयास करते हैं। अत इसमें एक नागरिक के हित सावजनिक हित होते हैं।"[2]

हीगल के अनुसार नागरिक समाज एकपक्षीय है। राज्य में जाकर उसका समन्वय होता है। हॉब्स, लाक का यह सिद्धान्त कि राज्य व्यक्ति को सबसे अधिक भलाई कर सकता है, अपूर्ण है। हीगल के सिद्धान्त द्वारा हम इसे अच्छी तरह समझ पाते हैं। हॉब्स और लाक जिस राज्य की कल्पना करते हैं, उसे हीगल नागरिक समाज कहता है। हॉब्स और लॉक राज्य और व्यक्ति को विरोधी मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य का कोई सामान्य हित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का हित पृथक पृथक होता है और राज्य का उद्देश्य होता है प्रत्येक व्यक्ति का हित करना। किन्तु हीगल राज्य से अलग व्यक्ति के किसी भी महत्व को स्वीकार नहीं करता। वह व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितों में किसी विरोध की कल्पना नहीं करता। वह तो कहता है कि राज्य के अभाव में व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता।

हीगल के अनुसार राज्य ब्रह्म का विकसित रूप है। जो चरम विचार है उसी की अभिव्यक्ति राज्य है। परिवार और नागरिक-समाज राज्य में ही

1 'The state has the ethical habit and temper of the family as a pervading basis, combined with the explicit consciousness and purpose with the business world In the organism of the state, i e, in so far as we feel and think as citizens, feeling becomes affectionate loyalty, and explicit consciousness becomes political insight As citizens we both feel and see that the state includes and secures the objects of our affections and our interests, not as separate items, thrown together by chance, but as purposes transformed by their relation to the common good, into which, as we are more or less aware they necessarily pass This feeling and insight are the true essence of patriotism'

—*Bosanquet* · Philosophical Theory of he State, P 261 62

2. "In the former (the civil society) the individual is for himself the sole end, so that his end is particular, while in the latter (the state) the state is the higher end for which the individual exists, so that his end is universal"

—*Stace*; The Philosophy of Hegel, P 414

सफलता एव पूर्णता प्राप्त करते हैं क्योंकि सभी समुदायों का बडा समुदाय राज्य ही है (State is an association of associations)।

हीगल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध बताया है, उसने ही उसके सवैधानिक शासन के स्वरूप का निर्धारण किया है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष जरूर है, लेकिन वह मनमानी नही है। राज्य को अपनी नियामक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। हीगल के अनुसार नागरिक समाज का नौकरशाही संगठन उसका शिखर होता है। इस स्तर पर समाज राज्य की उच्चतर संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व को एकदम निरर्थक इस कारण मानता है कि व्यक्ति पहले नागरिक समाज द्वारा समर्पित एक या एक से अधिक संस्थाओं का सदस्य होता है और इसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित होता है। विधान मण्डल ही वह स्थल है जहां ये सस्थाएं राज्य से मिलती हैं। हीगल का स्पष्ट मत था कि नागरिक समाज की ओर से महत्वपूर्ण क्षेत्रों अथवा व्यावसायिक इकाईयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये।

राष्ट्र राज्य, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीयवाद—(Nation State, War and Internationalism)—हीगल के राज-दर्शन की एक अन्य विशेषता यह है कि वह राष्ट्र-राज्य (Nation State) को मानव-सगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी सगठन के राष्ट्र-राज्य के ऊपर होने की कल्पना नहीं करता। हीगल के ये विचार निश्चय ही प्रतिक्रियावादी एव भयकर परिणामों को जन्म दे सकनेवाले हैं क्योंकि इनसे राष्ट्र राज्य पारस्परिक सम्बन्धो में मनचाहा आचरण करने को प्रेरित होकर विश्व मे अव्यवस्था एवं अशांति का प्रसार कर सकते हैं।

हीगल यह विश्वास भी व्यक्त करता है कि राष्ट्र राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का निपटारा युद्ध द्वारा ही सम्भव है। वह शातिपूर्ण उपायो और समझौतों को हल्के रूप में अस्वीकार करता है। युद्ध में किसी प्रकार की बुराई के उसे दर्शन नही होते। वह युद्धवादी हो गया है और स्थायी शांति का विरोधी बन जाता है। दुनियां चाहे युद्ध को सदैव हेय समझती रहे, किन्तु हीगल का विचार यही है कि "युद्ध के अनेक सुपरिणाम निकलते हैं जो लाभदायक होते हैं। वह मानता है कि युद्ध व्यक्ति के स्वार्थी अहम् का नाश करता है और इस प्रकार मानव जाति को पतन के मार्ग से बचाकर क्रियाशीलता का संचार करता है (War destroy the selfish egotism of the individual and preserves mankind from corruption and engenders mobility)।" युद्ध की आवश्यकता के विषय मे हीगल बड़े अद्भुत तर्क देता है। उसकी मान्यता है कि "एक समय में केवल एक ही जाति में परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, इसलिये युद्ध मे किसी राज्य की सफलता 'दैवी योजना का व्यग्य (Irony of divine idea) को व्यक्त करती है।" इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है। हीगल के अनुसार युद्ध राज्य की शक्ति का द्योतक है।

हीगल यह विश्वास प्रकट करता है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नहीं मानना चाहिये। मानव के विश्व प्रेम की भावना एक निर्जीव आविष्कार है। युद्ध स्वयमेव एक नैतिक कार्य है। शांति भ्रष्टाचार का प्रसार करती है और अनन्त शांति अनन्त भ्रष्टाचार फैलायगी। "युद्ध वह परिस्थिति है जो इह लौकिक स्वार्थों और अभिमान को ठीक करती है। युद्ध का महत्व यह भी है कि इसके द्वारा जनता का धार्मिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और वे इहलौकिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीन हो जाते हैं। जिस प्रकार वायु का चलना समुद्र को शांत वातावरण रहने से उत्पन्न होनेवाली गन्दगी से बचाता है, ठीक उसी प्रकार गतिहीन अनन्त शांति से राष्ट्रों में भ्रष्टाचार फैलता है।"[1] 'सफल युद्धों ने नागरिक विद्रोहों को रोककर राज्यों की आंतरिक शक्ति को संगठित और बलशाली बनाया है।"[2] नाप कोई आकस्मिक आविष्कार नहीं है और यही तथ्य बारूद पर भी लागू होता है। "मानव जाति को इसकी आवश्यकता थी और इसका तुरन्त प्रादुर्भाव हुआ। तोपों और बारूद पर सभ्यता की छाप है। असभ्य जातियों के अधिकार केवल औपचारिकता है। सभ्य राष्ट्र यह भली प्रकार समझते हैं कि बर्बर जातियों के अधिकार उनके समान नहीं है और वे इनकी स्वायत्तता (Autonomy) को केवल एक औपचारिकता (Formality) मानते हैं।"

हीगल अंतर्राष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता। उसकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल कुछ परम्परा मात्र हैं जिन्हें कोई भी प्रभुत्व सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। हीगल का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नीतिपूर्ण व्यवहार हो, इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। राज्य को अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिये। नैतिकता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। हीगल की दृष्टि में राज्य की इच्छा को सीमित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल उन कतिपय उत्तेजनाओं का उस समय तक प्रतिनिधित्व करते हैं जब तक वे राज्य की सर्वशक्तिमत्ता (Supreme Performance) में हस्तक्षेप नहीं करतीं। वर्तमान विश्व आत्मा के दावेदार राज्य के अक्षुण्ण अधिकारों (Absolute rights of the present bearer of

---

1 "War is the state of affairs which deals in earnest with the vanity of temporal goods and concerns—a vanity at other times a common theme for edifying sermonizing War has the highest significance that by its agency the ethical health of people is preserved in their indifference to the stabilizing of finite institutions, just as the blowing of the wind preserves the sea from the foulness which would be the result of a prolonged calm so also corruption in nations would be the product of prolonged, let alone perpetual peace"

2 "Successful wars have prevented civil broils and strengthened the internal power of the state"

the world sp rit) के समक्ष अन्य राज्यों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध जो बन ही जाते हैं, वे अल्पकालीन होते हैं और यहां तक कि सन्धियां तक परिवर्तनशील होती हैं।

हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में विचार अराजकता की सीमा को छूते हैं। उसका स्पष्ट मत है कि राज्य की सम्पूर्ण अक्षुण्णता के समक्ष (The absoluteness of the State) अन्य कोई भी वस्तु सम्पूर्ण अथवा अक्षुण्ण (More absolute) नहीं है। स्वयं उसके शब्दों में, "राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नही है अपितु वह स्वय में ही पूर्ण स्वतन्त्र सम्पूर्णता है। अतः राज्यों के परस्पर सम्बन्ध निजी या नैतिकता मात्र नहीं हैं। बहुधा यह इच्छा की जाती है कि राज्य को नैतिकता और निजी अधिकारों के दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिये किन्तु व्यक्तियों की स्थिति इस प्रकार की है कि इनके ऊपर न्यायालय है जो इस बात का निर्णय करता है कि उनके कौन से कार्य यथार्थतः उचित हैं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी यथार्थतः ठीक होना चाहिये, लेकिन सांसारिक मामलों में जो यथार्थतः ठीक है उसे अधिकार प्राप्त होना चाहिये। लेकिन राज्य के मामले में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो इस बात का निर्णय कर सके कि यथार्थतः क्या ठीक है तथा अपने निर्णय को क्रियान्वित कर सके। अतः हम राज्य में सम्पूर्ण अधिकार सम्पन्न रहते हैं, किसी अन्य शक्ति को राज्य पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य पारस्परिक सम्बन्धों में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं और परस्पर किये गये निर्णयों को वे केवल सामयिक और अस्थायी मानते हैं।"[1]

हीगल इस बात में दो मत नहीं था कि राज्य एवं जातियां विश्व-आत्मा (World-spirit) के हाथों में अज्ञात रूप से खिलौने और अंग बने हुए हैं तथा राज्य के कार्यों का अन्तिम निर्णय केवल विश्व इतिहास के न्यायालय मे ही हो सकता है।

दण्ड तथा सम्पत्ति (Punishment and Property)—काण्ट की भांति हीगल भी दण्ड के प्रश्न को एक नैतिक दृष्टि से देखता है। वह

---

1. "A state is not a private person, but in itself a completely independent totality. Hence the relation of states to one another is not merely that of morality and *private right*. It is often desired that the state should be regarded from the stand point of *private* right and morality. But the position of private persons is such that they have over them a Law Court, which realises what is *intrinsically* right. A relation between states ought also to be *intrinsically* right, but in mundane affairs that which is intrinsically right ought to have power But *as against* the state there is no power to decide what is intrinsically right and to realise this decision. Hence, we must have *remain by* absolute command. States in their relations to one another are independent and look upon the stipulations which they make with one another as provisional."

—*Hegel*

मानता है कि किसी भी अधिकार के भंग होने पर राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपराधी को दण्डित करे। सार्वजनिक सुरक्षा (Public security) उसकी दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य नहीं है। दण्ड का अर्थ केवल यही है कि जिस अधिकार की अवज्ञा द्वारा जिस व्यक्ति के प्रति तथा उसके द्वारा समाज एवं न्याय विधान के प्रति जो अत्याचार हुआ है उसका बदला लिया जा सके। दण्ड, समाज और अपराधी दोनों का समान अधिकार है जिसके द्वारा इन दोनों को अपना उचित न्याय मिल जाता है। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का अतिक्रमण हो तो उस अधिकार की स्थापना करने का एक मात्र उपाय है—"प्रथम पीडित व्यक्ति पर किये गये अत्याचार का सार्वजनिक निराकरण और द्वितीय उनके माध्यम से समाज और न्याय के नियमों पर अनाधिकार चेष्टा का निराकरण (Public redressal of the outrage done to the individual in the first place and, through him, to the community and the Law of Justice in the second)"

सम्पत्ति के विषय में हीगल की मान्यता थी कि यह व्यक्तित्व की पूर्णता के लिये आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति की इच्छा अपने को क्रियाशील रख सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नहीं करता प्रत्युत वह मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य परिस्थिति है।

संविधान पर हीगल के विचार (Hegel on Constitution)—हीगल के अनुसार राज्य की तीन शक्तियां हैं-(१) व्यवस्थापिका सम्बन्धी (Legislative), (२) प्रशासनिक (Administrative), तथा (३) राजतान्त्रिक (Monarchic)। इनमें वह राजतान्त्रिक शक्ति को प्रमुख मानता है क्योंकि वह राज्य में एकता उत्पन्न करती है। उसका विश्वास है कि एक वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) में ही परिपूर्ण विवेकशीलता (Perfect rationality) उपलब्ध हो सकती है, क्योंकि इसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा प्रजातन्त्र तीनों के तत्व पाये जाते हैं। इस व्यवस्था में राजा एक, प्रशासन कुछ और विधान मण्डल बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल चाहता है कि राज-सत्ता (Sovereignty) जनसाधारण को न दी जाकर राजा के हाथों में होनी चाहिये। विधायिका या विधान मण्डल (Legislature) में चाहे जनता का प्रतिनिधित्व हो और उनके बनाये गये सिद्धान्तों को कार्यपालिका (Executive) देश में लागू करे किन्तु उन्हें अन्तिम रूप देने का अधिकार राजा का होना चाहिये जिससे देश में एकता बनी रहे। दार्शनिक धारणा के रूप में सर्वाधिकार सम्पन्नता सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति है लेकिन कार्यरूप में इसका अर्थ किसी एक व्यक्ति का दृढ़ निश्चय है और वह व्यक्ति राजा है। विधान मण्डल में राजा, प्रशासन और प्रजा सभी सम्मिलित हैं। राजा और प्रशासन के अभाव में राज्य की एकता नहीं रह सकती। विधान मण्डल में हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व को बिलकुल निरर्थक मानता था। इसका कारण यह था कि व्यक्ति पहले नागरिक समाज द्वारा समर्थित एक या एक से अधिक संस्थाओं का सदस्य होता है और इसके बाद ही उसका

राज्य से सम्बन्ध स्थापित होता है। विधान मण्डल ही वह स्थल है जहां ये संस्थाएं राज्य से मिलती हैं। हीगल का कहना था कि नागरिक समाज की ओर से महत्वपूर्ण क्षेत्रों अथवा व्यावसायिक इकाईयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। दूसरे शब्दों में विधान मण्डल में जनता के प्रतिनिधि तत्वों को राज्य के विविध वर्गों और व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करना चाहिये, व्यक्तियों का नहीं। "वह यह आवश्यक समझता था कि विधान मण्डल में मन्त्रियों को राजकर्मचारी वर्ग का, जो नागरिक समाज का नियमन करता है, प्रतिनिधित्व करना चाहिये। लेकिन मंत्री विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बिल्कुल नहीं हैं। हीगल के मत से विधान मण्डल का कार्य यह होना चाहिये कि वह मंत्रिमण्डल को सलाह दे। मंत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व राजा के प्रति होता है। हीगल के अनुसार राजा को कोई विशेष शक्ति प्राप्त नहीं है। उसे जो भी शक्ति प्राप्त है, राज्य के अध्यक्ष की अपनी वैधानिक स्थिति के कारण प्राप्त है।"[1] हीगल के शब्दों में, "सुव्यवस्थित राजतंत्र में विधि का वस्तुपरक पक्ष ही सामने आता है और इसके बारे में राजा अपनी यह आत्मपरक बात कह देता है–मैं सहमत हूँ।"[2]

यह उल्लेखनीय है कि हीगल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध बताया था, उसने ही उसके संवैधानिक शासन के स्वरूप का निर्धारण किया है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष अवश्य है लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। राज्य को अपनी नियामक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। "राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। हीगल के लिये इसका अभिप्राय यह था कि सार्वजनिक सत्ता के कार्यों के बारे में पहले से भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि वे ज्ञात नियमों के अनुसार किये जाते हैं। नियम अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के कार्यपद की सत्ता को व्यक्त करते हैं, पदाधिकारी की व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को नहीं। विधि को सब व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करना चाहिये। चूंकि विधि का रूप सामान्य होता है इसलिये वह व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दे सकती। निरकुशता का तत्व विधि-विहीनता है और स्वतन्त्र तथा संवैधानिक शासन का तत्व यह है कि वह विधि-विहीनता को दूर करता है और सुरक्षा को जन्म देता है।"[3] हीगल के स्वयं के कथनानुसार, "निरकुशता विधि-विहीनता की वह स्थिति है जिसमें राजा अथवा जनता की विशिष्ट इच्छा विधि का रूप ले लेती है अथवा वह विधि के बावजूद महत्वपूर्ण मानी जाती है। यह तथ्य कि राज्य में प्रत्येक चीज दृढ़ और सुरक्षित है, अस्थिरता और राजनीतिक मत के विरोध में एक तरह की प्राचीर

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६२४
2. Philosophy of Right, Sect. 280 (Quoted from Sabine)
3. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६२१–२२

होता है।"[1]

'इस प्रकार हीगल का राज्य बाद के जर्मन न्याय शास्त्र की शब्दावली में एक प्रकार का रीश्टाट था। उसे अपना आन्तरिक शासन बड़ा दृढ़ और निपुण रखना था, उसकी न्याय व्यवस्था काफी मजबूत होनी थी, उसे देह तथा सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करनी थी क्योंकि हीगल इन अधिकारों को नागरिक समाज के आर्थिक कार्यों के लिये आवश्यक समझता था। इस प्रकार हीगल के सर्वधानिक शासन मे उदारवाद की भांति ही वैधानिक सत्ता और व्यक्तिगत सत्ता म भेद किया गया था। लेकिन, उसने ,विधि, शासन तथा लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक प्रक्रियाओ के सम्बन्ध को कोई मान्यता नही दी।"[2]

हीगल के इतिहास पर विचार (Hegel's Ideas on History)—इतिहास की परिभाषा देते हुए हीगल लिखता है कि "इतिहास मानव आत्मा क आत्मशोध क लिए की गई एक तीर्थयात्रा है (History is the pilgrimage of the spirit in search of itself)।" उसकी दृष्टि मे इतिहास का मार्ग मानवीय विवेक द्वारा प्रशस्त होता रहता है और "विश्व-इतिहास विश्व का निर्णय है" (World history is the world judgement)। निर्णय से यहा अर्थ है एक जाति की दूसरी जाति पर विजय जो 'विश्वचेतना' के एक जाति से दूसरी जाति मे स्थानान्तरित होने का प्रमाण है। हीगल ने विश्व इतिहास को स्वाधीनता की अनुभूति के आधार पर चार अवस्थाओं मे बांटा है—

(१) पौर्वात्य (Orientals)   (२) यूनानी (Greeks)
(३) रोमन (Romans)   (४) जर्मन (Germans)

हीगल मानता है कि जर्मनी मे सभी लोग स्वतन्त्र हैं। उसके मत मे इतिहास की अपनी समस्यायें तथा उसके अपने समाधान होते हैं। बुद्धिमान लोग न इतिहास का निर्माण करते हैं और न निर्देश, बल्कि अवश्यम्भावी घटनाओ के तर्क के सम्मुख उन्हें भी झुकना पड़ता है। वे केवल यह समझने का प्रयास करते हैं कि कौनसी व्यवस्था विनाश मार्ग है। हीगल के शब्दों मे "इतिहास बुद्धिमानो का पथ प्रदर्शन करता है तथा मूर्खों को घसीटता है" (History leads the wise men and drags the fools)। उसका स्पष्ट मत है कि इतिहास का मार्ग तथा मानव संस्थाओं का विकास स्थायी परिवर्तनो द्वारा निश्चित होता है। सत्यता तथा वास्तविकता के दर्शन किसी एक निश्चित घटना में नहीं मिलते वरन् घटनाओं की एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया तथा समन्वय म मिलते हैं। इतिहास का विकास केवल संयोग का परिणाम और न ही मानवी बुद्धि द्वारा उसका मार्ग निर्देशन हुआ था, अपितु वह तो स्थायी रूप से घटनाओं की प्रतिक्रिया तथा समन्वय का परिणाम था।

---

1. Philosophy of the Right, Sect 278 note, 270, addition.
2. सबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६२२

हीगल के मतानुसार इतिहास का प्रवाह और मानव समाज की व्यवस्थाओं का विकास निश्चित नियमों के अनुसार होता है। प्रकृति में जो परिवर्तन होते हैं चाहे उनकी संख्या कितनी ही अधिक हो, उनका भी एक चक्र (Cycle) होता है जो निरन्तर चलता रहता है। कोई विकास कब पूर्ण होगा—यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। विकास अनन्त परिवर्तन के क्रमानुसार निर्णीत होता है। सत्य और तथ्य किसी विशेष वस्तु में प्राप्त नहीं होते अपितु इनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा क्रम, व्यत्ति-क्रम और सम्मेलन अथवा वाद, प्रतिवाद और संवाद (Thesis, anti-thesis and synthesis) के क्रम पर बनाए गए मार्ग पर चिन्हित होते हैं।

इच्छा के विषय में हीगल की कल्पना (Hegel's conception of Will)—हीगल ने इच्छा-सिद्धान्त रूसो से ग्रहण किया है। वह काण्ट की भांति मनुष्य की इच्छा को स्वाधीन मानता है जो कि शुद्ध सूक्ष्म ज्ञान का एक पक्ष होने के कारण "शाश्वत, सर्वव्यापी, स्वयं चेतन तथा आत्मनिर्णायक (Eternal, universal, self-conscious and self-determining) है। यही स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण इच्छा नाना प्रकार के विचारों में अभिव्यक्त होती है। इसका प्रथम रूप कानून (Law) है, दूसरा आन्तरिक सदाचार (Inward morality) है और तीसरा रूप है "वह व्यवस्थाओं और प्रभावों का समूचा क्रम जिससे राज्य में न्याय प्रसारित होता है" (The whole system of institutions and influences that make for righteousness in the state)। कानून के अन्तर्गत हीगल व्यक्तित्व (Personality), सम्पत्ति (Property) तथा संविदा (Contract) सम्मिलित करता है। ये समस्त संस्थाएं स्वतन्त्र इच्छा (Free will) के ही प्रदर्शन या प्रकट रूप हैं। हीगल कानूनों और अधिकारों का निर्णय किसी एक निश्चित नाप या स्थिर सिद्धान्त (Fixed standard) से नहीं करता वरन् इतिहास के द्वारा प्रदर्शित संस्कृति (Culture) और आत्म-ज्ञान (Self-consciousness) के अनुसार उनकी तुलना करता है। आन्तरिक सदाचार का नैतिकता के अन्तर्गत हीगल ने "आत्मनिर्णय के उन पहलुओं पर विचार किया है जिनमें कोई व्यक्ति अपने जैसे अन्य व्यक्तियों की जागृति से प्रभावित होता है" (Those aspects of self-determination in which the individual is affected by a consciousness of other like individuals)। इच्छा के तीसरे रूप को हीगल ने 'Sittlichkeit' के नाम से पुकारा है जिसका अभिप्राय है सामाजिक नैतिकता (Social ethics)। इसे धार्मिक व्यवस्था, सदाचारी जीवन, रूढ़िगत नैतिकता (Ethical system Moral life, conventional or customary morality) आदि भी कहा जा सकता है। इस पहलू के अन्तर्गत हीगल ने 'सदाचार की आन्तरिकता' (Inwardness of morality) और 'कानून की वाह्यता' (Externality of Law) का सम्मेलन कराया है। इस रूप में प्रचलित नैतिक प्रथाएं, रीति-रिवाज, कानून, सामाजिक स्वतन्त्रता और नैतिक इच्छा निहित हैं। 'Sittlichkeit' के क्रमानुगत पहलू परिवार, नागरिक समाज और राज्य हैं।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Hegel's Conception of Freedom)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय उसका वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार है। उसकी स्वतन्त्रता विषयक धारणा का आलोचनात्मक अध्ययन अवश्य ही विस्तार से अपेक्षित है।

हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते समय पृष्ठभूमि के रूप में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब वह अपने राजनीतिक दर्शन का निर्माण कर रहा था तब जर्मनी अनेक हिस्सों में विभक्त था और एकताहीन था। इस कारण उसने दुखपूर्ण शब्दों में जर्मनी की राजनीतिक कातरता का उसने उल्लेख किया और उसका मस्तिष्क जर्मनी को सगठित करने की बलवती भावना से भर गया। इसी कारण उसने व्यक्ति को राज्य में आत्मसात् कर देने में तनिक भी संकोच नहीं किया। हीगल को इस तथ्य की पूरी अनुभूति थी कि यद्यपि जर्मनी की जनता एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनाना चाहती थी किन्तु उसने (जनता ने) यह कभी भी अनुभव नहीं किया कि राज्य का निर्माण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आवश्यक कार्य है। आधुनिक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता केवल राष्ट्रीय राज्य में ही स्थित रह सकती है और केवल राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है। इसीलिए हीगल ने राज्य का महत्व बुलन्द शब्दों में घोषित किया ताकि जर्मनी एकीकृत हो सके। उसके द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के सिद्धान्त में यही मूल विचार निहित था।

हीगल स्वीकार करता था कि स्वतन्त्रता का नारा आधुनिक जगत् का मूलमन्त्र है। अपनी किशोरावस्था में वह फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के द्वारा भावनात्मक उन्नति का भी अनुभव कर चुका था, लेकिन उसकी मान्यता थी कि कर्त्तव्यों का पालन किए बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि अपने "राज्यवादी दर्शन से उसने उस मानववादी स्वतन्त्रता का सर्वथा हनन ही किया जिसका प्रवर्तन मिल्टन, लॉक आदि ने किया था।"

हीगल का कहना था कि पूर्व (East) में एक सर्वोच्च सत्ताधारी राजा ही स्वतन्त्र था। पूर्ववासी इस बात से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतन्त्र है। यूनान में आत्मनिष्ठ स्वतन्त्रता का उदय हुआ और रोम में *अमूर्त सामान्यता की प्रधानता थी।* यूनान और रोम में कुछ ही आदमी स्वतन्त्र थे क्योंकि वहां दास प्रथा विराजमान थी। किन्तु मानव-स्वतन्त्रता का उदय जर्मनी में ही हुआ। जर्मन राष्ट्रों ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि *मनुष्य मनुष्य के नाते स्वतन्त्र है* (Man as man is free)। इस मन्तव्य से हीगल का देश-प्रेम व्यक्त होता है।

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ और काण्ट की स्वतन्त्रता विषयक धारणा की उसके द्वारा *आलोचना*—*हीगल स्वतन्त्रता* को व्यक्ति के जीवन का तथ्य (Essence of life) मानता है। उसके अपने शब्दों में 'स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है, जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता का अस्वीकार करना है। इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ

है अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों को तिलांजलि दे देना क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकती।"[1]

हीगल ने कहा है कि राज्य स्वयं में एक साध्य होते हुए भी स्वतन्त्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार-तत्व स्वतन्त्रता ही है और स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति ही विश्व का इतिहास है। द्वन्द्ववाद के आधार पर स्वतन्त्रता की परिभाषा देते हुए उसका कथन है कि, "मानव-जाति की प्रगति स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति है। जर्मन जाति ने ही सर्वप्रथम इस चेतना को प्राप्त किया कि मनुष्य एक मनुष्य की भांति स्वतन्त्र है।" वह लिखता है कि—"स्वतन्त्रता की चेतना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, विश्व के इतिहास में उसी का उल्लेख किया जाता है।"

स्वतन्त्रता सम्बन्धी अपनी धारणा को हीगल ने रूसो (Rousseau) और काण्ट (Kant) से ग्रहण किया है, किन्तु उसका रूप बहुत कुछ अपना ही है। उसने काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा की आलोचना करते हुए उसे नकारात्मक, सीमित और आत्मगत (Negative, Limited and Subjeotive) कहा है। फलस्वरूप उसने यह भी स्वीकार किया है कि राजनैतिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी सिद्धान्त श्रेष्ठ है। राज्य तो व्यक्तित्व का विनाश कर देता है। राज्य आन्तरिक रूप से व्यक्तिवादी नहीं है। स्वतन्त्रता अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान (More posit ve and Objective) है।

हीगल ने काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को नकारात्मक इसलिए कहा है क्योंकि उसमें आचरण की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। काण्ट के लिए स्वतन्त्रता बुद्धि के नियम का पालन करने में है। चूंकि बुद्धि का नियम मनुष्य के अन्तःजगत में रहता है, अतः स्वतन्त्रता एक मनःअवस्था है जिसकी अभिव्यन्जना यथार्थ जीवन में नहीं होती। हीगल के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता विधेयात्मक होती है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसे आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो रही है।

हीगल काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्तिवादी एवं सीमित मानता है। उसके मत में काण्ट की स्वतन्त्रता व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों पर कोई ध्यान नहीं देती। काण्ट मानता है कि स्वतन्त्रता का उपभोग व्यक्ति समाज के बाहर रह कर ही कर सकता है। वह व्यक्ति को साध्य मानता है। किन्तु हीगल इससे सहमत नहीं है और इस बात पर बल देता है कि स्वतन्त्रता एक सामाजिक तथ्य है। काण्ट कहीं भी बलपूर्वक यह नहीं कहता कि "सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज की भौतिक और

---

1. "Freedom is the distinct quality of man. To renounce one's freedom is to renounce one's humanity, not to be free is therefore a renounciation of one's human rights and even of one's duties. Nothing sort of a state is the actualization of freedom."

—*Hegel*

कानून सस्थाओ मे भाग लेने से हो सकती है।" किन्तु हीगल की मान्यता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज के नैतिक जीवन मे भाग लेने मे ही सम्भव है। वह व्यक्ति एव समाज मे पुर्नमिलन स्थापित करता है और दृढतापूर्वक यह घोषित करता है कि प्राकृतिक अवस्था मे कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध मे सेबाइन (Sabine) महोदय ने लिखा है कि—

'हीगल की रचनाओ का बहुत थोडा अंश ही इतना ज्ञानवर्द्धक है जितना कि उसका यह प्रमाण कि आर्थिक आवश्यकताएं सामाजिक होती हैं, उनमें और केवल शारीरिक आवश्यकताओ मे विभेद होता है, प्रथा और कानून स्पष्ट रूप से मानवीय तथा सामाजिक होते हैं, और अधिकार एव कर्त्तव्य एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं और वे वैधानिक प्रणाली के अन्तर्गत हैं। हीगल को स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा मे महत्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति को दमन करनेवाली नहीं है, सामाजिक शक्तियां वे माध्यम हैं जिनमें कि वह व्यक्तित्व के तत्व भी ग्रहण करता है, मनुष्य बनने के लिए किसी न किसी प्रकार के सामुदायिक जीवन मे भाग लेना आवश्यक है और शिक्षा एव सस्कृति सामान्यतया स्वतन्त्रता के साधन हैं।"[1]

'स्वतन्त्रता' के बारे मे हीगल और काण्ट के जिन विचारों की तुलनात्मक चर्चा की गई है उनसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) काण्ट के विरुद्ध हीगल स्वतन्त्रता की एक अधिक विधेयात्मक एव तथ्य-प्रधान परिभाषा प्रस्तुत करता है जो काण्ट से अधिक सामाजिक है।

(ख) काण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता एक मन अवस्था है जिसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध तथ्य-प्रधान सामाजिक जगत से नहीं है। इसकी स्वतन्त्र अभिव्यञ्जना यथार्थ जीवन मे नहीं होती। हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय मनुष्य यह समझता है कि वह आत्म ज्ञान प्राप्त कर रहा है। उसके मत मे स्वतन्त्रता का मूल तत्व मनुष्य के अन्त करण मे न रहकर सामाजिक सस्थाओ मे रहता है। उसकी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति यथार्थ जगत मे होती है।

1. 'Few parts of Hegel's work are more enlightening than his proof that economic wants are social, as distinguished from mere biological needs, that custom and law are distinctively human and distinctively social, and that rights and duties are correlative and fall within a legal system. The vital point of the Hegelian conception of freedom is that civilization is not repressive of individual self expression that social forces are a medium in which the individual always moves and from which he derives the elements even of his individuality, that to be man at all requires ... that

(ग) काण्ट के विरुद्ध हीगल इस तथ्य पर बल देता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अनुभूति सामाजिक क्षेत्र में भाग लेने पर ही हो सकती है।

काण्ट और हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में मूलभूत अन्तर यही है कि काण्ट के लिये विवेक व्यक्ति के अन्त:करण में है और हीगल के लिए इसका साकार रूप राज्य है और यह उसके कानूनों के रूप में अभिव्यक्त होता है। वैसे दोनों ही इस बात पर पूर्णरूप से सहमत हैं कि स्वतन्त्रता केवल बन्धन का अभाव नहीं है अपितु स्व-निर्णय की शक्ति है और वह (स्वतन्त्रता) बुद्धि अथवा उच्चतर आत्मा द्वारा नियन्त्रित होने में है।

हीगल की स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन में सम्भव है—हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक है। उसकी प्राप्ति सामाजिक जीवन के कार्यों में भाग लेने से होती है। समाज और व्यक्ति के सहयोग के बिना कोई स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। सेबाइन (Sabine) महोदय का लिखना है कि "हीगल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता को एक सामाजिक व्यापार समझना चाहिये। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो समुदाय के नैतिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रतिभा की चीज नहीं है। वह तो एक प्रकार की स्थिति है जो व्यक्ति को समुदाय की नैतिक और वैधानिक सस्थाओं के माध्यम से दी जाती है। फलत:, उसे स्वेच्छा अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति नही माना जा सकता। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत इच्छा और व्यक्तिगत क्षमता को सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य के निष्पादन लगा देने में है।"[1] "प्लेटो और अरस्तू की भांति हीगल का भी स्वतन्त्र नागरिक विषयक सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकारों पर नहीं बल्कि सामाजिक कार्य पर आधारित था। हीगल का विचार था कि आधुनिक राज्य में ईसाई आचारों ने नागरिकता के विकास के व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक कर्त्तव्य के बीच ऐसा पूर्ण संश्लेषण स्थापित कर दिया है जैसा दासता पर आधारित समाज में कभी सम्भव नही था। आधुनिक राज्य में सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। राज्य की सेवा करके वे उच्चतम आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकते है। आत्मेच्छा की नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य में नागरिकता की वास्तविक स्वतन्त्रता स्थापित होती है।"[1]

हीगल का मत है कि आदर्श राज्य के आदर्श कानूनों के पालन करने में ही स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि राज्य स्वतन्त्रता की सर्वोच्च और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। स्वतन्त्रता का विकास आत्मा का विकास है और आत्मा की सचेतना की प्राप्ति राज्य में ही सम्भव है। इसीलिए राज्य को स्वतन्त्रता की उच्चतम अभिव्यन्जना होना चाहिये। राज्य पूर्णतया विवेकशील है। इसकी एकता इसका प्रेरक और ध्येय है। इसी ध्येय में स्वतन्त्रता उच्चतम अधिकार प्राप्त करती है। व्यक्ति पर इस ध्येय का उच्चतम अधिकार होता है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य सदस्य होना है। हीगल की दृष्टि मे व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितों में कोई अन्तर

---

1. सेवाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६१६

नहीं है। व्यक्ति स्वतन्त्रता का तभी प्राप्त करता है जबकि वह आदर्श राज्य के आदर्श नियमों का पालन करे। वह उसी सीमा तक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सकता है जिस सीमा तक वह अपने आपको राज्य और उसकी संस्थाओं में अभिव्यक्त आत्मा के साथ एकरूप कर लेता है। इस तरह व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के उद्देश्य को अपना समझने में है। ऐसा करके ही व्यक्ति नैतिक गरिमा और स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। राज्य की सेवा में स्वयं को लगा देने पर और राज्य के उद्देश्य को अपना उद्देश्य समझने पर ही व्यक्ति को विश्वास हो सकता है कि उसकी इच्छा विवेक के अनुकूल है। "व्यक्ति की बुद्धि अपूर्ण हो सकती है, वह उसकी वासनाओं व भावनाओं से आच्छादित हो सकती है। विवेकहीन वासनाओं और कामनाओं की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का केवल एक मार्ग है और वह है राज्य के सामने स्वेच्छापूर्वक समर्पण कर देना जिसमें कि विश्व-बुद्धि की अधिक पूर्ण अभिव्यंजना होती है।"

हीगल का विश्वास है कि "मानव हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हीगल का तर्क इस प्रकार है—"स्वतन्त्रता विवेक के आदेश का पालन करने में है। परन्तु एक व्यक्ति का विवेक सदा विश्वसनीय नहीं होता। कभी-कभी वह तात्कालिक और अस्थायी कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुका रहता है। राज्य के कानूनों द्वारा जो विवेक व्यक्त होता है उसमें य दोष नहीं होता। वह सार्वभौम होता है विशिष्ट नहीं। इस कारण सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानून का पालन करने में ही है। राज्य के सदस्य के रूप में व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप में करता है।" राज्य कभी [illegible] रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छा के अनुकूल है, यहाँ तक कि जब चोर जेल की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी अपनी इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है। स्वतन्त्रता और कानून एकरूप है।

राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किस तरह सम्भव बनाता है, इस बात को प्रो० वेपर (Wayper) ने निम्नलिखित शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"किन्तु मनुष्य इस बात को कैसे जाने कि उसकी वास्तविक इच्छा क्या है? यदि सांसारिक इच्छाएँ और स्वार्थ उसे मार्गभ्रष्ट कर सकते हैं तो फिर वह स्वयं को 'आत्मा' से एकरूप किस भाँति कर सकता है? राज्य उसे यह मार्ग बताता है। वह (राज्य) एक ऐसा शिक्षक है जो उसे आत्मा, विशुद्ध बुद्धि का ज्ञान उपलब्ध कराता है। उसकी वास्तविक इच्छा उसे राज्य की आत्मा से एकरूप करने के लिए प्रेरित करती है। आत्मा राज्य में साकार हो उठती है। अतः राज्य के आदेशों का पालन करना उसकी वास्तविक इच्छा है। वास्तव में राज्य के आदेश ही उसकी वास्तविक इच्छा है। इस तरह

राज्य की आज्ञाएं मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एकमात्र अवसर देती हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह इस अवसर से लाभ भी उठायेगा। वह राज्य के आदेशों का पालन इसलिये भी कर सकता है क्योंकि उसे उसकी अवज्ञा के परिणामों का भय है। यदि वह भय वश ही आज्ञा पालन करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत् बाह्य शक्ति के अधीन है। किन्तु यदि वह आज्ञापालन इसलिए करता है क्योंकि उसे ऐसा करने की इच्छा है, क्योंकि उसने सचेत होकर स्वयं को राज्य की इच्छा से एकरूप कर लिया है, क्योंकि उसे विश्वास है कि राज्य उससे जिस बात की मांग करता है उस बात को वह स्वय भी करना चाहता है यदि उसे तथ्यों का पूरा ज्ञान हो तो–तब वह केवल अपनी इच्छा के अधीन है और वह वास्तव में स्वतन्त्र है। हीगल का कथन है कि राज्य वास्तविकता का वह रूप है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और उसका उपभोग करता है बशर्ते कि वह जानता हो, उसमें आस्था रखता हो और उसकी इच्छा करता हो जो कि सम्पूर्ण के लिए सामान्य है।"[1]

क्या हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भ्रांति है?—हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपरोक्त विचारों से इस धारणा को जन्म मिला है कि हीगल के हाथ में पड़कर स्वतन्त्रता एक भ्रांति मात्र रह गई है क्योंकि उसके राज्य मे व्यक्ति वस्तुत: स्वतन्त्र नहीं अपितु दास है। हीगल व्यक्ति पर राज्य के सार्वभौम नियत्रण को लाद देता है और अन्तत: उसका सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध जा पड़ता है। इस धारणा के पीछे कि हीगल व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है, कुछ कारण निहित है—

---

1. "But how shall man know what his real will is? How can he identify himself with the spirit if he can be led astray by brute desires and selfish interests? The state is there to tell him. It is the school master which brings him knowledge of the spirit, of Absolute Reason. His real will impels him to identify himself with the spirit. The spirit is embodied in the state. Therefore it is his real will to obey the dictates of the state. Indeed, the dictates of the state are his real will. Thus the commands of the state give man his only opportunity to find freedom It does not necessarily follow, however, that he will avail himself of that opportunity. He may obey the state because he is afraid of the consequences of disobedience. If he obeys because of fear he is not free; he is still subject to alien force. But if he obeys because he wishes to, because he has consciously identified himself with the will of the state, because he is convinced himself that what the state demands he would also desire if he knew all the facts, then he is subjects only to his own will, and he is truly free. The state, says Hegel is that form of reality in which the individual has an enjoys his freedom provided he recognises, believes in and wills what is common to the whole."

—*Wayper* : Political Thought, P. 168

१ प्रथम कारण यह है कि हीगल के अनुसार राज्य एक सर्वशक्तिमान समुदाय है एवं कोई भी व्यवस्था राज्य की शक्ति को मर्यादित नहीं कर सकती। यहाँ तक कि विधि द्वारा शासन की स्थापना करनेवाले संविधान भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति पर अल्पमात्र भी सीमा नहीं लगा सकता।

२ दूसरा कारण यह है कि हीगल राज्य के विरुद्ध नागरिकों के किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं करता और राज्य को सदैव व्यक्ति की यथार्थ इच्छाओं के ऊपर मानता है। भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता के जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों को चुनने के और स्वयं विधि-निर्माण करने के अधिकारों का आज स्वतन्त्रता के साथ घनिष्ट सम्बन्ध समझा जाता है, लेकिन हीगल इन अधिकारों से और अन्य दूसरे अधिकारों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध को मान्यता नहीं देता। वह यह विश्वास व्यक्त करता है कि राज्य के कानून प्रत्येक दशा, प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक रूप में वैयक्तिक बुद्धि से उच्चतर हैं तथा व्यक्तियों के सामने इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि वे उन कानूनों को मानें और राज्य के आदेश के सामने अपना पूर्ण आत्मसमर्पण कर दें। हीगल राज्य के विरुद्ध क्रांति के अधिकार को अस्वीकार करता है और ऐसी किसी भी परिस्थिति का उल्लेख नहीं करता कि जिसमें राज्य की अवज्ञा करना उचित हो।

३ हीगल ने राज्य और उसके सदस्यों के हितों में विरोध की किसी भी कल्पना को अपने चिन्तन में स्थान नहीं दिया है। इससे इस धारणा को बल मिला है कि हीगल व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान करता है।

४ हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा के बारे में भ्रांति होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उस अर्थ को समझने में गल्ती की गई है जिसमें हीगल ने व्यक्ति शब्द का प्रयोग किया है।

५. राज्य में व्यक्ति को अत्यन्त हीन स्थान देने के आरोप के पीछे एक कारण हीगल की यह मान्यता है कि व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों को मानने में है, और जनता कानूनों का निर्माण नहीं करती बल्कि उन्हें गत पीढ़ियों से प्राप्त करती है।

हीगल के उपरोक्त विचारों ने ही आलोचकों को यह कहने के लिये विवश कर दिया है कि हीगल की स्वतन्त्रता एक भ्रांति है और उसने आदर्श एवं यथार्थ राज्यों के भेद को ठीक तरह से न समझते हुए राज्य के कानूनों और स्वतन्त्रता को एकरूप कह दिया है। हीगल कानून को जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं मानता जिसका स्पष्ट अर्थ यह निकलता है कि बलपूर्वक लादेगये कानूनों के अधीन व्यक्ति की कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती।

किन्तु उपरोक्त आरोप लगाते समय आलोचक यह भूल जाते हैं कि हीगल राज्य को कोई ऐसी बाहरी सत्ता नहीं समझता जो व्यक्ति पर ऊपर से थोपी जाती है, वरन् उसका विश्वास है कि राज्य स्वयं शक्ति के ही सर्वोत्तम भाग को व्यक्त करता है। उसके अनुसार व्यक्ति की सच्ची आत्मा ही राज्य के रूप में प्रकट होती है और राज्य की अधीनता स्वीकार करने में वह अपनी ही आत्मा की अधीनता स्वीकार करता है। हीगल ने राज्य की

आत्मा में व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओं के दर्शन किये हैं। व्यक्ति की इच्छाओं तथा राज्य की इच्छाओं में संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों में एक ही आत्मा का निवास है। एक का विकसित रूप दूसरे में है। अतः इस दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि हीगल के विरुद्ध यह आरोप कि वह व्यक्ति को राज्य का पूर्ण दास बना देता है, ठीक नहीं है। उसके सिद्धान्त को समझने में भ्रांति होने के कारण ही कुछ लोग उसके विरुद्ध ऐसा आक्षेप लगाते हैं। लेकिन जब वे यह समझ लेते हैं कि राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम अंश को ही अभिव्यक्त करता है और राज्य के समक्ष जिस चीज का बलिदान किया जाता है वह व्यक्ति का मात्र स्वार्थी एवं क्षणिक तत्व है तो उनकी आलोचना स्वतः कुण्ठित हो जाती है। पुनः यह भी स्मरणीय है कि "वह राज्य, जिसे हीगल 'पृथ्वी पर ईश्वर की यात्रा' कहकर पुकारता है और जिसमें आत्मा अबाध आत्मानन्द में विभोर होकर आत्मचिन्तन कर सकती है, जिसमें उसे अपने में कोई विरोध और दोष नहीं मिलता, जिसमें कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, नित्य प्रभु अन्त में अपने स्वर्ग में प्रविष्ट हो जाता है,' कोई यथार्थ जर्मनी या इटली का राज्य, अथवा और कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है; यह तो एक विचार जगत का राज्य है जिसका किसी देश और काल में कहीं अस्तित्व नहीं है। ऐसे पूर्ण राज्य में व्यक्ति के राज्य की वेदी पर बलिदान किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।" हीगल जैसा आदर्श राज्य, इस यथार्थवादी विश्व में मिलता नहीं है। पुनः, हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की निन्दा करते समय इस तथ्य को आंखों से ओझलकर देना हीगल के प्रति अन्याय करना होगा कि राज्य विहीन दशा में स्वतन्त्रता की कल्पना करना ही कठिन है। राज्यविहीन दशा अराजकता की दशा होगी जिसमें स्वतन्त्रता नहीं बल्कि उच्छृंखलता का साम्राज्य होगा। सच्ची स्वतन्त्रता तो व्यक्ति को राज्य ही प्रदान करता है। हीगल के लिये राज्य मूलरूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र बढ़ाने के लिये है, उसे सीमित करने के लिये नहीं।

हीगल की स्वतन्त्रता की धारणा के बचाव पक्ष में इतना कहने पर भी इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि हीगल के राज्य की कल्पना एक निरंकुश, सर्वशक्तिमान, चरमतावादी और अभ्रान्त राज्य की कल्पना है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल तभी जीवित है जबकि वह राज्य के आदेशों को आंख मींचकर मानता रहे। हीगल व्यक्तिगत निर्णय को, चाहे वह कितना ही समझ बूझकर किया गया हो, कोई महत्व नहीं देता। वह कर्त्तव्य को केवल आज्ञा-पालन मात्र समझता है। उसके लिये श्रेष्ठ नागरिकता का अभिप्राय वर्तमान स्थिति को स्वीकार करना अथवा शासन द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना है। 'Philosophy of Right" की भूमिका में हीगल ने राजनीतिक दर्शन को यह अधिकार भी नहीं दिया है कि वह राज्य की आलोचना कर सके।" पुनश्च "हीगल ने एक ओर तो राज्य को जो आध्यात्मिक सर्वोच्चता प्रदान की है, तथा दूसरी ओर वास्तविक सरकार को जो राजनैतिक कार्य प्रदान किये हैं, उनमें किसी प्रकार का उचित तारतम्य नहीं मालूम पड़ता। फलतः हीगल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त में किसी भी प्रकार के नागरिक अथवा राजनैतिक स्वतन्त्रताओं का भाव नहीं है।"[1]

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६१९

हीगल का राज्य और स्वतन्त्रता सिद्धान्त तब और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा जब हीगल के सम्पूर्ण दर्शन की आलोचना करते हुए और उसका मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायगा।

हीगल के दर्शन की आलोचना
[Criticism of Hegelian Philosophy]

हीगल अपने दर्शन की गहराई और श्रेष्ठता के कारण संसार का एक महानतम दार्शनिक समझा जाता है और उसके प्रशंसक यह कहते हुए नहीं अघाते कि दार्शनिक चिन्तन में उसने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था। किन्तु विचार पक्ष का एक पहलू यह भी है कि उसके राजदर्शन की गम्भीरतम आलोचना हुई है और उन आलोचनाओं में सत्य का एक बड़ा अंश है। हीगल के दर्शन में जो अनेक कमियां बताई जाती हैं और उसकी जो विभिन्न आलोचनाएं की गई हैं उन्हें एक एक करके निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है। ऐसा करते समय साथ ही साथ यह देखने का भी प्रयास किया जायगा कि ये आलोचनाएं अपने आपमें किस सीमा तक सत्य का अंश लिए हुए हैं।

(१) सर्वप्रथम हीगल के द्वन्द्ववाद को ही लेते हैं। हीगल की यह पद्धति बड़ी अस्पष्ट है। उसने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का बड़ी अस्पष्टता से प्रयोग किया है और इन शब्दों की परिभाषा करना कठिन है। हीगल ने 'विचार' शब्द का सार्वभौम रूप देने का जो प्रयत्न किया है उसका उसकी शैली के इतिहास लेखन पर दो तरह से असर पड़ा है—या तो असंगत तथ्यों को मनमाने ढंग से तर्कसम्मत माना गया है या सामरस्य या सुसंगति जैसे शब्दों को ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया है कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा है। हीगल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का भी कोई सटीक अर्थ नहीं है। उसने उसका अत्यन्त अस्पष्ट रीति से विरोध अथवा वैपरीत्य के अर्थ में प्रयोग किया है। वास्तविक व्यवहार में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों को मनमाने ढंग से प्रयोग करने के कारण वह कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं रह गई है।

द्वन्द्ववाद द्वारा सामान्य रूप से इस बात की व्याख्या किया जाना उचित ही है कि किस भांति विरोधी प्रवृत्तियों और उद्देश्यों में समन्वय स्थापित करके मानव-जाति उन्हें एक उच्चतर इकाई में संयुक्त करती है। इस दृष्टि से भी यह सिद्धान्त प्राचीन सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है कि यह बताता है कि मानव-समाज को भली प्रकार समझने हेतु हमें समाज को एक परिवर्तनशील वस्तु मानना चाहिए जिसमें निरन्तर परिवर्तन और विकास होता रहता है तथा समाज को भली प्रकार तभी समझा जा सकता है जब हम उसे भूतकालीन इतिहास की दृष्टि से ओझल न करें। "विश्व और मानव इतिहास की धारा की व्याख्या की एक पद्धति के रूप में द्वन्द्वात्मक प्रणाली को सर्वथा निरस्त नहीं किया जाना चाहिए।" लेकिन द्वन्द्ववाद के प्रमुख उपकरण 'ऐतिहासिक आवश्यकता' को पूर्णतः स्वीकार कर लेना अवश्य ही कठिन है क्योंकि हीगल ने इतिहास में जिस 'आवश्यकता' का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनों के लिए

राज्य बनना आवश्यक है तो उसका अभिप्राय यह था कि सभ्यता और राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है, और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियां भी हैं जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति में इस तरह नैतिक निर्णय और ऐतिहासिक विकास के एक आकस्मिक नियम की सम्मिलित खिचड़ी पकाई गई है। नैतिक निर्णय, आवश्यकता और भेद का आधार अस्पष्ट है।

हीगल ने समाज और इसकी व्यवस्थाओं की व्याख्या करने के लिए भी अपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग किया है। किन्तु इस दिशा में इसका प्रयोग अनुपयुक्त एवं असफल रहा है। आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा में हीगल ने कला, धर्म और दर्शन-शास्त्र के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कला को 'वाद' (Thesis), धर्म को 'प्रतिवाद' (Anti-thes s) और दर्शन को 'सवाद' (Synthesis) माना है। लेकिन यह समझ में नहीं आता कि वह धर्म को कला के विरुद्ध किस प्रकार मानता है, और इसी तरह यह कहना भी लगभग असंभव है कि कला और दर्शन का सम्बन्ध भी वैसा ही है जैसा जीवाणु और जाति का है। केटलिन (Catlin) के शब्दों मे, "जीवन के अनुभवों को वाद-प्रतिवाद और सवाद के अनुसार वर्गीकरण करना एक मनोरजक मानसिक व्यायाम है। द्वन्द्ववाद मानसिक व्यायाम के रूप में महत्वहीन नहीं किन्तु विवेचन सिद्धान्त (Interpretative principle) के रूप में यह अविश्वसनीय है।"[1]

द्वन्द्ववाद के विरुद्ध आलोचकों की एक गम्भीर आपत्ति यह भी है कि हीगल ने इस पद्धति का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए किया है कि राज्य दैवीकप्रज्ञा (Divine Reason) की सर्वोच्च एव सम्पूर्ण अभिव्यजना है अत: इसे सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य माना जाना चाहिये। इस तरह अपनी इस पद्धति के द्वारा हीगल ने राज्य की निरकुशता को प्रकट किया है। यद्यपि हीगल की प्रणाली मे द्वन्द्व और राज्य का आदर्शीकरण एकरूप कर दिये गये हैं लेकिन बाद में कार्ल मार्क्स ने उन दोनो को पृथक कर दिया। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद को तो ग्रहण कर लिया लेकिन वह हीगल से एक सर्वथा भिन्न परिणाम पर जा पहुंचा। 'मार्क्स मे जाकर यह समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण एव दास बनाने के यन्त्र के रूप में राष्ट्र-राज्य की निन्दा का आधार बन गया।'

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की अस्पष्टताओ और अनिश्चितताओं को व्यक्त करते हुए प्रो० वेपर (Wayper) ने लिखा है कि—

"हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि जिस तरह १८ वीं सदी में प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त इसलिये लोकप्रिय हो गया था क्योंकि इसमें से सब लोग अपनी इच्छानुसार न्याय के सिद्धान्तों को निकाल सकते थे, उसी तरह १९वी और २०वी शताब्दियो में द्वन्द्ववाद इसलिये जनप्रिय हुआ क्योंकि इसमे से लोग अपनी भावना के अनुकूल इतिहास में से मनुष्य तथा राज्य के

---

1. *George Catlin* : A History of the Political Philosophies.

सम्बन्ध के सिद्धान्त निगमित कर सकते थे।"[1]

हीगल के द्वन्द्ववाद पर आलोचनात्मक टिप्पणी देते हुए सेबाइन (Sabine) ने कहा है—

"हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्शीकरण और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से यह विवेकसम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। व्यवहार मे उसने वास्तविक और आभासी, आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दो का मनमाने अर्थ मे प्रयोग किया था। हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियों से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नहीं दे सकी थी। इसने विभिन्न तत्वों और प्रयोजनो को एक सांगोपांग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव सा कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की सिद्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयों को एक तार्किक आधार प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हों, तो इन्हें व्यावहारिक साक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयों को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते है जो हरेक के लिये खुली होती है। इन दोनों को मिलाने की खुशी मे द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी के अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि उसने दोनों के अर्थ को उलझा दिया।"[2]

(२) हीगल के आलोचक कहते हैं कि हीगल एक चरम राष्ट्रीयतावादी दार्शनिक है जो व्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बिल्कुल तुच्छ मानकर राज्य की वेदी पर बलिदान कर देता है और ईश्वर भक्ति की स्थापना करता है। हीगल एक सर्व शक्तिमान तथा निरंकुश राज्य का पुजारी है। यदि १७वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) के सिद्धान्त को मान्यता दी थी तो हीगल ने राज्य के दैवी अधिकार (Divine Right of the state) की स्थापना की। बार्कर के अनुसार हीगल ने 'राष्ट्र राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर तक पहुंचा दिया है।'[3] हीगल का यह सर्वाधिकारवादी राज्य (Iotalitarain state) जनतन्त्र के साथ मेल नहीं खाता। ब्राउन (Brown) के शब्दों मे व्यावहारिक

---

1. "We may even conclude that just as the doctrine of natural law was popular in the 18th century because it allowed all men to deduce from nature those principles of justice which appealed to them, so the Dialectic became popular in the 19th and 20th centuries because it enabled men to deduce from history those theories of man in relation to the state which they wished to see generally accepted."

— *Hayper*

2. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६०८–६
Hegel: "Exalted the national state to a mystical height".
—*Barker*: *Political Thought in England*, P. 20-21

दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का अर्थ है, "आत्मिक दासता, दैहिक आधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध और शान्तिकाल में मनुष्यों द्वारा लिवायथन दैत्य की उपासना और युद्धकाल में मोलोक की उपासना।"[1] हीगल की दृष्टि में राज्य के प्रति भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति भक्ति। हीगल के आलोचकों का आरोप है कि उसका सिद्धान्त व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आलोचकों के उपरोक्त आरोप ठोस हैं और उनमें एक बड़ी सीमा तक सत्य निहित है। हीगल की दृष्टि में व्यक्ति राज्य के लिए जीता है और राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं मांग सकता। वह नागरिकों को विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता। हॉब्हाउस (Hobhouse) ने लिखा है कि हीगल का "आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मा तथा एक अतिव्यक्ति सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके अन्तःकरण, उनके दावे तथा अधिकार, उनका हर्ष, उनका दुःख, ये सब केवल पराधीन तत्व हैं।" लेकिन इस सम्बन्ध में हीगल के बचाव पक्ष में, चाहे वह बचाव यथार्थ से दूर हो, यह कहा जा सकता है कि हीगल पर यह आरोप लगाना ठीक नहीं है कि वह राज्य को एकदम निरंकुश बना देता है और व्यक्ति को उसका पूर्णतया दास। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष जरूर है लेकिन वह मनमानी नहीं। राज्य विवेक का प्रतीक है और उसके कानून विवेकपूर्ण होते हैं। नियम राज्य के अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के कार्य पद की सत्ता को व्यक्त करते हैं, पदाधिकारी की व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को नहीं। निरंकुशता का तत्व विधि विहीनता है और हीगल के स्वतन्त्र एवं संवैधानिक शासन का तत्व यह है कि वह विधि-विहीनता को दूर करता है और सुरक्षा को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नहीं है, वह तो व्यक्ति की आत्मा है और व्यक्ति के सर्वोत्तम भाग की अभिव्यक्ति है। राजाज्ञा-पालन करने में व्यक्ति स्वयं अपनी ही आज्ञा का पालन करता है, वह राज्य में और राज्य के द्वारा अपनी ही आत्मा की अनुभूति करता है तथा राज्य की अधीनता स्वीकार करने में अपने ही आत्मा के आधिपत्य को मानता है। तब व्यक्ति के राज्य का दास होने का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही यह कहा जा सकता है कि हीगल का राज्य चरम निरंकुशतावादी है। फिर यह भी याद रखना चाहिये कि राज्य को व्यक्ति से ऊंचा मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता कि व्यक्ति राज्य रूपी साध्य के लिये एक साधनमात्र बनकर रह गया है।

(३) हीगल के विरुद्ध आमतौर से यह आरोप लगाया जाता है कि उसने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मरोड़कर स्वतन्त्रता को आज्ञाकारिता बना

---

1. Hegel's doctrine means in practice "Spiritual servitude, bodily conscription, war for national interests, and the devotion of human beings to Leviathan in peace and Maloch in war."
—*Brown, Ivor* : English Political Theory, P. 145

दिया है और इसी तरह समानता के सिद्धान्त को मरोड़कर समानता को अनुशासन का पर्यायवाची बना दिया है। उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व के सिद्धान्त को परिवर्तित करके मनुष्यों को दैवी शक्ति की प्रवाहिका नाली बनाकर उन्हें राज्य में आत्मसात् कर दिया है। ग्रीन ने हीगल के इस विचार की कि राज्य ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, आलोचना करते हुये लिखा है कि, "ऐथन्सवादी दासी के लिये जिसे स्वामी की वासना तृप्ति के लिये प्रयोग किया जाता है, यह कहना कि राज्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति है एक क्रूर व्यंग होगा तथा लन्दन की बन्दरगाह के इलाके में जहां शराब की दुकानों की भरमार है, रहनेवाले अर्धबुभुक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के लिये भी यह परिभाषा व्यंग है। हीगल द्वारा वर्णन की हुई, राज्य में प्राप्त, स्वतन्त्रता का मेल समाज की स्थिति से नहीं है तथा यदि मनुष्य को प्रकृति में कभी भी परिवर्तन न हो तो भी यह व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती।[1] इसी तरह जोड (Joad) का कहना है कि, 'राज्य का निरपेक्ष सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है, क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो इसके अनुसार राज्य अवश्य ही सही होना चाहिये।"

स्वतन्त्रता और राज्य सत्ता के बारे में उपरोक्त आलोचनाओं में निःसन्देह पर्याप्त बल है किन्तु हीगल के बचाव में यह तर्क भी जीवित रहता है कि हीगल राज्य और व्यक्ति को विरोध में खड़ा नहीं करता बल्कि उसने राज्य की आत्मा में व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओं के दर्शन किये हैं। व्यक्ति की सच्ची आत्मा राज्य के रूप में ही प्रकट होती है। व्यक्ति की इच्छाओं और राज्य की इच्छाओं में संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों में एक ही आत्मा का निवास है। एक का विकसित रूप दूसरे में है तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि व्यक्ति राज्य का दास है। इसके अतिरिक्त यही भी नहीं भूलना चाहिये कि हीगल ने जिस राज्य का चित्रण किया है वह कोई यथार्थ जर्मनी या इटली का राज्य, अथवा कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है; वह तो एक विचार जगत का राज्य है जिसका किसी देश और काल में कोई अस्तित्व नहीं है। साथ ही यह भी एक तथ्य है कि स्वतन्त्रता की रक्षा राज्य की सुरक्षा में निहित है, राज्य विहीन दशा तो अराजकता की स्थिति है। हीगल के लिये राज्य मूल रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र बढ़ाने के लिये है, सीमित करने के लिये नहीं। हीगल के सिद्धान्त की सत्यता को यह कहकर ठुकरा देना उचित नहीं है कि यथार्थ राज्य हीगल के आदर्श राज्य से बहुत दूर है और हीगल का सिद्धान्त कल्पना जगत में सही हो सकता है किन्तु व्यावहारिक जगत में उसको

---

1 "To an Athenian slave who might be used *to gratify his* master's lust, it would have been mockry to speak of the state as a realisation of freedom and *perhaps it would* not be much last to speak of it as such to an untaught and underfed denizen of a London Yard with gin shops on the right hand *and on the left* *Hegel's* account of freedom as realised in the state does not seem to correspond to the *facts of society* as it is, or even as, *under the* unalterable conditions of human nature, it ever could be"

लागू नहीं किया जा सकता। यह आपत्ति करते समय इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिये कि किसी भी विचार और नियम को इसी आधार पर गलत नही कहा जा सकता कि वह यथार्थ जीवन में देखने को नहीं मिलता। गति के प्रथम नियम को किसी ने इस आधार पर नहीं ठुकराया कि वास्तविक जीवन में उसका पूर्ण उदाहरण नहीं मिलता। हीगल का सिद्धान्त इस आधार-भूत सत्य की ओर संकेत करता है कि मनुष्य सामाजिक नैतिकता, जिसकी अभिव्यक्ति राज्य की विधियों द्वारा होती है, के अनुकूल आचरण करे। यह भी स्मरणीय है कि हीगल राज्य के कानूनों का निष्कर्ष रूप से पालन करने को स्वतन्त्रता नहीं मानता बल्कि वह कहता है कि अपनी स्वतन्त्रता की अनुभूति करने के लिये उन्हें स्वेच्छा से राजाज्ञाओं का पालन करना चाहिये, अन्यथा वह आत्म-निर्णय नहीं होगा। हीगल का दोष यही है कि वह व्यक्ति के राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार नहीं करता और उसका सिद्धान्त जीवन के तथ्यों पर लागू नहीं होता।

सेबाइन महोदय ने अपने ग्रन्थ राजनीति दर्शन के इतिहास में एक स्थल पर लिखा है कि—

"हीगल का विश्वास था—उसने अपने इस विश्वास को कहीं स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है–कि आधुनिक सांवैधानिक शासन भूतकाल के किसी भी शासन की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिक आदर करता है और वह व्यक्ति के आत्म निर्णय के अधिकार को अधिक महत्व देता है। इसका यह भी अभिप्राय हो जाता था कि मनुष्य के अधिकारों के प्रति आदर का भाव रखा जाए। लेकिन यह विश्वास कि मनुष्य का मनुष्य के नाते मूल्य है, इस विश्वास से असंगत है कि उसके नैतिक निर्णय केवल मन की तरंग हैं अथवा उसका महत्व समाज में उसकी स्थिति के कारण है और इस समाज का नैतिक साध्य राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता है।" पुनः

"इसी प्रकार का अनिश्चय और भ्रम हीगल के इस विश्वास में निहित है कि राज्य उच्चतम नैतिक मूल्यों को व्यक्त करता है। हीगल ने इस प्रश्न को आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। यह बात आध्यात्मिक आधार पर भी स्पष्ट नहीं है कि एक राज्य जो विश्वात्मा की केवल एक अभिव्यक्ति है, कला और धर्म के समस्त मूल्यों को किस प्रकार व्यक्त कर सकता है अथवा इन मूल्यों के एक राष्ट्रीय संस्कृति से दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति के लिए स्थानान्तर की किस प्रकार व्याख्या कर सकता है। हीगल के कला और धर्म के बारे में वक्तव्य बड़े असंगत थे। कभी-कभी वह उन्हें राष्ट्रीय अन्तरात्मा की सृष्टि मानता था। फिर भी, वह ईसाई धर्म को किसी एक राष्ट्र का परमाधिकार नहीं समझता था। न उसका यही विश्वास था कि कला और साहित्य सदैव राष्ट्रीय ही होते हैं। दूसरी ओर, उसके दृष्टिकोण से कोई ऐसा सामान्य यूरोपीय या मानव समाज भी नहीं था जिससे उनका सम्बन्ध हो सकता था क्योकि राज्य के बिना आधुनिक संस्कृति परस्पर विरोधोक्ति है। इस भ्रम का कारण शायद यह मालूम पड़ता है कि विशुद्ध राजनीतिक धरातल पर हीगल के पास और चर्चों के सम्बन्धों के बारे में अथवा अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के बारे में कहने के लिए कोई खासबात नही थी।"[1]

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड १, पृष्ठ ६१८

(४) हीगल ने विश्व इतिहास एव दैवी शक्ति की दोनो ही व्याख्यायें किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के समर्थन के लिए दी है, अत इन्हें निष्पक्ष व्याख्या नही माना जा सकता । स्पष्ट है कि हीगल अपनी व्याख्याओं द्वारा जर्मनी के गौरव मे अभिवृद्धि करना चाहता था ।

(५) हीगल राज्य एव समाज में किसी प्रकार का अन्तर प्रकट नहीं करता । राज्य की निरकुशता का प्रतिपादन करने की झोंक में वह दोनों को एक मानने की भूल कर बैठा है। उसने यह समझने का प्रयत्न ही नहीं किया है कि राज्य और समाज दो भिन्न भिन्न इकाईया हैं और उनमे अन्यान्याश्रय का सम्बन्ध है । यदि इन दोनो मे यह भेद न रहे तो जनता का निकृष्ट प्रकार की राज्य की स्वेच्छाचारिता मे दमन हो जाना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाना और राज्य को मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण मिल जाना अवश्यम्भावी है ।

(६) हीगल का राष्ट्र राज्य का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय आचार (International ethics) की सीमा लाँघ जाता है । हीगल की दृष्टि म अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल कुछ परम्परा मात्र हैं जिन्हे कोई भी प्रभुत्व सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है । वह नैतिकता के आधार पर, अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य मे किसी भी प्रकार के बन्धन को अस्वीकार करता है और यह घोषित करता हैकि जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बन जाते हैं, वे अल्पकालीन होते हैं, यहां तक कि सधियां तक परिवर्तनशील होती हैं । जोड (Joad) यह कह कर हीगल पर कठोर प्रहार करता है कि उसका राज्य सिद्धान्त 'सैद्धान्तिक रूप से गलत और तथ्यो के विरुद्ध है एव परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे वर्तमान राज्यो के सिद्धान्त विहीन कार्यो को इससे मान्यता मिल सकती है ।"[1]

वास्तव म हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय मे विचार अराजकता की सीमा को छूते हैं । हीगल की धारणा का सहारा लेकर राज्य अपने अनैतिक एव सिद्धान्तहीन कार्यो को भी नैतिकता और औचित्य का बाना पहना सकते हैं । इस तरह परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे राज्यो के सिद्धान्तहीन कार्यो को मान्यता मिलने का अनिवार्य परिणाम विश्व शान्ति और सहयोग का गला घोट देना है । ऐसी किसी भी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ स्पष्ट ही विनाश और अशान्ति को निमन्त्रण देना है । यह ठीक है कि राज्य की सुरक्षा सर्वोच्च वस्तु है, लेकिन इसका समर्थन करने के लिए ऐसी धारणा को जन्म देना उचित नहीं कहा जा सकता कि राज्य की इच्छा को सीमित करनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून व सदाचार जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नही है । हीगल युद्ध का पुजारी है और युद्ध को एक अनिवार्यता मानता है । वह युद्ध को मानव सभ्यता के विकास एव राज्य की सर्वशक्तिशीलता का परिचय देने के लिए एक परम उपयोगी साधन मानता है । युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय

---

1. It "is unsound in theory, untrue to facts, and liable to extend a dangerous sanction to the more unscrupulous actions of existing states in the sphere of foreign policy"
—*Joad*: Modern Political Thought, P 17

कानून की उपेक्षा की शिक्षा देनेवाला उसका यह सिद्धान्त मृत्यु, विनाश एवं संहार की ओर ले जानेवाला है। सच्चाई तो यह है कि उसका सिद्धान्त जीवन की यथार्थताओं से बहुत दूर दार्शनिक कल्पना का भाग है।

(७) हीगल का राजदर्शन आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। हीगल एक अनुभवशून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। वह भ्रमवश यह मान बैठा है कि "विवेकशीलता ही वास्तविक विवेकशीलता है" (Rational is real and real is rational)। अति दार्शनिकता के कारण हीगल का दर्शन कल्पना मात्र रह गया है। वौगहन के मत में हीगल को इस दार्शनिकता का प्रमुख एवं मूल कारण "स्थापित व्यवस्था के प्रति एक अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान तथा उसे विशृंखलित अथवा संशोधित करनेवाली प्रत्येक इकाई के प्रति अविश्वास करना था।"[1]

(८) हीगल अपनी तत्कालीन अवस्था की प्रशंसा के आवेश में इतनी अधिक सीमायें लांघ गया है कि आलोचकों के मतानुसार उसका आदर्शवाद क्रूरतावाद या पशुवाद बन गया है। हीगल ने "अपनी बर्बरता को इसीलिए दैवी रूप दे दिया क्योंकि वह सफल हो गयी थी।" जर्मन निरकुशता एवं बर्बरतावाद हीगल के सिद्धान्त का ही एक परिणाम था—यह कहना विशेष अनुचित न होगा।

अन्त में हीगल की आलोचना के सम्बन्ध में वेपर (Wayper) के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि—"यद्यपि हीगल ने अन्य विद्वानों की अपेक्षा स्वतन्त्रता की अधिक सन्तोषजनक व्याख्या की है, उसने अन्त में व्यक्ति को राज्य की सामन्तशाही की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया। राज्य की अनधिकार चेष्टाओं को रोकने की अपेक्षा उसने इसे सुन्दर वस्त्र पहनाकर सौष्ठवपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। उसने मानवता की पूर्णता का उपदेश देते हुए उस अमानवता के ठाठें मारते हुए ज्वार के कपाट खोल दिये जिसने समय-समय पर सारे संसार को नष्ट करने के भय से भयाक्रान्त कर दिया है। यद्यपि यह तर्क का ऋषि था। उसने उस तर्कहीन युग का पथ निर्माण किया है जिसमे आजकल हम जी रहे हैं। उसके द्वारा की गई त्रुटि उसकी मृत्यु के पश्चात् आज भी जीवित है।[2]

---

1. "A superstitions reverence for the established order and an undual distrust of all that threatens to modify or disturb it."

—*Vaughan*

2. "While he sought to give a more satisfactory definition of Liberty than that provided by those who regard the state as a machine, he in the end sacrifices the individual to the Great Leviathan. Far from curbing Leviathan, he has merely dressed it in the garments and given it the airs of Mr Peeksniff, and made it oppress us for our good. Preaching to fulfilment of humanity, he has opened the flood-yates to those surging tides of inhumanity that have threatened since he wrote to engulf the world. Ardent apostle of Reason he has done more than most to prepare the way

लेकिन साथ ही सेबाइन के इस सन्तुलित विचार को भी ध्यान मे रखना चाहिए कि—

"हीगल का दर्शन एक प्रकार से शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन था। इसमे शक्ति से पृथक् अन्य किसी भी आदर्श के प्रति एक प्रकार की अवज्ञा का भाव था। इसमे शक्ति के आदर्श को एक प्रकार का नैतिक और न्याययुक्त आदर्श माना गया था। उसने राष्ट्र को एक ऐसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियन्त्रण के परे था और जिसकी नैतिक दृष्टि से भी आलोचना नही हो सकती थी। राजनीतिक निष्कर्षों की दृष्टि से हीगल का राज्य-सिद्धान्त उदारता-विरोधी था। उसमे स्वतन्त्र सत्तावाद को उदात्त रूप दे दिया गया था। इसमे राष्ट्रवाद ने राजवंशीय और सत्ता का रूप धारण कर लिया था। लेकिन, वह संविधान-विरोधी नही था। उसने संविधानवाद के बारे म एक ऐसे ढग से विचार किया था जो उन देशो के ढग से भिन्न था जहा उदारवाद तथा संविधानवाद एक ही राजनीतिक आन्दोलन के पहलू थे। इसका अर्थ था 'मनुष्यो का नही, बल्कि विधियो का शासन।' हीगल के संविधान मे *सुव्यवस्थित नौकरशाही शासन का भाव निहित था,* लोकतन्त्रात्मक प्रास्थाओ का नही। उसने देह तथा सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन दिया था। उसने इस बात पर भी जोर दिया था कि शासन को लोक-कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए। लेकिन, इस बात के लिये यह आवश्यक नही है कि शासन लोकमत के प्रति उत्तरदायी हो। यह कार्य एक ऐसा राज कर्मचारी वर्ग कर सकता है जो सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित हो और जो आर्थिक तथा सामाजिक हितों के संघर्ष से ऊपर हो। व्यवहार मे इसका अर्थ यह था कि राजनीति को ऐसे लोगो के हाथो मे छोड दिया जाय जो वंश तथा व्यवसाय के द्वारा शासन करने के योग्य हैं। यह प्रयत्न एक ऐसे समाज को समझ मे आ सकता था जिसमे राजनीतिक एकता के निर्माण और राजनीतिक शक्ति के विस्तार की चिन्ता ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना को ग्रस्त कर रखा था।"[1]

हीगल का प्रभाव एवं मूल्यांकन
(Hegel's Influence and Estimate)

नाना आलोचनाओ एवं दुर्बलताओ के होते हुए भी हीगल की युग-परिवर्तनकारी विचारधारा का निम्नलिखित मूल्यवान विशेषताओ के कारण बडा महत्व है—

(१) राजनीति तथा नीति शास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धो को हीगल ने सर्वाधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म रूप से समझा है।

---

for that age of unreason in which we live The evil that he has done has lived after him and is writ large in the world to-day."

—*Wayper* : Political Thought, P. 172

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६२५

(२) हीगल ने—"राज्य व्यक्ति की उन्नति के लिए अनिवार्य है तथा व्यक्ति राज्य का एक अविभाज्य अंग है"—इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके राजदर्शन को एक महत्वपूर्ण योग दिया है।

(३) हीगल ही एक पहला विचारक है जिसने ऐतिहासिक प्रणाली को भलीभांति समझा है।

(४) हीगल ने अपने दर्शन में इस एक अत्यन्त ही वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि 'विवेक द्वारा प्रगति' (Progress by reason) होती है।

(५) हीगल ने "व्यक्ति की चेतना पर समाज की प्रेरणामूलक वुद्धि का जो ऋण है"—इसे समझने एवं स्वीकार करने का मूल्यवान प्रयत्न किया है।

हीगल के विचार के मूल तत्व तीन हैं—(१) द्वन्द्ववाद, (२) राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त, (३) प्रगति की धारणा। ये तीनों बातें हीगल के विचार में परस्पर सम्बद्ध थीं किन्तु बाद के विचारकों ने हीगल की इन तीनों बातों को पृथक कर दिया। हीगल के द्वन्द्ववाद को भौतिकवादी रूप प्रदान करके कार्ल मार्क्स ने मार्क्सवादी समाजवाद के दर्शन का विकास किया और हीगल के राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को लेकर मुसोलिनी ने फासीवादी दर्शन को विकसित किया। हीगल के प्रभाव को बताते हुए प्रो० सेबाइन ने लिखा है कि—

"हीगल के चिन्तन के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त में जिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनमें से तीन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास की सीधी रेखा असंदिग्ध रूपसे हीगल से मार्क्स और बाद के साम्यवादी सिद्धान्त की थी। यहां द्वन्द्वात्मक पद्धति जोड़नेवाली कड़ी थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को हीगल के दर्शन की युगान्तकारी खोज कहा था। मार्क्स हीगल के राष्ट्रवाद और राज्य के आदर्शीकरण को केवल ऐसी 'रहस्यात्मकता' मानता था जिसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपने आध्यात्मिक आदर्शवाद के कारण अनुप्राणित कर रखा था। मार्क्स का विचार था कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद का रूप देकर और उसके आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या कर सामाजिक विकास की वैज्ञनिक रीति से व्याख्या कर सकता है। (राज्य से पृथक्) नागरिक समाज एक संगठन है, मार्क्स यह निष्कर्ष सीधे हीगल से ग्रहण कर सकता था। दूसरे, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियों ने इंगलैण्ड के उदारवाद का जो संशोधन किया था, उसमें भी हीगल का चिन्तन एक महत्वपूर्ण तत्व रहा था। यहां द्वन्द्वात्मक पद्धति का कोई विशेष महत्व नहीं था। यहां हीगल की जिज्ञासा और व्यक्तिवाद की आलोचना का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा था। उद्योगवाद की उन्नति ने इस प्रश्न को बड़ा आवश्यक कर दिया था। हीगल के राजनीति सिद्धान्त का उदारवाद-विरोधी स्वर ब्रिटिश राजनीति की वास्तविकताओं से इतना दूर था कि उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। अन्त में, इटली में फासिज्म ने अपने आरम्भिक चरणों में हीगलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया। तथापि, फासिज्म ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए हीं हीगल के कुछ सिद्धान्तों को

अपने अनुरूप ढाल लिया था।"[1]

हीगल का दर्शन बड़ा विशाल है और अनेक शास्त्रों के साधारणीकरणों और निष्कर्षों के समन्वय का इसमे विराट प्रयत्न किया गया है। हीगल बर्लिन विश्वविद्यालय मे दर्शन का प्राध्यापक रहा था। इस रूप मे उसने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। १९वीं सदी मे हीगल का नाम केवल परशिया का अधिकारी होने के नाते ही नही वरन् उस समय विश्व प्रसिद्ध दार्शनिको मे उसी प्रकार विख्यात हो गया जिस प्रकार अरस्तू (Aristotle) तथा सन्त टॉमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) के नाम उनके समय मे विख्यात हो गये थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान समस्त ज्ञान का विश्लेषण किया और मौलिक नियमो की खोज की। वह बौद्धिक विषयो मे परशिया के सम्राट का अधिकृत वक्ता था। १९वीं सदी के जर्मनी के विचार पर हीगल का कितना व्यापक प्रभाव पड़ा उसका अनुमान मेकगवर्न (Mc Govern) के इस कथन से लगाया जा सकता है—

"बिस्मार्क की शताब्दी के द्वार पर हीगल का जीवन, विचार तथा कार्य खड़ा है उसी तरह जैसे कि विचार कर्म से पहले आता' है" यह कहना कदाचित अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि हीगल तथा उसके शिष्यों ने जो विचार अभिव्यक्त किये और जिस बात की माग की उसी को बिस्मार्क ने क्रियान्वित किया।"[2]

हीगल के सिद्धान्तो का न केवल बिस्मार्क की नीति पर ही प्रभाव पडा बल्कि ट्रीटस्के (Treitscke) तथा ड्रॉयसन (Droysen) जैसे महान् इतिहासकार भी उसके विचार दर्शन से प्रभावित हुए बिना न रह सके, हालाकि इतिहास की व्याख्या मे वे उससे सहमत नहीं थे। विधि और विधि शास्त्र के लेखक भी हीगल से प्रभावित हुए। बर्लिन विश्वविद्यालय मे हीगल के साथी और विधि शास्त्र की ऐतिहासिक प्रणाली के प्रवर्तक सेविग्नी (Savigny) ने अपने अनेक विचार हीगल के राज्य सिद्धान्त से ही ग्रहण किये। उसके ग्रथो का अनेक भाषाओ मे अनुवाद किया गया। उसने जिस विचार पद्धति को अपनाया, वह उसी के नाम से हीगलवादी विचारधारा कहलाती है। कल्पनावादी दार्शनिकों मे उसका स्थान उच्च है। ग्रीन, बोसाके, ब्रैडले उससे प्रभावित हुए हैं। इटली तथा योरुप के अन्य देशों मे भी हीगल का प्रभाव पडा। इतना ही नही, महाद्वीप के बाहर भी अन्य देशों ने उसकी महत्ता को स्वीकार किया।

यह सच है कि हीगल का दर्शन अनेक बातों मे जर्मनी के द्वितीय साम्राज्य की अवस्था का आश्चर्यजनक रूप से यथातथ्य चित्रण था, लेकिन

---

1 सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृ० ६२७.

2 [illegible] stands the life, thought [illegible] efore the deed.. [illegible] arried out in fact [illegible] demanded."

—Quoted by Mc Gov[illegible] r to Hitler, P.265

अकेले जर्मनी के संदर्भ में ही हीगल के राजदर्शन पर विचार करना उसके महत्व को कम करके आंकना होगा। हीगल का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उसके दर्शन मे न केवल आधुनिक चिन्तन ही पूरी तरह व्याप्त था अपितु वह आधुनिक चिन्तन का समाकलन भी था और संसिद्धि भी। सेबाइन का कहना है कि, "हीगल के चिन्तन को स्वच्छन्द कल्पना कहकर तिरस्कृत कर देना बहुत आसान है, तथापि वह एक ऐसा बीज था जिसने आगे चलकर १६ वीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पहलू पर असर डाला, अच्छा भी और बुरा भी। महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि हीगल की उन्मेषकारी सार्वभौम शक्ति जिसे उसने ज्ञान युग के दार्शनिकों की भांति विवेक का नाम दिया है, व्यक्तियों में नहीं, प्रत्युत सामाजिक समुदायों, राष्ट्रों, राष्ट्रीय संस्कृतियों और संस्थाओं में व्यक्त होती हैं। यदि हीगल के 'विश्वात्म' शब्द के स्थान पर 'उत्पादन की शक्तियां' शब्द रख दिए जाये तो भी परिणाम एक सा ही होगा। दोनों ही अवस्थाओं में समाज शक्तियों का समुदाय नहीं रहता, बल्कि वह शक्तियों की एक व्यवस्था हो जाता है। उसका इतिहास उन संस्थाओं के विकास का इतिहास हो जाता है जो सामूहिक रूप से समुदाय की संस्थाएं होती हैं। ये शक्तियां और संस्थायें अपने स्वरूप में निहित प्रवृतियों का अनुसरण करती हैं। विधि, आचारों, संविधानों, दर्शन और धर्मों का संस्थागत इतिहास सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन का एक प्रमुख और स्थायी भाग बन गया। इन सामाजिक शक्तियों के कार्य और विकास के लिये व्यक्ति के नैतिक निर्णय और व्यक्तिगत रुचियां बिल्कुल असम्बद्ध हो गई क्योंकि समाज मे वास्तविक एजेंट शक्तियां हैं जो अपने आप ही सार्थक है क्योंकि उनका मार्ग निश्चित होता है। इस तरह के विचार जिनमें एक साथ सच्चाई भी थी और अतिशयोक्ति भी, उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक दर्शन पर पूरी तरह से छा गये। उन्होंने राजनीति के अध्ययन को समृद्धि भी दी और दरिद्रता भी। जब विधिवाद तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर संस्थाओं का ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ तथा शासन और मनोविज्ञान मे निहित सामाजिक और आर्थिक तत्वों का अधिक ठोस अध्ययन होने लगा, तो राजनीति समृद्ध हुई तथा कही अधिक यथार्थपरक हो गई।"[1]

हीगल की अपनी समकालीन राजनीतिक वास्तविकताओं में असाधारण अन्तर्दृष्टि थी। उसने, उस समय जीवन-संघर्ष में उलझे हुए औद्योगिक और वैधानिक राज्य के भावी जन्म को पहले ही देख लिया था। हीगल का उद्देश्य जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आनेवाली बौद्धिक बाधाओं का निराकरण करना था, लेकिन उसने इससे भी अधिक प्रभावकारी कार्य किया। उसने ऐसे दर्शन अथवा सिद्धान्त की रचना की जिसके द्वारा राष्ट्रवाद न केवल जर्मनी में बल्कि हर दूसरे देश में भी धर्म के स्तर तक पहुंच गया। उसके विचारों ने महान् शक्तिशाली राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और यह उसके दर्शन का बहुत बड़ा महत्व है।"[2]

---

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृ० ६२६
2. "The ultimate importance of Hegel's political philosophy will be more clear when the transcendent nationalism of the

इस समस्त विचार के निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि हीगल का सिद्धान्त निःसन्देह अत्यन्त उच्च है और अधिकतर आलोचनायें उसे ठीक तरह न समझने के कारण ही हुई हैं। उसका सिद्धान्त इतना उच्च है कि सबकी बुद्धि वहां तक नहीं पहुंच पाती। किन्तु केवल कमी यही है कि उसमें व्यावहारिकता की अतिशय कमी है और वह इतना क्लिष्ट एवं गूढ़ है कि जन साधारण के लिए उसे समझना असम्भव बन गया है। हीगल आदर्शवाद के प्रसार से कल्पनावाद की चरम सीमा में अपने को भुला बैठा है।

5

टॉमस हिल ग्रीन
(THOMAS HILL GREEN)
(1836–1882)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical bacrground)—जर्मन आदर्शवाद पर पिछले दो अध्यायों में विचार किया जा चुका है। आदर्शवाद वास्तव में राजनीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो राज्य के नैतिक आधारों का व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा जीवन की उपयोगिता के साथ समन्वय करता है। इसमें एक ओर वढ़ते हुए व्यक्तिवाद, जो चरम स्वार्थ का पर्याय माना जा सकता है, और शुष्क उपयोगितावाद, जो स्थूल सुखवाद या निकृष्ट भौतिकता का प्रतीक है, इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

जर्मन आदर्शवादी दर्शनशास्त्र का उदय १८वीं शताब्दी के प्रकृतिवादी बुद्धिवाद के सामान्य खण्डन के रूप में हुआ था। अंग्रेजी आदर्शवाद का उदय भी १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अंग्रेजी कृतियों में प्रचलित आर्थिक व्यक्तिवाद तथा अनुभवमूलक उपयोगितावाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ जो राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिसकी सच्ची प्रकृति का ज्ञान हमें वास्तविक राजनीतिक सस्थाओं के पर्यवेक्षण द्वारा नहीं, वरन् राजनैतिक विचारों के अमूर्त विश्लेषण द्वारा ही मिल सकता है।[1]

१९वीं शताब्दी उदित अंग्रेजी आदर्शवादी विचारधारा अथवा इङ्गलैण्ड के आदर्शवादी दर्शन का प्रतिपादन मुख्य रूप से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों द्वारा हुआ। इसीलिये इङ्गलैण्ड की आदर्शवादी विचारधारा को ऑक्सफोर्ड दर्शन भी कहा जाता है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों और स्वतन्त्र दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को इसलिये परिपुष्ट किया कि वे उपयोगितावाद जनित अतिशय वैयक्तिकता, नास्तिकता और अनास्था, आर्थिक अराजकता, दमनकारी कानून, साध्य-साधन के सम्बन्ध में अवसरवादिता आदि परिणामों से तंग आ चुके थे। वे एक नई व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे सामाजिक अनुबन्ध या समझौते के सिद्धान्त का भी विरोध करते थे क्योंकि उसमें कृत्रिमता या अस्वाभाविकता थी।

1. कोकर–आधुनिक राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ ४४०.

अग्रेजी आदर्शवादी दर्शन को प्राचीन यूनानी दर्शन और जर्मनी के अभिनव आदर्शवाद से बडी प्रेरणा मिली। जब प्लेटो और अरस्तू की पुस्तकों का पठन पाठन ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे आरम्भ हुआ तभी से आदशवाद के विचारो का वहा उदय हुआ। यूनानी दार्शनिकों के इस विचार का कि 'मनुष्य स्वभावतया राजनैतिक समुदाय का सदस्य है और राज्य एक ऐसा अवयवी संस्थान है जिसमें इच्छा शक्ति विद्यमान है और श्रेष्ठ जीवन की प्रगति के लिये जिसका अस्तित्व है" इङ्गलैण्ड के दार्शनिकों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होने इन्हीं विचारों को अपने सिद्धान्त का मूलभूत आधार बनाया।

ऑक्सफोर्ड मे आदशवादी दर्शन के व्यवस्थित विकास के पूर्व ही कालरिज और कार्लाइल द्वारा जर्मन आदशवादी दर्शन का इङ्गलैण्ड की विचारधारा पर प्रभाव पडना शुरू हो गया था। आदर्शवादी अग्रेज विचारको ने बाद में विस्तारपूर्वक जर्मन आदशवादी दशन का अध्ययन किया। प्राचीनयुगीन यूनानी सिद्धान्त म राज्य को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना गया था और उसका नैतिक महत्व उसके आर्थिक, कानूनी और राजनैतिक पक्षो से बहुत अधिक बताया गया था। इस सिद्धान्त न १६वी सदी के पूर्वार्ध के जमन दशनशास्त्र का पुनरुद्धार किया और आक्सफार्ड के दाशनिकों की शब्दावली पद्धति और उनके विचारो में जर्मन दाशनिक कान्ट और हीगल के प्रभाव की स्पष्ट छाप पडी। जमन आदर्शवादी सिद्धान्त मे थोडा सा सशोधन करके और उसे अपने अनुकूल बना करके अग्रेज आदशवादियो ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। जमन आदशवादी स्वच्छाचारी राजतन्त्र मे विश्वास करते थे, लेकिन अग्रेजी आदशवाद मे वैधानिक राजतत्र पर बल दिया गया। जर्मन आदशवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना की किन्तु अग्रेजी आदशवाद में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा गया और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो का पालन करने का आदेश दिया गया। १६वी शताब्दी की इङ्गलैण्ड की आर्थिक दशा और भौतिकवादी सभ्यता ने भी वहा के आदशवाद को अत्यन्त प्रभावित किया।

इन सब प्रभावों के फलस्वरूप ऑक्सफोर्ड अथवा इङ्गलैण्ड के जिस आदशवाद की यात्रा आरम्भ हुई उससे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एव नैतिक सुधार उदारवाद, राष्ट्रीयता, विधि प्रियता सवैधानिक मर्यादा व्यक्ति स्वातन्त्र्य आदि का नवयुग आ गया जिसके प्रकाश में वहा की न्याय-प्रिय जनता ने अपने जनतान्त्रिक स्वरूप की न केवल रक्षा की, बल्कि उसे आगे बढ़ाया।

प्लेटो और अरस्तू के राजदशन, काण्ट और हीगल के दशन तथा सामाजिक अनुबन्ध के विचारको के दशन से इङ्गलैण्ड में जो आदशवादी विचारधारा अनुप्राणित हुई उसके दाशनिको की परम्परा में सबसे पहला नाम टामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) का आता है। ब्रैडले (F H Bradley) तथा बोसाके (B Bosanquet) उसके अनुयायी थे। आधुनिक युग मे इस परम्परा का प्रतिनिधित्व ए० डी० लिण्डसे (A D Lindsey), अर्नेस्ट बाकर (Ernest Barker) आदि ने किया है। लेकिन

हम केवव ग्रीन, ब्रे डले और बोसांके के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे। ग्रीन का दर्शन अभिनव व्यक्तिवाद या नवीन आदर्शवाद के नाम से विख्यात है।

टॉमस हिल ग्रीन
(Thomas Hill Green)
(1836–1882)

संक्षिप्त जीवन परिचय—ब्रिटेन के आदर्शवादी दार्शनिक टॉमस हिल ग्रीन का जन्म यॉर्कशायर (Yorkshire) के एक मध्यमवर्गीय पादरी परिवार में हुआ और सन् १८८२ ई० में केवल मात्र ४६ वर्ष की अल्पायु में ही वह इस असार संसार से चल बसा। १४ वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर पर ही विद्योपार्जन किया। तत्पश्चात् पांच वर्ष उसने रग्बी (Rughby) में व्यतीत किये। सन् १८५५ में ग्रीन ऑक्सफोर्ड के वेलियोल कॉलेज (Balliol College, Oxford) में भर्ती हो गया जहां वह महान् बेन्जामिन जोवेट (Benjamin Jowett) के सम्पर्क में आया। इस महान् विद्वान के प्रभाव से ग्रीन को बौद्धिक जगत में पदार्पण करने की तीव्र प्रेरणा मिली। वेलियोल में ग्रीन सन् १८६० में फेलो (Fellow) निर्वाचित किया गया और सन् १८६६ में ट्यूटर (Tutor) बनाया गया। इस पद पर उसने १८७८ तक कार्य किया। तत्पश्चात् ऑक्सफोर्ड में उसके दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद (Whyte Professor of Moral Philosophy) पर नियुक्ति हुई। इस पद पर वह मृत्युपर्यन्त बना रहा। सन् १८७१ में ग्रीन ने प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि जॉन ऐडिंग्टन सायमण्ड्स (John Addington Symonds) की बहिन कुमारी शार्लेट सायमण्ड्स (Miss Charlotte Symonds) के साथ विवाह किया। अध्यापन के कार्य में ग्रीन ने बहुत ही ख्याति अर्जित की। उसने इतिहास, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विविध विषयों पर सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया।

एक प्रोफेसर का जीवन सामान्यतः सैद्धान्तिक एवं बौद्धिक जटिलताओं से आक्रान्त रहने के कारण एकांगी होता है, किन्तु ग्रीन इसका अपवाद था। विश्वविद्यालय के स्वस्थ एवं स्वतन्त्र वातावरण में ग्रीन ने सार्वजनिक कार्यों का शिलान्यास किया और व्यावहारिक राजनीति के कार्यों में उसने सक्रिय भाग लिया। वह अनेक वर्षों तक ऑक्सफोर्ड टाउन-कौन्सिल का मेम्बर रहा। वह यद्यपि स्वयं संसद के चुनाव के लिये खड़ा नहीं हुआ, किन्तु वह उदार दल (Liberal Party) का एक प्रभावशाली सदस्य था। उसने दल के निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया और दल को विजयी बनाने के लिये अनेक प्रभावशाली भाषण दिये। वह कई महत्वपूर्ण आयोगों का भी सदस्य रहा। सन् १८७६ ई० में ग्रीन को ऑक्सफोर्ड बैण्ड ऑफ टेम्परांस यूनियन (Oxford Band of Hope Temperance Union) के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

ग्रीन यद्यपि अपने विचारों द्वारा अपने समय की राजनीति और राजनैतिक विचारधारा पर कोई प्रभाव न डाला सका, किन्तु उसकी मृत्यु

के बाद यूरोप मे—विशेष रूप से ब्रिटेन में, स्पष्टतः उसका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत होने लगा। वर्तमान काल के अनेक विचारक भी ग्रीन के दर्शन से अभिभूत हैं।

रचनाएं (Works)—कोकर ने लिखा है कि "ग्रीन ऐसा दार्शनिक था जिसने अपने लेखों, ग्रंथों और व्याख्यानों में उस समाज की, जिसमे वह रहता था, सन्निकट नैतिक तथा राजनीतिक समस्याओं में अगाध अभिरुचि प्रदर्शित की; और अनेक रूपो मे, जहां तक उसके स्वास्थ्य की दुर्बलता तथा वक्तृत्वशक्ति की सीमितता के कारण सम्भव हो सका, उसने अपने उस लक्ष्य के प्रति अपनी आसक्ति प्रकट की, जिसने उसके राजनैतिक तथा नैतिक सिद्धान्त का निर्धारण किया, अर्थात् उन समस्त प्रतिबन्धों का निवारण जिन्हें कानून अंग्रेज नागरिक के स्वतन्त्र विकास के मार्ग से हटा सकता है।"[1] ग्रीन के द्वारा दिये गये व्याख्यानो को मरणोपरांत प्रकाशित किया गया। ग्रीन ने कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी जिसमे उसकी विचारधारा का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त हो सके। उसने समय-समय पर जो अनेक भाषण दिये उन्ही का सग्रह तीन ग्रंथों मे किया गया। उसने कुछ पुस्तकें भी लिखी। ग्रीन की महत्वपूर्ण रचनाएं य हैं—

(1) Lectures on the Principles of Political Obligation (1882, मृत्योपरान्त)
(2) Prolegomena to Ethics (मृत्योपरान्त प्रकाशन)
(3) Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract.
(4) Lectures on the English Revolution.

ग्रीन के 'Principles of Political Obligation' के व्याख्यानो का उद्देश्य था राज्य, समाज, व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो को स्पष्ट करते हुए जन स्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना। ग्रीन के दूसरे ग्रंथ 'Liberal Legislation and Freedom of Contract' मे वे व्याख्यान हैं जो ग्रीन द्वारा १८८१ मे दिये गये और जो उदारवादी परम्परा के अनुरूप अनुबन्ध की स्वतन्त्रता की घोषणा करते थे। इस ग्रंथ मे यह प्रश्न उठाया गया है कि वर्तमान युग मे विधि-निर्माण-प्रक्रिया से कहा तक अनुबन्धो की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। अपने तीसरे ग्रंथ 'Prolegomena to Ethics' मे, जिसका प्रकाशन सन् १८८३ मे हुआ था, ग्रीन ने आचारशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा की है।

वास्तव में ग्रीन का विचार-दर्शन एक क्रमबद्ध इकाई है जिसे तीन भागों मे बाटा जा सकता है—आध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनैतिक दर्शन (Metaphysics, Ethics and Political Philosophy)। अपने सार्वजनिक भाषणो और अपनी शिक्षाओ के माध्यम से ग्रीन ने इंगलैण्ड-वासियो पर बड़ा प्रभाव डाला। 'Philosophy of Thomas Hill Green' के रचयिता William Henry Fairbrother के अनुसार १९वी शताब्दी के

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४४२.

अन्तिम भाग में ग्रीन की शिक्षाएं इंगलैण्ड में सर्वाधिक शक्तिशाली दार्शनिक प्रभाव (Most potent philosophical influence) बन गईं। यह उल्लेखनीय है कि ग्रीन के सम्पूर्ण विचारों का केन्द्र आचारशास्त्र (Ethics) वाला भाग है। उसके राजनैतिक सिद्धान्त की कुंजी हमें उसके सामान्य नैतिक सिद्धान्तों में मिलती है जिनकी अभिव्यक्ति उपयोगितावादी तथा परम्परागत नियतिवादी विचारों की उसकी आलोचना में तथा नैतिक मनुष्य और नैतिक व्यवहार की प्रकृति के सम्बन्ध में स्वयं उसके विचारों की व्याख्याओं में हुई है। उसका मुख्य उद्देश्य है—मनुष्य के सच्चे उद्यम की खोज करना (The discovery of the true vocation of man) और उसे पूरा करने के लिये सर्वोत्तम साधन का पता लगाना।

ग्रीन के विचार-दर्शन के स्रोत (The Sources of Green's Philosophy)—इंगलैण्ड के सभी आदर्शवादी विचारकों पर पहले के अनेक दार्शनिकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रीन के विचारों में भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रभाव ढूंढे जा सकते हैं। वैसे तो उसका व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म अन्तरदृष्टि, तुलनात्मक विचार, दार्शनिक विवेचन आदि सभी महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उसके समृद्ध और पुष्ट विचारों के पीछे तरह-तरह की शक्तियां काम करती रही हैं। अपने विकसित रूप में, ग्रीन का दर्शन प्रमुखतः पांच विभिन्न स्रोतों से प्रेरित हुआ प्रतीत होता है—

(१) **ग्रीन के दर्शन का प्रथम स्रोत यूनानी साहित्य, विशेषतः प्लेटो और अरस्तू का प्रभाव है।** यूनानी दार्शनिकों के साथ ग्रीन इस बात में सहमत है कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है और व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन का एक अभिन्न अंग है। व्यक्ति को अपना निश्चित कर्त्तव्य पूर्ण करके सामाजिक उन्नति में योगदान देना चाहिये। लेकिन यूनानी दार्शनिकों और ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों में थोड़ी भिन्नता भी है। यह भिन्नता यूनानियों की उस धारणा से है जो जीवन के कुलीनतावादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उन्होंने ग्रहण की थी। यूनानी विचारक आत्मतोष और आत्मानुभव का जीवन कुछ थोड़े ही व्यक्तियों के लिये सम्भव मानते थे। दासों और अदेशियों (Aliens) को राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे और न इन लोगों की बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन ग्रीन इस सम्बन्ध में इस प्रजातंत्रीय दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि नागरिकता का जीवन उन सब व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जो एक सार्वजनिक हित की धारणा में समर्थ हैं। ग्रीन का मत है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य के सब व्यक्ति समान हैं, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का प्रभाव अधिक पड़ा है। अरस्तू की भांति ही वह अपने नीतिशास्त्र को राजनीति से पूरा करता है और यह विश्वास करता है कि "राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य यह है कि अपने व्यक्तिगत सदस्यों के लिये वह एक ऐसी कल्याण की सिद्धि सम्भव बनाए जो सार्वजनिक कल्याण हो। अपने नीतिशास्त्र में ग्रीन 'आत्मतोष, या 'आत्मानुभूति' (Self-satisfaction or self-realisation) को आचरण का लक्ष्य बताता है

और अपनी राजनीति में वह बराबर सार्वजनिक कल्याण (Common good) को परम कल्याण (Supreme good) कहता है।

(२) ग्रीन के लिये प्रेरणा का दूसरा बड़ा स्रोत रूसो का दर्शन था। ग्रीन ने रूसो के आचार सम्बन्धी अथवा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार (The idea of moral freedom of man) को अपनाया और रूसो के समान ही इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य को नैतिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये, नैतिक स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। किन्तु ग्रीन की यह स्वीकृति कुछ दृष्टियों से सीमित है और वह इन युग्मों में स्पष्ट विभेद करता है—नकारात्मक और सकारात्मक स्वतन्त्रता (Negative and Positive Freedom) में। *सामान्य और विशिष्ट स्वतन्त्रता (Freedom in the generic sense and Freedom in the particular sense)* में, *न्यायमूलक* स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता (Juristic Freedom and Spiritual Freedom) में। ग्रीन ने रूसो के इस विचार को ग्रहण किया है कि राज्य या सप्रभु (Sovereign) सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिनिधित्व करता है और इसी कारण उसे जनता से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु साथ ही साथ वह रूसो के उन विचारों का खण्डन करता है जो निरंकुश राज्य की स्थापना की ओर इंगित करते हैं।

(३) वह तृतीय स्रोत, जिससे ग्रीन ने प्रेरणा ग्रहण की है, वह जर्मन आदर्शवाद है जिसका प्रतिनिधित्व काण्ट, फिक्टे और हीगल करते हैं। *विशुद्ध अध्यात्मशास्त्रीय क्षेत्र (The purely metaphysical field)* में ग्रीन ने फिक्टे और हीगल की विचारधारा (Ideology) को स्वीकार किया है। किंतु आचारशास्त्रीय और राजनैतिक क्षेत्रों (The Ethics and Political Fields) में ग्रीन का मुख्य प्रेरणा स्रोत फिक्टे और हीगल न होकर काण्ट है। ग्रीन के विचार दर्शन का प्रारम्भबिन्दु काण्ट है। काण्ट की भांति ग्रीन का विश्वास है कि सद्इच्छा ही केवल एक मात्र भलाई है। व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता आदि की समस्याओं के विवेचन में भी ग्रीन हीगल की अपेक्षा काण्ट के अधिक सन्निकट है। प्रतिनिधि शासन का महत्व, संविधान में राजा का स्थान, दण्ड की तर्कसंगति (The rational of punishment) आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में वह काण्ट और हीगल दोनों ही जर्मन लेखकों से भिन्न दृष्टिकोण अपनाता है पर साथ ही राज्य के गौरव की नैतिक महत्ता पर वह बल देता है और इस अर्थ में वह हीगल का अनुयायी है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ग्रीन के दर्शन अथवा विचार को निश्चित करने में हीगल का *निर्णायक हाथ रहा है। उसने हीगल के इस* विचार को स्वीकार किया है कि राज्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, यद्यपि ऐसा करते समय उसने कुछ सीमाएं अवश्य लगाई हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में हीगल के दर्शन को उसने अपनाया है लेकिन उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को मान्यता नहीं दी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ग्रीन एक काण्टवादी, है, जिसने काण्ट को हीगलवादी ऐनक से पढ़ा है। *उस पर हीगल का* प्रभाव है किन्तु वह काण्ट के अधिक सन्निकट है।

(४) ग्रीन के राजनैतिक दर्शन का चौथा और अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत परम्परा-विरोधियों (Non-Conformists) के विचारों का है। यदि हीगल ने ग्रीन के दार्शनिक आदर्शवाद (Philosophical Idealism) को और काण्ट ने उसके नैतिक विचार (Ethical Thought) को आधार प्रदान किया तो परम्परा-विरोधियों ने उसके राजनैतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि 'स्वतन्त्रता' (Freedom) तथा 'नैतिकता' (Morality)—इन दो शब्दों के लिये ग्रीन के हृदय में प्रेम परम्परावादियों ने ही जागृत किया था। ये लोग अपने चर्चों को स्वतन्त्र चर्च (The Free Churches) कहते थे और इस प्रकार यह इंगित करते थे कि आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवन में स्वतन्त्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज है। परम्परावादियों ने शासन से यह मांग की थी कि शराव, जुआ, घुड़दौड़ आदि व्यसनों पर रोक लगाई जानी चाहिये। पक्का परम्परावादी होने के कारण और नैतिकता को वहुत महत्व देने के कारण ग्रीन का विश्वास था कि राज्य को उन संस्थाओं और दशाओं को समाप्त कर देना चाहिये जो अनैतिकता की ओर ले जाती हैं। उसका कहना था कि राज्य चाहे किसी व्यक्ति पर नैतिकता लाद न सके, किन्तु वह उन दशाओं को मिटा सकता है जो मनुष्यों को अनैतिक वनने के लिए आकर्षित करती हैं।[1] परम्परावादी भू-सम्पत्ति पर विश्वास नहीं करते थे किन्तु साथ ही व्यक्तिगत पूंजी एकत्र करने के भी विरोधी नहीं थे। ग्रीन ने भी भू-सम्पत्ति का विरोध किया है, लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त को मान्यता दी है।

(५) ग्रीन पर वर्क और कालरिज (Burke and Coleridge) का भी कुछ प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। विभिन्न प्रभावों में आक्सफोर्ड का बौद्धिक आन्दोलन, टापमेन, मैकियावली आदि के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं।

ग्रीन के दर्शन के विभिन्न प्रेरणा स्रोतों पर उपरोक्त चर्चा करने के पश्चात् अव हम उसके दर्शन की पूर्ण प्रणाली की विवेचना आरम्भ कर सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि ग्रीन का विचार-दर्शन एक क्रमबद्ध इकाई (A systematic whole) है और इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है—अध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीतिक दर्शन। हम उसके दर्शन के इन तीनों ही अंगों की एक-एक करके समीक्षा करगे।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त
[Green's Metaphysical Theory]

ग्रीन अपने आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रारम्भ काण्ट के दर्शन से

---

1. "As deeply concerned with morality, as the most *fanatical* non-conformist, he was convinced that the state should abolished institutions and conditions which lead to immorality.—The state may not force a man to be moral, but it may do away with the conditions which tempt men to be immortal."

—*McGovern*—From Luther to Hitler, P.158-59

करता है। उसके आध्यात्मिक विचारों पर काण्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का प्रारम्भ बिन्दु काण्ट का यह विश्वास है कि विशुद्ध बुद्धि (Pure reason) एवं यदाकदा आत्मानुभूति (Occasional flashes of intuition) के द्वारा, अन्तिम अथवा परम सत्य (Ultimate truth) को जाना जा सकता है। अनुभव प्रधान अथवा आगमनात्मक पद्धति (Empirical or Inductive Method) द्वारा इस सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। वह ह्यूम के अनुभववादी (Empirical) और स्पेन्सर के विकासवादी सिद्धान्त (Spencerian Evolutionary Approach) का विरोधी है। उसका विचार है कि हम मनुष्य को भौतिक प्रकृति (Physical Nature) का एक अंश मानकर और उसकी क्रियाओं को केवल नाना प्राकृतिक घटनाएं (Natural Phenemena) मानकर उसके और विश्व के जिसका कि वह एक अंश है, वास्तविक स्वरूप (True Nature) को नहीं जान सकते। वह आधारभूत बिन्दु जिससे ग्रीन मानव स्वभाव का विश्लेषण (Analysis of the Nature of Man) आरम्भ करता है, मनुष्य की आत्म-चेतना (Self-consciousness) है। ग्रीन यह मानकर चलता है कि मनुष्य आत्मचेतन है जबकि निम्नकोटि के प्राणियों में केवल (Consciousness) ही होती है। आत्मानुभूति की चेतना तो केवल मनुष्य में ही होती है। मनुष्य में विचार शक्ति होती है। वह सोचने और अनुभव करने के समय इन बातों को जानता है कि वह सोच रहा है और यह अनुभव कर रहा है। निम्नकोटि के प्राणी, जो केवल चेतना रखते हैं, दुःख, सुख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, आदि का अनुभव अवश्य करते हैं और उन पर इन बाहरी बातों की प्रतिक्रिया भी होती है लेकिन इस तथ्य से वे अपरिचित ही रहते है कि वे सुखी हैं अथवा दुःखी। उन्हें अपने सुख दुःख और भूख आदि का विचारात्मक ज्ञान नहीं होता। इस धरती पर आत्मचेतना प्राप्त करने का गौरव केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। हमारी मानवी आत्मा इसी गुण के सहारे दूसरो के अनुभवों और विचारों से अपने अनुभवों और विचारों को मिलाती है। "आत्मचेतना मे यह बात निहित है कि मानव अनुभव में एक आत्मा होती है जिसे चेतना की क्षणिक स्थितियों से एकाकार नही किया जा सकता। यह वह केन्द्र है जो चेतना की प्रत्येक स्थिति का आधार है। 'मैं सोचता हूं', 'मैं अनुभव करता हूं', 'मैं निर्णय करता हूं', आदि वाक्यो मे 'मैं' का अभिप्राय इसी केन्द्र से होता है। यही वह तत्व है जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है और इन सबमे वर्तमान रहते हुए इन सबको एक इकाई मे एकीकृत कर देता है। इस मैं' की संश्लेषणात्मक क्रिया (Synthesising activity) के अभाव मे किसी भी वस्तु का एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई (A unfied whole) के रूप मे, जिसका कि ज्ञाता आत्मा तथा ज्ञान-जगत (The knowing self and the known world) की अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है, कोई ज्ञान नहीं हो सकता था।" हमारे अनुभवों को एक दूसरे से मिलाकर सगठित करने का श्रेय आत्मा को ही है। जिस प्रकार एक धागे में अनेक गुरियां होती हैं उसी प्रकार आत्मा मे भी अनेक अनुभव होते हैं। इस संश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Synthesising principle) को ग्रीन आध्यात्मिक (Spiritual) बताता है

क्योंकि यह सम्बन्ध हमारे विचारों को पारस्परिक सम्बन्ध से जोड़ देता है। स्पष्ट है कि अनुभवकर्त्ता के रूप में ग्रीन द्वारा की जानेवाली आत्मा की कल्पना काण्ट की ज्ञानमय आत्मा की धारणा से मूलतः भिन्न नहीं है।

हीगल तथा फिक्टे की भांति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार और आत्मा में एक ही तत्व व्याप्त है। यह तत्व बुद्धिमय होता है। बुद्धिमयता के कारण ही जानकारी हो पाती है। यदि ससार की कोई वस्तु बुद्धिमय नहीं होगी तो उसे जाना भी नहीं जा सकता। इसीलिए ग्रीन मानता है कि संसार की सभी वस्तुएं तथा आत्मा बुद्धिमय होती है अथवा दूसरे शब्दों में हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड (The cosmos or the real universe around us) एक बुद्धिगम्य (Intelligible) अथवा आदर्श तथ्य (Ideal reality) है; इसीलिए इसका स्वरूप (Nature) आध्यात्मिक (Spiritual) होना चाहिये। ब्रह्माण्ड का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो सकता है। मनुष्य विशेष का मस्तिष्क इस कार्य में समर्थ नहीं है। लेकिन जिस परम बुद्धि ने संसार की वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मानव-बुद्धि के अनुरूप होती है। तभी तो हम वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ सकने में समर्थ हैं।

इस परम विवेक या बुद्धि (The supreme intelligence) को, जो सांसारिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है, परमात्मा का नाम दिया जाता है। ग्रीन ने इसे शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) कहा है। चूंकि यह ब्रह्माण्ड की सत्ता है और इसको जाना जा सकता है, इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहती है और इसकी चेतना सब में विद्यमान रहती है। एकता और व्यवस्था को स्थापित करनेवाला यह एक क्रमवद्ध सिद्धान्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु इसी शाश्वत चेतना की ओर बढ़ने का प्रयास करती है। इस विषय में मेज (Metz) ने लिखा है—

"यह वह क्रमवद्ध सिद्धान्त है जो एकता और व्यवस्था स्थापित करता है, यह वह सम्पूर्ण है जिसमें प्रत्येक भाग को अपना तर्कसम्मत स्थान मिलता है, यह सार्वभौम अथवा विश्वव्यापी है जिसकी ओर बढ़ने का प्रत्येक विशिष्ट वस्तु प्रयत्न करती है, और जिसकी उसे स्वयं को पूर्ण बनाने के लिये आवश्यकता है और जिसके बिना यह कुछ नहीं है। यह एक ऐसी दैविक सत्ता है जिसमें प्रत्येक वस्तु का निवास है, विचरण है और अपनी सत्ता है।"[1]

---

1. "It is the systematic principle which establishes unity and all order, the whole in which every part finds its logical place, the universal towards which every particular strives, and which it needs in order to complete itself and without which it is nothing the divine unity in which every thing lives and moves and has its being."

—*Metz* : A Hundred Years of British Philosophy, Pages 276-7

ग्रीन की आत्मचेतना काण्ट के आत्मज्ञान से काफी मेल खाती है तो उसकी शाश्वत चेतना हीगल के निर्लेप विवेक (Absolute Reason or Idea) से समता रखती है। हीगल के समान ग्रीन का विश्वास विवेक और आदर्श में ही है। हीगल के इस मत से भी ग्रीन सहमत है कि विश्व में आत्मा समस्त समुदायों और संस्थाओं में अपनी *अभिव्यंजना* (Expression) पाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रीन के अनुसार संसार में तीन तत्वों की महत्ता है–मनुष्य तत्व या मानव-आत्मा (The human self), जगत तत्व (*The world*), *तथा परमात्मा तत्व* (*God*)। इन तीनों तत्वों से मिलकर एक इकाई बनती है। इनका सम्बन्ध यौगिक न होकर सामवायिक होता है, बल्कि यह कहना चाहिये कि सामवायिक ही नहीं अपितु इससे भी बढ़कर होता है। इसको स्पष्ट करते हुए मेज (Metz) का कथन है कि—

"वैयक्तिक अन्तरात्मा सार्वभौमिक अन्तरात्मा का माध्यम कही गई है तथा इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान करती है, लेकिन यह योगदान किस प्रकार का होता है (अर्थात् दोनों के बीच में यह सम्पर्क कैसे स्थापित होता है), *इस विषय में हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि शारीरिक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत शाश्वत अन्तरात्मा या चेतना हमारे भीतर विद्यमान रहती है।*"[1]

ग्रीन अपने इस विश्वास को अत्यन्त महत्व देता है कि प्रत्येक मनुष्य में शाश्वत चेतना पायी जाती है। इसी के आधार पर उसके राजनैतिक एवं नैतिक विचारों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा चेतना भी होती है जो विश्व चेतना के साथ मिलकर कार्य करती है। मनुष्य शाश्वत चेतना में विचरण करना चाहता है और चाहता है दैवी तत्वों का साक्षात्कार करना। ग्रीन के अनुसार मनुष्य का कल्याण केवल सुखवादी विचारधारा को अपनाने से ही नहीं होता। वह केवल सुख की कामना नहीं करता बल्कि वह तो परम सुख का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन में अनेक संघर्षों को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और इस पूर्णता को प्राप्त करने की धुन में भौतिक सुख को भी विस्मृत कर देता है। ग्रीन बलपूर्वक कहता है कि मनुष्य वास्तव में यदि अपने जीवन को कल्याणमय बनाने की कामना रखता है तो उसे पूर्णता की प्राप्ति का लक्ष्य रखना ही चाहिये। स्पष्ट है कि ग्रीन सुखवाद (Hedonism) की धारणा का खण्डन करके नैतिकता की धारणा का मण्डन करता है।

---

1. "The individual consciousness is said to be the medium or [illegible] of our bodies.

—*Metz* : A Hundred Years of British Philosophy, Page 278

ग्रीन के दर्शन का एक विशेष बात यह है कि शाश्वत चेतना जो स्वतन्त्र होती है, मनुष्य उसी का अंश है। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि मनुष्य भी स्वतन्त्र है। शाश्वत चेतना के कारण ही मनुष्य सामाजिक कल्याण के पथ पर बढ़ने को प्रेरित होता है। यह शाश्वत चेतना ही है जो मानव-आत्मा में यह भावना जागृत करती है कि वह सामाजिक कल्याण करे। लेकिन साथ ही ग्रीन यह भी स्वीकार करता है कि मनुष्य को स्वयं के लिये भी कुछ करना चाहिये। उसके अनुसार मानव-जीवन का एक लक्ष्य यह है कि वह अपना कल्याण करे। किन्तु यह विचार प्रकट करने में ग्रीन अपने इस उद्देश्य को अथवा मन्तव्य को स्पष्टत: प्रकट कर देता है कि मनुष्य के अपने कल्याण में समाज का कल्याण भी निहित रहता है। यही कारण है कि राज्य की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार हीगल के विचारों से भिन्न हो जाते हैं। ग्रीन के अनुसार राज्य साध्य (End) न होकर साधन (Means) है, जबकि इसके विपरीत हीगल के मत में राज्य स्वयं में एक साध्य है। ग्रीन ने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास माना है। उसने व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार किया है, उसके व्यक्तित्व को मान्यता दी है, उसे साध्य माना है और राज्य को साधन। व्यक्ति को मूल्यवान तथा गौरवमय समझने के कारण ग्रीन के विचार काण्ट और अरस्तू से समानता रखते है। हाँ, ग्रीन यह जोर देकर कहता है कि मनुष्य का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह दूसरों के व्यक्तित्व को सम्मान दे अर्थात् स्वयं के हित के लिये दूसरों के हितों पर कुठाराघात करने की भावना अपने मन में न लाये, अपने आदर्श चरित्र का महल निर्मित करे, सदाचार अपनावे, नैतिक बने।

ग्रीन के दर्शन की आधारभूत धारणा यह है कि मनुष्य शाश्वत चेतना का अंश है, अत: उसे अनैतिक कार्यो में प्रवृत नहीं होना चाहिये। उसका निजी मूल्य है अत: यह आवश्यक है कि वह समता और भ्रातृत्व की भावना पर चले। ग्रीन के इसी आचार-सिद्धान्त अथवा आध्यात्मिक धारणा का प्रभाव उसके राज्य विषयक विचारों पर पड़ा है। इसीलिये उसने राज्य के कार्यों को नकारात्मक रूप में स्वीकार किया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि राज्य का कार्य तो मनुष्य के नैतिक जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को निरस्त करके उसे उचित एवं श्रेष्ठ कार्यो के लिये अवसर प्रदान करना है। राज्य अपने कानूनों के बल पर मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता, हां वह नैतिक जीवन के लिये एक वातावरण तैयार कर सकता है। वह ऐसी परिस्थितियों को जन्म दे सकता है जिनके अन्तर्गत नागरिक अपने नैतिक विकास के लिये आगे बढ़ सके।

ग्रीन के उपरोक्त विचार का अभिप्राय: राज्य को व्यक्ति के लिये अनावश्यक करार देना नहीं है, प्रत्युत वह यह मानता है कि राज्य व्यक्ति के लिये आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में व्यक्ति श्रेष्ठ नैतिकता को प्राप्त नहीं कर सकता। राज्य अन्य सभी संस्थाओं में श्रेष्ठतम है और नैतिक जीवनयापन के लिये उचित वातावरण एवं परिस्थितियां उत्पन्न करने में परम सहायक है। ग्रीन के ये विचार हीगल जैसे हैं। दूसरे शब्दों में अपने इस दृष्टिकोण में वह हीगल का अनुयायी बन गया है। लेकिन ग्रीन आदर्शवादी होते हुए भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को जो महत्व देता है, यह बात

अवश्य ही हीगल के विपरीत हैं। यह विचार इंग्लैण्ड के प्रभाव के कारण बन गया प्रतीत होता है। ग्रीन के नैतिक आदर्श के सम्बन्ध मे यह बात याद रखने योग्य है कि नैतिक आदर्श आत्मानुभूति का विषय होने पर भी सामाजिक होता है। उसकी यही धारणा आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र में ला पटकती है।

ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त
(Green's Theory of Freedom)

ग्रीन ने भी अपने पूर्ववर्ती रूसो एव कॉन्ट की भाति अपने सम्पूर्ण *व्यावहारिक दर्शन को 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा'* पर आधारित किया है। उसने स्वतन्त्रता को महानतम वरदान मानते हुये कहा है कि इसकी प्राप्ति एव अनुभूति ही नागरिको के सम्पूर्ण प्रयत्नो का अन्तिम ध्येय होना चाहिये। ग्रीन के अनुसार मानव का चरम लक्ष्य परमात्मा मे आत्म प्राप्ति करना है। जब मनुष्य आत्म चेतन होते हैं अर्थात् अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करते हैं *तो वे परमात्मा चेतना अथवा शाश्वत चेतना की अवस्था मे प्रवेश करते हैं* और इस अवस्था मे उनको यह बोध होता है कि हम सब समान स्वभाव वाले हैं हमारी सबकी समान सद्-इच्छा है और सब का एक ही लक्ष्य है- परमात्मा मे आत्म-प्राप्ति। इस प्रकार मानव चेतना अर्थात् आत्मा को सामाजिक कल्याण का ज्ञान होता है जो स्वय उसका भी कल्याण है। जब *वह इस सामाजिक कल्याण की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसकी भी* आत्मा-प्राप्ति हो जाती है। इस आत्म-प्राप्ति के निमित्त मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। *यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है*-प्रथम, आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है अपनी मनोवृत्तियों को वश मे रखना, यह आचार शास्त्र का विषय है, द्वितीय, बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियो का होना जिसमे व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के काम कर सकें—यह राज्य शास्त्र का विषय है। ग्रीन के मानव-चेतना *सम्बन्धी विचार नैतिक और आध्यात्मिक हैं। स्वतन्त्रता के विचार राज*-नीतिक होने के कारण हमारे अध्ययन का विषय हैं।

ग्रीन से पूर्व स्वतन्त्रता की व्याख्या कॉन्ट और हीगल द्वारा की जा चुकी थी। *कॉन्ट ने स्वतन्त्रता को स्वय निर्मित सर्वमान्य कर्तव्यों का पालन* बताया और कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के सर्वमान्य आदेशों का पालन करते हुये स्वय को साध्य बना लेना चाहिये। हीगल ने इस व्याख्या को नकारात्मक, सीमित और आत्मगत माना क्योकि इसमें कर्तव्य-भाव निहित था और कर्तव्य का पालन किये बिना व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती थी। उसके मत मे यह स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप मे साध्य बना देने के कारण सीमित थी, चेतना मे निहित होने के कारण आत्मगत थी। *हीगल ने स्वतन्त्रता को सकारात्मक तथा बाह्य* बताया जिसे राज्य मे रह कर और राज्य के स्वरूप मे पूर्ण एकरूपता स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। *लेकिन ग्रीन ने 'स्वतन्त्रता की* परिभाषा करते हुये लिखा कि, "स्वतन्त्रता का अभिप्राय उन कार्यों को करने

व उपभोग करने की सकारात्मक शक्ति से है जो करने अथवा उपभोग करने चाहिये ।"[1]

ग्रीन ने यह स्पष्ट बताया है कि मनुष्य के नैतिक जीवन का लक्ष्य नीतिपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करना है, अतः राज्य को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे व्यक्ति की स्वयं के आदर्श चरित्र के निर्माण करने की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती हो । राज्य का कर्तव्य तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करना है । राज्य के लिये यह सर्वथा अवांछित है कि वह अपने दमनकारी हस्तक्षेप से व्यक्ति की आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता में अड़चन डाले । ग्रीन ने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये है उनका विश्लेषण करने से पूर्व यह उचित होगा कि पहले ग्रीन की स्वतन्त्रता को ग्रीन ही के शब्दों में पढ़ लिया जाय । ग्रीन ने लिखा है कि—

"सम्भवत: हम सब इस बात से सहमत होंगे कि स्वतन्त्रता को ठीक प्रकार से समझ लेना सबसे बड़ा वरदान है और एक नागरिक होने के नाते हमारे सम्पूर्ण प्रयत्नों का वास्तविक तथा अन्तिम लक्ष्य यही है कि इसकी प्राप्ति की जाये । लेकिन जब भी हम स्वतन्त्रता की चर्चा करते हैं तभी हमें अत्यन्त ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करना चाहिये कि इससे हमारा आशय क्या है । स्वतन्त्रता से हमारा आशय अथवा अभिप्राय केवल प्रतिरोध एवं अनिवार्यता से छुटकारा नही होता । हमारा तात्पर्य यह भी नहीं होता कि हमे अपनी मनमानी करने की छूट हो । हमारा आशय ऐसी स्वतन्त्रता से भी नहीं होता जिसका उपभोग किसी एक व्यक्ति अथवा किसी वर्ग-विशेष द्वारा दूसरो की स्वतन्त्रता का दमन करके किया जाय । जब हम स्वतन्त्रता की चर्चा किसी अमूल्य वस्तु सदृश करते है, तो हमारा आशय किसी महत्वपूर्ण कार्य करने की शक्ति अथवा उपभोग करने की उस वास्तविक शक्ति एवं उपभोग करने की योग्यता से होता है और वे वास्तविक कार्य होते है जिन्हें हम अपने साथियों के साथ करते हैं या उपभोग करते हैं । इससे हमारा अभिप्राय एक ऐसे अधिकार से होता है जिसका उपभोग प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों या सहयोगियों द्वारा प्रदत्त सहायता व सुरक्षा के कारण कर पाता है और जिसे वह बदले में स्वय अपने साथियों को प्रदान करता है । जब कभी हम किसी समाज की प्रगति को मापने को प्रयत्नशील होते हैं तो हम उन समस्त अधिकारों के प्रयोग और प्रगति के आधार पर ही मापते है जो सामाजिक कल्याण हेतु समाज के समस्त सदस्यों को दिये गये है । संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रगति का मापदण्ड एक सगठन के रूप में नागरिकों की अपने व्यक्तित्व की सर्वोच्च उन्नति और अधिकाधिक सदुपयोग ही है ।

"किन्तु अन्य नागरिकों को उनके अधिकारों से वंचित करके यदि किसी असामान्य व्यक्ति अथवा वर्ग विशेप की सर्वोच्च उन्नति भी हो तो हम

---

1. "Liberty is a passive power of capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying."

—*Green*

उमे मानव स्वतन्त्रता की ओर प्रगति नहीं मानने मे ही न्याय करेंगे। यदि सच्ची स्वतन्त्रता का आदर्श यह है कि समाज के प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च उन्नति करने का समान अधिकार प्रदान किया जाये, तो हमारा एक ऐसे राज्य को स्वतन्त्रता का श्रेय देने का विरोध करना न्यायपूर्ण है जिसमे थोड़े से व्यक्तियो के प्रकन उत्थान की नीव बहुत से लोगों के पतन पर आधारित है। स्वतन्त्र उद्योग पर आधारित आधुनिक समाज को, जो अव्यवस्था, अज्ञान, भ्रष्टाचार और निरर्थक प्रयत्नो मे लिप्त है, प्राचीन गणतन्त्रो के समक्ष महत्व देना बहुत ही भ्रमपूर्ण होगा।"

"व्यक्ति तभी स्वतन्त्र है जब वह उस स्थिति में है जिसमे वह अपने व्यक्तित्व के आदर्श को प्राप्त कर सके, *नियमों का पूर्णतः पालन करे* और उन्हे स्वेच्छा से पालन करने योग्य माने, वह सब कुछ बन सके जिसकी उसे इच्छा है और अपने जीवन को सार्थक बना सके अर्थात प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। स्वतन्त्रता असीमित नही है। आत्मोन्नति ही स्वतन्त्रता है। सद् भावना स्वतन्त्र है, दुर्भावना नही।"[3]

---

1 ightly unders- attainment is But when we thus speak of freedom, we should carefully consider what *we mean by it* *We do not mean merely freedom from* restraint or compulsion We do not mean merely freedom to do as we like *irrespective of what it is that we like* We do not mean a freedom that can be enjoyed by one man or one set of men at the cost of a loss of freedom to others When we speak of freedom as something to be so highly prized we mean a positive power or capacity of doing or enjoying, *and* enjoy in common with *hich each* man exercises through the help or security give him by his fellow men, and which he in turn helps to secure for them. When we measure the progress we measure it by the on the whole of those good with which we *be endowed, in short by the greater* power on the part of the citizens as a body to make the most and best of themselves

But we rightly refuse *to recognise* the highest development of an exceptional individual or exceptional class, as an advance towards the true, *freedom of man, if it is* founded on a refusal of the same opportunity to other men *If the ideal of true* freedom is the maximum of power for all members of human society alike to make the best of themselves, we are right in refusing to escribe the

ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर हम उसकी स्वतन्त्रता की धारणा का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे सुविधा की दृष्टि से निम्नानुसार पृथक-पृथक उपशीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(i) स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की ही होती है—ग्रीन ने अपना अटल विश्वास बार्कर के इन शब्दों में प्रकट किया है कि **"मानवीय चेतना में स्वतन्त्रता निहित है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है और अधिकारों के लिए राज्य आवश्यक है।"**[1] ग्रीन के अनुसार शुभ इच्छा ही वांछनीय इच्छा है। वह कार्य जिसे राज्य को दमनपूर्ण हस्तक्षेप के द्वारा अथवा पैतृक शासन के द्वारा कभी नहीं करना चाहिये, जो उसके स्वनिर्णय को प्रतिबन्धित करता है। वह कार्य जो राज्य को अवश्य करना चाहिये, उसकी शक्तियों को उनके कार्य-करण के मार्ग की बाधायें हटाकर स्वतन्त्र करना है। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल शुभ इच्छा की स्वतन्त्रता ही हो सकता है, वह केवल उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की स्वतन्त्रता हो सकती है जो ऐसी इच्छा अपने आप अपने सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता केवल प्रतिबन्धों का नकारात्मक अभाव मात्र ही नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कुरूपता का अभाव सौंदर्य नहीं होता। यह उन कार्यों को करने या आनन्द प्राप्त करने की सकारात्मक शक्ति है जो किये जाने के अथवा आनन्द लाभ करने योग्य हैं। पुनः, स्वतन्त्रता के केवल सद्-इच्छा और केवल सद्-इच्छा में ही निहित होने के कारण वह किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की शक्ति नहीं है, अपितु उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की शक्ति है जो सद्-इच्छा अपने आप अपने सम्मुख प्रस्तुत करती है। संक्षेप में वास्तविक स्वतन्त्रता निषेधात्मक स्वतन्त्रता की उल्टी है। बार्कर ने ग्रीन द्वारा अभिव्यक्त इस स्वतन्त्रता के दो लक्षण बताये हैं—

१. सकारात्मक या यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty) :— सर्वप्रथम स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है। यह हस्तक्षेप का अभाव मात्र नहीं

---

glory of freedom to a state in which the apparent elevation *of the few* is founded on the degradation of the many, and in ranking modern society founded as it is on free *industry*, with all its confusion and ignorant licence and waste of *effort, above the most splendid of ancient republics.*

"A man is free when he is in that state in which he shall have realised the ideal of himself, shall be at one *with the law*, which he recognizes as that which he ought to obey, shall have become all that he has it in him to be, and so fulfil the law of his being" or "live according to nature." Freedom was not unlimited. It was freedom to become self-conscious. "The good will is free, not the bad will."

—*Green*

1. "Human consciousness postulates liberty : liberty involves rights : rights demand the state".
—*Barker*, Political Thought in England, P. 33

है। इसका सच्चा अर्थ है इच्छित कार्यों को करने की सुविधा। यह व्यक्ति को इस बात का अवसर प्रदान करते हैं कि वह कुछ कार्य कर सके, ऐसे कार्य जिनसे मनुष्य अपना नैतिक विकास कर सकने में सक्षम हो। इस स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपने लिये कुछ करा सके।

२. निश्चयात्मक स्वतन्त्रता (Determinate Liberty)—स्वतन्त्रता कुछ कार्य करने का अवसर प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यों का स्वरूप निश्चयात्मक होता है अर्थात् एक निश्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता, कोई ऐसा कार्य जो किये जाने योग्य है, न कि प्रत्येक कार्य। 'कुछ कार्य' का अभिप्राय यह नहीं होता कि व्यक्ति अच्छे-बुरे हर कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। जूआ खेलना, शराब पीना, चोरी करना आदि बातों के लिये छूट देना स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जानेवाले कार्यों को करने की छूट नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों को जो हमें आत्म प्राप्ति में सहायक हों, करने की स्वतन्त्रता है। ऐसे कार्य करने की एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है। अतः यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कार्यों को करने की निश्चयात्मक सत्ता है।"

(ii) स्वतन्त्रता का अर्थ आत्मसन्तुष्टि नहीं है—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ग्रीन स्वतन्त्रता का प्रत्येक कार्य करने की छूट नहीं मानता और न ही स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता को पर्यायवाची स्वीकार करता है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी कभी नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता आत्म सन्तुष्टि में ही नहीं है। ये दोनों वस्तुएं नितान्त भिन्न हैं। अपनी इच्छानुसार किये जानेवाले मानव स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षपाती होते हुए भी ग्रीन केवल बन्धन के अभाव को ही स्वतन्त्रता नहीं मानता। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता राज्य के हस्तक्षेप के उचित क्षेत्र में ही बनी रह सकती है। ग्रीन की स्वतन्त्रता विधेयात्मक है। आत्मपरक एवं आन्तरिक होने के साथ साथ वह वास्तविक और सकारात्मक भी है। ग्रीन कानून को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भक्षक नहीं बल्कि रक्षक मानता है, केवल शर्त यह है कि इस दृष्टि से राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो।

(iii) स्वतन्त्रता मानव चेतना की एक विशेषता—ग्रीन के अनुसार मनुष्य की आत्म चेतना के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। मानव चेतना विश्व चेतना का एक अंश है और विश्व चेतना का सार स्वतन्त्रता है, इसलिए आत्म-चेतना भी स्वतन्त्र होती है। यह मानव चेतना स्वतन्त्रता के लिए राज्य की माग करती है। बार्कर के ये शब्द इस धारणा को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करते हैं—"मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है और अधिकार राज्य की मांग करते हैं।"

(iv) स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है—स्वतन्त्रता की उपरोक्त

भावना स्वयं अधिकार युक्त होती है। एक व्यक्ति जिस कार्य को अपने लिए अच्छा समझता है, अन्य मनुष्य भी उसे अपनी पूर्णता के लिए उपयोगी समझते हैं और सम्पूर्ण समाज ही उन्हें अपने विकास में सहायक समझने लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना उदित होती है। "एक व्यक्ति का अपनी भलाई की कामना के साथ अन्य व्यक्तियों की भलाई की कामना करना समाज की भलाई की इच्छा होती है। ऐसा सम्बन्ध समाज की रचना करता है जिसका अर्थ अधिकार होता है।" इस तरह स्वतन्त्रता अधिकारों को संयुक्त करती है।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय: यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करे। स्वतंत्रता शब्द स्वयं अपने आपमें ही स्वतंत्र है और साथ ही दूसरों को भी उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करता है जितना वह स्वयं स्वतन्त्र है। व्यक्ति जीवन सम्पत्ति, भ्रमण, व्यवसाय, कार्य आदि की स्वतन्त्रता की रक्षा करने का अधिकार है किन्तु साथ ही उसे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अन्य व्यक्ति भी उसी के समान उपरोक्त अधिकारों के अधिकारी हैं। अतः व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इस प्रकार करेगा कि जिससे दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा न पहुँचे। स्वतंत्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जबकि वह अधिकार युक्त हो। अधिकार विहीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिणित हो जाती है। यदि हमें व्यक्तित्व की उन्नति करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा है तो यह स्वाभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रता-पूर्वक भ्रमण का अधिकार, व्यवसाय, शिक्षा एवं कार्य का अधिकार, आदि प्राप्त हों, किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं है कि हम अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं को इस रूप में हटाने को प्रयत्नशील हो जायं कि अन्य व्यक्तियों के उपरोक्त अधिकारों का हनन हो। यदि ऐसा किया जायगा तो स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता न रहकर अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता रह जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के साथ अधिकार सम्बद्ध है। स्वतन्त्रता शब्द के भीतर ही अधिकार समाविष्ट हो जाते हैं और बिना अधिकारों के स्वतन्त्रता केवल लूली, लगड़ी और पगु होती है। अधिकार रहित स्वतन्त्रता की कल्पना करना मूर्खों के ससार में रहने से अधिक और कुछ भी नहीं है। जब हम 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग करते हैं तो स्वतः प्रश्न होता है कि किस बात की स्वतंत्रता और, इसके उत्तर में यह पाते हैं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, तो यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता और कुछ नहीं है, सिवाय इसके कि इसके द्वारा मानव को कुछ अधिकार प्रदान किये जाते हैं। अधिकार वहां मिलते है जहां स्वतन्त्रता होती है और स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ भी अधिकारों का उपयोग करना ही है।

काण्ट और ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की तुलना—ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा से स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में वह कॉण्ट के विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ है। 'प्रो० बार्कर का कहना है कि 'ग्रीन काट के इस विचार से शुरू करता है कि मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र है और वह एक साध्य है। वह सदैव इसी विचार से चिपटा रहा है और कांट के इसी विचार के साथ

उसने अपने विचार की समाप्ति की है।"[1] काण्ट की भांति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार में निर्पेक्षता रूप से सद्भावना ही श्रेष्ठ है। मनुष्य के नैतिक जीवन का लक्ष्य है कि वह नीतिपूर्ण कार्यों को करे एवं सांसारिक भोग-विलासों में न फंसे। स्वतन्त्रता केवल नैतिक कार्यों के करने की ही हो सकती है, अनैतिक कार्यों को करने की छूट स्वतन्त्रता न होकर स्वेच्छाचारिता है। यहां तक ग्रीन और काण्ट दोनों के विचारों में समानता है; किन्तु आगे चलकर दोनों ही विचारकों के मत में भिन्नता आ गई है। ग्रीन का विश्वास है कि स्वतन्त्रता विधेयात्मक होती है और उसकी प्राप्ति राज्य के कार्य में भाग लेने से ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में ग्रीन ने काण्ट के विपरीत यह मान्यता प्रकट की है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता की अनुभूति बाहरी जगत में ही हो सकती है। काट ने जो यह विचार रखा था कि नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य के अन्तःजगत में ही निवास करती है, ग्रीन ने उसका अनुमोदन नहीं किया है। कार्य आत्म-सन्तुष्टि के क्षेत्र में गिने जायेंगे। इस प्रकार की आत्म सन्तुष्टि मनुष्य के नैतिक विकास में कोई सहायता नहीं पहुँचाती, बल्कि कभी कभी तो इसमें बाधक ही सिद्ध होती है। आत्मविश्वास ता नैतिक कार्य से होता है, इन नैतिक कार्यों को करने की छूट स्वतन्त्रता कहलाती है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि नैतिक कार्यों को करनेवाला व्यक्ति ही स्वतन्त्र कहला सकता है। अनैतिक कार्यों को करना स्वतन्त्रता नहीं है अपितु बन्धन है। इसे हम भावनाओं की दासता कहकर पुकार सकते हैं। हम बहुधा भावनाओं के वशीभूत होकर ही नाना अनैतिक कार्य कर बैठते हैं और ये कार्य हमारी वास्तविक स्वतन्त्रता के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं। दोनों विद्वानों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में वास्तव में मूलभूत अन्तर यह है कि काण्ट की स्वतन्त्रता सीमित तथा भाव प्रधान है जबकि ग्रीन की स्वतन्त्रता वस्तु-प्रधान और विधेयात्मक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि काण्ट की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति केवल अन्त जगत में होती है जबकि ग्रीन की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति बाह्य जगत में होती है।

हीगल और ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की तुलना—ग्रीन काण्ट के समान ही हीगल के स्वतन्त्रता विषयक विचारों से भी बड़ा प्रभावित हुआ है। यद्यपि दोनों ही विचारकों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्तों में काफी समानता है तथापि इस विषय में उनकी विषमताएं भी कम नहीं है।

ग्रीन हीगल से सहमत होकर कहता है कि स्वतन्त्रता राज्य में ही सम्भव है। हीगल के समान वह विश्वास व्यक्त करता है कि राज्य के रूप में अभिव्यक्त दैविक आत्मा के साथ एकाकार हो जाने में स्वतन्त्रता निहित है। ग्रीन भी यह मानता है कि व्यक्ति के हित और समाज के हित में परस्पर कोई विरोध एवं संघर्ष नहीं है। व्यक्ति राज्य का घटक होने के नाते दूसरे व्यक्तियों के साथ सामाजिक सम्पर्क स्थापित करता है और इसलिये उसका कल्याण

---

1. "He begins from, always clings to, and finally ends in the Kantian doctrine of the free moral will in virtue of which man always wills himself as an end."
—*Barker*, Political Thought in England, P. 32

सामाजिक कल्याण है । स्पष्टतः ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक कल्याण के लिये मानना शक्तियों का स्वाधीन होना है ।

उपरोक्त विचारों से हम यही पाते हैं कि ग्रीन हीगल की स्वतन्त्रता की धारणा से बहुत निकट है किन्तु फिर भी एक बात में इन दोनों विद्वानों के विचार बहुत भिन्न हैं । हीगल का कहना है कि स्वतन्त्रता केवल राजाज्ञापालन में ही निहित है । किन्तु ग्रीन का कहना है कि स्वतन्त्रता एवं राजाज्ञा को पर्यायवाची नहीं मानना चाहिये । राज्य का प्रत्येक कार्य एवं कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनिवार्यतः वृद्धि करनेवाला नहीं होता ।

हीगल की आलोचना करते हुये ग्रीन कहता है कि वह आदर्श और यथार्थ के अन्तर को भूल जाता है एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में इस प्रकार बोलता है जैसे कि वे तथ्य हों । उसके अनुसार हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी आदर्श की पूर्ति आदर्श राज्य में ही हो सकती है, यथार्थ राज्य में नहीं ।

ग्रीन मानता है कि आत्मानुभूति के सिद्धान्त तथा राज्य के द्वारा विवेक के आधार पर बनाये गये कानून समान होते हैं क्योंकि दोनों ही विश्व चेतना के अ ग हैं । व्यक्ति और राज्य में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, किन्तु राज्य यदि अपने कर्त्तव्यों से भ्रष्ट हो जाता है तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसकी आज्ञा का उल्लघन करे । हीगल ग्रीन के इस विचार से सहमत नहीं है । उसके अनुसार स्वतन्त्रता को एवं राज्य की आज्ञा का चुपचाप पालन करने को एकरूप समझा जा सकता है । ग्रीन का विश्वास है कि राज्य के उन कानूनों के मानने से ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है जिन्हें वह अपनी वास्तविक इच्छा के अनुकूल समझता है और यह विश्वास करता है कि उनके पालन करने से उसको नैतिक विकास में सहायता मिलेगी । किन्तु ऐसा न होने पर ग्रीन व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा का अधिकार प्रदान करता है ।

यह कहा जा सकता है कि अपनी स्वतन्त्रता की धारणा में ग्रीन ने हीगल और कान्ट दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है । ग्रीन ने एक ओर तो कान्ट के औपचारिकतावाद तथा भाववाद को छोड़ा है और दूसरी ओर हीगल पर लगाये जानेवाले इस आरोप से स्वयं को बचाया है कि उसने स्वतन्त्रता को राज्य की आज्ञापालन से एकरूप करके उसे निरर्थक कर दिया है ।

ग्रीन का राजनीतिक दर्शन
(Green's Political Philosophy)

ग्रीन के आध्यात्मिक दर्शन और स्वतन्त्रता की धारणा पर विचार करने के उपरान्त अब हम ग्रीन के राज्य सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे । अपनी इच्छा एवं बुद्धि की शक्तियों की अनुभूति प्राप्त करने के लिये सामाजिक संस्थायें अत्यन्त आवश्यक हैं । यह उनका नैतिक औचित्य (Moral justification) है । राज्य और उसके कानूनों का भी इसी प्रकार का औचित्य है । किन्तु चूंकि उनमें और परिवार, चर्च आदि अन्य सामाजिक संस्थाओं में भेद है अतः ग्रीन के मतानुसार उनका एक विशेष औचित्य है जिस पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये । ग्रीन के 'Lectures on the Principles of

Political Obligation' का मुख्य उद्देश्य भी अपने साधारण नैतिक दर्शन के आधार पर राज्य की नैतिक स्थिति को सिद्ध करना अर्थात् यह सिद्ध करना था कि राजनीतिक सत्ता कहाँ तक समुचित है तथा कानून का पालन नैतिक दृष्टि से कहाँ तक उचित है। कानून के वास्तविक एवं सच्चे कार्य की परिभाषा करने एवं राजाज्ञापालन के समुचित आधार को निश्चित करने के प्रयास में उसने राजाज्ञापालन के कर्त्तव्य के विभिन्न सिद्धान्तों और सभ्य राज्यों में प्राप्य प्रमुख अधिकारों व कर्त्तव्यों का विवेचनात्मक ढंग से विश्लेषण किया।[1] ग्रीन के राजदर्शन पर मूलतः आने से पहले यही उचित होगा कि 'अधिकारों व समाज द्वारा उनकी मान्यता' के उसके अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया जाय।

(१) ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा (Green on Rights)—यह कहा जा चुका है कि ग्रीन की स्वतन्त्रता की भावना स्वयं अधिकारयुक्त है। चूंकि उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा पर विचार किया जा चुका है अतः उसका दुबारा यहाँ विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ग्रीन का सिद्धान्त काण्ट की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा का सिद्धान्त है जिसके बल पर मनुष्य सर्वदा अपने आपको एक लक्ष्य रूप में मानने की इच्छा करता है।

ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों को आत्मानुभूति (Self realization) के जीवन में सहायता पहुँचाने का सर्वोत्तम साधन यह है कि उनके लिये वह पक्षपातहीन (Impartial) और सार्वभौम (Universal) अधिकारों की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का चरम अधिकार यह है कि वह वैसा बन सके जैसा मनुष्य को होना चाहिये 'अपने अस्तित्व के विधान को पूरा करते हुए उस जो कुछ होना है वह हो सके'। अन्य सभी अधिकार इसी अधिकार से प्राप्त होते हैं। समाज से पूर्व अधिकारों के अर्थ में प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना एक अर्थहीन धारणा है पर नैतिक अथवा आदर्श अधिकारों के रूप में प्राकृतिक अधिकार सारपूर्ण है। 'जिस उद्देश्य की पूर्ति मानव समाज का लक्ष्य है उसके लिये यह आवश्यक है'। अधिकारों का आधार केवल वैधानिक स्वीकृति नहीं है। यह अधिकार सार्वजनिक नैतिक

---

1 [illegible]

of our moral duty of obey the law, (2) to examine the chief doctrines of political obligation that have been current in modern Europe and by criticising them to bring out more clearly the main points of a true doctrine, (3) to consider in detail the chief rights and obligations enforced in civilised states inquiring what is their justification, and what is the ground for respecting them on the principle stated'.

—*Green*

चेतना है। अधिकार-विधान सापेक्ष न होकर नैतिकता से सम्बद्ध है। मनुष्य के नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिये अधिकार आवश्यक शर्तें हैं।".

ग्रीन यह स्पष्ट कर देता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त उचित कार्य करने की सत्ता अर्थात् स्वतन्त्रता चाहता है और इसके लिये उसे कुछ परिस्थितियों की अपेक्षा होती है। इन परिस्थितियों और सुविधाओं के द्वारा ही वह आत्मानुभूति कर सकता है, आत्मप्राप्ति की अवस्था मे पहुंच सकता है। ये परिस्थितियां और सुविधाएं ही अधिकार हैं। इन अधिकारो की सृष्टि तब होती है जब प्रथम तो व्यक्ति एक नैतिक प्राणी की हैसियत से एक नैतिक लक्ष्य पाने के लिये सुविधाओं की मांग करता है और साथ ही विवेकपूर्ण होने के कारण यह भी स्वीकार करता है कि जिस तरह उसे इन सुविधाओं की आवश्यकता है उसी तरह अन्य लोगों को भी उनका आवश्यकता है और उन्हें भी वे प्राप्त होने चाहिये, तथा द्वितीय, जब समाज इन मांगों को स्वीकार कर देता है। इस तरह अधिकार का निर्माण दो तत्वों से मिलकर होता है—(१) व्यक्ति की मांग, और (२) समाज की स्वीकृति। इनमे से किसी भी तत्व के न होने से अधिकार नहीं बन सकता। सेबाइन ने ग्रीन के इस विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"उसका (ग्रीन का) कहना था कि अधिकार में दो तत्व होते हैं। सर्वप्रथम, वह कार्य की स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का दावा होता है। इसका अभिप्राय: यह है कि वह व्यक्ति की इस प्रवृति का आग्रह होता है कि व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों और क्षमताओं का विकास करना चाहता है। उसका तर्क था कि सुखवादी दर्शन मूलतः झूठा होता है क्योंकि मानव-प्रकृति ऐसी इच्छाओं और प्रवृतियों की राशि होती है जो सुख की भावना से प्रेरित होकर नही, प्रत्युत् ठोस तुष्टि की भावना से प्रेरित होकर कार्य की ओर निर्दिष्ट होती हैं। लेकिन, यह दावा नैतिक रूप से केवल इच्छा के आधार पर ही सार्थक नही है। यह तो विवेकपूर्ण इच्छा के आधार पर ही सार्थक होता है। यह विवेकपूर्ण इच्छा दूसरे व्यक्तियों के दावों को भी अपने ध्यान में रखती है। उसकी सार्थकता को प्रमाणित करनेवाला तत्व यह तथ्य है कि सामान्यहित इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की अनुमति देता है। यह माग लेने और अशदान देने का दावा है। परिणामतः, अधिकार में दूसरा तत्व यह सामान्य स्वीकृति है कि यह दावा आवश्यक होता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वास्तव में समानहित के प्रति योगदान देती है। इसलिये, ग्रीन के दृष्टिकोण से नैतिक समुदाय वह है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के दावे को सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर दायित्वपूर्ण ढग से सीमित कर देता है और जिसमें समुदाय उसके दावे का इसलिये समर्थन करता है क्योंकि उसके उपक्रम और स्वतन्त्रता के द्वारा ही सामान्य हित की सिद्धि हो सकती है।"[1]

ग्रीन के स्वयं के शब्दों मे—

"किसी भी व्यक्ति को समाज कल्याण को महत्वपूर्ण माननेवाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त अन्य कोई अधि-

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६८५

कार प्राप्त नहीं है। प्राकृतिक अधिकार अर्थात् प्राकृतिक स्थिति में अधिकार, अधिकारों के विपरीत हैं क्योंकि प्राकृतिक स्थिति व्यवस्थित समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के बिना अधिकार हो ही नहीं सकते।"

"प्रत्येक सदाचारी व्यक्ति अधिकार प्राप्ति के योग्य है अर्थात् समाज के अन्य सदस्य उसके अधिकारों को मान्यता देते हैं क्योंकि एक सदस्य को प्राप्त अधिकारों के समान ही अन्य सदस्यों को भी वे अधिकार प्राप्त हैं। यह कहना कि व्यक्ति अधिकार प्राप्ति के योग्य है, इसका आशय यह है कि उसे अनिवार्य रूप से अधिकार मिलने चाहिये। अधिकारों के कारण ही व्यक्तियों की शक्तियों का इस प्रकार विकास हो सकता है कि वे जन साधारण के हित को अपना हित समझें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अधिकार व्यक्ति की इस शक्ति की नकारात्मक भाव से प्राप्त है।"[1]

वास्तव में ग्रीन के नीतिशास्त्र में मूल उदारवादी तत्त्व यह है कि वह ऐसे किसी सामाजिक हित को अस्वीकार कर देता है जो उसका समर्थन करने वाले व्यक्तियों से आत्मत्याग अथवा आत्मबलिदान की माग करता है। समुदाय का दायित्व और अधिकार व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से सम्बन्ध रखता है।

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा का स्पष्ट अर्थ यही निकलता है कि किसी भी व्यक्ति को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि वह (क) समाज का एक सदस्य न हो, और (ख) ऐसे समाज का जिसके सदस्यों द्वारा कोई सार्वजनिक कल्याण अपने आदर्श कल्याण के रूप में स्वीकृत न हो, ऐसा कल्याण जो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो। इसका अर्थ यह है कि 'केवल ऐसे मनुष्यों के बीच ही अधिकारों की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से मनुष्य हों। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकारों को प्राप्त करके एक सार्वजनिक कल्याण' को अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारों का नियमन पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिये।"

---

1. "No one therefore can have a right except (1) as a member ... society in which some common good ... state of nature ... ction. There ... on the part of member ... person is capable of ... society in which the fr ... each member through the recognition by each of the ... To say ... them ... of the individual freely to make a common good ... have reality given to it. Rights are what may be called the negative realisation of this power."

—Green

जब ग्रीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होता है, राज्य या कानून की स्वीकृति नहीं। ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है परन्तु जिन्हें राज्य की स्वीकृति नहीं मिली है, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। ये प्राकृतिक इस अर्थ में नहीं है कि वे मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे जैसा कि अनुबन्ध-सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (Social Contract Theory) की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा ग्रीन के लिये एकदम त्याज्य है, एक निरर्थक प्रलाप है। उसका कहना है कि "प्राकृतिक अधिकार अर्थात् एक ऐसा अधिकार जो कि समाजहीन प्राकृतिक अवस्था में पाया जाता है, शब्दों का परस्पर विरोध है।"[1] कोकर ने ग्रीन के इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

"ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन किया अर्थात् इस कल्पना का कि मनुष्य- कार्य की कुछ स्वतन्त्रताओं तथा अपने उपयोग की वस्तुओं में कुछ स्थापित स्वार्थों को लेकर जन्म लेता है अथवा 'समाज' में प्रवेश करने से पूर्व की अवस्था में उसकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रताएं और कुछ ऐसे दावे थे जो संगठित समाज में प्रवेश करने के बाद भी कानूनी तथा नैतिक अधिकारों के रूप में उसके बने हुए हैं; और समाज में मनुष्य के अधिकार उसी सीमा तक वैध या उचित हैं जिस सीमा तक वे समाज से पूर्व की अवस्था वाले अथवा प्राकृतिक अधिकारों के अनुकूल सिद्ध किये जा सकते हैं। ग्रीन इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि समाज से पूर्व के और समाज से स्वतन्त्र भी कोई अधिकार है।"[2]

ग्रीन के मत में अधिकार प्राकृतिक इस अर्थ में हैं कि उनके बिना मनुष्य की पूर्व उन्नति अर्थात् आत्म प्राप्ति या आत्मानुभूति, जो उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य मांग है, सम्भव नहीं है। ये अधिकार नैतिक हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये है। जब इन अधिकारों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हें कानून का संरक्षण मिल जाता है तो वे कानूनी अधिकार बन जाते है। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिये काम प्राप्त होना चाहिये, लेकिन जब तक यह मांग राज्य द्वारा स्वीकार नही कर

---

1. "Natural right, as right in a state of nature which is not a taste of society is a contradiction in terms."

—*Green*

2. "Natural rights are rights which shouldbe enjoyed by a normally rational and moral man living in a rationally constituted society. They belong only to men capable of being influenced by the idea of a common good and are effective only in a society whose members recognize a common good as contributing to their own ideal good. They are the conditions under which the realization of the moral capacity of a man is made possible."

—*Coker* : Recent Political Thought, Page 429

आ जाती तब तक यह हमारा प्राकृतिक अर्थात् नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नहीं बन सकता। इस तरह ग्रीन 'प्राकृतिक अधिकारों'—इन शब्दों को अपनाता है किन्तु उनकी व्याख्या दूसरी देता है। यह अधिकार प्राकृतिक (स्वाभाविक) इसलिये हैं क्योंकि वे उस उद्देश्य के लिये आवश्यक तथा अपरिहार्य साधन हैं जो कि मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। "प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो स्वाभाविक रूप से विवेकपूर्ण ढंग से संगठित समाज में रहनेवाले सामान्यतया नैतिक तथा विवेकी मनुष्य द्वारा मांगे जाने चाहिये। वे अधिकार ऐसे ही व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं जो सामान्य हित की भावना से प्रभावित होते हैं और वे ऐसे ही समाज में प्रभावकारी भी होते हैं जिसके सदस्य एक सामान्य हित को अपने आदर्श हित की प्राप्ति में सहायक मानते हैं।"

प्रो० सेबाइन ने लिखा है कि—"ग्रीन के लिये व्यक्तिगत दावे और सामाजिक स्वीकृति की यह पारस्परिक अन्तर्निर्भरता एक न्यायिक सकल्पना नहीं, प्रत्युत नैतिक संकल्पना थी। वह अधिकारों के सम्बन्ध में बेन्थम की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करता था कि वे 'विधि (कानून) की सृष्टि हैं।' इसका कारण ग्रीन का यह विश्वास था कि उदारवादी शासन केवल ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकता है जहाँ विधान और सार्वजनिक नीति लोकमत के प्रति निरन्तर सदय हों। यह लोकमत प्रबुद्ध भी होना चाहिये और नैतिक दृष्टि से सम्वेदनापूर्ण भी। उसके विचार से प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में यही सचाई थी।"[1]

ग्रीन के मत में अधिकार स्वाभाविक (Natural) उस अर्थ में है जिसमें अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हें आदर्श अधिकार कहना अधिक श्रेष्ठ होगा। इन अधिकारों को सद्भावना के आधार पर समुचित रूप से संगठित समाज द्वारा अपने सदस्यों को प्रदान करना चाहिए और वह प्रदान करेगा भी। ये आदर्श अधिकार समय विशेष पर राज्य द्वारा स्वीकृत यथार्थ अधिकारों (Actual Rights) की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक व्यापक और विशद हैं क्योंकि वे यथार्थ अधिकारों से आगे रहते हैं। बार्कर (Barker) के अनुसार "किसी समाज के वास्तविक कानून द्वारा प्रतिष्ठित यथार्थ अधिकार एक आदर्श प्रणाली के कभी अनुकूल नहीं होते।"[2] स्वाभाविक या आदर्श अधिकार (Natural or Ideal rights) हमारे समक्ष वह मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं जिनकी कसौटी पर यथार्थ अधिकारों को कसा या परखा जा सकता है। वे एक ऐसा आदर्श रहते हैं जिनके अनुकूल यथार्थ अधिकारों होना चाहिए।" अधिकार कानूनी अधिकारों से इसलिये भी भिन्न है कि उनका निकट सम्बन्ध नैतिकता से होता है। ग्रीन जब समाज द्वारा अधिकारों की मान्यता की बात कहता है तो उसका अभिप्राय समाज की नैतिक भावना द्वारा मान्यता से है न कि कानून द्वारा मान्यता से।

1 सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ ६८७
2. "The actual rights embodied in the actual law of a community never quite square with an ideal system."
—*Barker* : Political Thought in England.

ग्रीन की उपरोक्त धारणा से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अधिकार का कानून से कोई सम्बन्ध नहीं है। "समाज द्वारा क्रियान्वित होने के लिये उनका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। प्रत्येक समाज को अपने कानूनों को अधिकाधिक आदर्श अधिकारों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये। एक समाज की प्रगति का मापदण्ड यह है कि उसके कानून आदर्श अधिकारों से कहां तक ओत-प्रोत हैं।"

ग्रीन के राज दर्शन के मौलिक विचार को बार्कर के इन शब्दों में, जिन्हें पहले भी एकाधिक वार उद्धृत किया जा चुका है, दिया जा सकता है—'मानव चेतना स्वतन्त्रता की अपेक्षा रखती है, स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं, अधिकार राज्य की मांग करते हैं" (Human consciousness postulates liberty; liberty involves rights, rights demand the State.) तो अब यह देखना चाहिये कि अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की क्यों आवश्यकता है। अधिकार तभी प्राप्त होते हैं जब किन्ही सामाजिक बन्धनों को स्वीकार किया जाय। अधिकारों के सदुपयोग के लिये एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जो यह देखे कि कहीं व्यक्ति अपने अधिकारों के बहाने दूसरों के अधिकारों का अतिक्रमण तो नहीं कर रहे हैं। इसीलिये अधिकारों की प्राप्ति के साथ ही साथ राज्य का अस्तित्व भी हमारे सामने आता है जिसके बिना अधिकारो का कोई मूल्य नहीं रह जाता। अधिकारों का उपभोग तभी हो सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उल्लघन करनेवालों को दण्ड दे। व्यक्ति प्रायः अपनी अविवेकपूर्ण तत्कालिक इच्छा के प्रभाव मे काम करते है और उचित-अनुचित का ध्यान न रखते हुये दूसरों का अहित करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि कोई ऐसी निष्पक्ष संस्था हो जो सबके अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी सस्था राज्य है जो सबके लिये निष्पक्षता के साथ समान अधिकारो की व्यवस्था करके और उन पर अमल करवा कर व्यक्तियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करता है। समाज द्वारा व्यक्ति की मांग को मान्यता प्रदान करने के बाद उसे क्रियान्वित करानेवाली एक शक्ति की आवश्यकता को राज्य पूरा करता है। यह नही भूलना चाहिये कि जब हम अधिकारो की बात करते हैं तो कर्तव्य शब्द स्वतः ही आ जाता है। अधिकार और कर्तव्य एक नदी के दो किनारे हैं। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरे का कर्तव्य है। दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यों से इस बात की आशा करते है कि हमें अपने अधिकारों का उपभोग शान्तिपूर्वक करने दें तो हमारा भी उन मनुष्यों के प्रति कर्तव्य है कि उन व्यक्तियों की रक्षा में हम सहायक सिद्ध हों। किन्तु अधिकारों और कर्तव्यों की यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब उन पर नियन्त्रण रखनेवाली एक सर्वोपरि शक्ति विद्यमान हो। इस प्रकार की व्यवस्था ही हमारा सही पथ-प्रदर्शन कर सकती है और हमें आपसी टकराव से बचा सकती है। यह शक्ति स्वभावतः राज्य ही हो सकता है। बिना संगठित समाज और राज्य के हम अपने अधिकारों की कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता को अधिकार विहीन होकर उच्छृंखलता में परिणित होने से रोकनेवाली शक्ति राज्य ही है।

ग्रीन जहां अधिकारों की क्रियान्विति के लिये राज्य के उचित हस्तक्षेप की बात करता है वहां वह व्यक्तियों को कुछ दशाओं में राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार भी देता है। उसका कहना है कि यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिकों की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नहीं करता जिसके लिये वह विद्यमान है तो वह नागरिकों की राज्य-भक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य के विरुद्ध या कम से कम उस सरकार के विरुद्ध अधिकार हैं जिसमें राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है और वे उसके आदेशों की अवज्ञा या उसका विरोध कर सकते हैं। किन्तु "ग्रीन ने यह चेतावनी दी है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा बड़े सोच-विचार के बाद किया जाना चाहिये। नागरिक उसके विरुद्ध ऐसे किन्हीं अधिकारों का दावा नहीं कर सकता जो कल्पित राज्य-हीन 'प्रकृति की अवस्था' या किसी दूसरी कल्पित अवस्था में विद्यमान थे, जिसमें ऐसा माना जाता था कि व्यक्ति एक दूसरे का विचार किये बिना काम कर सकते थे; और न वह प्रत्येक परम्परागत विशेषाधिकार या सत्ता को ही ऐसा अधिकार-ऐसी स्वतन्त्रता-मान सकता है जिसे, चूंकि वह भोगता आ रहा है, आगे भी भोगता रह सकता है। जहां नवीन अवस्थाएं उसके कामों के नियमन के लिये नूतन आवश्यकताओं को जन्म देती हैं, वहां इस प्रकार के नियमन के विरुद्ध परम्परा अधिकार का तर्क नहीं दे सकता और न इसका निर्णय करने के लिये अपने व्यक्तिगत विचार को ही सर्वोच्च महत्व दे सकता है कि किसी मामले में आदेश पालन उसका कर्तव्य है या उल्लंघन करने का उसका अधिकार है। किसी को कानून का प्रतिरोध करने का इसलिये अधिकार नहीं है कि वह कानून उसे किसी ऐसे काम को करने के लिये बाध्य करता है जिसकी उसकी इच्छा या बुद्धि अनुमोदन नहीं करती।"[1] स्पष्ट है कि एक व्यक्ति को सामान्यतया राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उसके सभी अधिकार राज्य से ही निकलते हैं। राज्य के कानून समाज की नैतिक चेतना (Moral consciousness of the community) का प्रतिनिधित्व करते हैं। "जब तक कानून कहीं भी और किसी भी समय राज्य के सही विचार की पूर्ति करते हैं, उनकी अवज्ञा करने का अधिकार नहीं मिल सकता (So far as the laws anywhere or at any time in force fulfil the idea of a state, there can be no right to disobey them)।" किन्तु राज्य को आज्ञापालन की भावनापूर्ण या सम्पूर्ण (Absolute) नहीं है। व्यक्ति का राज्य के प्रति विरोध न्यायोचित हो सकता है यदि किसी कानून का उल्लंघन करने से सार्वजनिक कल्याण की अभिवृद्धि होती है अथवा पूर्ति होती है। इस प्रकार ग्रीन के आदर्श अधिकारों के सिद्धान्त का अन्तिम विश्लेषण या सार इस कथन में है कि "समाज में एक ऐसी नैतिक प्रणाली रहती है जो राज्य से स्वतन्त्र होती है और जो व्यक्ति को एक ऐसा मापदण्ड देती है जिसके द्वारा वह स्वयं राज्य की भी परख कर सकता है।"[2]

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४५१-४५२
2. '....there exists within the community an ethical system

(२) प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार (Green on Natural Law)—ग्रीन के राज्य सिद्धान्त पर चर्चा से पहले प्राकृतिक कानून के प्रति उसके दृष्टिकोण को भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। ग्रीन ने अब तक प्राकृतिक कानून की जो व्याख्या की थी उसकी आलोचना की। पहले प्राकृतिक कानून ऐसे माने जाते थे जिनके द्वारा अन्य कानूनों की परीक्षा की जाती है। लेकिन ग्रीन ने प्राकृतिक कानूनों को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया है जिसमें, हॉब्स, लॉक आदि समझौतावादियों ने किया था। उसने १७वीं शताब्दी के प्राकृतिक कानून के इस सिद्धान्त का खंडन किया है कि प्राकृतिक कानून का सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व है। ग्रीन ने 'प्राकृतिक कानून'—इस पद की पुनः परिभाषा करते हुये कहा है कि "यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिये, चाहे वह राज्य की यथार्थ कानून के अनुकूल हो या न हो।" यह अर्थात् प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होते हैं। इनकी खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। ग्रीन के अनुसार कानून इस दृष्टिकोण से प्राकृतिक कहे जाते हैं कि समाज की लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ये आवश्यक है। प्राकृतिक कानून का सम्बन्ध उन बातों से है जिनका अस्तित्व समाज की चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। प्राकृतिक न्याय शास्त्र (Natural-Curisprudence) को ही इस बात का निर्णय करना चाहिये कि किन काननों को प्राकृतिक समझा जाय। तब वे मान्य होंगे और लागू करने योग्य होंगे, फिर चाहे वे राज्य-निर्मित कानून का अंग हों अथवा न हों।

ग्रीन ने प्राकृतिक कानून और वास्तविक कानन तथा नैतिक या आध्यात्मिक कर्तव्यों के अन्तर को स्पष्ट करने के इस अन्तर को स्पष्ट करने के साथ यह भी बताया है कि नैतिकता या आध्यात्मिकता आन्तरिक मानसिक अवस्था है और स्वतन्त्रता उसका मुख्य लक्षण है। नैतिकता को वाह्य दबाव द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शक्ति का प्रयोग करते हो इसका मुख्य लक्षण सदाचार नष्ट हो जाता है और यह उस प्राकृतिक कानून की श्रेणी मे आ जाती है जिससे मनुष्य के वाह्य कार्य नियन्त्रित होते हैं। वास्तविक कानून से यह पता लगता है कि कौनसे कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण है। अतः आध्यात्मिक कर्तव्य ये हैं जो 'होना चाहिये' किन्तु इनमें वाहरी दबाव नहीं होता। प्राकृतिक कानून में भी 'जो कार्य होने चाहिये' सम्मिलित है, किन्तु इन्हें शक्ति द्वारा लागू किया जाता है तथा वास्तविक कानून से जिसका अस्तित्व है और जिसे 'लागू किया गया है' का पता लगता है।

ग्रीन ने स्वयं ने प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्तव्य का भेद इन शब्दों मे प्रकट किया है—

---

which is independent of the state and which gives the individual a standard whereby to criticise the state itself."

—*Wayper* : Political Thought, Page 185

"प्राकृतिक कानून और नैतिक अथवा आध्यात्मिक कर्तव्य में भेद है क्योंकि प्राकृतिक कानून और विधि पारित कानून मे शक्ति तत्व निहित है तथा नैतिक कर्तव्यों में किसी बाह्य तत्व की शक्ति का दबाव नहीं होता। कभी कभी जो यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या नैतिक कर्तव्यों को कानून द्वारा लागू किया जाना चाहिये, यह निरर्थक है क्योंकि इन्हे वास्तव मे दबाव द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिये बाहरी क्रिया द्वारा दबाव जिसकी नींव कतिपय लक्ष्यो की पूर्ति पर निर्भर है, उन लक्ष्यों की पूर्ति असम्भव कर देती है और इसी कारणवश राज्य द्वारा लागू किये कानूनो की सीमा निर्धारित होती है। अत प्राकृतिक कानून, अधिकार और कर्तव्यो का अनुबन्ध वास्तविक आध्यात्मिकता या नैतिकता से भिन्न है। किन्तु यह इससे सम्बन्धित अवश्य है।"[1]

इस सम्बन्ध मे प्रो० सेबाइन का निम्नलिखित कथन भी विषय-वस्तु की स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय है—

"ग्रीन ने प्राकृतिक विधि की जो पुनर्व्याख्या की थी, उसका अभिप्राय यह नही था कि वह विधि के दो भेदो पर जोर देना चाहता था। उसका अभिप्राय सिर्फ यह था कि वह विधि की प्रकृति-सापेक्षता पर, समाज में उसके महत्त्व पर व आचारो के साथ उसके घनिष्ट सम्बन्धो पर जोर देना चाहता था। बेंथम की भांति ग्रीन का यह विचार भी नही था कि विधि को सुख-दुःख की कसौटी पर कसा जा सकता है अथवा विधि तथा आचारों के बीच मूल भेद यह है कि विधि के उल्लघन पर दण्ड मिलता है और आचारों के उल्लघन पर कोई दण्ड नही मिलता। ग्रीन के विचार से विधि तथा आचारों का अन्तर दो ऐसी सामाजिक संस्थाओं का अन्तर है जो एक दूसरे को सहारा देती हैं लेकिन फिर भी एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। एक ओर तो चरित्र, नैतिक भावना, और सामाजिक दृष्टिकोण है जो शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अग है। दूसरी ओर व्यवहार के कुछ निश्चित और स्थिर ग हैं। इस व्यवहार को लागू किया जा सकता है और वह व्यक्तिगत अभि-

---

1. "The Jus Nature is distinguished from the moral duty because admitting of enforcement by law, moral duties do not admit of being so enforced The question sometimes put whether moral duties should be enforced by the law, is really an unmeaning one, for they simply cannot be enforced Nay, the enforcement of outward act, the moral character of which depends upon a certain motive and

रुचि की सीमाएं निर्धारित करता है। ग्रीन की सकारात्मक स्वतन्त्रता में ये दोनों चीजें निहित है।''

(३) सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार : "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है" (Green on Sovereignty : "Will, not force, is the basis of State):—राज्य अधिकारों को क्रियान्वित करनेवाली सर्वोच्च सस्था है। इसके पास एक बाध्यकारी शक्ति होती है। इस शक्ति के माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों एव कर्त्तव्यों की व्यवस्था बनाये रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राज-दर्शन मे राज्य की 'सर्वोच्च सत्ता', 'परम सत्ता', 'सम्प्रभुता', 'राजसत्ता' आदि नामो से पुकारा गया है। यही सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जो उसे अन्य मानव-समुदायों से पृथक करता है और उच्चतर बनाता है।

ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन द्वारा सम्प्रभुता की विशेष रूप से व्याख्या की गई थी। रूसो ने सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' (General will) में बताया था। ऑस्टिन ने उसके विपरीत सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति 'किसी ऐसे निश्चित मानव श्रेष्ठ' (Determinate Human Superior) में की थी जिसकी आज्ञा का पालन समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वाभाविक रूप से करते है और जिसे किसी अन्य श्रेष्ठ मानव की आज्ञापालन की आदत नही होती। यद्यपि ये दोनों धारणायें एक दूसरे से विपरीत होती हैं किन्तु ग्रीन का कहना है कि ये दोनों विचार सम्प्रभुता की पूर्ण धारणा को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है। ग्रीन का विश्वास है कि ये दोनों धारणायें परस्पर विरोधी नही है बल्कि एक दूसरे की पूरक हैं। समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारो को स्वीकार करती है और इन्ही अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न राज्य का निर्माण होता है। इस तरह राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अभिव्यक्ति करनेवाली सामान्य इच्छा पर टिका है। साथ ही कानून यदि सच्चा कानून है तो उसे एक विधिवत् निर्मित एवं सामान्य मान्यता प्राप्त सरकार के किसी अंग द्वारा बनाया और क्रियान्वित किया जाना चाहिए। ग्रीन **आस्टिन के सिद्धान्त के इस सत्य को मान लेता है कि 'एक पूर्ण रूप से विकसित समाज में कोई निश्चित मानव या मानव-समूह ऐसा होना चाहिए जिसके पास अन्ततोगत्वा कानूनों को लागू करने और मनवाने की शक्ति हो और जिस पर किसी तरह का कानूनी नियन्त्रण स्थापित नहीं हो सकता।''**

राज्य की सम्प्रभुता के तत्व में ग्रीन के विश्वास की सीमा और राज्य का सही आधार.—ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सम्प्रभुता राज्य का एक आवश्यक तत्व एवं गुण है और उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है। उसका विश्वास है कि सामान्य अधिकारों की रक्षा समुचित रूप से तभी संभव है जबकि राज्य बल का आश्रय ले और कुछ कार्यों में हस्तक्षेप करें। प्रत्येक समाज में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकारों को लागू कर सकें जो अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मानने से न केवल इन्कार ही करते है बल्कि उनके उपभोग के मार्ग में बाधाएं भी उत्पन्न करते हैं यदि अधिकार को क्रियान्वित न किया जा सके तो वह अधिकार नहीं है, वह तो केवल एक नैतिक दावा है। इस विचार का यह स्वाभाविक अभिप्राय है कि

अधिकार राज्य की मांग करते हैं—उस राज्य की जो इन्हें मनवाने का एकमात्र सर्वोच्च अधिकारी है। बार्कर (Barker) का कहना है कि, "यहाँ हम विरोधाभास पर आते हैं, एक ऐसे विरोधाभास पर जिसे हम टाल नहीं सकते। यह विरोधाभास है राज्य का कार्य। यह स्वतन्त्रता को उत्पन्न करने के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। इस विरोधाभास का सामना करने के लिये पहले तो हमें यह जानना चाहिये कि शक्ति का प्रयोग करनेवाला क्या है और दूसरे यह कि उसके कार्य को समाज के सदस्यों की जीवित एवं सक्रिय इच्छा का समर्थन कहां तक प्राप्त है।"[1] इन विरोधाभासों का जो उत्तर ग्रीन प्रस्तुत करता है, वह उसके राजदर्शन का हृदय है।

ग्रीन का कहना है कि राज्य की बाध्यकारी शक्ति उन नागरिकों को संयत रखने के लिए आवश्यक हो सकती है जिनमें किसी कारणवश नागरिक भावना का समुचित विकास नहीं हुआ है। इसी भांति कभी कभी दूसरों में भी कानूनप्रियता की भावना को दृढ़ बनाने के लिए भी यह आवश्यक हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिये तत्पर रहे और उनमें बाधक न बने। किन्तु क्षणिक भावनाओं के आवेश में आकर कुछ व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भूल बैठते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राज्य अपनी सम्प्रभु शक्ति द्वारा ही रोकता है अतः ग्रीन के अनुसार सम्प्रभुता वह शक्ति है जो कानूनों को बनाती है और उसके पालन के लिए जनता को मजबूर करती है।

जब ग्रीन यह स्वीकार करता है कि राज्य का आवश्यक गुण उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है और सामान्य अधिकारों की रक्षा हेतु राज्य द्वारा बलपूर्वक हस्तक्षेप जरूरी है तो उसके सिद्धान्त के अनुसार दमन राज्य का रचनात्मक तत्व नहीं है और न ही राज्य प्राथमिक रूप से उस पर टिका हुआ है। बल अधिकारों का समर्थन करता है, उनकी सृष्टि नहीं। सर्वोच्च दमनकारी सत्ता का होना इसलिए अनिवार्य है कि वह राज्य के अस्तित्व का बनाये रखनेवाला आधार स्तम्भ है और उसके कर्त्तव्यों के प्रभावकारी पालन के लिए अत्याज्य तत्व है। लेकिन इससे राज्य का निर्माण नहीं होता। 'संगठित बल अपनी प्रकृति में उसी समय राजनीतिक होता है जबकि उसका प्रयोग कानून के अनुसार अधिकारों की रक्षा के लिये किया जाता है और जनता सामान्यतया यह समझती है कि उसका प्रयोग उचित है। राज्य ऐसे व्यक्तियों का समुच्चय है जिसमें सामान्य हितों तथा अधिकारों को लोग परस्पर स्वीकार करते हैं। समाज एक राजनैतिक समाज के रूप में उस समय तक अपना अस्तित्व नहीं रख सकता जब तक ये अधिकार एवं हित बिना राज्य के बलपूर्वक हस्तक्षेप के आदत से स्वीकार नहीं किये जाते। राज्य में भय केवल उन

1. "Here we reach the paradox, the unavoidable paradox, of *state action* *It uses force to create freedom.* In order to face this paradox we have to inquire, in the first place, what is the body that uses force, and in the second place, how far its action is endorsed by the living and active will of the members of the society"
—*Barker*. Political Thought in England, Page 37

अल्प-संख्यक नागरिकों के नियन्त्रण के लिए, जिनमें नागरिक भावना का अभाव है, और कभी कभी दूसरे व्यक्तियों में कानून के पालन की भावना को दृढ़ बनाने के लिए है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार आपको शासन का औचित्य उन प्रयोजनों में खोजना चाहिये जो लोगों को उसके प्रति सामान्य आज्ञापालन को और प्रेरित करते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि राज्य के शक्ति-प्रयोग की वकालत करते हुए ग्रीन यह नहीं कहता कि शक्ति ही राज्य का आधार है। "जब एक बार बाध्यकारी शक्ति, जो कि सम्प्रभुता का केवल एक प्रत्यय है, नागरिकों के साथ अपने आचरण में राज्य की एक विशेषता बन जाती है तो समझ लीजिये कि राज्य ने जनता के हृदय पर से अपना अधिकार खो दिया है और उसका अन्त निकट आ गया है। सारांश यह है कि ग्रीन के अनुसार संप्रभुता तथा सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति को तद्रूप समझना विचार की एक बुनियादी भूल है, सम्प्रभुता का मूल सामान्य इच्छा में है।" ग्रीन लिखता है कि—"हमें सम्प्रभु को बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करनेवाली एक अमूर्त चीज नहीं समझना चाहिए, बल्कि राजनीतिक समाज की सस्थाओं की सम्पूर्ण जटिलता के सम्बन्ध में ही उसके ऊपर विचार किया जाना चाहिए। यह उनका पोषक है, और इस प्रकार सामान्य इच्छा का अभिकर्ता है, और यह कि स्वभावतः भक्तिपूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए सम्प्रभु शक्ति का जनता के हृदयों पर अधिकार होना चाहिए, और आज्ञाकारिता यदि भक्तिपूर्ण नहीं है और बलपूर्वक लादी गई है तो वह स्वभावतः नहीं हो सकती।"[2] राज्य की बल प्रयोग की शक्ति की मशा प्रकट करते हुए ग्रीन पुनः कहता है कि—"स्वेच्छापूर्वक आज्ञापालन के न प्राप्त होने पर, यदि राज्य नागरिकों पर बल का प्रयोग करता है तो केवल इसलिए क्योंकि वे अपने पड़ोसियों के अधिकार तथा हितों के लिए आवश्यक अवस्थाओं को, जिन्हें राज्य भली भांति समझता है, बनाये रखना नहीं चाहते।"[3]

---

1. कोकर-आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४४७
2. "The sovereign should be regarded, not in abstraction as the wilder of coercive force, but in connection with the whole complex of institution of political society. It is as their sustainer, and thus as the agent of the general will, that the soveriege power must be presented to the minds of the people if it is to command habitual loyal obedience, and obedience; and will scarcely be habitual unless it is loyal and the not forced."

   —*Green*
3. "The obedience which if not rendered *willingly, the state* compels the citizens to render because it does not present itself to win as the condition of the maintenance of these rights and interests common to himself with his neighbours, which he understands."

   —*Green*

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रीन के अनुसार राज्य के प्राण उसकी बाध्यकारी शक्ति नही है। उसकी वास्तविक प्राण-शक्ति सामान्य इच्छा है–वह सामान्य इच्छा जिसके द्वारा अधिकार उत्पन्न होते हैं, जो 'सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना जिससे कि समाज का निर्माण होता' है। शक्ति राज्य का मूलतत्व नहीं हो सकती और इसीलिये ग्रीन ने कहा है, "राज्य का आधार शक्ति नही, इच्छा है (Will not force is the basis of the state)।' शक्ति राज्य का मूलतत्व नहीं है इस कथन की मीमांसा के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि ग्रीन के अनुसार शासन का औचित्य उन प्रयोजनों में खोजा जाना चाहिये जो लोगों को उसके प्रति सामान्य आज्ञा-पालन की ओर प्रेरित करते है। राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नैतिक कार्य ही है। उसके कानूनो और उसकी संस्थाओं का सतत उद्देश्य व्यक्ति को, ऐसे समुदाय के सदस्य की हैसियत से, जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे समस्त सदस्यों के अच्छे जीवन मे सहायक होता है, अपनी आत्मपूर्णता के आदर्श की सिद्धि मे सहायता देता है। राज्य का कार्य उसी सीमा तक उचित है, जिस सीमा तक वह विवेकपूर्ण लक्ष्यों की ओर प्रेरित आत्म–निर्धारित आचरण के अर्थ मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि करता है। इसका अर्थ नही है कि व्यक्तिगत नैतिकता उसके कर्त्ता की इच्छा कार्य करने म उसकी मनोवृत्ति और प्रयोजन पर निर्भर है और यह मनोवृत्ति समाज तथा व्यक्ति के अन्दर है। इन तक न कानून पहुच सकते हैं और न अधिकारी वर्ग ही पहुच सकता है। जो कार्य किसी प्रकार के बाहरी दबाव मे आकर किये जाते हैं उनम नैतिक कार्यों के गुणों का अभाव होता है।

ग्रीन राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार केवल इसीलिये देता है कि राज्य मे सामान्य इच्छा का निवास होता है। वास्तव मे सामान्य हित की सामान्य चेतना का ही दूसरा नाम सामान्य इच्छा और इसकी रक्षा हेतु राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति होनी चाहिये। ग्रीन का मत है कि एक निरंकुश शासन का आधार अन्तत सामान्य इच्छा होता है। जब राज्य या सम्प्रभु का आधार सामान्य इच्छा न होकर शक्ति हो जाता है तो उस राज्य का अन्त निकट आ जाता है। शक्ति के आधार पर कोई भी राज्य स्थायी नहीं हो सकता। व्यक्ति सम्प्रभु की आज्ञा उसकी बाध्यकारी शक्ति मात्र के कारण नहीं मानता। वह सम्प्रभु की आज्ञा का पालन क्यों करता है अथवा उसे सम्प्रभु की आज्ञापालन क्यों करनी चाहिये, इसका कारण ग्रीन निम्न शब्दो मे व्यक्त करता है—

"यह पूछना कि मैं राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकूं यह पूछना है कि मैं अपने जीवन का उन संस्थाओं द्वारा विनियमित क्यों होने देता हू जिनके बिना अपना कहने के लिये मेरा कोई जीवन ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिये कहा जाता है उसका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिये कि मेरा एक जीवन हो जिसे मे अपना कह सकू, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिये, उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मुझे कर्म और संचय की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये और उसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि समाज के सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें

क्योंकि वह सामान्य हित के लिये आवश्यक है।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य का आधार इच्छा को मानता है, शक्ति को नहीं। ग्रीन की यह धारणा तब और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी जब अग्रिम पृष्ठों में उसकी 'सामान्य इच्छा' की धारणा पर पृथक से विचार किया जायेगा। 'सामान्य इच्छा' की धारणा पर कुछ कहने से पहले, ग्रीन की 'सम्प्रभुता' की कल्पना के प्रसंग में ही दो शब्द इस प्रकार कह देना आवश्यक होगा कि व्यक्ति को राज्य के प्रतिरोध का अधिकार किस सीमा तक है। ऐसी कौनसी अवस्थाएं हैं जिनमें व्यक्ति प्रतिरोध कर सकता है और प्रतिरोध करते समय व्यक्ति के लिए विचारणीय प्रश्न क्या है।

(४) प्रतिरोध का अधिकार (Right of Resistance)—राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की चर्चा 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है' शीर्षक के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप से की जा चुकी है। ग्रीन के अनुसार नागरिकों द्वारा राज्य के कानून का विरोध करने का अवसर इसलिये उत्पन्न होता है क्योंकि कभी कभी समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार तथा राज्य के द्वारा स्वीकृत अधिकारों में कुछ आवान्तर (Discrepancy) उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिये एक नागरिक दास प्रथा का विरोधी है। वह यह अनुभव करता है कि यद्यपि राज्य के कानूनों के अन्तर्गत दास प्रथा वैधानिक है, किन्तु समाज-चेतना इसे स्वीकार नहीं करती। इसी आवान्तर के कारण राज्य और नागरिकों में विरोध उत्पन्न होता है। ग्रीन मानता है कि समाज की सच्ची चेतना यदि राज्य द्वारा स्वीकृत किसी कानून अथवा प्रथा को अनुचित एवं हानिकारक समझती है तो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार है। कोकर के सुन्दर शब्दों में "यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिकों की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नहीं करता जिसके लिये वह विद्यमान है तो वह नागरिकों की राजभक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य के विरुद्ध या कम-से कम उस सरकार के विरुद्ध अधिकार हैं जिसमें राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है और वे उसके आदेशों की अवज्ञा या विरोध कर सकते हैं।" अपनी इस विचारधारा में ग्रीन हीगेलियन न होकर कुछ व्यक्तिवादी है तथा इंग्लिश उदारतावाद (English Liberalism) की छाप उसके दर्शन पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

---

1. "To ask why I am to submit to the power of the state, is to ask why I am to allow my life to be regulated by that complex of institutions without which I literally should not have a life to call my own, nor should be able to ask for a justification of what I am called on to do. For that I may have a life which I can call my own, I must not only be conscious of myself and of ends which I present to myself as mine; I must be able to reckon on a certain freedom of action and acquisition for the attainment of those ends, and this can only be secured through common recognition of this freedom on the part of each other by members of a society, as being for a common good."

ग्रीन राज्य का विरोध करने के विपक्ष मे नागरिकों को कई प्रकार की चेतावनिया देता है । वह इस बात पर बल देता है कि राज्य का विरोध करने का अधिकार किसी को नही है, क्योकि राज्य स्वय अधिकारो का स्रोत है । वह इस सम्बन्ध मे भी दृढ निश्चयी है कि विरोध केवल इसी बात पर से नहीं किया जा सकता कि राज्य की विधिया किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत् प्रवृति के अनुकूल नहीं हैं । वह (ग्रीन) लिखता है, "राज्य की आज्ञा न मानने का या विधि से जी चुराने का अधिकार केवल इस आधार पर नहीं प्राप्त हो सकता कि उससे किसी व्यक्ति के काय करने की स्वतन्त्रता म हस्तक्षेप हो या उसके बच्चो की व्यवस्था करने के अधिकार मे हस्तक्षेप होता हो ।' यदि समाज मे नवीन परिस्थितियो के उत्पन्न होने के कारण या समाज हित की आवश्यकता के कारण यदि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर नियत्रण और बढा दे तब भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्राप्त नही हो जाता क्योंकि जितने भी अधिकार प्रदान किये गये हैं वे इस सामाजिक निर्णय पर आधारित है कि वे सामान्य हित के लिये उपयोगी है । ग्रीन व्यक्तियो को सावधान करते हुए कहता है कि उन्हें यह नही भूलना चाहिये कि राज्य का विरोध करने वाला व्यक्ति अधिकतर भूल पर होगा क्योकि 'राज्य युगयुगान्तर के अनुभव और बुद्धिमता के

बुद्धि से निश्चय

सावधान कर देत

जकता का प्रसार हो सकता है । कोकर के शब्दो मे "कानून के राज्य के स्थान पर अराजकता की स्थापना स अनुचित कानूनो को मानने की अपेक्षा अधिक अन्याय होगे ।' ग्रीन की मान्यता है कि सवैधानिक शासनवाल राज्यो की बुरी विधियो का विरोध यथासम्भव सवैधानिक उपायो से ही करना चाहिये और यह विरोध तब तक करना चाहिये जब तक कि राज्य उन अवाछित विधियो को रद्द न कर दे । सवैधानिक शासन से रहित राज्यो मे भी विरोध केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे ही होना चाहिये ।

ग्रीन ने कुछ ऐसी अवस्थाए गिनायी हैं जिनमे नागरिको का राज्य के प्रति प्रतिरोध उचित हो सकता है । इन अवस्थाओ को प्रसिद्ध विद्वान कोकर (Coker) ने बडे ही सुगठित एव सौम्य रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है ।

'जिन अवस्थाओं मे नागरिको की ओर से प्रतिवाद या विरोध नैतिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है, वे ग्रीन के अनुसार ये हैं —उसे यह विश्वास होना चाहिये कि सफल विरोध द्वारा एक निश्चित हित की प्राप्ति समव है और उसे यह भी विश्वास होना चाहिये कि समाज के एक काफी बडे भाग का भी वैसा ही *विचार है । दूसरे शब्दो मे, शासन सत्ता के प्रतिरोध* का वही अधिकार है, जहा सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार के प्रतिरोध स सावजनिक हित की वृद्धि होगी । इसके साथ ही सफल प्रतिरोध के जो सामान्य परिणाम होगे उन पर व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिये । यदि लक्ष्य ऐसे हों कि कानून की अवज्ञा अथवा शासन के विरुद्ध विद्रोह का परिणाम सामान्य अव्यवस्था होगा तो प्रतिरोध उचित नही हो सकता । *कानून क राज्य के स्थान पर अराजकता की स्थापना से*

अनुचित कानूनों को मानने की अपेक्षा अधिक अन्याय होंगे ।"[1]

ग्रीन राज्य के प्रतिरोध को कोई मामूली बात नहीं समझता । वह यह अपेक्षा करता है कि नागरिक किसी कानून का प्रतिवाद नैतिक आधारों पर करने की इच्छा करते समय अनेक प्रश्नों पर विचार करे—"क्या कानून के विरुद्ध उसकी जो आपत्ति है । वह जनता कल्याण की चिन्ता पर आधारित है या स्वय अपनी ही सुख-सुविधा की चिन्ता पर ? क्या कानून में परिवर्तन शान्तिमय या वैधानिक उपाय से किया जा सकता है ? यदि नहीं तो इस बात की कितनी संभावना है कि बलपूर्वक विरोध से कानून में उचित परिवर्तन हो सकेगा ? क्या समाज की सामाजिक विवेक-बुद्धि उस स्थिति को उसी रूप में देखती हे जिसमे वह स्वयं उसे देखता है ? यदि मामला इतना महत्वपूर्ण है कि वर्तमान शासन को उलटना ही ठीक मालूम पडे तो यह देखना चाहिये कि क्या जनता की मनोवृत्ति एव योग्यता ऐसी है जिससे यह विश्वास हो सके कि अराजकता नही होगी ? अथवा क्या बुराई इतनी बड़ी है कि अराजकता का खतरा उठाना ही चाहिये ? 'स्वय राज्य के हित को ही छोड़ किसी अन्य हित के लिये राज्य की अवज्ञा का अधिकार नही हो सकता अर्थात् राज्य को उसके वास्तविक कानूनो के सम्बन्ध मे स्वयं उसकी प्रवृत्ति या कल्पना के अनुरूप बनाने अर्थात् मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धो से जो अधिकार उत्पन्न होते हैं उनमें सामजस्य स्थापित करनेवाला तथा उनका पोषक बनाने के लिये ही यह अधिकार हो सकता है ।"[2]

ग्रीन के अनुसार साधारणतः विरोध का आधार जनता मे व्याप्त असन्तोष होना चाहिये । परन्तु कभी कभी व्यक्ति अपने स्वयं के इस ठोस निर्णय के आधार पर कि राज्य सामान्य हित के विरोध में कार्य कर रहा है, राज्य का विरोध कर सकता है । ग्रीन के मत में यद्यपि विरोध का अधिकार नही है, परन्तु यह हो सकता है कि विरोध सही हो । ऐसी स्थिति मे राज्य का विरोध करना एक कर्त्तव्य हो जाता है । वेपर के कथनानुसार, "विरोध या प्रतिवाद के विरुद्ध कही जानेवाली सब बातों को जानते हुए भी ग्रीन कहता है कि यदि तुम्हें प्रतिरोध करना ही चाहिये तो तुम करो और इस सम्बन्ध में अपनी चाहे अथवा पसद के निर्णायक स्वय तुम होगे । तुम्हे प्रतिरोध का अधिकार कभी नही है, परन्तु यह हो सकता है कि प्रतिरोध करते समय तुम सही हो । और यदि तुम सही हो, तो प्रतिरोध करना तुम्हारा कर्त्तव्य होगा—और यदि तुम इस स्थिति मे प्रतिरोध नही करोगे तो तुम सच्चे नागरिक नही हो ।"[3]

---

1. कोकर—आधुनिक राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ ४५२
2. वही, पृष्ठ ४५२
3. "Knowing all that can be said against it (resistance), Green says if you must resist, you must and the choice can be no one's but yours. You will never have the right to resist, but you may be right in resisting. And if you are, it will be your duty to resist—and the poor citizen you are if you don't."

—Wayper

(५) 'सामान्य इच्छा' पर ग्रीन के विचार (Green on General Will) :—सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध मे ग्रीन, हाब्स, लाक, रूसो से बहुत प्रभावित है । उसका कहना है कि इन विचारको के सिद्धान्तों मे एक गम्भीर दोष यह है कि वे सम्प्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यथार्थता से दूर चले जाते है । प्रजा के सम्बन्ध मे उनका प्राकृतिक अधिकारो की धारणा दोषयुक्त है, क्योकि प्राकृतिक अधिकारो का अस्तित्व समाज के बिना नहीं रह सकता । सर्वोच्च अधिकारी शक्ति को समझौते के बाहर की वस्तु बताते हैं । सम्प्रभु और प्रजा के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए अथवा दूसरे शब्दों मे 'राज्य के अपने प्रति आज्ञाकारिता के अधिकार और प्रजा के आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को उचित सिद्ध करने" की समस्या को सुलझाने के प्रयत्नस्वरूप उन्होंने संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की रचना की । ग्रीन की मान्यता है कि उनकी मान्यताए एव प्रणालियां भ्रमपूर्ण थीं । समाज के बिना अधिकार की धारणा निराधार होती है ।

ग्रीन यह विश्वास प्रकट करता है कि सामान्य हित की चेतना सामाज को जन्म देती है । सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन *सामान्य इच्छा (General Will) कहता है । सामान्य चेतना अधिकारो और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी रक्षा करनेवाली सस्थाओ को भी स्थापित* करती है । ग्रीन के अनुसार राज्य मनुष्य के लिये एक स्वाभाविक सस्था है और सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप मे कार्य करता है । सामान्य इच्छा ही *राज्य की सत्ता का प्राण है । यही उस सम्प्रभुता की सृष्टि करती है जिसका* ध्येय अधिकारो को क्रियान्वित करना एव उन सस्थाओ को पूर्ण स्वस्थ अवस्था मे रखना है जो अधिकारो और कानूनो के मूर्त रूप हैं । ग्रीन के *अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा नहीं बल्कि मनुष्यों के सामान्य हित की* सिद्धि के लिये राज्य का जन्म होता है । राज्य के बिना सामान्यहित की प्राप्ति नही की जा सकती और रूसो के सिद्धान्त में सत्य का इतना ही *अंश है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं है बल्कि सामान्य इच्छा है ।*

ग्रीन ने भी इच्छा के दो रूप माने हैं—(१) वास्तविक इच्छा (Actual Will), एव (२) यथार्थ इच्छा (Real Will) । उसके मतानुसार वास्तविक इच्छा स्वार्थी होती है *और इसका निर्माण मनुष्य की काम क्रोध,* मद, मोह आदि भावनाओ से होता है । यह इच्छा विवेकहीन होती है और यथार्थ इच्छा अर्थात् सदिच्छा (Real Will or Good Will) के मार्ग मे बाधाए उत्पन्न करती है *। इसके विपरीत यथार्थ इच्छा अथवा सदिच्छा व्यक्ति के अन्तःकरण की ध्वनि को प्रकट करती है ।* इन सब इच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने सामान्य इच्छा के नाम से पुकारा है । ये सदिच्छाएं ही *राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका ही प्रतिनिधित्व करता है ।* ग्रीन कहता है कि यदि वास्तविक इच्छाओं (Actual Wills) अर्थात् भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाय तो ऐसे वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा जिससे मानव नैतिक विकास कर सके । यही कारण है कि समाज की सामान्य चेतना (Common Consciousness) किसी ऐसी नैतिक सस्था का आवश्यक ठहराती है जो स्वतन्त्र कार्यों

के लिये आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है। वह लिखता है—"नागरिक जीवन के सहवास का मूल्य इस बात में निहित है कि उसमें मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक संस्थाओं को यथार्थ रूप दे दिया जाय।"

राज्य सामान्य इच्छा का अभिव्यक्तिकरण है—इस परिणाम पर ग्रीन जिस तरह पहुँचा उस पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में काफी कुछ कहा जा चुका है। उसे दुहराते हुए संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि "ग्रीन का यह मूल विश्वास है कि संसार में एक चेतना व्याप्त है जिसका लक्ष्य है स्वतन्त्रता। मानव चेतना इस चेतना का ही एक अंश है। मानव चेतना का लक्ष्य है स्वविकास द्वारा विश्व चेतना के साथ एकाकार हो जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जबकि मानव का नैतिक विकास हो क्योंकि मानव-चेतना बुद्धि के ही आधार पर विश्व-चेतना का एक अंग बन सकती है। मानव चेतना विश्व-चेतना का ही एक अंश होने के कारण यह अनुभव करती है कि वह दूसरों के साथ रहकर ही अपना विकास करती है। इसी भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। व्यक्तियों के विकास के लिये कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है। इन सुविधाओं को प्रदान करने के लिए और उनकी राज्य के दुष्ट व्यक्तियों से रक्षा करने के लिये एक कानूनी प्रणाली की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार की विधि-प्रणाली राज्य ही प्रदान कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य की यथार्थ इच्छा के फलस्वरूप ही अवतरित होता है।"

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन क्यों करते हैं—शक्ति से भयभीत होकर अथवा सामान्य हित की आकांक्षा से? ग्रीन का उत्तर है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा से ही करते हैं। व्यक्ति को सम्प्रभु की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिये, इसका कारण बताते हुए ग्रीन ने लिखा है—"यह पूछना कि मैं राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकूं, यह पूछना है कि मैं स्वयं के जीवन को उन संस्थानों द्वारा विनियमित क्यों होने देता हूँ जिनके बिना अपना कहने के लिए मेरा कोई जीवन ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिए कहा जाता है उनका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिए कि मेरा एक जीवन हो जिसे मैं अपना कह सकूं, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिये बल्कि उस उद्देश्य को पाने के लिए मुझे कर्म और संचय की कुछ स्वतन्त्रता होनी चाहिये और इसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब समाज के सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें क्योंकि ऐसा होना सामान्य हित के लिए आवश्यक है।" स्पष्ट है कि राज्य व्यक्तियों के सामान्य हित-कामना का फल है और सामान्य हित की आकांक्षा से ही व्यक्ति राजाज्ञा का पालन करते हैं। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उसे उल्लंघन करने पर दण्ड प्राप्त होने का भय होता है वरन् वह यह जानती है कि राज्य एवं उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित हैं। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य में सामान्य

(५) 'सामान्य इच्छा' पर ग्रीन के विचार (Green on General Will) :—सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन, हाब्स, लाक, रूसो से बहुत प्रभावित है। उसका कहना है कि इन विचारकों के सिद्धान्तों में एक गम्भीर दोष यह है कि वे सम्प्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यथार्थता से दूर चले जाते हैं। प्रजा के सम्बन्ध में उनका प्राकृतिक अधिकारों की धारणा दोषयुक्त है, क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व समाज के बिना नहीं रह सकता। सर्वोच्च अधिकारी शक्ति को समझौते के बाहर की वस्तु बताते हैं। सम्प्रभु और प्रजा के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने के लिये अथवा दूसरे शब्दों में 'राज्य के अपने प्रति आज्ञाकारिता के अधिकार और प्रजा के आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को उचित सिद्ध करने" की समस्या को सुलझाने के प्रयत्नस्वरूप उन्होंने संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की रचना की। ग्रीन की मान्यता है कि उनकी मान्यताएं एवं प्रणालियां भ्रमपूर्ण थीं। समाज के बिना अधिकार की धारणा निराधार होती है।

ग्रीन यह विश्वास प्रकट करता है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन सामान्य इच्छा (General Will) कहता है। सामान्य चेतना अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी रक्षा करनेवाली संस्थाओं को भी स्थापित करती है। ग्रीन के अनुसार राज्य मनुष्य के लिये एक स्वाभाविक संस्था है और सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। सामान्य इच्छा ही राज्य की सत्ता का प्राण है। यही उस सम्प्रभुता की सृष्टि करती है जिसका ध्येय अधिकारों को क्रियान्वित करना एवं उन संस्थाओं को पूर्ण स्वस्थ अवस्था में रखना है जो अधिकारों और कानूनों के मूर्त रूप हैं। ग्रीन के अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा नहीं बल्कि मनुष्यों के सामान्य हित की सिद्धि के लिये राज्य का जन्म होता है। राज्य के बिना सामान्यहित की प्राप्ति नहीं की जा सकती और रूसो के सिद्धान्त में सत्य का इतना ही अंश है कि *राज्य का आधार शक्ति नहीं है बल्कि सामान्य इच्छा है।*

ग्रीन ने भी इच्छा के दो रूप माने हैं—(१) वास्तविक इच्छा (Actual Will), एवं (२) यथार्थ इच्छा (Real Will)। उसके मतानुसार वास्तविक इच्छा स्वार्थी होती है और इसका निर्माण मनुष्य की काम क्रोध, मद, मोह आदि भावनाओं से होता है। यह इच्छा विवेकहीन होती है और यथार्थ इच्छा अर्थात् सदइच्छा (Real Will or Good Will) के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करती है। इसके विपरीत यथार्थ इच्छा अथवा सदइच्छा व्यक्ति के अन्तःकरण की ध्वनि को प्रकट करती है। इन सब इच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने सामान्य इच्छा के नाम से पुकारा है। ये सदइच्छाएं ही राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका ही प्रतिनिधित्व करता है। ग्रीन कहता है कि यदि वास्तविक इच्छाओं (Actual Wills) अर्थात् भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाय तो ऐसे वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा जिससे मानव नैतिक विकास कर सके। यही कारण है कि समाज की सामान्य चेतना (Common Consciousness) किसी ऐसी नैतिक संस्था का आवश्यक ठहराती है जो स्वतन्त्र कार्यों

के लिये आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है। वह लिखता है—"नागरिक जीवन के सहवास का मूल्य इस बात मे निहित है कि उसमें मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक संस्थाओं को यथार्थ रूप दे दिया जाय।"

राज्य सामान्य इच्छा का अभिव्यक्तिकरण है—इस परिणाम पर ग्रीन जिस तरह पहुँचा उस पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में काफी कुछ कहा जा चुका है। उसे दुहराते हुए संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि "ग्रीन का यह मूल विश्वास है कि संसार में एक चेतना व्याप्त है जिसका लक्ष्य है स्वतन्त्रता। मानव चेतना इस चेतना का ही एक अंश है। मानव चेतना का लक्ष्य है स्वविकास द्वारा विश्व चेतना के साथ एकाकार हो जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जबकि मानव का नैतिक विकास हो क्योंकि मानव-चेतना बुद्धि के ही आधार पर विश्व-चेतना का एक अंग बन सकती है। मानव चेतना विश्व-चेतना का ही एक अंश होने के कारण यह अनुभव करती है कि वह दूसरों के साथ रहकर ही अपना विकास करती है। इसी भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। व्यक्तियों के विकास के लिये कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है। इन सुविधाओं को प्रदान करने के लिए और उनकी राज्य के दुष्ट व्यक्तियों से रक्षा करने के लिये एक कानूनी प्रणाली की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार की विधि-प्रणाली राज्य ही प्रदान कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य की यथार्थ इच्छा के फलस्वरूप ही अवतरित होता है।"

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन क्यों करते हैं—शक्ति से भयभीत होकर अथवा सामान्य हित की आकांक्षा से ? ग्रीन का उत्तर है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा से ही करते हैं। व्यक्ति को सम्प्रभु की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिये, इसका कारण बताते हुए ग्रीन ने लिखा है—"यह पूछना कि मैं राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकूं, यह पूछना है कि मैं स्वयं के जीवन को उन संस्थानों द्वारा विनियमित क्यों होने देता हूँ जिनके बिना अपना कहने के लिए मेरा कोई जीवन ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिए कहा जाता है उसका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिए कि मेरा एक जीवन हो जिसे मैं अपना कह सकूं, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिये बल्कि उस उद्देश्य को पाने के लिए मुझे कर्म और संचय की कुछ स्वतन्त्रता होनी चाहिये और इसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब समाज के सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें क्योंकि ऐसा होना सामान्य हित के लिए आवश्यक है।" स्पष्ट है कि राज्य व्यक्तियों के सामान्य हित-कामना का फल है और सामान्य हित की आकांक्षा से ही व्यक्ति राजाज्ञा का पालन करते हैं। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उसे उल्लंघन करने पर दण्ड प्राप्त होने का भय होता है वरन् वह यह जानती है कि राज्य एवं उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित हैं। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य में सामान्य

इच्छा का निवास होता है। ग्रीन की सामान्य इच्छा की उल्लेखनीय बात यह है कि यह इच्छा राज्य की इच्छा नहीं किन्तु राज्य के लिए इच्छा है। सामान्य इच्छा वह इच्छा नहीं है जिसके नाम पर शासक जनता पर अत्याचार करते आये हैं। बार्कर के स्मरणीय शब्दों में, "सामान्य इच्छा का यह दावा है कि राजनीतिक कार्य को उत्प्रेरित एवं नियन्त्रित करनेवाली शक्ति अन्तिम रूप से एक आत्मिक शक्ति है, वह एक सामान्य विश्वास है जिससे सदाचरण का उदय होता है, वह एक सामान्य अन्तःकरण है एक मात्र जो ही समाज के मन्त्रियों एवं अधिकर्त्ताओं को शक्ति प्रदान कर सकता है वह उन सम्प्रश की सृष्टि अथवा रचना करता है जिसका कार्य उन सब संस्थाओं को पूर्ण स्फूर्ति एवं सामन्जस्य के साथ बनाये रखना है जो कि अधिकारों और विधियों के साकार रूप हैं।"[1]

ग्रीन का यद्यपि यह विश्वास है कि इच्छा ही राज्य का आधार है, बल नहीं, तथापि उसके समक्ष ऐसे भी राज्य हैं जहाँ पर इच्छा नहीं, बल प्रयोग को अधिक महत्व दिया जाता है और इसी कारण ग्रीन "राज्य को ईश्वरीय आत्मा (Divine Spirit) की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि राज्य वास्तविक रूप में अपने निर्दिष्ट आदर्शों को केवल आंशिक रूप में ही पूर्ण करते हैं।"

'सामान्य इच्छा' पर विचार करते समय एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या निरंकुश एवं अत्याचारी राज्यों का आधार भी सामान्य इच्छा ही होती है? ग्रीन इसके उत्तर में तीन बातें प्रस्तुत करता है—(i) इन राज्यों को विकृत राज्य की संज्ञा देनी चाहिये, (ii) इन राज्यों को जो कुछ भी सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है—उसे जनता के आलस्य के कारण प्राप्त हुआ समझा जाना चाहिए एवं (iii) व्यक्ति एवं ईश्वरीय आत्मा का प्रतिरूप होते हैं अतः बुराईयों के होते हुए भी उनमें विद्यमान ईश्वरीय आत्मा उनकी बुराईयों में से अच्छाईयां निकाल लेती हैं। उदाहरणार्थ सीजर ने संसार को रोमन विधि (Roman Law) की महान् देन प्रदान की चाहे वह शक्ति का प्रदर्शक और आकांक्षी ही क्यों न रहा हो। ग्रीन की इस धारणा से यही झलकता है कि उसके मतानुसार प्रत्येक प्रकार के राज्य अथवा शासन में किसी न किसी अंश में सामान्य इच्छा का अवश्य निवास रहता है। वेपर (Wayper) के अनुसार, 'ग्रीन जब रूसो के इस विचार का खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यों में सामान्य इच्छा पूर्णतया लुप्त है तो हीगल के इस विचार का भी साथ ही

खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यों में विधियां सामान्य इच्छा की पर्यायवाची हैं।" पुनःश्च वेपर ही के शब्दों में "इस प्रकार हम हीगल की तरह, ग्रीन पर, व्यक्ति को राज्य पर बलिदान कर देने का आरोप नहीं लगा सकते।"

सामान्य इच्छा पर विचार करते समय ही एक अन्य यह प्रश्न भी उठता है कि सामान्य हित की चेतना का विचार क्या समाज के प्रत्येक घटक अथवा सदस्य में विद्यमान रहता है ? ग्रीन का कथन है कि सामान्य हित की सामान्य चेतना गरीबों, अशिक्षितों और दैनिक कार्यों में बुरी तरह फंसे हुए व्यक्तियों में प्रायः नहीं पायी जाती जबकि शिक्षकों, वकीलों, डाक्टरों और राज्यकीय कार्यकर्त्ताओं में सामान्य हित का अपूर्ण ज्ञान पाया जाता है। सामान्य हित की पूर्ण चेतना का व्यक्तियों में पाया जाना दुर्लभ ही है। ग्रीन ने इस सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि—

"जनहित का सिद्धान्त अथवा सामान्य हित का विचार, जिसका राज्य सदैव से प्रतिपादन करता आया है, उन लोगों को संचालित करनेवाला एक मात्र कारण नहीं रहा जो उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के अभिकर्त्ता रहे है जिसके द्वारा राज्यों का निर्माण हुआ है, और जहां तक इसने संचालित किया भी है तो एक बहुत अपूर्ण रूप में ही इसने ऐसा किया है।"[1]

किन्तु उपरोक्त उद्धरण से यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि सामान्य हित का व्यक्ति को कोई आभास ही नहीं होता। यह अपने प्रारम्भिक रूप में सभी नागरिकों में पाया जाता है और इसीलिए राज्य का अस्तित्व भी बना रहता है। यदि इसका सर्वथा अभाव होता तो राज्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामान्य हित की भावना नैतिक कर्त्तव्य के विचार के समान ही लोगों में क्रियाशील रहती है, हां यह अवश्य है कि इसकी पूर्ण चेतना अथवा अभिव्यक्ति केवल कुछ ही व्यक्तियों में और वह भी यदा-कदा ही सम्भव हो पाती है।

(६) राज्य के कार्यों पर ग्रीन का विचार (Green on the Functions of the State)—ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचार पूर्णतया मौलिक हैं। राज्य के कर्त्तव्यों को बताते हुए ग्रीन ने रचनात्मक तथ्यो पर बल दिया है। ग्रीन ने यद्यपि एक आदर्श राज्य की कल्पना की है तथापि राज्य के कार्यों का उसने जो उल्लेख किया है वे वस्तुतः यथार्थ राज्यों के ही कार्य हैं। हीगल यथार्थ राज्यों के विवेचन से दूर हो रहता है और उसके विचारों का यह एक बहुत बड़ा दोष है। ग्रीन का विश्वास है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है अतः उसके कार्य इसी उद्देश्य से प्रेरित होने चाहिये। प्रो० बार्कर ने ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करते हुए लिखा है—

1. "The idea of the common good which the state fulfils has never been the sole influence actuating those who have been agents in the historical process by which states have come to be formed : and even so far as it has actuated them, it has been only as conceived in some very imperfect form that it has done so. This is equally true of those who contribute to the formation and maintenance of states rather as agents, and of those who do rather as patients."

"राज्य का अन्तिम नैतिक मूल्य होता है और यह एक अत्यन्त गौरवपूर्ण मूल्य है। यह एक नैतिक प्राणी है, जिसे इसके नैतिक उद्देश्य ही जीवित रखते हैं।"

ग्रीन के राज्य की कल्पना एक चरमतावादी राज्य (Absolute State) का चित्र नहीं है। वह राज्य को बाह्य तथा आन्तरिक दोनों दृष्टियों से सीमित मानता है। उसके मत में राज्य के कार्य *सकारात्मक या धनात्मक* (Positive) तथा नकारात्मक या ऋणात्मक (Negative) दोनों प्रकार के *होने चाहिए। नकारात्मक दृष्टि से* वह यह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे "जो कार्य करने योग्य हैं" और इनके करने में जहां वह बाधाओं के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करे (The state should allow and remove obstacles that lie before human capacity, when he seeks to do things worth doing)। सकारात्मक दृष्टिकोण से राज्य के *कार्य क्षेत्र की व्याख्या करते हुए ग्रीन राज्य को यह* अधिकार देता है कि जहां नैतिकता के विकास के लिए वह उपयुक्त समझे *वहां नागरिक में हस्तक्षेप करे तथा उचित अवसरों पर बल का भी प्रयोग* करे।

राज्य के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए ग्रीन का कहना है कि राज्य का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह किसी भी व्यक्ति को आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करे, अपितु उसका कार्य तो बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे व्यक्ति में अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिये दण्ड की व्यवस्था *करता है जो सामाजिक उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं। राज्य को उन सब* दशाओं को दूर करने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिये जो नैतिकता के विकास में बाधक होती हों। *राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन निर्वाह की अड़चनों* को दूर करने का है।

ग्रीन का यह भी कथन है कि राज्य नैतिकता को लागू नहीं कर सकता। वह तो व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बद्ध वस्तु है जो व्यक्ति द्वारा आत्मारोपित कर्त्तव्यों के निष्पक्ष सम्पादन में ही निहित है। ग्रीन के *मतानुसार नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे बाह्य साधनों द्वारा* नहीं बढ़ाया जा सकता। राज्य व्यक्तियों को कानून द्वारा अथवा बलपूर्वक नैतिक *नहीं बना सकता। सामान्य हित की सामान्य चेतना को विधि के द्वारा* प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। राज्य के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ग्रीन शक्ति प्रदर्शन का विरोधी है। उसका विश्वास है कि शक्ति प्रयोग से धार्मिक और नैतिक भावनाओं की अभिवृद्धि में कोई सहायता नहीं मिलती, उल्टी हानि ही होती है। कोकर के अनुसार— ग्रीन बड़ी दृढ़ता के *साथ इस सिद्धान्त को* मानता था कि राज्य का कार्य व्यक्ति के लिये *यह सम्भव* कर देना कि वह *स्वयं श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सके* परन्तु शासन किसी व्यक्ति को जीवन बिताने के निकृष्ट की अपेक्षा श्रेष्ठ ढंगों का पसंद करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता।" ग्रीन ने स्वयं ने लिखा है—'व्यक्ति के बाहरी आचार-व्यवहार पर *प्रत्यक्ष रूप से*, किसी प्रकार के दण्ड की धमकी देकर कोई प्रतिबन्ध लगाना, सामान्य हित के विरुद्ध है। व्यक्ति के आचरण की सारी क्रियाएं, सामान्य

हित की दृष्टि से, स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिये। सरकारी प्रतिबन्ध सामान्य हित के स्वाभाविक संचालन में हस्तक्षेप हैं और उस क्षमता के विकास मे रुकावट है जो अधिकारों के लाभकारी प्रयोग की आवश्यक शर्त है।.........
अतः राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप रुकावटें दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिये।" यह उल्लेखनीय है कि—

"ग्रीन के विचार में इस सिद्धान्त से निर्हस्तक्षेप के पक्ष में कोई तर्क नहीं मिलता। ऐसी भी परिस्थितियां होती हैं जिनमे बहुत से व्यक्ति राज्य के हस्तक्षेप के विना, जिससे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो सके जिसमें उन्हें बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिकतम उन्नति करने का अवसर मिल सके, कोई विवेकपूर्ण लक्ष्य नहीं चुन सकते, एक ऐसे व्यक्ति के सामने जिसमें उच्च कोटि की सहज प्रतिभा है, उसकी पूर्ण आत्मोन्नति के मार्ग में अनेक प्रकार की ऐसी वाधाएं आ सकती हैं जो उसको अज्ञानता तथा उसके निवारण के साधनों के अभाव के कारण या दूसरों के, जिनसे उसका काम पड़ता है छल या वेपरवाही के कारण उत्पन्न होती हैं। सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था, कारखानों के निर्माण तथा प्रवन्ध के नियमन और मालगुजारी की शर्तों की परिभाषा करने में तथा खाद्य पदार्थों में मिलावट पर प्रतिबन्ध लगाने में राज्य माता-पिताओं, कारखानों के मालिकों, जमींदारों तथा भोजन सामग्री का प्रवन्ध करनेवालों में बलपूर्वक नागरिक श्रेष्ठता उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता; वह तो वालकों, कारखानों के मजदूरों, किसानों तथा उपभोक्ताओं में नागरिक श्रेष्ठता की जो सम्भावनाएं हैं, उन्हें स्वतन्त्र करने की चेष्टा करता है।"[1]

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहां तक होगा, तथा वाधाओं को दूर करने के लिये राज्य क्या-क्या करेगा इसकी कोई निश्चित सीमायें ग्रीन ने निर्धारित नही की है किन्तु उसने अपनी समकालीन व्यावहारिक परिस्थितियों को देखते हुए कुछ उदाहरणों द्वारा इस ओर सकेत अवश्य किया है। ऋणात्मक अथवा नकारात्मक (Negative) दृष्टि मे वह मानता है कि अज्ञानता, वर्वरता आदि का निराकरण करके राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रवन्ध करना चाहिये, राज्य को भूमि व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में रखना चाहिये, व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिये, मद्यपान का निषेध करना चाहिये, भिखमगेपन को मिटाना चाहिये, आदि। ग्रीन इन्हें मानव के विकास के मार्ग की वाधायें मानता है और इसीलिये इन्हे दूर करने के राज्य के प्रयत्नों की वकालत करता है। वार्कर के कथनानुसार "ग्रीन स्वाधीनता की सृजना के लिये वल का प्रयोग करता है।"

ग्रीन का उपरोक्त दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आनेवाली अड़चनों के विरुद्ध अड़चनें लगाना है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे वार्कर का कथन है कि "ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कृत्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन वाधाओं को हटाने

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४४८–४६

तक ही सीमित है जो मानवीय क्षमता को यह कार्य जो उसे करना चाहिये, करने से रोकती है। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठतर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कृत्य नहीं है। उसका कृत्य उन बाधाओं को हटाना है जो श्रेष्ठतर बनने से रोकती है, जो कि एक नकारात्मक कृत्य है। इस दृष्टिकोण का आधार ग्रीन की व्यक्ति की नैतिक इच्छा की प्रकृति सम्बन्धी तथा उन उपायों और कार्य पद्धतियों की प्रकृति सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में वह काण्ट से बहुत प्रभावित है। उसकी *व्यक्ति का अच्छाई की प्रकृति* सम्बन्धी धारणा काण्ट के अपनी इच्छा करनेवाली स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त तथा उसके सहसम्बन्धी इस सिद्धान्त कि एक अच्छा कार्य तब ही अच्छा है जब वह करनेवाले के *द्वारा 'कर्त्तव्य की भावना' से किया जाता है, न कि* जब तक वह अपनी बाह्य प्रवृति के अनुसार 'कर्त्तव्यशील' के द्वारा निर्धारित हुई है, स्वतन्त्र रीति से स्वनिर्धारित कार्य इस अर्थ में कि वह अपने प्रति अपने *कर्त्तव्य की भावना के अनुसार कार्य करती हुई स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा* निर्धारित हुआ हो, ही एक मात्र नैतिक कार्य है। ऐसी इच्छा की आन्तरिक दृष्टि से राज्य के सभी कार्यों की प्रकृति बाह्य ही होगी। राज्य अपने किसी कार्य द्वारा इसको सुनिश्चित *नहीं* कर सकता कि कार्य कर्त्तव्य की भावना से किये जायें। वह केवल कर्त्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त *जब वह* कर्त्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है तो यह कर्त्तव्य की भावना से किये जानेवाले कार्यों का क्षेत्र सीमित कर देता है। इसलिये नैतिक कार्य के क्षेत्र को सुरक्षित छोड़ *देने के लिये तथा इतना ही नहीं उसकी वृद्धि करने के लिये भी, राज्य को* स्वतन्त्र इच्छा की आन्तरिकता में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, वरन् उसके कार्य के रूप में प्रकट होने के मार्ग को सरल करना चाहिये।"

किन्तु चाहे बाह्य रूप से देखने पर राज्य के उपरोक्त कार्य नकारात्मक लगें, लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। ऐसा करने के लिए राज्य को *सकारात्मक कार्य करना ही पड़ता है। बार्कर के अनुसार राज्य के कार्यों* का उपरोक्त दृष्टिकोण दो कारणों से सकारात्मक है—'प्रथम, परिस्थितियों के निर्माण करने व बाधाओं को दूर करने के लिये, इनके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बात के सम्बन्ध में राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक है। राज्य को शक्ति के प्रयोग द्वारा उस शक्ति का प्रतिकार करना चाहिये जो स्वतन्त्रता की विरोधी है। दूसरे राज्य का सर्वोपरि उद्देश्य सदा सकारात्मक होता है। यह उद्देश्य सामान्य हित की प्राप्ति के लिये आत्म-निर्णय करने के लिये मानव प्रतिभा को स्वतन्त्र करना है। इससे बढ़कर और कोई सकारात्मक लक्ष्य नहीं हो सकता।'[1]

---

1 "*In the first place, in order to maintain conditions and remove obstacles, the state must positively interfere with everything tending to violate conditions or impose obstacles It must use force to repel a force opposed to freedom In the second place, its ultimate purpose is always positive Liberation of human capacity for self determination towards a common good is that purpose, and nothing can be positive.*"

ग्रीन के राज्य सम्बन्धी नकारात्मक कार्यों की बार्कर द्वारा की गई उपरोक्त मीमांसा का सार यही है कि नैतिकता के सम्बन्ध में राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह नैतिकता के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करे, बलात् नैतिकता किसी पर लादी नहीं जा सकती। ग्रीन के अनुसार शासन को ऐसी व्यवस्था करनी है जिसमें मनुष्य नैतिकता के सिद्धान्तों पर चलता हुआ, अपने कर्त्तव्यों का निष्काम भावना से पालन कर सके। इन कर्त्तव्यों को निभाने के लिये उपयुक्त अवस्था का निर्माण करना ही अधिकार है। बोसांके के अनुसार राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आनेवाली अड़चनों के विरुद्ध अड़चनें लगाना होना चाहिये। राज्य को इस प्रकार हस्तक्षेप का अधिकार देकर ग्रीन वास्तव में व्यक्तिवाद के विरुद्ध जा रहा है, परन्तु उसका दृढ़ मत है कि राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वन्त्रतता में कमी न होकर वृद्धि होती है क्योंकि इस हस्तक्षेप में ही समाज का हित निहित है :—"स्वतन्त्रता विरोधी शक्तियों को दबाने के लिये राज्य को बल प्रयोग अवश्य करना होगा।"

राज्य के कार्यों में ग्रीन इस कार्य की भी गणना करता है कि राज्य विभिन्न संघों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करता है। वह प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ वाह्य समन्वय करता है। ग्रीन का कहना है कि समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य को अन्तिम अधिकार सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णरूपेण न अपना लेने के कारण मैकआइवर ग्रीन की इन शब्दों में आलोचना करते हैं—

"प्रारम्भ से अन्त तक वह इसी का विवेचन करते हैं कि जिन परिस्थितियों में व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप में कार्य कर सकता है उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिये राज्य क्या कर सकता है और इसलिये उसे क्या करना चाहिये। पर उनके चिन्तन के आधारस्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करते कि राजनैतिक विधान से भिन्न अन्य साधनों से सम्पन्न जो दूसरे संघ हैं उनके अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उन्होंने इसका विचार किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि राज्य को क्या करना चाहिये, बल्कि प्रश्न यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है; क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियों से घिरा हुआ है, दूसरी कोटि के संगठनों से सीमित है जो अपने ढंग से अपने उद्देश्यों को पूरा कर रहे हैं। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के छोर तक पहुँचकर—उसे छूकर ही रह जाते हैं, उसका हल नहीं दे पाते।"[1]

---

1. "All through he is considering what the state can and therefore should do to secure the conditions within which man can act as a free moral being. But the poles of thought are still the individual and the state. He does not consider how both are affected by the existence of other associations with other instrumentalities than political law. Had he done so.

ग्रीन द्वारा बताये गये राज्य के उपरोक्त समस्त कर्त्तव्यों को निष्कर्ष रूप मे हमे यो प्रकट कर सकते है :—

(१) नैतिकता मे बाधा उपस्थित करनेवाली परिस्थितियों का राज्य दमन करे।

(२) राज्य सदाचरण, पवित्रता तथा सयम को प्रोत्साहित करे।

(३) राज्य उन साधनो की व्याख्या करे जिनसे नागरिकों में अधिकाधिक नैतिक भावनाओ एव चरित्र का विकास हो।

(४) राज्य ऐसे लोगो के लिए दण्ड की व्यवस्था करे जो नैतिक विधान मे बाधक हो।

(५) राज्य शिक्षा प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिशाप को समाप्त करे।

(६) राज्य सामान्य इच्छा एव सामान्य कल्याण मे प्रतिरोध उपस्थित करनेवाले मद्यपान को बन्द करने हेतु नियमों को लागू करे। राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने नागरिकों को मादक वस्तुओ के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करदे अथवा पूर्णरूप से समाप्त करदे।

(७) राज्य वैयक्तिक सम्पत्ति सबन्धी अधिकारो की रक्षा करे एव भूमि पर अपना नियन्त्रण लागू करे।

(८) राज्य विभिन्न वर्गों एव स्वार्थों में सामजस्य स्थापित करे और ऐसा कार्य करे जिससे बहुसख्य वर्ग को लाभ हो।

(९) राज्य प्रत्यक्ष रूप मे नैतिकता की अभिवृद्धि के लिये बल प्रयोग न करे।

(१०) वह अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित करके अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना मे सहायक बने। युद्ध का विरोध करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है।

उपरोक्त कार्यों से स्पष्ट है कि ग्रीन के अनुसार राज्य के कर्त्तव्य केवल निषेधात्मक ही प्रतीत नही होते अपितु हम देखते हैं कि व्यवहार मे वह राज्य के विधेयात्मक कार्यो पर भी बहुत बल देता है। अपने सम्पत्ति विचारो के कारण वह पूंजीवाद और समाजवाद के मध्य के अन्तकाल का विचार सिद्ध होता है।

(७) राज्य और समाज (State and Society) :—ग्रीन ने राज्य को समाजो का समाज माना है। इन समाजो का बनानेवाला यद्यपि राज्य नही है किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित समन्वय स्थापित करने का अधिकार (Right of Adjustment) राज्य को है, जैसा कि बार्कर ने लिखा है—

---

he would have seen that the problem is not simply what the state should do but also what the state is permitted to do, surrounded as it is by other powers limited as it is by definite organisations of other kinds, fulfilling function of their own in ways of their own Green remains on the verge of the modern problem of sovereignty"

—*Mc Ivor* : The Modern State, Page 471

"राज्य प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थों के साथ समन्वय करता है।"[1] इसी समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण ग्रीन राज्य को एक अन्तिम अधिकार सत्ता प्राप्त सस्था मानता है। इस प्रकार उसका सिद्धान्त बहुत कुछ बहुलवादी (Piuralist) सा लगता है। लेकिन बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णत: न अपना लेने के कारण ही वह मैक आइवर की इस आलोचना का, जिसे पहले भी उद्धरित किया जा चुका है, शिकार बनता है कि, "प्रारम्भ से अन्त तक वह इसी का विवेचन करते हैं कि जिन परिस्थितियों मे व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप में कार्य कर सकता है उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिये राज्य क्या कर सकता है और उसे क्या करना चाहिये। पर उनके चिन्तन के आधार स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करते कि राजनैतिक विधान से भिन्न अन्य साधनों से उत्पन्न जो दूसरे संघ हैं उनके अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उन्होंने इसका विचार किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल इतना ही नही है कि राज्य को क्या करना चाहिये, बल्कि प्रश्न यह है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है, क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियो से घिरा हुआ है, दूसरी कोटि के सगठनो मे सीमित है जो अपने ढंग से अपने उद्देश्यों को पूरा कर रहे हैं। ग्रीन प्रमुखता की आधुनिक समस्या के छोर तक पहुँचकर उसे छूकर ही रह जाते है उसका हल नही दे पाते।"

प्राचीनकाल में अरस्तु ने राज्य को अनिवार्य एवं स्वाभाविक बतलाते हुये उसे 'समुदायो का समुदाय' (Association of Associations) कहा था। ये समुदाय जिनसे अभिप्राय है विशिष्ट उद्देश्य तथा लक्ष्य के आधार पर व्यक्तियों का क्रमबद्ध रीति से चलनेवाला सामूहीकरण, राज्य के पूर्व बने थे। चाहे ये राज्य के कारण न बने हो लेकिन इनके सरक्षण में राज्य का योगदान अवश्य रहा था और रहता है। कान्ट ने राज्य को आवश्यक, लाभदायक, नैतिकता और सुरक्षा मे सहायक सस्था माना था। कान्ट के विचारो के आधार पर ही ग्रीन ने भी राज्य को लोक-सम्मति पर आधारित मौलिक समुदाय माना है और उसे व्यक्ति एव समाज के मध्य महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया है।

ग्रीन ने अन्य अनेक विचारकों की भांति राज्य और समाज के बीच गड़बडी पैदा नही की है, प्रत्युत् उसने दोनों को अलग-अलग स्वरूपो मे ग्रहण किया है। उसने यह प्रस्थापित करने की चेष्टा की है कि राज्य और समाज परस्पर विरोधी न होकर भी एक दूसरे से भिन्न है—

(i) राज्य संगठित शक्ति (चाहे वह समाज या बहुजन समाज की हो) का प्रतीक है, शक्तिसम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है, लेकिन इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का द्योतक है क्योंकि समाज की

---

1. "The state adjusted for each the system of rights internally. It also adjusted the system of right to the rests externally."
—*Barker* : Political Thought in England

रचना विविध और विभिन्न वर्गों, तत्वों, स्वार्थों और व्यक्तियों (Heterogeneous elements) से होती है।

(ii) समाज मे व्यक्ति और राज्य के मध्य अनेक परिवार, धर्म-संघ, आर्थिक-सघ, व्यावसायिक एव औद्योगिक-सघ, शिक्षण सघ आदि उपयोगी समुदाय होते है जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, लेकिन राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों मे नियन्त्रण तथा सामजस्य बनाये रखना है। इन्हे मिटाना या छीनना राज्य का उद्देश्य नही होता।

(iii) समाज का अपने सामने एक व्यापक उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य है-अपने सदस्यो का सामाजिक जीवन मे आत्म विकास के लिये पूरी तरह से नैतिक भाग लेना (Full moral participation in social life for highest self development)। किन्तु इस लक्ष्य अथवा उद्देश्य की घोषणा मात्र ही काफी नही होती। इसके अनुकूल वातावरण एव साधन तैयार करना राज्य का ही काम है। इसीलिए समुदायो की तुलना मे राज्य को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(iv) समाज मे बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। समाज व्यक्ति के मार्ग के अवरोधो को दूर करने मे भी अक्षम है। उसमे यह कार्य करने के लिये आन्तरिक शक्ति स्वत: नही है। राज्य के माध्यम से ही समाज के उद्देश्य की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारो, विधियो, नियमो आदि का स्रोत है।

उल्लेखनीय है कि ग्रीन राज्य और समाज का भेद करते समय भी यह मानकर चलता है कि वे व्यक्ति के नैतिक और भौतिक समृद्धि मे सहायक ही होते हैं। समुदाय महत्त्वपूर्ण है क्योकि ये मानव को पूर्णता प्रदान करते हैं।

(८) विश्वबन्धुत्व एवं युद्ध पर ग्रीन के विचार (Green on Universal Brotherhood and war)—ग्रीन विश्वबन्धुत्व एव विश्व-शान्ति के अग्रगण्य समर्थको मे से है। उसकी विश्व भ्रातृत्व की धारणा इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का अधिकार है। वह युद्ध की निन्दा और विश्व शान्ति का ढाल इसीलिये पीटता है क्योकि उसकी यह मान्यता है कि युद्ध एव सघर्ष जीवन के अधिकार के विरुद्ध हैं। जीवन के अधिकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय जागृति विश्व-समाज का निर्माण करती है। ग्रीन यह मानता है कि मानवता के सामूहिक हित मे ही व्यक्ति का हित निहित है, और इसीलिये कान्ट की भाति वह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का पक्षपाती है और चाहता है कि वह स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा पूर्ण स्वीकृति पर आधारित हो। हीगल के सर्वथा विपरीत ग्रीन का विश्वास है कि राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार सहिता (International code of morality) सम्भव है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना कोरी कल्पना है। वह लिखता है—'राष्ट्रीय ईर्ष्याओं के घट जाने पर और युद्ध के उन गहरे जमे हुए कारणों के दूर हो जाने से, जैसा कि हम देखते है, राज्यो की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न साकार हो सकता है, जिसकी शक्ति स्वतन्त्र राज्यों की स्वीकृति पर निर्भर रहे।" ग्रीन की व्याख्या

के अनुसार वर्ण-विभेद या रंग-भेद की नीति विश्व-शान्ति में घातक सिद्ध होती है। अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व मानने का मतलब यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को पूरी मान्यता दी जावे और क्षेत्रीय सम्प्रभुता (Territorial Sovereignty) की संकीर्णता मानली जावे। दूसरे शब्दों मे, ग्रीन के मत से वाह्यत: (Externally) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान या कानूनों से सीमित हैं। इस दृष्टि से वह हीगल से सर्वथा भिन्न है। मानव-जाति के सार्वभौम बन्धुत्व पर विश्वास करने के कारण ग्रीन कान्ट के एकदम सन्निकट हैं। ग्रीन का विश्व या सार्वभौम बन्धुत्व में निहित अभिप्राय वेपर के शब्दों में यही निकलता है कि "यदि ग्रीन का राज्य अपने भीतर के कम बड़े समाजों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के बड़े समाजों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिये।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रीन के अनुसार राज्य न तो परम-पूर्ण है और न सर्व शक्तिमान। वह भीतर और बाहर दोनों ओर से सीमित है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण पर आस्था रखते हुये युद्ध के प्रति ग्रीन की धारणा हीगल और उसके जर्मन शिष्यों की धारणा से बिल्कुल भिन्न है। ग्रीन का कहना है कि युद्ध कभी भी एक पूर्ण अधिकार (Absolute right) नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्षक अधिकार (Relative right) है। यह मनुष्य के स्वाधीन जीवन बिताने के अधिकार का अतिक्रमण करता है। "एक पूर्वकृत (Previous) बुराई या अपराध को ठीक करने के लिये एक दूसरी बुराई के रूप मे उसका औचित्य माना जा सकता है, अर्थात् युद्ध एक निर्दय आवश्यकता (Cruel necessity) के रूप में ही उचित है। पर फिर भी है वह एक अपराध ही।"

ग्रीन के अनुसार युद्ध एक नैतिक अपराध है (A moral wrong)। युद्ध कभी भी एक सही बात नहीं हो सकती। वह उसे अपूर्ण राज्य (Imperfect state) का चिन्ह मानता है। ग्रीन का विश्वास है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ युद्ध जैसी घृणित वस्तु स्वत: ही लुप्त हो जायेगी। युद्ध पर विचारों के विषयों में ग्रीन हीगल का बड़ा तीव्र आलोचक है और युद्ध की अनावश्यकता के प्रतिपादन में वह उसके (हीगल के) एक-एक तर्क का उत्तर देता हुआ यह निष्कर्ष निकालता है कि युद्ध प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने के अमूल्य अधिकार को भंग करता है अत: वह किसी भी दृष्टि से न्याय संगत नहीं है। युद्ध के लाभों के खण्डन में ग्रीन हीगल के तर्कों का इस प्रकार उत्तर देता है—

१. यद्यपि हीगल के कथनानुसार सिपाही हत्यारे से भिन्न हैं, फिर भी युद्ध एक सामूहिक हत्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

२. यद्यपि युद्ध-भूमि में कोई व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति को मारने के लिये सामान्यत: शस्त्र नहीं चलाता, फिर भी युद्ध-क्षेत्र की हत्याओं का जिम्मेदार होता तो कोई न कोई व्यक्ति है ही।

---

1. "And if Green's state must preserve the rights of the lesser communities within it, it must respect the rights of the larger communities outside it."

—*Wayper* Political Thought, Page 186

३. हीगल का यह कथन पूर्णतः असत्य है कि युद्ध में सिपाही स्वेच्छा से स्वयं सेवक की भांति प्राणों का बलिदान करते हैं। यह हो सकता है कि लोग सेना मे स्वेच्छा से भर्ती होवे, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि उन्होंने मरने के लिये ही प्रवेश लिया है। राज्य तो सभी की भलाई चाहता है। सैनिकों को भी स्वतन्त्र जीवन का अधिकार प्राप्त है। अतः यदि राज्य सैनिकों को खतरे मे डालता है तो वह उनके जीवित रहने के अधिकार को भग करता है। इस दृष्टि से युद्ध मे हुई मृत्यु हत्या के ही समान है, क्योंकि यह कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं, बल्कि इसमें तो जान बूझकर व्यक्तियों को मृत्यु के मुख मे ढकेला गया है।

४. युद्ध के समर्थन मे यह तर्क थोथा है कि इससे मनुष्य मे वीरता और आत्म-बलिदान जैसे कुछ विशिष्ट गुणों का विकास होता है तथा मनुष्य के नैतिक विकास के उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियों के बनाये रखने का यह (युद्ध) एकमात्र साधन है। इस तर्क के बल को स्वीकार करते हुये भी ग्रीन का कहना है कि युद्ध प्राय उच्च आदर्शों की अपेक्षा तुच्छ स्वार्थों के लिये ही लडे जाते हैं और युद्ध मे *जीवन का संहार सदा ही एक अपराध-कार्य है।* मानव जीवन का नाश करना सब परिस्थितियों मे दुष्कर्म है। यह सच है कि फ्रास मे सीजर के विजय अभियानों और भारत में अग्रेजों युद्धों के बाद निश्चय ही लाभदायक परिवर्तन हुये, लेकिन ग्रीन का तर्क है कि ये परिवर्तन अन्य साधनों से भी ठीक उसी रूप मे लाये जा सकते थे। युद्ध तो मनुष्य की दुष्ट प्रकृति की उपज है। मानव स्वार्थ की वृद्धि ही युद्ध का उद्गम स्थान है।

५. युद्ध कभी अपरिहार्य नही हो सकते। गत युद्ध इसलिये हुआ कि सरकारो ने अपने कर्त्तव्यो का पालन ठीक-ठाक ढग से नहीं किया।

६ ग्रीन का कहना है कि एक राज्य की विजय अनिवार्य रूप से दूसरे राज्य की हानि नहीं होती। युद्धो का अस्तित्व इसलिये नही है कि राज्यो का अस्तित्व स्थिर है। युद्धो का अस्तित्व तो इसलिये है कि राज्य सर्वसाधारण के अधिकारो की सुरक्षा नही करते। कोई भी राज्य युद्ध करके मानवता के साथ बुराई करने मे न्यायपूर्ण नही होता, हा किन्ही परिस्थितियों विशेष मे कोई राज्य विशेष भले ही न्यायपूर्ण हो जाये।

७ "'युद्ध की स्थिति राज्य की सर्व-शक्तिमानता की द्योतक नहीं है" वरन् वह तीव्र राष्ट्रीयता व निकृष्ट कोटि की देश-भक्ति (Chauvanism) को प्रोत्साहित करती है। ग्रीन का कहना है कि वास्तविक राष्ट्रीयता 'विश्व व्यापक राष्ट्रीयता' है। *विश्व-बन्धुत्व के भाव जागृत होने पर ही उचित राष्ट्रीय* उन्नति हो सकती है। ग्रीन के अनुसार देश-भक्ति अन्य राज्यो के प्रति ईर्ष्या-भावना या उनके विरुद्ध लडने की भावना नही होती। देश-भक्ति को सैनिक रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं है। युद्धो से कुछ भी प्राप्त नही होता अपितु विनाश और दैन्य की वृद्धि होती है।

ग्रीन के विचारो का सार यही है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्त के प्रति सच्चा है तो वह दूसरे राज्यो के साथ सघर्ष करके मनुष्य के मनुष्य रूप में प्राप्त अधिकारो का उल्लघन नही कर सकता। राज्य की पूर्ण स्थिति मे युद्ध उसका आवश्यक गुण नही है।

निःसन्देह ग्रीन के युद्ध-विरोधी विचार बड़े ही श्रेष्ठ एवं प्रवल तर्क-सम्मत हैं। बार्कर ने कहा है कि ग्रीन द्वारा युद्ध की निन्दा उसके व्याख्यानों में सर्वश्रेष्ठ और ओजपूर्ण है।[1]

(९) प्रतिनिधि शासन पर ग्रीन के विचार (Green on Representative Government)—कान्ट और हीगल के विपरीत, ग्रीन, अंग्रेज विचारक होने के कारण, प्रतिनिधि सरकार में भारी आस्था रखता है और लोकतान्त्रिक पद्धति के आधार पर चुने हुये लोगों के शासन दृढ़ समर्थक है। ग्रीन राजनीति में एक सक्रिय उदारवादी (Active liberal) था, शास्त्रीय पण्डित नहीं। "मध्य वर्ग और राज धर्म-अस्वीकृति (Non-conformity) के प्रति उसकी सर्वदा सक्रिय सहानुभूति रही है। इसके अतिरिक्त उसे शिक्षा और अनुमति व्यवस्था के सुधार (Licensing reform) से बहुत अधिक अभिरुचि थी............आक्सफोर्ड की नागरिक राजनीति में उसने कुछ ऐसा भाग लिया था कि उसका नाम विश्वविद्यालय में एक परम्परा और आदर्शवाद बन गया है। राष्ट्र की राजनीति में वह जॉन ब्राइट के समुदाय का उदारतावादी था और १८६७ के बाद वह राजनैतिक मचों पर आया।"[2]

(१०) दण्ड पर ग्रीन के विचार (Green on punishment)—दण्ड सम्बन्धी ग्रीन की विवेचना उसके राज्य-कार्य सिद्धान्त का एक अभिन्न अंग है, राज्य के कार्यों के भाग के रूप में ही दण्ड-व्यवस्था की समस्या की विवेचना की गई है। अपराधी की इच्छा, जो एक समाज-विरोधी इच्छा है, एक स्वतन्त्रता-विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थिति में दण्ड उस शक्ति का विरोध करनेवाली शक्ति बन जाता है। अधिकारों का उपयुक्त प्रयोग सम्भव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों के उचित अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य को दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। **ग्रीन के अनुसार दण्ड का विधान इतना महत्वपूर्ण है कि यदि समाज की इच्छा से कभी समाज को मटियामेट करने का निर्णय लिया जाय तो समाज का अन्त करने से पूर्व खूनी व्यक्ति को फासी पर पहले ही चढ़ा देना चाहिये।**

---

1. "Green's condemnation of war "constitutes one of the finest and strongest parts of his Lectures."
—*Barker* : Political Thought n England, Page 36

2. "He had always a lively sympathy for the middle class and for non-conformity. He had, besides, a keen interest in education and licensing reform....To the need of temperance reform his attention had already been drawn by his own experience of life....In the civic political of Oxford he took a share which has made his name a tradition and an example in the University. In national politics he was a liberal of the school of John Bright, and from 1867 onwards he appeared on political platforms."
—*Barker* : Political Thought in England, Page 22-23

दण्ड का विधान होना चाहिये अथवा दण्ड आवश्यक है—इस बात से तो कोई इन्कार नहीं करता। किन्तु दण्ड के स्वरूप और उद्देश्य के विषय में राजदर्शन के विचारकों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। कुछ दण्ड को प्रतिशोधात्मक (Retributive) समझते हैं, कुछ प्रतिरोधात्मक (Deterrent or Preventive) और कुछ सुधारात्मक (Reformative)। ग्रीन ने अपने दण्ड सिद्धान्त की जो विवेचना की है उससे यही परिणाम निकलता है कि उसके इस सिद्धान्त में प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक तीनों तत्व विद्यमान हैं। प्रतिशोधात्मक तत्व इस अंश तक विद्यमान है कि दण्ड के द्वारा अपराधी के मन में *यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उसके* किये हुए कर्म का ही प्रतिफल है। प्रतिरोधात्मक तत्व इस रूप में विद्यमान है कि दण्ड का उद्देश्य समाज में अपराध के प्रति *भय का संचार करना है ताकि मनुष्य* अपराधी मनोवृत्ति को त्याग दे। सुधारात्मक तत्व इस रूप में विद्यमान है कि दण्ड के द्वारा अपराधी में आन्तरिक सुधार की ज्योति जलनी चाहिए। यद्यपि ग्रीन इन तीनों ही तत्वों पर न्यूनाधिक बल देता है किन्तु इन तीनों में सर्वाधिक मान्यता उसके द्वारा प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक (Deterrent or Preventive) सिद्धान्त को ही दी गई है। अब स्पष्टता के लिये हम इन तीनों ही तत्वों पर पृथक से जरा *विस्तारपूर्वक* चर्चा करेंगे।

(i) प्रतिशोधात्मक तत्व—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि अपराधी से बदला लिया जाय। किन्तु ग्रीन के अनुसार यह विचार त्रुटिपूर्ण है। बदला एक विशेष स्थिति है जबकि विधि एक सार्वजनिक वस्तु है। जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति समाज में बदले की भावना जागृत नहीं होती। भला समाज अपने नागरिकों के प्रति बदले अथवा प्रतिशोध जैसे निम्न स्तर की भावना कैसे रख सकता है? बदले या प्रतिशोध में वैर भाव निहित होता है। *किन्तु राज्य जब दण्ड व्यवस्था करता है तो उसमें अपराधी* के प्रति कोई वैर-भावना विद्यमान नहीं होती। राज्य वैर-भाव से कभी दण्ड *नहीं देता। राज्य का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होकर केवल* अधिकारों को भंग होने से रोकना है। दण्ड विधान का न्यायपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी व्यक्ति को इस बात का भान होता है कि अधिकार क्या है और उसने कौन से अधिकार का उल्लंघन किया है जिसके कारण उसे दण्ड मिला है आवश्यक केवल यह है कि अधिकार सामान्यहित पर आधारित हो। यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वयं ही यह विदित हो जायगा कि दण्ड उसी के कार्यों के प्रतिफल है, और इसी रूप में दण्ड प्रतिशोधात्मक कहा जा सकता है, न कि इस बदले के विचार से कि 'आंख के बदले आंख और दांत के *बदले दांत* (An eye for an eye and a tooth for a tooth)' निकाल लो। दण्ड का यह तरीका तो *एकदम असभ्य और जगली* है। दण्ड के इस तरीके का बचाव यह कह कर किया जाता है कि अपराधी को अपराध की तीव्रता के अनुपात में पीड़ा देना चाहिये और दी जाती है। लेकिन इस दृष्टिकोण से भी यह बात गलत है। दण्ड की नाप-तौल नैतिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है। विभिन्न व्यक्तियों में पीड़ा का परिमाण नापा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ एक पहलवान को घूंसा मारने से उतनी पीड़ा नहीं होती जितनी एक साधारण व्यक्ति को। राज्य न तो दण्ड द्वारा होने वाले कष्ट की

नाप-तौल कर सकता है और न अपराध नैतिक दोष की ही नाप जोख हो सकती है। यदि राज्य के लिये यह सम्भव भी हो कि वह दण्ड से होने वाली पीड़ा और अपराध के नैतिक दोष के मध्य कोई अनुपात स्थिर कर ले तो प्रत्येक अपराध के लिए भिन्न प्रकार के दण्ड की व्यवस्था करनी होगी, और इसका स्वाभाविक अर्थ होगा कि दण्ड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमों की समाप्ति।

(ii) प्रतिरोधात्मक या निवारणात्मक तत्व—ग्रीन ने इसी तत्वों को अत्यधिक महत्व दिया है क्योंकि उसके मतानुसार दण्ड का मुख्य उद्देश्य इस सिद्धान्त के आधार पर "अपराधी को पीड़ा के लिए पीड़ा देना नहीं है, न ही मुख्य रूप से भविष्य में उसको फिर से अपराध करने से रोकना है, वरन् इसका उद्देश्य उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय का संचार करना है जो अपराध करने के लिए उद्यत हैं।"[1] दण्ड का उद्देश्य उन वाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा के कर्म के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन बल इस बात पर देता है कि "दण्ड की धारणा में निहित बात यह है कि दण्डित व्यक्ति में अपने कार्यों को सामान्य हित की भावना द्वारा निर्धारित करने की सामर्थ्य है और दण्ड देने वाले अधिकारी को जनहित पर आधारित अधिकार का विचार है। दण्ड वहां भी न्यायोचित नहीं हो सकता जहां व्यक्ति को ऐसे कार्य के लिए दण्डित किया जाय जो कि माने हुए अधिकार को भंग न करता हो। दण्ड का मुख्य रूप तो प्रतिरोधात्मक अथवा निवारात्मक ही है अर्थात् समाज में दण्ड से भय का ऐसा संचार कर देना है कि दूसरे व्यक्ति जो अपराध करने को उद्यत हों वे रुक जावें। दण्ड प्रतिशोधात्मक केवल इसी अर्थ में होता है कि अपराधी को यह अनुभव होता है कि दण्ड के रूप में उसे जो मिला है उसका वह पात्र है, और दण्ड उसके ही कर्म का प्रतिफल है।

ग्रीन ने प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त में यह बुराई देखी है कि इसमें किसी व्यक्ति को, दूसरे व्यक्तियों को शिक्षा देने के लिए साधन बना लिया जाता है। ग्रीन तो कांट के इस विचार में विश्वास रखता है कि व्यक्ति स्वयं साध्य है, साधन नहीं। फिर भी वह इस प्रतिरोधात्मक या निवारणात्मक या प्रतिबन्धक सिद्धान्त को कम महत्व नहीं देता। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड विधान को न्यायपूर्ण होने के लिए ग्रीन यह भी आवश्यक समझता है कि अपराधी को जिस अधिकार के उल्लघन के लिए दण्डित किया जा रहा है, वह काल्पनिक न होकर वास्तविक है। यह भी आवश्यक है कि केवल उतना ही दड दिया जाना चाहिये, जितना कि पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक बकरी चुराने के अपराध में मृत्यु दण्ड दे देना न्याय नहीं है। प्रतिरोधात्मक सिद्धांत के अनुसार कठोर दण्ड का अर्थ ऐसा दण्ड होगा जिससे अन्य लोगों के मन में अधिक भय उत्पन्न हो। अपराध की गम्भीरता इस बात पर निर्भर होगी कि

---

1. "The primary object of punishment is not to cause pain to the criminal for the sake of causing it, nor chiefly for the sake of preventing him from committing up the crime again but to associate terror with the contemplation of the crime in the minds of others who might be tempted to comm.t it."
—*Green*

जिस अधिकार का उल्लंघन किया है—वह कितना महत्वपूर्ण है ? इसी के अनुपात में भय का संचार किया जाता है। दण्ड देने का और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य अपराध को सार्वजनिक बनाने से रोकना है। ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य नकारात्मक होता है। इसीलिए वह दण्ड के निवारणात्मक या प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त को सबसे अधिक मान्यता देता है।

(iii) [illegible] सिद्धांत के अनुसार अपराधी [illegible] को रोकने में अत्यधिक [illegible] सिद्धान्त के साथ सबध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जो उसे दिया गया है उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य के समाज-विरोधी रूप को समझ कर तदानुसार पश्चात्ताप करता है, वहा तक दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। दूसरे शब्दों में "वह सुधारात्मक उसी सीमा तक होता है जहा तक कि वह वास्तव में प्रतिरोधात्मक होता है।" स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारात्मक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुफल है जिसका अभिप्राय यही है कि अपराधी अपनी अपराध करने की आदत से मुक्त हो जाता है। अपराधी में भी सुधार की क्षमता होती है, इसीलिए ग्रीन मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास को उचित नहीं मानता। उसके अनुसार मृत्यु दण्ड केवल उन्हीं परिस्थितियों में दिया जाना चाहिये जब राज्य यह मत निश्चय करले कि अमुक व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देना समाज-हित की दृष्टि से उचित है और यह अपराधी सुधार से परे है।

दण्ड सुधारात्मक इस अर्थ में नहीं होता कि इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अपराधी का नैतिक सुधार करना हो। दण्ड का उद्देश्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक होता है क्योंकि यह अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी की इच्छा में सुधार करता है। दण्ड के पीछे राज्य का पशु बल नहीं, अपितु समाज का नैतिक बल होता है। राज्य का न्यायिक कार्य अपराधी के नैतिक पतन को न देखना है और न ही देख सकता है। 'अपराध में निहित नैतिक पतन की मात्रा का सम्बन्ध अपराधी के ध्येय और चरित्र से होता है जिसे न्याय–रक्षक नहीं जान सकता।' राज्य को अपराधी के नैतिक पतन पर ध्यान भी नहीं देना चाहिये क्योंकि उसका कार्य दुष्टता को दण्डित करना नहीं है अपितु अधिकारों को भंग होने से रोकना है, उन स्वस्थ बाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा के कर्म के लिए आवश्यक है। ग्रीन ही के शब्दों में—

"राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप पर नहीं, बल्कि अधिकारों और अपराधों पर रहती है। जिस अपराध के लिए वह दण्ड देता है वह उसमें निहित गलती को देखता है, किन्तु बदला लेने के लिए नहीं, अपितु भविष्य में अधिकारों की रक्षा करने के लिए गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिए।"[1]

---

1 "The state looks not to virtue and vice but to rights and wrongs. It looks back to the wrong done in the crime it punishes, not, however, in order to avenge it, but in order

ग्रीन के दण्ड सम्बन्धी विचारों का मूलभूत सार यही है कि दण्ड का प्रधान उद्देश्य है भविष्य में अपराध का निवारण और इस उद्देश्य की सिद्धि का साधन यह है कि सार्वजनिक जनता की धारणा में अपराध के साथ इतना भय स्थापित कर दिया जाय जितना कि उस अपराध का निवारण करने के लिए आवश्यक हो। दण्ड के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं जो अपने आप मे बड़े महत्वपूर्ण हैं। बार्कर के कथनानुसार—

"प्रत्यक्ष रूप से यह (दण्ड) अधिकारों की विरोधी शक्ति को रोकने वाली एक शक्ति है—यह एक ऐसी शक्ति है जिसकी मात्रा दूसरी शक्ति के अनुपात में होनी चाहिये (जिसका मापदण्ड उन अधिकारों का विनाश है जिन्हें कि यह सुरक्षित रखता है) और जिसका उद्देश्य उसका अन्त करना और उसके अन्त द्वारा उस अधिकार-योजना को पुनः प्रतिष्ठित करना होना चाहिये, जिसका कि विरोध किया गया हो। अप्रत्यक्ष रूप से दण्ड इच्छा का सुधार है और प्रभावशाली रूप से प्रतिरोधात्मक होने के लिये उसे ऐसा होना भी चाहिये, अथवा (क्योंकि इच्छा का सुधार अभ्यन्तर से ही किया जा सकता है) वह एक ऐसा आघात है जो कि अपराधी को अपनी इच्छा का सुधार करना सम्भव बनाता है। अपने एक दूसरे रूप में भी दण्ड बाधाओं को दूर करता है; क्योंकि वह बाधा जिसका कि अपराधी विरोध करता है, केवल शक्ति ही नही इच्छा भी है।"[1]

(११) सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार (Green on Property)— सम्पत्ति के विषय पर भी अन्य अनेक प्रश्नों की भांति ग्रीन ने अपने समय की तुलना में एक उदारवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया है। न तो वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का हर पहलू से समर्थन करता है और न ही वह आदि से अन्त तक उसकी आलोचना करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि न तो वह व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। वह सामान्यतः सम्पत्ति का समर्थन इस आधार

---

to the consideration of the sort of terror which needs to be associated with such wrong doing in order to the future maintenance of rights."

—*Green*

1. "Directly, it is a force preventive of a force opposed to rights—a force whose quantity must be adjusted to the quantity of that other force (as measured by the destruction of rights which it produces), and whose puropse must be its annihilation and through its annihilation, the restoration of the whole scheme of rights opposed. Indirectly punishment is, and in order to be effectively preventive must be a reformation of the will, or rather (for the will can only be reformed from within) a shock which makes possible the criminal's reformation of his own will. Even in this latter aspect punishment is still a removal of obstacles; for the obstacle which the criminal opposes is not only a force, but a will."

—*Barker* : Political Thought in England, Page 50

पर करता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये वह अनिवार्य है । सम्पत्ति मनुष्य के स्वाधीन जीवन व अधिकार की एक उपसिद्धि (Corollary) है अर्थात् सम्पत्ति का अधिकार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का ही एक उपसिद्धान्त है जो आवश्यक रूप से उसमे उत्पन्न होता है । सम्पत्ति के स्वामित्व से नैतिक व्यक्ति को सामान्य हित के लिये जीवित रहने की और अपने सामाजिक कार्यों को पूरा करने की शक्ति बढती है । सम्पत्ति अर्जन का व्यक्तिगत विकास का आधार मानते हुए भी एक सच्चे आदर्शवादी की भांति वह इस सम्बन्ध में सामाजिक हित पर दुर्लक्ष नहीं करता है । सम्पत्ति सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण के आधार पर सम्पत्ति की सर्वोत्तम परिभाषा यह होगी कि सम्पत्ति उन समस्त साधनों का भाग है जो मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त को स्वच्छन्द विकास और सामान्य हित में योग देने के लिये आवश्यक हैं । स्वतन्त्र अभि व्यक्ति की माग करते हुए स्थायी आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है वह उसी का फल है ।'

ग्रीन की सम्पत्ति विषयक धारणा के बारे में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं— (१) ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इस आधार पर बल नहीं देता कि उसका प्रयोग सदैव ही सामान्य हित के लिये ही किया जाय (२) वह सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करता है, एव (३) सम्पत्ति की असमानता को अस्वीकार करते हुए भी वह अनियन्त्रित धन-संचय को उचित नहीं समझता ।

ग्रीन जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करता है तो वह यह स्वीकार करता है कि सम्पत्ति मानव योग्यता की सिद्धि का प्राकृतिक साधन है स्वतन्त्र जीवन का एक आवश्यक साधन है और यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को सदैव ही सामान्य हित के लिये प्रयुक्त करे । ग्रीन केवल इस बात पर बल देता है कि सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य सामाजिक हित होना चाहिये । उसका विश्वास था कि सम्पत्ति के माध्यम से वस्तुओं को अपने अधिकार में करके एव उन्हें मानवीय आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देकर मनुष्य जहा एक ओर अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है वहा दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान उत्तम मनोभावों को भी व्यक्त कर सकता है । ग्रीन के स्वय के शब्दों में —

'सम्पत्ति का औचित्य यह है कि समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा चरितार्थ करने के लिये आवश्यक साधनों को प्राप्त करने और उन्हें अपने अधिकार में रखने की शक्ति सुरक्षित की जानी चाहिये ऐसी इच्छा जिससे सामाजिक हित की ओर उन्मुख रहने की सम्भावना हो । उसकी इच्छा निश्चित रूप से इस लक्ष्य की ओर जाती है या नहीं इससे उसके अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यह शक्ति तो प्रत्येक व्यक्ति को सुर क्षित ही होनी चाहिये चाहे उसका वह व्यवहार में कुछ भी प्रयोग न करे जब तक कि वह अन्य व्यक्तियों की इसी प्रकार शक्ति के प्रयोग में हस्तक्षेप न करे । इसका आधार यह है कि इसका अनियन्त्रित प्रयोग मनुष्य

द्वारा उस स्वतन्त्र नैतिकता की प्राप्ति की शर्त है जो कि सर्वोच्च शुभ है।"[1]

सम्पत्ति की असमानता सम्भव है और उचित है—इस पर विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन ने लिखा है कि—

"सामाजिक हित के लिये यह जरूरी है कि समाज में अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग स्थितियों में रहें। अलग-अलग स्थितियों के लिये अलग-अलग साधनों की आवश्यकता है। और इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताएं सामान्य रूप से (चाहे वास्तविक रूप से ऐसा न हो) समाज के हित में हैं।"[2]

ग्रीन की मान्यता है कि सामाजिक हित की पूर्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन कोई अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि विभिन्न व्यक्ति किसी एक ही परिस्थिति में न रहकर विभिन्न परिस्थितियों में रहते हैं और इसीलिये उनके साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वे अपने विभिन्न साधनों के अनुरूप ही सामाजिक हित की क्षमता रख सकते हैं। अतः सम्पत्ति की विषमता उचित ही है। इस विषय में प्रो० बार्कर का यह कथन उल्लेखनीय है—

"स्वतन्त्र एवं बुद्धिमान सम्पत्ति रखनेवाले नागरिकों की सहायता से हम प्रकृति पर भी विजय पा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न नागरिकों के साथ विभिन्न मात्रा में सम्पत्ति होनी चाहिये। लेकिन यह इतनी अवश्य होनी चाहिये कि इसका स्वामी राज्य में अपने कर्त्तव्यों का पालन भली प्रकार से कर सके।"[3]

---

1. "The rational of property, as we have seen, is that everyone should be secured by society in the power of getting and keeping the means of realising a will, which in possibility is a will directed to social good. Whether any one's will is actually and positively so directed, does not affect his claim to the power. This power should be secured to the individual irrespectively of the use which he actually makes of it, so long as he does not use it in a way that interferes with the exercise of like power by another, on the ground that its uncontrolled exercise is the condition of attaintment by man of that free morality which is highest good."
—*Green* : Lectures on the Principle of Political Obligation, Page 220

2. "The social good requires that different men should fill different positions in the social whole. Different positions require different means, and in this way differences of property are potentially (though they may not be so actually) for the good of society."
—*Barker* : Political Thought in England, Page 55

3. "Considered as representing the conquest of nature by the effort of free and variously gifted individuals property must

ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का आदर करते हुए और सम्पत्ति की असमानता को व्यक्ति एव समाजहित की दृष्टि से उचित बताते हुए भी किसी भी स्थिति मे अनियन्त्रित धन सचय को उचित नहीं ठहराता। वह यह स्वीकार करता है कि यदि समाज के व्यक्तियो को अपनी स्वतन्त्र इच्छा की अनुभूति करने मे बाधा पहुँचे, तो व्यक्तियो के द्वारा धन सचय को रोकना चाहिये। यदि कोई एक व्यक्ति के अधिकार मे बाधा पहुँचाता है तो उसे ऐसा करने से रोकना उचित ही है। "राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव उसके दुरुपयोग को रोके या बद कर दे। जहा कुछ स्वामी अपनी सम्पत्ति का निरन्तर ऐसा उपयोग करते हैं जिससे दूसरो की सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ हस्तक्षेप होता है, वहा सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण अथवा विसर्जन पर सरकार मर्यादाएं लगा सकती है।"[1]

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषो की तरफ से उदासीनता प्रकट की हो, ऐसी बात नही है। उसने "*व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषो का मुख्य स्रोत भूमि स्वामित्व की उत्पत्ति तथा उन स्वतन्त्रताओ मे देखा जो उन भू-स्वामियो को* प्राप्त थीं।"[2] ग्रीन ने यद्यपि भूमि सुधार के लिये कोई पूर्ण एव विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नही किया और न ही भूमि की आमदनी मे अर्नजित वृद्धि की जब्ती का ही समर्थन किया, तथापि उसने निम्न प्रकार के कानूनों की रचना के लिये अपने विचार प्रकट किये—

(i) '*जमीदारों तथा किसानो के ऐसे समझौते पर प्रतिबन्ध लगाना* जिससे शिकार करने का अधिकार जमीदारो के लिये सुरक्षित रहे।

(ii) ऐसे बन्दोबस्तो (Settlements) को कानूनी स्वीकृति नही देना जो भविष्य में भूमि वितरण या भूमि सुधार मे बाधक हो या जो किसान को अपनी भूमि को धन के रूप मे परिवर्तित करने या अपनें बालको मे वितरण करने से रोके।

(iii) जो किसान अपनी भूमि का त्याग करें, उन्हें उनके द्वारा किये गये भूमि के उन सुधारो के मूल्य की गारण्टी देना जिनका लाभ उनके भूमि-त्याग तक समाप्त न हुआ हो।"[3]

"यदि मनुष्य को '*नैतिक बनाने के लिये स्वामित्व की आवश्यकता है,' तो यह* कैसे कहा जा सकता है कि राज्य को सम्पत्ति के ऐसे उपयोगों को बर्दाश्त करना चाहिये जो एक बडे भूमि हीन सर्वहारा-वर्ग को उत्पन्न करते है? समाजवादी इस वर्ग की वृद्धि तथा दुर्दशा के कारण उत्पादनकारी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को मानते है किन्तु ग्रीन के *विचार मे उसका* कारण स्वामित्व का दुरुपयोग है, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश किये बिना सरकारी नियमन द्वारा दूर हो सकता है।"[4]

---

be unequal and no less must it be so if considered as a

e 221

1.
2 वही, पृष्ठ ४४६
3 वही, पृष्ठ ४५०
4 वही, पृष्ठ ४५०-४५१

ग्रीन सम्पत्ति विषयक अपनी धारणा में वास्तव में उदार था।

आलोचना एवं मूल्यांकन
(Criticism and appreciation of Green's Philosophy)

जिन लोगों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, ग्रीन उन सबसे सर्वाधिक गम्भीर प्रतीत होता है, तथापि अन्य राजदर्शन पद्धतियों के समान ही उसका दर्शन भी गुणों और दोषों का सम्मिश्रण है। इसका कारण यह है कि वह वास्तव में हीगलवाद व्यक्तिवाद एवं उदारवाद का मिश्रित रूप है। अपने सामान्य दर्शन में वह हीगलवादी है तो राजनीति में उदारवादी। एक ओर, संसार में एक दैविक आत्मा अथवा बुद्धि (Divine Spirit or Reason) के अस्तित्व का हीगलवादी कल्पना में उसका विश्वास है तो दूसरी ओर उसमें 'सभी अंग्रेजों में पाया जानेवाला प्रजा की स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग एवं राज्य के विवेक के प्रति गहन अविश्वास" वर्तमान है। एक आदर्शवादी के रूप में वह राज्य के संविदा, यान्त्रिक एवं शक्ति सिद्धान्तों को अमान्य ठहराते हुए राज्य के सावयव सिद्धान्त (Organic theory) को स्वीकार करता है लेकिन साथ ही वह राज्य को स्वयं में साध्य मानने से इन्कार करता है। अपने व्यक्तिवादी तत्व के कारण उसके लिये राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन है (State is a means to an end) और साध्य उस राज्य के रचयिता व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास है। उसका यह कथन कि अपने घटकों के जीवन के अतिरिक्त राष्ट्र के जीवन का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं हो सकता, उसे हीगल की अपेक्षा काण्ट के अधिक सन्निकट ला देता है। एक तरफ राज्य के सावयव सिद्धान्त में विश्वास एवं दूसरी तरफ व्यक्ति के मूल्य तथा सम्मान के प्रति गहरी श्रद्धा-ये दोनों ही दो विपरीत बातें ग्रीन के दर्शन में देखने को मिलती हैं जिनमें समन्वय करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अपने उपरोक्त विचारों के कारण ही ग्रीन जहां राज्य को एक निश्चित शुभ (A Positive good) मानते हुए उसके कार्य क्षेत्र के विस्तार का पक्षपाती है वहां वह राज्य के कार्यों का निषेधात्मक रूप में (In a negative way) वर्णन करता है और कहता है कि राज्य का कर्त्तव्य शुभ जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं का निषेध करना है। लेकिन वास्तविकता यह है कि बाधाओं को दूर करने में राज्य को सकारात्मक रूप मे ही सब कुछ करना पड़ता है। अशिक्षा की बाधा को दूर करने में राज्य विद्यालय खोलता है, अपराध की बाधा दूर करने के लिये राज्य न्यायालयों और जेलों की व्यवस्था करता है तथा अरक्षा की बाधा मिटाने के लिये उसे पुलिस एव सेना की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये सभी कार्य सकारात्मक होते है, फिर राज्य के कार्य निषेधात्मक ही कैसे माने जायें। राज्य की महान् देन को देखते हुए और उसके वर्तमान कल्याणकारी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह बड़ा असगत प्रतीत होता है कि राज्य के कार्यों का नकारात्मक रूप स वर्णन किया जाय। ज्ञान, स्वास्थ्य, भौतिक सम्पन्नता आदि तो शुभ एव नैतिक जीवन की अनिवार्यताएं हैं। चूंकि राज्य इनकी व्यवस्था मे योग दे रहा है अतः उसका योगदान वास्तव मे विधेयात्मक (Positive) है। लेकिन

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ग्रीन ने केवल 'निषेधात्मक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है बल्कि 'निषेधात्मक नैतिक कार्य' (Negative moral functions) का प्रयोग किया है। राज्य सकारात्मक कार्य करेगा किन्तु नैतिक क्षेत्र में वह सकारात्मक या विधेयात्मक दृष्टि से कुछ भी करने का अधिकारी नहीं है। वह व्यक्ति या समाज का अपना क्षेत्र है। एक बार यह निर्णित हो जाने पर कि नैतिक कार्य क्या हैं, राज्य उनकी क्रियान्विति में सकारात्मक रूप से बहुत कुछ कर सकता है और उसके लिये यह करना अपेक्षित भी है।

(२) ग्रीन राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारों में स्वयं को तत्कालीन विचारों के प्रभाव से मुक्त नहीं रख सका है और इसी कारण वह उस समय प्रचलित विचारों के अनेक दोषों पर ध्यान नहीं दे पाया है। इसके विपरीत उसने इन दोषों को अपने दर्शन के द्वारा उचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अरस्तू दास-प्रथा में कोई अनौचित्य इसलिये नहीं देख पाया था क्योंकि वह उस समय प्रचलित थी। इसी प्रकार ग्रीन ने भी पूंजीवाद को केवल इसी-लिये समर्थन दिया प्रतीत होता है कि उसके समय में वह प्रचलित था। प्रथम तो समकालीन प्रभाव के कारण और द्वितीय अपने उदारवाद एवं व्यक्ति के गौरव में विश्वास के कारण वह उन खतरों को नहीं माप सका है जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूंजी के एकत्रीकरण से उत्पन्न हो सकते हैं। उसके आर्थिक विचार अपूर्ण एवं असन्तोषजनक हैं क्योंकि वह कृषि भूमि के सुधारों से ही संतुष्ट हो गया और पूंजी के कुछ मुट्ठी भर हाथों में संग्रह होने में उसे किसी विशेष खतरे का ऐहसास नहीं हुआ। उसने भूमि अधिकरण व्यवस्था में सुधार की मांग तो अवश्य की लेकिन पूंजीवाद को नियन्त्रित करने का कोई प्रस्ताव उसने नहीं किया। उसने भूमि सुधार के लिए भी कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम नहीं रखा और न ही भूमि की आमदनी में अनर्जित वृद्धि की जब्ती का समर्थन किया। वह यह मानकर ही सन्तुष्ट हो गया कि यह मामला इतना पेचीदा था कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार के व्यापक ढंग से नहीं हो सकती थी। ग्रीन ने न केवल पूंजीवाद को समर्थन दिया बल्कि अपनी नैतिक धारणा का पुट देकर यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि पूंजीवाद एक आदर्श स्थिति है। हां, इस सम्बन्ध में ग्रीन के बचाव के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके अनुसार राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव सम्पत्ति के स्वामित्व के दुरुपयोग को रोके या बंद कर दे। लेकिन बचाव का यह एक थोथा तर्क है जिसके पीछे यथार्थ का बल नहीं है।

(३) मानव प्रकृति के सम्बन्ध में ग्रीन अतिशय आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एवं सदिच्छा से विभूषित प्राणी है। ग्रीन का यह विचार एकदम एकांगी है। मनुष्य में यदि बौद्धिक तत्व विद्यमान हैं तो साथ ही मानव मस्तिष्क काम, क्रोध, घृणा, छल-कपट आदि अबौद्धिक तत्वों का भी क्रीडा स्थल है। यदि मनुष्य के राजनैतिक कार्य-कलापों पर दृष्टि डालें तो अबौद्धिक तत्वों का ताण्डव नृत्य स्वयं सिद्ध है। वेपर (Wayper) के अनुसार, 'ग्रीन द्वारा चित्रित प्रायः विशुद्ध चेतना के रूप में मनुष्य उतना ही अवास्तविक है जितना कि उपयोगितावादियों का सुख का

अभिलाषी मनुष्य अथवा पुराने अर्थशास्त्रियों का आर्थिक मनुष्य।' डॉ० लंकास्टर (Dr. Lancaster) ने इस सम्बन्ध में बड़ी ही तार्किक आलोचना प्रस्तुत की है। उनके ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि—

"ग्रीन की यह धारणा कि मनुष्य एक ऐसा नैतिक अथवा सदाचारी प्राणी है जो सदैव आध्यात्मिकपूर्णता की खोज में व्यस्त रहता है, एक भ्रमात्मक विचार है—ऐसा भ्रमात्मक विचार जिसके लिये कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है और जिसका वर्णन वास्तव में इस तरह किया गया है कि हम इसे अस्पष्ट एव वास्तविकता से दूर कह सकते हैं। उसके विचारों को, यदि अनुभव सिद्ध तथ्यों की कसौटी पर कसा जाता तो आसानी से तथ्य का ज्ञान हो सकता था। प्रत्येक परिस्थिति में यदि कोई मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति ऐसी भावना रखता है तो प्रकट है कि उसे इस विचारधारा से पर्याप्त सहानुभूति है कि राज्य (या समाज या जाति) ही व्यक्ति की सच्ची इच्छा को व्यक्त करता है। ग्रीन किन्हीं अंशों में यह विचार स्वीकार करता है लेकिन वह ऐसे तर्क के परिणामों से यह कह कर बच निकलना चाहता है कि व्यक्ति की वास्तविक एव सच्ची इच्छा प्रायः एक ही होती है। उसका विश्वास है कि आध्यात्मिक पूर्णता का प्रयास करनेवाले व्यक्ति 'समाज' के सदस्य होने के नाते यह प्रयास करते है। अनेक युगों के बाद समाज ने एक जटिल सम्बन्ध का निर्माण किया है जो समष्टि रूप से 'सुखद जीवन' का परिचायक है और इस प्रकार के व्यावहारिक आदर्शों का निर्माता है कि व्यक्तियों की इच्छा स्वयमेव इनके अनुकूल बन जाती है।"[1] पुनश्च,

"वास्तविक सत्य यह है कि मानव प्रकृति के बारे में ग्रीन की आशावादी धारणा अथवा विचारधारा ठीक वैसी ही कठिनाइयों में से निकलने का एक मार्ग है जैसी जॉन स्टुअर्ट मिल ने अनुभव की थी अर्थात् यदि मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र हो जायें तो वे दुष्कर्म करने लग जायेंगे। इस प्रकार की

1. "Green's assumption that man is a moral being always seeking moral self-perfection' is an a priori one for which no proof can be offered and which, in fact, he discuss in terms that must be called vague and remote from the realities which empirical observation might have disclosed. In any case, if one believes these propositions about human personality, he must have a good deal of sympathy with the view that the state (or society of the community) embodies the individual's 'real' will. Up to a point Green does accept this conception, but he tried to escape the authoritarian results of such reasoning by arguing that the individual freely equates his 'real' and his 'actual' will. He asserts that man in seeking moral perfection do so as members of 'society'. 'Society' through generations has built up a complex set of relationships which in the aggregate make up the 'good life' and embody standerds of conduct to which the will of men normally conforms."

—Master of Political Thought, Vol. III, pp. 2 9-220.

परिस्थिति में थोड़ी सी स्वतन्त्रता और सदाचार में साझे के रूप में समाज विरोधी कार्यों को रोकने के अधिकारों का सम्मिलन करके कोई मार्ग निकालना चाहिये। ग्रीन की तुलना में मिल मानव स्वभाव के बारे में अधिक निराशावादी था, परिणामतः उसने किन्हीं परिस्थितियों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने के विषय में नानूच नहीं की थी। उसने वास्तविक इच्छा और सच्ची इच्छा के विषय में कल्पना नहीं की थी। ग्रीन ने इस प्रकार की कल्पना की है कि मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की खोज करता है और साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता का आशय उन लोगों की आध्यात्मिक पूर्णता भी है। इस प्रकार उसके लिये सर्वसाधारण की और व्यक्ति की इच्छा का एकीकरण शासन की शक्ति का समर्थन किये बिना ही सरल हो जाता है।"[1]

(४) ग्रीन के विचारों में विरोधाभास या तार्किक असंगतियां स्पष्ट है। वह अपने विचारों में मनोवैज्ञानिक सत्यता तथा यथार्थवाद से दूर है। उसे समाज की वास्तविक स्थिति का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है, और अपनी समकालीन अवस्था को ही यह कुछ संशोधन के साथ स्वीकार करता है। इस प्रकार वह यथा स्थितिवादी (Adherent of status quo) है। आध्यात्मिक तत्वों की खोज में नैतिकता के भ्रमजाल में भटकता हुआ ग्रीन भौतिक समृद्धि की पूरी विवेचना नहीं कर पाता। हीगल के समान ही ग्रीन का दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म और क्लिष्ट भी है। उसके 'सदिच्छा', 'शाश्वत आत्म-चेतना', 'सामान्य इच्छा की सामान्य चेतना' आदि सम्बन्धी विचार इतने अधिक कल्पनात्मक हैं कि उनको पूर्णरूप से समझना कठिन है और उनके कारण ग्रीन का दर्शन बड़ा बोझिल बन गया है। इच्छा सम्बन्धी ग्रीन के विचार की आलोचना में हाबहाउस (Hobhouse) का कहना है कि "जहां तक इच्छा

---

1. "The truth of the matter is that Green's optimistic view of

in the state to suppress those acts inconsistent with society viewed as a 'partnership in virtue' Mill was more pessi- ... the result to inter- ... ny specu- ... ng recon- ciled in the state. Green can speculate in such terms if he begins with the optimistic conviction that the individual seeks moral self-perfection for himself while at the same time recognizing that such perfection involves that of his fellows as well It is than easier for him to reconcile the general will and the individual will without at least appearing to support authoritarianism"

—Masters of Political Thought, Vol III. PP. 219-220

का सम्बन्ध है यह सार्वजनिक नहीं होती और जहां तक सार्वजनिक होती है, यह इच्छा नहीं रह जाती।"[1] ग्रीन ने रूसो और ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में सुधारात्मक सशोधन करने का प्रयत्न तो किया है किन्तु 'सामान्य इच्छा' सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याओं का भी वह कोई समाधान नहीं कर सका है। पुनः, सामान्य इच्छा को इतना अधिक महत्व देने के बाद ग्रीन यह कह कर कि महान् व्यक्तियों में बुराईयों के होते हुये भी ईश्वरीय आत्मा उनके कुकृत्यों से भी अच्छाई निकलवा लेती है, सामान्य इच्छा का महत्व एकदम घटा देता है। ग्रीन की इस धारणा को कि महापुरुषों में उनके गुणों के समक्ष अवगुणों को भूल जाना चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो फ्रेडरिक महान् के इन वचनों की पुनरावृत्ति है कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अथवा किसी कार्य की पूर्ति के लिए चाहे कितने भी अनैतिक साधनों का उपयोग क्यों न किया जाय, लेकिन कोई न कोई ऐसा दार्शनिक अवश्य पैदा होगा जो इन पर पर्दा डाल देगा, इन अनैतिक कार्यों को नैतिक सिद्ध कर देगा।

(५) ग्रीन शासन मे यद्यपि जनता के सक्रिय रूप से भाग लेने का समर्थक है, तथापि हॉवहाउस एवं अन्य कुछ आलोचकों का विचार है कि ग्रीन के सिद्धान्तों में निरकुश स्वेच्छाचारी शासन के बीज विद्यमान है। ग्रीन के विचारो मे ऐसा कोई मौलिक क्रांतिकारी तत्व नहीं है जो राज्य की बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता को रोकने का प्रभावकारी साधन बतला सके। ग्रीन यह आवश्यक नहीं समझता है कि उत्तम शासन के लिये लोकशासन होना चाहिये, उल्टे उसे यह मान्य है कि निरकुश शासन भी सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है क्योंकि राज्य का उद्देश्य तो 'सामान्य हित' की प्राप्ति है और इस उद्देश्य की सिद्धि निरंकुश या संवैधानिक शासन दोनों के ही द्वारा की जा सकती है। वेपर (Wayper) का मत है कि ग्रीन के इन विचारों समथन में कुछ प्रमाण है, क्योंकि वह इन महत्वपूर्ण प्रश्नों को कि—क्या लोकशासन के न होने पर 'व्यक्तिगत हित', 'सामान्य हित' को पनपने नही देते ? क्या व्यक्तियों में उत्तम नागरिकता, राजनीति में बिना सक्रिय भाग लिये सम्भव है—यह कह कर टाल देता है कि ये "प्रश्न परिस्थितियों पर निर्भर है और इसीलिये इनका स्पष्ट उत्तर देने की कोई आवश्यकता नही है।"

(६) ग्रीन के प्राकृतिक अधिकार विषयक विचार भी स्पष्ट नही है। उसके प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त ने उसे कठिनाई में फंसा दिया है। उसने निरान्तर एक हाथ से देकर दूसरे हाथ से वापिस ले लिया है। उसने केवल यही नहीं स्वीकार किया है कि आत्मा द्वारा किया हुआ न्याय ही नैतिक रूप से कानून का न्यायालय है बल्कि इस बात पर भी बल दिया है कि व्यक्ति को समाज के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही है और व्यक्ति का समाज की उन्नति करने का कर्त्तव्य है। लेन लकास्टर (Lane Lancaster) के अनुसार, "ग्रीन का प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों का विवेचन भ्रमात्मक और

1. "In so for as it is will, it is not general, and in so for as it is general, it is not will"
—*Hobhouse* : The Metaphysical Theory of the State.

असंगत है। वह एक तरफ तो यह कहता है कि "अधिकार स्वीकृति के द्वारा निर्मित होते हैं" और दूसरी तरफ साथ ही यह भी कहता है कि ऐसे भी कुछ अधिकार होते हैं जिनको स्वीकृति अवश्य ही मिलनी चाहिये। ये दोनों कथन एक दूसरे से असंगत है। "यदि अधिकारों के पीछे आधारभूत तत्व राज्य की स्वीकृति है तो व्यक्तियों के समाज में ऐसे दावे जिनको *राज्य की स्वीकृति* प्राप्त नहीं है 'अधिकार' कहना भ्रमात्मक है।" स्पष्ट है कि ग्रीन एक हाथ से अधिकार देता है और दूसरे हाथ से वापिस ले लेता है। वेपर (Wayper) भी इस बात से सहमत है कि ग्रीन के प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारों में *"उस स्पष्टता की कमी है जिसकी किन्हीं भी दार्शनिकों से आशा की जाती है।"*

(७) दण्ड का सिद्धांत प्रस्तुत करते समय भी ग्रीन मनुष्य की भावनाओं की पूर्ण रूप से अवहेलना करता है। उसका मनुष्य का यह चित्र कि वह लगभग पवित्र चेतना है अवास्तविक है।

(८) ग्रीन विशेष परिस्थिति मे व्यक्तियों के राज्य का प्रतिरोध करने के अधिकार को मान्य ठहराता है, लेकिन साथ ही उसने इतने प्रतिबन्ध भी लगा दिये है कि *व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिरोध का यह अधिकार अर्थहीन* सा हो गया है। लकास्टर के शब्दो मे, 'ग्रीन हमे कोई ऐसा स्पष्ट आधार नही बताता जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि अमुक स्थिति मे (राज्य का) विरोध करने मे कार्य सामान्यहित क निमित्त होते है।"

(९) ग्रीन के अनुसार राज्य न तो परमपूर्ण है और न सर्वशक्तिमान। वह भीतर और बाहर दोनो ओर से सीमित है। ग्रीन यह मानता है कि समाज के भीतर विभिन्न स्थायी सघो की एक अपनी आन्तरिक-अधिकार *व्यवस्था* होती है और राज्य का अधिकार उन पर केवल समन्वय स्थापित करने का होता है तथा समन्वय स्थापित करने के अपने इसी अधिकार के कारण राज्य का अन्तिम अधिकार सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्ण रूप से न अपना लेने के कारण मैकआइवर (Mc Iver) ग्रीन की आलोचना करते हुए कहता है, *"प्रारम्भ से अन्त तक वह (ग्रीन) इसी का विवेचन करता है* कि किन परिस्थितियो मे व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप म काय कर सकता है उन परिस्थितियो को सुलभ बनाने के लिय राज्य क्या कर सकता है और इसलिये उसे क्या करना चाहिये। पर उसके चिन्तन के आधार *स्तम्भ* फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह *इस बात पर विचार नहीं* करता कि राजनैतिक विधान से भिन्न अन्य साधनो से सम्पन्न जो दूसरे सघ हैं उनके अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पडता है। यदि उसने इसका विचार किया होता तो उस यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल इतना ही नही है कि राज्य को क्या करना चाहिय, *बल्कि प्रश्न यह भी है* कि राज्य को क्या करने की अनुमति है, क्योंकि राज्य दूसरो शक्तियों से घिरा हुआ है, दूसरी कोटि के सगठनो से सीमित है जो अपने ढग से अपने उद्देश्यो को पूरा कर रहे हैं। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के छोर तक पहुँच कर—उस छू कर ही रह जाता है, उसका हल नहीं दे पाता।"[1]

---

1. *Mc Ivor*. The Modern State, Page 471

मूल्यांकन—ग्रीन का दर्शन यद्यपि दोषों से मुक्त नहीं है, तथापि इससे उसका महत्व कम नही हो जाता। उदारवादी सिद्धान्त का जो संशोधन १००० से आगे की दो पीढ़ियों में ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियों ने किया था उनमें "टॉमस हिल ग्रीन सबसे प्रमुख था—कम से कम राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में।"[1] जिन लोगों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया, ग्रीन उन सब मे नि:सन्देह अधिक गम्भीर मालूम पड़ता है। बार्कर के शब्दों में—

"ग्रीन एक ऊंची उड़ान लेनेवाला आदर्शवादी तथा एक ठोस यथार्थवादी भी था। जहां तक विवरणों का सम्बन्ध है, ग्रीन से हमारा मतभेद है पर जिन सिद्धान्तों की स्थापना उसने की वह आज भी ठीक मालूम पड़ते हैं। पूंजीमूलक सम्पत्ति का समर्थन और राज्य द्वारा अनार्जित वृद्धि के विनियोग का विरोध, दण्ड के प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त पर उसका जोर देना आज सम्भव है। हमें उचित न मालूम हो, पर किन्ही विशेष परिस्थितियो का जो विश्लेषण उसने किया या किसी नीति विशेष के जो सुझाव उसने दिए, उन सब की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण वह सिद्धान्त हैं जिनकी स्थापना उसने की। यदि उसके सिद्धान्त सत्य हैं तो प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है। व्यक्ति के महत्व पर उसका दृढ़ विश्वास, व्यक्ति की स्वाधीनता पर उसकी गहरी आस्था, उसका यह विश्वास कि व्यक्ति का कल्याण सामाजिक कल्याण का एक अंग है, राज्य को रहस्यवादी शिखर पर पहुंचाने की उसकी अस्वीकृति, एक सार्वभौम भ्रातृत्व या विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी स्वीकृति, नैतिक कार्यों की आत्म-प्रेरणा को जीवित रखने के उद्देश्य से राज्य की शक्ति का परिसीमन करने की उसकी उत्सुकता, अधिकारों पर उसका बल, उसका यह विचार कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और उसका यह स्वीकार करना कि कठिन परिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य की शक्ति का प्रतिरोध करने का अधिकार है—यह सब आज भी उतना ही ठीक है जितना १८७९–८० में उस समय ठीक था जब ग्रीन ने अपने भाषण दिये थे।"

वास्तव में आलोचक चाहे ग्रीन के दर्शन मे इधर-उधर छोटी-मोटी भूलों का संकेत दें लेकिन उसके दर्शन की मूलभूल भित्ति को कोई चुनौती नही दे सकता। यथार्थ मे व्यक्ति के मूल्य, समाज के महत्व, स्वाधीनता के सम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की उपयोगिता को ग्रीन ने केवल एक काल्पनिक शुष्क दार्शनिक दृष्टि से ही नही बल्कि एक अनुभवी, व्यावहारिक तथा गभीर विचारक की सूक्ष्म दृष्टि से भी देखा है। सम्पत्ति के अधिकार तथा निरंकुश राज्य के विरोध आदि के विषय मे भी उसके विचार उदार एव ठोस हैं। ग्रीन के मूल्याकन को प्रस्तुत करते हुए सेबाइन ने अत्यन्त सारगर्भित शब्दो में लिखा है कि :—

"उदारवाद के सिद्धान्त में ग्रीन ने जो योगदान दिया वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के लिए सामूहिक कल्याण की पूर्व स्थिति को धारणा है। परिणामतः सार्वजनिक स्वास्थ्य या शिक्षा या उचित जीवनस्तर

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ६८०

अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा जैसे सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा करने के लिये समाज द्वारा उठाये गये कदम ठोस सामाजिक नीति की न्यायपूर्णता के द्योतक हैं। ग्रीन ने जिन उदारतापूर्ण कानूनों का पक्ष लिया था उनकी मूल धारणा यह थी कि राज्य का लक्ष्य अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आश्वासन देना नहीं है अपितु सर्वसाधारण के *कल्याण के लिये न्यूनतम* जीवनस्तर, शिक्षा और सुरक्षा इत्यादि की परिस्थितियां उत्पन्न करना है तथा यह देखना है कि देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग इन सुविधाओं से वंचित रह न जाय। अतः *सिद्धान्त ग्रीन द्वारा* उदारवाद के *पुनर्गठन ने यथेच्छा* आचरण (Laissez Faire) के सिद्धान्त द्वारा राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच बनाई गई खाई को पाट दिया है तथा यदि मानव कल्याण के *लिये सन्तोषजनक परिणाम* न निकल सके, तो उस परिस्थिति को संभालने के लिये उसने राज्य को आर्थिक व्यवस्था का नियन्त्रण करने का कर्त्तव्य सौंपा है।"[1]

ग्रीन के अनुदाय के बारे में डा० लंकास्टर (Dr. Lancaster) का मत है कि—

"यह तथ्य कि सदाचारी जीवन के मार्ग की अड़चनें दूर करने की वास्तविक समस्याओं को ग्रीन द्वारा इतनी सरलता से अछूता छोड़ दिया गया है कि यदि हम ग्रीन की विचारधारा की पृष्ठभूमि को देखें तो राजनीति शास्त्र के प्रति उसके योगदान का महत्त्व कम नहीं करता। ग्रीन एक प्रतिभाशाली लेखक है क्योंकि उसने अस्पष्ट रूप से सही, अपने समकालीन महापुरुषों द्वारा अनुभव की गई बेचैनी को व्यक्त किया है कि तत्कालीन प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों में व्यक्ति को उसकी सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर दिया गया था। कारलायल और रस्किन जैसे महापुरुषों से अपने लेखों में उद्योगीकरण की असुन्दरता की आलोचना से ही सम्बन्ध रखा किन्तु ग्रीन ने इस नवीन

---

1. "What Green added to liberal theory was the conception of collective well-being as a pre-condition of individual freedom and responsibility. Consequently, sound social policy justifies the protection of common interest, such as public health or education, or a decent standard of living no less than the protection of individual rights, such as private property. The liberal legislation which he defended assume that the end of government is not to guarantee the greatest individual liberty but rather to ensure *the conditions* for at least a minimum of *well being*—a standard of life, of education, and of security below which good policy requires that no considerable part *of the population* shall be allowed to go. Thus in principle Green's revision of liberalism closed up the gap *which laissez faire* had placed between politics and economics and put on government the duty of regulating the economic system *when it fails to produce humanity satisfying results*."
—*Sabine* : A History of Political Theory, Page 676

व्यवस्था को स्वीकार करते हुये वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार राज्य की कार्य प्रणाली के विषय में, भले ही अस्पष्ट रूप से ही सही, एक सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न किया है। उसने सर हेनरीमेन, लैकी और जान स्टुअर्ट मिल तथा अन्य उसके समकालीन लेखकों की तरह राजनीतिक प्रजातन्त्र की स्थापना की आवश्यकता का विरोध नहीं किया है। उसने इस तत्व का दर्शन किया है कि राजनीतिक प्रजातन्त्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र का होना भी उसी प्रकार अत्यावश्यक है जैसा कि राजनीतिक प्रजातन्त्र प्रणाली में सर्वसाधारण को एक समान अवसर की प्राप्ति प्रमुख सिद्धान्त है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को भावनाओं के आधार पर हल करने का प्रयत्न करने पर ग्रीन ने कम से कम उस प्रकार की बातों का भी अनुभव किया है जिनका प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्र समाज की स्थिरता के लिये ध्यान रखना चाहिये। यदि कोई यह तर्क करे कि सार्वजनिक कल्याणकारी समाज को अनिवार्य रूप से शक्तिशाली होना चाहिये, तो सम्भवतः यह उसकी विचारधारा की सबसे बड़ी त्रुटि होगी क्योंकि वर्तमान सामाजिक बुराइयों से अत्यधिक व्यस्तता के कारण वह अपनी विचारधारा की आधारभूत जटिलताओं से अन्धार में रह गया प्रतीत होता है।"[1]

ग्रीन का महत्व इस बात में है कि उसने बहुत ही सुन्दर ढंग से जर्मन आदर्शवाद को व्यक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर दिया है। हीगल ने अपने आदर्शवादी सिद्धान्त में व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर चढ़ा दिया है, किन्तु

---

1. "The fact that Green passes over so easily the concrete problems involved in the removal of obstacles to the good life does not detract as seriously as it may seen from the significance of his achievement once we consider the sitting of his thought. He is an important publicist because he expresses, even if ambiguously, the uneasiness felt by many of his contemporaries at the results of the reigning political theory in excluding men from access to the cultural heritage. Whereas prophets like Carlyle and Ruskin contented themselves largely with a romantic criticism of the ugliness of industrialism. Green accepts the new order and tries, even if somewhat confusedly, to work out a theory of state action consistent with actual conditions. Nor does he, like many others—Sir Henry Maine, Lecky, even Mill—question the desirability of political domocracy what he sees is that accompanying political domocracy there must be as much social and economic democracy as is implied in substantial equality of opportunity. In spite of the abstract treatment of things that citizens must be concerned with if a free society is to endure. If, as one might now argue, a welfare state must necessarily be a very powerful one, the perhaps fatal defect of his philosophy is that, because of his preoccupation with current abuses, he fails to see the authoritarian implications of his basic metaphysics."

—Masters of Political Thought, Vol. III, Page 228.

ग्रीन ने राज्य को आदर्श बताते हुए भी व्यक्ति की गरिमा को महत्व दिया है। उसने राज्य को मनुष्यों के नैतिक विकास के लिए एक साधन माना है। उसने राज्य को साध्य मानने से इन्कार किया है और उसकी निरंकुशता पर चोट करते हुए यह भी कहा है कि राज्य का आधार सामान्य इच्छा है बल नहीं। इसी आधार पर वह राज्य के निर्दिष्ट उद्देश्यों से विचलित होने पर उसका विरोध भी उचित मानता है। बार्कर के अनुसार "व्यक्ति उसके समस्त दर्शन का आधार रहता है। ग्रीन राज्य की प्रभुता के आदर्शीकरण में नहीं फसा है, प्लेटोवादी होने की अपेक्षा अरस्तूवादी अधिक है और हीगलवादी होने की अपेक्षा काण्टवादी अधिक।"[1] परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ग्रीन ने राज्य के महत्व को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया है। मनुष्य के नैतिक जीवन मे आनेवाली बाधाओं को राज्य किसी भी सीमा तक हस्तक्षेप करके दूर कर सकता है।

वास्तव में ग्रीन ने अंग्रेजो को बेन्थमवाद की अपेक्षा अधिक उपयोगी वस्तु दी है और राज्य के कार्यों का निर्धारण उपयोगितावादियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से किया है। मिल राज्य के केवल पर-सम्बन्धी (Other regarding) कार्यों पर हस्तक्षेप करने के अधिकार को मानता है, व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी (Self regarding) कार्यों के लिये नहीं। उसके लिये व्यक्ति के कार्यों का पर-सम्बन्धी और स्व सम्बन्धी कार्यों मे विभेद कोई महत्व नहीं रखता। उसका विचार है कि व्यक्ति के प्रत्येक स्व-सम्बन्धी कार्य का प्रभाव दूसरो पर पड़ता है। किन्तु ग्रीन का अधिकारो की सुरक्षा के लिये बाह्य कार्यों एव आन्तरिक इच्छा से उत्पन्न होनेवाले कार्यों मे विभेद स्वीकार है। प्रथम प्रकार का काय राज्य कर सकता है क्योंकि यहा उसे शक्ति प्रयोग का क्षेत्र प्राप्त है परन्तु द्वितीय प्रकार के कार्यों मे राज्य कुछ नही कर सकता। उपयोगिता के आधार पर सामाजिक और व्यवस्था सम्बन्धी सुधारो का उपयोगितावादियो द्वारा समर्थन किया गया है, लेकिन ग्रीन इस धारणा में नैतिक आदर्शवाद का तत्व और जोड देता है। इस तरह वह राज्य के कार्यों को नैतिक आधार प्रदान करता है। दरअसल मे ग्रीन ने उदारवाद को नैतिकता और सामाजिकता का बाना पहना दिया है। सेबाइन का कहना है कि 'ग्रीन के दर्शन मे नैतिकता का इतना विस्तृत रगमच प्रस्तुत किया जिस पर सामाजिक सद्भावना के सभी व्यक्ति खडे हो सकते थे। ग्रीन को अपने इस कार्य मे सफलता भी मिली। ग्रीन से पहले उदारवाद का सामाजिक दर्शन बडा सकीर्ण था और वह केवल एक वर्ग के हितो का ही प्रतिपादन करता था। ग्रीन ने उदारवाद को इतना विस्तृत कर दिया कि उसमें समाज के सभी महत्वपूर्ण हितो का समावेश हो सकता था और सम्पूर्ण राष्ट्रीय समुदाय को कल्याण-साधना हो सकती थी।"[2] ग्रीन के इस अनुदाय का वेपर (Wayper)

1. "Green is not trammelled by any idealization of the majesty of the state, he is more of an Aristotlian than a Platonist, and more of a Kantian than a Hegelian"
—*Barker*, Political Thought in England, Page 47

2 सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ६९०

ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"ग्रीन ने अंग्रेजों को बेंथम के सिद्धान्त से भी अधिक मूल्यवान सिद्धान्त ऐसे मूल्य पर दिया जिसको अंग्रेज चुकाने के लिये तैयार थे । उसने उदारवाद को एक रुचिवाले विषय की अपेक्षा एक विश्वास में परिवर्तित कर दिया । उसने व्यक्तिवाद को एक मानसिक तथा सामाजिक रूप प्रदान किया तथा आदर्शवाद को सभ्य एवं सुरक्षित समाज में परिवर्तित कर दिया । कम से कम अंग्रेज उसकी इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते ।"[1]

मैक्सी ने इसी बात के समर्थन में लिखा है "ग्रीन १८वीं शताब्दी के बौद्धिकवाद के ही विरुद्ध नहीं बल्कि १९वीं शताब्दी के विज्ञान के कुछ पहलुओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है । वह स्पेन्सर के विकासवाद के उतना ही विरुद्ध था जितना कि हीगल के व्यवहारवाद का ।[2] ग्रीन के महत्व और प्रभाव को इंगित करनेवाले मैकन (Maccunn) के ये शब्द भी उल्लेखनीय हैं कि, "यदि प्रत्येक राजनैतिक आन्दोलन में मानव-हित को देखना और संस्थाओं सम्बन्धी वाद-विवाद में नागरिकों के सुख तथा दुख के आधार पर निर्णय करना ही व्यक्तिवाद है तो राजनीति दर्शन में बहुत कम व्यक्तिवादी ऐसे होंगे जो ग्रीन से अधिक प्रसिद्ध हों ।"[3]

ग्रीन के दर्शन के महत्व और प्रभाव का सबसे ज्वलंत प्रमाण यही है कि इङ्गलैण्ड के राजनैतिक इतिहास में ग्रीन ने जिस नये अध्याय को १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लिखा है वह आज अक्षरशः सत्य तथा व्यावहारिकता से मेल खाता हुआ दिखाई देता है । उसके द्वारा समर्थित श्रम कानून आदि २०वीं शताब्दी में यथावत् बन गये । व्यक्तिवादी दर्शन का अन्त करनेवालों में ग्रीन का महत्व कम नहीं है । यथार्थ में वह हीगेलियन चुनौती को स्वीकार करनेवाला एक ही व्यक्ति था जिसने उसे संशोधित कर अंग्रेजी परम्पराओं के अनुरूप तथा सच्चे अर्थों में आदर्श बना दिया ।

---

1. "Here, then, is Green's achievement, that he gave Englishman something more satisfying than Benthamism at a price they were prepared to pay, that he left Liberalism a faith insead of interest, that he made Individualism moral and social and Idealism civilised and safe. Englishman at least will consider that achievement no inconsiderable one."
—*Wayper* : Political Thought. Page 193
2. "Green represents a reaction not only against Eighteenth century rationalism but also against certain interpretations of Nineteenth Century Science. He was as much opposed to Spencer's evolutionialism as Hegel's empiricism."
—*Maxey*
3. "If it be individualism to see in every political movement the fate of human beings and in every controversy over institutions the weal or woe of fellow citizens, than there are few more declared individualists in political philosophy than Green."
—*Maccunn*

अन्त में, ग्रीन के मूल्यांकन को हम बोकर के इन शब्दों के साथ समाप्त करना चाहेंगे—

"ग्रीन के अधिक मर्यादित विचारों का अनेक वर्तमान कालीन प्रसिद्ध लेखकों—मुख्यकर इटली में बेनदेतो क्रोस (Benedetto Croce); इङ्गलैण्ड में सर हेनरी जोन्स, जॉन वाटसन, जे एम मैकेन्ज़ी, अरनेस्ट बार्कर, हैरिंगटन, हर्नले तथा फिशर और संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रो विलियम, ई हॉकिङ्ग तथा नॉर्मन वाइल्ड (Norman Wilde)—ने अनुसरण किया है। ये विद्वान् ग्रीन के समान साधारणतया यह मानते हैं कि (i) मनुष्य केवल राजनीतिक समाज का सदस्य होने के कारण ही सबसे सच्चे अर्थ में मनुष्य अर्थात् ऐसा प्राणी है जिसका आचरण, पशु-जगत के आचरण को निर्धारित करनेवाली शारीरिक प्रवृत्तियों या इच्छाओं से भिन्न, विवेकपूर्ण तथा नैतिक आदर्शों द्वारा निर्धारित होता है, (ii) वे साधारणतया इस बात में भी सहमत हैं कि यद्यपि राज्य के केवल नैतिक लक्ष्य हैं और अपनी शक्ति के लिये वह अपने सदस्यों में नैतिक आदर्शों की किसी प्रकार की एकता पर निर्भर है, तथापि उसे अब अनेक, शायद मुख्यकर, आर्थिक कार्य भी करना है—उसे अनियन्त्रित प्रतियोगिता द्वारा उत्पन्न भयंकर आर्थिक असमानताओं को दूर कर स्वतन्त्र नैतिक जीवन को सम्भव बनाना है, एवं (iii) वे यह मानते हैं कि राज्य का लक्ष्य ऐसी सामाजिक अवस्थाओं को कायम रखना है जिनमें अच्छे स्वभाव वाले व्यक्ति की नैतिक तथा बौद्धिक उन्नति में कम से कम बाधाएं हों।"[1]

6

ब्रैडले एवं बौसांके
(BRADLEY AND BOSANQUET)

टॉमस हिल ग्रीन ने आदर्शवाद एवं उदारवाद के मध्य जो सन्धि स्थापित की, वह अधिक समय तक न चल सकी क्योंकि ग्रीन के परवर्ती आदर्शवादी विचारकों ने उसके दर्शन के उदारवादी तत्व को पृष्ठ-भूमि में डाल दिया एव आदर्शवादी तत्व को आगे लाकर वे हीगलवाद की दशा में अग्रसर हुये। फ्रांसिस हरवर्ट ब्रैडले तथा वर्नार्ड बोसांके—इन दो प्रमुख अंग्रेज विचारकों ने इस दिशा में उल्लेखनीय भाग अदा किया। मेज़ (Metz) के कथनानुसार "ब्रैडले के साथ ब्रिटिश हीगलवाद पूर्णतः पुष्ट हो गया और उसमें स्वतन्त्र उडान के लिये पख लग गये।"

फ्रांसिस हरवर्ट ब्रैडले
(Francis Herbert Bradley)
(1846-1924)

ब्रैडले वैस्ट मिनिस्टर के डीन का पुत्र था। उसका जन्म सन् १८४६ में हुआ। तत्पश्चात् वह मैरटन कॉलेज ऑक्सफोर्ड का फैलो निर्वाचित हो गया। उसका दर्शन हमें उसकी पुस्तक 'Ethical Studies' में देखने को मिलता है जो सन् १८७६ में प्रकाशित हुई थी। अपने इस ग्रन्थ के 'My Station and its Duties a Ethical Studies' के अध्याय में ब्रैडले ने अपने राज्य सिद्धान्त का विवेचन किया है। वार्कर उसके सिद्धान्त को न्याय सम्बन्धी प्लेटो की धारणा और हीगल की 'Sittlichkeit' सम्बन्धी धारणा का सम्बन्ध मानता है। ब्रैडले एक नैतिक सावयव के रूप में राज्य की धारणा को विकसित करता है और इसी को राजनीतिक विचार के क्षेत्र में उसकी प्रमुख देन समझा जा सकता है। अपने दर्शन के प्रतिपादन में वह सफल नहीं है। हीगल की विचारधारा से यद्यपि वह अधिक प्रभावित है किन्तु वहुत ही अव्यवस्थित ढग से उसकी व्याख्या करता है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त भी उसके दर्शन का एक महत्वपूर्ण आधारस्तम्भ है।

ब्रैडले का मत है कि समाज मनुष्य को नैतिक बनाता है। 'जिस व्यक्ति को हम मनुष्य के नाम से पुकारते हैं वह समाज के कारण ही तो

वैसा है।" वह मानता है कि नैतिक बनने के लिये हमे अपने देश की नैतिक परम्पराओं का पालन करना चाहिये। समाज के कर्तव्यों को पूरा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि ऐसा करने मे वह अपने अस्तित्व के विधान का पालन करता है। किसी भी व्यक्ति की स्थिति अकेली नहीं है। उसका जन्म समाज के एक सदस्य के रूप मे होता है और पग पग पर समाज उस पर अपना प्रभाव डालता है। ब्रैडले के शब्दो मे 'जिस वातावरण में व्यक्ति सांस लेता है, वह आदि से अन्त तक सर्वथा सामाजिक है।" प्रत्येक के आचरण के प्रत्येक अश मे समाज का सम्बन्ध निहित है। वह जो कुछ है वह अपने तत्व में सामाजिक राज्य के सम्बन्धो का समावेश करने से ही है, एव यदि नैतिकता का अर्थ आत्मा की पूर्णता हो तो उन सम्बन्धो की पूर्णता ही नैतिकता है। ब्रैडले यह मानता है कि मनुष्य जन्म से ही एक राष्ट्र का सदस्य पैदा होता है। अभिप्राय यह है कि एक अग्रेज के घर में पैदा होने वाला बच्चा परिवार के साथ अग्रेज राष्ट्र का एक जन्म जात सदस्य है।

ब्रैडले ने व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये व्यक्ति मे राज्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति को आवश्यक बतलाया है। उसके मत मे राज्य एक नैतिक सावयव अथवा जीव (Moral organism) और समाज की अन्य सारी सामाजिक इकाइयाँ अथवा सस्थायें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। राज्य एक व्यवस्थित समष्टि है जो एक सामान्य उद्देश्य और कर्तव्य मे अनुप्राणित तथा प्रेरित है। ब्रैडले का मन्तव्य यह है कि बाह्य दृष्टि से राज्य सस्थाओं का निकाय (Body of Institutions) है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से उसकी एक आत्मा है जो इस निकाय को जीवित रखती है। इस नैतिक सगठन के प्रत्येक अग की अपनी पृथक् आत्मा और चेतना होती है। इस दृष्टि से राज्य जैसा एक नैतिक सगठन पशु सगठन मे मौलिक रूप मे भिन्न है। इसका अपना जीवन है, अपना निरन्तर प्रवाह। व्यक्ति इस सगठन मे एक विशेष स्थान प्राप्त करने पर ही पूर्णता का जीवन बिता सकता है। वह उसी सीमा तक पूर्णता का जीवन बिता सकता है जिस सीमा तक अपना यह विशिष्ट क्षेत्र तैयार कर लेता है। ब्रैडले के ही शब्दो मे 'मेरे जीवन का विस्तार मेरी प्रवृत्तियो की बहुलता से नही नापा जा सकता है और न उस स्थान से ही नापा जा सकता है जो मुझे अन्य व्यक्तियो के बीच प्राप्त है, बल्कि मेरे अपने सम्पूर्ण जीवन की पूर्णता से ही वह नापा जा सकता है।" ब्रैडले के अनुसार राज्य की इच्छा ही सामाजिक नैतिकता या पवित्रता (Social righteousness) का प्रतिनिधित्व करती है, अत राज्य के नागरिको के व्यक्तित्व का विकास उन समुदायो और वातावरण की उन वस्तुओ पर निर्भर करता है जो राज्य अपने सदस्यो को देता है। वास्तव में राज्य का यह सावयवी कल्पना ब्रैडले पर हीगल के प्रभाव को स्पष्ट घोषित करती है जिसने (हीगल ने) लिखा है किसी राष्ट्र की आत्मा प्रत्येक व्यक्ति के अनुकरण से प्रत्येक कार्य का नियन्त्रण करती है और उस पर अपना आधिपत्य रखती है। व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राज्य का सारा कार्य वह स्वय कर रहा है और राज्य को ही अपना लक्ष्य मान लेता है, उसे ऐसा करने मे कोई आपत्ति न होगी।' हीगल के इसी कथन के आधार पर ब्रैडले ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि राष्ट्र की आत्मा को स्पष्ट करने के

लिये हमें सावयवी यथार्थता की किसी नैतिक व्यवस्था को अवश्य स्वीकार करना होगा।" इसी नैतिक व्यवस्था को वह राज्य की नैतिक सावयवता मानता है।

ब्रैडले यह भी अनुभव करता है कि जिस आदर्श की रूप-रेखा उसने खींची है उसका परिपूर्ण मूर्तरूप (Perfect embodiment of his ideal) नहीं कहा जा सकता। किसी भी निश्चित समय में राज्य की नैतिकता (Morality of the state) लोगों की जन-चेतना (Public conscience of the people) अथवा आदर्श नैतिकता (Ideal morality) की अपेक्षा एक निम्न स्तर पर हो सकती हैं। फिर यह भी संभव है कि व्यक्ति समाज से अपनी संकीर्ण स्थिति से ऊपर उठकर विश्वबन्धुत्व की नैतिकता को प्राप्त करने की इच्छा करे। इसका यह परिणाम हो सकता है कि "समस्त मानवता की एक दैवी समग्र संगठन के रूप में सिद्धि (Realization of a society of all humanity as a divine organic whole)" हो जाये।

मे भी कभी शका या सकोच नही करता था। १९११ और १९१२ मे उसने एडिनबर्ग विश्वविद्यालय (University of Edinburgh) मे 'Principle of Individuality and Value' तथा 'Value and Destiny of the Individual' नामक दो प्रसिद्ध भाषण दिये। उसने पत्रिकाओ आदि मे लेख लिखना भी प्रारम्भ कर दिया। बोसाके हीगल के दर्शन से प्रभावित था। हॉब हाउस के कथनानुसार वह हीगल का बहुत बडा श्रृद्धालु शिष्य था और यहा तक कहा जाता है कि उसके दर्शन का आरम्भ ग्रीन एव रूसो से प्रारम्भ होता है और हीगल मे उसकी परिणति होती है। बोसाके एक दार्शनिक विचारक था जिस पर रूसो, काण्ट हीगल एव ग्रीन जैसे कल्पनावादियों का बड़ा प्रभाव पडा था। उसने प्लेटो के दर्शन का भी अध्ययन किया था। अपनी राजनैतिक विचारधाराओ का विवेचन करने मे उसने ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का समर्थन किया और साथ ही सामाजिक अनुभूतियो एव मनोवैज्ञानिक अनुसधानो का भी आश्रय लिया। यह स्मरणीय है कि एक आदर्शवादी होने के नाते यद्यपि बोसाके ने ग्रीन के सिद्धान्तों को ग्रहण किया, लेकिन वह उसके उदारवाद से दूर ही रहा। प्रो० बार्कर के अनुसार ग्रीन ने राज्य पर जो सीमाए लगादी थी बोसाके ने उन्हें एकदम दूर कर दिया और उसने ग्रीन के दर्शन को ऐसे स्थल पर ला पटका जहां वह राज्य की हीगलवादी धारणा के एकदम निकट आ गया। कुछ शब्दों मे उसकी प्रशसा यह कहकर की जा सकती है कि उसने ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राजनैतिक विचारो को नवीन भाषा मे लिखकर आगे बढाया है। इस महान् विचारक का देहावसान लन्दन मे सन् १९२३ मे हो गया।

बोसाके एक महान् विचारक और लेखक था। उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उसने अनेक पुस्तकें लिखी। ये सब पुस्तकें न्यायशास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विभिन्न विषयो पर लिखी गई थी। उसकी रचनाओ मे प्रमुख ये हैं—

1 [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
5 Logic (1888)
6 Principles of Individuality and Value (1911)
7 Value and Destiny of the Individual (1912)

बोसाके के राजनीतिक विचार उसके अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ Philosophical Theory of the State में मिलते हैं।

बोसांके का राज-दर्शन
(Bosanquet's Political Philosophy)

बोसाके अपने राज्य सिद्धान्त को 'दार्शनिक' (Philosophical) कह कर पुकारता है। वह ग्रीक दर्शन की इस विचारधारा से प्रारम्भ करता है कि मानव बुद्धि का विकास ऐसे समाज मे ही हो सकता है जहां पूर्ण समाज में एक बुद्धि व्याप्त हो, जो समाज के *प्रत्येक सदस्य के जीवन तथा कार्य में*

अपने को संगतिबद्ध रूप से तथा विभिन्न रूप से अभिव्यक्त करती है।[1] बोसांके ने राज्य को एक नैतिक व्यक्तित्व माना है जो सार्वजनिक इच्छा का पूर्ण मूर्तरूप है। समाज के सार्वजनिक जीवन की कल्पना उसके सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता है। बोसान्के का राज्य सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ संगठन है और सब का विलयम उसी में होता है। वह हीगल की भांति ही राष्ट्र-राज्य के ऊपर किसी अन्य संगठन की कल्पना नहीं करता। वह दण्ड को राज्य का आधार बताता है। वास्तव में उसका दर्शन मनोविज्ञान पर आधारित है। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों ने दर्शन से लाभ उठाते हुए अपने मौलिक विचारों का स्पर्श देकर बोसांके ने अपने दर्शन का प्रासाद खड़ा किया है।

बोसांके के राजदर्शन के स्पष्टीकरण की दृष्टि से कुछ विशेष शब्दों से सम्बन्धित विचारधारा पर विचार करना होगा। इसके लिए राज्य, दण्ड, सामान्य इच्छा, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि पर उसके विचार देखने होंगे। ये ही बातें उसके राजदर्शन की मुख्य बातें है। सबसे पहले हम उसके सिद्धांत के प्रस्थान बिन्दु 'इच्छा सिद्धान्त' को लेते हैं।

बोसांके का इच्छा सिद्धान्त (Bosanquet's Doctrine of Will)—बोसांके के आदर्शवादी सिद्धान्त का आधार रूसो का इच्छा सिद्धान्त है। उसने अपने सिद्धान्त में रूसो की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी के आधार पर उसने अपने आदर्शवादी सिद्धान्त की स्थापना की है। अत: बोसांके के सिद्धांत को भली प्रकार समझने के लिए बोसांके क 'इच्छा सिद्धान्त' को समझना आवश्यक है। 'बार्कर' इस सम्बन्ध में लिखते है कि "**अपने राज्य सिद्धान्त की रचना में बोसांके रूसो की पुष्टि करता है। वह राज्य के आदर्शवादी या दार्शनिक सिद्धांत के स्थापक (अथवा पुर्नसंस्थापक) के रूप में रूसो को उसका उचित स्थान देता है और रूसो के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त, राज्य के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त एवम् दोनों के परस्पर सम्बन्ध के सिद्धान्त के प्रति स्वयं को उसी तरह ऋणी मानता है जिस तरह जर्मन आदर्शवादियों ने स्वय को माना था।**"

बोसांके के अनुसार स्वतन्त्र इच्छा विवेकपूर्ण (Rational) तथा विश्व-व्यापी या सार्वभौम (Universal) उद्देश्यों की इच्छा में निवास करती है। बोसांके के इस इच्छा सिद्धान्त का विवेचन इन विभागों में हो सकता है—

(१) वह मानता है कि मनुष्य की यथार्थ इच्छा (Actual Will) एवं वास्तविक इच्छा (Real Will) में अन्तर होता है।

(२) वह व्यक्ति की वास्तविक इच्छा (Real Will) और समाज की सार्वजनिक इच्छा (General Will) के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

(३) वह यह मानता है कि राज्य सार्वजनिक इच्छा (General Will) की चरम अभिव्यक्ति है और उसका प्रतिनिधित्व करता है।

---

1. "The human mind can only attain its fuller & proper life in a community of minds or more strictly in a community pervaded by a single mind uttering itself consistently though differently in the life and action of every member of the community."

—*Bosanquet* : The Philosophical Theory of the State, Page 6

अब हम बोसांके के इच्छा सिद्धान्त के उपरोक्त ३ भागों का विश्लेषणात्मक रूप में विस्तार से विवेचन करेंगे।

(१) व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा (Actual Will) स्वार्थपूर्ण होती है। यह इच्छा क्षणिक होती है एवं मनुष्य के स्थायी हित को प्रकट नहीं करती। यथार्थ इच्छा परस्पर विरोधी होती है और व्यक्ति के हितों व समाज के हितों में संघर्ष भाव को प्रकट करनेवाली है। प्रत्येक व्यक्ति की यथार्थ इच्छा एक सी नहीं होती, उनमें अन्तर होता है।

बोसांके ने 'यथार्थ' शब्दों का प्रयोग बारम्बार मनुष्य की अविचारित एवं दुराग्रहपूर्ण इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए किया है।

वास्तविक इच्छा (Real Will) समाज कल्याण की भावना प्रेरित करती है। यह इच्छा व्यक्ति के स्थायी हितों को बतलाती है। यह स्वार्थी नहीं है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की किसी विषय पर वास्तविक इच्छाओं में समानता होती है। यह सामाजिक इच्छा होती है जो विवेक पर आश्रित होती है। जब एक व्यक्ति की यथार्थ इच्छा का, अन्य व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा के साथ सन्तुलन हो जाता है तो वह इच्छा वास्तविक इच्छा का रूप धारण कर लेती है।

बोसांके के अनुसार यथार्थ इच्छा (Actual will) और वास्तविक इच्छा (Real will) में परस्पर संघर्ष चलता ही रहता है। उदाहरणार्थ छात्रों में यथार्थ इच्छा तो यह होती है कि व क्लास छोड़कर सैरगश्ती करें जबकि उनकी वास्तविक इच्छा यह होती है कि कुछ पढ़लें। परिणामस्वरूप इन दोनों ही इच्छाओं में संघर्ष होता है। बोसांके का कथन है कि व्यक्ति को चाहिये कि वह वास्तविक इच्छा के अनुसार कार्य करे। उनके अनुसार मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छा के अनुरूप कार्य करके ही स्वतत्रता का उपभोग कर सकता है। तभी मनुष्य नैतिक वृद्धि कर सकता है। एक चोर नैतिक दृष्टि से स्वतत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि चोरी करना वास्तविक इच्छा के अनुकूल नहीं है। चोरी करना उसकी यथार्थ इच्छा अथवा स्वार्थी इच्छा है। व्यक्ति की वास्तविक इच्छा ही समाज की सामान्य इच्छा है। अतः सामान्य इच्छा के प्रतिकूल चलने पर मनुष्य कभी-भी सतोषपूर्ण जीवन नहीं बिता सकता। अपनी वास्तविक इच्छा के अनुरूप कार्य करके ही मनुष्य स्वतत्रता का उपभोग क्यों कर सकता है इसको बतलाते हुए बोसांके ने लिखा है कि—

'इस प्रकार स्वतत्रता पूर्ण रूप से व्यक्तित्व का एक रूप है। स्वतत्रता उस समय सर्वोच्च शिखर पर पहुचती है जब हम अपने आपको पूर्ण रूप से संतुष्ट समझते हैं। इसी विचार को दार्शनिक भाषा में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि स्वतत्र इच्छा वही है जिसमें व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक कार्य करे।'

(२) स्पष्ट है कि व्यक्ति की वास्तविक इच्छा अकेले नहीं रहती। वह समाज के अन्य व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा से सम्बद्ध होती है और सार्वजनिक इच्छा बन जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति केवल समाज में ही अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त कर सकता है। बोसांके अपनी इस सार्वजनिक अथवा सामान्य इच्छा की परिभाषा इस तरह करता है कि सामान्य इच्छा

समाज के व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा को ही योग होती है। यथार्थ इच्छा एवम् वास्तविक इच्छा में संघर्ष होता है। इस संघर्ष में यथार्थ इच्छा नष्ट हो जाती है और वास्तविक इच्छा शेष रह जाती है। चूंकि सभी व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा समाज के कल्याण का चिन्तन करती है, अतः उनमे कोई विरोध नहीं होता। "सामान्य इच्छा पूर्ण समाज की इच्छा है, अथवा सामाजिक व्यक्तियों की इच्छा है तथा इसका ध्येय सामान्य हित है।"

यह स्मरणीय है कि सामान्य इच्छा और समाज की इच्छा में भेद होता है। सामाज की इच्छा में यथार्थ इच्छा भी सम्मिलित रहती है। इसी तरह सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जन मत में संख्या पर। सामान्य इच्छा में उस सामान्य हित पर बल दिया जाता है जिसमें बहुसंख्यक एवम् अल्पसंख्यक-दोनों ही वर्गों के हित शामिल होते हैं। सामान्य इच्छा मे अहित की कोई गुंजाइश नही होती। यह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है, वह केवल आदर्श इच्छा का सार है।

(२) बोसांके मानता है कि राज्य इसी सामान्य इच्छा का साकार रूप है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। राज्य का संचालन सामान्य इच्छा के द्वारा होता है। व्यक्ति को राज्य नियमों का पालन बिना हिचकिचाहट के करना चाहिये क्योंकि वे सामान्य इच्छा पर आधारित होते हैं और सामान्य इच्छा व्यक्ति की वास्तविक इच्छा है जिसका पालन करने पर ही वह वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है। अतः राज्य की आज्ञाओं का पालन करने पर व्यक्ति परोक्ष रूप से अपनी ही आज्ञा का पालन करता है। बोसांके इसे स्वायत्त शासन की संज्ञा देता है। वह बारम्बार इस बात का आग्रह करता है कि व्यक्ति को यथार्थ इच्छा की अपेक्षा राज्य की इच्छा का पालन ही अधिक सुचारू रूप से करना चाहिये और इसी में वास्तविक स्वतंत्रता निहित है। सारांश यह है कि इस तरह "ग्रीन" के समान ही बोसांके राज्य के सिद्धान्त को इस तथ्य पर आधारित करता है कि व्यक्ति पूर्णरूप से सामान्य इच्छा से व्याप्त है और वह अपने सच्चे व्यक्तित्व की पूर्ति समाज का होकर ही कर सकता है जो कि एक सावयिक सम्पूर्ण (Organic whole) है। जहां रूसो के सामान्य इच्छा का सिद्धान्त जन-मत पर आधारित है वहां बोसांके ने उसे अधिनायकवादी बाना पहिना दिया है। बोसांके के अनुसार अधिनायक भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, अस्तु, अधिनायक की इच्छा के अनुकूल जीवन-यापन करने के लिये नागरिक को बाध्य किया जा सकता है ताकि वह वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सके। अपने इस अर्थ में बोसांके ने सामान्य इच्छा को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है और उसी आधार पर उग्र आदर्शवाद की रचना की है।

कोकर ने बोसांके के सिद्धान्त की विवेचना निम्न शब्दों में की है—

"बोसांके का तर्क कुछ-कुछ इस प्रकार है—मनुष्य के सच्चे व्यक्तित्व की सिद्धि उसकी वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होती है और उसकी वास्तविक इच्छा आवश्यक रूप से सामान्य इच्छा से भिन्न है जिसकी सिद्धि केवल राज्य द्वारा ही होती है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य, एक मनुष्य के रूप में, नैतिक प्राणी है और नैतिक प्राणी के रूप में उसे ऐसी अवस्थाओं की इच्छा

करनी चाहिये जिनसे उसका नैतिक जीवन सम्भव हो सके किन्तु समाज से पृथक रहनेवाले व्यक्ति के लिये नैतिक आचार नाम की कोई चीज नहीं है। अत राज्य, एक 'श्रेष्ठ जीवन" के लिये आवश्यक सामाजिक अवस्थाओं को कायम रखकर प्रत्येक सच्चे नैतिक व्यक्ति की *इच्छा की पूर्ति कर रहा है।* अत बोसाके के विचारों के अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी सामाजिक योग्यताओं का विकास करता है। किसी व्यक्ति के जीवन या राज्य से छोटी सस्था के कार्य का मूल्य उसमे सामान्य हित के कुछ तत्व होने के कारण ही है।"[1]

(२) *बोसाके का संस्था सिद्धान्त* (Bosanquet's Theory of Institution)—बोसाके सस्थाओ को नैतिक विचारो का मूर्तरूप (Embodiment) मानता है। इस मान्यता के पीछे वस्तुत बोसाके की समाज के सार्वजनिक जीवन की कल्पना निहित है। उसका कहना है कि मानव जावन प्रारम्भ स अन्त तक सामाजिक है। समाज व्यक्तियो का एक ऐसा समुदाय है जो *किसी सार्वजनिक सामान्य उद्देश्य से सम्बद्ध रहता है।* इस सबका अर्थ यह है कि सामान्य चेतना अथवा सार्वजनिक इच्छा या आदर्श एक जीवित यथार्थ है। उदाहरणार्थ किसी स्कूल या सेना या क्रिकेट के खेल का यदि हम लें तो उनमे से प्रत्येक एक अथवा अनेक मस्तिष्को की क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार सस्थाएं नैतिक विचारों का ही साकार रूप हैं। स्वय बोसाके के शब्दों म '*एक सस्था मे एक से अधिक मस्तिष्कों का उद्देश्य या* उनको भावना निहित रहती है और वह उस भावना या उद्देश्य का कम बेशी एक स्थायी मूर्तरूप होती है सस्थाओं में व्यक्तिगत मस्तिष्कों का यह सम्मिलन होता है जिसे हम सामाजिक मस्तिष्क के नाम से पुकारते हैं। अथवा यह कहना चाहिये कि सस्थाओं मे हमे आदर्श तत्व मिलता है जो *अपनी व्यापक सघटना मे सामाजिक है लेकिन विभक्त विषयों मे व्यक्तिगत* मस्तिष्क है।"[2]

बोसाके के उपरोक्त कथन स हम बडी सरलता से उसके सस्था सम्बन्धी सिद्धान्तों को निकाल सकते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्येक सामाजिक सस्था या समुदाय मानव-मस्तिष्क की एक *जटिल मिश्रित क्रियाशीलता है* (*The group is a complicated* inter working of the mind of the individual)।

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४५८.
2. 'An institution implies a *purpose or sentiment* of more minds than one, or a more or less permanent embodiment of it. In institutions we have that meeting point of the *individual minds which is the social mind.* Rather,....we have here, the ideal substance which as a universal structure, is the social but in its differenciated class is the individual mind."

—*Bosanquet*: The Philosophical Theory of the State, Page 277

(ii) समुदाय की सामूहिकता व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती है (The totality of the group is reflected in the mind of the individual)।

(iii) प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों पर अपने विचारों को लादने की प्रवृत्ति रखता है।

बोसांके का कहना है कि समाज की भिन्न-भिन्न नैतिक संस्थाएं परिवार, पड़ौसी समुदाय, राष्ट्रीय राज्य आदि हैं। इनमें राज्य सर्वश्रेष्ठ संस्था है। यह संस्था वास्तव में नैतिक आदर्श है। राज्य सब प्रकार के समुदायों अथवा सम्वासों के सन्तुलनों का स्रोत है और सभी संस्थाओं की एक प्रभावकारी आलोचना है। यह अन्य सब संस्थाओं का संचालन करता है और शांति तथा व्यवस्था बनाये रखता है। यह सभी संकीर्ण अर्थ में राज्य एक राजनैतिक संगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है एवं लाभकारी सामाजिक उद्योगों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता है। व्यापक अर्थ में राज्य का उद्देश्य जीवन का सार्वजनिक संगठन एवं समन्वय है। राज्य व्यावहारिक रूप में समाज का पर्याय है।

(३) बोसांके का राज्य सिद्धान्त (Bosanquet's Theory of State)—बोसांके अपने राज्य सिद्धान्त को 'दार्शनिक' (Philosophical) नाम से सम्बोधित करता है। उसकी धारणा है कि राज्य का अपना निजी स्वरूप होता है जो स्वयं अपने लिये ही विचार का पात्र है। उसका उद्देश्य राज्य का अपने वास्तविक स्वरूप में अध्ययन करना है, एक आदर्श समाज की रचना करना नहीं। राज्य के जन्म और इतिहास की खोज करने से दार्शनिक सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। बोसांके भी अन्य आदर्शवादियों के समान राज्य को नैतिक एवं प्राकृतिक समुदाय मानता है। उसका यह विश्वास है कि राज्य एक सर्वोच्च नैतिक संस्था है, एक नैतिक कल्पना का प्रतीक है। उसके शब्दों में, **"राज्य एक नैतिक सिद्धान्त है, क्योंकि इसी में मनुष्य व्यावहारिक रूप में अपने को उत्थान एवं नैतिकता की अन्तिम स्थिति में पाता है।"**[1] बोसांके के अनुसार प्रत्येक संस्था एक निश्चित विचार और उद्देश्य को प्रकट करती है और उसमें उसका सार निहित होता है। उदाहरण के लिये कालेज का सार इमारत और फर्नीचर से नहीं होता अपितु एक सामान्य विचार में होता है. जिसके अधिक छात्र पढ़ते हैं और शिक्षक पढ़ाते हैं। कॉलेज की स्थापना से पूर्व एक निश्चित उद्देश्य का जन्म होता है जिसका मूर्तरूप हमें कॉलेज में देखने को मिलता है। इसी प्रकार मकान बनाने से पूर्व कारीगर के मस्तिष्क में एक भावना होती है जिसका मूर्तरूप मकान है। इस विचार को सामान्य भावना या सामान्य मस्तिष्क कहा जा सकता है। इन उदाहरणों से बोसांके प्रकट करता है कि राज्य का व्यक्तित्व एक विचार के रूप में ही होता है।

---

1. "The state is an ethical idea because it is the final working conception of life as a whole."
—*Bosanquet* : The Philosophical Theory of the State, Page 298

वोसाके का मत है कि राज्य एक भावना है अथवा दूसरे शब्दों में वह समस्त नागरिकों के मस्तिष्क का समन्वित रूप है। प्रत्येक संस्था सामूहिक मस्तिष्क के विचारों पर आधारित होती है। चूंकि राज्य एक सबसे बड़ी संस्था है, अत: उसके सामूहिक मस्तिष्क का क्षेत्र भी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। एक राज्य में रहनेवाले सब नागरिक उसके सदस्य होते हैं। राज्य एक सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ संगठन है जो अन्य सभी समुदायों से उच्चतर है। राज्य के अन्तर्गत अन्य सभी संस्थायें आ जाती हैं। राज्य का सामूहिक मन सभी संस्थाओं से व्यापक होता है। राज्य सर्वाङ्गीण होता है। संकुचित दृष्टिकोण से राज्य एक राजनैतिक संगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है। यह समस्त सामाजिक प्रयत्नों को जो समाज के लिये लाभदायक हैं, मान्यता प्रदान करता है। विस्तृत दृष्टि से राज्य "एक सामान्य संगठन तथा जीवन का संवाद (Synthesis) है जिसमें परिवार से लेकर व्यापार तक और व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक वे समस्त संस्थायें सम्मिलित हैं जो कि जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमें ये सब केवल 'एक एकत्रीकरण के रूप में सम्मिलित नहीं होती हैं, बल्कि एक ऐसे ढांचे के रूप में होती हैं जो कि राजनैतिक संगठन का जीवन-अर्थ प्रदान करता है, जबकि वह स्वयं इससे पारस्परिक समान्जस्य प्राप्त करता है जिसका परिणाम होता है प्रसरण तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।"[1] स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव जीवन राज्य के अन्तगत आता है। राज्य मानव जीवन का पूर्ण रूप से अभिव्यक्तिकरण है। सभ्य जीवन के लिये राज्य नितान्त आवश्यक है। स्वयं बासाके के कथनानुसार—

"राज्य से हमारा अर्थ समाज की एक ऐसी इकाई से है जो अपने सदस्यों पर निरकुश भौतिक शक्ति के द्वारा नियन्त्रण रखती हो। जैसा हम पहले कह चुके हैं, एक राष्ट्रीय राज्य एक विस्तृत संगठन है जो साधारण अनुभव से सामान्य जीवन के लिए आवश्यक है। एक बड़े समाज से इसका कोई निश्चित कर्त्तव्य नहीं है। यह स्वयं एक सर्वोच्च समाज है। यह समस्त नैतिक दुनिया का रक्षक है, परन्तु एक संगठित नैतिक दुनिया के भीतर एक अंश नहीं है। नैतिक सम्बन्धों के लिए एक संगठित जीवन की आवश्यकता है। परन्तु ऐसा जीवन केवल राज्य में ही सम्भव है, राज्य तथा दूसरे समाजों के सम्बन्ध में नहीं।"[2]

---

1. [illegible] State means "a general organization [illegible] the entire hierarchy [illegible] ned, from the family to the trade, and from the trade to the Church and the University It includes all of them, not as a *mere collection* of the growths of the country, but as the structure which gives life and meaning to the political whole, while receiving from it mutual adjustment, and therefore expansion and more liberalism."

—*Bosanquet*, op cit, Page 139

"By the state, then we mean society as a unit recognised as rightly *exercising control over its* members through abso-

बोसांके राज्य को जीवन का व्यावहारिक दर्शन मानते हुए समस्त समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों का निरीक्षण करके उनमें सुधार करता है। वह समुदायों के बीच समन्वय स्थापित करता है और उनके पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करता है। बोसांके के अनुसार "राज्य समुदायों का समुदाय, संस्थाओं की संस्था तथा संघों का संघ है।" इसलिए वह बल प्रयोग भी कर सकता है। राज्य संगठित शक्ति का प्रतीक है जो एक सुन्दर जीवन को प्रोत्साहन देता है, किन्तु बुरे एवं असद् मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों को बल प्रयोग द्वारा सन्मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। राज्य एक सर्व-अन्तर्यामी संस्था है। राज्य का कार्य-क्षेत्र सर्वव्यापी है। राज्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है। उसकी उपस्थिति में ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। बोसांके हीगल के इस विचार से सहमत प्रतीत होता है कि राज्य के आदेशों का पालन करने से ही व्यक्ति का कल्याण सम्भव है। राज्य की आज्ञायें व्यक्ति की सामान्य इच्छा की प्रतीक होती हैं जिनमें व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाएं अभिव्यक्त होती हैं।

बोसांके राज्य को सर्वोच्च नैतिकता का मूर्तिमान स्वरूप मानकर राज्य की तुलना में व्यक्ति को कम महत्वपूर्ण स्थान देता है। वह हीगल के समान ही राज्य का आदर्शीकरण करता है। वह व्यक्ति को राज्य की दया पर ही छोड़ देता है तथा आग्रहपूर्वक यह मान्यता प्रकट करता है कि राज्य किसी एक व्यक्ति या संस्था का प्रतिनिधित्व न करके समान रूप से सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल की भांति राज्य को सर्वव्यापी एवं सार्वभौम मानते हुए वह राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं देता और कहता है कि राज्य के अस्तित्व में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व है। बोसांके के मत में ऐसे किसी भी नैतिक विधान की कल्पना नहीं की जा सकती जो राज्य के ऊपर हो। ग्रीन इस बात को नहीं मानता था। ग्रीन का राज्य की अवज्ञा करने का व्यक्ति का अधिकार एक प्राकृतिक कानून की कल्पना पर आधारित था। बोसांके इस विचार को छोड़कर हीगल से सहमत हो जाता है और यह मानता है कि राज्य के कार्यों को किसी प्रकार की नैतिकता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। "नैतिक संगठनों के लिये एक संगठित जीवन भी पूर्वावश्यक है किन्तु इस प्रकार का जीवन केवल राज्य के अन्दर ही सम्भव हो सकता है, उसके और अन्य समुदायों के बीच सम्बन्धों के रूप में नहीं।" मुरे (Murray) का कहना है कि, "राज्य एक

---

lute physical power. The nation state, we have already suggested, is the widest organisation which by common experience is necessary to found a common life. It has no determinate function in a larger community, but is itself the supreme community, the guardian of a whole moral world, but not a factor within an organised moral world. Moral relations pre-suppose an organised life, but such a life is only within the state, not any relations between the state, and other communities."

—*Bosanquet*

प्रकार का चर्च, मानवता का चर्च बन जाता है और इसकी सदस्यता एक महान् आध्यात्मिक अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संक्षेप मे हीगल की भांति ही बोसाके से लिये भी राज्य नागरिक के लिये अन्तिम नैतिक शक्ति है और वह नागरिकों के अन्त करण का सरक्षण है।"[1] इस तरह राज्य बोसाके के लिए एक प्रातकपूर्ण एव रहस्यमयी चीज बन जाता है जिसके प्रति हमे भक्तिभाव रखना चाहिये तथापि यह नही भूलना चाहिये कि यह हीगल को इस आधार पर आलोचना करता है कि उसका राज्य सिद्धान्त यथार्थ-जीवन के तथ्यो के सर्वथा अनुरूप नही है। उसका तर्क था कि यदि कोई व्यक्ति एथेन्स के दास से कहता कि एथेन्स राज्य स्वतन्त्रता की अनुभूति है तो यह एक निमम उपहास होता। ठीक इसी भांति आधुनिक नगरो की नरक बस्तियो (Slums) के वासी निरक्षर एव भूख से पीडित मजदूरो को भी राज्य स्वतन्त्रता की प्रतिमूर्ति नहीं दिखाई दे सकती।

बोसाके के राज्य सिद्धान्त और उसमे निहित उसकी वास्तविक मशा की काकर ने बडी ही विद्वतापूर्ण समीक्षा करते हुए लिखा है कि—

"बोसाके ने उस सस्था के महत्व पर अधिक जोर देने की आवश्यकता अनुभव की जिसमे 'अन्य सब हितो एव सस्थाओ का समावेश है और जो उन्हे सम्भव बनाती हैं।' छोटी सस्थाए आशिक हैं जो हमारे जीवनो के समूचे क्षेत्रो को और हमारे नागरिक बन्धुओ के समूचे समूहो को छोड देती है। राज्य अपनी सदस्यता तथा योग्यता की दृष्टि से अधिक सर्वाङ्गपूर्ण होने के कारण इन छोटी सस्थाओ से नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतम है, वह 'सर्वोच्च समाज' (Supreme Community) है। वह समस्त सामाजिक सस्थाओं के ऊपर है, वह केवल भौतिक शक्ति द्वारा नियन्त्रण ही नही करती, नैतिक दृष्टि से भी सर्वोच्च है। जब राज्य तथा नागरिको मे मतभेद होता है तब राज्य ही आवश्यक रूप से ठीक होता है। मनुष्य की सच्ची नैतिकता तथा उसका सच्चा सुख मुख्य कर सगठित समाज मे अपने नियत कर्तव्य का सन्तोषजनक रीति से पालना करने मे ही है। मानवीय श्रेष्ठता इसी मे है कि प्रत्येक व्यक्ति एक नागरिक होने के नाते अपना कतव्य पालन करे। उसकी सफलता नागरिक कर्तव्यो के पालन के साथ जुडी हुई है और उसका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य राज्य द्वारा स्वीकृत आचार पद्धति (Modes of Conduct) के अनुरूप अपना जीवन बनाना है। अत राज्य समाज को सगठित जीवन की रक्षा एव सुधार के लिये जो कुछ भी आवश्यक समझे उचित रूप मे कर सकता है और वही इसका एक मात्र निर्णायक है कि इसके लिये आवश्यकता किस बात की है। वह आवश्यकता (जिसका वह स्वय ही निर्णायक है) पडने पर उस समाज के प्रति भक्ति के अतिरिक्त, जिसका वह प्रतिनिधि है, किसी भी भक्ति की बाहरी कार्यों मे अभिव्यक्ति को

1. "The state becomes for him a sort of Church, the Church ... of it is nothing else than a ... t for Bosanquet as for ... moral authority for the ...nce"

—*Murray*

रोक सकता है तथा उसका निषेध कर सकता है और वह ऐसा अवश्य करेगा ।"[1]

(४) राज्य के कार्यों, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यों पर बोसांके के विचार (Bosanquet on State Action and Public and Private Acts)—बोसांके ग्रीन के इस विचार से सहमत है कि राज्य का कार्य एक शुभ जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हटाने तक सीमित है । उसके ही कथनानुसार, "तब, हम कहते है कि सर्वोत्तम जीवन के लिये राज्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता प्रत्युत केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है ।"[2] ग्रीन की भांति ही बोसांके आग्रहपूर्वक कहता है कि यद्यपि राज्य के कार्य का तात्कालीक रूप नकारात्मक होता है किन्तु सत्य यह है कि अपनी वास्तविक क्रियाओं एवं अपने अन्तिम उद्देश्यों में वह सकारात्मक अथवा विधेयात्मक होता है । अनिवार्य शिक्षा द्वारा निरक्षरता को समाप्त करना, मदिरा के क्रय-विक्रय को नियंत्रित करके नशेबाजी को रोकना आदि राज्य के विधेयात्मक कार्य हैं क्योंकि इनका उद्देश्य अपने अन्तिम रूप में नैतिक है । इनका ध्येय मूलत: चरित्र के उन गुणों को स्वतन्त्र करना है जो बाधाओं की अपेक्षा निश्चय ही महानतर है । राज्य द्वारा ऐसे कार्यो पर किसी भी उद्देश्य से करना बिल्कुल न करने की अपेक्षा तो अच्छा ही है । लेकिन राज्य द्वारा ऐसे कार्य किये जाना उपयुक्त नहीं है जिनका मूल्य तभी होता है जब वे स्वतन्त्र इच्छा द्वारा निर्धारित हों । इस तरह राज्य के कार्य-सिद्धान्त में बोसांके ग्रीन से अलग नहीं है । वह ग्रीन की हां में हां मिलाते हुए यह स्वीकार करता है कि राज्य के कार्यो का केवल वाह्य पक्ष होता है । वह अपने कार्यों से "मनुष्य के अन्त:स्थल को प्रभावित करके प्रत्यक्ष रूप से उसको नैतिक नहीं बना सकता । वह अप्रत्यक्ष रूप से ही नैतिकता की वृद्धि के लिये कार्य कर सकता है ।"

राज्य के कार्यो-सम्बन्धी विचार में ग्रीन से उपरोक्त सीमा तक सहमत होते हुए भी बोसांके राज्य के कार्यो की नैतिकता का सीमांकन करते समय हीगल के निकट जा पहुंचता है । वह ऐसी किसी नैतिक प्रणाली की सत्ता में विश्वास नहीं करता जिसका राज्य से स्वाधीन होकर समाज में अस्तित्व हो, क्योंकि राज्य तो एक सम्पूर्ण नैतिक जगत का संरक्षक है, एक संगठित नैतिक जगत का तत्व नहीं । ग्रीन एक नैसर्गिक कानून की सत्ता में विश्वास करता था जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा आदर्श अथवा कसौटी थी जिसके आधार पर नागरिक राज्य की आलोचना कर सकते हैं और उसका निर्णय कर सकते हैं । वह मानता था कि समाज में राज्य से स्वतन्त्र एक नैतिक प्रणाली का अस्तित्व होता है जिसके आधार पर व्यक्ति राज्य के कार्यो की समीक्षा कर सकता है । साथ ही वह राष्ट्रीय ईर्ष्याओं से पूर्ण, युद्ध के लिये सन्नद्ध सेनाओं से सुसज्जित यूरोपीय राज्यों की तुलना में एक

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४५९–६०
2. "We say, then, that the state as such can do nothing for the best life but hinder hindrances to it."
—*Bosanquet*; op. ct. Page 183

श्रेष्ठतर व्यवस्था का स्वप्न देखता था और राज्यों की अनुमति पर आधारित अधिकार से सम्पन्न एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना करता था। विश्व भ्रातृत्व की धारणा ग्रीन के मन में स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उपसिद्धान्त था और यही उसके विचारों की सैद्धान्तिक भूमि। लेकिन बोसांके यहां ग्रीन से सहमत नहीं था। वह तो इस बात पर बल देता था, "नैतिक सम्बन्धों के लिये एक संगठित जीवन की पूर्ण आवश्यकता है; लेकिन ऐसा जीवन केवल राज्य के अन्तर्गत है, राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच सम्बन्धों में नहीं।"[1] उसके विचारों की आधारभूमि तो यही थी कि बड़े समुदाय में राज्य के कोई निश्चित कृत्य नहीं हैं। राज्य स्वयं सर्वोच्च समुदाय है जो नैतिकता का परम संरक्षक है किन्तु स्वयं संगठित नैतिक विश्व का अंग नहीं है।

अपने उपरोक्त विचारों के परिणामस्वरूप ही बोसांके ने सार्वजनिक और व्यक्तिगत कार्यों (Public and Private Acts) में अन्तर प्रकट किया है। उदाहरण के लिये वह कहता है कि यदि एक व्यक्ति हत्या करता है तो यह एक व्यक्तिगत कार्य है, किन्तु यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से युद्ध छेड़ देता है या ऋण लौटाने से इन्कार कर देता है तो यह सार्वजनिक कार्य है। इन दोनों स्थितियों में किये गये अपराधों की मात्रा में अन्तर है। वह तर्क देता है कि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर नीच कार्य करता है किन्तु राज्य व्यक्तियों के नैतिक हित के उच्चादर्श को ध्यान में रखकर कार्य करता है, अतः यदि वह युद्ध भी लड़ता है तो अपराध नहीं करता। इसी आधार पर बोसांके युद्ध का पक्ष लेता है और हीगेलियन विचारधारा के बहुत समीप पहुँच जाता है। बोसांके के व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों के इस अन्तर से स्पष्ट है कि चोरी करना, हत्या करना, झूठ बोलना, व्यक्तिगत द्वेष रखना आदि सार्वजनिक कार्य नहीं हो सकते क्योंकि ऐसे कार्यों में समाज की कोई रुचि नहीं हो सकती और न ही ऐसे कार्य करनेवाला व्यक्ति इस आधार पर उनको ठीक बता सकता है कि वे उसके कार्य न होकर राज्य के कार्य हैं। किन्तु युद्ध, ऋण का जब्त किया जाना या उससे इन्कार किया जाना आदि सार्वजनिक कार्य हैं जो चोरी तथा हत्या से सर्वथा भिन्न हैं। ये कार्य व्यक्तिगत द्वेष के कारण नहीं किये जाते। इन कार्यों में नैतिक व्यवस्था को किसी एक व्यक्ति के द्वारा, जो अपने जीवन तथा रक्षा के लिए राज्य पर निर्भर होता है, भंग नहीं किया जाता। सार्वजनिक कार्य राज्य के होते हैं जो जनता का रक्षक होता है। राज्य के कार्यों का इस तरह नैतिक निर्णय नहीं हो सकता जिस तरह व्यक्तिगत कार्यों का होता है। राज्य को व्यक्तिगत अनैतिकता का अपराधी नहीं समझा जा सकता। व्यक्तिगत आधार पर राज्य कार्यों की आलोचना करना त्रुटिपूर्ण है। यह अवश्य है कि अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिये राज्य जो कार्य करता है, उनकी आलोचना की जा सकती है। सार्वजनिक

1. "Moral relations presuppose an organised *life, but such a life is only within the state,* not in relations between the state and other communities."
—*Bosanquet op. cit,* Page 302

कार्य को अनैतिक कार्य तब कहा जा सकता है जबकि वे अंग जो राज्य के लिये कार्य करते हैं, अपने सार्वजनिक कार्यों में स्वार्थ तथा बर्बरता की भावनाएं प्रदर्शित करते हैं। बोसांके मानता है कि यदि सार्वजनिक कार्य "समाज के सक्रिय समर्थन के साथ किये जाते हैं और वे अनैतिक होने के कारण निंद्य हैं तो राज्य का 'मानवता तथा इतिहास के न्यायालय के सामने' निर्णय होगा।" राज्य के कार्यों का व्यक्तिगत न्यायालय में निर्णय नहीं हो सकता। राज्य के कार्य आलोचनीय हो सकते हैं लेकिन यह स्वीकार्य नहीं है कि उनका भी उसी प्रकार निर्णय किया जाय जिस तरह कि प्राइवेट नागरिकों का। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य के अधिकारी या अभिकर्त्ता जो अनैतिक कृत्य करते हैं, उन कृत्यों के लिये राज्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

(५) **बोसांके के दण्ड सम्बन्धी विचार (Bosanquet on Punishment)**—दण्ड-नीति सम्बन्धी अपने सिद्धान्त में बोसांके ग्रीन से कुछ पृथक हो जाता है। बोसांके का दृष्टिकोण ग्रीन की अपेक्षा अधिक धनात्मक (Positive) है।[1] ग्रीन के अनुसार दण्ड का मूल स्वरूप प्रतिरोधात्मक (Deterrent) होने के साथ साथ प्रतिकारात्मक (Retributive) तथा सुधारात्मक (Reformaive) भी है। ग्रीन के इस सिद्धान्त में थोड़ा संशोधन करते हुए बोसांके कहता है कि दण्ड के प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक, तथा सुधारात्मक सिद्धान्तों में भेद करना और अन्य को छोड़कर उनमें से किसी एक को सही मान लेना निरर्थक है। "दण्ड आक्रमण के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। आक्रमण एक आघात है और साथ ही साथ वह एक खतरा है और चरित्र का द्योतक है, इसलिये उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया, अर्थात् दण्ड द्वारा एक ही साथ दण्ड का प्रतिकार, खतरे का प्रतिरोध तथा चरित्र को सुधारने का प्रयास होना चाहिये।"

बोसांके की मान्यता है कि संस्थाओं को आलोचना प्रदान करनेवाले के रूप में राज्य मुख्यत: दण्ड शक्ति का आगार है। यह पहले उपदेश, समझौता आदि नीति का आधार लेकर किन्तु सफल न होने पर दमन यंत्र का यह निश्चयात्मक प्रयोग करेगा। किन्तु इस प्रकार का दमन और नियंत्रण अन्तिम अस्त्र है और अन्य साधनों की विफलता के बाद ही उसका प्रयोग होता है। बोसांके का कथन है कि ऑस्टिन ने संप्रभुता को दण्ड बल से तद्रूप कर दिया है किन्तु इसका (संप्रभुता का) वास्तविक रूप यह है कि समस्त संस्थाओं की क्रियात्मकता में ही यह निवास करती ह।

बोसांके का विश्वास है कि समाज विरोधी तत्व दण्ड के द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं। दण्ड से अपराधी का सुधार होना चाहिये। लेकिन वह उसके निषेधात्मक पक्ष से सहमत नहीं है। वह दण्ड के उद्देश्य तथा

---

1. Bosanquet' seens to differ from Green in assigning to punishment a peculiarly positive quality, which modifies the general theory of the negative character.

—*Barker*

स्वरूप को विधेयात्मक या धनात्मक (Positive) मानता है। उसका दण्ड-सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधारित है। व्यक्ति के शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म प्रवाहशीलता का अस्तित्व होता है तथा व्यक्ति के शरीर मे जो कार्य अर्द्ध-चेतनावस्था मे हुआ करते हैं उनकी अभिव्यक्ति बाह्य क्षेत्र में होती है। बोसाके एक उदाहरण द्वारा अपने मन्तव्य को स्पष्ट करता है। मान लीजिये कि आप किसी रास्ते पर चले जा रहे हैं और विचारों मे निमग्न है। तभी आपको एक ठोकर लगती है। इस घटना का प्रभाव आपके मस्तिष्क के चेतन भाग पर पड़ता है। परिणामस्वरूप आप पुन उस रास्ते से जाने के पूर्व सावधान हो जाते है। दण्ड की भी यही प्रवृत्ति है वह भी इसी प्रक्रिया को जागृत करता है। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है या किसी के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है तो जो दण्ड उसे मिलता है उससे उसके चेतन मस्तिष्क पर एक प्रकार का धक्का लगता है। इस धक्के के लगने से अपराधी का मस्तिष्क ठिकाने पर आ जाता है और वह अपराध की पुनरावृत्ति न करने का निश्चय कर लेता है। स्पष्ट है कि बोसाके के मतानुसार दण्ड इस अभिप्राय से नहीं प्रतिपादित किया जाता कि उस दण्ड के कारण भविष्य मे वैसी गलतियां दण्डित मनुष्य नहीं करेगा, प्रत्युत दण्ड इसलिये दिया जाता है कि चेतना के जागरण के कारण मनुष्य पुनः वैसी गलती करने के प्रति सावधान रहेगा। डॉ० बार्कर ने इस सम्बन्ध म लिखा है कि—

"इस प्रकार दण्ड का अर्थ यह हो सकता है (यह नहीं कि मैं भविष्य में अपराध इसलिए न करूं क्योंकि मुझे फिर से ऐसा धक्का लगने का भय है (कि मै भविष्य में भूल न करूं क्योंकि मैं अपने आपे मे आ गया हूँ, आदतों की पूर्ण प्रणाली को मेरी चेतना जागृत हो चुकी है और ऐसी चेतना के प्रकाश मे मैंने यह अनुभव कर लिया है कि मेरे अपराध करने का क्या अर्थ है।"[1]

इस तरह बोसांके ने दण्ड मे विलक्षण रूप से एक विधेयात्मक गुण के दर्शन किये हैं, लेकिन इसका कोई कारण नही हो सकता कि राज्य द्वारा किये हुए अन्य बाध्यकारी कार्यों मे यह गुण वर्तमान न हो। बोसाके के कथनानुसार 'यह सोचना भारी भूल है कि राज्य द्वारा प्रयुक्त शक्ति केवल अपराधियों को संयत रखने तक ही सीमित है। इसका उसके घटकों के मन पर स्फूर्तिजनक प्रभाव पड़ता है।" इस भांति बोसाके राज्य-कार्य के उस नकारात्मक स्वरूप मे, जिस पर ग्रीन ने इतना बल दिया है, संशोधन करता है।

---

1. "Thus punishment may mean, not that henceforth I cease *to have slips because I fear to experience a like shock again*, but that henceforth I cease to have slips *because* I have come to my senses, have had my consciousness of the meaning of a whole system of habits awakened, and have realised, in the light of such consciousness, *what my offending means*"

—*Barker* : op. cit., Pages 76-77

बोसांके के दर्शन की आलोचना और मूल्यांकन
(Criticism and Estimate of Bosanquet's Thought)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोसांके का ब्रिटिश आदर्शवादियों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु उसका दर्शन विद्वानों को विभिन्न दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण लगा है और उसकी काफी आलोचना हुई है।

हाबहाउस बोसांके का कटु आलोचक है। उसका कथन है कि बोसांके की यथार्थ इच्छा एव वास्तविक इच्छा (Actual will and Real will) के मध्य कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाई देता। वह यथार्थ को वास्तविक तथा वास्तविक को यथार्थ मानने का पक्षपाती है। बोसांके के अनुसार वैयक्तिक वास्तविक इच्छा सामाजिक इच्छाओं एवं शक्ति की एकता में व्यक्त होती है। किन्तु हाबहाउस उसके इस मत से सहमत नहीं है। उसे बोसांके का यह कथन बड़ा उपहासमय प्रतीत होता है कि एक चोर की वास्तविक इच्छा (Real will) राज्य कर्मचारियों द्वारा जेल में बद होने की है, लेकिन उसकी यथार्थ इच्छा उसे चोरी के लिये प्रेरित करती है। हाबहाउस के अनुसार स्थिति इससे बिल्कुल उल्टी है। चोर की जो इच्छा उसे चोरी करने हेतु प्रेरित करती है वही उसकी पूर्ण इच्छा है, फिर चाहे उसे यथार्थ इच्छा कह कर पुकारा जाय अथवा वास्तविक इच्छा कहा जाय। इन दोनों इच्छाओं में कोई भी स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता। वास्तव में इच्छा को 'यथार्थ' और 'वास्तविक' दो अलग-अलग रूप में मानना शब्दों के साथ खिलवाड़ करना है। किन्तु यह आलोचना बलशाली होते हुए भी पूर्णतः न्याय संगत नहीं मानी जा सकती क्योंकि बोसांके ने इन शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ किया है। हम जीवन मे यह अनुभव करते हैं कि हमारा कोई कार्य ठीक वैसा ही नहीं होता जैसा दूसरा होता है। अस्तु, बोसांके का भेद उचित ही कहा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'The Metaphysical Theory of the state' में स्वयं हाबहाउस ने अपनी आलोचना में संशोधन करते हुए बोसांके द्वारा किये गये विभेद को स्वीकार किया है, यद्यपि वह 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के स्थान पर 'अस्थायी' और 'स्थायी' ('Transitory and Permanent in place of Actual and Real) शब्दों की प्रयोग करते हैं।

बोसांके राज्य सस्था को तब अत्यधिक महत्व दे देता है जब वह यह कहता है कि "बड़े समुदाय में राज्य के कोई निश्चित कृत्य नहीं हैं, राज्य स्वयं सर्वोच्च समुदाय है, नैतिकता का परम संरक्षक है, किन्तु संगठित नैतिक विश्व का अंग नही है।" इस प्रकार का विचार अथवा दृष्टिकोण तो राज्य को अनुत्तरदायी एव निर्दयी बना देता है। बोसांके राज्य की अति-महत्ता पर इतना बल देता है कि व्यक्ति एव उसकी स्वतन्त्रता निर्ममतापूर्वक कुचल दी जाती है। बोसांके की दृष्टि में, राज्य के अधिकारी या अभिकर्त्ता जो अनैतिक कृत्य करते है, उन कृत्यों के लिए राज्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। लेकिन, वास्तव में, राज्य के कृत्यों और राज्य के अभिकर्त्ताओं के कृत्यों (कार्यों) के मध्य भेद करना कठिन और अस्वाभाविक है। निःसदेह शासन, राज्य का अभिकर्त्ता है, तथापि राज्य अमूर्त सस्था हैं जबकि शासन वास्तविक सत्य है। इस तरह शासन के कृत्य वस्तुतः राज्य के ही कृत्य हैं। अतः "यदि

कोई नागरिक अपने राज्य को व्यक्तिगत हानियो के लिये उत्तरदायी ठहरा सकता है, तो फिर ऐसा राज्य जिस पर वैधिक उत्तरदायित्व प्रभावी है, नैतिक उत्तरदायित्वो से अपने आप को अलग नहीं रख सकता, बशर्ते कि राज्य के नैतिक उत्तरादायित्व स्थापित किये जा सकते हैं।"[1] बोसाके का राज्य यदि अपने अभिकर्त्ताओं के कृत्यो के लिये उत्तरदायी नही है, तो वह अनुत्तरदायी और अत्याचारी हो जाता है, विशेष रूप से इसलिये कि बोसाके ने राज्य और समाज के बीच भेद नही किया है। बोसाके एक ऐसे चरमतावादी राज्य की कल्पना करता है जो व्यक्ति के नैतिक उत्थान के बदले उसके विकास को कुण्ठित कर देता है।

हॉबहाउस का कथन है कि बोसाके का यह मत, कि राज्य सामान्य इच्छा (General will) का प्रतिरूप है, असगत है। राज्य व्यक्तियो के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधि कभी नही हो सकता। ऐसा समय आ सकता है जबकि वास्तविक इच्छा (Real will) को विरोधी बन जाय।

पुन., हाबहाउस के ही अनुसार बोसाके की यह भयानक भूल है कि उसने राज्य और समाज के अन्तर को नहीं पहिचाना तथा व्यावहारिक दृष्टि से वह व्यक्ति का राज्य मे विलीन कर देता है। यह विचार प्रतिक्रियावादी है और मानव स्वतन्त्रता एव प्रगति का विरोधी है। राज्य और समाज दो भिन्न-भिन्न सस्थाए है जिन्हे समानार्थक मानकर चलना गलत है।

बोसाके के सामाजिक बुद्धि अथवा सगठन सम्बन्धी विचारो का आक्षेप करते हुए आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने लिखा है कि "राज्य को एक एस सामाजिक सगठन क रूप मे धारण करना जो उसका निर्माण करने वाली व्यक्तिगत सस्थाओ स उच्चतर स्थिति मे हो मूलत एक अप्रजातन्त्रवादी धारणा है।"[2] इसी लेखक ने आगे कहा है कि, "यदि सामाजिक सगठन के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक प्रयोग किया जाय तो उसका परिणाम होगा राज्य की एक अभूतपूर्व दासता।"[3] यद्यपि आइवर ब्राउन के इन कथनो मे पर्याप्त बल है परन्तु फिर भी इस विषय पर बोसांके के विचार इस दृष्टि से अधिक परिपक्व प्रतीत होते हैं कि समाज के व्यक्तियो मे शारीरिक दृष्टि

---

1 'If a citizen can thus treat it own state as legelly responsible for damages, it is difficult to see why a state which can undergo legel responsibility should not also undergo moral responsibility, if there is any body of moral opinion to affix responsibility."

—*Barker* : op cit , Page 65

2 ... of the state as a social organism, transcen- ... compose it, is funda- ...

... *Theory, Pages 144-45*

3 "If the concept of the social organism is regorously complied, the result is state slavery on an unparalleled scale"
—*Ivor Brown* . op cit 148

कोई नागरिक अपने राज्य को व्यक्तिगत हानियो के लिये उत्तरदायी ठहरा सकता है, तो फिर ऐसा राज्य जिस पर वैधिक उत्तरदायित्व प्रभावी है, नैतिक उत्तरदायित्वो स अपने आप को अलग नही रख सकता, बशर्ते कि राज्य के नैतिक उत्तरादायित्व स्थापित किये जा सकते हैं।"[1] बोसाके का राज्य यदि अपने अभिकर्त्ताओ के कृत्यो के लिये उत्तरदायी नही है, तो वह अनुत्तरदायी और अत्याचारी हो जाता है, विशेष रूप से इसलिये कि बोसाके ने राज्य और समाज के बीच भेद नही किया है। बोसाके एक ऐसे चरमतावादी राज्य की कल्पना करता है जा व्यक्ति क नैतिक उत्थान के बदले उसके विकास को कुण्ठित कर देता है।

हॉबहाउस का कथन है कि बोसाके का यह मत, कि राज्य सामान्य इच्छा (*General will*) का प्रतिरूप है, असगत है। राज्य व्यक्तियो के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधि कभी नही हो सकता। ऐसा समय आ सकता है जबकि वास्तविक इच्छा (Real will) की विरोधी बन जाये।

पुन, हाबहाउस के ही अनुसार बोसाके की यह भयानक भूल है कि उसने राज्य और समाज के अन्तर को नही पहिचाना तथा व्यावहारिक दृष्टि से वह व्यक्ति का राज्य मे विलीन कर देता है। यह विचार प्रतिक्रियावादी है और मानव स्वतन्त्रता एव प्रगति का विरोधी है। राज्य और समाज दो भिन्न-भिन्न सस्थाए है जि हे समानाथक मानकर चलना गलत है।

बोसाके के सामाजिक बुद्धि अथवा सगठन सम्ब धी विचारो वा आक्षेप करत हुए आइवर ब्राउन (*Ivor Brown*) ने लिखा है कि "राज्य को एक एस सामाजिक सगठन क रूप म धारण करना जो उसका निर्माण करने वाली व्यक्तिगत सस्थाओ से उच्चतर स्थिति मे हो मूलत एव अप्रजातन्त्रवादी धारणा है।"[2] इसी लखक न आग कहा है कि, "यदि सामाजक सगठन के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक प्रयाग किया जाय तो उसका परिणाम हागा राज्य की एक अभूतपूर्व दासता।"[3] यद्यपि आइवर ब्राउन के इन कथनों म पर्याप्त बल है परन्तु फिर भी इस विषय पर बोसांके के विचार इस दृष्टि से अधिक परिपक्व प्रतीत होते है कि समाज के व्यक्तियों मे शारीरिक दृष्टि

---

1 "If a citizen can thus treat it own state as legelly responsible for damages, it is difficult to see why a state which can undergo legel responsibility, should not also undergo moral responsibility, if there is any body of moral opinion to affix responsibility."

—*Barker* : op cit, Page 65

2 "I[illegible] on of the state as a social organism, transcen- [illegible] compose it, is funda- [illegible]

[illegible] ; Theory, Pages 144-45

3 "If the concept of the social organism is regorously complied, the result is state slavery on an unparalleled scale"

—*Ivor Brown*. op cit 148

से पृथक्करण है। वे एक दूसरे से अलग हैं। लेकिन बुद्धि की दृष्टि से उनमें पर्याप्त एकता है। एक शरीर की अपेक्षा बुद्धि के आधार पर व्यक्तियों को अधिक पृथक नहीं कर सकते। इसीलिए बोसांके ने सामाजिक बुद्धि की धारणा स्वीकार की प्रतीत होती है। उसका यह विचार सत्य है कि समाज के बिना मनुष्य अपना जीवन नहीं प्राप्त कर सकता। मानवीय प्रकृति का निर्माण समाज के अन्तर्गत ही होता है।

बोसांके अन्तर्राष्ट्रीयवाद में कोई विश्वास प्रकट नहीं करता। वह राष्ट्रीय राज्य की कल्पना को अपना उद्देश्य मानकर आगे बढ़ता है जो अनुचित है एवं अशुद्ध है। राष्ट्रीय राज्य को मानवता का अन्तिम ध्येय (Final goal of humanists) नहीं माना जा सकता। बोसांके यह भूल जाता है कि सभ्यता के विकास के साथ साथ मानवता को एक दिन अन्तर्राष्ट्रीयता को अपना उद्देश्य बनाना होगा। १९१९ का राष्ट्र संघ और १९४५ का संयुक्त राष्ट्र संघ (जो आज भी वर्तमान है) मानवता के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रमाण हैं। बोसांके युद्ध की अवस्था में राज्य को अपराधी नहीं मानता है अतः उस पर युद्ध-प्रेमी होने का भी दोष लगाया जाता है, यद्यपि इसमें सत्यार नहीं है।

उपरोक्त आलोचनाओं के होते हुए भी बोसांके के विचार आदर्शवादी चिन्तन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। बोसांके का विशाल पांडित्य तथा उसकी समन्वयकारिणी प्रतिभा उसके ग्रंथों से व्यक्त होती है। अपने ग्रंथ (The philosophical Theory of the State) के तृतीय संस्करण में उसने लीग आफ नेशन्स का महत्व स्वीकार कर इस बात का परिचय दिया कि उसका मस्तिष्क नूतन विकासों का तत्व समझ सकता था।

बोसांके का सबसे बड़ा अनुदाय एवं महत्व इस बात में है कि वह काफी हद तक इस बात को स्पष्ट करने में सफल हो गया कि व्यावहारिक मामलों में राज्य सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक चेतना अन्य कुछ नहीं, व्यक्ति की नैतिक चेतनाओं का सामूहिक स्वरूप है। बोसांके ने यह भी अधिक स्पष्टतापूर्वक बतला दिया है कि राज्य एक ऐसा सम्वास है जिससे हमें अधिकतम सुरक्षा मिल सकती है और आदर्शवादी विचारधारा एक ऐसी मानसिक अभिरुचि है जिसमें हम यह विचार नहीं करते कि वर्तमान परिस्थितियां और सम्वास क्या हैं, बल्कि यह विचार करते हैं कि उन्हें कैसा होना चाहिये। आदर्शवादियों के नेता प्लेटो ने यही किया, अरस्तू ने यही किया, हीगल और काण्ट ने यही किया तथा ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके ने भी इन्हीं की परम्परा का अनुकरण किया। बोसांके के दर्शन का महत्व इसलिये भी है कि उसने राज्य और समाज में एक विशाल अन्तर की स्थापना की है। उसके दृष्टिकोण को बार्कर ने इस तरह व्यक्त किया है कि "राज्य का क्षेत्र यांत्रिक क्रिया का है, उसकी स्फूर्ति का आधार बल है, उसकी कार्यपद्धति में कठोरता है, जबकि समाज का क्षेत्र स्वेच्छापूर्ण सहयोग है, उसकी स्फूर्ति का आधार सद्भावना है, उसकी कार्य पद्धति में लचीलापन है।"[1] राज्य और समाज को सामान्यतया पर्यायवाची शब्द समझते हुए भी

1. "The area of stete is rather that of mechiamical action, its curghforce, its method rigidity, while the area of society is

बोसांके के इन दोनों में विभेद स्थापित करते हुए हीगल आदि अन्य विचारकों की तरह इधर-उधर भटका नही है। वस्तुत ब्रिटिश आदर्शवादी विचारधारा के विकास में बोसांके का अमर *स्थान है।* वह ग्रीन के सिद्धान्तों को लेकर चलता है और उन्हें अधिक पूर्ण हीगलवाद की दिशा मे विकसित करता है। उसका यह प्रयत्न हाब्स, लाक, बेंथम, मिल तथा स्पेन्सर के व्यक्तिवाद और उदारवाद के विरुद्ध राज्य की धारणा को पुनर्जीवित करने का एक संकल्पबद्ध प्रयास है।

ग्रीन और बोसांके
(Green and Bosanquet)

ग्रीन और बोसांके–ये दो अंग्रेज विचारक आदर्शवाद के दो छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समय की दृष्टि से यद्यपि ग्रीन पहले आता है पर विचारो की क्रमबद्धता के अनुसार उसका दर्शन बोसांके के हीगलवादी दर्शन से अधिक स्पष्ट, सुन्दरतर तथा आधुनिकता के अधिक निकट है। इन दोनो आदर्शवादियों में अनेक स्थानो पर कुछ विचार साम्य है, किन्तु साथ ही ऐसे *स्थानों की भी कमी नहीं है जहां ये एक दूसरे को फूटी आंख से भी नहीं* देख सकते।

समानतायें (Resemblances)—दोनो के विचारों मे मुख्य समानतायें संक्षेप मे ये हैं—

(१) दोनो ही विचारक अपने दर्शन के गुम्फन में ग्रीक दर्शन से प्रेरणा लेकर प्रवृत्त हुए हैं तथा रूसो, काण्ट, हीगल आदि आदर्शवादी पूर्वजों का प्रभाव दोनो ही के दर्शन पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

(२) दोनों ही राज्य को अनिवार्य और स्वाभाविक मानते हैं, जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है।

(३) राज्य को एक नैतिक संस्था मानने के अतिरिक्त ये दोनों ही राज्य को निषेधात्मक कार्य (Nagative functions) देना चाहते हैं, जिसके कारण इन दानो के राज्य का स्वरूप तथा कार्य क्षेत्र बहुत कुछ भिन्न होते हुए भी काफी समान हैं।

(४) ये दोनों ही जर्मन आदर्शवादियो द्वारा पूजे गये निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के विरोधी हैं। स्वभावत अंग्रेज होने के नाते दोनो को ही अपनी प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाओ से प्रेम तथा मोह है।

अन्तर (Differences)—दोनो के विचारो मे मुख्य अन्तर संक्षेप मे ये हैं—

(१) ग्रीन नागरिको को राज्य के अत्याचारी तथा पथ-भ्रष्ट होने पर उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देता है, जिसके कारण उसका राज्य

---

volutary co-operation, its energy that of goodwill, its method that of elasticity."

—Barker : op cit , Page 71

निरंकुश अथवा सर्वसत्तावादी नहीं कहा जा सकता जबकि बोसांके हीगेलियन विचारधारा में विश्वास करता हुआ राज्य को अनियन्त्रित अधिकार देता है।

(२) दण्ड के विषय में ग्रीन और बोसांके में मतभेद है। दोनों दण्ड के निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) में विश्वास करते हैं, किन्तु बोसांके दण्ड के मनोवैज्ञानिक पक्ष (Psychological aspect) पर पर्याप्त बल देता है।

(३) युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विषय में ग्रीन एक उदारतावादी तथा विश्व संस्थाओं के अस्तित्व में विश्वास करनेवाला है किन्तु बोसांके हीगल से प्रभावित होने के कारण राष्ट्रीय राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संघ में शामिल होने की आज्ञा नहीं देता।

(४) बोसांके का मत है कि केवल जीवन तथा महत्तर जीवन के मध्य सदैव संघर्ष की भावना रहती है और इस संघर्ष को टालना कोई सरल कार्य नहीं है। मनुष्य मात्र किसी निश्चित व्यवस्था में सुगठित न होकर विशृंखलित अधिक है, अतः वे किसी विश्व संघ की स्थापना नहीं कर सकते। ग्रीन इससे उल्टा मानता है।

(५) बोसांके राज्य को समस्त नैतिक विश्व का संरक्षक मानता है (A guardian of the whole moral world) और कहता है कि वह नागरिकों के प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बिना भी नागरिकों की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। किन्तु ग्रीन राज्य को समस्त नैतिक विश्व का एक तत्व मात्र मानता है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निष्ठा के साथ पालन करना चाहिये।

QUESTIONS

Q. 1. Explain the fundamental tenets of Kant's Political Philosophy.

कॉन्ट के राजनीतिक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिये।

Q. 2. Discuss the ideas of Kant on duty, rights and moral liberty of an individual and assess his importance as the founder of Modern Idealist School.

कर्तव्य, अधिकार और व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता सम्बन्धी कॉन्ट के विचारो की विवेचना कीजिये तथा आधुनिक आदर्शवादी स्कूल के सस्थापक के रूप में उसके मूल्य को आकिये।

Q. 3. "Kant's doctrineas to the origin and nature of [illegible]

मात्र कांट की शब्दावली की पोषाक मे रखा हुआ रूसो का सिद्धान्त है और शासन-सम्बन्धी उसका विश्लेषण मान्टेस्क्यू के विचारों की पुनरावृत्ति है।" विवेचना कीजिये।

Q. 4. Give a critical estimate of the Philosophy of Kant.

काण्ट के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिये।

Q. 5. "The supreme power in the State has ohg rights and no duties towards the subject." (Kant) Discuss.

"राज्य मे सर्वोच्च शक्ति के प्रजा के प्रति कवल अधिकार है, कोई कर्तव्य नही।" विवेचना कीजिये।

Q. 6 What are the peculiarities of the political philosophy of Hegel ?

हीगल के राजनीतिक दर्शन की क्या विशेषताएं हैं ?

Q. 7. Write a note on the Hegelian dialectical method.

Q. 8. "The significance of Hegel's thought centres about two points-the dialectic as a method and the idealization of the nation state as the guiding principle in the history of civilization." Elucidate.

"हीगल के विचारों का महत्व दो बातों पर केन्द्रित है–प्रणाली के रूप मे द्वन्द्ववाद और सम्यता के इतिहास के निर्देशक सिद्धान्त के रूप मे राष्ट्रीय राज्य का आदर्शीकरण।" व्याख्या कीजिये।

Q. 9. How does Hegel distinguish between the Civil Society and the State ?

हीगल नागरिक समाज और राज्य में किस भांति अन्तर प्रकट करता है।

Q. 10. Write Hegel's views on war and freedom. Is it correct to say that "freedom consists on the perfect obedience

to the perfect laws of the perfect State." Explain your answer clearly.

युद्ध और स्वतन्त्रता पर हीगल के विचार लिखिए। क्या यह कहना सही है कि "स्वतन्त्रता पूर्ण राज्य के पूर्ण कानूनों के पूर्ण पालन में निहित है।" स्पष्टतापूर्वक अपना उत्तर लिखिये।

Q. 11. Successful wars have prevented civil broils and strengthened the international power of State." (Hegel) Comment.

"सफल युद्धों ने नागरिक विद्रोहों को रोक कर राज्यों की आन्तरिक शक्ति को संगठित और बलशाली बनाया है।" विवेचना कीजिये।

Q. 12. Barker says that in place of Kantian conception of freedom which he criticised as negative, limited and subjective, Hegal sketched a more positive and objective conception of freedom a less individualistic conception of the State."

Describe Hegal's conception of freedom and show it is more positive and objective than Kantian conception.

Do you find any thing objectionable about Hegalian conception of freedom.

बार्कर का कथन है कि कॉन्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को नकारात्मक, सीमित और आत्मगत बताते हुये हीगल ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान परिभाषा प्रस्तुत की है तथा राज्य के सिद्धान्त का कम व्यक्तिवादी धारणा प्रकट की है।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा का वर्णन कीजिये और बताइये कि कॉन्ट की धारणा के विरुद्ध यह अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान किस प्रकार है?

क्या आप हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में कोई आपत्तिजनक बात पाते हैं?

Q. 13. Hegal in opposition to Kant, sketched a more positive and objective conception of freedom, and a less individualistic conception of the State"—(Barker)

Elucidate the above and describe the Hegalian conception of freedom and that of State. Also explain how the Hegalian conception of freedom is more positive and objective than Kantian conception.

"कॉन्ट के विरुद्ध हीगल ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान परिभाषा प्रस्तुत की है और राज्य की कम व्यक्तिवादी धारणा व्यक्त की है।"

उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिये और स्वतन्त्रता एवं राज्य के सम्बन्ध में हीगल की धारणा स्पष्ट करिये। साथ ही यह भी बताइये कि कॉन्ट के विरुद्ध हीगल की स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान परिभाषा किस प्रकार है?

Q. 14. Explain and criticise Hegal's views on liberty of individual.

वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर हीगल के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

Q. 15 What were the views of Hegal on History, Freedom and the State ? Assess his contribution to Political Philosophy.

इतिहास स्वतन्त्रता और राज्य पर हीगल के क्या विचार थे ? राजनीतिक दर्शन में उसके अनुदाय का मूल्याकन कीजिये।

Or

Explain and criticise Hegal's views on the nature of State and freedom.

राज्य की प्रकृति तथा स्वतन्त्रता पर हीगल के विचारों की व्याख्या एव आलोचना कीजिये।

Q 16 "Freedom is the distinct quality of man. To renounce one's freedom is to renounce one's humanity, not to be free is therefore a renunciation of one's human rights and even of one's duties, Nothing sort of a State is the actualization of freedom " (Hegel) Discuss

"स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है, जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना है। इसलिये स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारों व कतव्यों को तिलाजलि दे देना क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता।" व्याख्या कीजिये।

Q 17 "Hegelian state, in practice implies spiritual servitude, bodily conscription wars for national interests and the devotion of human beings to Leviathan in peace and Moloch in war " (Ivor Brown) Comment

"व्यावहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का अर्थ है आत्मिक दासता, दैहिक पराधीनता अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितों के लिये युद्ध और शांतिकाल म मनुष्यो द्वारा लिवायथन दैत्य की उपासना, और युद्ध काल में मोलाक की उपासना।' विवेचना कीजिये।

Q 18 How did Hegel influence the development of the modern Political Thought of the west ?

हीगल ने पश्चिम के आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया ?

Q 19 "Political Hegelianism starting with the Landable object of ushering in the march of *God on earth ended by* paving the way for godless dictators " Comment.

"राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन बताने के उद्देश्य से शुरू होने वाला राजनीतिक हीगलवाद नास्तिक निरकुशों या तानाशाहों के लिये मार्ग प्रशस्त करते हुए समाप्त हुआ।" विवेचना करिये।

Q 20 "Hegel's mind was haunted by the question of German unification Herce he did not hesitate to merge the

individual into the State. He even sacrificed the individual at the alter of the State." (Sabine). Discuss.

"हीगल का मस्तिष्क जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न से चिन्तित था, अतः उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय कुछ भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान चढ़ा देता है।" विवेचना कीजिये।

Q. 21. "Hegel—declared that the state was an end, or rather the end in itself and that individuals were merely means of an end. The end bring the glorificatian of the State of which they happened to be members." (Mc Govern). Explain.

"हीगल ने घोषित किया कि राज्य स्वयं एक अन्तिम लक्ष्य है और उसके नागरिक उस लक्ष्य की पूर्ति में साधन मात्र रहते है। यह लक्ष्य अधिकांशतः उस राज्य की गौरव वृद्धि से सम्बन्वित रहता है, जिसके वे सदस्य होते हैं।" व्याख्या कीजिये।

Q. 22. "Hegel is the father of totalitarian ideologies." Examine and discuss this statement carefully.

"हीगल सर्वाधिकारवादी सिद्धान्तों का पिता है।" इस कथन की परीक्षा और समीक्षा सावधानी से कीजिये।

Q. 23. "Through the dialectic as revised by Marx he became the source of the new prolotarian, radicalism, culminating in Communism which has steadily attended to displace the older middle class liberalism." Describe the influence of Hegel.

"मार्क्स द्वारा पुनर्घोषित द्वन्द्ववाद ने उसे श्रमिकों में नई सुधारवाद भावना का जन्मदाता मान लिया। उसकी इस विचारधारा ने शीघ्र ही साम्यवाद का रूप धारण कर लिया और इससे प्रेरित होकर श्रमिकों ने मध्यवर्गी उदारवाद का अन्त करके अपने निरंकुशवादी सत्ता की स्थापना का प्रयास आरम्भ कर दिया।" हीगल के प्रभाव का वर्णन कीजिये।

Q. 24. "Kant started from the individual consciousness, Hegel from the world of externalized knowledge and of organised institutions." (Vaughan) Comment.

"काण्ट ने अपना चिन्तन व्यक्तिगत चेतना से आरम्भ किया था, लेकिन हीगल ने बाह्य ज्ञान और सगठित संस्थाओं की दुनियां से।" विवेचना कीजिये।

Q. 25. "Analytical criticism is the dominent idea of Kant's, the keynote of Hegel's achievement is Evolution." Comment.

"व्याख्यात्मक आलोचना काण्ट के दर्शन का मुख्य विचार है और हीगल की सफलता का केन्द्रबिन्दु है विकास।" विवेचना कीजिये।

Q. 26. Discuss briefly the political philosophy of T. H. Green.

टी० एच० ग्रीन के राजनैतिक दर्शन की संक्षेप में विवेचना करिये।

Q. 27. "The political philosophy of Thomas Hill Green is a queer mixture of liberalism and idealism " Discuss

"ग्रीनका राजनीतिक दर्शन उदारवाद और आदर्शवाद का विचित्र सम्मिश्रण है।" विवेचना कीजिये।

Q 28. How far did T. H. Green succeed in combining German Idealism with British Liberalism ?

ग्रीन जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटिश उदारवाद के साथ संयुक्त करने में कहा तक सफल हुआ ?

Q. 29. T H. Green's thought is regarded as combining the best Utilitarianism and Idealism' Discuss

ग्रीन का चिन्तन उपयोगितावाद और आदर्शवाद का सर्वोत्तम संयुक्तीकरण है। विवेचना कीजिये।

... T H Green's views on ... In what respect ... any sense individualist ?

राज्य के कार्य के क्षेत्र और उसकी प्रबलता के बारे में ग्रीन के विचारों की व्याख्या कीजिये। बोसांके ग्रीन से किस रूप में भिन्न है ? क्या वह किसी भी रूप में व्यक्तिवादी है ?

Q 31 "Human consciousness postulates liberty, liberty, involves rights, rights demand the state' Explain.

"मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।" व्याख्या कीजिये।

Q 32. ... It is a moral ... this statement ... the ideas of Green.

"राज्य का एक अन्तिम नैतिक मूल्य है और वह साध्य है। राज्य नैतिक उद्देश्य से प्राणवान एवं नैतिक प्राणी है।" इस ... प्रकाश में ग्रीन के विचारानुसार राज्य के कर्त्तव्यों की विवेचना कीजि...

Q. 33. Explain and discuss Green ... the functions of the State.

राज्य के कार्यों के विषय में ग्रीन के ... की विवेचना कीजिये।

Q. 34. 'Law can only enjoin or ... it can not enjoin or forbid motives" Discuss

"कानून कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है ... पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।" विवेचना कीजिये।

Q ... function of G... condition ... morality shall be pos...

... दशाओं की सृष्टि ... सम्भव हो सके ...

Q. 36. Discuss the duties of a State in accordance with the ideas of Green.

ग्रीन के विचारों के अनुसार राज्य के कर्त्तव्यों की विवेचना कीजिये।

Q. 37. "The function of government is to maintain conditions of life in which morality shall be possible, and morality consists in the disinterested performance of self--imposed duties." (T. H. Green). Discuss Green's views on the proper sphere of state activity.

"शासन का कार्य जीवन की उन दशाओं को बनाये रखना है जिनमें नैतिकता सम्भव होगी, और नैतिकता स्व-थोपित कर्त्तव्यों के निःस्वार्थ संपादन में निहित है।" राज्य के कार्यों के उचित क्षेत्र पर ग्रीन के विचार प्रकट कीजिये।

Q. 38. "The State has no positive function of making its members better; it has the negative moral function of removing the obstacles which prevent them from making themselves better." Examine the statement carefully.

"राज्य का यह विधानात्मक कार्य नहीं है कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाए, उसका निषेधात्मक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो उन्हें स्वयं अपने आपको अच्छा बनाने से रोकती हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

Q. 39. Discuss Green's views on punishment and the right of State to promote morality.

दण्ड पर और नैतिकता की वृद्धि के राज्य के अधिकार पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये।

Q. 40. Under what conditions does Green justifies rebellian against the State.

यह बताइये कि ग्रीन किन दशाओं में राज्य-विद्रोह न्याय-संगत समझता है।

Q. 41. "The rational of property, as we have seen, is that every one should be secured in the power of getting and keeping the means of realising a will which in possibility is a will directed to social good. Whether any one's will is, actually and positively so directed, does not affect his claim to the power." Discuss Green's views on Property.

"सम्पत्ति का वास्तविक महत्व यह है कि प्रत्येक नागरिक को इसके माध्यम से अपनी अन्तरात्मा को सुरक्षित रखने एवं सुधारने का एक समुचित अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति रखने वाले लोग ही समाज की वास्तविक शक्ति के स्तम्भ होते है।" सम्पत्ति पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये।

Q. 42. "Will, not force, is the basis of State." Explain and discuss.

"राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।" व्याख्या और विवेचना कीजिये।

Q. 27. "The political philosophy of Thomas Hill Green is a queer mixture of liberalism and idealism" Discuss!

"ग्रीनका राजनीतिक दर्शन उदारवाद और आदर्शवाद का विचित्र सम्मिश्रण है।" विवेचना कीजिये।

Q. 28. How far did T. H. Green succeed in combining German Idealism with British Liberalism?

ग्रीन जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटिश उदारवाद के साथ संयुक्त करने में कहां तक सफल हुआ?

Q. 29. T. H Green's thought is regarded as combining the best Utilitarianism and Idealism' Discuss

ग्रीन का चिन्तन उपयोगितावाद और आदर्शवाद का सर्वोत्तम संयुक्तीकरण है। विवेचना कीजिये।

[illegible] T. H. Green's views on [illegible] In what respect [illegible] any sense individualist?

राज्य के कार्य के क्षेत्र और उसकी अवज्ञा के बारे में ग्रीन के विचारों की व्याख्या कीजिये। बोसांके ग्रीन से किस रूप में भिन्न है? क्या वह किसी भी रूप में व्यक्तिवादी है?

[illegible] liberty, liberty [illegible]

[illegible] प्रकार निहित हैं, और [illegible]

Q. 32. [illegible] majestical. [illegible] light of [illegible] nce with

"राज्य का एक अन्तिम नैतिक मूल्य है और वह भव्य है। राज्य नैतिक उद्देश्य से प्राणवान एक नैतिक प्राणी है।" इस कथन के प्रकाश में ग्रीन के विचारानुसार राज्य के कर्तव्यों की विवेचना कीजिये।

Q. 33. Explain and discuss Green's views on the functions of the State.

राज्य के कार्यों के विषय में ग्रीन के विचारों की व्याख्या एवं विवेचना कीजिये।

Q. 34. "Law can only enjoin or forbid certain acts, it can not enjoin or forbid motives" Discuss

"कानून कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है, किन्तु वह उद्देश्यों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।" विवेचना कीजिये।

Q. 35 The founction of Government is to maintain conditions in which morality shall be possible." Comment

'सरकार का कार्य उन दशाओं की सृष्टि करना है, जिनमें नैतिकता संभव हो सके।' विवेचना कीजिये।

Q. 36. Discuss the duties of a State in accordance with the ideas of Green.

ग्रीन के विचारों के अनुसार राज्य के कर्त्तव्यों की विवेचना कीजिये।

Q. 37. "The function of government is to maintain conditions of life in which morality shall be possible, and morality consists in the disinterested performance of self--imposed duties." (T. H. Green). Discuss Green's views on the proper sphere of state activity.

"शासन का कार्य जीवन की उन दशाओं को बनाये रखना है जिनमें नैतिकता सम्भव होगी, और नैतिकता स्व-थोपित कर्त्तव्यों के निःस्वार्थ संपादन में निहित है।" राज्य के कार्यों के उचित क्षेत्र पर ग्रीन के विचार प्रकट कीजिये।

Q. 38. "The State has no positive function of making its members better; it has the negative moral function of removing the obstacles which prevent them from making themselves better." Examine the statement carefully.

"राज्य का यह विधानात्मक कार्य नहीं है कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाएं, उसका निषेधात्मक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो उन्हें स्वयं अपने आपको अच्छा बनाने से रोकती हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

Q. 39. Discuss Green's views on punishment and the right of State to promote morality.

दण्ड पर और नैतिकता की वृद्धि के राज्य के अधिकार पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये।

Q. 40. Under what conditions does Green justifies rebellian against the State.

यह बताइये कि ग्रीन किन दशाओं में राज्य-विद्रोह न्याय-संगत समझता है।

Q. 41. "The rational of property, as we have seen, is that every one should be secured in the power of getting and keeping the means of realising a will which in possibility is a will directed to social good. Whether any one's will is, actually and positively so directed, does not affect his claim to the power". Discuss Green's views on Property.

"सम्पत्ति का वास्तविक महत्व यह है कि प्रत्येक नागरिक को इसके माध्यम से अपनी अन्तरात्मा को सुरक्षित रखने एवं सुधारने का एक समुचित अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति रखने वाले लोग ही समाज की वास्तविक शक्ति के स्तम्भ होते हैं।" सम्पत्ति पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये।

Q. 42. "Will, not force, is the basis of State." Explain and discuss.

"राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।" व्याख्या और विवेचना कीजिये।

Q. 43. Explain Green's conception of Sovereignty of the State in the light of his thesis, "Will, not force is the basis of the State."

"राज सत्ता का आधार जन-इच्छा है, शक्ति नहीं", इस सूत्र के प्रकाश में राज्य की सम्प्रभुता के ग्रीन के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

Q. 44. "There can be *no right to disobey the State* except in the interests of the State." (T. H. Green) Discuss.

"राज्य के हितों के सिवाय राज्य की अवज्ञा करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता।" विवेचना कीजिये।

there sustainer, and thus as the agent of the general will, that the sovereign power must be presented to the minds or the people if it is to command habitual loyal obedience and obedience *will scarcely be habitual unless it is loyal and not forced.*" Discuss.

"प्रभु को यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि दण्ड देनेवाली शक्ति उसके अधिकार में है, वरन उसको यह समझना चाहिये कि वह राजनैतिक समाज का सरक्षक है, इस प्रकार वह राजनैतिक समाज और सामान्य इच्छा का सरक्षक है। सर्वोच्च शक्ति का प्रभाव समस्त व्यक्तियों के मस्तिष्क पर होना चाहिये, यदि वह यह आशा करता है कि समस्त व्यक्ति स्वाभाविक रूप से उसके *आदेशों का पालन करें तो ऐसा आज्ञापालन उस समय तक स्वाभाविक नहीं हो* सकता, जब तक उसमें भक्ति न हो। भय के कारण आज्ञाओं का पालन भक्ति-पूर्ण आज्ञापालन के अन्तर्गत नहीं आ सकता।" विवेचना कीजिये।

Q. 46. DiscussGreen's views on sovereignty. Is the state absolute and omnipotent according to him ?

सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये। क्या उसके अनुसार राज्य निरंकुश और सर्वशक्तिमान है ?

Q. 47. What are Green's views on liberty ?

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार क्या है ?

Q. 48. Write a critical note on Green's Positive Freedom.

ग्रीन के सकारात्मक स्वतन्त्रता पर आलोचनात्मक लेख लिखिये।

Q 49. "He begins from, always clings to and finally ends in the Kantian doctrine of the free will in virtue of which man *always wills himself as end." (Barker)*

Discuss Green's views on liberty keeping the above statement in view.

"वह कॉन्ट के इस विचार से शुरू करता है *कि मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र* है और वह एक साध्य है। कॉन्ट के इसी विचार के साथ ग्रीन अपना विचार समाप्त करता है।"—बार्कर

उपरोक्त कथन के प्रकाश में स्वतन्त्रता पर ग्रीन के विचारों की विवेचना कीजिये।

Q. 50. Discuss Green's views on liberty. How are Kant's and Green's views on liberty differentiated ? Also compare Hegal's and Green's views on liberty.

ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिये। कॉन्ट और ग्रीन के स्वतन्त्रता विषयक विचारों में क्या अन्तर है ? ग्रीन और हीगल के स्वतन्त्रता विषयक विचारों की भी तुलना कीजिये।

Q. 51. "Here, then, is Green's achievement, that he gave English-man something more satisfying than Benthamism at a price they were prepared to pay, that he left Liberalism a faith instead of an interest, that he made Individualism moral and social and Idealism civilised and safe." (Wayper). Assesst he contribution of Green in the light of this statement.

"ग्रीन ने अंग्रेजों को वेन्थम के सिद्धान्त से भी अधिक मूल्यवान सिद्धान्त ऐसे मत पर दिया जिसको अंग्रेज चुकाने के लिये तैयार थे। उसने उदारवाद को एक रुचिवाले विषय की अपेक्षा एक विश्वास में परिवर्तित कर दिया। उसने व्यक्तिवाद को एक मानसिक तथा सामाजिक रूप प्रदान किया तथा आदर्शवाद को सभ्य एवं सुरक्षित समाज में परवर्तित कर दिया। कम से कम अंग्रेज उसकी इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते।" (वेपर) इस कथन के प्रकाश में ग्रीन के अनुदाय का मूल्यांकन कीजिये।

Q. 52. Describe the main elements of Bosanquet Political Thought.

वोसांके के राजनैतिक चिन्तन के मुख्य तत्वों का वर्णन करिये।

Q. 53. Explain and discuss Bosanquet's ideas on the nature and functions of the State.

राज्य की प्रकृति और कार्यों के वारे में वोसांके के विचारों की व्याख्या व विवेचना कीजिये।

Q. 54. "The effectual action of the State..seems necessarlty to be confined to the removal of obstacles."

Compare and contrast the views of Green and Bosanquet on the functions of State.

राज्य के कार्यों के वारे में ग्रीन और वोसांके की तुलना कीजिये।

Q. 55. "We say, then, that the state as such can do nothing for the best life but hindrances to it." (Bosanquet) Discuss.

"तव हम कहते हैं कि सर्वोत्तम जीवन के लिये राज्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता किन्तु केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है।" विवेचना कीजिये।

Q. 56. "The state becomes for him a sort of Church, the Church of humanity, and membership of it is nothing else than a great spiritual experience. In short for Bosanquet as for Hegel, the state is the ultimate moral authority for the citizen, the keeper of his civic conscience." Comment.

उसके लिये राज्य "एक प्रकार का चर्च, मानवता का चर्च वन जाता है, और उसकी सदस्यता एक महान् आध्यात्मिक अनुभव के अतिरिक्त और

SUGGESTED READINGS

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition.
2. *Barker Ernest* : Political Theory in England from Spencer to Today.
3. *Catlin George* : A History of the Political Philosophies.
4. *Coker, F. W.* : Readings in Political Philosophy.
5. *Carl, J. Friedrich* : Philosophy of Kant.
6. *Doyle* : A History of Political Thought.
7. *Dunning* : A History of Political Theories.
8. *Ebentein, William* : Political Thought in Perspective.
9. *Gettle* : History of Political Thought.
10. *Joad* : Modern Political Theory.
11. *Mc Govern* : From Luther to Hitler.
12. *Maxey* : Political Philosophies.
13. *Vaughan* : History of Political Thought.
14. *Wayper* : Political Thought.
15. *Aris, R.* : History of Political Thought in Germany from 1789 to 1815.
16. *Barker, Earnest* : Political Thought in England.
17. *Bosanquet* : Philosophical Theory of the State.
18. *Brinton, C.* : English Political Thought in the Ninteenth Century London.
19. *Brown, I.* : English Political Theory.
20. *Dewey, J.* : German Philosophy and Politics.
21. *Fairbrother, W. H.* : The Philosophy of T. H. Green.
22. *Hallowell* : Main Currents of Modern Political Thought.
23. *Hobhouse* : The Metaphysical Theory of the State.
24. *Joad* : Guide to Morals and Politics.
25. *Lancaster* : Masters of Political Thought.
26. *Mc Jaggart, J.M.E.* : Studies in Hegelian Cosmology.
27. *Ritchie, D.G.* : Darwin and Hegel.
28. *Sabine* : A History of Political Theory.
29. *Stace* : The Philosophy of Hegel, London.
30. *Wright* : A History of Modern Philosophies.
31. *Coker* : Recent Political Thought.
32. *Halder, Hiralal* : Neo Hegelians.

33 *Murray* . Studies in the English Social and Political Thinkers of the 19th Century.
34. *Hobhouse, L. T.* : Social Evolution and Political Theory.
35. *Mc Ivor* : The Modern State.
36. *Metz, Rudolf* : A Hundred Years of British Philosophy
37. *Bradlay* . Philosophical Theory of the State
38. *Garner* Political Science and Government
39. *Green* : Lectures on the Principle of Political Obligation.
40. *Gettel, R. G.* ' History of Political Thought

PART – THIRD

विकासवादी विचारक
(The Evolutionists)

7

हर्बर्ट स्पेन्सर

(HERBERT SPENCER)

(1820-1903)
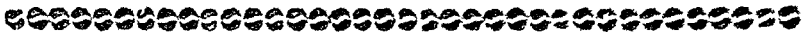
उपयोगितावादी एवं आदर्शवादी दिग्गजों पर चर्चा के बाद अब हम १९वीं सदी की एक अन्य विचारधारा पर आते हैं जो वैज्ञानिक विचारधारा के नाम से प्रख्यात है। इसने भी उपयोगितावादी एवं आदर्शवादी चिन्तन के समान ही १९वीं शताब्दी के राज दर्शन को व्यापक रूप में प्रभावित किया। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने मानव जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के शब्दों में (Interpretation of human life in terms of natura science) करने का प्रयास किया। उन्होंने राजनीति को दो विभिन्न दृष्टि-कोणों से देखा। यदि हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जीवशास्त्रीय व्याख्या (Biological explanation) का जनक था तो वेजहाट (Bagehot) मनोवैज्ञानिक व्याख्या (Psychological explanation) का अग्रदूत था। स्पेन्सर १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का सबसे असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था जिसने आचारशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र को जीवन के नियमों के विज्ञान के समान और उनका एक अंग माना और अपने विकासवादी दर्शन द्वारा भौतिकशास्त्र तथा जीवशास्त्र जैसे दो विभिन्न विषयों को एक साथ ग्रन्थित कर समन्वित करने की चेष्टा की। वेजहाट ने सामाजिक तथा राजनीतिक व्यापार के प्रति मनोवैज्ञानिक पद्धति को ग्रहण किया जिसे अन्य अनेक ब्रिटिश, फ्रेन्च एवं अमेरिकन विद्वानों ने विकसित किया। प्रस्तुत अध्याय में स्पेन्सर के दर्शन पर ही विचार किया जायगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर
(Herbert Spencer)
[1820-1903]

संक्षिप्त जीवन परिचय—हर्बर्ट स्पेन्सर की गणना १९वीं शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक दार्शनिकों में की जाती है। मैक्सी (Maxey) ने उसे "विक्टोरियन इंगलैण्ड और विक्टोरियन अमेरिका का अरस्तू"[1] कहकर

1. *Maxey*: Political Philosophics, Page 555

"The great political superstition of the past was the divine right of kings. The great political superstition of the present is the divine right of parliaments"

—*Spencer*

"Inspite of a hundred pages of analogy, Spencer ultimately bows the social organism out of doors. He is not consent with cutting it in pieces, he sents it into exile."

—*Barker*

पुस्तकों के पेशगी मूल्य आदि की धन राशि पर निर्वाह करता रहा। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, उसकी पुस्तकों की इंगलैण्ड और अमेरिका में अच्छी बिक्री होने लगी। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वह अब शोचनीय दशा में न रहा, किन्तु अजीर्ण, स्नायु-दुर्बलताओं आदि के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। १८९८ ई० से वह ब्राइटन में एक सुन्दर और सम्मानित मकान में निवास करने लगा और वहीं सन् १९०३ में यह बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति इस नश्वर संसार से चल बसा।

रचनाएं (Works)—स्पेन्सर ने जीवन के आरम्भ में ही अपने भावी जीवन की योजना की रूपरेखा बनाली थी। बाद के जीवन में उसने इस रूप-रेखा में केवल रंग ही भरा किन्तु मौलिक सिद्धान्तों पर अपने विचारों में कभी भी परिवर्तन नहीं किया। अपनी इस बौद्धिक दृढ़वादिता के कारण तथ्यों के वर्णन में उसकी कुछ त्रुटियां रह ही गई। लेकिन इतना होने पर भी "स्पेन्सर का संश्लिष्ट दर्शन १९वीं शताब्दी के बुद्धिवाद का एक आश्चर्यजनक चमत्कार था। इसमें भौतिकशास्त्र से लेकर नीतिशास्त्र तक ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट कर लिया गया था। स्पेन्सर ने इस दर्शन को दस जिल्दों में लिखा और उसे यह कार्य पूरा करने में ३५ वर्ष लगे। ग्रंथ की आरम्भिक रूपरेखा तथा ग्रंथ के अन्तिम खण्ड में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। तुलना की दृष्टि से १७वीं शताब्दी का प्राकृतिक विधि का दर्शन ही इसके सामने टिक सकता है।"[1]

स्पेन्सर ने न केवल पुस्तकें ही लिखीं बल्कि लेख, निबन्ध और पुस्तिकाएं भी लिखी। उसकी विचारधारा के दर्शन निम्नलिखित पुस्तकों, लेखों, निबन्धों आदि में होते हैं :—

1. The Proper Sphere of Government. (1842)
2. Social Statics. (1850)
3. Theory of Population. (1852)
4. Art of Education. (1854)
5. Education (1861)
6. The Social Organism (1860)
7. Specialized Administration. (1871)
8. Principles of Psychology. (1855)
9. Descriptive Sociology.
10. Principles of Sociology (1878-80)
11. Sins of Legislators.
12. Synthetic Philosophy.
13. Justice (1891)
14. Principles of Ethics (1891)
15. Man Versus the State (1884)
16. Essays (Three Volumes).
17. Autobiography (Three Volumes).

हर्बट स्पेन्सर के राजनीतिक विचार प्रमुखतः हमें उसके ग्रंथों 'Social

1. सेबाइनः राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ट ६७७.

सम्बोधित किया है। उसके दर्शन को यद्यपि आज अधिक नहीं पढ़ा जाता और न ही उसे पूर्वानुसार महत्व ही दिया जाता है किन्तु फिर भी वह मृत नहीं है और उसमें तब तक जीवन प्रवाहित होता रहेगा जब तक "स्वतन्त्रता बनाम प्रभुत्व" (Freedom versus Authority) की समस्या का समाधान शेष है। ब्रिन्टन (Brinton) स्पेन्सर को "विचारों का विक्रेता"[1] (A salesman of ideas) कहकर पुकारता है जिसके सामान को हम और अधिक पसंद नहीं करते किन्तु फिर भी जिसका सामान विक्रय के लिये रखा हुआ है। इसमें कोई संशय नहीं कि वह १९वीं शताब्दी के विकासवाद (The 19th Century Evolutionism) का प्रमुख प्रवक्ता था।

हर्बर्ट स्पेन्सर एक अत्यन्त ही हठी अध्यापक का पुत्र था उसका जन्म २७ अप्रेल, १८२० को हुआ था। उसे औपचारिक रूप से बहुत कम शिक्षा मिली थी, अतः वह स्वशिक्षित व्यक्ति बना। वास्तव में उसके जीवन ने निराली ही सीढ़ियों को पार किया था। हर्नशा के सुन्दर शब्दों में स्पेन्सर *"एक मनुष्य इतना नहीं था जितना कि एक बौद्धिक सावयव, और उसकी इहलोक यात्रा एक अस्तित्व था, जीवन इतना नहीं।"*[2] स्पेन्सर वह प्राणी था जिसने जीवन में कभी प्रेम नहीं किया और न ही कभी विवाह ही किया। किसी कालेज और विश्वविद्यालय में नियमित शिक्षा प्राप्त करने से वंचित वह एक स्वशिक्षित और स्व-निर्मित मनुष्य था। उसकी विलक्षण शीघ्रग्राही बुद्धि ने जीवन भर उसका साथ दिया। अपने बाल्यकाल में ही वह मशीनों की तरफ आकर्षित हुआ और अनेक आविष्कारों के विषय में उसने अन्वेषण किये। १७ वर्ष की आयु में वह एक रेलवे इंजीनियर बना और लगभग १० वर्ष तक बड़ी ही दक्षतापूर्वक वह अपने इस कार्य पर लगा रहा। इस अवधि के मध्य उसने गम्भीर अध्ययन किया और विभिन्न महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाओं में उसने अपने अनेक लेख भेजे। सन् १८४८ में उसे सुप्रसिद्ध पत्रिका 'Economist' के उपसम्पादक का स्थान मिल गया। इस सुविख्यात पत्रिका में उस समय के कुछ अति प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तियों की रचनाएं प्रकाशित होती थी। अतः स्पेन्सर को हक्सले (Huxley), टिण्डाल (Tyndall) न्यूमेन (Newman) और इलियट (Eliot) जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ विचार विमर्श ने उसके जिज्ञासु मस्तिष्क को बहुत प्रेरणा दी। १८५३ तक वह इस पत्रिका के उप-सम्पादक के रूप में कार्य करता रहा तत्पश्चात् उसने अपना सम्पूर्ण समय एवं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेखन कार्य में और भाषण देने में लगाने का निश्चय किया। उसने अनेक पुस्तकें लिखीं और काफी बड़ी संख्या में लेख भी लिखे। प्रारम्भ में उसे कोई विशेष आय प्राप्त न हो सकी और वह सम्बन्धियों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता एवं हितैषियों द्वारा दिये गये उसकी

---

1. *Brinton*: English Political Thought in the 19th Century, Page 39.
2. Spencer "was not so much a man as an intellectual organism and his passage through this world rather an existence than a life."

—*Hearnshaw*

पुस्तकों के पेशगी मूल्य आदि की धन राशि पर निर्वाह करना रहा। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, उसकी पुस्तकों की इंगलैण्ड और अमेरिका में अच्छी बिक्री होने लगी। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वह अब शोचनीय दशा में न रहा, किन्तु अजीर्ण, स्नायु-दुर्बलताओं आदि के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। १८९८ ई० से वह ब्राइटन में एक सुन्दर और सम्मानित मकान में निवास करने लगा और वहीं सन् १९०३ में यह बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति इस नश्वर संसार से चल बसा।

रचनाएं (Works)—स्पेन्सर ने जीवन के आरम्भ में ही अपने भावी जीवन की योजना की रूपरेखा बनाली थी। बाद के जीवन में उसने इस रूपरेखा में केवल रंग ही भरा किन्तु मौलिक सिद्धान्तों पर अपने विचारों में कभी भी परिवर्तन नहीं किया। अपनी इस बौद्धिक दृढ़वादिता के कारण तथ्यों के वर्णन में उसकी कुछ त्रुटियां रह ही गई। लेकिन इतना होने पर भी "स्पेन्सर का संश्लिष्ट दर्शन १९वीं शताब्दी के बुद्धिवाद का एक आश्चर्यजनक चमत्कार था। इसमें भौतिकशास्त्र से लेकर नीतिशास्त्र तक ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट कर लिया गया था। स्पेन्सर ने इस दर्शन को दस जिल्दों में लिखा और उसे यह कार्य पूरा करने में ३५ वर्ष लगे। ग्रंथ की आरम्भिक रूपरेखा तथा ग्रंथ के अन्तिम खण्ड में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। तुलना की दृष्टि से १७वीं शताब्दी का प्राकृतिक विधि का दर्शन ही इसके सामने टिक सकता है।"[1]

स्पेन्सर ने न केवल पुस्तकें ही लिखीं बल्कि लेख, निबन्ध और पुस्तिकाएं भी लिखीं। उसकी विचारधारा के दर्शन निम्नलिखित पुस्तकों, लेखों, निबन्धों आदि में होते हैं :—

1. The Proper Sphere of Government. (1842)
2. Social Statics. (1850)
3. Theory of Population. (1852)
4. Art of Education. (1854)
5. Education (1861)
6. The Social Organism (1860)
7. Specialized Administration. (1871)
8. Principles of Psychology. (1855)
9. Descriptive Sociology.
10. Principles of Sociology (1878-80)
11. Sins of Legislators.
12. Synthetic Philosophy.
13. Justice (1891)
14. Principles of Ethics (1891)
15. Man Versus the State (1884)
16. Essays (Three Volumes).
17. Autobiography (Three Volumes).

हर्बट स्पेन्सर के राजनीतिक विचार प्रमुखतः हमें उसके ग्रंथों 'Social

---

1. सेबाइनः राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ट ६७७.

Statics', 'Man versus the State', 'The Proper Sphere of Government', 'Political Institutions' तथा 'Principles of Sociology' मे मिलते हैं।

स्पेन्सर की रचनाओं का संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और उसकी ख्याति की दुन्दुभी न केवल यूरोप और अमरिका ही म बल्कि चीन और जापान म भी बजी। यह 'बौद्धिक सावयव' (स्पेन्सर) उन गिने-चुने दार्शनिकों म से एक था जिसकी यश पताका उनके जीवन काल में ही स्वदेश और विदेश सभी जगह लहराई। लेकिन यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि लगभग ५० वर्ष तक स्पेन्सर की जो दर्शन प्रणाली विद्वानों और विचारकों का आकर्षण केन्द्र बनी रही वह आज अध्ययन की दृष्टि से लोकप्रिय नहीं है। ब्रिन्टन (Brinton) के शब्दों में "टॉमस एक्वीनास के 'सम्मा' (Summa) की अपेक्षा हम इस आधुनिक 'सम्मा' की ओर अधिक उदासीन हैं।"[1]

तब स्वत ही यह प्रश्न उठता है कि स्पेन्सर की तत्कालीन प्रसिद्धि और उसके प्रति आधुनिककालीन उदासीनता का क्या कारण है? इस प्रश्न का प्रथम उत्तर यह दिया जाता है कि स्पेन्सर एक महान् प्रणाली निर्माता (A great system builder) था। हॉब्स के बाद इंगलैण्ड की दार्शनिकता मे व्यवस्था स्थापित करनेवाला वह पहला दार्शनिक था। 'हर्बर्ट स्पेन्सर ने दार्शनिक विचारों का वर्गीकरण किया, संक्षिप्तीकरण और सम्मानीयकरण तथा इस क्रम का अनुसरण करते हुये वह विचारों के एकीकरण की उस सूक्ष्म स्थिति पर पहुँच गया जहां वह सम्पूर्ण विश्व-ज्ञान को एक ही सूत्र मे बांध सकता था। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रणाली अथवा व्यवस्था का जन्म हुआ जिसमे प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान था। यह प्रणाली इतनी निर्भीकतापूर्वक आयोजित और कुशलतापूर्वक सुयोजित थी कि इसके प्रति हमारा चाहे कुछ भी रुख क्यों न हो फिर भी हम इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। स्पेन्सर को इतिहास के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकता के भवन-निर्माण-विशारदों का अभूतपूर्व शिरोमणि मानना पड़ेगा।' स्पेन्सर की महान

1. We are more indifferent to the modern 'Summa' ...

2. "Spencer abstracted, classified, generalised and moved forward to more and more abstract unifications until he had reached the point from where he could sum up the universe in a single formula The result was a system in which everything was given its place, a system so boldly planned and so skillfully and neatly ordered that whatever our ultimate attitude toward it may be we can not held admiring it Spencer must be ranked among the greatest philosophical architects that history has known"
—*Metz* Hundred Years of British Philosophy, Page 102

रचनाओं के प्रति आज हमारी उदासीनता के मूल में हमारा आधुनिककालीन विशाल ज्ञान निहित है और निहित है हमारी यह धारणा कि हम एक ऐसे व्यक्ति के प्रति उत्साहित नहीं होते जिसने यह सोचा था कि उसने सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान का निचोड़ एवं संयोग प्राप्त कर लिया है। हमारा ज्ञान स्पेन्सर के दावे को तुच्छ बताने की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत एवं पूर्ण है।

पूर्वोक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया जाता है कि स्पेन्सर अपने काल में महान् सम्मान और लोकप्रियता अपने विकासवादी सिद्धान्त (The Principle of Evolution) के व्यापक प्रयोग से पा सका था। १६वीं शताब्दी के इस दार्शनिक ने ज्ञान की प्रत्येक शाखा में विकासवाद के दर्शन किये, जबकि अन्य विकासवादी विचारकों ने विकासवादी दर्शन को न्यूनाधिक प्राणीशास्त्र तक ही सीमित रखा। प्रो० हर्नशा (Hearnshaw) के अनुसार स्पेन्सर ने "केवल इस तारों भरे ब्रह्माण्ड, खगोल व्यवस्था, पृथ्वी की बनावट, विश्व की वनस्पति तथा पशु-पक्षी सम्पत्ति और मनुष्य के शरीरों सहित संसार की वर्तमान स्थिति एवं व्यवस्था का ही वर्णन नहीं किया अपितु मानव-मस्तिष्क और मानव समाज के रूपों का भी वर्णन किया है। निःसंदेह 'समन्वयवादी' दार्शनिक विचारधारा का मुख्य उद्देश्य प्रकृतिवादी तथा विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर नैतिकता और राजनीति की समस्याओं का हल निकालना था।"[1] परन्तु अपने विकासवादी सिद्धान्त के सहारे स्पेन्सर निश्चय ही आधुनिक काल में उस लोकप्रियता और ख्याति को अर्जित नहीं कर सकता जो अपने समकालीन युग में प्राप्त की थी। विकासवादी सिद्धांत का १६वीं सदी का चमत्कारी रूप अब फीका पड़ चुका है। स्पेन्सर का असाधारण आत्म विश्वास उसके दर्शन के प्रति हमारे संशय को मिटा नहीं सकता। आधुनिक विद्वानों को उसके विचारों में अस्पष्टता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। "उसकी सारी दार्शनिकता प्राकृतिक अधिकारों और जैविक रूपक के अनमेल मिश्रण (Incongruous mixture of Natural Rights and physiological metaphor) से आरम्भ होकर इनमें ही समाप्त हो गई" अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि उसकी विचारधारा आज मानी नहीं जाती।

स्पेन्सर के विचारों के स्रोत (Sources of Spencer's Thought)— स्पेन्सर की दार्शनिकता के उद्गम और विकास का विशुद्ध वर्णन उसकी आत्मकथा में मिलता है। स्पेन्सर को अपने दर्शन में जिन विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त हुई उन्हें चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

---

1. He used it to explain "the present constitution and condition not only of the starry universe, the planetary system, the face and figure of the earth, the flora and founa of the world, together with the bodies of men, but also of the minds of men and the forms of human society. Indeed the primary aim of the synthetic philosophy was precisely the solution on naturalistic and evolutionary lies of the problems of ethics and politics."

—*Hearnshaw* : Social and Political Ideas of Thinkers of the Victorian Age, Page 80

प्रारम्भिक पर्यावरण (Farly Environment), अंग्रेजी रेडिकलवाद (English Radicalism), शेलिंग और श्लेगल (Schelling and Schlegal) द्वारा प्रतिनिधित्व किया जानेवाला जर्मन आदर्शवाद (German Idealism) तथा प्राकृतिक विज्ञानों का उसका स्वयं का अध्ययन (His Study of Natural Sciences)। यदि उसने स्वतन्त्रता के प्रति अपना प्रेम अपने प्रारम्भिक पर्यावरण से प्राप्त किया तो विकास के प्रति उसकी उद्दाम लालसा उसने जीवन में बाद में विकसित की। इन दोनों में (स्वातन्त्र्य प्रेम तथा विकास के प्रति अनुराग) संघर्ष की दशा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रति उसके विकास के अनुराग पर विजय होती है।

हरबर्ट स्पेंसर का जन्म उस परिवार में हुआ था जो धार्मिक क्षेत्र में विचार स्वातन्त्र्य का प्रेमी था। "उसे शक्ति के प्रति उपेक्षा भाव और विद्रोह से प्रेम अपने पूर्वजों से विरासत में मिला जिनका विश्वास यह था कि प्रकृति के वे नियम जो कारण कार्य के वैज्ञानिक सिद्धान्तों में पाये जाते हैं, मानवकृत कानूनों से अधिक श्रेष्ठ हैं।" उसकी शिक्षा परम्परागत अथवा रूढ़िगत अनुशासन (Conventional Training) से मुक्त थी। युवावस्था में उसे जो रूढ़िवाद-विरोधी शिक्षा मिली उसने उसकी विचारधारा को प्रभावित किया। उसका चाचा टॉमस स्पेन्सर (Thomas Spencer) राजनीति में एक उग्र आमूल सुधारवादी या रेडिकल (Radical) था और बरमिंघम के जोजेफ स्टर्ज (Joseph Sturz of Birmingham) का सहयोगी था जिसने १८४१ ई० में 'Non confirmist' नामक पत्रिका चलाई थी। १८४२ में स्वयं हरबर्ट स्पेंसर ने 'सरकार का उचित क्षेत्र' (The Proper Sphere of Government) विषय पर इस पत्रिका में अपना लेख प्रकाशित करवाया था। बचपन से ही स्पेन्सर दार्शनिक उग्र सुधारवाद या रेडिकलवाद (Philosophical Radicalism) के वातावरण में पोषित हुआ था और जब उसका मस्तिष्क रचनात्मक स्तर (Formative stage) पर आया तो वह इस विश्वास से प्रभावित हो गया कि व्यक्तिगत सुख (Individual happiness) की उपलब्धि आन्तरिक शक्तियों के उन्मुक्त स्फुरण (Free exercise of faculties) द्वारा ही सर्वोत्तम रूप से प्राप्त हो सकती है और इसीलिए वह प्रभुत्व या शासन के सब प्रकारों अथवा रूपों (All forms of authority) के विरुद्ध हो गया।

स्पेन्सर का सम्पर्क टामस हाग्सकिन (Thomas Hodgskin) से भी हुआ जिसने उसके दर्शन को अत्यधिक प्रभावित किया। 'Economist' का उपसम्पादक होने के नाते वह हाग्सकिन के सम्पर्क में आया जो एक बेन्थम विरोधी रेडीकल (Anti Benthamite Redical) था। वह मानव के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास करता था जबकि बेंथम ने इन अधिकारों का समर्थन नहीं किया था। उसका राज्य की अहस्तक्षेप नीति या यथेच्छाकारिता के सिद्धांत (Theory of Laissez Faire) में विश्वास था। उसका कहना था कि समाज एक प्राकृतिक वस्तु (A Natural Phenomenon) है और विश्वात्मा या सर्वोच्च नैतिक शक्ति (The Universal spirit or the supreme moral force) ने इसका संचालन करने के लिए प्राकृतिक नियम (Natural Laws) बनाये हैं ताकि उसके सदस्य इनकी सहायता से विश्व

में एक उचित व्यवस्था स्थापित कर सकें। उसके अनुसार ऐसी दशा में शासन के कोई सकारात्मक या नकारात्मक या विधयात्मक (Positive) कार्य नहीं है। राज्य का कार्य केवल प्राकृतिक कानूनों को भलीभांति लागू होने के लिए स्वतन्त्र वातावरण को उत्पन्न करना है। अन्तिम लक्ष्य तो राज्य-शून्यता है जिसमें प्रशासन लुप्त हो जायगा। बार्कर के शब्दो में हाग्सकिन ने ऐसे कल्पित आदर्श को प्रस्तुत किया जिसमें "अराजकता है, जिसमे शासन का लोप हो गया है और जिसमें समस्त व्यक्तियों की भावनाओं का एक दूसरे से स्वतः सामन्जस्य स्थापित हो गया है।"[1] स्पेन्सर हाग्सकिन के इन विचारों से गंभीर रूप मे प्रभावित है और सम्भवतः यही कारण है कि वह आजीवन वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा अहस्तक्षेप की नीति (Individual freedom and Laissez Faire) का समर्थक बना रहा। इस तरह अंशतः अपने आरम्भिक रेडीकल पर्यावरण (Early Radical Environment) और अंशतः हाग्सकिन से अपने सम्पर्क से स्पेन्सर को अपने राजदर्शन के मूल प्रेरणा स्रोत प्राप्त हुए और इसी कारण वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता एव महत्व में गम्भीर विश्वास तथा राज्य के निर्हस्तक्षेप के सिद्धान्त में दृढ़ आस्था यावत् जीवन बनाये रख सका।

कालरिज (Coleridge) के लेखों के माध्यम से स्पेन्सर ने शैलिंग (Schelling) और श्लगल (Schlegel) के जर्मन आदर्शवाद का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। इस अध्ययन ने भी उसके चिन्तन को प्रभावित किया था। जमन आदर्शवाद (German Idealism) से उसे "जीवन की धारणा" (Idea of life) प्राप्त हुई। वह विश्वास करने लगा कि जीवन प्रकृति का वह तथ्य नहीं है जिसका भौतिक विज्ञान द्वारा वर्णन किया जा सके। इसके विपरित समस्त प्रकृति में जीवन की दैवीय शक्ति है। "यह एक गूढ सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रकृति और समाज आन्तरिक रूप से विकसित होकर प्रकट होते हुए पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करते है।" दूसरे शब्दों में, प्रकृति और समाज जीवधारी हैं, इसी जीवधारी होने के कारण उनका विकास अनिवार्य हो जाता है और फिर यह विभिन्न तत्वों के सहयोग से होना है। इस तरह जीवन सम्पूर्ण विश्व के विकास का कारण है, यह स्वय विश्व का विकास है। यह विकास व्यक्तित्व निर्माण—प्राप्ति का एक क्रम है। जितना ऊंचा इनका व्यक्तित्व निखरता है उतना ही इनका महत्व भी बढ जाता है। हाग्सकिन और शैलिंग के विचारों का यह मिश्रण वास्तव मे स्पेन्सर के चिन्तन का आधार प्रस्तुत करता है।

अन्त मे, प्राकृतिक विज्ञानों के उसके अध्ययन ने भी स्पेन्सर के दर्शन को रूप दिया। अपने बाल्यकाल से ही स्पेन्सर भौतिकी (Physics) में विशेष रुचि रखता था। वह एक इंजीनियर था और उसने विभिन्न आविष्कारों के विषय में अन्वेषण किये थे। उसे प्राकृतिक कार्य-कारण के सिद्धान्त (Causa-

---

1. The Utopia of Hodgkin was "a stateof anarchy, in which Government had disappeared, and the sentiments of each were automatically adjusted in a spontaneous harmony with those of all."

—*Barker* : Political Thought in England, Page 87

tion) एवं प्राकृतिक नियमों के प्रति बड़ा आकर्षण था। वह बचपन से ही जीव-विज्ञान (Biology) मे भी काफी रुचि रखता था। आयु बढ़ने के साथ-साथ उसने लेमार्क (Lamarck) द्वारा प्रतिपादित जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों को अपनाया। इस जीव-विज्ञान का उसके समाजशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेमार्क के जीव-विज्ञान ने ही मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की ओर स्पेन्सर का पथ-प्रदर्शन किया।[1] वास्तव मे स्पेन्सर लेमार्क का शिष्य था न कि डार्विन का। उसने डार्विन की पुस्तक 'The Origin of Species' के प्रकाशित होने के पहले ही जीवन के उद्गम के विषय मे अपने विचार बना लिये थे।

सारांश मे, स्पेन्सर को प्रोत्साहित करनेवाले अनेक विचार थे। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि किसका प्रभाव उस पर सबसे अधिक पड़ा था। फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके राजनीतिक चिन्तन पर अधिकतर प्रभाव उन्हीं बातो का है जिनमे कि उसका डार्विन से विरोध था। वैसे सामान्य रूप से उसने सावयवी विकास के इस मूल नियम को स्वीकार किया था कि जीवन सघर्ष मे योग्यतम की विजय होती है।

स्पेन्सर का विकासवादी सिद्धान्त
(Spencer's Evolutionary Theory)

स्पेन्सर को जिस बात ने अपने समकालीन विकासवादी विचारको में प्रमुख बनाया—वह है उसका आचारशास्त्र एव राजनीति शास्त्र की समस्याओ की विकासवादी सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करने का प्रयास करना। एक वैज्ञानिक होने के कारण स्पेन्सर ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व में एक नियमित एव निश्चित विकासवादी सिद्धान्त कार्य करता है, और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिकता का विकास कर एक पूर्ण वैयक्तिकता की प्राप्ति करता है। उसकी यह दृढ मान्यता थी कि परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया ससार की प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती है।

जैसा कि कहा जा चुका है, १९वीं सदी मे डार्विन ने अपने जिस विकासवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया था, उससे स्पेन्सर ने कोई सहायता नहीं ली थी और न ही वह उससे प्रभावित हुआ था। वास्तविकता तो यह है कि स्पेन्सर अपने विकासवादी सिद्धान्त को डार्विन के ग्रथ 'The Origin of Species' के प्रकाशित होने के ६ वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित कर चुका था। डार्विन वालास, हक्सले, ल्यूम आदि प्राणी शास्त्रियों के निष्कर्षों ने स्पेन्सर के परिणामो की सत्यता को स्वीकार किया और इससे प्रभावित होकर स्पेन्सर जीवशास्त्र की ओर अपने दर्शन के औचित्य की खोजने के लिये आगे बढ़ा।

---

1. "Lamarck's biology, thus connected with universal physical evolution, leads to Spencer's psychology and to his sociology."

—*Barker*: op cit, Page 74

स्पेन्सर की विकासवाद की डार्विन के सिद्धान्त से समानता व भिन्नता- डार्विन की धारणा थी कि सर्वत्र और प्रत्येक काल में एक ही जाति के विभिन्न प्राणियों और प्राणियों की विभिन्न जातियों में निरन्तर घोरतम सघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में केवल योग्यतम प्राणी ही बच पाते हैं। यह संघर्ष जीवन के अस्तित्व के लिये होता है क्योंकि जीविका के साधन सीमित हैं। अधिक बलशाली व्यक्ति अपने जीवन-सामग्री जुटाकर जीवित रह जाते हैं जबकि निर्बल इस संघर्ष में नष्ट हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक बलशाली इसलिये होते हैं क्योंकि संयोगवश आ जानेवाले अपने कुछ वंशानुक्रमगत गुणों (Inherited Characteristics) के कारण वे स्वय को परिस्थितियों के अनुरूप अथवा अपने पर्यावरण (Environment) के अनुकूल सरलता से ढ़ाल लेते हैं। किन्तु जिनमें इन गुणों का अभाव होता है, वे नष्ट हो जाते है। जो व्यक्ति संघर्ष से बच जाते हैं उनके गुण वंशानुक्रम के द्वारा उनकी सन्तान में आ जाते हैं और इन विभिन्नताओं के संचित हो जाने पर नवीन प्राणी-जातियों (New Species) का जन्म होता है।

डार्विन के 'योग्यतम की विजय' (The survival of the fittest) के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए स्पेन्सर ने अपने ग्रंथ 'Principles of Ethics' में लिखा है कि "मनुष्य के बारे में, जैसा कि निम्नकोटि के प्राणियों के बारे में है, वह कानून जिसके अनुसार आचरण करने से एक प्राणीवर्ग जीवित रहता है, यह है कि वयस्कों में से वे व्यक्ति जो अपने को अपने पर्यावरण के सबसे अधिक अनुकूल बना लेते हैं, सबसे अधिक प्रगति करते हैं और जो सबसे कम अनुकूल बना पाते हैं वे सबसे कम प्रगति करते हैं।"[1]

किन्तु अपने उपरोक्त-विचारों द्वारा स्पेन्सर डार्विन के प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) के जीवशास्त्रीय सिद्धान्त को सामान्य रूप में ही स्वीकार करता है। वह अनेक बातों में डार्विन से भिन्न मत रखता है। वह डार्विन की भांति यह नहीं मानता कि प्राणियों में विभिन्नताएं संयोगवश होती हैं। इसके विपरीत उसका कहना है कि यह परिवर्तन, और अनुकूलन अथवा प्राणियों की ये विभिन्नतायें उद्देश्यपूर्ण (Purposive) होती है। जीवित प्राणी स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। इन प्रयत्नों से वे नवीन कार्यों एवं विशेषताओं को विकसित करते रहते हैं। ये विशेषताएं वंशानुक्रमण के द्वारा एक संतति सेदूसरी संतति में संक्रान्त हो जाती हैं (These traits are transmitted by heredity to succeeding generations)। सार यह है कि "डार्विन के विपरीत स्पेन्सर सोद्देश्य विभिन्नताओं (Purposive variations) और उनके वंशानुक्रमण (Heredity) द्वारा संक्रमण (Transmission) में विश्वास करता था। इस बात का उसके राज-दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। "मैक्सी ने लिखा है कि "चूंकि वह

1. "Of man, as of all inferior creatures, the law by conformity to which the species is preserved, is that among adults the individuals best adapted to the conditions of their existence shall prosper the most and that individuals least adapted to the conditions of their existence shall proper the least."

सयोगिक विभिन्नताओं की अपेक्षा सोद्देश्य विभिन्नताओं में विश्वास करता था, अत उसका यह दृढ विचार था कि अस्तित्व के लिये सघर्ष में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा डालना अवैज्ञानिक था । चूंकि वह सचित गुणों के सक्रमण में विश्वास करता था, अत उसकी मान्यता थी कि प्राकृतिक चुनाव के माध्यम से प्राप्त किये गये गुणों का संक्रमण उससे कहीं अधिक अच्छे समाज की सृष्टि कर सकता है जैसा कि मानव प्रयत्नों द्वारा होना सम्भव है ।"[1]

पेन्सर के अनुसार विकास की प्रक्रिया :—विकास की प्रक्रिया को बताते हुए स्पेन्सर कहता है कि सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति पदार्थ से होती है । पदार्थ और दृश्य जगत दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । विकास केवल चेतन जगत मे ही नही होता प्रत्युत् ऊ चे तक अथवा अजैविक जगत भी विकास क्षेत्र के अधिकार में आ जाता है । स्पेन्सर ने अपने समकालीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयास किया कि प्रारम्भिक अवस्था में विश्व तक अविरल रूप से गतिमान गैस से व्याप्त था । धीरे-धीरे विकास की प्रक्रिया द्वारा उसमे परिवर्तन हुआ और ठण्डा होने पर उसके अनेक टुकडे हो गए जिनको ग्रह एव उपग्रह कहा जाने लगा । कालान्तर मे गैस का वह अनिश्चित स्वरूपवाला गोला निश्चित स्वरूपवाला एवं ठोस हो गया और तापमान एव वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियों के अनुकूल होने पर उस पर प्राणमय शरीर का विकास हुआ । इस भांति भौतिक जगत से ही चेतन जगत का उदय एव विकास हुआ ।

१६वी शताब्दी के अनेक वैज्ञानिको ने ईश्वर में विश्वास त्याग कर जीवन शक्ति के विचार का प्रतिपादन किया था । यह शक्ति स्थिर नहीं अपितु गतिशील मानी गई थी । यह कहा गया था कि मानव समाज ऊर्ध्व गति से प्रगति करता है, किन्तु इसका लक्ष्य नही बताया गया था । स्पेन्सर ने निरन्तर विकास के सिद्धान्त का स्वीकार करके अपने राजदर्शन के सिद्धान्तो पर इसका प्रयोग व्यक्तियों के कार्यों की स्वतन्त्रता के अधिकार की पुष्टि और समर्थन करने के उद्देश्य से किया । शक्ति के विनष्टीकरण मे विश्वास न रखते हुए उसने कहा कि हर चेतन व अचेतन वस्तु मे शक्ति विद्यमान रहती है, इसी कारण उस वस्तु का विकास होता है । इस शक्ति के स्वरूप मे परिवर्तन हो सकता है किन्तु उसका विनाश नही हो सकता । दूसरे शब्दों मे उसने बताया कि किसी भी पदार्थ का अन्तिम रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता, केवल मात्र उसके रूप मे ही परिवर्तन किया जा सकता है ।

1, 'Because he believed in purposive rather than accidental

स्पेन्सर जैविक और अजैविक (चेतन व अचेतन) जगत में विकास-प्रक्रिया की चर्चा करते हुए अतिजैविक जगत के विकास की भी चर्चा करता है। अतिजैविक जगत से उसका तात्पर्य समाज एवं व्यक्ति से है। उसके मतानुसार व्यक्ति का मस्तिष्क शैशवावस्था से वयस्कावस्था तक विकसित होता रहता है। इसी भांति समाज का भी शनैः शनैः विकास होता रहता है, यद्यपि इनमें भी 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त लागू होता है अर्थात् वही समाज जीवित रह पाता है जो स्वयं को भौतिक वातावरण के अनुकूल ढाल लेता है। किन्तु ऐसा करने में असमर्थ रहनेवाला समाज विनाश को प्राप्त होता है। स्पेन्सर ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर अपने इस सिद्धान्त को पुष्ट करने का प्रयास किया है।

स्पेन्सर द्वारा की गई विकासवाद की परिभाषा एवं अतिजैविक जगत में नैतिक प्रस्थापित आचरण :—स्पेन्सर ने वेपर्स का अनुसरण करते हुए विकासवाद की जो परिभाषा दी है वह यह है—

"यह वह सिद्धान्त है जो अनिश्चित से निश्चित की ओर, सरलता से दुरुहता की ओर हो जाता है। जातीयता से विकास विजातीयता की ओर होता है।"

स्पेन्सर के अनुसार विकासवाद की प्रक्रिया जैविक, अजैविक और अतिजैविक तीनों ही क्षेत्रों में होती है। यह प्रक्रिया किस भांति होती है इसका वर्णन पूर्वोक्त पक्तियों में किया जा चुका है। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्पेन्सर अतिजैविक जगत (समाज एवं व्यक्ति) में नैतिक आचरण की भी चर्चा करता है। स्पेन्सर की नैतिकता की धारणा भी उसके विकासवाद के सिद्धान्त के ही अनुकूल है। नैतिक आचरण से उसका तात्पर्य ऐसे आचरण से है जो सामाजिक वातावरण में हो तथा समाज के ही जीवन की रक्षा और उसकी दीर्घता में सहायता प्रदान करता हो। वह उस विधान को नैतिक समझता है जो विकास की प्रक्रिया में सहायक हो। नैतिकता को वह कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं मानता और न उसे कोई ऐसी धारणा ही मानता है जिसकी उपयोगिता सब समयों और परिस्थितियों में हो। स्पेन्सर के कथनानुसार नैतिक भावना का अन्य वस्तुओं की भांति स्वयं विकास होता है। मानव-जाति की रक्षा को वह एक मापक के रूप में मानता है जिसके द्वारा नैतिक एवं अनैतिक का निर्णय किया जा सकता है। जैविक, अजैविक और अतिजैविक जगत में विकास के अनुकूल समय-समय पर जिन माप-दण्डों की आवश्यकता होती रहती है, उनको ही नैतिकता की संज्ञा दे दी जाती है। स्पेन्सर उन्हीं आचरणों को नैतिक मानता है जो मानव के व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन को दीर्घ, व्यापक तथा पूर्ण बनाये। स्पेन्सर के उपरोक्त विचारों को संक्षेप में किन्तु बड़ी स्पष्टता के साथ प्रो० सेबाइन (Prof. Sabine) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"उसने यह आशा व्यक्त की कि समाज की वृद्धि से विकास की निम्नतर और उच्चतर अवस्थाओं की स्पष्ट कसौटी प्राप्त हो जाएगी। इसके आधार पर हम निर्णय कर सकेंगे कि कौनसी चीज पुरानी और कौनसी नई, कौनसी उपयुक्त और कौन सी अनुपयुक्त, कौन-सी अच्छी और कौन-सी बुरी है। स्पेन्सर ने अपनी इस धारणा को सावयव विकास के सिद्धान्त पर आधारित किया था।

उसके विचार से नैतिक सुधार अनुकूलन की जैविक संकल्पना का विस्तारमात्र है। स्पेन्सर का मत था कि योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अधिकार है और उनके जीवित रहने से ही समाज का कल्याण होता है।"[1]

विकास की चार अवस्थायें—स्पेन्सर ने विकास के क्रम के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—

"विकास गति के निरन्तर विघटन एवं द्रव्य के सगठन का एक स्पष्ट रूप है इस क्रिया मे एक अनिश्चित, अव्यवस्थित एवं पृथक स्थिति से द्रव्य एक निश्चित एवं सुव्यवस्थित तथा सयोजित अवस्था मे बदलता रहता है। इसके साथ ही उस द्रव्य की रुकी हुई गति भी समानान्तर रूप से परिवर्तित होती रहती है।"

इस परिभाषा से प्रकट है कि पदार्थों मे परिवर्तन की निम्नलिखित चार अवस्थायें हैं जिनमे से होकर प्रकृति का विकास होता रहता है—

(i) सरल से जटिल की ओर
(From simple to complex)
(ii) अनिश्चित से निश्चित की ओर
(From indefinite to definite)
(iii) असंसक्त से ससक्त की ओर
(From in-coherent to coherent)
एव (iv) सजातीय से विजातीय की ओर
(From homogeneity to betrogeneity)

स्पेंसर के अनुसार उपरोक्त अवस्थाओ मे से होकर ही विकास की प्रक्रिया चलती है। उदाहरणार्थ सजातीय पदार्थ सदैव एक सा नही रह सकता। वह बाह्य प्रभावो एवं परिस्थितियो के कारण अपना रूप निरन्तर परिवर्तित करता रहता है और विजातीयता की ओर अग्रसर होता रहता है। पर्वत श्रेणियां, समुद्र, नक्षत्र आदि इसके उदाहरण हैं। स्पेन्सर ने कहा कि आदिम युग म मनुष्य और बन्दर का स्वरूप एक ही प्रकार का था। उसमे किसी भी प्रकार की विभिन्नता नही थी। व्यक्तियो और बन्दरो की आकृति, रहन-सहन और प्रकृति एक ही प्रकार की थी। पर व्यक्तियो ने अपने को उसी रूप मे ढाल लिया जिसकी आवश्यकता समय और परिस्थिति की थी। जीवन संघर्ष मे सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होने नई नई वस्तुओ का प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप उसमे अनेक नये गुणो का सूत्रपात हुआ। पर इसके विपरीत बन्दरो ने अपने मे किसी भी प्रकार का परिवतन नही किया इसके फलस्वरूप वे अपने मूलरूप मे ही पडे रहे।

स्पष्ट यह है कि स्पेन्सर विकास की एक सीमा अवश्य मानता है। उसके अनुसार विकास उसी समय तक होता रहेगा जब तक प्राणी अपनी

1 "Evolution is in integration of matter and a concomitant ... passes from ... efinite, coher- ... ained motion

वाह्य परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल सकेगा। जिस दिन उसकी यह शक्ति समाप्त हो जायगी, उसी दिन मानव का विकास रुक जायगा एवं समस्त विश्व सन्तुलन की अवस्था में हो जायगा। तब सूर्य की गर्मी और प्रकाश, तारों की चमक, पृथ्वी का वेग, रक्त की ऊष्णता आदि समाप्त हो जायगी तत्पश्चात् विनाश की अवस्था आ जायगी, विश्व अंधकारमय हो जायगा और समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा। किन्तु समय पाकर सम्पूर्ण विश्व में पुनः एक विशिष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होगा तथा पृथ्वी पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त करेगी। इस विकास और विलयन का आवर्तन और प्रत्यावर्तन युग-युगांतरों तक होता रहेगा। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि विकास की प्रक्रिया मे स्पेंसर वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को बड़ा महत्व देता है। इनके द्वारा विकास के स्वरूप का निर्धारण होता है। वास्तव में ठीक प्रकार से विकास होने के लिए आवश्यक है कि बाहरी और आन्तरिक-दोनों दशाओं का ही सामंजस्य हो। बालक का विकास आन्तरिक आवश्यकता के कारण होगा। उसे अच्छा भोजन व श्रेष्ठ मनोदशायें प्रदान करनी होंगी। किन्तु युवक होने के बाद में वृद्ध होने तक नाना वाह्य दशाएं भी उसको निश्चित रूप से प्रभावित करेंगी।

अपने विकास के सिद्धान्त को समाज पर स्पेंसर ने किस भांति लागू किया है इस पर विस्तार से चर्चा अग्रिम शीर्षक 'स्पेन्सर का समाज का सावयवी सिद्धांत' में की जायगी। किन्तु उसकी विकासवादी धारणा के प्रसंग में इतना और जान लेना उचित है कि स्पेन्सर उपयोगितावादियों के इस विचार से सहमत है कि जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है और इस लक्ष्य की इच्छा जीवन-शक्ति (Life-force) ही करती है। सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य निरन्तर स्वय को वातावरण के अनुसार परिवर्तित करता रहता है। इस परिवर्तन के लिए मनुष्य को उस स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है। स्पेंसर ने इस स्वतन्त्रता को स्वतन्त्र शक्ति और प्रतिभा (Free energy and faculty) की संज्ञा दी है। मानव समाज पर घटाने पर इसका अभिप्रायः एक ऐसे पूर्ण समाज से है जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच पूर्ण सामन्जस्य होगा और इसमें शासन की तरफ से कोई हस्तक्षेप न होगा। स्पेन्सर के अनुसार इस पूर्ण संतुलन (Perfect equilibrium) को प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि शासन की गति विधियों के क्षेत्र (The area governmental activity) को शनैः शनैः क्रमश. कम कर दिया जाय और व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के प्रयोग के क्षेत्र को बढ़ाया जाय। स्पेंसर के पूर्ण आदर्श समाज में किसी भी प्रकार के शासन का अस्तित्व नहीं है। जब तक पूर्ण अथवा अन्तिम संतुलन तक नहीं पहुंच जाता तभी तक शासक की आवश्यकता है। स्पेन्सर के अनुसार 'जब सामन्जस्य की यह प्रक्रिया चल रही हो तो उस दौरान, प्रथम तो मनुष्य को सामाजिक दशाओं में बांधे रखने के लिए और द्वितीय उस दशा के अस्तित्व को खतरा पहुंचानेवाले सभी आचरणों को नियन्त्रित करने के लिए किसी साधन का प्रयोग किया जाना चाहिये। ऐसा साधन शासन या सरकार ही है।"[1] राज्य को इन दो कार्यो से आगे नहीं बढ़ना चाहिये। स्पष्ट है कि

---

1. "While this process (of adjustment) is going on, an instrumentality must be employed, firstly to bind man into the

इस तरह स्पेन्सर का विकासवाद का सिद्धान्त अन्ततः एक राज्य-शून्य समाज (An Anarchic Society) की ओर ले जाता है जिसमे किसी प्रकार के शासन के लिए स्थान नहीं है और जिसमे मनुष्य मनुष्य के मध्य सामन्जस्य अथवा सतुलन की पूर्ण दशा व्याप्त होगी। स्पेन्सर के मत में राज्य शून्यता ही समाज की प्रगति की पराकाष्ठा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्पेन्सर के इस अन्तिम अथवा पूर्ण सतुलन (Final equilibrium), जहा पर विकास की प्रक्रिया रुक जाती है की धारणा आधुनिक विज्ञान को एकदम अस्वीकार्य है। आज विज्ञान हमे यही बतलाता है कि विकास एक कभी समाप्त न होनेवाली प्रक्रिया है 'जिसमे प्रत्येक अनुकूलीकरण (Adaptation) ऐसी नवीन स्थितिया उत्पन्न करता है जिसके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है", और इस प्रक्रिया की कोई सीमा-रेखा नहीं है। 'विज्ञान की यह धारणा स्पेन्सर के समन्वयवादी दर्शन (Synthetic Philosophy) के मूल पर ही कुठाराघात करती है एव उसके राजनैतिक सिद्धान्तों को धराशायी कर देती है।'

स्पेन्सर का सामाजिक सावयव सिद्धान्त
(Spencerian Theory of Social Organism)

यह स्मरणीय है कि स्पेन्सर अपने जीवन-पयन्त व्यक्ति के अधिकारों और लैसे फेयर (Laissez-Faire) की नीति का घोर समर्थक रहा किन्तु साथ ही सामाजिक सावयव की धारणा के प्रति भी गहरी आस्था अपने हृदय मे सजोये रहा। यह कहना उपयुक्त होगा कि जिस तरह हॉब्स (Hobbes) ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का चातुर्यपूर्ण प्रयोग राजाओ के निरंकुशवाद (Monarchical absolutism) का समर्थन करने के लिये किया था, ठीक उसी प्रकार स्पेन्सर ने विश्व विकास और सामाजिक सावयव (Universal Evolution and Social Organism) की धारणा की सहायता से रेडीकलवाद (Radicalism) अथवा व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो मे अपने विश्वास का समर्थन करने का प्रयत्न किया।

राज्य का सावयव सिद्धान्त स्पेन्सर के मस्तिष्क की ही उपज हो, ऐसी बात नहीं है। यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। वह राज्य एवम् शरीर का सम्बन्ध बताता हुआ यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक सगठन की भाति है। राज्य की प्रकृति मानव शरीर की भाति है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग पारस्परिक सहयोग एवम् निर्भरता के साथ कार्य करते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी परस्पर सहयोग एवम निर्भरता के साथ कार्य करते हैं। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त मौन है। वस्तुत यह सिद्धान्त मानव भाव के इतना ही पुराना है जितना कि राजनीति दर्शन। इस सिद्धान्त का हवाला प्लेटो

---

social state and secondly to check all conduct endangering the existence of that state. Such an instrumentality we have in government"

—*Spencer*. Social Statics, Pages 126-27, Quoted by Maxey, op cit, Page 559

के लेखों में मिलता है जहां वह कहता है कि—"राज्य एक विस्तृत अर्थात् बड़े डील-डौलवाले व्यक्ति के समान है।" उसने गणतंत्र की तुलना एक महा-मानव से की थी और बतलाया था कि राज्य एवम् व्यक्ति के कार्य समानान्तर होते हैं। उसने इस विभाजन का आधार मनुष्य की आत्मा के ३ नियमों, बुद्धिमता (Wisdom), साहस (Courage) और इच्छा (Appetite) को बनाया था। उसने व्यक्ति को राज्य का सूक्ष्म स्वरूप माना था—"यदि राज्य समस्त विश्व है तो व्यक्ति उसका सूक्ष्म अणु है।" अरस्तू ने भी राज्य और मानव-शरीर में समानता का प्रतिपादन किया था। उसका पक्का विश्वास था कि व्यक्ति वास्तव में समाज का एक स्वाभाविक अंग है। रोमन विद्वान सिसरो ने लिखा है कि—"राज्य के मुखिया को राज्य में वही स्थान प्राप्त है जो शरीर में आत्मा को होता है।" इसाई धर्म के प्रसार के प्रारम्भिक दिनों में संत पॉल चर्च को ईसामसीह का जीवित शरीर मानता था। आधुनिक युग में हॉब्स और रूसो ने राज्य के सावयवी स्वरूप (Organic Nature) पर बड़ा ध्यान दिया। हाब्स ने राज्य की तुलना एक कल्पित महा-मानव या दैत्य 'Leviathan' से की। उसने राज्य की कमजोरियों की तुलना मानव-शरीर की बीमारियों के साथ बहुत बारीकी से की। रूसो ने विधान-मडल को राज्य का हृदय तथा कार्य-पालिका को राज्य का मस्तिष्क बताया। १६वीं शताब्दी में राज्य का यह सावयवी सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हो गया। महान् जर्मन दार्शनिक ब्लूशली (Bluntschli) ने कहा कि "राज्य की व्यवस्था प्राणी-शरीर की व्यवस्था की प्रतिलिपि मात्र है।" उसने तो यहां तक लिखा कि "राज्य नर है और चर्च मादा।" इसी प्रकार और भी अनेक विद्वानों ने राज्य और मानव शरीर के इस सिद्धान्त का पक्ष लिया।

स्पेन्सर के सामाजिक सावयव सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of Spencer's theory of Social Organism)—सावयव सिद्धान्त का सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रतिपादन जिस व्यक्ति ने किया वह हर्बर्ट स्पेन्सर था। सामाजिक सावयव की धारणा उसकी राजनीतिक चिंतन के इतिहास को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। स्पेन्सर की सावयव की धारणा उसकी पुस्तक 'Social Statics' और उसके निबन्ध 'Social Organism' में प्रमुख रूप से पाई जाती है। अपनी 'Principles of Sociology' तथा 'Facts of Comments' नामक पुस्तकों में उसने अपने इन विचारों को तर्कपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है। प्लेटो, अरस्तू और हॉब्स आदि में से किसी ने भी राज्य को एक पूर्ण सावयव नहीं कहा था। उनके लिये केवल राज्य का स्वरूप सावयवी था। किन्तु स्पेन्सर ने राज्य को एक सचमुच के सावयव का स्वरूप दिया और बहुत विस्तार से राज्य एवं शरीर में एक समानता स्थापित करने की चेष्टा की। उसने राज्य और जीव-धारी शरीर में जो समानतायें प्रकट कीं, वे इस प्रकार हैं—

(a) प्राणी शरीर और समाज शरीर दोनों का आरम्भ पहले-पहल कीटाणुओं (Germs) के रूप में हुआ है। इन दोनों में समान रूप से निरन्तर वृद्धि क्रिया होती है। ज्यों-ज्यों इनके अंगों का विकास होता है, त्यों-त्यों इनका असादृश्य बढ़ता जाता है और इनकी बनावट में विशेष जटिलता आती जाती है। सबसे क्षुद्र प्राणी के शरीर की बनावट बिल्कुल

साधारण होती है। उसमे पेट, श्वास-नली अथवा पसली के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अनुन्नत दशा मे केवल बहादुरों, शिकारियों और मई औजार बनानेवालों का एक समुदाय था। लेकिन समय बदलने के साथ-साथ समाज का विकास होता गया और उसमें जटिलता बढ़ती गई। जटिलता बढ़ने के साथ-साथ उसमे श्रम विभाजन होने लगा और औद्योगिक विकास जन्म लेने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि स्पेन्सर के मतानुसार राज्य अपनी साधारण प्रारम्भिक अवस्था मे शनैः २ विकसित होकर ही आधुनिक जटिल संगठन के रूप मे आ सका है। स्पेन्सर की यह मान्यता है कि राज्य के विकास और ह्रास मे भी वही नियम लागू होते हैं जो कि एक सावयव मे। सावयव की भांति ही राज्य की भी किशोर, तरुण एवं वृद्धावस्था होती है और अन्त मे सावयव की भांति ही वह भी एक दिन अपनी मृत्यु को प्राप्त होता है।

(b) स्पेन्सर ने कहा कि शरीर सावयवों से बना हुआ है जो उसे जीवन प्रदान करते हैं तो राज्य का निर्माण भी व्यक्तियों से होता है जिनसे उसे जीवन मिलता है। "श्रमिक जो कृषि करते हैं, खानों मे काम करते हैं और कारखानों मे काम करते हैं और जो घरों मे काम करते हैं समाज के तत्व हैं। थोक-विक्रेता, फुटकर विक्रेता, महाजन, रेल तथा जहाजरानी आदि में काम करनेवाले इस शरीर के मांसपेशियो वाले अंग हैं। व्यावसायिक-वर्ग, तथा डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, शासक पादरी आदि इस शरीर के मस्तिष्क तथा नाड़ी-संस्थान का काम करते हैं। इस प्रकार एक मानव शरीर के जैसा ही समाज या राज्य का हिसाब-किताब है।"[1]

(c) शारीरिक स्वास्थ्य शरीर के सावयव या अंग पर निर्भर होता है। यदि किसी भी सावयव में कोई रोग हो जाता है तो सारे शरीर को कष्ट उठाना पड़ता है। इसी भांति राज्य का स्वास्थ्य नागरिकों के स्वास्थ्य पर निर्भर है। नागरिकों द्वारा कर्तव्य पालन के अभाव मे सम्पूर्ण राज्य को हानि होती है। जिस प्रकार किसी अंग के निर्बल या बीमार हो जाने से उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार यदि राज्य के नागरिक अस्वस्थ या अशिक्षित होते हैं अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से परिपूर्ण होते हैं, तो राज्य के हितों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

(d) शरीर मे भौतिक परिवर्तन होता रहता है। जीर्ण-शीर्ण अंगों को पौष्टिक भोजन द्वारा नवीन एवं पुष्ट बनाया जाता है। इसी प्रकार राज्य में

---

1. "The workers, the men who farm the soil, work the mines and factories and workshops are the elementary organs of a society. The wholesalers, retailers, bankers, railway and steamship men correspond to the moscular system of an [illegible] men—doctors, lawyers, engi- [illegible], perform the [illegible]" [illegible] Thought of the 19th Century, Page 21

भी परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार शरीर के स्नायु नष्ट होते रहते हैं और उनके स्थान पर नये स्नायु उत्पन्न होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के निर्बल, रोगी एव वृद्ध मनुष्य नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नवीन व्यक्ति लेते रहते हैं।

(e) शरीर के मुख्य तीन कार्य होते हैं-पोषण, वितरण एवं सुसचालन। मुख पेट, एवं आंते पोषण का काम करती है। यह अंग भोजन को पचा कर शरीर की रक्षा करता है। रक्त-नाडियां, शिराये, हृदय, नसें आदि भोजन के वितरण का कार्य करती हैं और मस्तिष्क तथा स्नायु-तंत्र के सुसचालन का काम करती हैं। ठीक इसी प्रकार का संगठन और कार्य-प्रणाली राज्य में विद्यमान है। उद्योग एवं कृषि राज्य के पोषक अंग हैं तथा सरकार रूपी मस्तिष्क राज्य के सुसंचालन का कार्य करता है।

(f) अन्त में स्पेन्सर यह पाता है कि एक शरीर की भांति समाज के किसी एक अंग की अधिक वृद्धि का अर्थ होता है दूसरे अंगों की वृद्धि का रुक जाना। बड़े-बड़े भू-स्वामियों और पूंजीपतियों के ऐश्वर्य के महल, भूमि-हीन खेतीहर मजदूरों और औद्योगिक श्रमिकों के शोषण के आधार पर ही तो खड़े हुये हैं।

स्पेन्सर ने समाज तथा सावयव मे जो समानतायें देखी हैं, वे डाक्टर एच० आर० मुरे (Dr. H. R. Murray) के शब्दों मे सक्षेप में ये हैं—

(१) दोनों ही लघु समूह से आरम्भ करके आकार में बढ़ते हैं।

(२) जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते है उनकी प्रारम्भिक सरलता के बदले में जटिलता आती जाती है।

(३) बढ़ते हुये विभिन्नीकरण के साथ उन दोनों के निर्मायक अंगों में पारस्परिक निभरता बढ़ती है। प्रत्येक अग का जीवन तथा साधारण कार्य-कलाप संपूर्ण के जीवन पर निर्भर हो जाता है।

(४) सम्पूर्ण का जीवन, अंगों के जीवन की अपेक्षा, पहले से कहीं अधिक स्वतत्र हो जाता है।

प्राणी और राज्य में विभिन्नताएं—किन्तु जहां एक ओर समानता के इन तत्वों पर हर्बर्ट स्पेन्सर प्रकाश डालता है, वहां दूसरी ओर उसने असमानता (भेद) की बातों पर भी बल दिया है और यह स्वीकार किया है कि दोनों के बीच की यह समानता प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण नही है। इन दोनों में दो महत्वपूर्ण अन्तर है, जो इस प्रकार हैं—

(१) पशु अथवा मानव-शरीर के विभिन्न भाग मिलकर एक सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं। यदि उन्हें शरीर से अलग कर दिया जाय तो वे सजीव नही रहते और बेकार हो जाते हैं। कहने का मतलब है कि पशु जीवधारी रचना का आकार ठोस है, निश्चित है और उसकी इकाईयां परस्पर जुड़ी हुई हैं। इसके विपरीत सामाजिक शरीर खण्डित है, उसका पशु या व्यक्ति के समान कोई निश्चित आकार नहीं है। उसकी इकाईयों में परस्पर सम्पर्क तो होता है, पर उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं। वे बिखरी हुई हैं। स्पेन्सर के अनुसार सामाजिक शरीर की इकाईयां स्वतन्त्र हैं, और "अधिक या कम विस्तृत रूप में छितरी हुई हैं।"

(२) स्पेन्सर ने जीवधारी रचना और सामाजिक संस्था के बीच एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर भी बताया है। उसका कहना है कि एक जीवित शरीर में चेतना शरीर के एक विशिष्ट भाग मे केन्द्रित होती है। शरीर के विभिन्न अगों की अपनी कोई पृथक पृथक चेतना अथवा इच्छायें नहीं होती। चेतना शरीर के केवल एक केन्द्र मे ही रहती है। परन्तु जीवित शरीर के विपरीत समाज मे चेतना का कोई एक केन्द्र नहीं होता। समाज में यह व्यापक रूप से फैली हुई होती है। समाज मे प्रत्येक सदस्य की अपनी निजी चेतना होती है। वह मनमाना कार्य करने मे स्वतन्त्र है जबकि जीव के अंग इस दृष्टि से मस्तिष्क के पूरी तरह अधीन होते हैं।

उपरोक्त भेदों की विद्यमानता स्वीकार करते हुए भी स्पेन्सर ने यही माना है कि राज्य एक जीवधारी रचना है। इन भेदों के आधार पर ही उसने व्यक्तिवादी सिद्धान्त की रचना की है। उसके मत मे, चूंकि राज्य में चेतना का एक केन्द्र नहीं होता, जिस प्रकार कि जीवधारी मे होता है, अतः राज्य को चाहिये कि वह व्यक्तियों को अपने हित-साधन के लिये पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे। समाज का अस्तित्व सदस्यों के लिये है, सदस्य समाज के लिये नही है। इस प्रकार स्पेन्सर ने सावयव-सिद्धान्त को व्यक्तिवाद का आधार बनाकर एक विरोधाभास को सामने रखा जो आज भी विवाद का विषय है। सगति की माग तो यह है कि या तो उसे अपने देहीकलवाद एव प्राकृतिक अधिकारों मे विश्वास को तिलाजलि दे देनी चाहिये थी या सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का परित्याग कर देना चाहिये था।

स्पेन्सर की सामाजिक सावयव की धारणा की आलोचना करने से पूर्व यहां इस महत्वपूर्ण तत्व को दोहरा देना उचित होगा कि उसके पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो, सिसरो आदि ने राज्य और जीवधारी के बीच जब तुलना की तो उनका कहना था कि "राज्य जीव की तरह है" (The State is like an organism)। परन्तु स्पेन्सर अपनी विचारधारा को इन लेखकों से एक कदम आगे ले जाता है। राज्य और जीवधारी के मध्य समानताओं का प्रदर्शन करने मे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि "राज्य स्वय एक जीवधारी है" (The State is an organism)। यह अन्तर बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि स्पेन्सर ने यहां समानताओं (Similitaries) को एकता (Identities) समझने की भारी भूल की है जिसके फलस्वरूप उसका दर्शन एकांगी और विरोधी मान्यताओं का गोरख धन्धा बन गया।

स्पेन्सर के विकासवादी सिद्धान्त एवं सामाजिक सावयववाद की आलोचना—स्पेन्सर के सम्पूर्ण दर्शन की आलोचना करते समय ही विस्तार से प्रगट की जायगी।

स्पेन्सर का राजनीतिक चिन्तन

(Spencer's Political Philosophy)

स्पेन्सर की विकासवादी और सामाजिक सावयववादी धारणा के अतिरिक्त उसके दर्शन मे राजदर्शन के विद्यार्थी के लिए रुचिकर विषय हैं—उसका व्यक्तिवाद, राज्य के कार्यक्षेत्र की उसकी धारणा विशेषत. औद्योगिक

अहस्तक्षेप (Laissez Fair) सम्बन्धी विचार, एवं अधिकारों पर उसका चिन्तन। इन पर एक-एक करके पृथक से विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि स्पेन्सर ने अपने राजनीतिक चिन्तन में "सामाजिक सिद्धान्तों को जीवशास्त्रीय विकास से सम्बन्धित किया है।" किन्तु इसके साथ ही "उसने व्यावहारिक तथ्यों को वहीं पर छोड़ दिया है जहां वे पहले थे।" इस तरह राज्य के विकास की नवीन धारणा का अधिवक्तन करते हुए उसने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें कोई नवीनता नहीं है।

(१) स्पेन्सर की व्यक्तिवादिता (Spencer's Individualism)—स्पेन्सर का बाल्यावस्था से ही व्यक्तिवादी प्रभाव पड़ा और जीवनपर्यन्त वह एक व्यक्तिवादी विचारक बना रहा। उसकी इस विचारधारा का उसके राज्य-सम्बन्धी विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु विचित्र बात यह है कि अपने सावयवी सिद्धान्त द्वारा भी उसने अपने व्यक्तिवादी विचारों का पोषण करने की चेष्टा की और दोनों में ताल-मेल बैठाने का असफल प्रयत्न किया। चूंकि राज्य की सावयवी धारणा और व्यक्तिवादी सिद्धान्त–ये दोनों ही बातें परस्पर विरोधी है, अतः यही कहा जाता है कि "स्पेन्सर का दर्शन का प्राकृतिक अधिकारों और जीवशास्त्रीय रूपक का अद्भुत मिश्रण" (A queer mixture of Natural Rights and Orgınic allegonics of the state) है। स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद पर अपने जो विचार प्रकट किये उनमें मिल के व्यक्तिवाद की अनेक बातों के दर्शन होते हैं।

व्यक्तिवाद का समर्थन स्पेन्सर ने यह कहकर आरम्भ किया है कि राज्य का अस्तित्व मनुष्य की पूर्वजों से प्राप्त कुटिलता और अहमन्यता का परिणाम है। राज्य रक्षक होने की अपेक्षा आक्रांता अधिक है। स्वयं उसके शब्दों में "भले ही यह सत्य हो अथवा नहीं कि मनुष्य का पोषण असमानता में होता है और पाप के कारण वह जन्म लेता है, लेकिन यह निश्चित रूप से सच है कि शासन का जन्म अत्याचार से होता है और अत्याचार में ही वह पनपता है। राज्य का निर्माण लोगों की बुरी वृत्तियों का दमन करने एवं अन्य साथियों के अत्याचारों तथा धोखे से रक्षा करने हेतु किया जाता है। नैतिक रूप से पूर्ण समाज में राज्य के अस्तित्व के लिये कोई ठोस तर्क नहीं रहता।"[1] पुनः उसके ही अनुसार, "क्या हमने यह सिद्ध नहीं कर दिया कि शासन या सरकार मौलिक रूप से अनैतिक है? क्या इसका अस्तित्व इस कारण नहीं है कि अपराधों का अस्तित्व है और अपराधों के समाप्त हो जाने की स्थिति में सरकार को समाप्त नहीं हो जाना चाहिये; क्योंकि इसके कार्यों

---

1. *"Be it or be it not true that man is shapen in inequity and* conceived in sin, it is unquestionably true that Government is begotten of aggression and by aggression. State is created merely for the purpose of curbing the wicked tendencies of the people and also for protecting them from the violence and fraud of their fellow being. In a morally perfect society, these could be no raison d'etre for the state."

के लक्ष्य का अभाव हो गया है ?"[1] स्पेन्सर ने, यह भी कहा कि यह सोचना बहुत गलत होगा कि शासन सदा विद्यमान रहेगा। इसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं है बल्कि किसी कारण के हेतु है। जिस तरह जंगली जातियों में राज्य प्रशासन का पूर्वगामी है, उसी तरह ऐसी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव हो सकता है जब राज्य लुप्त हो जाये।"

स्पेन्सर के व्यक्तिवादी विचारों का सार यह है कि व्यक्ति का विकास प्राकृतिक ढंग से उसी तरह स्वच्छन्दतापूर्वक होना चाहिये जिस तरह मानव के अतिरिक्त किसी अन्य स्वतन्त्र जीव का होता है। मानव के मार्ग में समाज या राज्य एक बहुत बड़ी बाधा है जिसके द्वारा व्यक्ति का विकास नियन्त्रित नहीं होता प्रत्युत रुक जाता है अत: व्यक्ति के विकास के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति पर राज्य का किसी भांति का नियन्त्रण न हो। एक शाश्वत सुख समृद्धि और आनन्द के लिये राज्य की समाप्ति ही श्रेयस्कर है। राज्य की विधियों परम्पराओं एवं तथाकथित सामाजिक नैतिकताओं के कारण व्यक्ति का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। अत यह नितान्त आवश्यक है कि केवल कुछ पुलिस के व्यक्तियों एवं न्यायालयों को छोड़कर शासन के सभी अंगों को यथा शीघ्र मिटा देना चाहिये। राज्य एवं समाज व्यक्तियों के समूह हैं, अत उनका अस्तित्व व्यक्ति के अस्तित्व पर आश्रित है और उनकी समृद्धि पर निर्भर करती है। राज्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास और प्रयोग के लिये आवश्यक स्वतन्त्रता की माग करते हैं। प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है। इसलिये स्वतन्त्रता के लिये ही शासन का जन्म हुआ है और वही उसका मापदण्ड है। वस्तुत अपनी इस धारणा में स्पेन्सर बेंथम और मिल के बहुत निकट है। वह उन्हीं की भांति एक व्यक्तिवादी है, प्रत्युत् यह कहना चाहिये कि वह उनकी अपेक्षा अधिक व्यक्तिवादी है क्योंकि उसके लिये स्वतन्त्रता एक प्राकृतिक अधिकार है—एक ऐसा सर्वोच्च प्राकृतिक अधिकार है जिसमे अन्य सब प्राकृतिक अधिकार उत्पन्न होते हैं। स्पेन्सर के अनुसार व्यक्ति के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। अपने बाह्य अस्तित्व में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये ताकि अपने आस पास के वातावरण में वह संघर्ष द्वारा अपनी प्राकृतिक अवस्था और स्थान प्राप्त कर सके। आन्तरिक दृष्टि से व्यक्ति एक चेतना है जिसके विकास के लिये भी स्वतन्त्रता चाहिये—ऐसी स्वतन्त्रता जिसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों की चेतना का वैसे ही सम्मान कर सके।

स्पेंसर यह मानता है कि राज्य में जितनी ही अधिक स्वच्छन्दता होगी वह राज्य अपेक्षाकृत उतना ही अच्छा होगा। व्यक्ति और शासन के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या करते समय, पूर्वोक्त उद्धरण में स्पेंसर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक ऐसी अनैतिक संस्था है जो भूतकालीन अवशेषों पर

---

1. "Have we not shown the *Government* is essentially immoral ? Does it not exist because crime exists and must Government not cease when crime ceases, *for very lack of objects on which to perform its functions ?*"

खड़ी है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता में सदैव हस्तक्षेप करती है। राज्य की भांति ही अनेक अवशेष हैं और अपने अवशेष को बनाये रखने के लिये वे राज्य का सहारा चाहते हैं और इसीलिये राज्य का समर्थन भी करते हैं। वास्तव में व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या है राज्य को मिटाना। राज्य को भी यह मान लेना चाहिये कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता के नियम का सम्मान करने के लिए उसका मिटना आवश्यक है। अत: राज्य को व्यक्तियों को इतना अधिकार देना चाहिये कि "वे राज्य को तिलांजली दे सकें और इसकी नागरिकता के भार को फेंक सकें।" स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'Social Statics' (1850) में यह कहा है कि व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह राज्य की अवहेलना कर सकता है, राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है, राज्य की संरक्षता में रहने से इन्कार कर सकता है इसका भार उठा फेंक सकता है और अपनी इच्छा से कानून के विरुद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है। स्पेंसर ने अनिवार्य सहयोग की अपेक्षा एच्छिक सहयोग को और सकारात्मक नियंत्रण (Positive Regulation) की अपेक्षा नकारात्मक नियन्त्रण (Negative Regulation) पर अधिक बल दिया है। सुखों की प्राप्ति राज्य के हस्तक्षेप से प्राप्त न होकर स्वय के प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है और शासन का कार्य बुराईयों को रोकना है न कि लोगों को सुखी बनाना या इन कार्यों में सहयोग देना जिन्हें जनता स्वयं कर सकती है।

(२) स्पेंसर के अनुसार राज्यके कार्य (Spencer on State Action)—राज्य कार्यों के बारे में स्पेंसर की धारणा की रूपरेखा पूर्ववर्ती वर्णन से स्वत: स्पष्ट है। स्पेंसर राज्य के कर्त्तव्यों का वर्णन निषेधात्मक रूप से करता है। उसके अनुसार राज्य को चाहिये कि वह स्वयं को—(क) विधि-व्यवस्था की रक्षा के लिए पुलिस रखने, (ख) बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक शांति की रक्षा के लिये सेना रखने. और (ग) अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालय रखने तक ही सीमित रखे। ये कार्य न्यूनतम हैं जिन्हें राज्य से एक आवश्यक बुराई होते हुए भी लिया जायेगा। रहा शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि का मामला, सुव्यक्ति इस तरफ स्वयं ध्यान दे लेगा।

स्पेंसर के अनुसार राज्य को चाहिये कि वह उद्योगों का निर्माण न करे, राज्य में किसी धार्मिक चर्च की स्थापना न करे, गरीबों की सहायता न करे, उपनिवेषों की स्थापना न करे, जनता के स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालयों आदि का प्रबन्ध न करे और लोगों की शिक्षा का भी प्रबंध न करे। राजकीय शिक्षा के विषय में उसका मत है कि "किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को छीन कर उसके स्वयं के अथवा अन्य लोगों के बालकों को शिक्षा देना उसके अधिकारों की रक्षा के लिये आवश्यक नहीं है, अत: यह त्रुटिपूर्ण है।"[1] राज्य का हस्तक्षेप केवल तभी मान्य है जब किसी बालक को उसके अधिकार से वंचित किया जाय, जब उसे शिक्षा नहीं दी जाय। राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध होने से रुढ़िवादी हितों की रक्षा होगी जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अडङ्गा लगायेंगे।

---

1. "Taking away a man's property to educate his own or other people's children is not needful for the maintenance of his rights and hence is wrong."

स्पेंसर ने विकास का स्पष्टतम लक्ष्य व्यक्तियों के जीवन में चलने वाला संघर्ष माना है जिसमें शक्तिशाली एवं योग्य विजयश्री का वरण करते है और निर्बल और अयोग्य संसार से विदा हो जाते हैं। अतः राज्य अथवा समाज को इस संघर्ष को रोकने या दूसरे शब्दों में सबलों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए कुछ नहीं करना चाहिये, क्योंकि यदि राज्य निर्बलों की सहायतार्थ आगे आयेगा तो संसार अयोग्य एवं निर्बल व्यक्तियों से भर जायेगा और परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की हानि होगी। अन विकास की स्वाभाविक वृद्धि के लिए तथा व्यक्ति एवं पर्यावरण (Environment) में सम्पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य मानव विषयों से अपने को यथासम्भव दूर रखे। राज्य का काय केवल मात्र समाज के सदस्यों को संगठित रखना और उनके राज्य अस्तित्व के विरोधी आचरण पर अंकुश रखना है। स्पेंसर के शब्दों म ऐसा इसलिए है—क्योंकि "राज्य को यदि रक्षक समझा जाय तो हम पाते हैं कि ज्योंही वह रक्षा करने से अधिक कुछ करता है तो वह आक्राता बन जाता है और यदि उसे अनुकूलीकरण का सहायक समझा जाय तो हम पाते हैं कि जब भी वह सामाजिक संगठन को बनाये रखने से अधिक कुछ करता है तो उससे अनुकूलीकरण की प्रक्रिया रुक जाती है।"

स्पेंसर आगे कहता है कि राज्य मे न सिक्कों की व्यवस्था होनी चाहिये और न डाक घरों की। नोटों और सिक्कों के आदान प्रदान पर प्रतिबन्ध लगाना विनिमय के तथा समान अधिकार के प्राकृतिक नियमों का हनन करना है। समुद्री जहाजों की कुशल यात्रा के लिए राज्य को प्रकाश गृहों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिये। राज्य को सफाई और जन कल्याण का भी कोई काय नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे योग्यतम का बचाव (Survival of the fittest) के प्राकृतिक सिद्धान्त मे बाधा पड़ती है। यदि लोग स्वास्थ्य का महत्व समझेंगे तो स्वयं उसकी रक्षा करेंगे। सफाई के प्रति उनकी रुचि होगी तो वे स्वयं सफाई रखेंगे। राज्य का यह काम नहीं है कि वह अस्पताल, दवाघर आदि खोले। सरकार को नगरपालिकायें खोलने मे भी मदद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्पेंसर का कहना है कि यदि राज्य से कोई सहायता नहीं मिलेगी तो लोग इन क्षेत्रों में और भी अधिक उत्साह से काम करेंगे तथा वे जो कुछ भी करेंगे उसका महत्व स्वयं ही समझेंगे। स्पेंसर का विश्वास है कि गरीब या तो अपनी हालत स्वयं सुधारें या फिर बेहतर है कि मर जायं, क्योंकि यदि उनको जीवित भी रखा जायगा तो वे समाज के किसी भी काम नहीं आ सकेंगे। इसके विपरीत गरीबों की मदद करने से उनके समूह सक्षम और स्वस्थ लोगों के लिए तब तक अभिशाप बने रहेंगे जब तक राज्य की ओर से उनकी जीविका का प्रबन्ध होता रहेगा। स्पेंसर का राज्य सम्बन्धी यह दर्शन अत्यधिक बर्बरतापूर्ण है। इसे स्पेंसर भी स्वीकार करता है, लेकिन उसका कहना है कि वास्तविकता यही है। प्रकृति हम स्वयं निर्दयी होना सिखाती है। तात्पर्य यह है कि स्पेंसर के अनुसार व्यक्ति का भी विकास, पेड़ पौधों और पशुओं की भांति होना स्वाभाविक होगा। ऐसी स्थिति मे दुनिया म अशक्त, रोगी, गरीब, अज्ञानी आदि नष्ट हो जायेंगे और केवल वे लोग ही बचेंगे जो अपने प्राकृतिक विकास को आत्मसंघर्ष के

बल पर आगे बढ़ा सकेंगे। स्पेंसर ने राज्य द्वारा सार्वजनिक प्रयोग के लिए व देश की सुरक्षा के लिये आवश्यक इमारतें, सड़कें, पुल आदि बनाने के अतिरिक्त अन्य वस्तु-निर्माण के कार्यों की भी निन्दा की है।

स्पेंसर राज्य को अन्य उद्योगों की तरह ही एक उद्योग मानता है, जिसका एक ही कार्य है–'सुरक्षा'। यह सुरक्षा भी प्राकृतिक संघर्ष को रोकती है, इसलिए वह कहीं तो इस सुरक्षा का समर्थन करता है और कहीं विरोध। राज्य के अहस्तक्षेप को स्पेन्सर ने सर्वाधिक महत्व उद्योग के क्षेत्र में दिया है। उसको आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का कोई भी नियन्त्रण अस्वीकार है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए किसी भी साधन को अपनाने का अधिकार है। वह अपनी जीविका अर्जित करने के लिए यदि दूसरे से स्पर्धा करता है या संघर्ष करता है या दूसरों के उद्यम को ठप्प कर देता है अथवा उससे दूसरों का शोषण होता है तो ऐसा होना प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। कमजोरों या इस स्पर्धा में बराबरी न कर सकनेवालों की सहायता करने के लिये राज्य द्वारा कानूनों के माध्यम से सक्षम एवं शक्ति-सम्पन्न लोगों के विकास में बाधा पहुंचाना अनुचित है। राज्य का यह कार्य प्रकृति के स्वाभाविक संघर्ष के विरुद्ध होगा। मनुष्य का सबसे प्रिय क्षेत्र आर्थिक क्षेत्र है। यदि उसपर से सभी नियन्त्रण हटा लिए जायें तो उद्योगों की बड़ी उन्नति होगी। औद्योगिक विकास के कारण राज्य में समृद्धि इतनी बढ़ेगी कि उनकी युद्ध करने की प्रवृत्ति स्वतः समाप्त हो जायगी। स्पेन्सर का कहना है कि तात्कालिक शासन का आधार सैनिक शक्ति है, अतएव वह युद्ध-प्रिय है। यदि उसका आधार उद्योग हो जाय तो युद्ध अपने आप मिट जायगा। स्पेंसर ने औद्योगिक क्षेत्र में राज्य के सभी कानूनों का विरोध किया है। डाक-सेवा सम्बन्धी राज्य के एकाधिकार का भी विरोध उसने प्रधानतः इसलिए किया है क्योंकि इसके कारण लोगों के पत्र पहुंचानेवाली व्यापारिक संस्थाओं के व्यापार पर जो रोक लगादी गई है वह राज्य के कर्त्तव्यों में नहीं मानी जा सकती। वास्तव में अपने सामाजिक सिद्धान्त में औद्योगिक अहस्तक्षेप (Laissez Faire in his social theory) पर स्पेंसर ने इतना बल दिया है कि उसने राज्य को एक व्यक्तिगत उद्योग से अधिक कुछ नहीं समझा है। स्पेंसर के इन विचारों को प्रो॰ सेबाइन ने संक्षेप में किन्तु बड़े सारगर्भित ढंग से इस प्रकार प्रकट किया है—

"···स्पेन्सर को यह सिद्ध करना था कि वह समाज जो धीरे-धीरे अधिक जटिल हुआ है, अधिक से अधिक सरल राज्य का ही समर्थन करेगा। उसने इस विरोधाभास का समाधान यह मानकर किया कि शासन के अधिकांश कार्य एक सैनिक समाज में पैदा हुए थे और उद्योग प्रधान समाज में युद्ध का नामोनिशान नहीं रहेगा। इसलिए, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ज्यों-ज्यों उद्योगीकरण बढ़ता जायगा त्यों-त्यों व्यक्तिगत उद्यम का क्षेत्र भी विकसित होगा। स्पेन्सर का राज्य सिद्धान्त मुख्य रूप से उन कार्यों का विवरण देता है जो राज्य को तुरन्त त्याग देने चाहिए। राज्य ने ये कार्य विधायकों के पापों के कारण अपने सिर पर ले रखे हैं लेकिन विकास की प्रगति के साथ-साथ ये कार्य अनावश्यक हो जाएंगे। अधिकांश विधान निकृष्ट होता है। प्रकृति केवल योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवित रखना

चाहती है। विधान के द्वारा प्रकृति की इस प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। जब विकास के द्वारा व्यक्ति और समाज में पूर्ण सामंजस्य पैदा हो जायगा तब सारा विधान व्यर्थ हो जायगा। इसलिए स्पेन्सर ने उद्योगों के विनियमन, स्वच्छता की व्यवस्था, कारखानों में सुरक्षा की व्यवस्था, सार्वजनिक दान के सभी रूपों और सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था का कड़ा विरोध किया। 'सोशियल स्टेटिक्स' ग्रन्थ में उसने यहां तक कहा कि राज्य का सिक्का ढालने और डाकखानों का काम भी व्यक्तिगत उद्यम के हाथों में छोड़ देना चाहिए।"[1]

(३) विधायकों के पाप (Sins of Legislators)—अपनी पुस्तक 'Sins of Legislators' में स्पेन्सर ने उन त्रुटियों और भयंकर भूलों की ओर संकेत किया है जो भूतकाल में सरकार ने की थीं। उसके अनुसार विभिन्न देशों की कानून-संहिताएं (The statute books) दुःखपूर्ण अनुमानों के संग्रह (A record of unhappy guesses) हैं। अधिकांश अधिनियम या कानून तत्कालीन प्रचलित अधिनियमों को सुधारने की दृष्टि से बनाये गये हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि जो अधिनियम पहले बनाये गए थे वे अधूरे थे और ठीक नहीं थे। यही कारण है कि इन्हें ठीक करने के लिए नवीन कानूनों का निर्माण करना पड़ा। स्पेन्सर का व्यक्ति (Individual) में पूर्ण विश्वास है और यही विश्वास उसे संसद की सम्प्रभुत्व (Sovereignty of the Parliament) के प्रति असम्मान को प्रवृत्त करता है। उसका कहना है कि—"भूतकाल का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास राजाओं का दैवी अधिकार था। वर्तमान काल का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास संसदों के दैवी अधिकार हैं।"[2] पुनश्च, "हम फिर लौटकर उसी समस्या पर आ जाते हैं कि संसदों (या विधान मण्डलों) के स्वेच्छा से धारण किए हुए दैवी अधिकार और *बहुमत दल के दैवी अधिकार केवल अन्धविश्वास ही हैं।* अधिकांश ने राज्य के अधिकारों के स्रोत के विषय में प्राचीन धारणाओं को *त्याग दिया है किन्तु वह सिद्धान्त जो राज्य की असीमित शक्ति का प्रतिपादन* करता था, अब तक उनके लक्ष्य में जमा हुआ है। असीम शक्ति की धारणा आधुनिक विचारधारा से मेल नहीं खाती। जनता पर असीमित अधिकार और शक्ति का अधिकार जो सामान्यतः राजा को उसे ईश्वर की मान्यता देने के कारण उसका स्वाधिकार माना जाता *था*, वह आजकल शासन करनेवाले नेता का अधिकार माना जाता है, यद्यपि *आज नेता के देवत्व में* किसी की आस्था नहीं है। भूतकाल में उदारवाद का कार्य राजाओं की शक्तियों को सीमित करना था। भविष्य में सच्चे उदारवाद का कार्य संसद

---

1 सेबाइन—राजनीति-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ६७८-७९

2. "The great political superation of the past was *the divine* right of kings The great *political superstition of the present* in divine right of parliaments"
—*Spencer* The Man Versus the State, (London Watts and Co) Page 95

या विधानमण्डल की शक्ति की सीमा निर्धारित करना माना जायगा।"[1]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रौढावस्था में स्पेन्सर के विचारों में परिवर्तन आ गया था। जॉन फिस्के (John Fiske) के अनुसार, स्पेन्सर जब १८९२ में अमेरिका गया तो औद्योगिक क्षेत्र में घोर प्रतियोगिता देखकर बड़ा दुःखी हुआ और इस सम्बन्ध में राजकीय नियन्त्रण के पक्ष में कुछ झुक गया।

अधिकारों पर स्पेन्सर के विचार (Spencer on Rights)—स्पेन्सर एक व्यक्तिवादी विचारक था इसके फलस्वरूप उसने अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया। उसने कुछ ऐसे अधिकारों को बताया जो व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक हैं और इन्हें उसने प्राकृतिक अधिकारों की संज्ञा दी। प्राकृतिक अधिकार स्पेन्सर के विचार का हृदय है। उसका ग्रन्थ 'Principles of Sociology' सामाजिक सावयव की धारणा से आरम्भ होता है, और उसका अन्त प्राकृतिक अधिकारों में होता है। १८२४ में प्रकाशित उसके दूसरे ग्रंथ 'The man versus the state' का आदि और अन्त भी अधिकारों के साथ ही होता है।

स्पेन्सर यह मानता है कि प्राकृतिक अधिकारों के द्वारा व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक जीवित रहने का अधिकार मिला है ताकि वह अपनी नैसर्गिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके। वह स्वतन्त्रता को सरकार या शासन के पूर्व की मानता है। स्पेन्सर ने अपने प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या जर्मन शब्द 'Naturrecht' से की है जो जर्मन विधिशास्त्र का आधार है। स्पेन्सर कहता है कि जो ज्ञान जर्मन जैसे उच्च दार्शनिक देश में प्रचलित है वह अवश्य ही पूर्ण होना चाहिए किन्तु ऐसा कहते समय वह यह भूल जाता है कि एक सिद्धान्त का किसी में व्यापक प्रचलन ही उसकी सत्यता का पूर्ण प्रमाण नहीं होता, और साथ ही 'Naturrecht' का अर्थ प्राकृतिक अधिकार भी नहीं है।

प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में स्पेन्सर के मत की लॉक के मत से तुलना करना स्पष्टता की दृष्टि से उपयुक्त होगा। लॉक के मतानुसार

---

1. "There we come round again to the proposition that the assumed divine right of Parliaments, and the implied divine right of majorities are superstitions. While men have abandoned the old theory respecting the source of state authority, they have retained belief in that unlimited extent of state authority which rightly accompanied the old theory, but does not rightly accompany the new one. Unrestricted power over subjects, rationally ascribed to the ruling man when he was held to be a diputy god, is now ascribed to the ruling deputy, the deputy godhood of which nobody asserts. The function of liberalism in the past was that of putting a limit to the powers of kings. The function of true liberalism in the future will be that of putting a limit to the power parliament."

—*Spencer* : The Man Versus the State, Page 521

कर्तव्य है कि वह इन अधिकारों की रक्षा करे। सार्वजनिक अधिकारों के विषय मे स्पेन्सर यह धारणा लेकर चला है कि सरकार एक बुरी और अनैतिक संस्था है जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करती है। राज्य को चाहिये कि वह अपना हस्तक्षेप कम से कम करे। सरकार की उपेक्षा करना भी वह एक अधिकार मानता है। उसका कहना है कि राज्य तो "परस्पर विश्वास के लिये एक साझेदारों की व्यापारिक संस्था (Joint Stock Protection Company for mutual assurance) है। व्यक्ति द्वारा प्राकृतिक अधिकारों का अबाध्य उपभोग राज्य की शक्ति को सीमा में बांधता है।

अधिकारों की चर्चा करते समय स्पेन्सर समानता पर सर्वाधिक बल देता है। उसका कथन है कि स्त्रियों और पुरुषों को समान आधार पर अधिकार दिये जाने चाहिये। वह स्त्रियों को मतदान का अधिकार देने के पक्ष में है और इस तरह जॉन स्टुअर्ट मिल के इस क्षेत्र में पदार्पण का मार्ग प्रशस्त करता है। स्पेन्सर के मतानुसार समान स्वतन्त्रता के नियम के अनुसार बालकों को भी समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। उन पर अभिभावकों का कठोर नियंत्रण नही होना चाहिये और उन्हें भी वयस्कों की तरह अपने अधिकारों का उपभोग करने देना चाहिये। परिवार के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने "नारी-दासत्व" (Subjugation of females) की कठोर भर्त्सना की है।

स्पेन्सर के दर्शन की आलोचना
(Criticism of Spencerian Philosophy)

यद्यपि स्पेन्सर का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और विशाल था तथा उसकी मेधा शक्ति अत्यन्त बलवती थी, और वह १९वीं सदी के व्यक्तिवाद का प्रमुख दार्शनिक था, तथापि उसका दर्शन गम्भीर त्रुटियों और असंगतियों (Inconsistencies) से भरा पड़ा है और आलोचकों ने स्पेन्सर की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं रखी है। स्पेन्सर के दर्शन की जो विभिन्न कटु आलोचनाएं हुई है उन्हें निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है।

(१) सर्वप्रथम स्पेन्सर का दर्शन असंगतियों और प्रवंचनाओं का पिटारा है। वह व्यवस्थित एवं संशलिष्ट नहीं है। वह स्थान-स्थान पर ऐसी मान्यताएं रखता है जो परस्पर विरोधी हैं और एक विचार स्वयं उसके दूसरे विचार का खण्डन करता हुआ प्रतीत होता है। एक ओर तो वह उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थन करता है और दूसरी ओर विकास-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का उपदेश देता है। एक ही प्रणाली मे इन परस्पर दो विरोधी धारणाओं को संयुक्त कर देना नामुमकिन है। पुन: स्पेन्सर यह मानता है कि संसार में एक विकास क्रम कार्य करता है और समाज का कोई भी रूप अन्तिम नहीं हो सकता। वह निरन्तर विकसित होता रहेगा। किन्तु कुछ दूर आगे चलकर वह यह मानने लगता है कि एक आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा और समाज एक पूर्ण व अन्तिम स्थिति को पहुँच जायगा। यथार्थ में ये दोनों ही विचार विरोधी हैं और स्पेन्सर इन्हें मिलाने के लिये कोई बुद्धिसंगत तर्क नहीं देता।

राज्य विहीन प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। किन्तु उस समय इन प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई सर्वमान्य नियम नहीं थे और न ही उनकी व्याख्या करनेवाली कोई शक्ति ही थी। अत इस विवाद एवं संघर्ष ग्रस्त अवस्था से प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति की गई। किन्तु स्पेन्सर लॉक की तरह प्राकृतिक अधिकारों को अतीत की वस्तु नहीं मानता, अपितु उसका तो यही कहना है कि ये अधिकार भविष्य मे व्यक्तियों को औद्योगिक व अराजकतावादी समाज से प्राप्त होंगे। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है, और प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्तव्य है कि वह दूसरों को जीने दे। लेकिन यह अधिकार ऐसा है जो केवल 'औद्योगिक समाज' मे ही व्यक्तियो को दिया जा सकता है। इस तरह स्पेन्सर ने वर्तमान समाज के लिए प्राकृतिक अधिकारों की कोई व्यवस्था नहीं दी है—बल्कि भावी समाज के प्राकृतिक अधिकार स्थिर किये हैं। वह जीवन, सम्पत्ति और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकारों को लॉक की भांति अतीत के आधार पर व्यक्ति को नहीं देता प्रत्युत् वह उन्हे भावी समाज मे उन अधिकारो का उपयोग करने के लिए देता है। यहां स्पेन्सर यह भूल जाता है कि आज से हजार या दो हजार वर्ष बाद समाज कैसा होगा—उसकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्पेन्सर लॉक के प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त का इसलिए विरोध करता है कि लॉक के प्राकृतिक अधिकार एक स्थायी नियम हैं। वे शाश्वत और चिरन्तन हैं जिनमे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। समाज की प्रगति का प्रभाव इन पर नही पडता। स्पेन्सर इन शाश्वत प्राकृतिक नियमो को स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह सावयवी (Organic) कारण और विकास में पूर्ण विश्वास रखता है। समाज के परिवर्तन के साथ-साथ नियमो का भी परिवर्तन होना चाहिए।

स्पेन्सर व्यक्ति के अधिकारो को अपनी प्रतिमा तथा अन्तर्वृत्तियो के अभिव्यक्तिकरण के लिये आवश्यक साधारण अधिकार के कृत्रिम विभाजन मानता है (Rights are artificial divisions of the general claim to exercise the faculties)। व्यक्ति के ये अधिकार प्राक्-सामाजिक (Pre Social) तथा स्वाभाविक (Natural) हैं जो ईश्वर प्रदत्त गुणों की भांति उसके व्यक्तित्व मे निहित हैं। उसके अनुसार अधिकार के वैयक्तिक तथा सार्वजनिक (Private and public) दो पक्ष होते हैं। प्रथम पक्ष में वे अधिकार आते हैं जो स्वय व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होते हैं। व्यक्ति की सम्पत्ति और परिवार से इनका सम्बन्ध होता है। स्पेन्सर भूमि के अधिकार को स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह यह मानता है कि भूमि की उपज को व्यक्ति अधिकारपूर्ण अपनी कह सकता है क्योंकि "भूमि पर अपना श्रम व्यय करने से पूर्व उसने समाज की स्वीकृति ले ली थी।" सार्वजनिक अधिकार राज्य से या समाज से सम्बन्धित हैं। इनके अन्तर्गत व्यक्तियो के वे अधिकार आते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के निजी जीवन से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। स्पेन्सर व्यक्ति को तीन वास्तविक अधिकार देता है-(क) जीवन रक्षा का अधिकार, (ख) स्वतन्त्रता का अधिकार, एव (ग) सुख और सुविधा का अधिकार। उसकी दृष्टि मे राज्य का यह

कर्तव्य है कि वह इन अधिकारों की रक्षा करे। सार्वजनिक अधिकारों के विषय में स्पेन्सर यह धारणा लेकर चला है कि सरकार एक बुरी और अनैतिक संस्था है जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करती है। राज्य को चाहिये कि वह अपना हस्तक्षेप कम से कम करे। सरकार की उपेक्षा करना भी वह एक अधिकार मानता है। उसका कहना है कि राज्य तो "परस्पर विश्वास के लिये एक साझेदारों की व्यापारिक संस्था (Joint Stock Protection Company for mutual assurance) है। व्यक्ति द्वारा प्राकृतिक अधिकारों का अबाध्य उपभोग राज्य की शक्ति को सीमा में बांधता है।

अधिकारों की चर्चा करते समय स्पेन्सर समानता पर सर्वाधिक बल देता है। उसका कथन है कि स्त्रियों और पुरुषों को समान आधार पर अधिकार दिये जाने चाहिये। वह स्त्रियों को मतदान का अधिकार देने के पक्ष में है और इस तरह जॉन स्टुअर्ट मिल के इस क्षेत्र में पदार्पण का मार्ग प्रशस्त करता है। स्पेन्सर के मतानुसार समान स्वतन्त्रता के नियम के अनुसार बालकों को भी समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। उन पर अभिभावकों का कठोर नियंत्रण नहीं होना चाहिये और उन्हें भी वयस्कों की तरह अपने अधिकारों का उपभोग करने देना चाहिये। परिवार के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने "नारी-दासत्व" (Subjugation of females) की कठोर भर्त्सना की है।

स्पेन्सर के दर्शन की आलोचना

(Criticism of Spencerian Philosophy)

यद्यपि स्पेन्सर का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और विशाल था तथा उसकी मेधा शक्ति अत्यन्त बलवती थी, और वह १९वीं सदी के व्यक्तिवाद का प्रमुख दार्शनिक था, तथापि उसका दर्शन गम्भीर त्रुटियों और असंगतियों (Inconsistencies) से भरा पड़ा है और आलोचकों ने स्पेन्सर की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं रखी है। स्पेन्सर के दर्शन की जो विभिन्न कटु आलोचनाएं हुई है उन्हें निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है।

(१) सर्वप्रथम स्पेन्सर का दर्शन असंगतियों और प्रवंचनाओं का पिटारा है। वह व्यवस्थित एवं संशलिष्ट नहीं है। वह स्थान-स्थान पर ऐसी मान्यताएं रखता है जो परस्पर विरोधी हैं और एक विचार स्वयं उसके दूसरे विचार का खण्डन करता हुआ प्रतीत होता है। एक ओर तो वह उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थन करता है और दूसरी ओर विकास-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का उपदेश देता है। एक ही प्रणाली में इन परस्पर दो विरोधी धारणाओं को संयुक्त कर देना नामुमकिन है। पुनः स्पेन्सर यह मानता है कि संसार में एक विकास क्रम कार्य करता है और समाज का कोई भी रूप अन्तिम नहीं हो सकता। वह निरन्तर विकसित होता रहेगा। किन्तु कुछ दूर आगे चलकर वह यह मानने लगता है कि एक आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा और समाज एक पूर्ण व अन्तिम स्थिति को पहुँच जायगा। यथार्थ में ये दोनों ही विचार विरोधी हैं और स्पेन्सर इन्हें मिलाने के लिये कोई बुद्धिसंगत तर्क नहीं देता।

डॉ० डनिंग (Dunn ngs) स्पेन्सर के इस असम्बद्धता (Inconsistency) की आलोचना करते हुए कहते हैं कि "स्पेन्सर के दर्शन में सामाजिक विकास के सिद्धान्त के साथ साथ समाज के एक अन्तिम तथा स्थायी रूप की कल्पना निहित है, जो एक समाधान रहित समस्या है।"[1]

(२) स्पेन्सर की अन्तिम सन्तुलन (जहां पर विकास की प्रक्रिया रुक जाती है) की धारणा आधुनिक विज्ञान को बिल्कुल अमान्य है। आज विज्ञान बताता है कि विकास एक कभी समाप्त न होनेवाली प्रक्रिया है। इसमें प्रत्येक अनुकूलीकरण (*Adaptation*) ऐसी नवीन स्थितियाँ उत्पन्न करता है *जिसके लिये नवीन अनुकूलीकरण* आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। विज्ञान की यह धारणा स्पेन्सर के समन्वयात्मक दर्शन (Synthetic Philosophy) के मूल पर ही कुठाराघात करती है। मैक्सी ने लिखा है कि 'कोई भी आधुनिक राजनीतिक विचारक स्पेन्सर को अपना गुरू नहीं मानता। एक आधुनिक आलोचक की दृष्टि में वह एक नौसिखिया वैज्ञानिक और दार्शनिक है। स्पेन्सर के बाद विज्ञान ने क्रमिक विकास के बारे में बहुत कुछ सीखा है तथा जो कुछ भी इस ज्ञान में वृद्धि हुई है, वह अत्यधिक विश्वास की उन धारणाओं का खण्डन करती है जिनके आधार पर स्पेन्सर ने मानव समाज की समस्याओं को हल करने का हठपूर्ण प्रयास किया था। वस्तुतः आज हमारा ज्ञान इतना पर्याप्त और उन्नत है कि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा ज्ञान अभी बहुत कम है, फलस्वरूप हम आज सब पूर्व-निश्चित धारणाओं को सशंकित दृष्टि से देखते हैं। लेकिन एक बात हमें निश्चित रूप से ज्ञात है कि स्पेन्सर की क्रमिक विकास की धारणा, कि यह पूर्ण समन्वय के लिये त्रुटिहीन व्यवस्था का साधन है, सब वास्तविक तथ्यों के विरुद्ध है। आज विज्ञान यह सिखाता है कि कभी विकास एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक नवीन समन्वय या अनुकूलीकरण की आवश्यकता पड़ती है। अतः अन्तिम परिस्थितियों को मनुष्य जान ही नहीं सकता और इन्हीं कारणों से स्पेन्सर का संगठित सिद्धान्त या समन्वयात्मक दर्शन और राजनैतिक कल्पनाएं धराशायी हो जाती हैं।"[2]

---

1 'In Spencerian Philosophy, there is an implicit absolute end in social evolution—which is a problem without a solution"

—*Dunning* : A History of Political Theories

2 'No reputable political thinker of the present time acknowledges Spencer as his master For the critical mind of today he is amateur scientist and a pseudo philosopher. Science has learned a lot about evolution since Spencer's day, and very little of what has been learned tends to confirm the over confident dogmas with which he assumed to settle the great problems of human society In fact we know enough now to begin to realize how little we really do know, and hence to be suspicious of all dogmas, one thing, however, we do know with absolute certainty, and that is

(३) स्पेन्सर ने अपने विकासवादी सिद्धान्त के समर्थन में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे काल्पनिक प्रतीत होते है क्योंकि तथ्यों द्वारा उनकी पुष्टि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ स्पेन्सर का यह कहना कि मानव शरीर आरम्भ में Amiba की भांति था सत्य नहीं लगता।

(४) स्पेन्सर ने विकासवाद के साथ 'अस्तित्व के संघर्ष' तथा 'योग्यतम के जीवन' इन्हीं सिद्धान्तों को जोड़कर एक भयानक विचार का प्रतिपादन किया है। यह निश्चय ही एक अमानवीय एवं निर्दयतापूर्ण विचार है कि बलशाली संघर्ष में दुर्बल जीवों के अस्तित्व को समाप्त कर देते हैं, ऐसा प्राकृतिक नियम है। वस्तुतः मत्स्य न्याय का यह सिद्धान्त समाज पर लागू नहीं होता। मनुष्य एक सभ्य प्राणी होता है और उसमें परोपकारी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। साथ ही राज्य का भी यह कर्तव्य होता है कि वह निर्बलों एवं साधन-हीनों की रक्षार्थ विशेष उपाय अपनाये। राज्य अपने सभी घटकों को उन्नति एवं विकास के समान अवसर प्रदान करता है।

(५) स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद के समर्थन में जो सावयवी तर्क दिये हैं, वे भ्रमपूर्ण हैं। आर्थिक हस्तक्षेप की नीति का औचित्य यह कह कर सिद्ध नहीं किया जा सकता कि "आर्थिक जीवन प्राणी-सावयव के पाचन-तन्त्र की भांति मस्तिष्क रूपी शासनिक व्यवस्था से स्वतंत्र होना चाहिये।" वास्तव में पाचन-प्रणाली मस्तिष्क से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है और यदि उसमें स्वतंत्रता आ जाती है तो स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। इसलिये राज्य में भी आर्थिक व्यवस्था पर से राज्य के हस्तक्षेप को समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से सामाजिक जीवन में नाना दोष आ जावेंगे। स्पेन्सर ने व्यक्ति और समाज का तो एकीकरण किया है, पर राज्य को, जो समाज का ही एक अंग है, व्यक्ति और समाज दोनों से विभक्त करने तथा उसे एक दूसरे से स्वतंत्र करने की असफल चेष्टा की है। व्यक्ति तो एक प्राणी है। स्पेन्सर अपने प्राणि-शास्त्र के सिद्धान्त को समाज और राज्य पर भी लागू कर उन्हें भी प्राणी बना देता है। व्यक्ति के अभाव में समाज अथवा राज्य का निर्माण नहीं हो सकता, अतः व्यक्ति को वह समाज रूपी प्राणी का अंग मान लेता है। समाज का अभिन्न अंग होते ही व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है और तब वह राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों से अथवा राज्य या समाज के नियंत्रण से स्वयं को मुक्त नहीं कर सकता क्योंकि स्पेन्सर के प्राणि-शास्त्र में राज्य नाड़ी-संस्थान है जो समाज रूपी प्राणी के पूर्ण बाह्य नियन्त्रण का केन्द्र है। जब व्यक्ति समाज रूपी प्राणी का अभिन्न अंग है तो फिर उसके नियंत्रण

---

that Spencer's idea of evolution as a process of adaptation progessively tending in the direction of an ultimate coudition of complete adjustments is contrary to all the facts we have. Science now teaches that evolution is a process wherein each adaptation creates conditions calling for new adaptations, and ad infinitum to ends that no man can hope to know which completely explodes Spencer's synthetic theory and demolishes his political postulates."

—*Maxey* : Political Philosophies, Page 562

से कैसे बच सकता है ? लेकिन फिर भी स्पेन्सर व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध खड़ा करने की तार्किक असंगति का अपराधी है।

(६) स्पेन्सर अंग और शरीर दोनों को प्राणी बनाने की गलती करता है। व्यक्ति और समाज दोनों अभिन्न होने से पृथक-पृथक प्राणी किस तरह हो सकते हैं ? शरीर का कोई भी अंग अलग होकर स्वतन्त्र प्राणी नहीं कहला सकता है। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि समाज को यदि वह एक प्राणी जैसी संस्था या संगठन मानता तो हमारी तार्किक असंगति पैदा नहीं होती, लेकिन उसने दोनों को जीव मानकर उन्हें एक दूसरे का अंग बनाया है, जो सम्भव नहीं है। 'दोनों को अलग अलग प्राणी बनाने का उद्देश्य था व्यक्ति को राज्य से स्वतन्त्र करने का, पर व्यक्ति राज्य से अलग तो है नहीं, इसलिये उसे अन्त में राज्य और व्यक्ति को एक ही प्राणी के अंग मानने पड़े हैं।"

(७) यही नहीं, स्पेन्सर समाज रूपी प्राणी के अनेक टुकड़े करता है। इसीलिये बार्कर ने अपनी व्यंगात्मक भाषा में कहा है—स्पेन्सर ने अपने सामाजिक प्राणी की हत्या कर उसे अनेक टुकड़ों में बांट दिया और दरवाजे के बाहर फेंक दिया है।[1] समाज रूपी प्राणी के वह तीन टुकड़े करता है—*व्यक्ति, औद्योगिक क्षेत्र और राज्य।* औद्योगिक क्षेत्र इस जीव का पेट है क्योंकि उससे संपूर्ण समाज का भरण पोषण होता है। राज्य इस जीव का नाड़ी-संस्थान है जिसके द्वारा सम्पूर्ण बाह्य व्यवस्था, संरक्षण और समाचार संस्थान व यातायात का प्रबन्ध होता है। कहने का तात्पर्य है कि वह मस्तिष्क है। इसके बाद मस्तिष्क द्वारा पेट को एक दूसरे से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। पेट पर मस्तिष्क का कोई नियन्त्रण ही नहीं रहता। यह नियन्त्रण उसी तरह नहीं रहता जिस तरह धमनी और शिराओं अथवा "रेल की पटरी या टेलीफोन के तारों में।" स्पेन्सर का कहना है कि यद्यपि रेल की पटरी और टेलीफोन के तार एक दूसरे से समानान्तर और साथ साथ चलते हैं लेकिन उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। ठीक उसी तरह राज्य और औद्योगिक क्षेत्र साथ साथ चलते हुये भी एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने अस्तित्व को बनाये रख सकते हैं। स्पेन्सर के प्राणि शास्त्र की भाषा में मस्तिष्क और पेट अर्थात् एक ही प्राणी के दो अंग अलग अलग अपना जीवन चला सकते हैं। उसके सिद्धान्त की यह सबसे बड़ी विफलता है क्योंकि "वह अपने प्राणि शास्त्र के सिद्धान्त की अव्यवस्थता के कारण अपने अपने ही सिद्धान्त द्वारा पराजित हो जाता है।"

(८) वास्तव में सावयवी सिद्धान्त ही वह धुरी है जिसके चारों ओर स्पेन्सर का राजनीतिक चिन्तन चक्कर लगाता है। लेकिन आलोचकों ने इस धुरी की अच्छी तरह खबर ली है। *स्थूल रूप से जीवित शरीर के साथ राज्य* की तुलना करना भले ही आपत्तिजनक नहीं है किन्तु शरीर की अंग-प्रत्यंग

1. "*Inspite of a hundred pages of analogy* Spencer ultimately bows the social organism out of doors. He is not content with cutting it in pieces, he sent it into *exile*."
—*Barker*; op. cit, Page 101

का राज्य संबंधी बातों की तुलना करने पर कठिनाई पैदा हो जाती है। शरीर एक ठोस वस्तु है जबकि राज्य एक भावात्मक संस्था है। एक शरीर का जन्म, वृद्धि, क्षय और मृत्यु चक्र मे गुजरना अनिवार्य है किन्तु राज्य का नही। वृद्धि, अवनति और मृत्यु राज्य के जीवन की आवश्यक क्रियायें नहीं हैं। शरीर में बचपन से जवानी और जवानी से बुढापे का क्रम स्वाभाविक रूप से चलता है किन्तु राज्य के विकास और उसकी रूपरेखा में परिवर्तन सम्भव है। प्राणी शरीर में कोष्ठ पदार्थ के यान्त्रिक भाग होते हैं जबकि राज्य की रचना करनेवाले व्यक्ति विचारवान तथा स्वतंत्र दृष्टिकोणोंवाले होते हैं। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता होता है। शरीर के किसी भी अंग की अपनी कोई स्वतत्र इच्छा शक्ति नहीं होती और न ही उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है, किन्तु मनुष्यों का अपना स्वतत्र व्यक्तित्व होता है, उनकी अपनी इच्छा-शक्ति होती है। शरीर के अग और जीव-कोष संपूर्ण शरीर पर निर्भर रहते हैं। यदि उन्हें शरीर से पृथक कर दिया जावे तो वह मर जाते है। किन्तु राज्य के अंग व्यक्ति राज्य से पृथक रहकर भी जीवित रह सकते है और कार्य कर सकते हैं। शरीर में चेतना का एक केन्द्र होता है जो राज्य में नहीं होता, उदाहरणार्थ—प्रजातंत्र में चेतना सभी व्यक्तियों में निहित होती है। पुन: जीवांग का विकास स्वय होता है किन्तु राज्य की वृद्धि को नियत्रित और निर्देशित किया जा सकता है। राज्य एक मानवीय संस्था है जिसका विकास मानवीय इच्छा व क्रियाओं पर निर्भर होता है। जीवित जीवांग के जीव कोषों के विपरीत राज्य के सदस्यों का कार्य क्षेत्र राज्य के क्षेत्र के अलावा भी है। वे और भी कई प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हैं जिनसे राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक जीव कोष तो जीवांग के जीवन को बनाये रखने के लिये ही स्वयं को खपा देता है। शरीर अथवा जीवांग का ज्यों ज्यों विकास होता है त्यों त्यों अंगों का नियन्त्रण करने की उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। बच्चे का अपने अंग पर इतना नियंत्रण नहीं होता जितना बड़े व्यक्तियों का। लेकिन राज्य के विकास की स्थिति दूसरी है। राज्य के विकास का अर्थ है व्यक्ति की स्वतत्रता में वृद्धि। इसके अतिरिक्त जीवांगों के पास प्रजनन-शक्ति होती है किन्तु राज्य के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं होती।

स्पेन्सर के सावयवी सिद्धान्त की एकदम उपयुक्त एवं न्याय-संगत आलोचना प्रो० बार्कर ने की है जो इस प्रकार है—

"जब हम एक सावयव की बात करते है तो हमारा अर्थ होता है—(१) एक जीवधारी ढ़ांचा जो विभिन्न प्रकार के अनेक भागों से बना है, (२) वे भाग अपनी विभिन्नता के कारण एक दूसरे के पूरक तथा आश्रित हैं, (३) इसके परिणामस्वरूप इस समष्टि का स्वास्थ्य प्रत्येक भाग के द्वारा अपने उचित कार्य के निष्पादन पर निर्भर करता है। इस प्रकार एक सावयव उच्च मात्रा में विलयन के सहसम्बन्धित लक्षणों से युक्त होता है और सावयवी एकता का अर्थ होता है विभेदों के होते हुए तथा उनके द्वारा एकता। पुन: एक सावयब मे, इस कारण कि वह एक जीवधारी ढ़ांचा होता है और क्योंकि वह अपने भागों के अन्योन्याश्रित कार्यों के द्वारा इतने विलक्षण तरीके से कार्य करता है, किसी यांत्रिक क्रिया द्वारा बाहर से परिवर्तन नहीं किया जा

सकता । वह विकसित होता है, वह अन्दर से एवं ऐसे विकास द्वारा जो उसके समस्त भागों को एक साथ प्रभावित करता है, बढ़ता है और इसी विकास को सावयवी कहते हैं । सावयव, सावयवी एकता, सावयवी विकास, ये शब्द, एक रूपक के द्वारा राज्य पर अनुपयुक्त किये जा सकते हैं । राज्य एक सावयवी नहीं है परन्तु वह एक सावयव जैसा है । उसके सावयव न होने का कारण यह है कि वह एक शारीरिक ढांचा नहीं है । वह एक मानसिक ढांचा है—एक समान उद्देश्य के लिये विभिन्न भागों का एकीकरण । परन्तु वह एक मानसिक ढांचा इस कारण सावयव जैसा है कि (१) समान उद्देश्य की पूर्ति विभिन्न भागों के द्वारा अन्यो याश्रित कृत्यों के निष्पादन पर निर्भर करती है और इस प्रकार इस ढाचे की एकता सावयवी' है और (२) ढाचे मे किस प्रकार का परिवर्तन केवल अन्दर से ही तथा ऐसे विकास के द्वारा जो सब भागों को एक साथ प्रभावित करता है और इस प्रकार ढांचे का विकास सावयवी है । फिर भी यह बात सत्य ही बनी रहती है कि राज्य एक सावयवी नहीं है क्योंकि वह स्वयं आत्म निर्धारण करनेवाले मनों की आत्म-निर्धारण करने वाली व्यवस्था है और इस प्रकार, पूरी आत्मा जब तक कि हम तुलना के पक्षों के बारे मे स्पष्ट ज्ञान न रखते हों और जब तक कि हम इस बात को भी स्पष्ट रीति से न जानते हों कि रूपक और तर्क में अन्तर होता है तथा राज्य और व्यक्ति के बीच सादृश्य दिखाना उनके सम्बन्धों की विवेचना करना नहीं है, स्पष्टता के बजाय गड़बड़ी की ओर ही ले जाती है ।"

(६) स्पेंसर का सावयव सिद्धान्त राज्य की निरंकुशता को जन्म देने वाला है । यदि यह बात स्वीकार करली जाय कि राज्य एक पूर्ण अंग है और व्यक्ति इसमे जीव-कोष के समान है तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए । हिटलर और मुसोलिनी ने इसी आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया था । जैलिनेक ने इसी तथ्य को सामने रखते हुए कहा है 'हमारे लिए चाहिये तो यह कि हम पूर्णतया इस सिद्धान्त को रद्द करदें, अन्यथा समता की इसकी वृहद राशि उस अच्छाई को नष्ट कर देगी जो थोडी सी सच्चाई इस सिद्धांत में है ।"

(१०) स्पेंसर की अधिकार संबंधी धारणा भी बड़ी दोषपूर्ण है। एक ओर तो वह प्राकृतिक अधिकारों की कड़ी आलोचना करता है और दूसरी ओर भविष्य के औद्योगिक समाज मे उनकी विद्यमानता को स्वीकार करता है । इस प्रकार उसके सिद्धान्त मे द्वन्द खड़ा हो जाता है । एक ही बात को वह एक बार तो स्वीकार करता है और दूसरी बार अस्वीकार । स्पेंसर के विचार से विकास क्रम निरन्तर रूप से चलता रहेगा । इस परिवर्तन क्रम मे वह एक ऐसे औद्योगिक समाज की कल्पना करता है जिसमे व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होंगे । किन्तु वह यह भूल जाता है कि विकासक्रम निरन्तर चलता रहेगा तो औद्योगिक समाज भी नहीं रह पायेगा और तब प्राकृतिक अधिकार भी स्वत ही समाप्त हो जायेंगे । इस तरह स्पेंसर अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारता है । स्पेंसर के अधिकारों की कल्पना की आलोचना बार्कर ने इन शब्दों में की है—"उसने पहले से ही एक धारणा बना ली है जिसके फलस्वरूप उसके विचार परिवर्तन और विकास के साथ साथ चलने मे असफल हो जाते हैं । वह स्थायी प्राकृतिक अधिकारों को परिवर्तनशील एवं विकासमय समाज पर

आरोपित कर असंगति उत्पन्न कर लेता है। इस प्रकार उसका सम्पूर्ण दर्शन नैसर्गिक अधिकारों और सावयविक रचना सम्बन्धी रूपकों का एक अनुपयुक्त सम्मिश्रण जैसा होकर सकुचित और अस्पष्ट हो जाता है।"[1]

(११) स्पेंसर एक निष्पक्ष राजनैतिक विचारक नहीं था। राज्य के कार्य तथा सत्ता के विरुद्ध उसके विचार पहले से ही विषाक्त (Poisonous) थे। वह यह मानकर चलता है कि राज्य व्यक्ति का कभी भी कोई भी हित नहीं कर सकता। इस कारण वह राज्य के वरदानों (Blessings) की तरफ आंख उठा कर भी नहीं देखता और केवल काल पक्ष की अतिरंजना (Exaggeration) करता है।

(१२) स्पेन्सर ने विज्ञान की सहायता से राजनीति को वास्तव में कोई नवीन वस्तु प्रदान नहीं की। उसने विज्ञान में केवल मात्र अपनी पूर्व निर्धारित धारणाओं के उदाहरण देखने का ही प्रयत्न किया। इस विषय में प्रो० वार्कर कहते हैं कि—"जब स्पेंसर ने विज्ञान की ओर ध्यान दिया उस समय वह राजनीतिक पूर्व धारणाओं के वशीभूत था और उसने विज्ञान में एक ऐसे निष्कर्ष के लिए जो कि पहले ही निकाला जा चुका था, उदाहरण अथवा सादृश्य खोजने का प्रयास किया, तथा एक ऐसी कथा को सजाने, संवारने का प्रयत्न किया जिसकी रूपरेखा पहले ही खींची जा चुकी थी।"[1]

(१३) वस्तुतः व्यक्तिवाद के विरुद्ध दी जानेवाली सभी आलोचनायें स्पेंसर पर लागू हो सकती है। स्पेंसर कहता है कि राज्य नये-नये नियमों को बना कर व्यक्ति के आचरण पर हस्तक्षेप करता है। उसके अनुसार राज्य को सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यवसाय या व्यवसाय सचालन सबंधी कार्य नहीं करने चाहिये। किन्तु आधुनिक युग में यदि राज्य ऐसा न करें तो समाज में व्यक्ति का जीवन ही असम्भव हो जायगा।

(१४) स्पेन्सर विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानूनों की अत्यन्त कठोर आलोचना करता है। वह कहता है कि विधान मण्डल के नौ सिखिये सदस्य कानूनों का ज्ञान नहीं रखते। किन्तु जब हम आधुनिक व्यवस्थापिका और विधि-निर्माण पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पेन्सर का यह कथन अधिकांशतः लागू नहीं होता।

किन्तु इन सब असगतियों के होने पर भी स्पेंसर के दर्शन को अमहत्वपूर्ण घोषित नहीं किया जा सकता—एक सीमा तक उसका महत्व आज भी है और आगे भी बना रहेगा।

---

1. "The fundamental conception which he never surmounts is due to the fact that a prior conception of individual rights with which he starts, does not and cannot accord with the organic and evolutionary conception of the state which he attains through the natural science. His philosophy consequently, begins and ends as an uncongruous mixture of natural rights and psychological metaphor."

—*Barker*

स्पेन्सर का मूल्यांकन
(Estimate of Spencer)

अपने दर्शन मे अनेक कमियो के बावजूद स्पेन्सर १९वी सदी के विकास वादी चिन्तन का प्रमुख दार्शनिक था और वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का महान प्रवक्ता था। स्पेन्सर का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और विशाल था। उसकी मेधा शक्ति अत्यन्त बलवती थी। समन्वय दर्शी होने के नाते अरस्तू हीगल और काम्टे से उसकी तुलना की जा सकती है। आज जनता मे मार्क्स की ख्याति स्पेन्सर की अपेक्षा अधिक है लेकिन इसका एक प्रमुख कारण यही है कि विश्व की दो प्रचण्ड क्रान्तियां, रूसी और चीनी, मार्क्स को अपना पैगम्बर मानती थी। किन्तु यदि बौद्धिक विशुद्धता की ओर ध्यान दिया जाये तो सम्भवत स्पेन्सर कार्ल मार्क्स की अपेक्षा अधिक बडा विद्वान था। मार्क्स ने तीन खण्डो मे 'कैपीटल' लिखा है तो स्पेन्सर ने ३ खण्डो मे 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' लिखा है। अपने ग्रन्थो मे समाज-शास्त्रीय अनुसधानो मे उसने विकासात्मकता को अत्यधिक प्रश्रय दिया है।

स्पेन्सर के व्यक्तिवाद को अमरीका म सुमनर न प्रचारित किया। उदारवादी परम्परा मे स्पेन्सर का महत्व विशेषत इस बात का है कि वैज्ञानिको का आधार ग्रहण करके और राज्य की हिंसात्मकता एव पापात्मकता की ओर ध्यान आकर्षित करके उसने प्रबल व्यक्तिवाद का पोषण किया। प्रारम्भिक उदारवाद का सम्बन्ध मानव-वाद के साथ था। लेकिन स्पेन्सर ने प्रकृति वाद का वैज्ञानिक आधार उदारवाद को प्रदान किया। इस तरह प्राणी-शास्त्रात्मक उदार-वाद का निर्माण हुआ।

स्पेन्सर के जिस सावयवी सिद्धान्त की घोरतम आलोचना की गई है वह अपने आप मे इतना महत्वहीन एव अनुपयोगी नही है जितना कि उसे आलोचको ने कहा है। राज्य का सावयवी सिद्धान्त राज्य के ऐतिहासिक अथवा विकास वादी सिद्धान्त के महत्व पर प्रकाश डालता है, राज्य सस्था पर पडनेवाले प्राकृतिक एव सामाजिक व्यवसाय के प्रभाव को प्रकट करता है, राजनीतिक सस्थाओं और नागरिको की अन्तनिर्भरता पर बल देता है सामाजिक जीवन और इसके समस्त अगों के जटिल सम्बन्धो के आवश्यक ताल-मेल पर जोर देता है और यह बतलाता है कि समाज व्यक्तियो के समूह से कही अधिक है। यह सिद्धान्त व्यक्तियो की मिली-जुली भलाई के नैतिक कर्त्तव्य की ओर सकेत करता है और इस बात पर बल देता है कि राज्य तथा समाज के अन्दर व्यक्ति का कल्याण पूरे समाज के कल्याण पर निर्भर करता है।

स्पेन्सर के दर्शन के महत्व पर अनेक विचारको ने अपने सारगर्भित विचार प्रकट किये हैं। सेवाइन ने लिखा है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद "उसने सामाजिक शास्त्रो के अध्ययन के क्षेत्र मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसने मानव विज्ञान और जीव विज्ञान का सम्बन्ध स्थापित किया और इस प्रकार पुराने साहचर्यपरक मनोविज्ञान के रूढ़िवाद को समाप्त किया। उसने राजनीति और नीति-शास्त्र पर समाज-शास्त्रीय और मानव-

शास्त्रीय अनुसन्धान और इसलिये सांस्कृतिक इतिहास के संदर्भ में विचार किया। संश्लिष्ट दर्शन का युग ई० बी० टिलर और एल० एच० मोरगन के अधिक मौलिक तथा अधिक महत्वपूर्ण कार्य का भी युग था। मिल की भांति स्पेन्सर ने भी पुराने उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक अध्ययन के बौद्धिक पृथकत्व को नष्ट किया तथा उसे आधुनिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र का एक भाग बना दिया। इस तरीके से काम्टे के दर्शन की भांति उसके दर्शन का भी बौद्धिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व था।"[1]

स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुये फ्लूगल (Flugal) ने कहा है, "इसमें कोई सदेह नहीं कि डारविन के बाद स्पेन्सर ने ही जीव-शास्त्र तथा विज्ञान के विकास-वादी सिद्धान्त को लागू किया है। वर्तमान युग में स्पेन्सर के विचारों की बड़ी उपेक्षा या अवहेलना की गई है। उसकी महत्वपूर्ण बातों को चुपचाप लागू कर लिया गया है लेकिन उसकी त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित किया गया है। विकास के सम्बन्ध में स्पेन्सर का सिद्धान्त आज भी पर्याप्त मात्रा में सत्य है। स्पेन्सर एक महान् विचारक था तथा जीवन के तथ्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी महान् अभिलाषा थी। डारविन के समान वह प्रकृति के निकट सम्पर्क में नही रहा किन्तु फिर भी उसके विचारों की महानता और उच्च-स्तरता ऐसी थी कि आज तक उसकी बराबरी कोई नही कर सका है। यदि पाठक ध्यानपूर्वक उसके सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे तो यह सत्य है कि उसकी महानता क छाप उन पर पड़े बिना नहीं रहेगी।"

राइट (Wright) के अनुसार, "अन्य महान् व्यक्तियों के समान स्पेन्सर ने भी गलतियां की थी जिनको बाद में आनेवाले निरीक्षकों ने ठीक किया। किन्तु इन त्रुटियों के कारण उसकी महानता और मौलिकता समाप्त नहीं हो जाती है। इतिहास में त्रुटियां तो प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकों से भी हुई हैं और लगभग प्रत्येक वैज्ञानिक ने भूल की है। यह सच है कि आज किसी भी सिद्धान्त पर स्पेन्सर की पूर्ण सत्ता अस्वीकार्य है, किन्तु फिर भी उसके प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों 'First Principles" तथा "Principles of Ethics" दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं। १७वीं और १८वीं शताब्दी के दार्शनिकों में उसका उच्च स्थान भले ही नहीं है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नही कि विगत १०० वर्षों में कोई भी दार्शनिक उसकी कोटि का नहीं हुआ है। बाद की खोज सदा ही प्राचीन सिद्धान्त पर आघात करती आई है और स्पेन्सर का दर्शन भी इस आघात से मुक्त नहीं रह सका है। स्पेन्सर के रचनात्मक विचारों ने बाद के सिद्धान्तों को बड़ा सहयोग दिया है। २०वीं शताब्दी के किसी भी दार्शनिक ने स्पेन्सर के बराबर साहस दिखाने और नवीन रचनात्मय सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने का साहस नही किया है।"

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ६७८

अन्त मे मैक्सी[1] के निम्न उद्धरण को, जिसमे बड़े ही उत्तम ढग से स्पेन्सर के दर्शन का मूल्याकन प्रस्तुत किया गया है, प्रकट करना सर्वथा उपयुक्त होगा—

"किन्तु हमे स्पेन्सर की असफलताओं के कारण उसके प्रभाव के वास्तविक महत्व को नही भुला देना चाहिये। उसने राज्य शरीर सम्बन्धी सिद्धान्त का उच्चता के शिखर तक पहुँचा दिया था। यद्यपि वह समाज और शारीरिक जीवन की तुलना को सिद्ध करने मे असफल रहा तथा राजनीतिक सुधारो का विरोध करने में उसने अपनी ही धारणाओं अथवा कल्पनाओं का खण्डन किया तथापि उसने इस तथ्य की पुष्टि करके मानव समाज की महत्वपूर्ण सेवा ही की है कि मानव समाज एक शनैं २ जटिलता से उत्पन्न होनेवाला तत्व है और यह भौतिक शरीर रचना और क्रिया से अधिक भिन्न नही है। इस सेवा के समान ही एक अन्य महत्वपूर्ण सेवा उसने अपने निरन्तर प्रबल समर्थन द्वारा यह बात करके की है कि सुधार माने जानेवाले कार्य भ्रमपूर्ण हैं और यह भ्रम प्रधानतया अत्यन्त गहरी सामाजिक आदतों और अज्ञान के कारण है। उसने कहा कि विधियो अथवा कानूनो द्वारा

---

1 "But we should not allow the magnitude of Spencer's failure to obsure the real importance of his influence He raised the organismic theory of the state to its highest stature, and although he failed to prove the analogy between

much that was called reform, and ... folly was mainly due to ignorance or disregard of deep-rooted social habits No man ever pilloried more mercilessly the absurdity of trying to change human character by legislative fiat In the field of practical politics, too, the influence of Spencer has been farmore extensive than the intrinsic strength of his doctrines would appear to warrant He supplied a scientific rationale for the dogmas

—Maxey . Political .

मानव-चरित्र को बदलने की निर्दयतापूर्ण अनाधिकार-चेष्टा से अधिक यातनापूर्ण कार्य कभी भी न सुने गये हैं और न देखे गये हैं। क्रियात्मक राजनीतिक क्षेत्र में भी स्पेन्सर के सिद्धान्त की दृढ़ता से कहीं अधिक उसका प्रभाव अधिक विशाल रहा है। उसने हस्तक्षेप के सिद्धान्त को वैज्ञानिक व्याख्या का आधार प्रदान किया था और तत्कालीन वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार इसको सिद्ध कर दिया है। व्यापारिक संगठनों के युग में जब आधुनिक वर्ग बड़ी लगन से असीम और अबाध्य व्यक्ति-वाद के समर्थन के लिये नवीनतम विचारधारा के निर्माण में लगा हुआ था तब स्पेन्सर की व्याख्या ने मानव समाज का महान् कल्याण किया। स्पेन्सर द्वारा बौद्धिक विकासवाद के विरोध में, जिसका केन्द्रीय विकास अहस्तक्षेप (Laissez Faire) का सिद्धान्त था, तत्कालीन काम्टे द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक अधिकार-वाद के विरोध के लिये सम्पूर्ण साधन प्रदान किये थे। स्वतंत्र व्यवसाय पर विश्वास रखनेवाले निर्विवाद रूप से स्पेन्सर के झण्डे के नीचे इकट्ठे हो गये थे। वे इस विचार-धारा को आनेवाली पीढ़ियों की सहायता के लिये प्रदान कर गये हैं।"

8

बेजहाट, वैलास, मैकडूगल

(BAGEHOT, WALLAS, Mc DOUGAL)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि .—१६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध भाग मे यदि सामाजिक विज्ञान प्राणीशास्त्र से प्रभावित थे तो इस शताब्दी के उत्तरकालीन भाग ने सामाजिक सिद्धान्तवादियो को प्राणीशास्त्र से मनोविज्ञान की ओर प्रवृत होते हुए देखा। वस्तुत प्राणीशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को सरलता से साथ साथ नही जोडा जा सकता क्योंकि प्राकृतिक विश्व की प्रक्रिया (Natural world) और मानव समाज की नैतिक प्रक्रिया (Process of the Natural world and the Ethical Process of Human Society) मे आधारभूत अन्तर है। प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) के सिद्धान्त का मानवीय जगत पर समुचित रूप से लागू नही किया जा सकता। मनुष्य आखिरकार एक नैतिक प्राणी है अत उसका शुभ भी स्वभावतया एक नैतिक शुभ (Moral Good) होना चाहिये। इसलिये मनुष्य के विकास का मापदण्ड उनके नैतिक गुणो का विकास होना चाहिये। प्राकृतिक चुनाव म न नैतिकता का स्थान होता है और न ही वहां किसी प्रकार का नैतिक स्तर या मानदण्ड ही होता है। बाकर ने शब्दो मे 'प्रकृति न तो नैतिकताओं अथवा सदाचार को ही जानती है और न ही वह किसी नैतिक मानदण्ड से ही परिचित होती है। उसके 'योग्यतम का मानदण्ड कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं है प्रत्युत पर्यावरण से अनुकूलीकरण का सापेक्षिक मानदण्ड है, और यदि मानव जीवन की स्थितियां निम्न कोटि की हैं तो प्रकृति के योग्यतम भी निम्न कोटि के ही होगे चाहे मानव जीवन के मूल्यों के किसी भी मानदण्ड से उन्हें देखा जाय प्रकृति के कानून निर्मम तथ्यो के सरल कथन हैं उसके अधिकार पाशविक शक्तियां मात्र हैं। इस क्षेत्र मे स्वतन्त्रता अथवा समानता के नैतिक अधिकारो का प्रवेश अथवा आयात निरर्थक है।"[1]

---

1 'Nature knows no morals and no moral standard, her 'fittest' are measured by no canon of absolute worth, but by the relative canon of adaptation to conditions, and nature's fittest will be low in human scale of values if the conditions prevalent are low conditions Nature, again, knows no rights that ought to be her 'rights' are simply

उपरोक्त आधारभूत दोष के कारण आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के प्रति प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण सफल नहीं हो सकता। स्पेन्सर के बाद के विचारकों ने इस तथ्य को समझा। परिणामस्वरूप राजनीति के प्रति प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण में संशोधन किया गया और अन्त में उसका परित्याग कर दिया गया। २०वी शताब्दी के सामाजिक सिद्धान्तवादी मनोविज्ञान की ओर प्रवृत हो गये और वे 'अन्तःप्रेरणा', 'प्रोत्साहन,' 'विवेक' व 'इच्छा' (Instinct, Impulse, Reason and Will) पर बल देने लगे। आजकल रीति-रिवाजों, परम्पराओं समुदायों के मनोविज्ञान और सार्वजनिक मन की प्रकृति (Custom, tradition, psychology of crowds and associations and the nature of public opinion) पर अधिक बल दिया जा रहा है। आधुनिक काल में सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिये मनोविज्ञान के प्रयोग के इस आन्दोलन का प्रणेता वॉल्टर बेजहॉट (Walter Bagehot) को कहा जा सकता है। बार्कर के अनुसार "जब से बेजहॉट ने 'Physics and Politics' लिखा, तभी से राजनीतिक सिद्धान्तवादी सामाजिक मनोवैज्ञानिक बन गये हैं, वे इस धारणा के आधार पर समूह जीवन के तथ्यों पर पहुंचे हैं कि ये तथ्य समूह-चेतना के तथ्य हैं जिनकी व्याख्या करना उनकी समस्या है, और यह व्याख्या उसी तरीके से की जाती है जिसे एक प्राकृतिक विज्ञान पदार्थ के तथ्यों की व्याख्या करने के लिये प्रयुक्त करता है।"[1] मानव जीवन की समस्याओं के समाधान में मनोविज्ञान का प्रयोग आज का फैशन बन गया है। यह कहना उपयुक्त है कि यदि हमारे पिता और पितामह प्राणीशास्त्रीय दृष्टि से सोचते थे तो हमने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचना आरम्भ कर दिया है। यह मनोविज्ञान का युग है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय: नहीं है कि राजनीति शास्त्र में मनोविज्ञान का प्रयोग पूर्णत: एक नवीन दृष्टिकोण है। इसका प्रयोग पहले भी किसी न किसी रूप में हुआ है। यह सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टि से

---

the powers which each of her creatures actually uses for its assertion of itself in struggle; and nature simply recognizes by the grant of survival the power which is most powerful under her given conditions. Her 'laws' are simple statements of cruel facts; her rights are simple brutal powers. To import moral rights of freedom or equality into this sphere is meaningless."

—*Barker* : Political Thought in England, 1848 to 1914 (2nd Ed.) PP. 115–16

1. "Ever since Bagehot wrote Physics and Politics, political theorists have turned social psychologists; they have approached the facts of group-life on the assumption that these facts are facts of group-consciousness, which it is there problem to describe and explain by means of the method which a natural science uses in order to describe and explain the facts of matter."

—*Barker* : Op. cit., PP. 128–29

प्राचीन है। प्लेटो से पहले प्रोटेगुरस और आर्जेयाक ने इसका प्रयोग किया था। मनोविज्ञान की उसी परम्परा को राजदर्शन में प्रयोग करते हुए प्लेटो ने बताया था कि मनुष्य का मस्तिष्क त्रिविधागीय है जिसके तीन पक्ष हैं—विवेक, साहस तथा क्षुधा। इसी आधार पर प्लेटो ने नागरिकों को तीन वर्गों मे रखा—दार्शनिक जो बुद्धि के प्रतीक हैं, सैनिक जो साहस के प्रतीक हैं और कारीगर जो क्षुधा के प्रतीक हैं। इसी भांति अरस्तू ने भी अपने राजदर्शन का निरूपण मनोविज्ञान या मस्तिष्क के अध्ययन से आरम्भ किया किन्तु मस्तिष्क की विशेषता त्रिविधागीयता न बताकर एकागीयता बतायी। प्लेटो और अरस्तू दोनो ने ही अपने राज्य सिद्धान्त की रचना, मनोवैज्ञानिक धारणा और मानव प्रकृति के विश्लेषण के आधार पर की। इनके बाद मध्यकाल तक मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्राय लोप ही रहा। मैक्यिावली ने इसका फिर पुनरुद्धार किया। तत्पश्चात् हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम और अनेक अन्य दार्शनिकों ने मनोवैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लिया। आधुनिक समय मे इंगलैण्ड में कोल (Cole) और लास्की (Laski) ने भी राजदर्शन के अध्ययन को बड़ी सीमा तक मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित किया है। कोल का कहना है कि राजदर्शन व मनोविज्ञान पूरक विद्यायें हैं क्योंकि इन दोनों का ही सम्बन्ध मस्तिष्क की सक्रियता से है। लास्की का विचार है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के अनेक पहलू इसलिये होते हैं क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति का केन्द्र है। अमेरिका मे इस विधि का प्रयोग जी० समनल, रिड्सिस, रॉस, सी० एच० कूलो, मेकाइवर, लविल तथा जे० एल० वाल्डविल आदि ने किया है।

प्रस्तुत अध्याय मे बेजहॉट, ग्राहम विलास तथा विलियम मेक्डूगल-इन तीन प्रमुख मनोवैज्ञानिक दार्शनिको के चिन्तन पर विचार किया जायगा।

वॉल्टर बेजहॉट
(Walter Bagehot)
(1826–1877)

संक्षिप्त जीवन परिचय एवं रचनाएं—वॉल्टर बेजहॉट एक मेधावी अंग्रेज बैंकर, अर्थशास्त्री और सम्पादक था। वह लदन विश्वविद्यालय की गौरवपूर्ण उपज था। उसने अधिकाश समय या तो एक सफल बैंकर के रूप में अथवा प्रसिद्ध पत्रिका 'The London Economist' के सम्पादक के रूप में व्यतीत किया। यद्यपि वह लिबरल पार्टी के कन्जरवेटिव पक्ष से सम्बन्धित था और लिबरल पार्टी के सदस्य की हैसियत से उसने ससदीय चुनाव (जिसमें वह सफल नहीं हुआ) भी लड़ा था, किन्तु वह सदैव उदार-मस्तिष्क सहिष्णु और सार्वजनिक प्रश्नो के प्रति दृष्टिकोण मे व्यावहारिक था। इस अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का देहावसान सन् १८७७ मे हुआ।

बेजहॉट ने अनेक पुस्तकें लिखी और अपनी प्रतिभा के बल पर उसने अपने समकालीन विद्वानो पर पर्याप्त प्रभाव डाला। उसकी प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं—

1. Physics and Politics.
2. The English Constitution.
3. Lombard Street.

वेजहॉट का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण (The Psychological Approach of Bagehot)—वेजहॉट ने राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का खुलकर प्रयोग किया है। यद्यपि उसने अपनी पुस्तक का नाम 'Physics and Politics' रखा है तथापि पुस्तक की विषयवस्तु मानस ज्ञान है, न कि भौतिक विज्ञान। उसकी पुस्तक का मूल्यवान तत्व उसका दैदीप्यवान मनोवैज्ञानिक तत्व है। वेजहॉट के पहले भूतकाल में अनेक सामाजिक विचारकों ने मानव स्वभाव एवं मानवीय शक्तियों के बारे में कुछ मान्यताएं अपने समक्ष रखी थी। वेजहॉट की नवीनता इस बात में है कि उसने इन मान्यताओं को पृथक करके उन्हें अपने अध्ययन और विश्लेषण का विषय बनाया है। उसने पूर्ववर्ती विचारकों की मान्यताओं को लेकर उनका नियमबद्ध वर्णन व अध्ययन किया है। **'उसने उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट करने की चेष्टा की है जिनके बिना प्राग-ऐतिहासिक काल से आरम्भिक काल और आरम्भिक काल से आधुनिक काल तक के समाज के विकास की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती।"**

वेजहाट के सामने समस्या यह थी कि यदि हम प्राकृतिक चुनाव को मनुष्य के विषय में स्वीकार कर लें तो पाशविक स्तर से मानवीय स्तर में मनुष्य किस प्रकार आया ? प्रो० हर्नशा ने इस समस्या को, जिसे वेजहाट हल करना चाहता था, इन शब्दों में व्यक्त किया है "यदि हम प्राकृतिक चुनाव को सत्य मान ले तो यह प्रश्न उठता है कि जीवन संघर्ष के पाशविक स्तर से सामाजिक मनोवैज्ञानिक परम्पराओं पर आधारित है।"

राजनीतिक विकास के बारे में वेजहॉट के विचार (Bagehot on Political Evolution)—आज जो समाज का रूप है उस तक पहुँचने के पूर्व मानव की जो अवस्थाएं थी वे वेजहॉट के अनुसार तीन हैं—समाज विहीन अवस्था (The stage of non polity), स्थिर समाज की अवस्था (The stage of fixed polity or the fighting age) एव परिवर्तनशील समाज की अवस्था या वादविवाद का युग (The stage of flexible polity or the age of discussion)। समाजहीन प्रथम अवस्था में मनुष्य का जीवन या तो एकान्त व्यक्तियों की तरह (Isolated individuals) या ऐसे छोटे छोटे पारिवारिक समूहों में, जो कम सगठिन थे (Small loosely knit-family groups), रहते थे। इम अवस्था में मानव-जीवन भावनाओं का जीवन था जिसमें न ज्ञान-विज्ञान को स्थान था न परम्परा को। मानव जीवन की इस अवस्था की तुलना हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से की जा सकती है। वेजहॉट ने लिखा है "दूसरे विभागों में प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के विरुद्ध चाहे कुछ भी कहा जाय, किन्तु प्रारम्भिक मानव-इतिहास में इसकी प्रधानता के बारे में कोई संशय नहीं है। उस समय शक्ति-सम्पन्न कमजोरों को मारते थे।"[1]

---

1. "Whatever may be said against the principle of natural selection in other departments there is no doubt of its predominance in the early human history. The strongest killed the weakest as they could."

—*Bagehot* : Physics and Politics, Works VIII, Page 16

प्रारम्भिक प्रादिम जीवन (Early primitive life) की भयानक तापों से मनुष्य को एक अचतन शिक्षा मिली। इसके परिणामस्वरूप मानव स्वभाव मे एक सशोधन हुआ। अब रक्त के आधार पर मनुष्य मे सगठित जीवन की एकता आई और मनुष्य पारिवारिक सगठन का अनुभव करने लगे। उनमे यह चेतना जाग्रत हुई कि अस्तित्व के लिये सघर्ष मे वे ही व्यक्ति बचे रहते हैं जो रक्त और नेतृत्व के आधार पर नव सगठित समूह का निर्माण करने के लिये अन्य व्यक्तियो से सहयोग, सगठन तथा सहयोग क मानवीय स्तर तक यह महान् परिवतन किस प्रकार हुआ ? बेजहॉट के लिये परिवतन की यह समस्या आधारभूत थी तथा मानवता के समस्त विकास को समझने की उनके लिये यह कुजी भी थी।"[1] बेजहॉट ने इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिक चिंतन का आश्रय लेकर दिया है और यह बताया है कि मनुष्य के पाशविक स्तर से मानवीय स्तर तक पहुँचने का एक बहुत बडा इतिहास है तथा मानव स्तर उसकी निरन्तर विकास की अवस्था का परिणाम है। मनुष्य का विकास इसलिये होता है कि 'उसका मस्तिष्क एक अद्वितीय ढग से हमारे स्नायुओ पर किया करता है और हमारे स्नायु उतने ही अद्वितीय ढग से परिणामो को एकत्र कर लेते हैं और किसी प्रकार उसके *परिणाम सामान्यत हमारी आनेवाली पीढ़ियो मे सक्रात हो जाते हैं।'*[2] अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य अनुभव द्वारा ज्ञान सचित कर विकास करता है और मनुष्य के विकास से समाज का विकास होता है। लैमार्क और स्पेन्सर दोनो वशानुक्रमण विकास को स्वीकार करते हैं। बेजहाट ने विकास के सिद्धान्त को प्राणी शास्त्र से ही ग्रहण किया है जो उस समय विकास के क्षेत्र मे बहुत प्रचलित था। बेजहाट ने पाया कि विकास के परिणामस्वरूप पीढ़ियो मे नये नये गुण आत जाते हैं अर्थात प्रत्येक पीढी अपनी पहली पीढी से विरासत म कुछ प्राप्त करती है। पीढ़ियो में आनेवाले गुणो मे कुछ प्राकृतिक होते हैं तो कुछ मनोवैज्ञानिक। मनोवैज्ञानिक भाग के अन्तगत प्रचलित परम्पराए और प्रथाए, जिनके बीच हमारा विकास होता है हमे बहुत प्रभावित करती हैं। बेजहाट ने प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक गुणो अथवा भागो के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने और यह बताने का

---

1 Assuming the truth of the doctrine of natural selection how are we to account for the momentous transition from *the brute level* of the struggle for existence to the human lev ... 2 To Bagehot
thi
to

2 'Our mind in some strong way acts on our nerves and nerves in some equally strange way store up *the consequences* and some how the result, as a rule and commonly enough goes down to our descendants
—*Bagehot* Physics and Politics (World's greatest literature, 1900) Vol II, Page 6

प्रयत्न किया कि मानव स्वयं अपने लिये किस भांति परम्परा का निर्माण वही करता है। उसने यह भी देखा कि आधुनिक राज्यों का निर्माण प्रमुखत: करते हैं। यह अनुभव किया गया कि अस्तित्व के लिये संघर्ष मे परिवारों का वह एक छोटा समूह भी, जो चाहे किसी एक ढीले नेतृत्व में ही संगठित क्यों न हो, उन अनेक परिवारों के समूहों से अधिक अच्छी स्थिति में रहेगा जो किसी एक नेता के आज्ञानुवर्ती नहीं होते बल्कि चारो ओर बिखरे हुए है और उसी तरह बिखरे हुए लड़ते हैं। इस स्थिति में तो होमर के साइक्लाप भी अत्यन्त कमजोर समूह के सामने शक्तिहीन प्रमाणित होगे।[1]

सामाजिक विकास की प्रक्रिया में द्वितीय अवस्था तब आयी जब समूहों में अस्तित्व के लिए संघर्ष प्रारम्भ होगया और परिणामस्वरूप केवल वे ही समूह बचे एव समृद्ध हुए जो सर्वाधिक सगठित थे, सर्वोत्तम रूप से अनुशासित थे और अपने चरित्र अथवा गुणों में सर्वाधिक मिलते-जुलते थे। इस अवस्था का आविर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, लेकिन वेज़हॉट इसे प्राकृतिक चुनाव (Natural selection) को क्रिया का ही परिणाम मानता है। इस दूसरी अवस्था में परम्पराओ की प्रधानता थी। व्यक्तियों के जीवन को एक निश्चित ढांचे में ढ़ालने के लिये उन पर परम्पराओं को लादा जाता था। इकाई समूह होते थे, व्यक्ति नहीं। इसी कारण वेजहॉट ने उसे स्थिर समाज की अवस्था (The stage of fixed polity) के नाम से पुकारा है। चूंकि यह अवस्था संघर्ष पूर्ण थी अत: इसे सघर्ष युग (The fighting age) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इस अवस्था के सगठित और अनुशासित जीवन से ही राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में समूह के प्रत्येक सदस्य से समूह के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता को अपेक्षा की जाती थी और समूह से असहमति के लिये कोई स्थान न था। व्यक्ति के जीवन का सूक्ष्मतम आचरण भी समूहगत रिवाज या परम्परा से अनुशासित था। अनुकरण (Imitation) ही उस समय की मांग थी। यह समझ लिया गया था कि यदि समूह के व्यक्ति समूह की आज्ञापालन करते हैं तो समूह शक्तिशाली बना रहता है। वेजहॉट इस बात पर बल देता है कि सघर्ष मे संगठित और अनुशासित समूह ही बचते हैं व प्रगति करते हैं। उसके स्वयं के शब्दों में, "यदि तुम में एक दृढ़ सहयोगी एकता सूत्र नहीं है तो एक ऐसा समाज, जिसमें कि ऐसा एकता सूत्र विद्यमान है, तुम्हारे समाज को जीत लेगा और मार डालेगा।"[2] यहां प्रश्न उठता है कि समूह के व्यक्ति समूह अथवा समूह के

---

1. "It was realised that in the struggle for existence, "an aggregate of families owing even a slippery allegiance to a single head would be sure to have the better of a set of families acknowledging no obedience to anyone, but scattering loose about the world fighting where they stood. Homer's Cyclops would be powerless against the feeblest band".
—*Bagel.ot* : Op. cit , Page 16

2. Unless "you can make a strong co-operative bond, your society will be conquered and killed by some other society which has such a bond." —*Bagehot*, Op. cit., Page 138

प्रमुख को आज्ञा क्यों मानते हैं ? बेजहॉट का कहना है कि राजनीति शक्ति आवश्यक होते हुए भी अपर्याप्त है अतः उसके साथ धार्मिक शक्ति भी जोड़ी जानी चाहिये। प्रारम्भिक राजनीतिक समुदायों के प्रति व्यक्तियों में गहन आज्ञा पालन का भाव इसीलिये था क्योंकि उस समय राज्य और धर्म का पृथक्करण नहीं था। स्थिरता के लिये दोनों की एकरूपता आवश्यक थी। समूह के परम्परा कानून (Customary Law) के प्रति लोगों में अन्धभक्ति बन रहे, इसलिये उस परम्परा कानून को राजनैतिक और धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती थी। स्वयं बेजहॉट के शब्दों में, *"उस आज्ञाकारिता को प्राप्त करने की प्रथम शर्त यह है कि राज्य और धर्म में एकरूपता हो वहाँ सम्पूर्ण मानव जीवन को विनियमित करने के लिये एक ही शासन की आवश्यकता है। उस समय शक्ति विभाजन खतरे से खाली नहीं होता सम्भवत वह विनाश का भी कारण बन सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिये कि धर्म पुरोहित कुछ और शिक्षा दे तथा राजा कुछ और। राजा को धर्म पुरोहित होना चाहिये और धर्म पुरोहित को राजा। दोनों को एक ही बात कहनी चाहिये, क्योंकि वे हैं ही एक। आध्यात्मिक दण्ड और वैधानिक दण्ड के मध्य भेद अथवा अन्तर के विचार को कभी नहीं उठने देना चाहिये हम आज राजनैतिक दण्ड और धार्मिक निषेध तथा सामाजिक प्रतिबन्ध की चर्चा करते हैं किन्तु उस समय ये सब बातें एक रूप थी।"*[1]

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था स्थिरता की थी जिसमें प्रथा की प्रधानता थी और एक सामान्य जीवन पद्धति को लादा जाता था। इसके बाद विकास की तीसरी अवस्था (जिसमें कि हम आज रहते हैं) का सूत्रपात हुआ। यह अवस्था परिवर्तनशीलता की (The stage of flexible polity) थी जिसे वाद विवाद के युग (The age of discussion) के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस युग का आगमन कैसे और कहाँ से हुआ इस विषय में बेजहॉट मौन है। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि स्थिरता की पूर्व अवस्था से वर्तमान अवस्था को एकाएक परिवर्तनशीलता कहाँ से आ गई। उसने केवल इसका कारण एक मनोवैज्ञानिक भावना बताया है जो कि विवाद की भावना है। वह यह मान लेता है कि विकास की प्रक्रिया में किसी प्रकार वाद विवाद की भावना उत्पन्न

---

1. 'To gain that obedience the primary condition is the identity-not the union but the sameness-of what we now call church and state what is there requisite is a single government.. regulating the whole of human life No division of power is then endurable without danger-probably without destruction, the priest must not teach one thing and the king another, king must be priest and prophet king the two must say the same, because they are the same The idea of difference between spiritual penalties and legal penalties must never be awakened we now talk of political penalties and ecclesiastical prohibition, and the social censure, but they were one then"

—*Bagehot*, Op cit, Page 17-18

हो गई। उसका मत है कि जब संगठन की समस्या का अन्त हो जाता है तो यह सन्देह उत्पन्न होता है कि कहीं प्रचलित परम्परा समाज की गति को ही न रोक दे और गतिहीन होकर समाज की प्रगति ही न रुक जाय। इस विचार से समाज परम्परा को तोड़ना चाहता है, यद्यपि ऐसा करने में उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु परम्परा तोड़ने के साथ विवाद की प्रधानता होती है और प्रचलित प्रथाओं के सम्बन्ध में विचारों के साथ विवाद भावना का जन्म होता है। वाद-विवाद मानव-बुद्धि को रचनात्मक कार्य करने का अवसर देता है। यहां पर परिवर्तनशील व अचेतन अनुकरण द्वारा उत्पन्न प्रथा में समन्वय स्थापित हो जाता है. दूसरे शब्दों में प्रथा में परिवर्तन होकर समाज को नया रूप प्राप्त होता है। यह नवीन विचारों को जन्म देता है और बुद्धि को कार्यान्वित होने का अवसर प्रदान करता है। वाद-विवाद का आभास मनुष्य में सोचने की आदत डालता है और मनुष्य कोई कार्य करने से पूर्व उस पर विचार करने का अभ्यस्त हो जाता है।

वेजहॉट का कहना है कि विकास की गति में वे व्यक्ति और राष्ट्र सदा पिछड़ जाते है जो परम्पराओं और प्रथाओं के बन्धे रहते हैं। साम्यवादी क्रान्ति से पहले का चीन और १९ वीं शताब्दी के मध्य का भारत इसके प्रमाण है। ये दोनों राष्ट्र स्वयं को अपनी प्रथाओं या रीति-रिवाजों (Customs) से मुक्त नहीं कर सके और इसीलिए इन्होंने अति अल्प उन्नति की। इतिहास बताता है कि वे ही राष्ट्र अधिक प्रगतिशील रहे हैं जिन्होंने अपने व्यक्तियों को स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने का अवसर प्रदान किया है। वेजहॉट की मान्यता है कि एक बार वाद-विवाद की प्रक्रिया आरम्भ हो जाने पर विश्वव्यापक चर्च तथा उपनिवेशीकरण के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है।

वेजहॉट अपने सिद्धान्तों द्वारा यह परिणाम निकालता है कि वाद-विवाद की प्रक्रिया के फलस्वरूप निरकुश और रूढिवादी शासन के स्थान पर स्वतन्त्र विचार-विमर्श द्वारा शासन' (Government by discussion) की स्थापना होती है। इस प्रकार के शासन के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को वाद-विवाद की स्वतन्त्रता रहती है। स्पष्ट है कि वेजहॉट के इस शासन में प्रजातन्त्र का प्रमुख तत्व आ गया है। इस नवीन शासन में व्यक्ति राजकीय मामलों पर विवाद भी कर सकते हैं और साथ ही उन पर नियन्त्रण भी रख सकते हैं। इस प्रकार वेजहॉट के राजनीतिक सिद्धान्त में उदारवादी तत्व का भी समावेश है। लेकिन चूंकि यह उदारवाद केवल उन्हीं जातियों के लिए सम्भव है जो कि पूर्ण अनुशासित हों, अन्य के लिए नहीं, अतः उसका राजनीतिक सिद्धांत रूढिवाद से भी मुक्त नहीं है। सार रूप में यह कहना उपयुक्त है कि वेजहॉट में उदारवादी और रूढ़िवादी तत्वों का सम्मिश्रण (Blending of liberalism and conservatism) है।

वेजहॉट का विचार है कि वाद-विवाद की भावना मानव-प्रकृति में परिवर्तन ला देगी। यह मनुष्य को जल्दबाजी में कोई काम करने से रोकने में सहायक होगी और समस्याओं के समाधान के लिए संघर्ष की अपेक्षा विचार-विमर्श को प्रोत्साहन देगी। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा ही साधन है

जिसके रंगमंच पर राष्ट्रों के जल्दबाजी के कार्यों को प्रवलम्बित किया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को तलवारों से हल करने के बनिस्पत विचार-विमर्श की तराजू में तोला जाता है। मनोवैज्ञानिक ढंग से बेजहॉट के इस विचार में निश्चित रूप में सचाई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाद विवाद की आदत का मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मानव-संस्थाएं इससे अप्रभावित नहीं रहतीं।

बेजहाट यह भी मानता है कि मनुष्य जितना बौद्धिक एवं तर्कपूर्ण जीवन व्यतीत करेगा उतनी ही उसकी काम भावना में कमी आएगी। काम शक्ति अथवा काम भावना में ह्रास का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि मनुष्य भविष्य में आज जैसी द्रुतगति से सृष्टि रचना नहीं करेंगे। बेजहॉट का यह तर्क कहां तक सत्य है, इसकी समीक्षा करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है। हां, यह अवश्य ठीक है कि वाद विवाद से नवीन विचारों का उदय होगा, व्यक्ति के प्राचीन असत्य विश्वास मिटने लगेंगे और मानव-प्रगति का मार्ग प्रशस्त होने में सहायता मिलेगी।

बेजहाट का 'अंग्रेजी संविधान' (Bagehot on English Constitution) —बेजहाट की एक अन्य महत्वपूर्ण रचना 'The English Constitution' है जो सन् १८६६ ई० में प्रकाशित हुई थी और जिसमें उसके कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक विचार निहित हैं। अपने इस ग्रन्थ में बेजहॉट ने संविधानों की व्याख्या की है और एक नवीन पद्धति का सूत्रपात किया है। इस ग्रन्थ-रचना से पूर्व के राजनैतिक विचारक संविधान को केवल एक कानूनी ढांचा समझते थे। वे संविधान का अध्ययन विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किया करते थे। किन्तु बेजहॉट ने संविधान को जीवन से सम्बन्धित करके उसको जीवित वस्तु की भांति अध्ययन किये जाने पर बल दिया। उसने न केवल अंग्रेजी संविधान का कानूनी अध्ययन ही किया बल्कि उसकी वास्तविक कार्य-पद्धति का भी मनन किया। साथ ही इंगलैण्ड के महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञों के निकट सम्पर्क में रहने का और उनके विचार जानने का सुयोग भी उसे निरन्तर मिलता रहा। इस सबके परिणामस्वरूप संविधान के बारे में उसके विचारों में एक परिपक्वता और गम्भीरता आ गयी तथा उसने जो कुछ लिखा उसमें यथार्थवादिता एक बड़ी सीमा तक प्रकट हुई। उसके विचारों से उस समय के संविधान विषयक विचारकों में भी पर्याप्त वास्तविकता आई। बेजहॉट ने यहां भी अपनी मनोवैज्ञानिक पद्धति का परित्याग नहीं किया। उसने अंग्रेजी संविधान' (The English Constitution) में भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी, यद्यपि प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त को उसने अपने इस ग्रंथ में यत्र तत्र वैज्ञानिक ढंग से ही प्रस्तुत किया। बेजहॉट ने शासन के संसदीय और अध्यक्षात्मक रूपों (The parliamentary and presidential forms of Government) का इतना सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया कि वह राजनैतिक विश्लेषण (Political analysis) का एक अनुपम नमूना है जिसने इस विषय पर अग्रीम राजनैतिक विचारों को प्रेरणा दी। बेजहॉट के 'English Constitution' में उसके अपने समय के राजनैतिक विचारों की सुन्दर भूमिका मिलती है।

वेजहाट का मूल्यांकन (An Estimate of Bagehot)—वेजहाट के राजनीतिक विचारों को पढ़ने से पता चलता है कि वह वस्तुत: एक पथ-प्रदर्शक (Suggestive) लेखक था। उसका महत्वपूर्ण ग्रंथ 'Physics and Politics', एक पूर्ण दर्शन प्रणाली न होकर भावी पीढियों के लिए एक 'Research Prospectus' के रूप में अधिक सफल है। वेजहाट का वास्तविक महत्व इस बात में निहित है कि राजनीतिक समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने की प्रणाली का वह सच्चे अर्थों में अग्रदूत था। वही ऐसा प्रथम विचारक था जिसने समाज के विकास में प्रथा और अनुकरण (Custom and imitation) द्वारा अदा की जानेवाली भूमिका के महत्व को इंगित किया। उसने समाज के विकास की जिन तीन सीढ़ियों का विश्लेषण किया वह हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का काम करती है। वेजहाट के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने अपने बाद के अनेक राजनैतिक विचारकों के विचारों को आधारभूमि प्रदान की। उसके विचारों के आधार पर ही ग्राहम वैलास, मैक्डूगल, हॉबहाउस, लॉयड मॉर्गन आदि ने सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में ठोस कार्य किया। वेजहॉट का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसने ससदीय एवं अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों के मध्य अत्यन्त सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और साथ ही राजनीतिक व्यवहार में एक निर्धारक शक्ति के रूप में प्रतीकवाद के महत्व को समझा। वेजहाट के ग्रन्थों ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। उसकी पुस्तक 'The English Constitution' की सराहना करते हुए डायसी (Dicey) ने लिखा है, "इंगलैण्ड की राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार को स्पष्ट करने के लिए बेजहाट ने बर्क के पश्चात् अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।"[1] उसके ग्रन्थ 'Physics and Politics' के विषय में मेन (Maine) ने कहा है कि "मुझ पर इस पुस्तक से अधिक अन्य किसी पुस्तक का प्रभाव नहीं पडा।" ब्राइस (Bryce) का कथन है कि यदि वेजहाट अपनी पद्धति को क्रियान्वित करने हेतु जीवित रहता और उसे अपने विचारों को रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करने का अवसर मिला होता तो उसका भी उतना ही महान् प्रभाव पड सकता था जितना माण्टेस्क्यू (Montesquieu) और टाकविले (Tocqueville) का पड़ा था।

ग्राहम वैलास
(Graham Wallas)
(1858–1932)

संक्षिप्त जीवन परिचय और रचनाएं—ग्राहम वैलास का जन्म सन् १८५८ में एक अंग्रेज पादरी परिवार में हुआ था। उसकी शिक्षा 'Shrewbury School' और Corpu Christi College, Oxford' में हुई थी।

---

1. "Bagehot has brought more knowledge of life and originality of mind to elucidation of the theory and practice of English politics than any other man since Burke."

—*Dicey*

प्रारम्भ मे वह एक सामान्य अध्यापक था किन्तु कालान्तर में विश्व ने उसे एक महान् विद्वान के रूप मे देखा । उसने London School of Economics' की स्थापना मे सहयोग दिया और बाद मे इसी संस्था मे उसने लगभग ३० वर्ष तक अध्यापन किया । वह लगभग २० वर्ष तक लंदन विश्वविद्यालय की सीनेट (Senate) का सदस्य रहा । इस हैसियत से उसने विश्वविद्यालय म प्रशसनीय सुधार करने के सतत प्रयत्न किये । उसने लदन स्कूल बोर्ड, लदन काउन्टी कौन्सिल तथा रायल कमिशन ऑन सिविल सर्विस के सदस्य के रूप मे इन वैधानिक संस्थाओ क नीति निर्माण म भी पर्याप्त योग दिया ।

ग्राहम वैलास फेबियन सोसाइटी (Fabian Society) का एक प्रभावशाली सक्रिय सदस्य भी रहा । उसन इस विषय मे एक प्रसिद्ध लेख 'Essays in Fabian Socialism (1889)' भी लिखा । वास्तव म वलास की लेखन शक्ति बडी विशाल थी और उसने अनेक महत्वपूर्ण ग्रथो की रचना की जिनमे स प्रमुख ये हैं—

1 Life of Francis Place (1898)
2. Human Nature in Politics (1908)
3 The Great Society (1914)
4 Our Social Heritage (1921)
5 Law of Thought (1926)

वैलास की पद्धति (His Method)—ग्राहम वैलास का दृष्टिकोण निश्चित रूप से बुद्धि विरोधी (Anti-intellectual) है । राजनीतिक घटना चक्र की उसने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है । उसक मतानुसार भावना, आदत सकत एव अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाए ही राजनीति को निर्धारित करती है, बुद्धि नही ।[1] वह विचार एव इच्छाओ के समन्वय की विवेचना करके राजनीतिक मनोविज्ञान के बौद्धिक तत्व पर बल देता है । उसन अनुमानात्मक शैली (Inductive method) का अनुसरण किया है और तक की गुणात्मक शैली की अपेक्षा सख्यात्मक तक शैली का अनुसरण किया है (He has shifted from the qualitative to the quantitative method of argument) । यद्यपि मनोविज्ञान के ग्र थो का उसके विचारो पर प्रभाव है, किन्तु उसके निष्कष उसके प्रशासक तथा राजनीतिज्ञ क रूप म प्राप्त अनुभवो पर आधारित है । उसन स्वय ने कहा है, मेरे ४० वष से अधिक अध्यापक तथा प्रशासक रहने के कारण प्राप्त अनुभव से, कवियों और अ य विद्वानों द्वारा, जो अपने को वैज्ञानिक नहीं मानते थे, मन के विचारों की प्रक्रिया के विषय मे जो वणन किया गया है, उससे कुछ मेरे विद्यार्थियों से तथा इंगलैण्ड और अमेरिका में जो मेरे मित्र हैं, उन सब से मुझे मेरे विचारो को मुख्य सामग्री मिली है ।"[2] ग्राहम क सम्मुख समस्या यह था कि आधुनिक

1. Politics is largely "a matter of sub-conscious processes of habit and instinct, suggestion and limitation "
—*Graham Wallas*

2. "My main material has been derived from my experience, during more than forty years as a teacher & administrator, and from the accounts of their thought processes given by poets

मनोविज्ञान द्वारा संचित ज्ञान को, एक व्यवसायी विद्वान के विचारों की प्रक्रिया के परिमार्जन में, किस प्रकार प्रयोग में लाया जाय।"

ग्राहम वैलास ने लोगों को दैनिक जीवन की कठिनाईयों और निराशाओं से बचाने के लिये राजनीति में संख्यात्मक पद्धति (The quantitative method) अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। उसके अनुसार तथ्यों का सकलन किया जाना चाहिये, उनका विश्लेषण किया जाना चाहिये और तब निष्कर्ष निकाले जाने चाहिये। वह सांख्यकीय अध्ययन (Statistical Study) पर जोर देता था। उसका कहना था कि राजनीति के एक छात्र को काल्पनिक व्यक्ति (An abstract man) का अध्ययन नहीं करना चाहिये, बल्कि एक ऐसे पूर्ण मनुष्य का अध्ययन करना चाहिये जो भावनाओं (Emotions), उत्तेजनाओं (Impulses) और अन्तःप्रेरणाओं (Instincts) तथा प्राकृतिक इच्छाओं से भरपूर हो। उसका आग्रह इस बात पर था कि लोगों को मनुष्य की बौद्धिकता को अनावश्यक महत्व देने का अभ्यस्त नहीं बनना चाहिये और ऐसी आदत का परित्याग कर देना चाहिये।

रोक्को (Rocokow) ने सही ही कहा है कि **"यदि प्रो० मैकडूगल एक प्लेटोवादी है तो प्रो० ग्राहम स्पष्टतया एक अरस्तूवादी है। उसका दृष्टिकोण समन्वयात्मक और अनुगमनात्मक (Synthetic and Inductive) दोनों है।"**[1] एक अच्छे डॉक्टर की भांति वैलास ऐसा चतुर निदानकर्त्ता (Diagnostician) था जो एक निश्चित मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से किसी राजनीतिक बीमारी का निदान कर सकता था। उसने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और इसकी पद्धतियों को राजनीतिक सिद्धान्त व शासन दोनो में ही लागू किया। उसने अपने निष्कर्षों को उन तथ्यों पर आधारित किया जो वर्तमान मे हैं, न कि उन पर जो होने चाहिये। अतः उसे अरस्तूवादी (Aristotelian) कहना उचित ही है।

मानव क्रियाओं के आधार अथवा प्रेरणा स्रोत (Basis of Human Action)—वैलास ने अपने तीनों ग्रंथो 'Human Nature and Politics', 'The Great Society' तथा 'Our Social Heritage' में राजनीतिक घटना-चक्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है और मानव-कार्य के आधार अथवा प्रेरणा स्रोतों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किये हैं। अपने ग्रंथ 'Human Nature and Politics' का समारम्भ वैलास ने इन शब्दों से किया है—

"राजनीति का अध्ययन अभी विलक्षण रूप से असन्तोपजनक अवस्था में है।" असन्तोप का कारण उसकी दृष्टि में यह था कि विचारकों की

---

and others who were not professed psychologists, by some of my students and by friends in England and America".

—*Graham Wallas*

1. "While Professor Mc Dougall is a Platonist, Professor Graham Wallas is obviously an Aristotelian. His approach is both synthetic and inductive."

—*Rockow* : Contemporary Political Thought in England, Typed Script, P. 31

लोकतन्त्र से आशाएं निष्फल हो चुकी थी और वे यह मानते थे कि इस निष्फलता का कारण राजनीतिक संस्थाओं के दोषपूर्ण होने, सीमित मताधिकार की प्रथा और अज्ञानता में निहित था। लेकिन वैलास का विश्वास था कि वास्तविक कारण कुछ और ही है। उसके विचार में विद्वानों ने *मानव स्वभाव* की उपेक्षा अथवा अवहेलना करके राजनीति की प्रणाली को दोषपूर्ण बना दिया था। वह यह मानता था कि *राजनीतिज्ञ को भावना, भावों तथा* बुद्धि से संगठित प्राणी की विवेचना करनी चाहिये अमूर्त मनुष्य की नहीं।

वैलास के पूर्व के राजनीतिज्ञ मानव को पूर्णतया विवेकशील मानते थे। किन्तु इसके विपरीत वैलास का विश्वास था कि यदि मानवीय कार्यों का लेखा तैयार किया जाय तो यह प्रमाणित हो जायगा कि बहुत कम मानव-कार्य बुद्धि से प्रभावित तथा संचालित होते हैं। उसके कार्य अधिकांशतः या तो आदत के रूप में होंगे या वे भावनात्मक होंगे जहां बेन्थम के अनुसार मनुष्य के कार्य परिणामों की बौद्धिक गणना से प्रभावित होते हैं (Man's actions are governed by a rational calculation of the consequences) और मेक्डूगल के अनुसार "मानव की जीवनचर्या को उसकी नैसर्गिक वृत्तियां (Instinctive impulses) चलाती हैं और विवेक (Reason) का महत्व जीवन में गौण है' वहां वैलास ने इन दोनों विद्वानों में से किसी का भी अनुसरण करते हुए मध्य मार्ग (Middle Course) अपनाया है।

उसके मतानुसार मानव-प्रकृति उसकी वंशानुगत *योग्यताओं या चित्त-*वृत्तियों (Inherited dispositions) का योग है। वंशानुगत चित्त वृत्तियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—नैसर्गिक वृत्ति (Instincts) और विवेक या बुद्धिमता (Intelligence)। इन दोनों को पृथक करनेवाली कोई स्पष्ट रेखा नहीं है। जिज्ञासा (Curiosity), प्रयत्न और भूल *या गल्ती* (Trial and error), विचार और भाषा (Thought and language) प्रमुख रूप से बुद्धिपूर्ण चित्तवृत्तियां (Intelligent disposition) हैं और मनुष्य के लिए उसी तरह स्वाभाविक हैं जैसे कि उसकी अधिक शक्तिशाली नैसर्गिक चित्तवृत्तियां (Natural to man as his more instinctive *dispositions)*। मनुष्य समुचित दिशाओं में (Under appropriate conditions) सोचने की प्रवृत्ति उसी तरह प्राप्त करता है (Inherits the *tend*ency to think) जिस तरह कि भय की वृत्ति (Tendency of fear) *सोचना* मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वैलास के अनुसार यह सभ्यता का कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य के स्वभाव और उसके पर्यावरण में मेल अर्थात् सामञ्जस्य उत्पन्न करे (The task of civilization is to create harmony between man's nature and his environment)। प्रेम और घृणा दोनों प्राकृतिक चित्तवृत्तियां (Natural dispositions) हैं किन्तु यह सामाजिक आवश्यकता है कि प्रेम अधिक और घृणा कम हो। एक राजनीतिज्ञ के *लिए* मानव की अधिक महत्वपूर्ण भावनायें ही आवश्यक हैं, सम्पूर्ण भावनाओं से राजनीतिज्ञ को कोई प्रयोजन नहीं। महत्वपूर्ण भावों में प्रेम का प्रथम *स्थान* है, भय का द्वितीय तथा सम्पत्ति की इच्छा का तृतीय। इसके अतिरिक्त *सहकारिता* सन्देह, कौतूहल या जिज्ञासा तथा यश लिप्सा के भाव भी महत्वपूर्ण हैं। राजनीतिज्ञ सिद्धान्तों तथा संगठनों की पुनर्रचना के लिए

वृद्धि और सुख की कामना पर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि मानव-जीवन के निर्माण मे ये मौलिक शक्तियां हैं और इसमें ये महत्वपूर्ण योग देती हैं।

यह स्मरणीय है कि वैलास ने विवेक को राजनीतिके क्षेत्र से पूर्णतः बाहर नही किया है अथवा दूसरे शब्दों में राजनीति को विवेक से एकदम मुक्त नहीं ठहराया है, प्रत्युत इस बात पर बल दिया है कि राजनैतिक जीवन में उपचेतन चितवृत्तियां (Sub-conscious) का राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग है। व्यावहारिक सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब इन उपचितवृतियों एव बुद्धिहीन भावनाओं को जागृत करके लोकमत का निर्माण किया जाय। अपने बाद के लेखों में, जबकि वह विचार और इच्छा के संगठन की विवेचना करता है, वैलास राजनीति के मनोविज्ञान में बुद्धि अथवा विवेक तत्व पर अधिक ध्यान देता है। मनुष्य का विवेकहीन स्वभाव अस्थिर होता है जो सामाजिक उन्नति के लिए सुविधाजनक नहीं है। मानव समाज के लिए मानव-विवेक की विजय ही एक मात्र आशा है। विचार-पूर्णता को उपयुक्त प्रोत्साहन और उसकी प्रगति को प्रयत्नपूर्वक पूर्ण सहायता देने के परिणामस्वरूप ही सभ्य समाज का निर्माण सम्भव हो सका है। "विचार पूर्णता की कला की उन्नति होने पर ही हमारे उलझनपूर्ण समाज की बुराईयां दूर करने में मनुष्य की आविष्कारक बुद्धि में प्रोत्साहन मिलता है।"

वैलास की यह मान्यता है कि राजनैतिक व्यवहार में मनोवैज्ञानिक तत्वों के अतिरिक्त परिस्थितियों व पर्यावरण का भी काफी प्रभाव पड़ता है। यह पर्यावरण (Environment) परिवर्तनशील होता है और प्रत्येक नया पर्यावरण मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करता है। नवीन राजनीतिक व्यवस्थाएं, आदतें और भावनायें परिवर्तनशील राजनीतिक वातावरण की द्योतक होती हैं। राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गान और राजनीतिक दल वे प्रमुख राजनैतिक स्थितियां हैं जो विचारों और भावनाओं के विकास में सहयोग देती हैं। इनका मूलरूप बौद्धिक होता है, किन्तु जनसाधारण के लिए ये भावना युक्त होती है और इन भावनाओं को अपील करके ही राजनीतिज्ञ लाभ उठा सकते हैं। राजनीतिज्ञ की कला इसी बात में है कि वह उनके साथ (सर्वसाधारण के साथ) कुछ भावनाओं को सम्बद्ध करे और तब उन भावनाओ से लाभ उठावें। निर्वाचन के समय सभी राजनैतिक दल प्रभाशाली नारे लगाते हैं और जनता की भावना को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं। निर्वाचन एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक युद्ध (*Psychological orgies*) और वशीकरण (*Spell binding*) करने का प्रयास बन जाता है। बार्कर के सुन्दर शब्दों मे "दल के नाम तथा प्रतीक, दल की ध्वजायें, नारे तथा गाने निर्वाचक मण्डल की संकेत ग्राहकता पर आक्रमण करने के लिये छोड़ दिये जाते हैं।"[1]

---

1. "The party names and symbols, the party colours, playcards and songs are all let loose on the suggestibility of the electorate."

—*Barker* : Political Thought in England

स्पष्ट है कि अपने उपरोक्त विचारों द्वारा वैलास राजनीतिक जीवन की इस प्रचलित धारणा का खण्डन करता है कि मनुष्य अपने पूर्व निश्चित उद्देश्यों को पूरा करने के लिये श्रेष्ठतम साधनों को ध्यान में रखकर कार्य करने की प्रवृत्ति रखते हैं। वैलास की धारणा तो यह है कि मनुष्य में प्रेम और भावना की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं, जिनके कारण वह अधिकतर सचेतन पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण के द्वारा जानने योग्य तथ्यों से भिन्न राजनीतिक चिन्हों की ओर मुड़ जाते हैं।[1] मनुष्य द्वारा अपने कार्यों के परिणामों के सम्बन्ध में बनाई जानेवाली धारणायें किसी बौद्धिक प्रक्रिया का फल नहीं होती बल्कि उनका यह कार्य तो एक बुद्धिशून्य प्रक्रिया होता है। स्वयं वैलास के शब्दों में 'उनके मस्तिष्क एक वीणा की भांति कार्य करते हैं जिसके समस्त तार एक ही साथ फड़कते हैं, अतः भावना, अन्तःप्रेरणा आदि प्रायः साथ-साथ चलते हैं और एक ही बौद्धिक अनुभव के एक दूसरे से मिले हुए पहलू होते हैं।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि जब उत्तेजना आदि के वशीभूत होकर व्यक्ति भीड़ के अंग के रूप में कार्य करता है तो उसकी मानसिक प्रक्रिया का बुद्धिहीन आचरण स्पष्ट हो जाता है। मानसिक और बौद्धिक जीवन के क्षेत्र में मनुष्य अधिकांशतः एक भीड़ की स्थिति में रहते हैं और बौद्धिक के स्थान में अबौद्धिक की प्रस्थापना करते हैं (*Substitute non rational inference for rational*)। नागरिकरण (*Urbanisation*) के द्वारा यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई है। अब यह आवश्यक नहीं है कि सङ्केत (*Suggestion*) का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुआ जाय। प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि की उपस्थिति में भावनाओं से संचालित होने के लिये किसी एक स्थान पर एकत्र होना आवश्यक है।

प्रजातंत्र पर वैलास के विचार (Wallas on Democracy)—वैलास के मतानुसार जब हम प्रजातांत्रिक संस्थाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि "१८वीं और १९वीं शताब्दी के प्रजातन्त्रवादी दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित प्रजातंत्र और वास्तविक प्रजातन्त्र में बड़ा अन्तर है।" जनसाधारण की अस्थिरता आश्चर्यजनक है और दार्शनिक प्रजातन्त्रवादियों ने जिस प्रजातंत्र की चर्चा की है वह केवल भावनाओं पर कुप्रचार द्वारा विजय प्राप्त करना मात्र है। मतदाताओं की उपचेतन मन स्थिति (Sub-conscious mental life) से अनुचित लाभ उठाकर बहुमत प्राप्त कर लिया जाता है।

1. *In politics men act under the 'immediate stimules of affection and instinct, and that affection and interest may be directed towards political entities which are very different from those facts in the world around us which we can discover by deliberate observation and analysis."*
Graham Wallas Human Nature in Politics, Page 98

—*Ibid* Page ..

मतदाताओं को बिना समझे बुझे किसी विशेष समस्या पर मतदान करने के लिए उकसाया जाता है। यदि व्यक्ति किसी दल को मत देता है तो इसका आशय यह नहीं है कि उसने बड़े सोच विचार के बाद ऐसा किया है, बल्कि वास्तविकता तो यह होती है कि दल विशेष अपनी धूर्तता और चालबाजियों से उस व्यक्ति की भावना को अपने पक्ष में कर लेता है। "मतदाताओं को समाचार पत्रों द्वारा सम्मोहित, विज्ञापनों द्वारा नशे में और व्यावसायिक प्रत्याशियों को खड़ा करके बहरा बना दिया जाता है।" मतदाताओं को जन-मत पर नियंत्रण करनेवाले सभी साधनों के माध्यम से प्रभावित किया जाता है। उन्हें घृणा तथा उत्तेजना को सहन करने व प्रोत्साहन देने के लिए विवश बना दिया जाता है। शक्तिशाली पूंजीपतियों के गुट जनमत पर अपने शक्ति-सम्पन्न साधनों द्वारा अनुचित प्रभाव डालते हैं। राजनीतिज्ञ जनता के मतों को प्राप्त करने के लिए नामों, चित्रों, चिन्हों आदि का प्रयोग करते हैं। भारत जैसे देश में, जहां कि अधिकांश जनता अशिक्षित है, चिन्हों का बड़ा अनुचित लाभ उठाया जाता है। जब किसी विशेष दल को मत दिया जाता है तो बहुधा ग्रामीण व्यक्ति का निर्णय विवेक अथवा निष्पक्ष तथ्य पर आधारित नहीं होता बल्कि इस बात पर आधारित होता है कि उस दल का नाम कितनी भावात्मकता लिए हुए है अथवा कोई चालाकी से भरा चित्र उसे कितना भावुक बना देता है। भारत में केवल भावना में आकर अधिकांश व्यक्ति किसी दल के लिये अपना मत प्रदान करते हैं। जो दल जितने अधिक मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करता है, उतनी ही अधिक मात्रा में उसे सफलता वरण करती है।

वैलास के अनुसार इन सब बुराईयों का एक ही इलाज है और वह यह है कि विवेक के प्रयोग के दायरे को बढ़ाया जाय, सार्वजनिक क्षेत्र में विवेक का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय। हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि मत-दान की क्रिया, न्यायालय में पंचों के द्वारा स्वार्थ-शून्य और तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण की भांति हो। शिक्षा प्रसार के द्वारा यह सम्भव है कि राजनैतिक दलों की बाग-डोर 'नागरिकता के कर्त्तव्यों के प्रति व्यक्तियों' के हाथ में रहे। वैलास की मान्यता है कि हमें राजनीति के मनोविज्ञान में परिवर्तन करना चाहिये, हमें मानव-प्रकृति की जटिलता को समझना चाहिये और समस्त मनुष्यों को एक समान समझने की बात भूल जाना चाहिये। हमें व्यक्ति तथा वर्ग-भेदों को ध्यान में रखना चाहिये। तत्वों का मात्रात्मक वर्गीकरण (Quantitative classification) करके ही हम किसी निश्चित परिणाम पर पहुंच सकते हैं। हमारी विवेक बुद्धि का आधार अंकशास्त्र तथा सिद्ध किये जा सकने योग्य तथ्य होने चाहिये।

शासन यंत्र और सरकारी अधिकारियों के बारे में वैलास के विचार (Wallas on Governmental Machinery and Public Officials)—वैलास के मतानुसार शासन की मशीन और शासन के कर्त्तव्यों में बड़ा अन्तर है। "मानव-बुद्धि सहकारी विचारधारा की प्रगति को आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलताओं के अनुसार ढालने में असमर्थ रही है।" विचार-संगठन (Thought Organisation) के वर्तमान रूप (Present forms) एक अधिक सरल समाज (a simpler society) के अवशेष (Vestiges) हैं।

हमारी समितियां, नगरपालिकाएं, ससद आदि सस्थाएं सामूहिक विचार-विमर्श के उद्देश्य के प्रति सत्य आचरण नहीं करती, मिल-जुल कर विचार करने के अपने उद्देश्य मे वे असफल रही हैं। यदि विचार-विमर्श होता भी है तो दलीय नेताओं के छोटे छोटे वर्गों, व्यक्तिगत सदस्यो और पदाधिकारियों की भेंटो मे होता है अथवा पत्र-व्यवहार मे होता है। वैलास की मान्यता है कि प्रभावशाली वाद-विवाद (Effective discussion) अभी तक केवल केबिनेट के अन्तर्गत ही सम्भव हो सका है। ऐसा इसीलिये सम्भव हो पाया है क्योंकि केबिनेट मे चुने हुए व्यक्ति (Selected personnel) होते हैं और दलीय अनुशासन अथवा ठोसता (Party solidity) उसकी एक विशेषता होती है। उपरोक्त सस्थाओं मे प्रभावशाली सम्पर्क के सम्बन्ध मे कोई सुधार करते समय विधान सभा की जटिलताओं, निष्पक्ष विचार-विमर्श की आवश्यकता तथा व्यक्तिगत और वर्गीय मनोवैज्ञानिक भेदों को ध्यान मे रखना चाहिए। समाज के आज के जटिल ढाचे मे पृथक विचार की आवश्यकता है। नगरपालिका या केन्द्रीय ससद मे यदि सही तरीके से काय होता है तो पृथक-विचार विमर्श पर बल देना ही पडेगा। वैलास यह माग करता है कि ससद के प्रथम सदन (House of Commons) की सदस्य-सख्या कम कर दी जानी चाहिए। उसे अपनी समितियो (Committees) का अधिक उपयोग करना चाहिये, और सम्पूर्ण सदन की समिति (The committee of the White House) का अन्त कर देना चाहिए। यह सर्वथा उपयुक्त है कि मन्त्रिमण्डल समितियो की राय से ही कार्य करे और स्थानीय समितियों व संस्थाओं के आकार को घटा दिया जाए। वैलास के अनुसार लार्ड सभा (*The House of Lords*) को, जिसका कार्य केवल दोहराना (*Revisory*) है, एक शाही आयोग (*Royal Commission*) का उत्तरदायित्व सभाल लेना चाहिए।

वैलास के अनुसार प्रशासनिक सेवा में इस दृष्टिकोण से परिवर्तन अपेक्षित है कि वे प्रशासनिक पदाधिकारी रचनात्मक विचारधारा एव कार्यों की ओर उन्मुख हों। उन्हें अपने पदो की सकीर्णता मे लिप्त रहने से बचना चाहिए और अपनेविचारो मे मौलिकता लानी चाहिए। वर्तमान वातावरण पदाधिकारियों मे मौलिकता की उन्नति मे बाधक है और इसमे सकीर्णता की भावनाकी प्रधानता विद्यमान है। यही कारण है कि सामान्य बातो के प्रबन्ध मे तो अवश्य दक्षता दिखाई पड़ जाती है लेकिन शासन के मौलिक सिद्धान्तो के आविष्कार में शून्यता ही परिलक्षित होती है। प्रशासन नवीन सिद्धान्तों के आविष्कारों से वंचित हो जाता है।

अन्त मे वैलास का यह विचार भी उल्लेखनीय है जिसमे राज्य की इच्छा को सगठित करने (To organise will of state) की विधि बताता है। उसके अनुसार राज्य की इच्छा का निर्माण व्यक्तिवादी, समाजवादी व श्रम-सघवादो (*Individualism, socialism and syndicalism*) सिद्धान्तों का सश्लेषण करके (*By a synthesis*) किया जा सकता है, केवल एक या दो सिद्धान्तों को स्वीकार करके ही काम पूरा नहीं हो जाएगा। समस्त लोगों के कल्याण को ध्यान में रख कर ही कार्य हो सकता है। वैलास का मत था कि लार्ड-सभा म व्यावसायिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

वैलास की आलोचना और उसका मूल्यांकन (Criticism and Estimate of Wallas)—वैलास का दर्शन आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। वह राजनीतिक जीवन का अत्यधिक अबुद्धिकरण कर देता है। समाज के निर्माण में चेतन अथवा अचेतन रूप में मानव-बुद्धि अवश्य योग देती है। अचेतन रूप से कार्य करने का यह अर्थ मान लेना एक भूल है कि बुद्धि कोई कार्य ही नही करती। मानव का अस्तित्व अनुभूति के निरर्थक प्रभावों पर ही आधारित नहीं है और न ही जीवन केवल आवेगों का पुंज है। हर अनुभूति अर्थमय होती है। मनुष्य का संसार अस्पष्ट उद्देश्यों की माला नहीं है बल्कि स्पष्ट उद्देश्यों की तुलना है। विवेक अथवा बुद्धि का ही यह कार्य होता है कि वह प्रत्यक्ष में मौलिक तत्वों का चयन करे और उन्हें पहिचाने। विवेक के अभाव में व्यवस्थित सामाजिक जीवन की कल्पना करना ही कठिन है। यद्यपि व्यक्ति झूठ प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो सकता है किन्तु उस समय भी उसमें यह धारणा मौजूद रहती है कि वह ठीक कार्य कर रहा है।

अन्य मनोवैज्ञानिक विचारों की भांति वैलास भी निम्नतर से उच्चतर का तथा ऐतिहासिक काल से सभ्य जीवन की विवेचना करता है। वह मनुष्य और सृष्टि जगत के अन्य प्राणियों में कोई अन्तर नहीं पाता। वह यह मानता है कि मनुष्य और पशु एक ही श्रेणी के जीवधारी हैं। इस तरह वैलास भी वही गल्ती करता है जो उसके पहले के मनोवैज्ञानिक दार्शनिकों ने की थी। आलोचक वैलास की शैली को भी त्रुटिपूर्ण बताते हैं। वैलास का विश्वास था कि प्रत्येक समस्या में कुछ बुराई और कुछ अच्छाई होती है। किन्तु इस प्रकार की विचारधारा के अधिक प्रशंसक नही हुआ करते। वैलास का कहना है कि "हतोत्साहित मनोवृत्ति से असंस्कृत मनोवृत्ति के तनाव की उत्पत्ति होती है (*An unstimulated disposition gives rise to the strain of a baulked disposition*)। यह धारणा गलत विचार पर आधारित है। "यदि मनुष्य ने चिरकाल से कुछ इच्छाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह इन इच्छाओं की पूर्ति वर्तमान समाज में ही करे। कभी-कभी यह आवश्यक हैं कि हमारी कुछ चित्तवृत्तियों का दमन किया जाये। यदि हमें आधुनिक जटिल समाज मे जीना है तो हमें अपनी इच्छाओं का परित्याग करना होगा। हमारी आदिकालीन इच्छाओं की पूर्ति को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। इन इच्छाओं की हमें शिष्ट रूप से पूर्ति करनी होगी। नीच वृत्तियों का श्रेष्ठ वृत्तियों के लिए बलिदान करना होगा।"

अनेक त्रुटियों के होते हुए भी वैलास के दर्शन का काफी महत्व है। उसने राजनीतिक दर्शन को एक नया मोड़ देकर प्रगतिशील बनाया है। रोक्को (Rockow) के अनुसार, "ग्राहम वैलास ने राजनीति विज्ञान की बड़ी सेवा की है। उसने मानव-प्रकृति और मानव-कार्य में उपचेतना के महत्व को प्रदर्शित किया है। वैलास का महत्व इस बात में भी है कि वह अपने समकालीन मनोविज्ञान के ज्ञान को प्रजातंत्र प्रणाली के प्रति प्रयोग करने के क्षेत्र में सर्वप्रथम अग्रणी था। वैलास ने राजनीति के अध्ययन में अनुमानात्मक शैली का, प्रजातंत्र में विशाल सामाजिक अनुभव और विशुद्ध मनोविज्ञान का, बेंथम के अनुयायियों से कहीं अधिक समावेश किया।

वास्तविक परिणामो पर अपने वैज्ञानिक *विश्लेषण* को लागू करने मे उसने यह पाया कि वास्तविक राजनीति और शिक्षालयो मे पढाई जानेवाली राजनीति में बडा अन्तर है और हमारे राजनीतिज्ञ बेंथमवादी नही हैं, क्योकि हमारे भूतकालीन दार्शनिको की अपेक्षा वे *मानव-प्रकृति* के अधिक श्रेष्ठ अध्येता हैं। वैलास ने सिद्धान्त और तथ्य के भेद पर पर्याप्त बल दिया है और यह चाहा है कि अन्य लोग भी इस भेद को ध्यान मे रखें। वैलास की तीनों पुस्तकों ने *राजनीति-साहित्य* मे *उसके नाम* को *अपरिहार्य* बना दिया है। उसकी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि एक ऐसे आकर्षक क्षेत्र को खोल देती है जिसमे निश्चित रूप से नई खोजें की जायेंगी। राजनीतिक समस्याओ के प्रति उसका सख्यात्मक दृष्टिकोण (*Quantitative approach*) अवश्य ही भविष्य में श्रेष्ठतर परिणाम लायेगा।[1] वैलास ने इस बात पर बल दिया कि वास्तविक तथ्यो के आधार पर किसी भी समस्या का आलोचनात्मक विचार करने से ही किसी भी प्रणाली मे सुधार किया जा सकता है, व्यर्थ की परिपाटियों को रटते रहने से नही।

इसमे कोई सन्देह नही कि राज दर्शन के जगत मे वैलास का स्थान अनुपेक्षणीय है। राजनीति के बहुत कम ऐसे ग्रन्थ होगे जिनमे वैलास की चर्चा नही की गई हो। उसकी प्रतिपादित प्रकशास्त्र प्रणाली का आजकल सारे ससार मे प्रयोग किया जा रहा है।

---

1. "Professor Wallas has made an eminent contribution to politics. . Yet in the detailed application of contemporary psychological knowledge to the concrete institutions of the democratic state *Professor Wallas is a pioneer.* The Benthamites assumed a few deductive principles about human nature, on this foundation they built a political theory. Professor Wallas, on the other hand, has brought to bear an *politics an inductive method, the wider social* experience of realized democracy, and a truer psychology than that of the Benthamites. In applying his scientific [illegible] of politics. This psycholog[illegible] bating field in which further *explorations will no doubt* make additional discoveries His appeal for a quantitative *approach to* political phenomena must surely bear greater results in the future if our path to a better society is to be less obscure than at present".
—*Mc Govern* : From Luther to Hitler, Page 416

विलियम मैक्डूगल
(William Mc Dougall)
(1871–1938)

संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं रचनाएं—प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता विलियम मैक्डूगल का जन्म सन् १८७१ में हुआ था। वह ग्राहम वैलास का समकालीन था और उसने वैलास के समान ही राजनीति को अपने मनोवैज्ञानिक अनुदाय द्वारा समृद्ध किया। वह महान् विद्वान था और उसने केम्ब्रिज, लंदन, ऑक्सफोर्ड, हॉर्वर्ड और ड्यूक आदि विभिन्न विश्वविद्यालयों में सेवा की। इस आँग्ल-अमरीकन विद्वान ने अनेक पुस्तकें लिखी जिन्हें राजनीति के विद्यार्थियों द्वारा सदैव बड़ी रुचि से पढ़ा जायगा और वे उनसे लाभान्वित होंगे। मैक्डूगल की महत्वपूर्ण रचनाएं निम्नलिखित हैं—

1. Introduction of Social Psychology (1908)
2. The Group Mind (1920)
3. Social Psychology.
4. Outline of Psychology (1923)
5. World Chaos (1931)

इस प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक राजदर्शनशास्त्री का देहान्त सन् १९३८ में हुआ।

मैक्डूगल का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (His Psychological Theory)—मैक्डूगल ने अपने सम्मानित ग्रंथ 'मनोविज्ञान की भूमिका' (*Introduction to Social Psychology*) में बताया है कि मनोविज्ञान व्यवहार एवं आचरण का सामाजिक विज्ञान है जिसकी सहायता प्राप्त करके राजनीति विज्ञान उपयोगी एव यथार्थवादी बन सकता है। मनोविज्ञान की खोजों से राजनीति को निश्चय ही लाभान्वित होना चाहिये। मनुष्य भावनाओं का पुंज है, भावनाओं की गठरी है और राजनीतिशास्त्र को उपयोगी बनाने की दृष्टि से मानवीय भावनाओं, कामनाओं और विचारों का ध्यान रखना चाहिये। मानवीय बुद्धि भावनाओं की तृप्ति के लिये उद्यत रहती है। मूल प्रवृत्तियों का मानव-व्यवहार में महत्वपूर्ण हाथ रहता है। इनके महत्व को बतलाते हुए मैक्डूगल ने लिखा है कि—"**यदि मनुष्य में से इन शक्तिशाली वृत्तियोंवाली भावनाओं को निकाल दिया जाय, तो वह किसी प्रकार की क्रिया के लिये समर्थ न हो सकेगा, वह उस घड़ी के समान निश्चित तथा गति रहित हो जायगा, जिसकी कमानियां निकाल दी गई हों, अथवा उस भाप के इंजन के समान होगा, जिसकी आग बुझा दी गई हो। ये भावनाएं वे मानसिक शक्तियां हैं जो व्यक्तियों एव मनुष्यों के जीवन को स्थित रखते हैं और उसके रूप का निर्धारण करती है तथा उनमें हम जीवन, मृत्यु एवं इच्छा का प्रमुख रहस्य पाते हैं।**'[1]

---

1. "Take away these instinctive dispositions with their powerful impulses and the organism would become incapable of activity of any kind; it would be inert and motionless, like a

मैकडूगल ने मूल प्रवृत्तियों अथवा नैसर्गिक वृत्तियों (Instincts) को मानव व्यवहार की संचालिका शक्ति माना है। मूल प्रवृत्ति या नैसर्गिक वृत्ति जीवन का प्रथम उद्देश्य और सब क्रियाओं का मूल स्रोत है, यह केवल उत्तेजना और किसी क्रिया के मध्य की अज्ञात कड़ी ही नहीं है। अपने ग्रंथ 'Outlines of Psychology' में मैकडूगल ने मूल प्रवृत्तियों की सूची दी है। उसके अनुसार १४ मुख्य अथवा मूल प्रवृत्तियां होती हैं जिनमें प्रत्येक के साथ एक भावना होती है जो उस भाव से प्रेरित मनुष्यों को विशेष रूप से कार्य करने के लिये बाध्य करती है। इस भावना को हम सम्बद्ध संवेग (Emotion) कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मूल वृत्ति (Instinct) 'पलायन' (Escape) की है तो उसके साथ सम्बद्ध संवेग या भावना (Emotion) 'भय' (Fear) की वर्तमान रहती है। मैकडूगल ने 'सम्बद्ध-संवेगों सहित मूल वृत्तियों' की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है:—

मूल वृत्तियां (Instincts)	सम्बद्ध संवेग (Emotions)
१ पलायन (Escape)	१. भय (Fear)
२ युयुत्सा (Pugnacity)	२. क्रोध (Anger)
३ निवृत्ति (Repulsion)	३. घृणा (Disgust)
४ पुत्र कामना (Parental instincts)	४. वात्सल्य (Tender emotion)
५ शरणागति (Appeal)	५ करुणा (Distress)
६. काम (Mating)	६. कामुकता (Lust)
७ जिज्ञासा (Curiosity)	७. आश्चर्य (Wonder)
८ दीनता (Submission)	८ आत्महीनता (Negative Self-feeling)
६ आत्मप्रकाशन (Self-assertion)	६. आत्माभिमान (Positve self-feeling)
१० सामूहिकता (Gregariousness)	१० एकाकीपन (Loneliness)
११. भोजन की खोज (Food-seeking)	११. भूख (Appetite)
१२. संग्रह (Acquisition)	१२. स्वत्व (Ownership)
१३. रचना (Constructiveness)	१३ रचनात्मक आनन्द (Feeling of creativeness)
१४ हास (Laughter)	१४. प्रसन्नता (Amusement)

wonderful clock-work whose mainsprings have been removed or a steam engine whose fire has been drawn. These *im*- ... and shape all the

उपरोक्त मूल वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य निम्न श्रेणी की वृत्तियां भी हैं यथा छींकना, खांसना, मलमूत्र त्याग करना आदि। इनका यद्यपि कोई सामाजिक महत्व नहीं है तथापि इनका क्षणिक वेग बहुत प्रबल होता है। मैकडूगल ने उपरोक्त १४ मूल वृत्तियों के अतिरिक्त ४ सामान्य प्रवृत्तिया (Natural tendencies) भी बतायी है—

१. निर्देश (*Suggestion*)
२. सहानुभूति (*Sympathy*)
३. अनुकरण (*Imitation*)
४. खेल (*Play*)

सामान्य प्रवृत्तियों के साथ कोई सम्बद्ध संवेग (*Emotion*) नहीं होता। मैकडूगल के अनुसार प्रमुख मूल प्रवृत्तियां मानव व्यवहार की संचालक हैं। ये परिवार, सामाजिक वर्ग-व्यवस्था, युद्ध, धर्म तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं के लिए आवश्यक उद्देश्य प्रदान करती हैं। मैकडूगल का कहना है कि ये वृत्तियां व्यक्ति द्वारा स्वयं प्राप्त नहीं की जाती बल्कि ये तो उसे विरासत के रूप में मिलती है। ये आदि-मानव की प्रथम क्रियायें थी। इनके बिना मानसिक और शारीरिक यन्त्र स्पन्दनहीन हो जाता है।

आचरण पर मैकडूगल के विचार (Mc Dougall on Behaviour)—मैकडूगल के अनुसार आचरण प्रतिक्षेपों (*Reflexes*) का समूह नहीं है। सामान्य रूप से आचरण कही जानेवाली क्रियाएं, प्रतिक्षेप क्रियाओं से भिन्न होती हैं। आचरण के स्वयं के कुछ लक्षण होते हैं। आचरण कुछ अंशो में स्वत: जात और वातावरण अथवा पर्यावरण से मुक्ति या आत्म-निर्भरता प्रदर्शित करता है (*Shows some degree of spontaneity and indèpendence of environments*) किन्तु यह एक सीमा तक पर्यावरण से प्रभावित भी होता है। क्षणिक आवेग (*Momentary stimulus*) से प्रेरित होने के बाद आचरण की क्रियाए विशेष दिशा में सतत रूप से आवेग के समाप्त हो जाने पर भी संचालित रहती हैं। आचरण की क्रियाओं में बाधा प्रस्तुत होने पर भी उन बाधाओं को पार करके लक्ष्य तक पहुंचा जाता है मानों कि उसके मार्ग में कोई बाधा आई ही न थी। विविध प्रकार के प्रयत्न इच्छित परिणाम प्राप्त कर लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं। बहुधा आचरण की क्रियाओं का प्रथम चरण उन मानसिक क्रियाओं का समूह होता है जो द्वितीय चरण के आगमन के लिए प्रबन्ध करने में सहायक होते हैं और यदि आचरण को उत्पन्न करनेवाली स्थिति की पुनरावृत्ति बार-बार होती है तो विविध प्रकार का आचरण (*The varied behaviour*) एक अधिक निश्चित आकार ग्रहण कर लेता है।

मानव प्रकृति पर मैकडूगल के विचार (Mc Dougall on Human Nature)—मैकडूगल बैंथम की इस धारणा से असहमत है कि सभी मानव-कार्य स्वार्थ प्रेरित होते हैं। उसके मतानुसार मानव-स्वभाव का कतिपय वृत्तियों का समूह है और ये वृत्तियां निःस्वार्थ-भावना से प्रेरणा ग्रहण करती है। इन वृत्तियों में माता का प्रेम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और इसी से उदारता एवं विशाल हृदयता के नाना रूपों का जन्म होता है। न केवल परिवार

बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन प्रेम-भावनाओं (*Sentiments of love*) पर आश्रित है। रोक्को (*Rockow*) के अनुसार, "दासता की समाप्ति में, युद्ध के भयों को कम करने के प्रयत्नों में, और वृद्धों तथा असहायों के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व के हाल ही मे विकसित विचार के मूल मे यही (मातृ-प्रेम) क्रियात्मक कारण है।"[1]

मैकडूगल ने बैन्थम की इस धारणा का खण्डन किया है कि मनुष्य के सभी कार्य सुख की प्राप्ति और दुःख से बचने की भावना से प्रेरित होते हैं। उसका विचार है कि मानव प्रकृति आवश्यक रूप से बहुवादी (*Pluralistic*) है न कि एकांगी (*Monoistic*)। मानव कार्य किसी एक ही इच्छा से प्रेरित न होकर अनेक और परस्पर सम्बन्धित प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होते हैं। जब कोई महिला अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वयं के जीवन को खतरे में डालती है तो उसका यह कार्य सुखवादी मापक यन्त्र (*Hedonistic calculations*) से निर्धारित नहीं होता बल्कि यह तो उसके मातृ-प्रेम की प्रतिक्रिया होता है। उसके इस कार्य में स्व-सुख प्राप्ति की कोई स्वार्थपूर्ण इच्छा निहित नहीं होती। इसी तरह जब मनुष्य अपने सत्कार्यों का साहचर्य प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं, प्रयुत् साहचर्य की भावना से प्रेरित होता है। मैकडूगल के अनुसार सुख और दुःख स्वयमेव कार्यों का मूल स्रोत नहीं है। इनके द्वारा किसी विशिष्ट क्रिया की अवधि निर्धारित होती है। सुख (*Pleasure*) आनन्द (*Happiness*) नहीं होता। सुख तो क्षणिक होता है जबकि आनन्द (*Happiness*) उन सब भावनाओं की उत्पत्ति है जो मानव व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

सामूहिक विचारधारा पर मैकडूगल के विचार (Mc Dougall on Group Mind)—अपने ग्रन्थ *'Group Mind'* में मैकडूगल ने मानवीय आचरण से सम्बन्धित मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न समूहों के आचरण का विवेचन किया है। जनश्रुति है कि मैकडूगल का *'Group Mind'* प्लेटो के *'Republic'* का पुनर्जन्म है। उसके मतानुसार भाव एवं भावनाएं सामूहिक आचरणों को भी व्यक्तिगत आचरणों की भांति निर्धारित करती हैं। वह सामूहिक चेतना की समीक्षा उसी पद्धति से करता है जिस पद्धति से एक प्राकृतिक वैज्ञानिक प्राकृतिक जगत की विवेचना करता है। इस विषय में उसने प्राणीशास्त्र, इतिहास और सामाजिक शास्त्र से प्रेरणा ग्रहण की है। वह कहता है कि सुव्यवस्थित समाज एक सजीव इकाई है जिसका अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व है। प्रत्येक समूह की मानसिक व्यवस्था होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का मन उस समूह की इकाई है। सामूहिक

---

1. ... of slavery in the

and helpless."

—*Rockow : Op. cit. Page 15*

मस्तिष्क सोचता और सजीव प्राणी की तरह कार्य करता है। इसके अपने नियम हैं जिन पर इसका अस्तित्व है। अपने इन नियमों के अनुसार ही प्रगति करता है। समूह से पृथक हो जाने पर व्यक्ति के कार्य, समूह के कार्यो से भिन्न हो जाते हैं। मैक्डूगल का विश्वास है कि "**सामाजिक व्यवस्था और ढांचे के प्राण हर तरह से उतने ही मानसिक और मनोवैज्ञानिक हैं जिस तरह व्यक्ति के मस्तिष्क की बनावट और कार्य-प्रणाली होती है।**" राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे समुदाय होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सामूहिक मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

मैक्डूगल जनमत का बड़ा गुणगान करता है और उसे एक बुद्धिमान एवं मान्य पथ प्रदर्शन समझता है· उसके अनुसार जनमत की सर्वोत्तम व्याख्या समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों के द्वारा ही की जा सकती है। इन्हीं विचारों के कारण मैक्डूगल को रोक्को ने प्लेटोवादी (*Platonist*) बतलाया है। किन्तु यथार्थता यह है कि मैक्डूगल और प्लेटो में बहुत कम साम्य है। अतः ऐसे भ्रान्तिपूर्ण विशेषणों का प्रयोग न करना ही उत्तम है।

राष्ट्र के विषय में मैक्डूगल के विचार (Mc Dougall on the Idea of the Nation)—मैक्डूगल के मतानुसार "राष्ट्र एक जाति अथवा जन-संख्या है जिसे किन्हीं अंशों में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त है और जिसका अपना विशिष्ट राष्ट्रीय मन अथवा चरित्र है। यह राष्ट्रीय संविमर्श तथा इच्छा शक्ति के योग्य है। इसका मूल तत्व मनोवैज्ञानिक है और इसकी मानसिक व्यवस्था इसे सामूहिक जीवन प्रदान करती है।" राष्ट्रीय मस्तिष्क अर्थात् विचारधारा एक व्यक्ति के मस्तिष्क अथवा विचारधारा के समान है जिसमें केवल मानसिक चेतना ही नहीं होती वरन् भावना एवं क्रियाशीलता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। राष्ट्रीय विचारधारा एक निश्चित विचारधारा होती है जो किसी एक व्यक्ति अथवा समस्त व्यक्तियों की विचारधाराओं के योग से भिन्न होती है। इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय मस्तिष्क का उदय तभी होता है जब राष्ट्र की सम्पूर्ण इकाईयों में- एकरसता (*Homogeneity*) हो। एकरसता अथवा एकता की यह भावना निम्नलिखित तत्वों से मिलकर निर्मित होती है—

(१) सामान्य नसल (*A common race*)
(२) सदस्यों के बीच विचारों के आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता (*Freedom of communication among members*)
(३) योग्य नेता (*Eminent leaders*)
(४) एक स्पष्ट तथा निश्चित सामान्य उद्देश्य, विशेषकर राष्ट्रीय सकट के अवसर पर।
(५) अस्तित्व की लम्बी अवधि (*Long continuity of existance*)
(६) राष्ट्रीय विचारधारा का संगठन (*Organisation af National Mind*)
(७) राष्ट्रीय आत्म-चेतना (*National Self-consciousness*)
(८) अन्य राष्ट्रों से प्रतिद्वन्द्विता (*Emulation with other Nations*)

मैक्डूगल के अनुसार राष्ट्रीयता की भावना वह शक्तिरूपी माला है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधती है। यह केवल भावना तक ही सीमित नहीं है। यह एक वह मनोवृत्ति है जिसके भावनात्मक और प्रभावात्मक दोनों पहलू होते हैं। एक राष्ट्र के व्यक्ति न केवल राष्ट्रहित के लिए सदैव क्रियाशील रहते हैं बल्कि राष्ट्र के लाभ के लिए अनेकों बलिदान भी करते हैं। मैक्डूगल का कहना है किसी भी राष्ट्र का कोई एक कार्य, सुनिश्चित परिपाटी के अनुसार सामूहिक रूप से भली प्रकार सोच विचार किया हुआ, सबके हित के लिए सबके द्वारा किया गया कार्य होता है। राष्ट्र का जीवन अवधि बड़ी लम्बी होती है और इसमें एक दीर्घ भूतकाल तथा दीर्घ भविष्य सम्मिलित होता है।

मैक्डूगल के दर्शन की आलोचना और महत्व (Criticism and Importance of Mc Dugall's Philosophy) —मैक्डूगल के सिद्धान्तों के प्रति गम्भीर आपत्तियां प्रस्तुत की गई हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) मैक्डूगल का मत है कि भावों का वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु भावों की अभिव्यक्ति एक निश्चित सामाजिक स्थिति में होती है और इसी स्थिति के द्वारा उनकी रूपरेखा निश्चित होती है। वे कभी शून्य में कार्य नहीं करतीं। "सामाजिक जीवन की रूपरेखा को निश्चित करनेवाल भूख और प्यास काम और प्रेम नहीं है, बल्कि वे ठोस और निश्चित क्रियायें हैं, जिनके द्वारा वे सन्तुष्ट होते हैं और जो कि मनुष्य के अनुभव और विचार की उत्पत्ति करते हैं।' बार्कर का यह कहना सही है कि 'मैक्डूगल भावों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, लेकिन उसने यह बतलाने की कोशिश नहीं की कि समाज में वे भाव किस प्रकार अवतरित होते हैं। इस प्रकार मैक्डूगल एक ऐसे यात्री की भांति है जो तैयारियां करके ही रह जाता है, वास्तविक यात्रा का प्रारम्भ कभी नहीं करता। बुद्धिवादी काफी तैयारी चाहे न करता हो, लेकिन वह राज्य में यात्रा और उसकी खोज अवश्य करता है।"

(२) *मैक्डूगल की आलोचना में कहा जाता है कि उसकी विवेचना* का तरीका चरित्र और वातावरण में तथा प्रकृति और वृत्तियों में अनावश्यक भेद करता है। सम्पत्ति की भावना पर आधारित परिवार को सगठित करना व्यर्थ है। वास्तविक महत्व तो इस बात में है कि इस प्रकार की नैसर्गिक वृत्तियों (*Instincts*) का सामाजिक व्यवस्था में क्या स्थान है। *उचित यही है कि व्यक्ति को वातावरण की आधारभूमि में परखा जाय।*

(३) मैक्डूगल ने नैसर्गिक वृत्तियों को बहुत अधिक महत्व दिया। साथही नैसर्गिक आवेगों और बुद्धिपूर्ण आवेगों (*Instinctive impulses and intelligent impulses*) के बीच भी कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची गई है। वैलास और हावहाउस के कथनानुसार केवल हमारी *नैसर्गिक वृत्तियां (Instincts) ही नहीं अपितु हमारी बुद्धिमता भी वंशानुगत (Hereditary) होती है।* इस दिशा में हावहाउस के ये शब्द उल्लेखनीय हैं– हमें अपने माता पिता से केवल अनुभूति और आवेग ही नहीं अपितु इनके अच्छे बुरे की पहिचान, विश्लेषण और सगठित करने की बुद्धि भी प्राप्त होती है। हमने *बुद्धिमता का व्यक्ति को* उपज मानकर विरोध *किया है* और *नैसर्गिक वृत्ति को* पत्रिक *माना है* किन्तु

योग्यता के रूप में बुद्धिमता भी पैत्रिक या वंशानुगत है। उत्सुकता तथा खोज में विश्लेषण और तुलना के तरीकों आदि सब में वशानुगत ढांचे का मूल आधार निहित होता है।"[1]

बुद्धि प्रत्येक कार्य में रुढिवादिता को घटानी है और विशिष्ट स्थितियों में परिवर्तित करती है। यह (बुद्धि) न तो नैमर्गिक वृत्तियों से पृथक होती है और न ही उनके अधीन। यह तो इनमे सहयोग करती हैं, इनका परि-मार्जन करती है और अन्त में हमारी विविध वृत्तियों का एकीकरण करके एक ठोस इकाई बनाती है।

(४) एक वर्ग या संगठित समूह अलग-अलग व्यक्तियों के समूह से कुछ अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है और विशेप व्यक्तियों के परिवर्तन के पश्चात् भी जीवित रह सकता है। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि मान-सिक शक्ति से ऊंची भी कोई शक्ति है। समाज सवेदनशील अथवा मनोवैज्ञानिक इसी दृष्टिकोण से है कि वह केवल व्यक्तियों के विचार में ही रहता है। समाज बहुत दिनों तक जीवत रह सकता है किन्तु उसके समस्त कार्यो का संचालन व्यक्तियों के द्वारा ही होगा। इसकी परिपाटियों को व्यक्ति ही पूर्ण कर सकते हैं।

(५) मैक्डूगल ने राष्ट्रीय-आत्मा और राष्ट्रीय-मन या मस्तिष्क (*National soul or national mind*) का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह मान्य नहीं हो सकता। हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नहीं है जिसके द्वारा राष्ट्र के उद्देश्यों की एकता तथा ठोसता को मालूम किया जा सके। केवल एक दक्ष सेना में ही आदर्श एकता विद्यमान हो सकती है।

(६) राष्ट्रीय समूह की व्याख्या करते समय मैक्डूगल राष्ट्र और राज्य (*Nation and State*) के अन्तर को भूल गया प्रतीत होता है। राष्ट्र एक परिपाटी, सभ्यता तथा भावना है। राज्य एक व्यवस्था तथा संगठन है। राज्य इतना पुराना है जितनी सभ्यता। परन्तु राष्ट्र का विकास थोड़े समय से ही हुआ है। मैक्डूगल के मतानुसार, ब्रिटेन के निवासी राष्ट्रीय संगठन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं, किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि ब्रिटिश जनता तीन विभिन्न शब्दों—अंग्रेजी (*The English*), स्कॉच (*Scotch*) तथा वेल्श (*Welsh*) राष्ट्रीयताओ का समूह है।

यद्यपि मैक्डूगल का दर्शन अनेक गम्भीर आलोचनाओं का शिकार है, तथापि इसमें कोई सदेह नहीं कि उसके दर्शन ने मनोवैज्ञानिक योगदान द्वारा राजनीति-शास्त्र को अधिक सम्पन्न बना दिया है। मैक्डूगल ने, मानवीय आचरण के कतिपय अंगों पर जिनके विपय में पहले ज्ञान नहीं था, पर्याप्त बल दिया है। उसका 'सामूहिक' (*Group mind*) का सिद्धान्त वस्तुतः एक अमूल्य देन है, यद्यपि यह अवश्य है कि इस सिद्धान्त में समूहों की एकता और संगठन को इतना महत्व दे दिया गया है कि इनमे मनुष्य की ईकाई का व्यक्तित्व गौण हो गया है। मैक्डूगल के सिद्धान्तो का महत्व इस बात में है कि उनकी पृष्ठभूमि में किसी राजनैतिक प्रक्रिया को अधिक सुन्दरता से समझा जा सकता है।

QUESTIONS

Q 1 Explain Spencer s *Theory of Evolution* and s ate how does he apply it to the State.

स्पेंसर के विकासवादी सिद्धात की व्याख्या कीजिये और बताइये कि यह राज्य पर किस प्रकार लागू होता है ?

Q 2 Though accepting and indeed originating the doctrine of natural 'selection he did not agree with Darwin that selection takes place through accidenta variation but held that variation and adaptation *were manifestation of* purpose"—Maxey

' डारविन की भाति वह नेचरल सलेक्शन मे विश्वास रखता है लेकिन वह डारविन की भाति यह नही मानता कि सलेक्शन किसी आकारात्मक परिवतन के द्वारा होता है । उसका कहना है कि परिवतन और अनुकूलन उद्देश्य सहित होते हैं ।' (मक्सी)

Q 3 *Herbert Spencer attempted to combine in his* social philosophy an extreme form of collec ivism with are extreme faith in laissez faire' How Spencer failed in his attempt ?

"हबट स्पेंसर ने अपने सामाजिक दशन मे समष्टिवाद या केन्द्रवाद के अतिरूप और औद्योगिक अहस्तक्षेप मे अपने अति विश्वास को सयुक्त करने का प्रयत्न किया ।' स्पेंसर अपने इस प्रयत्न मे कस असफल हुआ ?

Q 4 What biological ideas did Herbert Spencer apply *to* his political thought and with what results ?

हबट स्पेंसर ने अपने राजनतिक चिन्तन को किन जीव शास्त्रीय विचारों से सम्बद्ध किया और इसके क्या परिणाम निकले ?

Q 5 Explain and discuss Spencer s views on the nature and *function of the state*

राज्य की प्रकृति एव उसके कार्यों के बारे मे स्पेंसर के विचार की व्याख्या व विवेचना कीजिए ।

Q 6 Compare the individualism of J S M ll and Harbert Spencer

हबट स्पेन्सर तथा जे एस मिल के व्यक्तिवाद की तुलना कीजिये ।

Q 7 Spencer brought social theories in relation to biological evolution but he left the practical conelusions almost where they had been left —(Sabine)

Comment on the above showing (a) How Spencer brought social theories into relation to biologic evolution and (b) How he left the practical *conclusions almost where they* had been.

स्पेंसर ने सामाजिक सिद्धान्तो को जीवशास्त्रीय विकास से सम्बन्धित किया किन्तु उसने व्यावहारिक तथ्यों को वही पर छोड दिया जहा पर वे पहले थे ।' —(सेबाइन)

उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए और बताइये कि–(अ) स्पेन्सर ने सामाजिक सिद्धान्तों को जीवशास्त्रीय विकास से किस तरह सम्बन्वित किया ? और (ब) किस भांति उसने व्यावहारिक तथ्यों को वहीं पर छोड़ दिया जहां पर वे पहले थे ?

Q. 8. How did Herbert Spencer reconcile his individualism with the belief in the doctrine of organism ?

हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने व्यक्तिवाद का सावयव सिद्धान्त में विश्वास के साथ कैसे समन्वय किया ?

Q. 9. Barker says that the philosophy of Herbert Spencer is an "incongruous mixture of natural rights and psychological metaphor."

Describe the various elements which go to make up the philosophy of Spencer and bring out their incompatibility.

वार्कर का कथन है कि "हर्बर्ट स्पेन्सर का दर्शन प्राकृतिक अधिकारों और मनोवैज्ञानिक रूपक का मिश्रण है।"

स्पेन्सर के दर्शन के निर्माण करनेवाले विभिन्न तत्वों का वर्णन कीजिए और उनकी असंगति बताइए।

Q. 10. Inspite of a hundred pages of analogy, Spencer intimately bows the social organism out of doors. He is not content with cutting it in pieces, he sent it into exile (Barker).

सौ पेजों की समानता बताने के बाद भी स्पेन्सर ने अपने सामाजिक प्राणी की हत्या करके उसे अनेक टुकड़ों में बांट दिया और दरवाजे के बाहर फैंक दिया है (वार्कर)।

Q. 11. Give a critical analysis of the psychological ideas of Walter Bagehot. How does he connect psychology and physics with politics ?

वाल्टर वेजहॉट के मनोवैज्ञानिक विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। यह मनोविज्ञान तथा भौतिकशास्त्र को राजनीतिशास्त्र से कैसे जोड़ता है।

Q. 12. "Whatever may be said against the principle of natural selection in other departments, there is no doubt of its predominance in the early human history. The strongest killed the weakest as they could." Comment and discuss *Bagehot's views on political evolution.*

"दूसरे विभागों में प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के विरुद्ध चाहे कुछ भी कहा जाय, किन्तु प्रारम्भिक मानव-इतिहास में इसकी प्रधानता के बारे में कोई संशय नहीं है। उस समय शक्ति-संपन्न, कमजोरों को मारते थे।" विवेचना कीजिये और राजनीतिक विकास के बारे में वेजहॉट के विचार बताइये।

Q. 13. What do you know about the political ideas of Graham Wallas ?

ग्राहम वैलास के राजनीतिक विचारों के विषय में आप क्या जानते हैं ?
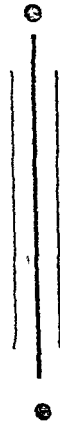
PART – FOURTH

सर्वहारावाद--मार्क्स से वर्तमान काल तक

(Proletarian Theory--From Marx to the Present Day)

Q 14 Politics is largely "a matter of subconscious processes of habit and instinct, suggestions and imitation" (Wallas) Discuss

"भावना, आदत, संकेत एव अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाएं ही राजनीति को निर्धारित करती हैं।" (वैलास) विवेचना कीजिये।

Q 15 "Natural rights, then, are a product of social ... ney in their character (Wallas) Explain

"प्राकृतिक अधिकार सामाजिक आवश्यकताओं और हितों की उपज हैं और सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ-साथ उनमें अनिवार्यत विभिन्नता आनी चाहिये।" व्याख्या और विवेचना कीजिए।

Q 16 Give a critical estimate of the political ideas of William Mc Dougal

विलियम मैक्डूगल के राजनैतिक विचारों का मूल्यांकन कीजिये।

Q 17 Critically examine Mc Dougall's theory of the Group mind and his conception of the State

मैक्डूगल की सामूहिक विचारधारा के सिद्धान्त और राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

Q. 18 "Take away these instinctive dispositions with their powerful impulses and the organism would become incapable of activity of any kind, would be inert and motionless like a wonderful clock work whose main springs have been ... or a steam engine, whose fire has been drawn These ... and shape all the ... confronted ... Discuss Mc Dougall's psychological ...

"यदि मनुष्य मे से इन शक्तिशाली वृत्तियोवाली भावनाओं को निकाल दिया जाय, तो वह किसी प्रकार की क्रिया के लिये समर्थ न हो सकेगा, वह उस घडी के समान निश्चिन्त तथा गति रहित हो जायेगा, जिसकी कमानियाँ निकाल दी गई हो अथवा उस भाप के इंजन के समान होगा, जिसकी आग बुझा दी गई हो। ये भावनाय वे मानसिक शक्तियाँ हैं, जो व्यक्तियो एव मनुष्यो के जीवन को स्थित रखते हैं और उसके रूप का निर्माण करती है तथा उनमे हम जीवन, मृत्यु एव इच्छा का प्रमुख रहस्य पाते हैं।" मैक्डूगल के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।

Q 19 Discuss the chief characteristics of the psychological school Find out the influence of the psychological thinkers on the various aspects of political thinking

मनोवैज्ञानिक स्कूल की मुख्य विशेषताओं को बताईये और यह भी बताईये कि राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न पहलुओ पर मनोवैज्ञानिक विचारकों का क्या प्रभाव पडा ?

SUGGESTED READINGS

1. *Barker* : Political Thought in England.
2. *Brinton* : English Political Thought in the Nineteenth Century.
3. *Hearnshaw* : Social and Political Ideas of the Thinkers of the Victorian Age.
4. *Maxey* : Political Philosophies.
5. *Murray* : Social and Political Ideas of the Nineteenth Century.
6. *Metz* : Hundred Years of British Philosophy.
7. *Getttell, R. G.* : History of Political Thought.
8. *Spencer, H.* : The Man Versus the State.
9. *Dunning* : A History of Political Theories From Rousseau to Spencer.
10. *Spencer, H.* : The Data of Ethics.
11. *Owen, W. C.* : The Economics of Herbert Spencer.
12. *Doyle, P.* : A History of Political Thought.
13. *Sabine* : A History of Political Theory.
14. *Marriam & Barnes* : History of Political Theories, Recent Times.
15. *Bagehot, W.* : Physics and Politics.
16. *Mc Govern* : From Luther to Hitler.
17. *Rockow* : Contemporary Political Thought in England
18. *Mc Dougall, W.* : Introduction to Social Psychology.
19. *Mc Dougall, W.* : The Group Mind.

कार्ल मार्क्स और उसके पूर्ववर्ती विचारक

(KARL MARX & HIS PREDECESSORS)

परिचयात्मक—राजदर्शन के क्षेत्र में उपयोगितावादी, आदर्शवादी, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं पर चिन्तन करने के उपरान्त अब हम उस विचारधारा पर आते हैं जिसने कि न केवल १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अब तक चर्चित की जा चुकी किसी भी विचारधारा की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न की, वल्कि जो २०वीं शताब्दी के चिंतन में भी अपना प्रधान स्थान रखती है। यह विचारधारा है समाजवाद। आज का युग ही समाजवाद का युग कहा जाता है। किसी न किसी रूप में यह संसार के करोड़ों व्यक्तियों का एक धर्म सा वन गया है, और उनके विचारों एव कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। दुनियां के सभी देशों में समाजवादी सिद्धान्तों की धुन है और लगभग सभी लोग इस वात में विश्वास करने लगे हैं कि आज के युग के प्रत्येक राज्य को कल्याण राज्य (*Welfare State*) वनने के लिए समाजवाद के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। समाजवाद आज के समाज की पुकार है, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था में आज के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति ने एक काया पलट उपस्थित कर दी है।

यदि समाजवाद का व्यापक अर्थ 'मनुष्य की समानता' से लिया जाय, तो यह विचार इतना ही पुराना है, जितनी कि मानव सभ्यता। विचारक आदिकाल से ही यह स्वप्न देखते आये हैं कि मानव-समाज की योजना इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य और महत्व समान हो और वे प्रेम, सहानुभूति तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर चलते हुए एक सुखी और समृद्ध जीवन विता सके। लेकिन यदि समाजवाद को केवल एक राजनैतिक विचारधारा के रूप में देखा जाय तो वास्तव मे यह आधुनिक युग की उपज है और इसके आदर्शवादी तथा क्रान्तिकारी जो दो प्रकार के रूप दिखाई देते हैं वे आधुनिक वर्ग-भेद तथा आर्थिक असमानताओं से ही प्रभावित होकर उत्पन्न हुए है। राजनीतिक दृष्टि से यूनानी लोग राज्य को सब कुछ करने का अधिकार देते हुए भी सुकरात तथा एक दास के वैयक्तिक मूल्य मे वहुत अन्तर मानते थे। वे समानता के अधिक प्रेमी न होकर स्वाधीनता के पुजारी

"It is hard to deal temperately with a man whom millions revere as a good and other millions despise as a devil. To speak dispassionately of Karl Marx is to invite denunciation as a black reactionary by all who worship at the Marxian shrine and denunciation as a Red or Red-Sympathiser by all who fear and hate the Marxian cult If Marx could be ignored, there would be no need to run his gauntlet of violent antipathies; but there is no ignoring a man whose thought has divided the world into two hostile camps The only honest way to deal with such a thinker is to throw emotion out of the window and try to understand him."

—*Maxey*

"We do not at all disagree with the anarchists on the question of abolition of the state as a final aim, but Marxism differs from Anarchism in that it attempts the necessity of the state and state power in a revolutionary period in general and in the epoch of transition from capitalism to socialism imparticular."

—*Lenin*

"I strongly believe in the socialist movement, in the march-forward of working classes, who step by step must work out their emanicipation by changing society from the domain of commercial land holding oligarchy to a real democracy which in all its departments is guided by the interests of those who work and create".

—*Bernstein*

परिचयात्मक—राजदर्शन के क्षेत्र में उपयोगितावादी, आदर्शवादी, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं पर चिन्तन करने के उपरान्त अब हम उस विचारधारा पर आते हैं जिसने कि न केवल १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अब तक चर्चित की जा चुकी किसी भी विचारधारा की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न की, वल्कि जो २०वीं शताब्दी के चिंतन में भी अपना प्रधान स्थान रखती है। यह विचारधारा है समाजवाद। आज का युग ही समाजवाद का युग कहा जाता है। किसी न किसी रूप में यह संसार के करोड़ों व्यक्तियों का एक धर्म सा वन गया है, और उनके विचारों एवं कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। दुनियां के सभी देशों में समाजवादी सिद्धान्तों की धुन है और लगभग सभी लोग इस वात में विश्वास करने लगे हैं कि आज के युग के प्रत्येक राज्य को कल्याण राज्य (*Welfare State*) बनने के लिए समाजवाद के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। समाजवाद आज के समाज की पुकार है, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था में आज के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति ने एक काया पलट उपस्थित कर दी है।

यदि समाजवाद का व्यापक अर्थ 'मनुष्य की समानता' से लिया जाय, तो यह विचार इतना ही पुराना है, जितनी कि मानव सभ्यता। विचारक आदिकाल से ही यह स्वप्न देखते आये हैं कि मानव-समाज की योजना इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य और महत्व समान हो और वे प्रेम, सहानुभूति तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर चलते हुए एक सुखी और समृद्ध जीवन विता सकें। लेकिन यदि समाजवाद को केवल एक राजनैतिक विचारधारा के रूप में देखा जाय तो वास्तव में यह आधुनिक युग की उपज है और इसके आदर्शवादी तथा क्रान्तिकारी जो दो प्रकार के रूप दिखाई देते हैं वे आधुनिक वर्ग-भेद तथा आर्थिक असमानताओं से ही प्रभावित होकर उत्पन्न हुए हैं। राजनीतिक दृष्टि से यूनानी लोग राज्य को सब कुछ करने का अधिकार देते हुए भी सुकरात तथा एक दास के वैयक्तिक मूल्य में बहुत अन्तर मानते थे। वे समानता के अधिक प्रेमी न होकर स्वाधीनता के पुजारी

थे। मध्य युग मे राज्य का अस्तित्व नही के बराबर था। आगे आनेवाले निरकुश राजतन्त्र (*Absolute Monarchy*) के युग में भी मनुष्य मनुष्य की समानता का सिद्धान्त कभी स्वीकार नहीं किया गया। तत्पश्चात् राज्य के हस्तक्षेप चरम सीमा को छूने लगे और व्यक्ति का कल्याण इसी में सम्भव माना जाने लगा कि वह राज्य को एक आवश्यक बुराई मानकर उसे कम से कम कार्य सौंपे। फलत व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। व्यक्तिवादी १८वीं शताब्दी मे व्यक्ति की स्वाधीनता की इतने अधिक सम्मान के साथ उपासना की गई कि राज्य का कार्य क्षेत्र केवल एक पुलिस तथा सेना विभाग का रह गया किन्तु १९वीं शताब्दी समाप्त भी नहीं हुई थी कि व्यक्तिवादी व्यवस्था में दरार दिखाई देने लगी। दो विरोधी वर्ग खडे हो गये–एक शोषक और दूसरा शोषित। वैज्ञानिक आविष्कारो से उत्पादन बढा, वितरण के साधनो म भी उन्नति हुई। किन्तु यह उन्नति उन्ही लोगो के लिए लाभदायक सिद्ध हुई जो विशाल मिलो और कारखानो के स्वामी थे। गरीब अपनी दरिद्रता से और भी अधिक निस्सहाय हो गये। फलत समाज एक प्रकार के दो शत्रु वर्गों मे बट गया और यह माग स्वाभाविक रूप से उठ खडी हुई कि इन व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो पर राज्य का अकुश हो और उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाये। जनता की इसी माग की अभिव्यक्ति आधुनिक समाजवाद मे हुई जो व्यक्तिवाद के विरुद्ध राज्य को एक धनात्मक गुण (*Positive goor*) मानता हुआ उसे अधिक से अधिक कार्य सौंपना चाहता है जिससे कि वतमान औद्योगिक युग की समस्याओ का समाधान हो सके।

सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के विरुद्ध लोहा लेनेवाला टामस मूर (*Thomas Mooo*) हुआ जिसने अपनी विश्व-विख्यात रचना *'Utopia'* मे एक-आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र खींचा। तत्पश्चात् इसके सूत्र-धारो मे महान् फ्रेन्च कल्पनावादी विचारक–सेन्ट साइमन तथा फारियर और उनके अग्रेज समकालीन रोबर्ट ओवन एव कुछ अन्य विचारको की गणना होती है। इन सब ने १९वीं शताब्दी मे ससार के समक्ष समाजवाद के विकास वादी (*Evolutionary*), अहिंसात्मक या शान्तिवादी (*Pacific*) तथा आदर्शवादी (*Utopian*) पक्ष पर बल दिया। किन्तु राजनीति मे कार्ल मार्क्स का पदार्पण ने इस समाजवादी शान्तिपूर्ण धारा को एकदम भयकर, वेगवती तथा क्रान्तिकारी नदी मे परिवर्तित कर दिया। साइमन, फोरियर तथा ओवन के समाजवाद को घृणात्मक स्वर मे कल्पनावादी अथवा स्वप्नलोकीय (*Utopian*) बतला कर मार्क्स ने उसके स्थान पर एक क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक प्रणाली का निर्देश किया। मार्क्स तथा उसके कट्टर शिष्यों ने इति-हास तथा समाज का अध्ययन एक नवीन दृष्टिकोण से किया और विकासवादी समाजवाद उस सिद्धान्त रूप मे अपना आदर्श मानकर, उसकी प्रणाली म आमूल परिवर्तन किया। उन्होने समाजवाद को स्वप्नलोक में से निकालकर एक वैज्ञानिक आश्रय प्रदान किया और उसे केवल एक क्राति ही न मानकर जनक्रान्ति के रूप मे बदल दिया। आज के युग मे समाजवाद के विकासवादी और क्रान्तिकारी ये दोनो ही रूप स्पष्ट रूप से वर्तमान राजनीति मे ढूंढे जा सकते हैं।

मार्क्स के द्वारा समाजवाद के वैज्ञानिक प्रतिपादन के प्रभाव मे यद्यपि

कल्पनावादी समाजवाद का अब कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है और न ही सेंट साइमन, चार्ल्स फोरियर और राबर्ट ओवन जैसे स्वप्नलोकीय अथवा कल्पनावादी समाजवादियों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक पुनर्रचनाओं की योजनाओं में किसी की दिलचस्पी ही शेष है तथापि आधुनिक राजनैतिक चिन्तन के इतिहास में समाजवाद के इन संदेशवाहकों की पूर्णत: अवहेलना नहीं की जा सकती। १८वी तथा १९वीं शताब्दी के बीच की वे कड़ी हैं। अत: कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद और उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं पर विचार करने से पूर्व संक्षेप में इन स्वप्नलोकीय विचारकों की समाजवादी कल्पनाओं का विहंगावलोकन किया जायगा।

कल्पनावादी विचारक
(Utopian Thinkers)

प्रमुख कल्पनावादी विचारकों—सेंट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा राबर्ट ओवन पर कुछ कहने से पहले यह जान लेना उपयुक्त है कि कल्पनावादी शब्द का अभिप्राय क्या है। सामान्यत: "कल्पनावादी सिद्धान्त वह है जो एक ऐसे आदर्श लोक की कल्पना करके, जिसमें कि उसके अभीष्ट मूल्यों का साम्राज्य रहता है, प्रस्तुत समाज के दोषों से बच निकलने का प्रयास करता है। ऐसे आदर्श और पूर्ण समाज कल्पना द्वारा ही बनाये जाते हैं, उनका इतिहास में कोई ठोस आधार नहीं होता। कल्पनावादियों का विषय सदैव प्रस्तुत समाज के दोष होते हैं जिन्हें वे मनुष्य की न्याय एवं नैतिक भावना को अपील करके दूर करना चाहते है।" प्लेटो ने एथेन्स में पाये जानेवाले भयंकर वर्ग सघर्ष एवं राजनैतिक स्वार्थ आचरण से बचने के प्रयास में दार्शनिक राजाओं द्वारा शासित आदर्श राज्य की कल्पना की थी और उसके बहुत काल बाद १६वी शताब्दी मे इंगलैण्ड की दरिद्रता और जनसंकट के विरुद्ध विद्रोह के परिणामस्वरूप सर टामस मूर ने अपने 'कल्पना लोक' (*Utopian*) की रचना की थी और उसमें एक ऐसे आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र खींचा था जिसमें सभी वस्तुओं पर सभी का स्वत्व था और प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। यद्यपि इस प्रकार की आदर्श कल्पनायें कभी साकार नहीं होतीं, किन्तु इससे इनका महत्व विलुप्त नहीं होता। ये कल्पनायें ससार के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करती हैं, एक उपयोगी उद्देश्य रखती हैं जिसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होकर मानव जाति अपने को अधिक ऊंचा उठा सकती है। ये कल्पनायें मानव जाति के सामने न्याय के ऐसे आदर्श प्रस्तावित करती हैं जिन पर चलने का उसे सतत् प्रयास करना चाहिये।

सेंट-साइमन (St. Simon, 1760-1825)—सेंट साइमन, जिसने समाजवाद, विधेयात्मकवाद (*Positivism*), अन्तर्राष्ट्रीयवाद आदि के अनेक उल्लेखनीय विचारों का पूर्वाभास दिया, का जन्म फ्रांस के प्राचीनतम सामन्तवादी घरानों में से एक में सन् १७६० में हुआ था। वह ६५ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के बाद सन् १८२५ में मरा। साइमन का जीवन बड़ा रोमांचकारी था। उसमें यह चेतना विद्यमान थी कि वह एक महान् उद्देश्य के लिये जन्मा है, उसे ससार का एक महान्तम व्यक्ति बनना है और सुकरात की भांति ही मानव-व्यापार को एक नवीन दिशा देनी है। साइमन इस बात से

परिचित था कि लोगो पर से क्रमश धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है और यह स्वाभाविक है कि वे नैतिक सिद्धान्तों से भी विमुख हो जायेंगे। अत उसकी इच्छा थी कि नैतिक सिद्धान्तो का ईसा की धार्मिक शिक्षाओ के प्रकाश में, मानवीकरण किया जाये। इस नई नैतिकता को उसने सकारात्मक अथवा रचनात्मक नैतिकता (*Positive Morality*) की संज्ञा दी। साइमन का विश्वास था कि एक नवीन युग का प्राविर्भाव होनेवाला है और मानो घना तथा विनाश से भरी १८वीं शताब्दी के बाद निश्चित रूप से समाज पुर्नरचना के पथ पर अग्रसर होगा।" वह एक ऐसी नवीन लौकिक एव आध्यात्मिक शक्ति को खोजने के लिए उत्सुक था जो विकास की एक उच्च स्तर अवस्था के लिए मानव जाति का पथ प्रदर्शन कर सके और एक नवीन तथा अधिक अच्छे समाज के निर्माण करने में उसकी सहायता कर सके।" साइमन के विचार हमे उसकी निम्नलिखित पुस्तकों मे मिलते हैं—

सेंट साइमन राजनीति को मुख्यत 'उत्पत्ति का विज्ञान (*Science of Production*) मानता था। उसका कहना था कि यदि हम किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना या विश्लेषण करना चाहते हैं तो हम उस समय के उत्पत्ति के साधनों की खोज करनी होगी, उनकी प्रकृति का समझना होगा। उसने यह भी बतलाया कि समस्त राजनीतिक उथल पुथल की पृष्ठ भूमि आर्थिक या उत्पत्ति के साधनों मे होनेवाले परिवर्तन ही कार्य करते हैं। साइमन के इस विचार म कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पूर्वध्वनि सुनाई पड़ती है।

साइमन एक ओर तो उत्पादक उद्योगो व वर्गों मे तथा दूसरी ओर अनुत्पादक उद्योगों या विनाशकारी कार्यों व वर्गों के अन्तर को स्पष्ट करता है। उसकी दृष्टि मे समाज मे केवल उत्पादक वर्ग ही महत्वपूर्ण वर्ग है और उन्ह ही अन्तमे वर्ग के रूप मे रहना चाहिये। इस तरह साइमन वर्गहीन समाज की कल्पना करता था जिसमे केवल उत्पादक अर्थात् श्रमजीवीवर्ग ही रहेगा पर श्रमजीवी अर्थात् अनुत्पादक वर्ग के लोगो का—चाहे वे आभिजात्य वर्ग के हो और चाहे पूजीवादी वर्ग के—बिल्कुल सफाया हो जायेगा। जो परिश्रम करेगा, वही जिन्दा रहेगा। साइमन का कहना था कि यदि वर्तमान समाज से पूजीवादी, सामन्तवादी और आभिजात्य वर्ग के लोगों को निकाल दिया जाय तो कोई हर्ज नही है, लेकिन यदि किसी तरह श्रमजीवी अर्थात् उत्पादक वर्ग नष्ट हो जाता है तो सम्पूर्ण समाज ही नष्ट हो जायेगा।

अपने वर्गहीन समाज की शासन-व्यवस्था की रूपरेखा भी साइमन ने दी है। वह अपने आदर्श शासन के क्षेत्र में शीर्षतम स्थान तो एक राजा को देना चाहता था, परन्तु विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों को वह तीन सदनो के बीच विभक्त कर देना चाहता था। उसका कहना था कि पहले सदन (*First House*) का कार्य यह होना चाहिये कि वह विधेयक बनाये जाने के सबध मे दूसरे सदन के सामने अपनी सिफारिशें रखे, दूसरे सदन

(*Second House*) का कार्य उस विधेयक (*Bill*) को विधि (*Law*) का रूप देना होना चाहिये, तीसरे सदन (*Third House*) का कार्य विधियों को कार्यान्वित करना होना चाहिये। साइमन ने यह भी बताया कि इन सदनों का, जो संयुक्त रूप से संसद (*Parliament*) कहलायेंगे, संगठन किस प्रकार किया जाये। उसका कहना था कि पहले सदन में कवि, चित्रकार, शिल्पी, इंजीनियर आदि रहें, दूसरे सदन में मनोवैज्ञानिक, गणितज्ञ दार्शनिक आदि रहें, तीसरे सदन में बड़े-बड़े उद्योगों आदि के कर्णधार रहें। साइमन का कहना था कि राज्य का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य प्रजा अथवा नागरिकों की आर्थिक उन्नति करना है। वह राजनीतिज्ञों को अर्थ के अधीन करने के पक्ष में था और सरकार के कार्यों को केवल पुलिस-कार्य बनाना चाहता था। उसकी कल्पना पर आश्रित सामाजिक व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा गया था कि राज्य का नेतृत्व श्रमजीवियों के ही हाथ में रहे और सत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाये कि उद्योगों की भलीभांति प्रगति हो सके।

सम्पत्ति के विषय में साइमन की धारणा थी कि समाज की सारी रूप-रेखा का निर्धारण सम्पत्ति के द्वारा ही होता है। उसके स्वयं के शब्दों में "सामाजिक व्यवस्था में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जो सम्पत्ति के परिवर्तन के बिना पैदा हो।" वह कार्यहीन सम्पत्ति का विरोधी था। उसका यह दृढ़ मत था कि वह सम्पत्ति, जो अनुपार्जित है या अपने श्रम से उत्पादित नहीं है, शोषण मात्र है। उसने सपत्ति में ही वर्ग-संघर्ष की धारणा खोजी थी। उसका कहना था कि जो वर्ग चोरी के श्रम पर जीवित रहेगा उसका एक न एक दिन श्रमजीवी वर्ग के साथ अवश्य संघर्ष होगा। फ्रांस की राज्य क्रांति को भी उसने एक ऐसा ही वर्ग संघर्ष माना था। साइमन ने समाज-कल्याण की दृष्टि से उपभोक्ताओं की अपेक्षा अधिक महत्व उत्पादकों को दिया। वह वस्तुओं के समान उपभोग के पक्ष में न था और न ही वह यह चाहता था कि बगैर श्रम-मूल्य को देखे हर व्यक्ति को हर वस्तु में समान हिस्सा मिले। उसने सम्पत्ति को विकास की दृष्टि से देखा और बताया कि सम्पत्ति के रूप ही समय-समय पर बदलते रहे हैं। वह चाहता था कि समाज में श्रम और पूंजी के बीच एक सहयोग हो जिससे समाज का अधिक लाभ हो सके। अपने समय की आरम्भिक पूंजीवादी व्यवस्था का आलोचक होते हुए भी साइमन ने भूतकाल को अधिक अच्छा नहीं बताया और यह मान्यता प्रकट की कि विगत युद्ध स्वर्ण-युग न होकर लोह-युग था। उसका कहना था कि "मनुष्यता का वास्तविक स्वर्ण-युग हमारे पीछे न होकर आगे है।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी साइमन ने एक 'विश्व-संसद' (*World Parliament*) की कल्पना की थी। लोकप्रिय राजसत्ता (*Popular Sovereignty*) तथा स्वाधीनता (*Liberty*) में उसका कोई विश्वास नहीं था। इनके स्थान पर वह जनता की तानाशाही (*Dictatorship of the People*) के पक्ष में था। उत्पादन के सारे साधनों पर वह उनके उपयोग करनेवालों का अधिकार चाहता था।

सेन्ट साइमन के दर्शन का एक सार एक वाक्य में उसी के शब्दों में इस प्रकार है—"समाज में एक ऐसी व्यवस्था हो, जिसमें समाज के सभी सदस्यों को अपनी शक्तियों के अधिकतम विकास के लिए पूरा-पूरा अवकाश

परिचित था कि लोगों पर से क्रमशः धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है और यह स्वाभाविक है कि वे नैतिक सिद्धान्तों से भी विमुख हो जायेंगे। अत उसकी इच्छा थी कि नैतिक सिद्धान्तों का ईसा की धार्मिक शिक्षाओं के प्रकाश में, मानवीकरण किया जावे। इस नई नैतिकता को उसने सकारात्मक अथवा रचनात्मक नैतिकता (*Positive Morality*) की संज्ञा दी। साइमन का विश्वास था कि एक नवीन युग का आविर्भाव होनेवाला है और आलोचना तथा विनाश से भरी १८वीं शताब्दी के बाद निश्चित रूप से समाज पुर्नरचना के पथ पर अग्रसर होगा।" वह एक ऐसी नवीन लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को खोजने के लिए उत्सुक था जो विकास की एक उच्चतर अवस्था के लिए मानव जाति का पथ प्रदर्शन कर सके और एक नवीन तथा अधिक अच्छे समाज के निर्माण करने में उसकी सहायता कर सके।" साइमन के विचार हमें उसकी निम्नलिखित पुस्तकों में मिलते हैं—

(1) Letters of a Resident of Geneva (1802)
(2) [illegible]
(3) [illegible]
(4) [illegible]

सेंट साइमन राजनीति को मुख्यतः 'उत्पत्ति का विज्ञान' (*Science of Production*) मानता था। उसका कहना था कि यदि हम किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना या विश्लेषण करना चाहते हैं तो हमें उस समय के उत्पत्ति के साधनों की खोज करनी होगी, उनकी प्रकृति को समझना होगा। उसने यह भी बतलाया कि समस्त राजनीतिक उथल पुथल की पृष्ठभूमि आर्थिक या उत्पत्ति के साधनों में होनेवाले परिवर्तन ही कार्य करते हैं। साइमन के इस विचार में कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पूर्वध्वनि सुनाई पड़ती है।

साइमन एक ओर तो उत्पादक उद्योगों व वर्गों में तथा दूसरी ओर अनुत्पादक उद्योगों या विनाशकारी कार्यों व वर्गों के अन्तर को स्पष्ट करता है। उसकी दृष्टि से समाज में केवल उत्पादक वर्ग ही महत्त्वपूर्ण वर्ग है और उन्हें ही अन्त में वर्ग के रूप में रहना चाहिये। इस तरह साइमन वर्गहीन समाज की कल्पना करता था जिसमें केवल उत्पादक अर्थात् श्रमजीवीवर्ग ही रहेगा पर श्रमजीवी अर्थात् अनुत्पादक वर्ग के लोगों का—चाहे वे आभिजात्य वर्ग के हों और चाहे पूंजीवादी वर्ग के—बिल्कुल सफाया हो जायेगा। जो परिश्रम करेगा, वही जिन्दा रहेगा। साइमन का कहना था कि यदि वर्तमान समाज से पूंजीवादी, सामन्तवादी और आभिजात्य वर्ग के लोगों को निकाल दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं है, लेकिन यदि किसी तरह श्रमजीवी अर्थात् उत्पादक वर्ग नष्ट हो जाता है तो सम्पूर्ण समाज ही नष्ट हो जावेगा।

अपने वर्गहीन समाज की शासन-व्यवस्था की रूपरेखा भी साइमन ने दी है। वह अपने आदर्श शासन के क्षेत्र में सर्वोत्तम स्थान तो एक राजा को देना चाहता था, परन्तु विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों को वह तीन सदनों के बीच विभक्त कर देना चाहता था। उसका कहना था कि पहले सदन (*First House*) का काम यह होना चाहिये कि वह विधेयक बनाये जाने के सम्बन्ध में दूसरे सदन के सामने अपनी सिफारिशें रखे, दूसरे सदन

(*Second House*) का कार्य उस विधेयक (*Bill*) को विधि (*Law*) का रूप देना होना चाहिये, तीसरे सदन (*Third House*) का कार्य विधियों को कार्यान्वित करना होना चाहिये। साइमन ने यह भी बताया कि इन सदनों का, जो संयुक्त रूप से संसद (*Parliament*) कहलायेंगे, संगठन किस प्रकार किया जाये। उसका कहना था कि पहले सदन में कवि, चित्रकार, शिल्पी, इंजीनियर आदि रहें, दूसरे सदन में मनोवैज्ञानिक, गणितज्ञ, दार्शनिक आदि रहें, तीसरे सदन में बड़े-बड़े उद्योगों आदि के कर्णधार रहें। साइमन का कहना था कि राज्य का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य प्रजा अथवा नागरिकों की आर्थिक उन्नति करना है। वह राजनीतिज्ञों को अर्थ के अधीन करने के पक्ष में था और सरकार के कार्यों को केवल पुलिस-कार्य बनाना चाहता था। उसकी कल्पना पर आश्रित सामाजिक व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा गया था कि राज्य का नेतृत्व श्रमजीवियों के ही हाथ में रहे और सत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाये कि उद्योगों की भलीभांति प्रगति हो सके।

सम्पत्ति के विषय में साइमन की धारणा थी कि समाज की सारी रूप-रेखा का निर्धारण सम्पत्ति के द्वारा ही होता है। उसके स्वयं के शब्दों में "सामाजिक व्यवस्था में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जो सम्पत्ति के परिवर्तन के बिना पैदा हो।" वह कार्यहीन सम्पत्ति का विरोधी था। उसका यह दृढ़ मत था कि वह सम्पत्ति, जो अनुपार्जित है या अपने श्रम से उत्पादित नहीं है, शोषण मात्र है। उसने संपत्ति में ही वर्ग-संघर्ष की धारणा खोजी थी। उसका कहना था कि जो वर्ग चोरी के श्रम पर जीवित रहेगा उसका एक न एक दिन श्रमजीवी वर्ग के साथ अवश्य संघर्ष होगा। फ्रांस की राज्य क्रांति को भी उसने एक ऐसा ही वर्ग संघर्ष माना था। साइमन ने समाज-कल्याण की दृष्टि से उपभोक्ताओं की अपेक्षा अधिक महत्व उत्पादकों को दिया। वह वस्तुओं के समान उपभोग के पक्ष में न था और न ही वह यह चाहता था कि बगैर श्रम-मूल्य को देखे हर व्यक्ति को हर वस्तु में समान हिस्सा मिले। उसने सम्पत्ति को विकास की दृष्टि से देखा और बताया कि सम्पत्ति के रूप ही समय–समय पर बदलते रहे हैं। वह चाहता था कि समाज में श्रम और पूंजी के बीच एक सहयोग हो जिससे समाज का अधिक लाभ हो सके। अपने समय की आरम्भिक पूंजीवादी व्यवस्था का आलोचक होते हुए भी साइमन ने भूतकाल को अधिक अच्छा नहीं बताया और यह मान्यता प्रकट की कि विगत युद्ध स्वर्ण–युग न होकर लोह–युग था। उसका कहना था कि "मनुष्यता का वास्तविक स्वर्ण-युग हमारे पीछे न होकर आगे है।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी साइमन ने एक 'विश्व–संसद' (*World Parliament*) की कल्पना की थी। लोकप्रिय राजसत्ता (*Popular Sovereignty*) तथा स्वाधीनता (*Liberty*) में उसका कोई विश्वास नहीं था। इनके स्थान पर वह जनता की तानाशाही (*Dictatorship of the People*) के पक्ष में था। उत्पादन के सारे साधनों पर वह उनके उपयोग करनेवालों का अधिकार चाहता था।

सेन्ट साइमन के दर्शन का एक सार एक वाक्य में उसी के शब्दों में इस प्रकार है—"समाज में एक ऐसी व्यवस्था हो, जिसमें समाज के सभी सदस्यों को अपनी शक्तियों के अधिकतम विकास के लिए पूरा–पूरा अवकाश

मित और प्रत्येक व्यक्ति वही काम करे, जिसकी योग्यता उसे ईश्वर से मिली है और उसका उसे उतना ही पारितोषिक मिले, जितना कि वह मेहनत करता है।'

साइमन के विचारों को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके कई शिष्यों ने विकसित किया जिनमें उल्लेखनीय एनफटीन (*Enfantin*) और बजार्ट (*Bazart*) थे। उन्होंने उसके विचारों को समष्टिवाद (*Collectivism*) की दिशा में मोड़ा। इन लोगों ने साइमन के दर्शन का विकास कर एक क्रांतिकारी संस्था का निर्माण किया जिसे १८३१ में विघटित कर दिया गया क्योंकि इसकी गतिविधियों को फ्रांस की सरकार सहन न कर सकी।

चार्ल्स फोरियर (**Charles Fourier, 1772–1837**)—चार्ल्स फोरियर एक और ऐसा फ्रांसीसी स्वप्नलोकीय विचारक था जिसकी विचारधारा की प्रवृत्तियां अराजकतावादी दर्शन की पूर्वध्वनियां थीं। वह राज्य की सत्ता के केन्द्रीयकरण के बजाय विघटनीकरण के पक्ष में था। फोरियर का जन्म फ्रांस में सन १७७२ में हुआ था और मृत्यु सन् १८३७ में। सन १८२२ और १८२९ में उसकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तक में उसने कृषि की उपयोगिता पर प्रकाश डाला और दूसरी में एक आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। फोरियर साइमन की भांति अत्यधिक औद्योगीकरण का पक्षपाती नहीं था। वह मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति के लिए छोटे समुदायों को सबसे अधिक उपयुक्त समझता था। उत्पादित वस्तुओं के अपव्यय का वह बड़ा आलोचक था और कहता था कि केवल उतनी ही वस्तुओं की उत्पत्ति की जानी चाहिये जितनी आवश्यक हो।

फोरियर अपने समय के समाज की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक सब प्रकार की अव्यवस्थाओं का कटु आलोचक था। उसके बाल्यकाल में अनुभवों ने भी उसमें अपने समकालीन समाज के प्रति एक विद्रोह की भावना जगा दी थी। जब वह ५ वर्ष का था तो उसे अपने पिता द्वारा इसलिये दण्ड दिया गया था कि उसने एक ग्राहक को सत्य भाषण करते हुए व्यापार का कोई गुप्त भेद बतला दिया था। उसे यह अनुभव कर बड़ी निराशा हुई कि चर्च में तो उससे सत्य बोलने के लिए कहा जाता है जबकि दुकान पर उसे असत्य भाषण करना पड़ता है। इसी तरह मार्सेलीज के बन्दरगाह पर उसने देखा कि मालिक लोग चावल को समुद्र में इसीलिए फिकवा रहे थे कि वे मूल्य में वृद्धि की आशा को नष्ट करने की बजाय चावल को नष्ट कर देना अधिक अच्छा समझते थे। इन और ऐसे ही अन्य अनुभवों ने फोरियर को यह सोचने को विवश कर दिया कि अवश्य ही इस सभ्यता में कुछ आधारभूत दोष निहित है।

सम्पत्ति, दरिद्रता, सामाजिक असमानता, युद्ध, पारिवारिक जीवन की असफलता आदि इन सब समाजगत दुर्गुणों की उसने बड़े सम्पूर्ण शब्दों में भर्त्सना की। धन के असमान वितरण में निहित अन्याय और गरीबों के संकट ने उसे बड़ी पीड़ा पहुँचाई। किन्तु सबसे अधिक कष्ट उसे समाज में विद्यमान स्पर्धापूर्ण प्रणाली की व्यवस्था और अपव्यय को देखकर हुआ। अलेकजेन्डर ग्रे के सुन्दर शब्दों में, "३०० छोटे छोटे घरों में, तीन सौ छोटी-

छोटी अग्नियां जलाकर, तीन सौ छोटे-छोटे वर्तनों में अपने काम से लौटकर आनेवाले ३०० छोटे-छोटे पुरुषों के लिये तीन सौ स्त्रियों के थोड़ा-थोड़ा भाजन बनाने के दुःखद दृश्य ने जबकि तीन या चार स्त्रियां एक बड़े वर्तन की सहायता से और एक बड़ी अग्नि पर अधिक अच्छा काम कर सकती थी, उसे पागल बना दिया।"[1] फोरियर ने यह देखा कि, "प्रतिस्पर्धा के दबाव में अधिकतर मनुष्यों को अपनी शक्ति का अधिकांश ऐसे कार्यों को करने और ऐसी वस्तुओं को बनाने मे व्यय करना पड़ता है जिनसे उनके सुख में कोई वृद्धि नही होती, प्रत्युत् उनका जीवन नीरस और बनता है।" फोरियर चाहता था कि क्रय-विक्रय की जटिल प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर उत्पादन के उपभोग की ऐसी सरलतम पद्धति प्रस्थापित की जाये जिसमे लोग वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकें।

फोरियर ने अपने जिस नवीन सामाजिक संगठन की रूप-रेखा प्रस्तुत की उसके मूल में उसकी यह मान्यता निहित थी कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है। वह कुमार्ग पर स्वेच्छा से नहीं जाता बल्कि तब जाता है जबकि समाज उसकी स्वाभाविक कामनाओं और भावनाओं का शोषण करता है। सामाजिक बन्धन मानव जाति के सब रोगों का मूल है। फोरियर चाहता था कि मानवी भावनाओं को उन्मुक्त विचरण की छूट दी जानी चाहिये, मानवीय सम्बन्धों पर छल-कपट, धोखा-धड़ी और असत्य का आवरण डालना अनुपयुक्त है। यही कारण था कि उसने एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतंत्र हो और इस सम्बन्ध मे उस पर कोई विवशता न लादी जा सके। उसकी इस योजना का एक आवश्यक तत्व यह था कि कोई भी श्रमिक किसी एक ही उद्यम तक सीमित न रह कर अनेक कार्यों का सम्पादन करेगा, लेकिन किसी भी कार्य को अधिक समय तक नहीं करेगा, क्योंकि अधिक समय तक एक ही कार्य करना नीरसता पैदा करता है। फोरियर नीरसता को दूर करने और कार्य को रोचक बनाने के लिये कार्य-परिवर्तन को आवश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि जब प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से व्यावसायिक समूहों से अपने को सयुक्त करेगा तो समाज में प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति विनष्ट होगी और शान्तिपूर्ण सामजस्य देखने को मिलेगा।

फोरियर ने जिस नवीन सामाजिक व्यवस्था का चित्र खींचा उसमें समाज की सर्वाधिक छोटी इकाई एक व्यावसायिक समूह है जिसमें समान रुचि और हितवाले लगभग ७ व्यक्ति होंगे। ५ अथवा अधिक समूह मिलकर एक अधिक बड़े सगठन अथवा समूह का निर्माण करेंगे जो 'सीरीज़' (*Series*) कहलायेगा और ऐसे २५ से २८ तक सीरीज मिलकर 'फैलेंक्स'

1. "But he is maddened by the sight of three hundred women, in 300 little houses, lighting 300 little fires, and cooking 300 little dinners in 300 little pots for 300 little men returning from their work, when 3 or 4 women, with the help of one large pot and one large fire, could produce better results".

—*Alexander Gray* : The Socialist Tradition, p. 178

(*Phalanx*) बनायेंगे। फोरियर के समाज में फैलेंक्स सबसे बड़ी इकाई होगी। पर्याप्त सख्या में फैलेंक्सो के निर्माण के पश्चात् उन्हें एक सयोजक शासक के अधीन कर दिया जायेगा और उनका संगठन एक लचीला अथवा ढीला-ढाला सघात्मक सगठन बन जायेगा।

फोरियर ने जिस नवीन समाज की कल्पना की उसका आधार बिन्दु 'फैलेंक्स' ही है। फैलेंक्स की रचना की मूलभूत बात इसके लघु आकार का होना है। फैलेंक्स में पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को मिलाकर लगभग १६२० से १८०० व्यक्ति होंगे। प्लेटो ने जिस तरह अपने आदर्श नगर राज्य के वयस्क नागरिकों की आदर्श सख्या ५०४० मानी थी, इसी तरह फोरियर ने भी फैलेंक्स की आदर्श सख्या १६२० माना। यह सख्या कोई मनमानी सख्या न थी बल्कि इसका गणितशास्त्रीय आधार था। इस सख्या का निर्धारण उन समस्त रीतियों को ध्यान में रखते हुए किया था जिनमें विभिन्न वैयक्तिक इच्छाओं को मिश्रित किया जा सकता है। इस सख्या के मूल में फोरियर का यह विचार निहित था कि इकाई का आकार इतना हो जो अपने सदस्यों को व्यवसाय की व्यापक काट छाट प्रदान करने की दृष्टि से पर्याप्त हो, लेकिन साथ ही वह उपरोक्त आकार से बड़ी न हो।

फोरियर ने जिस फैलेंक्स की कल्पना की, वह एक विकेन्द्रित समाज था जिसमें ४–४ व्यक्तियों की पारिवारिक इकाई के रूप में ४०० से ५०० परिवारों को रहना था। समुदायों में श्रमजीवी, उद्योगपति, डाक्टर, इ जीनियर आदि विभिन्न पेशों के सभी लोग सम्मिलित होंगे। फोरियर की योजना यह थी कि फैलेंक्स के सदस्य आन्तरिक सहकारिता व सहयोग द्वारा एक आत्मनिर्भर इकाई का निर्माण करेंगे। फैलेंक्स में कृषि, पशुपालन, भोजन बनाना और सामान बनाना सदस्यों के मुख्य धधे होंगे। सदस्य जिस सामान्य भवन अथवा भवनों के समूह में रहेंगे वे "सामान्य सेवाओं से पूर्ण रूप से सुसज्जित होंगे और उनमें शिशुगृह भी होंगे जिनमें बच्चों की सामूहिक रूप से देख-रेख की जायेगी।" फोरियर ने श्रम के प्रति लोगों में आकर्षण बनाये रखने की दृष्टि से कार्य के घंटे तो अपेक्षाकृत सीमित किये ही, किन्तु यह विचार भी प्रस्तुत किया कि निम्नकोटि के तुच्छ एव अप्रिय कार्यों के लिये अधिक पैसा दिया जाना चाहिये। प्रत्येक परिवार की न्यूनतम आय इतनी होनी चाहिये कि वह आराम से जीवन बिता सके। समुदाय को जो भी लाभ हो वह एक निश्चित अनुपात के अनुसार समस्त परिवारों के बीच बाँट दिया जाना चाहिये। इन समुदायों की विशेषता यही है कि वे आत्म निर्भर रहें और पारस्परिक सहयोग पर आधारित रहें। इन समुदायों में सबसे महत्वपूर्ण वर्ग फोरियर ने श्रमिक को ही माना है। इसके बाद पूँजी-पति को स्थान दिया है और सबसे अन्त में व्यापारिक वर्ग को स्थान मिला है। यह बात लाभांश वितरण के अनुपात से सिद्ध हो जाती है। फोरियर का कहना था कि समुदाय के समस्त परिवारों के निश्चित वेतन को दे देने के बाद सम्पूर्ण लाभ को १२ हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिये और इसके ३ हिस्से व्यापारी वर्ग को, ४ हिस्से पूँजीवाले वर्ग को, और ५ हिस्से श्रमिक वर्ग को दिये जाना चाहिये। वेस्ट-मेयर (*Westmeyer*) के शब्दों में—

"फैलेंक्स के प्रत्येक घटक के लिये सामान्य उत्पत्ति में से एक उदारतापूर्ण न्यूनतम भाग अलग रख देने के पश्चात् शेष को श्रम, पूंजी तथा बुद्धि में विभाजित कर दिया जाता है। श्रम को ५/१२, पूंजी को १/३ तथा बुद्धि को १/४ भाग मिलता है। यह विभाजन *Phalange* के अधिकारियों द्वारा किया जाता है। इसमें यह बात रुचिकर है कि अधिकतम वेतन उन लोगों को मिलता है, जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य करते हैं तथा सबसे कम उन लोगों को, जो विशेष रूप से रुचिकर कार्य में निरत हैं।"[1]

फोरियर का विश्वास था कि फैलेंक्स में सम्पत्ति के विभाजन के उपरोक्त अनुपात से और फैलेंक्स के संगठन के फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होगी। अनेक स्त्री-पुरुषों के एक साथ कार्य करने से और योग्यतानुसार व इच्छानुकूल कार्य करने से उच्चतर एव श्रेष्ठतर उत्पादक श्रम विभाजन सम्भव हो जायगा। चूंकि फैलेंक्स के घटक शान्तिपूर्ण अवस्थाओं में काम करेंगे और उनमें पूर्ण सामन्जस्य होगा अत: उसमें पुलिस, सेना, वकीलों आदि की कोई आवश्यकता न रहेगी और न ही विज्ञापन एवं प्रतिस्पर्धा में व्यर्थ समय तथा धन का दुरुपयोग होगा।

फोरियर ने अपने जीवन काल मे पूंजीपतियों से अपील की थी कि वे उसकी योजना को कार्यान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें, क्योंकि फोरियर के फैलेक्स स्वेच्छापूर्वक स्थापित किए जाने थे, राज्य द्वारा नही। फोरियर के जीवन काल मे उसकी कल्पना के समाज की स्थापना नहीं हुई, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद फ्रांस एव अमेरिका में कुछ फैलेंक्स स्थापित किये गये जिनका जीवन काल कुछ वर्षो से अधिक न चल सका। अमेरिका में फोरियरवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रचारक अल्बर्ट ब्रिस्बेन था। उसने डैना, फुलर, हाथोर्न तथा इमर्सन को काफी प्रभावित किया।

फोरियर का दृढ़ विश्वास था कि समाज की समस्त बुराईयों की मुख्य जड़ सम्पत्ति है। समाज में किसी क्रांतिकारी कार्य द्वारा या मात्र राजनैतिक कार्य द्वारा ही सुधार नही हो सकता। इसके लिए लोगों की विवेक व न्याय भावना को जागरूक करना पड़ेगा। किन्तु इसका अर्थ कदापि यह नही है कि फोरियर समानता में विश्वास करता था, हां वह निश्चित रूप से अव्यवस्था व अमर्यादित व्यक्तिवाद से उत्पन्न व्यर्थ बर्बादी के विरुद्ध था। वह सहकारिता आन्दोलन का प्रबल समर्थक होते हुए उत्पादन के कार्यों में स्त्रियों का भी सहयोग चाहता था। क्योंकि उसका विचार था कि

---

1. "After a generous minimum of the common product is set a side for each member of the phalanx, the surplus is divided between labour, capital and talent in the proportion of five twelfths to labour, four-twelfths to capital, and three twelfths to talent, the division being made by the officers of the phalanx. It is interesting to note that the highest pay goes to those performing the most necessary work and the smallest to those engaged in particularly agreeable work."
—*Westmeyer* : Modern Economic and Social System, Page 34

इससे स्त्रियां भी पुरानी व्यवस्था से मुक्त हो सकेंगी और समाज का महत्वपूर्ण भाग बन सकेंगी। वह बच्चों की सार्वजनिक शिक्षा दिए जाने का भी समर्थक था।

आमतौर से यह माना जाता है कि चार्ल्स फोरियर ने जो कुछ लिखा उसका अधिकांश मूर्खता तथा प्रमादपूर्ण है। कोल के अनुसार उसकी सबसे बाद की रचनाओं में कोरा प्रमाद' देखने को मिलता है तो अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार वह 'मूर्खता से अधिक दूर कभी न था।' चाहे फोरियर के विचार कितने ही प्रमादपूर्ण व मूर्खतापूर्ण क्यों न हों, इनसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने समाजवाद को और समाजवाद के सहयोगी विचारों को कुछ स्थायी देन दी है। उसने इस बात पर बल दिया है कि अनियन्त्रित व्यक्तिवाद अवांछित है तथा प्रतियोगिताजन्य कुपरिणामों को सहयोग द्वारा ही दूर किया जा सकता है। उसने यह भी बताया कि यदि उत्पादकता को बढ़ाना है तो कार्य की परिस्थितियों में सुधार करना ही होगा। फोरियर की महत्वपूर्ण बात यह है कि वह सुधार का समर्थक है, क्रांति का नहीं।

रॉबर्ट ओवन (Robert Owen, 1771–1858)—राबर्ट ओवन का जन्म इंगलैण्ड के एक सम्पन्न घराने में सन् १७७१ में हुआ था और मृत्यु सन् १८५८ में। ओवन अंग्रेजी समाजवाद का पिता कहा जाता है। प्रारम्भ में एक साधारण मजदूर होते हुए भी वह अपनी मेहनत से एक बड़ा पूंजीपति बना किन्तु श्रमिक वर्ग के साथ अपनी सहानुभूति होने के कारण, इसने अपनी सम्पत्ति श्रमिकों के कल्याण पर खर्च की। उसका जीवन बड़ा भव्य और सतरंगी रहा। वह "एक दूकान पर नौकर, एक उद्योगपति, कल-कारखानों का सुधारक शिक्षाशास्त्री, समाजवादी, सहयोग आन्दोलन का प्रवर्तक, ट्रेड यूनियन नेता, धर्म निरपेक्षवादी, आदर्श समुदायों का मूल प्रवर्त्तक तथा व्यावहारिक व्यापार का व्यक्ति, सभी कुछ रहा।" कोल के शब्दों में 'कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रेमपात्र और अपने साथ काम करने में इतना असम्भव, इतना उपहास केन्द्र तथापि इतना प्रभावशाली नहीं था जितना कि ओवन।"

ओवन ने दो पुस्तकें लिखीं, जो उसके विचारों की जानकारी की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पहली है '*A New View o*[illegible] *(1812)* और दूसरी है '*The Book of the New M*[illegible] *(1820)*।

ओवन का कहना था कि मानव चरित्र बड़ा महत्वपूर्ण निर्माण में भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक बड़ा हाथ रहता है। किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था के कारण [illegible] धर्म, विवाह आदि ऐसी बाधाएं हैं जिनसे मनुष्य के [illegible] बड़ी अड़चन पड़ती है। धर्म और सम्पत्ति के उसके [illegible] के कारण ही ओवन के [illegible] [illegible] धारी उसके कट्टर और उन्होंने ओवन के प्र[illegible] बनाने के भरसक प्रयत्न

ओवन न केवल यह विश्वास करता था कि बुरी परिस्थितियां बुरे चरित्र का तथा अच्छी परिस्थितियां अच्छे चरित्र का निर्माण करती हैं, बल्कि उसका यह विचार भी था कि दरिद्रता मानव जीवन के लिए अभिशाप है और दरिद्रता से ही कायरता, अज्ञानता एवं बीमारी का जन्म होता है। ओवन का कहना था कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव जाति अपने संकटों से मुक्ति पा जायगी।

ओवन ने अपनी पूंजी के बल से छोटे-छोटे समुदायों की स्थापना की थी। उसने यह विशेष ध्यान रखा था कि ये समाज आत्मावलम्बी बने रहें। उसके ऐसे समुदायों में इण्डियाना का न्यू हारमनी स्थित समुदाय तथा स्काटलैण्ड स्थित लेनार्क का समुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें उसने अपनी कल्पना के अनुकूल शिक्षा और उद्योग सम्बन्धी विभिन्न प्रयोग किये। इन समुदायों की स्थापना में उसका उद्देश्य यह था कि उनमें व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने चरित्र का वांछित विकास कर सकें। इन समुदायों की अपनी आन्तरिक व्यवस्था थी। इसके लिए एक सर्वसाधारण परिषद बनाई गई थी जिसकी सदस्यता का अधिकार ३० से लेकर ४० वर्ष तक की आयु तक के लोगों को था। बाह्य सम्बन्धों की व्यवस्था के लिए एक दूसरी परिषद थी जिसमें ४० से लेकर ६० वर्ष तक की आयु के लोग रहते थे। इन समुदायों में जेल नहीं थी। अपराधियों को नैतिक, मानसिक और शारीरिक अस्पतालों में उनके अपराध के अनुरूप चिकित्सा के लिए भेज दिया जाता था। ओवन के इन समुदायों के पास पर्याप्त भूमि थी। इन समुदायों में ५०० से लेकर ३,००० तक व्यक्ति रहते थे। ये लोग समुदाय की भूमि पर अपने श्रम द्वारा अन्न उत्पन्न करते थे, अथवा उद्योगों की स्थापना करते थे।

ओवन की मृत्यु के बाद उसके ये समुदाय भी छिन्न-भिन्न हो गये, प ओवन के विचारों ने इंगलैण्ड में श्रमिकों के मध्य सहकारिता के आन्दोलन का प्रचार कर दिया। श्रमिकों के भाग्य को ऊंचा उठाने के लिए उसने इंगलैण्ड की व्यापार-संघों की क्रान्ति (*Trade Union Movements*) आदि में भी सक्रिय भाग लिया और इसी कारण आज भी इंगलैण्ड के सारे श्रम-कल्याणकारी कानूनों तथा सामाजिक सुधारों के साथ उसका नाम अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अपनी पुस्तक '*A new view of society*' में ओवन मानता है कि "सरकार का उद्देश्य शासक तथा शासित दोनों को ही प्रसन्न रखना है।" समाज के उत्थान के लिए वह शिक्षा को बहुत उपयोगी तथा महत्वपूर्ण वस्तु बतलाता है। उसका मत है कि परिस्थितियां मनुष्य को बनाती हैं किन्तु मनुष्य चाहे तो उनको बदल भी सकता है। एक स्थान पर वह स्वयं लिखता है, "मनुष्य प्रसन्नता की अभिलाषा लेकर पैदा होता है। झूठे विचार उसके लिए दुनियां में दुःख और दुर्गुण उत्पन्न करते है और उनका प्रधान कारण मनुष्य स्वभाव की अज्ञानता है। जनसंख्या का अधिकतर भाग श्रमिक वर्ग का ही है अथवा उसी में ऊंचा उठा हुआ है और उसी के द्वारा ऊंचे से ऊंचे लोगों की प्रसन्नता तथा आराम प्रभावित होते है।" संक्षेप में ओवन के सारे विचारों का केन्द्रबिन्दु 'सहयोग' है।

इससे स्त्रियां भी पुरानी व्यवस्था से मुक्त हो सकेंगी और समाज का महत्वपूर्ण भाग बन सकेंगी। वह बच्चों की सार्वजनिक शिक्षा दिए जाने का भी समर्थक था।

आमतौर से यह माना जाता है कि चार्ल्स फोरियर ने जो कुछ लिखा उसका अधिकांश मूर्खता तथा प्रमादपूर्ण है। कोल के अनुसार उसकी सबसे बाद की रचनाओं में कोरा प्रमाद देखने को मिलता है तो एलक्जेंडर ग्रे के अनुसार वह 'मूर्खता से अधिक दूर कभी न था।' चाहे फोरियर के विचार कितने ही प्रमादपूर्ण व मूर्खतापूर्ण क्यों न हों, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने समाजवाद को और समाजवाद के सहयोगी विचारों को कुछ स्थायी देन दी है। उसने इस बात पर बल दिया है कि अनियन्त्रित व्यक्तिवाद अवांछित है तथा प्रतियोगिताजन्य कुपरिणामों को सहयोग द्वारा ही दूर किया जा सकता है। उसने यह भी बताया कि यदि उत्पादकता को बढ़ाना है तो कार्य की परिस्थितियों में सुधार करना ही होगा। फोरियर की महत्वपूर्ण बात यह है कि वह सुधार का समर्थक है क्रांति का नहीं।

रॉबर्ट ओवन (*Robert Owen, 1771–1858*)—राबर्ट ओवन का जन्म इंगलैण्ड के एक सम्पन्न घराने में सन् १७७१ में हुआ था और मृत्यु सन् १८५८ में। ओवन अंग्रेजी समाजवाद का पिता कहा जाता है। आरम्भ में एक साधारण मजदूर होते हुए भी वह अपनी मेहनत से एक बड़ा पूंजीपति बना किन्तु श्रमिक वर्ग के साथ अपनी सहानुभूति होने के कारण, इसने अपनी सम्पत्ति श्रमिकों के कल्याण पर खर्च की। उसका जीवन बड़ा भव्य और सतरंगी रहा। वह 'एक दूकान पर नौकर, एक उद्योगपति, कल-कारखानों का सुधारक शिक्षाशास्त्री, समाजवादी, सहयोग आन्दोलन का प्रवर्तक, ट्रेड यूनियन नेता, धर्म निरपेक्षवादी, आदर्श समुदायों का मूल प्रवर्तक तथा व्यावहारिक व्यापार का व्यक्ति, सभी कुछ रहा।" कोल के शब्दों में 'कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रेमपात्र और अपने साथ काम करने में इतना असम्भव, इतना उपहास केन्द्र तथापि इतना प्रभावशाली नहीं था जितना कि ओवन।"

ओवन ने दो पुस्तकें लिखीं, जो उसके विचारों की जानकारी की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पहली है *'A New View of Society'* (*1812*) और दूसरी है *'The Book of the New Moral World'* (*1820*)।

ओवन का कहना था कि मानव चरित्र बड़ा महत्वपूर्ण है और इसके निर्माण में भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है। किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म, विवाह आदि ऐसी बाधाएं हैं जिनसे मनुष्य के समुचित विकास में बड़ी अड़चन पड़ती है। धर्म और सम्पत्ति के उसके विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही ओवन के वर्ग के लोग और पादरी उसके कट्टर शत्रु हो गये ... ओवन के प्रयोगों को असफल बनाने के भरसक प्रयत्न किये।

ओवन न केवल यह विश्वास करता था कि बुरी परिस्थितियां बुरे चरित्र का तथा अच्छी परिस्थितियां अच्छे चरित्र का निर्माण करती हैं, बल्कि उसका यह विचार भी था कि दरिद्रता मानव जीवन के लिए अभिशाप है और दरिद्रता से ही कायरता, अज्ञानता एवं बीमारी का जन्म होता है। ओवन का कहना था कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव जाति अपने संकटों से मुक्ति पा जायगी।

ओवन ने अपनी पूंजी के बल से छोटे-छोटे समुदायों की स्थापना की थी। उसने यह विशेष ध्यान रखा था कि ये समाज आत्मावलम्बी बने रहें। उसके ऐसे समुदायों में इण्डियाना का न्यू हारमनी स्थित समुदाय तथा स्काटलैण्ड स्थित लेनार्क का समुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें उसने अपनी कल्पना के अनुकूल शिक्षा और उद्योग सम्बन्धी विभिन्न प्रयोग किये। इन समुदायों की स्थापना में उसका उद्देश्य यह था कि उनमें व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने चरित्र का वांछित विकास कर सकें। इन समुदायों की अपनी आन्तरिक व्यवस्था थी। इसके लिए एक सर्वसाधारण परिषद बनाई गई थी जिसकी सदस्यता का अधिकार ३० से लेकर ४० वर्ष तक की आयु तक के लोगों को था। बाह्य सम्बन्धों की व्यवस्था के लिए एक दूसरी परिषद थी जिसमें ४० से लेकर ६० वर्ष तक की आयु के लोग रहते थे। इन समुदायों में जेल नहीं थी। अपराधियों को नैतिक, मानसिक और शारीरिक अस्पतालों में उनके अपराध के अनुरूप चिकित्सा के लिए भेज दिया जाता था। ओवन के इन समुदायों के पास पर्याप्त भूमि थी। इन समुदायों में ५०० से लेकर ३,००० तक व्यक्ति रहते थे। ये लोग समुदाय की भूमि पर अपने श्रम द्वारा अन्न उत्पन्न करते थे, अथवा उद्योगों की स्थापना करते थे।

ओवन की मृत्यु के बाद उसके ये समुदाय भी छिन्न-भिन्न हो गये, प ओवन के विचारो ने इंगलैण्ड में श्रमिकों के मध्य सहकारिता के आन्दोलन का प्रचार कर दिया। श्रमिकों के भाग्य को ऊंचा उठाने के लिए उसने इंगलैण्ड की व्यापार-संघों की क्रान्ति (*Trade Union Movements*) आदि में भी सक्रिय भाग लिया और इसी कारण आज भी इंगलैण्ड के सारे श्रम-कल्याणकारी कानूनों तथा सामाजिक सुधारों के साथ उसका नाम अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अपनी पुस्तक '*A new view of society*' में ओवन मानता है कि "सरकार का उद्देश्य शासक तथा शासित दोनों को ही प्रसन्न रखना है।" समाज के उत्थान के लिए वह शिक्षा को बहुत उपयोगी तथा महत्वपूर्ण वस्तु बतलाता है। उसका मत है कि परिस्थितियां मनुष्य को बनाती हैं किन्तु मनुष्य चाहे तो उनको बदल भी सकता है। एक स्थान पर वह स्वयं लिखता है, "मनुष्य प्रसन्नता की अभिलाषा लेकर पैदा होता है। झूठे विचार उसके लिए दुनियां में दुःख और दुर्गुण उत्पन्न करते हैं और उनका प्रधान कारण मनुष्य स्वभाव की अज्ञानता है। जनसख्या का अधिकतर भाग श्रमिक वर्ग का ही है अथवा उसी में ऊंचा उठा हुआ है और उसी के द्वारा ऊंचे से ऊंचे लोगों की प्रसन्नता तथा आराम प्रभावित होते हैं।" संक्षेप मे ओवन के सारे विचारों का केन्द्रबिन्दु 'सहयोग' है।

मार्क्स के अन्य पूर्ववर्ती समाजवादी—मार्क्स के पहले के समाजवादी विचार के इतिहास में कल्पनावादी अथवा स्वप्नलोकीय विचारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति भी हुए जिनमे उल्लेखनीय चार्ल्स हाल, टामस हाग्सकिंग, विलियम थाम्पसन तथा जॉन ग्रे हैं। डा० हाल ग्रोवन का ही समकालीन था जिसने दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी—*'The Effects of Civilization on European States'*, एवं *'An Answer to Malthus'*, । अपनी प्रथम पुस्तक में उसने तत्कालीन यूरोपीयन सभ्यता की आलोचना करते हुए लिखा कि यह सभ्यता एक ऐसे पर श्रमजीवी वर्ग को जन्म दे रहा है जो स्वयं निष्क्रिय जीवन बिताते हुए अपनी चालाकी से उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार कर मजदूरों को उपार्जित धन का उचित हिस्सा नहीं लेने देता। हाल का मत था कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर दिया जाना चाहिये और उत्पत्ति के साधन श्रमजीवियों के हाथ में रहने चाहिये। चार्ल्स हॉल ने यह विचार प्रकट किया कि राज्य एक वर्ग सगठन है और सभ्य राज्यों में न्यायिक, कार्यकारी एवं विधायिका शक्ति मुट्ठी भर धनिक व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। वह लिखता है "हर कहीं धन शक्ति को अपने स्वामियों के हाथों में रख देता है।" हॉल ने एक और बात में भी मार्क्स की पूर्व सूचना दी। उसका विश्वास था कि युद्ध अधिकतर धनिकों की महत्वाकांक्षा के कारण होते हैं।

विलियम थोम्पसन ग्रोवन तथा हॉल आदि का अनुयायी था। इसका जन्म आयरलैण्ड में हुआ था। इसने सन १८२४ में *'Distribution of Wealth'* नामक पुस्तक लिखी जिसमें उसने बतलाया कि श्रम द्वारा उपार्जित धन का किस प्रकार ऐसा वितरण किया जा सकता है जिससे समग्र मानवता का अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो सके। थोम्पसन ने धन के गलत वितरण को मनुष्य के दुःख का सबसे बड़ा कारण समझा और श्रम को ही सारे धन की उत्पत्ति का साधन माना। उसने कहा कि जो श्रम करता है वही धन का उचित अधिकारी है तथा श्रम को कुशलतापूर्वक और मन लगा कर काम करने के लिए केवल तभी प्रेरित किया जा सकता है जबकि जो कुछ वह उत्पन्न करने में सहायता करता है, उसे ही प्राप्त हो। सामाजिक और नैतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में थाम्पसन ने बताया कि वे ग्रोवन द्वारा निर्दिष्ट रेखाओं पर बनाया जाना चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति हटा दी जानी चाहिए और व्यवस्थापकों तथा श्रमजीवियों के मध्य सहयोग होना चाहिए। थोम्पसन के समाजवादी विचारों ने कार्ल मार्क्स को और उसके महिला स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों ने जॉन स्टुअर्ट मिल को बड़ा प्रभावित किया था।

टामस हॉग्सकिन, जॉन ग्रे, फ्रांसिस ग्रे आदि भी लगभग ऐसी ही विचारधाराओं के पोषक थे। हॉग्सकिन का *'Labour Defended Against the Claims of Capital'* नामक छोटा सा पैम्फलेट श्रम तथा समाजवादी आन्दोलन का एक अत्यन्त ही आक्रामक तथा तर्क युक्त प्रतिपादन है जिसका मुख्य विषय यह है कि उत्पादन प्रणाली में श्रम का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है, भूमि और पूंजी को उत्पादन के कारकों के रूप में श्रम के समान नहीं समझा जा सकता, उनकी उत्पादिता श्रम से ही आती है लेकिन श्रमिकों को अपने श्रम से पैदा किया हुआ धन नहीं मिल पाता और वे केवल इतना ही पाते हैं

जितना उनको जीवित रखने मात्र के लिए पर्याप्त होता है। जॉन ग्रे ने भी इसी तरह के विचार रखते हुए कहा कि "वह धनिक, जो कि वास्तव में कुछ नहीं देता, सब कुछ ले लेता है, जबकि गरीबों को, जो कि वास्तव में सब कुछ देता है, कुछ नहीं मिल पाता।" उसने यह विचार प्रकट किया कि विनिमय के सिद्धान्त से ही बुराई पैदा होती है और प्रतिस्पर्धा उसे और भी तीव्र बना देती है। यह उल्लेखनीय है कि ग्रे के अनुसार श्रम के उत्पादक केवल वे ही हैं जो खेतों, कारखानों और खानों में कार्य करते हैं। शेष सबके कार्य उसकी दृष्टि में अनुत्पादक हैं, यद्यपि चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों के कार्य उपयोगी हो सकते हैं। जॉन ग्रे को अलेक्जेन्डर ग्रे ने "कदाचित सबसे अधिक प्रभावक मार्क्स का अंग्रेज पूर्ववर्ती–शायदा कुछ स्थानों में सबसे अधिक मार्क्स-वादी" कहकर पुकारा है।

इस पृष्ठभूमि के साथ अब हम कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की समीक्षा करेंगे जिसने समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर एक जन-क्रांति के रूप में बदल दिया, इतना कि आज का युग ही समाजवाद का युग कहलाने लगा है।

कार्ल मार्क्स
(Karl Marx)
(1818–1893)

जीवन परिचय—आधुनिक समाजवादी विचारधारा के उन्नायक कार्ल मार्क्स का जन्म एक सुखी मध्यवर्गीय यहूदी परिवार में पश्चिमी प्रशिया में ट्रीविज (*Treves*) में ५ मई, १८१८ का हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और देशभक्त प्रशियन था और माता एक यहूदी महिला। मार्क्स जब केवल ६ वर्ष का ही था तभी उसके पिता ने, कुछ तो फ्रांसीसी प्रचेतनावादी दार्शनिकों के प्रभाव में और कुछ तत्कालीन जर्मनी की असहिष्णुता से बचने के लिए यहूदी मत को छोड़कर ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली थी। इस धर्म परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत में एक क्रांति का बीज बो दिया। उसने जो पहले से ही धार्मिक चेतना का विरोधी था, यहूदियों की कटु आलोचना की और अन्ततः धर्म को अफीम और उत्पादन शक्तियों के अनुरूप 'मतवाद' की सज्ञा दे डाली। यह आश्चर्य है कि मूसा आदि यहूदी पैगम्बरों के धार्मिक सम्प्रदाय में उत्पन्न पुरुष ने धर्म की ऐसी भर्त्सना की। किन्तु यह विचारणीय है कि अपने पिता के धर्म परिवर्तन के अनेक निष्कर्षों को कार्ल मार्क्स का मस्तिष्क कभी भुला न सका होगा।

मार्क्स बाल्यावस्था से ही बड़ा प्रतिभाशाली और प्रचण्ड अध्येता था। विद्यालय में शिक्षक ने उसकी प्रतिभा को जानकर ही आशा व्यक्त की थी कि—"यह बालक अपनी योग्यताओं के द्वारा उसके सम्बन्ध में व्यक्त की गई आशाओं के अनुसार ही होनहार निकलेगा।" १८३५ में मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहां एक मेधावी छात्र के रूप में उसने बड़ी ख्याति प्राप्त की। लेकिन होनहार विद्यार्थी होते हुए भी वहां वह किसी विषय में मन लगाकर नहीं जुट पाया। उसने अध्ययन की अपेक्षा एक उच्च घराने की लड़की जेनी वॉन वेस्ट-

मार्क्स के अन्य पूर्ववर्ती समाजवादी—मार्क्स के पहले के समाजवादी विचार के इतिहास में कल्पनावादी अथवा स्वप्नलोकीय विचारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति भी हुए जिनमें उल्लेखनीय चार्ल्स हाल, टामस हाग्सकिंग, विलियम थाम्पसन तथा जॉन ब्रे हैं। डा० हाल ग्रोवन का ही समकालीन था जिसने दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी—*The Effects of Civilization on European States*', एवं '*An Answer to Malthus*'। अपनी प्रथम पुस्तक में उसने तत्कालीन यूरोपीयन सभ्यता की आलोचना करते हुए लिखा कि यह सभ्यता एक ऐसे पर श्रमजीवी वर्ग को जन्म दे रहा है जो स्वयं निष्क्रिय जीवन बिताते हुए अपनी चालाकी से उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार कर मजदूरों को उपार्जित धन का उचित हिस्सा नहीं लेने देता। हाल का मत था कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर दिया जाना चाहिये और उत्पत्ति के साधन श्रमजीवियों के हाथ में रहने चाहिये। चार्ल्स हॉल ने यह विचार प्रकट किया कि राज्य एक वर्ग संगठन है और सभ्य राज्यों में न्यायिक, कार्यकारी एवं विधायिका शक्ति मुट्ठी भर धनिक व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित हो जाती है। वह लिखता है 'हर कहीं धन शक्ति को अपने स्वामियों के हाथों में रख देता है।" हॉल ने एक और बात में भी मार्क्स की पूर्व सूचना दी। उसका विश्वास था कि युद्ध अधिकतर धनिकों की महत्वाकांक्षा के कारण होते हैं।

विलियम थोम्पसन ग्रोवन तथा हॉग आदि का अनुयायी था। इसका जन्म आयरलैण्ड में हुआ था। इसने सन १८२४ में '*Distribution of Wealth* नामक पुस्तक लिखी जिसमें उसने बतलाया कि श्रम द्वारा उपार्जित धन का किस प्रकार ऐसा वितरण किया जा सकता है जिससे समग्र मानवता का अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो सके। थोम्पसन ने धन के गलत वितरण को मनुष्य के दुःख का सबसे बड़ा कारण समझा और श्रम को ही सारे धन की उत्पत्ति का साधन माना। उसने कहा कि जो श्रम करता है वही धन का उचित अधिकारी है तथा श्रम को कुशलतापूर्वक और मन लगा कर काम करने के लिए केवल तभी प्रेरित किया जा सकता है जबकि जो कुछ वह उत्पन्न करने में सहायता करता है, उसे ही प्राप्त हो। सामाजिक और नैतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में थाम्पसन ने बताया कि वे ग्रोवन द्वारा निर्दिष्ट रेखाओं पर बनायी जानी चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति हटा दी जानी चाहिए और व्यवस्थापकों तथा श्रमजीवियों में मध्य सहयोग होना चाहिए। थोम्पसन के समाजवादी विचारों ने कार्ल मार्क्स को और उसके महिला स्वातंत्र्य सम्बन्धी विचारों ने जॉन स्टुअर्ट मिल को बड़ा प्रभावित किया था।

टॉमस हाग्सकिन, जान ब्रे, फ्रांसिस ब्रे आदि भी लगभग ऐसी ही विचार धाराओं के पोषक थे। हॉग्सकिन का *Labour Defended Against the Claims of Capital*' नामक छोटा सा पैम्फलेट श्रम तथा समाजवादी आन्दोलन का एक अत्यन्त ही आक्रामक तथा तर्क युक्त मनिफेस्टर है जिसका मुख्य विषय यह है कि उत्पादन प्रणाली में श्रम का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है, भूमि और पूंजी को उत्पादन के कारकों के रूप में श्रम के समान नहीं समझा जा सकता, उनकी उपयोगिता श्रम से ही आती है लेकिन श्रमिकों को अपने श्रम से पैदा किया हुआ धन नहीं मिल पाता और वे केवल इतना ही पाते हैं

जितना उनको जीवित रखने मात्र के लिए पर्याप्त होता है। जॉन ग्रे ने भी इसी तरह के विचार रखते हुए कहा कि "वह धनिक, जो कि वास्तव में कुछ नहीं देता, सब कुछ ले लेता है, जबकि गरीबों को, जो कि वास्तव में सब कुछ देता है, कुछ नहीं मिल पाता।" उसने यह विचार प्रकट किया कि विनिमय के सिद्धान्त से ही बुराई पैदा होती है और प्रतिस्पर्धा उसे और भी तीव्र बना देती है। यह उल्लेखनीय है कि ग्रे के अनुसार श्रम के उत्पादक केवल वे ही हैं जो खेतों, कारखानों और खानों में कार्य करते हैं। शेष सबके कार्य उसकी दृष्टि में अनुत्पादक हैं, यद्यपि चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों के कार्य उपयोगी हो सकते हैं। जॉन ग्रे को अलेक्जेन्डर ग्रे ने "कदाचित सबसे अधिक प्रभावक मार्क्स का अंग्रेज पूर्ववर्ती–शायंदा कुछ स्थानों में सबसे अधिक मार्क्स-वादी" कहकर पुकारा है।

इस पृष्ठभूमि के साथ अब हम कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की समीक्षा करेंगे जिसने समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर एक जन-क्रांति के रूप में बदल दिया, इतना कि आज का युग ही समाजवाद का युग कहलाने लगा है।

कार्ल मार्क्स
(Karl Marx)
(1818–1893)

जीवन परिचय—आधुनिक समाजवादी विचारधारा के उन्नायक कार्ल मार्क्स का जन्म एक सुखी मध्यवर्गीय यहूदी परिवार में पश्चिमी प्रशिया में ट्रीविज (*Treves*) में ५ मई, १८१८ का हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और देशभक्त प्रशियन था और माता एक यहूदी महिला। मार्क्स जब केवल ६ वर्ष का ही था तभी उसके पिता ने, कुछ तो फ्रांसीसी प्रचेतनावादी दार्शनिकों के प्रभाव में और कुछ तत्कालीन जर्मनी की असहिष्णुता से बचने के लिए यहूदी मत को छोड़कर ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली थी। इस धर्म परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत में एक क्रांति का बीज बो दिया। उसने जो पहले से ही धार्मिक चेतना का विरोधी था, यहूदियों की कटु आलोचना की और अन्ततः धर्म को अफीम और उत्पादन शक्तियों के अनुरूप 'मतवाद' की सज्ञा दे डाली। यह आश्चर्य है कि मूसा आदि यहूदी पैगम्बरों के धार्मिक सम्प्रदाय में उत्पन्न पुरुष ने धर्म की ऐसी भर्त्सना की। किन्तु यह विचारणीय है कि अपने पिता के धर्म परिवर्तन के अनेक निष्कर्षों को कार्ल मार्क्स का मस्तिष्क कभी भुला न सका होगा।

मार्क्स बाल्यावस्था से ही बड़ा प्रतिभाशाली और प्रचण्ड अध्येता था। विद्यालय में शिक्षक ने उसकी प्रतिभा को जानकर ही आशा व्यक्त की थी कि—"यह बालक अपनी योग्यताओं के द्वारा उसके सम्बन्ध में व्यक्त की गई आशाओं के अनुसार ही होनहार निकलेगा।" १८३५ में मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहां एक मेधावी छात्र के रूप में उसने बड़ी ख्याति प्राप्त की। लेकिन होनहार विद्यार्थी होते हुए भी वहां वह किसी विषय में मन लगाकर नहीं जुट पाया। उसने अध्ययन की अपेक्षा एक उच्च घराने की लड़की जेनी वॉन वेस्ट-

फलेन (*Jenny Von Westphalen*) के साथ प्रेमालाप पर अधिक ध्यान दिया। जनी के माता पिता अपनी लड़की का विवाह मार्क्स के पक्ष मे नही थे लेकिन दोनों के दृढ निश्चय के सम्मुख उन्हें झुकना ही पडा। ७ वर्ष की आशा निराशा की लहरो को पार करने के पश्चात् उनका विवाह हो गया। सन १८३६ मे मार्क्स अपने माता पिता की इच्छानुसार न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय मे भर्ती हो गया। परन्तु इस विषय मे उसका मन न लग सका अत उसने इतिहास और अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। यहा पर मार्क्स हीगल के दर्शनशास्त्र की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों जर्मनी के विश्वविद्यालयों मे हीगल के दर्शन का बडा प्रचार था और जगह-जगह उसके नाम की गोष्ठिया (*Hegelian Circle*) होती थी। मार्क्स विश्वविद्यालय की यग हिगेलियस' (*Young Hegelians*) नामक गोष्ठी का प्रमुख सदस्य बन गया। १८४१ मे जेना विश्वविद्यालय (*Jena University*) से उसने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने यहा पर प्राध्यापक बनने का प्रयत्न किया किन्तु उसे इस कार्य मे सफलता प्राप्त न हो सकी। यदि उसे वह काम मिल जाता तो यह निश्चित था कि मार्क्स एक अत्यन्त मेधावी प्राध्यापक होता और दर्शनशास्त्र पर महत्तम ग्रथों की रचना करता लेकिन यह भी सत्य है कि तब वह श्रमजीवी समाजवाद के जनक (*Father of Proletarian socialism*) के रूप मे उस ऐतिहासिक अमरता को सम्भवत प्राप्त न कर पाता जो आज उसे निर्विवाद रूप से प्राप्त है और तब वह सम्भवत *'Communist Manifesto'* एव *Das Capital'* जैसे ग्रन्थो की रचना न कर पाता। प्राध्यापक पद प्राप्त करने मे असफल रहने मे मार्क्स ने एक पत्रकार के रूप मे सार्वजनिक उदार आन्दोलनो मे, जो उन दिनो जर्मनी मे चल रहे थे, भाग लेना आरम्भ कर दिया।" अपने सक्रिय जीवन के प्रभात-काल मे ही मार्क्स इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि सामाजिक तथा राजनीतिक दूषणो का उपाय न तो कोरे तार्किक वाद विवाद से हो सकता है और न सुन्दर सामाजिक आदर्शो के काल्पनिक निर्माण से ही, क्योंकि किसी भी समय मे उनका समुचित उपाय प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था की विशिष्ट एव आधारभूत अवस्थाओं पर निर्भर रहता है। तदनुसार उसने आधुनिक औद्योगिक समाज का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उसने यान्त्रिक अन्वेषणों की प्रगति का, उसके फलस्वरूप प्रादुर्भूत पूजीवादी व्यवस्था के विकास तथा मूल्य और वेतन निर्धारित करने के उसके विशेष नियमो का भी अध्ययन किया और इससे उत्पन्न होनेवाले समस्त जनता के दो विरोधी वर्गो में विभाजन का अध्ययन किया—अर्थात् एक ओर तो यन्त्रो के तथा उत्पादन के कच्चे माल के स्वामी और दूसरी ओर शेष समस्त जनता, जो केवल इन यन्त्रों एव वस्तुओ की सहायता से स्वामी द्वारा निर्धारित अवस्था मे कार्य करके अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं। उसने शीघ्र ही समाजवाद के मुख्य सिद्धान्त ढूढ निकाले और अपने शेष जीवन को उनकी सैद्धान्तिक एव ऐतिहासिक मीमांसा करने मे तथा उनका यूरोप के श्रमिको मे प्रचार करने में बिताया।"[1]

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४०.

मार्क्स '*Rhenish Times*' का अग्रिम लेख लिखनेवाला सम्पादक बन गया और बाद में उसका मुख्य सम्पादक हो गया, किन्तु मालिकों से उनकी प्रशियन सरकार के साथ समझौता-नीति से वह सहमत न हो सका और उसने उस पत्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। उसने ६ वर्षों तक कोलोन, पेरिस, ब्रूसेल्स में अपना पत्र-सम्पादन और संगठन का कार्य किया। उसे अपना स्थान परिवर्तन इसलिये करना पड़ता था कि वह राजकीय नीतियों की बड़ी तीव्र आलोचना करने के कारण राज्य की ओर से निर्वासित कर दिया जाता था।

पेरिस और ब्रूसेल्स में अपने प्रवास काल में मार्क्स का अनेक प्रसिद्ध समाजवादियों एवं उग्र सुधारवादियों से निकट सम्पर्क स्थापित हो गया था जिनमें आदर्श साम्यवादी केवेट (*Cabet*), दार्शनिक अराजकतावादी प्रोधों (*Proudhon*), साम्यवादी अराजकतावादी बैंकूनिन (*Bakunin*), क्रांतिकारी कवि हीन (*Heine*), क्रांतिकारी देशभक्त मैजिनी (*Mazzini*) का मंत्री वुल्फ (*Wolff*) और फ्रेडरिक ऐन्जिल्स (*Freidrich Engels*) मुख्य थे। एन्जिल्स कपड़े के एक धनी उद्योगपति का लड़का था जिसके इंगलैण्ड और जर्मनी दोनों में कारखाने थे। मार्क्स और एन्जिल्स की भेंट पेरिस में १८४४ में हुई और शीघ्र ही यह प्रगाढ़ मित्रता में बदल गई। १९वीं शताब्दी की यह सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण साहित्यिक मित्रता सम्बोधित की जाती है। इसमें मार्क्स सिद्धान्त निर्माता था और एन्जिल्स उनका प्रचारक तथा सगठन-कर्त्ता था। एन्जिल्स के प्रभाव में ही मार्क्स वामपक्ष की ओर झुकता गया। एन्जिल्स ने मार्क्स का ध्यान जर्मनी पर ही केन्द्रित न रहने देकर इंगलैण्ड के उस महत्वपूर्ण भाग की ओर भी आकृष्ट किया जो पूंजीवादी व्यवस्था के विकास में भाग ले रहा था। १८४४ से आगे वैज्ञानिक समाजवाद के विकास में दोनों ने मिलकर कार्य किया। उदारचित्त एन्जिल्स ने मार्क्स की आर्थिक कठिनाईयों को सदैव हल किया जिसके बिना वह ब्रिटिश म्यूजियम और पुस्तकालयों में अध्ययन करके अपने अमर ग्रंथ '*Das Capital*' के लिए सामग्री एकत्रित नहीं कर सकता था। मार्क्स ने एन्जिल्स के ऋण को स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी सिद्धान्त को 'हमारा सिद्धान्त' (*Our Theory*) कहकर पुकारा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एन्जिल्स की सहायता के अभाव में मार्क्स का जीवन सम्भवतः अपना आजीविका की समस्याओं में ही बीत जाता और वह अपने वर्तमान रूप में संसार के सामने कभी न आ पाता।

पेरिस में रहते हुए मार्क्स ने हीगल के विधिशास्त्र के विरोध में रचित अपने आलोचनात्मक निबन्ध में लिखा कि जर्मनी की मुक्ति में सर्वहारावर्ग जीवन रक्त का कार्य करेगा। इससे प्रशयिा की सरकार बड़ी क्रुद्ध हुई। फ्रांस की सरकार को एक कठोर विरोध पत्र भेजा गया, परिणामस्वरूप मार्क्स को पेरिस से निष्कासित कर दिया गया। यहां से वह ब्रुसेल्स गया जहां वह साम्यवादी लीग (*Communist League*) का सदस्य हो गया। यहीं पर मार्क्स और एन्जिल्स ने मिलकर १८४७-४८ में साम्यवादी लीग कार्य के प्रचार के लिए सुप्रसिद्ध ग्रंथ '*Communist Manifesto*' की रचना की। उन्होने कल्पनात्मक, आलोचनात्मक, सामन्तवादी, पुजारीवादी आदि समाजवाद की भिन्न-भिन्न शाखाओं की आलोचना कर वर्ग-संघर्ष के सूत्र से इतिहास की

व्याख्या करके क्रांति का सन्देश बुलन्द किया और यूरोप मे साम्यवादी दलों को हिंसात्मक क्रांति के लिए प्रोत्साहित किया। सन् १८४८ की क्रांति मे मार्क्स ने अपने पत्र के माध्यम से तत्कालीन मध्यवर्गीय राजनीति की आलोचना की और कर नही देने का तथा सैनिक शक्ति से युक्त प्रतिरोध का समर्थन किया। वह क्रांति मे भाग लेने के लिए स्वयं भी पेरिस गया, लेकिन वहां वह देर से पहुँचा और तब तक क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। फ्रांस का राजनीतिक वातावरण अपने सिद्धान्तो के प्रतिकूल पाते ही वह जर्मनी पहुँचा क्योंकि उसका विचार था कि जर्मनी मे क्रांति के लिये अधिक अनुकूल वातावरण है। वहां उसने एक अत्यन्त ही क्रांतिकारी पत्र *'The New Rhenish Times'* निकाला जो केवल ६ मास ही चल पाया। राजद्रोह के अपराध में मार्क्स पकड़ा गया और निर्वासित हो पश्चिमी यूरोप मे घूमता हुआ अन्ततः सन् १८४६ मे लदन मे बस गया। उसने अपने जीवन के शेष ३४ वर्ष वहीं बिताये जिसमे से उसका अधिकांश समय बड़ी दरिद्रता मे बीता। 'उसका जीवन, अधिकांश में एक शान्तिप्रिय विद्वान के समान था और व्यावहारिक मामलों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु सन् १८६४ में जो प्रथम समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ उसको प्रमुख प्रेरणा मार्क्स से मिली थी और उस समय से समाजवादी आन्दोलन का वही प्रमुख नेता बना रहा। अपने लदन-स्थित एकान्त निवास स्थान से उसने अपने शेष जीवन मे सैद्धांतिक लेखन, व्यावहारिक मार्ग दर्शन, सभा सम्मेलनों एवं पत्र-व्यवहार द्वारा पश्चिमी यूरोप में समाजवादी आंदोलन तथा विचारधारा के अपूर्व नेता के रूप मे अपनी स्थिति बनाये रखी।[1] लदन में रहते हुए ही ब्रिटिश म्यूजियम के अनेक ग्रंथों का गहरा अनुशीलन कर *'Capital'* के तीन खण्डों की और 'अतिरिक्त मूल्य के इतिहास'पर तीन खण्डों की सामग्रिया उसने एकत्र की।

मार्क्स समाजवाद पर कार्य करता हुआ लदन मे ही सन् १८८३ मे देवलोक सिधार गया। उसका व्यापक प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद भी बना रहा। यह निर्विवाद है कि आज भी करोडो व्यक्ति उसे देवता की तरह पूजते हैं तो करोडो आदमी उसे दानव कहकर उसकी निन्दा करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप समाजवाद मे अनेक स्थायी मतभेदों के उत्पन्न हो जाने पर भी मार्क्सवाद का प्रभाव आज अक्षुण्ण है। एक प्रसिद्ध अमेरिकन समाजवादी के शब्दों मे, "मार्क्सवाद आज भी समस्त विरोधी समाजवादी दलो का मान्य सिद्धान्त है और प्रत्येक दल आधुनिक समाजवादी आन्दोलन के संस्थापक के सैद्धान्तिक तत्वों को वास्तविक रूप मे सच्चाई से ग्रहण करने का दावा करता है और अपने विरोधी समाजवादी दलों पर यह आक्षेप करता है कि उन्होने उसके मूल सिद्धान्तो का त्याग कर दिया है।"[2] आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद दोनो का अभ्युदय एक ही मूल स्रोत मार्क्सवाद से हुआ है।

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४१.
2. *Morris Hillquit · From Marx to Lenin (1921) page 6 (Quoted from Coker, op cit , Page 41)*

रचनाएं (Works)—मार्क्स ने अपने जीवन-काल में जी खोल कर समाजवादी साहित्य पर लिखा। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं की सूची इस प्रकार है—

1. The Poverty of Philosophy (1847)
2. The Communist Manifesto (1848)
3. The Critique of Political Economy (1859)
4. Inangral Address of the International Working-Men's Association (1864)
5. Value. Price and Profit (1865)
6. Das Capital (1867)
7. The Civil war in France (1870-71)
8. The Gotha Programme
9. Chass Struggle in France.

मार्क्स के ग्रंथों में सर्वाधिक विख्यात 'कैपिटल' है जो पूंजीवादी अर्थ प्रणाली तथा उत्पादन व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण करते हुए उसकी अनिवार्य परिणति की ओर संकेत करता है। मार्क्सवाद का पूरा पूरा परिचय इसी ग्रंथ में मिलता है। इस पुस्तक को समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रंथ और साम्यवादी सिद्धांतों की आधारशिला कहा जाता है। इसे श्रमिकों का धर्म ग्रंथ (*Bible of the Working class*) तथा धनिकों का दिमाग ठण्डा करनेवाला नुस्खा (*Prescription for Tranquillisation of the Bourgeois mind*) कहा जाता है। इस ग्रंथ का सार इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—"उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण तथा मजदूरों का सामाजिकरण उस स्थिति पर पहुंच जाता है कि पूंजीवादी ढांचे से उनका मेल नहीं बैठता। यह ढांचा या आवरण तोड़ दिया जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति हो जाती है। शोषण करनेवाले खत्म किये जाते हैं, पूंजीवादी युग की जगह औद्योगिक समाज बनता है जिसमें भूमि और उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व रहता है।"[1]

मार्क्स का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ '*Communist Manifesto*' साम्यवादी दर्शन और क्रांति-प्रक्रिया का मूलाधार है जिसमें 'सर्वहारा क्रांति' (*Proletarian Revolution*) की भविष्यवाणी की गई है। यह घोषणापत्र श्रमिक वर्ग चेतना जागृत करने का सुदृढ़ वर्ग-संगठन बनाने और अन्याय का प्रतिकार करने के लिए तैयार किया गया था। इस इतिहास-प्रसिद्ध ग्रंथ का पहला वाक्य ही यूरोप के शासकों में भय का संचार कर देता है—"साम्यवाद का भूत यूरोप भर में घूम रहा है, इस भूत को भगाने के लिए पोप और जार मेटरनिग और गीजाट, फ्रांस के क्रांतिकारी और जासूस सब मिल गये हैं

1. "Concentration of the means of production and socialisation of labour at last reach a point where they become incompatible with their capitalist integument. This integument is burst as under. The knell of capitalist private property sounds. The ex-propriators are ex-propriated, and the capitalist era gives birth to an industrial society based on the possessions in common of the land of the means production."

—*Capital*

लेकिन यह बढता ही आ रहा है।" और अन्तिम शब्द तो अन्तर्राष्ट्रीय आदोलन के लिए अमर हैं—"दुनिया के मजदूरो, सगठित हो जाओ। अपनी बेडियो और दासता के सिवाय तुम कुछ नहीं खाओगे। एक नई दुनिया प्राप्त करोगे।" यह ग्रथ साम्यवादियो के लिए आज भी प्रामाणिक बना हुआ है और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मार्क्स का '*Critique of Political Economy*' आर्थिक सिद्धातों का दूसरा ग्रंथ है। यूरोपीय इतिहास तथा क्राति प्रसगो पर '*Civil war in France and Class struggle in France, Revolution and Counter Revolution* आदि ग्रथ है। कार्यक्रम सम्बन्धी ग्रथ *Critique of the Gotha Programme*' मे मार्क्स ने यह साफ सिद्ध कर दिया है कि एक दजन कार्यक्रम और रूपरेखा रखने की अपेक्षा आदोलन को वास्तव मे बढाना अधिक हितकर है (*Every real advance step of the movement is more important than a dozen platforms*)।

मार्क्स ने अनेक लेख, सस्मरण, गुप्तपत्र, सवाद, आलोचना, निबन्ध आदि भी लिखे। 'राजनीतिज्ञ मे लक्ष्य की स्थिरता के साथ दृष्टि और सृष्टि का समन्वय आवश्यक है और इस दिशा में मार्क्स की प्रतिभा अद्वितीय है।"

मार्क्स के प्रेरणा सूत्र (The Sources of Marx's Thought)—मार्क्स के दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक मूलाधार (*Corner stones or theoretical foundations of Marxian Theory*) तीन प्रकार,क माने गये हैं। एक तो इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (*Materialistic or Economic Interpretation of history*) जिसके लिये उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (*Dialectical Materialism*) का प्रयोग किया। दूसरा वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त (*Theory of Class struggle*) है जो मानव इतिहास का एकमात्र शाश्वत नियम तथा अनिवार्य परिणाम है। तीसरा, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (*Theory of Surplus Value*) है जो पूजीवाद की कटुतम आलोचना करते हुए श्रमिको को उनके वास्तविक अधिकारो का परिचय देता है। 'इन सिद्धान्तों के बल पर मार्क्स सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तथा नियत्रण का लक्ष्य सामने रखते हुए राज्य के विलीनीकरण अथवा लोप का काल्पनिक आदर्श प्रतिपादित करता है। अपने निष्कर्षों मे मार्क्स मौलिक तथा प्रभावशाली है लेकिन आर्थिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक विचारो मे उसने अपने युग के अनुकूल प्रभाव दूसरो से स्पष्टतया ग्रहण किये हैं।

मार्क्स पर सर्वप्रथम हीगल और फ्यूअरबक (*Feurbach*) इन दो बड़े जर्मन दार्शनिको का प्रभाव पडा। हीगल से मार्क्स ने यह विचार ग्रहण किया कि इतिहास का निरन्तर और तर्क युक्त विकास हो रहा है, परन्तु उसने इस एक नया निर्वचन दिया जो हीगल से भिन्न था। हीगल के अनुसार इतिहास 'पूर्ण विचार का ही प्रत्यक्षीकरण' (*Realisation of the Absolute Idea*) है और विवेक स्वतन्त्रता, ईश्वर तथा विश्व आत्मा इतिहास के विकास मे प्रधान विचार रहे हैं, जिनका वास्तविकता व अनुभव से अलग अस्तित्व है। हीगल ने द्वन्द्ववादी पद्धति (*Dialectical Method*, द्वारा

इतिहास का निर्वचन किया है। मार्क्स ने भी इतिहास का निर्वचन किया है और द्वन्द्ववादी पद्धति को अपनाया है, किन्तु दोनों के निर्वचन में महत्वपूर्ण अन्तर है। हीगल ने इतिहास का आदर्शात्मक अथवा विचारात्मक निर्वचन किया है, जबकि मार्क्स का निर्वचन भौतिक है अथवा आर्थिक शक्तियों के द्वारा हुआ है। इस कार्य में उसे फ्यूअरबेक के दर्शन से बड़ी सहायता मिली है जो कि एक मानववादी (*Humanist*) था। जहाँ पर हीगल के अनुयायी अमूर्त विचारों (*Abstract Ideas as subject and object*) को रखते थे, उसने वहां पर 'मैं' और 'तुम' स्थूल प्राणियों को रखा अर्थात् उसने हीगल के आदर्शवाद के स्थान पर मानवतावाद को रखा। किन्तु फ्यूअरबेक ने अपनी विचारधारा को कार्यरूप नहीं दिया। वास्तव में यह कार्ल मार्क्स द्वारा पूरा हुआ, जिसने दर्शन के स्थान पर व्यवहार को अपनाया। मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्तों में दो प्रयोजन रहे—प्रथम मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन की तरह इतिहास का दर्शन है। जबकि हीगल यह मानता था कि यूरोपीय इतिहास जर्मन राष्ट्र के उदय में पराकाष्ठा तक पहुँचेगा, मार्क्स का विश्वास था कि सामाजिक इतिहास सर्वहारा वर्ग के उदय में पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। हीगल के अनुसार उन्नति का साधन राष्ट्रों के बीच युद्ध था, किन्तु मार्क्स के अनुसार यह वर्ग-विरोध रहा। मार्क्स पर हीगल के प्रभाव-सूत्र को जॉर्ज एच० सेबाइन (*Sabine*) ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से हीगल के दर्शन से मिलता था। मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को कायम रखा और उसकी आर्थिक नियतिवाद (Economic determinism) के रूप में व्याख्या की। विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, हीगल के चिन्तन में यह धारणा जरा बिखरे हुए रूप में मिलती है। मार्क्स ने इस धारणा को क्रमबद्ध किया और उसे आधुनिक चिन्तन में एक प्रतिष्ठित स्थान दिया। हीगल के दर्शन के उदारतावाद विरोधी तत्व मार्क्स के उग्रवाद में समाविष्ट हो गये।"[1]

सेबाइन ने ही एक अन्य स्थल पर लिखा है, "हीगल के विचारों में द्वन्द्वात्मक चिन्तन शीर्षासन कर रहा या मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रान्तियां दूर करके उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल खड़ा किया।"[2] स्वयं मार्क्स ने अपने ग्रंथ '*Das Capital*' के प्रथम भाग की भूमिका में स्वीकार किया है कि उसका अपना द्वन्द्ववाद 'हीगल से न केवल भिन्न है, बल्कि उसका ठीक उल्टा है।' मार्क्स ने निःसन्देह हीगल के चिन्तन से लाभ उठाया किन्तु हीगल की बातों को उसने ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण किया। उसने हीगल के चिन्तन में कायाकल्प करते हुए "हीगल के सिद्धान्त से इस धारणा को निकाल दिया कि राष्ट्र सामाजिक इतिहास की कारगर इकाईयां होती है····· उसने राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्गों के संघर्ष की धारणा को प्रस्तुत किया। इस प्रकार,

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास पृष्ठ ७०३
2. "In Hegal the dialectic stands on its head, Marx merely turned it right way up by removing the mystification of idealism."

—*Sabine*

मार्क्स ने हीगलवाद की विशेषताओं का अपहरण कर लिया। ये विशेषताएं थीं—राष्ट्रवाद, अनुदारवाद तथा क्रांतिविरोधी स्वर। उसने हीगलवाद को क्रांतिकारी उग्रवाद का एक नया और शक्तिशाली दर्शन बना दिया। मार्क्सवाद १९वीं शताब्दी के दलगत समाजवाद का और फिर कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों के सहित आधुनिक साम्यवाद का प्रवर्तक बन गया।"[1]

मार्क्स पर फ्रेंच समाजवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सेंट साइमन, चार्ल्स फरियर, प्रूधों आदि की विचारधारा से वह पूर्ण परिचित था। यद्यपि मार्क्स को भांति ही सेंट साइमन भी यह अनुभव करता था कि भावी औद्योगिक युग के महत्व और उसकी सम्भावनाओं को केवल उसके आर्थिक आधार के विश्लेषण करने से ही जाना जा सकता है और यद्यपि चार्ल्स फेरियर का विश्वास था कि एक नवीन समाज की रचना के लिये मानव स्वभाव में परिवर्तन की नहीं बल्कि मनुष्य के रहने की स्थितियों में सुधार की आवश्यकता है, तथापि मार्क्स कल्पनावादियों की अपेक्षा १८वीं शताब्दी के फ्रांस की साम्यवादी परम्परा की और केबेट (*Cabet*) के साम्यवाद की ओर अधिक आकर्षित हुआ था। वह केबेट के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण था। यह इस बात से स्पष्ट है कि ब्रूसेल्स में स्थापित *'Communist League'* को मार्क्स और एन्जिल्स ने 'समाजवादी' की अपेक्षा 'साम्यवादी' कहना अधिक उचित समझा। केबेट के अनुरूप ही मार्क्स का विश्वास था कि उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। सेंट साइमन ने श्रम के महत्व को स्पष्ट किया था और बताया था कि श्रम करनेवाले को ही जीवित रहना चाहिये और जो श्रम नहीं करते हों तथा दूसरों के श्रम पर निर्भर रहते हों, उनका नाश होना चाहिये। वर्गहीन समाज की स्थापना का विचार मार्क्स ने इन्हीं विचारों के अध्ययन के द्वारा प्रतिपादित किया। प्रूधों और विटलिंग इन दो सर्वहारावर्ग के विचारकों ने भी मार्क्स को काफी प्रभावित किया। प्रूधों के ग्रंथ *'Philosophy of Poverty'* के प्रत्युत्तर में मार्क्स ने *'Poverty of Philosophy'* लिखा जिसका उद्देश्य था तत्कालीन जमन विचारधारा को क्रांतिकारी स्वरूप देना। मार्क्स पर ब्रिटिश समाजवादियों और अर्थशास्त्रियों ने भी बड़ी सीमा तक अपना प्रभाव डाला। थॉम्पसन, हॉसकिन तथा अन्य ब्रिटिश समाजवादियों ने श्रम को मूल्य का एकमात्र स्रोत बताया। इस धारणा का प्रभाव मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य (*Surplus Value*) के सिद्धान्त पर स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रे (*Gray*) के अनुसार सामान्य व्यक्ति के लिये मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त रेकार्डो के मूल्य सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ओवन (*Owen*) की यह धारणा कि चरित्र पर्यावरण (*Environment*) की सृष्टि है, मार्क्सवादी सिद्धान्त की एक बहुत ही निश्चित पूर्व सूचना है।

इस प्रकार यह कहना उपयुक्त है कि पूंजीवाद की विषमतामयी शोषक अवस्था का लोप कर, औद्योगिक क्रांति के दुष्परिणामों को दूर करने के लिये मार्क्स ने जिन विचारों को नवीन नामकरण 'साम्यवाद' में प्रस्तुत

---

1. सेबाइन—राजनीतिदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७०१

किया, वे हीगल, फ्यूअरबेक, एडमस्मिथ, रिकार्डो, सेंट साइमन आदि के विभिन्न विचारों का ही संगृहीत रूप हैं। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिये इन सब विचारो का सार ग्रहण किया। उसने इन विचारकों के तर्कों आदि का अन्धानुकरण करने के स्थान पर अपने विचारों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिये प्रयोग किया। जैसे ही वे विचार उसके तर्क को सुनिर्धारित पथ पर पहुंचाते हैं, वह उनको छोडकर आगे बढ़ जाता है। मार्क्स की देन यह है कि उसने इन बिखरे हुए विचारों को एकत्रित करके उनमें तर्कवद्धता (*Logical coherence*) उत्पन्न की, अथवा फ्रेंच और इंग्लिश पूर्ववर्ती विचारकों ने जो बहुत से 'उपयोगी ईंट और यंत्र, (*A useful brick and toon*) प्रदान किये उनको अच्छी तरह व्यवस्थित करके मार्क्स ने विचारों का सुगठित कारखाना खड़ा किया। इससे भी अधिक, महत्वपूर्ण यह है कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को आक्रामक और लड़ाकू बनाया। प्रो० लॉस्की के शब्दों में "मार्क्स ने साम्यवाद को एक **अस्त-व्यस्त स्थिति में पाया और उसे एक आन्दोलन बना दिया। उसके द्वारा उसे एक दर्शन मिला और एक दिशा मिली।**"[1] निःसन्देह मार्क्स के विचारों को एकदम मौलिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि "उसके विचारों के निर्माण करनेवाले तत्वों का मूल बहुत से स्रोतों में खोजा जा सकता है, उसने अपनी ईंटों को बहुत से स्थानों से एकत्र किया था"[2] किन्तु "इससे हम उसे द्वितीय श्रेणी का दार्शनिक नहीं कह सकते और न ही इससे उसका महत्व कम होता है।"[3] मार्क्स की कृतियों का महत्व उनकी मौलिकता नहीं बल्कि सश्लेषणात्मकता है।

मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद
[The Scientific Socialism of Marx]

मार्क्सवादी समाजवाद को प्राय: सर्वहारा समाजवाद (*Proletarian Socialism*) तथा वैज्ञानिक समाज वाद (*Scientific Socialism*) के नाम से पुकारा जाता है। मार्क्स इस दृष्टि से अपने समाजवाद को वैज्ञानिक कहता है कि यह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है। उसके पहले साइमन, फेरियर तथा ओवन का समाजवाद वैज्ञानिक इसलिए नहीं था, क्योंकि वह इतिहास पर आधारित न होकर केवल कल्पना पर आधारित था। वेपर के शब्दों में, "उन्होंने केवल सुन्दर गुलाब के नजारे लिये थे, गुलाब के वृक्षों के लिए जमीन तैयार नहीं की थी।"[4]

1. "Marx found communism a chaos and left it a movement. Through him it acquired a philosophy and a direction."
—*Laski*
2. "It is doubtless true that the component parts of Marxian thought can be traced to a multitude of sources. He collected his bricks from many masons' yards."
—*Alexander Gray* : The Socialist Tradition. Page 299
3. "..but that does not stamp Marx as a secondhand philosopher or lessen the significance of what he did."
—*Maxey*. Political Philosophies
4. "They conjured up visions of beautiful roses but prepared no soil for the rose trees."
—*Wayper* : Political Thought

मार्क्स का दर्शन वस्तुतः अत्यन्त ही विराट तथा सुसम्बद्ध है। केटलिन (*Catlin*) के अनुसार, "क्रान्तिकारी कदम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर निर्मित है, वर्ग संघर्ष अतिरिक्त मूल्य के आर्थिक सिद्धान्त पर, आर्थिक सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर, और यह व्याख्या मार्क्स-हीगल के द्वन्द्ववाद पर और द्वन्द्ववाद भौतिकवादी आध्यात्म विद्या पर।"

इस तरह प्रकट है कि मार्क्स की विचारधारा के आधारस्तम्भ चार हैं—

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (*Dialectical Materialism*)
(२) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (*Materialistic Interpretation of History*)
(३) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (*Theory of Class Struggle*)
(४) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (*Theory of Surplus Value*)

ये चारों स्तम्भ, जिन पर मार्क्स ने अपने दर्शन का भवन निर्मित किया है एक दूसरे से गुथे हुए है। ये सब उसकी विचारधारा को, एक अविभाज्य इकाई हैं। आगे इसी क्रम से मार्क्स के दर्शन की समीक्षा की जायगी।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण राजनैतिक दर्शन द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त पर आधारित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर इतिहास के परिवर्तन और *अध्ययन का भौतिकतावादी दर्शन, वर्ग-संघर्ष और साम्यवाद की स्थापना* आदि के विचार उसने व्यक्त किये हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन की वह आधारशिला है जिसका सहारा समस्त साम्यवादी लेते हैं। '*Short History of the Communist Party of the Soviet Union*' में अधिकृत रूप से यह लिखा हुआ है कि 'द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धो को समझ सकता है उनकी दिशा को जान सकता है, और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान मे किस प्रकार और किस दिशा में चल रही हैं, अपितु वह यह भी देख सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी।"[1]

यह दोहराना अप्रासंगिक न होगा कि मार्क्स का द्वन्द्ववाद अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वन्द्ववाद पर आधारित है यद्यपि हीगल के

---

1. "Dialectic enables the party to find the right *orientation to* any situation, to understand the inner connections of current events, to foresee their course, *and* to perceive not only how and in what direction they are developing in the present but how in what direction they are bound to develop *in the future*"
—Quoted in *Carew Hunt* : Theory and Practice of Communism, Page 28

द्वन्द्ववाद को मार्क्स ने बिल्कुल उलटा कर दिया है। चूंकि हीगल के लेखों में द्वन्द्वात्मकता सिर के बल खड़ी है, यदि उसमें मुख्य सार खोजना है तो उसे पैर के बल खड़ा किया जाना चाहिये", अतः यह आवश्यक है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए पहले संक्षेप में हीगल के द्वन्द्ववाद पर एक दृष्टि डाल ली जाय। हीगल के द्वन्द्ववाद के स्वरूप को सार रूप में प्रो० कोल ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"उसने विश्व के दैविक न्याय की एक अभिव्यक्ति के रूप में दर्शन किए जो सदैव विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा स्वयं को प्रसारित करता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास और केवल उसी से हमारा यहां सम्बन्ध है—उसके सम्मुख वैचारिक संघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के रूप में फैल गया जिसका निश्चित परिणाम विश्व-भावना की पूर्ण सहानुभूति में विरोध का अन्तिम रूप से विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिए इस विचारात्मक या वैचारिक प्रक्रिया की निस्रोतात्मक अभिव्यक्ति मात्र थी। मानव इतिहास मे जो कुछ भी घटित हो रहा है वह यह नहीं है जिसकी प्रतीति होती है, वल्कि वह निरपेक्ष विचार मे निहित वास्तविकता का क्रमिक और प्रगतिशील यथार्थीकरण है। प्रत्येक वस्तु विकास की सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया में बीज रूप से विद्यमान थी, किन्तु बीज यथार्थ का रूप विचार के लम्बे संघर्ष के द्वारा ही ग्रहण कर सकता था। इतिहास मे दिखाई देने वाला यह संघर्ष अपूर्ण विचारों के संघर्ष में होकर आत्मानुभूति या स्वानुभूति की ओर अग्रसर है।"[1]

सरलता की दृष्टि से यों कहा जा सकता है कि हीगल ने समाज को गतिमय, परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्वात्मा (*World Spirit*) या सूक्ष्मतम आत्म-तत्त्व को उसका नियमक कारण माना था। उसके अनुसार सृष्टि के विभिन्न स्थूल पदार्थों का ज्ञान या आभास उस प्रच्छन्न आत्म-शक्ति द्वारा

1. "Hegal saw the universe as the expression of a divine logic working itself out by a process of perpetual contradiction and conflict. All human history—and with that alone we are here concerned–spread itself out before him as a long process of ideal conflict, leading irresistibly towards the final exclusion of contradiction in the perfect self-realisation of the Universal Idea The evalution of societies upon the physical plane of existence was for him but the derivative expression of this ideal process. What was happening in human history was not what seemed to be happening, but gradual and progressive actualisation of the reality immanent in the Absolute Idea. Everything was present in potentiality throughout the entire temporal process of development, but the potential could become actual only by means of the long struggle of the idea towards self-realisation through the conflict of imperfect ideas, as manifested in history."

—*Cole* : Meaning of Marxism, Page 270

ही सम्भव था। हीगल वास्तव मे बुद्धिवादी था और आध्यात्मिक आदर्श उसका मन्तव्य था। परिवतन का कारण ढूढने मे उसने प्रकृति के निरन्तर परिवर्तन का उदाहरण लिया। पुरानी चीज समय पाकर पैदा होती हैं, नष्ट होती है और उनकी जगह नई चीजें आ जाती हैं, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मकता के अन्तर्गत होनेवाले बौद्धिक क्रम को 'अस्तित्व मे होना' (*Being*) अस्तित्व मे न होना' (*Non Being*) और 'अस्तित्व मे आना' (*Becoming*) के रूप मे वाद' (*Thesis*), 'प्रतिवाद' (*Antithesis*) और 'सश्लेषण' (*Synthesis*) कह कर पुकारा। हम किसी भी अमूत (*Abstract*) विचार को 'वाद' से प्रारम्भ करते हैं। स्वाभाविक रूप से विचार मे विरोध (*Contradiction*) उत्पन्न होता है जिसे हम 'प्रतिवाद' कहते है। वाद और प्रतिवाद मे द्वन्द्व के फलस्वरूप एक समझौता हो जाता है जिससे एक नये विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीगल समन्वयवाद अथवा सश्लेषण (*Synthesis*) का नाम देता है—यही सश्लेषण आगे चल कर एक वाद' हो जाता है जिसका फिर 'प्रतिवाद' होकर सश्लेषण के द्वारा पुन एक नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया म पहल किसी वस्तु का निषेध (*Negition*), तत्पश्चात् निषेध का निषेध (*Negition of Negition*) होता है जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व मे आती है। **"सही अर्थों मे द्वन्द्वात्मकता विरोधी बातों का अध्ययन है। विकास विरोधी बातों मे सघर्ष का परिणाम है।"** हीगल ने ऐतिहासिक और सामाजिक परिवतनो के प्रति अपने इस नवीन दृष्टिकोण के कारण यह निष्कर्ष निकाला कि इतिहास घटनाओ की केवलमात्र शृ खला नही है प्रत्युत विकास की एक प्रक्रिया है और विरोध, उसका मुख्य प्रेरक सिद्धात है।

मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित अवश्य हुआ लेकिन उसने हीगल के आदर्शवाद को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। मार्क्स कट्टर भौतिकवादी था, इसीलिए उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। जहा हीगल के द्वन्द्ववाद का आधार विचार (*Idea*) है और समस्त जगत एक निरपेक्ष विचार (*Alsolute Idea*) की अभिव्यक्ति है, वहां मार्क्स के अनुसार विचार नही बल्कि भौतिक पदार्थ ही इस जगत का आधार है। भौतिक जगत की वस्तुए तथा घटनाए अन्तरावलम्बित हैं। भौतिक जगत मे परिवतंन होता रहता है—कुछ प्रवृत्तियां विकसित होती है, कुछ नष्ट होती है तो कुछ की पुनरावृत्ति होती है। यह विकास-क्रम अविरल रूप से चलता रहता है। मार्क्स यह भी कहता है कि विकास की पृष्ठभूमि मे समस्त प्राकृतिक पदार्थों मे एक आभ्यान्तरिक विरोध रहता है जिससे भौतिक जगत का विकास होता है। इसके तीन अ ग होते हैं—वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण या सवाद। इस प्रकार मार्क्स का भौतिक द्वन्द्वात्मक वा सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ यदि गेहू के दाने (पदार्थ) के द्वन्द्व का अध्ययन करें तो दिखाई देता है कि उसका विकास हो रहा है। उसे जमीन मे गाड़ दीजिये, उसका वह रूप नष्ट हो जाता है और अकुर के रूप मे वह सामने आता है, अकुर भी अपनी स्थिति पर स्थायी नही रहता, उसका विकास एक लहलहाते पौधे के रूप म होता है। इसी सघर्षमय स्थिति का परिणाम

यह होता है कि एक गेहूं के दाने के विकास के द्वारा अनेक दाने प्राप्त होते हैं। विकास का यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त भौतिकतावादी है। यदि गेहूं का बीज 'वाद' है तो पौधा उसका 'प्रतिवाद' है और पौधे का नष्ट होकर नये दोनों का जन्म देना 'सश्लेषण' है। यहां जो संघर्ष विकास के सोपान के रूप में क्रमशः चलता रहता है वह वाह्य नहीं, आन्तरिक है।

मार्क्स के इस भौतिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की स्पष्ट ही कुछ विशेषतायें है। प्रथम विशेपता यह है कि प्रकृति को एक अचानक एकत्रित की हुई वस्तुओं का सग्रह नही मानता। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से जुड़ा हुआ तथा निर्भर रहता हैं। यहां द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विश्व में प्राकृतिक सावयविक एकता स्पष्ट करता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की दूसरी विशेपता वस्तुओं की गतिशीलता है। भौतिक पदार्थ गतिहीन नही हैं। प्रकृति के प्रत्येक कण-कण, यहां तक कि रेत के छोटे से छोटे दाने से लेकर सूर्य-पिण्ड तक गतिशील हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति में नित्य प्रति द्वन्द्व के आधार पर परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन नीचे से ऊपर की ओर उन्नति मार्ग पर पहुंचाते हैं। प्रकृति में द्वन्द्व के आधार पर पदार्थ विकासोन्मुख होते है। नवीन पदार्थों का निर्माण और प्राचीन का विनाश विकास का क्रम है। अतः मार्क्स का द्वन्द्ववाद चराचर जगत के सावयविक अध्ययन के साथ ही जीवन की गतिशीलता का अध्ययन भी है। द्वन्द्ववाद की तीसरी विशेपता यह है कि परिवर्तन मात्रात्मक एव गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों में परिणित हो जाना यदि मात्रात्मक परिवतन है तो निषेध के निषेध (*Negition of Negotion*) के द्वारा पानी का वर्फ में परिणित होना गुणात्मक परिवर्तन है। प्रकृति के जीव-शास्त्रीय, रसायन–शास्त्रीय एवं भौतिक–शास्त्रीय प्रत्येक क्षेत्र में यह परिवर्तन दिखाई देता है। प्रकृति का यह परिवर्तन द्वन्द्व के कारण होता है। मात्रा से गुण की ओर परिवर्तन अचानक होता है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद की चौथी विशेषता प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक अन्तर्निहित विरोध है। प्रत्येक वस्तु में दो पक्ष होते हैं, उनका सकारात्मक (*Positive*) तथा नकारात्मक (*Negative*) स्वरूप, जिनमें निरन्तर द्वन्द्व या संघर्ष चलता रहता है। पुराना तत्व मिटता जाता है, नवीन उत्पन्न होता जाता है, इन दिनों का निरन्तर संघर्ष ही विकास का क्रम है। कार्ल मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त से ही यह प्रमाणित करना चाहता है कि पूंजीवाद के शोषिक स्वरूप के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना कैसे होगी। उसके लिये पदार्थ (*Matter*) अन्तिम वास्तविकता थी और एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना जिसमें एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का शोपण न हो, विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य था। मार्क्स का विचार था कि वह द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास और अपने भौतिकवाद को हीगल की विश्वआत्मा को एक आत्मिक शक्ति मानकर संयुक्त कर सकता है। इसी उपाय से उसने केवल उस महान् शक्ति को ही नहीं खोज निकाला जो मानवता को निपेध से निषेध तक संचालित करती रहती है, वल्कि उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को भी ठीक उल्टा कर दिया, जिसका परिणाम निकला उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में दो या अधिक आर्थिक शक्तियों में विरोध रहा है और विरोध के कारण

विकास होता रहा है। इस तरह द्वन्द्ववाद के पीछे आर्थिक शक्तियां रही हैं। अब वर्तमान युग में पूंजीवाद और सर्वहारा वर्ग के परिणामस्वरूप पूंजीवाद का अन्त होगा और साम्यवाद की स्थापना होगी। द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास के कारण ही मार्क्स ने यह परिणाम निकाला कि समाजवाद अथवा साम्यवाद का भवन केवल पूंजीवाद की भस्म पर ही बन सकता है। कोल (*Cole*) के अनुसार मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का आधार इस प्रकार है, "इतिहास की प्रत्येक मन्जिल अर्थात् युग में उत्पादन शक्तियों से मनुष्यों में एक प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध पैदा होते हैं। मार्क्स का कहना यह है कि सम्पूर्ण मानव इतिहास में इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों में बटे रहे हैं। प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्र नागरिक व दास, रोम में पेट्रीशियन व प्लीबियन, मध्ययुग में भूमिपति और दास किसान तथा वर्तमान युग में पूंजीपति व मजदूर वर्ग और इनके बीच हुए संघर्ष से ही मानव इतिहास आगे बढ़ा है। अस्तु मार्क्स के अनुसार ये दो वर्ग विचार और विरोधी विचार (*Thesis and antithesis*) रहे हैं और नये वर्ग समन्वय (*Synthesis*) इस वर्ग संघर्ष का अन्त वर्गविहीन समाज में होगा। मार्क्स की धारणा थी कि पूंजीवाद अपने भीतर अपने पतन के बीज इसी प्रकार रखता है जिस प्रकार हीगल का अस्तित्व (*Being*) का 'वाद' अपने अन्दर अपना 'प्रतिवाद'—अस्तित्वहीनता (*Non Being*) रखता है। द्वन्द्ववाद की गतिशीलता के माध्यम से पूंजीवाद के विनाश के इस विचार के पीछे मार्क्स की यही धारणा काम करती रही है कि उत्पादन के सम्बन्धों के योग से समाज की आर्थिक व्यवस्था की रचना होती है और उत्पादन प्रणाली से जीवन की सामाजिक व राजनीतिक प्रक्रिया का साधारण स्वरूप निर्धारित होता है। इतिहास का विकास एक के बाद दूसरी मंजिल से होकर गुजरा है और प्रत्येक मंजिल अथवा युग में एक विशेष प्रकार की उत्पादन व्यवस्था रही है। यह सभी प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, परन्तु द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पीछे जो आर्थिक शक्तियां रही हैं, वे ही वास्तविक हैं और विचारात्मक सम्बन्ध (*Ideological Relations*) केवल ऊपरी अथवा दिखावटी हैं।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद में गुणात्मक तीव्रगति से परिवर्तन द्वारा क्रांति का औचित्य सिद्ध किया। मार्क्स ने बताया कि मात्रात्मक मंदगति से परिवर्तन के स्थान पर गुणात्मक तीव्रगति से परिवर्तन द्वन्द्ववाद की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। शोषित वर्ग शनैः शनैः उन्नति नहीं करेगा, वरन् वह क्रांति के रूप में तीव्रगति से परिवर्तन करेगा। क्रांति इस प्रकार पूर्णतया उचित और न्याय सम्मत हो जाती है। मार्क्स पूंजीवाद से मुक्ति पाने और शोषित वर्ग के उन्नति की ओर बढ़ने के लिए क्रांति का अनिवार्य बना देता है। "इसलिए प्रत्येक को नीति में त्रुटि किये बिना, सुधारक नहीं, क्रांतिकारी होना चाहिये।"

द्वन्द्ववाद द्वारा मार्क्स वर्ग-संघर्ष को अवश्यम्भावी बना देता है। द्वन्द्ववाद प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को अन्तर्निहित विरोध युक्त मानता है। आंतरिक विरोध ही संघर्ष का कारण और उन्नति का मूलमन्त्र है। स्पष्टतया मार्क्स इसी सिद्धान्त के आधार पर वर्ग संघर्ष को उचित ठहराता है। पूंजीवाद में अन्तर्निहित विरोध सर्वहारावर्ग को पूंजीपति वर्ग के साथ संघर्ष-रत रखता है। सेबाइन के अनुसार मार्क्स की, "ज्यादा दिलचस्पी इस बात में थी कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को ठोस परिस्थितियों के ऊपर लागू करे, विशेषकर

इस उद्देश्य से कि उसके आधार पर क्रांतिकारी सर्वहारावर्ग के लिए किसी कार्यक्रम की खोज की जा सके। १८४८ में उसने और एन्जिल्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में जो समस्त युगों की एक बड़ी क्रांतिकारी पुस्तिका बन गई है, वर्ग-संघर्ष को अब तक के समस्त समाजों का मूल मंत्र माना।"[1]

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववादी भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण आर्थिक वर्ग है, विचार नहीं। जिस लक्ष्य की ओर मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बढ़ रहा है वह एक ऐसे समाज की स्थापना है जिसमें न कोई वर्ग-भेद होगा और न कोई शोषण। यह अंतिम संश्लेषण (*Synthesis*) है जिसमें से 'प्रतिवाद' (*Antithesis*) का जन्म नहीं होगा। वर्गहीन समाज की स्थापना के साथ वर्ग-संघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जाती है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद का वर्णन समाप्त करने से पहले हीगल और मार्क्स के द्वन्द्व के अन्तर और साम्य पर कुछ और कह देना उचित होगा, यद्यपि बहुत कुछ पहले ही कहा जा चुका है। यद्यपि हीगल की भांति मार्क्स का दर्शन भी सामाजिक दर्शन था और इसमें विकास की उन प्राकृतिक अवस्थाओं का वर्णन कर दिया गया था जो द्वन्द्वात्मक पद्धति के आन्तरिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, तथापि दोनों के विचारों में बड़ा अन्तर था। सबाइन के शब्दों में—

"हीगल का यह विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्रों के विकास में हुई है और जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। इसके विपरीत मार्क्स का यह विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारावर्ग के उत्थान के रूप में हुई है और यह वर्ग समाज में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा। हीगल के समाज-दर्शन में प्रेरक शक्ति एक स्वविकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो अपने को बारी बारी से इतिहास प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप मे व्यक्त करता है। इसके विपरीत मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्व वे स्वविकासशील उत्पादनशील शक्तियां हैं जो अपने आपको आर्थिक वितरण के बुनियादी ढगों में तथा उनसे सम्बद्ध सामाजिक वर्गो मे व्यक्त करती हैं। हीगल के लिए प्रगति का तत्व राष्ट्रों के सघर्ष में निहित था। मार्क्स के लिए यह तत्व सामाजिक वर्गों के विरोध भाव में निहित था। दोनों व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को तर्कसम्मत ढग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता है।"[2] मार्क्स के दर्शन में हीगल के दर्शन की अपेक्षा विकास के क्रम में हस्तक्षेप करने का अधिक भाव था। "मार्क्स के दर्शन में कार्य करने की भी प्रेरणा थी। यह

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७१६-१७
2. "Whereas Hegal had conceived that European history culminates in the rise of the Germanic nations and had looked forward to the advance of Germany to a position of spiritual leadership in European civilization, Marx conceived that history culminates in the rise of the proletariat, as the chief social consequence of a developing capitalism, and

मार्क्स के दर्शन की अपनी प्रेरणा थी। जहां हीगल राष्ट्रीय देश भक्ति के भाव के प्रति अपील करता था, वहां मार्क्स मजदूरों की वर्ग निष्ठा के प्रति अपील करता था। दोनों ही अवस्थाओं में यह अपील सामुदायिक होती थी। वह स्वार्थ के प्रति नहीं, प्रत्युत निष्ठा के प्रति अपील होती थी। वह अधिकारों के प्रति नहीं प्रत्युत कर्त्तव्यों के प्रति अपील होती थी। फिर भी वह व्यक्तियों की भावनाओं और कर्त्तव्यों को अपनी ओर खींच सकती थी। इस अपील में मनुष्यों से प्रार्थना की जाती थी कि वे अपनी इच्छा को अपने स्वार्थ को दबा दें और सभ्यता की दुर्निवार यात्रा में अपना उचित स्थान ग्रहण करें। मार्क्स के दर्शन में इस अपील का उद्देश्य मजदूरों को सामाजिक क्रांति की योजना समझाना और उन्हें इसके लिए तैयार करना था।"

मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के महत्व को भली-भांति पहिचाना था जैसा कि सेबाइन के समीक्षात्मक निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है—

"मार्क्स का मत था कि यद्यपि अनुदार हीगलवादियों ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढंग से प्रयोग किया है फिर भी वास्तव में हीगल का दर्शन क्रांतिकारी है। हीगल के दर्शन को वास्तविक महत्व देने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे क्रांतिकारी दल का बौद्धिक उपकरण बना दिया जाए। हीगल के दर्शन की सबसे क्रांतिकारी विशेषता यह है कि उसमें धर्म की आलोचना की गई है। द्वन्द्वात्मक पद्धति यह सिद्ध करती है कि समस्त कथित निरपेक्ष सत्य और परात्पर धार्मिक मूल्य सापेक्ष होते हैं। वे कुछ सामाजिक फल होते हैं जो किसी समुदाय के लौकिक तथा ऐतिहासिक विकास के दौरान उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

मार्क्स की दृष्टि से द्वन्द्वात्मक पद्धति का पहला उपयोग तो यह था कि उसके आधार पर रूढ़िगत रूप से प्रचारित तथा कथित निरपेक्ष मूल्यों का खण्डन किया जा सकता था और वास्तविक तथा आभासी के बीच हीगल द्वारा प्रतिपादित भेद को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की भौतिकवादी व्याख्या का यह अभिप्राय था कि धार्मिक रूढ़ियों और धार्मिक सत्ता के प्रतीकात्मक अर्थों से मुक्त हुआ जाय और यह समझा जाय कि

---

to a dominant
y of history the
l principle that
ions, in Marx's
ctive forces that
omic distribution
ism of history
s a revolutionary
d the course of
struggle between classes ... history as logically necessary, a pattern of stages advancing *towards a pre-determined goal*"

—*Sabine* : A History of Political Thought, Chapter XXX, Page 621

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७०६

धर्म समाज की एक वहुत वड़ी प्रतिक्रियावादी तथा अनुदार शक्ति रही है।'[1]

"मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के व्यावहारिक प्रयोग का केवल यही एक निष्कर्ष नहीं निकाला कि धर्म को त्याग दिया जाय। मार्क्स का वह भी विश्वास था कि हीगल ने फ्रेंच क्रांति और मनुष्य के क्रांतिकारी अधिकारों का जिस ढंग से निषेध किया था वह भी द्वन्द्वात्मक पद्धति को ध्यान में रखते हुए सच्चा प्रमाणित होगा क्योंकि ये चीजें भी उसी तरह निरपेक्ष नही हो सकती जिस प्रकार कि धार्मिक विश्वास निरपेक्ष नहीं होते। ये चीजें भी विकास की किसी विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति होती है चूंकि मार्क्स द्वन्द्वात्मक पद्धति को क्रांतिकारी समझता था, इसलिए उसके लिए यह जरूरी था कि वह हीगल की आलोचना की पुर्नव्याख्या करता। आध्यात्मिक राज्य अन्तिम रूप अथवा अन्तिम संश्लेषण नहीं हो सकता। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार यह जरूरी है कि एक उच्चतर स्तर पर राजनैतिक क्रांति के विरोध में सामाजिक क्रांति हो।"[2]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मार्क्स का सारांश (Marx's Summary of his Dialectic Materialism)—मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त उसकी अनेक रचनाओं में विखरा हुआ मिलता है। मार्क्स ने अपने एक अवतरण में अपने निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत किया है जो स्पष्टता और शक्तिमत्ता की दृष्टि से वेजोड़ है। इसे प्रो० सेवाइन ने अपने ग्रंथ 'राजनीति दर्शन का इतिहास' में न केवल उद्धृत ही किया है, प्रत्युत उसकी वड़ी ही विद्वतापूर्ण व्याख्या भी प्रस्तुत की है। यहां मार्क्स के अवतरण और सेबाइन की व्याख्या-दोनों को ही ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है—

अवतरण—"मनुष्य सामाजिक उत्पादन का जो कार्य करते हैं उसके दौरान वे आपस में एक निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लिया करते हैं। इन सम्बन्धों के बिना उनका काम नहीं चल सकता। अतः वे अपरिहार्य होते हैं और मनुष्यों की इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन के भौतिक तत्वों के विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हुआ करते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धो के सम्पूर्ण योग से ही समाज का आर्थिक ढांचा बनता है और वही ढांचा असली नींव होता है जिस पर वैधक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है और इसी ढांचे के अनुरूप मनुष्यों की सामाजिक चेतना के निश्चित रूप हुआ करते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की जो पद्धति होती है, उसी से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्यों का जीवन उनकी चेतना से निर्मित और निर्धारित नहीं होता, वल्कि उनके सामाजिक जीवन से उनकी चेतना वनती है। समाज के विकास में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि उत्पादन के भौतिक तत्वों और विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों–अर्थात् सम्पत्ति विषयक सम्बन्धों जिनके अन्तर्गत वे तत्व पहले से कार्य करते आए हैं–के बीच संघर्ष उठ खड़ा होता है। दूसरे

1. वही, पृष्ठ ७०६
2. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७१ –११

शब्दों में ये सम्बन्ध उत्पादन के तत्वों के विकास में बाधा डालने लगते हैं। तब सामाजिक क्रांति का युग प्रारम्भ होता है। इस प्रकार, आर्थिक नींव के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है। इस परिवर्तन पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की परिशुद्धता के साथ निर्धारित हो सकता है, और वैधिक, राजनीतिक धार्मिक, सौंदर्य सम्बन्धी तथा दार्शनिक सक्षेप में वैचारिक रूप जिनमें आदमी इस संघर्ष को समझने लगता है और उनसे जूझता है के परिवर्तन के बीच सदैव ही भेद रखना चाहिये किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नहीं होती, जब तक कि उत्पादन के तत्व, जिनके लिये उसके भीतर गुंजायश होती है, पूर्ण तया विकसित नहीं हो जाते और उत्पादन के नए, उच्चतर सम्बन्ध तब तक प्रकट नहीं होते जब तक कि पुराने समाज की कोख में ही उनके अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियां परिपक्व नहीं हो जातीं। इसलिये, मनुष्य जाति उन्हीं समस्याओं को अपने हाथों में लेती है जिन्हें कि वह हल कर सकती है बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर हमें पता लगेगा कि कोई समस्या उठती ही तब है जबकि उसके हल करने के लिये आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा कम उत्पन्न होने लगती हैं।"

मार्क्स के इस अवतरण की व्याख्या लेडाइन ने इन शब्दों में प्रकट की है—

मार्क्स ने उपर्युक्त अवतरण में सास्कृतिक विकास के विषय में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसमें चार मुख्य बातें हैं। प्रथम यह विभिन्न अवस्थाओं का अनुक्रम है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय की एक विशिष्ट व्यवस्था हुआ करती है। उत्पादन शक्तियों की यह व्यवस्था अपनी विशिष्ट और उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा में विधि और राजनीति तो शामिल हैं ही सभ्यता के तथाकथित आध्यात्मिक तत्व भी शामिल हैं जैसे कि आचार धर्म, कला और दर्शन एक आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रत्येक अवस्था पूर्ण और व्यवस्थित होती है। वह एक समन्वित इकाई होती है जिसमें वैचारिक तत्व उत्पादन की शक्तियों के साथ रच पच जाते हैं। वास्तविक व्यवहार में उदाहरण के लिए कैपिटल के विवरणात्मक और ऐतिहासिक अध्यायों में मार्क्स ने अपने सिद्धान्त की तार्किक कठोरता को कम कर दिया है। उत्पादन की शक्तियां एक ही समय में विभिन्न देशों में विभिन्न रीति से कार्य करती हैं। व एक ही देश के विभिन्न उद्योगों में विभिन्न रूपों में होती हैं। उनमें पुरानी व्यवस्था के स्मारक और नई के अंकुर होते हैं। फलतः एक ही जनसंख्या के विभिन्न स्तरों की विभिन्न विचारधाराएं होती हैं। दूसरे, सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। उत्पादन की नयी विकासशील प्रक्रिया तथा पुरानी प्रक्रिया के बीच जो आन्तरिक संघर्ष होता है वही इसकी प्रेरक शक्ति होती है। उत्पादन की नयी पद्धति अपने को एक विरोधी वैचारिक वातावरण में पाती है। नयी उत्पादन पद्धति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी वैचारिक पद्धति नष्ट हो जाए। पुरानी पद्धति की विचारधारा नयी पद्धति का अधिकाधिक बहिष्कार करती है। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक

खिचाव और तनाव यहां तक बढ़ जाते हैं कि वे टूटने लगते है। उत्पादन की नयी व्यवस्था के अनुरूप ही एक नया सामाजिक वर्ग पैदा हो जाता है और उसकी अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार एक नयी विचारधारा होनी है। इस नयी विचारधारा का पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष होता है। विकास का सामान्य क्रम यही रहता है। उत्पादन की नयी व्यवस्था के अनुरूप ही एक नयी विचारधारा बनती है, उसका पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष होता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक अन्य विचारधारा का उदय होता है और यह क्रम चलता रहता है। तीसरे, उत्पादन की पद्धति-वस्तुओं के उत्पादन का और उनका वितरण करने की पद्धति वैचारिक निष्कर्षों की तुलना में सदैव महत्वपूर्ण होती है। भौतिक अथवा आर्थिक शक्तियां सदैव वास्तविक' अथवा सारवान होती हैं। इसके विपरीत वैचारिक सम्बन्ध सदैव प्रतीयमान अथवा संघटनापरक होते है। इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वैचारिक सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं होता अथवा वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नहीं डालते। तथापि, उनका पारस्परिक सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है, केवल कार्य कारण सम्बन्धी नहीं। यह भेद वही है जो हीगेल की शब्दावली में वास्तविकता अथवा महत्ता की श्रेणियों के बीच होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि मार्क्स वैचारिक तत्वों को नहीं, प्रत्युत् भौतिक तत्वों को ही सारवान् मानता है। चौथे, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया प्रस्फुटित होने की आन्तरिक प्रक्रिया है। समाज की उत्पादन शक्तियां पहले पूरी तरह विकसित हो जाती हैं। इसके बाद ही उनमें द्वन्द्वात्मक परिवर्तन होता है। चूंकि विचार सम्बन्धी ऊपरी रचना अन्तरंग आध्यात्मिक तत्व के आन्तरिक विकास को ही प्रकट करती है, अतः चेतना के ऊपरी धरातल पर जो समस्या मालूम पड़ती है उसका चेतना की और परतें खुलने पर सदैव ही समाधान संभव है। स्पष्ट है कि इस आध्यात्मिक निष्कर्ष का कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं मिलता।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना (Criticism of Dialectical Materialism)—मार्क्स का सम्पूर्ण दर्शन यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद रूपी प्रमुखतम स्तम्भ पर आश्रित है, तथापि मार्क्स ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से कहीं भी व्यक्त नहीं किया है। मार्क्स का द्वन्द्ववाद गम्भीर आलोचनाओं का पात्र रहा है। इसकी आलोचना में प्रायः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) वेपर का कहना है कि 'द्वन्द्ववाद की धारणा अत्यन्त गूढ़ एवं अस्पष्ट है। इसको मार्क्स ने कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है।"[1] उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि पदार्थ किस प्रकार गतिशील होता है। लेनिन ने इस विषय में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि हीगल के आदर्शवाद का अध्ययन किये बिना मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को नहीं समझा जा सकता। वस्तुत मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अत्यन्त ही रहस्यमय दिखाई देता है। एन्जिल्स तथा अन्य बड़े साम्यवादी लेखक अपनी रचनाओं

---

1. *Wayper* : Political Thought, Page 201

मे इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण दर्शाते हैं तथा सभी स्थानो पर इसे लागू करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन विस्तृत रूप मे वे उसकी विवेचना नही करते।

(२) *सामान्य रूप* से यह माना जा सकता है कि संघर्ष मानवी विषयों मे एक महत्वपूर्ण भाग अदा करता है किन्तु उसे एक *विश्व-व्यापी* कानून मानना अथवा ऐतिहासिक विकास मे उसे चालक शक्ति का श्रेय देना न उपयुक्त ही है और न आवश्यक ही। केरियूहण्ट के अनुसार *'यद्यपि* द्वन्द्ववाद हमे मानव विकास के इतिहास मे *मूल्यवान झांकियों का दिग्दर्शन* कराता है, लेकिन मार्क्स का यह दावा स्वीकार *नही किया जा सकता कि* सत्य का अनुसधान करने के लिये यही एकमात्र *पद्धति है।"*[1] केवल एक पक्का मार्क्सवादी ही गेहूँ के दाने के प्रस्फुटित होने, उसमें डण्ठल उगने और अन्त मे गेहूँ पैदा होने म द्वन्द्ववाद की पीडा के दर्शन कर सकता है। प्रस्फुटन को वह दाने का निषेध, और दाने की उत्पत्ति का वह *'निषध का निषेध'* समझता है। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति के लिये गेहूँ के पौधे के *विकास में* अथवा ऐसी ही किसी अन्य घटना मे न तो संघर्ष है, और *न विरोध तथा* इसीलिये न कोई द्वन्द्व। ऐसी घटनाओं को बिना *द्वन्द्व की सहायता* के भी भली प्रकार समझा जा सकता है।

(३) मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद मे शक्तियो का आधार भौतिकवाद को रखा है। किन्तु ससार का विकास आर्थिक शक्तिया (*Productive Forces*) ही है, यह कैसे मान लिया जाय। यह सही है कि आधुनिक युग मे विकास की गति भौतिकता की ओर अधिक है लेकिन सार्वकालिक विकास को ध्यान मे रखने से विदित होगा कि मनुष्य का उद्देश्य सदैव केवल मात्र भौतिक समृद्धि ही नही रहा है। हीगल ने इन शक्तियों को आध्यात्मिक माना है और यह बताया है कि द्वन्द्ववाद के द्वारा ससार का विकास भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर हो रहा है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपनाते हुए आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता का, परिवर्तन कर दिया है, किन्तु यह कभी नही बतलाया कि 'आध्यात्मिक शक्तियो (*Spiritual forces*) के स्थान पर 'आर्थिक शक्तिया' (*Productive forces*) कैसे अधिक सही है। केवल मात्र यह कह देने से तार्किक सगति नही हो जाती कि हीगल गलत था उसका सिद्धान्त सिर के बल खडा था। इस सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता कि विश्व के भौतिकवादी विकास का रुख एक बार पुन आदर्शवाद अथवा आध्यात्मवाद की ओर उन्मुख हो जाय। वर्तमान इतिहास के दार्शनिक इस सम्भावना से सहमत हैं।

"ट्वायनबी, स्पेंगलर, सोरोकिन और भारत के श्री अरविंद ने द्वन्द्ववाद मे आगे खोज की है और ये चारो ही इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि

1. [illegible] ...ble ...ght into the history

संसार का आधुनिक भौतिकवाद उन तीन या चार तत्वों में से एक है जो एक वृत्त मे घूमते हैं। सोरोकिन इन्हें *'Super System'* कहता है जिसके अनुसार विचारवाद (*Ideative*), आदर्शवाद (*Idealistic*) और विलासितावाद (*Sensate*) के युग लगातार एक वृत्त में घूमते रहते है। जब एक तत्व सामने आता है तो बाकी के दो पीछे चले जाते हैं पर रहते तीनों हैं। बारी-बारी से प्रत्येक के प्राबल्य का युग आता रहता है और विकास तीनों के योग का परिणाम है। प्राचीन भारत के सांख्य-दर्शन में, जो द्वन्द्ववाद का सबसे प्राचीन सिद्धान्त है, इन तीनों को सत, रज, तम से व्यक्त किया गया है और इन्ही के आधार पर भारतीय दर्शन में अभी तक चतुर्युग सिद्धान्त की मान्यता है। श्री अरविंद की सृष्टि के विकास में चार तत्वों की खोज इसी आधार पर भी है—वे हैं आत्मिक तत्व, मानसिक तत्व, प्राणिक तत्व और भौतिक तत्व (*Spirit, Mind, Life and Matter*)। ये चारो तत्व बार-बार चक्कर काटते हुए द्वन्द्वात्मक गति से आगे बढ़ते हैं और विकास की गति एक रेल के पहिये की भांति है जो अपने स्थान में भी चक्कर काटती है और आगे बढती है। जिस प्रकार मार्क्स ने संसार के विकास हेतु भौतिकता का विकास माना है और हीगल ने आध्यात्मिकता का विकास माना है श्री अरविंद ने चारों तत्वों का विकास मूल-प्रकृति का उद्देश्य माना है। ये चारों ही तत्व भागवत् तत्व हैं और पूर्णत्व की अवस्था वह है जिसमें इन चारों का सामन्जस्य होगा, साथ ही आत्मिक तत्व की प्रधानता होगी। भौतिकता तो केवल एक अस्थायी अवस्था है जिसमें भौतिकता का अधिक विकास हो रहा है। इसके बाद आत्मिक युग आयेगा और तब उसका अधिक विकास दिखाई पड़ेगा।

(४) मार्क्स की मान्यता है कि पदार्थ चेतना युक्त नहीं होता अपितु एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण स्वय ही उसका विकास होता है और वह अपने विरोधों को जन्म देता है। किन्तु मार्क्स की यह मान्यता ठीक नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ अपनी चेतना के कारण अपने विरोधी तत्व को जन्म दे सकता है। वास्तविकता यह है कि पदार्थ में परिवर्तन वाह्य शक्तियों के द्वारा किये जाते हैं। एक विशेष परिस्थिति के अभाव में न तो गेहूं का बीज पौधे में परिवर्तित हो सकता है और न पौधा अन्य बीजों में।—इसके अतिरिक्त एक पत्थर सदा पत्थर ही रहता है। अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण उसका परिवर्तन क्यों नहीं होता? और यदि एक मिनट के लिए यह मान भी लिया कि पदार्थों में परिवर्तन आन्तरिक गतिशीलता के कारण होता है तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि यह विकास विरोधी तत्वों में संघर्ष के द्वारा होता है। केरियूहण्ट ने इस सम्बन्ध में आलोचना में ये शब्द लिखे हैं—

'द्वन्द्ववाद के मार्क्सवादी रूप के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठाई जा सकती है। द्वन्द्ववाद को विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष के द्वारा विचारों के विकास पर लागू करना उचित है, और हीगल उस विकास की एक बुद्धि-संगत व्याख्या देता है। तथापि, यद्यपि द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के भौतिक जगत में कुछ विरोधों के दृष्टान्त केवल एकदम मनमाने हैं, परन्तु यदि वे ऐसे न भी होते तो फिर भी यह तो एक रहस्य ही बना रहता है कि भौतिक

जगत मे वे दिखाई क्यो न पड़ने चाहिये । द्वन्द्ववादी भौतिकवाद वास्तव में यह कहता है कि पदार्थ, पदार्थ है किन्तु उसका विकास विचारो की भांति होता है । जबकि हम यह तो देख सकते हैं कि विचार उस प्रकार विकसित क्यो होते हैं जिस प्रकार कि वे होते हैं जैसा कि, उदाहरण के लिये, वाद-विवाद मे, हम किसी ऐसे कारण की कल्पना नहीं कर सकते कि भौतिक वस्तुओं को भी उसी ढंग से विकसित क्यो होना चाहिए ।"[1]

(५) फ्यूअरबेक ने कहा है कि 'भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परिस्थितियों और शिक्षा के अनुसार ढलता है, इस प्रकार मनुष्य मे परिवर्तन परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण होते हैं ।" किन्तु इस कथन की आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है कि–'फ्यूअरबेक यह भूल जाता है कि परिस्थितियां मनुष्य के द्वारा ही बदली जाती हैं ।' आगे मार्क्स कहता है कि "मनुष्य अपने इतिहास का स्वयं निर्माण करता है यद्यपि वह ऐसा स्वयं की चुनी हुई परिस्थितियो के द्वारा नहीं करता ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने यद्यपि अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु वह स्वयं इन विरोधी विचारो के मध्य भटक गया है कि मनुष्य परिस्थितियों का निर्माण करता है अथवा परिस्थितियां मनुष्य का निर्माण करती हैं ।

(६) मार्क्स के द्वन्द्ववाद मे विकास की शक्ति पशु बल है और क्रांति ही विकास का हेतु है । क्रांति यदि कृत्रिम तरीकों से भी लाई जाय तो भी समाज अपनी उच्चावस्था को प्राप्त करेगा । लेनिन के अनुसार संघर्ष की शक्तियों को एक बार पहिचान लेने के बाद उसे तीव्र करके उस क्रांति का जिसे आने मे हजारो वर्ष लग सकते हैं, कुछ ही वर्षों मे लाया जा सकता है । इस तरह समाज की उच्चतर अवस्था के लिए क्रांति की चरम सीमा को आवश्यक मानने का परिणाम शक्ति और हिंसा का अनिवार्य प्रयोग है । किन्तु क्रांति अनिवार्य हो ऐसी बात नहीं है । "'प्रतिवाद' (*Antithesis*) की शक्ति पहिचान कर उसका निराकरण करते रहना और 'वाद' (*Thesis*) की शक्ति का बराबर आवाहन करते रहने से 'संश्लेषण' (*Synthesis*) की अवस्था

---

1. "The Marxian version of dialectic is indeed open to a ... properl be appl ed to ... *development* Yet, although dialectical metarialism can point to something analogous to contradiction in the material world, not only are those analogies altogether ... would still remain a ... orld should exhibit ... serts that matter is ... Only while we can ... example in discussion, there is no conceivable reason why material things should develop in the same way "

—*Crew Hunt : Theory* and *Practice* of Communism, Page 33

स्वत. आ सकती है—ऐसा श्री अरविंद का विचार है। उन्होंने संसार के विकास को दो भागों में बांटा है—अचेतन और सचेतन। मनुष्य के नीचे तक का विकास अचेतन है क्योंकि अन्य प्राणी आत्मा के रहस्य से अपरिचित होते हैं। "इसलिए अचेतन वस्था में प्रकृति की द्वन्द्वात्मक परिधि में वेजाने वे घूमते है।" किन्तु मनुष्य अपना आत्मा और विकास के रहस्य से परिचित है, अतः उसके विकास के लिये क्रांति जरूरी नहीं है। उसके लिये तो आवश्यक यह है कि वह इस क्रांति का निराकरण करते हुये आत्मिक शक्ति को स्वयं में परिमार्जित करे। "इसी प्रकार सामाजिक जीवन में 'एकता में अनेकता' और 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त के अनुसार इस क्रांति को बचाकर समाज सचेतन अवस्था में आगे बढ़ सकता है। क्रांति विकास का साधन नहीं है बल्कि प्राणी की अचेतना के कारण वह प्रकृति की 'निर्दय आवश्यकता' (*Cruel Necesscity*) है और उससे बचा जा सकता है।"

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना के प्रसंग में यह नहीं भूल जाना चाहिये कि मार्क्स का अनुराग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में एक दर्शन प्रणाली के रूप में न था। उसने इसका केवल इसलिए उपयोग किया क्योंकि उसे अपने कार्यक्रम को प्रस्तुत करने के लिये यह सुविधाजनक मालूम हुआ। उसने इसे अपनाया, लेकिन हीगल की प्रणाली में विद्यमान आदर्शवाद के रूप का परित्याग कर दिया क्योंकि आदर्शवाद के प्रति उसे कोई लगाव न था।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

[Materialistic Interpretation of History]

मार्क्स का द्वितीय महत्वपूर्ण सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सहायता से अपने समाजवाद को एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता प्रदान की और उसका प्रयोग ऐतिहासिक व सामाजिक विकास की व्याख्या करने के लिये किया। इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा व्याख्या को उसने ऐतिहासिक भौतिकवाद' (*Historical Materialism*) या 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' (*Materialistic Interpretation of History*) नाम दिया।

मार्क्स द्वारा अपने इस सिद्धान्त के नामकरण पर विचार करते हुये प्रो० वेपर ने कहा है कि, "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने जो बात कही है, उसके लिये यह नाम भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नही कहा जा सकता, क्योंकि भौतिक शब्द का अर्थ चेतनाहीन पदार्थ से होता है जबकि इस सिद्धान्त में मार्क्स चेतनाहीन पदार्थ की कोई बात नही करता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की बात करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। अतः मार्क्स के सिद्धान्त का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (*Economic Interpretation of History*) होना चाहिये।" वस्तुतः 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' नामकरण ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि मार्क्स के अनुसार भौतिक वस्तुएं जो इतिहास के विकास में निर्णायक तत्व हैं, वास्तव में उत्पादन शक्तियां हैं। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य तत्व है 'आर्थिक नियतिवाद' (*Economic Determinism*) अर्थात् मनुष्य जो कुछ

भी करता है उसका निर्माण माथिक या भौतिक कार्यों के द्वारा होता है। मनुष्य पूर्णरूप से मार्थिक शक्तियों का दास है। उत्पादन की शक्तियों में तीन चीज सम्मिलित हैं—(१) प्राकृतिक साधन प्रर्थात् भूमि, जलवायु, भूमि की उर्वरा शक्ति, खनिज पदार्थ, जल, विद्युत शक्ति, प्रादि; (२) मशीन, यंत्र एवं प्रतीत से विरासत में मिली हुई उत्पादन कला; तथा (३) युग विशेष में मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुण। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव बुद्धि से उत्पन्न मशीन, यंत्र और उत्पादन कला मनुष्य को प्रकृति पर विजय दिलाने में प्रधिकाधिक भाग लेते हैं। इन्हें भौतिक वस्तुमों के नाम से सम्बोधित करना और यह विचार रखना कि ऐतिहासिक प्रवाह के निश्चय में मनुष्य का कोई भाग नहीं होता, भाषा का मनुचित प्रयोग है। सम्भवतः मार्क्स ने 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' नाम इसीलिये अपनाया होगा क्योंकि वह ऐतिहासिक विकास की अपनी धारणा को हीगेलियन धारणा से प्रधिकाधिक भिन्न रखना चाहता था। हीगेलियन व्याख्या 'प्रादर्शवादी' थी, जबकि मार्क्स अपनी व्याख्या को 'भौतिकवादी' सिद्ध करना चाहता था। इसी विचार का परिणाम यह हुमा कि जबकि मार्क्स अपने सिद्धान्त को इस द्वैतवादी (*Dualistic*) आधार पर आश्रित करना चाहता था कि ऐतिहासिक विकास मानव बुद्धि और भौतिक पर्यावरण के एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है, उसने ऐसी शब्दावली रख दी जिससे यह भ्रम पैदा हो गया कि उसके अनुसार मानव इतिहास की रूपरेखा को केवल भौतिक पर्यावरण ही निर्धारित करता है (*Human history is shaped and moulded by the physical environment alone*)। एन्जिल्स ने इस स्थिति को यह कह कर और भी बिगाड़ दिया कि मानव-मानस (*The mind of man*) भौतिक विश्व का ही एक भाग है क्योंकि वह भौतिक वस्तुमों पर केवल शरीर द्वारा ही क्रिया कर सकता है।

सिद्धान्त की व्याख्या—मार्क्स, पूंजीवादी समाज कैसे संगठित हुमा, इसकी खोज करना है। इसका स्पष्टीकरण उसे इतिहास में मिलता है और वह अपने इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिकवादी धारणा या व्याख्या का नाम देता है जिसके अनुसार समस्त ऐतिहासिक घटनामों की, जीवन की, भौतिक प्रवस्थाओं की दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स कहता है, "वैध सम्बन्धों और साथ साथ राज्य के रूपों को न तो स्वतः उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मानव मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, बल्कि वह तो जीवन की भौतिक प्रवस्थाओं के मूल में स्थिर होती हैं ···। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निश्चय करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती है, प्रत्युत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निश्चय करता है।" प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थायें उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके व्यापार और उद्योग, कला और दर्शन, और रीतियां, आचरण, परम्परायें, नियम, धर्म तथा नैतिकता, मार्क्स के अनुसार जीवन की भौतिक प्रवस्थाओं द्वारा प्रभावित रूप धारण करती हैं। जीवन की भौतिक प्रवस्थाओं से उसका आशय वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है, और उनमें भी उत्पादन सर्वाधिक

महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियां जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जा सकते हैं, उनके दर्शन में नहीं। वस्तुतः "आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुक्रम में एक समुचित राजनीतिक रूप और समुचित वर्ग का आकार है।" इसलिये, मार्क्स का दर्शन इतिहास-सिद्धान्त है जो विकास के स्वाभाविक रूप को उपस्थित करता है।

मार्क्स अपने सिद्धान्त को विशेषतः दो क्रांतियों पर लागू करता है, एक तो भूतकाल की, और दूसरी भविष्य की। भूतकाल की क्रांति सामन्तवादियों के विरुद्ध बुर्जुआवादियों की थी, और मार्क्स के अनुसार यह फ्रांस की क्रांति में दिखाई दी। मार्क्स जिस भावी क्रांति की भविष्यवाणी करता है, वह बुर्जुओं के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की होगी। "यह क्रांति समाजवादी कॉमनवेल्थ (*Socialist Commonwealth*) की स्थापना करेगी।" जिन शस्त्रों से बुर्जुआवादियों ने सामन्तवाद को धराशयी किया था, वही अब बुर्जुओं के विरुद्ध प्रयुक्त होने लग गये हैं। "न केवल यह कि बुर्जुआवाद ने उन शस्त्रों का निर्माण किया है जो कि उसकी मृत्यु का कारण होंगे, प्रत्युत उसने उन मनुष्यों को भी उत्पन्न किया है, जो उन शस्त्रों का प्रयोग करेंगे—अर्थात् आधुनिक श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग का भी बुर्जुआवर्ग ही जन्मदाता है।"

मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसका विश्लेषणात्मक विवरण निम्नलिखित विभिन्न लघु शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाना सुगमता की दृष्टि से उचित होगा—

(i) **भोजन की आवश्यकता**—मार्क्स अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद का आरम्भ इस सामान्य सत्य से करता है कि "मनुष्य के जीवित रहने के लिये भोजन की आवश्यकता है।" मार्क्स यह मानकर चलता है कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन प्राप्त करना चाहिये और इसीलिये मनुष्य का जीवन बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर रहता है कि वह किस प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन करे जिन्हें वह प्रकृति से चाहता है। इस तरह उसके मत में समस्त मानवीय क्रियाकलापों की आधारशिला उत्पादन प्रणाली है। मनुष्य का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि वह प्रकृति से अपने लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने में कहां तक सफल है।

(ii) **उत्पादन की शक्तियां**—प्रश्न यह है कि जब मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के निर्णायक कारकों की खोज जीवन की भौतिक स्थितियों में करनी चाहिये, न कि परमात्मा या विश्वात्मा की क्रीड़ाओं अथवा शाश्वत सत्य और न्याय की अमूर्त धारणाओं में, तो फिर जीवन की भौतिक वस्तुओं से मार्क्स का आशय क्या है। वे भौतिक वस्तुयें जिन्हें मार्क्स ऐतिहासिक विकास के क्रियाशील निर्णायक मानता है 'उत्पादन की शक्तियां' हैं जिनका विश्लेषण पहले किया जा चुका है। मार्क्स के अनुसार मानव और सामाजिक इतिहास को निर्धारित करनेवाली ये शक्तियां आर्थिक हैं, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक नहीं। किसी युग की वैधानिक और राजनैतिक संस्थायें

व संस्कृति उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति हैं । मार्क्स के ये शब्द कि "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की स्थिति निर्धारित करती है मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि इसके विपरीत उनकी सामाजिक स्थिति उनकी चेतना को निर्धारित करती है" इस सार अथवा तत्व को व्यक्त करते हैं कि आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन की शक्तियां ही अन्तत समस्त वस्तुओं का निर्धारण करती है । इन्हीं से न केवल सामाजिक ढांचा बल्कि धार्मिक विश्वासों और दर्शन की रूपरेखा का भी निश्चय होता है । मार्क्स के अनुसार यह विश्वास त्याज्य है और भ्रमपूर्ण है कि शाश्वत सत्य, न्याय, प्रेम, मानवता, दानशीलता आदि अमूर्त धारणायें सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाती हैं । सचाई केवल यही है कि उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान करती है और उत्पादन के सम्बन्धों पर सामाजिक संस्थाओं व दर्शन का ढांचा खड़ा होता है । फ्रेडरिक एन्जिल्स के शब्दों में, "इतिहास के प्रत्येक काल में आर्थिक उत्पादन और विनिमय की पद्धति तथा तद् जनित सामाजिक संगठन वह आधार बनाते हैं जिसके ऊपर उसका निर्माण होता है और केवल जिसके द्वारा ही उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है ।"[1] इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जो यह बताते हैं कि एक युग में उत्पादन और वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होने से उसी के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं म भी परिवर्तन हुए हैं ।

आर्थिक कारणों में 'सामाजिक परिवर्तन का चालक सिद्धान्त' बताते हुए मार्क्स 'उत्पादन की शक्तियों' (*Productive forces*) और 'उत्पादन के सम्बन्धों' (*Relations of Production*) में विभेद करता है । उत्पादन की शक्तियों' में प्राकृतिक साधन मशीन तथा औज़ार, उत्पादन कला और मनुष्यों की मानसिक तथा नैतिक आदतें सम्मिलित हैं जिन्हें आधुनिक भाषा में यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान कहा जा सकता है । इन 'उत्पादन की शक्तियों' के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक ढांचा खड़ा किया जाता है । यह सामाजिक और राजनीतिक ढांचा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करता है और इन्हीं पारस्परिक सम्बन्धों को मार्क्स ने 'उत्पादन के सम्बन्ध' कह कर पुकारा है । प्रो० एबिन्सटाइन (*Prof Ebenstein*) ने अपने ग्रंथ '*Today's Ism*' में यह सुझाव दिया है कि इन उत्पादन के सम्बन्धों को 'सामाजिक संस्थाएं' (*Social Institutions*) कहा जाना चाहिये ।

(iii) परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव—मार्क्स के शब्दों में—"जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन पद्धति, सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण क्रिया निर्धारित करती

---

1 "In every historical epoch the prevailing mode of economic [illegible] sation neces [illegible] n which it is [illegible] ed the politi-

—Friedrich Engels

है।' निरन्तर परिवर्तित होती रहनेवाली उत्पादन और उत्पादन शक्तियां सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन लाती हैं। यही कारण है कि "हस्त-चालित यन्त्रों के युग में हमें सामन्तवादी समाज मिलता है और वाष्पचालित यन्त्रों के युग में औद्योगिक पूंजीवादी समाज स्थापित होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां हीगल प्रकृति में समस्त परिवर्तनों के पीछे आत्मा को ही प्रमुख शक्ति मानता था वहां मार्क्स के अनुसार सामाजिक संगठन का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन उत्पादन के साधनों के अनुसार होता है।

मार्क्स का विश्वास है कि उत्पादन एवं उत्पादन शक्तियों का विकास समानान्तर चलता है और कृत्रिम साधनों द्वारा इस विकास को रोकने का प्रयत्न करने पर स्वाभाविक रूप से संकट उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। इस प्रकार का संकट पूंजीवाद मे उत्पन्न होता रहता है क्योंकि जब उत्पादन लोगों की क्रय शक्ति से अधिक हो जाता है तो लाभ की कोई आशा न रहने के कारण पूंजीपति बने बनाये माल को नष्ट कर देते हैं और मजदूरों को पैसा देकर पुनः माल उत्पन्न करवाते हैं व उसे बड़े अधिक दामों पर बेचते है। मार्क्स की मान्यता है कि ऐसा संकट समाजवादी व्यवस्था में उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इस व्यवस्था में उत्पादन लाभ के लिए नहीं बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु होता है।

(iv) उत्पादन व उत्पादन शक्ति के विकास की द्वन्द्ववाद से प्राप्ति – मार्क्स कहता है कि उत्पादन और उत्पादन शक्ति के विकास का एक निश्चित नियम है जिसकी प्राप्ति द्वन्द्ववाद से हो सकती है। उत्पादन की अवस्थाओं में परिवर्तन तब तक चलता रहता है जब तक कि उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था नहीं आ जाती। द्वन्द्ववाद के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इतिहास के विकास की दशा निश्चयात्मक रूप से समाजवाद की ओर है। इस तरह मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद, वेपर (*Wayper*) के शब्दों में 'एक आशावादी सिद्धान्त है जो मानव की उत्तरोत्तर प्रगति में विश्वास रखता है जिसमें अन्तिम रूप से मानव की विजय होती है।"

(v) आर्थिक व्यवस्था और धर्म—मार्क्स के अनुसार "धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है," यह "अफीम के नशे के समान है।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऐसे समाज में जहां मनुष्यों की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होतीं और सर्वत्र असन्तोष व्याप्त रहता है वहां 'धर्म' ही अन्तिम आश्रय होता है। धर्म के नशे में वे अपना दुःख-दर्द भूल जाते हैं और सुखी संसार की कल्पना करने लगते हैं। मार्क्स धर्म का पूर्णतया खण्डन करते हुए केवल उत्पादन पर ही अत्यधिक बल देता है।

(*vi*) इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास—हीगल और मार्क्स दोनों ही का इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास है। दोनों ही की मान्यता है कि इतिहास का निर्माण मनुष्यों के प्रयत्नों से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में होता है। इतिहास के प्रवाह को मानव-प्रयत्नों द्वारा रोका नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में मार्क्स इस बात में विश्वास करता है कि "उत्पादन की शक्तियों के अनुकूल जिस प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे अवश्य ही अवतरित होंगे। मनुष्य के वश में केवल इतना ही है कि वह उनके आने में कुछ विलम्ब कर दे या अपने प्रयत्नों से उन्हें कुछ शीघ्र ले आये।"

(vii) इतिहास का काल विभाजन—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार इतिहास की प्राय. प्रत्येक अवस्था वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इतिहास की प्रत्येक घटना, प्रत्येक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों का परिणाम है। मार्क्स उत्पादनात्मक सम्बन्धों अथवा आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को अधोलिखित पांच युगों में विभाजित करता है—

(१) आदिम साम्यवाद का युग या प्राचीन साम्यवाद (*Primitive Communism*)
(२) दासत्व युग (*Slave Society*)
(३) सामन्तवादी युग (*Feudual Society*)
(४) पूंजीवादी युग (*Capitalistic Society*)
(५) समाजवादी युग (*Socialistic Society*)

आदिम युग को मार्क्स आदिम साम्यवाद की संज्ञा देता है जिसमें मनुष्य कंद मूल, फल एवं शिकार आदि के द्वारा जीवन निर्वाह करता था। मनुष्य तब कृषि, पशुपालन आदि से परिचित नहीं था। समाज में वर्ग चेतना न थी। दूसरे शब्दों में आदिम समाज वर्ग-संघर्ष से रहित था क्योंकि इसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्पादन और स्वयं उपभोग करता था।

दासत्व युग में कृषि में अनेक अनुसंधान हुए और कृषि यंत्रों के विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति विकसित होने लगी। कृषि के भूमि स्वामित्व की समस्या से सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस तरह अब समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग जो भूमि और सम्पत्ति का स्वामी था और दूसरा जिसे उसने अपना दास बना लिया था। दास वर्ग के श्रम द्वारा जो उत्पादन होता उसका उपभोग सम्पत्तिशाली वर्ग करने लगा। इस तरह समाज में स्पष्टतः धनी निर्धन का भेद, शोषक और शोषित का अन्तर, अधिकार युक्त और अधिकार विहीन कौमों का वर्ग सामने आया। वर्गों के अस्तित्व में आते ही संघर्ष आरम्भ हो गया।

संघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का सामन्तवादी युग का जन्म हुआ। अब राजाओं के हाथ में शासन आ गया। उन्होंने अपने अधीनस्थ सामन्तों को भूमि प्रदान की, बदले में सामन्त राजा को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने लगे। छोटे छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर खेती करते थे और बदले में उनको लगान देते थे। सामन्त वर्ग स्वयं भी कृषकों से अपनी भूमि पर काम लेता था और बदले में उन्हें कुछ वेतन दे देता था। सामन्त उत्पादन के साधनों का स्वामित्व करते थे, लेकिन उत्पादन क्रिया में दासों के शरीर पर उनका पहले जैसा आधिपत्य नहीं रहा। वे उन्हें खरीद या बेच सकते थे, किन्तु उनका वध नहीं कर सकते थे। सामन्तवादी युग के समाज में शीर्ष पर राजा का स्थान था, उनके नीचे घटते हुए क्रम में सामन्त होते थे और सबसे नीचे किसान होते थे जिन्हें सर्फ कहा जाता था और जिनकी दशा दासों से कोई विशेष अच्छी नहीं थी। इस अवस्था में भी स्थूल रूप से सामन्त और कृषक ये दो वर्ग थे और दोनों का संघर्ष स्वाभाविक था।

सामन्तवादी भग्नावशेषों पर पूंजीवाद का विशाल भवन निर्मित

हुआ। यह औद्योगिक युग था। हस्तचलित यंत्रों का स्थान वाष्पचालित यंत्रों ने ग्रहण कर लिया। नवीन यंत्रों के निर्माण के साथ बड़े-बड़े उद्योग धन्धे पनपे और उत्पादन अनेक गुना बढ़ गया। विशालकाय यंत्रों के प्रतिस्पर्धा में न टिक पाने के कारण छोटे-छोटे उद्योग धन्धे नष्ट हो गये। ये उद्योग धन्धे धीरे-धीरे उन व्यक्तियों के नियंत्रण में आने लगे जिनके पास यंत्र खरीदने के लिये पूंजी थी। इस प्रकार उत्पादन के साधन एक वर्ग के हाथ में—जिनके पास पूंजी थी—बने गये और समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया—(१) सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का पूंजीवादी वर्ग, और (२) सम्पत्तिविहीन श्रमजीवियों का श्रमिक वर्ग। पूंजीवादी वर्ग ने श्रमिकों की अवस्था का अनुचित लाभ उठाया और उनका मारसक शोषण किया। फलस्वरूप पूंजीपति दिन प्रतिदिन अधिक सम्पत्तिशाली बनते गये और श्रमिक दिन प्रतिदिन निर्धन होने गये। पूंजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का यह शोषण ही एक नवीन क्रांति का आह्वान करता है।

मार्क्स का विश्वास है कि पूंजीपतियों के अत्यधिक शोषण के फलस्वरूप श्रमिकों में जागरूकता आयेगी और तब दोनों वर्गों के बीच संघर्ष एक ऐसी क्रांति को जन्म देगा जिसमे पूंजीपति वर्ग की निश्चित हार होगी और विजयश्री श्रमिक वर्ग का वरण करेगी। इस संघर्ष में पूंजीवाद 'वाद' (*Thesis*) है और संगठित श्रमजीवी वर्ग प्रतिवाद' (*Antithesis*)। इनके 'संश्लेषण' (*Synthesis*) से एक 'वर्ग विहीन समाज' (*Classless society*) अस्तित्व में आयेगा। किन्तु इस आदर्श स्थिति के आगमन से पूर्व, एक संक्रमणकालीन युग आयेगा जिसमें 'श्रमजीवी वर्ग की अधिनायकता (*Dictatorship of the Proletariat*) होगी। उत्पादन के समस्त साधनों का समाजीकरण कर दिया जायगा। श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व और निरंकुश शासन तब तक वर्तमान रहेगा जब तक छिपे हुए पूंजीपति तत्वों का पूर्ण विनाश नहीं हो जाता। इनके विनाश के बाद श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व समाप्त हो जायगा और इस प्रकार वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। यह आदर्श समाज होगा जिसमें राज्य का लोप हो जायगा क्योंकि वर्ग-द्वेष की भावना मिटने के साथ ही राज्यों की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इस राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज (*Stateless and classless society*) में 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा।' यह अवस्था सोवियत रूस और चीन में अभी भी नहीं आ सकी है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के इस काल-विभाजन के मूल में मार्क्स की यही धारणा निहित है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आती, सभी समाज बदलते रहेंगे। प्रत्येक स्थिति पूर्णता के समीप एक पग है। प्रत्येक समाज को ऐसी समस्याओं से सामना करना पड़ता है, जिनके कारण या तो वे समस्याएं सुलझ जाती हैं अथवा वे समाज नष्ट-भ्रष्ट होकर घुटने टेक देते हैं। प्रत्येक स्थिति वर्गहीन समाज के लिये एक आवश्यक पग है। मार्क्स के शब्दों में—

'यह चित्र का बुरा पहलू है, जिसके कारण आन्दोलन गतिशील होता है तथा जिससे ऐसे इतिहास का निर्माण होता है, जिसके कारण संघर्ष

प्रमुखता को प्राप्त होता है। किन्तु यदि जागीरदारी के प्रभुत्व के समय अपने शूरवीरतापूर्ण गुणों के उत्साह में अधिकारों तथा कर्तव्यों के मध्य सुन्दर एकता के लिये; नगरों के विशेष जीवन के लिये; देश में समृद्धशाली घरेलू उद्योगों के लिये; निगमों, कम्पनियों तथा मण्डलों के रूप में सगठित उद्योगों के विकास के लिये; एक शब्द में—प्रत्येक उस वस्तु के लिये; जो जागीरदारी का सुन्दर चित्र बनाती है, अर्थशास्त्रियों ने अपने आपको उन सब वस्तुओं के हटाने में प्रवृत्त किया होता, जो उस चित्र पर किसी प्रकार की छाया फेंक सकते-दासवृत्ति, रियासतें, अराजकता—तब इन सब की समाप्ति कहां होती ? उन लोगों ने उन सभी खण्डों (तत्वों) को नष्ट कर दिया होता जिनके कारण संघर्ष समुपस्थित हुआ। उन लोगों ने मध्य श्रेणी के विकास का मूल में ही उच्छेदन कर दिया होता। उन्होंने अपने आपको हमारे इतिहास को कलंकित करने की व्यर्थ की समस्याओं में प्रवृत्त किया होता।"—"कोई भी स्थिति समाप्त नहीं होगी, जब तक यह उत्पादन की शक्ति के लिये ऐड़ी (उत्साह) की अपेक्षा बाधा न बन गया हो। व्यक्ति इतिहास में रुकावट नहीं उत्पन्न कर सकते तथा न ही वे विकास की स्वाभाविक स्थितियों का उल्लंघन ही कर सकते हैं।'[1]

(iii) मानव इतिहास की कुंजी वर्ग संघर्ष—मार्क्स द्वारा दिये गये इतिहास के काल विभाजन से ही यह स्पष्ट है कि समाज का इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है। यद्यपि वर्ग-युद्ध का यह विचार मौलिक नहीं है तथापि कार्लमार्क्स ने ही इस वर्ग युद्ध अथवा वर्ग संघर्ष के विचार को तर्क-विद्या के साथ जोड़ा। हर युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही उस युग के इतिहास का निर्माण हुआ है। इतिहास के इस प्रेरक तत्व के कारण ही समाज में परिवर्तन और विकास होता रहता है। सबसे अन्त में पूंजीपति और निम्न मजदूर वर्ग में संघर्ष उपस्थित

---

1. To quote *Marx*, "It is a bad side which calls into being the movement which make history in that it brings the struggle to a head. If at the time of supremacy of feudalism, the economists in their enthusiasm for knightly virtues, for the beautiful harmony between rights and duties, for the patriar- [illegible]

They would have [illegible] *blotting out history*." No stage will end until it has become a fetter on, rather than a spur to the forces of production. Man cannot short circuit history and over-lap the natural phases of evolution."

हो जाता है। पूंजीवाद पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत होता है तथा संगठित श्रम उत्तर पक्ष का रूप लेता है। इन दोनों के मध्य में संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्गहीन समाज के रूप में एक समन्वय अथवा एक नई रचना प्रस्तुत होती है।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन (A Critical Estimate of Historical Materialism)—मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सत्य पाया जाता है। यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाय कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण कारण हैं तो वह अखण्डनीय है। यह वास्तव में सत्य है कि देश में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक उसके सामाजिक, वैधानिक एवं राजनैतिक संस्थाओं पर प्रभाव डालती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनैतिक अवस्था पर पड़ता है। इस बात पर अरस्तू के समय से आज तक राजनैतिक लेखक लिखते आ रहे हैं। समाज की आर्थिक स्थितियों की पृष्ठभूमि में रखकर अध्ययन किया जाना सभी सामाजिक शास्त्रों के लिये हितकारी है। किसी जाति की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक समस्याओं के समझने और निराकरण करने में उस जाति की आर्थिक स्थितियों का ज्ञान विशेषरूप से सहायक होता है। इतिहास के एक बड़े भाग को भी हम अर्थशास्त्र की सहायता से ही समझ सकते हैं। यदि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का यही अभिप्राय लिया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिकशास्त्र की पद्धतियों में वह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रगति का सूचक है। किन्तु यह कहना बड़ी ज्यादती होगी कि इतिहास में आर्थिक तथ्य ही एकमात्र निर्णायक तथ्य है। आर्थिक स्थितियों को आवश्यकता से अधिक महत्व दे देना बड़ा सरल है। मार्क्स इतिहास की अपनी भौतिकवादी व्याख्या करते समय यही गल्ती कर बैठा है।

(१) यह कहना वस्तुतः अतिशयोक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तथ्यों के कारण ही होते है और कानून, सदाचार, धर्म आदि जो समाज के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण करते हैं वे समाज के आधारभूत आर्थिक ढांचे के ही प्रतिफल हैं। मानवीय कार्य इतने सरल नहीं हैं कि उनकी व्याख्या किसी एक प्रयोजन द्वारा ही की जा सके। उन पर मनुष्यों के अच्छे-बुरे विचारों, मनोविकारों तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि रसल ने कहा है, "हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी घटनायें भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती है। राज प्रासादों में होनेवाले षड़यंत्र, प्रपंच, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक विरोध ने अतीत में इतिहास के क्रम में बड़े-बड़े परिवर्तन किये है। मानव इतिहास मे ऐसी असंख्य घटनायें हैं जिनकी कोई आर्थिक व्याख्या नही की जा सकती। उदाहरणार्थ इतिहास की भौतिक धारणा बुद्ध, लूथर, टॉलस्टाय, ईसा अथवा मुहम्मद की व्याख्या नहीं कर सकती। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ-साथ इतिहास की अन्य व्याख्यायें भी हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, भाषा विज्ञान सम्बन्धी,

धार्मिक, वैज्ञानिक, कानून सम्बन्धी तथा सौदर्य सम्बन्धी—ये सभी ऐतिहासिक व्याख्याएं है। आर्थिक व्याख्या से जातिगत पक्षपात, अन्धविश्वास, महत्वाकांक्षा लैंगिक इच्छा, लैंगिक आकर्षण तथा अधिकार, नाम और प्रसिद्धि की लिप्साओ पर प्रकाश नही पडता। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि किसी आर्थिक कारण से प्रेरित होकर ही अशोक ने युद्ध का परित्याग किया था। भारत के विभाजन का प्रमुख कारण आर्थिक न होकर धार्मिक ही था। द्वितीय महायुद्ध के अनेक कारणो मे से एक उग्र राष्ट्रवाद था। मार्क्स इतिहास मे केवल आर्थिक तथ्य को ही निर्णायक तथ्य मानने की धुन मे यह भूल बैठा कि प्रत्येक परिवर्तन मे कोई एक कारण कार्य नही करता। अनेको कारणो के योग से एक कारण चिंगारी बन कर आता है और व्यवस्था बदल जाती है। उसे इतिहास के निर्माण में अनार्थिक कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिये था। इस विषय मे लास्की का यह अवतरण उल्लेखनीय है—

"बल्कान राज्यों के आत्मघाती राष्ट्रवाद की कोई आर्थिक व्याख्या नहीं हो सकती। १९१४ के युद्ध का एक बहुत बड़ा कारण संघर्षमय व्यापारिक साम्राज्यवाद हो सकता है, लेकिन उसमें राष्ट्रीय विचारों की प्रतिस्पर्धा का भी हाथ था जो किसी भी दृष्टि से आर्थिक नहीं थी। ऐतिहासिक रूप से भी, कम से कम वेस्टफेलिया की संधि तक, सामाजिक दृष्टिकोण के निर्माण में धर्म का उतना ही महत्वपूर्ण भाग रहा जितना कि भौतिक स्थितियों का। लूथर रोम द्वारा आर्थिक शोषण के विरुद्ध विरोध से कुछ अधिक का प्रतिनिधि है। वास्तव में मनुष्य के भावों का कभी भी कोई एक स्रोत नहीं हो सकता। शक्ति का प्रेम, समूह-भावना प्रतिस्पर्धा, प्रदर्शन की इच्छा, ये सब संचय की भावना से, जो कि भौतिक पर्यावरण की शक्ति की व्याख्या करती है, कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।"[1]

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध जो उपरोक्त आपत्ति उठाई गई है उसके उत्तर मे मार्क्सवादी यही कह सकता है कि यह सिद्धान्त दरअसल मे इतना एकांगी नही है जितना इसे बताया जाता है। आर्थिक कारको मे विचारों का कार्य भी सम्मिलित है। यह इस बात से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान उत्पादन के साधनो का महत्वपूर्ण भाग है। सन् १८९० मे एन्जिल्स ने स्वय ने एक पत्र मे स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था कि मैं और मार्क्स आशिक रूप से इस बात के लिये उत्तरदायी हैं कि कभी-कभी "हमारे शिष्यों ने आर्थिक कारक पर उचित से अधिक बल दिया है। हमारे जो विरोधी उससे इन्कार करते थे, उनके विरोध मे हम उसके आधारभूत चरित्र पर बल देने को विवश हो गये और ऐतिहासिक प्रक्रिया म अन्य तत्वो की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया की समुचित व्याख्या करने के लिए हमारे पास सदैव न तो समय था, न स्थान और न कोई अवसर ही।"[2]

---

1. *Laski*—Karl Marx, An Essay
2. "..Our disciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it. We were compelled to emphasis its control character in opposition to our opponents who

एन्जिल्स जिन अन्य कारकों का उल्लेख करता है यदि मार्क्सवादी उनमें नाना मानवीय भावनाओं को, चाहे वे निकृष्ट ही हों, सम्मिलित करने के लिये सहमत हों तो मार्क्स की धारणा से मतभेद पर्याप्त मात्रा में सीमित हो जाता है। लेकिन जब एन्जिल्स अपने उपरोक्त पत्र में यह दावा करता है कि 'आर्थिक स्थिति आधार है और अन्य तत्व ऊपर का ढांचा है' तो महत्वपूर्ण मतभेद यथावत विद्यमान रहता है। यह नही माना जा सकता कि मूलशक्ति केवल आर्थिक तत्व है, और शेष सब तत्व निस्रोतात्मक (*Derivative*) हैं तथा महत्व की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी के हैं और आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर आश्रित ऊपरी ढांचे का भाग हैं। आलोचकों की यह मान्यता बहुत कुछ सही है कि धर्म, नीति, दर्शन, मानव भावनायें, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धायें आदि भी स्वतन्त्र और समान तत्व हैं। यह अवश्य है कि विभिन्न समयों पर उनका प्रभाव एक दूसरे से घटता बढ़ता रहता है। जहां आर्थिक प्रणालियां विचार-धाराओं की जनक हैं वहां विचारधारायें भी आर्थिक प्रणालियों की उत्पत्ति का कारण हैं। उदाहरणार्थ १६१७ की क्रांति के बाद रूस में जन्म लेनेवाली सोवियट पद्धति साम्यवादी विचारधारा की सृष्टि थी तो इटली में जन्म लेने वाली फासिस्ट प्रणाली फासिज्म की संतान थी। भारत में भी गांधीवादी दर्शन ने आधुनिक विशाल उत्पादन के युग में भी कुटीर उद्योगो को पुनर्जीवित कर दिया।

(२) मार्क्स का यह कथन कि उत्पादन शक्तियों से उत्पादन सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, ठीक नहीं है। आज इस वैज्ञानिक युग में अमेरिका और रूस में लगभग एक समान उत्पादन यत्र और प्राविधिक आधार होने पर भी 'उत्पादन के सम्बन्धों' में काफी अन्तर है। अमेरिका में जहां बड़े-बड़े उद्योग धन्धे पूंजीपतियों के हाथ में है वहां रूस में इन पर राज्य का स्वामित्व है।

(३) मार्क्स का यह कहना भी सत्य नही है कि जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है, राजनीतिक शक्ति का उपभोग भी वही करता है। शक्ति प्राप्त करने का साधन केवल मात्र आर्थिक ही नहीं होता। जहां प्राचीनकाल में भारत में ब्राह्मणों और मध्यकालीन यूरोप मे पोप ने अनार्थिक कारणों से शक्ति प्राप्त की थी वहां वर्तमान युग मे अधिनायकवाद की स्थापना मुख्यत: सैन्य शक्ति के द्वारा होती है। बुद्धिमता, साहस, कपट आदि तत्व भी सत्ता प्राप्त करने में महत्वपूर्ण योग देते हैं। वेपर के अनुसार "मार्क्स की रचनाओं में कहीं भी यह स्वीकारोक्ति अथवा अनुभूति नहीं है कि मनुष्य अपने स्वाभिमान और आत्म सम्मान के सन्तुष्टिकरण के लिये शक्ति की कामना करते हैं।"[1]

---

denied it, and there was not always time, place, and occasion to do justice to the other factors in the reciprocal interactions of the historical process."

—Quoted by *Wayper* : Political Thought, Page 202

1. 'Nowhere in his (Marx's) work is there the realisation that men desire power for the satisfaction of their pride and self-respect."

—*Wayper* : Political Thought

(४) मार्क्स ने यूरोप के लगभग २००० वर्षों के इतिहास को ही अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया। सम्भवत. भारत, चीन और मिस्र की प्राचीन सभ्यताओं पर उसकी दृष्टि नहीं गई। आदिम साम्यवाद आदि का वर्णन उसकी एक कल्पना है जिसके लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

(५) मार्क्स के द्वारा इतिहास का मुख्य चार युगों (अर्थात् आदिम युग, दासत्व युग, सामन्त युग और पूँजीवादी युग) में विभाजन त्रुटिपूर्ण है। अपने ऐतिहासिक विकास की व्याख्या का सगत बनाने के लिये उसने शता ब्दियों के इतिहास की ओर दुर्लक्ष्य कर दिया जो उसके द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को प्रतिकूल दिखाई देती है। मानवशास्त्र (*Anthropology*) मार्क्स के आदिम साम्यवाद (*Primitive Communism*) के वर्णन के साथ सहमत नहीं है। यदि ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक विकास की अवस्थाओं म पूँजीवादी अवस्था भी निश्चित है तो इतिहास की भौतिक व्याख्या करनेवाला स पूछा जा सकता है कि 'पूँजीवाद का विकास विशेष रूप स पश्चिमी देशो मे क्यों हुआ ?"

(६) मार्क्स ने 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' मे 'धर्म' को अत्यन्त ही निम्न स्तर प्रदान किया। मार्क्स ने धर्म को एक नशा और झूठी सान्त्वना माना है और इस प्रकार धर्म के प्रति अविश्वास एव अज्ञान प्रगट किया है। वह भूल जाता है कि मानव मे उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिये धर्म ही एकमात्र आधार है और स्वय सोवियत रूस में भी आज तक धर्म का अन्त नहीं हो पाया है। सन् १९६१ मे दिल्ली मे हुये विश्व चर्च परिषद् के सम्मेलन म प्रथम बार रूसी चर्च के प्रतिनिधि मडल की उपस्थिति इस बात की द्योतक है कि रूसी शासन रूस के निवासियों के मन से धार्मिक भावना निकालने मे असफल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि मानव केवल भौतिक वस्तुओं का दास ही नहीं है प्रत्युत् वह आध्यात्मिक सुख का भूखा भी है।

(७) मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या उसके अपने विचारों की पुष्टि का इतिहास है। 'जिस प्रकार हीगल न ऐतिहासिक विकास का मानसिक पूर्णत्व अपने ही समय की जर्मन परिस्थितियों में कर देने के लिये प्रकृति को बाध्य किया है उसी प्रकार मार्क्स ने भी अपने समय की परिस्थितियों में जर्मनी म ही प्रकृति के भौतिक विकास का पूर्णत्व देखने के लिये प्राकृतिक शक्तियों को बाध्य करने की चेष्टा की है।' मार्क्स ने अपनी 'उत्पादन शक्तियों' का अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद का माना है जिसके प्राप्त होते ही विकास कर उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सम्भवत रूस और चीन में भी उस उद्देश्य की पूर्ति म सभी को सदेह है। रूस की समाजवादी व्यवस्था म यदि व्यक्तिगत स्वामित्व और पूँजीवाद का स्थान राज्य ने ग्रहण कर लिया है तो वह व्यक्ति के शोषण के लिय उतनी ही बडी बुराई है जितना निरकुश पूँजीवाद। नीत्से ने जर्मनी में ही प्रकृति के विकास का पूर्णत्व अपने '*Superman*' म देखन का एसा ही सैद्धान्तिक प्रयास किया था। कोम्ट ने भी अपनी औद्योगिक उपलब्धि मे सृष्टि के विकास का पूर्ण त्व देखने की इच्छा की थी। लकिन सृष्टि का विकास ऐसी मानवी पक्षपातपूर्ण उक्तियों से न रुकनेवाला है और न किसी एक ओर को मुडनेवाला है। 'सार्वजनिक विकास का मार्तीय चतुर्युग

दर्शन अभी तक भी ऐतिहासिक व्याख्याओं में सबसे अधिक प्रमाणित मालूम होता है।'

(८) मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त में एक अन्तर्विरोध भी है। एक स्थान पर वह कहता है कि इतिहास का क्रम एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण स्वतः ही निश्चित होता है और अपने प्रयत्नों से मनुष्य उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तो दूसरी ओर उसका यह भी कहना है कि श्रमिक क्रान्ति से ही समाजवाद की स्थापना संभव है। मार्क्स की विचारधारा का यह एक बड़ा अन्तर्विरोध है।

(९) मार्क्स का मत है कि इतिहास की धारा राज्यविहीन समाज पर जाकर रुक जावेगी, परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि समाज की अन्तिम साम्यवादी अवस्था में क्या पदार्थ का अन्तर्निहित गुण 'गतिशीलता' बदल जायेगा ? यदि पदार्थ में गतिशीलता एक स्वाभाविक कारण है तो आवश्यक है कि वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा उसमें उस समय भी परिवर्तन होगा, उत्पादन के साधन बदलेंगे, सामाजिक परिस्थितियां बदलेंगी, फिर वर्गविहीन समाज का 'प्रतिवाद' (*Antithesis*) उत्पन्न होगा और फिर साम्यवाद अस्तव्यस्त हो जायेगा। मार्क्स इस विषय में मौन है।

(१०) इतिहास की आर्थिक व्याख्या में मार्क्स का यह कथन है कि ऐतिहासिक विकास के पूंजीवादी युग में बुर्जुआ और श्रमिक वर्ग के बीच कटुता बढ़ती ही जावेगी, पूंजीपति अधिक धनी और श्रमिक अधिक निर्धन होते जावेंगे—वर्तमान कथ्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अमेरिका जैसे पूंजीवादी देश में पूंजीपतियों और श्रमिकों के मध्य कटुता में वृद्धि नहीं हुई और श्रमिक वर्ग निर्धन होने के बनिस्पत अधिक धन कमाने लगा है।

(११) मार्क्स का यह कहना है कि एक समाज की कानून, राजनीतिक और सामाजिक प्रणाली उसकी आर्थिक प्रणाली से ही निर्धारित होती है तथा उसमें परिवर्तन आने पर शेष सब भी परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु सम्भवतः इस प्रश्न का उत्तर देने में मार्क्स गम्भीर कठिनाई का अनुभव करेगा कि "क्यों ईसाई धर्म को अलग-अलग एक दूसरे से इतनी भिन्न जातियों ने स्वीकार कर लिया जितनी कि एक ओर तो सभ्य रोमन तथा दूसरी ओर अर्ध-बर्बर स्लाव तथा आयरिश ?" मार्क्सवाद इस बात का भी कोई उत्तर नहीं देताकि "एक ही अधिक पृष्ठभूमि के लोग सर्वथा भिन्न विचारधाराओं को क्यों स्वीकार करते हैं, और समाज के प्रवृतकों का, जिनमें स्वयं मार्क्स और एन्जिल्स तथा उन्नीसवीं शताब्दी के श्रम-आंदोलन के अधिकांश नेता सम्मिलित हैं, आविर्भाव सम्पत्तिशाली वर्ग में क्यों हुआ ?" वास्तव में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अनुभव के समस्त तथ्यों की व्याख्या करने की दृष्टि से काफी अपूर्ण है।

(१२) मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अनार्थिक तत्वों की उपेक्षा तो करती ही है किन्तु इतिहास में आकस्मिक तत्वों (*Contingent Elements*) के लिए भी कोई स्थान नहीं छोड़ती। इतिहास ऐसे सैकड़ों उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां अनेक लघु अनार्थिक आकस्मिक तत्वों के प्रभाव के कारण महत्वपूर्ण परिणाम घटित हो गये हैं। द्रोपदी के इस छोटे से व्यंग

ने कि 'एक अन्धे पिता के पुत्र से यह आशा नही की जा सकती कि वह पालिश किये संगमरमर के फर्श तथा एक जलाशय मे विभेद कर सके' महाभारत के युद्ध की आधारशिला रख दी। इसी तरह एक रुग्ण व्यक्ति और शव श्मशान भूमि को ले जाते हुए एक शव के दृश्य ने गौतम बुद्ध का जीवन-प्रवाह ही बदल दिया। यदि १९१७ मे जर्मन सरकार लेनिन को रूस लौट जाने की अनुमति न देती तो रूस के इतिहास की उसके बाद की पूर्ण दिशा ही कुछ और होती। पुन, यदि इगलैण्ड की रानी एलिजाबेथ प्रथम विवाह कर लेती और उसके कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती तो इगलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के मध्य के सम्बन्ध उनसे अवश्य ही भिन्न होते जो इन दोनो के एकीकरण के फलस्वरूप हुए।

स्पष्ट है कि मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद अनेक गम्भीर कमियो अथवा त्रुटियो का पिटारा है। किन्तु इतिहास की इस आर्थिक व्याख्या से सहमत न होते हुए भी यह मानना ही पडेगा कि मार्क्स ने सामाजिक सस्थाओं मे आर्थिक कारकों पर बल देकर समाजशास्त्र की महान् सेवा की है। इतिहास को बदलने मे आर्थिक शक्तिया एकमात्र कारण चाहे न रहीं हों, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इतिहास को बदलने मे आर्थिक *शक्तियो का योग सर्वाधिक अवश्य है।* सेबाइन के अनुसार 'मार्क्स के द्वारा की हुई इतिहास की आर्थिक व्याख्या के महत्त्व मे यह कहना अतिशयोक्ति नही कि उसने टेक्नोलॉजी आवागमन के साधन, कच्ची सामग्री के वितरण, सम्पत्ति के वितरण सामाजिक वर्गों के निर्माण प्राचीन और वर्तमान राजनीति, विधि और नैतिकता तथा सामाजिक आदर्शों के निर्माण मे, आर्थिक शक्तियो के प्रबल प्रभाव पर प्रकाश डाला है।"

वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त
(The Theory of Class Struggle)

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग सघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपसिद्धि (*Corollary*) है और साथ ही यह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (*Theory of Surplus Value*) के भी अनुकूल है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद (*Economic Determinism*) की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात में देखी कि समाज मे सदैव ही विरोधी आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। एक वर्ग वह है जिसके पास उत्पादन के साधनो का स्वामित्व है और दूसरा वर्ग वह है जो केवल शारीरिक श्रम करता है। पहला वर्ग सदैव ही दूसरे वर्ग का शोषण करता है। समाज के शोषक और शोषित—ये दो वर्ग सदा ही आपस मे सघर्षरत रहे हैं और इनमे समझौता कभी सभव नही है।

समाज की मीमासा मे मार्क्स वर्ग को ही मुख्य इकाई मानता है। विभिन्न वर्गों की जीवन-शैली, उनके स्वार्थ तथा उनके सास्कृतिक आदर्श भिन्न होते हैं। वर्ग सगठन का आधार है उत्पादन प्रक्रिया मे व्यक्ति का स्थान। वर्गसगठन के अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स मुख्य रूप से दो ऐसे वर्गों की कल्पना करता है जो आधुनिक समाज मे सक्रिय राजनैतिक समाज होते हैं। इनमे से एक मध्य वर्ग है जो नगरो मे रहता है और व्यापार मे

लगा होता है। यह क्रांति की नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रताओं में विशेष दिलचस्पी लेता है। दूसरा वर्ग उद्योगिक सर्वहारा वर्ग है। यह भी नगरों में रहता है लेकिन यह वर्ग राजनैतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा को ज्यादा महत्व देता है। आधुनिक समाज में इन दोनों वर्गों के बीच संघर्ष होता रहता है।" मार्क्स की मान्यता है कि अन्नत: इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय होती है और उसी वर्ग का आधिपत्य स्थापित होता है।

मार्क्स के अनुसार वर्ग युद्ध का सिद्धान्त विश्वजनित इतिहास की व्याख्या के लिये अचूक औषधि है। वर्ग-संघर्ष का इतिहास ही मानव जाति का इतिहास है। विश्व इतिहास आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के लिये विरोधी वर्गों में संघर्षों की शृंखला है। इतिहास का निर्माण करनेवाले सामाजिक आन्दोलन वर्ग आन्दोलन होते हैं। प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में आर्थिक और राजनैतिक शक्ति पाने के लिये निरन्तर संघर्ष महान् आन्दोलनों को जन्म देते रहे है। 'प्राचीन रोम में कुलीन सरदार साधारण मनुष्य तथा दास होते थे मध्य युग में सामन्त सरदार, जागीरदार, संघ-स्वामी, कामदार, अपरेन्टिस तथा सेवक होते थे, प्राय: इन समस्त वर्गों में इनकी उपश्रेणियां होती थी। ये समूह दमन करनेवाले तथा दलित, निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे। इनमें कभी खुलकर और कभी छुपकर, निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक समय इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप या तो समाज की क्रांतिकारी पुनर्रचना होती थी या संघर्षरत दोनों वर्ग नष्ट हो जाते थे।"[1]

मार्क्स ने सामाजिक वर्गों के संघर्षों तथा विरोधों में इतिहास की व्याख्या की कुंजी खोजकर कोई कार्य नहीं किया है। उसकी विशेपता तो इस बात में थी कि उसने वर्ग-विद्वेष या विरोध के केवल एक ही कारण-आर्थिक भेद पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। स्वयं मार्क्स ने यह स्वीकार किया है कि समाज का भिन्न भिन्न वर्गों में बांटने का सिद्धान्त उसके पूर्ववर्ती पूंजीवादी इतिहासवेत्ताओं को मालूम था, किन्तु उसने सामाजिक वर्ग-विभाजन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थात् बदलती हुई उत्पादन-क्रिया की पृष्ठभूमि में देखा और 'यह भी विशेष रूप से कहा कि सर्वहारा का अधिनायकत्व पूंजीवादी समाज का नाश करेगा। वर्ग विभाजन के सिद्धान्त का बीज प्लेटो और अरस्तू में वर्तमान है तथा विसटानल्ले, उब्रियन और

1. "In ancient Rome we have patricians, knights, plebians, and slaves, in the Middle Ages there were feudal lords, vassals, guild masters, journeymen, apprentices and serfs, in almost all of these classes, again, subordinate g adations. These groups, oppressors and oppressed, ' stood in constant opposition to one another carried on an iminterrupted, now hidden, now open, fight, a fight that at each time, ended, either in a revolutionary reconstruction of society at large, or in the common ruin of the contending classes."

—*Communist Manifesto*

और सत साइमन के अनुयायियो म भी पाया ज ता है किन्तु ऐतिहासिक द्वन्द्व-वादी दृष्टिकोण अपनाकर मार्क्सवादी उत्पादन क्रिया-प्रजित वर्गों के समस्त इतिहास का व्याख्या का यत्न करत है अत उनका प्रयत्न विशालतर है। उनकी दृष्टि म समाजवाद का लक्ष्य वर्गों क सिर्फ विशेषाधिकारो का ही हटाना नही है अपितु समस्त वर्गों को ही हटाना है।

वर्गों के विरोध आधुनिक समाज म भी विद्यमान है, विशेष बात कवल यही है कि इस युग म नवीन वग है दमन के नवीन रूप है और उनकी नवीन प्रणालियां है तथा सघर्ष के भी नवीन रूप है। प्राचीन और नवीन वर्गों म मुख्य अन्तर यह है कि आधुनिक युग म वर्ग-विरोध पूर्वापेक्षा बहुत सरल होगया है आधुनिक समाज दो बड़े गुटों पू जीपति और श्रमिकवाद-मे विभाजित है और य गुट एक दूसरे क आमने सामने पुरजोर डटे है। यह आधुनिकतम सघर्ष अर्थात् शोषक पू जीपतियो और शोषित श्रमिको का मध्य वर्ती सघर्ष पाश्चात्य सभ्यता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस सघर्ष का मार्क्स न बडा गहरा विश्लेषण किया है।

मार्क्स का कहना है कि पूजीपति वग और श्रमिक वग दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। श्रमिको के अभाव म पू जीपतियो क कारखान बेकार पडे रहगे और यदि पू जीपति श्रमिको को कारखान मे नियुक्त नही करेंगे तो व बेरोजगार हो जायेंगे और भूखो मरन लगग। लेकिन चाह दोनो वर्गों को एक दूसरे की कितनी ही आवश्यकता क्यो न हो दोनो क हितो म सघर्ष अनिवार्य है जिसमे अन्तिम विजय श्रमजीवी वग की ही होती है। मार्क्स क अनुसार जिन शस्त्रो स बुजु आो न साम तवाद का अन्त किया, व ही शस्त्र अब सम्पत्तिशाली वग के विरुद्ध प्रेरित हो रहे हैं। यहा यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स न बुजुआ (*Bourgeosic*) तथा श्रमजीवी (*Proletariat*)–इन दो शब्दो का कहीं भी स्पष्ट रूप स व्याख्या नही की है। श्रमजीवी वग की केवल एक परिभाषा उपलब्ध है जो एंजिल्स की दी हुई है। इसके अनुसार श्रमजीवी वग समाज का वह वग है जो अपने जीविको पाजन के लिय पूर्ण रूप स अपने श्रम क विक्रय पर निर्भर होता है न कि पूजी के द्वारा प्राप्त लाभ पर। उसका सुख-दु ख जीवन-मरण और उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके श्रम की माग पर निर्भर होता है। जहा तक बुजुआ' का प्रश्न है सम्भवतया लेनिन न कभी कहा था कि बुजुआ वह सम्पत्ति का स्वामी है जिसका उपयोग वह श्रमजीवी क श्रम से अवध लाभ प्राप्त करने के लिय करता है अर्थात् वह श्रमिको स काम लेने के लिये उन्ह अपनी सम्पत्ति पर नियुक्त करता है किन्तु उन्ह उनके श्रम क अनुरूप मजदूरी नही देता। मार्क्स कहता है कि पू जपति स्वाभाविक रूप स मजदूरों को वेतन कम स कम देना और उनसे अधिक स अधिक काम लेना चाहते हैं जबकि श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करने की इच्छा रखते है। दुर्भाग्यवश इस द्वन्द्व मे घाटे म श्रमिक ही रहते है। श्रम नाशवान होता है, अत उनके श्रम का खरीददार शीघ्रता स मिल जाना चाहिये क्योंकि उस श्रम को सग्रह करके नहीं रखा जा सकता। क्षुधा और अभाव स श्रमिक लम्बी प्रतीक्षा नहीं कर सकता और फलत पू जपति के सामने झुकने को विवश हो जाता है। इस तरह मा सम्बन्ध पू जीपतियो और मालिको के

हाथों में शोषण का एक महान् अस्त्र सौंप देता है जिसे श्रमिक कभी पसंद नहीं करते । शोषण के विरुद्ध चेतना जागृत होने पर श्रमिकों द्वारा शोषक पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह होते हैं और उनके विनाश के निरन्तर प्रयत्न किये जाते हैं । इस तरह उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली में इन दोनों वर्गों अथवा गुटों में एक स्थायी और न मिटनेवाला विरोध उत्पन्न हो जाता है । मार्क्स के अनुसार कुछ ऐसे और भी कारण हैं जो इन दोनों वर्गों में संघर्ष को बढ़ावा देते हैं । पूंजीपति, जो उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं, समाज के आर्थिक जीवन पर तो नियन्त्रण रखते ही हैं लेकिन सामाजिक, वैधानिक और राजनैतिक संस्थाओं को भी वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ढाल लेते हैं । शासन सत्ता उन्हीं के हाथ में होती है जिसका अनुचित प्रयोग वे ऐसे कानूनों को बनाने में करते हैं जिनसे उनकी स्वार्थ-सिद्धि होती हो । लॉस्की (*Laski*) के कथनानुसार—

"वे सामाजिक हित और अपनी सुरक्षा को एकरूप समझते हैं। अपने ऊपर आक्रमण करनेवालों को वे राजद्रोह के अपराध का दण्ड देंगे। शिक्षा, न्याय, धार्मिक उपदेश आदि सबको उन्हीं के हितों की पूर्ति के लिए ढाला जाता है । यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि सामाजिक लाभ में से सम्पत्तिहीन वर्ग को वंचित रखने का वे जान-बूझ कर कोई प्रयत्न नहीं करते, यह तो भौतिक पर्यावरण के प्रति केवल स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। किन्तु सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित वर्ग भी स्वाभाविक रूप से उनमें भाग लेना चाहता है । अतः, प्रत्येक समाज में, उसके नियन्त्रण के लिए वर्गों के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो जाता है ।"[1]

मार्क्स की यह अटल धारणा है कि "इस संघर्ष का अनिवार्य परिणाम पूंजीवाद का विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय है ।" पूंजीवाद अपने अन्दर ही अपने विनाश के बीज रखता है । मार्क्स पूंजीवाद के अवश्यम्भावी विनाश के अनेक अन्य कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालता है जो संक्षेप में निम्नानुसार दर्शाये जा सकते हैं—

(*i*) पूंजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ही उत्पादन किया जाना—पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज के हित और उपभोग को दृष्टिकोण में रखते हुए विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिये होता है । इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि समाज की मांग और उत्पादित

---

1. "They identify social good with their own preservation. Attacks upon them they will punish as sedition, education, justice, religions teaching are tempered to serve their interests. This is not, it should be insisted, a conscious effort on their part to exclude members of the non-possessing class from a share in social benefit, it is simply the natural reaction to the material environment. But the class excluded from the privileges of possession naturally also desires a share in them. Hence a rises, in every society, a struggle between classes for its control."

Laski : Communism, Page 63

माल मे सामन्जस्य स्थापित नहीं हो पाता एवं पूंजीपति स्व-लाभ के लिए ही सब कुछ करने को उद्यत् रहते हैं ।

(ii) **पूंजीवाद मे विशाल उत्पादन व एकाधिकार की ओर प्रवृत्ति**—पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रवृत्ति बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं एकाधिकार की ओर होती है । *परिणामस्वरूप थोड़े से व्यक्तियों के हाथों मे पूंजी एकत्र* हो जाती है और श्रमिकों की सख्या मे वृद्धि होती जाती है । इस तरह पूंजीवादी वर्ग अपने विनाश के लिये स्वय श्रमजीवी वर्ग को बलशाली बनाता है ।

(iii) **पूंजीवाद आर्थिक संकटों का** *जन्मदाता—पूंजीवादी उत्पादन* प्रणाली समय-समय पर आर्थिक संकट पैदा करती है । बहुधा उत्पादन श्रमिक *वर्ग की क्रय शक्ति से अधिक हो जाता है, तब लाभ की कोई आशा न रहने* से पूंजीपति बने बनाये माल को नष्ट करके माल की कृत्रिम कमी पैदा करता है और इस तरह अस्थायी आर्थिक संकटों को जन्म देता है । पूंजीवाद की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग एवं सामान्य जनता मे घोर असन्तोष व्याप्त होता है जो पूंजीवाद द्वारा अपनी मौत का खुला आमन्त्रण है ।

[illegible] *का पूंजीपतियों के पास चले* [illegible] के लिए किया जाता है, अतः [illegible] लेना है जबकि न्याय की दृष्टि [illegible] अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल का [illegible] कीमत और उस वस्तु की बाजार की कीमत का अन्तर होता है । पूंजीपति यह अन्तर श्रमिकों से छीनकर उसका शोषण करता है ।

(v) **पूंजीवाद मे व्यक्तिगत तत्व की समाप्ति**—पूंजीवादी *प्रणाली* में श्रमिक का वैयक्तिक चरित्र खो जाता है और इस प्रकार से उसका यन्त्रीकरण हो जाता है । इस प्रणाली मे श्रमिक स्वाभिमान खोकर यन्त्रों का केवल दास मात्र बन जाता है और उसकी सृजनात्मक शक्ति को भी बड़ा नुकसान पहुचता है । अपनी इस पतनोवस्था से अन्तत. श्रमिक वर्ग मे चेतना का उदय होता है और वह पूंजीवाद के नाश हेतु कटिबद्ध हो जाता है ।

(vi) **पूंजीवाद श्रमिकों की एकता मे सहायक**—पूंजीवाद श्रमिकों मे असन्तोष फैला कर उन्हें एकता की ओर *अग्रसर करता है । इसके अतिरिक्त* पूंजीवादी प्रणाली मे अनेक उद्योग एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं जिनमे लाखों श्रमिक काम करते हैं । ये श्रमिक परस्पर मिलते रहते हैं और उन्हें पारस्परिक कष्टों को समझने व स्वय के सगठन को सुदृढ करने की प्रेरणा प्राप्त होती है । इस तरह पूंजीवादी केन्द्रीकरण श्रमिक सगठन को जन्म देता है जो पूंजीवाद का सबल विरोध करता है ।

(vii) **पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन का** जन्मदाता—पूंजीवाद मे होनेवाला तीव्र विकास विश्व के नाना देशों को एक दूसरे के समीप लाता है । जब पूंजीपति उत्पादित माल को अपने देश मे *नहीं खपा* पाते तो वे दूसरे देशों मे मण्डियों की खोज करते हैं जिसके *परिणामस्वरूप* विभिन्न देशों के श्रमिकों को परस्पर सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है । इस तरह राष्ट्रीय सीमाओं को तोड कर श्रमिक आन्दोलन *अन्तर्राष्ट्रीय रूप*

धारण कर लेता है और तब श्रमिक मार्क्स के साथ यह नारा लगाते हैं—'दुनियां के मजदूरो एक होओ।" मार्क्स का यह विश्वास था कि विश्व के सभी श्रमिक मिलकर पूंजीवाद के विरुद्ध एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति का श्रीगणेश करेंगे जो पूंजीवाद की जड़ें खोखली करके समाजवाद की स्थापना करेगा।

इस तरह उपरोक्त कारणों से पूंजीवाद स्वतः अपने विनाश की ओर बढ़ता जाता है-ऐसा मार्क्स का विश्वास है। मार्क्स का कहना है कि श्रमजीवी वर्ग की क्रांति के बाद श्रमजीवी वर्ग का अधिनायक तत्र स्थापित हो जायगा जिसमें शनैः शनैः सम्पत्तिवादी वर्ग के अन्तिम अंश भी समाप्त कर दिये जायेंगे और उसके पश्चात् एक वर्गहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। पूंजीवाद के विनाश के लिये श्रमिक वर्ग किस प्रकार तैयार होगा और किस तरह समाजवाद की अवतारणा होगी-इन सब बातों का उल्लेख मार्क्स ने '*Communist Manifesto*' अर्थात् 'साम्यवादी घोषणापत्र' में किया है। लास्की (*Laski*) के मत में '*Communist Manifesto*' 'समस्त काल का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक अभिलेख' (*One of the outstanding Political documents of all times*) है। लॉस्की ने इसकी तुलना १७७६ के अमेरिकन 'स्वातन्त्र्य घोषणा' (*American Declaration of Independence*') और १७८९ के फ्रेंच 'अधिकारों की घोषणा' (*French 'Declaration of Rights*') से की है। चूंकि '*Communist Manifesto*' में मार्क्स ने आधुनिक रूप में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है अतः इस पर पृथक से कुछ लिखना बड़ा आवश्यक है। '*Manifesto*' में ही मार्क्स वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को प्रकट करता है।

मैनीफेस्टो (Manifesto)—मैनीफेस्टो का आरम्भ ही इस सामान्य कथन से होता है कि "आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।" (*The history of all hither to existing society is the history of class struggles*)। मार्क्स और एन्जिल्स ने इस घोषणा पत्र में वर्ग युद्ध के सिद्धान्त का वर्तमान समाज के समस्त नियमों को समझने की कुंजी के रूप में प्रयोग किया है। इसमें पूंजीपति वर्ग (*Bourgeoisie*) तथा सर्वहारावर्ग (*Proletariat*) के बीच १९वीं सदी के संघर्ष का सर्वोत्तम वर्णन है। इसमें केवल इस संघर्ष का वर्णन ही नहीं है वरन् क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें पूंजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का आश्वासन दिया गया है। मैनीफेस्टो में यह घोषणा की गई है कि वर्तमान युग में वर्ग-विरोध बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों में विभक्त होता जा रहा है-पूंजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग। दोनों वर्ग-विकास की विविध अवस्थाओं में से गुजरते हैं। पूंजीपति वर्ग के उत्थान और पूंजीवादी प्रणाली की विशेषताओं को बताते हुए मार्क्स कहता है कि—

(१) पूंजीवादी वर्ग उत्पादन-यंत्रों में क्रांति लाये बिना, और इसके द्वारा उत्पादन के सम्बन्धों व साथ ही समस्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाये बिना जीवित नहीं रह सकता।

(२) उत्पादन के यत्रो मे निरन्तर परिवर्तन लाभ की दृष्टि से किया जाता है। 'लाभ के लिए उत्पादन' पूजीवादी पद्धति की आधारभूत विशेषता है।

(३) अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये पूजीपति वर्ग बाजारो का विस्तार करने की ओर प्रवृत्त होता है। घरेलू बाजार मे प्रसार की गुजाइश न रहने पर यूरोपीय जातियो ने नये बाजारो की खोज मे ससार का चक्कर काटा। उन्होने अपने कारखानो मे निर्मित माल के विक्रय के लिए और अपने कारखानों को चलाने के लिए कच्चे माल की उपलब्धि हेतु सम्पूर्ण अफ्रीका और ऐशिया के अधिकाश भाग को आपस मे बांट लिया था। पूजीवाद ने अपनी इस नीति के कारण अर्थात् दूसरों से कच्चा माल लेने और उन्हे तैयार माल बेचने के कारण एक विश्व व्यापी स्वरूप धारण कर लिया है। 'प्रतिगामियों के हृदय मे तीव्र रोष उत्पन्न करते हुए इसने उद्योग के नीचे से वह राष्ट्रीय आधार निकाल लिया है जिस पर कि वह खडा हुआ था। समस्त प्राचीन राष्ट्रीय उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं अथवा नित्य प्रति नष्ट किये जा रहे हैं।"[1]

(४) पूजीपतियो के उत्पादन के ढग का एक अन्य लक्षण उसकी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। ज्यों ज्यो व्यवसाय अधिकाधिक बढ़ जाता है, त्यो त्यो ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम होती जाती है जो कारोबार मे काफी पूजी लगा सकें। इस प्रकार बडे पूजीपति छोटे पूजीपतियों को बाहर निकाल फेंकते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि पूजी थोडे से बडे पूजीपतियों के हाथो मे एकत्र हो जाती है और कारोबार एकाधिपत्य का रूप धारण कर लेते हैं। 'पूजीवादी व्यवस्था के कारण ही बडे नगरो में जनसख्या का केन्द्रीकरण हुआ है उद्योगों का केन्द्रीकरण हुआ है तथा सम्पत्ति का पूर्वापेक्षा कुछ व्यक्तियों के हाथो मे एकत्रण हुआ है।'

(५) पूजीपति वर्ग ने सभ्यता के प्रसार मे सहायता पहुचाई है उत्पादन के साधनो म होनेवाले द्रुत सुधारो ने, सवादवाहन तथा यातायात की सुविधाओ के विकास ने पिछडे हुए एव कम उन्नत राष्ट्रो को सभ्यता की परिधि मे ला दिया है और उन्हे पूजीवादी उत्पादन–पद्धति अपनाने का विवश कर दिया है।

(६) यद्यपि पूजीवाद ने अथवा पूजीपति वर्ग ने समस्त विगत पीढियों के योग की अपेक्षा उत्पादन की अधिक महान् शक्तियों को जन्म दिया है और प्रकृति की शक्तियो पर मनुष्य की विजय, मशीन, उद्योग और कृषि के क्षेत्र मे रसायनशास्त्र का प्रयोग वाष्पचालित इजिन, रेलगाडियां विद्युत तार, विशाल नदियो पर नियत्रण सामाजिक श्रम की गोद म उत्पादन की ऐसी विशालतम शक्तियां पूजीवादी पद्धति की ही देन है,' तथापि इसकी

---

1 'To the great chagrin of reactionists, it has drawn from under the feet of industry the national ground on which it stood All old established national industries have been destroyed or are daily being destroyed'
—*Communist Manifesto*

अर्थात् पूंजीवादी प्रणाली की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है। पूंजीवादी समाज की स्थिति आज 'उस जादूगर के समान है जो उस मायावी संसार की शक्तियों पर नियंत्रण करने में स्वयं असमर्थ है जिन्हें उसने स्वयं ने जादू द्वारा उत्पन्न किया है।' पूंजीवादी समाज अब पतनोन्मुख है, अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए विशाल धन को अपने में समा सकने में असमर्थ है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण बार बार नवीन संकट उत्पन्न होते हैं। इन संकटों को अपने ही द्वारा अर्जित धन को विशाल मात्रा में नष्ट करके दूर करने के प्रयत्न किये जाते हैं, लेकिन जो भी साधन इन बार-बार प्रकट होनेवाले संकटों का सामना करने के लिए अपनाये जाते हैं, वे उन संकटों को और भी अधिक तीव्र तथा भयंकर बना देते है। ये सब चिन्ह पूंजीवाद की आन्तरिक अस्थिरता का दिग्दर्शन कराते है। वास्तव में स्थिति यह है कि पूंजीपति वर्ग ने जिन शस्त्रों का निर्माण किया है उन्ही से उसका विनाश होगा। 'पूंजीवाद ने ऐसे मनुष्यों को जन्म दिया है जो उन शस्त्रों को ग्रहण करेंगे, और वे मनुष्य हैं आधुनिक श्रमिक।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'पूंजीवाद अपने में ही स्वयं अपने पतन के बीज बोये हुए है।' सर्वहारा वर्ग, जिसका जन्म पूंजीवाद के विकास से होता है और जिसका विकास भी उसके साथ-साथ होता रहता है, समाज में अपनी निम्न और अधीन स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रह सकता और लड़ कर अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम संघर्ष व्यक्तिगत पूंजीपतियों तथा व्यक्तिगत मजदूरों के बीच होता है परन्तु शीघ्र ही यह संघर्ष दोनों वर्गों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

(७) मैनीफेस्टो' में यह बताया गया है कि पूंजीपति वर्ग के विकास से श्रमिक-वर्ग की शक्ति में उत्तरोत्तर किस प्रकार वृद्धि होगी। मार्क्स की मान्यता है कि श्रमिक वर्ग भी उसी अनुपात से बढ़ता है जिस अनुपात से पूंजीवादी वर्ग का विकास होता है। पूंजीवादी प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ श्रमिक वर्ग भी संख्या, शक्ति और संगठन की क्षमता की दृष्टि से बल-शाली होता जाता है। 'मैनीफेस्टो' में प्रदत्त विवरण के अनुरूप इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—

(*i*) पूंजीवादी पद्धति में यंत्रीकरण की वृद्धि होती है, यंत्रीकरण में वृद्धि से कार्य-कुशलता उपेक्षणीय हो जाती है तथा श्रमिक एक वस्तुमात्र बन जाता है। शिल्पकार, छोटे दुकानदार एवं निम्नतर श्रेणी के मध्य वर्ग के लोग यंत्रीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण अपने व्यवसाय छोड़ने के लिये बाध्य हो जाते हैं और श्रमजीवी वर्ग में मिल जाते हैं। खेतीहर श्रमिक भी, जिन्हें भूमि से विलग होना पड़ता है, श्रमजीवी वर्ग की संख्या बढ़ाते है।

(*ii*) अपनी बढ़ती हुई सभ्यता एवं व्यक्तिगत चरित्र के लोप से श्रमिकों में वर्ग-चेतना का उदय होता है जिसका परिणाम उनकी शक्ति का विकास होता है।

(*iii*) पूंजीवादी पद्धति में उत्पादन का केन्द्रीकरण होता है, अतः हजारों श्रमिक छोटे-छोटे क्षेत्रों में आ जाते हैं। इन सम्बन्धों के कारण उन्हें अपनी कठिनाईयों और आवश्यकताओं का पूर्वापेक्षा अधिक ज्ञान होता है, वे पारस्परिक सहयोग की ओर बढ़ते है, उनकी वर्ग चेतना बलवती होती है

और इन सब बातों का पूंजीपति स्वामियों के साथ संघर्ष के स्वरूप का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। श्रमिक संगठित हो जाते हैं, संगठित रूप में अपने लिए अधिक सुविधाओं और अधिक वेतन की माँग करते हैं, उनके संगठन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हो जाते हैं। अब संघर्ष व्यक्तिगत पूंजीपतियों के विरुद्ध न रह कर सम्पूर्ण पूंजीवादी प्रणाली के विरुद्ध हो जाता है। *वर्ग चेतना जिस गति से अथवा अनुपात से विकसित होती है उसी अनुपात में श्रमिक वर्ग की शक्ति भी बढ़ती है।* उद्योगों के केन्द्रीकरण के कारण श्रमिक वर्ग में आम हड़ताल द्वारा समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को अस्त व्यस्त करने की सामर्थ्य आ जाती है।

(iv) निरन्तर प्रसारित होते हुए बाजारों, संदेशवाहन और यातायात के साधनों की पूंजीवाद की आवश्यकता सम्पूर्ण विश्व के श्रमिकों में विचार विनिमय सम्भव बना देती है और श्रमिक आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे देती है। *श्रमिक आन्दोलन पहले राष्ट्रीय स्तर पर, राष्ट्रीय राज्य के* विधान के अन्तर्गत, जब होता है तो उसका अभिप्राय यही है कि यह संघर्ष एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नाटक का केवल एक अंक है। जो क्रांति पहले राष्ट्रीय होती है वह अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है। 'मैनीफेस्टो' इस क्रांति के परिणामों की भविष्यवाणी करते हुए उद्घोष करता है कि अन्त में पूंजीपति वर्ग अपने विनाश को प्राप्त होगा तथा सर्वहारावर्ग का अस्थायी अधिनायकत्व स्थापित होगा जिसका प्रमुख कार्य शेष पूंजीपतियों को उत्पादन के साधनों से वंचित कर देना और बलपूर्वक उन्हें सम्पत्ति विहीन कर देना होगा। तब उत्पादन के सम्पूर्ण साधन राज्य के नियंत्रण में आ जायेंगे जो केवल एक वर्ग अर्थात् श्रमिक वर्ग का होगा। यह कहना अधिक सत्य होगा कि सर्वहारा क्रांति के बाद जिस समाज की स्थापना होगी वह वर्ग रहित समाज होगा। उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जायगा और उसके साथ ही इस दमनकारी राज्य की भी समाप्ति हो जायगी जिसका हमें अनुभव है।

पूंजीवाद किस भांति उन परिस्थितियों का जनक है जो स्वयं उसी का विनाश कर देती हैं, इसका सारांश कोकर के शब्दों में निम्नलिखित है—

"*इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करती है,* उन्हें संगठित समूहों में एक साथ लाती है, उनमें वर्ग चेतना भरती है, उन्हें विश्व व्यापी स्तर पर सहयोग करने तथा परस्पर मिलने-जुलने के साधन प्रदान करती है, उनकी क्रिया शक्ति को कम करती है और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित विरोध करने के लिये उत्प्रेरित करती है। *पूंजीपति, जो अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के अनुसार तथा उस प्रणाली* को बनाये रखने के लिए, जो लाभ को बनाये रखने पर निर्भर है, प्रतिक्षण ऐसी स्थितियों को जन्म दे रहे हैं जो एक ऐसे समाज का निर्माण करने को जो *एक श्रमिक समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा, स्वाभाविक प्रयत्नों को* (श्रमिकों के) स्फूर्ति तथा बल पहुँचाती है।"[1]

---

1. ... ... number of workers, ...s, makes them ...f inter-commu- ... scale, reduces

'मैनीफेस्टो' में समाज के भावी रूप के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन नहीं है बल्कि इतना ही कहा गया है कि समाज में कोई भेदभाव नहीं होंगे और न कोई केन्द्रीय दमनकारी सत्ता ही रहेगी। उसमें वस्तुओं का उत्पादन उपभोग के लिये किया जायगा मुनाफे के साथ बिक्री के लिये नहीं। दूसरे शब्दों में, उसमें सर्वाधिक सामाजिक उपयोगिता की वस्तुओं के उत्पादन पर जोर दिया गया है। घोषणा पत्र में भावी राज्य के विषय में इस प्रकार उल्लेख किया गया है, "जब विकास क्रम में वर्गीय भेद-भाव मिट जायेंगे और समस्त उत्पादन समस्त राष्ट्र की विशाल संस्था के हाथों में केन्द्रित हो जायगा, तो लोकसत्ता राजनीतिक नहीं रहेगी। राजसत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार करने की संगठित सत्ता का नाम ही है। यदि सर्वहारावर्ग पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष के समय में परिस्थितियोंवश अपने वर्ग का संगठन करने के लिए मजबूर होता है और यदि क्रांति के साधन द्वारा वह शासकवर्ग बन जाता है और पुरातन उत्पादन-व्यवस्था का बलपूर्वक अन्त कर देता है तो इस प्रकार वह इन अवस्थाओं के साथ ही वर्ग-विरोध के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं का तथा सामान्यतया वर्गों का ही विनाश कर देगा और स्वयं इस प्रकार अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। पुराने पूंजीवादी समाज के स्थान पर (जिसमें वर्ग-भेद तथा वर्ग विद्वेष मौजूद होते हैं) हम एक ऐसी संस्था स्थापित करेंगे जिसमें सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होगा।"[1]

मार्क्स का कार्यक्रम (Marx's Programme of Action)—"मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-युद्ध अतीत तथा भविष्य के

---

their purchasing power, and by increasingly exploiting them arouses them to organised resistance Capitalists, acting persistently in pursuit of their natural needs and in vindication of a system dependent upon the maintenance of profits are all the time creating conditions which stimulate and strengthen the natural efforts of workers in preparing for a system that will fit the needs of a workingmen's society."

—*Coker* : Recent Political Thought

1. "When, in the course of development, class-distinctions have disappeared, and all production has been concentrated in the hands of a vast association of the whole nation, the public power will lose its political character. Political power, properly so called, is merely the organised power of one class for oppressing another If the proletariat during its contest with the bourgeoisie is compelled, by the force of circumstances, to organise itself as a class, if by means of a revolution it makes itself the ruling class, and, as such, sweeps away by force the old conditions of production, then it will, alongwith those conditions, have swept away the conditions for the existence of class antagonisms, and of classes generally and will thereby have abolished its own supremacy as a class".

—*Communist Manifesto*

सामाजिक विकास एवं क्रांति की प्रक्रिया सम्बन्धी विचारों से उसकी व्यावहारिक साम्यवाद की प्रणाली अर्थात् उसके कार्यक्रम, के लिये तार्किक आधार प्राप्त होता है। यदि समस्त सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण उत्पादन के सम्बन्धों से होता है, तो प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के दोषों का निवारण इन सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा हो हो सकता है। यदि प्रचलित व्यवस्था में, व्यक्तिगत पूंजीपति ब्याज, भाड़े तथा मुनाफे के रूप में मजदूरों के श्रम के उत्पादन का अधिकांश प्राप्त करते हैं, तो व्यक्तिगत सम्पत्तिक स्वाम्य की प्रणाली का अन्त कर देना ही उचित है और उत्पादन की ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिये जिसमें भाड़े, मुनाफे तथा ब्याजखोरी के लिये कोई स्थान ही न रहे। यदि पूंजीवादी व्यवस्था में विकास की अनिवार्य प्रवृत्ति ऐसी है जिससे स्वयं वह व्यवस्था निर्बल होगी और उसका विनाश होगा, तो जब मजदूर उपलब्ध साधनों का उपयोग ऐसी स्थिति प्राप्त करने में करते हैं जिसमें उत्पादन के साधनों पर से पूंजीपतियों का नियन्त्रण हटाकर उनका स्थान वे स्वयं ले लें तो वे केवल घटनाओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर ही जा रहे हैं—वे सामाजिक विकास के पथ पर हैं, उसके विरुद्ध नहीं। इस प्रकार तर्क और तथ्यों तथा घटनाओं की प्रगति से मजदूरों का अपना कार्यक्रम मालूम होता है।

मार्क्स के इस राजनैतिक कार्यक्रम का स्पष्ट विवरण उसकी पुस्तिका साम्यवादी घोषणा पत्र (*Communist Manifesto*) के कुछ पृष्ठों में उल्लिखित है, किन्तु उसके कार्यक्रम के सर्वांगपूर्ण चित्र का अनुमान हम उसके अपने जीवन-काल की घटनाओं के सम्बन्ध में की हुई आलोचनाओं से प्राप्त करना पड़ता है।'[1]

मार्क्स के अपने राजनैतिक कार्यक्रम का स्पष्टतम विवरण 'मैनीफेस्टो' में ही है जो लॉस्की (*Laski*) के शब्दों में 'एक दर्शन का इतिहास और समाजवादी सिद्धान्तों का एक आलोचनात्मक विश्लेषण होने के अतिरिक्त क्रांतिकारी कार्यक्रम के लिये उत्तेजनापूर्ण आह्वान भी है।" 'मैनीफेस्टो' के द्वितीय भाग में समाजवाद की स्थापना के लिये मार्क्स ने एक निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसे अपनाकर श्रमिक अपनी सम्भावी श्रेष्ठता को वास्तविक श्रेष्ठता में परिवर्तित कर सकते हैं, अपने आत्मप्रेरित आर्थिक संघर्ष को जान बूझकर आयोजित राजनीतिक संग्राम के रूप में बदलने के लिये अपने आपको तैयार कर सकते हैं और अन्ततः पूंजीवादी वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

मार्क्स के कार्यक्रम का पहला पग है '*श्रमजीवी वर्ग को शासक वर्ग के पद पर प्रतिष्ठित करना-प्रजातन्त्र के संग्राम में विजयी होना।* अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये श्रमिकों को अपना संगठन एक अपीडित वर्ग के रूप में करना चाहिये और स्वयं को ऊंचा उठाकर *शासक वर्ग' की स्थिति* में ले जाना चाहिये। हर देश में श्रमिकों को चाहिए कि वे प्रजातन्त्र के विरुद्ध संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिये, स्वयं को शासक वर्ग की स्थिति में

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ५६ ५७

पहुँचाने के लिये अपने को एक राजनैतिक दल में संगठित करें और सामान्य निर्वाचन-पद्धति द्वारा निर्वाचक मण्डल एवं राष्ट्रीय संसद में बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यदि किसी देश में, राज्य-शासन पर नियंत्रण रखनेवाला वर्ग सैनिक बल के आधार पर बहुमत प्राप्त सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक नियंत्रण का वैध अधिकार प्राप्त करने से वंचित करने का प्रयत्न करे तो श्रमिकों को चाहिये कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये संगठित बल का भी प्रयोग करें। 'इस प्रकार शासन यंत्र पर शांतिपूर्वक या हिंसात्मक रूप से नियंत्रण प्राप्त करने पर, उन्हें अपनी सर्वोच्चता को सुरक्षित करना चाहिये और यह कार्य उन्नत जनतंत्र के परिचित उपायों द्वारा होना चाहिये जैसे सार्वभौमिक मताधिकार (*Universal Suffrage*), प्रत्यक्ष लोक निर्वाचन (*Direct Popular Election*) और प्रमुख अधिकारियों (विधानसभा, प्रशासन तथा न्याय विभाग सम्बन्धी) का जनता द्वारा प्रत्याह्वान (*Recall*); स्थायी सेना के स्थान पर 'सशस्त्र जनता,; स्वतन्त्र सार्वजनिक शिक्षा; राज्याधिकारियों को हाथों से काम करनेवाले मजदूरों के समान ही वेतन देना राजनीतिक योजना में केवल यही स्पष्ट समाजवादी विशेषता है'।[1]

अपनी राजनैतिक सर्वोच्चता सुरक्षित रूप से स्थापित कर लेने के उपरान्त श्रमिकों को अपने प्रमुख कार्य की ओर उन्मुख होना चाहिये—और यह कार्य है पूंजी का सामाजिकरण (*Socialization*)। पूंजी के सामाजिकरण की यह प्रक्रिया क्रमिक होगी क्योंकि पूंजीवाद इतना क्षीण नहीं है कि उसे एक ही चोट में समाप्त किया जा सके। इस प्रक्रिया में पूंजीवादी राज्यों में मान्यता प्राप्त एवं रक्षित सम्पत्ति के अधिकारों तथा उत्पादन की पूंजीवादी स्थितियों पर शनैः शनैः अधिकार जमाना होगा। इसके लिये किये जानेवाले उपाय सभी राज्यों में समान नहीं हो सकते। 'साम्यवादी घोषणा पत्र' के अनुसार 'अत्यन्त उन्नतिशील देशों' के लिये तात्कालिक उपाय निम्नलिखित हैं—

१. भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त एवं भूमि के सभी प्रकार के लगान का सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग।
२. यातायात तथा संचार के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।
३. साख (*Credit*) तथा बैंकों पर राज्य का एकाधिकार और इस तरह एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना।
४. उत्तराधिकार के अधिकारों का अन्त।
५. उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भारी आयकर।
६. देश से भागे हुए और देशद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।
७. कारखानों में बालकों को काम में लगाने पर प्रतिबन्ध एवं सब बालकों की निःशुल्क शिक्षा।
८. सबसे समान रूप से काम लेना, औद्योगिक सेवाओं की, विशेष-कर कृषि के लिये स्थापना।

---

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ५८

९ कृषि का उद्योग के साथ सम्मिश्रण।
१०. राज्य के कारखानो और उत्पादन के साधनों का विस्तरण।

'घोषणा-पत्र' मे यह बतलाया गया है कि क्रमिक सामाजिक सुधार का यह कार्यक्रम तभी आरम्भ होगा जब श्रमिको का राज्य पर अधिकार स्थापित हो जायगा। किन्तु मार्क्सवाद के भाषणो से प्रतीत होता है कि यदि किसी समाजवादी शासन में सरकार उपरोक्त कार्यक्रम लागू करे तो श्रमिक वर्ग सरकार को उसमें योग दे सकता है। १८४७ के *'British Ten Hours Act'* को मार्क्स ने श्रमिको के लिये बडा नैतिकपूर्ण और आर्थिक लाभमय बतलाया था।

मार्क्स सामान्यतया नीति के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक वक्तव्य देने के विरुद्ध था। उसका विचार था कि इनसे आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिये आवश्यक मजदूरो के व्यापक सहयोग मे बाधा पडती है। सन् १८७१ मे उसने कहा कि 'मजदूरों के पास कोई ऐसे तैयार आदर्श नहीं हैं, जिन्हें वे जनता की आज्ञा पाकर प्रयोग मे ला सकें। वे यह जानते हैं कि उन्हें अपनी मुक्ति प्राप्त करने और इसके साथ समाज को उच्च स्थिति मे लाने के लिये, जिसकी ओर वह दुर्निवार रीति से अपने ही आर्थिक साधनों द्वारा बढ रहा है उन्हें दीर्घकालीन संघर्षों और परिस्थितियों एव मनुष्यों को बदलनेवाली अनेक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं मे से गुजरना पडेगा।' चार वर्ष बाद गोथा-प्रोग्राम की आलोचना करते हुए उसने स्पष्ट शब्दों मे कहा कि "यथार्थ आन्दोलन का प्रत्येक कदम दर्जनो कार्यक्रमो की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का है।'

मार्क्स ने अपना कार्यक्रम प्रस्तावित करते हुए यह एकदम स्पष्ट कर दिया था कि समाजवादी क्रांति केवल तभी हो सकती है जबकि उत्पादन की आधुनिक शक्तियों और पूजीपतियो के उत्पादन की शक्तियो मे विरोध हो अथवा बहुसख्यक सर्वहारा वर्ग की आपत्तियो एवं कष्टो के कारण उनमे विरोध उत्पन्न हो जाय। वाकर ने लिखा है कि 'मार्क्स के अनेक उत्तरकालीन भाषणो मे गुप्त षडयन्त्रकारी कार्यो के प्रति सन्देह की भावना, तथा शिक्षा, आन्दोलन, सहकारिता सगठन और राजनैतिक दलगत कार्यों की सफलता में आस्था एव विश्वास की भावना व्यक्त होती है। इनको वह श्रमजीवियों के लिये राजनीतिक परिपक्वता एव शक्ति प्राप्त कर सकने के श्रेष्ठतर साधन समझने लगा था जिनकी सहायता से वे उपयुक्त समय पर शासनयन्त्र को हस्तगत कर सकेंगे।

मजदूरो द्वारा सर्वोच्चता प्राप्त करने के सम्बन्ध में मार्क्स ने अपने वक्तव्यो लखो और ग्रथो मे विभिन्न और कभी कभी अस्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। अत उसके विचारो का एकदम सही सही व्यक्तिकरण कठिन है। वैसे मार्क्स ने साधारणतया यह स्वीकार किया था कि राजसत्ता प्राप्त करने के साधन विभिन्न दशो और विभिन्न समयो म भिन्न भिन्न हो सकते हैं। किसी काल और स्थान म सीधी आर्थिक कार्यवाही तो किसी स्थान म क्रांति और कही राजनैतिक प्रधानता को शनै शनै प्राप्ति ही ठीक तरीका हो सकता है। 'मार्क्स का दृष्टिकोण अनुभवमूलक था। वह उस समय सगठित हिंसा का समर्थन करता था जबकि स्थिति ऐसी हो जिसमे समाजवादी लाग

हिंसात्मक ढंग से राजसत्ता प्राप्त कर सकें किन्तु 'समस्त प्रचलित सामाजिक अवस्थाओं का बलपूर्वक उलटना, आवश्यक रूप से ही शारीरिक बल प्रयोग द्वारा नहीं, वरन् वैध साधनों द्वारा राजनीतिक बहुमत की प्राप्ति के द्वारा होगा जिसके पश्चात् राजनीतिक (किन्तु आवश्यक रूप से वैध या कानूनी) साधनों-द्वारा पूंजीपति धीरे-धीरे सम्पत्ति से वंचित कर दिये जायेंगे। बलपूर्वक विद्रोह उसी दिशा में करना चाहिये, जबकि स्थिति उसके अनुकूल हो और उसकी सफलता की आशा हो। मार्क्स जब 'क्रांति' तथा पूंजीवाद का 'बलपूर्वक सर्वनाश' शब्दों का प्रयोग करता था, तब उसका हत्याओं तथा अग्निकांड से आशय कदापि नहीं था। एक ओर उसने समय से पूर्व क्रांति का विरोध किया और दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था के लिये जब तक परिस्थिति अनुकूल न हो, तब तक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का विरोध किया, चाहे वह वैध उपायों से ही क्यों न की जाय। उसने कहा 'यदि अपने विकास के स्वाभाविक नियमों का आविष्कार करने के लिये समाज बड़े साहसिक कदम उठाकर एक उचित मार्ग पर अग्रसर हो भी गया हो,...... तो भी वह कानूनों के द्वारा उन बाधाओं को नहीं मिटा सकता जो समाज के स्वाभाविक विकास की अवस्थाओं में उत्पन्न हो गई हैं।'[1]

मार्क्स यद्यपि सिद्धान्तवाद का विरोधी था और वह अपनी व्यूह रचना में अनेक प्रकार के समझौते करने के लिये भी तैयार था तथापि वर्ग-विद्वेष उसके सिद्धान्त के विकासवादी और क्रांतिकारी दोनों पक्षों में आधारभूत है। यह वास्तव में उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का केन्द्र बिन्दु है। अन्त में, यद्यपि मार्क्स का विश्वास था कि श्रमिकों को राज्य पर अपना अधिकार जमा लेना चाहिये और सर्वहारा वर्ग का क्रांतिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व (*Revolutionary or class dictatorship of the Proletariat*) स्थापित हो जाना चाहिये, तथापि वह यह भी मानता था कि अन्ततोगत्वा राज्य भी विलुप्त हो जायगा क्योंकि जब उसके द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी तब राज्य की सत्ता एवं शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यहां यह स्मरणीय है कि 'सर्वहारा वर्ग का क्रांतिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व' शब्दों के प्रयोग से मार्क्स का यह अभिप्राय नहीं है कि निरंकुश राजकीय सत्ता का एक अथवा अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रयोग हो और उसका आधार पूर्णतः इतना बल प्रयोग हो कि जो किसी प्रकार के कानूनों से बाध्य ही न हो। मार्क्स का अभिप्राय 'केवल नवीन राजनीतिक प्रभुत्वसत्ता-सम्पन्न वर्ग का पदच्युत पूर्व सत्ताधारी वर्ग पर अधिकार तथा ऐसी व्यवस्था ही हो सकता है जिसमें वे कानून बन्धनकारी नहीं हो सकते, जो शासन में प्रचलित थे जो वैध अथवा अवैध उपायों से पदच्युत कर दिया गया है।'

अन्त में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का कार्यक्रम कुल मिलाकर विकासवादी और क्रांतिकारी दोनों है। यह विकासवादी इस रूप में है कि मार्क्स का विचार है कि 'पूंजीवादी समाज में से समाजवादी समाज का आविर्भाव क्रमिक रूप से और पूंजीवादी समाज के उत्तरोत्तर तथा स्वाभाविक

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ६३

ह्रास के फलस्वरूप होगा।' यह इस सीमा तक भी विकासवादी है कि मार्क्स के अनुसार प्रजातान्त्रिक परम्पराओंवाले देशों तक मे भी श्रमिक अपने उद्देश्य की पूर्ति शान्तिमय उपायो से कर सकते हैं। मार्क्स का कार्यक्रम निश्चित रूप से क्रांतिकारी इस रूप मे है कि वह वर्तमान प्रणाली के शव पर नवीन प्रणाली की स्थापना के लिये हिंसा और क्रांति को आवश्यक समझता है। उसका विश्वास है कि जिन देशो मे परिस्थितियां अनुकूल नही हैं, वहा वर्ग-युद्ध, हिंसा और क्रांति के बिना आधारभूत सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का आना असम्भव है। मार्क्स का कार्यक्रम क्रांतिकारी इसलिये है क्योंकि वह यह बलपूर्वक प्रस्थापित करता है कि पूंजी और श्रम के हितों मे कभी न मिटनेवाला विरोध है तथा वर्ग संघर्ष एक अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है। यह क्रांतिकारी इस दृष्टिकोण से भी है क्योंकि यह 'अपने आदर्श के विरुद्ध विशिष्ट हितों के लिये कोई सम्मान नहीं रखता, और परिस्थिति अनुकूल होने पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई भी कदम उठाने को तैयार है। औपचारिक अथवा परम्परावादी औचित्य की धारणाएं इसे नहीं रोक सकतीं।' यह क्रांतिकारी इसलिये है क्योंकि *'Communist Manifesto'* मे मार्क्स यह घोषणा करता है कि—

'साम्यवादी प्रकट रूप से घोषणा करते हैं कि उनका लक्ष्य समस्त प्रचलित अवस्थाओं को बलपूर्वक उलट देने से ही प्राप्त हो सकेगा। शासक वर्ग साम्यवादी क्रांति से कम्पायमान हो। श्रमजीवी वर्ग के पास शृंखलाओं के अतिरिक्त खाने को और कुछ भी नहीं है। सारा विश्व उनकी विजय के लिये है।'

'विश्व के श्रमिकों संगठित हो।'[1]

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Estimate of the Theory of Class Struggle)—मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त की भांति ही एक सीमा तक सत्य का अंश अवश्य ग्रहण किये हुए है। समाज मे सामाजिक वर्गों के अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। प्राय प्रत्येक सभ्य-समाज मे जन, सम्पत्ति पद वर्ण, प्रतिभा आदि के आधार पर भेद विद्यमान रहे हैं। यह भी सत्य है कि राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिये विभिन्न वर्ग-संघर्ष ऐतिहासिक घटनाओ के निर्धारण मे योग देते रहे हैं। प्राचीन भारत मे राजनीतिक प्रभुता की प्राप्ति के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विभिन्न वंशो मे संघर्ष होता रहा था, प्राचीन यूनान मे धनतन्त्रवादियों और जनतन्त्रवादियो मे शक्ति के लिये संघर्ष विद्यमान था और प्राचीन रोम तथा अन्य देशो मे भी बहुत कुछ ऐसी ही दशा थी। मार्क्स ने इतिहास मे सामाजिक

---

1 ... communist disdain to conceal their views and aims ... only by

have a world.

वर्गों के महत्व पर बल देकर समाजशास्त्र की एक बड़ी सेवा की है। वही प्रथम विचारक है जिसने ऐतिहासिक घटनाओं की वर्ग-हितों और वर्ग-प्रवृत्तियों के शब्दों में व्याख्या की है। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की सत्यता का यह एक बड़ा प्रमाण है कि इतिहास में सम्भवतः ऐसे उदाहरण बहुत कम होंगे जहां समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष हुए बिना ही शासक वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किये हैं वे कठिन संघर्ष के फलस्वरूप ही उन्हें मिल पाये हैं।

लेकिन, उपरोक्त सत्य के होते हुए भी, मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त कटुतम आलोचना का पात्र है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त का जितना ही प्रबल समर्थन किया है, आलोचकों ने उसकी उतनी ही धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं रखी है। आलोचकों द्वारा इस सिद्धान्त के विपक्ष में दिये जानेवाले तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) मार्क्स द्वारा समाज को केवल दो वर्गों में विभाजित किया जाना उसकी मनमानी इच्छा है। समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं हैं। आधुनिक युग में एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण वर्ग मध्यम वर्ग का भी विकास हुआ है। इस वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि सम्मिलित हैं। इस तरह मार्क्स की यह घोषणा कि समाज में सदा ही दो वर्ग रहेंगे, गलत सिद्ध हो रही है। सेबाइन ने ठीक ही लिखा है कि—'**यदि मार्क्स इङ्गलैण्ड को अपना आदर्श मानता–इङ्गलैण्ड में पूंजीवादी कृषि व्यवस्था और मध्यम वर्ग की प्रधानता रही है–तो सम्भवतः उसका वर्गों का विश्लेषण यह न होता।**'[1] पुनश्च '**चूंकि मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को विरोधी तत्वों के द्वन्द्वात्मक विरोधों में देखा, इसका कारण वह केवल दो मुख्य विरोधी वर्गों को रखने में बाध्य था परन्तु इसके परिणामस्वरूप उसकी कई भविष्यवाणियां गलत सिद्ध हुई।**'[2] चूंकि मार्क्स ने जिन दो वर्गों की चर्चा की है, उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, अतः फ्रांसीसी श्रमिक संघवादी सोरल (*Sorel*) ने तो मार्क्सवादी वर्ग को 'एक अमूर्त कल्पना' तक कह दिया है।

(२) मार्क्स का यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत ठहरता है कि निम्न मध्यमवर्गीय और छोटे-छोटे बुर्जुआ अन्त में श्रमजीवी वर्ग के साथ आ मिलेंगे। उद्योग प्रधान समाजों में वेतनभोगी कर्मचारियों, बिचौलियों, व्यावसायिक लोगों और छोटे दुकानदारों की वृद्धि हुई है जिन्हें मार्क्स की योजना में छोटे बुर्जुआ ही कहा जा सकता है। लेकिन '**फासिज्म ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस प्रकार के लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल होने का इतनी निर्दयता से विरोध करते हैं जिसकी मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था।**'[3]

(३) मार्क्स ने यह भूल की है कि उसने सामाजिक वर्गों और आर्थिक वर्गों को एकरूप समझा तथा वर्ग संघर्ष को शोषक एवं शोषित वर्गों में युद्ध

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७१९
2. वही, पृष्ठ ७१९
3. वही, पृष्ठ ७१९

के अनुरूप बताया । ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों या धनतन्त्रवादियों या पेट्रीशियनों और प्लीबियनों को आर्थिक वर्ग मान लेने में पहले वर्ग एवं वर्ग चेतना की धारणाओं का उससे अधिक स्पष्ट एवं निश्चित विश्लेषण करना जरूरी है जितना मार्क्स ने किया है । वास्तव में वर्ग संघर्ष की धारणा में एकदम डूबे होने के *कारण और अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिये उसका प्रयोग करने की* अधीर उत्सुकता के कारण मार्क्स ने वांछित गम्भीर विश्लेषण नहीं किया बल्कि उसने इसका अत्यधिक सरलीकरण कर दिया । यह नहीं भूलना चाहिये कि 'इतिहास में किसी भी समय सामाजिक वर्गों में वह ठोसता और *उद्देश्य की एकता नहीं रहती जो वर्ग संघर्ष के लिये आवश्यक है,* उनमें आन्तरिक विरोध रहे हैं ।' पोपर का कहना है कि—

'वास्तव में, शासक और शासित वर्गों के हितों में आन्तरिक विरोध इतना गहरा है कि मार्क्स के वर्ग सिद्धान्त को एक खतरनाक अत्यधिक सरलीकरण समझा जाना चाहिये, चाहे हम *यह* मान भी लें कि अमीर और गरीब के मध्य संघर्ष का हमेशा आधारभूत महत्व है । मध्यकालीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण विषय, पोपों और सम्राटों के बीच युद्ध, शासक वर्ग के आन्तरिक विरोधों का एक उदाहरण है । उस कलह को शोषक और शोषित *के मध्यवर्ती संघर्ष की संज्ञा देना सम्भवतः असत्य होगा ।*'[1]

(४) वस्तुतः मानवता को संचालित करनेवाला तत्व वर्ग-संघर्ष न होकर एक सामन्जस्य की भावना है । समाज के अनेक वर्ग विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं । हर वर्ग में सामाजिकता की एक भावना होती है और सभी वर्ग समाज के हित के लिये कुछ न कुछ कार्य करते हैं । मनुष्य में सहयोग, त्याग एवं सहानुभूति आदि के श्रेष्ठ गुण भी विद्यमान होते हैं—इससे इंकार नहीं किया जा सकता । अतः समाज का विकास वर्ग-संघर्ष से नहीं अपितु सामाजिकता, सामन्जस्य एवं एकता की भावना से होता है । *'मार्क्स ने इस विश्वास को ठुकराकर निःसन्देह मानवता* के प्रति एक अक्षम्य अपराध किया है कि विश्व को धारण करनेवाला और उन्नति की ओर ले जानेवाला नियम संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का नहीं है, वरन् वह प्रेम, सहयोग और बलिदान का नियम है ।'

(५) मार्क्स ने कहा है कि पूंजीवाद के विकास के *साथ साथ श्रमिक* वर्ग दीन-हीन होते जायेंगे और परिणामस्वरूप उनमें चेतना का प्रादुर्भाव

1. ' [illegible] and [illegible]

always of fundamental importance. One of the great [illegible] of medieval history the fight between popes and emperors is an example of dissension *within the ruling class* It would be probably false to interpret this quarrel as one between exploiter and exploited "

—*Popper* : The Open Society and Its Enemies, Page 307

होगा। किन्तु इतिहास ने मार्क्स की इस मान्यता को सही नहीं ठहराया है। वास्तविकता यह है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से ही इङ्गलैण्ड में पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिकों की समृद्धि में भी इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि वे आज भी पूंजीपतियों की समृद्धि में साझीदार बने हुए हैं। साथ ही मार्क्स की यह धारणा भी सत्य सिद्ध नहीं हुई है कि श्रमिक वर्ग में भी चेतना दृढ़तर होती जायगी और समस्त कार्यकारी लोग एक हो जायेंगे। हम स्पष्ट देखते हैं कि समस्त वेतनभोगी व्यक्तियों में न तो श्रमिक वर्गीय चेतना ही आयी है और न उनमें श्रमिक वर्ग के प्रति कोई सहानुभूति ही पैदा हुई है।

(६) वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मार्क्स सम्भवतः यह कल्पना नही कर सका था कि पूंजीवाद स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सकेगा। इस भूल के कारण आज मार्क्स की पूंजीवाद के विनाश की धारणा केवल एक मृगतृष्णा बनकर रह गई है। आज पूंजीवाद ने उत्पादन पद्धति में सुधार करके स्वयं को सकटों से मुक्त कर लिया है और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालकर श्रमिकों का बहुत कुछ समर्थन प्राप्त कर लिया है।

(७) मार्क्स और एन्जिल्स ने यह विचार प्रकट किया था कि श्रमिक वर्ग की क्रांति सन्निकट पहुँच चुकी है क्योंकि पूंजीवाद अपने विनाश के लिये पक चुका है। मार्क्स ने यह विश्वास व्यक्त किया कि क्रांति सर्वाधिक औद्योगिक प्रधान देशों में सर्वप्रथम होगी। किन्तु मार्क्स का यह विश्वास अभी तक तो गलत ही प्रमाणित हुआ है क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से विकसित किसी भी देश में अभी तक कोई श्रमिक क्रान्ति नहीं हुई है।

(८) मार्क्स तथा एंगेल्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूंजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे-धीरे व्यवसायों का रूप विशाल हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (*Cartel*) बन जायेंगे तथा इस प्रकार पूंजी उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों के पास सचित होती जायगी। इस सिद्धान्त के विरोधी लोगों का कहना है कि यद्यपि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है क्योंकि आजकल बड़े विशाल औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन बन गये हैं तथापि पूंजी थोड़े व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही है। बड़े पूंजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूंजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अन्त नहीं हो रहा है और सर्वहारा वर्ग में इस मध्यम वर्ग के लोगों के शामिल होने से वृद्धि नहीं हो रही है जैसा कि घोषणा-पत्र में उल्लेख है। आधुनिक काल के मध्यम वर्ग का सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा पूंजी-वादी वर्ग के प्रति अधिक मैत्री-भाव है। इस प्रकार घोषणा-पत्र में वर्गयुद्ध के विकास की एक बात के सत्य के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है।

(९) मार्क्स की यह धारणा कि समस्त संसार के पूंजीपतियों का समान उद्देश्यों एवं हितों से सचालित होनेवाला एक ही वर्ग है, सही नहीं है। सारे विश्व की बात तो छोड़िये, एक ही देश के असंख्य भूमिपतियों, कारखानों के स्वामियों और उद्योगपतियों को एक ऐसा सफल पूंजीवादी वर्ग नहीं समझा जा सकता जो वर्ग-चेतना से पूर्णतः प्रेरित हो और जिसमें वर्ग की एकता की भावना विद्यमान हो। यदि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखा

जाय तो यह एक तथ्य है कि ब्रिटेन के पूंजीपतियो और भारत तथा जापान के पूंजीपतियो के कोई हित सामान्य नही हैं, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि उनके हितो मे संघर्ष है। पूंजीपतियो की एकता तो संदेहास्पद है ही लेकिन विभिन्न देशो के श्रमिकों के हितो मे तो और भी कम एकता है। एक देश मे पुरुष और स्त्री श्रमिकों कुशल तथा अकुशल श्रमिकों और श्वेत तथा काले श्रमिको या रंगदार श्रमिको मे जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, वे श्रमिको की एकता की मार्क्स की धारणा को गलत सिद्ध करते हैं। स्वय मार्क्स और एन्जिल्स और उनके आधुनिक अनुयायियो की श्रमिको को संगठित होने की बारम्बार अपीलें यह बताती है कि श्रमिको मे कोई स्वाभाविक एकता नहीं है। इसमे कोई संदेह नहीं कि 'विश्व के श्रमिको मे अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित होगी' की धारणा और 'श्रमिकों का कोई राष्ट्र नही होता' की विचार धारा—दोनों ही केवल कल्पनायें सिद्ध हुई हैं वास्तविकतायें नहीं। विगत दोनो विश्व युद्धो मे विश्व के सारे श्रमिक तथाकथित वर्ग चेतना को भूलकर अपने अपने राष्ट्रो की रक्षा करने मे कटिबद्ध रहे हैं और आज भी वे राष्ट्र की सीमाएं तोड नही पा रहे हैं। ये सब कारण हम मानव इतिहास को समझने की एक कुंजी के रूप में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को ठुकराने को विवश करते है। इस सिद्धान्त को इतिहास की एक व्याख्या के रूप मे गलत बताते हुए प्रो० केरियूहन्ट (*Carew Hunt*) ने लिखा है—

'अन्त मे मार्क्स की यह धारणा कि मनुष्यों में सारे संघर्षों का स्रोत वर्ग-संघर्ष है, असत्य है यद्यपि एक युद्ध कला के रूप मे इसका मूल्य असंदिग्ध है क्योंकि इसका ध्येय सर्वसाधारण को यह विश्वास दिलाना है कि उनके संकटों का कारण पूंजीवादी प्रणाली है और श्रमजीवी वर्ग की विजय के साथ वे दूर हो जावेंगे। जीवन मे संघर्ष का सबसे बड़ा कारण निश्चित रूप से व्यक्ति और समाज के दावो मे विरोध है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसे केवल वर्ग संघर्ष नहीं कहा जा सकता और जिसका कोई द्वन्द्वात्मक निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि यह अपरिवर्तनशील मानव स्थिति का एक अंग है।'[1]

(१०) मार्क्स की इस मान्यता के विरुद्ध गम्भीरतम आक्षेप किया जाता है कि अंत मे श्रमिक वर्ग को पूंजीवादी वर्ग पर विजय होगी और सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जायगा। वर्ग-संघर्ष का अन्त निश्चित रूप से पूंजीवाद का विनाश और समाजवाद की स्थापना मे होगा—

---

1. "Finally, Marx's thesis that all conflict among men arises
oubted tactical value
hat their misfortunes
m and will disappear
nonetheless fallacious.
he inevitable opposi-
lividual and *those of*
ible to class struggle
cause it is a part of

Hunt: Op. cit, P. 43

इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह धारणा केवल कामना और आशा की अभिव्यक्ति है, तथ्यों पर आधारित तर्क-सम्मत परिणाम नहीं। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि श्रमिकों और पूंजीपतियों के बीच वर्ग-संघर्ष गतिमान होगा और उसकी अन्तिम परिणति पूंजीवाद का उन्मूलन होगा, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि सत्ता औद्योगिक श्रमिकों के हाथ में ही पहुँचे, फासिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी तो हुए। यह भी "हो सकता है कि पूंजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न होकर अराजकता हो जिसमे से एक ऐसी तानाशाही का जन्म हो सकता है जिसमें सैद्धान्तिक रूप में साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"[1] यह मानने के लिये भी कोई आधार नही है कि समस्त देशों में वर्गयुद्ध के एक से परिणाम ही होगे। जो कुछ रूस मे सम्भव हुआ वह इंगलैण्ड या फ्रांस में सम्भव नही हो सकता। फासिज्म तथा नात्सीवाद का जन्म मार्क्स और एंजिल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नहीं है जितनी मार्क्स और उसके साथी सोचते थे। इसके अतिरिक्त मार्क्स यह कहीं भी सिद्ध नही करता कि श्रमिक निश्चित रूप से प्रशासन चलाने की योग्यता से सम्पन्न होगे। साम्यवाद की निश्चित जीत की मार्क्सवादी धारणा पर प्रहार करते हुए केरियूहट का कहना है कि यह सम्भव है कि–"पूंजीवाद के विनाश के फलस्वरूप एक ऐसे नवीन वर्ग का आविर्भाव हो जो निश्चित रूप से न तो पूंजीवादी हो और न श्रमजीवी मानव की पूर्णता को प्राप्त करने की क्षमता में विश्वास के कारण, जो मार्क्स को अठारहवीं शताब्दी से उत्तराधिकार में मिला था, उसका (मार्क्स का) यह विश्वास बन गया कि एक वर्गहीन समाज, जो नैतिक दृष्टि से मूलतः वांछनीय ही है, निश्चित रूप से सामाजिक विकास की अगली अवस्था होगी, जबकि एक क्रान्तिकारी और आन्दोलनकर्ता होने के नाते उसने श्रमिकवर्ग को तात्कालिक भविष्य में अपने उद्देश्य की सिद्धि का एक मात्र उपलब्ध साधन समझा, और इस प्रकार उसे अन्तिम 'निषेध का निषेध' समझने लगा।'[2]

(११) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त एक बुरा और हानिकारक सिद्धान्त है जो घृणा के प्रचार की शिक्षा देता है, सहानुभूति, सहयोग एवं भातृभाव की नही। घृणा विश्व की उन्नायक कभी नहीं बन सकती। केटलिन का तो यहां तक कहना है कि, "मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही आधुनिक

---

1. *Laski* : Communism, P 87–88
2. "...,negation of capitalism may lead to the emergence of a new class which is strictly speaking neither capitalist nor proletarian. The belief in human perfectibility that he had inherited from the eighteenth century led him to believe that a classless society, inherently desirable on ethical grounds—must be the next stage in social evolution, while as a revolutionary and agitator he saw in the working class movement the only available instrument for the achievement of this aim in the immediate future, and was thus induced to regard it as the final negation of the negation."

—*Carew Hunt* : Op. cit., Page 42

वस्तो, रोगो और यहां तक कि फासीवाद का जन्मदाता है। संघर्ष विनाश का लक्षण है, निर्माण का नहीं। यह एक ऐसी युद्ध की चिल्लाहट है, जो एकदम 'बिना किसी उद्देश्य के है।' यह सिद्धान्त अवश्य आत्महत्या के समान प्रमाणित होगा, जैसा कि प्राचीन ग्रीस और मध्यवादी रोम में प्रमाणित हुआ। यह सिद्धान्त रूस में मध्यवर्ग की सार्वजनिक हत्याओं के लिए तथा उनकी सम्पत्ति के पूर्ण हस्तगत (जब्त) किए जाने के लिये उत्तरदायी है। रैमजे मैक्डानल्ड के मतानुसार, " ये युद्ध के विचार को प्राचीनतम मतों (सिद्धान्तों) में अत्यन्त आसानी से स्थान मिल गया। मार्क्स ने देखा कि कोई भी निम्नवर्गीय (श्रमिकवर्गीय) आन्दोलन यूरोप में बिना किसी भावुकता अथवा भावना से उत्पन्न किया जा सकता है। मजदूरी कमानेवालों को अपने शत्रु का अनुभव करना पड़ा। उन्हें एक श्रेणी के रूप में संगठित होना पड़ा। अब वर्ग-युद्ध का सिद्धान्त समाजवाद को संगठित करनेवाली शक्तियों तथा सबसे प्रारम्भिक आन्दोलनों का रूप देनेवाले भावों का प्रतिनिधित्व नहीं करता।"

प्रो० कोल (*Cole*) का विचार है कि 'मैनीफ़ेस्टो' में श्रमिक वर्ग की क्रांति का मार्ग निर्धारित करते समय मार्क्स पर इंगलैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उस समय इंगलैण्ड में उत्पादन वृद्धि के कारण पूंजीपति वर्ग समृद्धशाली और श्रमिक वर्ग दीन-हीन होता जा रहा था। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन शक्ति का विस्तार कर दिया था लेकिन धन की इस वृद्धि ने श्रमिकों को आराम और सुख देने की अपेक्षा उनके दुःख और उनकी अरक्षा को ही अधिक बढ़ाया था। फलतः श्रमिक अपने संघों का निर्माण करके संकट-युक्त होने का प्रयत्न करने लगे थे। १८४५ में रॉबर्ट ओवन के नेतृत्व में निर्मित '*Grand National Consolidated Trades Union*' की विफलता के बाद उदित होनेवाले 'चार्टिस्ट' आन्दोलन में घोर संकट के कारण भूख-विद्रोह के समस्त चिह्न मौजूद थे। ऐसी परिस्थितियों में मार्क्स की इस धारणा को बल मिलना अथवा उसका इस परिणाम पर पहुंचना स्वाभाविक था कि पूंजीवाद का विकास श्रमिकों की दशा को निरन्तर पतनोन्मुख करता है और पूर्णतया असन्तुष्ट श्रमिक कभी न कभी एक ऐसा शक्तिशाली राजनीतिक जन आन्दोलन करेंगे जो पूंजीवाद को मिटा देगा। यदि '*Communist Manifesto*' दस वर्ष बाद की बदली हुई परिस्थितियों में लिखा जाता अथवा संशोधित हो जाता तो सम्भवतः मार्क्स की धारणा कुछ भिन्न होती।

मार्क्स का मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Marx's Theory of Value and Surplus Value)

कार्ल मार्क्स के दर्शन की तीन आधारशिलाओं–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन करने के बाद अब हम मार्क्सवादी दर्शन की चौथी आधारशिला 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' (*Theory of Surplus Value*) पर आते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मार्क्स ने यह दिखाने के लिये किया है कि पूंजीवादी प्रणाली में पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का किस प्रकार शोषण किया

जाता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त का विवेचन उसकी प्रसिद्ध पुस्तक *'Das Capital'* में मिलता है। मूल्य सिद्धान्त के विषय में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसमें मार्क्स इस बात का वर्णन नहीं करता कि वस्तुओं की कीमत क्या होती है, या उसमें उतार-चढ़ाव आदि क्या होते हैं। दूसरे शब्दों में मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त कीमतों का सिद्धान्त नहीं है। उसके मूल्य सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य तो यही प्रकट करना है कि पूंजीपति श्रमिक को यथायोग्य पारिश्रमिक नहीं देते। वे श्रमिकों के श्रम का मनमाना मूल्य लगा कर उनका शोषण करते हैं और स्वयं ऐश लूटते हैं।

मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त पर रिकार्डो के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अपने अर्थशास्त्र की मीमांसा की अमूर्त पद्धति उसने (मार्क्स) रिकार्डो से सीखी। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (*Labour Theory of Value*) भी रिकार्डो से ग्रहण करके उसने उसे समाजवादी आशय व्यक्त करनेवाला बनाया। फिर भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए मार्क्स कहता था कि रिकार्डो को श्रम के मूल्य के बदले श्रम-शक्ति (*Labour Power*) के विषय में विचार करना चाहिए। कोकर ने लिखा है कि, "मार्क्स ने पूंजीवाद के विकास और सामाजिक परिणामों की जो व्याख्या की है, उसकी मुख्य बात उसका अतिरिक्त मूल्य (*Surplus Value*) का सिद्धान्त है जिसे उसने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (*Labour Theory of Value*) के आधार पर स्थिर किया। मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि अन्त में किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा पर निर्भर है। यह सिद्धान्त मार्क्स से बहुत पहले अनुदार तथा उग्र सुधारवादी सिद्धान्तियों में प्रचलित था। यह वास्तव मे एक अंग्रेजी सिद्धान्त था, जिसका प्रतिपादन १७वीं सदी में सर विलियम पेरी ने किया था। उसके बाद अन्य प्रसिद्ध 'प्रतिष्ठित' अर्थशास्त्रियों मुख्यकर ऐडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो, ने भी इस पर अनेक प्रकार से जोर दिया और इसमें संशोधन भी किया।" मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त पर रिकार्डो के प्रभाव को दर्शाते हुए **प्रो० वेपर (Wayper)** ने कहा है कि, "मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, बशर्ते कि यह श्रम उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के तुल्य हो।"

मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिये सर्वप्रथम दो शब्दों का अर्थ जान लेना चाहिये-प्रयोग मूल्य (*Use Value*) तथा विनिमय-मूल्य (*Exchange Value*)। प्रयोग मूल्य का अर्थ वस्तु की उपयोगिता से है। किसी वस्तु में विनिमय मूल्य तब होता है जब उसमें मानवीय श्रम की कुछ मात्रा लग जाती है।

मार्क्स का मत है कि प्रत्येक वस्तु का प्रयोग मूल्य (*Use Value*) इस बात पर निर्भर नहीं होता कि उस पर कितना मानव-श्रम खर्च किया गया है। उदाहरण के लिये वायु और जल पर कोई मानव-श्रम खर्च नहीं किया जाता अत: उनका प्रयोग अथवा उपयोग मूल्य होता है। किन्तु किसी वस्तु का विनिमय मूल्य (*Exchange Value*) इसलिये होता है क्योंकि उस वस्तु के उत्पादन में मानव-श्रम खर्च किया जाता है। उदाहरण के लिए एक

घड़ी को बनाने के लिए एक मजदूर को काफी श्रम खर्च करना पड़ता है अतः उसका विनिमय मूल्य होता है। इन दोनों को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि—'किसी वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि मानव-श्रम का उपयोग उसमें हुआ है। तब इस मूल्य की मात्रा का नाप कैसे लिया जाय? स्पष्टतः मूल्य की सृष्टि करनेवाले तत्व की मात्रा श्रम से जो वस्तुओं में निहित है। श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम काल का माप सप्ताहों, दिवसों और घण्टों में होता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है, वह है श्रम काल या श्रम की मात्रा जो उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु को उसकी अपनी श्रेणी का औसत नमूना चाहिए। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर खर्च किये हुए श्रमकाल के अनुसार होता है।"

मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त बताता है कि श्रम ही वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों का सृष्टा है।

मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग में चलनेवाले सतत संघर्ष का मूल कारण अपने 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' में माना है। उसका तर्क इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर खर्च किये गये श्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु पर हम जितना कम श्रम करना पड़ता है, वह उतनी ही सस्ती होती है। उदाहरण के लिये एक घड़ी को बनाने में एक मजदूर काफी परिश्रम करता है, इसलिये उसका मूल्य भी सस्ता नहीं है, जबकि एक फाउण्टेन पेन को बनाने में उसे उनमें कम मेहनत करनी पड़ती है अतः वह मूल्य में घड़ी से सस्ता होता है। हवा को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती अतः वह मुफ्त में मिलती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु को उसका मूल्य देनेवाला, उसके श्रमिक का श्रम है तथा जिस कीमत पर वह बाजार में बिकती है, उसमें बहुत अन्तर है। मार्क्स इस अन्तर को वस्तु का अतिरिक्त मूल्य (*Surplus Value*) मानता है जिसे बिना कुछ किये ही मालदार पूंजीपति बीच में ही हड़प जाता है। उदाहरण के लिये परेश्म फैक्ट्री में यदि एक मजदूर एक जूता-जोड़ा बनाता है तो उसे ८ रुपये मिलते हैं, और मान लो उस जूते-जोड़े में लगनेवाली सामग्री की कीमत १० रुपया है, किन्तु वह जूता बाजार में २५ रुपये का बिकता है, तो इस प्रकार १८ रुपये निकाल देने के बाद ७ रुपये उस जूते का अतिरिक्त मूल्य है, जिसे फैक्ट्री का मालिक पूंजीपति बिना हाथ पैर हिलाये हड़प जाता है। ईमानदारी से यह सब मजदूर को ही मिलना चाहिए था, किन्तु मजदूरों की दरिद्रता का पूंजीपति अनुचित लाभ उठाकर उस अतिरिक्त मूल्य से अपनी जेबें भरता है और उन्हें दरिद्रता तथा भूख की सीमा से आगे नहीं बढ़ने देता है। यही कारण है कि मालिक और श्रमिक के बीच की यह खाई बढ़ती जा रही है और एक वर्ग युद्ध निरन्तर चलता रहता है। अतिरिक्त मूल्य की परिभाषा में मार्क्स ने लिखा है कि "यह उन दो मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है तथा पाता है" (*Surplus value is the difference between the value of the wages which a labourer produces and which he actually receives*)।

सेवाइन ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है—

"पूंजीवाद की रक्षा में श्रम शक्ति दो रूपों मे कार्य करती है। वह एक पदार्थ है जिसके लिये मजदूर निर्वाह-मजदूरी प्राप्त करता है। इसके साथ ही वह मूल्य का सृष्टा भी है। पूंजीपति मजदूर को निर्वाह-मजदूरी देने के बाद सम्पूर्ण मूल्य स्वय ग्रहण कर लेता है। मजदूर उत्पादन मे चाहे कितनी ही योग्यता, निपुणता और निष्ठा से काम क्यों न करें उन्हें उसके बदले मे केवल निर्वाह मजदूरी मिलती है; बाकी सारा लाभ पूंजीपति की जेब मे जाता है। पूंजीपति के बारे में समझा जाता है कि उसको यह लाभ उसकी उद्यमशीलता, अन्तर्दृष्टि, बुद्धिमता और सगठन-क्षमता के कारण मिलता है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स का कहना है कि श्रम की सम्पूर्ण उत्पादनशीलता को इस रूप में-प्रस्तुत किया जाता है मानो वह पूंजी की उत्पादनशीलता हो। अतः अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त ने मार्क्स के लिये वही काम किया जो बाद में आर्थिक किराये के सिद्धान्त में फेबियन समाजवादियो के लिये किया था। इसने प्रमाणित किया कि पूंजीवाद उत्पादन के साधनो के स्वामियों को लाभ की स्थिति प्रदान करता है जिससे वे उत्पादन की प्रक्रिया में जितना योगदान देते हैं, उसकी तुलना में कही अधिक अंश ग्रहण कर लेते हैं। दूसरी ओर, श्रमिकों की स्थिति हीन रहती है। वे अन्य मानवेतर पदार्थों की भांति ही समझे जाते हैं। इस प्रकार, एन्जिलस के अनुसार मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का तत्व यह था कि "श्रम का कोई मूल्य नही होता।" यह कहना कि "श्रम का मूल्य होता है, यह कहने के तुल्य होगा कि मूल्य का मूल्य होता है।"[1]

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का सार यह है कि प्रत्येक वस्तु का सच्चा मूल्य उसके उत्पादन मे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कितना श्रम व्यय हुआ है-इस बात से निर्धारित होता है और 'मार्क्स का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि इन अवस्थाओं (श्रमिकों का शोषण आदि) को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है-व्यक्तिगत भाड़े, ब्याज और मुनाफे के सभी सुयोगों का सर्वनाश। और यह परिणाम केवल समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है, जिसमें व्यक्तिगत पूंजी का स्थान सामूहिक पूंजी ले लेगी, न कोई पूंजीपति रहेगा और न मजदूर। सब व्यक्ति सहकारी उत्पादक बन जायेंगे।"[2]

अतिरिक्त मूल्य के उपरोक्त सिद्धान्त को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट है कि मार्क्स ने इसके द्वारा तीन नियमों का प्रतिपादन किया है—

(i) पूंजी संचय का सिद्धान्त (*The Law of Capitalist Accumulation*) अर्थात् पूंजीपति सदैव इस बात की ओर प्रयत्नशील रहते हैं कि वे अधिकाधिक मशीनों का प्रयोग करें ताकि श्रम की बचत हो और उत्पादन मे वृद्धि हो।

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७४०-४१
2. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ४८-४६

(*ii*) पूंजी के केन्द्रीकरण का सिद्धान्त (*The Law of Concentration of Capital*) अर्थात् प्रतियोगिता के द्वारा पूंजीपतियों की संख्या में कमी होगी, पूंजी का केन्द्रीकरण होगा जिस पर केवल कुछ व्यक्तियों का ही एकाधिकार स्थापित हो जायगा और इस तरह बहुत से पूंजीपतियों का अन्त हो जायगा।

(*iii*) कष्टों की वृद्धि का सिद्धान्त (*The Law of Increasing Misery*) *अर्थात् प्रतियोगिता के कारण पूंजीपति श्रमिकों का अत्यधिक* शोषण करेंगे जिसके कारण कष्टों में बहुत अधिक वृद्धि हो जायगी, किन्तु इसके साथ-साथ श्रमिक वर्ग की क्रान्ति होगी। पूंजीवाद के नियमों से श्रमिकों की दशा शोचनीय होगा और वे अपनी सुरक्षा के लिए संगठित होकर क्रान्ति द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करने में सफल होंगे।

मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Estimate of the Theory of Surplus Value)—मार्क्स के *मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्व एक आर्थिक सत्य की अपेक्षा* एक राजनैतिक तथा सामाजिक नारे के रूप में ही अधिक है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त सही नहीं है, बल्कि गलत मान्यताओं पर आधारित है। यदि यह सत्य है कि श्रम के बिना पूंजी का उत्पादन नहीं हो सकता, तो यह बात भी उतनी ही सत्य है कि बिना पूंजी के श्रम भी उत्पादन नहीं कर सकता। *उत्पादन में श्रम को ही एकमात्र सक्रिय और आवश्यक तत्व* मानना तथा श्रम की मजदूरी को ही उत्पादन के मूल्य के निश्चय करने में न्यायोचित अंग समझना एक गलत धारणा है। 'यह बात सर्वविदित है कि श्रम के अतिरिक्त बहुत से ऐसे तत्व हैं जिनके कारण एक वस्तु के मूल्य का निश्चय होता है और ये तत्व हैं—भूमि, पूंजी तथा संगठन अथवा संस्था।' मार्क्स एक गम्भीर भूल यह करता है कि वह केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम मानता है और मानसिक श्रम की उपेक्षा कर देता है। गुणात्मक ढंग से उत्कृष्ट बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम का गुणनफल मानना हास्यास्पद प्रतीत होता है। पुनश्च जब पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो तब यह श्रम मूलक सिद्धान्त क्रियान्वित नहीं हो सकता। मूल्य के सीमान्त-उपयोगिता सिद्धान्त के समर्थकों ने बताया कि उपयोग-मूल्य को ध्यान में रखना होगा। इस प्रकार आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को भी स्वीकृत करने पर उन लोगों ने ध्यान *दिया।*

मार्क्स के मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त की विभिन्न विद्वानों ने नाना आलोचनाएं की है, वे उन्हीं के शब्दों में निम्नानुसार हैं—

"*मूल्य* का श्रम-सिद्धान्त चिरकाल से आर्थिक सिद्धान्त के *निरर्थक* पदार्थों की कोठरी में अन्य कानूनी सिद्धान्तों के साथ पड़ा गया। वे सिद्धान्त हैं—*ब्याज का सिद्धान्त, श्रम-निधि का सिद्धान्त* तथा इस प्रकार की अन्य आदरणीय भ्रान्तियां। (Dr Niles Carpenter)

"बहुत थोड़े सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनकी ध्यानपूर्वक परीक्षा की गई है, *जिन्हें पूर्ण रूप से तथा सूक्ष्म रूप से जांच लिया गया है तथा जिन्हें पूर्णरूप* से अपने लिखित प्रमाणों से तिरस्कृत किया गया है—ऐसा ही एक *सिद्धान्त मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त है।*' (Prof. Simckhovitch)

"मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त काफी सीमा तक एक ऐसा वादानुवादी वा शास्त्रार्थपूर्ण है, जो अपनी निरन्तर गलतफहमियों के परिणामस्वरूप, जिन्हें मार्क्स के शिष्यों ने फैलाया, बढता तथा फलता-फूलता जा रहा है।" पुनश्च "मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त उन आलोचनाओं से अभी अछूता ही बचा है, जो इसकी मौलिक सिद्धि अथवा पुष्टि के विरुद्ध लगाये गये हैं, यद्यपि इसकी अभिव्यक्तियों में तथा इसके गौण सिद्धान्तों में ऐसा बहुत कुछ है, जो या तो अपुष्ट है अथवा उसके लिए किसी महत्व का नहीं, कभी तो इसलिए कि मार्क्स कभी उन अपुष्ट भ्रान्तियों से नहीं बच पाया, जो उसे अपने पूर्ववर्ती लोगों से प्राप्त हुई। इसका कुछ कारण यह भी है कि परिस्थितियां इतनी बदल चुकी हैं कि अस्थाई रूप से वे न्यायोचित आलोचनाएं, जो पूंजीवाद के पहले काल अथवा अवस्था पर की गई थीं, अपना महत्व खो बैठी हैं, क्योंकि मार्क्स ने कभी पूर्णरूप से अपने विचारों को दृढ़ता प्रदान नहीं की अथवा वह कभी अपने मन की अनिश्चित अवस्थाओं तथा सन्देहों से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सका।"

(Prof. Cole)

"मार्क्स की रचनाओं का जादू मुख्यरूप से सम्भवतः उसकी लसलसाहट (चिपकाव) तथा विश्वास में है जिसके द्वारा वह अपनी चाबी को एक ताले से दूसरे ताले में प्रयुक्त करता है। उसे इस बात का कभी भी सन्देह नहीं होता कि उसकी चाबी सब ताले खोल देगी।" (James Bonar)

"वर्तमान पद्धति के विषय में मार्क्स के विचारों के अनुसार अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का अनुवाद शुद्ध सिद्धान्त के लिए देन की अपेक्षा घृणा की परिभाषा के सारांश रूप में किया जाए तो अधिक युक्तिसंगत होगा। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के लिए शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त की बहुत-सी अव्यावहारिक चर्चा अपेक्षित है। समाजवाद के व्यावहारिकपूर्ण अथवा मिथ्या होने के संबंध में इस सिद्धान्त में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं।"

(Bertrand Russell)

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की यद्यपि तरह-तरह से आलोचना की गई है, तथापि यह एक गम्भीर और नग्न सत्य है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक ऐसा मूल तत्व है जो पूंजीवाद की हृदय हिला देनेवाली विभीषिकाओं को उद्घाटित करता है। यह सिद्धान्त इतना तर्कपूर्ण और ठोस है कि इसे चुनौती नहीं दी जा सकती और इसे स्वीकार कर लेने पर पूंज़ीवाद की हम किसी भी आधार पर रक्षा नहीं कर सकते। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि यदि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त पूर्णतया सत्य न हो तो भी उसमें अन्तर्निहित यह भावना निश्चित रूप से सत्य है कि पूंजीपतियों ने श्रमिकों की मेहनत पर अपनी विलासिता के महल खड़े किये हैं, चाहे उन्हें प्राप्त होनेवाला सारा लाभ अतिरिक्त मूल्य न हो, परन्तु उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जिसके लिए वे किसी भी प्रकार योग्य नहीं है। श्रमिकों और दरिद्रों की दयनीय अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी इस अवस्था का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व पूंजीपतियों का है। मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस सत्य की पुष्टि करना चाहता है। कतिपय आलोचक यह मानते हैं कि मजदूर श्रम करते समय तो शोषित भले ही होता है, लेकिन बाद में स्वतंत्र हो जाता है। इसके उत्तर में मार्क्स ने कहा है कि

शोषण का गति नहीं रुकती । श्रमिको का शोषण उपभोक्ता के रूप मे भी होता है, क्योंकि वही चीजे पू जीपति अधिक दाम लेकर उन बाजारो मे बेचता है जहा से मजदूर खरीदता है । इस तरह कारखाने, बाजार–सब जगह शोषण क्रम चलता रहता है । मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का ठुकरात हुए भी यह मानना पडेगा कि पू जीवादी व्यवस्था मे श्रमिक को अपने श्रम का समुचित पुरस्कार नही मिल पाता ।

मार्क्स का राज्य सिद्धान्त
(The Marxian Theory of State)

मार्क्स के दर्शन पर अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उससे मार्क्स का राज्य सिद्धान्त स्वत स्पष्ट हो जाता है । मार्क्स का राज्य सिद्धान्त उसके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की उपसिद्धि (*Corollary*) मात्र है । मार्क्स के राज्य सिद्धान्त का विश्लेषण इस दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है कि इससे पू जीवाद से साम्यवादी व्यवस्था पर आने के मूलत क्रांतिकारी स्वरूप पर और भी अधिक प्रकाश पडता है । क्रांति के बाद समाज की क्या रचना होगी और राज्य के क्या कार्य कलाप होंगे, इस विषय में मार्क्स अवश्य मौन है, तथापि उसका और एन्जिल्स की रचनाए राज्य सिद्धान्त को अवश्य ही स्पष्टता से एव निश्चयात्मक शब्दो मे प्रकट करती है ।

मार्क्स के राज्य सिद्धान्त को इस पृष्ठभूमि में समझना प्रासंगिक दृष्टि से उपयुक्त है कि राज्य के परम्परावादी सिद्धान्त से यह कहा तक और किस रूप में भिन्न है । राज्य का परम्परागत अथवा प्राचीन सिद्धान्त राज्य को एक निगमात्मक समूह (*A Corporate Group*) बताता है जिसमे *विभिन्न* समूह अथवा वर्ग सबके सामान्य कल्याण के लिये परस्पर सहयोग करते हैं । अरस्तू के बहुचर्चित शब्दो मे, "राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ है और शुभ जीवन के लिये ही उसका अस्तित्व है ।" इसका स्वाभाविक *अभिप्राय* यह है कि राज्य का औचित्य एव अस्तित्व समाज के सामान्य कल्याण अथवा सामान्य शुभ मे निहित है । राज्य उन परिस्थितियो को जन्म देता है *जिनमे* रह कर प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण और स्वतन्त्र *विकास कर* पाता है । राज्य एक ऐसा धरातल प्रदान करता है *जिस पर मनुष्य नागरिको* के रूप मे मिलते हुए सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिये पारस्परिक सहयोग की ओर उन्मुख होते है तथा जाति, वर्ण, धर्म, वर्ग आदि की सकुचित भावनाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं । *साराश मे*, राज्य एक 'सार्वत्रिक [illegible] (A Universal Association) है जो [illegible] *बनाये रखने*' का प्रयास करता [illegible] अपनी नीति से नागरिकों के [illegible] सम्बन्धो को इस तरह सतुलित करने का *प्रयत्न* करता है जिससे प्रत्येक नागरिक, यदि वह ऐसा चाहे तो मानव व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके ।"[1]

---

1. The state strives 'To hold a just balance between the different elements in society It strives by its policy of effect such an adjustment of the relationship between citizens as

किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के उपरोक्त परम्परावादी सिद्धान्त से असहमत है। मार्क्स का मत यह है कि राज्य सर्व-कल्याण को अपना उद्देश्य समझनेवाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। "यह सदैव एक ऐसा सगठन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन करता है और उनका शोषण करता है। पूंजीवादी युग के प्रारम्भ से पूंजीवादी वर्ग ने वर्तमान प्रतिनिधिक राज्यों मे राजनीतिक शक्ति पर अपना अनन्य अधिकार (*Exclusive sway*) किया हुआ है। '*Communist Manifesto*' में यह कहा गया है कि, 'आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूंजीवादियों के सामान्य मामलो के प्रबन्ध के लिये एक समिति मात्र है (*The executive of the modern state is but a committee for managing the common affairs of the whole Bourgeoisie*)।" एन्जिल्स के अनुसार राज्य "एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दलन के लिये एक यंत्र मात्र" (*Nothing more than a machine for the oppression of one class by another*) है। मार्क्स और एन्जिल्स राज्य को प्लेटो और अरस्तू के समान स्वाभाविक समुदाय (*Natural Association*) नहीं मानते। उनकी धारणा के अनुसार राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में उस समय होता है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं और जिनके हितों में कोई सामन्जस्य स्थापित नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में राज्य 'वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति है, यह "आधारभूत आर्थिक ढांचे अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये खड़ा किया हुआ ऊपरी ढांचा है।" मार्क्स और एन्जिल्स की यह दृढ़ मान्यता है कि राज्य का उद्देश्य "प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गो का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देनेवाले समस्त विचारों को कुचलने की शक्ति प्रदान करता है। कानून और पुलिस की सारी मशीन और अंत में राज्य की सैनिक शक्ति, पूंजीवादी वर्ग के उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण को सुरक्षित रखने के लिये ही हैं।"

मार्क्स की धारणा है कि शासन द्वारा शासक वर्ग अपनी इच्छाओं को शासितों पर थोपते हैं। शासन का प्रयोग बुर्जुआ लोग निम्न वर्ग के शोषण के लिये करते आ रहे है। राज्य एक ऐसी संस्था है जो श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने मे पूंजीपतियो की सहायक है। पूंजीवाद के हितों की रक्षा के लिये राज्य न केवल पुलिस और सैनिक शक्ति रखता है बल्कि राज्य की न्यायप्रणाली भी इसी काम में प्रयुक्त होती है। राज्य के राजद्रोह विषयक कानून ऐसे बनाये जाते हैं जिनसे श्रमिकों का पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करना कठिन हो जाता है। "जर्मन राज्य लीब्कनैक्ट् को बंदीगृह में डालता है क्योंकि वह उसकी सुरक्षा को चुनौती देता है, लेकिन उसे

---

will enable each of them to realise, if he so desires the fullest implication of human personality."

—*Laski* : Communism, P. 124

ली०क्नैक्ट के हत्यारों का छोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती।'[1] और तो और शिक्षा एवं धर्म जैसी सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी श्रमिकों के दमन हेतु किया जाता है। आधुनिक पूंजीवादी राज्य धर्म संस्थाओं के माध्यम से श्रमिकों की जगती हुई चेतना को दबाते हैं और उनके मन में यह भावना प्रस्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह ईश्वर के प्रति पाप है। पूंजीवादी राज्य की शैक्षणिक संस्थाएं श्रमिकों में आज्ञा पालन और समर्पण की भावना भरने का काय करती है।

राज्य सिद्धान्त की उपरोक्त धारणा के कुछ अन्तर्निहित परिणाम (*Implications*) हैं। विषय स्पष्टता की दृष्टि से इन्हें जानना आवश्यक है। ये परिणाम निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। यह सदैव ऐसा समुदाय रहा है और रहेगा जिसके द्वारा एक आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्ग का नियंत्रण और शोषण करता है। कहां कब और किस हद तक राज्य का जन्म होता है यह प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि कब कहां और किस हद तक एक राज्य विशेष के विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सका और इसी के व्यतिक्रम से राज्य का अस्तित्व *यह सिद्ध करता है कि वर्ग सम्बन्धी विरोधों में कभी सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सकता।'*[2]

(२) वर्तमान पूंजीवादी राज्य में श्रमजीवी वर्ग कभी आस्था नहीं रख सकता क्योंकि उसमें पूंजीपति उसका शोषण करते हैं। *संसद गप्प मारने की दुकान है और संसद सदस्य पूंजीवाद के वकील।* ऐसी स्थिति में श्रमिक तो राज्य के प्रति केवल निरन्तर विरोध का रवैया ही अपना सकते हैं।

(३) राज्य एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग विभेदों को बनाये रखता है और वर्ग विशेषाधिकारों को पालता है। वर्तमान पूंजीवादी राज्य में जनहित के लिये प्रतीत होनेवाले काय जैसे यातायात संचार की व्यवस्था में उन्नति करना आदि वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से श्रमिकों के दमन के लिये ही हैं। राज्य का यह दमनकारी स्वरूप तब पूर्णत प्रकट हो जाता है जब वह राजद्रोह का आरोप लगाते हुए श्रमिकों की हड़तालों और अन्य कार्यों को कुचलता है।

---

1 The German State sents Liebknecht to prison because he threatens its security but it has no d ff culty in acquitting the murderers of Liebknecht
—*Laski* Commun sm Page 128

2 Where when and to what extent the state arises *depends* directly on when where and to what extent *the class* anta gonisms of a given society cannot be objectively reconc led And *conversely* the existence of the state proves that *class* antagonisms are irreconcilable
—*Lenin Quot d* by Laski in his Communism, P 129

(४) द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने बताया है कि भविष्य में राज्य नहीं रहेगा और एक वर्ग-विहीन, राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। जब श्रमजीवी वर्ग की विजय के परिणामस्वरूप पूंजीवादी संस्था के रूप में राज्य नष्ट हो जायगा तो सार्वजनिक कार्यों का "राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और वे सच्चे सामाजिक हितों की देखभाल करने के लिये साधारण प्रशासकीय कारण बन जायेंगे।" मार्क्स के इस विचार का स्पष्ट चित्र सेबाइन के इन शब्दो मे खींचा जा सकता है—

"मार्क्सवाद का काल्पनिक तत्व वर्ग-विहीन समाज में निहित था। वर्ग-विहीन समाज इतिहास में सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का लक्ष्य है। वर्ग विहीन समाज एक प्रकार का रहस्यात्मक तत्व था जो किसी भी क्रांतिकारी सिद्धान्त के लिये अपरिहार्य होता है। उसमें भविष्य के लिये सुखद आशा का सन्देश था जो वर्तमान की निराशाओं की क्षतिपूर्ति कर देता है। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों में से किसी ने भी इस आदर्श का चित्र नहीं खींचा है और न यह बताया है कि यह आदर्श किस प्रकार प्राप्त होगा। सम्भवतः उनका विचार था कि किसी आदर्श का वर्णन करना गुस्ताखी होता है। लेनिन का विचार था कि यदि हम आदर्श को कभी प्राप्त नहीं कर सकते, तब भी आदर्श का महत्व कम नहीं होता। इस प्रकार, वर्ग-विहीन समाज की सकल्पना क्रांतिकारी दल को दृढ़ता एवं प्रेरणा प्रदान करने के लिये एक प्रकार की गल्प थी। यह गल्प सोरल की उन गल्पों की भांति ही थी जिन्हें उसनें क्रांतिकारी सिण्डीकलिज्म के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण भाग बना दिया था। महत्व की बात यह थी कि यह आदर्श दूर की एक घटना थी। इसका उद्देश्य यह नहीं था कि वह दिन प्रतिदिन के सुधार की प्रक्रिया में पथ-प्रदर्शन करे। जहां तक मार्क्सवाद एक क्रांतिकारी सिद्धान्त रहा, उसने अपना ध्यान क्रांतियों पर केन्द्रित किया। जहां तक वह विकासवादी और संशोधनवादी होगया, प्रथम विश्वयुद्ध के पहले के वर्षों में वह ऐसा ही होगया था, वहां उसका लक्ष्य वामपक्षी उदारवाद का होगया। एक आदर्श के रूप में वर्ग-विहीन समाज का अभिप्राय एक ऐसा समाज था जिसमें बल प्रयोग बिल्कुल न हो, न तो राजनैतिक सत्ता की दृष्टि से और न उद्योग में संचालन तथा प्रबन्ध की सत्ता की दृष्टि से। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार इच्छा से देगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार बिना किसी कीमत के प्राप्त करेगा। एन्जिल्स की प्रसिद्ध शब्दावली में राज्य 'तिरोहित हो जायगा' क्योंकि वह शोषण पर आधारित समाज का दमनात्मक साधन है और वर्ग-विहीन समाज में उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इसमें उद्योग का प्रबन्ध और प्रशासन भी समाप्त हो जायगा। ......व्यक्तियों के शासन के स्थान पर वस्तुओं का प्रशासन और उत्पादन की प्रक्रिया का निदेशन स्थापित हो जायगा।"[1]

(५) पूंजीवादी समाज का, वर्ग-संघर्ष का, एवं श्रमिकों के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करने के लिये एकमात्र उपाय क्रांति है। और क्योंकि राज्य, पूंजीवादी व्यवस्था में, शोषकवर्ग की सहायता करता है, और इस

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७४५.

सहायता के लिये वह पूरी शक्ति और बल का प्रयोग करता है, इसलिये राज्य का अन्त उससे अधिक शक्ति और बल के द्वारा ही किया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार राज्य को समाप्त करने के लिये पहले उस पर पूंजीपतियों का आधिपत्य क्रांति के द्वारा समाप्त किया जाय और फिर जब तक पूंजीवादी तत्वों का पूर्णतया विनाश न हो जाय तब तक राज्य पर श्रमिकों का अधिनायकत्व बना रहना चाहिये क्योंकि शक्ति प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं यदि वह छिन जाये। शक्ति को छीने जाने से रोकने के लिये शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे ट्रॉटसकी ने लिखा है, "एक क्रांतिकारी वर्ग, जिसने हाथ मे शस्त्र लेकर शक्ति प्राप्त की है, अपने हाथो में से शक्ति छीने जाने के समस्त प्रयत्न को अवश्य ही राइफिल हाथ म लेकर कुचलेगा। जहा भी उसकी विरोधी सेना है, वह अपनी सेना से उसका विरोध करेगा। जहा भी उसे सशस्त्र षडयन्त्र, हत्या के प्रयत्न अथवा विद्रोह का सामना करना पड़ेगा, वह शत्रुओं के सिरों पर निर्मम आघात करेगा।"[1]

श्रमिकों का अधिनायकत्व वर्ग विहीन समाज की स्थापना से पूर्व की संक्रान्तिकालीन (*Transitional*) अवस्था है। मार्क्स ने अपने '*Criticism of the Gotha Programme*' मे लिखा है, 'पूंजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक का दूसरे मे परिवर्तित होने का क्रांतिकारी काल रहा है। इसी के अनुरूप एक राजनैतिक संक्रान्ति काल भी होता है जो केवल क्रांतिकारी श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है।'[2]

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य मे वर्ग विरोध का अन्त हो जायगा और समाज म सभी के स्वतन्त्र विकास के लिये प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्र विकास शर्त होगी। इस श्रमजीवी अधिनायकत्व के पक्ष मे मार्क्स यह तर्क देता है कि राजनैतिक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी, जब तक कि उत्पादन के साधनो पर थोड़े से ही व्यक्तियों का स्वामित्व रहता है, व्यवहार मे एक प्रकार की (वर्गीय) अधिनायकशाही कायम रहती है। मार्क्स के अनुसार तो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक प्रकार से मजदूरों के प्रजातन्त्र का रूप धारण करता है। जबकि पहले प्रकार के राज्य में वर्गीय

---

1. ... power with ... hand, ... it has ... its own ... piracy, attempt at murder, or rising, it will hurl at the heads of its enemies an unsparing penalty"

—Quoted by *Laski* in his 'Communism', Page 140

2. "... as the period of ... the ... T ... in ... dictatorship of the proletariat"

अन्तर बने रहते है और पूंजीवादी शासन का अपना स्थायित्व ऐसे ही अन्तरों पर निर्भर करता है, दूसरे प्रकार के अधिनायकत्व का उद्देश्य सभी वर्गों का उन्मूलन करके अपने मरण के लिये मार्ग तैयार करना होगा। सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद के बारे में सेबाइन के ये शब्द उद्धरणीय हैं—

"वर्गविहीन समाज से भी ज्यादा महत्व का चरण सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद था, जो मार्क्स और एन्जिल्स के अनुसार सर्वहारावर्ग की क्रांति के तुरन्त बाद स्थापित होना है। इस अवस्था में यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारावर्ग शक्ति छीन लेता है और एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो अपनी ओर से बल का प्रयोग करता है। इसलिये, सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद भी बुर्जुआ राज्य की भांति ही वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। उसका कार्य होता है कि वह विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में बदले और यदि पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रांति का कोई प्रयत्न करे तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे, तभी सम्भवतः राज्य के तिरोहित होने की प्रक्रिया आरम्भ होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कितने दिनों तक कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गई है। मार्क्स तथा एन्जिल्स ने सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व का अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में विकास नहीं किया। इसके सम्बन्ध में मुख्य बातें १८४८–५० के फ्रांस के क्रांतिकारी उपद्रवों से सम्बन्ध रखती हैं। तथापि यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को एक वास्तविकता बनना है, तो वह एक दिन में नहीं बन जायगी। इसके लिये एक सक्रमण काल की आवश्यकता होगी। १८५० के बाद यूरोप की राजनीति में क्रांति का महत्व कम हो गया था और वह शांतिपूर्ण पथ पर अग्रसर होने लगी थी। फलतः इस विषय का आगे विवेचन अनावश्यक होगया था। इस संकल्पना को १९१७ में लेनिन ने ग्रहण किया और उसे क्रांतिकारी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन बनाया। लेनिन की क्रांति की सफलता ने इसे आधुनिक राजनैतिक चिन्तन के लिये एक महत्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[1]

जब राज्य वास्तव में सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जायगा और वर्गीय भेद न रहेंगे, तो राज्य अनावश्यक हो जायगा। इस अवस्था में 'वाद' और 'प्रतिवाद' का अन्तिम 'समन्वय' और आवश्यकता के राज्य से मनुष्य मात्र समाजवाद द्वारा स्वतन्त्रता के राज्य में उठ जायगा।

राज्य सिद्धान्तों की आलोचना (Criticism of the Theory of State)—मार्क्स के राज्य विषयक सिद्धान्त का खण्डन उसके वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के खण्डन मे ही निहित है। अतः इसकी आलोचना करते समय विस्तार में न जाकर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि राज्य सिद्धान्त की इस मार्क्सवादी धारणा को मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि राज्य वर्ग-प्रभुत्व और दमन का एक यंत्र है। मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के अधिक पूर्ण और अधिक सच्चे स्वरूप की उपेक्षा करते हुए केवल एक रोग-ग्रस्त राज्य का

---

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७४६

में सफल प्रेरक विचारधारा का रूप ग्रहण कर सका है। मार्क्स के पहले राजनैतिक दर्शन अस्पष्ट, अमूर्तदर्शन करता हुआ उपदेश तथा सुधारवाद की गलियों में चक्कर काटता था। मार्क्स के अनुसंधान से वह सक्रिय रूप से जनता के मध्य प्रभावशाली बन गया। इतिहास की गति को समझना और उसे बदल देने का कष्ट साध्य प्रयास करना मार्क्स की महानतम एवं अनुपम देन है और इसी ने आज उसे करोड़ों युवकों और युवतियों का हृदय सम्राट बना दिया है। मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक अमरता अपनी और किसी अन्य देन के कारण इतनी प्राप्त नहीं की है जितनी उस अथक संग्राम से जो उसने पूंजीवाद के अन्याय और शोषण के विरुद्ध किया। मार्क्स के हृदय में दलितों, पीड़ितों और शोषितों की सहायता करने की तीव्र इच्छा रूपी प्रज्वलित अग्नि धधक रही थी, और वह केवल बातों से नहीं बल्कि अपने कामों से उनके लिए कुछ करना चाहता था। अतः उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा को व्यर्थ नहीं जाने दिया तथा कोरे सिद्धान्तों की रचना में नहीं लगाया, प्रत्युत एक ऐसी वस्तु की रचना करने के लिए प्रेरित किया जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा वैज्ञानिक शस्त्र था जिसकी सहायता से दलित एवं शोषित वर्ग पूंजीवाद को ललकार सकता था, उसके विरुद्ध सम टं क र अड़ सकता था और इस आशा से लड़ सकता था कि अन्त में निश्चित रूप से पूंजीवाद के शव पर उसका भव्य महल खड़ा होगा। वास्तव में मार्क्स की यह घोषणा सत्य थी कि "दार्शनिकों ने संसार की व्याख्या करने की चेष्टा की है, लेकिन वास्तविक बात तो उसे बदलना है।" मार्क्स ने क्रांति का संदेश देकर दलित–पीड़ित, शोषित तथा अभिशप्त जनता में संगठन का नया बिगुल फूंका और उन्हें गतिशील बनाया। मार्क्स की इस भविष्यवाणी से चाहे कोई भी सहमत न हो कि पूंजीवाद का विनाश करके समाजवाद निश्चित रूप से आविर्भूत होगा, तथापि यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी होगी कि मार्क्स ने अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों की अपेक्षा पूंजीवाद के सम्भावित भविष्य और गति का अधिक सही अनुमान लगाया। उसकी यह धारणा सही थी कि यद्यपि पूंजीवाद में उत्पादन की वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रहेगी लेकिन वह अपने उस रूप में अधिक लम्बे समय तक नहीं चल सकेगा जिसमें कि वह उस समय पाया जाता

आदि पूंजीवादी राष्ट्रों की दृष्टि में मार्क्सवाद किसी बाढ़ से कम नहीं है। यह दरिद्रता, निरक्षरता और पिछड़ेपन के वातावरण में द्रुतगति से अपना विस्तार कर लेता है और पहले से ही भयग्रस्त पूंजीवादी राष्ट्र जानते हैं कि यदि उस बाढ़ को समय पर न रोका गया तो विश्व के अधिकांश व्यक्ति जो नंगे और भूखे हैं, अवश्य ही इसके शिकार हो जायेंगे और अंत में पूंजीवादी समाज भी उस महान् शक्ति का सामना न कर सकेगा और उसका महल लड़खड़ाकर सम्भवतः ढह जायगा। ऐसा अवसर ही न आये, इस उद्देश्य से पूंजीवादी राष्ट्र अपनी सुरक्षा इसी में समझते हैं कि विश्व के अविकसित राष्ट्रों का शीघ्राति-शीघ्र आर्थिक विकास हो। इसी कारण तो आज भारत, पाकिस्तान एवं ऐसे ही अन्य राष्ट्रों में अमेरिकन डालरों की गंगा बहायी जा रही है। श्रमिक वर्ग और समाजवाद को इतना महत्व एवं सम्मान दिला देना मार्क्स की कम सफलता नहीं है। मेक्सी ने सही लिखा है—

"इसमें कोई संदेह नहीं; जैसा कि प्रायः कहा जाता है कि मार्क्स के सिद्धान्त के भवन का प्रत्येक पत्थर किसी न किसी उसके पूर्व के राजनीतिक तथा आर्थिक, दार्शनिक के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु इससे मार्क्स की मौलिकता तथा उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। मार्क्स के विषय में महत्व-पूर्ण बात उनकी मौलिकता न होकर उसकी सम्वाद करने की शक्ति (*Synthetic power*) थी। बहुत वर्षों से जो दार्शनिक तत्व बिखरे हुए तथा असंगठित पड़े थे, मार्क्स ने उनको एकत्रित करके संगठित किया और एक ऐसा नया दर्शन उत्पन्न किया जिसने श्रमजीवी आन्दोलन में एक नई शक्ति तथा नये उत्साह का संचार किया। मार्क्स के पहले श्रमजीवी आन्दोलन केवल एक विरोध तथा भावना तक सीमित था। मार्क्स के पश्चात् उसका आधार एक वैज्ञानिक आधार हो गया। श्रमजीवी आन्दोलन का लक्ष्य तथा उद्देश्य मालूम हो गया, इसमें एक निश्चित संगठन उत्पन्न हो गया तथा पूंजीवाद पर आक्रमण करने के लिए एक सैनिक शक्ति उसमें उत्पन्न हो गई। समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था। उसने साम्यवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया वरन् उसे विशाल शक्ति भी प्रदान की।"[1]

---

1. "It is doubtless true, as often asserted, that every stone of the Marxian edifice was prefigured in the works of political and economic thinkers antedating Marx, but that does not stamp Marx as a second hand philosopher or lessen the significance of what he did. The important thing about the work of Marx was not its originality, but its synthetic power. He seized upon philosophic materials which had been lying about loose & largely unused for many years and fused them into a systematic whole that supplied the proletarian movement with a dynamic theory and a tremendous impulse to action. Proletarianism before Marx was mainly protest aspiration, proletarianism after Marx confidently put forth the claim that science was on its side, knew what objectives it wished to attain, had a definite technique of

अध्ययन करता है। यद्यपि यह सत्य है कि शासक वर्ग सदैव ही संकुचित स्वार्थों से मुक्त नहीं रहा है और अनेक अवसरों पर उसने वर्ग विशेष के हितों की सिद्धि का प्रयास किया है तथापि इन्हीं उदाहरणों का आश्रय लेकर राज्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त का निर्माण कर देना एक ऐसी ही बात है जैसी कि चोरों, डाकुओं, हत्यारों आदि के पाप कर्मों के आधार पर मानव स्वभाव के सिद्धांत की रचना करना। अनेक शासक अपनी न्यायप्रियता और उदारता के लिए विश्व विश्रुत रहे हैं। उन्होंने अपना समग्र जीवन मानव समाज के कल्याण में लगा दिया था।

मार्क्स की यह धारणा कि राज्य परिवर्तन हिंसा से ही हो सकता है पूंजीवादी राज्य की जगह समाज की स्थापना का मार्ग क्रांति ही है सही नहीं कही जा सकती। मार्क्स ने जिस समय अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया उस समय चाहे उसका कुछ भी औचित्य रहा हो। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य अपनी लैसे फेयर की नीति के कारण बहुत कुछ पूंजीपतियों के पक्ष में था लेकिन आज के कल्याणकारी राज्य पर उसे आरोपित नहीं किया जा सकता। बिना हिंसा के शांतिपूर्ण उपायों से ही राज्यों में समाजवादी कानून बनाये जाते रहे हैं और अनेक राज्यों में समाजवाद पूर्ण अहिंसक रूप से ही तेजी से विकसित होता जा रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन में श्रम दल ने जो शासन सत्ता प्राप्त की वह किसी क्रांति के कारण अथवा पूंजीपतियों पर श्रमिकों की विजय के कारण नहीं की थी। इसने पूंजीवादी राज्य का विनाश नहीं किया जैसा कि रूस में साम्यवादियों द्वारा किया गया। अनेक अन्य देशों में भी लोकतान्त्रिक उपायों से श्रमदलीय सरकार बनी। भारत में भी जहां औद्योगिक मजदूर बहुत ही अल्पसंख्या में हैं, सरकार शनैः शनैः अत्यन्त शांतिपूर्वक समाजवादी पथ पर अग्रसर हो रही है। यहां समाजवादी कानून बनाये जा रहे हैं और इस प्रक्रिया में वर्ग-संघर्ष की कोई बात निहित नहीं है। ये सब उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि राज्य मूलतः वर्ग दमन और वर्ग शोषण का यन्त्र नहीं है तथा समाजवाद लाने के लिए श्रमजीवीय क्रांति अपरिहार्य नहीं है। परिवर्तन शांतिपूर्ण और संवैधानिक उपायों द्वारा भी आ सकता है। प्रो० एबंसटीन ने सत्य ही लिखा है कि "यदि मार्क्स राजनीतिक कारक को उचित महत्त्व देता यदि वह इंगलैण्ड में सुधार अधिनियम और अमेरिका में जैक्सन द्वारा किये गये क्रांतिकारी परिवर्तनों के महत्त्व को समझ पाता तो वह यह जान सकता था कि उन देशों में जिनमें प्रजातन्त्रीय परम्पराएं इतनी सशक्त है कि वहां महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन भी बिना गृह युद्ध के ही हो सकते हैं समाजवाद की स्थापना भी बिना हिंसा के ही हो सकती है। लेकिन परिवर्तन की प्रक्रिया में सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार करने का अर्थ होता मार्क्स के इस आधारबिन्दु का परित्याग कि इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है और शासक वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए मरने तक लड़ते हैं।"[1]

---

1 If Marx had accorded the political factor its due weight if he had fully grasped the importance of the Reform Act in England and of the Jacksonian revolution in the United

अन्त में, यद्यपि मार्क्स ने फोरियर और ओवन जैसे व्यक्तियों के सिद्धांतों को कोरे कल्पनावादी कहकर उपेक्षणीय बताया है और उनकी खिल्ली उड़ाई है, तथापि मार्क्स भी अपने राज्य-सिद्धांत में कुछ कम कल्पनावादी नहीं है। मार्क्स का एक वर्गहीन और राज्यहीन समाज की स्थापना का विचार केवल एक स्वप्निल कल्पना है और ऐसी कल्पनाएं कभी साकार नहीं होतीं।

मार्क्सवाद का मूल्यांकन
(An Estimate of Marxism)

मार्क्स के सिद्धांतों के विभिन्न अंगों का आलोचनात्मक अध्ययन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है। उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त, मूल्य-सिद्धान्त, राज्य-सिद्धांत आदि की आलोचनाएं यथास्थान दी जा चुकी हैं और यह बता दिया गया है कि वे किस सीमा तक मान्य अथवा अमान्य हैं। अतः अग्रिम पृष्ठों में मार्क्स के महत्व पर ही प्रकाश डाला जायगा।

मार्क्स के महत्व के सम्बन्ध में अनेक प्रकार का मूल्यांकन किया गया है यदि साम्यवादी उसे एक अवतार मानते हैं तो पूंजीपतियों की दृष्टि में वह सभ्यता और मैत्री का महानतम शत्रु है। लेकिन, चाहे कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि मार्क्स का महत्व क्रांतिकारी है। वह एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा का जनक है जिसने आज संसार केरूप को ही बदल दिया है। उसका नाम आज संसार के करोड़ों लोगों की जबानों पर है, वह संसार की एक बड़ी जनसंख्या का मसीहा है और उसकी रचनाएं कोटि-कोटि जन द्वारा श्रद्धा एवं सम्मान से पढ़ी जाती हैं। अपने सिद्धान्तों की अस्पष्टताओं और अन्तर्विरोधों के बावजूद भी यह एक तथ्य है कि मार्क्स ने स्वयं को १९वीं सदी का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध किया है। वेपर ने यह कहने में कोई अतिशयोक्ति प्रदर्शित नहीं की है कि—"मार्क्स की गणना विश्व के सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक दार्शनिकों मे होनी चाहिये। उसने विश्व को न केवल एक नवीन क्रांतिकारी विचारधारा दी बल्कि उस विचारधारा के द्वारा विश्व के इतिहास की दशा तक बदल दी।"

"मार्क्स के विचारों में वैज्ञानिकता तथा तार्किक विवेचन का समन्वय तो है ही, सबसे बढ़कर जीवित जागृति, मूर्त-विश्वास भी हैं जो जीवन में स्पन्दन, चेतना, उत्साह भरता है। इसी विश्वास के कारण मार्क्सवाद दुनियां

States, he might have realized that socialism, too, might be accomplished without violence in countries that possessed democratic traditions strong enough to absorb far-reaching social and economic changes without resorting to civil war. A recognition of the cultural and political factors in the equation of social change would have amounted, however, to a virtual abandonment of the central position of Marx: that history is the history of class-wars and that ruling classes defend their positions to the bitter end."

—*Ebenstein* : Today's Isms, Page 11

में सफल प्रेरक विचारधारा का रूप ग्रहण कर सका है। मार्क्स के पहले राजनैतिक दर्शन अस्पष्ट, अमूर्तदर्शन करता हुआ उपदेश तथा सुधारवाद की गलियों मे चक्कर काटता था। मार्क्स के अनुसंधान से वह सक्रिय रूप से जनता के मध्य प्रभावशाली बन गया। इतिहास की गति को समझना और उसे बदल देने का कष्ट साध्य प्रयास करना मार्क्स की महानतम एवं अनुपम देन है और इसी ने आज उसे करोडो युवको और युवतियो का हृदय सम्राट बना दिया है। मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक अमरता अपनी और किसी अन्य देन के कारण इतनी प्राप्त नही की है जितनी उस अथक संग्राम से जो उसने पूंजीवाद के अन्याय और शोषण के विरुद्ध किया। मार्क्स के हृदय में दलितो, पीडितो और शोषितो की सहायता करने की तीव्र इच्छा रूपी प्रज्वलित अग्नि धधक रही थी, और वह केवल बातो से नहीं बल्कि अपने कामों से उनके लिए कुछ करना चाहता था। अत. उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा को व्यर्थ नही जाने दिया तथा कोरे सिद्धान्तो की रचना मे नहीं लगाया, प्रत्युत एक ऐसी वस्तु की रचना करने के लिए प्रेरित किया जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा वैज्ञानिक शस्त्र था जिसकी सहायता से दलित एवं शोषित वर्ग पूंजीवाद को ललकार सकता था, उसके विरुद्ध सम्राट कर खड़ा हो सकता था और इस आशा से लड सकता था कि अन्त मे निश्चित रूप से पूंजीवाद के शव पर उसका भव्य महल खड़ा होगा। वास्तव मे मार्क्स की यह घोषणा सत्य थी कि "दार्शनिको ने संसार की व्याख्या करने की चेष्टा की है, लेकिन वास्तविक बात तो उसे बदलना है।" मार्क्स ने क्रांति का संदेश देकर दलित–पीडित, शापित तथा अभिशप्त जनता मे संगठन का नया बिगुल फूंका और उन्हें गतिशील बनाया। मार्क्स की इस भविष्यवाणी से चाहे कोई भी सहमत न हो कि पूंजीवाद का विनाश करके समाजवाद निश्चित रूप से आविर्भूत होगा, तथापि यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी होगी कि मार्क्स ने अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनो की अपेक्षा पूंजीवाद के सम्भावित भविष्य और गति का अधिक सही अनुमान लगाया। उसकी यह धारणा सही थी कि यद्यपि पूंजीवाद मे उत्पादन की वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रहेगी लेकिन वह अपने उस रूप में अधिक लम्बे समय तक नहीं चल सकेगा जिसमे कि वह उस समय पाया जाता था। आज यह सभी को मालूम है कि उन्नीसवीं शताब्दी का निर्बाध पूंजीवाद अब इतिहास की सामग्री रह गया है। आज बीसवी शताब्दी का पूंजीवाद प्राचीन घोर शोषक पूंजीवाद से बहुत भिन्न है और आज का मंगलकारी राज्य श्रमिकों के हितो की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करता है। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने मजदूरों मे वह चेतना, एकता और शक्ति फूंक दी है जिसका आदर पूंजीवाद को और राज्य को करना पड रहा है। आज के मजदूर में उत्साह है, आत्म ग्लानि नहीं। आज इंगलैण्ड और अमेरिका जैसे देशों मे श्रमिकों का जीवन स्तर दिन प्रतिदिन ऊंचा होता जा रहा है और इसके लिए वे काफी हद तक मार्क्स के ऋणी हैं। पूंजीपति इस डर से कि उनकी मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार दुर्दशा न हो, श्रमिकों को जहां तक हो असन्तुष्ट नहीं होने देते। वर्तमान युग के अविकसित और कम विकसित राष्ट्र, जिनको आज करोडो डालर आर्थिक सहायता के रूप में पूंजीवादी राष्ट्रों से प्राप्त हो रहे हैं, अप्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के ऋणी हैं। इंगलैंड, अमेरिका

आदि पूंजीवादी राष्ट्रों की दृष्टि में मार्क्सवाद किसी बाढ़ से कम नहीं है। यह दरिद्रता, निरक्षरता और पिछड़ेपन के वातावरण में द्रुतगति से अपना विस्तार कर लेता है और पहले से ही भयग्रस्त पूंजीवादी राष्ट्र जानते हैं कि यदि उस बाढ़ को समय पर न रोका गया तो विश्व के अधिकांश व्यक्ति जो नंगे और भूखे हैं, अवश्य ही इसके शिकार हो जायेंगे और अंत में पूंजीवादी समाज भी उस महान् शक्ति का सामना न कर सकेगा और उसका महल लड़खड़ाकर संभवतः ढ़ह जायगा। ऐसा अवसर ही न आये, इस उद्देश्य से पूंजीवादी राष्ट्र अपनी सुरक्षा इसी में समझते है कि विश्व के अविकसित राष्ट्रों का शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक विकास हो। इसी कारण तो आज भारत, पाकिस्तान एवं ऐसे ही अन्य राष्ट्रों में अमेरिकन डालरों की गंगा बहायी जा रही है। श्रमिक वर्ग और समाजवाद को इतना महत्व एवं सम्मान दिला देना मार्क्स की कम सफलता नही है। मेक्सी ने सही लिखा है—

"इसमें कोई संदेह नहीं; जैसा कि प्रायः कहा जाता है कि मार्क्स के सिद्धान्त के भवन का प्रत्येक पत्थर किसी न किसी उसके पूर्व के राजनीतिक तथा आर्थिक, दार्शनिक के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु इससे मार्क्स की मौलिकता तथा उसका महत्व कम नहीं हो जाता। मार्क्स के विषय में महत्वपूर्ण बात उनकी मौलिकता न होकर उसकी सम्वाद करने की शक्ति (*Synthetic power*) थी। बहुत वर्षों से जो दार्शनिक तत्व बिखरे हुए तथा असंगठित पड़े थे, मार्क्स ने उनको एकत्रित करके संगठित किया और एक ऐसा नया दर्शन उत्पन्न किया जिसने श्रमजीवी आन्दोलन में एक नई शक्ति तथा नये उत्साह का संचार किया। मार्क्स के पहले श्रमजीवी आन्दोलन केवल एक विरोध तथा भावना तक सीमित था। मार्क्स के पश्चात् उसका आधार एक वैज्ञानिक आधार हो गया। श्रमजीवी आन्दोलन का लक्ष्य तथा उद्देश्य मालूम हो गया, इसमें एक निश्चित संगठन उत्पन्न हो गया तथा पूंजीवाद पर आक्रमण करने के लिए एक सैनिक शक्ति उसमें उत्पन्न हो गई। समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था। उसने साम्यवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नही किया वरन् उसे विशाल शक्ति भी प्रदान की।"[1]

---

1. "It is doubtless true, as often asserted, that every stone of the Marxian edifice was prefigured in the works of political and economic thinkers antedating Marx, but that does not stamp Marx as a second hand philosopher or lessen the significance of what he did. The important thing about the work of Marx was not its originality, but its synthetic power. He seized upon philosophic materials which had been lying about loose & largely unused for many years and fused them into a systematic whole that supplied the proletarian movement with a dynamic theory and a tremendous impulse to action. Proletarianism before Marx was mainly protest aspiration, proletarianism after Marx confidently put forth the claim that science was on its side, knew what objectives it wished to attain, had a definite technique of

मार्क्स का महत्व इसलिए भी है कि उसने समस्त सामाजिक संस्थाओं मे आर्थिक कारकों पर बल देकर समाजशास्त्रों की महान् सेवा की है। उसका सामाजिकशास्त्रों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि पूर्व-मार्क्स सामाजिक सिद्धान्त पर लौटकर जाने का अब प्रश्न ही नही उठता। "वैधानिक एव राजनैतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली की अन्योन्याश्रितता के, देखने के कारण वह उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक दार्शनिक बन गया है। एक वाक्य मे, उसका अर्थवाद, बावजूद अत्युक्ति को सामाजिक विज्ञान की पद्धति मे एक मूल्यवान प्रगति का सूचक है।

मार्क्स का एक महत्वपूर्ण अनुदाय है उसका विश्लेषणात्मक पद्धति विज्ञान (*Analytical Methodology*) जिसके बल पर राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्त व्याख्या संभव है। मार्क्स ने सास्कृतिक स्वाधीनता, राष्ट्रीयता, आदि का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ उनका सामंजस्य किया था। इस पक्ष की तर्कपूर्ण व्याख्या स्टालिन ने अपने सिद्धान्तो मे की और राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक स्वरूप देकर उसका भाषा, क्षेत्र, आर्थिक जीवन, संस्कृति आदि के साथ स्थाई समन्वय किया। आत्मनिर्णय का सिद्धान्त (*Right of Self Determination*) इसका स्वाभाविक परिणाम था। मार्क्सवादी व्याख्या के फलस्वरूप संसार की राजनीतिक स्थिति का पर्यालोचन करने मे आर्थिक तथा अन्य तत्वो का विचार शुरू हो गया।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठा कर मार्क्स ने संसार का सबसे बड़ा उपकार किया। युद्धो का समर्थक मार्क्स को इस दृष्टि से नही कहा जा सकता क्योंकि वह युद्ध को प्रचलित प्रणाली का अनिवार्य अभिशाप मानता था और इसलिए उन कारणों को ही समूल नष्ट करना चाहता था जिनसे युद्ध की संभावना बनी रहती। मार्क्स की नई साम्यवादी व्यवस्था जनता के सामने जन कल्याणकारी रूप लेकर आती है, इसलिए "प्रगति का साथ देनेवाले विकासोन्मुख होकर पुराने का बहिष्कार और नये का स्वागत करते हैं। (*Ring out the old, ring in the new*)।"

मार्क्स ने श्रमिक वर्ग के महान् योद्धा के रूप मे लोकप्रियता इसलिए भी प्राप्त की कि उसमे उत्तेजक वाक्य गढने की विलक्षण शक्ति थी जिनका उसके अनुयायियो ने चातुर्यपूर्ण ढग से प्रयोग किया। "दीन के प्रति दया और धनाढ्य की निर्दयता पर अपने नैतिक विक्षोप के कारण उसने पूंजीपतियों के विरुद्ध आरोपो की अग्नि-वर्षा की" और दलित वर्ग में पूंजीवाद के विनाश तथा समाजवाद की स्थापना का इतना अटल विश्वास भर दिया जितना कि एक धार्मिक विश्वास होता है। 'मार्क्सवाद प्राय एक धर्म ही बन गया, उसमें दीक्षित हो जाना एक धर्म-दीक्षा सी हो गई।"

पूंजीवाद और सामाजिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण मे, ऐतिहासिक विकास के नियमो के रहस्योद्घाटन मे तथा समाजवाद के उपदेश मे मार्क्स को उतनी महान सामाजिक शक्ति नही बनाया जितना सामाजिक, वैज्ञानिक तथा उपदेशक के सम्मिश्रण ने। वेपर के शब्दों मे "उस उपदेश के, जो कि विश्लेषण होने का दावा कर सकता था, और उस विश्लेषण के, जिसमे कि मानव की तीव्रतम आवश्यकताओ के प्रति एक धार्मिक अनुराग था, सम्मिश्रण ने

एक ऐसा उत्साह उत्पन्न कर दिया और उसके प्रति ऐसी तीव्र भक्ति उत्पन्न कर दी जिससे कि अन्तिम विजय का विश्वास दूर-दूर तक फैल गया।"[1]

मार्क्स का मूल्यांकन राजनीतिशास्त्र के पण्डितों ने अपने-अपने ढग से किया है। यहां कुछ विद्वानों के उद्धरण ज्यों के त्यों प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे मार्क्स के महत्व पर समुचित प्रकाश पड़ता है—

केटलिन के अनुसार, "मार्क्स ने एक आन्दोलन की व्यवस्था की जिसकी अपनी विचारधारा थी। यह एक ऐसा आन्दोलन था, जिसका अब तक अपना कोई सतोपजनक सिद्धान्त न था। ओवन, सेंट साइमन तथा प्रूधा ने भले ही महत्वपूर्ण सत्यों को प्रकट किया हो, जिन्हें मार्क्स ने अपेक्षा की दृष्टि से देखा, किन्तु उनके सिद्धान्त बौद्धिक पैबन्द के समान थे। मार्क्स ने हीगल के रूप में आन्दोलन को एक पूर्ण वस्त्र दिया। उसने इसमे भी अधिक कार्य किया। श्रमिकों के ऐसे नेता थे, जिन्होंने भ्रातृत्व-प्रेम के सुन्दर सपने देखे थे। मार्क्स ने समाजवादी आन्दोलन के लिये वह कुछ किया, जो मैकियावली ने राज्य—सिद्धान्त के लिये किया। जिस प्रकार मार्क्स ने स्कूल के व्यक्ति के समान उन सुन्दर तथा सुविधापूर्ण सूत्र-वाक्यों को चिनगारी के समान फेंका, जिनका वास्तविक मानव व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार मार्क्स ने अपनी घृणापूर्ण बुद्धि का उन लोगों पर विस्तार किया जो लोग पूंजीपतियों को यह बताने में संकोच करते थे कि सशस्त्र क्रान्ति उनके प्रभुत्व को सीमित कर देगी। मार्क्स का उद्देश्य वास्तव में एक फौजीतन्त्र खड़ा करना था। उसने राजनैतिक अध्ययन को प्रभुत्व के विज्ञान के रूप में अपनाया। इसकी न्यूनतायें तथा सीमाएं ये थीं-कि उसकी कार्य पद्धति मुख्य रूप से नकारात्मक, विनाशकारी तथा लड़ाकू थी, तथा यह उसके पूर्ण स्वभाव के अनुकूल थी। इसके साथ ही मार्क्सवाद उन शान्तिपूर्ण, रचनात्मक योजनाओं से विपरीत दिशा में अग्रसर था, जिन्हें ओवन, कूपर के अनुयायियों, शान्ति प्रचारक मण्डली के सदस्यों तथा उनसे पूर्व आदिम ईसाई सम्प्रदायों अथवा मतों ने प्रचारित किया था।"[2]

---

organization and attack, and this became militantly aggressive. It was the avowed purpose of Marx to make socialism scientific. It has been said that he succeeded only to the extent of making it psendo-scientific but there is no denying that he made it a tremendous force."

—*Maxey*

1. The combination of "preaching that could claim to be analysis, analysis that carried with it a religious devotion to man's deepest needs, generated an enthusiasm and won a passionate allegiance that spread widely the conviction of eventual victory."

—*Wayper* : Political Thought, P. 198

2. What Marx did was to provide a movement with a creed a movement which hitherto had no adequate theory. Owen, St. Soman and Proudhon may have expressed truths of the first order, neglected by Marx. But their theories had been

इसाइआह बर्लिन (*Isaiah Berlin*) ने बड़े ही प्रभावशाली एवं समीक्षात्मक शब्दों में मार्क्स का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

"१६वीं शताब्दी में अनेक उल्लेखनीय सामाजिक आलोचक और क्रांतिकारी हुए, जो मार्क्स की अपेक्षा कम मौलिक, कम हिंसक तथा कम कट्टर थे किन्तु उनमें से कोई भी उतना कठोर व्यक्तिवादी मतवाला नहीं था और न ही कोई वैसा आदर्शवान तथा निष्ठावान था, जो स्वयं के जीवन के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्य में इस तरह डूबा हुआ हो कि उसका प्रत्येक शब्द एवं प्रत्येक कार्य में उस एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक उद्देश्य की ओर अग्रसर हो जिसके लिये किसी भी पवित्र वस्तु को बलिदान किया जा सके। यदि ऐसी कोई भावना है, जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि वह अपने से समय से पूर्व उत्पन्न हुआ तो इसी प्रकार की एक ऐसी ही निश्चित भावना है, जिसके अनुसार उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसमें यूरोपीय परम्पराओं का सर्वाधिक प्राचीन रूप मूर्तिमान था। एक तरफ उसका यथार्थवाद उसकी दुश्चिकित्सा अथवा प्रयोग-सिद्धि, सारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसके आक्रमण उसकी यह माँग कि प्रत्येक हल अथवा समाधान की परीक्षा या जाँच उसकी वास्तविक स्थिति की व्यावहारिकता एवं उसके परिणाम की कसौटी पर की जाय। तीव्र कार्यवाही से बचने के उपायों, अथवा धीरे-धीरे कार्यवाही के प्रति उसकी घृणा, उसका यह विश्वास कि जनता को असीमित रूप से धोखा दिया जा सकता है तथा प्रत्येक सम्भव उपाय से उसकी दुष्टों और मूर्खों से अवश्य रक्षा की जाय, जो उन्हें प्रचारित करते हैं तथा उसे आनेवाली शताब्दी के कार्यशील क्रान्तिकारियों की कठोर सतति के लिये अग्रसर करते हैं यदि आवश्यकता हो तो बल से भी ऐसा किया जाय, उसका कठोर विश्वास जिसके द्वारा अतीत के साथ पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और यह इसलिये कि एक पूर्णतः नवीन सामाजिक पद्धति की आवश्यकता है जो व्यक्ति की रक्षा करने में एक मात्र

समर्थ है। यदि ऐसा न हो और व्यक्ति को उसकी दशा पर छोड़ दिया जाय तो वह अपना मार्ग भूल जायगा और नष्ट हो जायगा। इस विश्वास के कारण उसे नये विश्वासों के महान् प्रामाणिक संस्थापकों में स्थान प्राप्त हुआ है। साथ ही उसकी गणना निर्दयी नाशकर्त्ताओं और नवीन रीति चलानेवालों में की जाती है, जो ससार की व्याख्या एक अकेले, स्पष्ट तथा भावनापूर्ण रूप से प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त के अनुसार करते हैं और इन सब विरोधों की निन्दा करते हैं और उन्हें नष्ट कर देते हैं, जो उनके साथ उलझे हैं। एक व्यवस्थित, नियन्त्रित ससार के अपने सामान्य अवलोकन में उसका विश्वास, जिसका जन्म, आधुनिक अस्त-व्यस्त एव सकीर्ण समाज के अवश्यम्भावी आत्म विनाश मे से होता है, यह उस असीमित तथा पूर्ण ढंग का है, जो सब प्रश्नों को समाप्त कर देता है तथा सब कठिनाईयों को दूर कर देता है। यह अपने साथ वैसी ही स्वतन्त्रता (मुक्ति) की भावना लाता है, जैसी कि १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के लोगों ने नये प्रोटेस्टेंट विश्वास में तथा बाद में विज्ञान की सचाइयों में, महान् क्रांति के सिद्धान्तों में और जर्मन तत्वज्ञानियों की पद्धति में ढूंढा। यदि इन पूर्ववर्ती तार्किकों को ठीक ही पागल कहा जाता है तो इस भावना के दृष्टिकोण से मार्क्स भी एक पागल था। इतिहास के कानून सचमुच शाश्वत और स्थिर थे तथा इस तथ्य को प्राप्त करने के लिये एक तत्व ज्ञान-पूर्ण अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी, किन्तु वे क्या थे, यह केवल प्रयोगसिद्ध तथ्यों के प्रमाण से ही स्थापित हो सकता था। उसकी बौद्धिक पद्धति ऐसी थी, जिसमें किसी नवीनता के लिये कोई स्थान न था क्योंकि जो भी वस्तु प्रवेश करती थी, उसे पूर्वस्थापित सांचे में ही फिर होना पड़ता था, किन्तु इसकी आधारशिला निरीक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है। उसे किन्हीं भी अनिश्चित विचारों से कष्ट होता था। वह बदनाम लक्षणों के किसी ऐसे मार्ग से विश्वासघात नहीं करता था, जो चिकित्सक के उस पागलपन का साथ देता है, कि एकाकीपन और बाधा की भावना के साथ आकस्मिक उन्नति (प्रशसा) के भावों का परिवर्तन, जो पूर्ण रूप से निजी संसार में जीवन को उनमें प्राय: खतरा पैदा कर देते हैं, जो यथार्थ से अलगाव रखते हैं।"[1]

---

1. "The nineteenth century contains many remarkable social critics and revolutionaries no less original, no less violent, no less dogmatic than Marx, but not one so rigorously single-minded, so absorbed in making every word and every act of his life a means towards a single, immediate, practical end, to which nothing was too sacred to sacrifice. If there is a sense in which he was born before his time, there is an equally definite sense in which he embodies one of the oldest of European traditions. For while his realism, his empiricism, his attacks on abstract principles, his demand that every solution must be tested by its applicability to, and emergence out of the actual situation, his contempt for compromise or gradualism as modes of escape from the necessity of drastic action his belief that the masses are infinitely gullible and must at all costs be rescued, if necessary by force, from the knaves and fools who impose upon

इसाइयाह बर्लिन (*Isaiah Berlin*) ने बड़े ही प्रभावशाली एवं समीक्षात्मक शब्दों में मार्क्स का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

"१६वीं शताब्दी में अनेक उल्लेखनीय सामाजिक आलोचक और क्रांतिकारी हुए, जो मार्क्स की अपेक्षा कम मौलिक, कम हिंसक तथा कम कट्टर थे किन्तु उनमें से कोई भी उतना कठोर व्यक्तिवादी मनवाला नहीं था और न ही कोई वैसा आदर्शवान तथा निष्ठावान था, जो स्वयं के जीवन के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्य में इस तरह डूबा हुआ हो कि उसका प्रत्येक शब्द एवं प्रत्येक कार्य में उस एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक उद्देश्य की ओर अग्रसर हो जिसके लिये किसी भी पवित्र वस्तु को बलिदान किया जा सके। यदि ऐसी कोई भावना है, जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि वह अपने से समय से पूर्व उत्पन्न हुआ तो इसी प्रकार की एक ऐसी ही निश्चित भावना है, जिसके अनुसार उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसमें यूरोपीय परम्पराओं का सर्वाधिक प्राचीन रूप मूर्तिमान था। एक तरफ उसका यथार्थवाद उसकी बुद्धिचिकित्सा अथवा प्रयोग-सिद्धि, सारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसके आक्रमण, उसकी यह माँग कि प्रत्येक हल अथवा समाधान की परीक्षा या जांच उसकी वास्तविक स्थिति की व्यावहारिकता एवं उसके परिणाम की कसौटी पर की जाय। तीव्र कार्यवाही से बचने के उपायों, अथवा धीरे-धीरे कार्यवाही के प्रति उसकी घृणा, उसका यह विश्वास कि जनता को असीमित रूप से धोखा दिया जा सकता है तथा प्रत्येक सम्भव उपाय से उसकी दुष्टों और मूर्खों से अवश्य रक्षा की जाय, जो उन्हें प्रचारित करते हैं तथा उसे आनेवाली शताब्दी के कार्यशील क्रांतिकारियों की कठोर संतति के लिये अग्रसर करते हैं यदि आवश्यकता हो तो बल से भी ऐसा किया जाय, उसका कठोर विश्वास जिसके द्वारा अतीत के साथ पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और यह इसलिये कि एक पूर्णत नवीन सामाजिक पद्धति की आवश्यकता है जो व्यक्ति की रक्षा करने में एक मात्र

... Marx gave the movement whole
...kers had leaders who
... love. Marx did for
...velli did for the state
... comforting maxims
of the schoolman, unrelated to actual human conduct, so Marx, expended his contemptuous wit on those who hesitated to tell the capitalists just where armed revolt would place a limit to their power. Marx's concern was to *build* up in effect a military machine He returned to the study of Politics as the science of power. The drawbacks were that his policy of action was primarily and *this agreed with* ...destructive, bellicose, and
...aceful, constructive
...d *of the* Quakers
...ommunities before
them"

—*Catlin*

समर्थ है। यदि ऐसा न हो और व्यक्ति को उसकी दशा पर छोड़ दिया जाय तो वह अपना मार्ग भूल जायगा और नष्ट हो जायगा। इस विश्वास के कारण उसे नये विश्वासों के महान् प्रामाणिक संस्थापकों में स्थान प्राप्त हुआ है। साथ ही उसकी गणना निर्दयी नाशकर्त्ताओं और नवीन रीति चलानेवालों में की जाती है, जो संसार की व्याख्या एक अकेले, स्पष्ट तथा भावनापूर्ण रूप से प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त के अनुसार करते हैं और इन सब विरोधों की निन्दा करते हैं और उन्हें नष्ट कर देते हैं, जो उनके साथ उलझे हैं। एक व्यवस्थित, नियन्त्रित संसार के अपने सामान्य अवलोकन में उसका विश्वास, जिसका जन्म, आधुनिक अस्त-व्यस्त एवं संकीर्ण समाज के अवश्यम्भावी आत्म विनाश में से होता है, यह उस असीमित तथा पूर्ण ढंग का है, जो सब प्रश्नों को समाप्त कर देता है तथा सब कठिनाईयों को दूर कर देता है। यह अपने साथ वैसी ही स्वतन्त्रता (मुक्ति) की भावना लाता है, जैसी कि १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के लोगों ने नये प्रोटेस्टेंट विश्वास में तथा बाद में विज्ञान की सचाइयों में, महान् क्रांति के सिद्धान्तों में और जर्मन तत्वज्ञानियों की पद्धति में ढूंढा। यदि इन पूर्ववर्ती तार्किकों को ठीक ही पागल कहा जाता है तो इस भावना के दृष्टिकोण से मार्क्स भी एक पागल था। इतिहास के कानून सचमुच शाश्वत और स्थिर थे तथा इस तथ्य को प्राप्त करने के लिये एक तत्व ज्ञान-पूर्ण अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी, किन्तु वे क्या थे, यह केवल प्रयोगसिद्ध तथ्यों के प्रमाण से ही स्थापित हो सकता था। उसकी बौद्धिक पद्धति ऐसी थी, जिसमें किसी नवीनता के लिये कोई स्थान न था क्योंकि जो भी वस्तु प्रवेश करती थी, उसे पूर्वस्थापित सांचे में ही फिर होना पड़ता था, किन्तु इसकी आधारशिला निरीक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है। उसे किन्हीं भी अनिश्चित विचारों से कष्ट होता था। वह बदनाम लक्षणों के किसी ऐसे मार्ग से विश्वासघात नहीं करता था, जो चिकित्सक के उस पागलपन का साथ देता है, कि एकाकीपन और बाधा की भावना के साथ आकस्मिक उन्नति (प्रशंसा) के भावों का परिवर्तन, जो पूर्ण रूप से निजी संसार में जीवन को उनमें प्राय: खतरा पैदा कर देते हैं, जो यथार्थ से अलगाव रखते हैं।"[1]

---

1. "The nineteenth century contains many remarkable social critics and revolutionaries no less original, no less violent, no less dogmatic than Marx, but not one so rigorously single-minded, so absorbed in making every word and every act of his life a means towards a single, immediate, practical end, to which nothing was too sacred to sacrifice. If there is a sense in which he was born before his time, there is an equally definite sense in which he embodies one of the oldest of European traditions. For while his realism, his empiricism, his attacks on abstract principles, his demand that every solution must be tested by its applicability to, and emergence out of the actual situation, his contempt for compromise or gradualism as modes of escape from the necessity of drastic action his belief that the masses are infinitely gullible and must at all costs be rescued, if necessary by force, from the knaves and fools who impose upon

क्रिस्टोफर लॉयड (*Christopher Lloyd*) के अनुसार "मार्क्स का दर्शन इस दृष्टिकोण से सत्य था कि उसने राजनीति में अर्थ शास्त्र को अधिक महत्व दिया। उसका यह भी बताना ठीक था कि अब तक इतिहासकारों ने तत्वों की अवहेलना की है। वह पहला व्यक्ति था जिसने बताया कि व्यापार की मात्रा राष्ट्र की सच्ची मित्र नहीं है। उसने व्यापार चक्र की गम्भीरता का अनुमान पहले ही लगा लिया था। उसने साम्यवाद की भविष्यवाणी की, यद्यपि वह समझता था कि पहले साम्यवाद एक उच्च उद्योग-धन्धोंवाले देश जैसे जर्मनी में फैलेगा।"[1]

---

them, make him the precursor of the severer generation of practical revolutionaries of the next century, his rigid belief in the necessity of a complete break with the past, in the need for a wholly new social system, as alone capable of saving the individual, who, if left to himself, will lose his way and perish, places him among the great authoritarian founders of new faiths, ruthless subverters and innovators who interpret the world in terms of a single, clear, passionately held principle, denouncing and destroying all that conflicts with it. His faith in his own synoptic vision of an orderly, disciplined world, destined to arise out of the inevitable self destruction of the chaotic society of the present, was of that boundless, absolute kind which puts an end to all questions and dissolves all difficulties, which brings with it a sense of liberation similar to that which in the sixteenth and seventeenth centuries men found in the new protestant faith, and later in the truths of science, in the principles of the great Revolution in the system of the German metaphysicians. If these earlier rationalists are justly called fanatical, then in this sense Marx too was a fanatic. The laws of history were indeed eternal and immutable—and to grasp this fact a metaphysical intuition was required—but what they were could be established only by the evidence of empirical facts. His intellectual

tom's which accompany pathological fanaticism that alternation of moods of sudden exaltation with a sense of loneliness and persecution which life in wholly private worlds often engenders in those who are detached from reality".
—*Isaiah Berlin* Karl Marx, Page 19-20

1 According to Christopher Lloyd, 'Marx was correct in prophesying the increasing importance of economics in politics, he was correct in showing that the economic elements have been overlooked by historian, he was the first to expose the fallacy of commercialism, to show that the

ए० लैण्डी (*A. Landy*) नामक लेखक ने तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मार्क्सवाद और प्रजातन्त्र की परम्परा में अन्तर नहीं है। वह कहता है कि प्रजातन्त्रात्मक परम्परा का जन्म क्रान्ति में हुआ (जैसे फ्रांस की क्रांति) और इसका विकास जनसाधारण के संघर्षों द्वारा हुआ। प्रजातन्त्रात्मक परम्परा की कुछ विशेषतायें ये रही हैं—स्वभाव में सैन्यवादी, सिद्धान्त में गणतन्त्रात्मक, दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय, और सबसे ऊपर यह प्रगति एवं स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए कार्य और सुख की परम्परा रही है। उसके विचार में मार्क्सवाद १७वीं और १८वीं सदी में हुए प्रजातन्त्रात्मक प्रयत्नों का ही ऐतिहासिक क्रम है—यह क्रम स्वप्नलोकी व समाजवादियों के मानवतावादी प्रयत्नों को और भी विस्तृत पैमाने पर आगे ले जाता है।"[1]

अन्त में—"अपने युग की घृणा और प्रतारणा मार्क्स को मिली। निरंकुश और गणतन्त्री दोनों सरकारों ने उसे अपनी भूमि से निर्वासित किया। उच्च वर्ग, अनुदार दल, उग्र जनतन्त्रवादी सबने उसके विरुद्ध में जहर उगलने में प्रतिस्पर्धा की। उसने इन सबको मकड़ी के जालों की तरह झाड़ कर साफ कर दिया, उनकी उपेक्षा की और उत्तर उन्हें तभी दिया जब जरूरी हो गया। जब वह मरा, करोड़ों क्रान्तिकारी श्रमिकों ने अपना प्रेम, सम्मान, संवेदना, सब कुछ उसे लुटाया। साइबेरिया की खदानों से लेकर केलिफोर्नियो के तट तक सभी उसके मातम में दु:खी हुए और मैं हिम्मत से कह सकता हूं कि उसके सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्वी अनेक रहे लेकिन व्यक्तिगत शत्रु शायद ही कोई था। उसका नाम और काम सदियों तक अमर रहेगा।" फ्रेज मेहरिंग के इन शब्दों में मार्क्स की महानता मुखरित हो उठी है।

---

volume of trade is no true test of national well-being; he foresaw the increasing severity of the trade cycle and the advance of trustification; he foretold communism, though he thought it would occur first in a highly industrialised country like Germany, and not in an agricultural country like Russia."

1. *A. Landy* : Marxism and the Democratic Tradition, PP. 24-29

10

विकासवादी समाजवाद

(PROGRESSIVE SOCIALISM)

फेबियनवाद, समष्टिवाद या राज्य समाजवाद, पुनर्विचारवाद

(Fabianism, Collectivism or State Socialism, Revisionism)

कार्लमार्क्स ने अपने जीवन के अन्तिम ३० वर्ष लन्दन मे बिताए और उसकी अधिकांश रचनाओं का प्रकाशन भी वहीं से हुआ, लेकिन उसके सिद्धांत इङ्गलैण्ड की धरती मे अपनी जड़ें नही जमा सके। रूस मे १९१७ की बॉलशेविक क्रांति और सोवियत पद्धति की स्थापना के बाद ही वहाँ जाकर, ग्रे के शब्दों मे, 'मार्क्स लेनिन के कधों पर सवार होकर इङ्गलैण्ड वापिस आया।"

इङ्गलैण्ड मे मार्क्सवादी सिद्धान्त अपनी जड़ें क्यों नहीं जमा सके और अग्रेज जाति अग्रगामी समाजवाद से क्यों नहीं प्रभावित हो पायी, इसके अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह है कि राष्ट्रीय विशेषताओं और ऐतिहासिक अनुभव के सयोग से अग्रेजों का एक प्रधानत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा व्यावहारिक एव समझौता प्रिय स्वभाव बन गया है। किन्तु सर्वाधिक सन्तोषप्रद कारण यही है कि १८६५ से १८८५ के दौरान इङ्गलैंड मे महान परिवर्तन हो चुके थे। यूरोप के अन्य देशो की अपेक्षा इगलैण्ड में श्रमिकों को अधिक वेतन मिलने लगा था। श्रमिकों का न केवल राष्ट्र की बढ़ती हुई सपन्नता मे भाग था, बल्कि अब वे पूर्वापेक्षा अधिक सगठित थे। उनके ट्रेड-यूनियन सगठन को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई थी। १८६७ के अधिनियम द्वारा श्रमिकों को मताधिकार भी मिल गया था। उन्हें भाषण तथा सभा आदि के अधिक स्वतत्र अधिकार थे। इस तरह कुल मिलाकर श्रमिक अपनी वर्तमान दशा से अत्यधिक असन्तुष्ट नहीं थे। ओवन (Owen) के समय का वह इगलैण्ड, जो एक पीडक वर्गतत्र था, अब अनतत्रवादी रूप ग्रहण करने लगा था। इन परिवर्तित परिस्थितियों में मार्क्सवाद का संशोधित स्वरूप ही अग्रेज जाति को कुछ प्रभावित कर सकता था। यह कहना उपयुक्त होगा कि कट्टर मार्क्सवाद की अपेक्षा प्रजातांत्रिक एवं विकासवादी समाजवाद इगलैण्ड की धरती के लिये अधिक उपयुक्त था।

सन् १८०० के बाद के वर्षों मे इगलैण्ड मे अनेक घटनाओं और परिस्थितियों से प्रेरणा एव प्रोत्साहन पाकर नाना समाजवादी आन्दोलनों का

उदय हुआ। किसी न किसी प्रकार के समाजवादी विचारों के प्रचार एवं प्रसार के लिये अनेक सस्थायें स्थापित हुई। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण सस्थायें थीं—समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ (Social Democratic Federation), समाजवादी परिषद (Socialist League), स्वतंत्र मजदूर दल (Independent Labour Party) तथा फेवियन सोसायटी (Fabian Society)। समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ इङ्गलैंड की सर्वप्रथम मार्क्सवादी सस्था थी जिसकी स्थापना सन् १८८१ में हुई। इसकी स्थापना करनेवालों मे प्रमुख थे—एच० एन० हिन्डमैन; कवि और कलाकार, विलियम मॉरिस; हेलेन टेलर (जॉन स्टुअर्ट मिल की पुत्री); कवि, दार्शनिक और इतिहासकार वेलफोर्ट बेंक्स; मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री इलियानोर मार्क्स एवेलिंग तथा उसका पति एडवर्ड एवेलिंग।" यह सघ आरम्भ से ही समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के एकमात्र प्रभावकारी साधन के रूप में उत्साह युक्त 'वर्ग-युद्ध' में अपना विश्वास प्रकट करता था, किन्तु उसकी ओर से यह कभी स्पष्ट नहीं किया गया कि उस वर्ग-युद्ध का स्वरूप क्या होगा। अपने उद्देश्यों की बाद की घोषणाओं में यह संघ समस्त समाज के हित में सामूहिक स्वाम्य के प्रजातांत्रिक-समाजवादी आदर्श के निकट पहुंच गया है। यह सघ अपने सिद्धान्त तथा व्यावहारिक कार्यक्रम में इतना सामजस्य स्थापित नही कर सका कि विशुद्ध मार्क्सवादी तथा सुधारवादी राज्य समाजवादी दोनों में से कोई भी सतुष्ट हो सकता। इस कारण इसके दक्षिणपक्षी (Right) तथा वामपक्षी (Left) सदस्य अलग होते रहे है। इस संघ ने समाजवाद के सम्बन्ध मे सूचनात्मक साहित्य का प्रसार अवश्य किया और समाजवादियों के राजनीतिक सगठन के आन्दोलन में सहायता दी। किन्तु इस संघ के सदस्य सदा थोड़े ही रहे है और आज इसका प्रभाव भी सापेक्ष दृष्टि से कम है।"[1]

समाजवादी परिषद् (Socialist League) की स्थापना सन् १८८४ में मॉरिस, एवलिग बेंक्स आदि ने की थी। ये व्यक्ति पहले समाजवादी प्रजातान्त्रिक सघ के सदस्य थे लेकिन बाद में कुछ व्यक्तिगत विवादों एव सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण उनसे अलग हो गये थे। इस छोटी और अल्पजीवी सस्था के सदस्यो के विचारों में एकता कभी नहीं रही। कुछ सदस्य ससदीय-कार्यों के समर्थक थे तो कुछ विरोधी कुछ के विचार अराजकतावादी थे तो कुछ अराजकतावाद और सुधारवाद दोनों के विरोधी। इस संस्था के सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य मॉरिस ने १८८६ में अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और कुछ वर्षों बाद यह सस्था ही समाप्त हो गई। स्वतंत्र मजदूर दल (Independent Labour Party) की स्थापना उत्तरी इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड की स्थानीय मजदूर-पार्टियों के प्रतिनिधियों तथा समाजवादी प्रजातांत्रिक सघ और फेवियन सोसायटी के कुछ प्रतिनिधियों के सहयोग से सन् १८६३ मे हुई। यह दल अन्य पूर्वकालीन समाजवादी संस्थाओं की अपेक्षा सिद्धान्तों पर अड़ा रहनेवाला कम और समझौतावादी अधिक है, किन्तु फेवियन सोसायटी की अपेक्षा अधिक अग्रगामी समाजवादी

---

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ १०६-१०७

रहा है। इस दल ने सन् १९०० में ब्रिटिश मजदूर दल की स्थापना में प्रमुख भाग लिया और उस दल के अधिकांश नेता इसी दल के रहे हैं।

इङ्गलैण्ड में जिन उपरोक्त संस्थाओं की स्थापना हुई, उन सबमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था 'फेबियन सोसायटी' है जिसका समाजवाद के पक्ष में व्यवस्थापन और जनमत का भारी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रभाव की तुलना १८३० के बाद बेंथमवाद के प्रभाव से की जा सकती है। अब हम इसी पर आते हैं।

फेबियनवाद
(Fabianism)

स्थापना एवं कार्यक्रम—फेबियन सोसायटी जो कि फेबियनवाद की प्रवर्तक है, जनवरी सन् १८८४ में कुछ ऐसे व्यक्तियों द्वारा स्थापित की गई जो वर्षों से सामाजिक नीतिशास्त्र की मौजूदा समस्याओं पर विचार करने तथा वाद-विवाद करने के लिये एकत्र होते रहे थे। यह सोसायटी एक क्लब या गोष्ठी के रूप में स्थापित हुई जिसमें सदस्य लोग फुरसत के समय में राष्ट्रीय और सार्वजनिक बातों पर विचार विनिमय किया करते थे। इसके सदस्य उच्चकोटि के प्रतिभाशाली विद्वान स्त्री-पुरुष थे जिन्होंने प्रतिष्ठित राजनीतिक अर्थशास्त्र, भूमि कर-निर्धारण तथा समाजवाद आदि विषयों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उन पर मुख्य-रूप से हेनरी जार्ज के सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्तों की विविध ब्रिटिश व्याख्याओं और जॉन स्टुअर्ट मिल के व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत विकसित होनेवाले समष्टिवाद (Collectivism) का प्रभाव पड़ा था। सितम्बर १८८४ में जार्ज बर्नार्ड शॉ ने इस सोसायटी की सदस्यता स्वीकार की और कुछ समय पश्चात् सिडनी वैब (Sydney Webb) इसका सदस्य बन गया। ये दोनों ही सोसायटी के सबसे प्रभावशाली और सक्रिय सदस्य सिद्ध हुए। इस सोसायटी के अन्य प्रमुख सदस्य सिडनी ओलिवर (Sydney Oliver), ग्राहम वैलास (Graham-Wallis), श्रीमती एनिबेसेंट (Mrs. Annie Besant), श्रीमती सिडनी वैब (Mrs Sydney Webb), जे कैम्पवेल (J Compbell), हैडलाम (Headlam), जे० आर० मैकडोनाल्ड (J. R. Mac Donald), पीज (Pease), एच जी वेल्स (H. G. Wells), हेरोल्ड लॉस्की (Herold Laski), आदि थे।

प्रारम्भ में फेबियन सोसायटी की प्रान्तीय नगरों में अनेकों शाखायें थीं जिनके सदस्य मुख्यतः मजदूर थे, परन्तु बाद में जब समाजवादी मजदूर स्वतन्त्र मजदूर दल में सम्मिलित हो गयीं तो वे समाप्त हो गईं। थोड़े वर्ष बाद इसकी शाखायें विश्वविद्यालयों में लगीं। इस सोसायटी में सम्मिलित सुधारकों का उद्देश्य यह था कि इङ्गलैण्ड में समाजवाद का प्रचार किया जाय और ब्रिटेन के राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारों पर दबाव डाला जाये कि वे समाजवादी कार्यक्रम अपनायें। सोसायटी ने अपने लिये जो 'फेबियन' नाम चुना, वह रोम के उस फेबियस कन्क्टेटर (Fabius Conciator) नामक जनरल के नाम पर रखा गया था जिसकी युद्ध-नीति देर करके या टालमटोल करके शत्रु को हराने की थी। इस नीति का सर्वोत्तम प्रदर्शन सोसायटी द्वारा

प्रकाशित कुछ प्रारम्भिक रचनाओं में पाये गये निम्नलिखित ध्येय-घोष में पाया जाता है—

"आपको उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार हेनीवाल से युद्ध करते समय फेवियस ने की थी, यद्यपि कुछ लोगों ने देर करने के लिये उसकी निन्दा की थी, परन्तु जब अवसर आ जाता है तो आपको फेवियस के समान करारा प्रहार करना चाहिये, अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ एवं निष्फल होगा।"[1]

स्पष्ट है कि फेवियन सोसायटी इस तरह 'अवसरवादी विचारधारा' के नाम से जानी जा सकती है। फेवियनवाद का तत्व 'क्रमिक विकास' (Gradualism) है, अर्थात् समाजवाद की प्राप्ति शनैः शनैः और क्रमिक रूप से होती है। प्रो० कोकर के शब्दों में, "इस सोसायटी का उद्देश्य समस्त शिक्षित मध्य वर्ग की जनता में समाजवादी सिद्धान्त का, जैसा कि वे उसे समझते हैं, प्रसार करना और ब्रिटेन में राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारों से समाजवादी सिद्धान्त को शनैः शनैः व्यावहारिक रूप देने के लिये अनुनय करना रहा है।" फेवियनवादी वर्ग-संघर्ष के क्रान्तिकारी सिद्धान्त की बजाय तर्कसम्मत युक्ति में विश्वास रखते थे और यह सर्वथा स्वाभाविक है कि युक्ति और तर्क से काम चलाने में अवश्य ही समय लगता है। व्याख्यानों और प्रकाशनों द्वारा प्रचार की पद्धति इसलिये अपनाई गई थी कि समाजवाद के बारे में मध्य-वर्ग की शकायें दूर हो जायें और एक साधारण व संभ्रान्त अंग्रेज के लिये एक समाजवादी बनना उतना ही सरल एवं स्वाभाविक हो जाये जितना कि एक उदारवादी अथवा एक रूढ़िवादी होना। फेवियनवादी एक अन्य प्रमुख कार्य यह करना चाहते थे कि एक समाजवाद में दीक्षित हुए प्रधानमंत्री को एक संसदीय कार्यक्रम रखा जाये। अपने इन उद्देश्यों में उन्हें महान् सफलता मिली। यदि आज इंग्लैण्ड में कोई भी व्यक्ति समाजवाद को एक विध्वंस विद्रोह नहीं समझता तो इसका श्रेय निश्चित रूप से फेवियन सोसायटी को ही है।

शुरू के फेवियन समाजवादी यह मानते थे कि "प्रतियोगिता की प्रणाली से सुख-सुविधायें कम व्यक्तियों को मिलती हैं और अधिक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिये समाज का पुनर्संगठन इस प्रकार होना चाहिये कि जिससे समाज के समस्त व्यक्तियों को सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके।" सितम्बर १८८४ में जॉर्ज बर्नार्ड शा ने फेवियन समाज का घोषणा-पत्र तैयार किया था जिसमें निम्नलिखित कार्यक्रम घोषित किया गया था—

"फेवियन समाज चाहता है कि समाज का यथाशीघ्र पुनर्गठन हो। हम यथाशीघ्र भूमि और औद्योगिक पूंजी पर से व्यक्तियों या वर्ग-विशेष का स्वामित्व हटाना चाहते हैं। तदुपरान्त भूमि और पूंजी को हम समाज के

---

1 For the right you must wait, as Fabins did most patiently when warring against Hannibal though many censured his delays, but when the time comes you must strike hard, as Fabians did, or your waiting will be in vain and fruitless."
—*Frank Podmore*

अधिकार में देने के पक्ष में हैं। केवल इस प्रकार ही देश के प्राकृतिक ससाधनों से समस्त समाज को लाभ हो सकता है।"

"समाज की मांग है कि पूंजी पर और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो। तदनुसार किसी व्यक्ति विशेष को भूमि का लगान या किराया लेने का अधिकार नहीं है।"

'पुनः समाज की मांग है कि औद्योगिक पूंजी समुदाय को हस्तान्तरित कर दी जाए। चूंकि भूतकाल में उत्पादन के समस्त साधनों पर एक वर्ग का अधिकार था, इसलिए समस्त औद्योगिक अन्वेषणों का और समस्त अतिरेक मूल्य (Surplus Value) का सारा लाभ पूंजीपति वर्ग को ही हुआ। फल यह हुआ कि श्रमिक वर्ग अपनी स्थिति के लिए पूंजीपति वर्ग का पूर्ण आश्रित बना रहा।"

'यदि उपरोक्त सुधार क्रियान्वित हो जाए अर्थात् औद्योगिक पूंजी पर और उत्पादन के अन्य समस्त साधनों पर समस्त समुदाय का अधिकार हो जाए तो श्रमिकों की आय में किराये और ब्याज की मांग और बढ़ जाएगी। इस प्रकार शनैः शनैः सुस्त और निकम्मा पूंजीपति वर्ग स्वयं समाप्त हो जायेगा। उस वर्ग के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का जन्म होगा। ऐसे स्वतन्त्र समाज में कोई व्यक्ति किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकेगा। किन्तु फेबियन समाज पूंजीपति वर्ग के साथ भी न्याय करना चाहता है। समुदाय जो कुछ मुआवजा निश्चित करेगा, वह जमींदारों और पूंजीपतियों को उनसे छीने गये विशेषाधिकारों के एवज में दिया जायेगा।"

"इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फैबियन समाज चाहता है कि समस्त समाज में समाजवादी विचारों का प्रचार हो और फलस्वरूप सारे संसार में तदनुरूप राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हों। सभी जगह स्त्रियों और पुरुषों को समान नागरिक अधिकार मिलें। इस प्रकार व्यक्तिगत और समाज के बीच आर्थिक समानता, नैतिक समानता और राजनीतिक समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित हो।"

सन १८८७ में फेबियनवादियों ने अपने समाज का उद्देश्य इन शब्दों में प्रकट किया—

"फेबियन समाज समाजवादियों का समाज है। अतः इसका उद्देश्य समाज का नव-संगठन करना है। यह नया संगठन भूमि तथा उद्योग धन्धों को व्यक्तिगत तथा वर्ग के स्वामित्व से निकाल कर समाज को उसका स्वामी बनाकर किया जायेगा जिससे सामान्य लाभ के लिए कार्य करे। केवल इस रीति से ही प्राकृतिक तथा मनुष्य के द्वारा प्राप्त किये हुए लाभों को समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जा सकेगा।"

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का ऐतिहासिक आधार (Historical basis of Socialism)—अपने सैद्धान्तिक लेखों में फेबियनों ने अपने समाजवादी सिद्धान्त के लिए ऐतिहासिक एवं आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परम्परा का अनुसरण किया, लेकिन उन्होंने जो सामग्री इतिहास तथा अर्थशास्त्र से ली, वह मार्क्स द्वारा प्रयुक्त सामग्री से भिन्न थी। उनका विचार था कि इतिहास आज के समाजवाद की व्याख्या यह सिद्ध करके नहीं करता कि प्रत्येक वस्तु पर आर्थिक अवस्थाओं का आधिपत्य रहता है, वरन्

लोकतन्त्र और समाजवाद की ओर एक निरन्तर प्रगति को प्रकट करके करता है। समस्त इतिहास यह इंगित करता है कि समाज स्थिर नहीं है, बल्कि गतिशील है।

सिडनी वैब ने कुछ विस्तार के साथ इस फेवियन विचार पर प्रकाश डाला कि इतिहास "लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति" और "समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति" को निरन्तर प्रकट करता है। लोकतन्त्र की प्रगति के विषय में उसने बतलाया कि १६वी सदी के आरम्भ में इंगलैंड में मध्यवर्गीय मताधिकार ने कुलीनवर्गीय मताधिकार पर विजय प्राप्त की और बाद के कानूनों में अन्य वर्गों को भी मताधिकार दे दिया। जहां मार्क्स को इतिहास में केवल शोषित वर्ग का शोषक वर्ग के विरुद्ध संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग की तानाशाही की स्थापना मिली, वहां सिडनी वैब इस परिणाम पर पहुंचा कि विगत १०० वर्षों में यूरोप में समाजवाद की जो धारा बह रही है उससे लोकतंत्रवाद की अनवरत प्रगति हो रही है। इतिहास ने वैब को यह भी सिद्ध कर दिया कि न केवल लोकतन्त्रवाद की अनवरत प्रगति हो रही है बल्कि समाज का पुनर्संगठन शनैः शनैः मानव-मस्तिष्क द्वारा नवीन सिद्धान्तों को ग्रहण कर लेने से ही हो सकता है। वैब के अनुसार इतिहास से यह सिद्ध हो जाता है कि—

१. महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लोकतन्त्रात्मक पद्धति के द्वारा ही किये जा सकते है। दूसरे शब्दों में ऐसे परिवर्तन तभी संभव है जबकि सभी मनुष्य हृदय से उन्हें स्वीकार करलें।

२. सामाजिक परिवर्तन सदैव शनैः शनैः किये जाने चाहिए ताकि उनसे कोई अव्यवस्था न उत्पन्न होने पावे। प्रगति की गति की तीव्रता सामाजिक परिवर्तन की गति का मापदण्ड नहीं होना चाहिए।

३. परिवर्तन जन-सामान्य की दृष्टि में नैतिक समझे जानेवाले होने चाहिए।

४. परिवर्तन संवैधानिक एवं शांतिपूर्ण ढंग से होने चाहिए।

धन केवल थोड़े से व्यक्तियों के भीतर केन्द्रित हो गया था। इस उग्र व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का जन्म होना स्वाभाविक था। दार्शनिकों और सुधारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थिति यह आई कि कारखानो, सार्वजनिक स्वास्थ्य, खानों आदि के विषय मे अनेक नियम पास किये गये जिनसे पूंजीपतियों के शोषण में कमी आई। वैब के ही शब्दों मे—'एक समय था जबकि प्रत्येक कार्य यहा तक कि सेना, जहाजीबेड़ा, पुलिस तथा न्यायालयों से सम्बन्धित भी व्यक्तिगत उद्योग धन्धो के क्षेत्र मे था और व्यक्तिगत पूंजी को लगाने के लिए वैध क्षेत्र समझा जाता था। शनैः शनैः समाज ने आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप मे इनको अपने अधीन कर लिया है और व्यक्तिगत शोषण का क्षेत्र कम हो गया है।" अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण में भी शनैः शनैः अन्तर आया है और उन्हें यह प्रतीत होने लगा है कि स्वस्थ समाज के अभाव मे कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। वैब के ही कथनानुसार "तीस वर्ष पहले हर्बर्ट स्पेन्सर ने यह स्पष्ट किया था कि वर्तमान लोकतन्त्र राज्य के साथ पूर्ण रूप से व्यक्तिगत सम्पत्ति का मेल नहीं खाता······ व्यक्तिगत उद्योगोमे राज्य के हस्तक्षेप की वृद्धि से, म्यूनिसिपल प्रशासन के विकास से तथा समान भाड़े (rent), पर करों के बोझ की वृद्धि से राजनीतिज्ञ *अज्ञात स्थिति मे ही व्यक्तिवादी सिद्धान्त को छोड़ते तथा समाजवाद की ओर* बढ़ते चले जाते हैं। जब तक राजनीतिक प्रशासन मे लोकतन्त्र व्यवस्था का विकास होता रहेगा तब तक उसका आर्थिक लक्ष्य अनिवार्य रूप से समाजवाद होगा।"

सिडनी वैब के कथन का सारांश यह था कि इंगलैण्ड मे समाजवाद किसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप उन्नति नहीं कर रहा है प्रत्युत् राजनीतिक लोकतन्त्र के विकास, अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण मे परिवर्तन और म्यूनिसिपैलिटीज मे उद्योग-धन्धों तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के केन्द्रीकरण के कारण आगे बढ़ रहा है। इंगलैण्ड का समाजवाद की ओर यह विकास लोकतन्त्रीय, क्रमिक, नैतिक, मन्थर गति एव शान्तिपूर्ण प्रकृति का था।

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का औद्योगिक आधार (Industrial basis of Socialism)—फेबियनों ने समाजवाद का औद्योगिक आधार भी प्रस्तुत किया। विलियम क्लार्क नामक एक फेबियन ने अपने निबन्ध में इस बात पर बल दिया कि यदि पूंजीपतियों के शोषण से श्रमिकों को बचाना है तो कारखानों के बारे में अधिक नियम बनाना अत्यावश्यक है। वैब का कहना था कि औद्योगिक परिवर्तनों के कारण—कारखाना प्रणाली के विकास के कारण—औद्योगिक सम्पत्ति के प्रबन्ध में जो विशुद्ध व्यक्तिगत तत्व था उसका निष्कासन हो रहा है और व्यक्तिगत औद्योगिक प्रबन्ध का स्थान सम्मिलित पूंजी से बनी कम्पनियां लेती जा रही हैं। *आज सम्पत्ति के स्वामी उत्पादन* की घरू प्रणाली के समय की तरह अपने उस उद्योग के प्रबन्धक नहीं रहे हैं, जिसमें वे अपनी पूंजी लगाते हैं। आज पूंजीपति प्रमुख रूप मे न तो उद्योग का व्यवस्थापक है और न निरीक्षणकर्ता वह केवल उद्योग मे पूंजी लगाने वाला, भाड़ा या लाभ प्राप्त करनेवाला है। व्यवसाय प्रबन्ध और व्यवसाय स्वामित्व दोनों अलग-अलग हो गये हैं। विशाल पैमाने पर होनेवाले व्यवसाय ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का विनाश कर दिया है। इस तरह

अनियंत्रित पूंजीवाद के विकास ने आर्थिक व्यक्तिवाद का अन्त कर दिया है। अतः आधुनिक समाज यदि आर्थिक जगत में प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता को बनाए रखना चाहता है तो उसे या तो बड़े उद्योगों को समाप्त कर देना चाहिए और इस प्रकार इन लाभों को नष्ट कर देना चाहिए जो आज पूंजीपति प्राप्त करता है, अथवा इन उद्योगों को राजकीय स्वामित्व और नियंत्रण में ले लेना चाहिए। विलियम क्लार्क ने लिखा था—"व्यापार की स्वतन्त्रता, उत्पादन के विनिमय करने की स्वतन्त्रता, इच्छानुसार खरीदने की स्वतन्त्रता, अपने सामान को दूसरे व्यक्तियों की दरों पर एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजाने की स्वतन्त्रता, किसी के अधीन न रहने की स्वतन्त्रता, वास्तव में लोकतन्त्रीय सिद्धान्त है परन्तु विशेष अधिकारों के कारण उपरोक्त प्रत्येक अधिकार या तो सीमित हो जाता है अथवा समाप्त हो जाता है। इस प्रकार पूंजीवाद लोकतन्त्र से जैसा कि उसका अर्थ आजकल समझा जाता है, मेल नहीं खाता। पूंजीवाद तथा लोकतन्त्र का विकास साथ-साथ बिना विरोध के नहीं चल सकता। दोनों ऐसी दो रेलगाडियों के समान है जो विपरीत दिशाओं से एक दूसरे की ओर बढ़ती हैं और जिनमें संघर्ष होना अनिवार्य लगता है।"[1] अतः क्लार्क की मान्यता थी कि समस्त कारखानों, सम्मिलित पूंजी से बनी कम्पनियों, ट्रस्टों आदि को सार्वजनिक नियन्त्रण में ले लेना चाहिए।

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का आर्थिक आधार (Economic basis of socialism)—फेबियनवादी निबन्धकारों ने समाजवाद की अपरिहार्यता को न केवल ऐतिहासिक आधार पर घोषित किया, बल्कि उसे आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर भी आधारित किया। उन्होंने मार्क्सवादियों और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के श्रम-मूल्य-सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए समष्टिवादियों की भांति यह माना कि वस्तु का मूल्य समाज निश्चित करता है। श्रमिक स्वयं अपने श्रम मात्र से ही किसी वस्तु के मूल्य पर प्रभाव नहीं डालता है। ऐसी दशा में जो मूल्य समाज उत्पन्न करता है उस पर समाज का ही अधिकार होता है, पूंजीपतियों द्वारा उस मूल्य का हड़प लिया जाना चोरी है। फेबियनवादी मार्क्स के इस मत से सहमत हैं कि किसी उद्योग में पूंजी लगाने मात्र से उसकी आमदनी का उचित अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। जहां तक वर्तमान उत्पादन एव वितरण

---

1. "Liberty to trade, liberty to exchange products, liberty to buy where one pleases, liberty to transport one's goods at the same rate and on the same tirms enjoyed by others, subjection to no imperuim in imperio, those surely are all democratic principles. Yet by monopolies everyone of them is either limited or denied. Thus capitalism is apparently in consistent with democracy as hitherto understood. The development of capitalism and of democracy cannot proceed without check on parallel lines. Rather they are comparable to two traius approching each other from different directions on the same line. Collision between the opposing forces seems inevitable."

—*William Clark*

प्रणाली समाज में हितसंघर्ष को उत्पन्न करती है, वह संघर्ष फेबियनो के अनुसार वेतन पर काम करनेवालों तथा उनको काम मे लगानेवालों के बीच नहीं वरन एक ओर समाज तथा दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जानेवालो के बीच मे है। उस वर्ग या उन व्यक्तियों ने जिनके हाथों में सामाजिक सत्ता होती है सदा, जाने अनजाने उस सत्ता का इस प्रकार प्रयोग किया जिससे बहुसंख्यक व्यक्तियो के पास प्रचलित जीवन स्तर के अनुसार अपनी जीविका मात्र से अधिक कुछ भी नहीं रहा। यह 'उत्पादन, जो स्थान, भूमि, पूंजी,' निपुणता आदि की उत्पादक योग्यता के भेदो के कारण सामान्य उत्पादन से अधिक होता है, उन लोगों को मिला है जिनका इन मूल्यवान परन्तु दुष्प्राप्य साधनों पर नियन्त्रण है।

अत फबियनो का मत है 'कि समाजवाद का उद्देश्य समाज के समस्त सदस्यो के लिये उन मूल्यो को प्राप्त करना है जिनका वह निर्माण करता है और इस उद्देश्य की सिद्धि क्रमश भूमि तथा औद्योगिक पूंजी को समाज के अधिकार मे लाने और साथ ही राज्य को समाज का अधिक पूर्ण प्रतिनिधि बनाने से होगी। फेबियनों ने उन प्रवृत्तियो से जो पहले से ही कार्य कर रही हैं, जो बातें उपलक्षित होती हैं उनकी व्याख्या करने का और यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि किस रूप मे इन प्रवृत्तियों का हितप्रद ढग से वि[illegible] है और उनकी गति तीव्र की जा सकती है। उन्होंने वेतन [illegible] किया ताकि नये र[illegible] सदैव यह कहा कि [illegible] मजदूर वर्ग के प्रतिनिधि है।" वस्तुत फबियन समाज उन समस्त योजनाओ को दृढता-पूर्वक अस्वीकार करता है जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियो के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य उत्पादन के साधनो को मजदूरो को नही समाज को सौंपना है। यह हस्तान्तर शनै शनै ही होना चाहिये और उन्ही उद्योगो का हस्तांतर एक समय में होना चाहिये जिनका समाज सफलता के साथ प्रबन्ध कर सकें। ऐसे उद्योगो को हस्तान्तर करते समय यद्यपि उन लोगों को जिनकी सम्पत्ति छिन जायेगी पूर्ण क्षतिपूर्ति नही दी जायेगी तो भी, ऐसी सहायता दी जायेगी जिसे राजनीतिक संसद मे समाज के प्रतिनिधि उचित समझें।'

प्रो० लास्की ने उद्योगों के नियन्त्रण के लिये फेबियन विचारों के पूर्णत अनुरूप एक योजना बनाई जिसमे उन्होंने समस्त उद्योगों को तीन भागों मे रखा है। प्रथम मे वे उद्योग जो समाज के जीवन के लिये अत्यावश्यक हैं, जो समाज की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। ऐसे उद्योगो का पूर्णत समाजीकरण होना चाहिये क्योकि उनका निजी स्वामित्व मे रहना हानिप्रद है। दूसरे वे उद्योग है जो समाज के लिए उपयोगी तो हैं किन्तु जिनके अभाव मे समाज को अधिक हानि नहीं होती। लेकिन फिर भी सामाजिक जीवन के लिये इनकी आवश्यकता इसलिये है कि वे व्यक्ति के जीवन को रुचिपूर्ण बनाते हैं। यद्यपि इन उद्योगो का निजी स्वामित्व मे छोड़ा जा सकता है किन्तु उन पर समाज का स्पष्ट नियमन आवश्यक है। अन्त मे,

वे उद्योग हैं जो सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं, जैसे क्रीम, पाउडर आदि बनानेवाले व्यवसाय अथवा उद्योग। ऐसे उद्योग पूर्णतः निजी स्वामित्व में ही रहेंगे और राज्य का भी उन पर विशेष नियंत्रण नहीं रहेगा। लास्की इस पक्ष में थे कि जिन लोगों के उद्योगों का सामाजिकरण होता है उन्हें समाज की ओर से कुछ सहायता प्राप्त होनी चाहिये ताकि उनका जीवन भी अच्छे नागरिकों की भांति व्यतीत हो सके और उन्हें भी आवश्यक वस्तुयें और सुविधायें उपलब्ध हो सकें।

फेवियनवादी उद्योगों की भांति ही भूमि का भी किसी न किसी रूप मे समाजीकरण चाहते हैं। बड़े-बड़े जमींदारों से जो कि भाड़े पर मजदूरों से खेती कराते है, जमीन ले लेनी चाहिये और उसे भूमिहीन किसानों को दे दी जानी चाहिये। इस प्रकार से भूमिहीन किसानों को भूमि देकर जीविकोपार्जन करने का अधिकार दिया जायेगा। जिन जमींदारों को जमीन ली जावेगी उन्हें भी उद्योगपतियों की भांति समाज की ओर से सहायता दी जावेगी।

फेवियनवादियों का राज्य के प्रति विश्वास (Fabian's faith in the state)—फेवियनवादियों को राज्य के द्वारा किये जानेवाले कार्य के औचित्य और उसकी प्रभावकारिता में पूर्ण विश्वास था। वे यह चाहते थे कि राज्य में समुदाय का विश्वास होना चाहिये। **वे राज्य को "जनता का प्रतिनिधि एवं संरक्षक, जनता का अभिभावक, व्यवसायी प्रबन्धकर्ता, सचिव और यहां तक कि उसका साहूकार भी कहते हैं।'** इन दशाओ मे वर्तमान राज्य, फेवियनो के अनुसार, बिना किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के, यदि निर्दोष नहीं तो भी कम से कम विश्वासपात्र अवश्य बनाया जा सकता है। फेवियनो ने जिन परिवर्तनों का समर्थन किया, वे थे—मताधिकार का विस्तार, अधिक प्रशिक्षित सिविल सर्विस और सबके लिये शिक्षा के समान अवसर। इन सुधारों के अतिरिक्त राजनीतिक मशीनरी में और कोई मौलिक परिवर्तन करने के वे समर्थक नहीं थे। उनका कहना था कि 'यदि प्रजातन्त्र के नागरिक उन सत्ताओं का जो उनके पास हैं, पर्याप्त रूप में उपयोग करें, तो वे अपनी राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारों द्वारा शनैः शनैः भूमि तथा औद्योगिक पूंजी दोनों से प्राप्त होनेवाले आर्थिक लगान के समस्त रूपों को समाज के हाथों में सौंप सकेंगे।" स्पष्ट है कि फेवियनवादी राज्य के द्वारा शान्तिपूर्ण साधनों से धीरे-धीरे अपने सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना चाहते हैं।

फेवियन विचारों की व्यवहारवादी शाखा ब्रिटिश मजदूर दल ने सन् १९२० में प्रकाशित 'Labour and the New Social Order' मे यह प्रतिपादित किया कि प्रजातांत्रिक तरीके से चुनी हुई स्थानीय शासकीय संस्थाओं को काम करने का अधिकतम क्षेत्र प्रदान किया जाये, केन्द्रीय सरकार के विभाग स्थानीय संस्थाओं के अधिकारियों को अपेक्षित सूचनायें और अनुदान देकर उनकी सहायता करें। मजदूर दल ने अपने उपरोक्त प्रकाशन में यह विचार प्रस्तुत किया कि स्थानीय संस्थाओं को, एक न्यूनतम के अतिरिक्त, अपनी सेवाओं को विकसित करने और जिस प्रकार चाहें चलाने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। इनमें गैस, जल, बिजली, मकानों की व्यवस्था

और स्थानीय यातायात के अलावा शिक्षा के प्रबन्ध की व्यवस्था, सफाई, पुलिस, पुस्तकालयों और पार्कों की योजना, मनोरंजन की व्यवस्था तथा दूध आदि के बांटने की व्यवस्था भी शामिल है। वास्तव में सब मामले जो न केवल मनुष्यों के शारीरिक स्वास्थ्य बल्कि उनके आध्यात्मिक और मानसिक कल्याण के लिये भी आवश्यक हैं, स्थानीय कर्मचारी द्वारा सम्पादित होने चाहिये। फेबियन विचारों की व्यवहारवादी शाखा ब्रिटिश मजदूर दल द्वारा प्रस्तावित इन विचारों से फेबियनवादियों पर लगाये जानेवाला यह आरोप सही नहीं प्रतीत होता कि वे केन्द्रीयकरण के समर्थक हैं।

उपरोक्त पुस्तिका 'Labour and the New Social Order' में श्रमिक दल ने यह विश्वास प्रकट किया कि नवीन सामाजिक व्यवस्था का आविर्भाव संघर्ष पर आधारित न होकर भाईचारे पर आधारित होगा। उसका आधार निर्मम जीवन के साधनों के लिये होनेवाले प्रतियोगात्मक या प्रतिद्वंद्वात्मक संघर्ष पर स्थित न होकर समझ बूझकर बनाये गये उत्पादन और वितरण के उस आयोजित सहयोग पर निर्भर होगा जिनसे शारीरिक और मानसिक परिश्रम करनेवाले सभी व्यक्तियों का लाभ होगा।

यह उल्लेखनीय है कि इगलैंड में प्रथम विश्व युद्ध के समय से ही फेबियन सोसायटी और मजदूर या श्रमिक दल में गहरी आत्मीयता रही है। इस सोसायटी के ५ सदस्य १९२५ में ब्रिटिश श्रमिक सरकार के सदस्य थे। इनमें दो 'Fabian Essays' के रचयिता सिडनी वेब और सिडनी ओलिवर थे। सिडनी वेब १९३१ की मजदूर सरकार उपनिवेश-सचिव भी थे। कोकर ने लिखा है कि "सत्य यह है कि इंगलैण्ड का श्रमिक दल फेबियन कार्यक्रम को पूरी तरह से अपनाने को तैयार है अतः अब फेबियन समाज केवल सैद्धान्तिक वाद विवाद के सिवाय और कुछ नहीं करता क्योंकि उसके कार्यक्रम को स्वयं मजदूर दल पूर्ण करने के लिये कटिबद्ध है।"

सारांश—फेबियनवाद के उद्देश्य साधनों और उनकी पद्धति आदि के गत विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि यह समाज के इस मार्क्सवादी विश्लेषण को स्वीकार करता है कि समाजवाद १९वीं शताब्दी के उद्योगवाद का अनिवार्य परिणाम है, लेकिन यह तत्कालीन मार्क्सवादियों की इस धारणा को पूर्णतया अस्वीकार करता है कि *समाजवाद की स्थापना के लिये* एक राजनीतिक क्रान्ति आवश्यक है तथा श्रमिक वर्ग की विजय के उपरान्त *श्रमिक तानाशाही* के रूप में एक नवीन प्रकार के राज्य का उदय होगा। फेबियनवादी वर्ग-संघर्ष तथा बलपूर्वक क्रान्ति में कोई विश्वास न रखते हुए समाज का धीरे-धीरे इस प्रकार विकास करना चाहते हैं कि पूंजीवादी प्रथा की उग्र असमानतायें समाप्त हो जायें। प्रो० कोल ने लिखा है कि

"फेबियनों की धारणा की सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का साधन वर्ग संघर्ष अथवा क्रान्ति न[illegible] *[illegible] धीरे धीरे' तथा* क्रमिक परिवर्तन है। यह [illegible] परिणाम होगा जो कि [illegible] और जिनका यह विश्वास हो जायेगा कि सभाव्य उत्कृष्टतम सामान्य [illegible] की प्राप्ति उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के अतिरिक्त और किसी साधन से नहीं हो सकती।"

"वस्तुतः फेबियनों के लिये समाजवाद की प्रगति का आधार केवल शक्ति नहीं है, बल्कि विवेकसम्मत विश्वास तथा सामाजिक न्याय को प्राप्त करने की नैतिक भावना द्वारा उत्प्रेरित शक्ति है।"[1]

समाजवाद पर आवर्तन के विषय में फेबियनवादी मार्क्सवादी मार्ग से कितने भिन्न थे और फेबियनों का लक्ष्य क्या था, इस पर लैडलर के निम्नलिखित शब्दों से उपयुक्त प्रकाश पड़ता है—

लैडलर के अनुसार "अंग्रेज फेबियनों ने अपने अर्थशास्त्र को रिकार्डो के भाटक के सिद्धान्त पर आधारित किया न कि अतिरिक्त धन के सिद्धान्त पर। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लाने में श्रमिकों के महत्व का अनुभव किया, परन्तु उन्होंने विश्वास किया कि श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त जनसमूह के अन्य तत्वों (व्यावसायिक समूह) पर भी समाजवाद ले जाया सकता था, यदि वह उन्हें ठीक तरह से समझाया जाय। उन्होंने अपना लक्ष्य मध्यम वर्ग को समाजवादी सन्देश से जागरूक बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह दर्शाया कि समाजवाद अधिकाधिक स्थानीय और सर्वीय उद्योगों के स्वामित्व तथा व्यवस्थापन व कार्यपालिका कार्यों में श्रमिकों की सत्ता को बढ़ाकर सहकारिता, श्रमिक संघवाद, शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलनों तथा सामाजिक चेतना का फैलाकर संक्षेप में शनैः शनैः राजनैतिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र समाज का प्रजातन्त्रीकरण करके लाया जा सकता है।"[2]

---

1. "The Fabians envisaged the process of social and economic transformation in terms not of class-war of revolution, but of the gradual and progressive modification of the system by democratic means, as a result of pressure from a popular electorate that would grow more and more insistent on the claims of social justice and would become convinced that nothing short of the socialisation of the means of production would suffice to ensure their use to achieve the highest practicable level of general well being.

   The Fabians, in effect, though of the advance of socialism in terms is mainly not of power alone, but of power antimated by rational conviction and inspired by the ethical impulse to achieve social justice"

   Cole : The Second International Part I, P. 114

2. *Laidler*—"The English Fabians based their economics on the Richardian law of rent rather on the labour theory of value. They realized the importance of the workers in bringing about social change, but they believed that other elements in the population besides the working class, namely the middle (professional) groups, could also be reached by the socialist challange if it were properly presented to them. They set before themselves the task of 'permeating' the middle class with the socialist message They visualized the coming of socialism as a result of increasing power of labour in legislative and executive offices, increasing growth

फेबियनवादियो और अन्य समाजवादियो मे अन्तर को बताते हुये बर्नार्डशा ने लिखा है—

"फेबियनवाद मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति समाजवादियो मे सबसे कम क्रान्तिकारी थे और वे किसी भी प्रकार की हिंसा के समर्थक नहीं थे। एक दृष्टि स उनका समाजवाद सामान्य समाजवाद है जिसका अभिप्राय यह है कि राज्य के अधिकारों को विस्तृत किया जाए जिससे सामान बेचनेवाले का साइसेंस समाजवाद की उन्नति का प्रत्यक्ष उदाहरण हो और एक पुलिसमैन का रहना यह सिद्ध करे कि हम साम्यवादी समाज मे रहते है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध मे उनमे कुछ विभिन्नतायें विद्यमान हैं। समाजवाद एक यात्रा है जिसकी अन्तिम मजिल निश्चित नहीं है। वे मताधिकार के विस्तार करने तथा मतदान पात्रो (Ballot Boxes) पर अत्यधिक विश्वास करते हैं।[1]

वास्तव मे फेबियनवाद की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना करना प्रतिपादित किया है, विनाश की अपेक्षा सुधार को अधिक महत्व दिया है और अपने को समाजवादी न कहकर सामाजिक सुधारक कहा है। फेबियनवादी विचारको ने पूजीवादी व्यवस्था पर जो भी आघात किया वह बहुत नर्म है। फेबियन अग्रेज जाति के चरित्र को जानते थे इसीलिये उन्होने एक ऐसी नर्म नीति अपनाई जिससे अग्रेज जाति प्रभावित हो। इस प्रसग मे यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उन्होने वास्तव मे किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं किया वरन् समाजवाद की स्थापना के उपायों पर प्रकाश डाला। अत. ग्रे का यह कहना सही है कि, "फेबियनवाद मुख्य रूप से एक नीति है, एक युद्ध कला है, सिद्धान्त समूह नहीं (Fabianism was primarily a policy, a question of tactice rather than a body of doctrine)।" फेबियनों ने सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक महत्व प्रदान किया।

---

of the cooperative, trade union and educational movements and the development of social consciousness; in short, through a gradual democratization of society on the political, economic and intellectual fields."

1. "Such were the Fabians; most immaculate and least revolu- [illegible]

question of how far the state should go, they were directly ambiguous, the path to socialism was a journey, with no assigned destination....In place of farricades rifles and lamp posts with depend nt robes, they relied on such prosaic machinery as univer al suffrage and the ballot box."
—*G. B. Shaw*

फेबियनवाद की आलोचना (Criticism of Fabianism)—यद्यपि फेबियनों ने केवल विकास में विश्वास प्रकट किया, क्रान्ति में नहीं, और अहिंसक, वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनों का समर्थन किया, तथापि वे आलोचनाओं से मुक्त नही हैं। मैलोक (Mallock) का कहना है कि फेबियनों के विचार तथा उनकी भाषा स्पष्ट नही है। समाजवाद की परिभाषा करते समय वे उसका कुछ अर्थ बताते हैं (जैसे पूंजीवाद तथा जमीदारी प्रथा, व्यक्तिगत उद्योग धंधों तथा खूनी प्रतियोगिता की समाप्ति) परन्तु उसके उदाहरण खोजते समय वे अपने परिभाषित अर्थ को बदल देते हैं (जैसे राज्य का अधिक नियंत्रण, म्युनिसिपल उद्योग धंधों की वृद्धि)। बार्कर ने फेबियनवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि "फेबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट तथा अनिश्चित सिद्धान्त है। व्यावहारिक रूप से तथा सिद्धान्त में यह एक झूठे झंडे के नीचे है जो अपने उद्देश्यों के विषय में कोई संदेह प्रकट नहीं करना चाहता। फेबियन अपनी सफलता के लिये केवल चालाकी पर निर्भर करते हैं।"[1] स्कैल्टन (Skelton) ने फेबियनों को "अवसरवादी-समाजवादी" कहकर पुकारा है। डा० एन्जिल्स ने कहा है कि "फेबियनों की योजना उदारवादियों के साथ संघर्ष करने की है, खुले हुए शत्रुओं के समान नहीं वरन् उनको समाजवादी परिणामों की ओर आकर्षित करके तथा उनके मानसिक विचारों को समाजवादी विचारों से प्रभावित करके। इसके साथ ही उनका उद्देश्य उदारवादी सदस्यों के पक्ष में समाजवादी सदस्यों का विरोध करना नहीं बल्कि उन पर कुछ दबाव डालकर अथवा उन्हें कुछ घूंस देकर उनके विचारों को प्रभावित करना है। वस्तुतः उनके समस्त सिद्धान्त सड़े हुए हैं।"[2] चूंकि फेबियन समाज के समस्त वर्गों को प्रभावित करके यह सिद्ध करना चाहते थे कि ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप ही समाजवाद है, अतः उनके समाजवाद को ईसामसीही समाजवाद (Jesuits Socialism) कहा जाता है।

फेबियन पूंजीवादजन्य अन्यायों को दूर करना चाहते थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पूंजीवाद की त्रुटियों को दूर करने का कोई प्रभावकारी और क्रान्तिकारी सुझाव उनके पास नहीं था। यदि राज्य राष्ट्रीयकरण की

---

1. "The Fabian Society is the least open and least straightforward socialist organisation. It habitually and on principle sails under a false flag, wishing not to arouse suspicion, as to its objects. Fabians rely for their success on their artfulness."

—*E. Barker*

2. "Their (Fabian) tactics are to fight the liberals not as decided opponents, but to drive them on to socialistic consequences; therefore to trick them to permeate liberalism with socialism and not to oppose socialistic candidates to liberal ones, but to palm them off, to thrast upon them, under some pretent. All is rotten."

—*Dr. Engels*

नीति के अन्तर्गत भूमि और कारखानो पर नियन्त्रण करता है तो इससे पूंजीवाद की केवल कुछ शक्ति ही कम होती है। राज्य पूंजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि पूंजीपतियों से जो सम्पत्ति लेता है उसके लिये भी उचित मुआवजा देता है।

फेबियनवाद की सफलतायें (Achievements of Fabianism)—फेबियन विचारधारा चाहे कितनी भी अस्पष्ट एवं कमजोर क्यों न हो इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इस श्रम आन्दोलन को इसके साहित्य को तथा साधारण व्यक्ति को बहुत प्रभावित किया है। **फेबियनों के महत्व और प्रभाव को बताते हुए प्रो० कोकर ने लिखा है कि—**

'फेबियन लोग विशिष्ट नीतियों के गुण दोष देखते समय इस बात पर विचार करते थे कि उनमें भौतिक कल्याण तथा सांस्कृतिक सुयोगों के व्यापक वितरण की दिशा में क्या प्रभाव होंगे। फेबियनों का व्यावहारिक प्रभाव मुख्यतः इंगलैंड की गृहनीति के क्षेत्र में हुआ है। उन्होंने मजदूरों की आर्थिक तथा नागरिक स्थिति को ऊंचा उठाने का तथा सम्पत्ति के स्वामियों की सम्पत्ति को कम करके आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लाभों का न्यायपूर्वक विस्तार करने के लिए व्यावहारिक योजनाएं बनाईं और तर्क तथा तथ्यों द्वारा उनको शक्ति प्रदान की। उनकी शक्ति का मुख्य तत्व उनकी वह चतुरता रही है जो उन्होंने तात्कालिक प्रयोग के लिए व्यावहारिक योजनाएं बनाने में दिखलाई है जो कई प्रकार से काम में लाई जा सकती हैं जैसे—(१) सामाजिक कानून रचना द्वारा काम के घन्टों में कमी बेकारी से रक्षण स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा वेतन के लिए न्यूनतम स्तर शिक्षा के उन्नत सुयोग (२) राष्ट्रीय तथा म्युनिसिपल सरकारों द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (Public utilities) और स्वाभाविक एकाधिकारों पर सार्वजनिक स्वाम्य तथा (३) उत्तराधिकार पर कर, भूमिकर (Ground rents) तथा लगी हुई पूंजी की आय पर कर। शायद पिछले दो क्षेत्रों में फेबियन समाजवादियों ने अधिक स्पष्ट प्रभाव डाला है। इंगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में म्युनिसिपल समाजीकरण के विस्तार को शीघ्रता से बढ़ाने में इनके प्रचार साहित्य तथा व्याख्यानों से बड़ी सहायता मिली है। उनसे उस लोकमत को तैयार करने में भी बड़ी सहायता मिली है जिसने सम्पत्ति पर कर लगाने के नये ढंगों का कार्य में लाते समय राष्ट्रीय सरकार का समर्थन किया, जैसे लगी हुई पूंजी में होनेवाली आय पर सापेक्ष दृष्टि से ऊंचा कर लगाना, उत्तराधिकार में प्राप्त जायदादों से भारी शुल्क लेना, और (१९१० के राजस्व कानून से) काम में नहीं ली हुई भूमियों तथा काम में लाई हुई भूमियों के मूल्यों में अनर्जित वृद्धि पर विशेष कर लगाना।

यह कहा जा सकता है कि फेबियन सोसायटी ने सिद्धान्त क्षेत्र में उतना योगदान नहीं दिया जितना कि व्यावहारिक क्षेत्र में। जिस प्रतिभा और बुद्धिमता के साथ उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में तथ्य एकत्र करके उनकी व्याख्या की है उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानिक सरकारें शनैः शनैः और सावधानी के साथ समाजवाद के एक नरम रूप को व्यावहारिक रूप दे सकी हैं।[1]

1 कोकर—आधुनिक राजनैतिक चिन्तन पृष्ठ ११३-१४

प्राय: यह कहा जाता है कि फेवियनवाद की यह विशेष कमजोरी थी कि उसने पूंजीपतियो से लडने के लिए कार्ल मार्क्स की भांति श्रमिकों का आह्वान नही किया, इसने श्रमिको को उत्प्रेरित नही किया। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि मे और साथ ही सैद्धान्तिक दृष्टि से भी यह फवियनवाद की कमजोरी न होकर उसका एक प्रधान गुण है क्योंकि उसने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय धन का वितरण सम्पूर्ण समाज के हित को दृष्टि मे रख कर होना चाहिए न कि श्रमिक–वर्ग सरीखे किसी एक वर्ग-विशेष के हितों के लिए।

फवियनों की "राष्ट्रीयता"
("Nationalism" of the Fabians)

फेवियनवाद पर समाप्ति से पूर्व यह उल्लेख कर देना और आवश्यक है कि फेवियनो तथा संशोधनवादी समाजवादियो के सामाजिक दृष्टिकोण में राष्ट्र विरोधिता नही थी। वे प्रत्येक राष्ट्रीय सरकार को मानव जन-कल्याण की अभिवृद्धि मे सहायक बनाना चाहते थे। उन्होने देश मे किसी विशेषाधिकार वर्ग, अथवा देश के बाहर किसी ऐसे अधिकार का दावा नही माना जो प्रजातान्त्रिक सभ्य राष्ट्रों के विश्व-दायित्वों के निर्वाह में बाधक हों। यद्यपि वे जमींदारी और औद्योगिक पूंजीवाद के विरोधी थे किन्तु एक निपुण और हितकारी साम्राज्यवाद (Benevolent Imperialism) के विरुद्ध उन्हे कोई आपत्ति न थी। उनकी इच्छा ब्रिटिश साम्राज्य की औपनिवेषिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति को विफल बनाने की नही थी बल्कि उसका समाजीकरण करने की थी। उनका कहना था कि "समाजवादियों को किसी न किसी प्रकार इस तथ्य को मान लेना चाहिए कि यह ससार महान् राष्ट्रों के बीच विभक्त होने वाला है, यदि समाजवादी और उदारपंथी कोरे सैनिकवाद–विरोधी तथा साम्राज्यवाद–विरोधी बने रहे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारियों और बैंकरो के छोटे-छोटे समुदाय इस स्थिति से लाभ उठायेंगे। फेवियनो को 'साम्राज्य स्वीकार कर लेना चाहिये', उसके सुयोगों तथा दायित्वों का बतलाना चाहिए और यह दिखलाना चाहिये कि वह (साम्राज्य) किस प्रकार अपनी नीति को निपुण और समाजवादी बना सकता है। उन्हे चाहिए कि वे साम्राज्य की सरकार से यह अनुरोध करे कि वह दक्षिणी अफ्रीका के "श्वेत निवासियो" को साम्राज्य के आधीन उत्तरदायी शासन तथा स्वतंत्र शासन विधान दे। उन्हें भारत के लिए उदार नीति का समर्थन करना चाहिए और सरकार से यह अनुरोध किया जाय कि 'ऐसे भारतीय निवासियो का पाश्चात्य शिक्षा के सुयोग दिये जाय, जो उसके लिए योग्य हैं;' उन्हे सैनिक (Civil) सेवाओं के उच्च पदों का भारतीयकरण करना चाहिए; ब्रिटिश राज्य के मार्ग-दर्शन मे देशों तथा प्रान्तीय क्षेत्र में स्वशासन के बीजों का विकास करना चाहिए और उस भू भाग मे जो सामाजिक एव औद्योगिक बुराईया हैं; उनका अध्ययन एव निवारण करने के लिए द्रव्य खर्च करना चाहिए। किन्तु उन्हें उदार-पंथियों की इस मान्यता द्वारा साम्राज्यवादी नीति पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न नही करना चाहिए कि प्रत्येक जाति को स्वय अपनी सरकार स्थापित करने का तथा अपनी नीति पर आचरण करने का नैसर्गिक अधिकार है, चाहे इसका दूसरी जातियों या संसार पर कुछ भी प्रभाव होता हो। वास्तव मे वैब तथा

था दोनों का ऐसा विचार प्रतीत होता था कि पश्चिमी दुनिया के विशाल राजनीतिक तथा आर्थिक समुदायों में विभक्त हो जाने से फेबियन समाजवाद के मुख्य उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता मिलेगी।"[1]

फेबियन नीति विदेशी व्यापार में भी समाजवाद लागू करने की थी। इसके अनुसार व्यापार के लाभ का वितरण राष्ट्रों के सभी लोगों में होना चाहिए, किन्तु आवश्यक यह है कि वितरण के लिए पहले पर्याप्त मात्रा में लाभ हो। फेबियनों का मत था कि यदि ब्रिटेन का विदेशी-व्यापार समृद्ध नहीं होगा तो ब्रिटिश नागरिकों और प्रजा की भी समृद्धि नहीं होगी।

समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवाद
(Collectivism or State Socialism)

समष्टिवाद विकासवादी समाजवाद का ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप अथवा पहलू है जिसे राज्य-समाजवाद, सघर्षवाद, समूहवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। यह समाजवाद का वह संयुक्त एवम् परिष्कृत सम्प्रदाय है जो समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्ण उपायों पर बल देता है। इस प्रकार के समाजवादियों का उद्देश्य राज्य में समाजवादी क्रान्ति को बिना किसी रक्तपात तथा हिंसा के धीरे-धीरे ले जाना है और इसीलिए यूरोप के कुछ देशों में इसे एक वैधानिक आन्दोलन (Constitutional Movement) भी कहा है। समष्टिवाद इस सिद्धान्त की परिवर्तन की क्रमिकता में विश्वास करते हैं। समष्टिवाद कोई उग्र क्रान्ति (Radical Revolution) या आकस्मिक परिवर्तन नहीं चाहता, बल्कि अपने दृष्टिकोण में यह पूर्णतः विकासवादी (Evolutionary of Progressive) है। इस विचारधारा के मूलभूत आधार जर्मन समाजवाद तथा अंग्रेजी फेबियनिज्म हैं, और इनसे काफी प्रभावित होने के कारण यह मार्क्स के समाजवादी दर्शन से उद्देश्यों में मिलता हुआ होते हुए भी प्रणाली की दृष्टि से उसका बहुत उल्टा है। यह राजकीय सत्ता द्वारा उत्पादन के स्रोतों को पूंजीवादी अधिनायकों से मुक्त कराकर सार्वजनिक सत्ता पर सर्वव्यापी मताधिकार द्वारा विजय प्राप्त करके ही एक ऐसे वर्ग विहीन समाज की सृष्टि करने की अपेक्षा करता है जिसमें आर्थिक संकटों से मुक्त होकर प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक समता के स्वस्थ वातावरण में अपने व्यक्तित्व पूर्ण अनुभव करने की स्वतन्त्रता का दीर्घ निःश्वास ले सकेगा।

समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवादी की परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopcadia Britanica) के ११ वें संस्करण में दी हुई समाजवाद की परिभाषा से पड़ता है। उसके अनुसार "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका लक्ष्य किसी केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक शक्ति की कार्यवाही द्वारा अच्छे वितरण की व्यवस्था करना है और उसी शक्ति की अधीनता में धन की उत्पत्ति को वर्तमान से अच्छी

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ १२४-२५

व्यवस्था करना है।"[1]

एक फ्रांसीसी लेखक मिलरेंड (Millerand) के अनुसार समाजवाद की दी गई यह परिभाषा समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवाद पर अच्छी तरह लागू होती है—'पूंजीवादी सम्पत्ति के स्थान पर सामाजिक सम्पत्ति को आवश्यक एवम् प्रगतिशील ढंग से कायम करना समाजवाद है।" उसके अनुसार समाजवाद कार्यक्रम के ये आवश्यक अंग है :—(अ) विभिन्न प्रकार के उत्पादन साधनों और विनिमय को, जैसे ही वे सामाजिक स्वामित्व के लिए पक कर तैयार हों, पूंजीवादी अधिकार क्षेत्र से निकालकर राष्ट्रीय अधिकार क्षेत्र में जाना, (आ) सार्वजनिक शक्ति पर सर्वव्यापी मताधिकार द्वारा विजय पाना और (इ) कर्मचारियों की अन्तर्राष्ट्रीय समझदारी।

समष्टिवाद क्यों? (Why Collectivism?)—समष्टिवाद प्रमुख रूप से २०वीं शताब्दी का दर्शन है, यद्यपि इसकी परम्परा १८८९ से पाई जाती है जिस समय कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (The Second International) की स्थापना हुई थी। इस अन्तर्राष्ट्रीय में श्रमिक संघों के प्रतिनिधि दो समूहों में विभाजित हो गये थे—मार्क्सवादी तथा समाजवादी। मार्क्सवादी समूह में वे सदस्य थे जो वैज्ञानिक समाजवाद की क्रान्तिकारी तथा हिन्सात्मक पद्धति पर बल देते थे। समाजवादी समूह में उन सदस्यों का बाहुल्य था जो मार्क्सवाद में विश्वास करते हुए भी उसकी हिन्सात्मक पद्धति से घृणा करते थे। तृतीय समूह, यद्यपि उसके सदस्यों की संख्या बहुत कम थी, उन व्यक्तियों का था जो मार्क्सवादी भी थे और समाजवादी भी। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के समाप्त हो जाने पर समाजवाद एक पृथक विचारधारा तथा नूतन आर्थिक व्यवस्था के रूप में उत्पन्न हुआ। समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवाद का विकास यहीं से समझा जाना चाहिए।

आधुनिक युग में समष्टिवाद यूरोप में क्यों पनपा, इसके एकाधिक कारण हैं। जोड (Joad) के मतानुसार समष्टिवाद के पूर्वगामी विचार (Antecedents), जिनके परिणामस्वरूप इस विचारधारा का उदय हुआ, दो हैं—प्रथम मार्क्सवाद और दूसरा व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया।[2] जोड (Joad) के कथन में पर्याप्त सत्यता है क्योंकि जहां एक ओर व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई वहां दूसरी ओर मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद के क्रान्तिकारी कार्यक्रम के विरुद्ध भी प्रतिक्रियाएं हुईं और अनेक विचारकों ने विकासवादी समाजवाद (Progressive Socialism) का प्रतिपादन व समर्थन किया।

---

1. Socialism is 'that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution, and in due subordination, thereto the better production of wealth than now prevails."
2. *C. E M. Joad*, Introduction of Modern Political Theory, P. 40-50

१ समष्टिवाद का जन्म प्रधानत. व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही हुआ। १९वीं सदी मे यूरोप व्यक्तिवाद का युग रहा था और इस शताब्दी के अन्त तक व्यक्तिवादी व्यवस्था के दोष अपनी चरम सीमा तक पहुँच गये थे। व्यक्तिवाद द्वारा दी गई निस्सीम स्वतन्त्रता सभी क्षेत्रों मे सामाजिक जीवन के लिए एक समस्या बन गई थी। पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद दिन रात बढ़ रहा था और चारों ओर शोषण, पतन अपव्यय *तथा स्वार्थ का बोलबाला था।* अन्याय तथा अनाचारो से भरी हुई भ्रष्ट व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। पूँजीवाद के बोझ से दबा हुआ पाश्चात्य समाज राज्य की सहायता तथा हस्तक्षेप के लिए पुकारने लगा जिसके फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र के इतिहास मे भी युग की पुकार के साथ-साथ राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद या समूहवाद की कल्पना की गई।

२ समष्टिवाद को जन्म देनेवाला दूसरा कारण या साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद की आधुनिक समाज में अनुपयुक्तता। यद्यपि मार्क्सवाद भी समाजवाद का ही एक अग है और उद्देश्यो की दृष्टि से अत्यन्त सबल एवम् पुष्ट *विचारधारा है, तथापि अपने पवित्र उद्देश्यो की पूर्ति के लिए* इसके द्वारा चुना गया मार्ग अत्यन्त आपत्तिजनक है। हिंसा और रक्तपात सदैव विनाश के मार्ग हुआ करते हैं, सृजन के नही। इसी कारण "मार्क्स का दर्शन उसके अन्धे से अन्धे प्रशसक द्वारा आचारात्मक दृष्टि से दृढ़ तथा वैज्ञानिक दृष्टि से न्यायपूर्ण होते हुए भी बौद्धिक दृष्टि से बिल्कुल खोखला और भावनाओं पर जीनेवाला माना गया।" मार्क्सवाद के आकस्मिक परिवर्तनो का सिद्धान्त अब अव्यावहारिक (Impracticable) माना जाने लगा और लोग यह अनुभव करने लगे कि वर्तमान समय मे मार्क्सवाद एकदम समाज मे नही लाया जा सकता क्योंकि विकास और पतन दो धीमी क्रियाएं हैं, वे मनुष्य की बुद्धि द्वारा चाहे धीमी करदी जाएं किन्तु उन्हें उल्टा नहीं जा सकता और न रोका ही जा सकता है और न यही स्वाभाविक है कि आकस्मिक तथा भीषण परिवर्तनों के द्वारा उनकी गति को तेज किया जाय।"[1] अतः साम्यवाद को दोहराने की आवश्यकता पड़ी। साम्यवादी भविष्यवाणियों को झूठी सिद्ध होती देखकर उसके स्थान पर एक विकासवादी तथा वैज्ञानिक उपायो द्वारा समाजवाद लानेवाली विचारधारा की आवश्यकता अनुभव की गई और फलतः साम्यवाद के प्रावृतिवाद या पुनर्विचारवाद (Revisionism) के रूप मे समष्टिवाद का जन्म हुआ। बर्नस्टीन (Bernstien) उन प्रमुख समाजवादी विचारकों में से था जिन्होंने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल

1. "Growth and decay are slow processes. *They may be* directed by human intelligence and even assisted *or* accelerated [illegible] : be reversed or brought to [illegible] speeded *up to abrupt* and [illegible]

—*Joad*

दिया। बर्नस्टीन ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को तथ्य की दृष्टि से दोषी पाया। उसने देखा कि पूजी का केन्द्रीयकरण कुछ हाथों मे होने के साथ साथ मध्यम वर्गीय व छोटे व्यवसायों का लोप नहीं हो रहा था और श्रमिकों की दशा गिरने के बजाय सुधर रही थी। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वर्तमान समय में तथा बहुत समय तक भविष्य में समाजवादी का कार्य मजदूर वर्गों का राजनीतिक संगठन करना और उनका प्रजातन्त्र के लिए विकास करना तथा ऐसे सभी सुधारो के लिए जिनसे उनका उत्थान हो राज्य द्वारा प्रयत्न करना होना चाहिए। इंगलैंड की फेवियन सोसायटी के विचारों और लेखों का भी इस दिशा में पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

३. समष्टिवाद का जन्म लेने का तीसरा कारण पूंजीवादी व्यवस्था की बीमारियों का इलाज करना था। २०वीं शताब्दी में आकर व्यक्तिवाद के कीटाणुओं ने समाज के शरीर में पूंजीवाद रूपी रोग का रूप धारण कर लिया था जिसके कारण शोषण और अन्याय से वह दुबला होता जा रहा था। यह रोग भयकरता की इस सीमा तक पहुँच गया था कि गरीब मजदूर के पास अपनी दरिद्रता के लिये रोने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं था। उत्पादन तथा वितरण पर कुछ गिने-चुने पूंजीपतियों का अधिकार हो गया था और इसीलिये यह चारों ओर अनुभव किया जाने लगा कि उत्पादन तथा वितरण के ये साधन पूंजीपतियों के हाथों से छिन कर किसी और सार्वजनिक संस्था को मिले और इसके लिये समष्टिवाद राज्य का पक्ष लेकर तथा उसके द्वारा वर्तमान पूंजीवाद के दोषों का अन्त करने का प्रण लेकर आगे आया।

समष्टिवादी सिद्धान्त (Collectivism's Philosophy)—समष्टिवाद अपने विशाल उद्देश्यों में समाजवाद के इन तीनों सिद्धान्तों को स्वीकार करता है कि समाज मे से पूंजीवाद, व्यक्तिवाद उद्योग, तथा प्रतियोगिता (Capitalism, Private Enterprise and Competitions) को जड़ मे उन्मूलित कर दिया जाये। वह समाजवाद के साथ यहां पर भी एकमत है कि समाज व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है तथा राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होना चाहिये, किन्तु इससे आगे वह नहीं जाता और समाजवाद के सारे आर्थिक सिद्धान्तों को अक्षरशः मानने के लिये प्रस्तुत नही है। समष्टिवाद एक नई प्रणाली का जन्मदाता है जो इस सत्य में विश्वास करता है कि **"आधुनिक प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था, अनेकों के दुःख की कीमत पर कुछ लोगों को प्रसन्नता तथा आराम प्रदान करती है, अतः समाज का पुनर्गठन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि सार्वजनिक कल्याण तथा प्रसन्नता की प्राप्ति हो सके।"** समष्टिवादी साम्यवादियों की भांति क्रांति द्वारा समाजवाद लाने की तथा अन्ततः राज्य का विलोप हो जाने की धारणा से असहमति प्रकट करते हुये यह विचार प्रतिपादित करते हैं कि यदि जनता का विशाल समूह मजदूरों के स्तर से ऊंचा उठना चाहता है तो समुदाय की प्रतिनिधि रूपी सरकार को अधिकाधिक हस्तक्षेप करके और उद्योगों के पर्याप्त नियमन द्वारा स्वतत्र और निर्विरोध प्रतियोगिता की बुराईयों के विरुद्ध उनकी रक्षा करनी होगी। इस प्रकार सिद्धान्त या नीतिरूप मे समष्टिवादी सिद्धान्त की व्याख्या में कहा जा

सकता है कि इसका 'उद्देश्य केन्द्रीय जनतांत्रिक अधिकार शक्ति की क्रियाशीलता द्वारा अधिक अच्छे वितरण और उसकी उचित अधीनता में वर्तमान की अपेक्षा श्रेष्ठतर उत्पादन की प्राप्ति करना है।" प्रो० एली (*Prof Ely*) ने लिखा है कि 'समाजवादी वह है जो राज्य में संगठित समाज का आर्थिक वस्तुओं के अधिक पूर्ण विभाजन और मानवता के उत्कर्ष में सहयोग की दृष्टि से देखता है।"[1] अत *समाजवादी जो कुछ भी समाजवादी कार्य करना चाहते* हैं राज्य के द्वारा ही करना चाहते हैं।

वास्तव में समष्टिवाद *राज्य को आवश्यक तथा एक धनात्मक अच्छाई* (Essential and a positive good) मानता है। समष्टिवादी राज्य के विरोधी नहीं हैं। वे राज्य का खण्डन नहीं करते। वे राज्य को बुराई के रूप में स्वीकार नहीं करते अपितु उसे एक ऐसी वस्तु समझते हैं जो सचमुच अच्छी है। वे इस बात में विश्वास नहीं करते कि राज्य व्यक्ति के *व्यक्तित्व का नाश करता है, प्रत्युत् उन्हें इस बात का सन्तोष है कि राज्य के कार्यों* के पूर्णरूप से विस्तार होने के कारण मनुष्य का कल्याण हो सकता है। केवल इस प्रकार की नीति से ही समाज में न्याय आराम निष्पक्षता, निष्कपटता आदि की भावना प्राप्त हो सकती है। इससे ही जनता के सामान्य आर्थिक बौद्धिक एवं नैतिक हितों को बल तथा प्रोत्साहन मिल सकता है। राज्य समाजवादी पुलिस विचारधारा से घृणा करता है और राज्य के क्षेत्र की वृद्धि का स्वागत करता है। राज्य समाजवादियों अथवा समष्टिवादियों की मान्यता है कि "राज्य का अस्तित्व केवल अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये नहीं होता क्योंकि इसका अर्थ तो कुछ गिने–चुने राज्याधिकारियों का बना रहना हो जाता है वरन् राज्य का अस्तित्व इसलिये होता है कि उसके सदस्य उन कार्यों को कर सकें जो करने के योग्य हैं।"[2]

समष्टिवादियों की धारणा है कि आधुनिक पूँजीवाद में कुछ स्वाभाविक दुर्गुण हैं कि समाज का अधिकांश भाग उनके कारण दुखी है और केवल कुछ ही लोग जो धनी हैं सुख के साधनों का उपभोग कर पाते हैं। एक प्रसिद्ध समाजवादी लेखिका श्रीमती बारबरा वुट्न (Mrs Barbara Woottan) ने लिखा है कि 'भूखों रहना या सदैव गरीब रहना या सदैव बेरोजगार रहना वास्तव में दुख का कारण है किन्तु जहां बहुत से लोग ऐशोआराम से रहते हैं वहां पर किसी एक का भूखों मरना और भी दुखदायी है। इसी प्रकार ऐसी स्थिति में बेरोजगार रहना दुखदायी है जहां करने को काम है

---

1 "A socialist is one who looks to society organized in the state for aid in bringing about a more perfect distribution of economic goods and an elevation of humanity"
—*Prof Ely*

2 "*The state exists not for its own power which means the survival of members for some of them but so that its members may all be able to do those things which are worth doing.*"
—*Clifton Brock*

और जहां आवश्यक सामग्री भी मौजूद है लेकिन सत्ताधारी लोग बेरोजगार लोगों के कष्टों की ओर ध्यान न देकर आवश्यक सामग्री को यों ही सड़ा रहे हैं।"[1] इसी प्रकार आधुनिक लोकतन्त्रीय राजनीतिक संस्थायें, राजनीतिक स्वतन्त्रता तो देती है परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर कोई ध्यान नहीं देती। आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता केवल धोखा है। भूखे व्यक्ति को पहले रोटी की आवश्यकता होती है, बाद में अन्य किसी स्वतन्त्रता की। परिणाम यह होता है कि साधारण गरीब व्यक्ति सदैव आर्थिक दासता की जंजीरों मे जकड़ा रहता है और दोनों वक्त रोटी-पानी के लिये उसे जीवन-पर्यन्त संघर्ष करना पड़ता है। मेक्सी (Maxcy) ने इसी बात को चरितार्थ करते हुए बताया है कि "आर्थिक दासता की दशा में मनुष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता को उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है जिस प्रकार कि पानी में डूबते हुए तिनके को सहारा समझ लेता है। वास्तव में राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक शोषण सहन करने की स्वतन्त्रता है।"[2]

इसीलिये समष्टिवादी उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उत्पादन तथा वितरण का सारा प्रबन्ध राज्य के अधिकार में हो, क्योंकि इसके बिना सामाजिक समानता का उद्देश्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता। उनका विश्वास है कि किसी वस्तु के मूल्य का निश्चय न तो श्रम से होता है, जो उसके लिये किया जाता है, तथा न ही मांग तथा पूर्ति के अंगों अथवा तत्वों से जो एक दूसरे के विरुद्ध कार्यशील अथवा प्रतिक्रियाशील रहते हैं। उनके कथनानुसार समाज मूल्यों की सृष्टि करता है तथा परिणामस्वरूप केवल समाज को ही इस बात का अधिकार है कि वह उसका उचित विनियोग कर सके।

किन्तु समष्टिवाद उत्पादन और वितरण के केवल राष्ट्रीयकरण से ही संतुष्ट नहीं होता क्योंकि उत्पादन और वितरण के साधन राष्ट्रीय अधिकार में होते हुए भी पूंजीवादी व्यवस्था जहां की तहां रह सकती है। उदाहरण के लिये मानलो कच्चे लोहे तथा कोयले की सारी खानें राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं तथा उन्हें एक जगह से दूसरी जगह वितरित करने के सारे साधन भी राज्य के अधिकार में हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि लोहे के सारे कल-कारखाने सरकारी कल-कारखाने ही हों। समष्टिवाद इसका विरोध करता है। वह

---

1. "It is always tragic to starve and to be desperately poor or to have nothing to do But to starve in the midst of plenty is ridiculous as well as tragic and to starve because of plenty is more ridiculous still. Equal its ridiculous to have nothing to do when there are things which evidently require to be done and when plants and materials necessary for doing them are awaiting to be used."

—*Mrs. Barbara Wootton*

2. "Economic overlords displayed an odious ability to gain control of political authority and use to fortify their liberty of ruthless exploitation."

—*Maxey*

चाहता है कि साधनों के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ बड़े बड़े उद्योग धन्धों तथा मिलों को भी राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाया जाये और उनका प्रबन्ध भी सरकार व्यक्तिगत मिल मालिकों से छीन कर अपने हाथ मे लेले। ऐसा होने से उत्पादन व्यक्तिगत लाभ स न होकर सामाजिक उपयोग के लिये होगा और मुनाफा कमाने की भावना समाज की सेवा की भावना म बदल जाएगी। कोई भी एक मिल मालिक मजदूर की मेहनत से अपनी जेब नहीं भरेगा बल्कि सारी आय एक राष्ट्रीय सरकार को मिलगी जो उसे जन कल्याण के लिये खर्च करेगी। समष्टिवादियों का तर्क है कि भूमि और खनिज पदार्थ जैसी प्राकृतिक देन का सम्पूर्ण समाज स्वामी है अत कुछ थोडे से लोगों को अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त किसी देश के प्राकृतिक साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व राष्ट्र हितो की परवाह नहीं करता, वह किसी साधन विशेष को रक्षित करने की बजाय उसे अधिक द्रुत गति से समाप्त कर देता है। प्राकृतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो जाने से इनके अपव्ययपूर्ण प्रयोग को रोका जा सकेगा। पुनश्च यह न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता कि कुछ थोडे से लोग ही प्राकृतिक साधनों से लाभ उठायें जबकि अधिकांश व्यक्ति उस लाभ मे वंचित रह जाए।

समष्टिवादी विचारकों का यह भी कहना है कि उद्योग धंधो पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाने म समाज को वे वस्तुएं भली प्रकार उपलब्ध हो सकती हैं जिनकी उसे आवश्यकता है किन्तु जिनको उद्योगपति केवल इसलिये उत्पन्न नहीं करते क्योंकि उनसे उन्हें लाभ की संभावना नहीं होती। समाज को शिक्षा, स्वच्छता, अस्पतालों वाटिकाओं, अजायबघरों, पुस्तकालयों आदि की आवश्यकता होती है। इन कामो मे कोई आर्थिक लाभ नहीं होता अत यह आशा करना व्यर्थ है कि पूंजीपति इन्हें समाज-हितों के लिये करेंगे। इ ह तो केवल राज्य ही कर सकता है। समष्टिवादी यह चाहते हैं कि उद्योगों में उत्पादन इसी दृष्टि से होना चाहिये कि उससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो न कि व्यक्ति विशेषों को लाभ हो। समष्टिवादी व्यक्तिगत स्वार्थ और हित के स्थान पर सामाजिक सेवा और लाभ की भावना को जन्म देना चाहते हैं।

इसी प्रसंग मे समष्टिवादी उस महान नैतिक सुधार का उल्लेख करते हैं जो कि उद्योगों के समाजीकरण से हो सकता है। पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था मे हर व्यक्ति प्रतियोगी है न कि सहयोगी। उसे केवल अपने ही स्वार्थ की खबर रहती है। इस मनोवैज्ञानिक वातावरण मे समाज के सामान्य हित नजर से ओझल हो जाते हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अनैतिक तथा हेय साधन अपनाने का एक ऐसा प्रलोभन पैदा हो जाता है जिसे दबाना बहुत कठिन होता है। यदि उत्पादन यन्त्र पर सम्पूर्ण समाज का आधिपत्य है और उसका प्रयोग समाज के सामान्य हितों के लिये किया जाये तो यह यन्त्र बदल सकता है।

समष्टिवादी वर्ग संघर्ष को तीव्र करने एवं उत्पादन के साधनों को श्रमिक वर्ग के अधिकार में लाने के बनिस्पत समाज के सभी सदस्यों की अन्योन्याश्रितता अर्थात पारस्परिक निर्भरता पर बल देते हैं और यह प्रयास

करते हैं कि उनमें परस्पर सामन्जस्य बना रहे। समष्टिवाद का उद्देश्य समाज के किसी वर्ग-विशेष का हित-मात्र करना नहीं है, बल्कि उन सबका कल्याण करना है जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में अन्याय के शिकार हो रहे हैं : समाज में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जो सुख सुविधायें प्राप्त हैं उनका भी सामाजिक आधार है—इस बात पर समाजवाद जो बल देता है, उससे इसका समष्टिवादी स्वरूप स्पष्ट है। समष्टिवाद वर्ग चेतना को उभारने की निन्दा करता है जो कि मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषता है। यह वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग-हितों में सामन्जस्य के गीत गाता है, मनुष्य की परमार्थ भावना, दया भावना और सहयोगी भावना को उभारने की चेष्टा करता है। समष्टिवाद की दृष्टि में समाजवाद संपूर्ण मानवता का धर्म है किसी अंग-विशेष का नहीं।

समष्टिवाद एक उदार और प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा है, अतः जिस प्रकार यह राज्य-व्यवस्था को चुने हुये लोकप्रिय व्यक्तियों को सौंपना चाहता है, उसी प्रकार इसका मत है कि उद्योगों में भी एक पूंजीपति का शासन न हो बल्कि श्रमिक अपने मिल की व्यवस्था स्वयं करें और सभी श्रमिक समान रूप से उन्नति के अवसर, आराम और आमदनी पाते रहें। राज्य का कार्य केवल उसका निरीक्षण करना रहे। समष्टिवादियों का उद्देश्य श्रमिकों की स्थिति को ऊंचा उठाना है, अतः वे चाहते हैं कि राष्ट्रीय सरकार श्रमिकों पर लगनेवाले कर (Tax) कम कर दे और आय-कर की व्यवस्था को अधिक प्रगतिशील बनाये ताकि आर्थिक भेद-भाव की खाई कुछ संकड़ी बने और वर्तमान समय की सी आर्थिक विषमतायें नष्ट हो जायें समष्टिवादियों की इच्छा है कि अतिरिक्त पूंजी सार्वजनिक हित पर खर्च हो। आज के पूंजीवादी समाज में भी श्रमिक आवश्यकता से अधिक पैदा करके अतिरिक्त पूंजी (Surplus capital) पैदा करते हैं, किन्तु इस अतिरिक्त श्रम द्वारा उत्पन्न होनेवाली अतिरिक्त पूंजी का लाभ उनको नहीं मिलता, पूंजीपति इसे बीच में हड़प जाते हैं। इसके विरोध में समष्टिवादी चाहते हैं कि यह अतिरिक्त पूंजी जिसे श्रमिक अपने पसीने से पैदा करते हैं, सरकार के राष्ट्रीय कोष में जमा हो और उसमें से उसका व्यय जन-साधारण का जीवन स्तर ऊंचा करने के लिये किया जाय। समष्टिवादियों की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपना पूर्ण और उन्मुक्त जीवन बिताने का अधिकार है। यह अधिकार उपभोग के योग्य तभी हो सकता है जबकि सब लोग मिलकर सहयोग से जीवन बितायें क्योंकि एकान्त में किसी प्रकार की स्वाधीनता की कल्पना नहीं की जा सकती।

समष्टिवादी साधन या तरीके (Methods of Collectivism)— जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समष्टिवादी अथवा राज्य-समाजवादी विकासवादी विचारधारा के मुख्य समर्थक रहे हैं। उनका विश्वास यह रहा है कि प्रजातन्त्रात्मक राज्य द्वारा समाजवाद की स्थापना हो सकेगी। समष्टिवाद मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को नहीं मानता कि समाजवाद की स्थापना क्रान्ति द्वारा एकदम की जा सकती है। यह तो एक शांतिपूर्ण आन्दोलन है जिसका विश्वास है कि समाज में परिवर्तन सदैव शनैः २ हुआ करते हैं और

इस प्रकार शनै. २ एव शातिपूर्ण वैधानिक तरीको से होनेवाले परिवर्तन ही स्थायी परिवर्तन हो सकते है। अत. समष्टिवाद यह मानकर तो चलता है कि पूजीवादी समाज का समाजवादी *व्यवस्था मे बदलना है, किन्तु यह* परिवर्तन अहिंसात्मक होने पर ही अधिक उपयोगी तथा सफल हो सकता है। *समष्टिवादियो ने आरम्भ से* राजनीतिक साधनो अथवा सवैधानिक तरीकों का पालन व समर्थन किया है। प्रथम ब्रिटिश लोकसभा में मजदूर दल के प्रथम नेता रेम्जे मेकडोनेल्ड ने यह विश्वास प्रकट किया था कि राज्य शक्ति पर सविधान की सीमाओ म राजनीतिक *कार्यों द्वारा अधिकार किया जा* सकता है। ऐसा ही हुआ और वह ब्रिटेन का प्रथम मजदूर दलीय प्रधानमंत्री *बना। समष्टिवादी पूजीवाद से समाजवाद पर* **आवर्तन के लिये एक योजना-बद्ध कार्यक्रम रखते हैं।** वे चाहते हैं कि उन्हे पहले प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में जनता मे लोकप्रिय बनकर चुनाव जीतना चाहिये। इस प्रकार ससद मे पहुँच कर अपनी सरकार बनानी चाहिय और फिर अपनी नीति के अनुसार सामाजिक तथा औद्योगिक व्यवस्था मे कोई परिवर्तन करना चाहिये। अपने उद्देश्य की सफलता क लिये वे *जन साधारण का समाजवाद के सिद्धान्तो की* शिक्षा भी देना परम आवश्यक मानते है। उनका विश्वास है कि समाजवाद के सिद्धान्त का खूब प्रचार किया जाय तथा समाजवादी साहित्य और ज्ञान का व्यापक प्रसार किया जाय। फेबियनवादियो ने इस दिशा म कदम उठाते हुए अपने आदर्शों से नागरिक सेवाओ को प्रभावित करने का प्रयत्न किया और इस बात पर बल दिया कि राज्य आर्थिक क्रियाओं मे हस्तक्षेप और विनिमय की नीति पर निरन्तर चले और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप ट्रेड *बोर्ड्स एक्ट, स्वास्थ्य और बेकारी, बीमे के कानून, स्थानीय अधिकारियो* की शक्तियो मे विस्तार और समाजवादी प्रवृत्ति वाले अन्य कानून बने। फेबियनो ने अपने मत का *व्यापक प्रचार* किया।

एक वाक्य मे समष्टिवादी प्रणाली को यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि **'समाजवाद की स्थापना शांति से धीरे २ वैधानिक उपायों द्वारा की जानी चाहिये, आकस्मिक तथा रक्त रंजित क्रान्तियों के द्वारा नहीं।"** वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण उपायो मे विश्वास करने के कारण ही समष्टिवादी यह माग करते हैं कि मत देने का अधिकार देश के प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को मिलना चाहिये। समष्टिवाद अथवा राजकीय समाजवाद को सक्षेप मे रचनात्मक समाजवाद (Constructive Socialism) कहा जा सकता है।

वैधानिक उपायो द्वारा सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद समष्टिवाद अपने अनुसरण कर्ताओ (Followers) के लिये एक निश्चित कल्याण राज्य का आदर्श रूप रखता है। समष्टिवाद अपने समृद्धवादी शासकों से यह *चाहता है कि वे राष्ट्रीय वेतन व्यवस्था* को सब पर समान रूप से तथा सारे देश म लागू करें। जो मजदूरी न्यूनतम स्तर पर निश्चित की जाय वह ऐसी हो जिससे मन, *शरीर तथा चरित्र* के विकास का अवसर मिले। जहाँ तक सभव हो प्रत्येक को समान मजदूरी मिले और दुखी तथा दीन मजदूरों का भाग्य ऊचा उठे। *समष्टिवादी अपनी* सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तिगत आर्थिक क्षेत्र और सार्वजनिक आर्थिक क्षेत्र मे विरोध

को आवश्यक नहीं बताते। उनके अनुसार दोनों क्षेत्र एक दूसरे के पूरक की दिशा मे काम करेंगे। समष्टिवाद चाहता है कि राष्ट्रीय सरकार यह देखे कि कोई बेरोजगार तो नही है और जो काम करता है उसे आवश्यकता से अधिक तथा अपने स्वास्थ्य की कीमत पर तो काम नहीं करना पड़ता है। राज्य का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह यह ध्यान रक्खे कि वृद्धों पगुओं और अन्य किसी को आर्थिक हानि न होने पावे। ६ से १८ वर्ष के बच्चों को स्कूल जाना आवश्यक होगा तथा उनके लिये राज्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इस आयु के बच्चों से अन्य परिश्रम का कार्य नहीं लिया जायेगा। राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि नवयुवकों को शिक्षा संबंधी उचित सहायता प्राप्त हो सके और उन्हें अपने विकास का उचित अवसर मिल सके। प्रश्न यह उठता है कि राज्य जब इन सब कार्यों को करेगा तो उसे जिस धन की आवश्यकता होगी वह कहां से आयेगा? समष्टिवादी योजना यह है कि इस धन का कुछ भाग राष्ट्रीय उद्योगों और व्यवसायों की आमदनी से तथा शेष करो से प्राप्त होगा। कर निश्चित आमदनी के हिसाब से लगाया जायेगा और उसकी व्यवस्था ऐसी होगी कि जितनी अधिक जिसकी आय होगी, उतना ही अधिक उसे कर देना पड़ेगा। कर व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आर्थिक भेद-भाव की खाई को कम करना होगा।

समष्टिवाद के पक्ष में तर्क (Arguments in defence of Collectivism)—समष्टिवाद का विभिन्न विचारकों द्वारा अनेक प्रकार से पक्ष-पोषण किया गया है। समष्टिवादी नियोजित समाज और जनोपयोगी उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण और स्वामित्व के प्रबल समर्थक हैं। नियोजित समाज (Planned Society) के पक्ष में लास्की का कहना है कि "प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित व्यक्तिवादी व्यवस्था की अपेक्षा नियोजित समाज कहीं अधिक स्वतत्र हो सकेगा, इसमें काम करने वालो की अपनी क्षमता की अभिव्यक्ति करने का निरन्तर अवसर मिलेगा और साथ ही उन्हें काम करने की दशाओं से सम्बन्धित नियम बनाने वाली शक्ति में भाग भी। इस प्रकार उनके साथ (आर्थिक) न्याय होगा और न्याय ही स्वतत्रता का चिन्ह है।"[1]

समष्टिवादी विचारधारा का पृष्ठपोषण करते हुए यह कहा जाना है कि यदि जनता के हितो को पर्याप्त रूप से सुरक्षित करना है तो उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त आवश्यक है। यही एकमात्र मार्ग है जिसके द्वारा ऐसे क्षेत्र में शान्ति स्थापित की जा सकती है, जहां पूर्णरूप से अराजकता हो। राज्य द्वारा उद्योगो पर नियन्त्रण और स्वामित्व के पक्ष मे जो तर्क प्राय: दिये जाते हैं वे प्रमुखत: ये हैं—(i) जिन उद्योगों पर एकाधिकार की प्रवृत्ति है, उन पर सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए और उनसे होनेवाले लाभ को राजकीय कोष का भाग बनाने के लिए राज्य का नियंत्रण स्थापित होना सर्वथा उचित हैं। (ii) एकाधिकार की प्रवृत्ति से मुक्त अन्य अनेक उद्योगों पर भी इस दृष्टि से राज्य का नियंत्रण उपयोगी है कि उससे प्रतिस्पर्द्धा से होनेवाले व्यर्थ के व्यय मे बचत हो सकेगी। (iii) उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण से समुदाय को वे वस्तुयें और सेवायें उपलब्ध हो सकेंगी जिनकी उसे

1. *Laidler* : Social Economic Movements, P. 663

अत्यधिक आवश्यकता होती है किन्तु जिनके उत्पादन में पूंजीपति लाभ की आशा न देखकर कोई रुचि नहीं लेते। (iv) समष्टिवाद के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों व सेवाओं के प्रबन्ध के लिए स्थापित प्रशासन पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक एकरूप, नियमित एवं निर्भर करने योग्य होगा।[1] (v) राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद के परिणामस्वरूप वे दोष नहीं पनप पायेंगे जो व्यक्तिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीवाद के कारण उत्पन्न होते हैं। वास्तव में *व्यक्तिवाद की इन बुराईयों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही* समष्टिवाद का व्यापक अनुमोदन हुआ।[2] (vi) समष्टिवादी समाजवाद की स्थापना वैधानिक एवं शान्तिमय साधनों द्वारा हो सकती है, इसके लिए हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। समाजवाद के आदर्शों के व्यापक प्रचार से जनमत को अपने पक्ष में करके सर्वसाधारण जनता राज्य शक्ति को हस्तगत कर सकती है। (vii) समष्टिवाद के द्वारा जन सामान्य के जीवन की दशाओं में महत्वपूर्ण सुधार लाया जा सकता है और कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर सरलता से कदम बढ़ाये जा सकते हैं। (viii) राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद में समाजवादी व्यवस्था और प्रजातन्त्र दोनों का समावेश है। *यदि एक तरफ आर्थिक स्वतन्त्रता मिलती है तो दूसरी ओर* विचार, भाषण एवं संगठन आदि की राजनीतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होती है। फलतः व्यक्तियों की स्वतन्त्रता कम नहीं होती बल्कि उन्हें चिन्तामुक्त जीवन व्यतीत करने का सुअवसर भी मिलता है। जहां साम्यवादी राज्य सर्वाधिकारवादी है और जिसमें व्यक्तियों को केवल नाम के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता मिली होती है, वहां समष्टिवाद में राज्य शक्ति और स्वतंत्रता का सुन्दर मेल सम्भव है।[3] (ix) इन सभी कारणों से जन-सामान्य की नैतिकता और *आध्यात्मिकता में एक क्रान्तिकारी अथवा महान् परिवर्तन आ सकता* है, उनका चारित्रिक उत्थान हो सकता है। समष्टिवाद का यह एक अनुपम गुण है कि इसके अन्तर्गत राज्य के सदस्य स्वयं को अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में न देख कर यह समझेंगे कि वे समाज के सदस्य हैं।

समष्टिवाद के विपक्ष में तर्क अथवा उसकी आलोचना (Arguments against or criticism of Collectivism)—यदि समष्टिवादियों के पक्ष में बहुत कुछ कहा जाता है तो साथ ही साम्यवादियों, व्यक्तिवादियों एवं अन्य आलोचकों द्वारा यह अनेक रूप से उनके *आक्रमण का लक्ष्य भी है।*

साम्यवादियों का कहना है कि वैधानिक एवं शान्तिमय उपायों से छोटे छोटे परिवर्तन *अवश्य किये जा सकते हैं,* पर समाज के संगठन में मौलिक परिवर्तन कर सकने के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। लोकमत को अपने अनुकूल करके विधान सभाओं में ऐसे प्रतिनिधि चुनवा सकना संभव है, जो समाजवाद के पक्ष में हों। किन्तु ये प्रतिनिधि पूंजीवाद का अन्त कर सकने जैसे सक्षम कानूनों का निर्माण कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि पूंजीपति *अपनी* सत्ता को बनाये रखने के लिये *कोई भी बात उठा नहीं रखेंगे।* पूंजीपतियों की स्थिति

1. [illegible] P. 268
2. [illegible] 18
3. [illegible]

समाज में सामान्यतः ऐसी होती है कि वे मन्त्रिमंडल, विधानसभा के सदस्यों तथा अन्य राज्य कर्मचारियों को धन के बल पर अपने पक्ष में किये रहते हैं। प्रेस पर भी अधिकांशतः पूंजीपतियों का प्रभाव होता है, और प्रचार के अन्य साधन भी प्रायः उन्हीं के अधिकार क्षेत्र में होते हैं। अपने इन साधनों तथा धन की प्रबल शक्ति द्वारा पूंजीपति ऐसे राजनीतिक दलों को पनपने ही नहीं देते, जो पूंजीवाद को जड़ से उखाड़ देने के पक्ष में हो। वे अपनी शक्तियों का सम्पूर्ण प्रयोग समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने में बाधायें उपस्थित करने में करते हैं। साम्यवादियों का यह मत है कि जिन देशों में समष्टिवादी ढंग से समाजवाद की स्थापना करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह केवल एक ढोंग है। यही कारण है कि अब तक किसी भी देश में वैध उपायों द्वारा समाजवादी व्यवस्था कायम नहीं की जा सकी है। बिना क्रान्ति के न पूंजीवाद समाप्त हो सकता है और न समाजवाद स्थापित हो। रूस, चीन, पोलैण्ड, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों में जहां भी इसकी स्थापना हुई है, वह हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा ही हुई है। क्रान्ति के अभाव में किये गये कोई भी प्रयत्न समाजवाद को लाने में असफल सिद्ध होंगे, इसका प्रमाण देते हुए साम्यवादी कहते हैं कि इंगलैण्ड में श्रमिक दल ने कानून द्वारा समाजवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया, लेकिन यह कार्य अधूरा ही रह गया क्योंकि नवीन चुनावों में पूंजीपतियों ने श्रमिक दल को परास्त कर दिया और उनकी सहायता से शासन सत्ता फिर कन्जरवेटिव दल के हाथ में आ गई। भारत में शांतिमय उपायों द्वारा एवं वैधानिक साधनों से समाजवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु देश के धनी लोग उन सुधारों को कार्यान्वित नहीं होने देते, जिनसे सर्वसाधारण गरीब जनता की समस्या का हल हो सके। साम्यवादियों के अनुसार इतिहास में महान् परिवर्तन क्रान्ति द्वारा ही हुए हैं और भविष्य में भी क्रान्ति के मार्ग का अनुसरण करके ही क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकते हैं। क्रान्ति की जगह वैध उपायों द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का स्वप्न लेना समष्टिवादियों अथवा राजकीय समाजवादियों की भारी भूल है।

साम्यवादी समष्टिवाद का विरोध कार्ल मार्क्स के उन विचारों के आधार पर करते हैं जिन्हें फेबियनवादियों तथा संशोधनवादियों ने त्रुटिपूर्ण ठहराया था। वे इतिहास की आर्थिक व्याख्या; वर्ग संघर्ष और मूल्य के श्रम सिद्धान्त का तर्क संगत रूप से प्रतिपादन करते हुए यह प्रदर्शित करते हैं कि समष्टिवादियों का कार्यक्रम पूंजीवाद से समाजवाद पर आवर्तन नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्यक्रम मार्क्स के उपरोक्त सच्चे सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है।

आलोचकों का कहना है कि समष्टिवादी राज्य वस्तुतः एक श्रम-सत्तावादी राज्य होगा, क्योंकि राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपे जायेंगे और परिणामस्वरूप उत्पादन तथा वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहेगा। राज्य की सत्ता अत्यधिक व्यापक हो जायेगी। उत्पादन तथा वितरण, जो कि आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं, राज्य के अधिकार में जाकर व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को राज्याधीन बना देंगे। आर्थिक जीवन तथा

देश की सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था पर राज्य के नियंत्रण का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि नौकरशाही दिन प्रतिदिन पनपेगी। राज्याधिकारियों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो जायगी और उनमें भ्रष्टाचार, षडयन्त्रबाजी, व्यक्तिगत द्वेष आदि का प्रसार होगा। चारों ओर लाल फीताशाही का साम्राज्य छा जायेगा। समष्टिवादी यह आशा करते हैं कि नवीन स्थिति में राज्य सुव्यवस्था स्थापित करेगा किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि राज्य अथवा शासन अपने विशाल कार्यों को ठीक प्रकार से न सम्भाल पायेगा और न अपने कर्त्तव्यों का पालन ही कर सकेगा बल्कि यह भी सम्भव है कि शक्ति से अधिक कार्यभार सिर पर आ पड़ने के कारण राज्य का सम्पूर्ण प्रशासनिक यंत्र ही उसके नीचे दब कर टूट जाये। समष्टिवादियों से सहानुभूति रखनेवाले इस आलोचना के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि आलोचक समष्टिवादी राज्य का अतिरंजित चित्र (An exaggerated picture) प्रस्तुत करते हैं। राजकीय व्यवस्था के ये सब दुर्गुण ठीक प्रकार से प्रबन्ध किये जाने पर मिट सकते हैं। जनमत के कठोर प्रहार के सामने नौकरशाही के दुर्गुण अधिक दिन तक नहीं चल सकते और सावधानी से कार्य करने पर कम से कम किये जा सकते हैं। *अतः नौकरशाही के पनपने की आड़ लेकर उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विरोध करना उचित नहीं।* पुनश्च, यह भी हो सकता है कि उत्पादन के समस्त अंगों का राष्ट्रीयकरण करने के स्थान पर उनमें से अनेक सेवाओं को नगरपालिकाओं के अधीन कर दिया जाये। इस तरह से अधिकारों तथा कर्त्तव्यों (कार्यों) के निक्षेपण से बहुत सी बुराईयों अथवा दोषों से बचा जा सकता है।

समष्टिवाद पर आक्रमण करते हुए आलोचक कहते हैं कि *उत्पादन के सम्पूर्ण अंगों पर राज्य स्वामित्व के कारण व्यक्तिगत प्रयत्नों के मुख्य प्रोत्साहन के नष्ट होने की सम्भावना रहती है जो समाज की प्रगति के लिए अभीष्ट नहीं है। यह किसी भी सूरत में वाञ्छनीय नहीं है कि प्रतिभावान लोगों को अपने कार्यों में प्रतिभा लगाने के लिए उत्प्रेरित न किया जाय, मौलिकता के लिए प्रोत्साहन न दिया जावे और उत्पादन के लिए समुचित भावना का सृजन न किया जावे। आलोचकों का मत है कि व्यक्ति स्वभाव से आत्मकेन्द्रित होता है और कोई भी काम तभी जी लगा कर परिश्रम से करता है जब उसे उसका तत्काल लाभ मिले। यथार्थ में व्यक्ति काम तभी ठीक करता है, जब कोई प्रतियोगिता हो या कोई उस उसकी मौलिकता अथवा साधना के लिए पुरस्कार दे। चूंकि ये बातें समष्टिवाद में नहीं होंगी अतः श्रमिक भी नित्य प्रति के काम को बेगार समझ कर किया करेंगे।* तथापि इस आलोचना के बचाव में यह कहा जाता है कि अभौतिक पुरस्कार भी मानव कार्यों के प्रोत्साहन के लिए उसी प्रकार प्रभावपूर्ण हैं, जैसे कि भौतिक पुरस्कार। बर्ट्रेंड रसल के कथनानुसार, 'मनुष्य में रचनात्मक भावनाओं का सन्तोष अपेक्षित है तथा सार्वजनिक सेवाओं की किसी भी रूप में, किसी भी योग्य मनुष्य के द्वारा अपनी योग्यतानुसार पूर्ति वास्तव में मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता है।'[1]

1 "Creative impulses in man are *to be satisfied* and the rendering of *public service in any form* by one who is fit to perform it according to his ability is in reality the greatest achievement of man." —*Bertrand Russell*

इस बात से इन्कार किया जाता है कि लोग भौतिक लाभों के लिए कार्य करते हैं, किन्तु यह सत्य है कि व्यक्तियों ने समाज के लिए कुल मिलाकर अपने परिवारों की अथवा अपनी अपेक्षा अधिक महत्तर बलिदान किये हैं। जोड़ का कथन है कि 'सब छोटी-छोटी जातियों में सेवा करने की इच्छा, भले के लिए कार्य करना, जाति मे अच्छी प्रकार कार्य करना आदि ठीक प्रकार से क्रियाशील दृष्टिगोचर होता है तथा यह जीवन में सर्वाधिक शक्तिपूर्ण अंगों में से एक है।"[1] रूस का प्रयोग इस सम्बन्ध में उत्साहवर्धक है और आज के लाल चीन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। समष्टिवाद में मनुष्य के कार्य अधिकांशतः राज्य के द्वारा निर्देशित हो जायेंगे, लेकिन इसमें क्या दोष है जबकि सारा राज्यतत्र ही मनुष्य के कल्याण के लिए अर्पित हो।

प्राय. यह आक्षेप लगाया जाता है कि समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वाधीनता का शत्रु है। राज्य द्वारा जीवन के प्रत्येक कदम पर लगाये जानेवाले हस्तक्षेप के कारण व्यक्ति के जीवन में एक जड़ता आ जावेगी, और सदैव एक सा नीरस जीवन बिताने के कारण वह अपने सूखे जीवन से ऊब जायगा। राज्य का कठोर नियन्त्रण व्यक्ति की सारी व्यक्तिगत स्वाधीनता को उससे लूट लेगा और हिलारे बैलोक (Hailare Belloc) के शब्दों में "व्यक्ति राज्य का दास बन जायगा और समष्टिवाद एक गुनाम राज्य की नींव डालेगा।" (Individuals shall become slaves of the state and collectivism would imtroduce the servile state)। इस प्रकार इकाईन मे (E. May) का मत है कि "समाजवाद के सारे सिद्धान्त मनुष्य की शक्तियों का दमन करते हैं और मनुष्य के लिये ऊंचे उद्देश्य निर्धारित करते हैं" (All the theories of Socialism repress the energies of mankind and prescribe elevated aims for Individual)। इस प्रकार की आलोचना के उत्तर मे कहा जाता है कि प्रथम तो राजकीय हस्तक्षेप मानव-स्वाधीनता का कोई नाश ही नही करता और यह एक गलत परिभाषा है जो स्वाधीनता को एक चरम वस्तु (Absolute Thing) मानती है, और द्वितीय, समष्टिवाद के अन्तर्गत राज्य कोई अन्याय करेगा तो यह एक प्रजातांत्रिक पद्धति का समर्थक है और जनता अथवा जनमत किन्हीं संस्थाओं में संगठित होकर राज्य को ऐसा करने से रोक सकता है। यथार्थ में समष्टिवादी स्वाधीनता की एक धनात्मक व्याख्या (Positive interpretation) करते हैं और उसे अधिक व्यक्तियों के लिये सुलभ बनाना चाहता है। समष्टिवादियों का क्रीडा-क्षेत्र ससद है। वे बिना बहुमत की स्वीकृति के अपने कार्यक्रम और विचारों को जनता पर नहीं थोपना चाहते क्योंकि वे जानते हैं कि जनता की स्वीकृति बिना किया गया कार्य स्थाई नहीं होता।

आलोचकों का एक आक्षेप यह है कि जब उत्पादन की वृद्धि के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा-शक्ति इन दोनों का सम-

---

1. "In all small communities, the desire to serve, to work for good, to stand well with the community is consistently operative and is one of the most powerful factors in life."
—*Joad*

ष्टिवाद में अभाव होगा और इस कारण कोई भी व्यक्ति इच्छा और लगन से कार्य नहीं करेगा तो उत्पादन में *हानि होगी, व्यक्तिगत उद्योगों के न रहने से* उद्योगों के प्रबन्ध में शिथिलता आयेगी और उद्योगों में सुलझाने से ज्यादा नवीन समस्यायें पैदा हो *जायेंगी। विरोधियों* की इस आपत्ति का उत्तर समूहवाद के समर्थक यह कह कर देते हैं कि आज के युग का अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न *उत्पादन नहीं, बल्कि वितरण है।* इसके अतिरिक्त रूस एवं चीन आदि देशों का अनुभव तथा इतिहास यह सिद्ध करता है कि समष्टिवाद या राजकीय *समाजवाद में उत्पादन घटता नहीं है,* बल्कि सार्वजनिक हित के लिये लोग अधिक रुचि तथा मन लगाकर कार्य करते हैं।

समष्टिवाद के विरोधियों के अनुसार समष्टिवादी व्यवस्था में राजनीतिक दलों में एकाधिकारी भावना अति तीव्र हो जायेगी। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने व्यक्तिगत हित के लिये परिस्थितियों का शोषण करेगा। प्रत्येक राजनीतिक दल सत्तारूढ रहने के लिये अनैतिक से अनैतिक कार्य करने में भी कोई हिचकिचाहट अनुभव नहीं करेगा। अविकसित राजनीतिक दलों की प्रगति को शिथिल बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिये जायेंगे और प्रत्येक नवीन राजनीतिक दल शक्ति हथियाने के उपरान्त राजनीतिक परिस्थितियों को इस प्रकार मोड़ेगा कि इससे समाज के आदि रूप के ही विकृत हो जाने का भय उत्पन्न हो जायेगा। वस्तुत. समष्टिवादी समाज में शक्ति उपार्जित करने के लिये विभिन्न राजनीतिक दलों में निरन्तर रस्साकशी चलती रहेगी। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो राजनीतिक दलों का इस भांति का आचरण लगभग प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान है। अत केवल समष्टिवाद पर ही इस आलोचना को लादना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

समष्टिवाद के विरोधियों का एक प्रमुख आक्षेप यह भी है कि समष्टिवाद घूमकर वहीं आ जाता है जहां से आरम्भ होता है और अपने अन्तिम रूप में वह उन्हीं दुर्गुणों को जन्म देता है, जिनको मिटाने के लिये उसका जन्म हुआ है। वस्तुत समष्टिवाद गुप्त रूप में राजकीय पूंजीवाद का दूसरा नाम होगा। समष्टिवादी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में सारे पूंजीपति लोग राजसत्ता ग्रहण कर लेंगे। वे उद्योग पर अपना अधिकार बनाये रहेंगे जबकि गरीब मजदूर, मजदूर का मजदूर ही रहेगा। अन्तर केवल इतना होगा कि पूंजीवाद का नाम पूंजीवाद न रहकर राजकीय समाजवाद हो जायगा। व्यक्तिगत पूंजीवाद सामूहिक पूंजीवाद में परिणत हो जायगा। बेचारा श्रमिक जहां आज अपने एक मालिक की ओर देखता है, वहां कल अर्थात समष्टिवादी व्यवस्था में उसे अनेक मालिकों की ओर देखना पड़ेगा। एक लेखक *के शब्दों में,* "समष्टिवादी समाज में प्रगति की रफ्तार कम हो जायेगी, धन का उत्पादन भी कम हो जायगा और अन्त में प्रत्यक्ष समग्र रूप में निर्धनता की वृद्धि होगी, जो स्वयं एक अभिशाप होने के अतिरिक्त मानव के उच्च हितों पर कुठाराघात करेगी।"[1]

1. "A diminished rate of progress, decreased production of wealth, and finally in all probability, *diffused* poverty, which besides being an evil in itself, is one that threatens all the higher *human interests.*"

समष्टिवाद का मूल्यांकन (Evaluation of Collectivism)—समष्टिवाद में जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुछ दोष अवश्य हैं, किन्तु इनके आधार पर यदि यह कहा जाय कि समष्टिवाद का कोई महत्व व उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, तो यह उचित नहीं होगा। आलोचना के ये दोष तो सभी दर्शनों में होते हैं, किन्तु तुलनात्मक रूप से देखने पर इस विचारधारा में भी महत्वपूर्ण तथा मूल्यवान विचार कम नहीं मिलते, और इसी कारण यह आज के युग में चारों ओर बड़ी शीघ्रता से फैलती हुई दिखाई दे रही है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसकी प्राप्ति क्रमिक विकास द्वारा शान्तिमय और प्रजातन्त्रात्मक साधनों द्वारा की जा सकती है। समाजवाद की अन्य विचारधाराओं मे, सिवाय साम्यवाद के, यही सबसे अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई है। इस समय सोवियत संघ, चीन तथा यूरोप के कुछ देशों को छोड़कर जहां साम्यवाद को अपनाया गया है, अन्य देशों में समाजवाद की स्थापना की दिशा में समष्टिवाद द्वारा ही कम या अधिक प्रगति हो रही है। श्रमिक संघवाद और श्रेणी समाजवाद (Syndicalism and Guild Socialism) दोनों ही बहुत आगे न बढ़ सके और उन्हें किसी भी राज्य अथवा देश में कार्य रूप न दिया जा सके। अतः अब समष्टिवाद व साम्यवाद, इन दो विचारधाराओं के मध्य ही स्पर्द्धा रह जाती है।

आज औद्योगिक व्यवस्था इतनी भ्रष्ट एवं दोषपूर्ण है कि वह अर्द्ध-अराजकतावादी (Semi-Anarchic) सी लगती है। अतः उसे एक सुनिश्चित एवं नियमित क्रम में लाने का केवल यही उपाय हो सकता है कि उसे व्यक्तिगत अधिकार से निकालकर राजकीय अधिकार में ले लिया जाय, क्योंकि सरकार एक योग्य संस्था है जो अपने उपयुक्त अधिकार और नियंत्रण द्वारा हानिकारक प्रतियोगिता तथा अपव्यय को रोकेगी। सरकार के अधीन रहने पर यह आशा की जा सकती है कि, वस्तुएं आवश्यकता से अधिक पैदा नहीं होगी और उनका दोहरा पैदा होना (duplication) भी बंद हो जायगा। लगता तो यही है कि आज की दोषपूर्ण औद्योगिक व्यवस्था के लिये समष्टिवाद एक रामबाण दवा सिद्ध हो सकती है।

समष्टिवाद इस दृष्टि से भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है कि इसमें प्राकृतिक साधन मानवता के कल्याण के लिये खर्च किये जाते हैं, यह स्वार्थ के स्थान पर सेवा का आदर्श रखता है, समाज में नैतिक गुणों का विकास करता है और अन्त में एक ऐसा अहिंसात्मक आन्दोलन है जो प्रजातंत्र का ही एक व्यापक रूप है। वास्तव मे समष्टिवाद समाजवाद का एक वह सम्प्रदाय है जो उसके अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक संयत व परिष्कृत है। समाजवाद के अधिकांश सम्प्रदाय वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानते हुए पूंजीवादी वर्ग की लाश पर श्रमिकों और जन-साधारण के कल्याण का महल खड़ा करना चाहते हैं, वे समाज में एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध खड़ा करके एक का उन्मूलन करके दूसरे के भले की बात सोचते हैं, किन्तु समष्टिवाद इस बुरे रूप से अपने को बचाते हुए पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों और जन-सामान्य के प्रति होनेवाले अन्याय को दूर करना अपना ध्येय मानता है। समष्टिवाद जोड़ द्वारा कथित इस तथ्य में विश्वास करता है कि "उत्थान व

पतन धीमी प्रक्रियायें हैं। मनुष्य की बुद्धि द्वारा उन्हें लाया जा सकता है, मनुष्य के प्रयत्न उनमे सहायक हो सकते हैं अथवा उसे अधिक गतिशील बना सकते हैं पर उन्हे पूणत उलट देना अथवा रोक देना समव नहीं है और न आकस्मिक तथा भीषण परिवतनों द्वारा उनकी प्रगति को बढाया जा सकता है।'[1]

पुनर्विचारवाद
(Revisionism)

पुनर्विचारवादियो द्वारा मावस के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई और इस बात पर बल दिया गया कि मावसवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल दिया जाना चाहिए और परिवर्तित परिस्थितियों में मावसवादी सिद्धान्तो में आवश्यकतानुसार सशोधन किये जाने चाहिए। यूरोप मे पुनर्विचारवादियों अथवा सशोधनवादियों और सुधारवादियों के इस नम्र तथा व्यावहारिक समाजवाद के सिद्धान्त प्रथम विश्व युद्ध से २५ वष पूव विविध विद्वान जस जमनी मे एडवड बन्सटाइन (Edward Bernstein), फ्रास मे जीन जारेस (Jean Jaures) बेल्जियम मे अन्सीले (Edward Ansiele), इटली में बिस्मोलाटी (Leonido Bissolati), रूस मे टुगन बेरोनोस्की (Tugan Baronowsky) तथा स्वीडन मे काल ब्रेटिंग (Karl Branting) के वक्तव्यो तथा कामो मे और बेलजियम मजदूर दल, दक्षिणी जमन राज्यो की समाजवादी प्रजातान्त्रिक पार्टियो, फ्रास की स्वतन्त्र समाजवादी पार्टियो तथा ब्रुसिस्टो (Broussists) और इटली की समाजवादी पार्टियों के सिद्धान्तो तथा युक्तियो मे प्रकट हुए। इस सुधारवादी समाजवाद (Reformist Socialism) के सिद्धान्त बन्सटाइन, जारेस तथा टुगन बरोनोस्की के लखो एव रचनाओ मे विशद रूप से मिलते हैं किन्तु इनमे भी सर्वाधिक महत्वपूण बन्सटाइन ही है जिस सशोधनवादी अथवा पुनर्विचारवादी (Revisionist) आदोलन का प्रणेता कहा जाना है। बन्सटाइन ने मावसवाद के विकासवादी पहलू पर बल दिया मावस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को तथ्यों की दृष्टि से दोषी पाया और यह कहा कि मावस के बुद्धिमान शिष्यो को अपने गुरु की प्रत्येक बात को आखें बन्द करके स्वीकार नही करना चाहिए बल्कि उसमे जो सत्य है उसे ग्रहण करना चाहिए और जो असत्य है उसका परित्याग कर देना चाहिए।

बन्सटाइन का सक्षिप्त जीवन परिचय—एडवड बन्सटाइन का जन्म सन् १८५० में बर्लिन मे एक लोकोमोटिव इजीनियर के परिवार में हुआ था। १६ वष की अवस्था मे उसने एक बैंक के क्लर्क के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया और उसका सामाजिक जीवन १८७२ मे सोशल डमोक्रेटिक

---

1 C ... are slow processes They may be detec- ... assisted or accelerated ... be reversed or brought to a stand st ... eeded up in abrupt and catastrophic change —Joad

पार्टी का सदस्य बनने से शुरू हुआ। १८७८ में जब समाजवाद विरोधी कानून पास हुआ तो बर्न्सटाइन को जर्मनी छोड़कर अपने जीवन के लगभग २० वर्ष एक निर्वासित के रूप में व्यतीत करने पड़े। उसने कुछ समय पहले स्विटजरलैण्ड में बिताया और बाद में इंगलैण्ड में। सन् १६०० में वह पुनः जर्मनी आगया। यद्यपि इंगलैण्ड में रहते हुए बर्न्सटाइन समाजवाद के आंदोलन के निकट सम्पर्क में रहा था, लेकिन उसने उसमें वहां कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था। परन्तु जर्मनी लौटने पर उसने पुनर्विचारवादी आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में लेली और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के कटु विरोध के बावजूद भी युवकों को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया। पुनर्विचारवाद के विरुद्ध विरोध का नेता कॉस्टस्की था। बर्न्सटाइन का सन् १६१४ तक उससे सैद्धान्तिक संघर्ष चलता रहा। सन् १६३२ में यह महान् संशोधनवादी नेता मृत्यु को प्राप्त हुआ।

बर्न्सटाइन ने मार्क्सवाद पर 'Problems of Socialism' नामक लेखमाला में अपने आक्रमणकारी विचार प्रकाशित किये। एक जटिल शीर्षक वाले ग्रन्थ में उसके विचारों की अभिव्यक्ति हुई जिसका संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद 'Evolutionary Socialism' के नाम से प्रकाशित हुआ। बर्न्सटाइन ने मार्क्सवाद की अपनी आलोचना का सार एक लम्बे पत्र में प्रस्तुत किया है जो उसने १८६८ में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को लिखा था। बर्न्सटाइन की शंकाओं, अविश्वासों और मार्क्सवादी आलोचनाओं का मुख्य तर्क यह था कि मार्क्स ने समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था वह विश्लेषण समाज द्वारा गलत प्रमाणित हो चुका था और घटनाक्रम के अनुसार मार्क्स की भविष्यवाणियां भी सत्य सिद्ध नहीं हुई थी, अतः यह सर्वथा उचित था कि मार्क्स के सिद्धान्तों में संशोधन किया जाय और उन बातों को बाहर निकाल फेंका जाय जो गलत सिद्ध हो चुकी हो।

बर्न्सटाइन द्वारा मार्क्स की आलोचना (Bernstein's Criticism of Marx)—बर्न्सटाइन ने 'Problems of Socialism' नामक लेखमाला के अपने लेख में **मार्क्स पर स्वप्नलोकीय (Utopian) होने का आरोप** लगाया। यद्यपि मार्क्स ने भविष्य के सामाजिक संगठन की कोई कल्पना नहीं की थी, किन्तु उसने यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि समाज आकस्मिक तथा तीव्र परिवर्तन फलस्वरूप पूंजीवाद से समाजवाद का रूप धारण कर लेगा। बर्न्सटाइन ने मार्क्स के इस विचार को केवल कल्पनालोकीय अथवा स्वप्निल बताया। उसने कहा कि मार्क्स का इस प्रकार की धारणा बनाना यथार्थ को दूर फेंकना था। बर्न्सटाइन के अनुसार यह विश्वास गलत था कि पूंजीवादी समाज का अन्त निकट आ रहा था और वह उस अन्तिम संकट के चरम बिन्दु पर था जिसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग को शक्ति प्राप्त हो जानी थी। मार्क्स द्वारा ऐसे विचारों को प्रकट करना भ्रांतिपूर्ण था और उसके चिन्तन मे यह प्रमुख स्वप्नलोकीय तत्व है।

बर्न्सटाइन ने यह आरोप लगाया कि मार्क्स के उपरोक्त स्वप्नलोकीय विचारों का ही यह दुष्परिणाम था कि जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी मे निष्क्रियता व्याप्त थी। इस पार्टी ने क्रांति से पूर्व कोई भी रचनात्मक कार्य

करना आवश्यक नहीं समझा था। चूंकि बर्न्सटाइन को मार्क्स द्वारा कथित क्रांति के कोई भी लक्षण सन्निकट नहीं दिखाई देरहे थे, अत. उसने यह तर्कसंगत शंका प्रस्तुत की कि क्या श्रमिको के लिए यह उचित है कि वे उन सुधारो के लिए कोई प्रयत्न न करें जो पूंजीवादी राज्य में पूंजीवादी ढांचे के अन्तर्गत भी प्राप्त हो सकते हैं, और क्या उनके लिए यह उचित है कि वे इन सुधारों को पाने के लिए प्रयत्नशील होने की अपेक्षा प्रत्याशित क्रान्ति की प्रतीक्षा करते रहें। बर्न्सटाइन ने आग्रहपूर्वक यह विचार प्रस्तुत किया कि क्रांति की अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना श्रमिकों के हितों के दृष्टिकोण से लाभप्रद नहीं है और उचित एव तर्कसंगत मार्ग यही है कि पूंजीवाद के विनाश की प्रतीक्षा में न बैठकर श्रमिक पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकतम रियायतें लेने को सचेष्ट हों। बर्न्सटाइन के ये विचार सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते थे।

बर्न्सटाइन ने अनुभव किया कि मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत वर्गसंघर्षों में कमी होने के कारण क्रान्ति की सम्भावना निरन्तर घटती जा रही थी। मार्क्स ने कहा था कि ज्यों ज्यों पूंजीवाद की अभिवृद्धि होगी त्यों त्यों वर्ग-संघर्ष बढ़ता जायेगा और क्रान्ति सन्निकट होती जायगी। किन्तु, मार्क्स की कल्पना के विरुद्ध, समाज दो घोर परस्पर विरोधी वर्गों मे विभक्त नहीं हो रहा था। श्रमिक स्वय किसी एक सगठित वर्ग मे आबद्ध नहीं थे, उनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि अनेक वर्गों मे हो रहा था, बर्न्सटाइन ने कहा कि सामाजिक धन की भारी वृद्धि ने बड़े पूंजीपतियों की सख्या मे कमी नहीं की थी बल्कि समस्त श्रेणी के पूंजीपतियों में वृद्धि ही हुई थी। पूंजी का केन्द्रीकरण कुछ हाथों मे होने के साथ-साथ मध्यमवर्गीय व छोटे व्यवसायों का लोप नहीं हो रहा था और श्रमिकों की दशा गिरने के बजाय सुधर रही थी। ज्यों ज्यों राज्य का लोकतान्त्रिक स्वरूप उन्नत हो रहा था त्यों त्यों श्रमिक वर्ग की राजनीतिक क्रान्ति के द्वारा समाजवाद के आने की सम्भावना कम होती जा रही थी। बर्न्सटाइन के शब्दों म "कारखानों के बारे में अधिनियम स्थानीय शासन का जनतन्त्रीकरण, उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार, वैधानिक प्रतिबन्धों से ट्रेड यूनियनों और सहयोगी व्यापारी सस्थाओं की मुक्ति, सार्वजनिक सेवाओं के द्वारा कार्य किये जाने के एक निश्चित स्तर का विचार—ये समस्त विचारधाराएं विकास की विशेषताएं हैं। वतमान राष्ट्रों का राजनीतिक संगठन जितना ही अधिक जनतन्त्रीय होता है उतनी ही अधिक राजनीतिक सकट की आवश्यकताएं तथा अवसर कम होते हैं।" बर्न्सटाइन इन परिस्थितियों में इस परिणाम पर पहुंचा कि "समाजवादी का कार्य श्रमिक वर्ग को राजनीतिक रूप से सगठित करना और उन्हें एक लोकतन्त्र में विकसित करना तथा राज्य मे उन समस्त सुधारों के लिए लड़ना है जो कि श्रमिक वर्ग को ऊंचा उठा सकते हैं और राज्य को लोकतन्त्र की दिशा में परिणत कर सकते हैं।" इस प्रकार, स्पष्टत, बर्न्सटाइन के मतानुसार पूंजीवाद से समाजवाद पर प्रस्थान शनैः शनैः ही हो सकता है। स्थाई सफलता के लिए महान आवश्यकता इस बात की है कि एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के बजाय धीरे धीरे परन्तु निश्चित विकास की ओर बढ़ा जाय। समाजवाद की स्थापना वर्ग-संघर्ष

के परिणामस्वरूप नही होगी, वल्कि क्रमिक सुधारों के संचय द्वारा होगी। श्रमिकों को चाहिये कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए जोर दें। श्रमिकों को ग्रामों और नगरों में अपने वर्ग के हितों के लिए राजनीतिक संघर्ष करना चाहिए और श्रमिकों के औद्योगिक संगठन के लिए प्रयत्न करना चाहिये। वर्न्सटाइन को मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा में कोई विश्वास न था। फेवियन के विचार भी ऐसे ही थे। सिडनी वैव ने, और वर्न्सटाइन ने, कोल के शब्दों में—"एक विकासवादी प्रक्रिया के दर्शन किये जिसमें आकस्मिक छलांगें अपवाद स्वरूप थी और सामान्य नियम क्रमिक तथा संचयशील परिवर्तन-शीलता का था। मार्क्स के लिए, आधारभूत कारण से भिन्न परिवर्तन की पद्धति का वर्ग-संघर्ष था और वह क्रान्ति थी जिसमें कि उदीयमान वर्ग उस ह्रासोन्मुखी वर्ग को परास्त कर देता है जो कि उत्पादन की शक्तियों का समुचित प्रयोग करने मे असमर्थ हो जाता है।' इसके विपरीत वैव तथा वर्न्सटाइन के अनुसार वर्ग-संघर्ष यद्यपि, वह इसकी सत्ता से इन्कार नहीं करते, परिवर्तन का वास्तविक महत्वपूर्ण यन्त्र नही है। परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि जीवन की मूलभूत स्थितियां बदल जाती हैं, और क्योंकि इन स्थितियो में परिवर्तन मनुष्यो को (वर्गों का इतना नहीं) अपनी संस्थाओं को नई आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने के लिए प्रेरित करता है; वर्ग भी एक कारक हो सकता है कि यह आधारभूत कारक नही है। आधारभूत कारक तो सामाजिक संस्थाओं को मानवीय आवश्यकताओं के बनाने की मनुष्य की सामर्थ्य है।"

वर्न्सटाइन ने न केवल मार्क्स की इन धारणाओं का खण्डन किया कि पूंजीवादी समाज का अन्त होनेवाला है और वर्ग-संघर्ष मे तीव्रता होना अनिवार्य है, वल्कि उसने मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया। वर्न्सटाइन ने मार्क्सवादी इस व्याख्या को अत्यन्त संकीर्ण बताया और यह मत प्रकट किया कि इतिहास के निर्धारण मे केवल आर्थिक तत्व ही सब कुछ नहीं है। उसने मार्क्स के इस सिद्धान्त की अधिक व्याख्या की जिसमें भविष्य के परिवर्तनों के निर्धारण में विचार-धारा-सम्बन्धी और नैतिक जैसे अनार्थिक कारकों को भी ध्यान मे रखा गया। यद्यपि मार्क्स और एन्जिलस दोनों ने इनकी सत्ता स्वीकार की थी, किन्तु उन्होंने इनको गौण स्थान दिया था, जबकि वर्न्सटाइन के अनुसार इनकी स्वतन्त्र क्रिया के लिए अधिक स्थान है। अपने ग्रन्थ 'Evolutionary Socialism' में उसने लिखा है कि—

'आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊंचा उठा हुआ है। ये आदर्श केवल आर्थिक तत्वों तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी इन आदर्शों के क्षेत्र में आते हैं। ये विभिन्न तत्व आज आर्थिक तत्वों पर इतने आधारित नहीं हैं जितने कि प्राचीन काल में थे। आधुनिक आदर्शों का, विशेषकर नैतिक आदर्शों का, क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है तथा वे केवल आर्थिक तत्वों पर आधारित नहीं हैं।"

बर्न्सटाइन ने इस बात पर बल दिया कि "सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव की आर्थिक शक्तियों के निर्देशन की शक्ति बढ़ती जाती है तथा प्राकृतिक आर्थिक शक्ति मनुष्य की सेविका बन जाती है। "आर्थिक परिवर्तन की दृष्टि से समाज को पूर्वापेक्षा अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।" स्पष्ट है कि बर्न्सटाइन का यह विचार मार्क्सवाद के मूल पर प्रहार करता है, क्योंकि यह ऐतिहासिक विकास में आवश्यकता के नियम से इन्कार करता है। बर्न्सटाइन की मान्यता है कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्यहित अधिक प्रबल होता जा रहा है, फलतः "आर्थिक शक्तियों का प्रारम्भिक नियम" खण्डित होता जा रहा है। उसके स्वयं के शब्दों में—

"व्यावसायिक, आर्थिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृतियों के विकास में कारण और कार्य की अन्योन्याश्रितता निरन्तर रूप से अधिक परोक्ष होती जा रही है, तथा परिणामस्वरूप पूर्वोक्त की उपरोक्त के रूप को निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है।"

बर्न्सटाइन ने मार्क्स के मूल सिद्धान्त का भी खण्डन किया। इस विषय में बर्न्सटाइन के विचारों को प्रो० कोकर ने बड़ी स्पष्टता से प्रकट किया है जो इस प्रकार है—

"मार्क्स के मूल सिद्धान्त का खण्डन करते समय बर्न्सटाइन ने उस भ्राति की ओर निर्देशन किया जो 'केपिटल' ग्रंथ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत-परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है। 'केपिटल' के इस खण्ड में बाजार-मूल्य (Market value) को उत्पादन की लागत के, जिसमें औसत मुनाफा भी सम्मिलित है, बराबर माना गया है, किन्तु पहले के खण्डों में विनिमय मूल्य (Exchange Value) केवल उसी को माना गया है, जो उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। तीसरे खण्ड में पूर्व विचार केवल इस रूप में ही मिलता है कि समस्त पदार्थों का सामाजिक मूल्य उस समस्त श्रम काल के बराबर है जो उसके उत्पादन में लगा है और पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना अधिक है, वह पूर्ण सामाजिक बढ़ोत्तरी (Surplus) है जो श्रमिकों द्वारा उत्पन्न की गई है, परन्तु जो उनसे अन्यायपूर्वक छीन ली गई है। बर्न्सटाइन का यह विचार था कि श्रम निर्मित मूल्य के किसी भी सिद्धान्त के आधार पर हम वितरण के लिए कोई उपयुक्त प्रणाली स्थापित नहीं कर सकते। मूल्य-सिद्धान्त श्रम के उत्पादन के विभाजन में न्याय या अन्याय का निर्णय करने के लिए किसी आदर्श को स्थापित करने में उतना ही असफल है, जितना कि किसी मूर्ति की सुन्दरता या कुरूपता का निर्णय करने के लिए अणु-सिद्धान्त (Atomic Theory)। आज हमें जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) की दर बहुत अधिक ऊंची है उनमें श्रेष्ठतम अवस्थावाले मजदूर दिखाई देते हैं और जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य की दर बहुत निम्न है उनमें मजदूर अत्यन्त दलित अवस्था में हैं। साम्यवाद या समाजवाद के लिए वैज्ञानिक आधार या समर्थन केवल इस बात से प्राप्त नहीं किया जा सकता कि मजदूर को उसके काम की उपज का पूर्ण मूल्य प्राप्त नहीं होता। संशोधनवादी सामान्यतया मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त को अस्वीकार करने में बर्न्सटाइन का

अनुसरण कर सकते थे—जहां तक कि उस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य केवल मजदूरों के प्रयत्नों से निर्धारित होता है और जिस अतिरिक्त मूल्य का पूंजीपति शोषण करते हैं उसका निर्धारण केवल उस अतिरिक्त भाग से होता है जो उत्पादन में से मजदूरी देने के बाद बच रहता है। परन्तु वे इस बात का खण्डन नहीं करते कि अतिरिक्त मूल्य होता है या अतिरिक्त भाग उस बढ़ोतरी से बनता है जो पूंजीपति को वस्तुओं की बिक्री से जो धन प्राप्त होता है उसमें से जो धन वे वस्तुओं को मूल्य देने में खर्च करते हैं उसे घटाकर बच रहती है। वे इस बात में विश्वास करते थे कि पूंजीपतियों के बढ़ोतरी को बढ़ाने के प्रयत्नों से पूंजीवाद के स्वाभाविक विकास को शक्ति मिलती है और उससे मजदूरों का शोषण भी होता है।"

बर्न्सटाइन ने मार्क्स के इस प्रश्न का भी परीक्षण किया कि पूंजी केवल थोड़े से हाथों मे केन्द्रित होती चली जाती है। मार्क्स ने यह कहा था कि शीघ्र ही ऐसा समय आवेगा कि सारी पूंजी बड़े-बड़े पूंजीपतियों के हाथ मे आ जावेगी। छोटे-छोटे पूंजीपतियो को बड़े पूंजीपति अपने में समेट लेंगे और इस प्रकार अन्त मे नगण्य मात्रा में पूंजीपति शेष रहेंगे। इस तरह पूंजीवाद का, अपने ही विकास एवं विघटन के नियमों के अनुसार पतन होकर अनिवार्य रूप से समाजवाद का उदय होगा। बर्न्सटाइन ने मार्क्स की इस भविष्यवाणी का खण्डन किया। उसने कहा कि यद्यपि यह सही है कि व्यापार-सगठन उत्तरोत्तर वृहत्तर होते जा रहे थे, किन्तु साथ ही तथ्य यह भी है कि पूंजीपतियो की संख्या घट नही रही थी, प्रत्युत मिश्रित कम्पनियों के उदय होने के कारण उनकी सख्या मे वृद्धि ही हो रही थी। उसने आंकड़े देकर यह सिद्ध कर दिया कि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे विलीन नहीं हो रहे थे, बल्कि "संगठन द्वारा छोटे उद्योगो का बड़े उद्योगों में केन्द्रीकरण होने के कारण सम्पत्ति का स्वामित्व केन्द्रीभूत होने के स्थान में विस्तार पा रहा था और इस तरह पूंजी के स्वामियो की संख्या कम होने की जगह बढ़ती ही जा रही थी।" बर्न्सटाइन ने आंकड़ों के आधार पर यह भी बताया कि मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग द्वारा वस्तुओं का उपभोग बढ़ गया था। पूर्ण उत्पादन मे वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति की सम्पत्ति में बढ़ोतरी हो रही थी और इस तरह "मजदूरों के सकटों तथा दुखों में भी निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से कमी होती जा रही थी। साथ ही बाजार के विस्तार और ऋण की प्रणाली मे सुधार हो जाने के कारण व्यापारिक संकट कम, और कम गम्भीर भी होते जा रहे थे तथा सार्वभौम और घातक सकट की सम्भावना अधिक दूर होती जा रही थी।" मार्क्स ने जो यह विचार प्रकट किया था कि जनता मे, उपभोक्ता की कमी के कारण संकट उत्पन्न होते हैं क्योंकि दरिद्रता के कारण जनता की उपभोग की शक्ति कम हो जाती है, इस पर तथा साथ ही मार्क्स के इस विचार पर कि आर्थिक संकट प्रकृति में अधिक भयंकर होते चले जाएंगे और अन्त में पूंजीवादी प्रथा का अन्त कर देंगे, बर्न्सटाइन ने सत्यता का केवल नगण्य आभास स्वीकार किया। उसने कहा कि—

"सत्यता केवल इतनी ही है कि वर्तमान समाज में उत्पादन क्षमता

वास्तविक माँगों की अपेक्षा, जो कि शक्ति से उत्पन्न होती हैं, कम है। करोड़ों मनुष्यों को पर्याप्त मात्रा में मकान, कपड़ा तथा खाना प्राप्त नहीं होता, यद्यपि इन समस्त वस्तुओं के लिये बहुत से साधन उपलब्ध है। इन कारणों से उत्पादन के विभिन्न मार्गों में उत्पादन बढ़ा हुआ मालुम होता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ वस्तुयें उनसे अधिक मात्रा में नहीं होती कि उनका प्रयोग नहीं किया जा सके, परन्तु उस मात्रा से अधिक अवश्य होती है जितनी मात्रा में उनका क्रय किया जा सकता है। इस तथ्य के कारण श्रमिकों के रोजगार में बहुत अनिश्चितता रहती है और उनकी स्थिति बहुत अधिक असुरक्षित हो जाता है। श्रमिकों को कारखानों के मालिकों की दया के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है।" बर्न्सटाइन ने कहा कि "इन संकटों को केवल नारों (Slogans के द्वारा नहीं टाला जा सकता वरन् हमें उन आर्थिक स्थितियों पर विचार करके उनको समाज में लागू करना चाहिये जिससे ऐसे संकट कम हो जाय।"

मार्क्स ने श्रमिकों के अधिनायकवाद की स्थापना की बात कही थी, किन्तु बर्न्सटाइन ने अपने ग्रंथ 'Evolutionary Socialism' में समाजवाद और लोकतंत्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए मार्क्स के इस विचार का खंडन किया, क्योंकि यह जनतन्त्री सिद्धान्तों के विरुद्ध है। बर्न्सटाइन के अनुसार जनतन्त्र का अर्थ है सबके लिये समान न्याय और वर्ग शासन का अभाव। उनके स्वयं के शब्दों में, "जनतन्त्र में मत देने का अधिकार उसके सदस्यों को समाज में नाममात्र का साझेदारी प्रदान करता है, यह नाममात्र की साझेदारी अन्त में *वास्तविक साझेदारी हो जाती है। जिस समाज में* अधिकांश श्रमिक अविकसित हो उसमें सामान्य मताधिकार से प्रारम्भ में यह प्रतीत होता है कि श्रमिकों को केवल 'वध करनेवालों' (Butchers) के निर्वाचन करने का अधिकार प्राप्त है परन्तु श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या तथा ज्ञान की वृद्धि से जनता के प्रतिनिधि स्वामियों के स्तर से हटकर जनता के सेवक का रूप धारण कर लेंगे।" इस प्रकार हिंसात्मक क्रांति के बजाय वयस्क मताधिकार के द्वारा भी समाज में परिवर्तन हो सकेगा। जनतन्त्र का साधन समाज में परिवर्तन धीरे-धीरे अवश्य करता है परन्तु सफलता का फिर भी निश्चित साधन है। बर्न्सटाइन ने यह स्पष्टतः कहा कि किसी भी बहुसंख्यक वर्ग को चाहे वह पूंजीपतियों का, चाहे मजदूरों का, अल्पसंख्यकों को कुचलने का *अधिकार नहीं है। मजदूर वर्ग का पूंजीपति वर्ग को* नष्ट कर देना भी उतना ही गलत होगा जितना कि पूंजीपति वर्ग का मजदूर वर्ग का शोषण करना। जनतन्त्र का अर्थ वर्ग शासन को समाप्त करना है, एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग का शासन स्थापित करना नहीं।

बर्न्सटाइन मार्क्स की इस धारणा को भी कि मजदूरों का कोई देश *नहीं होता*, निरर्थक बतलाता है। *यह धारणा* १८४० के *लगभग कुछ हद तक* सही हो सकती थी क्योंकि उस समय श्रमिक वर्ग मत देने के अधिकार से वंचित था और वह राजनीति में *सक्रिय भाग नहीं ले सकता था*, लेकिन अब जबकि श्रमिक वर्ग को मताधिकार मिल गया है, यह धारणा *आंशिक रूप में* असत्य सिद्ध हो गई है, और भविष्य में जबकि श्रमिक राजनीति में पूर्णतः भाग लेने लगेंगे तो यह धारणा पूर्णतः असत्य *सिद्ध हो जायेगी।*

वर्न्सटाइन ने श्रमिकों और पूंजीपतियों दोनों को राष्ट्र की रक्षा के लिये सतत् प्रयत्नशील रहने का आव्हान किया, क्योंकि राष्ट्र को क्षति पहुंचाने वाली परिस्थिति से दोनों का नुकसान होगा। राष्ट्र की रक्षा का कर्तव्य श्रमिकों का भी उतना ही है जितना कि पूंजीपतियों का।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्न्सटाइन के अनुसार मार्क्स के वैज्ञानिक होने के दावे के बावजूद उसकी विचारधारा का एक बहुत बड़ा भाग वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि वह तथ्यों पर आधारित नहीं है। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त में आर्थिक तत्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिया तथा उसके द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तो पूर्णतः काल्पनिक सिद्ध हुआ। मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार न तो मध्य वर्ग लुप्त हुआ न मजदूर वर्ग के कष्टों में वृद्धि हुई और न पूंजीपतियों की संख्या में कमी आई। वर्न्सटाइन ने बदलती हुई परिस्थितियों में और मार्क्स की अनेक भविष्यवाणियों के गलत हो जाने की दशा में विकासवादी प्रक्रिया में विश्वास करते हुए मार्क्सवाद पर पुनर्विचार करके उसमें संशोधन करने का आग्रह किया और यह घोषित किया कि क्रान्तिकारी साधन केवल वहीं अपनाये जाने चाहिये जहां सुधारवादी साधन काम न दें। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि "मजदूरों को प्रजातन्त्र की संस्थाओं तथा औद्योगिक स्वशासन की एजेन्सियों में शिक्षण के जो सुयोग मिलते है, उनसे धीरे-धीरे आर्थिक एवं राजनीतिक प्राधान्य प्राप्त करने की योग्यता पाने का प्रयत्न करके ही सतुष्ट रहना चाहिये। उन्हें उन समस्त लाभों से लाभ उठाना चाहिये जो प्रजातंत्रीय सरकारों द्वारा पूंजीवादी स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करने तथा उनकी अवस्था को सुधारने के लिये प्रदान किये जाते हैं। उन पूंजीपतियों के सहयोग को भी आवश्यक मानना चाहिये, जो (यदि मजदूरों की विरोधी प्रवृत्तियों के कारण विरोधी नही बन गये हैं) उनके साथ मिलकर पूंजीवादी शोषण को सीमित करने तथा राजनीतिक विशेषाधिकारों को उठा देने के लिये उनसे सहयोग करने को तैयार है।

जीन जोरेस (Jean Jaures)—जहां वर्न्सटाइन जर्मनी में संशोधनवादी आन्दोलन का महानतम नेता था, वहां जीनजोरेस और बिनॉय मैलन (Benoit Malon) फ्रांस में संशोधनवादी आंदोलन के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। वर्न्सटाइन की भांति ही जोरेस ने भी मार्क्सवादी भविष्यवाणी को अस्वीकार किया। उसने मार्क्स की इस कट्टर धारणा का खंडन किया कि पूंजीवाद का अन्त निकट आ रहा है। इसके विपरीत वर्न्सटाइन ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए उसने कहा कि जिस समय मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी तभी से श्रमिक वर्ग की दशा आर्थिक दृष्टि से गिरने की जगह उन्नत होती जा रही थी और वे मार्क्स के कथनानुसार अधिकाधिक संकट के गर्त में नही गिर रहे थे। जोरेस ने कहा कि आर्थिक संकट यद्यपि पूंजीवादी व्यवस्था की अव्यवस्था के प्रमाण हैं, तथापि इस व्यवस्था का अन्त करके किसी अन्य प्रणाली को जन्म नहीं दे सकते तथा मजदूरों के बिल्कुल दरिद्री हो जाने से पूंजीपतियों को हटाकर उनका स्थान ग्रहण करने की उनकी क्षमता में वृद्धि होने के स्थान में ह्रास ही होगा। जोरेस श्रमिक वर्ग की राजनीतिक क्रांति में विश्वास

का खंडन करता था। उसकी *यह धारणा थी कि समाजवादी व्यवस्था* का जन्म श्रमिक वर्ग को सचेतन और जाकरूक बनाने से होगा पूंजीवाद के पतन द्वारा नहीं। बर्नस्टाइन की भांति उसका भी यह कहना था कि समाजवादी लक्ष्य की *प्राप्ति वर्तमान राज्य* को एक साधन के रूप में प्रयोग करके की जानी चाहिए तथा समाजवादी आंदोलन को लोकतन्त्री आंदोलन का एक अंग समझा जाना चाहिए। उसने यह घोषित किया कि लोकतंत्र समाज का केवल साधनमात्र ही नहीं है, वरन् उसका सार भी है।

पुनर्विचारवाद अथवा संशोधनवाद के इस वर्णन में हमने यही देखा है *कि बर्नस्टाइन, जोरेस* एवं अन्य संशोधनवादी मार्क्सवादी सिद्धांतों का खंडन करते थे, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मार्क्सवाद में उनकी कोई आस्था ही नहीं थी। वस्तुतः वे सच्चाई के साथ मार्क्स के कुछ आधारभूत आर्थिक एवं विकासात्मक सिद्धान्तों को मानते थे और उसका यह दावा था कि मार्क्स के सिद्धान्त में जो कुछ बातें सारभूत हैं वे यही हैं। उनका कहना था कि यह सत्य है कि पूंजीवादी समाज अत्यन्त निर्दयता से श्रमिकों के एक विशाल बहुमत का शोषण करता है और मूल्यों के उत्पादन में श्रमिकों का *जितना योग होता है उससे वह उन्हें सदा कम देता है।* अल्प वेतनभोगी बहुसंख्यक जनता जितना खरीद सकती है उससे अधिक उत्पन्न करके पूंजीवादी समाज स्वयं अपनी जड़ें खोद रहा है। इन अवस्थाओं में यह स्वाभाविक *है कि वर्ग विद्वेष उत्पन्न हो। संशोधनवादियों ने यह भी कहा कि ऐसे वर्ग*-संघर्ष से बचने के लिए, यह सम्भव है कि कुछ अवस्थाओं में, दलितवर्ग द्वारा हिंसात्मक विद्रोह ही एक मात्र मार्ग रह जाये। उन्होंने यह माना है *कि "यद्यपि प्रवृति पूंजी के स्वामियों की संख्या में और मजदूरों के वास्तविक* वेतन में वृद्धि की ओर रही है तथापि व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रणाली मजदूरों के अधिकांश के लिए उन सुविधाओं और सुखों को प्राप्त करना सम्भव नहीं जो अल्पसंख्यक पूंजीपतियों *को प्राप्त हैं, मजदूर वर्ग की आर्थिक दशा में* सुधार होने से मजदूरों को अपने पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की इच्छा एवं उसके लिए क्रांतिकारी उपायों द्वारा अथवा शांतिमय साधनों द्वारा, सफलता-पूर्वक कार्य करने की, क्षमता में वृद्धि होती है, कमी नहीं।"

इस तरह स्पष्ट है कि श्रमिकों और अन्य सहानुभूतिपूर्ण वर्गों के मध्य सहयोग को स्वीकार करते हुए भी, अथवा उसका समर्थन करते हुए भी संशोधनवादियों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि आर्थिक विषमताओं से समाजवाद का औचित्य सिद्ध होता है। उन्होंने इस अर्थ में समाजवाद की वर्गीय विशेषता को भी स्वीकार किया कि समाजवाद एक वह आंदोलन है जो न केवल श्रमिकों के आवश्यक अधिकारों को प्राप्त करने और उनकी आर्थिक व सामाजिक दशा को सुधारने को प्रयत्नशील है, बल्कि जो श्रमिकों को उनका स्वाभाविक स्थान भी देता है। बर्नस्टाइन ने यह स्पष्ट कहा कि इस बात पर किसी को कोई आपत्ति ही नहीं है कि सरकार पर श्रमिकों का अधिकार होना ही चाहिए। सर्वहारावर्ग के समाजवादी दल का निर्माण लोकतन्त्र की ओर पहला अनिवार्य कदम है। बर्नस्टाइन ने यह स्वीकार किया कि जहां राजनीतिक प्रजातंत्र का अस्तित्व न हो और पूंजीपतियों के हाथ में

पूर्ण नियंत्रण हो, वहां क्रांति ही एक मात्र ऐसा उपाय हो सकता है कि जिसके द्वारा पूंजीविहीन विशाल जनता राजनीतिक सत्ता पर अधिकार जमाले। जोरेस ने साधारण समाजवादी आंदोलन में सामान्य हड़ताल (General Srike) को एक साधन के रूप में स्वीकार किया और यह माना था कि जब निर्दयी पूंजीवादी सत्ता सुधारों को बार-बार टालती रहे तो हिंसात्मक सामान्य हड़ताल ही श्रमिकों के हाथों मे एकमात्र शक्तिशाली हथियार होगा। वास्तव में सचाई यह है कि अधिकाश संशोधनवादी अथवा पुनर्विचारवादी, क्रांतिवादी और सुधारवादी दोनों होने का दावा करते थे। यदि जोरेस ने हिंसात्मक सामान्य हडताल को अंतिम अपरिहार्य उपाय माना था तो बर्न्सटाइन ने क्रांति करने के अधिकार को ऐसे अधिकार के सामान्य अर्थ के रूप में स्वीकार किया था जो कानून द्वारा छीना नहीं जा सकता और जिसकी सुधार के मार्ग पर अग्रसर होने पर, उतनी ही आवश्यकता रह जावेगी जितनी कि आत्मरक्षा के अधिकार की उस समय रह जाती है जबकि हम स्वयं अपने साम्पत्तिक तथा व्यक्तिगत विवादों का नियमन करने के लिए नियम बनाते है।

11

श्रमी संघवाद

(SYNDICALISM)

१९वीं शताब्दी के अंतिम भाग में फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन के गर्भ से श्रमजीवी वर्गों के लिये एक नवीन सामाजिक सिद्धान्त का जन्म हुआ जो श्रमी संघवाद (Syndicalism) के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जो शांति और विकासवाद दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार कर मजदूरों को तुरन्त सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना चाहती है। मजदूरों का स्वाधीनता प्रेम ही इस विचारधारा के शीघ्रता से पनपने और प्रचलित होने का प्रधान कारण है, जो इस सीमा तक पहुँच गया है कि यह आन्दोलन औद्योगिक क्षेत्र मे उद्योग पतियों के अधिकार के विरुद्ध ही नहीं बल्कि राजनैतिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध भी विद्रोह करता है। इस प्रकार अपने सारे सिद्धान्तों मे यह समूहवादी व्यवस्था तथा समूहवादी राज्य दोनों का बिल्कुल उल्टा है। संघवाद यद्यपि अन्य समाजवादी सम्प्रदायों के समान पूंजीवाद का विरोधी है, किन्तु इसके अनुसार व्यापार व व्यवसाय का संचालन राज्य द्वारा न होकर मजदूरों द्वारा होना चाहिये। समाजवाद और संघवाद मे मुख्य भेद यह है कि जहां समाजवाद व्यवसायों का संचालन व स्वत्व राज्य के हाथो मे दे देना चाहता है जो कि सर्वोत्कृष्ट जन-समुदाय है, वहां संघवाद उद्योगों का संचालन व स्वामित्व राज्य के हाथों में न देकर मजदूरो के हाथो मे रखना चाहता है।

'सिण्डीकेलिज्म' शब्द फ्रेन्च शब्द सिण्डीकेट से निकला है, जिसका अर्थ है श्रम संघ (Labour Union)। "जब १९वीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दि मे फ्रांस के श्रम-संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन के उग्रपंथियों तथा नरमपंथियों के दो विभाग हो गये तब उन दोनो की विरोधी नीतियों के लिये 'क्रान्तिवादी [illegible] तथा 'सुधारवादी सिण्डी [illegible] प्रयोग किया जाने लगा। [illegible] अधि-कार हो गया, तब श्रम-संघ की नीति केवल 'सिण्डीकेलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई।" आगे जहां कहीं भी सिण्डीकेलिज्म या संघवाद शब्द का प्रयोग किया जायेगा तब उससे आशय क्रान्तिवादी सिण्डीकेलिज्म से ही लिया जाना चाहिये। यद्यपि फ्रांस में आज भी 'सिण्डीकेलिज्म' शब्द साधारण ट्रेड

यूनियन आन्दोलन के लिये प्रयोग में आता है किन्तु एक क्रांतिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को 'संघवाद' (Syndicalism) कहना ही अधिक सत्य तथा उपयुक्त होगा। सिद्धान्त रूप में इसे प्रेरणा देने वाले प्रोधां तथा कार्ल मार्क्स हैं और अराजकतावादी दर्शन के भी कुछ-कुछ निकट होने के कारण इसे 'Anarchy Syndicalism' भी कहते हैं। वस्तुतः इस विचारधारा का जन्म कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ जो फ्रांस के इतिहास में भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण तथा उत्पीडन का युग कहा जाता है। भ्रष्ट प्रजातन्त्र के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने के कारण इसे 'पतित प्रजातन्त्र का प्रतिशोधपूर्ण न्याय' (Anemisis of Corrupt Democracy) भी कहते हैं। संघवाद आदि से लेकर अंत तक उग्र एवं क्रान्तिकारी है और अपने आरम्भ से ही एक राजनीति विरोधी आन्दोलन होने के कारण यह राजनीति के सब रूपों तथा सब प्रकारों की खुले शब्दों में आलोचना करता है।

संघवाद की विचारधारा वर्तमान काल में निष्प्राण है, परन्तु विभिन्न देशों के श्रमिक तथा अन्य क्रांतिकारी दर्शन इसके प्रभाव से मुक्त नही रह सके हैं। इस विचारधारा को विभिन्न विद्वानों ने अपनी अपनी भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है जिनमें से कुछ प्रमुख को यहां देना उपयुक्त होगा—

"संघवाद वह सामाजिक सिद्धान्त है, जो श्रम संघों को नवीन समाज की आधारशिला और साथ ही साथ वह स्थान भी मानता है जिसके द्वारा नये समाज की स्थापना की जाएगी।"

—(C. E. M. Joad)

"श्रमी संघवाद संक्षेप मे समाजवाद का वह रूप है जो कि क्रांति को वर्ग-संघर्ष का परिणाम मानता है और जो सिण्डीकेट अथवा श्रमिक संघ का यान्त्रिक रूप में प्रयोग करके निश्चित ही राज्य की मशीन का अन्त कर देगा।"

—(Alexander Gray)

"मोटे तोर पर सिन्डीकेलिज्म यह मानता है कि केवल श्रमिकों को ही उन स्थितियों का नियन्त्रण करना चाहिये जिनके अधीन वे कार्य करें और जीवन निर्वाह करें; जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं, उन्हें वे केवल अपने ही प्रयत्नों से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल साधनों से ही प्राप्त कर सकते हैं।"

—(Coker)

"यह सामाजिक सिद्धान्त का वह रूप है, जो मजदूर संघों के संगठन को नये समाज की आधारशिला तथा उसकी स्थापना का साधन मानता है। यह इस अर्थ में स्पष्टतः समाजवादी है कि पूंजी चोरी है। यह इस सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाता है, पूंजीवाद समाज में वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को विस्तृत करता है और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का अन्त करके उसके स्थान पर समुदाय या समूह के स्वामित्व को लाना चाहता है।"

—(C. E. M. Joad)

"आजकल के प्रयोग के अनुसार श्रमी संघवाद का अर्थ उन क्रांतिकारियों के सिद्धान्त और कार्यक्रम से है जो औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग पूंजीवाद को नष्ट करने और समाजवादी समाज का संगठन करने के लिये करते हैं।"

—(G. E. Hoover)

'श्रमी संघवाद में समाजवादियों के आर्थिक सिद्धान्तों का, अराजकतावाद के राजनीतिक सिद्धान्तों का, जो राज्य में पूंजीवाद का साधन होने के कारण विश्वास नहीं करते और व्यापारिक संघों के सीधे अराजनीतिक तरीकों का मेल है।"

—(R. G Gettell)

"यह समस्त श्रमिकों का अपनी मांग पूरी करवाने के लिये संगठन है।"

—(Earnest Weekly)

श्रमी संघवाद अथवा फ्रेंच सिण्डीकलिज्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background of Syndicalism)—संघवादी आन्दोलन फ्रांस में सर्वप्रथम सन् १८८७ में शुरू हुआ और प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व ही फ्रांस की लगभग आधे से अधिक ट्रेड यूनियनें इस आन्दोलन के अधिकार-क्षेत्र में आ गईं। विशाल यूरोप के अन्य सब देशों को छोड़कर यह आन्दोलन फ्रांस में ही क्यों उत्पन्न हुआ इसके कुछ विशिष्ट कारण थे। १९वीं शताब्दी के फ्रांस का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यूरोप में फ्रांस की उस समय एक ऐसा देश था जिसकी राजनैतिक भूमि तथा औद्योगिक जलवायु इस संघवाद रूपी पौधे के उगने के लिये सर्वथा अनुकूल थी और उससे कम कोई भी राजनीतिक अथवा औद्योगिक विचार क्रांति पतनोन्मुख फ्रांस को ठीक रास्ते पर लाने में असमर्थ थी। सन् १८८७ से १९०२ तक तीसरेवाला फ्रांस-गणतन्त्र एक ऐसी भ्रष्ट सरकार का शासन काल था, जिसका प्रत्येक वर्ष आपसी झगड़ों, बेईमानी, पारस्परिक वैमनस्य, मरणासन्न प्रजातन्त्र, तथा अनेकों प्रकार के कलकों के लिये कुख्यात है। इस समय में फ्रांस में शासन-सत्ता इतनी निरन्कुश थी कि मजदूरों को अपने को संघों में संगठित करने की स्वतन्त्रता नहीं था और उनके अधिकार तथा हित अत्याचार की चक्की में पीसे जाते थे। सन् १८६४ से पूर्व जो छोटे छोटे मजदूर संघ देश में कार्य कर रहे थे, उन्हें सरकारी कानून द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं थी और अपने कानून-विरोधी अस्तित्व के कारण उनका जीवन सदैव संकट तथा मृत्यु के मुख में रहता था। मजदूरों ने राजकीय बन्धनों से तंग आकर यह अनुभव कर लिया था कि जनतन्त्रात्मक शासन में भी उनके कष्टों का निवारण नहीं हो सकता। धीरे २ जन-आन्दोलन तीव्र हो गया और जब सन् १८६४, १८६८ तथा १८८४ आदि के कानून द्वारा इन मजदूर संघों को खुले रूप में संगठित होने की आज्ञा मिली तो उनका दीर्घ समय से संचित विद्रोह एक विस्फोट के साथ फूट पड़ा और इसने कितने ही क्रांतिकारी संघों की स्थापना कर डाली। श्रमिकों की इस मनोवृत्ति को दर्शाते हुए ढे ने लिखा है 'प्रजातन्त्र को तराजू में तोला गया और वह पूरा नहीं उतरा। सरकार बदली, कानून बनाये गये परन्तु मूल व्यापार ज्यों का त्यों रहा।...असन्तुष्ट क्षुधा से भरे हुये और

श्रम निवृत्त संघवादी चिल्लाये कि अब राज्य और संसदीय खेल की ओर से मुँह मोड लेना और अपने ढग से मुक्ति पाने का समय आ गया है।"

सन् १८८७ तक काफी अराजकतावादी तत्व इन सघों में प्रवेश कर गया और उसने अपनी प्रधानता स्थापित कर ली। इसके ६ वर्ष बाद 'Federation de Bourses du Travail de France' नामक संस्था की स्थापना की गई। बहुत शीघ्र ही यह संस्था फ्रांस में श्रमिक आन्दोलन का केन्द्र बन गई जिसके कारण इसे दो वर्ष के कार्यकाल के बाद ही केन्द्रीय श्रमसघ (Confederation Generale du Travail अथवा C. G. T.) नामक एक नवीन सस्था की आवश्यकता पड़ी जो सघवादी विचारधारा को सारे देश में बड़े ओज के साथ फैलाने के लिये जिम्मेदार है। इस संस्था की स्थापना पिलोटेयर (Pelloutier) नामक एक संघवादी ने की थी और सघवादी कार्यक्रम तथा योजना को कार्यरूप में परिणत करना ही इसका एक मात्र उद्देश्य था। सघवादी सिद्धांत के आधार पर इस संस्था ने एक सघवादी नीति निर्धारित की थी जिस पर चलते हुये संघवादी व्यवस्था का निर्माण करना संघवादियों का ध्येय था। यह सघ दो प्रकार की संस्थाओं का एक सम्मिलित रूप था जो सन् १९०२ में मिलकर एक बन गयी थीं। प्रथम प्रकार की संस्था मजदूरों के अलग अलग श्रम-संघ (Labour Syndicates) थे जिनकी संख्या फ्रांस में १०० के लगभग थी तथा दूसरी संस्था 'Bourse du Travail' थी जिसे सन् १८९३ में मजदूरों के सार्वजनिक हितों की रक्षा करने के लिये अनेकों प्रकार मजदूरों से मिलकर स्थापित किया था। इस प्रकार संघवादी सिद्धात की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता सबको छोटे से छोटे औद्योगिक इकाईयों (Smallest Industrial Units) में विभाजित करना था ताकि सत्ता विकेन्द्रीकृत हो सके। इस केन्द्रीय श्रम-संघ ने फ्रांस के श्रमिकों का नेतृत्व किया और उन्हे यह ठोस कार्यक्रम दिया कि वे आम या साधारण हड़ताल (General Strike) द्वारा समूहवादी वैधानिक उपायों (Collectivist Constitutional Methods) को छोड़कर राज्य को दूर उठा फैंकने के लिये एक भीषण क्रांति करें। वस्तुतः यह संघ सारे फ्रांस की एक राष्ट्रीय संस्था (National Organisation) थी जिसके नेतृत्व में फ्रांसीसी श्रमसघों ने शांतिमय साधनों को छोड़कर वर्ग-संघर्ष के क्रांतिकारी मार्ग को पसन्द करके ब्रिटिश मजदूरों के विपरीत मार्ग अनुसरण किया।

क्रांतिवादी संघवाद का दर्शन (Philosophy of Revolutionary Syndicalism)—यथार्थ में संघवाद एक श्रमिक आन्दोलन है जिसको राजनीति में सक्रिय बनानेवाले भी श्रमिक हैं। यह विचारधारा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक सभी क्षेत्रों में मजदूरों का पक्ष लेकर चलती है और उनके हाथों में ही सम्पूर्ण सत्ता सौंप कर उन्हें सब का असली निर्माता तथा सर्वेसर्वा बनाना चाहती है। इस दृष्टि से यह एक जन-आन्दोलन है जो मध्यमवर्गीय नेतृत्व तथा मध्यमवर्गीय समाजवाद दोनों को अस्वीकार करता है। यह किसी कल्पना अथवा नैतिक आदर्शों में विश्वास नहीं करता और न यही सम्भव मानता है कि धीरे-धीरे विकासवादी वैधानिक सिद्धांतों

द्वारा मजदूरों का कल्याण हो सकता है। संघवाद के अनुसार मजदूरों का मोक्ष केवल इसी में है कि अन्यायपूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था तथा उसके साथ-साथ उसके हिमायती राज्य दोनों का समूल नाश करके उनके स्थान पर मजदूरों का आधिपत्य स्थापित किया जाय। इस प्रकार '*स्वाधीन समाज में स्वाधीनतापूर्वक कार्य*' मिलना अथवा देना संघवाद का लोकप्रिय आदर्श है।

संघवाद राज्य को *एक अमीरों की संस्था* (*A Bourgeois Institution*) मानते हैं और इसलिये मजदूरों के नेता होने के कारण राज्य के प्रति उनका दल स्पष्ट रूप से घृणा और विद्रोह का है। संघवादियों की यह मान्यता है कि राज्य एक दुर्गुण है जो अन्याय, शोषण तथा अनाचार पर ही टिका हुआ नहीं है बल्कि उनको समाज में चिर स्थायी बनाने के लिये भी सदैव प्रयत्नशील रहता है। यह सबल शक्तिशाली तथा रियायती वर्ग (Privileged Class) के हाथों में एक खिलौना मात्र है जिसके द्वारा वे *कमजोर, शोषित तथा पीड़ित वर्ग पर जुल्म ढहाते हैं।* पूंजीपति राज्य के समय में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व होने का ढोंग रचकर सामाजिक आतंकों द्वारा श्रमिकों के विचारों को तथा उनकी *न्यायोचित मांगों* को पद-दलित करते रहे हैं। राज्य ने सदैव ही जन क्रान्तियों को कुचला है। व्यक्तिवादियों की भांति संघवादी राज्य को एक शरारती संस्था मानते हैं जो व्यक्ति की मौलिकता को कुचलने के साथ साथ *श्रमिक के हितों के प्रति* भी सर्वथा उदासीन रहता है और पूंजीपतियों के साथ गठबन्धन करने के कारण जो *धनिकों को मिली हुई रियायतों की रक्षा करता है। राज्य सबल और शक्तिशाली* व्यक्तियों के हाथ में खिलौना मात्र है। जोड के अनुसार केन्द्रित संगठन (राज्य) में एकरूपता, सरसता, कल्पना तथा मौलिकता का अभाव पाया जाता है और वह स्थानीय विकास तथा उद्योगों के प्रति अविश्वास करता है। राज्य सामाजिक एकता का मिथ्यापूर्ण ढोंग रचता है। वर्ग सहयोग का झूठा नारा लगाता है। संघवादियों के अनुसार राज्य किसी भी रूप में बहुलवादी समाज के विभिन्न हितों में समन्वय स्थापित नहीं कर सकता। ऐतिहासिक *दृष्टिकोण से भी राज्य सदैव एकवर्गीय रहा है जिसने विजयी और शक्तिशाली* व्यक्ति का ही हमेशा पक्ष लिया है। संघवादी बहुलवाद में विश्वास करते हैं, अतः एक सत्तावादी केन्द्रीकृत राज्य उनके सिद्धान्त में फिट नहीं बैठ सकता। 'समाज में अनेकों संघों का होना तथा उन्हें असली सत्ता सौंपना स्वयं राज्य के अस्तित्व को इन्कार करना है। अतः संघवाद एक राज्य विरोधी विचारधारा है जो राज्य का विनाश तथा उन्मूलन चाहती है। संघवादी राज्य का *विरोध* इसलिये भी करते हैं कि वह केवल उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करता है और *उत्पादकों के हितों की कभी-चिन्ता नहीं करता* जिनका कि समाज पर वस्तुओं के निर्माता होने के रूप में वास्तविक आधिपत्य होना चाहिये। राज्य इसलिये भी निन्दा का पात्र है कि जो व्यक्ति भी राज्य कर्मचारी बन जाता है वह स्वाभाविक रूप से राज्य के प्रभाव में आकर उन [illegible] उत्पादन के कार्यों में लगे हुये हैं। संघ-

[illegible] *अविश्वास* की इस भावना के

[illegible] [मज]दूरों के प्रति राज्य का व्यवहार

[illegible] अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहा था।

तृतीय गणराज्य की स्थापना से पूर्व मजदूरों के प्रति शासन के विरोधी रवैये ने उनके हृदय में राज्य के प्रति घोर अविश्वास को जन्म दे डाला था। वे इस बात को नहीं भूले थे कि किस प्रकार फ्रेन्च शासन में अनिच्छा पूर्वक उनके सगठित होने तथा अपने उचित अधिकारों की रक्षा करने के लिये संगठित कार्यवाही करने के अधिकार को स्वीकार किया था। इस प्रकार के अनुभवों से उनमें यह विश्वास पैदा हो गया था कि राज्य आवश्यक रूप से पूंजीवादी या मध्यवर्गीय सस्था है जिनका मुख्य कार्य शान्तिकाल में राष्ट्र के भीतर मजदूरों के विरुद्ध और युद्ध काल मे बाहरी शत्रु से पूंजीवादी समुदाय की रक्षा करना है।

केन्द्रीय शासनों की सत्ता का विनाश करने और औद्योगिक आत्म-साहाय्य तथा व्यक्तिवाद पर जोर देने में सघवाद अराजकतावाद का अनुसरण करता है जिसका एक प्रमुख व्याख्याकार प्रोधा (Proudhon) है जिससे कि संघवादियों ने काफी प्रेरणा प्राप्त की। किन्तु अपने उद्देश्य मे अराजकतावादी होते हुये भी सघवाद का उद्देश्य अराजकतावाद लाना नहीं है। अराजकतावाद व्यक्तियों को राज्य तथा राजनीतिक कार्यों से पूर्णतया असहयोग करने के लिये कहता है लेकिन सघवाद राज्य का आलोचक होते हुये भी मजदूरों को राजनैतिक दलो तथा प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओं मे भाग लेने की अनुमति देता है। इस दृष्टि से यह अधिक उदार तथा सत्तावाद-विरोधी (Less-Anti-authoritarian) है। उद्देश्य की दृष्टि से भी अराजकतावाद में केवल ऐच्छिक संघ होंगे लेकिन सघवादी समाज राज्य के स्थान पर श्रमसंघों द्वारा श्रमिकों का शासन स्थापित करने का अभिलाषी है।

श्रम संघवादियों का यह अनुचित दावा है कि उनका यह आंदोलन ही सही अर्थो में श्रमजीवी आन्दोलन है और उनसे पूर्व जितने भी आन्दोलन हुये हैं वे सब केवल उन श्रमिको के मस्तिष्क की उपज है जो स्वय उच्च अथवा मध्यवर्गीय थे। संघवादियों का कहना है कि मध्यमवर्गीय नेता लोग जन-साधारण से दूर रहते हैं और अपने कमरे में बैठे-बैठे अपने दर्शन घड़ा करते हैं। अतः उनका दर्शन न विश्वास योग्य ही हो सकता है और न ही सामान्य श्रमिको को, जो कि समाज मे संस्था में अधिक हैं, कोई लाभ ही पहुंचा सकता है।

जहां समाजवाद का मौलिक सिद्धान्त है कि राज्य में उत्पादक (Producer) को महत्वहीन न समझा जाय तथा राष्ट्र की सम्पूर्ण वस्तुओं के उत्पादन एवम् वितरण की व्यवस्था उसके हित में हो, तथ जहां जन-समूहवादी (Collectivist) उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण करने का काम श्रमिक हितैषी राज्य को सौंपना चाहते हैं, वहां संघवादियों का उद्देश्य है कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में तो श्रमिक सर्वेसर्वा हों हीं लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में भी सत्ता उन्हीं के हाथों में रहनी चाहिये। सघवाद की दृष्टि मे राज्य एक उपभोक्ताओं का संघ (Consumers' Association) है, अतः सघवादी समाज मे, जहा उत्पादक लोग सभी क्षेत्रों मे असली शासक होंगे, राज्य का अस्तित्व सहनीय नहीं है। सघवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य प्रमुखतः एक धन-उत्पादक है और उसकी सम्पूर्ण सामाजिक प्रवृतियां उसके

उत्पादन के कार्य से ही बढ़ती है। चूंकि समाज प्रमुख रूप से धन-उत्पादकों का समुदाय है, उपभोक्ताओं का नहीं, अत समाज के सम्पूर्ण आर्थिक एवम् राजनैतिक जीवन पर नियन्त्रण सिण्डीकेटों के सगठित श्रमिकों का होना चाहिए। वर्तमान राज्य का, जो कि उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधि है, अन्त ही श्रेयस्कर है। जब तक वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था का विनाश करके ऐसी नवीन व्यवस्था की स्थापना न की जायगी जिसमें कि शक्ति पर अधिकार एवम् नियन्त्रण श्रमिकों का होगा, तब तक वे अर्थात् श्रमिक समाज में उस गौरव एवम् स्वाधीनता को कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे जिसके कि वे उत्पादक होने के नाते पात्र हैं।

संघवाद अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये हिंसक क्रान्ति को सार्थदायक मानता है, आम हड़ताल को अपना प्रधान शस्त्र स्वीकार करता है शांतिपूर्ण एव अहिंसक उपायों को श्रमिक वर्ग की वर्ग चेतना का नाश करनेवाला समझता है, तथापि यह युद्ध का समर्थक नहीं है। संघवाद युद्ध का उपदेश नहीं देता। इसके अनुसार श्रमिक वर्ग का युद्ध में कोई स्वार्थ अथवा हित नहीं है क्योंकि यह पूंजीपतियों के आपस म टकराने एव स्वार्थ से उत्पन्न होता है। युद्ध के जन्मदाता केवल पूंजीपति ही हैं तथा मजदूरों का उनसे अलग रहना चाहिये। ससार के सभी श्रमिक समान उद्देश्य रखते हैं तो यह सर्वथा अवांछित है कि व्यर्थ मे अपने द्वारा अपने भाई का खून बहाया जावे। इसलिये संघवादी सेना-विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। संघवादियो के इस दृष्टिकोण को और उसके पीछे निहित कारणो को कोकर ने संक्षेप मे किन्तु बड़ी स्पष्टता से चित्रित किया है। उनके शब्दों में—

"सिंडीकेलिस्टो का कहना था कि सेना का मुख्य कार्य राष्ट्र की रक्षा करना नही वरन् राष्ट्र के अन्दर पूंजीवादी वर्ग की रक्षा करना प्रतीत होता है। युद्ध मे सेना अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारो के साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति करती है और शान्ति काल में वह हड़ताल का दमन करती है। सेना का प्रयोग मजदूरों के हित में कभी नहीं किया गया। सिंडीकेलिस्टो ने बतलाया कि १९०५ में फ्रान्स तथा जर्मनी की सीमा के निकट हड़तालों का दमन जर्मन तथा फ्रेन्च सेनाओ द्वारा सीमा के दोनों ओर किया गया जिसने यह सिद्ध हो गया कि मालिकों तथा मजदूरों में संघर्ष के समय सरकार राष्ट्र-सीमाओं का विचार नहीं करती। इस प्रकार सिंडीकेलिस्टो का मार्क्स का यह वचन स्वीकार करना पड़ा कि सर्वहारा-वर्ग का कोई देश नहीं है। फ्रान्स की राष्ट्रीय सरकार की नीति के अन्यायों और उसके निकम्मेपन के प्रमाण मिलने पर मजदूरों का राजनीति विरोधी दृष्टिकोण और भी प्रबल हो गया।"[1]

श्रम संघवादियो की मान्यता है कि संसदीय प्रणाली केवल एक धोखा मात्र है। यह अमीरों के दिमाग की उपज है जो मजदूरों के लिये कभी लाभदायक नहीं हो सकती। यह एक ऐसी वैधानिक प्रणाली है जो मजदूरों की वर्ग चेतना का मन्द करती है। जब मजदूरों मे से कोई भी संसद सदस्य,

1 कोकर-आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २५४

अथवा मन्त्री वनते हैं तो वे अपना सम्पूर्ण उत्साह खो बैठते हैं और अपने उद्देश्य को विस्मृत कर देते हैं। ससदीय प्रणाली अथवा प्रजातन्त्र श्रमिकों में पूंजीवादी मनोवृत्ति को पैदा करती है और अनेक समाजवादी मंत्री बनने पर समाजवादी नहीं रहते। इस सम्बन्ध में संघवादी मिलरेंड, ब्रीयां तथा विवियन के उदाहरण प्रस्तुत करते है। ये सब श्रमजीवी नेता थे किन्तु संसद में जाने के उपरान्त पूंजीपतियों के चन्गुल में फंस गये। सघवादियों का विश्वास है कि संसदीय प्रणाली स्वार्थी राजनीतिज्ञों की जननी है और यह भले से भले लोगों को भी अनैतिक तथा व्यभिचारी बना देती है। श्रम सघवादी इस बारे में पनामा षडयन्त्र व बोलेन्जर घटनाओं के उदाहरण देते हैं। संसद को वे षडयन्त्रों का छविग्रह मानते हैं।

संघवादी राजनैतिक दलबन्दी में विश्वास नही करते क्योंकि उनके मतानुसार राजनैतिक दल का निर्माण वर्ग विशेष के हितों की दृष्टि से नहीं किया जाता। राजनीतिक दलों में सभी प्रकार के लोग सम्मिलित होते हैं। परिणामत. दल का संचालन कुछ ऐसे गिने-चुने लोगों के हाथो में रहता है जिनको न तो श्रमिकों के हितो का उचित ज्ञान ही होता है और न उनके हृदय में उनके प्रति आवश्यक सहानुभूति ही होती है। इसका एक ही स्वाभाविक परिणाम होता है और वह है श्रमिकों के हितों का हनन। संघवाद वर्गों (Classes) में विश्वास करता है दलों (Parties) में नही जिन पर कि लोकतन्त्र आधारित है।" दल समाज के विभिन्न वर्गों से लिये हुए अजातीय तत्वों का एक कृत्रिम समूह है जिन्हें एक सूत्र मे बान्धने के लिये कोई स्वाभाविक बन्धन नही होता बल्कि विचारधारा होती है जो कि आसानी से तिरस्कृत की जा सकती है। इसके विपरीत एक वर्ग ऐतिहासिक विकास की एक स्वाभाविक उत्पत्ति है। यह उन व्यक्तियों का एक समूह है जिनके सामान्य आर्थिक हित होते है और जो एक ही प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं। इससे एक कृत्रिम राजनैतिक दल जो कि सकट काल में द्रुत-गति से उठ जाता है, कि अपेक्षा कही अधिकएक्य होते हैं। अतः श्रमिकों को वर्ग के आधार पर काम करना चाहिये, दल के आधार पर नही। सघवाद रूस की व्यवस्था को भी मान्यता नहीं देता क्योकि वहां पर श्रमिकों का अधिनायकत्व वास्तव में एक दल का भी अधिनायकत्व है और इसीलिये वहां जनता को सचमुच की राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त नही है।

सघवाद राष्ट्रीयता की भावनाओं का भी विरोधी है। सघवादियों का विचार है कि राष्ट्रीयता या राष्ट्र के लिये त्याग करना या उसके लिये मर मिटना आदि की भावना पूंजीपतियों अथवा राज्य द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये उत्पन्न की जाती हैं। संसार में सभी श्रमिकों की लगभग एक सी समस्याएं हैं। वे एक ही तरह उत्पीडन, दरिद्रता और शोषण के शिकार है, अतः उनमे कोई विरोध नही है। वे मार्क्स के इस कथन में पूर्णतः विश्वास करते हैं कि 'श्रमिकों की कोई मातृभूमि नहीं होती।' उनका कहना है कि राष्ट्र प्रेम की भावना एक व्यर्थ का मायाजाल है जो केवल एक ही वर्ग के हितों को अक्षुण्ण बनाता है।

संघवादी विचारधारा के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय और ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि वे विश्वास करते हैं कि श्रमिकों को राजनीतिक

कार्य पर निर्भर नहीं रहना चाहिये और न ही अपनी मुक्ति के लिये उसको एक साधन के रूप में प्रयोग करने की उन्हें आवश्यकता है तथापि उनका यह विचार है कि जब तक राज्य का अस्तित्व है तब तक अवसर आने पर उसकी सेवाओं से लाभ उठाने में कोई आपत्ति भी नहीं होनी चाहिये। राष्ट्रीय मजदूर संघ (General Federation of Labour) ने समाजवादी तथा अन्य दलों से किसी प्रकार का सहयोग तक लेने से इनकार कर दिया और सिंडिकेलिस्ट सभाओं द्वारा राजनैतिक आन्दोलनों एवं निर्वाचनों में भाग लेने का विरोध किया। किन्तु उसने व्यक्तिगत रूप में सब सदस्यों को मत देने तथा अपनी इच्छानुसार राजनैतिक कार्य में भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। उसने यह भी स्वीकार किया कि कुछ विशेष अवस्थाओं में मजदूर अपने लिये हितकारी कानून बनवाने के प्रयत्नों में शामिल हो सकते हैं और कानूनों के निर्माण के लिये कार्य कर सकते हैं, जिनसे उनकी सभाओं को कानूनी स्वीकृति मिल जाय और उन्हें ऐसे कार्य सौंप दिये जाएं जैसे सार्वजनिक रोजगार कार्यालयों (Employment Bureaus) का संचालन तथा कारखानों सम्बन्धी कानूनों का होनेवाले अमल के निरीक्षण का कार्य। इसके अतिरिक्त सिंडीकेलिस्ट लोग इस बात से सहमत थे कि जब सरकार को मजदूरों के हित में कोई भी कार्य या सुविधा मजदूरों के ऐसे आक्रमणकारी कार्य या आन्दोलन के फलस्वरूप प्राप्त हो जिनसे डर कर सरकार को वह कार्य करना पड़े तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि उसकी प्राप्ति मजदूर की सीधी कार्यवाही द्वारा हुई है।[1] उन्होंने बड़े अभिमान के साथ बतलाया कि ऐसे अनेक अवसर आये हैं जबकि फ्रेन्च पार्लियामेन्ट ने मजदूरों के संयुक्त प्रयत्नों के दबाव से, जो सिंडीकेलिस्टों के नेतृत्व में सार्वजनिक सभाओं में तथा प्रदर्शन एवं हड़तालों द्वारा हुए हैं, उनके हित के लिये कानून बनाये।

अन्त में श्रम संघवाद (Syndicalism) को सार रूप में कुछ ही पंक्तियों में प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जो श्रमिक सभाओं द्वारा चलाया जाता है और जिसका उद्देश्य एक ऐसे नवीन समाज को जन्म देना है जिसमें उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली को कोई स्थान नहीं होगा, श्रमिकों की यूनियनों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होगा और कुल उद्योगों की प्रबन्ध व्यवस्था वे ही करेंगे। वितरण और उपभोग का नियमन भी उन्हीं के द्वारा किया जावेगा और वे समाज के सभी हितों के अनुकूल कार्य करेंगे। संघवाद की यह एक सकारात्मक व्याख्या कही जा सकती है। नकारात्मक दृष्टि से संघवाद राज्य का राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम का, सैन्यवाद का, संसदीय प्रणाली का, राजनैतिक दल का, मध्यम वर्ग का और यहां तक कि सोवियत रूस के समाजवाद का भी विरोधी है। लेकिन राज्य का विरोध करते हुये भी अवसर आने पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये राज्य से लाभ उठाने की संघवाद अनुमति देता है।

संघवाद के साधन (Methods of Syndicalism)—श्रम संघवादी राजनीतिक व संवैधानिक तरीकों में विश्वास नहीं करते। उनका आधारभूत साधन वर्ग संघर्ष व सीधी कार्यवाही है। संघवादियों का विचार है कि पूंजी-

---

1 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृष्ठ २५५

पतियों एवं शिक्षित मध्यम श्रेणी के हाथ से आर्थिक जीवन का नेतृत्व छीनने के लिये संघर्ष की आवश्यकता होगी। मजदूरों और पूंजीपतियों के हितों में मौलिक भेद व विरोध हैं। उनके हितों में समन्वय और सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। संघवादियों की अभीष्ट वास्तविक सामाजिक क्रान्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि स्वयं श्रमिकों में क्रान्ति न हो जाये। प्राचीन सस्थाओं के बदले जिन नवीन सस्थाओं की स्थापना की जाती है उनका विकास स्वयं श्रमिक वर्ग के अपने प्रयासों के द्वारा होना चाहिये। फेबियनवादियों के क्रमिक मन परिवर्तन (Permeation) और सशोधनवादियों के राजनैतिक साधन, श्रमिकों में आत्म-क्रान्ति नहीं ला सकते और उनसे वे गौरव तथा स्वतन्त्रता का नया पद प्राप्त नहीं कर सकते। संघवादियों का विश्वास है कि संशोधनपूर्ण और अहिंसक तरीके श्रमिक वर्ग की वर्ग-चेतना का नाश कर देते हैं और उनकी क्रान्तिकारी आत्म चेतना भी धीरे २ पूर्णतः सो जाती है। उनका मत है कि क्रान्तिकारी उपाय मजदूरों को हमेशा जिन्दा तथा जागृत रखते हैं और कठोर से कठोर संकट की स्थिति में भी विरोधपूर्वक डटे रहना सिखलाते हैं। हिन्सक क्रान्ति में साथी होने के कारण उनमें एक दूसरे के प्रति प्रेम रहता है और सारा मजदूर-समाज एक सूत्र में बन्धा रहता है।

पूंजीपतियों और राज्य के विरुद्ध अपने युद्ध में संघवादी जिन संस्थाओं का प्रयोग करते हैं, वे है सिंडीकेट अथवा मजदूर संघ और जिस साधन को वे अपनाते हैं वह है आर्थिक क्षेत्र में सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action)। केवल सिंडिकेट अर्थात मजदूर सघ ही श्रमिक क्रान्ति के साधन बनने योग्य हैं क्योंकि वे केवल श्रमिकों के नाते ही उन्हें एक समूह में संगठित करते हैं। मजदूर संघ क्रान्ति के यन्त्रों के रूप में कार्य करते हैं और यह अपेक्षा की जाती है कि वे आगे चलकर स्वतत्र समुदायों के प्रतिरूप का कार्य करेंगे जो कि पूंजीवादी समाज के नष्ट हो जाने के बाद उत्पन्न होगा। इस सम्बन्ध में कोकर ने लिखा है कि—

"सिंडीकेलिस्ट प्रणाली में मजदूरों की सभायें ब्रिटिश या अमरीकन मजदूर सभाओं की भांति नहीं होती, जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों के भौतिक हितो की रक्षा एवं वृद्धि करना होता है। उनका उद्देश्य काम के घंटों को कम करवाने और वेतन बढवाने से कहीं महान् और विशद् होता है। उनका प्राथमिक उद्देश्य मजदूरों को उस स्वतत्र एव गौरवपूर्ण स्थिति में ले जाना है जो उसे उत्पादन के कार्य के कारण प्राप्त होनी चाहिये। सिंडीकेलिस्ट का कथन है कि मानव व्यक्तित्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति, उसकी रचनात्मक शक्ति का प्रमाण, उत्पादक कार्य में ही है। जहां उद्योगपति, जो उस सामग्री यन्त्रों तथा औजारों के स्वामी होते हैं जिनके द्वारा मजदूर काम करते है श्रम की अवस्थाओं का निश्चय करते हैं, तो मजदूर वास्तव में कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर सकते। आज की ऊपर से नीचे तक समस्त सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था पराधीनता के उन बन्धनों की विशाल पैमाने की एक प्रतिकृति है जो प्रत्येक कारखानों में मजदूरों को कारखाने के स्वामियों के अधीन रखते हैं। आज का समाज आज के कारखानों के अनुरूप ही बना होता है।

जब कारखाना स्वतत्र होगा तो समाज भी स्वतत्र रहेगा और मजदूरों मे गौरव तथा स्वतन्त्रता की भावना पुन जागृत होगी ।"

"सिंडीकेलिस्टो का विश्वास था कि उनका "स्वतत्र समाज मे स्वतत्र कार्य" का आदर्श उन समुदायो में ही अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे पोषण प्राप्त कर सकता है जिनमे प्रत्यक्ष रूप मे मानवों की मौलिक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियां प्रतिबिम्बित होती हैं । अधिक स्थूल रूप मे, उनका विश्वास था कि उद्योग तथा दस्तकारियों के अनुसार सगठित, सारी मजदूर समायें, स्थानीय बूर्स (Labour Exchanges) तथा उनके राष्ट्रीय सगठन मजदूरो की क्रान्ति के सचालन तथा क्रान्ति के बाद समाज के कार्यों की व्यवस्था करने के लिये समुचित साधन हैं । इसके अतिरिक्त मजदूरों को ऐसी पद्धति से काम करना चाहिये जो उनके विशिष्ट उद्देश्यों तथा अनुभवो के अनुकूल हों । वे पूजीपतियो के सौदा करने तथा चुनाव सम्बन्धी उपायों को काम में लाकर कोई लाभ नही उठा सकते क्योंकि उनमे सम्पत्ति के स्वामियों का हित ही सम्पादित होता है । उनके काम करने की नीति मजदूर "प्रत्यक्ष कार्य" की नीति होनी चाहिये, जैसे हडताल, सम्पत्ति विनाश (Sabotage) और (इनसे कुछ कम महत्ववाले उपाय) बहिष्कार (Boycott) और लेबिल (Label) ।"[1]

हडताल (Strike) —हडताल, ध्वस तथा तोडफोड, बहिष्कार और लेबिल अर्थात् निन्दा—इन चारों उपायो मे से सघवादियों की सबसे अधिक बल हडताल (Strike) पर है, जिसे वे एक ऐसा अमोघ अस्त्र मानते हैं जिसके द्वारा मजदूर जब चाहें तब पूजीवाद की कब्र खोद सकते है । अत सघवादियो का कहना है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एक न एक दिन मजदूरो को देशव्यापी साधारण हडताल (General Strike) करनी पड़ेगी और इसके लिये प्रयोग के रूप मे उन्हें यदा-कदा अपने उद्योगों में हडताल करते रहना चाहिये । साधारण हडताल द्वारा वे मानते हैं कि आज का साधारण आर्थिक तथा औद्योगिक ढाचा चकनाचूर हो जायेगा और पूजीपति सत्ता छोडने के लिये विवश हो जायेंगे जो उनके हाथो से अपने आप मजदूरो के चरणो मे आ गिरेगी ।

यह उल्लेखनीय है कि व्यापक तथा सामान्य या साधारण हडताल का विचार सघवादियो का मौलिक विचार नहीं है । साधारण हडताल का यह विचार सघवाद को ब्लाकी (Blanqui) नामक एक फ्रेन्च सघवादी से मिला है । क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन मे हडताल का आमतौर से मुख्य स्थान रहा है । उदारवादी समाजवादियो तक ने यह माना है कि अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये वे इसका प्रयोग कर सकते हैं । लेकिन किसी भी अन्य समाजवादी विचारधारा मे हडताल का वह प्रमुख स्थान नहीं है जो उसे सघवाद मे प्राप्त है । यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि हडताल सघवाद की अन्यतम विशेषता है । 'ये' का कहना है कि 'सघवाद का वर्णन उसे आम हडताल का सिद्धान्त और प्रचार" कह कर किया जा सकता है । सी० जी० टी० ने इस विचार का बार बार समर्थन किया था । वस्तुत 'सघवादी हडताल साधारण हडताल से आवश्यक रूप मे अधिक भयानक और महत्वपूर्ण आयोजन है ।

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २४८

यह प्राथमिक रूप में मजदूरों की प्रसुप्त सामाजिक स्थिति का प्रदर्शन है। एक साथ ही अत्यन्त उपयोगी कारखानों में काम बन्द करके वे समाज के समस्त राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन को पगु बना सकते हैं और इस प्रकार उद्योग-पतियों को अपनी मांगे स्वीकार करवाने के लिये बाध्य कर सकते हैं। इस कारण विशिष्ट हड़तालों को, चाहे वे कितनी ही विशाल पैमाने पर क्यों न हों, अंतिम और व्यापक हड़ताल के लिये एक प्रकार की तैयारी और शिक्षण समझना चाहिये जिसके द्वारा मजदूर समाज के स्वामी बनेंगे।"[1] हड़तालों की शिक्षण शक्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन डाक्टर लेवाइन ने इन शब्दों में किया है—

"हड़ताल श्रमिकों को संघर्ष में उनके मौलिकों के समक्ष प्रस्तुत कर देती है। हड़ताल दामिनी की चमक की भांति गहन वैमनस्य को स्वच्छ कर देती है जो कि मालिकों तथा श्रमिकों, जो मालिकों के लिये कार्य करते हैं, के मध्य वर्तमान रहता है। इसके द्वारा मालिकों और श्रमिकों के मध्य की खाई और भी अधिक गहन हो जाती है। हड़ताल एक बड़े महत्व का क्रान्तिकारी तथ्य है।"[2]

"संघवादियों की सामान्य हड़ताल प्रसिद्ध सुपरिचित सहानुभूतिपूर्ण हड़ताल नहीं होती जिसमें मजदूरों के विविध समूह, जिनकी अपने स्वामियों के विरुद्ध कोई विशेष शिकायत नहो होती, असफल हड़ताल में लगे हुए मजदूरों की मांगों की ओर मालिकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये अपना काम बद कर देते हैं। यह सामान्य 'राजनीतिक हड़ताल' से भी भिन्न है जिसका प्रयाग किसी अन्यायी राजनीतिक व्यवस्था को हटाने तथा किसी सरकार को कुछ रियायतें देने के लिये डराने के निमित्त किया जाता है।" संघवादी हड़ताल के विशिष्ट लक्षण उस मनोभाव में जिससे उसका सचालन किया जाना चाहिये और उसके उग्र क्रान्तिकारी लक्षणो में प्रकट होना है। सघवाद के महान् विचारक सोरल (Sorel) ने आम या साधारण हड़ताल की क्षमता और सुन्दरताओं को बड़ी भव्यता से समझाया है। वह उसे समाज के काया-कल्प और यूरोप की रुग्ण आत्मा के पुनरुत्थान के लिये आवश्यक समझता था। सोरल ने कहा कि श्रमिकों को 'कल्पना' या 'अन्धविश्वास' (Myth) के सहारे चलकर सार्वभौम हड़ताल करनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक आन्दोलन के सफलता-पूर्वक चलाये जाने के लिये अन्धविश्वास का होना परम आवश्यक है।

संघवादी हड़ताल के बारे में जी० डी० एच० कोल ने लिखा है कि "प्रत्येक हड़ताल चाहे वह छोटी हो या बड़ी आम हड़ताल (General Strike) ही है। सभी हड़तालों के पीछे एक ही विचार होता है। चाहे हड़-ताल किसी दुकान, कार्यालय अथवा कारखाने में हो या वह स्थानीय शासन सस्था के विरुद्ध हो या फिर हड़ताल प्रादेशिक हो या प्रान्तीय हो या चाहे राष्ट्रीय आम हड़ताल हो, चाहे अन्तर्राष्ट्रीय हड़ताल ही क्यों न हो प्रत्येक हड़ताल के पीछे सामाजिक हड़ताल की भावना होती है जिसमें हड़तालियों के हृदय में पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २४६
2. Quoted by *Laidler* : Social and Economic Systems, P. 295

सगन होती है।" सम्भव है कि ग्राम हड़ताल देश भर के सब श्रमिकों की न हो। सघवादियों का ग्राम हड़ताल से यह आशय है कि पर्याप्त बड़ी संख्या में ऐसे श्रमिकों द्वारा हड़ताल, जो मिल उद्योगों में नियोजित हों, जिससे देश का आर्थिक जीवन अवरुद्ध हो और इस भाँति पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाय। प्रत्येक देश के आधुनिक उद्योग और इस प्रकार अन्तर्निर्भर (Interdependent) हैं कि मजदूरों की एक साधारण संख्या ही सारे ढाँचा निर्माण को पैर बैठा सकती है। उदाहरणार्थ यदि रेलगाड़ी का ड्राइवर, बन्दरगाहों के कुली, लोहा और स्पात के कारखानों में पिघलानेवाले और शीशे के कारखानों में काम करनेवाले श्रमिक हड़ताल कर दें तो समाज का सारा जीवन अस्त व्यस्त हो सकता है। सघवादी चाहते हैं कि साधारण हड़ताल उस समय की जाय जब कि मजदूरों में इतनी वर्ग चेतना आ जाय और वे उसके लिए पूरी तरह तैयार हों। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बुनियादी और महत्वपूर्ण उद्योगों में लगे हुये मजदूरों को पर्याप्त संख्या में एकदम साथ-साथ हड़ताल के लिये तैयार करना कठिन है। सरकार और पूँजीपति हड़ताल को तोड़ने के प्रयत्नों में कोई कसर नहीं उठा रखते। ओवन (Owen) की 'Grand Consolidated Union' की मालिकों, प्रेस तथा सरकार ने मिल कर धज्जियाँ उड़ा दी थी। १६१० में फ्रांस में ब्रियँ ने रेलवालों की हड़ताल भंग की थी और १६२६ में लन्दन में ग्राम हड़ताल का दुखद अन्त हुआ था। परन्तु यहाँ पर उद्देश्य ग्राम हड़ताल के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का वर्णन करना नहीं है अपितु उसका मर्म बतलाना है। सघवाद एक आन्दोलन है एक कार्य सिद्धान्त है यह विचार दर्शन नहीं है। यह प्रथम स्थान अनुभूति को देता है। ग्रे (Gray) के शब्दों में—

'सघवादियों की दृष्टि में, जो कि बेकन के इस कथन को भूलते हैं, कि वीरता अज्ञान का शिशु है, कम उद्दण्डता तथा आश्चर्य—ये सफलता की कुंजियाँ हैं, वे बिना काटे तराशे हुये दीपक तथा बिना तैयारी किये हुए सिंह को सम्मान का स्थान देते हैं।' पुनः ग्रे के ही शब्दों में, 'हड़तालें शिक्षाप्रद, अनुशासनप्रद तथा प्रतीकात्मक होती हैं। छोटी से छोटी हड़ताल यदि बार बार की जाय तो श्रमिकों में समाजवादी भावना को प्रबल करने, उनमें वीरता, त्याग व एकता की भावना को भरने तथा क्रान्ति की आशा को चिर स्थायी बनाये रखने में वह असफल नहीं हो सकती।"

ध्वंस या तोड़-फोड़ (Sabotage)—सघवादियों का यह विचार है कि जब तक सार्वभौम हड़ताल द्वारा पूँजीवाद तथा राज्य का विनाश नहीं हो जावे तब तक श्रमिकों को निरन्तर पूँजीपतियों के विरुद्ध कार्य करते रहना चाहिये और इसके लिये ध्वंस या तोड़ फोड़ की नीति उपयुक्त होगी। इसका अर्थ है कि मजदूर जानबूझ कर उत्पादन को क्षति पहुँचाते हैं ताकि मालिकों को हानि पहुँचे और वे परेशान हों। लापरवाही सुस्ती और कामचोरी द्वारा भी मालिकों को नुकसान पहुँचाया जा सकता है तथा उनकी सम्पत्ति और उद्योग का विध्वंस किया जा सकता है। तोड़फोड़ नीति का रूप Cacanny' भी है। यह स्कॉच शब्द है जिसका अर्थ है कि यदि कम वेतन मिले तो जानबूझ कर काम में आलस्य किया जाय जिससे उत्पादन कम हो। वस्तुओं

में ध्वन्स का वही उद्देश्य है जो सैनिक युद्ध में छापा मारने (Gourilla Warfare) का होता है अर्थात् मालिकों को निरन्तर परेशान व उनकी हानि ही करते रहना। कोकर ने लिखा है कि—

"सेवोटाज का अर्थ है उद्योगपति की सम्पत्ति या व्यवसाय का आलस्य-पूर्ण कार्यों, प्रमाद, तथा विनाशकारी कृत्यों द्वारा विनाश, जो उस समय किया जाता हैं जबकि मजदूर कारखाने में काम कर रहा हो अथवा हड़ताल हो रही हो। यह ढंग अहिन्सात्मक रूप भी धारण कर सकता है जहां अधिक समय तक धीरे-धीरे काम करना, कम वेतन पर खराब काम करना, उद्योग-पति के आदेशों का ऐसी बारीकी से पालन करना जिससे उत्पादन की लागत में वृद्धि हो अथवा ग्राहकों से सच्ची बात कह देना जिससे माल की बिक्री को हानि पहुँचे अथवा वह हिंसात्मक रूप भी ग्रहण कर सकती है जैसे सामग्री को नष्ट कर देना, मशीनों और औजारों को तोड़फोड देना। राष्ट्रीय मजदूर संघ (General Federation of Labour) ने १८९७ में सर्व सम्मति से सम्पत्ति विनाश और बहिष्कार की नीति को स्वीकार किया, विशेष रूप से ऐसे समय जबकि वह हड़ताल को सफल बनाने में सहायक हों और बाद के प्रस्तावों ने इस निर्णय की पुष्टि की।"[1]

तोड़फोड़ अथवा ध्वन्स को समझाते हुए एक 'Bourse of Du Travail' ने एक बार अपने सदस्यों से कहा था, 'यदि हम मिस्त्री हैं तो हम बड़ी सरलता से तनिक सी मिट्टी और रेत से अपनी मशीन को ठप्प कर सकते हैं और ऐसा करके अपने मालिक को समय तथा मूल्य के खर्च के रूप में हानि पहुंचा सकते हैं। यदि हम फर्नीचर निर्माता हैं तो हमारे लिये इससे अधिक सरल कार्य और कुछ नहीं हो सकता कि फर्नीचर को इस प्रकार खराब कर दें कि तुम्हारा मालिक पहले तो उसे देख भी न सके। एक दर्जी को एक सूट अथवा किसी कपड़े को बिगाड़ने के लिये अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं है।"

संघवाद के प्रमुखतम विचारक सोरल ने तोडफोड़ अथवा ध्वन्स का विरोध किया है और कहा है कि चूंकि श्रमिक ही इस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होंगे, अतः इस सम्पत्ति को हानि पहुँचाना श्रमिकों के लिये ही हानिकारक होगा। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के चरित्र पर भी इसका बुरा प्रभाव पडेगा।

लेबिल तथा बहिष्कार (Label & Boycott) का महत्व हड़ताल और तोड़फोड़ से कहीं कम है। इनका प्रयोग केवल संघवाद ही नही करता बल्कि सगठित श्रम ने सम्पूर्ण विश्व में ही इनका प्रयोग किया है। लेबिल इस बात को इंगित करता है कि वस्तु एक ऐसे कारखाने में बनाई गई है जिसमें कि श्रमसंघ से काम लिया जाता है। इस साधन के प्रयोग के विषय में संघवादियों का कहना है कि जनता से यह अपील की जाय और उन्हें इस बात के लिये तैयार किया जाय कि वे केवल वही सामान खरीदें जो श्रमिकों द्वारा सचालित अथवा नियंत्रित कारखानों में बना है तथा जिस पर तत्सम्बन्धी छाप अर्थात लेबिल लगा है। इससे पूंजीपतियों को हानि पहुंचेगी और श्रमिकों का कल्याण होगा। बहिष्कार शब्द से सभी भली

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पृष्ठ २५२-५३

भांति परिचित हैं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हमारा राष्ट्रीय संघर्ष का यह एक महान मन्त्र रहा है। बहिष्कार का उद्देश्य वस्तुओं का त्याग कर अथवा उन्हें न खरीद कर मिल मालिकों को नुकसान पहुंचाना है। किन्तु गांधीवादी बहिष्कार नीति तथा संघवादी बहिष्कार नीति में थोड़ा सा अन्तर है। गांधीजी के बहिष्कार की नीति विदेश माल के विरुद्ध थी और वह संघवादियों के विरुद्ध अहिंसात्मक रूप में थी।

संघवादियों के सिद्धान्तों पर चर्चा समाप्त करने के बाद इस प्रश्न पर विचार कर लेना भी प्रासंगिक दृष्टि से उपयुक्त होगा कि संघवादी साधन हिंसात्मक है या अहिंसात्मक? साधारणतया इसे हिंसात्मक माना जाता है। अपने ग्रन्थ Reflection on Violence' के अध्याय ४ में संघवाद के महान् विचारक सोरल ने लिखा है—

"जिस समय भी हम श्रमजीवी हिंसा के पीछे विचारों की निश्चित धारणा बनाने का प्रयत्न करते हैं तो हमें लाचार होकर आम हड़ताल के विचार पर लौटकर जाना पड़ता है। क्रान्तिकारी संघवादी समाजवादी कार्यवाही के उसी ढंग से तर्क करते हैं जिस ढंग से कि सैनिक लेखक युद्ध के विषय में करते हैं। वे सम्पूर्ण समाजवाद को हड़ताल तक ही सीमित रखते हैं और प्रत्येक घटना-चक्र को इस दृष्टिकोण से देखते हैं कि उसका अन्त इसी संकट में होगा। वे प्रत्येक हड़ताल में महान उथल पुथल का एक संक्षिप्त चित्र, एक निबन्ध तथा एक तैयारी के दर्शन करते हैं।

वस्तुतः, क्रान्ति, युद्ध, हड़ताल आदि जैसे शब्दों से और भाषा से यही लगता है कि संघवादियों ने अहिंसा पालन पर कहीं बल नहीं दिया है। अतः देखा जाय तो औद्योगिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष कार्यवाही को हिंसा मानना गलत है क्योंकि औद्योगिक हड़तालें पूर्णतः शान्तिपूर्ण ढंग से चलायी जा सकती हैं और इसका परिणाम हम अपने स्वातन्त्र्य आन्दोलन में देख चुके हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा गांधी ने अहमदाबाद के मिल मजदूरों की मिल मालिकों के विरुद्ध हड़ताल का संचालन पूर्णतः अहिंसात्मक रूप से किया था। लेकिन यह दुर्भाग्यसूचक है कि संघवादी हड़ताल को अहिंसात्मक रखने के अपने इरादों का कहीं प्रकट नहीं करते [illegible]
पड़ने पर हिंसा प्रयोग के [illegible]
के विचार इस विश्वास को [illegible]
अपनी मूल प्रकृति में हिंसात्मक है।

[illegible] Picture
[illegible] २–पूंजीवादी
[illegible] आक्रमण-
[illegible] त्व के तथा

राजनीतिक कार्य के निषेधों में—और अपना स्वाकृतियां [illegible] (mations) में—सीधी कार्यवाहियों की निश्चित कला में—उसका सम्बन्ध दमन करने के वर्तमान साधनों का अन्त करने के तरीकों से या अपने विनाशात्मक कार्य की सफलता के बाद सामाजिक मामलों की व्यवस्था करने के उपायों से नहीं। अतः उसने मुख्यतः क्रान्ति की नीति निर्धारित की, प्रशासन की नहीं। अधि-

कांश सिण्डिकेलिस्ट यह मानते थे कि समाज के भावी संगठन की योजना बनाना आवश्यक या सम्भव नहीं है। अभी के लिए तो मजदूरों को अपनी रक्षा तथा आक्रमण सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रेरणा तथा निर्देशन प्रदान करना ही पर्याप्त है। अधिक दार्शनिक विचारक—सोरेल तथा बर्थ का कथन था कि भावी व्यवस्था का सविस्तार चित्र उपस्थित करने से उस कल्पना और अन्तर्ज्ञान का अन्त हो जायगा जो सिण्डीकेलिज्म की शक्ति का आदि-स्त्रोत है।"[1] चीजों को अन्धकार में रखने से उनमें एक आकर्षण होता है और इसलिए मजदूरों का आकर्षण तथा उत्साह बनाये रखने के लिए इस व्यवस्था को अन्धकार में रखना ही अधिक लाभदायक है।

केवल एक ही ऐसी पुस्तक है जिसमें भावी संघवादी समाज का चित्रण किया गया है। वह दो भूतपूर्व अराजकतावादियों—पातोद (Patuad) तथा पूगे (Pouget) द्वारा लिखी गई थीं और उसका नाम है—'How We Shall Bring About the Revolution' अर्थात् "हम क्रांति किस प्रकार करेंगे?" इस कल्पना प्रधान भविष्यवाणी के अनुसार सघवादी क्रांति के उपरान्त संघवाद का स्थाई और रचनात्मक कार्य आरम्भ होगा। इस महान् कार्य को श्रमिक-संगठन (Syndicates) ही पूर्ण कर सकेंगे। प्रबन्ध के साधारण कृत्य औद्योगिक संघों के हाथों में रहेंगे, उन्हीं के अधिकार में कारखानों के भवन, मशीनें और अन्य सामग्री रहेंगी, और ये ही संघ उत्पादन के ऊपर निर्देशन-कार्य भी करेंगे। इस प्रकार उद्योगों के प्रबन्ध के लिए स्थानीय मजदूर संघ होंगे। नये समाज की सबसे छोटी इकाई (Cell) सिण्डीकेट होगा, और एक ही व्यापार में काम करनेवाले सभी कर्मचारी उसके सदस्य होंगे। कोई भी सिण्डिकेट अर्थात् श्रमिक संघ किसी भी सामूहिक सम्पत्ति का अनन्य स्वामी (Exclusive Owner) नहीं होगा। वास्तव में यह समाज की सहमति से सम्पत्ति का प्रयोग करेगा। सिण्डिकेट का शेष समाज से सम्बन्ध बूर्स और केन्द्रीय संघ (C. G. T.) द्वारा रहेगा। सिण्डिकेटों के ऊपर नगर का मजदूर संघ (City Trade Union Council—Brourse du Travail) होगा, जो स्थानीय हितों एवं देश के बीच सम्बन्ध स्थापित करेगा। यह अपने क्षेत्र के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार के आवश्यक आंकड़े एकत्रित करेगा, स्वयं को स्थानीय क्षेत्रों की आवश्यकताओं और साधनों से सूचित रखेगा, उत्पन्न की हुई वस्तुओं का वितरण करेगा, विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों के बीच उत्पन्न की हुई वस्तुओ के विनिमय तथा बाहर से कच्चे माल के मगाने का प्रबन्ध करेगा। इस प्रकार केन्द्रीय राजनीतिक पद्धति का नाश होगा और उद्योगों में केन्द्रीयकरण की ओर प्रवृतियों के दोष दूर होंगे।"[2]

इसके अतिरिक्त डाकघरों, रेलों, राज-मार्गों आदि जैसी राष्ट्रीय सेवाओं का कार्य श्रमिकों के राष्ट्रीय या केन्द्रीय संघों को सौंपा जायगा।

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २५५-५६
2. "It will destroy the centralised political system of the present state and will counter-balance the centralising tendencies of industries."
   —*Laidler* : Social Economic Movements, P. 298

स्थानीय संस्थाओं को प्राविधिक सूचना (Technical Information) और कुशल परामर्श देने के लिए अन्य राष्ट्रीय या केन्द्रीय संघ होंगे। अन्ततः एक ऐसी राष्ट्रीय या केन्द्रीय संस्था होगी (जिसका स्वरूप विद्यमान 'CGT' के समान होगा) जिसे सर्वमान्य व्यवहार के कार्यों का निर्णय करने का भार सौंपा जायगा, जैसे वेतनों का निश्चय, कार्य के घंटों की संख्या, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों की देखभाल आदि।

पूर्वोक्त पुस्तक के लेखकों ने श्रमसंघवादी समाज के सदस्यों के मानव विरोधी और समाज विरोधी कार्यों के विरुद्ध कतिपय अनुशासनीय दण्डों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु ये दण्ड राज्य की प्रतिरोधक अधिकार शक्ति की तुलना मे सर्वथा भिन्न रूप के होंगे। "मुनाफाखोरों का बहिष्कार किया जायगा और आलसी व्यक्तियों अथवा समाज की नई व्यवस्था का विरोध करनेवालों को निर्वासित कर दिया जावेगा। अपने किसी सदस्य के 'मानव विरोधी कार्यों' के सम्बन्ध मे प्रत्येक स्थानीय सघ को अपना निर्णय देने का अधिकार होगा। वह 'नैतिक दंड' की आज्ञा दे सकेगा। वह बहिष्कार के रूप मे हो सकेगी। कुछ विशेष मामलों मे अपराधी मजदूर सघो की सामान्य सभा (General Meeting) मे पेश किये जा सकेंगे, जिसमे निर्वासन का दण्ड दिया जा सकता है। किन्तु अभियुक्त को राष्ट्रीय मजदूर सघ के समक्ष और अन्त मे जनरल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की केन्द्रीय समिति के समक्ष अपील करने का अधिकार होगा। कुछ घोर अपराधों का निर्णय प्रत्यक्ष-साक्षियो द्वारा दिये गये तात्कालिक न्याय द्वारा किया जायेगा। *बन्दीगृह तथा* न्यायालय तोड दिये जायेंगे क्योंकि अपराध इस कारण बहुत कम हो जायेंगे कि दरिद्रता असमानता तथा पूंजीवाद के दुष्कर्मों से उत्पन्न समाज विरोधी *कार्यों के लिए कोई अवसर नही मिलेगा। सामाजिक वातावरण के श्रेष्ठ* बन जाने से ऐसे अपराध भी बहुत कम हो जायेंगे जो प्राय मनोवैज्ञानिक दोषो तथा मानसिक रोगों के कारण होते हैं।"[1]

श्रम सघवादी लेखक किसी प्रकार के विदेशी आक्रमण के विरुद्ध समुचित प्रतिरक्षा की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि श्रमसघवादी नीति 'टॉल्स्टाय द्वारा प्रचारित पद-त्याग और प्रतिरोध–हीनता"[2] की नहीं है किन्तु प्रतिरक्षा प्रबन्ध आधुनिक राज्यों के वर्तमान प्रबन्धों से मूलत भिन्न होंगे। न तो कोई वैतनिक सेना होगी और न ही आक्रमणकारी सशस्त्र सैन्य दल और न बहुत बड़े परिमाण मे गोला–बन्दूक या बारूद आदि। श्रमसघवादी समाज के विविध सिण्डिकेटों के पास अपनी स्वय सेवक सेनाएं रहेंगी, जो जहा आवश्यकतानुसार स्थानीय क्षेत्र मे शान्ति एव व्यवस्था कायम करने का कार्य करेंगी वहा साथ ही जब कभी जरूरत पडे तो अधिक व्यापक क्षेत्र मे भी उनका प्रयोग किया जा सकेगा। अपने कार्य को स्वतन्त्र बना लेने के पश्चात जनता मे इतनी साधारण बुद्धि होगी कि वे अपनी विजित स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए स्वय शस्त्र धारण

1. कोकर—आधुनिक राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ २५६-५७
2. *Joad* : Introduction to Modern Political Theory, P 69

करें। संघवादी भावी समाज के चित्र को सारांश में प्रस्तुत करते हुए गैटल (Gettel) ने लिखा है कि, "प्रस्तावित सामाजिक व्यवस्था की ये विशेपतायें होंगी—अत्यधिक विकेन्द्रीयकरण और अति सीमित नियत्रण, अलग-अलग व्यवसायों के साथ शक्तियों के प्रथक्करण में आधुनिक बहुलवादी प्रवृत्ति और नियंत्रण की ढ़िलाई में यह अराजकवादी व्यक्तिवाद के आन्दोलन का प्रतीक है, आर्थिक इकाइयों को संगठन का आधार मानने में यह गिल्ड समाजवादी तथा सोवियत पद्धतियों से मिलता है, और इसका आदर्श एक प्रकार से आर्थिक संघवाद व मजदूरों का नियन्त्रण तथा पूंजीवादी शासन के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का शासन (अथवा स्वशासन) है।"[1] श्रमसघवादी समाज के इस वर्णन के प्रसंग मे यह नहीं भूलना चाहिये कि अधिकांश सघवादी लेखक समाज के भावी संगठन का चित्रण करना व्यर्थ और असामयिक मानते हैं। कुछ लेखकों ने स्थानीय मजदूर-समासंघों, रोजगार कार्यालयों और राष्ट्रीय मजदूर संघ के बीच विविध प्रकार के कार्यों का वितरण किया है। यह कार्य विभाजन उसी प्रकार का है जिसका उल्लेख पातोद तथा पूगे ने किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा अन्य उपयोगी सेवाओं के सम्बन्ध में मजदूर संघों का कार्य अधिक स्पष्टता से रखा है। बाहरी आक्रमणों, अपराधों तथा विद्रोह के दमन के सम्बन्ध मे साधारणतया कुछ भी नहीं कहा गया है।[2]

संघवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Estimate of Syndicalism)—सघवाद का उपर्युक्त सिद्धान्त फ्रान्स की औद्योगिक क्रान्ति से प्रभावित होने के कारण इतना अधिक क्रान्तिकारी और उग्र है कि वह व्यावहारिक न हो सका और इसी कारण फ्रान्स में पैदा होने के कुछ समय बाद ही इसकी मृत्यु हो गई। लेखकगण इस पर आवश्यकता से अधिक सिद्धान्तवादी (Doctrinaire), चरमतावादी (Extremist) तथा अति तर्कपूर्ण (Too logical) होने का आरोप लगाते हैं। उनका कहना है कि इन गंभीर दुर्बलताओं के कारण ही सघवाद एक लोकप्रिय विचारधारा नही बन सका है।

आलोचकों के मतानुसार संघवाद एक बहुत ही संकुचित दर्शन है जो केवल उत्पादक के हित और स्वार्थ की चिन्ता तो करते हैं, लेकिन समान रूप से महत्वपूर्ण उपभोक्ताओं को भूल जाते हैं। इस तरह यह अन्यायपूर्ण और पक्षपातपूर्ण है। आखिर उपभोक्ता लोग भी समाज में उतने ही महत्वपूर्ण अंग हैं जितने कि उत्पादक लोग, अतः उनके हितों की रक्षा होना भी समान रूप से आवश्यक है।

संघवाद का यह निश्चित मत है कि हिन्सक और आकस्मिक क्रान्ति के विना धन, जन तथा सम्पत्ति की एक भारी हानि नहीं हो सकती। किन्तु यह एक अतिविनाशकारी धारणा है और साथ ही खुद के पैरों में कुल्हाड़ी मारने वाली कहावत को चरितार्थ करती है। यदि मजदूरों की विजय हो भी गई तो भी ऐसी स्थिति में उनको यह विजय बहुत मंहगी पड़ेगी। फिर

---

1. *R. G. Gettel* : Political Science (1950) P. 410
2 कोकर—वही पृष्ठ २५७

समाज की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये यह कोई कठिन और असम्भव बात नहीं है कि श्रमिक वैधानिक उपायों द्वारा भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकें। हिंसा द्वारा पाये जानेवाले इन्हीं उद्देश्यों को वे वैधानिक आन्दोलन द्वारा भी पा सकते हैं। अत "एक साधारण चुनाव" के कभी भी अधिक दूर न रहने पर आम हडताल की सोचना एकदम अनावश्यक है (A general Strike is unnecessary because a General Election is never far off).

इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि हडताल निश्चित रूप से सफल ही हो। यह माना कि हडताल द्वारा श्रमिक पूंजीवादी व्यवस्था को झकझोर सकते हैं, लेकिन यह भी हो सकता है कि उनमें आपस में ही फूट पड जाय या हडताल के समय अपनी आर्थिक स्थिति बिगड जाने पर उन्हें स्वय को हडताल तोडने के लिये बाध्य होना पडे। इतिहास में ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। साथ ही राज्य के पास सेना और पुलिस जैसी शक्तियां हैं जो किसी भी बडे से बडे आन्दोलन को कुचल सकती हैं। स्पष्ट है कि सघवादियों द्वारा यह माना जाना कि साधारण या आम हडताल द्वारा उनकी जीत निश्चित है जरूरत से ज्यादा आशावादी बनाना है। सघवादी यह भी भूल जाते हैं कि असफल हडताल मजदूरों को पतन की ओर ले जा सकती है। अपनी हार के बाद मजदूर वर्ग मे इतनी भीषण निराशा आ जायेगी कि वे हमेशा के लिये अपनी हार मान लेंगे और पूंजीपतियों के सामने आत्मसमर्पण कर देंगे। दूसरी ओर विजयी पूंजीवादी वर्ग उनकी धृष्टता से झुंझला उठेगा और उनसे कठोरतापूर्वक बदला लेते हुये उनकी हालत को और भी अधिक दयनीय बना देगा।

सघवाद की एक अन्य गम्भीर दुर्बलता यह है कि वह अपने समाज का कोई स्पष्ट चित्रण नहीं करता। सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भी विचारधारा तब तक पूर्ण और सफल विचारधारा नही कही जा सकती जब तक कि उसके उद्देश्य स्पष्ट न हो। श्रमिको की भावनाओं से खिलवाड करके उन्हें एक उद्देश्यहीन पथ पर ले जाना उचित नही कहा जा सकता। आखिर किसी भी स्थान तक पहुंचने के लिये एक काल्पनिक चित्र का होना जरूरी है क्योंकि ऐसा चित्र ही श्रमिको मे उत्साह और प्रेरणा का मत्र फूंक सकता है, अन्यथा वे अन्धकार मे भटकते हुये राही बन जायेंगे और अपने धुंधले स्वप्न का मार्ग भी भूल जायेंगे। हडताल के अतिरिक्त सघवादियों के पूंजीवाद को समाप्त करने के लिये जो अन्य उपाय हैं वे राष्ट्र के लिये घातक हैं। ठीक तरह से काम न करने से अथवा धीरे २ काम करने से अथवा मशीन तोड़-फोड देने से देश का उत्पादन प्रभावित होगा, राष्ट्र को आर्थिक हानि होगी और पूंजीपतियो से ज्यादा उन श्रमिकों का ही अहित होगा जिन्हें वस्तुओं के मूल्य बढ जाने पर अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं के ही अधिक दाम चुकाने पडेगे। सघवाद का उद्देश्य समाज को छोटे २ सघों मे सगठित कर उत्पादक वर्ग को शासन सत्ता दिलाना है। यह कार्य केवल राज्य की सहायता से ही सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। लेकिन सघवाद तो राज्य का विरोधी है और अपने दर्शन म राज्य को कोई स्थान नहीं देता। यह कहना अनावश्यक है कि राज्य के अभाव मे एक शान्त और सुव्यवस्थित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती समाज मे, राज्य के अभाव में, जब कदम कदम पर सघों मे

पारस्परिक संघर्ष होगा तो उसका स्वाभाविक परिणाम अराजकता (Anarchy) हो जायेगा।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि संघवाद के गम्भीर दोषों के मुख्य स्त्रोत ये हैं कि यह राज्य, जनतंत्र और संसदीय प्रणाली का अतिशय विरोध करता है, उपभोक्ता के दृष्टिकोण के महत्व को न पहचानने की भूल करता है और इसका स्वरूप बुद्धि विरोधी है। संघवाद इतना राज्य विरोधी, इतना जनतंत्र विरोधी और इतना बुद्धि विरोधी बन जाने के कारण ही सर्व साधारण को कभी प्रभावित न कर सका और यह एक विचारधारा के रूप में अलोकप्रिय सिद्ध हुआ। लन्दन स्कूल आफ इकनोमिक्स के प्रोफेसर रोबंसन की धारणा है कि संघवाद का शीघ्र ही अन्त इसलिये हुआ क्योंकि उसका "दार्शनिक आधार अरक्षित था, उसके प्रतिपादकों का बौद्धिक स्तर साधारण था और उसका कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं था।" संघवाद ने सर्वहारावाद (Totalitarianism) के रूप में मानवता को एक कटुथाती दी है।

रैम्जे मैक्डोनेल्ड ने यह सही कहा है कि, "समाज परिवर्तन की एक प्रक्रिया है तथा श्रमिक जो अपेक्षाकृत बड़े न्याय के लिये परिश्रम करते हैं, वे अपनी भूलों के द्वारा प्रगति में बाधा प्रस्तुत करते हैं। चाहिए तो यह कि वे अपनी मुक्ति के लिए सामाजिक प्रवृत्तियों को दृढ़ करें। समाज की रचनात्मक शक्ति तोड़फोड़ से न तो प्रकट ही की जा सकती है और न ही दृढ़। इसी प्रकार दंगों, औद्योगिक पूंजी के नाश तथा श्रमसंघवादी कार्यक्रम के किसी अन्य छोटे हिंसापूर्ण कार्य से भी हानि होती है लाभ नहीं।"

यद्यपि संघवाद दोषों का पिटारा है किन्तु यह गुणों से सर्वथा रहित नहीं है। इसके गुणों का वर्णन बर्टेण्ड रसल ने बड़ी सुन्दरता से निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"संघवाद का व्यावहारिकता के विषय में कुछ भी विचार क्यों न हो, किन्तु इसमें कोई संशय नहीं कि इसने श्रमिक आन्दोलन को पुन: जीवित करने और उसे उन सिद्धान्तों की याद दिलाने के लिए बहुत कुछ किया जिनके भुलाये जाने का खतरा था। संघवाद मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में नहीं, बल्कि उत्पादक के रूप में देखता है। संघवादियों की दिलचस्पी भौतिक सुखों की उपलब्धि करने के बजाय कार्य में स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अधिक है। उसने उस स्वतंत्रता की खोज को पुन:-जीवित किया है जो संसदीय समाजवाद के शासन में धूमिल पड़ती जा रही थी। वह मनुष्य को यह स्मरण कराता है कि हमारे समाज को जिस चीज की आवश्यकता है वह जहां तहां सुधार करना नहीं है और न ही उस प्रकार का तालमेल स्थापित करना है जिसके लिये वर्तमान शक्ति प्रभु एकदम तैयार हो सकते हैं, बल्कि एक आमूलचूल पुन: निर्माण है, दमन के समस्त कारणों को हटाना है, मानव की रचना-शक्ति को स्वतंत्र करना है और उत्पादन को एवम् आर्थिक सम्बन्धों को विनियमित करने का एक पूर्ण रूपेण नवीन उपाय सोचना है। यह गुण इतना महान् है कि इसके सामने समस्त छोटे-मोटे दोष नगण्य हो जाते हैं और यह गुण संघवाद में हमेशा रहेगा, यदि यह मान भी लिया जाये कि एक निश्चित आन्दोलन के रूप में वह युद्ध के साथ ही साथ समाप्त हो गया।"[1]

---

1. *Bertrand Russel* : Roads to Freedom, P. 95

लेडलर का मत है कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में होनेवाले संघवादी आन्दोलन का समाजवादी विचारधारा पर महान् स्फूर्तिदायक प्रभाव पड़ा तथा दूसरी ओर संसदीय पद्धति की दुर्बलताओं के सम्बन्ध में इसके द्वारा पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया गया। साथ ही इसने अनियंत्रित 'राज्य समाजवाद' के अनौचित्य पर भी प्रकाश डाला। इसके अतिरिक्त ट्रेड यूनियन आंदोलन की सम्भावनाओं, व्यापारिक कलहों में श्रमिकों के हाथों में अनेक साधनों की उपलब्धि तथा एक नई सामाजिक व्यवस्था के नियन्त्रण में उत्पादकों के महत्त्व के सम्बन्ध में इस आन्दोलन ने काफी ध्यान आकर्षित किया। दूसरी ओर इससे एक नई समाजवादी विचारधारा के विकास को स्फूर्ति प्राप्त हुई जिसे श्रेणी समाजवाद का नाम दिया जाता है इसे पुराने समाजवाद तथा श्रम संघवाद के मध्य मार्ग अथवा समझौते के रूप में ग्रहण किया गया तथा इसके चिन्ह प्रारम्भिक बोल्शेविक आन्दोलन में देखे जा सकते हैं। इसमें सैनिक अल्पमत के महत्व पर बल दिया जाता है तथा प्रजातन्त्र के लिये इसने घृणा की भावना है। यह सामाजिक परिवर्तनों के साधनों में विश्वास रखता है तथा यह सोवियतों के द्वारा श्रमिकों के नियन्त्रण पर बल देता है।

संघवाद और साम्यवाद तथा अराजकतावाद (Syndicalism Vs. Communism and Anarchism)—प्रसंगवश संक्षेप में यह देखना रोचक होगा कि संघवाद साम्यवाद और अराजकतावाद से कहां तक मिलता है और इनसे कहां तक भिन्न है। इन समानताओं और विभिन्नताओं की रूपरेखा मात्र खींचते हुए यह कहा जा सकता है कि संघवाद और साम्यवाद दोनों ही दर्शन मार्क्सवाद से प्रेरित हैं, क्रान्तिकारी उपायों का समर्थन करते हैं, पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध है पूंजी को एक प्रकार की चोरी मानते हैं, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को दोषी मानते हैं, राज्य को पूंजीवादी और वर्ग व्यवस्था का प्रतीक मानते हैं तथा अन्तिम रूप में राज्य तक का पूर्ण विनाश और अन्त चाहते हैं और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की आवश्यकता पर बल देते हैं। अन्तर की दृष्टि से संघवाद केवल उत्पादक वर्ग की सत्ता को ही स्वीकार करता है जबकि मार्क्स के अनुसार "Proletariat" शब्द एक बड़ा व्यापक शब्द है, संघवाद एक अव्यवस्थित औद्योगिक क्रान्ति है जबकि मार्क्सवाद एक राजनैतिक आंदोलन है, संघवाद साधारण हड़ताल द्वारा राज्य को एकदम समाप्त करना चाहता है जबकि साम्यवाद यानी मार्क्सवाद के अनुसार राज्य धीरे-धीरे लुप्त होगा। संघवाद मार्क्स के आर्थिक और राजनैतिक भाग्यवाद को भी नहीं मानता और संघवाद में जहां अन्त प्रेरणा जैसे रहस्यात्मक तत्वों का समावेश है वहां साम्यवाद ऐसे तत्वों के बिल्कुल विरुद्ध है।

संघवाद और अराजकतावाद दोनों ही राज्य के तत्कालीन उन्मूलन में विश्वास करते हैं, वैधानिक और संसदात्मक उपायों का निषेध करते हैं, हिंसात्मक और क्रान्तिकारी हैं, व्यावसायिक संघों के संगठन में विश्वास करते हैं और स्थानीय संघों की स्वतन्त्रता में आस्था रखते हैं। अन्तर की दृष्टि से संघवाद राज्य के प्रति अराजकतावादियों की अपेक्षा कुछ अधिक उदारवादी है। संघवाद आद्योपान्त श्रमिक आन्दोलन है जबकि अराजकतावाद मध्य-

वर्गीय लेखकों के मस्तिष्क की उपज है, संघवाद की अपेक्षा अराजकतावाद उत्पादक और उपभोक्ताओं के हितों में सामन्जस्य कराना चाहता है संघवाद का क्रान्तिकारी प्रभाव मुख्यतया फ्रांस में हुआ जब कि अराजकतावाद का प्रभाव केवल रूस तक ही सीमित रहा और अन्त में संघवादियों का कार्यक्रम अराजकतावादियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

फ्रांस में 'नवीन श्रमसंघवाद' एवम् संघवाद का विदेशों में प्रभाव

(New Syndicalism' in France and Influence of Syndicalism in other Countries)

फ्रांस में संकलित संघवाद के स्वरूप और उसकी नीति पर प्रथम विश्व युद्ध एवम् युद्धोत्तर स्थिति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उसमें अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। राष्ट्रीय श्रम सघ के अधिकांश सदस्यों ने अपनी सैनिक मनोवृत्ति को त्याग कर समाजवाद के साथ समझौता कर लिया और विभिन्न आर्थिक कार्यों में सरकार को सहयोग दिया। युद्ध समाप्त होने पर सामाजिक एवम् आर्थिक संगठनों के कारण संघवाद के दो समूहों–नर्म दलीय राष्ट्रवादी बहुमत और उग्र अल्पमत में द्वेप उत्पन्न हो जाने के कारण सम्बन्ध विच्छेद हो गया। दोनों में मतभेद राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में था। यद्यपि दोनों ही इस बात पर एकमत थे कि राज-बन्दियों की मुक्ति हो, यूरोप की अनुदार प्रतिक्रिया की आलोचना हो और रूसी प्रतिक्रान्तिवादियों की सहायता के लिए फ्रेंच हस्तक्षेप की निन्दा हो, किन्तु इस प्रश्न पर दोनों में तीव्र मतभेद था कि रूसी साम्यवादियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाय। राष्ट्रीय मामलों में मतभेद वैधानिक स्वतन्त्रता के पुनः स्थापन एवम् जीवन-स्तर को उच्च बनाने की दृष्टि से उचित व्यवस्था करने के लिए सरकार पर दबाव डालने के उपायों के सम्बन्ध में थे। जनवरी १९२२ में फेडरेशन के दोनों पक्ष अलग हो गये, उग्रवादी दल ने अल्प मत में होने के कारण एक नये संगठन की रचना की जो 'संयुक्त मजदूरों का सामान्य संघ' (General Federation of United Labour—C. G. T. U.) के नाम से विख्यात हुआ। इस नवीन संघ ने साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (Communist International) के क्रान्तिवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया। अब उसका सम्बन्ध नियमित रूप से साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय से है। पुरानी संस्थाओं ने हर प्रकार के क्रान्तिवादी तरीकों को तिलांजलि दे दी है।

पुराने राष्ट्रीय मजदूर संघ (C. G T.) की नवीन नीतियों पर जूहो (Jouhaux), पेरो (Perrot) एवम् अन्य लोगों ने अपने व्याख्यानों तथा अखबारी लेखों में प्रकाश डाला है। इस नवीन आन्दोलन के दर्शन का विस्तृत विवरण मेक्सिम लेराय (Maxime Leroy) ने अपनी पुस्तक में 'Techniques Nouvelles du Syndicalism' में दिया है। इन लेखकों ने और विचारकों ने इस नवीन सिद्धान्त को प्राचीन संघवादी विचारों से अधिक व्यापक तथा रचनात्मक बतलाया है। नवीन संघवादी पुराने संघवादियों की निषेधात्मक और विनाशात्मक नीतियों के स्थान पर रचनात्मक तथा सर्वांगपूर्ण नीतियों की स्थापना करना चाहते हैं। ये हिंसा और अधिनायकतन्त्र

की निन्दा करते हुए ही कहते हैं कि हिंसा में कुछ भी सर्वहारापन नहीं है। हिंसा तो हर युग में उपद्रवकारियों के कार्यों का साधन रही है। हिंसा को विवेक से सीमित करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह आवश्यक रूप में विवेक और उदारता का निषेध है।

"नवीन संघवादियों ने उद्योग के सहकारी नियन्त्रण के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत किये हैं। फेडरेशन की समितियों ने उपभोक्ताओं की संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा सरकारी कर्मचारियों के संगठनों के सहयोग से सार्वजनिक और व्यक्तिगत उद्योगों के प्रबन्ध के लिए योजनायें तैयार की हैं। प्रत्येक सार्वजनिक स्वामित्व के अधीनस्थ उद्योग के प्रबन्ध के लिए योजना में तीन पक्षों का समान रूप से प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया है—(१) उत्पादनकर्त्ता, अर्थात् समस्त हाथ से काम करनेवाले तथा टेक्नीकल श्रमिक, (२) उपभोक्ता, एवम् (३) जनता। व्यक्तिगत उद्योगों के लिए उन्होंने उद्योगपतियों और मजदूरों के संयुक्त प्रबन्ध की व्यवस्था की है। इन योजनाओं में सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के उद्योगों में मजदूरों के हड़ताल के अधिकार को कायम रखा है। लेराँय स्वीकार करता है कि प्रस्तावित योजना में हड़ताल का स्थान सैद्धांतिक रूप में समुचित नहीं है क्योंकि इसका अर्थ है एक दल को उस निर्णय का विरोध करने का अधिकार देना जो किसी एक स्वार्थी गुट ने नहीं बल्कि समस्त वर्गों के प्रतिनिधियों ने किया है। उसका कथन है कि इस योजना में हड़ताल एक उचित शक्ति के प्रयोग की रक्षा करने के लिए नहीं बल्कि इसलिए रखी गई है कि मजदूर वर्ग के, जो अपने को उस समय तक स्वतन्त्र नहीं मानता जब तक कि वह इस साधन के प्रयोग में स्वतन्त्र न हो, एक मौलिक विश्वास को संतोष मिले।"[1]

"यह नवीन संघवाद ४ दशाब्दी पूर्व के वाल्डेक–रूसो के विचार से मिलता जुलता है। जूहो और लेराय की योजना में राज्य से मजदूर संगठनों के निरीक्षण और उनके साथ सहयोग की अपेक्षा की जाती है। इस योजना में एक ओर तो शान्ति व्यवस्था तथा न्याय का कार्य करनेवाले शासन संगठन और दूसरी ओर निरीक्षणात्मक आर्थिक तथा सांस्कृतिक कार्यों को करनेवाली राज्य की एजेंसियों के बीच कार्य विभाजन किया गया है, यद्यपि विभाजन की विधि प्रकाशित योजनाओं में स्पष्ट रूप से नहीं बतलाई गई है। इस प्रकार युद्धोत्तर संघवादी लोग, साधारण सामाजिक हितों और राजनीतिक सत्ता को जो इन हितों की रक्षा करती है और उनका प्रतिनिधित्व करती है, महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।"[2]

नवीन संघवादियों की योजना क्या है और भावी संघवादी राज्य कैसा होगा इसको भी कोकर ने संक्षेप में किन्तु अत्यन्त स्पष्टता से चित्रित किया है, अतः पुनः उन्हीं के शब्दों का इस सम्बन्ध में हम उद्धृत करते हैं—

"सबसे प्रथम वे समस्त उद्योगों के ऊपर एक राष्ट्रीय तथा व्यापक रूप से प्रतिनिधि आर्थिक परिषद (National Economic Council) की

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २६८–६९
2 वही, पृष्ठ २६९

स्थापना करेंगे जिसका काम उत्पादन तथा वितरण के संगठन के लिये सामान्य योजनायें तैयार करना और विविध उद्योगों का सचालन करनेवाली विविध सस्थाओं द्वारा प्रस्तावित प्रबन्ध सम्बन्धी नीतियों को स्वीकार या अस्वीकार करना होगा। दूसरे, वे राज्य का पुनर्गठन करेंगे, और उसके कार्यों में शोधन करेंगे और आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन करके बल प्रयोग के लिये अवसरों को भी कम से कम कर देंगे। वे यह स्वीकार करते है कि नागरिकों में हितों का संघर्ष होगा और इसलिये उनके विवादों के निर्णय के लिये न्याय पचायतें (Tribunals) तथा उन निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये भी दूसरी संस्थायें होगी, जिनको आवश्यकता पड़ने पर बल प्रयोग करने की सत्ता होगी। सैनिक सुरक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्धो की व्यवस्था के लिये राज्य की भी आवश्यकता होगी। किन्तु भावी संघवादी राज्य के सबसे महत्वपूर्ण कार्य एक ओर तो सामूहिक हितों के प्रतिनिधियों को चुनकर उत्पादन की व्यवस्था में सहयोग देना होगा और दूसरी ओर जनता को आनन्द, कलात्मक अभिव्यक्ति एवं शिक्षा के साधन प्रदान करना तथा नाना प्रकार के अन्वेषण, अनुसधान आदि को प्रोत्साहन देना होगा। इस प्रकार राज्य अपने समस्त कानूनों एवं सेवाओं द्वारा नवीन कार्य आरम्भ करने, अन्वेषण करने तथा आर्थिक क्षेत्रों में परम्परा के विरुद्ध कार्य करने में प्रोत्साहन देगा और इसमे वह उसी उत्साह से कार्य करेगा, जिस उत्साह से परम्परागत राज्य स्वतंत्रता तथा नवीनता के दमन के लिये कार्य करता है। वह प्रतिबन्ध लगाने के स्थान पर मार्ग-दर्शन करेगा और उसका व्यवस्थापन (Legislation) आदेश देने के स्थान पर प्रबोधन का स्थान बन जायेगा।"

संघवादी विचारक
(Syndicalist Thinkers)

वैसे तो संघवादी सिद्धान्तों तथा योजनाओं के विषय में लिखनेवाले अनेकों विचारक हुए हैं और अनेकों लोगों ने ही व्यावहारिक क्षेत्र (Practical Field) में इस आन्दोलन का नेतृत्व किया है, किन्तु इनमें वे लोग जिन्हे इसकी सफलता का पूरा श्रेय है, सोरल (Sorel) और पिलोटेयर (Pelloutier) है। फ्रान्स के बाहर भी संघवाद का प्रचार हुआ था और प्रसिद्ध विचारक (Lagarddle) तथा बर्थ (Berth) के अतिरिक्त इटली में मालटसता (Malatasta) यू. एस. ए. में डेलियोन (Deleon) स्पेन में डुरुत्ती (Durutti) तथा आयरलैण्ड मे कोनोल्ली (Conolly) आदि कुछ ऐसे विदेशी विचारक भी हैं, जिन्होंने संघवादी सिद्धान्त तथा आन्दोलन– दोनों में सक्रिय योग दिया है।

पिलोटेयर (Pelloutier)—यह संघवादी आन्दोलन के जन्मदाताओं में से एक था और संघवादी सिद्धान्त के विषय मे अधिक लिखने की अपेक्षा इसने संघवादी आन्दोलन को फ्रांस तथा यूरोप मे सबल बनाने के लिए सरतोड़ कोशिश की थी। केन्द्रीय श्रमसंघ (C. G. T.) की स्थापना केवल इसी के प्रयासो से हुई थी। पिलोटेयर किसी भी संसदीय प्रणाली (Parliamentary Method) में विश्वास नहीं करता था और उसकी यह दृढ़ धारणा थी कि मजदूर लोग अपना भाग अपने संयुक्त परिश्रम तथा प्रयत्नों द्वारा ही ऊंचा

उठा सकते हैं। इसके लिए वह मानता है कि उन्हें राष्ट्र के अन्य लोगों से मिलकर काम करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि देश की राजनीति में भाग लेना उनके अपने ही हित में अच्छा नहीं होगा। अतः उन्हें चाहिए कि वे आपस में मिलकर मजदूर संघ स्थापित करें और अपनी स्थिति को उन्नत बनाने के लिए सहयोग से काम लें।

सोरल (Sorel, 1847–1922)—सोरल श्रमिक वर्ग का लेखक होते हुए भी स्वयं श्रमिक नहीं था। उसका शिक्षण एक पॉलिटेक्निक स्कूल में हुआ और उसने २५ वर्ष तक एक सरकारी इंजीनियर के रूप में कार्य किया। वह विचारक अधिक था और २५ वर्ष के लम्बे इंजीनियरिंग की जीवन चर्या में तथा कथित उच्च वर्ग (So-called Bourgeoisie) के लोगों के सम्पर्क में आने से उसमें उनके प्रति तीव्र क्रोध और घृणा की भावना उत्पन्न होगई। उसे कार्लमार्क्स की विचार के वैज्ञानिक स्वरूप के कारण मार्क्सवाद में रुचि उत्पन्न हुई। किन्तु १८९९ में उसने समाजवाद को त्याग दिया और वह समाजवादी से एकदम संघवादी (Syndicalist) बन गया। यद्यपि सोरल ने संघवादी आन्दोलन में कभी भाग नहीं लिया और उससे लगभग विलग रहा और उसने तथा लेगारडेले (Lagardelle)ने समान रूप से यह घोषणा की कि उन्हें श्रमिक वर्ग को कुछ सीखाना नहीं है बल्कि उनसे कुछ सीखना ही है फिर भी एक प्रवृति बन गई है कि सोरल और संघवाद को एकरूप माना जाये और सोम्बार्ट का यह कहना सही है कि यदि और कहीं नहीं तो संघवाद में हम 'सोरलवाद' के संकेत मिलते हैं। सोरल की प्रसिद्ध रचना 'Reflection of Violence' एक ऐसी पुस्तक है जिसमें वह प्रजातंत्र तथा मध्यम वर्ग के लोगों के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करता है। एक विचारक के रूप में वह बुद्धिवाद (Intellectualism) तथा विचारशीलता (Rationalism) दोनों का विरोधी था और इसी कारण मुसोलिनी ने उसे 'फासिज्म का उत्प्रेरक' (Inspire of Fascism) कहा है।

सोरल का मत था कि मार्क्स के सिद्धान्त को संघवादी सिद्धान्त के बिना और संघवादी सिद्धान्त को मार्क्स के बिना नहीं समझा जा सकता। सोरल ने राज्य की पूर्णरूप से अवहेलना की। वह राजनीतिक कार्यों से कोई लाभ नहीं समझता था चाहे उनके द्वारा श्रमिकों का राज्य पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाये। उसका मुख्य उद्देश्य उद्योगों में स्वशासन स्थापित करने के लिये श्रमिक वर्ग का संगठन करना था। इस संगठन को वह राज्य से पृथक

1. "Georges Sorel (1847-1922) the most conspicuous of the ... n the movement, re- ... and ... ch, ... ure ... ter. ... di- Yet there has been a tendency to ... calism and indeed in Sombart, if no where else, we have hints of 'Soralism'"
—*Alexander Gray*. The 'Socialist Tradition', P. 409

रखना चाहता था जिसको राजनीतिक मामलों में कोई भाग नहीं लेना था। वह राज्य को नष्ट करके एक नया सामाजिक ढांचा स्थापित करना चाहता था जिसमें स्वतन्त्रता प्राप्त आर्थिक वर्ग हों। कोकर ने लिखा है कि "सोरल के समस्त लेखों एवं ग्रंथों में राजनीतिक कार्य की व्यर्थता तथा इस प्रजातांत्रिक विश्वास की असत्यता प्रकट की गई है कि मानव हितों में ऐसी मौलिक एकता है जो पूंजीवादी समाज के विविध आर्थिक वर्गों के परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित कर सकती है।"

सोरल का विश्वास था कि सामाजिक वर्गों में सांस्कृतिक विभिन्नता और आर्थिक भेद होते हैं। प्रत्येक वग अपने स्वयं की सामाजिक विशेपताओं, स्वयं के नैतिक शास्त्र तथा स्वयं के कार्य करने के साधनों का विकास करता है। धनी वर्ग इस कार्य के लिये राज्य का प्रयोग करता है और सैनिक शक्ति व निर्वाचन की चालों के द्वारा राज्य पर अपना नियन्त्रण करके राज्य के माध्यम से श्रमिक वर्ग पर अपना नियंत्रण जमाता है। मध्यवर्गों के हाथों से निकल कर राज्य पर श्रमिक वर्ग का अधिकार हो जाने से श्रमिक वर्ग का कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि राज्य श्रमिक-वर्गीय शासन के जरा भी उपयुक्त नहीं है। राज्य के स्थान पर एक ऐसा नया सामाजिक ढांचा प्रतिष्ठित करना उपयुक्त है जो श्रमिक वर्ग के विशेष गुणों के अनुकूल हों। यह नवीन सामाजिक ढांचा आर्थिक कर्तव्यों के अनुसार होना उचित है। शासकीय मजदूर संघों अथवा यूनियनों को प्रत्येक व्यवसाय के श्रमिकों को मान्यता प्रदान करनी चाहिये। श्रमिकों को केवल अधिक मजदूरी, काम करने के कम समय और कार्य करने की श्रेष्ठतर परिस्थितियों के लिये ही प्रयत्नशील नहीं होना चाहिये प्रत्युत् उद्योगों को अपना स्वयं का समझकर उनका प्रशासन और उनकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस तरह केन्द्रीय राजनैतिक ढांचा समाप्त हो जावेगा, समस्त उद्योगों के मालिक श्रमिक स्वयं होंगे, श्रमिकों को अपनी रचनात्मक प्रवृतियां दिखाने का और उनका विकास करने का पूर्ण अवसर मिलेगा।

उद्देश्य प्राप्ति के लिये 'हिंसा का रहस्यमय सिद्धान्त' (A Mystical Theory of Violence) तथा पूंजीवाद को उन्मूलित करने के लिये साधारण हड़ताल (General Strike) सोरल के शिक्षाओं के महत्वपूर्ण तत्व हैं सोरल ने संघवादी हड़ताल के प्रेरणात्मक पक्ष की विशिष्ट व्याख्या की थी। उसने अपनी पुस्तक 'Reflections on Violence' में साधारण हडताल के 'कल्पना (Myth) सम्बन्धी' मूल्य पर अधिक बल दिया है। उसका मत था कि प्रत्येक प्रभावकारी सामाजिक आन्दोलन की अपनी 'कल्पना' होती है। दृढ़ बने रहने तथा वीरोचित कार्यों को करने के लिये जनता को किसी वांछनीय लक्ष्य के व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक प्रदर्शन से प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता; केवल उसकी कल्पना को उत्तेजित करने से होता है। सोरल ने इतिहास से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि किस प्रकार सामाजिक कल्पनाओं (Myths) में आदर्श अवस्थाओं का, जो कभी प्राप्त नहीं हो सकतीं, सुन्दर चित्र प्रस्तुत करके और लोगों की भावना पर प्रभाव डालकर अनेक महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किये हैं, और मानव आचार-विचार को एक नूतन दिशा दिखलाई है। सोरल ने सामान्य हड़ताल इस दृष्टि से विचार करने के प्रयत्न की

निन्दा की कि वह भावी इतिहास का कहाँ तक रूप ले सकेगी, वह कहाँ तक सम्भव हो सकेगी। उसका कथन था कि उसके विरोधी जो कुछ भी सिद्ध करना चाहते हैं उसे हम मान सकते हैं परन्तु इससे इस सिद्धान्त के मूल्य में किसी प्रकार भी कमी नहीं आ सकती, हालांकि विरोधी समझते हैं कि उन्होंने उसका खंडन कर दिया है।[1] "ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश संघवादियों ने एक प्रभावकारी सामाजिक कल्पना (Myth) के रूप में सोरल के हड़ताल के विचार में कोई बात मूल्यवान नहीं देखी। किन्तु वे इस बात से सहमत थे कि हड़ताल का प्रभाव उसके तात्कालिक व्यावहारिक परिणामों से नहीं जाना जा सकता।"[2]

सक्रिय संघवादियों के विचार में तोड़फोड़ अथवा ध्वंस (Sabotage), बहिष्कार और हिंसा औद्योगिक संघर्ष के उचित अस्त्र थे। सोरल एवं अन्य व्यावहारिक नेताओं ने साधारणतया सर्वहारा वर्ग को हिंसा और हिंसात्मक कार्यों का समर्थन किया जिनमें सम्पत्ति विनाश भी शामिल है। उन्होंने बल प्रयोग के ऐसे समस्त रूपों को प्रोत्साहित किया जो क्रान्तिकारी सामान्य हड़ताल के प्रति पूंजीपतियों अथवा सरकार के विरोध को नष्ट करने के लिये आवश्यक प्रतीत हो। उनकी मान्यता थी कि चूंकि श्रमिकों और उद्योगपतियों के बीच संघर्ष या युद्ध चल रहा है अतः उन्हें युद्ध के नैतिक मानदण्डों का प्रयोग करना चाहिये। सोरल को प्रतीत होता था कि शारीरिक हिंसा में वह बात है जो मनुष्य को ऊंचा उठाती है और उनमें वीरता, साहस तथा आत्मसम्मान पैदा करती है।

सोरल का कहना था कि संघवादी समाज की व्यवस्था तथा रूप की कल्पना किन्हीं तर्कों अथवा सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की जा सकती बल्कि वह एक ऐसा समाज होगा जिसकी स्थापना मजदूर लोग बिना सोचे विचारे अपने आप ठीकठाक कर लेंगे। जब मजदूर लोग अपनी हड़ताल द्वारा राज्य का विनाश करेंगे तब समाज की अन्तिम रूपरेखा खींचने का अधिकार भी उन्हीं को होना चाहिये। इस कार्य के लिये वह श्रमिकों में अधिक बुद्धि तथा विचारशीलता का होना आवश्यक नहीं समझता बल्कि उनके नैसर्गिक विवेक (Intution) पर अधिक बल देता है। सोरल का यह नैसर्गिक विवेक सिद्धान्त (Theory of Intution) बर्गसन (Bergson) से प्रभावित है और इस प्रकार 'मार्क्सवाद', 'फासिज्म' तथा 'बर्गसोनियज्म' आदि के अनेकों विचार के जो 'उत्पादकों के साम्राज्यवाद' (Imperialism of the Producers) के पक्षपाती हैं, सोरल संघवादी सिद्धान्त में आ मिले हैं। 'Devine' के अनुसार सोरल ने मार्क्स से आरम्भ करके बर्गसन पर अन्त किया है। अपने समस्त अन्तिम ग्रन्थों में सोरल ने अपने विचारों को बर्गसन के दर्शन से जोड़ने का प्रयत्न किया है, किन्तु अपने समस्त जीवन में उसने मार्क्स की आत्मा का ठीक माना है। यह सन्देहात्मक है कि मार्क्स की आत्मा तथा बर्गसन की आत्मा में कोई सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोरल ने मार्क्स की आत्मा का अर्थ मनमाने ढंग से लगाकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित कर दिया है।

1 कोकर · आधुनिक राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ २५१
2 वही, पृष्ठ २५१ ५२

श्रेणी समाजवाद
(GUILD SOCIALISM)

श्रेणी समाजवाद, समाजवाद का अंग्रेजी संस्करण है। लन्दन की परम्पराओं के अनुसार यह एक मध्य मार्गीय विचारधारा (*Middleway current*) है जो न अंग्रेजी फेबियनवाद की तरह आवश्यकता से अधिक उदार है और न फ्रेन्च संघवाद की तरह आवश्यकता से अधिक क्रान्तिकारी एवम् उग्र है। श्रेणी समाजवाद को अंग्रेजी फेबियनवाद और फ्रांसीसी संघवाद का "बुद्धिजीवी शिशु" कहा जाता है।[1] फेबियनवाद (*Fabianism*) जिसमें समष्टिवाद (*Collectivism*) के सिद्धान्तों का भी समावेश है, अनेक अंग्रेजों को आकर्षित करने में असफल रहा है। उनकी धारणा थी कि समष्टिवाद या समूहवाद पूंजीवाद के दूषणों का उन्मूलन नहीं करता, और वह पूंजीवादी नौकरशाही का राज्य की केन्द्रीभूत नौकरशाही द्वारा प्रति-स्थापन मात्र है। न ही वह श्रमिक को कार्य की अपनी निजी शर्तें निश्चित करने की शक्ति प्रदान करता है। श्रमसंघवाद, यद्यपि कर्मकारों या श्रमिकों का आन्दोलन था तथापि वह अंग्रेजों के स्वभाव के अनुकूल नहीं था। वह अत्यधिक क्रान्तिकारी और अराजकतापूर्ण था। आकस्मिक और संकटपूर्ण परिवर्तन तथा राज्य-रहित समाज का विचार प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में शिक्षित अंग्रेज नागरिकों की मनोवृत्ति के लिये विदेशी था। अतः, अंग्रेजी राजनीतिक मनोवृत्ति ने पारस्परिक समष्टिवाद या समूहवाद और श्रमसंघवाद के बीच मध्यवर्ती मार्ग अपनाया। कुछ तो समष्टिवादियों और समूहवादियों से लिया गया और उन्हें श्रमसंघ-वाद की मौलिकताओं के साथ मिलाकर एक नये सिद्धान्त की रचना की गई, जो श्रेणी समाजवाद (*Guild Socialism*) के रूप में प्रसिद्ध हुआ। श्रेणी समाजवादियों ने श्रमिक संघों के आधार पर भविष्य में उद्योगों का सगठन करना निश्चित किया। उनका कथन था कि "श्रमिक संघ उसी प्रकार आधुनिक उद्योगों को अनुप्रेरित करेगा जिस प्रकार कि मध्यकालीन गणकलाओं और दस्तकारियों की रक्षा करते थे। अतः, श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य, राज्य के नियंत्रण में उपभोक्ताओं और उत्पादकों की

---

1. *Rockow* : Contemporary Political Thought in Old England, P. 150

सावतन्त्रात्मक अधिकार शक्ति को सौंपना है ।"[1] इस विचारधारा का प्रमुख उद्देश्य वस्तुत मध्ययुगीन श्रेणी सधो की व्यवस्था (*Mediaeval Guild System*) का आधुनिक समाज मे फिर से जीवित करना है ।

श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन २०वी सदी की प्रथम तथा द्वितीय दशाब्दि मे अग्रेज विद्वानों ने किया । इसके आधारभूत सिद्धा तो का विवेचन सर्वप्रथम ए० जी० पेन्टी (*A G Penty*), जो एक शिल्पी था ए० आर० ओरेज (*A R Orage*) जो अध्यापक, पत्रकार तथा दार्शनिक निबन्धकार था और एस०जी०हाब्सन (*S G Hobson*) जो पत्रकार तथा वक्ता था, के लखों मे मिलता है । ये तीनो सवप्रथम फबियन सोसायटी और स्वतन्त्र मजदूर पार्टी (*Independent Labour Party*) के सदस्य थे । लेकिन ये सस्थायें निरन्तर केन्द्रीभूत राजनीतिक समाज ाद पर बल देती रहीं, अत इन विचा रकों ने उनसे अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लिये । श्रेणी समाजवाद का बुनियादी विकास पेन्टा की पुस्तक '*The Restoration of the Guild System* की प्रेरणा स हुआ जिसका प्रकाशन सन् १६०६ में हुआ था । पेन्टी का दृष्टिकोण मध्यकालीन था और वह आधुनिक औद्योगिक प्रणाली से बहुत घृणा करता था । उसका यह विश्वास था कि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली न किसी भी प्रकार के कलात्मक और रचनात्मक काय को असम्भव कर दिया है । वह शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँच गया कि समाजवादियों के पास इसका कोई समाधान नहीं है क्योंकि वे मजदूर का आर्थिक लाभ पहुचाने पर ही अधिक जोर दे रहे थ एवम् उस स्वाभाविक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को पुन जीवित करने के लिये उनके पास कोई योजना नही थी जिसे आधुनिक तरीकों के प्रति सूक्ष्म श्रम विभाजन ने नष्ट कर दिया है । पेन्टी ने अपनी पुस्तक मे यह स्पष्ट कर दिया कि समाज मे सौन्दर्यात्मकता (*Aesthatism*) और भावुकता (*Sentimentality*) का विकास तब ही हो सकता है जब आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था न रहे, अर्थात् वतमान शोषण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाय और श्रमिकों को उद्योगों मे स्वशासन के अधिकार मिल जायें । उसने यह प्रतिपादित किया कि मध्यकालीन शिल्प कला का पुन जीवित किया जाय । यद्यपि आधुनिक उद्योगवाद के दोषों से इनकार नही किया जा सकता था तथापि पेन्टी द्वारा प्रस्तावित दस्तकारी की योजना को न समव समझा गया और न वाछनीय ही । वह आधुनिक स्थितियों के अनुकूल नहीं थी । पेन्टी के विचारो की ओर ब्रिटेन की जनता आकर्षित अवश्य हुई किन्तु उनम आदर्शात्मकता अधिक होने के कारण उसके विचार लोकप्रियता अर्जित न कर सके । पेन्टी के विचार जोड (*Joad*) के अनुसार श्रेणी समाजवादी प्रचार की कोरी आदर्शवादी अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं । वास्तव मे यह स्वाभाविक था कि गिल्ड की धारणा को जब तक एक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जाय तब तक उसे कार्यान्वित करने की दिशा म कोई कदम नहीं उठाये जा सकते थे ।

पेन्टी के विचारो को आधुनिक राजनीतिक एवम् आर्थिक स्थितियों के अनुकूल बनाने का श्रेय ओरेज के साथ-स थ हॉब्सन ने प्राप्त किया । ओरेज व हाब्सन ने 'न्यू एज' नामक पत्रिका में सन् १६१२ मे प्रकाशित लेखो मे

1 *Joad* Op Cit, P. 74

आधुनिक पूंजीवाद व अपने समय के राजकीय समाजवाद के केन्द्रीयकरण का विरोध किया और राष्ट्रीय गिल्डों की विस्तृत योजना पेश की, जो कि आधुनिक काल की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं के अनुसार बनाई गई। "न्यू एज" में जो लेख माला निकली वह आगे चलकर *"National Guilds, an Enquiry into the Wage System and Way Out"* नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई। गिल्ड सिद्धान्त का एक क्रमबद्ध प्रतिपादन सर्वप्रथम इसी पुस्तक में किया गया, और यह पेन्टी की पुस्तक के मध्यकालीन विचारों से मुक्त थी।

इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिये शीघ्र ही अनेक सुयोग्य व्यक्ति सामने आ गये जिसमें सबसे अधिक कर्मठ ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का नवीन स्नातक और ओक्सफोर्ड के "मेगडेलन कालेज" का फैलो जी० डी० एच० कोल था। कोल ने अपनी एक दर्जन पुस्तक-पुस्तिकाओं में श्रेणी समाजवाद के आलोचनात्मक और रचनात्मक विचारों का विस्तृत विवेचन किया और वह श्रेणी समाजवादी आन्दोलन में सबसे प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली बन गया। "प्रो॰ आर० एच० टॉनी (*R. H. Tawney*), बर्ट्रेन्ड रसल (*Bertrand Russel*) और आर० डी मेज्तू (*R. de Maeztu*) ने सम्पत्याधिकार के व्यवसायात्मक आधार (*Functional basis*) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सम्पत्ति का नैतिक औचित्य तभी है और उसकी सामाजिक रक्षा का उसी सीमा तक उचित अधिकार है, जहां तक वह किसी सामाजिक सेवा से संबंधित है। यह सिद्धान्त हाब्सन तथा कोल के बाद के सिद्धान्तों का मुख्य सिद्धान्त बन गया।"[1]

सन् १६१५ तक श्रेणी अथवा गिल्ड आन्दोलन ने कोई संगठित रूप धारण नहीं किया। इस समय तक प्रचार करने एवं गिल्डों को संगठित करने के लिये अस्थायी संस्था नहीं थी। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि ओरेज किसी भी प्रकार की संस्था स्थापित करने का विरोधी था। वह यह चाहता था कि गिल्डों की धारणा का प्रसार शनैः शनैः उसके साप्ताहिक पत्र के माध्यम से ही हो। किन्तु उसके विरोध को अन्ततः परास्त किया गया और ओक्सफोर्ड के दो विद्वानों विलियम मेलोर (*W. Mellor*) तथा मोरिस रेकिट (*M. B Reckitt*) ने, जिन्होंने कोल के साथ १६१५ में श्रेणी समाजवादी विचारधारा को अपनाया था तथा अन्य व्यक्तियों ने एक राष्ट्रीय गिल्ड संघ (*National Guilds League*) का संगठन किया, जो श्रेणी समाजवादी प्रचार का एक मुख्य केन्द्र बन गया। इस राष्ट्रीय गिल्ड संघ के लक्ष्य ये थे—१. मजदूरी पद्धति का उन्मूलन, २. राज्य के साथ काम करते हुये उद्योगों में गिल्डो द्वारा स्वशासन की स्थापना। आरम्भ में इनका प्रजातन्त्रात्मक राज्य में विश्वास था किन्तु १६२० में "राज्य" को हटाकर उसके स्थान पर देश में नये प्रजातन्त्रात्मक व्यावसायिक संगठन की स्थापना का ध्येय अपनाया। इस संघ में सदस्य तो अल्प सख्या में (अपनी चरमोत्कर्ष स्थिति में भी इस संघ की संख्या ५०० से अधिक नहीं हुई थी) थी लेकिन अपने ६ वर्षों के अल्प-जीवन-काल में भी यह बड़ा कार्यशील एवं प्रभावशाली

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पृष्ठ २७७

रहा। इसके सदस्यों में एक बड़ी संख्या प्रतिभाशील लेखकों और व्यक्तियों की थी जिनमें प्रमुख हैं—टोनी, रसल, ब्रेल्स फोर्ड, जार्ज लेंसबरी और कोल तथा उसके दो मित्र मलोर एवं रकिट। इस संघ ने अनेक उच्च-कोटि के पैम्पलेट निकाले और तत्पश्चात् 'Guilds man'' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिसका नाम बाद में 'Guild Socialist'' हो गया। युद्ध काल और उसके बाद का कुछ समय गिल्ड समाजवादी विचारों के प्रसार के लिये बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ।

सन् १९१९ में व्याप्त औद्योगिक अवस्थाओं को देखकर कुछ श्रेणी समाजवादियों को यह लगा कि यह समय इस बात के लिये सर्वथा अनुकूल था कि किसी एक महत्वपूर्ण उद्योग में वे अपने सिद्धान्त का प्रयोग करें। उस समय औद्योगिक केन्द्रों में बड़ी संख्या में नवीन निवास-गृहों की आवश्यकता थी और व्यक्तिगत उद्योग इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहे थे। इस दिशा में भवन निर्माण करनेवाले उद्योगपतियों को और स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर तथा भाड़े में कमी करके जो काय राष्ट्रीय सरकार ने किये वे पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए। ऐसी स्थिति में भवन निर्माण करने वाले श्रमिकों ने कहा कि यदि उन्हें स्थायी रोजगार और नियमित वेतन का आश्वासन दे दिया जाय तो वे बहुत सस्ते और मजबूत मकान बहुत कम वेतन पर बना सकते हैं। इसलिये १९२० के आरम्भ में मैनचेस्टर जिले के अनेक भवन-निर्माण सम्बन्धी मजदूर संघों ने एक भवन निर्माणकारी संघ (*A Builder's Guild*) स्थापित किया। हाब्सन इस गिल्ड अथवा संघ का मंत्री बना। इन गिल्डों ने लगभग २२ नगरों में अधिकारियों से ठेके लिये और १० हजार मकानों का निर्माण हुआ।[1] ये मकान लागत में उन मकानों से सस्ते थे जो व्यक्तिगत ठेकेदारों से बनवाये जाते थे और सभी लोग उन्हें अच्छा समझते थे, लेकिन शीघ्र ही किसी कारण सरकार ने आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया और स्थानीय अधिकारियों को यह निर्देश दे दिया कि इस प्रकार के भवन-निर्माण-कार्यों के लिये किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता न दी जाये। इससे इस आन्दोलन को बड़ा आघात लगा। मजदूरी में कमी और बेकारी में वृद्धि होने से ६ महिने में ही भवन निर्माता संघ समाप्त हो गया तथा श्रेणी समाजवाद के सम्पूर्ण संगठित आन्दोलन का अन्त हो गया। राष्ट्रीय गिल्ड संघ (*National Guilds League*) १९२५ में भंग कर दिया गया और कोल (*Cole*) भी श्रेणी समाजवाद की अपेक्षा अन्य बातों की ओर अधिक ध्यान देने लगा। दूसरे लोग भी अन्य कार्यों में लग गये। रूस की क्रांति के एक मतभेद तथा अन्य बातों ने भी श्रेणी समाजवादी आन्दोलन के विघटन में पर्याप्त योग दिया। सन् १९२५ के बाद से लन्दन में कोई श्रेणी समाजवादी आन्दोलन नहीं रहा है। यद्यपि इसकी कुछ धारणाओं को जैसे कि समाजवाद की बहुलवादी धारणा और व्यवसायिक जनतंत्र का सिद्धान्त—को आज भी ब्रिटिश सामाजिक चिंतन में समर्थन प्राप्त हो जाता है।

---

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २७९

श्रेणी समाजवादियों द्वारा आधुनिक समाज की आलोचनायें
(Criticism of Modern Capitalist Society)

श्रेणी समाजवादी दर्शन पर विस्तार से चर्चा करने के पूर्व पृष्ठभूमि के रूप मे उन आलोचनाओं पर संक्षेप में प्रकाश डाल लेना प्रासगिक होगा जो श्रेणी–समाजवादियों ने आर्थिक एवं विशेषकर नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर वर्तमान पूंजीवादी समाज की की है। उनकी वर्तमान समाज की आलोचना आंशिक रूप मे परम्परागत समाजवादियो के समान ही है।

आर्थिक दृष्टिकोण से वर्तमान समाज की आलोचना करते हुये श्रेणी समाजवादी यह तर्क प्रस्तुत करते है कि वस्तुओं का मूल्य प्रधानतया श्रम पर निर्भर है जबकि श्रमिक का वेतन उसके भरण–पोषण के व्यय पर निर्भर करता है और मूल्यों का अधिक भाग जिसे वह उत्पन्न करता है भूमिपतियों, उद्योगपतियों तथा पूंजीपतियों की जेबों में जाता है। अतः यह उचित है कि या तो वर्तमान वेतन-प्रणाली को तोड़ दिया जाये अथवा वेतन, लाभ, व्याज और क्रिया का विभाजन किसी भिन्न सिद्धान्त के आधार पर किया जाय। श्रेणी–समाजवाद की मान्यता है कि शिक्षा और अनुभव ने श्रमिकों में यह ज्ञान जागृत कर दिया है कि उनकी जीविका पूंजीपतियों के लिये अपरिमित मुनाफा पैदा करने पर आवश्यक एव स्थायी रूप से निर्भर नहीं है। परिणाम-स्वरूप श्रमिकों में एक ओर तो उत्पादन के लिये प्रोत्साहन कम हो जाता है, तो दूसरी ओर हडतालें होती हैं मेहनत में कमी होने लगती है और उत्पादन निरन्तर संदिग्ध बना रहता है।

श्रेणी-समाजवाद की आलोचना आर्थिक दृष्टिकोण की अपेक्षा नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक तर्कों में विशिष्टता लिये हुये है। उनका मत है कि पूंजी-वादी प्रणाली में श्रमिकों के व्यक्तित्व, उनकी भावनाओं और उनकी कलात्मकता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता है। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली उनके मानवीयता के गुणों को नष्ट कर देती है और उनका अमानवीयकरण कर देती है। एक ही प्रकार का कार्य करते-करते उनका जीवन नीरसता से भर उठता है। वास्तव में वे वर्तमान समाज की निर्बलता मुख्यतया इस बात में मानते हैं कि उसका आर्थिक जीवन का सम्पूर्ण सगठन कार्य सम्पादन (*Performance*) के सिद्धान्त पर आधारित न होकर सम्पत्ति की प्राप्ति (*Acquisition*) के सिद्धान्त पर आश्रित है। "श्रेणी समाजवाद के लिये प्रमुख आर्थिक समस्या कला या कारीगरी की भावना के पुनःस्थापन का मार्ग खोज निकालने की है तथा एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की है जिससे मजदूरों में केवल दक्षता का ही विकास न हो वरन् उन्हें अपने काम के गौरव का भी अनुभव हो और केवल अपने उपार्जित धन की रकम में ही दिलचस्पी न हो बल्कि अपने उत्पादन के रूप और गुण में भी दिलचस्पी हो।[1] यह उल्लेखनीय है कि रस्किन, टामस. कारलाइल तथा विलियम मोरिस जैसे लेखक आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की पहले से ही इस आधार पर भर्त्सना कर चुके थे कि मशीन द्वारा उत्पादन में नीरसता

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिंतन, पृष्ठ २८०

और महापन होता है। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की श्रेणी समाजवादियों द्वारा निन्दा में उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

उद्योग के राज्य द्वारा प्रबन्ध तथा नियन्त्रण पर भी श्रेणी समाजवादियों की आस्था नहीं है और वे इस पर आक्रमण करते हैं। इस आक्रमण का आधार इस भय से कहीं अधिक गहरा है कि हो सकता है कि एक सरकारी कर्मचारी के आधीन श्रमिक की दशा उससे श्रेष्ठतर नहीं हो जैसी कि उसकी व्यक्तिगत पूंजीपति की आधीनता में होती है। उद्योग पर राज्य द्वारा प्रबन्ध में अनास्था का स्रोत समाज के वर्तमान राजनीतिक ढांचे में अविश्वास है। श्रेणी समाजवादी आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र को केवल एक धोखा समझता है। इस मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हुये कि आर्थिक नीति, राजनीति से पहले आती है वे उद्योग पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध और श्रमिकों के नियन्त्रण का समर्थन करते हैं।

श्रेणी समाजवादी राजनीतिक लोकतन्त्र को धोखा इसलिए समझते हैं क्योंकि राजनीतिक लोकतन्त्र सारे मनुष्यों को स्वयं अपने शासन करने की गारन्टी प्रदान नहीं करता। वह केवल इस बात की गारन्टी देता है कि वे अपने शासकों को चुन सकें—और यह भी केवल राजनीतिक क्षेत्र में। लेकिन इस सीमित क्षेत्र में भी प्रतिनिधि निर्वाचन की प्रणाली अलोकतांत्रिक है। प्रतिनिधियों का निर्वाचन अनेक प्रकार के विभिन्न उद्देश्यों के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से किया जाता है जब कि वास्तविकता यह होती है कि वे केवल कुछ ही उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करने लायक होते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भौगोलिक प्रदेश में रहनेवाले बहुत से आदमियों के सारे हितों का सच्चा प्रतिनिधि नहीं हो सकता। वे इस बात को केवल ऊपरी दिखावा तथा धोखा मात्र मानते हैं कि एक स्थान का रहने वाला व्यक्ति अपने प्रदेश के रहनेवाले सब व्यक्तियों के सब प्रकार के हितों को पहिचान सकता है और संसद में उनकी रक्षा कर सकता है। प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों को ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय का अधिकार दे दिया जाता है जिनका प्रादेशिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ वे उत्पादनकर्ताओं और उपभोक्ताओं जमींदारों और किसानों, मालिकों और मजदूरों के वाद-विवाद ही का निर्णय करते हैं जबकि किसी भी दिशा में यह वर्ग भिन्न भिन्न प्रदेशों में विभाजित नहीं है। "मताधिकार तथा मनोनीत करने की प्रणाली कितनी ही प्रजातांत्रिक क्यों न हो जहां तक हमारे राजनीतिक शासक हमारे उन हितों की व्यवस्था करते हैं जो प्रादेशिक न हों, वहां तक हमारा राजनीतिक विधान अप्रजातांत्रिक है।" श्रेणी समाजवादियों का कथन है कि सच्चा प्रतिनिधित्व सर्वंव विशिष्ट और व्यवसायिक हो ही सकता है, वह सामान्य, संकीर्ण तथा सर्वा-समावेशिक कभी नहीं हो सकता। उनके अनुसार गलत प्रतिनिधित्व करने का सबसे स्पष्ट उदाहरण वर्ष पार्लियामेन्ट ब्रिटिश संसद से मिलता है जो समस्त नागरिकों का समस्त बातों में प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है लेकिन परिणामस्वरूप किसी भी व्यक्ति का किसी भी बात में प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। श्रेणी समाजवादी इस आधार पर आधुनिक राजनीतिक लोकतन्त्र की कटु आलोचना करते हैं कि मजदूरों को उनके काम की अवस्थाओं का निर्णय करके शासन में भाग दिलवाने की गारन्टी

का दावा नहीं करता, बल्कि वह तो इसके सर्वथा विपरीत कार्य करता है। "परम्परागत साम्पत्तिक अधिकारों की गारन्टी देकर वह उस स्वेच्छापूर्ण नियंत्रण की रक्षा करता है जो मशीनों के मालिक उन अवस्थाओं पर रखते जिसमें मजदूर उनका प्रयोग कर सकते हैं या जो भूमि के स्वामी उन अवस्थाओं पर रखते हैं जिनमें किसान उनकी भूमि जोत सकते हैं। इस प्रकार हमारा समाज आधार में अप्रजातांत्रिक है क्योंकि प्रजातांत्रिक सिद्धांत का विस्तार राज्य के परे नहीं हुआ और राज्य के अन्दर भी उसका प्रयोग आंशिक रूप में ही होता है।"[1]

श्रेणी समाजवादी दर्शन

(The Philosophy of Guild Socialism)

श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य उद्योग में उन लोगों के स्वराज्य की स्थापना करना, जो उसमें संलग्न है तथा वर्तमान वेतन प्रथा का अन्त करना है। संघवाद की भांति वह यह मानता है कि श्रमिकों को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह अधिक भौतिक कल्याण ही नही बल्कि एक ऐसी अवस्था का निर्माण है, जिसमे उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण हो सके। वह चाहता है कि समाज का नव-निर्माण एक सर्वथा नवीन आधार पर हो। इस नवनिर्माण के द्वारा वर्तमान अत्याचारों और दोषों के सभी स्रोतों का विनाश हो जाय। इस उद्देश्य के लिए न केवल व्यक्तिगत पूंजी का नाश ही आवश्यक है प्रत्युत् समाज के राजनैतिक संगठन में आमूल-चूल परिवर्तन भी जरूरी है। श्रेणी समाजवाद समष्टिवादियों अथवा समूहवादियों की इस बात से तो सहमत है कि राज्य अथवा समाज का उत्पादन के साधनों का अधिकार होना चाहिए, लेकिन इस बात में वह उससे भिन्न मत रखता है कि उद्योगों का वास्तविक संचालन सरकार के हाथों में हो। श्रेणी समाजवाद इस वास्तविक संचालन को प्रत्येक उद्योग में गिल्डों (*Guilds*) के रूप में संगठित श्रमिकों के हाथो में रखना चाहता है। इस प्रसंग में वह संघवाद के निकट है। एक गिल्ड में एक उद्योग में काम करनेवाले सभी व्यक्ति सम्मिलित होगे। प्रत्येक कारखाना अपने प्रबन्धक का चुनाव करने में स्वतन्त्र होगा और राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा किसी उद्योग के लिए निर्धारित नीति के अनुसार उत्पादन की रीतियों पर नियन्त्रण करने में भी स्वतन्त्र होगा। प्रत्येक स्थानीय गिल्ड के प्रतिनिधि प्रादेशिक गिल्ड में भेजे जायेगे और प्रत्येक प्रादेशिक गिल्ड अपने प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड के लिए चुनकर भेज सकेगा। विविध व्यवसायों के केन्द्रीय गिल्ड (श्रेणियां) परस्पर मिलकर राष्ट्रीय गिल्ड का निर्माण करेंगी। स्थानीय प्रादेशिक और राष्ट्रीय सभी गिल्डों का संगठन प्रजातान्त्रिक आधार पर होगा।

यहां तक यह सब श्रमिक संघवाद (*Syndicalism*) की योजना का ही विषद रूप है। किन्तु दोनों विचारधाराओ की मान्यताओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहां संघवाद राष्ट्र के आर्थिक जीवन मे केवल उत्पादकों को ही प्रमुख स्थान देकर उत्पादन पर केवल उनका ही नियन्त्रण चाहता

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २८१

है वहां श्रेणी समाजवाद उपभोक्ताओं को भी आर्थिक जीवन मे उचित महत्व देता है। इस सम्बन्ध में, वह यह प्रतिपादित करता है कि आर्थिक जीवन के सचालन और उसके नियन्त्रण मे उपभोक्ताओं के हितो की रक्षा की व्यवस्था न होने से उत्पादक अपने उत्पादनों का मनमाना मूल्य वसूल करेंगे जो सार्वजनिक दृष्टि से हानिकर होगा। इसीलिए श्रेणी समाजवाद के प्रस्तावो मे इस नवीन वस्तु का समावेश है कि वह समस्त उपभोक्ताओं और उत्पादको के बराबर प्रतिनिधियों की एक सर्वोच्च संयुक्त समिति (*Supreme joint Committee*) की स्थापना का समर्थन करता है जिसका काम होगा प्रत्येक गिल्ड के लिए कर निर्धारित करना (जो उसे राज्य को अदा करना पड़ेगा) वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना और यह निर्णय करना कि किसी गिल्ड ने स्वय के हितों को अधिक महत्व देकर समाज के हितो की उपेक्षा तो नही की है और इस तरह कही अपने निक्षेप (*Trust*) का उल्लघन तो नही किया है। इस संयुक्त समिति के माध्यम से उपभोक्ता उन विषयो पर अपने विचार प्रकट कर सकेंगे जिनसे उनका सम्बन्ध है। इस तरह श्रेणी समाजवाद सघवादी योजना की एक भारी कमी को दूर कर देता है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था मे, राज्य समाजवादियों के दृष्टिकोण का जो मनुष्यो को केवल उपभोक्ता के रूप मे ही देखते हैं सघवादियो के दृष्टिकोण के साथ जो मनुष्यों को केवल उत्पादको के रूप मे देखते हैं, सामन्जस्य स्थापित किया गया है। वस्तुत: श्रेणी समाजवाद सघवाद और राज्य समाजवाद के मध्य सतुलन स्थापित करता है, इसमे दोनों के गुणो को समाविष्ट करने का श्रेयस्कर प्रयत्न किया गया है।

श्रेणी समाजवादी योजना की यह एक रूपरेखा मात्र है, इसका विस्तृत विवेचन आगे प्रस्तुत किया जाता है।

गिल्डों का समाज (Society of Guilds)—पूंजीवादी व्यवस्था और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का विरोधी होने के कारण श्रेणी समाजवाद इनका विनाश कर इनके स्थान अपना कार्यक्रम रखना है तथा, चाहता है कि पूंजीवाद के स्थान पर औद्योगिक समाज मे उत्पादको के सघ (*Guilds*) हो। श्रेणी समाजवादियो के अनुसार गिल्ड सख्या मे इतने ही होने चाहिए जितने कि समाज मे होनेवाले कार्य। समाज उस समय तक पूर्णत: प्रजातान्त्रिक नही होता, जब तक कि उसका सगठन व्यावसायिक आधार (*Functional basis*) पर न हो। कोल के कथनानुसार, *"समाज मे पृथक रूप मे निर्वाचित प्रतिनिधियो के उतने ही समुदाय होने चाहिये, जितने कि करने योग्य व्यवसायो के स्पष्ट एव आवश्यक वर्ग है। ·····मनुष्य को उतने ही, भिन्न तथा पृथक रूप मे प्रयोग होने योग्य मत देने का अधिकार होना चाहिए जितने कि उसके सामाजिक उद्देश्य अथवा हित हैं।"*[1] अभिप्राय यह है कि समाज मे एक व्यवसाय के व्यक्तियो का अपना एक गिल्ड अर्थात् सघ होना चाहिए। उदाहरण के लिए एक समाज मे मानलो

---

1 *G D H Cole* · Self Government in Industry (1917), P. 33-34 (Quoted from Coker)

४० प्रकार के कार्य करनेवाले लोग हैं, कोई जूते बनाता है, कोई कपड़ा बुनता है, कोई साबुन तैयार करता है, इन सब ४० प्रकार के व्यवसायों के ४० संघ होने चाहिए और इन संघों के सदस्यों द्वारा चुने गये व्यक्तियों को ही उन कारखानों तथा उद्योगों का प्रबन्ध करना चाहिये। श्रेणी समाजवादियों ने संघ अर्थात् गिल्ड की परिभाषा इस प्रकार की है, 'गिल्ड अथवा श्रेणी या संघ ऐसे व्यक्तियों की एक स्वशासित संस्था है जिसके सदस्य एक दूसरे पर आश्रित होते हैं जो कि समाज के किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिए संगठित हुए हों और इसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी हों।"[1] श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में हाथ से काम करने वाले, बुद्धिजीवी, कुशल तथा व्यावसायिक कार्य करनेवाले सभी प्रकार के व्यक्तियों के अपने-अपने गिल्ड या संघ होंगे, जिनको अपने अपने क्षेत्र में पूरी स्वाधीनता तथा शासन करने की पूरी पूरी छूट होगी। किस व्यक्ति को कहां कितना और किस प्रकार का काम करना है इसका निर्णय संघ के चुने हुए पदाधिकारी ही करेंगे और इस प्रकार समाज में सत्ता का विकेन्द्रीकरण (*Decentralisation*) होगा। एक गिल्ड का ध्येय श्रमिकों की सृजनात्मक भावना को विकसित करना होगा ताकि वे अपने सामाजिक कार्य को सर्वोत्तम ढंग से कर सकें।

गिल्ड को स्वार्थी और आततायी होने से रोकने के लिए श्रेणी समाजवादी यह व्यवस्था करते हैं कि गिल्ड अपना कार्य नीति के व्यापक नियन्त्रण में रहकर करेगा जिसका निर्माण तथा क्रियान्वीकरण अधिकतम सम्भव प्रजातन्त्रीय ढंग से होगा। इसमें उत्तरदायित्व और शक्ति का व्यापकतम प्रसरण होगा। गिल्ड अपने-अपने उद्योगों का प्रबंध करने में स्वशासी तो होंगे लेकिन उन पर उच्चतर राष्ट्रीय गिल्डों का नियन्त्रण होगा। उदाहरण के लिए जुलाहों का एक गिल्ड है, यह हर नगर तथा हर स्थान पर तो होगा ही किन्तु इसका एक अखिल देशीय अथवा राष्ट्रीय संघ भी होगा। यद्यपि राष्ट्रीय आधार पर यह संगठन केन्द्रीकरण (*Centralisation*) को जन्म देगा, लेकिन सारे देश में फैले अनेक गिल्डों को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए यह वांछनीय है कि उनका एक उच्च राष्ट्रीय संघ (*National Guild*) भी हो। अधिकांश विचारकों की यह मान्यता है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता (*National Autonomy*) स्थानीय स्वाधीनता की विरोधी नहीं है और एक संघ अथवा गिल्ड राष्ट्रीय गिल्ड के अधीन रहता हुआ भी स्थानीय स्वाधीनता (*Local Autonomy*) का उपभोग कर सकता है। यह उल्लेखनीय है कि श्रेणी समाजवादी इस बारे में एकमत न थे कि प्रमुख गिल्ड इकाईयां स्थानीय होंगी अथवा राष्ट्रीय। अल्पमत का, जिसमें पेन्टी और टेलर प्रमुख थे, विचार था कि विशाल पैमाने पर संगठन कायम रखने से प्रत्येक मजदूर की स्वतन्त्रता की रक्षा करने व उसकी कलात्मक

1. The guild may be defined as "a self-governing association of mutually dependent people organised for a responsible discharge of a particular function of society."
—*Laidler* : Social Economic Movements, P. 324

प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करने का प्राथमिक उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा, अतः स्थानीय औद्योगिक समुदायों की स्थापना ही होनी चाहिये। किन्तु श्रेणी समाजवादियों का बहुमत-वर्ग चाहता था कि सशक्त राष्ट्रीय संगठन भी होने चाहिए क्योंकि तभी वर्तमान श्रमिक संघ आन्दोलन से लाभ उठाया जा सकता है और गिल्ड के ढाँचे को विशाल पैमाने पर होनेवाले उत्पादन की अवस्थाओं के अनुकूल बनाया जा सकता है। राष्ट्रीय आधार पर बने गिल्डों द्वारा उत्पादन में बचत होगी, जैसा कि कच्चा माल खरीदने और उत्पन्न की गई वस्तुओं को बेचने में सम्भव हो सकेगा। केन्द्रीकरण की मात्रा में प्रत्येक उद्योग की प्रकृति के अनुसार परिवर्तन करना होगा। कोयला जैसे उद्योग में राष्ट्रीय संगठन उत्पादन और माग में सामन्जस्य स्थापित करेंगे कच्चे माल का प्रबन्ध करेंगे, किसी विशेष खान द्वारा न बेचे गये माल की बिक्री की व्यवस्था करेंगे, उत्पादन और संगठन के सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करेंगे, कारीगरी के सामान्य मानदण्डों और कारीगरों की रक्षा के लिए व्यवस्था करेंगे तथा अन्य गिल्डों और उपभोक्ताओं के संगठनों सम्बन्ध में खान के उद्योग का प्रतिनिधित्व करेंगे। यथार्थ प्रशासन के अधिकांश कार्य स्थानीय गिल्ड के हाथ में रहेंगे और उसे अपने क्षेत्र में विस्तृत विवेक के अधिकार भी होंगे।

श्रेणी समाजवाद में स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय गिल्डों का उपरोक्त वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर (*On Territorial Basis*) किया गया है। लेकिन एक दूसरे दृष्टिकोण से भी गिल्डों को तीन श्रेणियों में रखा गया है—औद्योगिक, नागरिक तथा वितरणात्मक। औद्योगिक गिल्डों में उन व्यवसायों की गणना की जायगी जो बड़े बड़े कारखानों के रूप में चलाये जाते हैं जैसे लोहे तथा इस्पात, कपड़े, चीनी, भवन-निर्माण, कृषि इत्यादि से सम्बन्धित व्यवसाय। इन औद्योगिक गिल्डों का संगठन लगभग एक ही प्रकार से होगा, किन्तु कृषि सम्भवतः इसका अपवाद होगा क्योंकि उसकी परिस्थितियाँ अन्य बड़े उद्योगों से भिन्न होती हैं। नागरिक गिल्ड, व्यक्तिगत सेवाओं अथवा व्यवसायों का कार्य करेंगे, जैसे डाक्टरी, अध्यापन, कानून, इन्जीनियरिंग आदि। वितरण गिल्डों के हाथ में छोटे व्यापार होंगे। उनमें उपभोक्ताओं, अपने क्षेत्र की स्थानीय शासन संस्थाओं तथा उन उत्पादक संस्थाओं के जिनके बनाये हुए सामान का वे वितरण करते हैं, प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।

श्रेणी समाजवाद में व्यवस्था (Organisation Under Guild Socialism)—कोल और हॉब्सन ने गिल्डों की आन्तरिक रचना के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है और दिखाया है कि गिल्डों का संगठन आन्तरिक क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक होगा तथा बाह्य क्षेत्र में स्वाधीन। प्रत्येक गिल्ड सभा का संगठन इस भाँति होगा कि एक तरफ तो राष्ट्रीय पैमाने पर उत्पादन का आवश्यक एकीकरण और समन्वय हो सके तथा दूसरी तरफ विविध स्थानों और व्यवसायों में उचित भेद हों; उनकी रक्षा हो सके तथा व्यक्तिगत पहल के लिए और आत्म अभिव्यक्ति के लिये प्रोत्साहन मिल सके। अधिकांश लेखकों के अनुसार गिल्ड स्वयं ही सदस्यता की शर्तें तय करेगा, अधिकारियों की

छांट करेगा, और विभिन्न पदों के अधिकारों का निर्धारण करेगा। कोई भी सदस्य अकारण निकाला नहीं जायगा और इसका निर्णय भी बहुमत से होगा। स्थानीय गिल्ड़ों के निर्णयों के विरुद्ध राष्ट्रीय गिल्ड के सामने अपीलें जा सकेंगी। कोल तो यह कहना है कि जहाँ कहीं कुछ व्यक्तियों के समूह को किसी नेता या अधिकारी के देख-रेख के आधीन कार्य करना पड़ता है, उस व्यक्तिसमूह को उस अधिकारी व नेता की छांट करने का अधिकार हो और प्रत्येक समिति की नियुक्ति उन कर्मचारियों द्वारा की जाय जो इसके आधीन कार्य करें। अपनी '*Self Government in Industy*' नामक पुस्तक में उसने लिखा है कि प्रत्येक दुकान (कारखाने) के लिये एक समिति होगी, जिसका चुनाव दुकान अथवा कारखाने के सभी कर्मचारी करेंगे। समिति का काम नियम बनाने और उन पर होनेवाले अमल का निरीक्षण करने में दुकान की दक्षता और उसके हितों की देख-रेख करना होगा। एक ही प्रकार के कारखानों के लिए प्रत्येक स्थान में एक कारखाना समिति (*Works Committee*) होगी, जिसमे सभी कारखानों के निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे, यह समिति उनके हितों और कार्यों में समन्वय लायेंगी। प्रत्येक जिले में एक समिति होगी जिसमें कुछ तो प्रत्येक कारखाने के प्रतिनिधि होंगे, जिनका निर्वाचन कारखाना-समितियां करेंगी, और कुछ प्रत्येक दस्तकारी (*Craft*) के प्रतिनिधि होंगे जिनका निर्वाचन उस जिले के विविध शिल्पों (दस्तकारियों) में भाग लेनेवाले करेंगे। इसका कार्य उस जिले में उस उद्योग से सम्बन्धित सम्पूर्ण उत्पादन में समन्वय लाना जिले के अन्य गिल्ड़ों से आपसी सम्बन्धों का निर्णय करना और स्थानीय सार्वजनिक अधिकारियों से सम्बन्ध कायम करना होगा। प्रत्येक उद्योग में दो राष्ट्रीय गिल्ड संस्थाएं होंगी, एक सभी प्रतिनिधियों की साधारण सभा जो गिल्ड की सामान्य नीति का निर्धारण करेगी, और एक कार्यकारिणी समिति होगी, जो गिल्ड के जनरल सेक्रेटरी को नामजद करेगी और इसका काम मांग तथा पूर्ति में उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आवश्यक आंकड़े सम्बन्धी होगा। अन्त में कारखाना-समिति द्वारा नियुक्त कारखाना विशेषज्ञ होगा, जिला कमेटी द्वारा नियुक्त जिला-विशेषज्ञ और राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा नियुक्त 'राष्ट्रीय' और घूमने-फिरनेवाले' विशेपज्ञ होंगे।

समाज में प्रत्येक आवश्यक सेवा को एक राष्ट्रीय गिल्ड के रूप में संगठित किया जायगा। इस राष्ट्रीय गिल्ड के विधान में उस सेवा में भाग लेने वाले मजदूरों के आवश्यक हित निहित होंगे। लेकिन विविध राष्ट्रीय गिल्डों के लिये निर्मित यह योजना विभिन्न आर्थिक समुदायों की अन्योन्याश्रितता अथवा पारस्परिक निर्भरता जनित समस्याओं के समाधान के लिये कोई योजना प्रस्तुत नहीं करती। रेल तथा यंत्र-निर्माण करनेवाले उद्योग प्रत्यक्ष ही लोहा, इस्पात और कोयला-साधनों पर आश्रित होते हैं। तो इसी प्रकार माल निर्मित करनेवाले उद्योग वितरण के साधनों पर निर्भर होते हैं। इस अन्योन्याश्रितता के कारण सामन्जस्य की कठिन समस्याएं पैदा हो जाती हैं। इनको गिल्ड दूतों के आदान-प्रदान, विशेष सम्मिलित समितियों की स्थापना और अन्त में समस्त राष्ट्रीय गिल्ड़ों का प्रतिनिधित्व करनेवाली 'राष्ट्रीय औद्योगिक गिल्ड के द्वारा सुलझाया जायगा। 'कोल के अनुसार यह संस्था गिल्डप्रणाली की उसके औद्योगिक पक्ष में अन्तिम प्रतिनिधि होगी और उसका प्रमुख कार्य

गिल्डसगठन तथा व्यवहार के आवश्यक *सिद्धान्तों* का निश्चय करना और उनकी व्याख्या करना होगा। जिन मामलो मे केन्द्रीय समन्वय (*Coordination*) की आवश्यकता होगी, उनमे वह वास्तव मे गिल्ड व्यवस्थापिका काम करेगी और वह स्वय अथवा अपनी किसी संस्था के द्वारा विशुद्ध गिल्ड-सम्बन्धी प्रश्नो के निर्णय के लिये अन्तिम अपील का *न्यायालय होगी।* ..... *अपने बाहरी सम्बन्धो मे वह समस्त गिल्ड के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करेगी।* उसका एक कार्य (जो किसी भी तरह सर्वाधिक महत्वपूर्ण नही है) गिल्डो की पारस्परिक कठिनाइयो एव विवादो के सम्बन्ध मे निर्णय करना होगा; स्थानीय गिल्ड-कौंसिलें ऐसे प्रश्नो के सम्बन्ध म प्रथम न्यायालय होगी। किन्तु उसका सबसे महत्वपूर्ण आन्तरिक कार्य सामान्य नियमो के रूप मे गिल्ड-*व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तो का निर्धारण करना होगा* जिसके अनुसार प्रत्येक गिल्ड को कार्य करना पडेगा।' वह गिल्डो के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति मे होनेवाले खर्च के लिये विविध गिल्डो पर टैक्स लगायगी और समस्त समाज के लिये महत्वपूर्ण मामलों मे वह उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण के प्रतिनिधियो से वार्ता करते समय ,उत्पादन-कर्त्ताओ के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करेगी।"

श्रेणी समाजवादो भावी समाज मे उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा करने के लिये सहकारी समितियां भी होगी और इनका सृजन भी गिल्डों की भाति ही स्थानीय प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। स्थानीय उपभोक्ता समितिया खाद्य सामग्री, कागज, जूता तेल इत्यादि का नियन्त्रण करेगी। प्रादेशिक उपभोक्ता समितियों का निर्माण, स्थानीय उपभोक्ता समितियो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के द्वारा होगा और इनका नियन्त्रण-कार्य प्रकाश, शिक्षा तथा *यातायात आदि पर होगा। उत्पादक राष्ट्रीय गिल्ड के समान*, राष्ट्रीय उपभोक्ता समिति का निर्माण, प्रादेशिक उपभोक्ता समितियों के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो से होगा। राष्ट्रीय समिति का नियन्त्रण-कार्य शिक्षा, *यातायात आदि से सम्बन्धित होगा।*

मजदूरी और कीमत—मजदूरी और कीमत इन दो महत्वपूर्ण विषयो के प्रति श्रेणी-समाजवादी सुनिश्चित नही हैं। मजदूरी रूपी दासता का अन्त *करना श्रेणी समाजवाद* का मूलभूत सिद्धान्त है किन्तु फिरभी उनके दर्शन मे इस बातका कोई स्पष्ट सकेत नही है कि *मजदूरो को अपने श्रम का प्रतिफल* मिलने का क्या ढग होगा। केवल एक बात, एकदम असदिग्ध है और *वह यह* है कि मजदूरो को प्रतिफल '*Payment*' मिलेगा, 'मजदूरी' (*Wages*) *नहीं।* पूजीपतियो अथवा राज्यरूपी स्वामियो द्वारा श्रमिको रूपी दासो को *दी जाने* वाली मजदूरी श्रेणी समाजवादियों की दृष्टि मे अत्यन्त अपमानजनक है। वे *यह बात कहते नही अघाते* कि ऐसी 'मजदूरी' के मुकाबले मे गिल्ड द्वारा दिया जानेवाला प्रतिफल (*Payment*) अतिशय सम्मानप्रद है। लेकिन यदि ध्यान-पूर्वक विचार किया जाय तो प्रतिफल' और 'मजदूरी' का यह अन्तर केवल भावुकतापूर्ण है और इनमे कोई *मौलिक अन्तर नहीं* प्रतीत होता। श्रेणी समाजवादी यह भी स्पष्ट नही करते कि मजदूरो को प्रतिफल किस आधार पर मिलेगा—समानता के आधार पर अथवा योग्यता या उत्पादन के आधार

पर ? कोल का मत है कि प्रतिफल समान नहीं हो सकता, इसकी समानता एक असम्भव आदर्श है। आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो इसे प्राप्त ही नही किया जा सकता। और जब कभी यह आयगा भी तो यह 'प्रतिफल' की समता के प्रमाद पूर्णरूप मे नही आयेगा, बल्कि उसका रूप यह होगा कि सम्पादित कार्य के लिये प्रतिफल की सम्पूर्ण धारणा को नष्ट कर दिया जायगा और यह समझ लिया जायगा कि आर्थिक समस्या यह है कि राष्ट्रीय आय को समाज के घटकों में इस बात का विचार किये विना ही विभक्त किया जाय कि अमुक व्यक्ति ने कितना काम किया है।

कीमत निर्धारण में विषय मे अधिकांश श्रेणी समाजवादियों का विचार यह था कि सामान्यतया निर्मित माल की कीमतें तत्सम्बन्धित राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा निर्धारित होनी चाहिये। लेकिन ऐसा करने से कीमत-निर्धारण में उपभोक्ताओं की कोई आवाज न होगी अतः कोल ने कहा कि कीमत निर्धारण में *Commune* का भी परामर्श लेना चाहिये। अन्य श्रेणी समाजवादियों ने यह स्वीकार किया कि कीमत-निर्धारण में वर्कशॉप और कारखानों की उत्पादक-समितियों को उपभोक्ता समिति से परामर्श करना चाहिये। एक अन्य सुझाव यह भी रखा गया कि एक उच्चतम सयुक्त समिति (*Supreme joint Committee*) कीमत-निर्धारण करे। इस सयुक्त समिति में उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हों और इसका काम वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के अतिरिक्त कर निर्धारित करना (जो उसे राज्य को अदा करना पड़ेगा) और यह निर्णय करना होगा कि किसी गिल्ड ने अपने हितों को अधिक महत्व देकर समाज के हित की उपेक्षा करके अपने निक्षेप (*Trust*) का उल्लंघन तो नहीं किया है। इस सयुक्त समिति के द्वारा उपभोक्ता उन विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकेंगे जिनसे सम्बन्ध है। श्रेणी समाजवाद में इस प्रकार की व्यवस्था का होना सघवाद की अपेक्षा एक नवीन वस्तु है। संघवादी योजना में जो भारी कमी है वह श्रेणी समाजवादी योजना में नहीं है। यह श्रेणी समाजवाद की वह महत्वपूर्ण विशेपता है जो सघवाद से भिन्न करती है।

श्रेणी समाजवादियों का राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory of Guild Socialists)—अपने उद्देश्यों में श्रेणी समाजवाद प्रधानतः एक ऐसी विचारधारा है जो औद्योगिक व्यवस्था से अधिक सम्बद्ध है। इसमें सन्देह नही कि वह उद्योगों को राज्य के आधिपत्य से मुक्त करवाना चाहती है, किन्तु वह राज्य की विरोधी नहीं है। वह यह अवश्य मानती है कि राजकीय हस्तक्षेप शरारतपूर्ण (*Mischievous*) और इस कारण गिल्डों को समाज में अधिक महत्त्व मिलना चाहिये, किन्तु साथ ही साथ संघवाद (*Syndicalism*) की भांति वह न राज्य पर भयकर आक्रमण ही करती है और न उसका अस्तित्व ही मिटाना चाहती है। श्रेणी समाजवाद के अन्तर्गत राज्य एक प्रादेशिक सस्था (*Regional Association*) के रूप में जीवित रहेगा और उत्पादक गिल्डों द्वारा न किये जानेवाले राजनीतिक कार्य इसके द्वारा किये जायगें। 'श्रेणी समाजवाद उत्पादन-कर्त्ताओं के विशिष्ट हितों के संघवादी विचार और सार्वजनिक हितों के राजनैतिक विचार मे सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास है। वह समाज मे न प्रादेशिक समुदायों को पूर्ण मानता है

और न व्यावसायिक समुदायों को ही। 'कुछ सामान्य आवश्यकताएं पहली से और कुछ दूसरी से पूरी होती हैं। इस प्रकार राज्य समाज की एक अनिवार्य संस्था बना रहता है, यद्यपि सार्वजनिक कार्य के ऐसे अनेक रूप भी हैं, जिनमें राज्य का कोई भाग नहीं होता।"[1]

श्रेणी समाजवाद राज्य को इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानता, किन्तु श्रेणी समाजवादी समाज में राज्य किस रूप में जीवित रहेगा तथा इसके कर्तव्य क्या-क्या होंगे, इस विषय में विचारक स्वयं एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों का मत है कि श्रेणी समाजवाद की आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ राज्य राजनैतिक संस्था के रूप में कार्य करें और इसके कार्य केवल निम्नलिखित क्षेत्रों तक ही सीमित कर दिये जायें—

१ राज्य केवल उन्हीं विषयों पर अपना अधिकार रखे जो आर्थिक नहीं हैं जैसे आन्तरिक नीति, विदेशी नीति आदि।

२. राज्य उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करे।

३. राज्य कहीं-कहीं थोड़ा बहुत उत्पादक संघों (*Producer's Guilds*) के अनियन्त्रित कार्यों को भी रोके।

जोड कहता है कि राष्ट्रीय गिल्ड लीग का राज्य के प्रति रूख प्रभुता का है, यह मार्क्सवाद के अनुसार राज्य को पूंजीवादी वर्ग के मामलों का प्रबन्ध करनेवाली कार्यपालिका समझती है। श्रेणी समाजवादी राज्य के महत्व को अत्यधिक गिराते हैं और इसे वास्तव में उपभोक्ताओं के संघ के रूप में स्वीकार करते हैं।[2]

"श्रेणी समाजवाद यह स्वीकार करता था कि कुछ ऐसी सामाजिक आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति ऐसी संस्थाओं के कार्यों के बिना नहीं हो सकती जो आजकल के राज्य जैसे आधार पर टिकी हों। वह यह भी मानता था कि इस संस्था को (उसे राज्य कहें या न कहें) ऐसी सत्ता एवं विशेषाधिकारों से युक्त करना पड़ेगा जिनके कारण आज समाज में उसका अनुपम स्थान, जिसे परम्परा से 'प्रभुत्व सम्पन्न' (*Sovereign*) कहते हैं, बना हुआ है। राज्य की परम्परागत प्रभुता का कितना अंश बना रहे, इस *सम्बन्ध* में भी श्रेणी समाजवादियों में मतभेद था।" इस सम्बन्ध में हॉब्सन तथा कोल के विचारों में अन्तर है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में राज्य का ठीक स्थान क्या रहेगा, इस पर दो विभिन्न विचारों का प्रतिनिधित्व श्रेणी *समाजवाद* के ये दो महारथी ही करते हैं।

---

1. कोकर-आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २८६-८७
2. [illegible] League adopts a [illegible] *Marx's teaching in* [illegible] 'Executive Com[illegible] *e whole capitalist* mittee' for administering [illegible] class There is a tendency to *relegate the state* to the role of an association of consumers, represented *on a number of* bodies elected on a national basis for the *purpose* of negotiating with the big producing *Guilds*."
—*Joad*. Introduction to *Modern Political Theory*, P 83

(i) हॉब्सन का मत (Hobson's View)—हाब्सन का मत है कि श्रेणी समाजवाद से राज्य को सारे समाज के प्रतिनिधि के रूप में (*A representative of the Community as a whole*) जीवित रहना चाहिए। इसकी सत्ता कुछ गिल्डों को बांटकर कम अवश्य करदी जाय, किन्तु फिर भी अन्तिम सत्ता *Final Power*) इसी के पास रहे। कम कार्यों का सम्पादन करने पर भी राज्य की सत्ता में किसी प्रकार कमी नहीं आवे। 'वह सत्ता का आदि स्रोत, अन्तिम न्यायकर्त्ता और उत्पादनकर्त्ता या उपभोक्ता की हैसियत से भिन्न नागरिक की हैसियत में व्यक्ति का प्रतिनिधि बना रहे। उत्पादन के सारे यन्त्र और औजार तथा मशीनें राज्य की ही रहें और वह उन्हें अनेकों श्रेणी समाजवादी गिल्डो को उधार दे। यदि गिल्डों में आपस में झगडा हो जाय तो इसका निर्णय भी राज्य द्वारा ही किया जाय। आर्थिक नीति में न्याय के प्रश्नों—जैसे विदेशों से सस्ते मजदूरों के आयात के विरुद्ध शिकायत अथवा गिल्ड द्वारा वेतन शोषण आदि पर राज्य ही विचार करेगा। राज्य गिल्ड कांग्रेसों की अपील पर सार्वजनिक नीति सम्बन्धी अन्य मामलों पर भी अपना निर्णय देगा। गिल्डों के परस्पर झगड़ों या विवादों के निर्णय के लिए राज्य अन्तिम अपील का न्यायालय होगा, लेकिन उसी समय जबकि गिल्ड कांग्रेस इस कार्य में सफल नहीं होगी। राज्य चाहे तो गिल्डों पर भी कर लगाये तथा उचित समझे तो किन्हीं भी गिल्डों को अपनी अच्छी सेवाओं के परिणामस्वरूप आर्थिक सहायता भी दे। राज्य कर-निर्धारण इस तरह कर सकेगा कि वह गिल्डों की आर्थिक नीति में परिवर्तन कर सके। "कर की मात्रा आर्थिक भाड़े (*Economic Rent*) अर्थात् गिल्ड की ऐसी अर्जित रकम, के बराबर होगी जिसकी मूल्य के अपकर्श (*Depreciation*), पूंजी की व्यवस्था अथवा बीमे के लिए आवश्यकता न हो।" राज्य ऐसे गिल्डों को आर्थिक सहायता देगा जो शिक्षा और स्वास्थ्य की निःशुल्क सेवा करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि व्यक्तियों की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा के लिए राज्य अपनी सेना और पुलिस रखेगा और न्यायालयों की भी व्यवस्था करेगा। हॉब्सन के अनुसार इन कार्यों के अतिरिक्त राज्य को और भी दूसरे कार्य प्रयत्यक्ष रीति से करने होंगे, जैसे दीवानी तथा फौजदारी कानूनों का निर्माण और उन्हें क्रियान्वित करना। वास्तव में हॉब्सन इतना काल्पनिक नहीं था कि वह यह सोचने लगता कि श्रेणी समाजवादी समाज में समस्त अपराधजनक प्रवृतियों का विनाश हो जायगा अथवा गिल्ड के सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए किसी कानूनी दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होगी। राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का भी नियंत्रण करना पड़ेगा। हॉब्सन एक उदारवादी विचारक है जिसका श्रेणी समाजवाद का चित्र बहुत कुछ बहुलवाद (*Pluralism*) का सा है। राज्य को सर्वोच्च अथवा प्रभुत्व देने में हॉब्सन के विचार राज्य-समाजवादियों के समान हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि राज्य-समाजवादियों की अपेक्षा हॉब्सन ने राज्य को बहुत कम कार्य सौंपे हैं।

(ii) कोल का मत (Cole's View)—कोल कुछ अधिक उग्र विचारक है और कम-से-कम अपने व्यक्त इरादे में, अधिक बहुलवादी (*Pluralistic*) है। वह राज्य को इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं देना चाहता

जितना कि हाब्सन देता है। उसने राज्य को गिल्ड के स्तर पर रखने का और इस प्रकार सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य से पूर्णतया मुक्ति पाने का स्पष्ट प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि में राज्य एक आवश्यक संस्था है, जो उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि है, परन्तु किसी प्रकार भी उसका उन संस्थाओं पर प्रभुत्व नहीं है जो उत्पादन करनेवालों समान धर्मवालों अथवा अन्य प्रकार के समान लोगों की प्रतिनिधि हैं। उसे अन्य संस्थाओं के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिये। अन्य संस्थाओं के समान उसके पास भी उतनी ही सत्ता होनी चाहिये जिससे वह समाज में अपने विशिष्ट कार्य को सुचारु रूप से कर सके। कोल चाहता है कि श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में राज्य का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक न हो बल्कि उसके अधिकार और कर्त्तव्य बराबर के अनुपात में हों।

कोकर ने लिखा है कि "कोल की आरम्भिक कल्पना में राज्य के, ऐसी संस्था के रूप में जिसमें मनुष्य अभिन्नता के आधार पर एक होते हैं, राजनीतिक कर्त्तव्य भी होंगे जैसे—समाज की रक्षा, विवाह तथा विवाह विच्छेद का नियंत्रण, बालकों की रक्षा उनकी शिक्षा, विकलांग तथा आश्रित व्यक्तियों की देख रेख, अपराधों का प्रतिरोध और दण्ड। किन्तु इन कार्यों के सम्पादन में भी वह (राज्य) एक प्रभुत्व सत्ता के रूप में कार्य नहीं करेगा। राज्य और [illegible] होती
है उसके [illegible]
होते हैं। [illegible]
के ऊपर एक सर्वोच्च सत्ता आवश्यक होगी और यह सत्ता समस्त संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक संयुक्त संस्था ही हो सकती है। सामान्यतया यह संस्था प्रशासिका या व्यवस्थापिका संस्था के रूप में नहीं वरन् अपील के न्यायालय के रूप में, कार्य आरम्भ करनेवाली नहीं, निर्णय करनेवाली संस्था के रूप में कार्य करेगी। यह "व्यावसायिक न्याय की प्रजातंत्रीय 'सर्वोच्च न्याय-संस्था' (*Democratic Supreme Court of Functional Equity*) समस्त संस्थाओं के सामान्य मामलों पर विचार करेगी। उसे बल प्रयोग के सर्वोच्च अधिकार होंगे और उसका पुलिस तथा कानून से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त व्यवस्था पर अन्तिम नियंत्रण रहेगा। सामाजिक संगठन की ऐसी योजना में प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी, फिर भी इसमें राज्य तथा प्रभुत्व दोनों ही विद्यमान रहेंगे, किन्तु प्रभुत्व राज्य से भी ऊंची संस्था में निहित होगा।"

कोल या कोकर के शब्दों में उद्धृत उपरोक्त विचार उसकी आरम्भिक कल्पना थी। श्रेणी समाजवाद पर जो उसने अपना सबसे नवीनतम ग्रंथ लिखा, उसमें उसने हॉब्सन के इस दावे का ही पूर्ण खण्डन किया है कि "राज्य का सर्वोच्च कार्य समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति करना और समाज के विभिन्न प्रकार के समुदायों के कार्यों का निर्देशन करना तथा उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना है, बल्कि उसने इस धारणा को भी अस्वीकार किया है कि राज्य उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करता है। कोल ने धार्मिक एवं नागरिक सेवाओं के नियंत्रण में भी राज्य को कोई स्थान नहीं दिया है। बाद के इस विचार के अनुसार कोल राज्य का कार्य क्षेत्र अत्यधिक संकुचित कर

देता है और एक संप्रभुता सम्पन्न राज्य की धारणा को पूर्णरूपेण ठुकराता है। मार्क्सवादी भावना के साथ राज्य को वर्ग-शोषण और वर्ग-दमन का एक यंत्र समझते हुए वह कहता है कि एक गिल्ड समाज में, जोकि तत्वतः सामाजिक सहयोग का एक संगठन है, राज्य का कोई स्थान नहीं हो सकता। वह राज्य को अन्य समुदायों की भांति ही एक समुदाय समझता है। जब राज्य अनेक समुदायों में से केवल एक समुदाय है और अन्य सब समुदायों के समान है तो उसे विभिन्न व्यावसायिक समुदायों की क्रियाओं में सामन्जस्य स्थापित करने का अधिकार नही दिया जा सकता, और क्योंकि उसे सामन्जस्य करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, अतः वह सम्प्रभुतासम्पन्न भी नहीं हो सकता। कोल को यह आशा थी कि राज्य के कार्यक्षेत्र को एकदम संकुचित कर देने के परिणामस्वरूप और उसे प्रभुत्वहीन बना देने से एक बड़ी सीमा तक राज्य क्षीण हो जायगा और अन्त में या तो सीधे आक्रमण के कारण या आवश्यक कार्यों से वंचित हो जाने के परिणामस्वरूप क्षय के कारण वह एकदम ही लुप्त हो जायगा।

कोल यदि सामन्जस्य का कार्य राज्य को नहीं देना चाहता तो इसे किसी अन्य समुदाय को भी नहीं सौंपता। वह यह कार्य कम्यून प्रणाली (*Commune System*) को सौंपता है जिसका ढांचा वर्तमान राज्य से तत्वतः भिन्न होगा और जिसकी जगह यह (कम्यून) स्थापित किया जायगा। कोल का यह निश्चित मत है कि समस्त समाज की सामाजिक आत्मा को अभिव्यक्त करनेवाली और समस्त संस्थाओं का आवश्यक एकीकरण करनेवाली 'कम्यून' संस्था समाज की वर्तमान राजनीतिक मशीनरी से सर्वथा पृथक होनी चाहिये और उसे किसी भी अर्थ में वर्तमान राज्य की उत्तराधिकारिणी नहीं मानना चाहिये।

कोल के अनुसार 'कम्यून' का संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर होगा। प्रत्येक ऐसा संगठन अपने समानान्तर गिल्ड संगठन से निकट सम्पर्क रखेगा। कोल के अनुसार 'कम्यून' राज्य का विस्तार मात्र नहीं होगा। उसका यह मानना है कि वर्तमान राज्य का आधार प्रतिनिधि शासन का गलत विचार है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व कर सकता है। वास्तव में ऐसा नहीं है, कोई व्यक्ति किसी एक हित तथा हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसीलिये कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (*Functional Representation*) का समर्थक है। व्यवसाय के आधार पर ही प्रतिनिधित्व अधिक सत्य एवं सार्थक बन सकेगा। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की इसी पद्धति के अनुसार स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय 'कम्यूनों' की रचना होगी।

कम्यून प्रत्येक स्तर पर उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेंगे। एक समाज विशेष के सदस्यों को उत्पादकों के नाते विभिन्न औद्योगिक गिल्डों में संगठित किया जायेगा, जो कि स्थानीय गिल्ड सभा में अपने प्रतिनिधि भेजेंगे। विभिन्न नागरिक कार्यों को करने के लिये लोगों को बहुत से नागरिक गिल्डों में संगठित किया जायेगा, वे उपभोक्ताओं की समस्याओं का निराकरण करने के लिये एक सहकारी परिषद, शिक्षात्मक

उद्देश्यों के लिये एक सांस्कृतिक परिषद् एक स्वास्थ्य परिषद्, एक सामूहिक उपयोगिता परिषद् तथा सम्भवतः ऐसी ही कुछ और परिषदें रखेंगे। इन विभिन्न औद्योगिक एवं नागरिक गिल्डों अथवा परिषदों के प्रतिनिधियों को मिलाकर स्थानीय कम्यून की रचना होगी जो एक सामञ्जस्यकारी संस्था और एक अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करेगा। प्रादेशिक औद्योगिक एवं नागरिक गिल्डों के प्रतिनिधियों को मिलाकर प्रादेशिक 'कम्यून बनाये जायेंगे। इसी प्रकार एक राष्ट्रीय बनाया जावेगा जिसमें औद्योगिक, कृषि सम्बन्धी तथा नागरिक राष्ट्रीय गिल्डों ,धार्मिक और नागरिक राष्ट्रीय परिषद्, एवं प्रादेशिक कम्यूनों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित होंगे। स्पष्ट है कि कम्यूनों का सदैव व्यावसायिक आधार होना चाहिये, यद्यपि कुछ हद तक इसमें क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व भी हो सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि स्थानीय, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय संगठनों के सम्बन्ध में कम्यून के क्या-क्या कार्य होने चाहिए ? इन कार्यों को मोटे रूप में पांच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, और इन्हें कोकर ने संक्षेप में किन्तु अति स्पष्टता से इस प्रकार बताया है।

(१) राजस्व सम्बन्धी कार्य—'कम्यून को राजस्व सम्बन्धी (*Financial*) मामलों में महत्वपूर्ण एवं व्यापक अधिकार होंगे जिसमें मूल्यों का अन्तिम नियन्त्रण भी शामिल है। कोल ने दुग्ध सम्बन्धी उदाहरण देकर इस नियन्त्रण व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। दुग्ध वितरण करनेवाला गिल्ड उपभोक्ता सहकारी समिति दुग्ध की कीमत तय करके बतायेगा। यह कीमत इन बातों को ध्यान में रखकर निश्चित की जावेगी कि दुग्ध-वितरक गिल्ड कृषि गिल्ड को दूध का क्या मूल्य देता है और वितरण में क्या व्यय बैठता है। यदि दोनों सहमत हो जाते हैं तो कीमत अथवा मूल्य का निर्धारण हो जाता है। मतभेद की सूरत में यह प्रश्न कम्यून के पास निर्णय के लिये जाता है। कम्यून को यह निर्विाद अधिकार होगा कि वह 'सामाजिक कारणों से' कम या अधिक मूल्य निश्चित कर दें और परिणामस्वरूप होनेवाले हानि या लाभ को उचित रूप से बांट दे। कम्यून को राजस्व सम्बन्धी एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार यह होगा कि वह विविध उद्योगों और सेवाओं में राजस्व [illegible] करेगा। इस अधिकार का प्रयोग प्रमुखतः [illegible] रने की शक्ति के माध्यम से होगा। [illegible] सम्बन्धी बहस में भाग लेने का और अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। उपरोक्त अधिकारों में ये दो राजस्व अधिकार भी शामिल हैं—(क) कर निर्धारण-प्रत्येक गिल्ड पर कुछ कर लगाया जायेगा, गिल्ड को अपने सदस्यों पर व्यक्तिगत रूप में कर लगाने का या नियत धन-राशि को अन्य प्रकार से एकत्र करने का अधिकार होगा, (ख) ऋण पर अन्तिम नियन्त्रण—चाहे बैंकों का संचालन विविध गिल्ड करें या गिल्ड कांग्रेस करे।"[1]

(२) विभिन्न व्यावसायिक समुदायों के बीच नीति सम्बन्धी मतभेदों का निराकरण—'यदि व्यावसायिक संघों अथवा समुदायों के मध्य नीति-

1. कोकर–आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २६५.

सम्बन्धी विषयों पर ऐसे प्रश्न उपस्थित हों, जिनका समाधान गिल्ड कांग्रेस या गिल्ड कौंसिलें न कर सकें तो उनका निराकरण यथा निर्णय कम्यून करेगा।"

(३) व्यावसायिक समुदायों के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करना—"विभिन्न व्यावसायिक संघों के बीच सत्ता-विभाजन का अधिकार कम्यून को होगा। यह कार्य वह वैधानिक कानूनों' का निर्माण करके, जो इन संस्थाओं के क्षेत्रों का निर्धारण करेंगे और अपनी न्याय व्यवस्था के द्वारा ऐसे कानूनों की व्याख्या और उनके अमल के सम्बन्ध में होनेवाले झगड़ों का निर्णय करेगा।"

(४) किसी व्यावसायिक सत्ता के अन्तर्गत न आनेवाले सामाजिक मामलों की व्यवस्था करना—"कम्यून ऐसे सामाजिक मामलों की भी व्यवस्था करेगा जो किसी भी व्यावसायिक सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते। ऐसे मामले निम्न प्रकार के हैं:—

(१) युद्ध एवं शान्ति की घोषणा तथा सशस्त्र बल (सैन्यबल) का नियंत्रण (यद्यपि सेना तथा नौसेना का संगठन भी गिल्डों के अनुसार होगा);

(२) वैदेशिक सम्बन्धों का नियंत्रण—विशेष रूप से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा नागरिक प्रश्नों का निर्धारण जो राजनीतिक प्रश्नों से उलझे हुए हों या जिन्हें आर्थिक तथा नागरिक गिल्ड उसके समक्ष प्रस्तुत करे,

(३) नगरों, कस्बों तथा प्रदेशों की सीमाओं का निर्धारण;

(४) व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों का नियंत्रण। यह चौथा कार्य अवशिष्ट राज्य को सौंपा जा सकता है, जिसके दमनकारी कानूनों के लिए कम्यून की स्वीकृति आवश्यक होगी (राज्य के सम्बन्ध में यह केवल एक प्रयोग के लिए रखा हुआ अपवाद है)

(५) बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग—कम्यून को व्यक्तियों तथा व्यावसायिक संस्थाओं को अपने कानूनों एवं निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकने की सत्ता भी होगी। व्यक्तियों के विरुद्ध दमन का प्रयोग फौजदारी की विधि के अनुसार किया जायेगा। समुदायों के विरुद्ध दमन का प्रयोग आर्थिक बहिष्कार का रूप ग्रहण करेगा। कोल का कथन है कि "दमन का प्रयोग अन्तिम अस्त्र के रूप में ही किया जावेगा।" उसे यह आशा थी कि गिल्ड समाज में जहां कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न होगा, समृद्धि के मध्य कुचलनेवाली गरीबी न होगी और जहां कि अधिकारों तथा कर्तव्यों की न्यायपूर्ण व्यवस्था और आत्माभिव्यक्ति के पर्याप्त अवसर मुकद्मेबाजी तथा अपराध की प्रवृत्तियों को बहुत कम कर देंगे, बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता बहुत कम रह जावेगी।

जहां तक स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय कम्यूनों को मिलाकर एक एकल ढांचा खड़ा होता है जिसमें सम्पूर्ण समाज की सामाजिक भावना अभिव्यक्त होती है, कोल की व्यवस्था हॉब्सन के संगठन से बहुत भिन्न नहीं रह जाती, यद्यपि वह उसे राज्य की संज्ञा नहीं देता तथा इस धारणा का खण्डन करता है राज्य समस्त अधिकार का अन्तिम स्रोत है।

उत्पादन और वितरण के प्रमुख साधनों पर हॉब्सन और कोल दोनों सार्वजनिक अर्थात राज्य का या समाज का स्वामित्व स्थापित कर देना चाहते थे, लेकिन उनके प्रबन्ध का काम व्यक्तिगत उद्योगो की भांति ही, विविध गिल्डो के कार्यकर्ताओं के हाथों मे ही रखने के पक्षपाती थे। राज्य (अथवा कम्यून) को 'व्यक्तिगत आर्थिक व्यवसायो पर कर-निर्धारण तथा मूल्य, वेतन और काम की शर्तो के नाना प्रकार के नियमन द्वारा नियन्त्रण रखना होगा। कर-निर्धारण मे (हॉब्सन के अनुसार) राज्य या (कोल के अनुसार) कम्यून विभिन्न गिल्डो पर एक मुश्त रकम के रूप मे कर लगायेगा। वस्तुओं के मूल्य स्वय गिल्डों द्वारा अलग अलग अथवा विविध गिल्डो के आपसी समझौते द्वारा निश्चित होंगे लेकिन जहा कोल सामाजिक हित के कारण मूल्य पर पुनर्विचार करने और मूल्य का निर्धारण करने का कार्य कम्यून को सौंपता है वहा हॉब्सन का विचार है कि "मूल्य नियन्त्रण पर राज्य की सत्ता करके रूप मे अतिरिक्त आय को प्राप्त करने की नीति के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष होगी।" काम के लिये पारिश्रमिक देने के बारे में हॉब्सन और कोल दोनो ने जहा प्रारम्भिक निर्णय का अधिकार गिल्ड को दिया वहा पुनर्विचार का अधिकार राज्य और कम्यून को दिया गया।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि कोल का कम्यून तथा हॉब्सन का परम्परागत राज्य से कुछ कम प्रभुत्वसम्पन्न नहीं लगता। लेकिन दोनो विचारकों को आशा थी कि श्रेणी समाजवादी समाज मे स्वेच्छाचारी, अत्याचार एव दमनपूर्ण राजनैतिक सत्ता के प्रयोग की प्रवृति अत्यन्त क्षीण होगी।

ट्रेड यूनियन और गिल्डस (Trade Union and Guilds)—वर्तमान समाज मे ट्रेड यूनियन तथा गिल्डस यद्यपि आपस मे बहुत कुछ मिलते जुलते से लगते हैं और दोनों कार्य भी मिलकर एक दूसरे के सहयोग से करते है, किन्तु ये दोनो एक ही वस्तु नही है। उद्देश्य की दृष्टि से ट्रेड यूनियन तथा गिल्ड दोनो ही मजदूर वर्ग का कल्याण चाहते हैं और अपनी अपनी व्यवस्थाओं और प्रयत्नो द्वारा उनकी स्थिति को अच्छी बनाने के लिए कोशिश भी करते हैं, परन्तु इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है जो इनकी भिन्नताओं को स्पष्ट करते हैं—

(१) ट्रेड यूनियन मे केवल मजदूर ही सदस्य होते हैं, उस व्यवसाय अथवा उद्योग मे काम करनेवाले ऊचे अधिकारी, प्रबन्ध मैनेजर, खजाची, सेल्समैन इत्यादि ट्रेड यूनियन के सदस्य नही होते, किन्तु गिल्डो की व्यवस्था मे बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवी सब प्रकार के श्रमिक आ जाते हैं,

(२) ट्रेड यूनियन का उद्देश्य मजदूरी मे वृद्धि, काम के घटों मे कमी तथा काम की दशाओं मे सुधार आदि रियायतें पाना होता है जबकि किसी भी उद्योग या व्यवसाय से सम्बन्धित गिल्ड उस पर पूर्ण नियन्त्रण करना चाहता है अर्थात् उसके सगठन और प्रबन्ध का उत्तरदायित्व भी गिल्ड पर होगा। साधारण ट्रेड यूनियन स्वभावत औद्योगिक कुशलता के प्रति अवरोध व शत्रुता का दोषी समझा जाता है। गिल्ड का उद्देश्य केवल स्वार्थ नहीं बल्कि समाज सेवा होगा अर्थात् गिल्ड समुदाय के हित मे उद्योग या व्यवसाय का सचालन करेगा।

(३) ट्रेड यूनियन आज के समाज की बड़ी उग्र और क्रान्तिकारी संस्था है जो पूंजीवादको जड़ से पकड़कर उखाड़ फेंकना चाहती है,किन्तु इसके विपरीत गिल्ड समाजवाद एक शांतिपूर्ण तथा धीमा आन्दोलन है जो बिना किसी हिंसा के उद्योगों को अपने अधिकार में लेना चाहता है।

इस प्रकार गिल्ड व्यवस्था एक विशाल तथा ऊंची व्यवस्था है जिसका आधार ट्रेड यूनियन ही है और अगर समाज में गिल्ड समाजवाद आया तो ये ट्रेड यूनियन ही गिल्डों के रूप मे बदल जायेंगी।

श्रेणी समाजवाद के साधन (Methods of Guild Socialism)— श्रेणी समाजवादियों के राजनैतिक सिद्धान्त के बाद अब उन साधनों पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए जिनका उन्होंने अपनी कल्पना के नवीन समाज की स्थापना के लिये अनुमोदन किया है। जिस तरह उनमें भावी सामाजिक व्यवस्था के विवरण पर मतभेद है उसी तरह अपने उद्देश्य के सिद्धि-साधनों के विषय में भी वे एकमत नहीं हैं। लेकिन एक बात पर श्रेणी-समाजवादी आमतौर से सहमत है और वह यह है कि राजनीतिक साधन व्यर्थ हैं और आर्थिक साधन पर निर्भरता आवश्यक है।

श्रेणी समाजवादियों के अनुसार राजनीतिक कार्य अथवा तरीके पर्याप्त नही हैं। कोल का यह विश्वास था कि संवैधानिक राजनीतिक कार्यों के द्वारा क्रान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि (१) पूंजीवाद में यह संभव नही होगा कि सभी श्रमिक वर्ग एक साथ मतदान करें अथवा उनमें वर्गीय चेतनाशील बहुमत कभी शासन पर नियंत्रण पा सकेगा, (२) और यदि कभी ऐसे शासन की स्थापना हो भी जाये तो भी वांछित परिवर्तन संसदीय तरीकों द्वारा एक शताब्दी से पहले लाना संभवत: सम्भव नहीं होगा, (३) राज्य का वर्तमान संगठन किसी भी ऐसे कार्य को पूरा करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है जिससे समाज की रचना में आधारभूत परिवर्तन लाया जा सके, (४) राजनीतिक उपायों द्वारा वांछित परिवर्तन के लिए यदि प्रयास भी किये जायें तो उसके प्रत्युत्तर में शासक वर्ग क्रान्ति विरोधी कार्य को संगठित करेगा, एवम् (५) वह मूलभूत कारण जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक उपायों द्वारा समाज में वांछित परिवर्तन न आ सकेंगे यह है कि वांछित परिवर्तन राजनीतिक न होकर आर्थिक हैं। परन्तु, यह उल्लेखनीय है कि संघवादियों के विपरीत श्रेणी समाजवादी राजनीतिक साधन का पूर्णत: बहिष्कार नहीं करते। श्रमिक वर्ग को शिक्षित करने और पूंजीवाद की गति को बाधित करने के लिए एक उपयोगी साधन के रूप में वे उसे अपनाते हैं।

इंगलैंड में उत्पन्न होने के कारण श्रेणी समाजवाद विकासवादी समाज की एक शाखा है जो कभी क्रान्तिकारी नहीं हो सकता। **समूहवाद (Collectivism) की तरह वह शांतिपूर्ण और अहिंसक उपायों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बदल डालने में विश्वास करता है और संघवादियों की रक्तरंजित क्रान्ति तथा हड़तालों की प्रणाली को राष्ट्र के लिये हानिकारक मानता है।** श्रेणी समाजवाद वैधानिक उपायों (*Constitutional Methods*) में विश्वास करता है और चाहता है कि श्रेणी समाजवादी लोकप्रिय बनकर सरकार तक पहुँचे और अपनी योजना को कार्य रूप मे परिणत करें। वह यह मानता

है कि पूंजीपतियो मे शनै शनै सत्ता पूरी तरह छीनी जा सकती है। यह विकासवादी समाजवाद श्रमिको का कल्याण चाहता है और ऐसी कोई भी चीज नही करना चाहता जो उनके लिए अन्त म हानिकारक सिद्ध हो। श्रेणी समाजवादी तरीके के विषय मे प्रो० कोल का लिखना है कि 'शीघ्रता से क्रान्ति लाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है विकासवाद के मार्ग द्वारा उन सब शक्तियों को दृढ़ करना जिससे आनेवाली क्रान्ति एक वर्ग युद्ध न होकर समाज मे क्रियाशील वृत्तियों का एक अन्तिम परिणाम व प्राप्त तथ्य सी मालूम हो।'[1]

श्रेणी समाजवादियो द्वारा अनुमोदित आर्थिक साधन उस प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) से भिन्न है जो समाजवादी औद्योगिक क्षेत्र मे अपनाते हैं। इसम तोडफोड हडताल आदि सम्भव नही है। यह मूलत विकासवादी है क्रान्तिकारी नही यद्यपि कोल पूंजीवादियो से बलपूर्वक सम्पत्ति छीने जाने की सम्भावनाओ से इन्कार नही करता यदि पूंजीवाद अपने क्रमिक ह्रास का विरोध करें। इस प्रसग म यह भी उल्लेखनीय बात है कि कुछ श्रेणी समाजवादियो ने वर्तमान व्यवस्था को क्रान्तिकारी ढग से विनष्ट करने के *प्रयत्न का भी अनुमोदन किया है लेकिन कोल का तर्क यह है कि वर्तमान स्थितियो मे शक्ति के बल पर पूंजीवाद का विनाश करने पर एक बडा दीर्घ समय लग जायेगा अत यह सर्वथा वाछित है कि श्रमिक सघ आर्थिक शक्ति* का प्रयोग करते हुए विभिन्न क्रमिक अधिकार प्राप्त करने की नीति का अनुसरण करें। कोल के अनुसार हो हाब्सन का भी यह विश्वास था कि यदि श्रमिक स्वय को सगठित कर सकें और अपने भीतर निहित शक्ति को विकसित कर सकें तो एक या दो उद्योगो के उद्योगपतियो को भरसक प्रतिफल के बदले मे अपनी मशीनें और कलो को राज्य के सामने समर्पित करने के लिये विवश किया जा सकता है।

जिन उपायों से *श्रेणी समाजवादी शनै शनै पूंजीवादी व्यवस्था को* बदल करके श्रेणी समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं व इस प्रकार है —

(१) क्रमश अधिकार जमाने की नीति (The policy of Encroaching Control) —सामाजिक ढाचे के कायकलाप मे ट्रेड यूनियनो को उपयोगी बनाने के लिए उनके सगठन मे आमूलचूल परिवर्तन किये जाने चाहिए। *उनका सगठन शिल्प कला की अपेक्षा उद्योग के आधार पर होना चाहिए और उनकी सदस्यता का पर्याप्त विस्तरण होना* चाहिए ताकि उनमें अधिकाश असगठित और अकुशल श्रमिक लिपिक प्रावधानिक कमचारी और प्रबन्धकगण सभी सम्मिलित हो सकें। इसके अतिरिक्त समस्त ट्रेड यूनियनो

---

1 Our aim is not early Revolution but *the consolidation* of all forces on the lines of *Evolutionary developments* with a view to making the revolution *as little* as possible a civil war and as much *as possible* a Registration of accomplished *facts and a culm nation* of tendencies already in operation'
—*Cole*

को एक निकाय में संगठित करना चाहिए जिसमें कि विविध उद्योगों और सेवाओं के लिए आंतरिक रूप से स्वतन्त्र संस्थायें हों। साथ ही ट्रेड यूनियनों का विस्तार इस सीमा तक किया जाना चाहिए कि श्रम बाजार पर उनका एक प्रकार का अधिकार स्थापित हो जाये। श्रेणी-समाजवादियों का यह मत है कि अपने संगठन को शक्तिशाली बनाकर श्रमिकों में क्रमिक नियन्त्रण (*Encroaching Control*) की नीति का अनुसरण करना चाहिए। श्रेणी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग के सब कर्मचारियों की–चाहे वे श्रमजीवी हों और चाहे बुद्धिजीवी हों–एक श्रेणी होगी जिसमें चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी सम्मिलित होंगे। चूंकि इस तरह इन समितियों का संगठन वर्तमान ट्रेड यूनियनों से अधिक व्यापक होगा, अतः पूंजीपति सरलता से इनकी मांगों को ठुकरा न सकेंगे। पूरे संगठन की शक्ति के सहारे ये श्रेणियां अथवा गिल्ड उद्योगों के प्रबन्ध में अधिकाधिक भाग व अधिकार मांगते जायेंगे। इस प्रकार क्रमशः अधिकाधिक अधिकार जमाने की नीति के द्वारा छोटी छोटी श्रेणियां उद्योग के प्रबन्ध व संचालन सम्बन्धी सभी अधिकार अपने हाथ में ले लेंगी और उद्योगों पर श्रमिकों का स्वशासन स्थापित हो जायेगा। प्रो० कोकर के अनुसार "शनैः शनैः नियन्त्रण की इस पद्धति का अर्थ स्वामियों से अधिकारों को छीनकर मजदूरों के हाथ में समर्पित कर देने से है।"

(२) सामूहिक ठेका (Collective Contract):—उपरोक्त पद्धति से मिलती जुलती पद्धति सामूहिक ठेके की है। श्रेणी समाजवादियों का यह तरीका भी शांतिप्रिय है। इसका उद्देश्य पहले मिल मालिकों से सामूहिक ठेके के रूप मे काम ले लेना है और फिर शीघ्रता के साथ अल्प समय में काम समाप्त करके मिल मालिकों से अपने पूरे पैसे ले लेना है। सामूहिक ठेके व्यवसायिक श्रेणियों या गिल्डों द्वारा लिये जायेंगे। इस पद्धति का एक उत्तम लाभ यह है कि श्रमिक स्वयं अपने प्रबन्ध करेगा और उद्योगपतियों के अनुचित हस्तक्षेप से भी दूर रह सकेगा। वस्तुओं के उत्पादन में भी समय की बचत होगी, तथा पूंजीपतियों से व्यर्थ का संघर्ष भी नहीं हो पायेगा।

(३) औद्योगिक प्रतियोगिता (Industrial Competition):—तृतीय उपाय, जिसका प्रयोग श्रेणी समाजवादी करना चाहते हैं, औद्योगिक प्रतियोगिता है। इसके विषय में उनका कहना है कि श्रमिकगण सामूहिक सहयोग के आधार पर पूंजीपतियों की प्रतियोगिता में स्वयं उद्योगों की स्थापना करें तथा स्वयं श्रेणी संगठन ऐसे उद्योगों का प्रबन्ध और संचालन करें। इन श्रेणियों के संगठन द्वारा श्रमिक उद्योगपतियों को अपने समक्ष झुकाने में समर्थ हो सकेंगे। श्रेणी-समाजवादी प्रचार और विज्ञापन में भी काफी विश्वास करते हैं, क्योंकि उनके द्वारा समाजवादी विचारधारा जनप्रिय बनती है और मजदूरों में संगठन तथा स्वावलम्बन की भावना जागृत होती है।

श्रेणी समाजवाद की आलोचना एवं उसका मूल्यांकन (Criticism and Estimate of Guild Socialism)—श्रेणी समाजवादी आंदोलन का जीवनकाल २० वर्ष से भी कम समय तक रहा। यह १९०६ में पेंटी के ग्रन्थ "*Restoration of Guild System*" के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ और १९२५ में '*National Guild League*' के विघटन के साथ ही समाप्त हो गया।

'National Guild League' की असफलता इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सैद्धांतिक दृष्टि से बहुत कुछ उपयोगी और स्वस्थ होते हुए भी, श्रेणी समाजवाद एक अव्यावहारिक विचारधारा है, जिसकी दुर्बलता इतिहास द्वारा सिद्ध हो चुकी है। फिर भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो इस विकासवादी तथा मध्यमार्गी समाजवाद पर सैद्धांतिक दृष्टि से भी अनेक आरोप लगाते हैं।

लेडलर (*Laidler*) ने श्रेणी समाजवाद के विरुद्ध अनेक गम्भीर एवं दृढ़ आरोप लगाये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) आधुनिक समाज पर, जिसमें कि पूंजीवादी व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इतने अधिक विस्तृत हैं, मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था को ऊपर से लागू करने में अनेक कठिनाइयां आयेंगी, (२) श्रेणी समाजवादियों के लिए यह सर्वथा अनुचित है कि वे श्रेणी या गिल्ड व्यवस्था को इतना अधिक उच्च स्थान दें, क्योंकि मध्ययुग में ही गिल्ड व्यवस्था का गुटबन्दियों के कारण पतन हो गया था, इसके अतिरिक्त इस बारे में कोल और पेंटी के विचारों में अन्तर है, (३) इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है जिसका स्वाभाविक परिणाम है कर्मचारियों के अन्य महत्वपूर्ण मामलों में अभिरुचि कम करना, एवं (४) अनेक समाजवादियों ने इस बात को उचित नहीं समझा है कि विभिन्न उद्योगों की नियन्त्रण-मण्डलियों में केवल उत्पादकों के ही प्रतिनिधि रहें। वे पूछते हैं कि उपभोक्ताओं को उनमें क्यों न प्रतिनिधित्व दिया जाय।[1]

अन्य आलोचकों ने उपरोक्त एवं विभिन्न दूसरे आधारों पर श्रेणी समाजवाद के विरुद्ध अपनी आपत्तियां की है। उनका कहना है कि समाज में राजनैतिक प्रश्नों और आर्थिक प्रश्नों जैसा एक स्पष्ट तथा निश्चित बटवारा नहीं हो सकता। वास्तव में व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से इतनी घनिष्ठता से चिपके रहते हैं कि कोई भी गिल्ड-समाजवादी यह नहीं कह सकता कि कौन-कौन से कार्य गिल्डों को सौंप दिये जायें और कौन से राज्य के लिए छोड़े जाय। सभी प्रश्नों में इस प्रकार का भेद अथवा बटवारा असम्भव है जबकि गिल्ड या श्रेणी समाजवादी ऐसा मानकर एक भूल करते हैं।

श्रेणी समाजवाद के अनुसार दो संसद (*Parliaments*) होंगी एक राजनैतिक संसद जिसका संगठन प्रादेशिक आधार (*Territorial basis*) पर होगा, और दूसरी आर्थिक संसद जिसका संगठन व्यावसायिक आधार (*Functional basis*) पर होगा। पहली संसद राज्य का अंग होगी जबकि दूसरी गिल्ड व्यवस्था का। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दोनों के बीच संघर्ष को किस प्रकार हल किया जाय। दोनों संसदों की समान शक्तिवाली संयुक्त समिति इस संघर्ष को हल करने में असमर्थ रहेगी और श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में इन दोनों संसदों के आपसी विवादों को निपटाने के लिए कोई उच्च संस्था नहीं होगी। परिणामतः अन्त में राज्य को अन्तिम सत्ता दिये

---

1 *Laidler*, Social Economic Movements, P. *339–40*

बिना काम नहीं चलेगा जिसका अर्थ यह होगा कि संघ की स्वाधीनता नष्ट हो जायगी।

हॉब्सन का मत है कि, "दो राज्यों का विचार, एक-एक गिल्ड्स का संघ जो सारी आर्थिक व्यवस्था में व्याप्त होगा और दूसरा राजनैतिक राज्य जो आन्तरिक तथा बाह्य शांति-व्यवस्था के साथ-साथ कहीं-कहीं आर्थिक व्यवस्था में भी हस्तक्षेप करेगा, आलोचना के सामने नहीं ठहर सकता।"[1] तात्पर्य यह है कि श्रेणी समाजवादी व्यवस्था आत्मविरोधी (*Self-Contradictory*) है। एक ओर वह आर्थिक स्वायत्त शासन चाहती है और दूसरी ओर राजकीय हस्तक्षेप भी। ये दो विरोधी बातें हैं। गिल्ड समाजवादी इनमें सामन्जस्य (*Compromise*) स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु मध्य-मार्ग पर चलने के कारण व किसी भी निश्चित स्थान पर नहीं पहुंचते।

आलोचकों का कहना है कि औद्योगिक क्षेत्र में गिल्ड व्यवस्था लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करेगी। मजदूरों के संघ का उत्पादन पर पूरा अधिकार होने पर वे लोग सुस्त हो जायेंगे और कुशलता से काम नहीं करेंगे। उद्योगों में चारों ओर अनुशासहीनता, बेईमानियां व जालसाजियां फैलेंगी, जिसके कारण उनमें अर्थात् उद्योगों में एक गतिहीनता (*Stagnation*) आ जायगी। मजदूर समाज सेवा के आदर्श को भूल जायेंगे, अत. उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों का अहित होगा।

आलोचक कहते है कि मनुष्य आखिर मनुष्य है, चाहे वह मजदूर हो या पूंजीपति। यह मानव स्वभाव है कि मनुष्य स्वार्थ की भावना से अधिक प्रेरित होता है और व्यक्तिगत लाभ न मिलने पर परिश्रम करना छोड़ देता है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में कार्य करने के लिये कोई प्रेरक शक्ति (*Incentive*) न होने के कारण श्रमिक कठोर परिश्रम से कतरायेंगे। इसके अतिरिक्त यह बड़ी सम्भावना है कि उत्पादकों के गिल्डों में स्वार्थ की भावना इतनी पुष्पित हो जाय कि वे अपने हितार्थ जनता का शोषण करने लगें। ऐसा होने से श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में अराजकता फैल जायगी और विभिन्न गिल्ड जनता का पूंजीवादियों से भी अधिक शोषण करने में सफल होंगे। इस आधार पर श्रेणी समाजवाद के टूट जाने का अर्थ किसी भी प्रकार के समाजवाद का टूट जाना होगा, क्योंकि समाजवाद की सफलता इसी आधारभूत प्रश्न पर निर्भर करती है कि क्या मनुष्यों में स्वार्थ की भावना के स्थान पर समाज सेवा की भावना पैदा की जा सकती है।[2]

---

1. "The nation of two states, one of federation of Guilds running through the whole body of Economic arrangement for the nation and the other a political state running the services relating to internal and external order and only concerned to intervene in Economic methods at a few reserved point will not bear criticism."

—*Hobson*

2. *Joad :* Introduction to Modern Political Theory, P. 83

श्रेणी समाजवाद मध्यकालीन गिल्ड प्रणाली की भावना को पुनर्जीवित करने और उस आधुनिक उद्योगवाद पर आरोपित करने का एक प्रयास था और इसका स्वाभाविक परिणाम उसकी विफलता थी ठीक वैसे ही जैसे कि कोई पुरानी और समय के प्रतिकूल व्यवस्था नवीन परिस्थितियों पर लादे जाने के प्रयत्न मे असफल होती है। मध्यकालीन गिल्ड प्रणाली और आधुनिक उद्योग म कोई सगति नही हो सकती। एक का आधार था अत्यन्त कुशल और लघुस्तर के ऐसे कुटीर उद्योग जो धार परम्परावादी और स्थानीयता की भावना स पोषित थे, जबकि दूसर का अर्थात् आधुनिक उद्योग का आधार है श्रम का अति सूक्ष्म विभाजन, वृहद स्तर पर सगठन और उत्पादन। अत: यह एक:न समझ मे आनेवाली बात है कि मध्यकालीन गिल्ड प्रणाली को आधुनिक उद्योग प्रणाली पर आरोपित करने की कोई चेष्टा की जाय। इस प्रयास की तुलना कारपन्टर ने सन फ्रासिस के सगठन और इस भावना को आधुनिक *'Charity Organization Society'* पर आरोपित करने के प्रयास से की है।

गिल्ड भावना न केवल आधुनिक उद्योगवाद से असगत है बल्कि अपने आधारभूत विचारों म यह अनाकर्षक भी है। आकर्षण किसी भी आन्दोलन की सफलता तथा उसके दाघ जीवन की पहली शर्त होती है। वास्तव मे यथार्थवादी (*Realist*) होने के बदले श्रेणी समाजवाद एक काल्पनिक विचारधारा (*Visionary*) अधिक थी जिसके प्रवर्त्तक सब बुद्धिवादी अग्रेज थे, जिन्हे समाज की असली स्थिति का ज्ञान कम था, अत वे व्यावहारिक दृष्टि से न तो इसे लोकप्रियता ही दिला सके और न इसको कार्य रूप मे परिणत करने की कठिनाईयों का ही सोच सके।

समाज म सुख और शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि उसमें अधिक सस्थाए न हों। आलोचकों का मत है कि ये सस्थाए सख्या मे जितनी अधिक होंगी, उतनी ही समस्याए बढेंगी और झगडे अधिक होंगे। श्रेणी समाजवाद इन सस्थाओं की अधिकता को स्वीकार कर, समाज मे प्रतिद्वन्द्विता तथा शत्रुता की भावनाओं को बलवती बनाता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में दुर्गुण स्वत: एव अन्तर्निहित (*Inherent*) हैं क्योंकि यह राष्ट्रीय हितों को अनेकों गिल्डो के आधीन बना देती है।

अनेक आलोचकों ने राज्य के नाश की आवश्यकता तथा एक नई सस्था के निर्माण के सम्बन्ध म कोल की 'कम्यून प्रणाली' की कटु आलोचना की है। कम्यूनो के लिय जो नतिरोध तथा सतुलन का सिद्धान्त (*System of Checks and Balances*) प्रस्तावित किया गया है, उसके कारण वे बहुत से निर्णय करने मे असमर्थ रहगे। कारपेन्टर (*Carpenter*) के अनुसार 'गिल्ड कम्यून्स' जनता को व्यक्तियो के विभिन्न हितों के आधार पर सगठित करेंगे, एक कम्यून को दूसरे कम्यून को धमकाने का अधिकार प्राप्त होगा और किसी व्यक्ति को भी—समस्त जनता को भी—अन्तिम निर्णय करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं होगा। सर्वशक्तिमान राज्य त्रुटि करता है, कभी-कभी अपना कार्य बुरे प्रकार से करता है, किन्तु वह काम अवश्य करता है, और वह का[illegible] होनेवाले काम से कहीं बढ चढकर है। मैकाइवर [illegible] अवस्था मे [illegible] पुष्टि होगी, खतरा यह नहीं [illegible]

किन्तु खतरा इस बात का है कि सामान्य हितों को उचित महत्व नहीं मिलेगा, वे प्रभुत्व से प्रभावित होंगे। इस खतरे के विरुद्ध राज्य सामान्य अड़वाल है (इस भय से रक्षा के लिये केवल राज्य ही हो सकता है) क्योंकि उसका संगठन किसी सीमा तक सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।"[1]

कोल, हॉब्सन एवं अन्य श्रेणी समाजवादियों ने क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का खण्डन करके व्यावसायिक सिद्धान्त का पक्ष पोषण किया है। किन्तु क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली का खण्डन करते समय वे इस सत्य को भूल जाते है कि संसद के सदस्यों का कार्य सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना है, अपने-अपने निर्वाचकों के विशिष्ट हितो की रक्षा करना नहीं। बर्क की यह धारणा सही है कि एक संसद-सदस्य अपने निर्वाचकों का प्रतिनिधि (*Delegate*) नही है, अतः उसका कार्य अपने निर्वाचको के विचारों का प्रतिनिधित्व करना और उनके हितों की रक्षा करना न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की ओर से सरकार पर निगाह रखना है। बर्क की इस धारणा से सहमत होने पर व्यावसायिक की अपेक्षा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली अधिक उपयुक्त है। यदि संसद सदस्यो को व्यावसायिक आधार पर निर्वाचित किया जायगा तो संसद का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जायगा और वह विभिन्न एव परस्पर विरोधी हितों के प्रतिनिधियों की एक अजातीय (*Heterogeneous*) सभा मात्र बन जायगी। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका में व्यावसायिक आधार पर सबको सामान्य प्रतिनिधित्व मिलना व्यावहारिक दृष्टि से यदि असम्भव नहीं तो नितान्त अनुचित एव अत्यन्त कठिन तो है ही। उदाहरणार्थ क्या व्यवस्थापिका सभा में समस्त अध्यापकों को सामान्य प्रतिनिधित्व मिलेगा, अथवा बाल-शिक्षकों, प्राथमिक शिक्षकों, माध्यमिक शिक्षकों, स्नातक शिक्षकों और स्नातकोत्तर शिक्षकों का प्रतिनिधित्व अलग-अलग होगा? स्पष्ट है कि सभी शिक्षकों को सामान्य प्रतिनिधित्व देना न तो उचित ही होगा और न व्यावहारिक ही। साथ ही उन्हें विभिन्न समूहों में विभक्त करने का अर्थ होगा अनन्त विभाजन को प्रोत्साहन देना।

श्रेणी समाजवाद की असफलता का एक प्रमुख कारण आलोचक यह बताते हैं कि इसके समाज का वास्तविक स्वरूप कैसा होना चाहिये-इस पर श्रेणी समाजवादी विचारक आपस में ही एकमत नहीं है। हॉब्सन तथा कोल दोनों श्रेणी समाजवादी समाज के दो अलग-अलग प्रकार के चित्र उपस्थित करते हैं। इस मत वैभिन्य के कारण श्रेणी समाजवाद एक निश्चित विचारधारा नहीं बन सका। राष्ट्रीय गिल्ड लीग के रूप में इसे पहली बार व्यावहारिक बनाने का जो प्रयास किया गया वह आर्थिक गिराव (*Economic*

---

1. "The danger is not that particular interests will not be focussed and asserted, but rather that the general interest may suffer domination through their urgency. Against this danger the general bulwark is the state, because its organisation pre-supposes and in some degree realises the activity of the general will."

—*Mac Iver*

depression) तथा बेरोजगारी के कारण प्रारम्भ होने से पहले ही असफल होगया ।

आज श्रेणी समाजवाद स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में नष्ट हो चुका है। स्वयं कोल महोदय भी मानते है कि 'श्रेणी समाजवाद का पतन हो चुका है।'

मूल्यांकन (Evaluation)—विश्वव्यापी समाजवादी क्रांति मे स्थान ढूंढने पर यह निश्चित रूप से प्रकट है कि *सक्रिय राजनीति से श्रेणी समाजवादी* विचारधारा मर चुकी है, किन्तु इससे इन्कार करना *सत्य* से आख मींचना होगा कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इस विचारधारा ने ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सामाजिक और औद्योगिक जीवन मे एक बडी भारी क्रांति उपस्थित की थी। इस विचारधारा के उदय से इन दोनो देशो के राष्ट्रीय उद्योगों के प्रशासन मे काफी परिवर्तन हुए और मालिक तथा मजदूर दोनो के मिले-जुले प्रतिनिधियो को इन पर पर्याप्त अधिकार मिले। राजनैतिक दृष्टि से भी समाज म अनेक सघो की आवश्यकता तथा महत्ता पर बल देकर *श्रेणी समाजवाद* न राज-सत्ता के आॅस्टीनियन विचार को हमेशा के लिये समाप्त कर बहुलवादी (*Pluralistic*) सिद्धान्त को जन्म दिया। व्यावहारिक राजनीति मे अपने इन प्रभावो के अतिरिक्त सिद्धान्त रूप मे भी श्रेणी समाजवाद ने अनेक उपयोगी विचार दिये है। श्रेणी समाजवादियो ने औद्योगिक कार्यों एवं तरीको की सम्भावनाओं को प्रभावशाली ढग से दिखाया है। *उन्होंने समष्टिवाद मे बढनेवाली नौकरशाही के खतरों की ओर* उचित ध्यान दिलाया है और स्थानीय तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता पर बल देते हुए शासन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पर आक्रमण किया है।[1] श्रेणी समाजवादियों ने कारखानों और उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग की वाछनीयता पर जोर दिया है। उन्होंने उद्योगो और राजनीति में व्यावसायिक सिद्धान्त लागू करने *का मूल्यवान सुझाव दिया है।*[2]

श्रेणी समाजवाद के पक्ष मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने विचारको को आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों के विषय में एक साथ सोचने पर विवश किया है। आर्थिक क्षेत्र मे उन्होने *दो बातों पर बल देकर बडा* उपयोगी कार्य किया है—(क) मजदूरी पद्धति के दोष, और (ख) उत्पादन का ध्येय लाभ के स्थान पर सामाजिक उपयोगिता हो। *श्रेणी समाजवादी* श्रेणी समाजवाद का निर्माण वर्तमान ट्रेड युनियनों के सगठन पर करने मे एक प्रकार से पूंजीवाद और समाजवाद के बीच पुल का काम करते हैं। वे प्रत्येक उद्योग *का प्रशासन* उसमे *काम* करनेवाले सभी कर्मचारियों के सहयोग द्वारा करने की इच्छा करके प्रजातन्त्र को राजनैतिक क्षेत्र से बढाकर आर्थिक क्षेत्र मे भी लागू करना चाहते हैं।

श्रेणी समाजवादियो ने इस तथ्य पर बल दिया कि क्रांतियां अथवा परिवर्तन सफल और उपयोगी तभी हो सकते हैं जब वे अहिंसक रीति से हो

---

1. *Gettell* : Political Science, P. 413
2. *Laidler* : Social Economic Movements, P 341

और व्यर्थ का रक्तपात न किया जाय। परिवर्तन सदैव धीरे-धीरे होने चाहियें। आकस्मिक परिवर्तन समाज की सारी स्थिति को खतरे में डाल सकता है, किन्तु धीरे-धीरे क्रांति करने पर वह क्रांति स्थायी और लाभदायक होती है। श्रेणी समाजवाद ने यह भी स्पष्ट संकेत किया कि राजनैतिक विचार-धाराओं को कभी भी एकांगी अथवा चरमतावादी नहीं होना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से सफल होने के लिये प्रत्येक राजनैतिक सिद्धान्त का समन्वय-मार्गी अथवा मध्य-मार्गी (*Mid-way traveller*) रहना आवश्यक है।

13

साम्यवाद

(COMMUNISM)

लेनिन, स्टालिन और 'स्टालिन के बाद'

चौथो संस्करण

(Lenin, Stalin and 'After Stalin')

गत तीन अध्यायो मे फेबियनवाद, समष्टिवाद, संशोधनवाद श्रमिक संघवाद, एवं श्रेणी समाजवाद का अध्ययन किया जा चुका है। यद्यपि ये आन्दोलन एवं विचारधारायें अपने रूप मे समाजवादी तो निश्चित रूप से हैं किन्तु इन्हें मार्क्सवादी परम्परा मे सम्मिलित नही किया जा सकता। इनके प्रवर्तक यद्यपि मार्क्स से प्रभावित थे और उसके प्रति ऋणी भी, लेकिन वे मार्क्स के सच्चे शिष्य अथवा अनुयायी नही थे, क्योकि मार्क्स के अतिरिक्त और भी अनेक स्रोतो से उन्होने प्रेरणा प्राप्त की थी तथा मार्क्स के आधारभूत सिद्धान्तो से पूर्णत असहमति भी प्रगट की थी। समष्टिवादी और अंग्रेज फेबियनवादी मार्क्स द्वारा की गई पूंजीवाद तथा *Laissez Faire* की नीति की आलोचना को तो स्वीकार करते थे, किन्तु इतिहास की भौतिक व्याख्या और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खंडन करते थे। अंग्रेज फेबियनवादी मार्क्सवादी भावना मे यह मानते थे कि अर्थ मूल मे पूंजीपति द्वारा नही बल्कि समाज द्वारा उत्पन्न होता है अत उसका स्वामित्व समाज का होना चाहिये न कि पूंजीपति, किन्तु वे इस कारण वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को मान्य नहीं ठहराते। उनकी पद्धति विकासवादी थी, क्रान्तिवादी नहीं। साथ ही मार्क्स के सामाजिक दर्शन मे उनकी इतनी रुचि नहीं थी जितनी कि उद्योग पर सामाजिक नियन्त्रण से उत्पन्न होनेवाली प्रशासकीय और संगठनात्मक समस्याओ मे। क्रान्तिकारी संघवादी मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त मे पूर्ण आस्था रखते हैं और उनका स्वभाव एकदम क्रान्तिकारी है, तथापि जहाँ तक वे राजनीतिक क्रांति की पद्धति और राज्य का खंडन करते हैं वहा तक वे मार्क्सवाद से हट जाते हैं। इस बात मे वे अराजकतावादी विचारक प्रोधाँ बैकुनिन और क्रोपोटकिन के अधिक निकट हैं जो कि मार्क्स के विरोधी थे। इसी तरह के कारणों से श्रेणी समाजवादियों को सच्चा मार्क्सवादी नहीं कहा जा सकता और न ही जर्मन संशोधनवादियों को जिन्होने मार्क्स के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का खंडन किया था। एक ऐसे समाजवादी आन्दोलन एवं

विचारदर्शन के लिये जिसे निश्चित रूप से मार्क्सवादी कहा जा सके, हमें सोवियत रूस की ओर दृष्टिपात करना चाहिये, जहाँ मार्क्स के अनुयायी लेनिन के नेतृत्व में मार्क्सवाद के चरण चिन्हों पर चलते हुए समाजवादी आन्दोलन का विकास हुआ और जिसे आज हम 'साम्यवाद' कह कर पुकारते हैं। कार्लमार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन तथा सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम के लिये 'साम्यवाद' नाम रखा था। रूस में नये राज्य का संगठन करते समय लेनिन ने इस नाम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार साम्यवाद मार्क्सवाद के पदचिन्हों पर चलते हुए सोवियतवाद के पीछे काम करनेवाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधारा है। साधारण वार्तालाप में जिस प्रकार हम फासिस्ट इटली या प्रजातंत्रवादी इंगलैण्ड की बात करते हैं, उसी प्रकार साम्यवादी रूस की भी बात करते हैं। यदि सोवियतवाद तथा साम्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखा जाय तो ऐसा कहने में कोई हानि नहीं होगी। रूसी साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार लेनिन के ग्रंथो तथा साम्यवादी पार्टी के अन्य नेताओं की पुस्तकों में है जो कार्लमार्क्स को अपना आचार्य मानते हैं और 'साम्यवादी घोषणा' (*Communist Manifesto*) तथा 'पूंजी' (*Capital*) नामक ग्रंथों को पवित्र ग्रंथ मानते है। वे यह मानते हैं कि जिस रूसी राज्यक्रान्ति ने रूस में जारशाही का अंत और उसके स्थान पर साम्यवादियों द्वारा शासन की प्रतिष्ठा की वह उक्त घोषणापत्र में उल्लिखित आदर्श की सिद्धि करने का प्रयत्न है।

यह श्रेय लेनिन को जाता है कि उसने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी व्याख्या को अपनी शिक्षाओं में चरम सीमा तक पहुँचा दिया और मार्क्सवाद को पक्के क्रान्तिकारियों के एक लड़ाका संगठन के लिये एक सिद्धान्त बनाया। ग्रे ने लेनिन को मार्क्सवादी धर्म का रक्षक कहकर पुकारा। मार्क्स के लेनिनवादी क्रान्तिकारी प्रवचन में लेनिन के प्रतिभाशाली सहयोगी ट्राट्स्की ने भी बड़ी सहायता दी। लेनिन की मृत्यु के बाद और ट्राट्स्की के निर्वासन के उपरान्त मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पुनर्वचन में स्टॉलिन ने भी कुछ योग दिया। स्टॉलिन के जीवन काल के अन्तिम भाग में आधुनिक साम्यवादी चीन का प्रादुर्भाव हुआ जो माओ के नेतृत्व में मार्क्सवाद का चीनी संस्करण निकालने की दिशा में प्रयत्नशील है। स्टॉलिन के बाद रूस में भी साम्यवादी दल अपने पहले से भिन्न कुछ नवीन मान्यतायें ग्रहण करने लगा है, ऐसे संकेत दिखाई दे रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम पहले लेनिन और स्टॉलिन पर विस्तार से चर्चा करेंगे और तत्पश्चात् स्टॉलिन के बाद की रूसी-स्थिति अथवा साम्यवादी दल की नयी मान्यताओं पर विचार करेंगे, और साथ ही चीनी मार्क्सवाद का आधुनिक रूप भी हमारे अध्ययन का विषय होगा। सबसे अंत में साम्यवादी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जायेगा।

लेनिन का संक्षिप्त जीवन—व्लाडिमिर इलिच युलियानॉव (*Vladimir Ilyich Ulyanov*), जो इतिहास में लेनिन के नाम से विख्यात है, का जन्म ९ अप्रेल, १८७० में एक उस नगर में हुआ था जिसे आज उलियानुवस्क के नाम से पुकारा जाता है। लेनिन को प्रो० लास्की ने आधुनिक इतिहास का महानतम व्यावहारिक क्रांतिकारी कहा है। उसका पिता सरकारी स्कूलों में निरीक्षक था, जिसे लेनिन की युवावस्था में, अपनी सेवाओं के पुरस्कार में कुली-

मता (*Nobility*) का अधिकार पत्र मिला था। उसके ६ लड़के थे और उन सबने रूस की क्राति मे अपना हिस्सा बटाया। लेनिन के सबसे बड़े भाई को १८८७ मे जार अलेक्जेण्डर तृतीय की हत्या करने के एक असफल षडयंत्र में भाग लेने के अपराध मे गिरफ्तार करके फांसी पर चढ़ा दिया गया। अपने भाई को दिया गया यह मृत्यु दण्ड नि:सन्देह एक ऐसी घटना थी जिसने लेनिन के जीवन पर क्रातिकारी प्रभाव डाला और काफी हद तक उसके भावी जीवन को प्रभावित किया।

लेनिन ने प्राथमिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करके, कजान के विश्व-विद्यालय मे उसी वर्ष प्रवेश किया जिस वर्ष उसके भाई को फासी की सजा दी गई थी। किन्तु वहां से उसे अपने उग्र राजनीतिक विचारों एवं कार्यों के कारण निकाल दिया गया। इसके बाद वह पीटर्सवर्ग के विश्वविद्यालय मे भर्ती हो गया और वहीं से उसने सन् १८६१ मे विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा पास की। तत्पश्चात् उसने समर मे वकालत शुरू की तथा अभियुक्तों की तरफ से अनेक मुकदमो की पैरवी की। लेकिन शीघ्र ही उसने यह पेशा छोड दिया। सन् १८६५ में लेनिन रूस के बाहर गया और वहा से चोरी छिपे क्रातिकारी साहित्य को रूस मे भेजने की व्यवस्था करता रहा। उसी वर्ष उसे गिरफ्तार कर लिया गया और १४ मास का कारावास दण्ड दिया गया। तत्पश्चात् उसे ३ वर्ष के लिये साइबेरीया मे निष्कासित कर दिया गया। अपने इस निर्वासनकाल मे उसे अपने समाजवादी विचारों को स्पष्ट तथा क्रमबद्ध करने का, कई विदेशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने और अपनी प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तकें तैयार करने का सुयोग मिला। लेनिन रूस के समाज-वादी प्रजातात्रिक दल की स्थापना (सन १८६८) के बाद से दो दशाब्दियों तक-यद्यपि इस काल मे वह अनेक यूरोपीयन देशों मे निर्वासित होकर रहा-बालशेविकों मे सर्वप्रधान व्यक्ति रहा। उसने उनके सिद्धान्तों का निर्माण किया और उनके दावपेचों का निर्देशन किया। अन्त में सन् १६१७ मे बालशेविकों के हाथ मे राजसत्ता की प्राप्ति कराने मे वह सर्वाग्रणी रहा। सन १६२४ मे अपनी मृत्यु के समय तक वह सोवियत शासन की प्रधान निर्देशक शक्ति बना रहा। उसने अपनी रचनाओं द्वारा अत्यन्त तार्किक ढंग से एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण के साथ न केवल विधिवत् राजनैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया बल्कि अपनी असाधारण व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का प्रदर्शन करते हुए अपने देश की आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का भी बड़ी कुशलता से सामना किया। विलियम चेम्बरलेन (*William H Chamberlain*) जैसे निष्पक्ष लेखक ने अपने ग्रंथ '*A Living Record and History*' मे लिखा है कि 'लेनिन ने विश्व इतिहास की धारा को मोड़ने में नेपोलियन के बाद किसी भी राजनीतिज्ञ से अधिक कार्य किया है।"

रूसी साम्यवादी क्रांति के प्रबलतम नेता और स्वार्थरहित निर्भीक लौह पुरुष लेनिन के अनुकरणीय जीवन को मोटे रूप में चार भागों मे विभक्त किया जा सकता है-प्रथम भाग सन् १८६३ से १६०० तक, द्वितीय भाग सन् १६०० से १६०३ तक तृतीय भाग सन् १६०३ से १६१७ तक और चतुर्थ भाग सन् १६१७ से मृत्यु पर्यन्त।

अपने जीवन के प्रथम भाग में लेनिन ने क्रांति का पहला पाठ सीखा, मार्क्सवादी सिद्धान्त का असाधारण ज्ञान उपलब्ध किया और रूस के जन-सामान्य के स्वभाव एवं जीवन का विशेष ज्ञान अर्जित किया। अपने इसी काल में उसने साइबेरिया में अपने निर्वासन के दिन व्यतीत किये जहां अपने गम्भीर चिन्तन के द्वारा उसने अपने भावी जीवन की रूपरेखा निश्चित की और अपने विचारों को स्पष्ट तथा क्रमबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। सन् १८९४ में ही उसका वह क्रांतिकारी लेख निकला जो *'The Reflection of Marxism in Bourgeois'* के नाम से जाना जाता है। सन १९०० में रूस की *Social Democratic Party'* अर्थात् समाजवादी प्रजातांत्रिक दल ने लेनिन को संगठन एवं प्रचार कार्य के लिये बाहर भेजा।

अपने जीवन के दूसरे युग में अर्थात् सन् १९०० से १९०३ तक लेनिन ने समाजवादी प्रजातांत्रिक दल को सशक्त बनाने का कठोर प्रयास किया। वह इस दलको श्रमिक क्रांति के एक सशक्त एवं पूर्ण अनुशासित यंत्र में परिवर्तित करने के लिये प्रयत्नशील रहा। इस दल ने वर्ग-संघर्ष, संगठित सर्वहारा द्वारा सत्ता की प्राप्ति और राष्ट्रव्यापी राजनैतिक कार्य द्वारा समाजीकरण के सुपरिचित सूत्रों को स्वीकार किया लेकिन इस दल की दूसरी कांग्रेस में (सन् १९०३) दल की रचना और उसके संगठन के बारे में विवाद खड़ा हो गया। एक दल समाजवादी सदस्यता के व्यापक आधार का पक्षपाती था और चाहता था कि दलीय संगठन कठोर न हो। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में दूसरा दल चाहता था कि दल की सदस्यता पूर्णत: क्रांतिवादी हो तथा दल की नीति का अत्यन्त केन्द्रीभूत एवं सैनिक ढंग से संचालन हो। **इस दूसरे दल में रूस के अधिकांश मार्क्सवादी सम्मिलित हो गये और वह बालशेविक (Bolsheviks) के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा पहला नरम अल्पमत दल मेनशेविक (Mensheviks) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।**[1] इन दोनों दलों के मतभेद ने काफी उग्ररूप धारण कर लिया। इनको एकबद्ध करने का प्रयास किया गया और कुछ समय के लिये औपचारिक एकता स्थापित भी हो गई। लेकिन यह एकता क्षणिक थी। पारस्परिक मतभेद की खाई चौड़ी होती गई, दोनों दलों के मध्य एक लम्बा और कटु विवाद छिड़ गया। परिणामस्वरूप सन् १९१२ में दोनों दलों में अन्तिम विच्छेद हो गया। चूंकि ये दोनों दल साधन और पद्धति की दृष्टि से दो अलग विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे जिनमें से का एक नेता लेनिन था, अतः इन दोनों के मूलभूत अन्तरों पर संक्षेप में चर्चा करना भी इस दृष्टि से प्रासंगिक होगा कि उनसे उस दिशा पर प्रकाश पड़ता है जिसमें लेनिन मार्क्सवादी अपनी धारणा को विकसित करना चाहता था।

बॉलशेविक और मेनशेविक दोनों ही मार्क्सवादी थे तथा दोनों ही निरंकुश जारशाही का अन्त करना चाहते थे। लेकिन साधन और पद्धति के विषय में दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोण रखते थे। मेनशेविकों का विचार था कि रूस में समाजवादी आन्दोलन मार्क्स के बतलाये हुए क्रम के अनुसार संचालित होना चाहिए—इस भांति कि जब तक स्थायी रूप से सर्वहारा बहुमत का संगठन न हो जाय (जिसके साथ ही पूंजीवाद के विकास और

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ १५६

अवनति की लम्बी प्रक्रिया चलती रहेगी) तब तक अन्तिम क्रान्तिकारी प्रहार न किया जाय। इस मध्य वे पूंजीपतियों के छोटे-छोटे दलों के साथ मिलकर काम करने को सहमत थे। मेनशेविकों का विश्वास था कि रूस अभी समाजवादी क्रान्ति के लिए परिपक्व नहीं था तथा कुछ समय तक परिपक्व होने की अवस्था में भी नहीं था। तत्कालीन परिस्थितियों में और अन्तिम क्रांतिकारी प्रहार से पहले, सम्भव यही था कि एक मध्यवर्गीय क्रान्ति की जाय और एक लोकतन्त्री शासन की स्थापना हो जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए वचनबद्ध हो। मेनशेविक अपने विश्वास में इस विचार को लेकर चले थे कि रूस के किसान क्रान्तिकारी नहीं थे और इसीलिए एक समाजवादी क्रान्ति लाने में अविश्वास के पात्र थे। लेकिन, मेनशेविकों के विपरीत, बालशेविकों का विचार था कि मार्क्स के अनुसार समाजवादी क्रान्ति के उपयुक्त अवसर का निश्चय विश्व पूंजीवाद के विकास की सामान्य अवस्था द्वारा होना था। इसके लिए किसी विशेष देश की किसी विशेष अवस्था का होना आवश्यक न था और न ही यह जरूरी था कि हर देश में एक ही विशिष्ट प्रकार के धर्म की पुनरावृत्ति हो। बालशेविक, जिनका नेता लेनिन था, यह मानते थे कि एक समाजवादी क्रान्ति के आने से पूर्व यह न उचित था और न आवश्यक हो कि रूस पूंजीवाद के संकटों से गुजरे। वे अन्तिम क्रान्तिकारी चोट से पहले और अन्तिम क्रान्ति के प्रथम पग के रूप में एक मध्यवर्गीय क्रांति के पक्ष में नहीं थे। उनके मतानुसार किसी उदार मध्यवर्गीय शासन की स्थापना होना जरूरी नहीं था। लेनिन और उसके बालशेविक साथियों का आग्रह था कि एक छोटा, सुगठित और प्रभावक संगठन कठोर गोपनीयता के नियमों के आधार पर क्रान्तिकारियों के संगठनों के साथ सम्बद्ध होकर कार्य करे, जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त करे और अपने अन्तिम उद्देश्य की तरफ बढ़े। बालशेविकों ने प्रमुख रूप से औद्योगिक मजदूरों का किन्तु साथ ही साथ गरीब किसानों का भी समर्थन प्राप्त करके देश में शीघ्र ही क्रान्ति के लिए तैयारी करने का समर्थन किया। इस तरह उन्होंने किसानों की उपेक्षा नहीं की, जैसा कि मेनशेविक करते थे। लेनिन का विश्वास था कि रूसी किसानों को अपना साथी बनाने के लिए उन्हें वह वस्तु दे देनी चाहिए जो वे चाहते थे, अर्थात् भूमि। इसीलिए उसने बड़े बड़े भूमिपतियों से भूमि छीनकर किसानों में भूमि के पुर्नवितरण की नीति को उचित बताया जबकि मेनशेविक भूमि के राष्ट्रीयकरण के समर्थक रहे और उन्होंने भूमि पर किसानों के स्वामित्व का विरोध किया। फरवरी १९१७ की मध्यवर्गीय क्रान्ति के तुरन्त बाद अक्टूबर की क्रांति में ये मतभेद आधारभूत महत्व के सिद्ध हुए और लेनिन अपने विचारों के अनुरूप रूस में श्रमिक क्रांति लाने तथा श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित करने में सफल हुआ। क्रान्ति के बाद स्थापित होनेवाली अस्थायी सरकार (*Provisional Govt.*) शीघ्र ही समर्थन खो बैठी। सोवियतों में बालशेविक मेनशेविकों और सामाजिक क्रांतिवादियों को हटाकर बड़ी तेजी से नेतृत्व ग्रहण करते गये। सितम्बर १९१७ में उन्होंने मास्को सोवियत में साधारण बहुमत तथा पेट्रोग्राड सोवियत में विशाल बहुमत प्राप्त कर लिया। इस सोवियत का सैनिक क्रांतिवादी

समिति उनके कार्य का प्रमुख माध्यम बन गई। ७ नवम्बर १९१७ को सैनिक सावियतो ने, अस्थायी सरकार की भागी हुई सेनाओं की सहायता से, शासन की ऐजेन्सियों पर, बलपूर्वक अधिकार जमा लिया। ८ नवम्बर १९१७ को अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें बालशेविक कार्यक्रम को स्वीकार किया गया तथा शासन सत्ता 'जनता के प्रतिनिधियों की परिषद्" को सौंप दी गई। इस परिषद् में सब बालशेविक ही थे। लेनिन राष्ट्रपति बना और ट्राट्स्की विदेश मन्त्री। मेनशेविकों ने शक्ति द्वारा शासन को बदलने के प्रयास की अपेक्षा सोवियत शासन के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण एवं सवैधानिक विरोध का कार्य ग्रहण कर लिया। बालशेविकों ने उन्हें कुछ समय तक तो पर्याप्त स्वतन्त्रता दी किन्तु बाद में परिस्थितियोंवश वे दमनकारी नीति अपनाने को विवश हो गये। सन् १९२१ में, कुछ विकट समस्याओं के कारण, लेनिन ने 'नवीन आर्थिक नीति अपनायी जिसके द्वारा किसानों और विदेशी पूंजीपतियों को अनेक प्रकार की सुविधाएं दी गई और व्यक्तिगत व्यापार को व्यापक रूप में पुनः स्थापित किया गया, यद्यपि मुनाफे पर कठोर प्रतिबन्ध रखा गया। यह नवीन आर्थिक नीति मेनशेविकों की नीति से बहुत कुछ मिलती जुलती थी, अतः इसने उनके रहे-सहे प्रभाव को भी नगण्य बना दिया और १९२१ के बाद मेनशेविक दल का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

लेनिन के जीवन का तीसरा युग १९०३ से १९१७ तक का काल था जिसमे वह अधिकांशतः रूस से बाहर जर्मनी और इंगलैण्ड में रहा। इस काल में वह बालशेविकों में सर्वप्रधान व्यक्ति रहा, उनके सिद्धान्तों का निर्माणकर्त्ता रहा और उनके दाव पेच का निर्देशन करता रहा। लेनिन ने बालशेविक दल के दृष्टिकोण को १९०५ की क्रान्ति और क्रान्ति के उपरांत जार के आंशिक सुधारों के अन्तर्गत स्थापित की गई धारा सभा 'ड्यूमा' (*Duma*) के कार्य के अनुभव की दिशा में ढालने का प्रयत्न किया। उसने विश्व युद्ध के परिणामों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया। अपने इस काल में लेनिन दो सिद्धान्तों पर पहुंचा, जिनका उल्लेख बालशेविकों और मेनशेविकों के उपरोक्त वर्णन में किया जा चुका है। साररूप में ये दो सिद्धान्त इस प्रकार थे—प्रथम तो लेनिन ने यह अनुभव किया कि श्रमिक वर्ग ही एक मात्र वास्तविक क्रान्तिकारी शक्ति थी और दूसरे वह यह भी समझ गया कि एक सफल क्रान्ति के लिए किसानों को भी साथ लेना होगा। जब १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ा तो लेनिन ने देखा कि अधिकाश समाजवादी अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों का समर्थन कर रहे हैं और उन्हें सहयता दे रहे हैं। लेनिन समझ गया कि द्वितीय 'अन्तर्राष्ट्रीय' (*Internal National*) समाप्त सा-हो गया है। अब लेनिन एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय के निर्माण में जुट गया जिसके द्वारा समाजवादी सिद्धान्तों का सिद्धि का प्रयास हो। लेनिन ने यह भांप लिया कि युद्ध के परिणामस्वरूप और देश में निरंकुश शासन के अत्याचारों के फलस्वरूप रूस में क्रान्ति आयेगी। इसीलिए वह क्रान्ति लाने की तैयारी में जुट गया। किस तरह लेनिन के विचारों के अनुकूल क्रांति हुई और किस तरह लेनिन के हाथ में

शासन सत्ता आई यह सब हम बालशेविकों और मेनशेविकों के विवाद को बताते समय प्रसंगवश ऊपर बता चुके हैं।

लेनिन के जीवन का चौथा और अन्तिम चरण उसके बालशेविक सरकार के अध्यक्ष बनने के दिन से लेकर १९२४ में उसकी मृत्युपर्यन्त तक का माना जा सकता है। इस काल में लेनिन ने रूस के आर्थिक और राजनैतिक जीवन के पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया। जर्मनी के साथ एक अपमानजनक शान्ति संधि की गई जिसके कारण रूस के हाथ से एक बड़ा क्षेत्र जाता रहा। किन्तु यह संधि क्रांति को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक थी। लेनिन की यथार्थवादी दृष्टि ने यह देख लिया था कि यदि क्रांति को सुरक्षित रखना है तो युद्ध का अन्त आवश्यक है और इसके लिए कुछ भी मूल्य चुकाया जा सकता है।

लेनिन ने अपनी मृत्युपर्यन्त देश की सभी समस्याओं का बड़ी योग्यतापूर्वक मुकाबला किया। उसके नेतृत्व में अनेक विशेषताएं थीं जिन्होंने उसे हमेशा सफल बनाया। "उसमें कठोरता और नम्यता का अपूर्व समन्वय था, वह अवसर से तुरन्त लाभ उठा सकता था, वह मोर्चे बदल सकता था लेकिन उसका यह मोर्चा बदलना युक्तिसंगत अगला कदम मालूम पड़ता था। वह अपने रास्ते को छोड़े बिना ही दिशा बदल सकता था और अवसरवाद को सिद्धान्त के दृढ़ पालन के साथ समन्वित कर सकता था।"[1] अपनी इन्हीं योग्यताओं के बल पर वह मृत्युपर्यन्त रूसी शासन का सिरमौर बना रहा।

लेनिन का मार्क्सवाद से सम्बन्ध
(The Relation of Leninism to Marxism)

लेनिन अपनी युवावस्था में ही मार्क्स का अनुयायी बन गया था और उसकी मार्क्स में भक्ति बनी रही। सन् १९१७ के मध्य लेनिन ने '*State and Revolution*' नामक पुस्तक लिखी। 'इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य मार्क्स एवं एन्जिल्स की रचनाओं में से विस्तृत अवतरण लेकर यह दिखलाना था कि आयोजित क्रांति और उसके उपरांत स्थापित होनेवाला साम्यवादी शासन बिल्कुल मार्क्स की कल्पना के अनुकूल होगा, यद्यपि वह पश्चिमी समाजवादियों की कल्पना से भिन्न होगा। रूस में नई व्यवस्था की स्थापना के बाद कुछ वर्षों तक एक ओर लेनिन तथा ट्रोटस्की और दूसरी ओर मार्क्स के बाद कट्टर समाजवादियों के मुख्य सैद्धान्तिक कॉटस्की (*Kantsky*) के बीच जो लम्बा वादविवाद हुआ, उसमें मुख्य प्रश्न साम्यवादी कार्यक्रम के औचित्य अथवा समयानुकूलता का नहीं था, वरन इस बात का था कि वह कार्यक्रम मार्क्स के विचारों को कार्यान्वित करने के लिये उचित था या नहीं।"[2] यद्यपि मार्क्स के अनुमान के अनुसार रूस एक ऐसा देश था जो समाजवादी क्रांति के लिये सब से कम तैयार था और यह भी ठीक है कि रूस में नवम्बर १९१७ में होने

1. सेबाइन— राजनीति दर्शन का इतिहास, ७४३
2. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ट १५६

वाली क्रांति ने "न तो उन सामान्य शर्तों को पूरा किया जिनका मार्क्स ने उल्लेख किया है और न उन विशेष शर्तों को ही जिनकी सम्भावना उसने रूस के सम्बन्ध में बतलाई थी" और क्रांति रूस में सामाजिक, आर्थिक विकास की दीर्घ प्रक्रिया के फलस्वरूप नहीं हुई थी, तथापि लेनिन का कहना था कि "रूसी क्रांति मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है, क्योंकि सन् १९१७ से पूर्व औद्योगिक संसार में जो आर्थिक एवं राजनैतिक विकास हुए उन्होंने किसी एक विशेष देश में, जहां पूंजीवादी शासन अत्यन्त अस्थिर दशा में था, सफल समाजवादी क्रांति के लिये मार्ग तैयार कर दिया था।"[1] इस प्रकार "लेनिन का सिद्धान्त इस सामान्य अर्थ में मार्क्स के समाजवाद के विकासवादी रूप के अनुकूल है-कि समाजवादी क्रांति उसी समय हो सकती है, जबकि राजनीतिक एवं आर्थिक विकास ने उसके लिये मार्ग तैयार कर दिया हो। लेनिन इस बात मे मार्क्स से सहमत था कि यद्यपि पूंजीवाद के स्वाभाविक विकास से उसके विनाश की अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं, तथापि उसका वास्तविक पतन मजदूरों के निश्चयपूर्वक किये हुए कार्य से ही होना चाहिये और उनका कार्य राजनैतिक साधनों द्वारा होना चाहिये। लेनिन का कथन है कि यह कार्य बल प्रयोग द्वारा ही हो सकता है।"[2]

सेवाइन ने लिखा है कि, '**घोषणा की दृष्टि से लेनिन का मार्क्सवाद पूर्णतः रूढ़िवादी तथा कट्टर था। वह मार्क्स के सभी वचनों को 'वेद वाक्य' मानता था और उनकी तदनुसार ही व्याख्या करता था। अपने विरोधियों के ऊपर उसका सबसे बड़ा आक्षेप यह रहता था कि वे मार्क्स के अर्थ में अप मिश्रण करते हैं,**' लेकिन '**इसके साथ ही लेनिन सिद्धान्त को सदैव ही कार्य का पथ प्रदर्शक मानता था।** वह (सिद्धान्त) कुछ गतिहीन नियमों का सकलन नहीं है बल्कि प्रेरणाप्रद विचारों का सकलन है। वह यथार्थ परिस्थितियों के मूल्यांकन में प्रयुक्त होता है तथा व्यवहार में आवश्यकतानुसार उसे सशोधित किया जा सकता है। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों को लेकर लेनिन का अपने अनुयायियों से अनेक बार तीव्र मतभेद हुआ और वह उन्हें ऐसे रास्तों पर लेगया जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों की दृष्टि से संगत नहीं थे। लेनिन का रूढ़िवाद करनी की अपेक्षा कथनी के लिये अधिक था।..........मार्क्सवाद ने लेनिन के चिन्तन में दो भूमिकाएं अदा कीं और साम्यवाद के क्षेत्र में उसकी ये भूमिकाएं अब भी चल रही हैं एक ओर तो वह एक रूढ़ि, एक निरपेक्ष और अकाट्य सिद्धान्त अथवा अर्द्ध धार्मिक प्रतीक था जिसका मुख्य कार्य एक लक्ष्य के लिये अविश्रान्त भाव से कार्य करना था। दूसरी ओर वह व्याख्याओं तथा उपकल्पनाओं का सकलन था और उसका उद्देश्य राजनैतिक नीति को दिशा देना था। हां, अनुभवों के प्रकाश में उसमें आवश्यकतानुसार सशोधन हो सकता था। इन दो अतियों के बीच लेनिन की यह व्याख्या तैयार रहती थी कि कोई भी नीति, चाहे वह कितनी ही अप्रत्याशित क्यों न हो, वास्तव में मार्क्सवाद से हटकर नही होती थी। वह सदैव ही मार्क्सवाद के वास्तविक अभिप्राय को ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती थी।"[3]

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ १७२
2. वही, पृष्ठ १७२
3. सेवाइन—राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७४९

सेबाइन के उपरोक्त उद्धरण से प्रकट है कि यद्यपि लेनिन कार्ल मार्क्स का अनुयायी था "और यह भी निश्चित रूप से सत्य है कि वह मार्क्स के कथनों को 'दैवीय' एवं पवित्र मानकर सम्मान देता था,"[1] किन्तु वह एक ऐसा शिष्य था, जिसने मार्क्स की विचारधारा में परिवर्तन किये। लेनिन को केवल मार्क्स की पुनरावृत्ति अथवा उसका पुनर्कथन (*Restatement of Marx*) मात्र कहना अनुचित होगा।[2] मार्क्स के प्रति अपनी भक्ति के बावजूद लेनिन ने मार्क्सवाद में संशोधन किया और वह इसलिये किया क्योंकि वह उसे एक स्थिर एवं अखण्ड सिद्धान्त नहीं बल्कि एक जीवित और विकासशील दर्शन समझता था। मार्क्सवाद के लेनिन द्वारा संशोधित रूप को लेनिनवाद कहकर सम्बोधित किया जाता है और इसे साम्यवाद भी कहा जाता है।

मार्क्सवाद को सर्वप्रथम व्यवहार में लाने का श्रेय लेनिन को ही है। लेनिनवाद को मार्क्सवाद का रूसी संस्करण कहा जाता है। लेनिनवाद का मार्क्सवाद से कहाँ तक सम्बन्ध है, इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये यह उपयुक्त होगा कि लेनिनवाद की प्रायः की जानेवाली उन तीन-परिभाषाओं को एक-एक करके देखा जाय जिनमे प्रत्येक में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश विद्यमान है। ये तीन परिभाषाएं इस प्रकार की जाती हैं—

(१) लेनिनवाद मार्क्सवाद के उन सिद्धान्तों का नाम है जिन्हें रूस की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अनुकूल ढाल दिया गया है।

(२) लेनिनवाद मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पक्ष का, जिसे अंग्रेज व जर्मन विचारकों ने दिया था, पुनरुत्थान है।

(३) लेनिनवाद साम्राज्यवाद एवं श्रमजीवी क्रांति के युग का मार्क्सवाद है (*Leninism is Marxism of the epoch of Imperialism and Proletarians Revolutions–Stalin*)।

लेनिनवाद के बारे में यह कहना कि रूस की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अनुसार ढले हुए मार्क्सवाद का एक रूप है, इस सीमा तक सही है कि अपने समय की रूस की परिस्थितियों को देखते हुए लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों को मूलतः स्वीकार कर उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल ढालने व संशोधित करने का प्रयास किया। किन्तु लेनिन एक व्यावहारिक क्रांतिकारी था और रूस में श्रमिक वर्ग की क्रांति लाना चाहता था, उसका उद्देश्य क्रांति के किसी दर्शन को पुष्ट करना नहीं था। अतः क्रांतिकारी मार्क्सवाद की अपनी व्याख्या में उसने किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं बल्कि परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुरूप संशोधन किये। साथ ही उसके लिये बोलशेविक क्रांति केवल रूसी क्रांति ही नहीं बल्कि "वह पूंजीवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवीय संघर्ष का आरम्भ था।" उसका विश्वास था कि पूंजीवाद से साम्यवाद की ओर परिवर्तन शान्तिपूर्ण साधनों से नहीं लाया जा सकता। वह क्रांति में विश्वास रखता था, इस बात में नहीं कि घटनाएं अपने रूप का निर्माण स्वयं कर लेंगी। लेनिन ने साम्यवाद के क्रांतिकारी

1. *Alexander Gray : The Socialist Tradition, P. 460*
2. Ibid, P. 460

पक्ष पर बल दिया, विकासवादी पक्ष पर नहीं। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ से ही लेनिन सम्पूर्ण यूरोप में क्रांति के विषय में सोचने लगा था। उसका विचार था कि युद्ध छिड़ने से पूंजीवाद के अन्तर्विरोध उस बिन्दु पर आ पहुंचे हैं जो सर्वत्र समाजवाद की मांग करते हैं। लेनिन और उसके मित्रों को विश्व क्रांति की अपेक्षा थी और रूस में उनकी नीति के निर्धारण में अखिल यूरोपीय क्रांति की सम्भावना निहित थी। लेनिन ने स्वयं इस विचार की पुष्टि की थी कि "मार्क्स के अनुसार समाजवादी प्रलय के उपयुक्त अवसर का निर्धारण विश्व पूंजीवाद के विकास की सामान्य अवस्था द्वारा होना था, किसी विशेष देश की किसी विशेष अवस्था द्वारा नहीं।" लेनिन और उसके साथियों ने एक देश में ही एक समय में क्रांति लाने के लक्ष्य को तभी अपनाया जब उनकी विश्वक्रांति की आशा धूमिल होगई। अतः लेनिनवाद को केवल मात्र रूस की परिस्थितियों पर आरोपित मार्क्सवाद की संज्ञा देना केवल एक आंशिक सत्य का उद्घाटन करना है, पूर्ण सत्य का नहीं। साथ ही इसका अभिप्राय लेनिनवाद को पूर्णतः एक राष्ट्रीय सिद्धान्त की परिधि में बांध देना है, जो अनुचित है। यदि केवल यही मान लिया जाय कि लेनिनवाद विशुद्ध रूप से एक राष्ट्रीय सिद्धान्त है तो फिर "दुनिया के मजदूरों एक हो" के नारे का कोई मूल्य नहीं रहता, अन्य देशों के साम्यवादियों से लगाव अथवा अनुराग की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

लेनिनवाद की दूसरी परिभाषा में कहा जा सकता है कि यह मार्क्स-वाद के क्रांतिकारी पक्ष का, जिसे पश्चिमी यूरोपीय देशों के विकासवादी समाज ने दबा दिया था, पुनरुत्थान है। यह सही है कि लेनिन ने मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसके विकासवादी पहलू की पूर्ण उपेक्षा की। लेकिन लेनिनवाद का यह मूल तत्व नहीं है। लेनिनवाद "एका-धिकारी पूंजीवाद अथवा साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों के अन्तर्गत मार्क्सवाद के विकास की दिशा में आगे की ओर एक कदम भी है। १८४८ मे '*Communist Manifesto*' के प्रकाशित होने की तिथि तथा १९१७ में बॉलशेविक क्रांति द्वारा लेनिन के हाथों में सत्ता आ जाने के बीच के वर्षों में संसार में अनेक ऐसी घटनाएं घटित हुई जिन्होंने मार्क्सवाद में संशोधन करना आवश्यक बना दिया। इस अवधि में पूंजीवाद का तीव्रगति से विकास हुआ और उसमें अन्तर्निहित विरोध अपनी चरम सीमा तक पहुंच कर यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य विरोध उत्पन्न करने लगे। सन् १९१४ में लड़ा गया प्रथम महायुद्ध पूंजीवादी साम्राज्यवाद के विकास का ही भयानक परिणाम था। ऐसे समय में श्रमिक वर्ग की क्रांति-जिसका मार्क्स ने उल्लेख किया था, एक ज्वलंत प्रश्न बनी। मार्क्स की शिक्षाओं का प्रतिपादन एकाधिकारी प्रवृत्ति के पूंजीवादी साम्राज्यवाद तथा श्रमिक-वर्गीय क्रांति के युग से पूर्व हुआ था। अतः उसे समय के अनुसार ढालना था। इसके अतिरिक्त, मार्क्स ने श्रमिक-वर्ग की क्रांति का उल्लेख मात्र किया था, उसे क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में क्रांतिकारी युद्धकला के विषय में वह मौन था। लेनिन ने इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की। उसने मार्क्सवाद में पाये जानेवाले इन क्रांतिकारी तत्वों का पुनरुत्थान किया, जिन्हें द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (*Inter-national*) के अवसरवादियों एवं संशोधनवादियों ने धूमिल कर दिया था।

और साथ ही तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल उसे श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही को मार्क्स के राज्य सिद्धान्त मे एक केन्द्रीय स्थान देना पडा। चूकि "मार्क्स को समय के अनुसार ढालना और साम्राज्यवाद तथा श्रमजीवीय क्रान्ति की स्थितियो के अन्तर्गत उसकी पुनर्व्याख्या करने का कार्य लेनिन का ही था," अत स्टालिन द्वारा अपने ग्रथ '*Foundations of Leninism, 1924*' मे लेनिन के दर्शन की यह अधिकृत परिभाषा सर्वथा उपयुक्त है कि "लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रांति के युग का मार्क्सवाद है" (*Leninism is Marxism of the epoch of Imperialism and Proletarian Revolution*)। सेबाइन के शब्दो मे, 'इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को आधुनिक रूप दिया, उसने मार्क्स के बाद के पूजीवादी समाज के विकास पर ध्यान दिया और इन प्रवृत्तियो को ध्यान मे रख कर जिनको मार्क्स ने केवल प्रारम्भ ही देखा था, उसकी नीति तथा सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया।"[1] सेबाइन ने ही आगे लिखा है कि "लेनिन का मार्क्सवाद व्यवहार मे बडा लचीला रहता था और वह बडा आसानी से ऐसी दिशा ग्रहण कर लेता था जिसे रूसो-मार्क्सवादी मार्क्सवाद के बिल्कुल विपरीत समझते थे।"[2]

लेनिन का साम्राज्यवादी पूंजीवाद
(Lenin's Imperialist Capitalism)

लेनिन ने मार्क्सवाद के सैद्धांतिक पृष्ट-पोषण के साथ-साथ आलोचको द्वारा उस पर किये जानेवाले प्रहारो से भी उसकी रक्षा करने का प्रयत्न किया है। मार्क्स ने जो भविष्यवाणिया अपने समय मे की थी, उनमे से अनेक उसके बाद गलत सिद्ध होगई थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर यह भविष्यवाणी की थी कि विकास की इस प्रक्रिया मे पूजीवाद विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है और समाजवाद की स्थापना एक अवश्यम्भावी सत्य है। लेनिन वाद की ऐतिहासिक घटनाओ ने उसकी भविष्यवाणी को पुष्ट नहीं किया। एक ओर तो पूजी म केन्द्रीकरण और व्यापार का बृहदाकार होते जाने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही थी तो दूसरी ओर न श्रमिक-वर्ग निरन्तर निर्धन हो रहा था, न मध्यम वग का लोप हुआ था और न वर्ग-संघर्ष ही तीव्र अथवा स्पष्ट हुआ था। पूजीपतियो एव श्रमिकों मे संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग की वृद्धि हो रही थी, श्रमिक पूजीपतियों की बढती हुई समृद्धि मे भागीदार बन रहे थे और उनका जीवन-स्तर ऊचा उठता जा रहा था, तथा समाजवाद की स्थापना के स्थान पर प्रवृति साम्राज्यवाद की ओर था। यही नहीं एक और भी ऐसी बात थी जिसने मार्क्स की ससार भर के श्रमिको की एकता की धारणा को ठेस पहुचाई। सन् १९१४ मे जब प्रथम महायुद्ध छिडा तो यूरोप भर के समाजवादी दल अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति से विमुख होने लगे और उनका देशभक्ति विरोधी भाव शिथिल पडने लगा। वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को भूल गये कि 'श्रमिकों का कोई देश नहीं

---

1 सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७५०

2 वही पृष्ठ ७५१

होता।' उन्होंने श्रमिकों की 'अन्तर्राष्ट्रीय एकता' को विस्मृत करके अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों को शक्तिभर सहयोग देकर अपनी राष्ट्रीय भावनाओं का परिचय दिया। केवल लेनिन और कुछ मुट्ठी भर समाजवादी इस बात पर डटे रहे कि यह युद्ध साम्राज्यवादी है जिसमें श्रमिकों को योग नहीं देना चाहिए। "लेनिन उन थोड़े से समाजवादियों में से था जो अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति को पराकाष्ठा तक ले जाते हैं। वह अपने राष्ट्र की पराजय तक को भी मान्य समझता था। उसका कहना था कि 'श्रमिक-वर्ग तथा रूस की मेहनतकश जनता की दृष्टि से जार के राजतन्त्र तथा उसकी सेना की पराजय हल्की बुराई होगी।' लेनिन का शुरू से ही यह कहना था कि युद्धग्रस्त देशों में किसका कितना दोष है, इस तरह की बातचीत करना व्यर्थ है। सभी राष्ट्र एक से आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित हैं, युद्ध पूंजीवाद के विकास में एक चरण है और बुद्धिमान समाजवादी दल की नीति इन तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्र लूट के मालको आपस में किस तरह बांटते हैं, इसमें मजदूरों को गहरी दिलचस्पी नहीं है। रूसी मजदूरों को इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं है कि वे नये लुटेरे (जर्मनी) से लूट का कोई सामान लेलें और फिर उसे दो पुराने लुटेरों (इंगलैण्ड और फ्रांस) को दें। लेनिन के जीवन की एक बड़ी आशा यह थी कि सम्भवतः साम्राज्यवादी युद्ध को एक गृह युद्ध के रूप में अथवा सर्वहारावर्ग की क्रांति के रूप में बदला जा सकता है। उसे यह पूरा विश्वास था कि इस प्रकार की क्रांति संसारव्यापी धरातल पर शीघ्र ही आनेवाली है।"[1]

समाजवादियों द्वारा 'समाजवाद के प्रति विश्वासघात' मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से एक गम्भीर असंगति थी तथा पूंजीवाद के विकास के साथ वर्ग-संघर्ष का तीव्र न होना और राष्ट्रीय देशभक्ति के भावों में निखार आना गम्भीर अपवाद थे। अतः यह आवश्यक था कि इन महान् अपवादों का स्पष्टीकरण देने के लिए संविधान में संशोधन किया जाता। लेनिन ने यह स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया। उसने मार्क्स का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन सब घटनाओं की तदनुकूल व्याख्या की है जो उसकी भविष्यवाणी के विपरीत प्रतीत होती थी। यह कार्य लेनिन ने अपने जिस सिद्धांत द्वारा किया उसे पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था अर्थात् साम्राज्यवादी पूंजीवाद के नाम से जाना जाता है।

लेनिन ने अपने स्पष्टीकरण का कार्य एक असंदिग्ध ऐतिहासिक तथ्य से प्रारम्भ किया। १८७१ के बाद वैधानिक उपायों के सहारे समाजवादी दल इतने बढ़ गये थे कि अब संसदीय प्रणालियों में वे पूर्ण आस्था रख सकते थे। इसका एक परिणाम यह निकला कि पूंजीवादी विचारधारा वाले छोटे पूंजीपति लोग इन दलों में प्रविष्ट हो गये थे। फलस्वरूप समाजवादी दल क्रांतिकारी हथकण्डों के मार्ग से विलग होकर श्रम-संघवादियों (*Syndicalists*) के हथकण्डों पर उतर आये थे। इस अवधि में पूंजीवाद का भी एक विशिष्ट ढंग से विकास हुआ था। सफल साम्राज्यवादी देशों में बाजारों

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७६९

श्रौर उत्पादन के विस्तारो के कारण श्रमिको की विशेषकर तकनीकी उद्योगो के श्रमिको की आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ है और १८७१ से १९१४ के मध्य वर्ग संघर्ष मे शिथिलता आ गई। श्रमिको का एक छोटा लेकिन प्रभावशाली वर्ग पूंजीपतियों के साथ मिल गया। इस वर्ग ने भी पूंजीपतियों के समान ही अशिक्षित एवं प्रशिक्षणहीन श्रमिको का शोषण किया। पिछड़े हुए देशो और उपनिवेशो के श्रमिको का शोषण अपेक्षाकृत अधिक हुआ। इस आदोलन की विचारधारा हल्की पूंजीवादी विचारधारा थी जिसने इस भ्रम को स्वीकार किया कि आर्थिक विकास शान्तिपूर्ण नीति से सम्भव है तथा पूंजीपतियो और श्रमिको के हित ऐसे दो भिन्न छोर नहीं हैं जिनमे साम जस्य स्थापित न किया जा सके। लेनिन ने बताया कि इन्ही कारणो से सन् १९१४ मे श्रमिक वर्ग पूर्णत असगठित और उत्साहहीन था। प्रशिक्षित और श्रम संघी मजदूर उदार एवं बुर्जुआ राजनीति मे चले गये थे।

स्पष्ट है कि लेनिन ने सर्वप्रथम १८७१ के बाद के युग की पूंजीवादी विशेषताओं के साथ वर्ग संघर्ष को सम्बद्ध किया और तत्पश्चात् यह बताने का प्रयास किया कि इस युग मे पूंजीवाद पूंजीवादी व्यवस्था के सम्पूर्ण विकास से किस तरह मिलता था। लेनिन ने पूंजीवाद के साम्राज्यवादी चरण का जो विवरण दिया वह वास्तव में मार्क्स के पूंजीवादी सचयन के सिद्धान्त का विकास था। लेनिन के मन्तव्य को प्रो० सेबाइन ने बड़ी ही स्पष्टता से इन शब्दो मे चित्रित किया है—

'जब उद्योग की इकाइया अपने आप आकार मे बढ़ती है और वे एकाधिकारपूर्ण हो जाती हैं चाहे तो सम्पूर्ण उद्योग के ऊपर अथवा कुछ सम्बद्ध उद्योगों के महत्वपूर्ण बिन्दु के ऊपर तब एक ऐसी अवस्था आजाती है जबकि एकाधिकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे महत्वपूर्ण भाग लेने लगता है। इस समय बाजार विश्वव्यापी हो जाता है तथा वस्तुओं और मजदूरी दोनो की कीमत विश्व बाजार मे निर्धारित होने लगती हैं। राष्ट्रीय इकाइयो के भीतर प्रतियोगिता प्राय समाप्त होजाती है और मुक्त प्रतियोगितापूर्ण पूंजीवाद एक प्रकार से लुप्त हो जाता है। लेकिन इसके साथ ही राष्ट्रीय एकाधिकारो के बीच अधिकाधिक प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा होने लगती है। आगम शुल्क शिशु उद्योगों का पोषण करना बन्द कर देते हैं और वे राष्ट्रीय वाणिज्य उद्योगो मे हथियार बन जाते हैं। औद्योगिक सघों के निर्माण के साथ ही उपयोग का नियन्त्रण पदार्थों के उत्पादको के हाथो से निकल कर फाइनेंसरो और बैंकरो के हाथो मे चला जाता है। वाणिज्यिक पूंजी बैंकिंग पूंजी के साथ मिल जाती है और उस पर थोड़े से वित्ताधिकारियो का अधिकार हो जाता है। पूंजी खुद निर्यात का एक महत्वपूर्ण मद होजाती है। अब एक ओर तो यह होता है कि बडे बडे बाजार मिले और दूसरी ओर यह आवश्यक होता है कि कच्चा माल मिले। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति पिछड़े हुए प्रदेशो और उपनिवेशों मे ही हो सकती है। फलत ससार के विभिन्न उन्नतिशील राष्ट्रो मे इस बात के लिये होड लग जाती है कि वे अविकसित प्रदेशो तथा पिछड़े हुए राष्ट्रो पर अधिकार कर। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यही हो जाता है कि शोषण योग्य प्रदेशो तथा जनसख्या का किस प्रकार विभाजन हो।

आन्तरिक राजनीति में पूंजीपति राजनीतिक संस्थाओं पर अधिक सीधा नियन्त्रण स्थापित कर लेते हैं और संसदीय उदारवाद धोखा मात्र बन जाता है। इस दृष्टि से १६१४ का साम्राज्यवादी युद्ध जर्मन पूंजीपतियों के सिण्डीकेटों और फ्रांस तथा इंगलैण्ड के सिण्डीकेटों के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिये संघर्ष था। ...... एकाधिकार और वित्त पूंजीवाद स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण पूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकार पूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है और युद्ध पूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास की उच्चतम व्यवस्था है। वह उस प्रक्रिया का एक भाग है जिसके द्वारा एक अधिक ऊंचे पूंजीवाद-विहीन अथवा साम्यवादी समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का निर्माण हो रहा है।"[1]

वास्तव में लेनिन ने अपनी व्याख्या द्वारा यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की कि मार्क्स को पूंजीवाद से जिन परिणामों के निकलने की आशा थी वे वास्तव में निकले अवश्य, किन्तु कुछ अन्य घटनाओं के कारण, जिनकी कल्पना वह न कर सका था, जन-दृष्टि से वे ओझल होगए। ये घटनाएं थीं—एकाधिकार वित्त पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का जन्म। लेनिन की दृष्टि में साम्राज्यवाद पूंजीवाद का ही एक रूप है और उसकी अन्तिम मंजिल है जिसका अन्त होते ही समाजवाद का युग आएगा। पूंजी के कुछ ही हाथों में केन्द्रीभूत होने तथा साम्राज्यवादी समाज के अन्य विरोधों के कारण युद्ध होंगे और उनके परिणामस्वरूप पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त होगा। आज विश्व में दो विरोधी शक्तियां हैं—एक ओर साम्राज्यवादी तथा दूसरी ओर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग। इस समय साधनों की दृष्टि से पूंजीवादी व साम्राज्यवादी बढ़े हुए हैं। किन्तु इनमें एकता नहीं रह सकती। इसके विपरीत सर्वहारावर्ग क्षीण है, किन्तु, उसमें एकता स्थापित हो जायेगी। सर्वहारावर्ग के पास मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की प्रेरणा तथा साम्यवादी दल का नेतृत्व है। अतः अन्त में साम्राज्यवाद का विनाश और समाजवाद का प्रस्थापन अवश्यम्भावी है।

लेनिन के साम्राज्यवाद विषयक उपरोक्त एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त को डा० वेपर (*Wayper*) ने अपने निम्नलिखित शब्दों में चित्रवत् प्रस्तुत कर दिया है—

"अपने ग्रंथ साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था में लेनिन ने यह धारणा प्रगट की है कि इन औद्योगिक देशों के निम्न मध्यम वर्ग तथा कुशल मजदूर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए संकट से जिसकी कि कार्ल मार्क्स ने उनके लिये भविष्यवाणी की थी, इसलिये बच गये और वहां वर्ग संघर्ष इसलिए जोर नहीं पकड़ पाया कि उन देशों की आर्थिक अवस्था अपने अधीनस्थ देशों के कारण अच्छी हो गई थी। शासक देशों और पराधीन देशों के सम्बन्ध पूंजीपतियों और श्रमिकों के बीच के सम्बन्ध के तुल्य ही थे। वे जो कि साम्राज्य के अभाव में श्रमजीवी होते, अब पूंजीपति हो गये थे और सच्चे श्रमजीवी पराधीन देशों

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७७०-७१

के अभागे शोषित निवासी थे, जो कि और भी अधिक सकट और पतन के गड्ढे म पडे हुए थे लेकिन उसका दावा था कि साम्राज्यवाद की यह अवस्था किसी भी अथ मे मार्क्स के मन्तव्य का विरोध नही थी बल्कि उसकी पूरक थी यद्यपि स्वय मार्क्स का उसका यथेष्ट पूर्वाभास नही हो पाया था। लेनिन कहता है कि जैसे जसे पूजीवाद का विकास होता जाता है औद्योगिक उत्पादन की इकाइया अधिकाधिक बडी होती जाती हैं और विभिन्न प्रकार के सगठन बनाकर एकाधिकारवादी पूजीवाद को जन्म देती है। वित्त जगत म भी यही प्रक्रिया चलती है। बक सगठित होते हैं और उस पूजी क स्वामी बन जाते हैं जो कि उद्योगपति प्रयोग करते हैं। एकाधिकारवादी पूजी की वित्त पूजी हो हाती है। एकाधिकारी वित्तीय पूजी आक्रमणकारी रूप स फलनेवाली होती है। इसका विशषता निर्यात पूजी है और इसके तीन परिणाम होते हैं—इनका परिणाम होना है पराधीन जातियो का शोषण जिनके ऊपर यह उत्तरोत्तर बढते हुए सकट का पूजीवादी कानून लागू करता है और जिनकी स्वत त्रता को वह नष्ट कर देता है। यह राष्ट्रो क बीच युद्धों को जन्म देता है, क्योकि यह राष्ट्र के अन्दर की स्पर्द्धा क स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को स्थापित कर देता है और बाजारो तथा भूमि की इच्छुक शक्तियो म सघष म युद्ध अनिवाय हो जाता है और अन्त म इसके परिणामस्वरूप पूजीवाद का अन्त हो जाता है और नवीन व्यवस्था का जन्म होता है। क्योकि श्रमिकों के शस्त्रीकरण और सैनिक प्रशिक्षण के साथ जो युद्ध राष्ट्रीय युद्धो के रूप म प्रारम्भ होते हैं उनका अन्त वग युद्धो के रूप मे होगा इसलिए लेनिन कहता है कि मार्क्स की बात गलत नही थी। उसने केवल एक अवस्था पर यथष्ट ध्यान नही दिया जो कि उसकी अपनी युक्ति की अन्तिम अवस्था थी। कि तु उसकी युक्ति तत्वत सही थी और उसके सच्चे अनुयायी यह विश्वास कर सकते हैं कि सब कुछ उसकी भविष्यवाणी के अनुसार ही घटित होता है।[1]

इस सम्पूर्ण मीमासा से यह प्रकट है कि लेनिन क अनुसार साम्राज्यवाद के ५ प्रमुख लक्षण हैं—

प्रथम, इसमे उत्पादन का केन्द्रीकरण और पूजी का विस्तार इस अवस्था तक पहुच जाता है कि एकाधिकार का विकास होता है और आर्थिक जीवन मे इसका निश्चयात्मक महत्व हो जाता है।

द्वितीय, बक की पूजी का औद्योगिक पूजी के साथ मिश्रण होने से वित्तीय पूजीवाद और पूजीपतियो का विस्तार होता है।

तृतीय पहले तो सिफ उत्पादित वस्तुओ का निर्यात होता था पीछे पूजी का निर्यात प्रारम्भ हो जाता है।

चतुथ अन्तर्राष्ट्रीय पूजीवादी एकाधिकार सम्पन्न पूजीपति अपनी मुनाफाखोरी के लिये विश्व को विभाजित कर लेते हैं और अन्तत प्रबल पूजीवादी राज शक्तिया सम्पूर्ण विश्व का क्षेत्रीय विभाजन कर डालती हैं।

पचम पूजीवाद का असमान विस्तार होता है। कही तो पूजीवाद

1 Hayper Political Thought P 218

देशों में पूरी रोजगारी और समृद्धि रहती है तो कहीं मंदी, बेरोजगारी और आर्थिक शिथिलता दिखाई देती है। इस तरह की असमानता साम्राज्यवादी युग में विशेष रूप से बढ़ती है। असमान विकास से प्रतिस्पर्धाएं तीव्रतर होती है और उस आशा पर तुषारापात होता है कि पूंजीवादी देश शांतिपूर्वक एवं परस्पर मिलकर संसार के पदार्थों का आर्थिक उपभोग करेंगे। इससे एक अन्य महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्वहारा क्रांति का आरम्भ उन्हीं देशों से हो सकता है जहां पूंजीवाद ठीक से विकसित न हो सका हो। अन्त में लेनिन विश्वास प्रकट करता है कि साम्राज्यवादी फूटकर क्षीण हो जायेंगे जबकि सर्वहारा वर्ग एकता पाकर साम्राज्यवाद का उन्मूलन कर देंगे और साम्यवाद की स्थापना। उल्लेखनीय है कि यूरोपीय पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के बढ़ते हुए जटिल रूप को देखकर ही लेनिन ने 'संयुक्त यूरोपीय राज्य' के प्रस्ताव का खण्डन किया था। उसके मत में उस समय यह प्रस्ताव पूंजीवादी देशों की शक्ति बढ़ाने का सिर्फ एक नया माध्यम था।

लेनिन ने साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया है उसमें स्पष्ट ही साम्राज्यवाद के तीन प्रमुख अन्तर्विरोधों को दिखाया गया है। **पहला विरोध** श्रम और पूंजी का है। साम्राज्यवाद में एकाधिकारवादी ट्रस्टों, सिण्डीकेटों, बैंकों आदि का प्राधान्य रहता है। ऐसी दशा में श्रमिकों के पास दो ही उपाय रह जाते हैं, या तो वे अपनी दारुण स्थिति में सन्तोष करें अथवा विद्रोह की ओर अग्रसर हों। द्वन्द्ववाद विद्रोह की मांग करता है। **दूसरा विरोध** यह है कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विभिन्न औद्योगिक देशों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता और अपने-अपने हितों के लिये संघर्ष पाया जाता है। प्रत्येक देश अपने द्वारा उत्पादित सामान के लिये बाजार चाहता है, अतः उसका उद्देश्य दूसरे देशों को गुलाम बनाना हो जाता है। यह संघर्ष युद्ध को जन्म देता है। साम्यवादियों की दृष्टि में प्रथम और द्वितीय दोनों महायुद्ध साम्राज्यवादी थे। इन युद्धों से, जो कि साम्राज्यवादी पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न युद्ध हैं, श्रमिक क्रांति द्वारा पूंजीवाद का विनाश करके ही बचा जा सकता है। युद्धों से राष्ट्र निर्बल हो जाते हैं तथा श्रमिक-क्रांति की संभावना बढ़ जाती है।

साम्राज्यवाद में **तीसरा अन्तर्विरोध** यह है कि शोषक राष्ट्रों तथा शोषित राष्ट्रों के मध्य संघर्ष पैदा हो जाता है। पराधीन देशों की जनता शासक देशों द्वारा अपना निर्मम शोषण नहीं सहन कर पाती। अपने अधीनस्थ देशों का शोषण करने के लिये साम्राज्यवादी देश आवागमन के साधनों, कल-कारखानों तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना करता है। परिणामस्वरूप एक बुद्धि प्रधान वर्ग का उदय होता है, सुषुप्त राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हो उठती है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की मांग जोर पकड़ने लगती है। इस तथ्य की पुष्टि भारत, मिश्र, आयरलैण्ड आदि के उदाहरणों से होती है। साम्यवादी, साम्राज्यवाद के इस अन्तर्विरोध का पराधीन देशों में श्रमजीवीय क्रांति लाने के लिये बड़ा अच्छा प्रयोग करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि ऐसा करने में स्वाभाविक रूप से साम्यवादियों को अपने साम्राज्यवाद का ध्यान नहीं रहता और वे साम्राज्यवादी देशों के लिये उनके अधीनस्थ राष्ट्रों में अधिक से अधिक संकट उत्पन्न करते है और सर्वत्र राष्ट्रवादी आन्दोलनों की सहायता करते हैं।

साराश यह है कि लेनिन ने यह बताना चाहा कि साम्राज्यवाद उन स्थितियों का जनक है जो पूंजीवादी दुर्ग पर हमला बोलने के लिये सर्वाधिक अनुकूल होती है। साम्राज्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को जन्म देता है तथा वर्ग-संघर्ष को जाग्रत करके सैनिकों को यह बता देता है कि वे अपने कल्याण की प्राप्ति एक अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक क्रान्ति द्वारा ही कर सकते हैं।

आलोचना—लेनिन के पूंजीवादी साम्राज्यवाद के विश्लेषण की गंभीर आलोचनायें हुई। बहुधा यह आपत्ति की जाती है कि पूंजीवादी साम्राज्यवाद के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए लेनिन ने मार्क्सवादी विश्लेषण की जो पुनर्व्याख्या की है उसके अनुसार श्रमिक वर्ग की क्रान्ति ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देश में होनी चाहिये थी न कि रूस में जो उद्योग धर्धों में एक पिछड़ा हुआ देश था। यह बात सरलता से समझ में न आनेवाली चीज थी कि श्रमिक क्रान्ति के सिद्धान्त और व्यवहार की जन्मभूमि ही क्यों बना। इस आपत्ति का उत्तर स्टॉलिन ने अपने ग्रंथ *'Foundations of Laninism'* में दिया। स्टॉलिन ने कहा कि रूस पूंजीवादी, साम्राज्यवादी और सेनावादी समस्त विरोधों का केन्द्रीय बिन्दु था तथा रूसी साम्राज्यवाद, पश्चिमी साम्राज्यवाद से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित था। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादी शृंखला में सबसे कमजोर कड़ी भी रूस ही था। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि रूस ही सर्वप्रथम क्रांति की जन्मभूमि बने।

यद्यपि लेनिन ने अत्यन्त कुशलता से मार्क्स के सिद्धान्तों का संशोधन और परिवर्तन किया तथा साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की *अन्तिम अवस्था* बतलाकर समाजवादियों के बौद्धिक संघर्ष का समाधान किया तथापि डा० वैपर ने लेनिन के इस सिद्धान्त में निहित अनेक दोषों को सामने ला पटका है। वैपर के अनुसार प्रथम गंभीर दोष यह है कि लेनिन ने अपने *साम्राज्यवाद* के सिद्धान्त के कथन में ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना की है। लेनिन का कहना है कि जब पूंजी एकाधिकारी हो जाती है और पूल, कार्टेल, आदि औद्योगिक संगठन बन जाते हैं तब साम्राज्यवाद का विस्तार हो जाता है। यह कथन ऐतिहासिक सत्य से परे है क्योंकि इंगलैण्ड, फ्रांस आदि में पूल, कार्टेल, ट्रस्ट आदि औद्योगिक एवं वित्तीय संगठनों की स्थापना तो बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई जबकि साम्राज्य विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी में ही कर लिया गया था। ब्रिटेन, फ्रांस बेल्जियम और हॉलैण्ड जैसे राष्ट्रों में अफ्रीका का विभाजन १८८० के उपरान्त आरम्भ हुआ और बीसवीं सदी के उस समय से पूर्व ही पूर्ण हो गया जबकि औद्योगिक संगठनों का युग (बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से) शुरू हुआ। इस तरह यह स्पष्ट है कि लेनिन ने ऐतिहासिक तिथियों का प्रयोग ईमानदारी से नहीं किया। इसका एक अन्य प्रमाण यह भी है कि भारत में वित्तीय पूंजी का उदय तो बाद में हुआ था लेकिन ब्रिटेन ने इसके बहुत पहले ही भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

पूंजीवाद के मार्क्सवादी विश्लेषण की जो पूर्ति लेनिन ने की उसमें वह एक और गलती कर बैठा। मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या की थी उसके अनुसार राजनैतिक दशाओं का निर्धारण आर्थिक शक्ति करती है। अतः इस धारणा के अनुसार आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कारण

राजनैतिक संस्थाओं का भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होना चाहिए था तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध समाप्त हो जाने चाहिये थे। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा कभी नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में लेनिन ने कहा कि वास्तविक व्यवहार में संसार के बाजारों में साम्राज्यवादी राज्यों का भाग सैनिक शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। सबल निर्बलों को समान साझीदार नहीं बनाना चाहते। लेनिन के इस कथन में सचाई जो कुछ भी हो, लेनिन यह अवश्य है कि उसका यह कथन इस आधारभूत मार्क्सवादी मान्यता के विपरीत पड़ता है जिसके अनुसार आर्थिक शक्ति अथवा स्थिति राजनैतिक दशाओं या स्थितियों को निर्धारित करती है।

डा० वैपर ने उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त लेनिन के सिद्धान्त में दो और भी दोष बताये हैं। इन दोषों के कारण डा० वैपर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त जहां तक वह मार्क्सवाद का समर्थन है असत्य भी है और बेईमानीपूर्ण भी, और जहां तक वह सच्चा है वह मार्क्स का समर्थन नहीं बल्कि उसका प्रभावपूर्ण खण्डन है।" इस प्रसंग में वैपर ने लिखा है कि लेनिन के अनुसार पूंजीपति अपनी सरकार को युद्ध तथा विस्तारवाद के लिये प्रेरित करते हैं ताकि उनके माल की खपत बढ़े। कूटनीतिज्ञ अथवा राजनीतिज्ञ सरकार को खतरनाक राजनैतिक परिस्थितियों में नहीं ढकेलते। वैपर लेनिन के इस विचार पर उपयुक्त आक्रमण करते हुए कहता है कि इतिहास बताता है कि घटनायें बहुधा इसकी उलटी होती हैं। "उदाहरणार्थ इटली और रूस की सरकारों ने अपने पूंजीपतियों को ऐसी स्थिति में फंसा दिया जिन्होंने कि टर्की और जापान के विरुद्ध युद्ध को अत्यन्त संभाव्य बना दिया।......हो सकता है कि पूंजीपतियों ने ब्रिटेन को बोअर युद्ध की ओर ढकेला हो, लेकिन उसे वास्तविक युद्ध में ढ़कलने वाले तो दूसरे ही हित थे। और वे हित थे शक्ति के हित जिन्हें क़ूजर की जर्मनी के साथ मित्रता ने सकट में डाल दिया था।"[1] वैपर ने दूसरा दोष लेनिन की इस धारणा में पाया कि पूंजी के निर्यात तथा साम्राज्य में अभिन्न सम्बन्ध हैं। लेनिन ने प्रमाणस्वरूप कहा कि ब्रिटेन की पूंजी का अधिकांश भाग उसके उपनिवेशों में लगा हुआ था। वैपर लेनिन के कथन को असत्य ठहराता है। लेनिन की धारणा सदैव सत्य नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ प्रति व्यक्ति पूंजी निर्यात करने की दृष्टि से स्विटजरलैण्ड सब देशों से आगे है। पर स्विसजनों का ससार में कोई साम्राज्य नहीं है। लेनिन यह भी कहा कि जिन देशों में पूंजी का निर्यात होता है, वहां गरीबी फैलती है। लेकिन इस कथन में भी पूर्ण सत्यता नहीं है। अमेरिका में काफी समय से पूंजी-निर्यात हो रहा है, पर वहां गरीबी नहीं आई।

इन सब कारणों से वैपर यह परिणाम निकालता है कि मार्क्सवाद के पुष्टि के रूप में लेनिन का सिद्धान्त असत्य एव बेईमानीपूर्ण है और जहां तक वह सत्य है वह मार्क्सवाद का खडन करता है।

---

1. *Wayper* : Political Thought, P. 221

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विषय में लेनिन के विचार
(Lenin on Dialectical Materialism)

लेनिन ने सन् १९०६ मे प्रकाशित अपने ग्रंथ *'Materialism and Empirio Criticism'* मे ऊपरी तौर से *सामान्य दार्शनिक समस्याओं पर* विचार किया है जैसे द्वन्द्वात्मक पद्धति का स्वरूप क्या है, उसका प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान से क्या सम्बन्ध है, भौतिकवाद, आदर्शवाद और वैज्ञानिक मायावाद दार्शनिक पद्धतियों के रूप मे *कहा तक ठीक हैं ?* लेकिन वास्तव मे यह पुस्तक दल के एक वादविवाद के दौरान लिखी गई थी और लेनिन ऐसे वाद-विवादों मे सदैव लगा रहता था। वेपर *(Wayper)* ने लेनिन के इस ग्रंथ को जिसमे लेनिन ने कहा है कि मार्क्सवाद और विज्ञान मे घनिष्ट सम्बन्ध है, एक अत्यन्त नीरस पुनरावृत्ति से भरी हुई, अन्धविश्वास पूर्ण और सारहीन समीक्षा *बताया है जिसकी मुख्य विशेषता है भौतिकवाद* के सम्बन्ध मे एक अशिष्ट धारणा जो पयूअरबेक के भौतिकवाद से कुछ अधिक भिन्न नहीं है, जिसकी कि मार्क्स ने निन्दा की थी। इस पुस्तक मे लेनिन ने मार्क्सवाद के शुद्ध सिद्धान्त को बडे ही रूढिवादी ढग से प्रतिपादित किया है, **'मार्क्सवाद का दर्शन फौलाद के एक ठोस पिण्ड की तरह है जिसमें से एक भी मूलभूत धारणा एव एक भी सारभूत अंश बिलग नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा करने का कोई प्रयत्न किया जाता है तो इसका अर्थ वस्तु सत्य को त्याग देना होगा, पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी असत्य के हाथों में** *पड़ जाना होगा।"*

इस पुस्तक मे लेनिन ने एन्जिल्स के इस विचार को ग्रहण किया कि प्रत्येक दर्शन या तो आदर्शवादी होगा या भौतिकवादी। तीसरे प्रकार का *दर्शन सिर्फ भ्रम या बहाना मात्र है। आदर्शवादिता तो धर्म प्रधान लोगों की* ईजाद है क्योकि उन्हीं ने इस विचार को फैलाया है कि मनुष्य ईश्वर की सतान है और उसके अधीन है। यह आम जनता को धोखे मे डालनेवाली बुरी *सामाजिक व्यवस्था* की बुरी ऊपज है। लेकिन लेनिन ने यह भी कहा कि आदर्शवाद पूरी तरह से मूर्खतापूर्ण नही होता। दूसरी ओर वैज्ञानिक माय-वाद "आदर्शवाद और भौतिकवाद से परे जाने का *एक कूट विद्वत्तापूर्ण बहाना*", *'गुप्त धर्मवाद'* और रूढियों की *'पूंजीवादी अशिष्ट तथा कायरता-पूर्ण सहिष्णुता'* है। लेनिन "मायवाद को बर्कले के आदर्शवाद का सशोधित *रूप या आत्मवाद का समानार्थक*" मानता था जिसके अनुसार "वस्तुपरक सत्य अथवा वास्तविकता का अस्तित्व केवल चेतना की परतो में *ही होता है, अन्यत्र नही।"*[1]

लेनिन ने भौतिकता के विषय मे बताया कि किसी भी वस्तु की यथार्थता बगैर हमारे जाने हुए अर्थात् हमारे ज्ञान से स्वतन्त्र होकर *रहती है।* "लेनिन के मन से इसके तीन अर्थ हो सकते हैं—*प्रतिबोध (Perception)* हमारे मन में चीजो के बारे मे सही प्रभाव पैदा करता है, *हम वस्तुओं को* खुद ही सीधे जान लेते हैं और वस्तुए हमारी इन्द्रियों *पर असर डालती*

---

1 सेबाइन-राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७६४

हैं।"[1] इसीलिए हमारे विचार वस्तुओं के प्रतिबिम्ब हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। दूसरे शब्दों में "वे हमारे मनों में चित्र या 'छायाएं" पैदा करते हैं।"

लेनिन ने द्वन्द्वात्मक पद्धति की व्याख्या भी एन्जिल्स की भांति ही है। उसने बताया कि सत्य सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी अर्थात् जो आंशिक रूप में सत्य है वह सत्य पूर्ण नहीं है, बल्कि केवल सत्य के निकट है। लेनिन के तर्कों में यह आश्चर्य की बात है कि वैज्ञानिक सकारात्मकता के प्रति घृणा व धर्मवाद के प्रति सहानुभूति देखने को मिलती है।

लेनिन का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसका विज्ञान के साथ सम्बन्ध का विवेचन एक दृष्टि से मार्क्स और एन्जिल्स के विवेचन से भिन्न था। हीगल के अनुसार मार्क्स की यह धारणा थी कि द्वन्द्ववाद सामाजिक विषयों के अध्ययन के लिए उचित तरीका है क्योंकि इन विषयों का सम्बन्ध ऐसी बातों से है जिनमें विकास मुख्य बात होती है। वे विज्ञान जिनका सम्बन्ध निर्जीव पदार्थों से है जैसे रसायन और भौतिक शास्त्र, अद्वन्द्वात्मक भौतिक तरीके से ही अच्छी प्रकार समझे जाते हैं। किन्तु लेनिन ने यह नहीं माना। उसने बताया कि यूक्लिडियन ज्यामिति व भौतिकी इसलिए चक्करदार मालूम होती हैं क्योंकि भौतिकशास्त्री व गणितज्ञ के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझने की चेष्टा नहीं की है। संक्षेप में, लेनिन का विचार था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग एक ऐसा विश्वव्यापी साधन था जिसका प्रयोग प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन में किया जा सकता था। सेबाइन के शब्दों में "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक गणितशास्त्री को यूक्लिडियन तथा गैर-यूक्लिडियन को ज्यामिति के बारे में ठीक कर सकता है और एक भौतिक-शास्त्री को पदार्थ तथा विद्युत के सम्बन्धों के विषय में शिक्षा दे सकता है।"

सेबाइन का विचार है कि लेनिन के इस दृष्टिकोण ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्चतर ज्ञान, एक प्रकार का धर्मशास्त्र बना दिया जो समस्त विज्ञानों के गहनतम् प्रश्नों का निर्णय कर सकता था।

लेनिन का कहना था कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन और सामाजिकशास्त्र एकतरफा होते हैं। उसके अनुसार अर्थशास्त्र के अध्यापक केवल पूंजीवादी वर्ग के वैज्ञानिक विक्रेता हैं तो दर्शन के अध्यापक धर्म शास्त्र के। अधिक से अधिक जो समाज का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त कर सकता है वह है आर्थिक एवं ऐतिहासिक विकास को खोज निकालना और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा यह किया जा सकता है। दर्शन, अर्थशास्त्र

---

1. "Thus dialectical materialism can set the mathematician right about Euclidean and non-Euclidean Geometry and can instruct the Physicist about the correct relations between matter and electricity."

—*Sabine*

व राजनीति मे निष्पक्षता अथवा वैज्ञानिक पृथक्ता केवल एक बहाना है जिसके द्वारा सुरक्षित हितो की पूर्ति होती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान की दो प्रणालिया हैं—एक तो मध्य वर्ग के हित के लिए है और दूसरी श्रमजीवियो के हित मे है। श्रमजीवियो की श्रेष्ठता इस बात मे है कि द्वन्द्ववाद यह सिद्ध करता है कि श्रमजीवी वर्ग एक ऊपर उठने वाला या जागृत वर्ग है और सामाजिक प्रगति म अग्रणी है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति उसे एक उदीयमान वर्ग घोषित करती है। इसके विपरीत मध्य वर्ग एक ऐसे निराशाजनक कार्य में लगा रहता है जिसके द्वारा वह पूजीवाद का समाजवाद में परिणत होने से रोकता है। अत, उसका विज्ञान गतिहीन, पतनशील एव प्रतिक्रियावादी है।

लेनिन के अनुरूप ही ट्रॉटस्की का भी विचार था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति अनिवार्यत वर्ग सघर्ष क शाश्वत तत्व का सृजन करती है और यह पद्धति समाज एव प्रकृति मे अनिवार्य रूप से निहित है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह निकलता है कि प्रगति अन्तर्विरोधो के माध्यम स होती है। सन् १६३८ मे स्टालिन ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रधिकृत विवरण प्रस्तुत किया था जिसमे एन्जिल्स और लेनिन के पदचिन्हो पर चलते हुए उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति एव नीति के सम्बन्धो पर बल दिया था। स्टालिन का विवरण इस प्रकार था—

"द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय यह है कि निम्न स्तर से उच्च स्तर का विकास सघटना के एक समरसतापूर्ण प्रस्फुटन के रूप मे नहीं होता, वह वस्तुओं तथा सघटना में निहित अन्तर्विरोधों के उदघाटन के रूप में होता है, वह विरोधी प्रवृत्तियों के सघर्ष के रूप मे होता है। ये विरोधी प्रवृत्तियां इन अन्तर्विरोधों के रूप में कार्य करती हैं।

अत, नीति विषयक गलती से बचने के लिए व्यक्ति को श्रमिक वर्ग तथा पूजीपति वर्ग के हितो के समन्वय का सुधारवादी नीति का नहीं पूजीवाद तथा समाजवाद के विकास की समझौतावादी नीति का नहीं, प्रत्युत समझौता न करने की सर्वहारा वर्ग की नीति का ही सदैव अनुसरण करना चाहिए।"[1]

लेनिन की क्रान्ति-विषयक धारणा
(Lenin on Revolution)

लेनिन द्वारा मार्क्सवाद को क्रांतिकारी बनाना—लेनिन की क्रान्ति की मीमांसा साम्यवादी विचारधारा के क्षेत्र में उसका एक मुख्य योगदान है। इसके पहले कि लेनिन की क्रान्ति की टेक्नीक पर कुछ कहा जाय, पृष्ठभूमि के रूप मे यह जानना महत्वपूर्ण एव प्रासंगिक होगा कि लेनिन ने मार्क्सवाद को किस तरह मूलत: और तत्वत:, एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त सिद्ध किया। अपने ग्रंथ *'State and Revolution'* में लेनिन ने लिखा—

"आजकल पूंजीपति अथवा श्रमिक आन्दोलन के भीतर अवसरवादी लोग मार्क्सवाद मे मिलावट करने में सहयोग कर रहे है। वे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के क्रान्तिकारी पक्ष को, उसकी क्रान्तिकारी आत्मा को या तो भुला देते हैं, या धूमिल कर देते हैं अथवा उसे नष्ट कर देते हैं। जो कुछ पूंजीपतियों का ग्राह्य है, अथवा ग्राह्य प्रतीत होता है, वे उसे ही आगे रखते हैं तथा उसकी ही प्रशसा करते हैं। सभी सामाजिक शेखचिल्ली *(Social Chauvinists) अब मार्क्सवादी बन गये हैं।......ऐसी परिस्थि*तियो में, जबकि मार्क्सवाद को इतने व्यापक रूप से भ्रष्ट किया जा रहा है, राज्य के विषय में मार्क्स की वास्तविक शिक्षाओं को पुन: प्रतिष्ठित करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।"

वास्तव में सन् १९१७ के मध्य में लिखे गये अपने उपरोक्त ग्रंथ में लेनिन को मुख्य उद्देश्य मार्क्स एवं एन्जिल्स की कृतियो में से विस्तृत अवतरण लेकर यह दिखलाना था कि आयोजित क्रांति और उसके उपरान्त स्थापित होनेवाला साम्यवादी शासन बिल्कुल मार्क्स की कल्पना के अनुकूल होगा, यद्यपि वह पश्चिमी समाजवादियों की कल्पना से भिन्न होगा।

कुछ लोग ऐसे थे जिन्होंने राज्य के शनैः शनैः समाप्त हो जाने (*Withering away*) के सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला था कि मार्क्स की धारणा यह थी कि वर्तमान पूंजीवादी राज्य धीरे धीरे शांतिपूर्ण ढंग से भविष्य मे समाजवादी राज्य में परिवर्तित हो जायगा। इस तरह ये लोग विकासवादी-समाजवादी हो गये थे। किन्तु लेनिन तो क्रांतिकारी विचारधारा का पोषक था। वह मार्क्सवाद को मौलिक रूप से एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त सिद्ध करना चाहता था। अत: विकासवादी समाजवादियों के विरोध में लेनिन ने यह विश्वास व्यक्त किया कि मार्क्स का विश्वास और उसका मन्तव्य पूंजीवादी राज्य के शनैः शनैः समाप्त होने अथवा उसके क्रमिक अन्त मे नही था बल्कि श्रमजीवीय तानाशाही के समाप्त होने में था। एन्जिल्स के अनुसार भी पूंजीवादी राज्य को धीरे-धीरे लुप्त नही होना था बल्कि उसे तो क्रांति द्वारा बलपूर्वक नष्ट किया जाना था। लेनिन ने कहा कि मार्क्स की शिक्षाओं की सही व्याख्या यही है कि राज्य क्रान्ति के द्वारा समाप्त होगा। उसने इसके पक्ष में मार्क्स के इस कथन का सहारा लिया कि 'यदि एक श्रमिक आन्दोलन क्रान्तिकारी नही है तो वह कुछ भी नहीं

है।" अत लेनिन ने यह आग्रहपूर्वक कहा कि समाजवाद की तरफ प्रगति का एक मात्र उपाय क्रान्तिकारी ढग है। क्रान्तिकारी सघर्ष के बिना यह कदापि सम्भव नहीं है कि श्रमिक वर्ग पू जीवादी समाज को समाजवादी समाज मे परिवर्तित कर दे। वस्तुत लेनिन का प्रारम्भ से ही यह प्रयास रहा था कि वह मार्क्सवाद को सामाजिक क्रांति के दर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित कर और उसे सशोधनवादी एव विकासवादी की समस्त विकृतियो से मुक्त कर दे। उसके ग्रथ *State and Revolution*' मे लेनिन के इस जीवनव्यापी प्रयत्न को सफल किया।

लेनिन ने जो यह प्रस्थापित करने की चेष्टा की कि *समाजवाद* की ओर प्रगति केवल मात्र क्रातिकारी ढग से ही सम्भव है तथा मार्क्सवाद की आत्मा क्राति है वह इस दृष्टि से आपत्तिजनक है कि मार्क्स सभी देशों मे क्राति को अपरिहार्य नही समझता था। उसकी धारणा थी कि जनतन्त्रात्मक पद्धतिवाले देशो मे क्राति का होना आवश्यक न था। मार्क्स का विचार था कि ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका आदि देश सुदृढ जनतन्त्रवादी परम्परा के थे और वहा क्राति के बिना भी काम चल सकता था। लेनिन ने इस आपत्ति के उत्तर मे कहा कि एकाधिकारी पू जी तथा साम्राज्यवाद एव विश्व युद्ध ने *परिस्थितियो को परिवर्तित कर दिया था।* इंगलैण्ड और अमेरिका जनतन्त्रीय देश न रह कर साम्राज्यवादी एव सेनावादी बन गये थे। अत इन देशों के श्रमिको के समक्ष इस उपाय के अलावा और कोई चारा न रह गया था कि *वे क्राति की ओर उन्मुख हों। लेकिन इतिहास के बाद की घटनाओ ने लेनिन* के कथन को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया और यह बता दिया कि लेनिन ने इगलैण्ड की स्थिति का गलत अध्ययन किया था। ब्रिटेन के निर्वाचक मण्डल द्वारा, जिसमे पर्याप्त सख्या मे श्रमिक मतदाता थे, प्रथम युद्ध के बाद श्रम-दलीय सरकार को स्थापित किया गया और द्वितीय युद्ध के बाद उसे वास्त-विक शक्ति भी प्रदान की गई। यह सब कुछ वैधानिक तरीके से हुआ, किसी क्राति द्वारा नही। इगलैण्ड के श्रमिको ने कोई क्रातिकारी रुख नही अपनाया। यहा यह स्मरणीय है कि मार्क्सवाद के क्रातिकारी स्वरूप म कोई सन्देह नही *किया जा सकता, लेकिन मार्क्स इस सम्बन्ध मे लेनिन की अपेक्षा अधिक* सतर्क था। मार्क्स ने क्रातिकारी सिद्धान्त का आरोपण अवश्य किया लेकिन इस सिद्धान्त को सीमित एव स्थितिबद्ध रखा। लेनिन मार्क्स की सतर्कता को *न अपना पाया और* उसने मार्क्स द्वारा प्रस्थापित सीमाओ के बाध को तोड़ फैका तथा क्रातिकारी सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप देने की चेष्टा की। अपने इस प्रयास मे लेनिन को मार्क्स की शिक्षाओ मे *'नियतिवादी तत्व' के महत्व* को कम करना पडा तथा ऐच्छिक तत्व' पर विशेष बल देना पडा। लेनिन स्वभावत और व्यवहारत एक क्रातिकारी था और यह विश्वास रखता था *कि जो समाजवादी क्राति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करता है,* वह अवसर को हाथ से निकल जाने देता है। उसे यह प्रतीक्षा करना नापसद था कि द्वन्द्ववादी प्रक्रिया स्वत क्राति लायेगी। उसकी मान्यता *थी "सजीव मार्क्स-वाद" तथ्यो* तथा समय के साथ रहने में है। 'इन अकाट्य सत्य को समझना आवश्यक है कि मार्क्सवादी को सप्राण जीवन की ओर, वास्तविकता के सच्चे तथ्यो की ओर *ध्यान देना चाहिये।* उसे कल के सिद्धान्त से ही

चिपके नहीं रहना चाहिए। रूस का सिद्धान्त प्रत्येक सिद्धान्त की भांति केवल मुख्य तथा सामान्य रूपरेखा का ही निर्देश देता है। वह जीवन की जटिलता के निकट तक ही पहुंच सकता है......जो कोई पुराने दृष्टिकोण से पूंजीवादी क्रान्ति की 'पूर्णता' में संदेह करता है, वह मृत अक्षरों की वेदी पर सजीव मार्क्सवाद का वलिदान कर देता है।" अपने इसी विश्वास के कारण लेनिन को यह दृढ़ निश्चय हो गया था कि आवश्यक संगठन होने पर वह रूस में जारशाही का तख्ता पलट कर उसके वदले में श्रमजीवी तानाशाही स्थापित कर सकता था। यही कारण था कि वह मार्क्सवाद की एक ऐसी व्याख्या करने के लिये प्रेरित हुआ जिसमें उसके क्रांतिकारी पक्ष पर पूरा वल हो। स्टॉलिन ने यह सही कहा था कि "लेनिनवाद सामान्य रूप से श्रमजीवीय क्रांति का और विशेषरूप से श्रमजीवीय तानाशाही का सिद्धान्त है। इसमें कोई संशय नहीं कि श्रमजीवीय क्रांति के साधनों और पद्धति का सिद्धान्त लेनिन की मार्क्सवाद के विकास को अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है और यह विशेषतः महत्वपूर्ण इसलिए है कि मार्क्स ने क्रांति की पद्धति एवं पूंजीवादी राज्य के विनाश के उपायों के बारे में विस्तार से नहीं लिखा था। मार्क्स और एंजिल्स ने अपनी रचनाओं में श्रमजीवीय तानाशाही को वह केन्द्रीय स्थान नहीं दिया था जो लेनिन ने दिया। लेनिन ने यह घोषित किया कि एक सच्चा मार्क्सवादी वही है जो वर्ग-संघर्ष की स्वीकृति को मजदूरों की तानाशाही तक ले आता है। इस तरह लेनिन ने सच्चे मार्क्सवादी की खोज के हेतु जो कसौटी दी वह है श्रमजीवीय तानाशाही की स्वीकृति।

लेनिन की क्रांति की टेक्नीक—लेनिन का विश्वास था कि उसके देश में कोरे संवैधानिक साधनों से समाजवादी राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। रूस की राष्ट्रीय पार्लियामेण्ट 'ड्यूमा' जिस तरह क्रियाशील थी उससे लेनिन के इस विश्वास की पुष्टि हो रही थी कि केवल हिंसात्मक क्रांति द्वारा ही श्रमिकों को राजनीतिक शक्ति मिल सकती है। प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ के समय तक रूस में जिन समुदायों का शासन पर नियंत्रण था, उन्होंने रूस की किसी भी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्या का प्रभावकारी ढंग से हल करने का प्रयत्न नहीं किया था। देश की सम्पूर्ण जनता की यह धारणा बलवती होती जा रही थी कि शांतिमय, वैधानिक एवं विकासवादी साधनों से कुछ भी नहीं हो सकेगा। युद्धकाल में जिस तरह शासन का संचालन किया गया, जिस तरह रूसी सेनाओं की वार वार पराजय हुई और शासन ने जिस अयोग्यता एवं कार्य क्षमता की कमी का परिचय दिया और राजदरवार के षड़यन्त्रों, कुचक्रों और नैतिक भ्रष्टाचार ने जिस तरह आकाश छुआ, उससे जनता में निराशा एव असन्तोष का सागर हिलोरे मारने लगा। सेना में भी विद्रोह भावना फैलने लगी और सैनिक सेना छोड़ कर भागने लगे।

इस सम्पूर्ण स्थिति ने मार्च सन् १९१७ की क्रांति को जन्म दिया। किन्तु यह क्रांति कोई अन्तिम क्रांति न थी। यह किसी एक दल, वर्ग या राजनैतिक संस्था द्वारा आयोजित नहीं थी और न इसका कोई निश्चित कार्यक्रम तथा ध्येय ही था। '१५ मार्च १९१७ को जार के सिंहासन का त्याग करने से कुछ सप्ताह पूर्व मेनशेविकों, बॉल्शेविकों, सामाजिक क्रांतिकारियों तथा

वैधानिक प्रजातन्त्रवादियों सभी ने अनेक प्रतिवाद किये, धमकियाँ दीं और अपनी मांगें पेश कीं। प्रथम तीन दलों के सदस्यों ने इस साल में हड़तालों, जुलूसों जन-प्रदर्शनों एवं उपद्रवों का आयोजन किया। जार के राजसिंहासन त्याग से तीन दिन पूर्व इन तीनों दलों के नेताओं ने मिलकर पेट्रोग्राड में मजदूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की परिषद का आयोजन किया और इसके द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर विधान-परिषद के लिए मांग पेश की जिसका उद्देश्य क्रांतिकारी राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए कार्य करना था। मैनशेविकों तथा सामाजिक क्रान्तिकारी दल ने पेट्रोग्राड तथा अन्य प्रान्तीय सोवियतों में कार्य करते रहने पर भी मार्च की क्रांति को एक निर्णायक घटना—समाजवाद की ओर दीर्घकालीन प्रगति की प्रथम अवस्था-माना। वे इस बात से सहमत प्रतीत होते थे कि विशुद्ध रूप से समाजवादी क्रांति को उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि पूंजीवादी प्रजातांत्रिक शासन में जिसका वे मर्यादित या अग्रगामी आलोचकों के रूप में समर्थन करेंगे पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया का अन्त नहीं हो जाता। किन्तु लेनिन जो अप्रैल १९१७ में निर्वासन से स्वदेश वापस आ गया था, का विचार यह था कि यद्यपि रूस आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समाजवाद के लिए प्रस्तुत नहीं है, तथापि राजनीतिक दृष्टि से वह मजदूरों को सत्ता हस्तान्तर करने के योग्य है और इस प्रकार की क्रांति के लिए सोवियतें (*Soviets*) उपयुक्त साधन हैं।"[1] रूस में आने के तीन महीने बाद तक लेनिन बराबर इस बात पर जोर देता रहा कि अल्पसंख्यक वर्ग को सत्ता नहीं हथियानी चाहिए तथा शासन में उस समय तक परिवर्तन नहीं होना चाहिए जब तक कि भारी बहुमत उसके पक्ष में न हो और यदि क्रांति के द्वारा सत्ता को हथियाना है तो केवल सोवियतें ही इस कार्य को कर सकती हैं। अतः क्रांतिकारी दल के लिए एक मात्र नारा यही होना चाहिए कि 'सारी शक्ति सोवियतों को मिले'' लेकिन, लेनिन के दृष्टिकोण से सोवियतें भी कोई आसान समस्या नहीं थीं। उनके सदस्यों में मार्क्सवादी अल्पसंख्या में थे और मार्क्सवादियों में भी बोलशेविक अल्पसंख्या में थे। इसके अतिरिक्त सोवियतों को क्रांतिकारी स्वतःस्फूर्ति, श्रमिकों की स्थानीय स्वतन्त्रता और संघीय शासन के विषय में मेनशेविकों के विचारों के अधिक निकट था किन्तु '१९१७ में जब सोवियतें बॉलशेविकों के नेतृत्व में आ गईं, तब दल तथा सोवियतों को मिलाकर एक कर दिया गया और इस प्रकार इस व्यावहारिक समस्या का समाधान हो गया। सोवियतें अब तक लोकशासन की समर्थक रही थीं। अब लोकशासन का अन्त हो गया। श्रमिक दल का अधिनायकवाद दल के अधिनायकवाद की स्थापना का एक उपाय था। लेनिन ने सैद्धांतिक कठिनाइयों का समाधान मार्क्सवादी सिद्धांत को त्याग कर किया जिसके अनुसार राजनैतिक लोकतन्त्र समाजवाद की पूर्व शर्त है।"[2] तो हमें देखना चाहिए कि यह मार्क्सवादी सिद्धान्त क्या है जिससे लेनिन हटा अथवा जिसकी उसने पुनर्व्याख्या की ?

मार्क्स एक 'भाग्य निर्णयवादी' (*Determinist*) था। उसका विश्वास

---

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृष्ठ १९२-९३
2 सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७८१

था कि ऐतिहासिक युगों में मनुष्य कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐतिहासिक युग एक आंतरिक आवश्यकता के अनुसार क्रमशः अपने आप आते रहते हैं। मनुष्य ऐतिहासिक विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं को न बदल सकता है और न लांघ सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार समाजवाद की स्थापना तभी हो सकती है जब पूंजीवाद के अन्तर्विरोध पूर्ण रूप से प्रकट हो जाये। प्रयत्नों से केवल समय कम किया जा सकता है. घटनाक्रम में कोई मूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः कोई भी देश समाजवाद पर पहुंचने से पूर्व पूंजीवादी अवस्था में स गुजरे बिना नहीं रह सकता। समाजवाद का विशुद्ध आगमन तभी सम्भव है जब निर्दयी पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध वर्ग चेतना से भरा हुआ क्रांतिकारी श्रमिक–वर्ग उठ खड़ा होता है और उसे नष्ट करने में सफल हो जाता है। दू रे शब्दों में यह कहना चाहिए कि मार्क्सवादियों के अनुसार श्रमवर्गीय क्रांति के लिए मध्यवर्गीय क्रांति आवश्यक है। १९०५ और मार्च १९१७ की क्रांतियां इसी प्रकार की थीं। मध्यवर्गीय क्रांति के द्वारा राज्य के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, इससे तो केवल शासकों में परिवर्तन होता है और एक शोषक-वर्ग के बजाय दूसरा शोषक-वर्ग सत्तारूढ़ हो जाता है। श्रमिक–वर्ग को शक्ति प्राप्त नहीं होती। इसके द्वारा श्रमजीवीय क्रांति के अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती। मार्क्सवादियों के अनुसार मध्यवर्गीय क्रांति श्रमवर्गीय क्रांति के लिए एक आवश्यक तयारी है। वस्तुत: मार्क्स की यह आधारभूत धारणा थी कि किसी देश में श्रमिक क्रांति केवल तभी आ सकती है जब समुचित राजनीतिक और आर्थिक विकास द्वारा उसके लिए मार्गप्रशस्त हो जाय। मेनशेविक, जिन्होंने मार्च १९१७ की क्रांति में भाग लिया था, मार्क्स के इस सिद्धांत को मानते थे और अपना यह कर्त्तव्य समझते थे कि जारशाही के स्थान पर पहले एक उदार जनतन्त्र सरकार की स्थापना की जाय जो द्रुतगति से देश का औद्योगिकरण करे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि मध्यवर्गीय और श्रमवर्गीय क्रांतियों के बीच में काफी समय का अन्तर होगा। लेकिन लेनिन से जब अप्रेल १९१७ में अपने निर्वासन से लौटने के बाद यह घोषणा की कि अन्तरिम सरकार के साथ कोई सहयोग न किया जाय और उसने अपने साथियों को श्रमजीवीय अधिनायकत्व स्थापित करने को कहा तो मेनशेविकों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

लेनिन ने अपने इस विश्वास को पुष्ट किया कि सवैधानिक अथवा लोकतन्त्रात्मक सूत्रों से क्रांति की किसी भी स्थिति का समाधान नहीं होता। मार्क्स की भांति लेनिन यह मानता था कि क्रांति अनिवार्य रूप से विधि बाह्य है और इसलिये अधिनायकवादी व्यवस्था से ही समाप्त होती है। ‘ इस सिद्धान्त में उसने एक सामान्य तर्क और जोड़ दिया कि उस सामाजिक दर्शन के लिये जो वर्ग संघर्ष को समाज का मूल तथा स्थायी गुण मानता है, बहुमत शासन जैसी लोकतन्त्रात्मक संकल्पना निरर्थक है।”[1] लेनिन ने अप्रेल १९१७ के बाद की रूस की क्रांतिकारी स्थिति को भलीभाँति हृदयंगम किया और यह समझ लिया कि वह समय समाजवादी क्रांति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा का नहीं था। रूस के तत्कालीन भावनात्मक ज्ञान ने उसमें यह विश्वास पैदा कर

1. वही, पृष्ठ ७८२

दिया कि मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता चाहे कुछ भी सोचे-समझे या कहें, लेकिन क्रांति के लिए एक अलगमार्ग सम्भव था और रूस को उस समय क्रान्ति के पथ पर मोड़ा जा सकता था। लेनिन के ही विचारों के अनुरूप ट्रॉटस्की का भी कथन था कि श्रमिकवर्ग की क्रांति के लिये देश की उपयुक्तता का निर्णय वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध, युद्ध के लिये तत्परता आदि भावनात्मक तत्वों से किया जा सकता है, आर्थिक शक्तियों के पूंजीवादी विकास की मात्रा द्वारा नहीं। उसने कहा कि श्रमजीवीय अविनाशकत्व और देश के औद्योगिक एवं उत्पादक साधनों में कोई निर्भरता नहीं है। लेनिन ने पहल की और क्रांति का बिगुल फूंक दिया। अपने चातुर्य और बुद्धिबल से उसने मेनशेविकों एवं सामाजिक क्रांतिकारियों को करारी मात देते हुए अक्टूबर क्रांति का श्री गणेश किया और प्रायः एक रक्तहीन क्रांति के उपरांत तत्कालीन करेंस की सरकार का अन्त कर दिया।

रूस की उपरोक्त क्रांति ने न तो उन सामान्य शर्तों को पूरा किया जिनका मार्क्स ने उल्लेख किया था और न उन विशेष शर्तों को ही जिनकी सम्भावना उसने रूस के सम्बन्ध में बतलाई थी। मार्क्स ने जिस देश को समाजवादी क्रांति के लिये सब से कम तैयार बतलाया था, उसी देश में सबसे पहले साम्यवादी शासन की प्रस्थापना हुई। इस पर भी लेनिन का कहना यही था कि रूसी क्रांति मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही हुई क्योंकि सन् १९१७ से पूर्व औद्योगिक संसार में जो आर्थिक एवं राजनैतिक विकास हुए, उन्होंने किसी एक विशेष देश में, जहाँ पूंजीवादी शासन अत्यन्त अस्थिर दशा में था, सफल समाजवादी क्रांति के लिये मार्ग तैयार कर दिया था। लेनिन ने कहा कि किसी विशेष देश में क्रांति की सफलता के लिये निम्नलिखित अवस्थाएं अत्यन्त आवश्यक हैं—

(१) 'देश में आक्रमणशील और दृढ़ प्रतिज्ञ क्रांतिवादियों का एक सुसंगठित दल होना चाहिये, जो अपने लक्ष्य को भली भाँति समझता हो।

(२) यह दल अनिवार्य रूप से छोटा सा होगा, किन्तु उसे सामान्यतया जनता के सक्रिय असन्तोष का समर्थन प्राप्त होना चाहिये।

(३) क्रांति ऐसे समय पर करनी चाहिये जबकि पुरानी व्यवस्था और शासन के समर्थक विभाजित एवं शक्तिहीन हों।'

लेनिन के अनुसार, सन् १९१७ में रूस में उपरोक्त सभी अवस्थाएं विद्यमान थीं। यद्यपि यह क्रांति स्वयं मार्क्स या बॉलशेविकों की अपेक्षित अवस्थाओं से भिन्न अवस्थाओं में हुई, तथापि बॉलशेविकों ने यही घोषित किया कि इस क्रांति ने मार्क्स की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया है। मार्च १९१९ में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की कांग्रेस (*The Congress of the Third International, March, 1919*) ने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया उसका आरम्भ इन शब्दों में हुआ—

'बहत्तर वर्ष व्यतीत हो गये जबकि सर्वहारा क्रांति के दो सबसे महान् आचार्यों-कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एन्जिल्स-के द्वारा तैयार कार्यक्रम को घोषणा के रूप में साम्यवादी दल ने संसार के सामने प्रकाशित किया था।"...... 'उस समय से विकास की गति ठीक वैसी ही रही, जैसा कि दल के घोषणा-पत्र में

निर्दिष्ट है। संघर्ष की अन्तिम निर्णयात्मक अवस्था उस समय की अपेक्षा विलम्ब से आरम्भ हुई जिसकी समाजवादी क्रांति के अग्रदूतों ने इच्छा या प्रत्याशा की थी; किन्तु क्रांति हो चुकी है। हम साम्यवादी, जो योरोप, अमेरिका तथा एशिया के देशों में क्रांतिकारी सर्वहारा वर्गों के प्रतिनिधि हैं; जो यहाँ मॉस्को के शक्तिशाली सोवियत-नगर में एकत्रित हुए हैं, अनुभव करते हैं और मानते हैं कि हम एक ऐसे लक्ष्य को माननेवाले और उसके लिये कार्य करनेवाले है जिसके लिये आज से ७२ वर्ष पूर्व कार्यक्रम तैयार किया गया था।"[1]

लेनिन का विश्वास था कि पूंजीवादी राज्य के स्थान पर सर्वहारा राज्य की स्थापना हिंसात्मक क्रांति के विना असम्भव है, और यदि आज साम्यवाद को हिंसा के समरूप समझा जाता है तो इसका सम्पूर्ण श्रेय या अप-श्रेय लेनिन को जाता है।

लेनिन की दल सम्बन्धी धारणा
(Lenin on Party)

लेनिन ने मार्क्सवाद में सशोधन किया तथा रूसी क्रांति में जिस मार्ग का अनुसरण किया, उसका आधार दलगत सिद्धान्त था। दल के विषय में लेनिन के विचार बड़े सैनिकवादी और कठोर थे। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि क्रांति की सफलता के लिये साम्यवादी दल का लौह संगठन अपेक्षित है जसका प्रधान कार्य होगा कि वह श्रमिकों के अन्दर राजनीतिक चेतना भरे और उन्हें संघर्ष के लिये तैयार करे। दृढ़ और साहसपूर्ण दल के संगठन के विना यह सम्भव नहीं कि क्रांति लाई जा सके और सत्ता के संघर्ष के लिये श्रमिक वर्ग के पास संगठन को छोड़कर और कोई अस्त्र नहीं। लगातार पूर्ण निर्धनता की गहराई से खदेड़े हुए श्रमिक आर्थिक मांगों की पूर्ति के लिये संघर्ष हेतु शीघ्र तैयार हो जाते है। किन्तु उनमें यह भावना भी भरनी है कि वे राजनैतिक सत्ता को छीनने के लिये प्रस्तुत हों। यह राजनीतिक भावना उनमें स्वत: नहीं उत्पन्न हो सकती, प्रत्युत् इसे तो उनमें प्रपुष्ट करना होगा। यह उन आगे बढ़े हुए लोगों का कार्य है जो इतिहास का द्वन्द्ववादी अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि पूंजीवादी समाज की घोर असंगतियां और निरन्तर चलनेवाली विपदाएं साम्यवादी दल के नेतृत्व में आयोजित सर्वहारा क्रांति से ही सुलझ सकती है और उसी से समृद्ध एव उन्नत पथगामी स्वतन्त्र समाज की रचना हो सकती है। लेनिन ने देखा कि महान् संघर्ष करना है। इस संघर्ष को जनता अपने ही वल पर नहीं चला सकती। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये सेना के आगे रहनेवाले सेनामुखों की प्रवल आवश्यकता है। साम्यवादी दल को लेनिन ने सेनामुख' (*Vainguard*) की संज्ञा दी। आवश्यकता इस वात की है कि प्रचार और प्रशिक्षण के सहारे जनता के अधिक भाग को इस सेनामुखीन उन्नत चेतना के पास लाया जाय।

---

1. Resolution of the Congress of the Third In ternational, (Quote. by Coker), Recent Political Thought (Hindi Trans.) P. 173

लेनिन ने दल की अपनी विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की। सेबाइन के शब्दों मे, लेनिन के मन्तव्यानुसार "दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियो और नीतिज्ञ पुरुषो का एक सुसगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियो का गुट इस अर्थ मे है कि उसकी मार्क्सवाद विषयक विद्वता मार्क्स के सिद्धान्त की शुद्धता को कायम रखती है तथा दल की नीति का पथ प्रदर्शन करती है और जब दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तब राज्य की नीति का पथ प्रदर्शन करता है। *यह चुने हुए नीतिज्ञ पुरुषों का सगठन इस अर्थ में है कि* चुनाव और कठोर दलगत प्रशिक्षण के कारण ये लोग दल तथा क्रांति के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान हो जाते हैं।"

लेनिन का यह मत था कि दल सदैव ही श्रमिक आन्दोलनो के बीच मे रहता है और इन आन्दोलनो को नेतृत्व तथा पथप्रदर्शन प्रदान करता है। दल क्राति के विचारों का प्रसारण करता है, क्राति कला का शिक्षण देता है, और श्रमिको को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल बनाता है। शक्तिशाली दल व सगठन के कारण श्रमिक वर्ग एक ऐसी शक्ति बन जायगा, जो अजेय हो। दल की अनिवार्यता न केवल क्राति से पूर्व ही है, बल्कि पूजीवादी राज्य का विनाश करने एव श्रमजीवी अधिनायकत्व की स्थापना करने के लिये भी इसका होना आवश्यक है। लेनिन ने दल को क्राति का सेनामुख' अथवा अग्रवाहक कहा है और यदि उसे वास्तव मे अग्रवाहक या सेनामुख के रूप मे कार्य करना है तो यह सर्वथा अपेक्षित है कि दल को क्रातिकारी सिद्धान्त और क्राति के नियमों का भी पूर्ण ज्ञान हो। दल का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग एव सम्पूर्ण जनता की भलाई करना है। किन्तु उनके लिये क्या भला है और क्या नहीं, इसका एक मात्र निर्णय भी दल के ही हाथ मे है। अभिप्राय यह हुआ कि 'सर्वहारा वर्ग की शक्ति प्राप्त करने और प्राप्त शक्ति को सजोये रखने के सघर्ष मे दल का स्थिति एक सैनिक सगठन जैसी है। दल सर्वहारा वर्ग की एक वह अग्रिम सैनिक पक्ति है जो न केवल वर्ग चेतना मे सर्वोपरि होती है वल्कि श्रमिकवर्ग के लिये त्याग करने मे भी सबसे आगे रहती है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त उसे एकता के सूत्र मे ग्रसित रखता है और सगठन उसे शक्तिशाली बनाता है।

लेनिन ने क्राति की बागडोर अपने हाथ मे सम्हालने के समय से ही क्रातिकारी आन्दोलन का दो सुदृढ आधारशिलाओं पर रखने की चेष्टा और इच्छा की थी। पहली आधारशिला थी कि दल के लोगो मे मार्क्स के क्रातिकारी विचारो मे अटूट विश्वास एव भक्ति हो और इस तरह आदर्श एकता विद्यमान हो। दूसरी आधारशिला थी कि दल मे कठोर *अनुशासन एव सगठन*

1 "The party thus becomes the staff *organisation in the struggle of the* Proletariat to gain power and to retain it after it *has been gained* It is 'vain guard' of the Proletariat, the most self-conscious and at the same time the most devoted and self sacrificing part of the working class Marxism is the *creed that holds it together*, and organisation is the principle that makes it powerful"

—*Sabine*

हो–ऐसा अनुशासन कि दलीय नीति में विश्वास न रखनेवाला कोई भी व्यक्ति दल में प्रवेश न पासके और न कोई व्यक्ति दल के विरुद्ध कोई कार्य कर सके। सेबाइन ने इन दो आधारशिलाओं का "मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर आदर्श एकता तथा कठोर संगठन" एवं "अनुशासन के आधार पर भौतिक एकता' कहा है। लेनिन अपने इस प्रयोजन अथवा अपनी इस मान्यता को कितना बल देता था, यह निम्नलिखित दो उद्धरणों से प्रकट होता है—

"अपने शक्ति संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के पास संगठन के अतिरिक्त अन्य और कोई हथियार नहीं है। पूंजीवादी ससार की अराजकतापूर्ण प्रतियोगिता द्वारा विभक्त पूंजीपतियों से पूर्णतः प्रताड़ित और पतन, अधोगति तथा वह-शीपन के गर्त मे पड़े हुए श्रमिक उसी समय एक अप्रतिहत शक्ति का रूप धारण कर सकते हैं तथा निश्चितरूप से करेंगे, जब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के आधार पर उनकी वैचारिक एकता सगठन की भौतिक एकता के द्वारा दृढ़ हो जाती है और वे लाखों करोड़ों का मगर मजदूरों की सेना का रूप धारण कर लेते हैं।' (यह उद्धरण १९०४ में प्रकाशित लेनिन की पुस्तिका *'One Step Forward, Two Steps Back'* का है।)

"साम्यवादी दल श्रमिक वर्ग का एक अंग या भाग है। वह उसका सबसे अधिक प्रगतिशील, सबसे अधिक वर्ग-चेतनापूर्ण और इसीलिये सबसे अधिक क्रांतिकारी भाग है। साम्यवादी दल का जन्म, ऐसे कार्य-कर्त्ताओं के चुनाव के द्वारा होता है, जो सबसे अच्छे, सबसे बुद्धिमान, सबसे अधिक आत्म-त्यागी, सबसे अधिक वर्ग-चेतना युक्त एवं दूरदर्शी हों। साम्यवादी दल वह संगठित राजनैतिक व्यवस्था है जिसके द्वारा मजदूर वर्ग का अधिक उन्नत भाग समस्त मजदूरों और अर्द्ध-मजदूरों को सही दिशा मे ले जाता है।"[2] (यह उद्धरण *'The Third International'* (१९२०) के एक प्रस्ताव का है।)

कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल की कांग्रेस (१९२०) मे स्वीकृत प्रस्ताव का जो उपरोक्त उद्धरण है वह "१९३४ के चार्टर में, १९३९ के संशोधित चार्टर

1. "The Proletariat has no weapon in the struggle for power except organisation. Constantly pushed out of depths of complete poverty, the Proletariat can and will inevitably become an unconquerable force only as a result of this; that its ideological union by means of the principles of Marxism is strengthened by the material union of an organisation holding together millions of toilers in the army of the working class."

2. "The Communist Party is part of the working class: its most progressive, most class-conscious and therefore most revolutionary part. The Communist Party is created by means of selection of the best, most class-conscious, most self-sacrificing and far-sighted workers. The Communist Party is the lever of Political Organisation, with the help of which the more progressive part of the working class directs on the right path the whole mass of the Proletariat and the Semi-Proletariat."

में और फिर १९३६ के संविधान में दल के विवरण का आधार बन गया। १९३६ के संविधान ने दल को पहली बार वैधानिक स्थिति प्रदान की। संविधान के अनुसार दल 'श्रमिकों के सभी संगठनों के प्रमुख तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है'।"[1]

लेनिन दल को एक गिरजे अथवा आज्ञा के समान स्वीकार करता या समझता था। लेनिन का इस बात में विश्वास नहीं था कि दल के सदस्यों को दल की आलोचना करने का अधिकार होगा। वह कार्य करने में विश्वास करता था, व्यय के वाद विवाद में उसका कोई विश्वास न था। दल के सदस्यों द्वारा दल की आलोचना करने के खतरे का उसने इन शब्दों में प्रकट किया—'हम एक संगठित समूह के रूप में प्रस्थान कर रहे हैं। हमारा मार्ग कठिन तथा ढलानवाला है। हमने एक दूसरे को दृढ़तापूर्वक हाथों से पकड़ रखा है। हम सब ओर से भयानक तथा लगभग निरन्तर लगनेवाली आग से घिरे हुए हैं। हम स्वेच्छा से एक दूसरे के साथी बने हैं। विशेष रूप से हमारा उद्देश्य शत्रु से संघर्ष करना है और हमें समीपवर्ती कूच के पीछे नहीं मुड़ना है, लेकिन अभी से हमारी भीड़ में बहुत से लोगों ने चिल्लाना आरम्भ कर दिया है कि चलो, दल दल की ओर चलो।"[2] पुनश्च, "सामने की लड़ाई का अवसर आया है। सब ने अपने अपने विचार प्रकट किये हैं। हमारी प्रवृत्तियां तथा रूझान प्रकट हो गये। समूहों का निश्चय हो गया। हाथ उठ गये। एक निश्चय ले लिया गया। एक अवस्था गुजर गई। आगे बढ़ो। मैं *यही चाहता हूँ। यही जीवन है। यह ऐसी वस्तु है जो समाप्त न होनेवाली* तथा थका डालनेवाली बौद्धिक चर्चाओं से भिन्न है और जो इसलिये समाप्त *नहीं होती कि लोगों ने समस्या को सुलझा लिया है, अपितु, केवल इसलिये* कि वे बात करते-करते ऊब गये हैं।"[3]

वास्तव में, लेनिन का दल सम्बन्धी विचार उसकी दार्शनिक मार्क्सवाद सम्बन्धी धारणा का ही एक प्रतिभाग अथवा पूरक था। मार्क्सवाद एक ऐसा

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७४६
2 "We are marching in a compact group along a precipitous [illegible] path firmly holding each other by the hand, [illegible] nd are under [illegible] voluntarily, [illegible] y and not to retreat into the adjacent marsh And now several in our crowd begin to cryout-*let us go into this Marsh*"

   —*Lenin*
3 "Opportunity for *open fighting* Opinions expressed. Tendencies revealed. Groups defined Hands raised A decision taken A stage passed through Forward 'That's what I like' 'That's life' It is something different *from* the endless, wearing intellectual discussions, *which finish* not because people have solved the *problem, but simply* because they have got tired of talking"

   —*Lenin*

सिद्धान्त है जो अधिकतम भक्ति की अथवा गहन निष्ठा की मांग करता है। इसके साथ ही वह कार्य के लिये वैज्ञानिक मार्ग-दर्शन भी करता है। दल, इस तरह, सम्पूर्ण सत्य का प्रतीक है और ऐसे लोगों से व नागरिकों से इसे बचाना है जो भ्रष्ट हैं, अथवा दल विरोधी विचार रखते है। विचार की स्वतन्त्रता एक पूंजीवादी झूंठ है और यह किसी को नहीं दी जा सकती। दल की मांग केवल अप्रश्नीय भक्ति है। अतः दल में लौहा अनुशासन की स्थापना रखी जाती है और निम्न अंगों का एकमात्र कर्त्तव्य दल के उच्च अंगों द्वारा निर्धारित नीति का बगैर तर्क-वितर्क के अनुसरण करना है। लेनिन ने १६०४ मे दल की जिस संकल्पना का निर्माण किया था, दल की वही सकल्पना अब तक विद्यमान है। क्रांति की सफलता के साथ ही साथ दल शासन का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बन गया है। सन् १६२८ में कहे गये स्टालिन के शब्दों में, "सोवियत यूनियन में जहां सर्वहारा वर्ग का अधिकनायकवाद क्रियाशील है, हमारे दल के निर्देशों के बिना, हमारी सोवियतें अथवा अन्य जन सगठन, किसी भी महत्वपूर्ण राजनैतिक अथवा संगठन सम्बन्धी समस्या पर निर्णय नहीं करते। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग का अधिकानायक-वाद वास्तव में दल का अधिनायकवाद है क्योंकि दल ही सर्वहारा वर्ग का पथप्रदर्शन करता है।"[1] ऐसे लोगों को रूस में कठोरतम सजा दी जाती है जो दल विरोधी कार्य करते है। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि ट्रोट्स्की जैसे व्यक्ति को भी, जो एक शीर्षस्थ नेता था और जिसने १६१७ की क्रांति में लेनिनके साथ कधे से कंधा मिलाकर काम किया था, दल से और तत्पश्चात् देश से इसीलिये निष्कासित कर दिया गया था क्योंकि उसने सरकार की उस नीति की कटु आलोचना की थी जिसके अनुसार कृषकों एव पूंजीपतियों को कुछ रियायतें दी गई थी। स्टॉलिन के शासन काल में उन लोगों का प्रायःनिष्का-सन, दमन और वध हुआ जो दल के प्रति अभक्ति के अपराधी माने जाते थे। आज भी रूस की यही परम्परा है। वास्तव में क्रांति के द्वारा स्थापित श्रम-जीवी तानाशाही को बनाये रखने, उसे सुदृढ़ करने और पुराने समाज की अवशिष्ट शक्तियों तथा परम्पराओं के विरुद्ध सघर्ष करने, प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दमन करने, करोड़ों श्रमिकों में अनुशासन व सगठन की भावना को पल्लवित करने, पूंजीवादी तथा क्षुद्र पूंजीवादी तत्वों एव आदतों के भ्रष्टा-चारी प्रभाव से नवीन समाज की रक्षा करने के लिये ही रूस के साम्यवादी दल को इस प्रकार के अत्यन्त कठोर अथवा लौह अनुशासन की नीति को अपनाना पड़ा। लेनिन ने यह गलत नहीं कहा था कि यदि हमारे दल में ऐसा अनुशासन न होता और दल के सारे मजदूर वर्ग का अर्थात् पिछड़े हुए वर्ग का नेतृत्व करने की योग्यता रखनेवाले विचारवान ईमानदार, आत्म त्यागी एव प्रभावशील व्यक्तियों का समर्थन तथा सहयोग प्राप्त न होता तो ढ़ाई वर्ष तो दूर रहे, ढ़ाई महीने भी बॉलशेविक सत्तारूढ़ नहीं रह सकते थे। दलीय सगठन में लेनिन लोकतंत्रवाद को 'एक व्यर्थ और हानिकारक खिलौना' कहकर पुकारता था। लेनिन ने जीवनपर्यन्त एक सकुचित पार्टी का समर्थन किया और पार्टी के सगठन का विकेन्द्रीकरण करनेवाले सभी प्रयासों का मजबूती से विरोध किया।

---

1. Quoted by Laidler in 'Social-Economic Movements' P. 428

मार्क्सवादी लेनिनवादी धारणा के अनुसार दल का यह कार्य है कि वह मार्क्स लेनिनवादी सिद्धान्त के प्रकाश में नीति विषयक प्रश्नों को तय करे और उन पर अपनी सही राय दे। दल में इस दोहरे कार्य में स्पष्ट ही दो चीजों का समावेश है–स्वतन्त्र विचार एवं गुप्त निर्णय। दल के इस दुहरे कार्य ने पाश्चात्य आलोचकों को विशेष भ्रम में डाल दिया है। सेबाइन ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है–"पश्चिमी आलोचकों को रूसी राजनीति का यह तत्व (स्वतन्त्र चिन्तन और गुप्त निर्णय का) बड़ा रहस्यमय लगा है। जब कभी कोई विचारधारा निर्माण की प्रक्रिया में होती है, उस समय कुछ प्रश्नों पर विचार हो सकता है और उनके बारे में आलोचना की गुंजाइश रहती है। अन्य प्रश्न ऐसे होते हैं जिनके बारे में निर्णय हो चुकता है और फिर उन पर आलोचना की गुंजाइश नहीं रहती। पश्चिमी यूरोप के चिन्तन में निश्चित सीमाओं के भीतर स्थिर सिद्धान्तों तथा मुक्त वाद विवाद के समन्वय का कोई सादृश्य नहीं मिलता। वहां यदि हमें इसके नजदीक की कोई चीज दिखाई देती है, तो मध्ययुग का स्वानुभूति तथा विवेक का अन्तर है। इस दृष्टि से साम्यवाद एक प्रकार का राजनैतिक धर्मवाद (*Political Clericalism*) है और उसका दर्शन एक प्रकार का लौकिक पाण्डित्यवाद (*Secular scholasticism*) है। मार्क्सवाद कितना ही बदल सकता है, लेकिन इन परिवर्तनों का आधार मार्क्सवाद के अपरिवर्तनशील सिद्धान्तों का जटिल पुनराख्यान होना चाहिये। दल की वाणी देववाणी के समान पावन होती है और वह कभी गलती नहीं करती।"[1] दल इस तरह, एक प्रकार से शुद्ध वैज्ञानिक भविष्यवाणियां करने की क्षमता रखता है, वह राजनीति को एक तरह की इन्जीनियरी बना देता है। साम्यवादी दल के सरकारी इतिहास (*History of the Communist Party of the Soviet Union*) में कहा गया है—

"मार्क्सवाद-लेनिनवादी सिद्धान्त की शक्ति यह है कि वह दल को किसी भी स्थिति में सही दिशा प्रदान करता है, वर्तमान घटनाओं के आन्तरिक अर्थ का बोध कराता है उनके प्रवाह को समझ लेता है और केवल यही नहीं जान लेता कि वे वर्तमान में किस प्रकार तथा किस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं बल्कि यह भी जान लेता है कि वे भविष्य में किस प्रकार और किस दिशा में आगे बढ़ेंगें।"[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेनिन के दल ने क्रांति को और लेनिन के दलगत सिद्धान्त ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के राजनैतिक दर्शन को निश्चित किया।

श्रमजीवीय अधिनायकवाद के विषय में लेनिन के विचार
(Lenin on Dictatorship of the Proletariat)

मार्क्स की कृतियों में 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' इन शब्दों का दो या तीन बार उल्लेख है किन्तु लेनिन ने अपने क्रांति सम्बन्धी विचारों को इसे

1 सेबाइन–राजनीति-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७६१

2 वही पृष्ठ ७६१

मूल तत्व बना दिया है। रूस के जारवादी और शक्तिवादी परम्पराओं में पला हुआ लेनिन मानता था कि एक ऐसा सुसगठित साम्यवादी दल तैयार होना चाहिये जो सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद का खात्मा कर विजय प्राप्त करे और उसके बाद क्रांति के परिणाम को ठोस बना सके। दरअसल मे लेनिन के दल ने क्रांति को और लेनिन के दलगत सिद्धान्त ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के राजनैतिक दर्शन को निश्चित किया।

श्रमजीवीय तानाशाही अथवा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवादी सिद्धान्त लेनिनवाद की आधारभूत धारणा है। स्वयं स्टालिन ने यह स्वीकार किया है। अपने ग्रंथ *'Foundations of Leninism'* में उसने (स्टालिन) लिखा है कि—

"लेनिनवाद की मूल समस्या इसका पृथककरण का विन्दु कृषक समस्या नहीं है, बल्कि श्रमजीवीय तानाशाही की समस्या है, उन स्थितियों की समस्या है जिनमें कि इसे लाया जा सकता है और जिनमें इसे सुदृढ बनाया जा सकता है। शक्ति के लिये अपने संघर्ष में श्रमिकों के मित्रों के रूप में कृषकों की समस्या तो एक नि.स्त्रोतात्मक समस्या है।"

लेनिन के श्रमजीवीय तानाशाही का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से दो शीर्षकों के अन्तर्गत करना उपयुक्त होगा—

(१) श्रमजीवी क्रांति के यंत्र के रूप में, एवं

(२) संक्रमण-कालीन राज्य के रूप में।

श्रमजीवी क्रांति के यत्र के रूप मे—श्रमजीवी अथवा सर्वहारा क्रांति के रूप में श्रमजीवीय तानाशाही के बारे मे स्टालिन का कथन है कि श्रमजीवीय तानाशाही क्रांति की प्रगति एव सफलताओ को साकार बनाती है। उसके ही शब्दो मे—'श्रमिक तानाशाही अथवा अधिनायकत्व श्रमजीवी क्रांति का यत्र है, इसका अंग है, इसका सबसे महत्वपूर्ण आश्रय है, जिसकी स्थापना का प्रथम उद्देश्य तो परास्त शोषकों के प्रतिरोध का दमन करना और श्रमजीवी क्रांति की सफलताओं को सुदृढ़ बनाना है तथा दूसरा उद्देश्य श्रमजीवी क्रांति को पूर्ण बनाना है।"

किन्ही परिस्थितियों मे यह सम्भव है कि श्रमिक वर्ग तानाशाही के बिना ही पूंजीपति वर्ग को पराजित कर दे, किन्तु यह निश्चित है कि तानाशाही के अभाव मे अपनी विजय को बनाये रखना श्रमिक वर्ग के लिये सम्भव न होगा। क्रांति का पूरा फल तो तभी चखा जा सकेगा जबकि विजय क्षणिक सिद्ध न हो। क्राति के तुरन्त बाद शांति की प्रस्थापना नही होती। पूंजीपतियो, जमीदारों और भू-स्वामियों की अवशिष्ट शक्तियां, जो कम बलशाली नही होती; अपना प्रतिरोध जारी रखती है। वे सदैव ऐसे अवसर की ताक मे रहती हैं कि जिससे पासा उनके पक्ष मे पलट दिया जाय। अतः क्रांति के परिणामो को सुदृढ़ बनाने एव प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कुचलने के लिये सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद का होना आवश्यक है। करेंस की-सरकार को समाप्त करने के बाद यदि लेनिन तानाशाही की स्थापना न करता तो यह सम्भव था कि विदेशी पूंजीपतियों द्वारा प्रच्छन्न सहायता प्राप्त क्राति के शत्रु लेनिन-शासन को उखाड़ कर पुनः पुराने पूंजीवादी

शासन की प्रस्थापना कर देते । *श्रमजीवी तानाशाही* न केवल श्रमजीवी क्रांति के यन्त्र के रूप मे कार्य करती है *बल्कि उसका (श्रमजीवी तानाशाही* का) अभिप्राय यह भी है कि श्रमिकवर्ग अपने *बलवान शत्रु पू जीपति वर्ग* के विरुद्ध एक अत्यन्त निर्मम एव सकल्पबद्ध युद्ध को प्रेरित हो । लेनिन के शब्दो मे, श्रमजीवीय तानाशाही 'पुराने समाज की शक्तियों और परम्पराओं के विरुद्ध एक अविरल सघर्ष है, यह एक ऐसा सघर्ष है जो रक्तपूर्ण भी है और रक्तहीन भी, हिंसामय भी है तो शांतिमय भी, आर्थिक भी है तो सैनिक भी और शिक्षात्मक भी है तो प्रशासकीय भी ।"

श्रमजीवीय तानाशाही का कोई अल्पकालीन युग नहीं होगा । यह क्रांतिकारी अधिनियमो और प्रत्यादेशो का लघु जीवन नही होगा । यह तो एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक युग होगा जिसम पू जीवाद के समूल विनाश और साम्यवाद की स्थापना की प्रक्रियाए पूर्ण होगा । यह भी नितान्त सम्भव है कि श्रमजीवीय तानाशाही का यह ऐतिहासिक युग सघर्षो का युग बना रहे, इस युद्ध मे यह यु [illegible] आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य ह [illegible] निरन्तर प्रगति ही होती रहे । [illegible] आयेंगे जब पीछे हटना पडे । [illegible], दोनो ही कमबेशी अपना खेल खेलते रहेंगे । श्रमजीवीय तानाशाही के युग की प्रकृति अधिकाश मे इसी ढग की होगी । आज रूस १९१७ की क्राति के उपरात ५० वर्ष का जीवन व्यतीत कर चुका है। इस अवधि के अन्तर्गत अनेक परिवतन हुए हैं और भविष्य म भी होंगे । क्राति के सुपरिणामों का उपभोग करने के लिए जिस नवीन समाज की स्थापना श्रमजीवी वर्ग करना *चाहता है उसके लिये एक लम्बे समय का होना आवश्यक है ।*

सक्रमणकालीन राज्य के रूप में—श्रमजीवीय तानाशाही का दूसरा पक्ष वह है जिसमे श्रमिक वग पू जीवादी वर्ग पर शासन करता है । श्रमजीवी तानाशाही श्रमजीवी क्राति के परिणामो की सुरक्षा का एक यत्र मात्र ही नही होगी, वरन् यह एक प्रकार की *सक्रमणकालीन राज्य व्यवस्था होगी जिसमे श्रमजीवी वर्ग पू जीपति वर्ग के कब्जे में न होकर उसके सिर पर* चढा होगा, और वह भी इतनी शक्ति के साथ कि अन्त मे उसका (पू जीपति-वर्ग का) समूह नाश ही कर देगा । श्रमजीवी तानाशाही एक ऐसे सगठन के रूप में रहता है जिसमे एक वर्ग दूसरे वग द्वारा शासित और शोषित किया जाता है । इस प्रकार यह पू जीवादी व्यवस्था के ही समान है । दोनों मे अन्तर यह है कि जहा पुरानी अर्थात् पू जीवादी *व्यवस्था मे बहुसख्यक वर्ग* (पू जीपतियो के अतिरिक्त अन्य लोग) *अल्पसख्यक वर्ग (पू जीपति)* के *द्वारा शोषित होता था वहा इस नवीन व्यवस्था में अर्थात् श्रमजीवी तानाशाही के अतर्गत अल्पसख्यक वग (पू जीपति) बहुसख्यक वग (श्रमिक) द्वारा शोषित* किया जाता है । इस नीति मे राज्य सदैव पददलित वर्ग को ऊचा उठाता है और विशेष अधिकार युक्त वर्ग को नीचे गिराता है । अत पू जीवाद की नीति के विपरीत साम्यवादी नीति दोनो वर्गों के भेदभाव को बढाने के स्थान में क्रमश कम करती है और इस प्रकार *क्रमश उन दोनो को सम्मिलित कर*

एक समाज का रूप दे देती है। वास्तव में, साम्यवादी कार्यक्रम अन्त में उन सब समुदायों का अन्त कर देना चाहता है, जो एक वर्ग के रूप मे अलग कायम रहना चाहते है। जब वर्गों का अन्त हो जायगा, तब दमनकारी सामाजिक शासन भी समाप्त हो जायगा। स्पष्ट है कि जहां तक राज्य सिद्धान्त का सम्बन्ध है, तथ्य यह है कि राज्य का चाहे कैसा भी रूप हो, संघर्ष को प्रकट करता है। वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है। वर्ग संघर्ष का समाधान केवल वर्ग विहीन समाज मे ही हो सकता है। एन्जिल्स ने कहा था कि समाजवाद के अन्तर्गत राज्य तिरोहित हो जायगा। लेनिन ने एन्जिल्स के सूत्र का विकास किया और बताया कि इस सूत्र को गलती से ही विकास अथवा धीमी नीति के पक्ष मे प्रस्तुत किया गया था। इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि श्रमिक वर्ग क्रांति के द्वारा पूंजीवादी राज्य को उखाड़ फैंकेगा। इसके बाद वह संक्रमणकालीन राज्य की स्थापना करेगा और वह राज्य सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद होगा। धीरे धीरे ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग सच्चे साम्यवाद की परिस्थितियां उत्पन्न करता जायेगा, त्यों-त्यों यह राज्य अथवा अर्द्धराज्य धीरे-धीरे लुप्त होता जायगा।[1]

संक्रमणकालीन राज्य के रूप में श्रमजीवी तानाशाही अपनी स्थिति को दृढता से जमाने के लिये प्रतिरोधी शक्तियों को बलपूर्वक कुचल देने के लिये विवश हो जाती है। पराजित पूंजीपति वर्ग की मनोदशा घायल सर्प-सी हो जाती है। वह विदेशी सहायता के द्वारा अपनी खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। अतः श्रमिकवर्ग, शासनसत्ता प्राप्त करने के बाद और विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना के पूर्व के बीच की इस संक्रमणकालीन अवस्था मे पूंजीपतियों की अवशिष्ट किन्तु पर्याप्त समर्थ शक्तियों का दमन करने मे और नवीन समाज की रचना में लग जाता है। लेनिन एवं उसके अन्य साथियों की यह मान्यता थी कि संक्रमणकालीन अवस्था में यह संघर्ष बड़ा लम्बा और कटु होगा। चूंकि श्रमिकवर्ग अपने शत्रुओं के दमन के लिये और समस्त प्रतिरोधों के उन्मूलन के लिये शक्ति का निरकुश प्रयोग करेगा, इसीलिये इस नवीन राज्य को तानाशाही अथवा अधिनायकवाद कहा गया है। लेनिन के कथनानुसार "तानाशाही एक ऐसी शक्ति है जो प्रत्यक्ष रूप से बल पर आधारित है और जिस पर कानून की कोई सीमाएं नही हैं।" श्रमजीवी तानाशाही एक ऐसी शक्ति है जिसे हिंसा द्वारा विजय किया जाता है तथा पूंजीवाद वर्ग के विरुद्ध कायम रखा जाता है।

शक्ति अथवा बल पर आधारित एवं कानूनों के अंकुश से परे श्रमजीवी तानाशाही का स्वरूप लोकतंत्रात्मक नही हो सकता। इसके अन्तर्गत पूंजीवादी एवं क्षुद्र पूंजीवादी वर्ग को कोई स्वतत्रता नहीं मिलती। यह वर्ग प्रशासनिक कार्यों में भाग लेने से भी वंचित रहता है। स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए तो उस दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जबकि तानाशाही मुरझा कर समाप्त हो जायेगी और विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना हो जायेगी। विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना कब तक अथवा कितनी अवधि में हो सकेगी, यह कुछ

---

1. सेबाईन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७८४

नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य है कि इसकी स्थापना सम्भव तभी होगी जब वर्ग संघर्ष की सभी परिस्थितियों का अन्त हो जायेगा और सच्चे साम्यवाद की परिस्थितियाँ निर्विवाद रूप से प्रकट हो जायेंगी। ऐसा होने पर ही राज्य का लोप हो सकेगा। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक इस संक्रमण कालीन श्रमवर्ग की अधिनायकवादी युग में राज्य वर्ग शोषण का एक यन्त्र बना रहेगा और पूंजीपतियों तथा अन्य प्रतिरोधी शक्तियों के समूल विनाश के लिए अपना दमन चक्र चलाता रहेगा। ट्राट्स्की ने कहा था कि लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का अस्तित्व तो पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत भी नहीं होता। इनकी बात करना पूंजीवादियों का कोरा मिथ्याचार है।

संक्रमणकालीन राज्य के रूप में श्रमवर्गीय तानाशाही की एक अन्य विशेषता, जिसकी पहले भी एकाधिक बार चर्चा की जा चुकी है, यह है कि इसका अभिप्राय शासकों में परिवर्तन मात्र ही नहीं, अपितु प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था की स्थापना करना है। श्रमजीवी तानाशाही का उदय तभी सम्भव है जब पुराने पूंजीवादी राज्य की सम्पूर्ण मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाय, अर्थात् पुरानी पूंजीवादी सेना, नौकरशाही, पुलिस आदि को एकदम निष्प्राण कर दिया जाये। साम्यवादियों का कहना है कि श्रमिक पुराने भवन की एक भी ईंट नहीं लगी रहने देना चाहते। लेनिन और उसके साथी हमेशा पुरानी पूंजीवादी मशीन की धज्जियाँ उड़ा देने की बात करते थे।

पहले ही कहा जा चुका है कि श्रमजीवी अधिनायकत्व लोकतन्त्रात्मक नहीं हो सकता। यह एक नवीन प्रकार का वर्ग संघर्ष है, अतः इसमें संसदीय प्रणाली का कोई स्थान नहीं है। लेनिन की दृष्टि में संसदवाद, पूंजीवादी शासन का एक यन्त्र है जिसका श्रमिक वर्ग के लिये कोई मूल्य नहीं है लेकिन चूंकि मार्क्स के अनुसार श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व का उद्देश्य राजनीतिक लोकतन्त्र की प्राप्ति है अतः लेनिन ने भी यह कहा कि श्रमिक लोग सोवियत नामक संगठन के नये रूप द्वारा लोकतन्त्र का उपभोग करेंगे। साम्यवादी अपने राज्य के एक उच्चतर लोकतन्त्री राज्य होने का दावा करते हैं और उसे श्रमजीवी लोकतन्त्र कह कर पुकारते हैं। स्टालिन ने भी कहा था कि सोवियतें (*Soviets*) श्रमिक वर्ग की सर्वाधिक व्यापक जन संगठन हैं और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति की स्थाई आधार हैं।

श्रमजीवीय तानाशाही का व्यावहारिक रूप—यदि निष्पक्ष होकर देखा जाये तो यह पता चलेगा कि श्रमजीवी तानाशाही सिद्धान्त में जैसी है वैसी व्यवहार में नहीं। लेनिन दावा करता था कि श्रमिक लोग एक नये रूप में जनतन्त्र का उपभोग करेंगे। साम्यवादी अपने राज्य को श्रमजीवी लोकतन्त्र कह कर पुकारते हैं। किन्तु यह सब कुछ केवल सैद्धान्तिक है। व्यावहारिक रूप में यह तानाशाही श्रमिक वर्ग की नहीं है बल्कि श्रमिक वर्ग पर है। सैद्धान्तिक रूप से तो श्रमिक वर्ग स्वतन्त्र है और उसमें सम्पूर्ण शक्ति निहित है किन्तु *व्यवहार में* श्रमिक वर्ग दल अथवा पार्टी के हाथों परतन्त्र है और सम्पूर्ण शक्ति दल में ही निहित है। श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व का व्यावहारिक अर्थ है—विचार स्वातन्त्र्य का अपहरण, मतवैभिन्य रखनेवालों का दमन और सामाजिक जीवन का पूर्ण नियन्त्रण। श्रमिक वर्ग द्वारा चलाये *जाने वाली समाजवादी* सरकार के विपरीत श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व श्रमिकों में इने गिने

समाजवादियों का शासन बन गया है। श्रमजीवी तानाशाही मुट्ठी भर समाजवादियों का निरंकुश शासन मात्र है। सेबाइन ने श्रमजीवीय तानाशाही अथवा सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद के प्रयोजनों और इसके व्यावहारिक स्वरूप को निम्नलिखित शब्दों में चित्रित कर देने का सुन्दर प्रयास किया है—

"सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद के दो प्रयोजन होते हैं: एक—जब पूंजीपति वर्ग को सत्ताच्युत कर दिया जाता है, तब उसकी प्रतिरोध शक्ति दस गुना बढ़ जाती है; इस वर्ग को काबू मे रखना और इसकी क्रांति विरोधी किसी भी चेष्टा को रोकना। दो-नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का संगठन करना। दूसरा काम विशेष रूप से दल का काम है। दल उन समस्त शोषित वर्गों का, जिनमें अभी तक वर्ग-भावना का विकास नहीं हुआ है शिक्षक, पथ-प्रदर्शक और नेता होता है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह था-इस बात को लेनिन ने नहीं कहा था, लेकिन स्टॉलिन के अनुसार लेनिन का मन्तव्य यही था-कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद है। दल समस्त मजदूर संगठनों के लिए एक आधार बन जाता है। लेनिन ने इस बात को स्पष्टता से सिद्ध किया कि श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य है, वह एक वर्ग का उपकरण है और दमन का साधन है। वह शोषकों का ही दमन नहीं करता, प्रत्युत् मजदूरों और सम्पूर्ण जनसख्या के ऊपर भी कठोर अनुशासन लागू करता है। सक्षिप्त रूप से लेनिन का मन्तव्य यह था कि कोई भी राज्य चाहे वह पूजीपतियों का राज्य हो, चाहे श्रमिकों का, वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। जहाँ कही प्रभुत्व होता है, वहां न स्वतन्त्रता होती है और न लोकतंत्र। इस लिए, राजनैतिक स्वतन्त्रता को उस समय तक के लिये स्थगित किया जा सकता है जब तक साम्यवाद की स्थापना न हो जाये और वर्ग-सघर्ष लुप्त न हो जाये। वर्तमान काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य होने के कारण न स्वतंत्र होता है और न लोकतत्रात्मक ही। इस सम्बन्ध में ट्राट्स्की ने कहा था कि "लोकतंत्र पूजीवादी समाज-व्यवस्था का आडम्बर मात्र है।" शिखर पर गिने चुने मुट्ठी भर व्यक्तियों का निरंकुश शासन साम्यवादी दल के अत्यन्त केन्द्रित और अनुशासित स्वरूप एवं लोकतत्री केन्द्रवाद (*Democratic centralism*) के सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम है। लेनिन का विचार था कि दल का सगठन बहुत अधिक केन्द्रीकृत अथवा सोपानबद्ध होना चाहिये जिसमें सत्ता का प्रसार ऊपर से नीचे की ओर होना चाहिए। लेनिन ने ऐसे विकेन्द्रीकरण अथवा सघवाद का सदैव ही विरोध किया था जो स्थानीय समुदायों को स्वतत्रता प्रदान करता अथवा दल के अवयवी तत्वों को स्वायत्तता देता था। इस विषय में होनेवाले वाद-विवाद में अपनी स्थिति के विवेचन के लिए लेनिन ने 'लोकतंत्रात्मक केन्द्रवाद' शब्द गढा था और इस 'लोकतत्रात्मक केन्द्रवाद' के लोकतंत्र को वही समझ सकता था। १६०४ में '*One Step Foward, Two Steps Back*' में उसने इस प्रश्न को इस भांति उपस्थित किया था—

"नौकरशाही बनाम लोकतत्र वही चीज है जैसे कि केन्द्रवाद बनाम स्वचालनवाद (*Automatism*)। वह सोशल डेमोक्रेसी के अवसरवादियों के सगठनात्मक सिद्धान्त के विरोध में क्रान्तिकारी राजनैतिक लोकतत्र का संगठनात्मक सिद्धान्त है। सोशल डेमोक्रेसी के अवसरवादी नीचे से ऊपर की

ठन के समाप्त होने की आवश्यकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। उसका तो फलना-फूलना ही उचित है।

मार्क्स के अनुयायी के रूप में लेनिन का मूल्यांकन
(Leninis Estimate as a Follower of Marx)

लेनिन के दर्शन पर इस सम्पूर्ण विचार के अन्तर्गत हमने यही देखा है कि यदि उसने अपना प्रारम्भ मार्क्सवाद से किया था तो अपने को अन्त तक भी वह मार्क्स का अनुयायी ही कहता था। उसने बारम्बार यह बलपूर्वक कहा था कि मार्क्स के विचार-दर्शन की एक भी आधारभूत धारणा, उसके एक भी मूलअंश का परित्याग नहीं किया जा सकता। तब फिर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर मार्क्स के इस अनुयायी ने मार्क्सवाद को दिया क्या? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सेबाइन ने जो सारगर्भित विचार प्रकट किये हैं वे उल्लेखनीय हैं। सेबाइन ने लिखा है कि—

"वास्तविकता यह है कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। एक मार्क्स का विचार था कि आर्थिक-व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन शक्तियों के आंतरिक विकास के द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा इसे मजदूरों की इच्छा के द्वारा और क्रमबद्ध आयोजन के द्वारा यूरोप के सबसे कम औद्योगिक देश में स्थापित किया जा सकता है। दो—मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर-वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज में उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर-वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्ति लाभ करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर-वर्ग अपनी विचारधारा बाहर के मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियों की शिक्षा से प्राप्त करता है। तीन—मार्क्स के मत से समाजवादी दल में संसार भर के मजदूर शामिल होते हैं। लेनिन ने साम्य-वादी दल को पेशेवर क्रान्तिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया। इसमें नेतृत्व कुछ चुने हुए स्वयंभू नेताओं के हाथ में रहता है। चार—मार्क्स का विचार था कि पहले पूंजीवादी क्रांति होती है जो राजनीतिक लोकतन्त्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रान्ति होनी है। लेकिन रूस में सर्वहारा क्रांति पूंजीवादी क्रान्ति के साथ ही साथ हुई और छः महीने में ही उसने पूंजीवादी क्रांति को आत्मसात् कर लिया। अन्त में, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रांति लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की नागरिक और राज-नीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम रखेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में रूस में एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार किया। सीधी सी बात है और इसकेलिए किसी द्वन्द्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है कि लेनिन मार्क्सवाद की रूढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था। लेकिन जब इन रूढ़ियों का व्यावहारिक संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे। लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।"[1]

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास पृष्ठ ७६०

यद्यपि लेनिन मार्क्सवाद की अपनी पुनर्व्याख्या में मार्क्सवाद के अर्थ से दूर हट गया तथापि यह भी सत्य है कि बिना मार्क्सवादी सिद्धांतों में परिवर्तन किये लेनिन इनको रूसी क्रांति का दर्शन नहीं बना सकता था और इसीलिए क्रांति के अग्रवाहक इस व्यक्ति ने क्रांति के अनुकूल मार्क्सवाद में समयानुसार संशोधन किये। उसने मार्क्सवाद को एक जीवित एवं विकासशील दर्शन समझा और इसीलिए वह समय के अनुसार इसको ढाल सका। प्रो वेपर (*Wayper*) का मत है कि "लेनिन मार्क्सवाद का चाहे न्यायोचित व्याख्याकार न हो, तथापि रूस को उसने जो देन दी है, उसके लिए उसका अतुलनीय महत्व है।" मार्क्सवादी संशोधन का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि—

(१) यद्यपि लेनिन ने कभी-कभी मार्क्स के उद्देश्यों से भिन्न रास्ता अपनाया फिर भी वह मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी उपदेश पर दृढ़ रहा।

(२) मार्क्स की भांति ही उसे वर्ग-युद्ध और सर्वहारावर्ग की अन्तिम विजय पर विश्वास था। साथ ही उसने मार्क्सवाद की स्वतन्त्र व्याख्या भी की। लेनिन ने पार्टी को और पार्टी में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के महत्व और कार्यों को बहुत अधिक प्रधानता दी।

(३) लेनिन ने सम्भवतः रूस की परिस्थितियों से मेल बैठाने के लिए 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धात का प्रतिपादन किया।

(४) लेनिन की प्रधान देन सिद्धांत की बारीक व्याख्या में उतनी नहीं है जितनी उस सक्रिय एवं गतिशील नेतृत्व में है जो उसने अपने देश को उसके सकट काल में दिया। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है "लेनिनवाद एक वैज्ञानिक विश्वास की अपेक्षा एक भावात्मक आह्वान है।"

लेनिन कोई मौलिक विचारक न होकर एक महान् नेता था जिसने मार्क्स और एन्जिल्स की कृतियों को अपनी व्याख्यानुसार निभ्रान्त मानकर एक संगठित दल की सहायता से रूसी क्रांति में सफलता प्राप्त की। जिस प्रकार धार्मिक विश्वासी वेद या बाइबिल या कुरान के प्रति आस्थावान् रहता है उसी प्रकार का जोशपूर्ण अन्धविश्वास लेनिन ने मार्क्सवाद के प्रति प्रचारित किया। "उसके अपने मत से जिन समाजवादियों का मत नहीं मिलता उन्हें कुपथगामी, सर्वहारा विद्रोही आदि की सज्ञा उसने दी। भावावेश से अत्यधिक आवृत्त होने के कारण लेनिन की कृति में सूक्ष्मदार्शनिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण का अभाव है। इस प्रकार मार्क्सवाद को उसने एक नया धर्म बना डाला है। इस क्रांतिमूलक धर्म का परम उद्देश्य है सर्वहारा का अधिनायकत्व और इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है हिंसात्मक शक्तिपूर्ण साम्यवादी दल। इस उद्देश्य की पूर्ति में मानववादी नीतिशास्त्र का कोई स्थान नहीं है।[1]

---

1. *Lenin,* Religion : "We say that our morality is wholly subordinated to the interests of the class-struggle of the Proletariat. We deduce our morality from the facts and needs of the class-struggle of the Proletariat".

ओर जाना चाहते हैं और इसलिये जहाँ कहीं संभव होता है तथा जिस सीमा तक संभव होता है वे स्वचालनवाद तथा लोकतंत्र का समर्थन करते हैं। क्रान्तिकारी राजनैतिक लोकतंत्र के समर्थक ऊपर से चलते हैं और वे अंगों की तुलना में केन्द्र के अधिकारों और शक्तियों का संगठन करते हैं।"[1]

ट्राट्स्की ने बताया था कि 'लोकतंत्रात्मक केन्द्रवाद' का परिणाम यह होता है कि दल का यंत्र दल के स्थान में, दल की केन्द्रीय समिति दल के यंत्र के स्थान में और अन्त में तानाशाह या अधिनायक केन्द्रीय समिति के स्थान में प्रस्थापित हो जाता है। इस तरह श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व नेताओं का अधिनायकत्व बन जाता है। यह एक ऐसा विकास हुआ है जिसकी क्रूरता को कोमल शब्दों के आवरण में छिपाने का प्रयास किया जाता है और जो मार्क्स के मन्तव्य से बहुत दूर है। रोज़ा लक्जेम्बुर्ग (*Lexemburg*) जैसी उग्र समाजवादी महिला लेखिका ने भी १९१८ में लिखित अपने एक निबन्ध में अधिनायकतंत्र की साम्यवादी संकुचित कल्पना की आलोचना करते हुए यह मत प्रकट किया था कि अधिनायकतंत्र सर्वहारावर्ग का होना चाहिये, उसके किसी एक समुदाय या दल का नहीं और उसका संचालन प्रकट रूप से होना चाहिए, गुप्त ढंग से नहीं और जनता को उसमें भाग लेने अपने विचार व्यक्त करने तथा आलोचना करने के लिए निमंत्रित करना चाहिए और इसके लिए उसे पूर्ण सुयोग होना चाहिए। लेनिन ने भी पहले अनेक बार अपने भाषणों में भावी साम्यवादी समाज की ऐसी कल्पना प्रस्तुत की थी जो इससे भिन्न नहीं थी। किन्तु मई १९१७ में उसने घोषणा की कि यदि सोवियतें शासन को हस्तगत करने में सफल हुईं, तो वे साधारण अर्थ में राज्य की स्थापना नहीं करेंगी, वरन् एक अधिनायकतंत्र की स्थापना करेंगी, जो न तो कानून पर स्थिर होगा और न बहुमत की इच्छा पर, वरन् प्रत्यक्ष तथा खुल्लमखुल्ला बल प्रयोग पर स्थिर होगा। वह एक ऐसा राज्य होगा जिसका शासन रूस के विशाल बहुमत-मजदूरों और कृषकों के हित में होगा किन्तु जिस पर उनकी इच्छा का नियंत्रण केवल अन्तिम रूप में ही होगा, तात्कालिक रूप में नहीं। उसने बाद में यह भी समझाया कि व्यावहारिक अवस्थाओं के कारण साम्यवादी शासकों को बाध्य होकर एक दल के अल्पमत के शासन को अपनाना पड़ा जो सर्वहारा वर्ग की ओर से शासन करता है, परन्तु उसकी प्रेरणा अथवा ऐच्छिक सहयोग पर नहीं। वह स्वयं अपने (उस अल्पमत के) ही उत्साहयुक्त निर्देशन पर अवलम्बित रहता है।

मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन ये तीनों ही श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व को पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था बतलाते थे। उनका कहना था कि पूर्ण समाजवाद में वर्ग एवं राज्य का पूर्ण अभाव होगा और प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार तथा आवश्यकतानुसार वस्तुएं मिल जायगी। लेकिन पूर्ण समाजवाद की स्थापना से पूर्व की श्रमजीवीय तानाशाही के संक्रमणकाल में इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। साम्यवादी स्वीकार करते हैं कि रूस में अभी तक केवल समाजवाद ही स्थापित

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ, १८६-८६

हो पाया है, पूर्ण समाजवाद नहीं । रूस में आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता आज भी स्वप्नलोकीय अवस्थाएं है । वहां "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार, प्रत्येक को उसके कार्यानुसार" का सिद्धान्त प्रचलित है । अतः विषमताओं का होना सर्वथा स्वाभाविक है । रूस की परिस्थिति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व की यह संक्रमणकालीन अवस्था कभी समाप्त भी होगी या नहीं । एक राज्यहीन और वर्गहीन समाज का सुन्दर सपना पूरा होने के बारे में कोई भी आशान्वित नहीं दिखाई देता । प्लेटो के आदर्श राज्य की भांति साम्यवादी समाज भी स्वप्नलोकीय ही प्रतीत होता है । लेकिन प्लेटो का आदर्श राज्य फिर भी अच्छा है क्योंकि उसके दार्शनिक शासक अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे जबकि इस पर कोई रोक नहीं है । अतः बहुत संभव है कि शासक पूर्णरूप से भ्रष्ट हो जायें । लेनिन की श्रमजीवी तानाशाही शक्ति को मर्यादित करनेवाला वह तत्व भी नहीं है जो लोकतंत्र में होता है अर्थात् जनता की अपने शासकों को चुनने की शक्ति ।

रूस की तानाशाही की उग्रता बराबर जोर पकड़ रही है । इसका कारण यह है कि उसमें स्वयं को स्थाई बनाने की अन्तर्हित प्रवृत्ति पाई जाती है । यद्यपि रूस में आज सन् १९२१ की भांति क्रान्ति, विरोधियों अथवा विदेशी साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप का कोई भय विद्यमान नहीं है, किन्तु तानाशाही की शक्ति को प्रयोग करनेवाला शासन यंत्र लोभ और स्वार्थ के शिकंजे में जकड़ गया है जो अपना अधिकार बनाये रखने में उतनी ही तत्परता प्रदर्शित करने को उत्सुक रहता है जितनी कि सिद्धान्तहीनता और चालाकी उसने उसे प्राप्त करने में दिखाई थी । वास्तव में यह कहना नितान्त सही है कि, "एक अधिनायक से स्वयं अपना अन्त करने का निर्णय करने की आशा करना व्यर्थ है, विशेषकर उस समय जबकि अधिनायकतंत्र चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा एक दल का—अपने अस्तित्व के लिए एक दार्शनिक औचित्य खोज ले ।"

रूस में तानाशाही के विद्यमानता के जो दार्शनिक कारण प्रायः बतलाये जाते हैं, वे संक्षेप में ये हैं—

(१) लेनिन ने पूंजीवाद के अन्त की आशा से संक्रामक राज्य के समाप्त हो जाने की बात कही थी, जबकि स्थिति सर्वथा भिन्न है । रूस आज चारों ओर से पूंजीवादी राज्यों से घिरा हुआ है और जब तक यह पूंजीवादी घेरा छिन्न-भिन्न होकर नष्ट नहीं हो जाता तब तक तानाशाही के समाप्त होने का कोई प्रश्न नहीं उठता । इन अवस्थाओं में तानाशाही खत्म करने का निश्चित अर्थ है अपने लिए खतरों को आमंत्रण दे ।

(२) तानाशाही का जारी रहना अन्य देशों के साम्यवादियों को प्रोत्साहित करने और उनकी सहायता करने के लिये आवश्यक है । जब १९१८, १९१९ और १९२३ में यूरोप के अनेक देशों में साम्यवादियों की हार हुई तो स्टालिन ने विश्व-व्यापी क्रान्ति के स्थान में 'एक देश में समाजवाद' का नारा बुलन्द किया था ।

(३) वर्ग दमन के अतिरिक्त राज्य का उद्देश्य रचनात्मक कार्यों का सम्पादन भी है, अतः साम्यवाद का रूप रचनात्मक है । एक रचनात्मक संग-

टन के समाप्त होने की आवश्यकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। उसका तो फलना-फूलना ही उचित है।

मार्क्स के अनुयायी के रूप में लेनिन का मूल्यांकन
(Leninis Estimate as a Follower of Marx)

लेनिन के दर्शन पर इस सम्पूर्ण विचार के अन्तर्गत हमने यही देखा है कि यदि उसने अपना प्रारम्भ मार्क्सवाद से किया था तो अपने को अन्त तक भी वह मार्क्स का अनुयायी ही कहता था। उसने बारम्बार यह बलपूर्वक कहा था कि मार्क्स के विचार-दर्शन की एक भी आधारभूत धारणा उसके एक भी मूलपग का परित्याग नहीं किया जा सकता। तब फिर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर मार्क्स के इस अनुयायी ने मार्क्सवाद को दिया क्या? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सेबाइन ने जो सारगर्भित विचार प्रकट किये हैं व उल्लेखनीय हैं। सेबाइन ने लिखा है कि—

"वास्तविकता यह है कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। एक मार्क्स का विचार था कि आर्थिक-व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन शक्तियों के आन्तरिक विकास के द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा इसे मजदूरों की इच्छा के द्वारा और क्रमबद्ध आयोजन के द्वारा यूरोप के सबसे कम औद्योगिक देश में स्थापित किया जा सकता है। दो—मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर-वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज में उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर-वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्ति लाभ करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर-वर्ग अपनी विचारधारा बाहर के मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियों की शिक्षा से प्राप्त करता है। तीन—मार्क्स के मत से समाजवादी दल में संसार भर के मजदूर शामिल होते हैं। लेनिन ने साम्यवादी दल को पेशेवर क्रान्तिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया। इसमें नेतृत्व कुछ बने हुए स्वयम्भू नेताओं के हाथ में रहता है। चार—मार्क्स का विचार था कि पहले पूंजीवादी क्रान्ति होती है जो राजनीतिक लोकतन्त्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रान्ति होती है। लेकिन रूस में सर्वहारा क्रान्ति पूंजीवादी क्रान्ति के साथ ही साथ हुई और छः महीने में ही उसने पूंजीवादी क्रान्ति का आत्मसात् कर लिया। अन्त में, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रान्ति लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम रखेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में रूस में एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार किया। सीधी सी बात है, और इसकेलिए किसी द्वन्द्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है कि लेनिन मार्क्सवाद की रूढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था। लेकिन जब इन रूढ़ियों का व्यावहारिक संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे। लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।"[1]

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास पृष्ठ ७६०

यद्यपि लेनिन मार्क्सवाद की अपनी पुनर्व्याख्या में मार्क्सवाद के अर्थ से दूर हट गया तथापि यह भी सत्य है कि बिना मार्क्सवादी सिद्धांतों में परिवर्तन किये लेनिन इनको रूसी क्रांति का दर्शन नहीं बना सकता था और इसीलिए क्रांति के अग्रवाहक इस व्यक्ति ने क्रांति के अनुकूल मार्क्सवाद में समयानुसार संशोधन किये। उसने मार्क्सवाद को एक जीवित एवं विकासशील दर्शन समझा और इसीलिए वह समय के अनुसार इसको ढाल सका। प्रो वेपर (*Wayper*) का मत है कि "लेनिन मार्क्सवाद का चाहे न्यायोचित व्याख्याकार न हो, तथापि रूस को उसने जो देन दी है, उसके लिए उसका अतुलनीय महत्व है।" मार्क्सवादी संशोधन का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि—

(१) यद्यपि लेनिन ने कभी-कभी मार्क्स के उद्देश्यों से भिन्न रास्ता अपनाया फिर भी वह मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी उपदेश पर दृढ़ रहा।

(२) मार्क्स की भांति ही उसे वर्ग-युद्ध और सर्वहारावर्ग की अन्तिम विजय पर विश्वास था। साथ ही उसने मार्क्सवाद की स्वतन्त्र व्याख्या भी की। लेनिन ने पार्टी को और पार्टी में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के महत्व और कार्यों को बहुत अधिक प्रधानता दी।

(३) लेनिन ने सम्भवतः रूस की परिस्थितियों से मेल बैठाने के लिए 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

(४) लेनिन की प्रधान देन सिद्धांत की बारीक व्याख्या में उतनी नहीं है जितनी उस सक्रिय एवं गतिशील नेतृत्व में है जो उसने अपने देश को उसके संकट काल में दिया। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है "लेनिनवाद एक वैज्ञानिक विश्वास की अपेक्षा एक भावात्मक आह्वान है।"

लेनिन कोई मौलिक विचारक न होकर एक महान् नेता था जिसने मार्क्स और एन्जिल्स की कृतियों को अपनी व्याख्यानुसार निभ्रान्त मानकर एक संगठित दल की सहायता से रूसी क्रांति में सफलता प्राप्त की। जिस प्रकार धार्मिक विश्वासी वेद या बाइबिल या कुरान के प्रति आस्थावान् रहता है उसी प्रकार का जोशपूर्ण अन्धविश्वास लेनिन ने मार्क्सवाद के प्रति प्रचारित किया। "उसके अपने मत से जिन समाजवादियों का मत नहीं मिलता उन्हें कुपथगामी, सर्वहारा विद्रोही आदि की संज्ञा उसने दी। भावावेश से अत्यधिक आवृत्त होने के कारण लेनिन की कृति में सूक्ष्मदार्शनिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण का अभाव है। इस प्रकार मार्क्सवाद को उसने एक नया धर्म बना डाला है। इस क्रांतिमूलक धर्म का परम उद्देश्य है सर्वहारा का अधिनायकत्व और इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है हिंसात्मक शक्तिपूर्ण साम्यवादी दल। इस उद्देश्य की पूर्ति में मानववादी नीतिशास्त्र का कोई स्थान नहीं है।[1]

---

1. *Lenin*, Religion : "We say that our morality is wholly subordinated to the interests of the class-struggle of the Proletariat. We deduce our morality from the facts and needs of the class-struggle of the Proletariat".

समस्त गैर साम्यवादी जगत् में लेनिन को मध्यवर्गीय धनशाही (बुर्जुआ) का भूत दीख पड़ता था और उसके अनुसार द्वन्द्ववादी नियतिवाद निर्मम अप्रतिहार्य वेग से सर्वहारा का विजय का मार्ग दृढ़ कर रहा था। इस द्वन्द्व-क्रिया को समझना और प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही वर्तमान राज्य और कानून के, जो पूंजीपतियों के स्वार्थसाधक हथकण्डे मात्र हैं अत्याचार से जनता को त्राण दिलाने का मार्ग है। वर्गविहीन समाज के निर्माण की दुर्दशा में वैयक्तिक के मानव अधिकार और स्वतन्त्रता का कोई महत्व लेनिन ने नहीं रखा।"

स्टालिन (Stalin)

जोसेफ विसेरियविच स्टालिन (*Joseph Vissarionvitch Stalin*) का जन्म १८७९ में रूस के जार्जिया नामक प्रांत में हुआ था। एक मोची का पुत्र होते हुए भी यह अपनी असाधारण योग्यताओं के बल पर एक दिन रूस जैसे महान् राष्ट्र का सर्वेसर्वा बना गया। स्टालिन अपनी युवावस्था से ही क्रांतिवादी था और १९१७ के कई वर्ष पूर्व से यह बालशेविकों का नेता रहा था। वह साम्यवादी शासन के प्रारम्भ से ही शासनकर्त्ताओं के अन्तरंग मण्डल में रहा था। जनवरी १९२४ में लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में दल और शासन के नेतृत्व के प्रश्न पर लेनिन के दो महान सहायकों-स्टालिन और ट्रोटस्की में कटु संघर्ष हुआ। विदेशी राष्ट्र यह आशा लगाये हुये थे कि सम्भवतः ट्राटस्की ही लेनिन का उत्तराधिकारी बनेगा किन्तु स्टालिन एक विषम शक्तिशाली प्रसिद्ध ही सिद्ध हुआ जिसने अपनी सूझ बूझ और विलक्षण चालबाजियों से अपने विरोधी को न केवल करारी मात ही दी बल्कि उसका राजनैतिक अस्तित्व ही मिटा दिया। स्टालिन ने दो प्रमुख एवं प्रभावशाली नेताओं-जिनोविव तथा कैमनव से मेल करके ट्राटस्की को परास्त कर दिया। ये दोनों कुछ समय तक ट्रोटस्की के अनुयायी रहे थे। लेनिन के स्थान पर दल का सचिव और प्रधानमन्त्री बनते ही स्टालिन ने ट्रोटस्की की राजनैतिक हत्या के प्रयत्न शुरू कर दिये। सर्वप्रथम ट्रोटस्की सेना और नौसेना विभाग के मन्त्रित्व तथा दल के अन्तरंग मण्डल से निकाल दिया गया। उसके विरुद्ध आरोप दलीय अनुशासन के भंग करने का था, क्योंकि उसने किसानों और पूंजीपतियों को दी गई सुविधाओं एवं रियायतों की तीव्र आलोचना की थी और बार बार यह आग्रह किया था कि विदेशों में बड़े पैमाने पर क्रांतिवादी प्रचार किया जाय। सन् १९२८ में ट्राटस्की को तब रूस से भी निकाल दिया गया जब उसने धनी किसानों को सामूहिक कृषि में सम्मिलित करने के लिये आग्रह करके दलीय अनुशासन को भंग किया। स्टालिन ने पीछे पड़कर न केवल ट्राटस्की का ही पतन किया बल्कि अपने सहयोगियों-जिनोवीव तथा कैमिनेव को भी दल से निष्कासित करवा दिया। सन् १९२८ तक स्टालिन ने दल में अपनी सर्वोच्चता स्थापित करली। अपनी स्थिति सशक्त करने में उसको वह दूरदर्शिता बड़ी सहयोगी सिद्ध हुई जो उसने दल के मुख्य सचिव (*General Secretary*) होने के नाते दल यन्त्र के निर्माण करने में दिखाई।

अपने जीवनकाल में स्टालिन एक ऐसी शक्ति बन गया जिससे विश्व के राष्ट्र भयभीत रहते थे और जिसकी प्रत्येक चाल को विश्व के राजनीतिज्ञ बड़ी बारीकी से जांचते थे। स्टालिन ने अपना कठोर नियन्त्रण न केवल शासन

पर बल्कि साम्यवादी दल पर भी जमा लिया था। उसने अपने हथकण्डों से, अपने विलक्षण, परिस्थिति-अनुकूल एवं प्रभावी तर्कों से तथा विरोधियों को कुचल डालने की पाशविक प्रवृत्ति से सोवियत रूस की सम्पूर्ण सत्ता एक प्रकार से अपने हाथों में केन्द्रित करली थी। उसने एक तरह का स्टालिन सम्प्रदाय (*The Stalin Cult*) रच लिया था और उसकी देवता की भांति पूजा होने लगी थी। संसार के किसी अन्य सार्वजनिक नेता के हाथों में शायद कभी इतनी शक्ति नहीं आयी जितनी स्टालिन ने ग्रहण की। तत्कालीन नेताओं ने स्टालिन को पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ प्रतिभावना व्यक्ति,' 'साम्यवाद का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता' 'राजनीति का आचार्य और योग्य नेता कहा। कुछ लोगों ने उसे 'भव्य विजयों का प्रेरणादाता,' 'महत्तम वैज्ञानिक,' महत्तम साहित्याचार्य,' और महत्तम गायक तक कहा था। ख्रुश्चेव (*Khrushchev*) ने दल के २०वें अधिवेशन के अवसर पर स्टालिन की आलोचना करते हुए कहा था—

"स्टॉलिन न सहयोगवादी था और न समझौतावादी। वह विचार-विनिमय द्वारा निर्णय करने की अपेक्षा अपने विचारों को दूसरों पर लाद देने का प्रयत्न किया करता था। वह अपने अनुयायियों से खामोशी के साथ अपने आदेशों का पालन चाहता था। जो व्यक्ति स्टॉलिन का विरोध करता था या जो अपने दृष्टिकोण को स्टॉलिन के दृष्टिकोण से बेहतर साबित करने का प्रयत्न करता था वह बेइज्जत किया जाता था। ऐसे व्यक्ति का पतन अवश्यम् भावी था। स्टॉलिन विरोध को सहन नहीं कर सकता था।"

ख्रुश्चेव ने स्टॉलिन के बारे में लेनिन के विचार भी व्यक्त किये थे— "लेनिन का विचार था कि स्टॉलिन अत्यन्त असभ्य व्यक्ति है। वह अपने साथियों के साथ भद्दा व्यवहार करता है। वह अत्यधिक घमण्डी है और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करनेवाला है।" ख्रुश्चेव ने यह भी कहा, "स्टॉलिन सामूहिक नेतृत्व का विरोधी था। वह मिल-जुलकर भी काम करना पसन्द नहीं करता था। अपने विरोधियों के साथ उसका व्यवहार नृशंस था। यही नहीं, उन लोगों तक को वह अपना शत्रु समझता था जिनके विचार उसके विचारों से मेल नहीं खाते थे।" वास्तव में "अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये उसने हजारों-लाखों व्यक्तियों को मरवा डाला था। उसके जीवनकाल में व्यक्ति की पूजा का इतना महत्व इसलिये बढ़ गया था कि स्वयं स्टॉलिन चाहता था कि सभी उसकी पूजा करें।" इतिहास, ख्रुश्चेव के स्टॉलिन सम्बन्धी इन विचारों का साक्षी है।

स्टॉलिनवाद (Stalinism)
अथवा
मार्क्सवाद-लेनिनवाद को स्टॉलिन की देन
(Stalin's Contribution to Marxism-Leninism)

रूस की राजनीति में यह परम्परा सी रही है कि प्रत्येक नया शासक अपने को अपने गुरु के पदचिन्हों पर चलनेवाला बताता है लेकिन व्यवहार में गुरु के विचारों से कुछ भिन्न ही आचरण करता है। लेनिन ने मार्क्सवाद को विकृत करके भी अपने को मार्क्स का सच्चा अनुयायी और मार्क्सवाद का सच्चा व्याख्याकार सिद्ध करने की चेष्टा की। स्टॉलिन ने भी कुछ ऐसा

ही किया। मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बहुत कुछ भिन्न रुख अपनाते हुए भी उसने अपने को उनका अनुयायी बताया और अपनी भिन्न नीतियों की रक्षा यह कह कर की कि परिस्थितियां इन नीतियों की मांग करती है।

लेनिनवाद के विकास में स्टॉलिन का प्रमुखतम योग यह है कि १६२४ में उसने अचानक यह घोषणा की कि *समाजवाद एक देश में ही सम्भव है।* नीति के इस परिवर्तन के कारण उसके लिये यह जरूरी होगया कि वह क्रांति के सिद्धान्त की पुनः परीक्षा करता और अपनी नीति को येनकेन-प्रकारेण मार्क्सवादी लेनिनवादी ढांचे में फिट करता। स्टालिन और ट्रोटस्की में जो संघर्ष हुआ उसका आधार यही एक बुनियादी प्रश्न था, वैसे सत्ता प्राप्ति की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा तो मूल में निहित थी ही। ट्रोट्स्की का जोर इस बात पर था कि रूसी क्रांति भावी विश्व क्रांति का ही एक पहलू है। उसने यह चाहा कि रूसी साम्यवादी राज्य का विश्व क्रांति को आगे बढ़ाने के लिये सभी प्रयत्न करने चाहिये। ट्रोट्स्की का विचार था कि जब तक सम्पूर्ण जगत में पूंजीवाद का अन्त नहीं हो जायगा तब तक रूस में सामाजवाद की सफलता संदिग्ध थी। १६०६ में ट्राट्स्की ने स्थायी क्रांति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसका मूल मार्क्स में पाया जाता है क्योंकि मार्क्स ने साम्यवादी संघ के समक्ष अपने एक भाषण में कहा था कि पूंजीपति वर्ग सदैव ही शीघ्रातिशीघ्र क्रांति का अन्त करना चाहेगा, अतः श्रमिक वर्ग का हित क्रांति को स्थायी बनाने में है। क्रांति तब तक जारी रहनी चाहिये जब तक सारे संसार में प्रमुख देशों में राजतन्त्र श्रमजीवी वर्ग के हाथ में न आजाए। ट्रोट्स्की ने कहा कि बिना यूरोप के अन्य देशों के सर्वहारा वर्ग अर्थात् श्रमिकों की *प्रत्यक्ष सहायता के रूप में न तो साम्यवादी समाज की स्थापना होगी और न* सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद ही फलफूल सकेगा। अप्रैल १६२४ तक स्टॉलिन के भी ऐसे ही विचार थे और उसने यह स्वीकार किया था कि समाजवाद की अन्तिम विजय के लिये 'समाजवादी उत्पादन के संगठन के लिये, एक देश के, विशेष कर रूस जैसे गरीब देश के प्रयत्न अपर्याप्त हैं।"

लेकिन अकस्मात् ही स्टॉलिन के विचार बदल गये। ट्राट्स्की के साथ शक्ति-परीक्षण में स्टालिन ने इस नीति को उपयोगी समझा कि स्थायी क्रांति' के सिद्धान्त पर सामयिक करारा प्रहार किया जाय। उसने यह तर्क प्रस्तुत किया कि परिवर्तित परिस्थितियों में जबकि रूस के चारों ओर पूंजीवादी घेरा (*Capitalist Encirclement*) विद्यमान है विश्व क्रांति के कार्यक्रम का अस्थायी रूप से छोड़ देना चाहिये और रूस में समाजवाद *को सुदृढ़* बनाने पर ही सारी शक्ति केन्द्रित की जानी चाहिये। अब वह प्रत्येक देश में स्वतन्त्र रूप से समाजवाद की स्थापना करना चाहता था, बशर्ते कि सम्बन्धित देश का आकार बड़ा हो, उसकी जनसंख्या भी बड़ी हो और उसके प्राकृतिक समाधन भी विशाल हो। ट्रोट्स्की पर स्टॉलिन की विजय के फलस्वरूप साम्यवादी दल ने 'एक देश में समाजवाद' (*Socialism in one country*) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिसके अनुरूप पहले सोवियत संघ में समाजवाद को सुदृढ़ किया जाना था। स्टालिन के *इस सिद्धान्त ने* मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। स्टॉलिन ने क्रांति

के सिद्धान्त को भी कुछ नयी दिशा दी, साम्यवादी दल को एक अत्यन्त केन्द्रीकृत और शक्तिशाली नौकरशाही में परिवर्तित कर दिया, राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित किया तथा लेनिन की शिक्षाओं के विपरीत एक नवीन कृषि-नीति को अपनाया। लेकिन रोचकता यह रही कि उसने अपने सभी कार्य लेनिन के नाम में किये, ठीक उसी तरह जैसे लेनिन ने सब कार्य मार्क्स के नाम से किये थे।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद को स्टॉलिन ने जो नवीन देन दी अथवा उसका जो विकास किया, उसे दो प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा :—

(१) एक देश में समाजवाद का सिद्धान्त, एवं
(२) स्टॉलिन का क्रांति-सिद्धान्त

स्टॉलिन का एक में समाजवाद का सिद्धान्त (Stalin's Theory of Socialism in one Country)—स्टॉलिन ने सन् १९२४ में अपनी पुस्तक '*Problems of Leninism*' को प्रकाशित कर यह स्पष्ट किया कि शेष संसार मे पूंजीवाद के रहते हुए भी एक देश में समाजवाद की स्थापना हो सकती है। उसने कहा कि रूस अपनी क्षमता के बल पर पूंजीवादी विश्व में भी अपना समाजवादी रूप बनाये रख सकता है और अपनी बहुमुखी उन्नति भी कर सकता है। रूस को इस प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं कि विश्व समाजवादी कब बनता है। स्टॉलिन का सिद्धान्त लेनिन के विचारों में प्रतिकूल ही मालूम पड़ता है क्योंकि लेनिन ने यह कभी नहीं कहा था कि एक देश में भी समाजवाद की स्थापना हो सकती है जब कि शेष सम्पूर्ण विश्व पूंजीवादी हो। लेकिन फिर भी स्टॉलिन अपने इस सिद्धान्त को लेनिन के विचारों के अनुकूल बताता था जब कि अपने प्रतिद्वन्द्वी ट्रॉट्स्की के स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त को लेनिनवाद के विरुद्ध घोषित करता था; दोनों ही लेनिन का स्थान लेना और लेनिनवाद के एक मात्र सच्चे प्रवक्ता बनना चाहते थे। ट्रोट्स्की का आरोप था कि स्टॉलिन का नीति परिवर्तन अर्थात् यह कहना कि समाजवाद एक देश में ही सम्भव है, लेनिन की नीति से अलग हटना है और यह क्रांति विरोधी प्रतिक्रिया का आरम्भ है। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है कि—

"यह निश्चित नही है कि यदि लेनिन जीवित रहता तो क्या वह भी स्टॉलिन के समान ही अपनी नीति को न बदल देता। लेनिन ने अपने जीवन के आखिरी दौर में जो लिखा था उससे यह मालूम पड़ता है कि उसका भी बहुत कुछ यही दृष्टिकोण था। लेनिन यह समझने लगा था कि रूस में समाजवाद का विकास देश की आन्तरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नही। यदि लेनिन यह परिवर्तन करता तो सम्भवत: वह अधिक बारीकी से होता। स्टॉलिन ने तो यह नीति-विषयक परिवर्तन बड़े स्थूल ढङ्ग मे किया था। उसका तो यहां तक कहना था कि कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं है। उसका तर्क था कि क्रांति के सम्बन्ध में लेनिन और ट्रोट्स्की के विचार अलग-अलग रहे थे। यह स्थिति १९१७ में भी थी जब समस्त साम्यवादियों को आशा थी कि पश्चिमी यूरोप में शीघ्र ही सर्वहारा वर्ग की क्रांतियां शुरू हो जायेंगी। ट्रोट्स्की का स्थायी

क्रांति का सिद्धान्त एक मेनशेविक भ्रांति थी। लेनिन के पूँजीवादी और श्रमिक क्रांतियों के सम्बन्धों के बारे में १९१७ में भी वही विचार थे जो कि १९०५ में थे। इन प्रस्थापनाओं का परिणाम यह हुआ कि इन्होंने स्थायी क्रांति के सिद्धान्त को एक ऐसा महत्व दिया जो उसे १९१७ में प्राप्त नहीं था। इन प्रस्थापनाओं के कारण यह सम्भावना भी यह उत्पन्न हो गई कि एक देश में क्रांति का विचार सदैव ही लेनिनवाद का एक अभिन्न भाग रहा था। श्रमिक क्रांति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास पर कहां तक निर्भर है, स्टॉलिन ने इस गम्भीर समस्या का पीछे ढकेल दिया। लेनिन ने अपने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का जिस ढङ्ग से विकास किया था, उसे देखते हुए यह निश्चित मालूम पड़ता था कि वह इस विचार को कभी पसन्द न करता कि साम्यवाद अपने को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से अलग कर सकता है। लेकिन, पूँजीवादी घेरे के सहित एक देश में समाजवाद के स्टॉलिन के सिद्धान्तों ने आर्थिक सम्बन्धों की अपेक्षा राजनीतिक सम्बन्धों पर अधिक जोर दिया। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि रूस की समाजवादी अर्थव्यवस्था परिस्थितियों के अनुसार ही कभी सहयोग और कभी हस्तक्षेप का रास्ता अपना सकती थी और साथ ही इस बात का इन्तजार करती थी कि पूँजीवाद का विनाश हो। इस तरह की नीति रूसी राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद से बिल्कुल अभिन्न थी और उसका मार्क्सवाद से कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं था।"[1]

वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा लगता है कि ट्रॉट्स्की और स्टॉलिन में कोई मौलिक अन्तर न था। स्टॉलिन मानता था कि जब तक रूस पूँजीवादी देशों से घिरा हुआ रहेगा, तब तक समाजवाद की विजय को पूर्ण नहीं समझा जा सकता। वह विश्व क्रांति की आवश्यकता में अपने विश्वास का सदैव प्रदर्शन करता रहा, केवल तात्कालिक परिस्थितियों की आड़ में विश्व-क्रांति कार्यक्रम को कुछ समय के लिये त्यागने की बात कहता रहा। दूसरी ओर ट्रॉट्स्की ने भी इस बात पर कभी आपत्ति नहीं की कि समाजवादी पुनर्निर्माण का कार्य चलता रहना चाहिये। वह विश्व क्रांति पर जोर इसीलिए देता था कि रूस में समाजवाद की स्थापना को इससे दृढ़ता मिलेगी। अन्ततः मौलिक रूप से दोनों के विचारों में विरोध न था। दोनों यह मानते थे कि विरोधी पूँजीवाद रूसी क्रांति के लिये एक विनाशकारी शक्ति है और यदि विश्वक्रांति हो तो उनके संकटग्रस्त देश को इससे सहायता मिल सकती है। अतः दोनों के मध्य एक लम्बे और कटु संघर्ष की आधारभूमि सत्ता हस्तगत करने की व्यक्तिगत आकांक्षा थी, यह उपयुक्त जान पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें नीति के कुछ बुनियादी प्रश्न निहित नहीं थे।

स्टॉलिन द्वारा प्रतिपादित 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त में एक बुनियादी बात यह निहित थी कि जहां इस बात पर आग्रहपूर्वक बल दिया गया था कि रूस अपने निजी अधिकारों से एक शक्ति था, ट्रॉट्स्की के अनुसार विश्व-क्रांति के लिए एक सहारा मात्र नहीं। डा० वेपर (*Wayper*) ने लिखा है कि—

---

1. सेबाइन–राजनीति दर्शन का इतिहास, ७६१–६२।

"ट्रोटस्की से सहमत पुराने बालशेविकों के लिए पाश्चात्य यूरोप विश्व का वास्तविक केन्द्र था, और रूस उसके बाहरी अन्धकार में किनारे पर बसा हुआ एक पिछड़ा हुआ देश था, जो यद्यपि यूरोप की सहायता तो कर सकता था, किन्तु जिसे स्वयं यूरोप की सरक्षक शक्ति की आवश्यकता थी। स्टालिन के लिए रूस विश्व का केन्द्र था, इसका लक्ष्य था पूंजीवादी यूरोप की सभ्यता से श्रेष्ठतर एक नवीन सभ्यता का केन्द्र बन जाना"[1]

स्टालिन ने रूस का महत्ता देनेवाले अपने उपरोक्त विचारों के आधार पर ट्रोटस्की को परास्त करके दल में अपना नेतृत्व प्राप्त कर लिया उसने ट्रोटस्की के स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर इस भांति प्रस्तुत किया कि उसका अर्थ रूस के श्रमिकों के स्वावलम्बन और राज्य की रक्षा करने की शक्ति में अविश्वास हो गया। साथ ही उसने अपना यह विचार और भी जोड़ दिया कि जब तक अन्य देशों में क्रांति की सम्भावना न हो तब तक किसी एक देश में क्रान्ति लाने का प्रयत्न करना अपनी शक्ति को घटाना है और व्यर्थ है। स्टालिन का यह विचार वास्तव में ट्रोटस्की के विचार की अपेक्षा अधिक सजीव था, अधिक आकर्षक था, और रूस के अधिकांश साम्यवादियों के मन को अधिक भानेवाला था क्योंकि इस विचार का स्वाभाविक अर्थ था कि स्टालिन रूसी जनता की स्वावलम्बन-शक्ति पर आस्था रखता है, रूसी जनता की सामर्थ्य के प्रति वह आशावान है। स्टालिन के इस विचार ने रूसी जनता की राष्ट्रीय आकांक्षा को सान्त्वना प्रदान की और साथ ही उनमें सन्तोष की यह लहर भी पैदा की कि विश्व क्रान्ति के न होने पर भी उन्हें गृह युद्ध में नहीं फसना पड़ेगा। स्टालिन के इस नवीन सिद्धान्त ने न केवल राष्ट्रीय लोकप्रियता कमाई बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को भी कम किया क्योंकि विदेशी राष्ट्र यह अनुभव करने लगे कि स्टालिन क्रान्ति को विश्व-व्यापक प्रसार के लिए आतुर नहीं है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि स्टालिन ने साम्यवादी दल का समर्थन अपने पक्ष में कर लिया, इतना कि बाद में ट्रोटस्की का रूस से निष्कासन भी करवा दिया।

स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया—

(i) **विश्व क्रान्ति के विचार में शिथिलता लाना**—स्टालिन ने अपने 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त से विश्व-क्रान्ति के विचार के प्रभाव को कम कर दिया और उसमें एक शिथिलता ला दी। स्टालिन सत्ता हथियाने से लेकर लगभग ५ वर्ष बाद तक विश्व क्रान्ति एवं स्थायी क्रान्ति के पोषक नेताओं को समाप्त करने में अथवा प्रभावशून्य करने में लगा रहा। उसने ट्रोटस्की, जिनोवीव, कैमिनेव, बुखारिन आदि जाने-माने प्रमुख व्यक्तियों को अपने मार्ग से हटा दिया। स्टालिन के इस कार्य से विश्व-क्रान्ति के विचार को निश्चित रूप से आघात लगा। केवल इतना ही नहीं हुआ बल्कि स्टालिन के कारण ही सन् १९२९ से आगे कामिन्टर्न की नीति का निर्धारण भी रूस के हितों को ध्यान में रखकर किया जाने लगा। यह

---

1. *Wayper* : Political Thought, Page 234.

नीति अख्तियार की गई कि अन्य देशो के क्रान्तिकारी आन्दोलनों को रूस के हितो की तराजू मे तोला जाय और रूस के पलड़े को भारी देखकर ही उनके प्रति व्यवहार किया जाय। दूसरे शब्दो मे रूस के हितों को ध्यान में रखकर ही अन्य देशों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित किया जाय। केरियूहण्ट के कथनानुसार 'पुराने क्रान्तिकारियों की पूरी नस्ल को मास्को मे बुलाया गया और उसे समाप्त कर दिया गया जबकि स्टालिन ने जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर १६३५ मे यह निर्णय किया कि 'जन मोर्चे' की नीति के पक्ष मे क्रान्ति को रोक दिया जाय।"

(ii) एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित होना—स्टालिन की नीति का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि रूस मे एक ऐसे सर्वहारा राज्य का विकास हुआ जिसमें कि अपेक्षा एक व्यक्ति के अधिनायकत्व को बल मिला। एक व्यक्ति की अर्थात् स्टालिन की ऐसी तानाशाही स्थापित हुई जो एक विशाल नौकरशाही द्वारा सचालित होती थी और जिसका प्रमुख आधार पाशविक बल था। साम्यवादी दल के २०वें अधिवेशन के अवसर पर स्टालिन के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये गये वे स्टलिन को नृशस, सत्ता का भूखा, और शक्तियो का दुरुपयोग करनेवाला व्यक्ति सिद्ध करते हैं। इतिहास बताता है कि स्टालिन ने लेनिन के अधिकाश पुराने साथियों को अपने दानव की बलिवेदी पर चढ़ा दिया। इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है और साथ ही रोचक भी है कि किस प्रकार 'एक देश मे समाजवाद' के सिद्धान्त द्वारा राज्य की शक्ति इतनी बढ गई और किस प्रकार इस शक्ति का केन्द्रीकरण एक व्यक्ति के हाथों में हो गया जो एक विशाल अथवा महाकाय नौकरशाही के द्वारा कार्य करता था और जिसका प्रमुख अस्त्र पाशविक बल था।

(क) आर्थिक नियोजन और नौकरशाही यंत्र का विकास—एक देश मे समाजवाद के सिद्धान्त का यह अन्तर्निहित परिणाम था कि समाजवादी देश आर्थिक रूप से पूर्ण आत्मनिर्भर होने की दिशा मे अग्रसर हो। वह अपने साधनो को इतना विकसित अथवा उन्नत कर ले कि आर्थिक दृष्टि से दूसरे देशो पर अपनी निर्भरता समाप्त करके विश्वक्रान्ति का निर्देशन करने के लिये स्वय को सक्षम बना सके। इसके लिये यह आवश्यक था कि एक प्रभावशाली औद्योगिकरण नीति बनाई जाय जिसके अन्तर्गत दीर्घकालीन योजनाओं से अपने साधनो को समृद्ध बनाया जाये। स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत रूस गृहनीति मे आर्थिक विकास के महत्व-पथ पर आगे बढा और विशेष रूप से सारा ध्यान पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाकर देश में आर्थिक समृद्धि लाने की ओर केन्द्रित किया गया। स्टालिन अपने विचारों पर इतना दृढ़ था कि उसने १६२६ मे दल के १५वें अधिवेशन मे और कई अन्य अवसरों पर भी कहा कि 'जब तक इस बात का विश्वास न हो जाये कि सोवियत सघ में समाजवाद की स्थापना हो सकती है तब तक विशाल आर्थिक कार्यक्रम पर ध्यान केन्द्रित करना मूर्खता होगी।" औद्योगिकरण की गति को तीव्र करने का अनिवार्य परिणाम था राज्य के अधिकार क्षेत्र का विस्तार करना और योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिये एक विशाल नौकरशाही यत्र का

विकास आवश्यक हो जाना। इतिहास बताता है कि जिस किसी भी देश में आर्थिक नियोजन की नीति को अपनाया गया है वहां सरकार की शक्तियों में वृद्धि तथा नौकरशाही का विस्तार हुआ है। भारत का उदाहरण ही हमारे सामने है। अन्तर केवल यही है कि एक लोकतन्त्रात्मक देश में राज्य का विकास सर्वहारावाद (*Totalitarianism*) की दिशा में नहीं होता जैसा कि रूस में हुआ। रूस में सर्वहारा का मूल साम्यवादी दल के स्वरूप और उस देश की लम्बे निरकुशशाही की परम्परा मे प्राप्य है।

(ख) **केन्द्रीकृत नौकरशाही का विकास**—स्टालिन ने अपने हाथों में अधिकाधिक शक्ति लेने के लिये एक ऐसी नीति का अवलम्बन किया कि ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया दल कम श्रमजीवी और कम लोकतन्त्री होता चला गया तथा उसने एक केन्द्रीकृत नौकरशाही का रूप धारण कर लिया। लेनिन के जीवनकाल में वाद-विवाद की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। ट्राटस्की, जिनोवीव, केमिनेव, रैडक, बुखारिन आदि नेता लेनिन की नीतियों की स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना किया करते थे। किन्तु स्टालिन के अधीन स्थिति बड़ी तेजी से बदलने लगी। स्टालिन न सहयोगवादी था और न समझौतावादी। वह अपना विरोध सहन नहीं कर सकता था। १९२५ में उसने 'शिखरोन्मुखी अनुशासन' के सिद्धान्त को अपनाया जिसके कारण एक स्तर पर दल का अंग अपने से नीचे के अंग को आदेश दे सकता है। इस नीति के फलस्वरूप दल के सदस्यों का महत्व कम होने लगा और दल केन्द्रीकृत सरकार के हाथों का खिलोना बन गया। स्टालिनने दल से परामर्श लेने की आवश्यकता की भी अवहेलना की। १९२५ के बाद तो दल के वार्षिक अधिवेशन की अनियमित तथा अधिक कालान्तर से होने लगे। साम्यवादी दल का १५वां अधिवेशन १९२७ में, १६वां १९३० में, १७वां १९३४ में, १८वां १९३९ में और १९वां १९५२ में अर्थात १३ वर्ष बाद हुआ। केवल यह नहीं, अधिवेशन की सदस्यता के स्वरूप में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता गया। १९२५ में हुए १४वें अधिवेशन में एकत्रित डेलीगेटों में ५६.८ प्रतिशत को श्रमिकों की श्रेणी में रखा गया था, जबकि १९३४ में १७वें अधिवेशन में यह अनुपात घटकर ९.३ प्रतिशत ही रह गया। स्टालिन की इस नीति का क्रान्तिकारी प्रभाव यह हुआ कि शक्ति दल के हाथों से निकलकर केन्द्रीय समिति (*Central Committee*) के विभिन्न अंगों में केन्द्रित हो गई जिसम पालिट ब्युरो (*Polit Bureau*) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। समय बीतने के साथ-साथ इस नीति के कारण दल कम श्रमजीवी और कम लोकतन्त्री होता चला गया। उसने एक केन्द्रीकृत नौकरशाही का रूप ले लिया। स्टालिन ने दल को सकुचित बनाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया और दल को खुला हुआ बनाने के हर प्रयास को सफलतापूर्वक दबाया।

दल के नामकरण में भी परिवर्तन ला दिया गया। सन् १९५२ में जो १९वां अधिवेशन हुआ उसमें दल का नाम 'अखिल सघीय साम्यवादी दल' (बालशेविक) से बदलकर 'सोवियत संघ का साम्यवादी दल' कर दिया गया। इसके अतिरिक्त दल को 'श्रमिक वर्ग का सगठित अग्रवाहक तथा उनके वर्ग संगठन का श्रेष्ठत्तम रूप' के बजाय 'सह-विचार साम्यवादियों का ऐच्छिक

समुदाय' कहा जाने लगा। इस ऐच्छिक समुदाय मे श्रमिक, कृषक और बुद्धिजीवी वर्ग सम्मिलित थे। रूस मे कुछ अन्य बातों ने भी सर्वहारावाद की वृद्धि मे सहायता पहुँचाई, उदाहरणार्थ श्रमिक संघो की कार्य-स्वतत्रता का अपहरण एव स्टालिन का दैवीकरण। स्टालिन ने, जो प्रारम्भ प्रशसा और सत्ता का भूखा था, अपने चारो ओर एक तरह का स्टालिन सम्प्रदाय रच डाला था। स्टालिन ने रूस में समाजवाद की स्थापना करने के लिये और साथ ही अपने पैरों को मजबूती से जमाने के लिये इतनी अधिक पाशविक शक्ति का प्रयोग किया कि वह लेनिन को लाघकर मार्क्स की इस धारणा से और भी अधिक दूर हो गया कि समाजवाद की स्थापना मे अथवा पूजीवाद से समाजवाद के आवर्त्तन मे शक्ति का प्रयोग सामाजिक एव आर्थिक प्रक्रियाओ की तुलना मे अपेक्षाकृत कम होगा।

(iii) स्टालिन द्वारा राज्य सिद्धान्त मे परिवर्तन—स्टालिन का 'एक देश मे समाजवाद' का सिद्धान्त मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त से स्पष्ट इस रूप मे भिन्न था क्योंकि वह राज्य के सम्बन्ध मे एक सशोधित विचारधारा थी। 'एक देश मे समाजवाद' के सिद्धान्त को अपनाने के कारण स्टालिन को मार्क्स के राज्य सिद्धान्त का व्यवहारत परित्याग ही करना पडा। कठोर मार्क्सवादियों के दृष्टिकोण से राज्य-वर्ग सघर्ष की उपज है, और राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक समाज मे वर्ग रहते हैं। ज्योंही उत्पादन के साधनो पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हट जाता है, त्योंही वर्ग विभेद समाप्त हो जाते हैं और वर्ग विभेदो के समाप्त होते ही राज्य भी समाप्त होने लगता है। लेकिन स्टालिन ने मार्क्सवादी–लेनिनवादी इस धारणा मे सशोधन किया वह राज्य के विलोप के सिद्धान्त को शब्दो मे तो मानता रहा, लेकिन साथ ही राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के कारणों को भी बताता रहा।

दल के सन् १९३९ मे होनेवाले १८वें अधिवेशन में स्टालिन ने, सिद्धान्त के कुछ प्रश्नो पर विचार किया। स्टालिन ने कहा कि कुछ लोग यह प्रश्न करते है कि 'हमारे देश में शोषक वर्ग समाप्त हो गये हैं। समाजवाद की काफी हद तक स्थापना हो चुकी है हम साम्यवाद की ओर बढ रहे हैं। फिर हम अपने समाजवादी राज्य को क्यो नही मरने देते ?" स्टालिन ने कहा कि यह प्रश्न करनेवाले लोग मार्क्स और एन्जिल्स के सिद्धान्त को तोते की तरह रट रखनेवाले लोग हैं और वे वास्तविक अर्थ को नही समझ सके है। "उन्होंने यह नही समझा है कि इस सिद्धान्त की विभिन्न स्थापनाओ को भिन्न विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों मे स्पष्ट किया गया था। इससे भी अधिक, महत्वपूर्ण बात यह हैं कि वे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को नही समझते वे यह नही समझते कि हमारा समाजवादी देश चारो ओर से पूजीवादी देशो से घिरा हुआ है और इसी कारण उसे अनेक खतरों का सामना करना पड रहा है।"

स्टालिन ने बताया कि मार्क्स और लेनिन के साम्यवादी राष्ट्र मडल के विचारो और वर्तमान सोवियत राज्य के ढाचे म जो अन्तर दिखाई देता था उसका कारण यह था कि पूजीवादी देशो ने रूस के चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा रखा था। वे भेदियों और विध्वसकों को धडाधड भेज रहे थे

और इस प्रकार रूस का विनाश करना चाहते थे । अतः इन विदेशी गुप्त आक्रामक कार्यवाहियों से देश को बचाने के लिये राज्य को सशक्त बनाये रखना आवश्यक था । एन्जिल्स ने ऐसे किसी एक राज्य के बारे में कभी कुछ नहीं कहा जो चारों ओर से शत्रुतापूर्ण पूंजीवादी राज्यों से घिरा हो । एंजिल्स का सिद्धान्त उसी समय सही हो सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की ओर से आंखे बन्द कर ली जायें और देश के केवल आन्तरिक विकास की ओर ही ध्यान दिया जाये अथवा यह मान लिया जाय कि संसार के सभी देशों में समाजवाद विजयी हो गया है । स्टालिन की इस व्याख्या का अभिप्राय यह था कि एंजिल्स की भविष्यवाणी का कोई ठोस आधार नहीं था । यह भविष्यवाणी कुछ ऐसे आधारों पर की गई थी जिनका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नही है । वस्तुतः एंजिल्स ने या तो भविष्य के ऐसे समाजवादी राज्य के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की थी जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का कोई प्रभाव पड़नेवाला नही था, या उसने यह मान लिया था कि सभी या अधिकांश राज्यों में समाजवाद की विजय होगी । सेबाईन ने इस सम्बन्ध में लेनिन के बारे में समीक्षात्मक टिप्पणी देते हुए कहा है कि, "जहां तक लेनिन का सम्बन्ध है, यदि लेनिन अपने *'State and Revolution'* ग्रंथ को पूरा करता तो वह इस सवाल का जरूर ही विवेचन करता । यह नही मालूम कि लनिन अपनी पुस्तक के दूसरे भाग मे क्या विचार व्यक्त करता । यह जरूर है कि लेनिन १९०५ और १९१७ की क्रान्तियों का विवेचन करता । अतः स्टालिन ने अपने वक्तव्य में लेनिन के प्रमाण का तो उपयोग कर लिया लेकिन उसने यह नहीं बताया कि यदि लेनिन इस तरह तर्क करता तो उसका क्या आधार होता । इस स्थिति में स्टालिन का राष्ट्रीयकरण काफी हद तक काल्पनिक है । स्टालिन के अनुसार साम्यवादी राज्य के दो कार्य हैं—विदेशी हस्तक्षेप से रक्षा करना और देश का आर्थिक संगठन तथा सांस्कृतिक उत्थान करना । ये दोनों कार्य शाश्वत हैं । जब तक सारे संसार में वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक इन कार्यों की जरूरत रहेगी । अतः जब तक पूंजीवादी घेरा (*Capitalist Encirclement*) समाप्त नहीं हो जाता, तब तक साम्यवाद की अवस्था में भी राज्य का अस्तित्व रहेगा ।"[1]

इस प्रकार स्टालिन ने मार्क्सवादी–लेनिनवादी धारणा के विपरीत इस विचार का प्रतिपादन किया कि राज्य के विनाश के लिए राज्य की शक्ति को कमजोर करना नही है । राज्य को अत्यधिक सशक्त बनाकर भी राज्य का विनाश हो सकता है । लेकिन राज्य का विनाश संभव तभी है जब पूंजीवादी घेरे का सम्पूर्ण विनाश हो जाये । इस धारणा का स्वाभाविक अभिप्राय यह था कि चूंकि इस पूंजीवादी घेरे के समाप्त होने की कोई संभावना दिखाई नहीं पड़ती, अतः रूस में श्रमजीवी अधिनायकवाद चलता रहेगा । द्वन्द्ववाद की सही व्याख्या के अनुसार यह श्रमजीवी अधिनायकवाद तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि पहले उसकी शक्ति का पूर्णतः विकास न हो जाये, इतना कि विश्व क्रांति को उभाड़ कर समाजवाद की अन्तिम विजय स्थापित की जा सके । स्टालिन ने बलपूर्वक यह कहा कि "गृह नीति और विदेश नीति में

---

1. सेबाइन—राजनीति दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ७९२

ज्यों-ज्यों सुधार होता रहेगा त्यों-त्यों राज्य के स्वरूप में परिवर्तन होता रहेगा......हम राज्य को हटा भी देंगे, बशर्ते कि रूस के पास पड़ोस के बुर्जुआ राज्यों का पूंजीवादी ढांचा समाप्त हो जाये और उसके स्थान पर इन देशों में समाजवादी शासन-व्यवस्था का सूत्रपात हो जाये।" लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता तब तक रूस राज्य को इतना शक्तिशाली रखेगा कि वह समाजवादी शासन व्यवस्था का पोषण करता रहे और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रतिक्रियता का दमन करता रहे।

(iv) रूस मे राष्ट्रवाद का उदय—स्टालिन के 'एक देश मे समाजवाद' का एक महत्वपूर्ण प्रभाव राष्ट्रीय साम्यवाद का उदय हुआ। स्टालिन ने जिस राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन दिया एवं जिस नवीन कृषि नीति को अपनाया वह लेनिन की शिक्षाओं के एकदम विपरीत थी। 'एक देश मे समाजवाद' के विचार ने रूस की क्रांति को विश्व क्रांति के लिये साधन न बनाकर स्वयं में एक साध्य (*End*) बना दिया। राष्ट्रवाद और साम्यवाद के सम्मिश्रण द्वारा रूस एक राष्ट्रवाद साम्यवादी बन गया। रूस की यह राष्ट्र-भावना मार्क्स, एन्जिल्स और लेनिन की अवहेलना थी, क्योंकि उनका समाजवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था। यह उल्लेखनीय है कि १९३४ तक स्टालिन ने राष्ट्रवाद का स्पष्ट पक्षपोषण नहीं किया, लेकिन जब १९३५ के बाद उसे विश्वास हो गया कि हिटलर रूस पर आक्रमण करेगा तो उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया। वह राष्ट्रवाद की भावना की ओर झुक गया। ऐसा करना उसके लिये इस दृष्टि से भी सर्वथा स्वाभाविक था कि उसका पश्चिम के साथ कोई मानसिक लगाव न था। रूस के बाहर के देशों में स्थानीय साम्यवादी दलों को भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलनों में राष्ट्रीय तत्वों से मिलने के लिये प्रोत्साहन दिया गया।

(v) [illegible] स्टालिन ने आय की समानता [illegible] अनुसरण नहीं किया। [illegible] मजदूरों से अधिक वेतन नहीं लेना चाहिये। किन्तु स्टालिन ने इस धारणा का खण्डन करते हुये कहा कि समानता के मार्क्सवादी सिद्धान्त का उद्देश्य आय की समानता न होकर वर्ग विशेष के विशेषाधिकारों का उल्लंघन है। समाजवादी व्यवस्था मे मनुष्यों को कार्यानुसार वेतन मिलेगा। केवल पूर्ण साम्यवाद में ही वस्तुओं का वितरण व्यक्ति की आवश्यकतानुसार होगा। मैक्सईस्टमैन जैसे योग्य समीक्षक का कथन है कि स्टालिन के अधीन न्यूनतम पारिश्रमिक पानेवाले श्रमिक की आय तथा अधिकतम वेतन पानेवाले सरकारी नौकरों की आय का अन्तर अमेरिका के न्यूनतम पारिश्रमिक प्राप्त मजदूर तथा अधिकतम पारिश्रमिक श्रमिक प्राप्त सरकारी नौकरों के वेतनों के अन्तर से अधिक था। ऐसी आलोचनाओं के उत्तर में स्टालिन का कहना था कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक देना तथा राज्य की यथाशक्ति सेवा करने के लिये प्रेरणा देने के हेतु धन का आकर्षण आवश्यक है।

२ स्टालिन की क्रांति सम्बन्धी धारणा (Stalin's Conception of Revolution)—स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त में विश्वास

रखने का आशय यह नहीं था कि विश्व-क्रांति की धारणा से उसे पूर्ण अनास्था थी। स्टालिन ने अपने जीवनपर्यन्त क्रांति में विश्वास रखा और विश्व क्रांति के विचार का परित्याग नहीं किया। अपनी पुस्तक *'Leninism'* में उसने लिखा कि जब तक अनेक देशों में सफल क्रांति न हो, तब तक कोई भी देश प्रतिक्रियावादी क्रांति की सम्भावना से सुरक्षित नहीं रह सकता। 'तृतीय अंतर्राष्ट्रीय' (*Third International*) के सातवें अधिवेशन में १९३५ में उसने यह घोषणा की—

"यह अधिवेशन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण होगा। यह पूर्व-पश्चिम के पराधीन तथा अपराधीन देशों के कोटि-कोटि श्रमिकों के सम्मुख क्रांति की सम्भावना को प्रस्तुत करके युद्ध और क्रांति का प्रतीक बनेगा।"

स्पष्ट है कि स्टालिन विश्व-क्रांति की आवश्यकता को स्वीकार करता था। अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी ट्रॉट्स्की से उसका मुख्य मतभेद इस बात पर था कि जहां ट्रॉट्स्की यूरोप को क्रांति के लिए परिपक्व मानता था वहां स्टालिन इस बात से सहमत न था। स्टालिन यह भी मानता था कि पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिरोधक शक्ति उससे कहीं अधिक थी जितनी ट्रॉट्स्की ने आंकी थी।

स्टालिन क्रांति में अटूट विश्वास रखते हुए भी इस बात से इंकार नहीं करता था कि समाजवाद पर आवर्तन शांतिपूर्ण ढंग से हो ही नहीं सकता। स्टालिन का यह मत मार्क्स के निकट था किन्तु लेनिन के विपरीत। लेकिन शांतिमय आवर्तन का उसका विचार मार्क्स के निकट होते हुए भी उससे बहुत भिन्न था। स्टालिन के शांतिमय आवर्तन के रूप का उदाहरण हमें उस ढंग में मिल जाता है, जिसके द्वारा पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों में समाजवाद की स्थापना की गई। वास्तव में ये देश एक प्रकार से पूर्णतः समाजवादी घेरे' के अधीन हो गये। इन देशों में साम्यवादी सरकार की स्थापना के लिये विभिन्न हथकण्डों का प्रयोग किया गया। इन सभी हथकण्डों की एक सामान्य विशेषता 'रूस की सैनिक शक्ति पर निर्भरता' रही। रूस की सहायता से ही इन देशों में साम्यवादी शासन स्थापित हुआ और रूस के इशारों पर ही इन देशों की साम्यवादी सरकारें नाचती रहती हैं। केवल युगोस्लाविया इसका अपवाद है। इस तरह कहा जा सकता है कि "मार्क्स के विपरीत स्टालिन क्रांति को सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का स्वाभाविक परिणाम नहीं मानता था। वह लेनिन और ट्रॉट्स्की के इस सिद्धान्त में भी विश्वास नहीं रखता था कि रूसी दर्रे का अनुसरण करते हुए यूरोपीय देशों में क्रांति आयेगी। स्टालिन का तो यह विश्वास था कि क्रांति का आगमन रूस की शक्ति द्वारा होगा।" स्टालिन की विश्व-क्रांति एक प्रकार से रूसी विश्व-क्रांति थी। वह रूसी साम्राज्यवाद के प्रसारण का आकांक्षी था। वेपर (*Wayper*) ने स्टालिन के शांतिपूर्ण साधनों का अर्थ भी शक्ति में उसकी आस्था से लगाया है, केवल अन्तर मात्रा का था।

---

1. "His belief in the possibility of a peaceful transition to socialism through socialist encirclement was also a belief in

स्टॉलिन के बाद (After Stalin)

अथवा

साम्यवादी दल की नई मान्यता

(New Thesis of the Communist Party)

स्टॉलिन ने लगभग २५ वर्ष तक निरंकुश शक्ति का प्रयोग किया। उसके शासन काल मे सैनिक एवं राजनीतिक साम्राज्यवादी नीतियां अपनायी गई और असमझौतावादी रुख अपनाकर शीतयुद्ध को पनपाया गया। स्टॉलिन ने अपने युग मे विदेशी और पड़ोसी राज्यों के प्रति कठोर नीति का अनुसरण किया। वास्तव में स्टॉलिन का युग 'एक व्यक्ति के नेतृत्व' का युग था। स्टॉलिन की मृत्यु के बाद १९५३ से ही एक व्यक्ति के नेतृत्व का परित्याग करके उसके स्थान पर 'सामूहिक नेतृत्व' के सिद्धान्त का विकास किया गया जो ख्रुश्चेव के समय ठोकरें खाता हुआ अभी तक किसी न किसी रूप मे चल रहा है। ख्रुश्चेव के साथ ही रूस मे उदारतावादी साम्यवाद शनैः शनैः पनपने लगा। रूस की विदेशनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिये गये। ख्रुश्चेव ने अपने प्रधानमंत्रित्व काल मे स्टॉलिन द्वारा अपनायी गई नीतियों का बहिष्कार कर दिया। उसकी कब्र को पूरी तरह से खोद डाला गया और व्यक्ति पूजा का डटकर विरोध किया गया। ख्रुश्चेव ने, दल की २०वीं कांग्रेस के अवसर पर अपने भाषण मे कहा—"स्टॉलिन की मृत्यु के बाद साम्यवादी दल निरन्तर यह कह रहा है कि हमारे बीच व्यक्तिपूजा विदेशी और अग्राह्य विचार है। हम यह कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि एक व्यक्ति की देवता के समान पूजा हो। यह मार्क्सवाद और लेनिनवाद के विरुद्ध है।"

२०वीं कांग्रेस मे गृह और विदेश नीति के सम्बन्ध मे साम्यवादी नीति में परिवर्तन का द्योतक एक लम्बा प्रस्ताव पास किया गया। फलस्वरूप साम्यवादियो ने सम्पूर्ण विश्व मे साम्यवादी राष्ट्रमण्डल की स्थापना के सम्बन्ध मे अपने विचारो मे संशोधन किया और अब समाजवादी समाज की स्थापना की विधि के विषय मे, केवल चीन और उसके कुछ पिछलग्गुओं को छोड़ कर साम्यवादियो का बदला हुआ रुख है। २०वीं कांग्रेस में यह स्वीकार किया गया कि पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच अनिवार्य नहीं है, और यह भी कहा गया कि साम्यवादी पूंजीवादी व्यवस्था को सशस्त्र क्रांति द्वारा उलटना नहीं चाहते। जहां लेनिन और स्टॉलिन ने पूंजीवादी देशों और साम्यवादी देशो मे संघर्ष को अनिवार्य माना था, वहां ख्रुश्चेव ने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का समर्थन किया। ख्रुश्चेव के मतानुसार मार्क्स और लेनिनवाद की संघर्ष सम्बन्धी धारणा उस समय बनायी गई थी जबकि साम्राज्यवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था थी और अन्य शक्तियां निर्बल थीं। उस समय साम्राज्यवाद को युद्ध का परित्याग करने के लिये बाध्य करना दुष्कर कार्य था, परन्तु आज इनको रोकने योग्य शक्ति सम्भव है और साम्राज्यवादी युद्धो को सरलता से रोका जा सकता है। वास्तव मे ख्रुश्चेव ने रूस की वर्तमान अणुशक्ति के बल

---

force. The differences were differences of degree not of kind'.

—*Wayper : Political Thought*

पर युद्ध की अनिवार्यता के स्थान पर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर बल दिया। उसके अनुसार युद्ध की अनिवार्यता का अभाव किसी भी प्रकार की क्रांति की प्रक्रिया को धीमा नहीं करता। ख्रुश्चेव के वर्तमान उत्तराधिकारी भी इसी नीति में विश्वास करते आरहे हैं। रूसी राष्ट्रपति ब्रेजनेव और प्रधानमंत्री कोसीजिन भी युद्ध की अनिवार्यता के स्थान पर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये उत्सुक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व व्यावहारिक रूप से रूसी विदेशनीति का आधारभूत सिद्धान्त बन गया है। स्टॉलिन की नीतियों के बाद सोवियत रूस की नीतियां पश्चिमी देशों और पड़ोसी राज्यों के प्रति कुछ कम सख्ती का व्यवहार करने लगी हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त सोवियत नीति की एक चाल है तथा अवसर के प्रति अनुकूलता है किन्तु रूसी नेता इसका विरोध करते हुए कहते है कि यह तो मानी हुई बात है कि सोवियत रूस शक्ति में आते ही शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये दृढ़ता से कायम है और यह तो रूसी विदेश नीति का मौलिक सिद्धान्त है। यदि विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थावाले देशों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को धमकी दीगई तो इसे देनेवाला सोवियतसंघ न होगा और न ही शेष समाजवादी गुट। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी भी समाजवादी को युद्ध छेड़ने में रुचि नहीं हो सकती क्योंकि वहां किसी प्रकार का वर्गभेद नहीं है जो युद्ध के द्वारा अपने आपको समृद्धशील बनाने का स्वप्न देखे। ख्रुश्चेव ने तो यह दावा किया था कि अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं से पूर्ण देशों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लेनिन के सिद्धान्त को सोवियत रूस प्रारम्भ से ही अपनाता चला आरहा है। अन्तर्निहित सचाई कुछ भी हो, व्यवहार में यही प्रतीत होता है कि वर्तमान रूसी नेता सहअस्तित्व की नीति को अपनाकर मार्क्सवाद के विकासवादी पहलू को पुनः प्रतिष्ठित कर रहे हैं। लेकिन यह अवश्य मानना होगा कि मार्क्स के उत्तराधिकारियों के हाथों में मार्क्सवाद अपने विशुद्ध रूप में नहीं रह सकता है और उसी प्रकार बदल गया है जिस प्रकार कोई नई वस्तु अनेक हाथों में जाकर अपना प्रारम्भिक स्वरूप खो बैठती है।

रूस में साम्यवाद के बदलते हुए रूप का अनुमान, २०वीं कांग्रेस के अवसर पर साम्यवादी सिद्धान्तों में जो सुधार दृष्टिगोचर हुए, उनसे लगाया जा सकता है। ये सुधार इस प्रकार हैं—

(१) युद्ध की अनिवार्यता का निषेध।

(२) समाजवाद प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हो सकते हैं। अब यह माना जाने लगा है कि सभी राज्यों में एक ही विधि से समाजवाद की स्थापना हो, यह आवश्यक नहीं।

(३) संसदीय लोकतंत्र द्वारा भी समाजवाद के आदर्श प्राप्त किये जा सकते हैं। साम्यवादी कहते हैं कि लोकतंत्री परीक्षण में प्रत्येक राज्य को कुछ न कुछ योग देना है, चाहे वह लोकतंत्र स्थापित करे, चाहे वह सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद स्थापित करे और चाहे वह शुद्ध समाजवादी राज्य स्थापित करे। हर प्रकार से प्रगति समाजवादी व्यवस्था की ओर होना अनिवार्य है।

(४) सोशल डेमोक्रेटो (Social Democrats) के साथ सहयोग सम्भव है।

२०वीं कांग्रेस में यह स्वीकार किया गया था कि समाजवादी समाज की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा साम्यवादी अब लेनिनवाद की ओर वापिस जा रहे हैं। यद्यपि यह विवादास्पद है कि २०वीं कांग्रेस का प्रस्ताव लेनिनवादी मान्यताओं का द्योतक है अथवा क्या यह समाजवादी व्यवस्था लाने का नया उपक्रम है किन्तु पूर्वाग्रिक यह सभी मानते हैं कि २०वीं कांग्रेस ने युद्ध की अनिवार्यता की घोषणा चुनौती को वापस ले लिया है और वर्ग संघर्ष को अनिवार्य नहीं माना है। २०वीं कांग्रेस ने लोकतान्त्रिक समाजवाद (*Democratic Socialism*) और पूंजीवाद के मध्य सहयोग की सम्भावना को स्वीकार किया है। २०वीं कांग्रेस के अवसर पर संसार के साम्यवादी दलों को आदेश प्रसारित किये गये व ख्रुश्चेव के निम्नलिखित शब्द महत्वपूर्ण हैं–' आधुनिक स्थिति श्रमिकों के हित में है। अनेक पूंजीवादी देशों में श्रमिक वर्ग अपने सांझे हितों के लिये मिल सकते हैं और अपने नेतृत्व में करोड़ो आदमियों को रोटी कपड़ा दिला सकते हैं। श्रमिक वर्ग अगर चाहे तो अपने हाथों में आसानी से उत्पादन के मौलिक साधन ले सकते हैं। श्रमिक वर्ग अपने साथ कृषक व, बुद्धिजीवी वर्ग और देशभक्त वर्ग को लेकर प्रतिक्रियावादी तत्वों को मुंहतोड़ जवाब दे सकते हैं। व सब श्रमिक वर्ग के समर्थन पर संसदों में बहुत से स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वे उन संसदों को अब तक बुर्जुआवादी लोकतन्त्र के अड्डे बने हुए हैं लोक सदस्यों में परिवर्तित कर सकते हैं।'

चीनी मार्क्सवाद (Chinese Version of Marxism)—आधुनिक चीन में क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का आरम्भ डा० सनयात सेन द्वारा हुआ जिन्होंने सन् १९११ में इन तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया–राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र और जनता की जीविका अथवा समाजवाद। सन् १९१८ में पेकिंग में एक साम्यवादी दल की स्थापना हुई। इससे पूर्व डा० सनयातसेन द्वारा संस्थापित को मिंताग (*Kuo Min tang*) दल सभी विचारों के लोगों का संयुक्त दल था। अनेक साम्यवादी इस संयुक्त दल में भी सम्मिलित हो गए, लेकिन उन्होंने अपना अलग दल भी बनाये रखा। बाद के वर्षों में माओ त्सेतुंग ने जिसका जन्म एक किसान परिवार में हुआ था, किसानों का संगठन करना शुरू किया। दूसरी ओर सनयातसेन की मृत्यु के उपरान्त को मिंताग दल का नेतृत्व दक्षिणपंथी (*Rightist*) सेनापति च्यांगकाईशेक के हाथों में आ गया जिसने साम्यवादियों व क्रान्तिकारियों के विरुद्ध कार्य किया। सन् १९२७ में को मिन्ताग के दलवालों जो राष्ट्रवादी थे और साम्यवादियों के बीच तीव्र मतभेद पैदा हो गया। यद्यपि सन् १९३१ में जापान के आक्रमण और तत्पश्चात् द्वितीय विश्व युद्ध में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में कंधे से कंधा मिलाकर विरोधियों को पराजित किया, किन्तु संशय और सन्देह की जो दीवार दोनों के मनों के बीच थी वह न टूट सकी। फलतः को मिंतांगों अथवा राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के मध्य भीषण गृह युद्ध छिड़ गया। राष्ट्रवादियों का नेतृत्व च्यांगकाईशेक के हाथों में था तो साम्यवादियों का माओत्सेतुंग के प्रचुर अमेरिकन सहायता के बावजूद भी राष्ट्रवादियों की हार

हुई और वे फार्मोसा टापू में जाकर अमेरिकन सेना के संरक्षण में रहने लगे। सन् १९४९ में चीन की मुख्य भूमि में साम्यवादी सरकार बनी और तभी से इसका विश्व-शक्ति के रूप में प्रादुर्भाव होना आरम्भ हो गया। नेपोलियन की यह भविष्यवाणी सिद्ध हुई कि "चीन एक सोया हुआ अजगर है, उसे सोने दो, यदि वह जाग गया तो संसार को पछताना पड़ेगा।"

चीन की साम्यवादी विचारधारा का सूत्रधार और चीनी साम्यवादी दल का कर्णधार माओत्सेतुंग है जिसने मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों को चीन की परिस्थितियों के अनुसार संशोधित किया है। जिस प्रकार लेनिनवाद मार्क्सवाद का रूसी संस्करण था, उसी प्रकार माओवाद (*Maoism*) भी मार्क्सवाद का प्रकारान्तर है। माओ भी इस परिवर्तन को मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुकूल ही समझता है क्योंकि उसके अनुसार, "यदि हम चीन की परिस्थिति के अनुकूल एक सिद्धान्त का निर्माण नहीं करेंगे, एक ऐसे सिद्धान्त का जो हमारी आवश्यकताओं और निश्चित प्रकृति के अनुरूप नहीं होगा तो हमें अपने आपको मार्क्सवादी विचारक कहना एक उत्तरदायित्व हीनता होगी।"[1]

माओ ने रूस में लेनिन की अक्टूबर क्रांति से प्रभावित होकर कहा है कि चीन में रूस की ही भांति क्रांति की स्थितियां विद्यमान हैं, यद्यपि उनका स्वरूप भिन्न है। चीनी क्रांति रूसी क्रांति से भिन्न एक पूंजीवादी जनतांत्रिक क्रांति थी, पर उसे भी पूंजीवाद के विनाश तथा साम्यवाद की स्थापना की मध्यकालीन क्रांति कहा जा सकता है। माओ ने भी लेनिन की भांति क्रांति के लिये साम्यवादी दल और विशेष रूप से उसके बुद्धिजीवी वर्ग को महत्व दिया है।

माओ ने सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद पर कठोर प्रहार किये हैं, परन्तु उसकी मुख्य सफलता किसानों की दशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाना है। माओ ने मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कृषक वर्ग पर महत्व दिया है, रूस की भांति श्रमिक वर्ग को नहीं। इसका कारण यह है कि चीन प्रमुख रूप से एक खेतीहर देश है, जहां लगभग ८० प्रतिशत जनता खेती करती है। इसी कारण माओ मानता है कि वहां साम्यवाद तभी सफल होगा जबकि कृषकों के कार्यों को महत्ता दी जायगी। चीन में किसानों को जोत की भूमि पर स्वामित्व प्रदान किया गया है और अब सम्भवतः कोई भी ऐसा व्यक्ति भूमिपति नहीं जो जमीन न जोतता हो।

मार्क्सवादी विचारधारा की तरह माओ भी यह मानता है कि राज्य शासक वर्ग के हाथ में एक दमन-यंत्र है। उसके अनुसार भी साम्यवादी दल शक्ति प्राप्त करने के बाद राज्य की शक्ति का प्रयोग पूंजीपतियों का नाश

---

1. "If we have not created a theory in accordance with China's real necessities, a theory that is our and of a specific nature than it would be irresponsible to call ourselves Marxist these ritician."

—Quoted by *Stuart R. Schram* in the Political Ideas of Maotse Tung.

करने के लिये करेगा। यह केवल साम्यवादियों को ही अधिकार देगा, गैर साम्यवादियों को नहीं। अतः माओवाद साम्यवादियों के लिये प्रजातन्त्र तथा गैरसाम्यवादियों के लिये अधिनायक तन्त्र (*Democratic Dictatorship*) कहा जा सकता है। स्वयं माओ ने कहा है, "हमें अधिनायकवादी कहा जाता है यह ठीक है। चीनी जनता के पिछले कुछ दशक वर्षों के अनुभव ने बताया है कि जनता की प्रजातान्त्रिक तानाशाही की स्थापना की जानी चाहिये।" यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि माओ के नेतृत्व में चीनी सरकार ने विरोधियों का अन्त करने के कठोर तरीके अपनाये हैं, फिर भी वहां पर विरोधियों को अपने में मिलाने की नीति अपनायी गई है। साम्यवादी दल में मजदूर और किसानों के अतिरिक्त मध्यम वर्ग तथा देशभक्त सम्पन्न व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार माओ ने सर्वहारा वर्ग की प्रभुता के पुराने विचार को 'वर्गों के सहयोग' की दिशा में संशोधित किया है।[1]

माओ के अनुसार पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में अन्तर्विरोध (*Intercantradictions*) हैं, किन्तु इनके अन्तविरोधों में एक आधारभूत अन्तर है। वह यह है कि पूंजीवाद के अन्तविरोधों का अन्त तो केवल युद्ध और क्रांति द्वारा ही हो सकता है, किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध शांतिपूर्वक दूर किये जा सकते हैं। माओ ने यह माना है कि चीन में मजदूर वर्ग और राष्ट्रीय मध्यम वर्ग में संघर्ष चल रहा है, किन्तु इसका शांतिपूर्ण ढंग से हल निकल सकता है। माओ ने देश के समाजवादी निर्माण में सभी वर्ग, विभिन्न स्तरों और सामाजिक समूहों के लोगों को जनता (*People*) कहा है, यदि वे समाजवादी निर्माण के पक्ष में हैं। किन्तु वे सभी सामाजिक समूह या शक्तियां जो समाजवादी क्रांति का विरोध कर रहे हैं, जनता की शत्रु है। 'हमारे और शत्रुओं के बीच अन्तर्विरोध शत्रुता पर आधारित हैं, परन्तु जनता के विभिन्न समूहों के बीच मतभेद शत्रुतापूर्ण नहीं है।'[2]

यह उल्लेखनीय है कि चीन रूस दोनों साम्यवादी राष्ट्र हैं, किन्तु दोनों ही आज मैत्री-पथ से दूर है। दोनों देशों के मध्य सैद्धांतिक समानता होने के कारण प्रारम्भ में सम्बन्ध बड़े घनिष्ट थे, किन्तु सन् १९५६ के बाद दोनों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीय हितों में तनाव पैदा हो गया। सन् १९५४ में जब खु्श्चेव और अन्य सोवियत नेता चीन गये तो संयुक्त विज्ञप्ति में सोवियत संघ ने चीन को एक स्वतन्त्र और समान दर्जे का राज्य स्वीकार किया और यह माना गया कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध समानता, पारस्परिक लाभ, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं

भौमि कग्रखण्डता के पारस्परिक ग्रादर के सिद्धांत पर ग्राधारित हैं। किन्तु दोनों देशों की मित्रता अधिक समय तक न रह सकी और चीन ने सोवियत रूस के राजनैतिक व्यवहार, विचारधारा तथा अन्य नीतियों का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विरोध करना आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही दोनों देशों के बीच कटुता की एक गहरी खाई बन गई। मिल्टन कोवनर (*Milton Kovner*) के शब्दों मे "एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और संघर्ष चिंगारियां, जो अब तक मैत्री एवं सद्भावना के झूठे ग्रावरण से ग्राच्छादित थीं, पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठी जिनके शांत होने की सम्भावना निकट भविष्य में दिखाई नहीं देती।"[1] इन दोनों देशों के संघर्ष के सम्बन्ध में विचारकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोग इसे कृत्रिम तथा पश्चिमी राष्ट्रों को भुलावे में डालनेवाला मानते हैं तो कुछ लोग इसे सैद्धान्तिक मतभेद न मानकर राजनीतिक शक्ति का प्रतीक बताते हैं। दूसरे विचारकों का मत है कि इस संघर्ष का कारण मुख्यत: दोनों देशों का आर्थिक और सामाजिक विकास तथा विश्व राजनीति में दोनों देशों का स्थान है। रॉबर्ट ए. स्केलपिनो (*Robert A. Scalpino*) के मतानुसार यह संघर्ष तीन कारणों का परिणाम है—(*i*) संगठन, निर्णय प्रणाली एव साम्यवादी गुट का नेतृत्व, (*ii*) क्रांतिकारी तरीके एव २०वीं शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति, (*iii*) अन्त-गुंट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप।[2]

सोवियत रूस का विचार है कि २०वीं शताब्दी के मध्य से विश्व-राजनीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आरम्भ हो गये हैं, जैसे साम्यवाद को प्रजातन्त्रात्मक तरीकों से लाने का प्रयास किया जा रहा है। रूस में यह विचार पनप रहा है कि भिन्न विचारधारा, भिन्न राजनैतिक-प्रणाली तथा भिन्न सामाजिक और आर्थिक ढांचा होते हुए भी वह दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकता है। किन्तु साम्यवादी चीन रूस की इन बदलती हुई नीतियों की निन्दा करता है और उसकी उदारता एवं सहिष्णुता को कायरता का नाम देता है तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति गद्दारी मानता है। चीन का कहना है कि रूस ने १९५६ में स्टॉलिन की नीति की जो खुली आलोचना की वह गलत थी। साम्यवादी चीन परम्परागत एवं पुराने साम्यवादी तरीकों में विश्वास करता है और आंदोलन को सफल बनाने के लिए संघर्ष की निरन्तरता पर जोर देता है। राष्ट्रवाद की भावनासे प्रभावित चीन अपने ऊपर रूस के किसी भी प्रकार के प्रभुत्व को मानने को तैयार नहीं है। स्केलपिनो का कहना है कि "इन दोनों देशों के बीच जो संघर्ष है उसका मूल कारण यह है कि साम्यवादी विश्व तो बहुलवादी है किन्तु साम्यवादी

---

1. "Like a long Smouldering Valcano now active, now quiescent, the Sino-Soviet dispute has erupted a new with unprecedented intensity and the dust has not yet settled."
—*Milton Kovner* : Sino-Soviet Dialogue in Current History, Sept , 1963, P. 120
2. "The Sino-Soviet Conflict in Perspective." The Annals, Jan., 1964, P. 1

विचारधारा एकाग्र प्रकृति की है तथा इन दोनों के बीच विरोधाभास है।"[1]

अन्त मे यह कहना उपयुक्त होगा कि वर्तमान काल मे रूस एव चीन की साम्यवादी विचारधारा मार्क्स के सिद्धान्तो के दो विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करती है। इनमे से किसी एक को मार्क्सवाद के अधिक निकट नही कहा जा सकता क्योकि मार्क्स की विचारधारा मे दोनों को ही महत्व प्राप्त है। तात्विक दृष्टि से यह सच है कि सशोधनवादियो ने मार्क्स का सही रूप मे अनुसरण नही किया। कारण स्पष्ट है और वह यह कि यदि स्वय मार्क्स भी इन नवीन परिस्थितियो म लिखता तो शायद इन भिन्न और सशोधित सिद्धान्तो को स्वीकार करने मे उसे कोई आपत्ति नही होती।

साम्यवादी सिद्धान्त
(The Theory of Communism)

मार्क्स की विचारधारा ने अनेक विचारको को प्रभावित किया। उनमे लेनिन और स्टालिन सर्वाधिक प्रभावित हुए और उन्होंने मार्क्स के विचारो को विकसित किया तथा परिस्थितियो के अनुरूप ढालकर मार्क्सवाद को एक सजीव दर्शन बनाये रखा। लेनिन और स्टालिन ने मार्क्स के जिस राजनीतिक सिद्धान्त को विकसित एव कार्यान्वित किया, उसे ही सामान्यतया साम्यवाद (*Communism*) कहकर पुकारा जाता है। इस साम्यवाद को रूस, केन्द्रीय यूरोप के देशो, जिन्हे स्टालिन के शब्दो मे 'समाजवादी घेरे' (*Socialistic Encirclement*) में लाया जा चुका है, और साम्यवादी चीन के आर्थिक और राजनैतिक ढाचों मे मूर्तरूप दिया गया है। इसके पहले कि साम्यवादी सिद्धान्त की प्रमुख बातो को उल्लिखित किया जाय, सर्वप्रथम 'साम्यवाद और साम्यवादी' इन शब्दो के सुनिश्चित अर्थ को समझ लेना चाहिये ताकि कोई गलत फहमी उत्पन्न न हो सके। लेनिनवाद की विवेचना करते समय यह बताया गया है कि समाजवादी क्रांति की दो अवस्थाए हैं—एक तो समाजवादी और दूसरी साम्यवादी। समाजवादी अवस्था रूस मे आ चुकी है। इस अवस्था मे व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर उत्पादन के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो जाता है अर्थात् उद्योगो का समाजीकरण कर दिया जाता है। वर्ग भेद समाप्त हो जाता है और समाज सगठन का नियम होता है 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार और प्रत्येक को उसके कार्यानुसार।" इस तरह इस अवस्था मे राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण मे असमानता विद्यमान रहती है। रूस मे न्यूनतम वेतन प्राप्त श्रमिक और उच्चतम वेतन प्राप्त अधिकारी की आय म अन्तर इसका उदाहरण है। दूसरी अर्थात् पूर्ण साम्यवादी अवस्था मे राज्य का विलोप हो जायगा, धन के वितरण म अधिकतम समानता होगी और समाज सगठन का नियम होगा "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार और प्रत्येक को उसकी आव-

---

1. "The underlying cause of the Sino Soviet Conflict is the [illegible] the Communist World [illegible]

श्यकतानुसार ।" यह दूसरी अवस्था आज तक आयी नहीं है। यह काल्पनिक है। यह वह स्वप्निल अवस्था है जिसे प्राप्त करना साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य है। स्पष्टता के लिये, वर्तमान रूस की व्यवस्था अभी समाजवादी स्तर पर है अर्थात् पहली अवस्था में है, न कि साम्यवादी स्तर पर अर्थात् दूसरी अवस्था में। स्मरणीय है कि १९३६ के स्टालिन संविधान को 'सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ' कहा गया है।

समाजवादी क्रांति की उपरोक्त दोनों अवस्थाओं को समझ लेने पर यह स्पष्ट है कि जब 'साम्यवादी रूस' या 'साम्यवादी चीन' की बात की जाती है तो 'साम्यवादी' शब्द का प्रयोग उसके पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया जाता। इसी भांति दोनों देशों के दल भी पारिभाषिक अर्थ की सीमा में समाजवादी दल कहे जा सकते हैं, साम्यवादी दल नहीं। किन्तु फिर भी 'साम्यवादी' विशेषण का प्रयोग क्यों होता है? 'साम्यवादी' शब्द के प्रयोग करने का औचित्य यह है कि यह शब्द उस अन्तिम लक्ष्य एवं आदर्श समाज की ओर संकेत करता है जिसकी उपलब्धि के लिये मार्क्स और लेनिन के अनुयायी प्रयत्नशील हैं। 'साम्यवादी' विशेषण का प्रयोग वर्तमान सफलता के संदर्भ में नहीं किया जाता। अत. भावी लक्ष्य प्राप्ति की दृष्टि से 'साम्य-वाद' विशेषण ही उपयुक्त है न कि 'समाजवाद'। 'समाजवादी' अवस्था तो 'साम्यवादी' अवस्था की दिशा में प्रथम पग है। मार्क्स और लेनिन के अनुयायियों के लिये 'साम्यवादी' और उनके दर्शन के लिये 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग एक अन्य दृष्टि से भी औचित्यपूर्ण है। 'समाजवादी' शब्द को अन्य दलों ने अपना लिया है और उसका अर्थ 'साम्यवादी' शब्द से सर्वथा भिन्न होगया है। 'समाजवादी' शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिये होता है जिनका उद्देश्य शांतिमय संवैधानिक साधनों से समाजवाद की स्थापना करना हो। इसके विपरीत, संवैधानिक साधनों की अवहेलना करने वाले और श्रमजीवी अधिनायकवाद में विश्वास रखनेवाले साम्यवादी कहलाते हैं। 'साम्यवाद' शब्द आज जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उससे अन्तिम आदर्श अर्थात् साध्य का इतना बोध नहीं होता जितना कि उन साधनों का जिनके द्वारा उसकी प्राप्ति होनी है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि "साम्यवादी विचारधारा के आधुनिक रूप की आधारशिला मार्क्स के विचार हैं, यद्यपि उसके संशोधन व परिवर्द्धन में लेनिन और स्टालिन ने भी योग दिया है। इस तरह मार्क्स, लेनिन व स्टालिन के विचारों के समन्वय से साम्यवाद का जो रूप बनता है, उसे हम समाजवाद का एक ऐसा क्रांतिकारी तथा उग्र रूप कह सकते हैं, जिसका उद्देश्य एक ऐसे वर्गरहित व राज्यरहित समाज की स्थापना करना है जिसकी व्यवस्था का आधार शक्ति और सार्वजनिक दृष्टि से निर्बलों का शोषण न होकर नव-निर्मित समाज के लोगों का पारस्परिक सहयोग व सबके हितों का उचित संरक्षण हो जिसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व व वितरण की व्यवस्था का सार्वजनिक नियंत्रण हो तथा जिसमें सब अपनी योग्यतानुसार काम करें और सब आवश्यकतानुसार पा सकें। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये साम्यवाद उग्र व हिंसात्मक उपायों का

सहारा लेने का समर्थन करता है क्योंकि बिना ऐसे उपायों के प्रयोग के पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना व नवीन साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना यह सम्भव नहीं मानता।" स्पष्ट है कि साम्यवाद, फेबियनवाद, राज्य-समाजवाद, श्रम संघवाद या श्रेणी समाजवाद आदि सबसे सर्वथा भिन्न है।

साम्यवाद के सिद्धान्त—साम्यवाद पर मार्क्स, लेनिन और स्टालिन की विचारधारा के अध्ययन द्वारा पहले ही पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है, अत इसके प्रमुख सिद्धान्तों को नीचे संक्षेप में ही (और आवश्यकतानुसार विस्तार से भी) प्रकट किया जाता है—

(१) साम्यवाद पूंजीवादी व्यवस्था पर मार्क्सवाद की भांति ही घोर आक्रमण करते हुए उस दारुण स्थिति का भयावह चित्रांकन करता है जो पूंजीपतियों ने श्रमिक वर्ग का निर्मम शोषण करके उत्पन्न कर दी है। साम्यवादी उस शारीरिक और मानसिक हानि पर बल देते हैं जो पूंजीवाद ने अपने शोषण द्वारा मानव जाति को पहुंचाई है। मार्क्स के समान ही पूंजीवाद पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में भयंकर विषमताओं को उत्पन्न करने का लांछन लगाते हुए साम्यवादी यह एक और प्रबल आलोचना करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में शक्ति का असमान वितरण होता है जो कि सबसे बड़ी बुराई है। साम्यवादियों का उद्देश्य एक ऐसी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें जनता को पद और अवसर की समानता प्राप्त हो सके।

(२) साम्यवादियों का मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की आर्थिक व्याख्या और उसके द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास है। वे यह मानते हैं कि उत्पादन, वितरण और उपभोग की पद्धति समाज की राजनीति तथा संस्कृति को निर्धारित करती है, अत उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय सामाजिक स्वामित्व होना चाहिए। उद्योगों का सामाजीकरण और कृषि का सामूहीकरण साम्यवादियों की नीति और कार्यक्रम के आधारभूत अंग हैं। वर्ग संघर्ष को सामाजिक विकास का एक आधारभूत तथ्य मानते हुए वे इसी के आधार पर क्रान्ति और उसके बाद वर्गविहीन समाज की स्थापना में विश्वास करते हैं। वर्ग-संघर्ष साम्यवादी दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

(३) साम्यवादी पूंजीवाद से समाजवाद पर आवर्तन के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का आश्रय लेने में विश्वास रखते हैं। उनकी धारणा है कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को शान्तिमय एवं वैधानिक साधनों द्वारा नहीं बदला जा सकता। साम्यवाद का स्वभाव और पद्धति सबसे अधिक स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी है। स्टालिन ने कहा था कि लेनिनवाद सामान्य रूप से श्रमिकों की क्रान्ति का सिद्धान्त और प्रणाली है तथा विशेष रूप से श्रमजीवी अधिनायकवाद का सिद्धान्त व पद्धति है। साम्यवादी कार्यक्रम में समाजवादी विचार और भावनाओं के प्रसार तथा वर्तमान व्यवस्था के नैतिक एवं व्यावहारिक आधारों को निर्बल करने के लिए षडयन्त्र, कपट प्रबन्ध तथा अव्यवस्था फैलाने के लिये उत्तेजना का अधिक महत्व है।

साम्यवादी यह भी दावा करते हैं कि चूंकि वे अवस्थाएं जो किसी समाजवादी क्रान्ति की सफलता के लिये आवश्यक हैं विश्वव्यापी है,अतः क्रान्ति यथासम्भव विश्वव्यापी पैमाने पर ही की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में स्टालिन ने जो दृष्टिकोण अपनाया था और वर्तमान साम्यवादी नेताओं का जो दृष्टिकोण है, उसे पहले भलीभांति बताया जा चुका है। हां, यह उल्लेखनीय है कि तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् (*The Third World Congress of Communist International, 1921*) के प्रस्तावों में विश्व क्रान्ति की तैयारी के ये प्रकार बतलाये गये थे—"साम्यवादी दल चुनाव-आन्दोलन करें (जिन देशों में उन्हें खुले रूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता न हो, वहां वे गुप्त रूप में कार्य करें), वे एक साम्यवादी प्रेस खोलें और समाचार पत्रों, ग्रन्थों, पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं एव विज्ञापनों का वितरण करें. वे साम्यवादी स्वाध्याय-मण्डलों, पर्वों एवं विशेष उत्सवों का आयोजन करें, साम्यवादी मजदूर संघों का संगठन किया जाय, हड़तालों मे उग्र भाग लिया जाय, विविध देशों में जो नियमित सैनिक कार्यवाहियां होती रहती हैं, उनका साम्यवादी उद्देश्य से उपयोग किया जाय। इस अन्तिम साधन का प्रयोग करते समय साम्यवादियों को सैनिक–विरोधी शान्तिवादी ढंग के आन्दोलनों से पृथक रहना चाहिये, क्योंकि साम्यवादी अनिरोधीवादी (शान्तिवादी) नहीं हैं। उन्हें वर्तमान 'सेवाओं, रायफल क्लबों, तथा नागरिक रक्षक दलों का उपयोग मजदूरों को भावी क्रान्तिकारी सघर्षों के लिये फौजी शिक्षण देने के लिए करना चाहिये।' साधारणतया प्रत्येक देश में सगठनकर्त्ताओं को अपने दल के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता को भविष्य की क्रान्तिकारी सेना का एक भावी सैनिक समझना चाहिए।"

(४) साम्यवादियों के अनुसार शक्ति अथवा बल सरकार का मुख्य अस्त्र है। राजनैतिक सर्वोच्चता तथा शासन सचालन को तलवार के बल पर कायम रखने में उनकी आस्था है। इस बात में मार्क्सवाद और साम्यवाद में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। "पुराने मार्क्सवादियों का स्पष्ट विचार था कि किसी भी मजदूर सरकार को प्रति-क्रान्तियों या विद्रोह का, जो किसी भी सामाजिक क्रान्ति के बाद निश्चित रूप मे होगे दमन करने और आवश्यकता पड़ने पर इसके लिए सैन्य-बल का प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिये किन्तु उन्होंने समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शान्तिमय साधारण-काल में फौजी-कानून, गुप्तचर-व्यवस्था तथा नियम-विरुद्ध न्याय की संक्षिप्त व्यवस्था को शासन के सामान्य ढंग के रूप में कभी नहीं माना। इसीलिए पश्चिमी समाजवादी लोग साम्यवादी सरकार के केवल अप्रजातान्त्रिक ढांचे की ही आलोचना नहीं करते वरन् उनके स्वेच्छाचारी और दमनकारी शासन, भाषण-स्वातान्त्र्य के दमन, असाम्यवादियों के कठोर दण्ड, और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के अवांछित एवं दुस्सह नियन्त्रण की भी निन्दा करते हैं।'[1] आलोचक यह मानते हैं कि यह केन्द्रीभूत स्वेच्छाचारी शासन रूस को विदेशी सत्ताओं के आधिपत्य, अधःपतन और छिन्न-भिन्न हो जाने हो से बचाने के लिए आरम्भ में आवश्यक था, लेकिन जब रूस पर होनेवाले

---

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० १०५

आक्रमण का निवारण हो गया गृह युद्ध समाप्त हो गया तब भी "*बिना* जनता के समर्थन के तलवार के बल पर शासन" की नीति पर चलना अवश्य ही अनुचित है। इस नीति का अनुसरण करने से एक शासन अल्पमत द्वारा जनता *की शोषण की प्रणाली अवश्य पुनर्जीवित* हो जायेगी और शासक-अल्पमत मे ऐसी भावना पैदा हो जायगी जो वास्तव मे सच्ची सर्वहारावर्गीय चेतना से भिन्न होगी। आलोचकों के ये विचार एक बड़ी सीमा तक हमें रूस के स्टालिनकालीन शासन की याद दिलाते हैं।

(५) पूंजीवाद के सम्पूर्ण विनाश के लिए और समाजवाद की *अन्तिम विजय के लिए साम्यवादी बल* एवं हिंसा के प्रयोग को अनिवार्य मानते हैं। उन्होने शासन के साधन के रूप मे बल प्रयोग की एक व्यापक कल्पना भी संसार के सामने रखी है। उनका सिद्धान्त यह है कि बल प्रयोग सब प्रकार के राजनैतिक शासन का विशिष्ट लक्षण है और किसी भी अवस्था मे राज्य मे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नही हो सकता। वे अपने पक्ष मे एन्जिल्स के इस कथन का हवाला देते हैं कि, "*जब स्वतन्त्रता* के बाद करना सम्भव हो जाता है तब *राज्य* का अन्त हो जाता है।" *ट्राटस्की ने लिखा था कि, मजदूर वर्ग के राज्य ने जिस प्रकार कठिन सक्रमण काल मे कठोर शासन किया है, वैसा सेना के सिवाय और किसी ने कभी* नहीं किया। राज्य अपने विनाश मे पर्व अत्यन्त निर्दयी रूप ग्रहण कर लेता है और प्रत्येक दिशा मे नागरिकों के जीवन को घेर लेता है।"

साम्यवादियो के उद्देश्य, जिनका लेनिन, ट्राटस्की, बुखारिन तथा स्टालिन की पुस्तको मे उल्लेख है, तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की कांग्रेस के *विविध प्रस्तावो, प्रबन्धों एवं नियमो मे मिलते हैं। निम्नलिखित परिच्छेद मे* साम्यवादी कार्यक्रम का सारांश है।

"पूंजीवाद पर समाजवाद की विजय साम्यवाद" की ओर पहले कदम के रूप मे सर्वहारा–वर्ग से, जो वास्तव मे एकमात्र क्रान्तिवादी वर्ग है, तीन कार्यों की पूर्ति की आशा करती है—

"*पहला कार्य है शोषकों, मुख्यकर उनके प्रमुख राजनीतिक और* आर्थिक प्रतिनिधि पूंजीपतियो का पतन करना, उन्हे पूर्णरूप से पराजित करना, उनके प्रतिरोध का दमन करना और उनकी स्थिति ऐसी बना देना *कि वे पुन पूंजीवाद तथा श्रम वेतन की फिर से स्थापना न कर सकें।*

"दूसरा कार्य है समूचे सर्वहारा वर्ग या उसके विशाल बहुमत मे ही नहीं वरन समस्त श्रमिकों और पूंजी द्वारा शोषितों मे जीवन फूंकना और उन्हे सर्वहारा–वर्ग के क्रान्तिकारी अग्र–रक्षक–अपने साम्यवादी दल (*Communist Party*) के कदमों पर चलाना, उन्हें शिक्षण देना और सगठित करना तथा शोषकों के विरुद्ध होनेवाले निर्दय युद्ध मे उन्हें अनुशा-*सन मे रखना;* समस्त पूंजीवादी देशों मे जनता के इस बहुसंख्यक भाग मजदूरों) को पूंजीपतियों के आश्रय से मुक्त करना, व्यावहारिक अनुभव द्वारा उनमें सर्वहारा *के महत्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में तथा उनके क्रान्तिवादी* अग्र–रक्षक, साम्यवादी दल मे विश्वास उत्पन्न करना।

'तीसरा कार्य है पूंजीपतियों तथा सर्वहारा–वर्ग और पूंजीपति

प्रजातन्त्र तथा सोवियत सत्ता के बीच जो अवश्यम्भावी अस्थिर परिवर्तन होंगे, उन्हें इस वर्ग के लिए हानि-रहित कर देना जो सभी उन्नत देशों में संख्या में काफी बड़ा है, यद्यपि समस्त जनता का यह अल्पमत ही होता है और जिसमें छोटे-छोटे व्यवसायी, छोटे उद्योगपति, जमींदार और उसी स्तर के बुद्धिजीवी नौकरी करनेवाले आदि सम्मिलित हैं।"[1]

"सभी देशों के मजदूर-वर्ग तथा साम्यवादी दल शान्त आन्दोलन तथा संगठन के लिये तैयारियां नहीं करते हैं, वरन पूंजीवाद के विरुद्ध उस दीर्घकालीन संघर्ष के लिए प्रयत्नवान हैं जिसके लिये पूंजीपति उन्हें मजबूर करेंगे ताकि वे सर्वहारा पर पूंजीवादी नीति के बोझ को पुनः लाद सकें। इस संघर्ष में साम्यवादी दलों को उच्चकोटि के सैनिक अनुशासन का पालन करना चाहिए। दलीय नेताओं को बड़े ध्यान के साथ और शान्तचित्त से संघर्ष से प्राप्त सभी शिक्षाओं पर विचार करना चाहिए। उन्हें बड़ी चतुरता के साथ युद्ध-भूमि का निरीक्षण करना चाहिए और उत्साह के साथ साथ बड़े विचार से काम लेना चाहिए। उन्हें अपनी सामरिक योजना तथा व्यूह रचना समस्त दल के साथ विचार-विनिमय के बाद नियत करनी चाहिए जिसमें दल के सभी साथियों की आलोचनाओं पर पूर्ण रीति से विचार हो। किन्तु सभी दलीय संस्थाओं को दल द्वारा निश्चित कार्यक्रम पर बिना किसी शंका के अमल करना चाहिए। प्रत्येक दलीय संस्था का प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्य इस उद्देश्य के अधीन होना चाहिए। साम्यवादी दल के पार्लियामेंट में सम्मिलित प्रतिनिधियों, दल के समाचार पत्रों और दलीय संस्थाओं को दल के नेताओं के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।"[2]

(६) साम्यवाद एक धर्म विरोधी दर्शन है जो समस्त धर्मों को नष्ट करने के पक्ष मे है। मार्क्स की इस धारणा मे साम्यवादियो को पूर्ण विश्वास है कि शोषक वर्ग ने सदैव अपनी सामन्तशाही को जीवित रखने के लिये धर्म का आश्रय लिया है और धर्म पर अन्धविश्वास करनेवाली जनता ने भाग्यवाद के नाम पर सारे अनाचारों और शोषणों को सहन किया है। साम्यवादी दर्शन में धर्म इतिहास और सभ्यता के नैसर्गिक विकास मे बाधक और मार्क्स के शब्दों में, "धर्म जनता की अफीम है" जिसे खाकर जनता ऊंघती रहती है।" साम्यवादी धर्म को अपने कार्यक्रम की पूर्ति के मार्ग में रोड़ा समझते हुए न केवल अपने लिये समस्त धर्मों का परित्याग करते है बल्कि दूसरों के धार्मिक विश्वासों को भी नष्ट कर देना चाहते हैं। साम्यवादी दल के सदस्य नास्तिकता का प्रण लिये हुए होते हैं। साम्यवादियों के लिये धार्मिक महन्त और पादरी आदि एक भार वर्ग (*Parasite class*) है जो दूसरों के श्रम पर जीता है। इसीलिये सोवियत विधान में इन लोगों को मताधिकार से वंचित रखा

---

1. Theses and Statues of the Third (Communist) International adopted by the Second Congress. —Quoted from *Coker*
2. Theses and Resolutions Adopted at the Third World Congress of the Communist International....1921, P. 198. —Quoted from *Coker*

है। "यह सत्य है कि कानून मताधिकार के लिये नास्तिकता को आवश्यक योग्यता नही मानता और न किसी धर्म के पालन करने पर प्रतिबन्ध लगाता है। जब पादरियों पर मुकद्दमे चलाये गये हैं तब उन पर यह दोषारोपण नहीं किया गया कि वे पाखंडी थे, वरन् यह दोष लगाया गया था कि उन्होंने अपने धार्मिक पद का उपयोग राजद्रोह भडकाने तथा कानून की अवज्ञा की उत्तेजना देने मे किया था।"[1] सोवियत रूस ने धार्मिक संस्थाओं को कायम अवश्य रहने दिया है और २५ फरवरी १९४७ को स्वीकृत अपने संशोधित विधान की धारा १२४ में यह व्यवस्था की है कि नागरिकों को धार्मिक (अन्तःकरण की) स्वतन्त्रता (*Freedom of conscience*) देने हेतु धर्म (*Church*) को राज्य तथा शिक्षा संस्थाओं से पृथक कर दिया गया है। नागरिकों को धार्मिक कृत्य करने की स्वतन्त्रता है और उन्हे धर्म विरोधी प्रचार की भी स्वतन्त्रता है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से यह केवल एक दिखावा मात्र है। रूसी साम्यवाद पूर्णत धर्म विरोधी है। सरकार धार्मिक संस्थाओं को नागरिक और जन सेवा सम्बन्धी कार्यों मे भाग नहीं लेने देती।

कुछ आलोचकों का कहना है कि रूसी साम्यवाद धर्म विरोधी कार्यों और विचारों के होते हुए भी अपनी वर्तमान मनोदशा में धार्मिक होगया है। रूस में लेनिन को जनता और सरकार की ओर से 'देवता तुल्य' माना जाता है उसकी समाधि के दर्शन के लिए प्रतिदिन सैंकडो दर्शनार्थी जाते हैं उसकी मूर्तियां सार्वजनिक स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। साम्यवादियों की धार्मिक मनोदशा केवल 'लेनिन पूजा' में ही अभिव्यक्त नहीं होती। यह उस उत्साह में भी प्रकट होती है जिसके साथ सोवियत जनता 'ऐसे दूरस्थ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करती है, जिनका उसके स्वार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है।' प्रो० *Laski* का कहना है कि एक दल के रूप में साम्यवादियों की तुलना जेसुइट समाज (*Society of Zesus*) से की जा सकती है। दोनों मे एक ही प्रकार के कठोर मत है और एक जैसी ही असीमित विश्वासयुक्त भावना है। एक जेसुइट के समान साम्यवादी का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, वह अपने को एक महान् विचार का सेवक मानता है। एक जेसुइट के समान ही साम्यवादी को भी यह विश्वास है कि वह एक ऐसे उद्देश्य के लिए कार्य कर रहा है जिसकी अन्त में विजय निश्चित है। इसी आश्वासन के कारण कि सत्य उनके ही पक्ष में है (और उनके साथ भविष्य भी)। साम्यवादी अपने विरोध और अपनी आलोचना के प्रति बडे असहिष्णु हैं। इतिहास मे समस्त महान् आध्यात्मिक धर्म भक्तों की भांति वे अपने विचारों से सहमत न होने को पाप के बराबर समझते है।"[2] इस विषय में प्रो० कोकर का कहना है कि—

यदि हम दूरस्थ लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यन्त दुराग्रही लगन तथा आत्म बलिदान को धार्मिकता का रूप न दें तो साम्यवादियों के ये मनोभाव और उनकी ये प्रवृतियां उनकी नास्तिकता से असंगत नहीं हैं। वे सदैव ऐसे गौरव के लिये काम करते हैं जो इस जगत् में ही प्राप्त हो सकता है और ऐसा

---

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ १८८

2 *H J Laski* Communism, P 51 52

करने में वे कसी पारलौकिक दया या सहायता पर निर्भर नहीं है, और न उन्हें अपने प्रयत्नों पर कसी पारलौकिक निर्णय का भय ही है। अलौकिकता की इस पूर्ण अस्वीकृति के कारण ही साम्यवादियों को धर्म-विरोधी कहा जा सकता है।'[1]

(७) साम्यवादी जिस ऐहिक गौरव को प्राप्त करना चाहते हैं वह केवल भौतिक गौरवों तक ही सीमित नहीं है। जितनी दिलचस्पी वे आर्थिक संगठन में लेते हैं, उतनी ही उनकी दिलचस्पी नागरिकों के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जीवन में है। वे बाल्यकाल से ही लोगों के मस्तिष्क में साम्यवादी विचार ठूसकर भरने और उनके हृदय में साम्यवादी सिद्धान्त तथा व्यवहार के प्रति आस्था उत्पन्न करने को सचेष्ट रहते हैं। साम्यवादी देशों के शासनकर्त्ता लोक शिक्षा के सुधार एवं प्रसार के साथ-साथ विज्ञान, साहित्य, कला, संगीत नाटक आदि की भी अभिवृद्धि करने में संलग्न हैं। किन्तु उनका प्रयत्न यही रहता है कि किसी भी प्रकार का लेखन तथा पाठन साम्यवादी विचारधारा के के प्रतिकूल नहीं होना चाहिये। पुस्तकों और नाटकों का प्रयोग साम्यवादी समाज के आदर्शों और मनोभावों को प्रस्तुत करने के लिये होता है। संगीत एवं नाटकों द्वारा बालकों के लिये साम्यवादी व्यवस्था के अनुरूप भावात्मक तथा आदर्शात्मक वातावरण तैयार किया जाता है। लेकिन अब ये चिन्ह अवश्य दृष्टिगोचर होने लगे हैं कि साम्यवादी मानव व्यक्तित्व के सर्वतोन्मुखी विकास के लिये भी प्रयत्नशील हैं। वे सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की वृद्धि, उसमें आलोचनात्मक शक्ति के विकास, उसके आचरण और भाषण में शिष्टता का समावेश और उसके लिये उच्चकोटि के बौद्धिक तथा कलात्मक कार्यों के निमित्त भौतिक साधनों की उपलब्धि के सामान्य सांस्कृतिक उद्देश्यों की ओर भी उन्मुख होने लगे हैं। परन्तु साम्यवादियों के ये सब प्रयास एकदम उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द नहीं हैं। साम्यवादी कार्यक्रम में राजनैतिक तथा आर्थिक कार्यों का प्राधान्य बना हुआ है और स्वतंत्रता केवल उसी सीमा तक है जिस सीमा तक साम्यवाद के लोह कटघरे में उसका विचरण हो सकता है।

(८) साम्यवादी समाज की स्थापना के मार्ग का साम्यवादियों का अन्तिम कदम राज्य का लुप्त हो जाना है। साम्यवादियों का प्रतिपादन है कि सर्वहारा अधिनायकतंत्र के माध्यम से जो साम्यवादी समाज स्थापित होगा, वह एक पूर्ण स्वतंत्र समाज होगा तथा उसमें व्यक्ति के लिये किसी बाह्य बंधन में नियन्त्रण की आवश्यकता न होगी। ऐसी दशा में साम्यवादियों के मतानुसार बाह्य बंधन व नियन्त्रण के प्रति राज्य के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और वह स्वतः समाप्त हो जायगा जैसा कि एन्जिल्स ने कहा है, राज्य समाप्त नहीं किया जायगा, वरन् स्वयं समाप्त हो जायगा।

---

1. कोकर-आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ११०

14

अराजकतावाद

(ANARCHISM)

व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनों से कहीं अधिक उग्र एवं राज्य का अधिक विरोध करनेवाली विचारधारा अराजकतावाद है। जहां व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को केवल सुरक्षा तथा सुव्यवस्था तक सीमित करना चाहते हैं, वहा अराजकतावादियों की समस्या उसके कार्यों को सीमित करने की नहीं है, वल्कि उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने में है। जिस प्रकार साम्यवादियो का मुख्य शत्रु पूंजीपति है, उसी प्रकार अराजकतावादियों का प्रमुख शत्रु राज्य है। साम्यवादी जहां क्रान्ति के पश्चात् राज्य को सक्रमण काल के लिए सर्वहारावर्ग के अधिनायकतन्त्र के रूप में सुरक्षित रखना चाहते हैं वहा अराजकतावादियो की क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य राज्य का अन्त कर देना है। कोकर के कथनानुसार, "अराजकता का सिद्धात यह है कि राजनीतिकसत्ता, किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवाछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की सस्था का विरोध और सगठित धार्मिक सस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।"[1] वस्तुतः अराजकतावाद का दर्शन अधिकार-विरोधी (*Anti Authoritarian*) विचार-वर्गों में से है, जो सब प्रकार के राज्य, राजसत्ता, तथा राजनीतिक नियन्त्रणों का उपहास कर एक राज्यहीन समाज की कल्पना करता है। अराजकता शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द "अनारकिया" (*Anarchia*) से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'शासन का अभाव' (*Absence of Rule*)। अतः अराजकतावाद एक ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा है, जो राज्य तथा राजकीय शासन का उन्मूलन कर उसके स्थान पर एक राज्यहीन और वर्गहीन (*Stateless and Classless*) समाज का पुनर्गठन करना चाहती है। अराजकतावादी दर्शन के मत में सब प्रकार के राजनीतिक बल का प्रयोग, चाहे वह राजतन्त्र द्वारा प्रयुक्त किया जावे अथवा गणतन्त्र द्वारा, समान रूप से हानिकारक है। अतः राज्य एक दुर्गुण है जो समाज में सर्वथा अनावश्यक, अवाछनीय तथा अत्याचारितापूर्ण है। अराजकतावादी राज्यहीन समाज में राज्य के रिक्त स्थान को स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक सस्थाओं (*Voluntary Associations*) द्वारा भरना

---

1. कोकर-आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २०२

चाहते है, जिनके होने पर राज्य के दण्डधारी विभाग जैसे सेना, न्यायालय, कारागार आदि सब निरर्थक सिद्ध हो जायेंगे। प्रमुख अराजकतावादी प्रिंस क्रोपोटकिन (*Prince Kropotkin*) के शब्दो में, "अराजकतावाद जीवन तथा चरित्र सम्बन्धी एक वह सिद्धान्त अथवा दर्शन हैं, जिसके अन्तर्गत एक सरकारहीन समाज की व्यवस्था की गई है और उस समाज में सामन्जस्य स्थापित करने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता की आज्ञाकारिता की आवश्यकता नही है, बल्कि जिसमें साम्य जीवन की अनाश्वयकताओं और इच्छाओं की पूर्ति नाना प्रकार के प्रादेशिक तथा व्यावसायिक संघों के पारस्परिक समझौतों द्वारा सम्भव हो सकेगी।"[1] अराजकतावादियों में भी यद्यपि विभिन्न विचारधारायें है, परन्तु सभी अराजकतावादी एक बात से सहमत हैं, वह यह है कि राज्य नही होना चाहिए और इस कारण वे सभी प्रकार की सरकारों को अस्वीकार करते हैं। (*Negation of the state and rejection of all forms of Government*)। उनका विश्वास है कि स्वभाव से सभी मनुष्य नक और अच्छे होते है, किन्तु राज्य और उसकी संस्था उन्हें विकृत बनाती हैं।

अराजकतावादी परम्परा (Anarchist Tradition)—अराजकतावाद अपने आप में कोई नवीन विचारधारा नहीं है। यह एक बहुत प्राचीन वचारधारा है जिसके उत्थान में पौराणिक विश्वास और गाथाओं का हाथ भी पर्याप्त रहा है। अन्य अनेक राजनीतिक विचारधाराओं की भांति इसका प्रादुर्भाव भी ग्रीक दर्शन से माना गया है। स्टोइक प्रणाली के जन्मदाता जीनो (*Zeno*) ने एक राज्यहीन समाज का प्रतिपादन किया था जिसमें पूर्ण समानता और स्वतन्त्रता मानव स्वभाव की मूल सद्प्रवृतियो को पुनर्जाग्रत कर देंगी और सावभौमिक सामन्जस्य स्थापित कर देगी। हमारे देश के अनेक प्राचीन सत तथा विचारक मानवीय पूर्णता तथा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए राज्य को आवश्यक न मानकर एक बाधक मानते थे। चीनी दार्शनिक चॉगजू (*Chuang-Tzu*) ने ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व यह माना था कि यह मानव स्वभाव के प्रतिकूल है कि एक व्यक्ति अन्य बहुत से व्यक्तियो को अपने अधीन रखे। मध्ययुग के अनेक सम्प्रदाय यह मानते थे कि धर्म उपयुक्त और सुव्यवस्थित जीवन क लिए पर्याप्त गारन्टी है और जो व्यक्ति इसाई धर्म की पताका के नोचे एकत्रित हैं उन्हें उसी धर्म के अन्तर्गत रहने देना चाहिए और उन पर राज्य की ओर से कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। मध्ययुग मे स्पीनल तथा शैली के विचारों मे भी अराजकतावादी विचारो का परिचय प्राप्त होता है। सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दी में निरं–

---

1. "Anarchism is a theory of life and conduct under which society is conceived without government-harmony in such a society being obtained not by submission to law or by obedience to any authority by free agreements concluded between the various groups, territorial and professional, constituted for the satisfaction of the infinite needs and aspirations of a civilized being"

कुश और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के विरुद्ध वक्ताओं व भाषणों म भी अरा-जकतावादी विचार मिल जाते हैं। १८वीं शताब्दी व अन्त तक ऐसे साहित्य की कमी नहीं रही थी जिसम स्पष्ट रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन किया गया हो। इन साहित्यकारों ने दिदरा (*Diderot*) का नाम उल्लेखनीय है। इसके उपरान्त अराजकतावादी विचारों को विशेष प्रोत्साहन एडम स्मिथ, हर्बर्ट स्पेन्सर एवं अन्य भौतिक-वादी लेखको क राज्य विरोधी विचारो से मिला। आधुनिक युग मे अराजकता-वादी विचारो को बहुत कुछ प्रोत्साहन साम्यवादी विचारों से प्राप्त हुआ। अराजकतावादी विचारो का क्रमबद्ध रूप प्रदान करने का श्रेय विलियम गॉडविन (*W Godwin 1756–1836*) थॉमस हागस्किन (*Thomas Hodgskin, 1787–1869*), प्रूधो (*Proudhon, 1809–1865*), माइ-कल बकोनिन (*Michael Bakunin, 1814–1870*), टॉलस्टाय (*Tolstoy, 1828–1910*), प्रिंस क्रोपोटकिन (*Prince Kropotkin 1842–1921*) आदि को है। उन्होने अराजकतावादी सिद्धान्त को एक आधुनिक राजनीतिक विचारधारा का रूप दिया है। बर्टेण्ड रसल महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे म भी अराजकतावादी दार्शनिको का चिन्तन पाया जाता है।

अराजकतावादी सिद्धान्त (Anarchist Philosophy)—यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक अराजकतावाद म दो प्रमुख विचारधारायें हैं—व्यक्तिवादी (*Individualistic*), और साम्यवादी (*Communistic*)। दोनो ही प्रकार के विचारक राज्य क उन्मूलन म विश्वास करत हैं किन्तु सम्पत्ति के अधिकार और वितरण के बारे म उनम मतभेद है। जहां व्यक्तिवादी यह मानते है कि सम्पत्ति पर व्यक्तियो का अधिकार होना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम के अनुसार फल अथवा पारिश्रमिक मिलना चाहिये वहा साम्यवादी अराज-कतावादियो की मान्यता है कि सम्पत्ति पर ऐच्छिक सघों का अधिकार होना चाहिये और सदस्यो को जीवन की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति क लिये गारटी मिलनी चाहिय। व्यक्तिवादी अराजकतावादियो म जोशियावारन नैक्सटनर तथा बेंजामिनटकर प्रमुख हैं। साम्यवादी अराजकतावादियों में बेकुनिन एव क्रोपोटकिन के नाम विशेषत उल्लखनीय है। चूकि अराजकतावाद का कार्ल मार्क्स सरीखा कोई एक जनक नहीं है और इसे कतिपय विचारको ने अपनाया है जिनमे से प्रत्येक ने इसे अपने अपने ढग से व्यक्त किया है अत इसको समझने की सर्वोत्तम विधि यही है कि सबमे पहले इस दर्शन के आधारभूत विचारो का सक्षेप मे उल्लेख कर दिया जावे और तत्पश्चात् यह बतलाया जाये कि प्रत्येक प्रसिद्ध अराजकतावादी विचारक ने उसे किस प्रकार अपने अपने ढग से विकसित किया है।

अराजकतावादी दर्शन का आरम्भ वस्तुत वहा से होता है जहा साम्यवादी दशन समाप्त होता है। साम्यवादियों का मत है कि श्रमिको की तानाशाही अथवा सर्वाधिकारपूर्ण सरकार (*Dictatorship of Proletariate*) की स्थापना क पश्चात् राज्य अन्तर्ध्यान हो जायेगा (*Wither away*) और उसकी समाधि पर एक स्वतत्र तथा स्वाधीन समाज की स्थापना होगी। साम्यवादी विचार की इस अन्तिम सीमा से अपने दर्शन का आरम्भ करने वाल

अराजकतावादियों का उद्देश्य समाज में एक ऐसी व्यवस्था को उत्पन्न करना है जिसमें केवल राजकीय हस्तक्षेप ही नहीं वरन् सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सब प्रकार के शोषण का अन्त हो और व्यक्ति को अपने जीवन की सफलता के लिये अधिकाधिक अवसर मिले। अतः अराजकतावादी यह राज्य-हीन समाज, वर्गहीन, सत्ताहीन तथा धर्महीन होने के साथ-साथ सब प्रकार के पूंजीवादी बन्धनों से भी मुक्त होगा। अराजकतावादियों का यह आधारभूत विचार है कि "राज्य एक अनावश्यक तथा हानिकारक संस्था है जिसने सभ्यता तथा मानवता को अवनति एवं पतन की ओर अग्रसर किया है।" राज्य की कटुतम शब्दों में भर्त्सना करते हुए वे राज्य को अनावश्यक ही नहीं बल्कि अवांछनीय मानते हैं और कहते हैं कि आज के समाज में आज तक व्यक्तियों को अनेकों कष्ट पहुंचाने के बाद आज राज्य का केवल एक ही कर्तव्य बच रहता है और वह यही है कि 'वह अपने मृत्यु के आदेशपत्र पर अपने हस्ताक्षर करदें" (*The State should sign its own death warrant*)। ये मानते हैं कि राज्य का अस्तित्व निस्सार ही नहीं, बल्कि समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक है। राज्य द्वारा स्थापित तथा खोले गये, पुलिस, जेल, न्याय आदि विभाग निर्दोष और भोले-भाले व्यक्तियों को चरित्रहीन बनना सिखलाते हैं जिसके कारण समाज में दुर्गुणों की वृद्धि होती है। राज्य के अस्तित्व के कारण ही आज समाज में शोषण, अन्याय, असमानतायें और अत्याचार दिखाई देते हैं। इन सबको चिरस्थाई बनाकर समाज में शोक और पीड़ा आदि को जीवित रखने का उत्तरदायित्व राज्य पर ही है। अराजकतावादियों की दृढ धारणा है कि "प्रथम तो राज्य निरपराध व्यक्तियों को अपराधी बनाता है और फिर उसे अपराधी होने के अभियोग में दण्डित करता है।" राज्य बल अथवा शक्ति के माध्यम से कार्य करता है। राज्य के द्वारा बल-प्रयोग उन लोगों को भ्रष्टाचारी बना देता है जो उस बल का प्रयोग करते हैं तथा उन्हें अधोगति प्रदान करता है व मानवता से हीन-करता है, जिन पर बल का प्रयोग किया जाता है। राज्य सब नैतिक मूल्यों को नष्ट करता है। डिकिन्सन (*Lowes Dickenson*) के शब्दों में—

"वर्तमान सरकार का अर्थ अनिवार्यता, निषेध, विघ्न तथा पृथकता है, जबकि अराजकता का अर्थ स्वतन्त्रता एकता तथा प्रेम। सरकार का आधार डर तथा भय है तो अराजकता का आधार बंधुत्व की भावना है। इसका कारण यह है कि हम अपने आपको जातियों में इसलिये बांट देते हैं कि हम शस्त्रों की कठोरता अथवा अत्याचार को सहन कर सकें तथा हम व्यक्तियों के रूप में अपने आपको पृथक कर लेते है, जिससे हम कानून के संरक्षण को मांगे।"[1]

---

1. "Modern government means compulsion, exclusion, distraction, separation; while anarchy is freedom, union and love. Government is based on egoism and fear, anarchy on fraternity. It is because we divide ourselves into nations that we endure the oppression of armaments; because we isolate ourselves as individuals that we invoke the protection of laws."

—*Lowes Deckinson*

सुप्रसिद्ध अराजकतावादी क्रोपोटकिन के अनुसार, "उस अमुक घृणित मन्त्री को यदि सत्ता न मिली होती तो वह बहुत ही श्रेष्ठ व्यक्ति होता।"[1]

अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक दुर्गुण है, व्यर्थ का आडम्बर है और उसे एक आदर्श समाज में कोई स्थान नहीं मिल सकता। मानव सम्बन्धों में पूर्ण न्याय की स्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि विचार, सहानुभूति, प्रेम, त्याग आदि मानवीय गुणों को मनुष्य से दूर करनेवाले और मनुष्य के नैसर्गिक जीवन प्रवाह (*Spontaneous Flow of Life*) को बाधित कर विकासवादी नियम के साथ छेड़-छाड़ करनेवाली राज्य संस्था को समूल नष्ट कर दिया जाये और उसके स्थान पर एक स्वतन्त्र समाज का सगठन किया जाये। क्रोपोटकिन के मतानुसार अराजकतावाद "जीवन तथा आचार का एक ऐसा सिद्धान्त है जो एक राज्यहीन समाज की कल्पना करता है। ऐसे समाज में सामजस्य की स्थापना किसी कानून या शक्ति की आज्ञापालन के द्वारा नहीं, बल्कि उत्पादन, उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की अनन्त आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक बनाये हुये विभिन्न सगठनों में स्वतन्त्र समझौतों द्वारा होता है।" एक राज्यहीन समाज में सामजस्य की आशा अराजकतावादी इसलिये करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से ही बुरा नहीं है, वह अपने वातावरण से ही वैसा है। मनुष्य जन्म से एक सामाजिक तथा सहयोगी प्राणी है जो अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों के हित तथा समान लाभ पर पूरा-पूरा ध्यान रखता है। अराजकतावादियों की दृष्टि में हॉब्स का यह सिद्धान्त कि मनुष्य "केवल भूख और भय के वशीभूत होकर सारे कार्य करता है" तथा डार्विन का यह सिद्धान्त कि "व्यक्ति समाज में अपने अस्तित्व के लिये सघर्ष करता है तथा अपने से निर्बल तथा अशक्त प्राणियों को जीतकर उन पर शासन करता है", अमान्य है। इन सबके प्रतिकूल उनकी मान्यता है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्रता प्रेमी है तथा बैकुनिन के शब्दों में 'उसकी स्वतन्त्रता ही उसकी मनुष्यता का दर्पण है क्योंकि उसके समस्त मानवी अधिकार उसके भाई की चेतनामात्र ही तो है।"[2]

अराजकतावादी राज्य को एक ऐसी निरर्थक एव व्यर्थ की संस्था मानते हैं जिसके अस्तित्व के पीछे कोई भी विवेकपूर्ण उद्देश्य नहीं है। ऐसी कोई भी वस्तु अथवा कार्य नहीं है जिसे राज्य करता हो और जिसे उसके अस्तित्व के बिना न किया जा सकता हो। देश की सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण आदि कार्य, जो आज के युग में राज्य के द्वारा किये जाते हैं, स्वतन्त्र सघों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक सरलता

---

1. "This or that despicable minister might have been an excellent man, if power had not been given to him."
—*Kropotkin*

2. "Man's liberty is only the mirroring of his humanity, because all his human rights are the consciousness of his brother."
—*Bakunin*

और कुशलता से किये जा सकेंगे। राज्य आक्रमणकारियों के विरुद्ध देश की रक्षा के लिये सशस्त्र सेनायें रखता है लेकिन राज्य की सत्ता के अस्तित्वहीन हो जाने पर यह कार्य और भी अधिक प्रभावीरूप से किया जा सकता है। क्रोपोटकिन के अनुसार यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि "स्थानीय सेनायें उन आक्रमणकारियों के द्वारा सदैव पराजित की जाती हैं, जिन्हें ऐतिहासिक रूप से केवल स्वाभाविक जनक्रांतियों अथवा निरन्तर विद्रोहों के द्वारा ही पीछे हटाया जा सकता है।"[1] एक नागरिक सेना सुरक्षा के लिये राज्य के धन से नियुक्त सैनिकों की अपेक्षा बहुत अच्छा प्रभावशाली शस्त्र है। अराजकतावादियों ने आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था की दृष्टि से यह मत प्रस्तुत किया है कि परिस्थितियां मनुष्य को अपराधी बनाती हैं, इन परिस्थितियों को हर देश की सरकार उत्पन्न करती है, अत: यदि सरकार हीन होगी तो ऐसे अवसर भी नहीं आयेंगे जबकि व्यक्तियों के स्वार्थ परस्पर टकरायें और समाज की शांति भंग हो। सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्षेत्र में आज भी ऐच्छिक समूहों द्वारा किये गये कार्य राज्य कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। अभिप्राय यह है कि सभी दृष्टियों से अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक फालतू संस्था (*Super Fluous-Institution*) है जिसके बिना भी समाज उतना ही सुख, शान्ति एवं आनन्दमय जीवन बिता सकता है।

अराजकतावादियों का कहना है कि **राज्य के सम्बन्ध में की गई उनकी आलोचनायें केवल अनियंत्रित राजसत्ताओं तथा अल्पजनों से शासित राज्यों पर ही लागू नहीं होती अपितु प्रतिनिधि प्रजातन्त्रों (Representative Democracies) पर भी लागू होती हैं।** प्रो० जोड (*Joad*) के विचार में, "प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार, ऐसे व्यक्तियों की सरकार होती है जो प्रत्येक कार्य को खराब ढग से करने के लिये सबके विषय में थोडा-थोडा जानते हैं, किन्तु किसी भी कार्य को ठीक तरह से करने के लिये उन्हें किसी भी वस्तु का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता।"[2] अराजकतावादियों का कहना है कि ऐसी प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकारें नागरिकों का वास्तविक हित नहीं कर सकती। चुनाव और प्रतिनिधित्व के समस्त सिद्धान्त केवल ढकोमला हैं, यथार्थ में दूसरे व्यक्ति की तो क्या बात, एक व्यक्ति स्वयं तक का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

अराजकतावादी, साम्यवादियों की भांति ही **पूंजीवाद के घोर विरोधी** हैं और उसे आधुनिक जीवन की विषमता तथा दयनीयता का एकमात्र कारण मानते हैं। राज्य के विरुद्ध उनके तर्कों में एक प्रभावशाली तर्क यह भी है कि आर्थिक दृष्टि से राज्य एक अत्यन्त हानिकारक संस्था है जिसने व्यक्तिगत

---

1. "Standing armies are always beaten by invaders who have historically been repulsed only by spontaneous uprisings."
—*Kropotkin*

2. "Representative government is a government by men who know just enough about everything to enable them to do everything badly, and not enough about anything to enable them to do anything well."
—*Prof. Joad*

सम्पत्ति के गर्भ से जन्म लेकर व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही बढ़ावा दिया है, जो पूंजीवाद और शोषण का पक्ष लेता है और श्रमिकों के साथ अन्याय करता है। पूंजीवादी व्यवस्था पर अपना प्रहार करते हुए अधिकांश अराजकतावादी यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि पूंजीवाद तथा शोषण एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। साम्यवादियों की भांति वे भी श्रम को मूल्य का आधार मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में किसी वस्तु से जो लाभ होता है वह श्रमिकों को मिलना चाहिये तथा पूंजीपतियों द्वारा उसे हथिया लेना सरासर चोरी है। अराजकतावादियों की यह दृढ़ धारणा है कि पूंजीवाद के फलस्वरूप ही समाज शोषक और शोषित वर्ग में बट जाता है, अगणित मनुष्य शोषणचक्र में पिसा करते है तथा परिणामस्वरूप समाज का एकीकरण और संगठन सम्भव नहीं हो पाता। राज्य की सहायता से ही पूंजीवाद अपनी शोषण-प्रक्रिया जारी रखता है क्योंकि 'विधि-निर्माण सभी देशों में धनवालों के पक्ष में तथा निर्धनों के विपक्ष में होता है।"[1] राज्य की कानूनी व्यवस्था व्यक्तिगत सम्पत्ति को बनाये रखती है, और व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था की समाप्ति राज्य की समाप्ति में निहित है। क्रापोटकिन के शब्दों में "जीवन के प्रत्येक आर्थिक पक्ष का अपना राजनीतिक पक्ष भी होता है और वर्तमान आर्थिक जीवन के आधार पर व्यक्तिगत सम्पत्ति को उस समय तक छुआ भी नहीं जा सकता जब तक साथ ही राजनीतिक संगठन के आधारभूत ही न बदला जाय।"[2] यही कारण है कि अधिकांश अराजकतावादी राज्य और पूंजीवाद का अन्त करके सम्पत्ति का समाजीकरण करना चाहते है। इस विषय में ये विचारक साम्यवाद के पूर्णतः समीप है, अतः इन्हें साम्यवादी अराजकतावादी (*Communistic Anarchist*) कहा जाता है। व्यक्तिवादी अराजकतावादी (*Individualistic Anarchist*) किसी हद तक व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी पक्ष लेते है।

साम्यवादियों की भांति ही अराजकतावादियों के मत में भी धर्म सदैव से धनवानों के स्वार्थ-साधन का एक सहारा मात्र रहा है और धार्मिक पाखंडों के नाम पर ही धनिक सामान्य जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण करते रहे हैं। साम्यवादियों की तरह ही अराजकतावादी यह मानते हैं कि सत्ताधारी शासकों ने धर्म का प्रयोग हमेशा मादक अफीम की भांति किया है। बैकुनिन ने कहा है कि "सब निरंकुश शासन-प्रणालियों में खोखले सिद्धान्तवादों और धर्मान्धों का निरंकुश शासन सबसे अधिक खराब होता है। वह अपने ईश्वर के वैभव और अपने विचार की विजय में इतनी श्रद्धा रखते हैं कि उन्हें जीवधारी

1 "Legislation is in almost every country grossly in favour of the rich and against the poor."

—*Godwin*

2. [illegible]

—*Kropotkin*

वास्तविक मानव की स्वतंत्रता अथवा उसकी मान-मर्यादा, यहां तक कि उसके कष्ट और पीड़ा से भी कोई सहानुभूति नही होती।"[1] धर्म के नाम पर शासकों ने शासितों को संतोष तथा भाग्यवाद का भयंकर उपदेश देकर अत्याचारिता को शांतिपूर्वक सहन करने का पाठ सिखाया है। धर्म सदैव प्रतिक्रियावादी रहा है। सभ्यता के विकास में सदैव रोड़े अटकाने के कारण इसका इतिहास शासक एवं स्वार्थियों की चाटुकारिता करना अथवा उनके हित में जनता को विभ्रमित (*misguide*) करना रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अराजकतावाद, जो कि मनुष्य के निर्बाध उन्नति पर किसी भी प्रकार का बंधन लगाना हानिकारक समझता है, धार्मिक पाखंडों के विरुद्ध एक भीषण प्रतिक्रिया है।

जैसा कि सांकेतिक रूप में कहा जा चुका है, **अराजकतावाद संघों में संगठित एक विकेन्द्रीकृत समाज स्थापित करना चाहता है।** वह चाहता है कि राज्य के अन्तर्गत वर्तमान केन्द्रीकृत समाज के सर्वथा विपरीत अराजकतावादी समाज का निर्माण स्थानीय संस्था अथवा संघों के आधार पर हो जो पुनः विशालतर संस्थाओं में संयुक्त होकर एक देशव्यापी रूप धारण करें। इन संघों की व्यवस्था नीचे से आरम्भ हो ऊपर से नहीं। और यदि कभी कोई किसी प्रकार का झगडा या मतभेद भी हो जाये तो ये छोटे नीचे के संघ ही उसका मिलजुलकर निपटारा कर लें। स्पष्ट है कि "अराजकतावादी व्यवस्था में राज्य अथवा बल का अभाव होते हुए भी व्यवस्था का अभाव नही है।"[2] राज्य का स्थान स्वतंत्र ऐच्छिक संघ लेलेंगे जिनका गठन प्रादेशिक अथवा व्यावसायिक आधार पर होगा। ये संघ और संस्थायें भिन्न-भिन्न प्रकार तथा आकार की होंगी जिनका निर्माण भी पृथक-पृथक उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर किया जायगा। ये सब संस्थायें मिलकर समाज में एक संतुलन रखेंगी और अपने प्रभावों द्वारा समाज में नाना प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करेंगी। इसके कारण संतुलन होते हुए भी अराजकतावादी समाज एक स्थाई पूर्णता (*Static perfection*) न होकर एक प्रगतिशील विकास (*dynamic evolution*) होगा। समाज में पाये जानेवाले संघ किसी विशेषाधिकारी वर्ग (*privileged class*) का पक्ष न लेकर, आज के युग में राज्य द्वारा संचालित एवं नियंत्रित सारे कार्यों को आपस में बाँट लेंगे। इन संघों का विकास सरलता से जटिलता की ओर होगा और "छोटे से छोटा संघ, ही वह आधार होगा जिस पर सम्पूर्ण व्यवस्था आश्रित होगी।" जहां तक इन संघों में पारस्परिक झगड़ो को निबटाने का प्रश्न है, अराजकतावादी यह मानते है कि,

---

1. "Of all despotisms that of the doctrinaires inspired religionists is the worst. They are so jealous of the glory of their god and of the triumph of their idea that they have no heart left for liberty or the dignity or even the suffering of living men of real men."

—*Bakunin*

2. "Anarchism is the absence of force. It is not the absence of order."

—*Dickenson*

(१) व्यक्ति के उचित शिक्षा प्राप्त करने पर, (२) प्रतियोगिता के विरुद्ध हो जाने पर, तथा (३) ऐच्छिक सस्थाओं द्वारा जनकल्याण का कार्य किये जाने पर आपसी झगड़े जैसी किसी चीज की सभावना हो नहीं हो सकती। अराजकतावादी समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छानुकूल कार्य करने में स्वतत्र होगा और ऐच्छिक सघ उसे इन कार्यों को करने के लिये उपयुक्त तथा अनुकूल वातावरण बनायेंगे, अत दुराचारी राज्य की उपस्थिति में की जानेवाली यह आशका ही रहेगी। सक्षेप मे यह कहना होगा कि अराजकतावाद समाज को स्वतत्र सघों मे सगठित कर सघात्मक रूप देना चाहता है। प्रो० जोड (*Joad*) के शब्दो में यदि हम निष्पक्षता न देखें तो "अराजकतावाद प्रादेशिक तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण का सबसे प्रबल समर्थक तथा पोषक है।"[1]

अराजकतावादी विचारक
(Anarchist Thinkers)

विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756–1836)—विलियम गॉडविन, जो एक काल्विन-पथी पादरी का पुत्र था और स्वय पादरी था और कई उपन्यासों, नाटकों तथा बालकथाओं व सामाजिक सिद्धान्त के अनेक ग्रथों का लेखक था, सर्वप्रथम आधुनिक अराजकतावादी माना जाता है। उसने ही अराजकतावाद का सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादन किया। उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक ग्रथ '*An Enquiry Concerning Political Justice*' सन् १७९३ में प्रकाशित हुआ। गाडविन के दर्शन के आधार प्रमुखत दो विचार हैं—

(१) जब मनुष्य पैदा होते हैं तो वे न अच्छे और न बुरे ही होते हैं अथवा न सदाचारी और दुराचारी ही। इस दिशा में उन पर बाह्य परिस्थितियों और दशाओं का प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियाँ ही उन्हें अच्छे या बुरे साँचे में ढालती हैं। गॉडविन के इस विचार का महत्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है कि अपने दोषों अथवा अपनी बुराईयों के लिये उत्तरदायी व्यक्ति नहीं है बल्कि समाज है। अत समाज सुधार के द्वारा ही व्यक्ति का सुधार हो सकता है, वह उद्धार और पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। मनुष्य के वर्तमान सकट और उसकी पूर्णता के मार्ग में दो बुराईया उत्तरदायी हैं, और वे हैं—सरकार तथा सम्पत्ति। अत, मानव-कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि मानव हित की शत्रु इन दोनों बुराईयो अर्थात् सरकार व सम्पत्ति का उन्मूलन किया जाय।

(२) मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। उसमे बुद्धि तत्व मौजूद है। यदि वह किसी कार्य को विवेकपूर्ण समझ लेता है तो उसे करने के लिये उसको और अधिक समझाने-बुझाने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अपनी इस धारणा से गॉडविन यह परिणाम निकालता है कि मनुष्य अथवा वर्तमान

---

1. "Anarchism is first and foremost a plea for decentralization, both territorial and functional"

—*Prof Joad*

पतित समाज क्रांति और शक्ति के बजाय सार्वभौमिक ज्ञान से ही अपना उद्धार कर सकता है। यदि मनुष्य को पूर्ण विश्वास होजावे कि सरकार तथा सम्पत्ति अभिशाप है तो हिंसात्मक साधनों के बिना ही वह उनको नष्ट करदे। उसे इस बात की भी आवश्यकता न हो कि तलवार म्यान से निकाली जाये या अंगुली उठाई जाय।

गॉडविन सरकार को शक्ति और हिंसा से उत्पन्न बुराई मानता है, लेकिन समाज को उपयोगी समझता है। उसका कहना है कि सरकार हिंसा और शक्ति पर आधारित है, क्योंकि यह मनुष्य को अपने अधिकार की जंजीरों में जकड़ देती है। वह शासन को "मानव जाति के व्यक्तिगत निर्णय और व्यक्तिगत अन्तःकरण पर धावा" कहकर पुकारता है। शासन का मूल हमारी बुराईयों में है जबकि समाज का मूल हमारी आवश्यकताओं में। कानून, न्यायालय, शासन—ये सब हमारे पूर्वजों की तृष्णा, ईर्ष्या तथा महत्वाकांक्षाओं की उत्पत्ति है, अतः इनका अन्त कर देना चाहिये।

गॉडविन वह सर्वप्रथम अराजकतावादी विचारक था जिसने सबसे प्रथम राज-सत्ता के विरोध के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का भी विरोध किया। उसका विचार था कि 'साधारण मनुष्य न्यायपूर्वक तथा समुचित ढंग से उसी समय कार्य करते हैं जबकि आत्म-अभिव्यक्ति के लिये उनकी स्वाभाविक अकांक्षायें उन अनुचित आर्थिक अवस्थाओं द्वारा विकृत नहीं हो जाती जो राज्य के हिंसात्मक हस्तक्षेप से कायम रखी जाती हैं। किन्तु उसने यह भी स्वीकार किया कि यदि अभी सर्वाधिक स्वाभाविक एवं न्यायपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर दिये जायं, तो भी एक दीर्घकाल तक कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होंगे जिन पर नियंत्रण आवश्यक होगा। इस कारण दमनकारी शक्तिशाली राज्य के अवशेष उस समय तक कायम रहेंगे जब तक कि न्यायशील तथा प्रबुद्ध शासन के प्रयत्नों से इन अभागे अल्पमत की विकृत प्रवृतियों की अभिव्यक्ति सामान्य ढंग से नहीं होने लगती। इस प्रकार गॉडविन का सिद्धान्त पूर्णरूप से अराजकतावादी नहीं था और न उसने उसे ऐसा नाम ही दिया। तिस पर भी उसके सैद्धान्तिक ग्रंथों के अधिकांश में उन सामाजिक तथा नैतिक दूषणों का विश्लेषण किया गया है जो शासन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न होते हैं और जिन्हें वह एक दूसरे का पोषक मानता था।"[1] गॉडविन की यह मान्यता थी कि व्यक्तिगत सम्पति की प्रथा से दरिद्रों में हीनता तथा अनैतिकता और धनवानों में मिथ्याभिमान एवं पतन आता है, अतः इसका उन्मूलन कर देना चाहिये। चूंकि गॉडविन राज्य तथा सरकार, कानून तथा न्यायालय और सम्पत्ति एवं परिवार का उन्मूलन चाहता है, और अराजकतावाद के मूल सिद्धान्तों को अत्यन्त ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त करता है, अतः अलेक्जेन्डर ग्रे ने बड़े सुन्दर शब्दों में इसका चित्र खींचते हुए लिखा है कि—

"वह पूर्ण अराजकतावादी है, और जब बुद्धि तथा न्याय की अपनी हंसिया से वह मानव मिथ्याचार को काट डालता है तो प्रायः कुछ भी शेष

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ, २०३–४

नहीं रह जाता, यद्यपि यह एक सर्वनाशक है, किन्तु विनाश का यह कार्य उच्चतम उद्देश्यों से उत्प्रेरित है।' [1]

हॉगस्किन (Hodgskin, 1787–1869)—गॉडविन से मिलते जुलते आदर्श अराजकतावादी विचार (*Utopian Anarchism*) टॉमस हॉगस्किन की कृतियों में भी मिलते हैं। मूलतः यह व्यक्तिवादी विचारक था, फिर भी इसके विचार इतने उग्र थे कि उनमें राज्य को अनावश्यक कहा गया है। उसकी यह मान्यता थी कि यह विश्व प्रकृति के स्थाई एवं अपरिवर्तनशील नियमों द्वारा सुव्यवस्थित है और मनुष्य भी इसी सुव्यवस्था का भाग होने के कारण इन्हीं नियमों द्वारा नियंत्रित है। 'प्रतिपल, प्रतिक्षण उसका आचरण स्थाई तथा अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा उसी प्रकार प्रभावित, नियंत्रित तथा नियमित है जिस प्रकार वनस्पति की बढ़ती अथवा नक्षत्र मंडल की गति नियमित और नियंत्रित है।'' अतः मनुष्य के लिये राज्य तथा उसकी कानून व्यवस्था अनावश्यक है। यदि मनुष्य को बंधनमुक्त छोड़ दिया जाय तो वह स्वयं ही पूर्व निश्चित मार्ग पर चलेगा और अपना अधिकाधिक विकास करेगा। *हॉगस्किन ने राज्य की अनावश्यकता का समर्थन किया किन्तु यह नहीं बताया* कि राज्य का अन्त कैसे होगा और उसके स्थान पर किस प्रकार की व्यवस्था समाज में स्थापित होगी। वह कोरा काल्पनिक सिद्धान्तवादी था। पुनश्च यद्यपि हॉगस्किन ने राज्य की अनावश्यकता की बात कही, तथापि उसकी विचारधारा को अराजकतावादी न कहकर केवल उग्र व्यक्तिवादी भी कहा जा सकता है क्योंकि उसने यह स्वीकार किया कि वह राज्य के अस्तित्व को बनाय रखे यदि उसका कार्य केवल शांति और सुव्यवस्था स्थापित रखने तक ही सीमित रहे। कोकर के कथनानुसार 'अपने अनेक वक्तव्यों में वह राजसत्ता को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत मालूम होता था, किन्तु इस शर्त पर कि वह वैयक्तिक औद्योगिक सम्पत्ति की अनुचित प्रणाली का अनुमोदन करना छोड़ दे और केवल शांति एवं व्यवस्था कायम रखने का काम ही करे।''

प्रोधां (Proudhon 1809–1865)—पियरे जे जेफ प्रोधां का जन्म फ्रांस के बेसनकान (*Beasancon*) नामक गांव में हुआ था, जो चार्ल्स फोरियर का भी जन्म स्थान था। अपने माता पिता की निर्धनता के होते हुए भी उसे परिश्रम करने पर कालेज की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया, और उसने अपने अध्ययन के उज्ज्वल प्रमाण स्थापित किये। १९ वर्ष की आयु में वह एक मुद्रणालय में प्रूफरीडर हो गया। बेसनकान विद्यालय (*Beasancon Acedemy*) में उसने ३ वर्ष की एक साहचर्य-छात्रवृत्ति (*Fellowship*) की प्रतियोगिता में भाग लिया तथा उसने अनुसंधान कार्य

---

1 [illegible] with his scythe of [illegible] he field of [illegible] Also, of [illegible] ork of destruction is inspired by the highest of motives''
—*Grav*; The Socialist Tradition, P. 132

लिया। ये अनुसंधान बाद में उसकी पुस्तक *"What is property?"* में सम्मिलित कर दिये गये। इस पुस्तक में अभिव्यक्त क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे न्यायालय के सामने पेश किया गया, किन्तु उसने अत्यन्त गौरव-पूर्ण ढंग से अपना बचाव पक्ष प्रस्तुत किया और वह मुक्त हो गया। १८४८ में फ्रांस में फरवरी क्रान्ति के बाद जब द्वितीय गणतंत्र की स्थापना हुई तो प्रोधां विधान-निर्मात्री परिषद् का सदस्य निर्वाचित हुआ। बाद में, नेपोलियन तृतीय का विरोध करने के अपराध में, उसे जेल में डाल दिया गया और उस पर अपमानपूर्ण लेख लिखने का अभियोग लगाया गया। कुछ वर्षों बाद, १८५८ में, *'Of Justice in the Revolution and the Church* नामक पुस्तक लिखने के अपराध में वह पुनः बंदी बना लिया गया, किन्तु किसी प्रकार वह बंदीगृह से निकल भागने में सफल हो गया।

प्रोधां एक बड़ा प्रतिभाशाली लेखक था, जिसने निम्नलिखित महत्व-पूर्ण रचनायें विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कीं—

(1) What is Property ?
(2) Philosophy of Poverty. (1846)
(3) The Solution of the Social Problem (1848)
(4) Of Justice in the Revolution and the Church (1858)
(5) Political Capacity of the Working Classes.

प्रोधां भी गाडविन की भांति ही स्वभाव से विनाशकारी और आलो-चना प्रिय था तथा प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति पर प्रहार करता था। उसका प्रारम्भ में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आक्रमण था। उसका प्रथम प्रकाशित ग्रंथ था—"सम्पत्ति क्या है?" उसका उत्तर था कि वह "चोरी" (*Theft*) है। इसी ग्रंथ में उसने यह भी घोषणा की कि "मैं पूर्ण अर्थ में अराजकता-वादी हूं।" प्रोधां ने कहा कि "सम्पत्ति शक्तिशाली के द्वारा निर्बल का शोषण है। साम्यवाद शक्तिशाली के द्वारा दुर्बल का शोषण है...साम्यवाद काल्पनिक है। जब साम्यवाद को लागू करने का प्रयत्न किया जाता है तो उसका परि-णाम होता है सम्पत्ति का ढांचा। साम्यवाद के विरुद्ध हूं और मैं सबसे कम प्रगतिशील समाजवादी समझा जाता हूं। इसका कारण है कि मैंने कल्पना को त्याग दिया है जबकि अन्य समाजवादी अब भी उसमें फंसे हुये हैं।"[1]

प्रोधां यद्यपि स्वयं को समाजवादी कहता था, किन्तु मार्क्स से उसके कटु मतभेद थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि मार्क्स ने अपनी पुस्तक *'Poverty of Philosophy'* प्रोधां की पुस्तक *'Philosophy of Poverty'* के उत्तर में लिखी तो प्रोधां ने भी इस आलोचना का उत्तर साम्यवाद की

---

1. "Property is the exploitation of the weak by the strong. Communism is the exploitation of the strong by the weak ....Communism is utopian Whenever an attempt is made to introduce communism, it results in a caricature of property. I am opposed to communism and I am now considered as being the least advanced of socialists, it is because I have left utopia while the socialists are still in it."

—*Proudhan*

निन्दा में किया। साम्यवादी दर्शन को एक कल्पना मात्र कहकर उसका उपहास उड़ाते हुये प्रोधा ने लिखा कि—"साम्यवाद एक विज्ञान नहीं बल्कि विज्ञान का अन्त है। यह सिद्धान्त वितरण और संगठन का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। यह लचीला तथा दुर्बुद्धिपूर्ण दु:खवादी दर्शन है। यह न विचार करता है और न तर्क। अपने विचार यह परम प्राचीन रहस्यात्मक, अस्पष्ट एवं अवर्णनीय परम्पराओं से ग्रहण करता है। साम्यवाद का अर्थ है रोटियों के लाले सदैव तथा सर्वत्र।"[1] साम्यवाद की कटु आलोचना करने के कारण ही कार्ल मार्क्स ने प्रोधा के सिद्धान्तों पर भारी आघात किये और प्रोधा को एक व्यर्थ का पाखण्डी तथा एक पसारी (*Grocer*) की भावनाओं वाला व्यक्ति कह कर पुकारा।

जहां तक अराजकतावादी विचारधारा के विकास का सम्बन्ध है, प्रोधा को उसका संस्थापक इसलिये कहा जाता है कि उसने राज्य के प्रति अराजकतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन सुव्यवस्थित ढंग से किया। राज्य के विषय में उसका यह निश्चित विचार था कि राज्य के अस्तित्व से मनुष्य की स्वतन्त्रता का हनन होता है क्योंकि यह शक्ति पर आधारित है और उसके कानूनों से मानव की स्वतन्त्रता सीमित होती है। प्रोधा के अनुसार राज्य का अर्थ है एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का शासन होना जो कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निषेध है। उसके आदर्श समाज में मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन या एक मनुष्य के दूसरे के द्वारा शोषण के लिये कोई स्थान नहीं है। इस समाज में तो हर व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। इस आपत्ति का कि शासन सत्ता के अभाव में स्वतन्त्रता उच्छृंखलता का रूप धारण कर सकती है, प्रोधा ने यह उत्तर दिया कि आदर्श समाज में स्वतन्त्रता और व्यवस्था दोनों साथ साथ रहती है। चूंकि सच्ची व्यवस्था का आधार है भावना पर बुद्धि का प्रभुत्व और मानव सम्बन्ध में न्याय का पालन, अतः स्वतन्त्रता के उच्छृंखलता में परिणत होने का कोई भय विद्यमान नहीं होता। असलियत तो यह है कि शासन और कानूनों की शक्ति से ही व्यवस्था नहीं आ पाती। मनुष्य दुष्ट और बुरे तभी बनते हैं जबकि उन्हें शासन का अत्याचार सहना पड़ता है। अत्याचार और दमन से स्वतन्त्र होने पर और इस तरह अपने पैरों पर खड़े हो जाने से तो मनुष्य अपने सर्वोत्कृष्ट हितों की सिद्धि ही करते हैं और पारस्परिक व्यवहार में उनका आचरण सर्वथा न्यायपूर्ण होता है। प्रोधा ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि—"मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा शासन किसी भी रूप में अत्याचार है। समाज का सबसे अधिक निर्दोष उच्चतम रूप

---

1. "Communism is not an science, but an annihilation of it. It is incapable of finding a formula of distribution and organisation. It is an elastic and unintelligent religion of misery. It neither thinks nor does it reason. It borrows its ideas from the most ancient mystic vague and undefinable traditions. Communism means privations everywhere and always."

—*Proudhon*

सुव्यवस्था तथा अराजकता में ही हो सकता है।"[1]

प्रोधाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का घोर विरोधी था। वह व्यक्तिगत संपत्ति को चोरी का माल कहता था। राज्य के विरुद्ध उसका सबसे विशिष्ठ दोषारोपण यही था कि उसका विकास व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है और उसने इस प्रणाली के अन्यायों का पोषण किया है। अपनी कुछ पुस्तकों में प्रोधाँ ने यह व्यक्त किया है कि सम्पत्ति की निन्दा करने में उसका मुख्य मन्तव्य सम्पत्ति के उस रूप से था जो मुनाफे, भाड़े और ब्याज के द्वारा सगृहीत है तथा उसके विशिष्ट आर्थिक प्रस्तावों का उद्देश्य व्यक्तिगत सपत्ति का विनाश नहीं वरन् उसके एकाधिकारात्मक एवं शोषणात्मक रूप का विनाश करना था। प्रोधाँ ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर जो प्रत्यक्ष प्रहार किया और सब प्रकार के राजनीतिक अधिकार की जो भर्त्सना की, उसके कारण अराजकतावादियों की श्रेणी में उसे एक ऊंचा स्थान प्राप्त है। उसने एक ऐसे "जनता के बैंक" (*Bank of the People*) की योजना तैयार की जिसका काम 'श्रम नोट' (*Labour Notes*) जारी करना था जिनसे काम के समय से निर्धारित समय की इकाई प्रकट होगी और जो बिना ब्याज के उन लोगों को ऋण पर दिये जा सकेंगे जो जमानत के बतौर श्रम करने का वचन दे सकेंगे। प्रोधाँ ने एक 'परस्परवाद अथवा अन्योन्याश्रयता' (*Mutualism*) की पद्धति बनाई जिसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा एच्छिक समुदाय सहकारी बैंको द्वारा ऋण से उत्पादन कार्य कर सकते हैं। प्रोधाँ की ये योजनायें उस आदर्श समाज का निर्माण करने के लिए बनाई गईं जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य तथा धर्म-सगठन के लिए कोई स्थान न होगा।

यह उल्लेखनीय है कि प्रोधाँ वास्तव में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उतना विरोधी नहीं था जितना कि वह उसके असमान वितरण का था। इसीलिए वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्त करने की अपेक्षा उसके न्यायसङ्गत और समान वितरण पर बल देता था। उसके विचारानुसार एक सच्चा समाजवादी समाज वही है, जिसमें सबको तीन-तीन एकड़ भूमि तथा एक-एक गाय प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में उसकी कल्पना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व यह था कि प्रत्येक समाजवादी व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार समान रूप से प्राप्त हो तथा समाज में अधिक विषमता न हो। प्रोधाँ सम्पत्ति को चोरी मानते हुए भी वंशानुगत सम्पत्ति की प्राप्ति के पक्ष में था और उसकी व्यवस्था में सुधार करना चाहता था।

एक महान् व्यक्तिवादी होने के नाते प्रोधाँ ने व्यक्ति को चर्च के अधिकार से भी मुक्त रखने का प्रयास किया। धर्म को वह प्रगति तथा विज्ञान के मार्ग का रोड़ा समझता था और ईसाई धर्म के इस विचार को, कि मनुष्य मूलत. पाप है, वह मनुष्य के गौरव के विरुद्ध समझता था।

---

1. "Government of man by man in every form is oppression. The highest perfection of society is found in the union of order and anarchy."

—*Proudhan*

शिक्षा प्राप्त की थी। उसने तोपखाने के अधिकारी के रूप में अपना जीवनक्रम आरंभ किया। १८३५ मे वह मास्को गया ताकि दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर सके। १८४१ में वह बर्लिन गया। ए० रीउग (*A. Reug*) के प्रभाव के कारण वह एक साम्यवादी बन गया। १८४३ में वह पेरिस गया जहां वह प्रोवों के सम्पर्क में आया। ४ वर्ष बाद, उसे फ्रांस से इसलिए निर्वासित कर दिया गया क्योंकि उसने तत्कालीन रूसी सरकार की आलोचना की। १८४९ में उसने ड्रेसडेन (*Dresden*) में होनेवाली क्रांति के नेताओं में से एक नेता के रूप में भाग लिया। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और मृत्युदण्ड का आदेश दे दिया गया। किन्तु बाद मे, उसकी हत्या करने के बजाय उसे आस्ट्रिया वालो को सौप दिया गया क्योंकि उसने स्लेव जाति को आस्ट्रिया के विरुद्ध भड़काने का असफल प्रयास किया था। आस्ट्रियावालों ने भी उसे मृत्युदण्ड का आदेश दिया किन्तु बाद मे इस मृत्युदण्ड का आजीवन कारावास मे बदल दिया गया। दो वर्ष तक आस्ट्रिया की एक जेल में रहने के बाद बैकुनिन को रूस के साइबेरिया प्रदेश के बन्दीगृह मे डाल दिया गया, जहां से किसी प्रकार वह सन् १८६१ मे बच निकला। अब उसने अपना शेष जीवन पश्चिमी यूरोप मे व्यतीत किया। वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन में मार्क्स और एंजिल्स के प्रभाव से सम्मिलित हुआ। किन्तु शीघ्र ही उनमे तीव्र मतभेद पैदा हो गया। प्रथम 'इन्टरनेशनल' में बैकुनिन का मार्क्स के साथ कटु संघर्ष हुआ। उन दोनो मे मुख्य मतभेद इस बात पर था कि जहां मार्क्स के अनुसार पूर्ण समाजवाद पर पहुंचने के लिए संक्रमणकालीन अवस्था मे एक स्थाई श्रमजीवी तानाशाही की स्थापना आवश्यक थी, वहाँ वह संक्रमणकालीन अवस्था में भी किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोधी था। मार्क्स से अपने कटु संघर्ष के कारण बैकुनिन ने १८६९ में जनता में अपने विचारों के प्रचार के लिए सामाजिक प्रजातान्त्रिक संगठन (*Social Democratic Alliance*) की स्थापना की। दुर्भाग्यवश बैकुनिन का स्वास्थ्य बिगड़ता गया, अतः १८७३ में वह क्रान्तिकारी क्रियाओं से निवृत्त होने को विवश हो गया और १८७६ में उसका देहावसान हो गया।

बैकुनिन को १९वीं सदी के अन्तिम चरण में यूरोप के सर्वहारा वर्ग में, अराजकतावाद के व्यापक आन्दोलन का जन्मदाता माना जाता है। उसकी चेष्टाएं और उसके कार्य प्रमुखतः व्यावहारिक आन्दोलन तथा संगठन के क्षेत्र में हुए। यद्यपि उसकी लेखन शैली कम प्रभावोत्पादक और ओजस्वी नहीं थी तथापि उसका प्रभाव प्रधानतः उसके उद्योग साहस, लगन, गुप्त-समितियों के संगठन और उन संगठनों के षड़यन्त्रों के निर्देशन की कुशलता के कारण था।

अराजकतावाद में बैकुनिन ने दो नवीन प्रवृत्तियों को प्रवेश दिया— प्रथम, उसने राज्य के प्रति अपनी घृणा को एक निश्चित रूप से समष्टिवादी दर्शन से मिलाया और इस तरह साम्यवादी अराजकतावाद की आधारशिला रक्खी, एवं द्वितीय उसने यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि हिंसात्मक क्रान्ति के बिना राज्य को नष्ट नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार स्वयं को आतंकवादी अराजकतावाद का जनक बनाया। बैकुनिन के इन दोनों विचारों को विस्तार से आगे यथास्थान प्रकट किया जायगा।

बकुनिन के विचार का केन्द्रबिन्दु यह है कि व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में हर प्रकार की सत्ता से मुक्त कर दिया जाये। यह व्यक्ति का पार्थिव क्षेत्र में पूंजीवाद की दासता से, राजनैतिक क्षेत्र में राज्य की दासता से और धर्म के क्षेत्र में पुरोहित वर्ग की दासता से मुक्त करने का अभिलाषी है। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि राजसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म मानव विकास की निम्न अवस्था की स्वाभाविक संस्थाएं हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में शारीरिक इच्छाओं तथा भय से है। *व्यक्तिगत सम्पत्ति* मनुष्य की भौतिक वस्तुओं में रुचि पैदा करती है, राज्य नीजि सम्पत्ति का रक्षक है, और धर्म राज्य एवं सम्पत्ति दोनों का पोषण करनेवाला है, तथा मनुष्य के हृदय में मिथ्या भय उत्पन्न करता है। वस्तुतः ये तीनों ही संस्थाएं मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और इनका समाप्त हो जाना ही हर दृष्टि से श्रेयस्कर है। 'इन संस्थाओं को, जो मानव की आदिम प्रकृति की विशिष्ट अभिव्यक्तियां हैं मानव विकास के स्वाभाविक नियमों के अन्तर्गत अवश्य ही लुप्त होना है।"

बकुनिन बलपूर्वक अपनी यह धारणा प्रस्तुत करता है कि सब प्रकार की *अधीनता मानव उन्नति में बाधक है। अधीनता एक वह दुर्गुण है* जो निश्चयतः शासक तथा शासित दोनों को अनैतिकता की ओर ले जाती है। उसके अनुसार अधिक से अधिक जनतांत्रिक होते हुए भी सरकार शासितों का कल्याण नहीं कर सकती बल्कि शासक जनता के प्रतिनिधि होते हुए भी अत्याचारी तथा मदान्ध हो जाते हैं। बकुनिन का कहना था कि दोष किसी विशिष्ट प्रकार की सरकार में नहीं है बल्कि स्वयं राजसत्ता में है चाहे वह लोकतन्त्रीय आधार पर ही क्यों न संगठित हो। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि राजसत्ता नैतिक दृष्टि से पतनकारी है। राजसत्ता का प्रयोग एक दोहरा अभिशाप है, जो प्रयोग करनेवालों और जिन पर इसका प्रयोग किया जाता है उन दोनों का ही पतन करता है। यदि शासक अर्थात् राजसत्ता के प्रयोगकर्ता दम्भी, अत्याचारी और स्वार्थी हो जाते हैं एवं शासितों के *हितों की अवहेलना करने लगते हैं तो शासित अर्थात् वे जिन पर राजसत्ता* का प्रयोग किया जाता है शक्ति और विवशता के अधीन रहते हैं एवं अपने विवेक के अनुसार आचरण नहीं कर पाते। 'राज्य प्रबोधन और प्रोत्साहन की *अपेक्षा सदैव दबाव से काम लेता है। राज्य के प्रत्येक कार्य में व्यक्ति-गत* नागरिक की इच्छा तथा निर्णय के स्थान पर किसी सार्वजनिक अधि-कारी का आदेश काम करता है। मानव व्यवहार में नैतिकता एवं बुद्धिमता केवल ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिसंगत कार्यों का सम्पादन करने में है, जिन्हें कर्ता श्रेष्ठ या बुद्धिसंगत स्वीकार करे। जो कार्य किसी आदेश या निर्देश द्वारा किया जाता है उसमें *नैतिक या बौद्धिक गुणों का सर्वथा अभाव होता* है। अतः राज्य के कार्य की अनिवार्य प्रवृत्ति उन व्यक्तियों के, जो उसकी अधीनता में रहते हैं नैतिक तथा बौद्धिक स्तर को निम्नतर बना देने की होती है।" बकुनिन ने राज्य की भर्त्सना करते हुए कहा कि यह कुछ लोगों को अत्याचारी और अहंकारी तथा बहुसंख्यक जनता को सेवक या पराधीन बना देता है। राज्य के बल प्रयोग पर अपना आक्रोश उसने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"जब कभी मैं उन पतित व अपराधपूर्ण उपायों के विषय

में सोचता हूं जिनका प्रयोग सरकारें राष्ट्रों को दास के लिये सदा बनाये रखने के लिए करती हैं तो मुझे अत्यन्त क्रोध आता है।"[1] राज्य द्वारा व्यक्ति का कोई हित-साधन नहीं हो सकता, क्योंकि वह उसके लिए पूर्णतः बाहर की वस्तु है जिसके द्वारा व्यक्तित्व का विकास न होकर उसमें बाधा पड़ती है।

बैकुनिन ने राजनीतिक नियन्त्रण की सभी संस्थाओं, यहां तक कि प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर स्त्री-संस्थाओं को भी बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता के साथ अस्वीकार किया। उसका विचार था कि स्वेच्छाचारिता राज्य के स्वरूप में न होकर उसके सार में विद्यमान है। राज्य का यह एक आवश्यक लक्षण है जिसके शोधन के लिए अत्यन्त आधुनिक प्रजातांत्रिक विधियां भी व्यर्थ हैं। जनता अधिकांशतः अज्ञानी और अनुभवहीन होती है, अतः वह आर्थिक दृष्टि से सबल वर्गों के षड्यन्त्रों तथा प्रपंचों से अपनी रक्षा नहीं कर पाती। ये सबल आर्थिक वर्ग अपने धन-बल से और अपने अन्य कुचक्रों से सम्पूर्ण राजनीतिक मशीनरी को इस तरह अपने पक्ष में कर लेते हैं कि वह सदैव उन्हीं का स्वार्थ साधन करने की दिशा में अग्रसर होती रहे। स्पष्ट है कि इस भाव ने बैकुनिन द्वारा राज्य की अस्वीकृति का आधार आर्थिक है। राज्य भूमि तथा पूंजी के स्वामियों द्वारा मजदूरों के शोषण में योग देता है, अतः इसका विनष्ट हो जाना ही उत्तम है। हर राजनीतिक प्रणाली बुरी है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण का संगठन एवं समर्थन करना है। बैकुनिन वेहिचक अपना यह विश्वास प्रकट करता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूंजीवाद, ये दोनों ही समाज में व्याप्त निर्धनता का कारण हैं। सम्पत्ति और पूंजीवाद के ही कारण धनी वर्ग निर्धनों को अपने आधिपत्य में कर लेता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति यदि राज्य के अस्तित्व का आधार है तो साथ ही उसका परिणाम भी। यह एक वह बुराई है जो हर प्रकार के भौतिक एवं नैतिक दुर्गुणों को जन्म देती है। यह वह पापायिनी शक्ति है जो करोड़ों श्रमिकों पर आर्थिक परतन्त्रता लादती है और उन पर अत्यधिक श्रम का अभिशाप थोपती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक ऐसा दानव है जो साधारण जनता और श्रमिकों को निरन्तर अज्ञान व अन्धकार में भटकाये रखता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण ही श्रमिकों और सामान्य जन में सामाजिक तथा आध्यात्मिक विश्छृ-लता आती है जबकि केवल कुछ सम्पत्तिशाली व्यक्ति इसके बल पर भोग-विलास करते हैं शारीरिक सुख और कलात्मक तथा बौद्धिक सुख-भोग के लिए विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त करते हैं।

धर्म के विषय में भी बैकुनिन के विचार बड़े क्रान्तिकारी हैं। उसके मत में "सब प्रकार की निरंकुशताओं में धार्मिकों की निरंकुशता सबसे अधिक दुखदायी है क्योंकि अपने ईश्वर की महानता तथा अपने विचार की

---

1. "Anger gets hold of me whenever I think of the base and criminal means which government employ to keep the nations in perpectual slavery."

—*Bakunin*

विजय के विषय में वे इतने कट्टर हैं कि वास्तविक, जीवित एवं दुःखी मानव की महत्ता एवं स्वतन्त्रता के प्रति वे सर्वथा हृदयहीन दिखाई देते हैं।"[1] वह ईश्वर को अत्याचारी ज़ार (*Czar*) कहा करता था और ज़ार को निरंकुश अत्याचारी ईश्वर। बेकुनिन की मान्यता थी कि धर्म मानवता के इस दृश्य-जगत के महत्त्वपूर्ण कार्यों से मनुष्य को विमुख कर देता है और उसमें कल्पना, अन्धविश्वास तथा श्रद्धालुता उत्पन्न करता है। राज्य धर्म का छोटा भाई है और इन दोनों को जन्म देनेवाले एक ही कारण हैं, इसलिए दोनों का साथ-साथ विनाश कर देना चाहिये। 'धार्मिक विश्वासों के स्थान पर विज्ञान तथा ज्ञान की प्रतिष्ठा होनी चाहिये और भावी दैवी न्याय के मिथ्यावाद के स्थान पर वर्तमान मानवीय न्याय के यथार्थवाद की स्थापना होनी चाहिये।' बेकुनिन ने कहा कि राज्य और ईश्वर दोनों ही अत्याचारी हैं, अतएव व्यक्ति को उनके आदेशों का पालन नहीं करना चाहिये। नास्तिकवाद (*Atheism*) और अराजकतावाद उसके दो प्रमुख विचार हैं।

बेकुनिन शक्ति एवं विद्रोह का पुजारी था और गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाओं द्वारा राज्य का अंत करना चाहता था। अराजकतावादी समाज की प्राप्ति के लिये वह विकासवादी (*Evolutionary*) तथा क्रांतिकारी (*Revolutionary*) दोनों प्रकार के साधनों में विश्वास करता था। विकासशील साधन के सम्बन्ध में उसका कहना था कि घटनाओं तथा तथ्यों की लहर स्वयं अराजकतावाद की ओर प्रवाहित होती है। आवश्यकता इस बात की है कि उन घटनाओं के मार्ग में आनेवाली रुकावटों अथवा बाधाओं को हटा देना चाहिये। इसके लिये प्रतिक्रियावादी संस्थाओं का नाश अथवा हटाना तथा जनता को शिक्षित करना आवश्यक है। एक अराजकतावादी क्रान्ति से सार्वजनिक शान्ति अवश्य भंग होगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य को केवल प्रचार, मतदान अथवा समझाने बुझाने से समाप्त नहीं किया जा सकता, अतः उनकी समाप्ति के लिये अन्तिम अवस्था में कुछ हिंसा का प्रयोग तो करना ही पड़ेगा। इसमें आवश्यक रूप से कुछ रक्तपात अवश्य होगा क्योंकि कुछ लोग क्रान्ति का दृढ़ता से विरोध करेंगे और साथ ही जनता में अपने पुराने शोषकों के प्रति प्रतिरोध की स्वाभाविक भावना भी भड़केगी। यद्यपि बेकुनिन ने इस प्रकार के व्यक्तिगत प्रतिशोध का समर्थन नहीं किया है, तथापि उसने अराजकतावादी क्रान्ति की परिपूर्णता और भयंकरता को भी कम नहीं किया। इस क्रान्ति में गिरजों, न्यायालयों, पुलिस, सेना, विधानसभाओं, प्रशासनिक कार्यालयों तथा सम्पत्ति के अधिकारों का बलपूर्वक विनाश होगा।

बेकुनिन ने न केवल अराजकतावादी क्रान्ति का ही उल्लेख किया है बल्कि यह भी बताया है कि इस क्रान्ति का संगठन किस प्रकार किया जायगा। कोकर के सुन्दर शब्दों में—

---

1. "Of all the despotisms that of the religionists is the worst They are so jealous of the glory of their God and the triumph of their idea that they have no heart left for the liberty and dignity for the suffering of the living man"
—*Bakunin*

"राजधानी या किसी बड़े महत्वपूर्ण नगर में सच्चे अराजकतावादियों के ऐच्छिक संघ होंगे जो प्रत्येक मुहल्ले या राजपथ के नाम से मोर्चों के रूप में संगठित किए जायेंगे। मोर्चे समस्त नगर की कौंसिल के लिए अपने प्रतिनिधि भेजेंगे जिन्हें उनकी ओर से आदेश मिलेंगे और जो वापस बुलाये जा सकेंगे। यह कौंसिल क्रांतिकारी शासन के विविध कार्यों के लिए अपने सदस्यों में से समितियां बनायगी। इस क्रांतिकारी संस्था का कार्य एक ओर तो विनाश के कार्यक्रम को पूरी तरह से कार्यान्वित करना, समस्त राजनीतिक संस्थाओं का तत्काल दमन करना तथा समस्त औद्योगिक एवं कृषि-सम्पत्ति का मजदूर-समितियों में वितरण करना और ऐसी व्यवस्था करना होगा कि किसी प्रकार का कोई दूसरा सर्वसत्तात्मक संगठन, चाहे वह सर्वहारा वर्ग का या समाजवादी अधिनायकतंत्र ही क्यों न हो, स्थापित न हो सके। दूसरी ओर यह कौंसिल प्रचारकों एवं आन्दोलनकारियों के रूप में अपने प्रतिनिधियों को प्रांतों तथा ग्रामों में जनता को क्रान्ति के कार्यों तथा उसके वास्तविक उद्देश्यों का ज्ञान करा कर क्रांति में उसका सहयोग प्राप्त करने के लिये भेजेगी।"[1]

बैकुनिन का चिन्तन क्रान्ति तक ही नहीं रुक जाता, वरन् उसने इस विषय में भी विचार किया है कि जब क्रांति के फलस्वरूप राज्य का अन्त हो जायगा तो समाज की व्यवस्था किस प्रकार होगी। इस विषय में उसने अधिक विस्तारपूर्वक तो नहीं सोचा किन्तु जगह जगह संकेत रूप से जो कुछ लिखा है, वह उल्लेखनीय है। उनका मत था कि राज्य के स्थान पर एक ऐसे स्वतंत्र समाज की प्रतिष्ठा की जाये जिसमें न कोई वर्ग होंगे, न सत्ता के कोई सम्बन्ध और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी पक्षपात किये समानता के आधार पर श्रम करना और अपने श्रम के लाभ का उपयोग करने का अधिकार होगा। अराजकतावादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और उसे आवश्यकतानुसार धन मिलेगा। इस स्वतंत्र समाज का आधार कानून और अनिवार्य भक्ति नहीं वरन् समझौता और ऐच्छिक सहयोग होगा। क्योंकि सहकारिता मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं और प्रकृतियों पर निर्भर होगी, अतः जिस किसी भी संगठन की आवश्यकता होगी, वह नीचे से ऊपर की ओर विकसित होगा। बैकुनिन के अनुसार "इस प्रकार के समाज में व्यक्तियों के स्वतंत्र समुदाय होंगे, समुदायों के प्रान्त प्रान्तों के राष्ट्र, राष्ट्रों का एक संयुक्त यूरोप तथा तत्पश्चात् एक विश्व की स्थापना होगी।" आर्थिक सामाजिक व्यवस्था ऐच्छिक समुदायों के हाथ में होगी, जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होगा। भूमि और उत्पादन के साधनों पर समाज ऐसे व्यक्तियों को कब्जा करने का अधिकार देगा, जो व्यक्तिगत रूप से या स्वतंत्रतापूर्वक निर्मित संस्थाओं द्वारा काम करके उनका उपयोग उत्पादन के लिये करने को तैयार होंगे। स्थानीय संस्थायें मिलकर बड़ी प्रादेशिक संस्थायें बनायेंगी, किन्तु उनमें दबाव किसी भी अवस्था में न हो सकेगा। संस्थाओं और समुदाय के जो नियम होंगे उनमें दंड की कोई व्यवस्था नहीं होगी क्योंकि ये नियम ऐसे होंगे जिन्हें मनुष्य समाज को कायम रखने के लिये आवश्यक समझेंगे।

---

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २१६–१७

बैकुनिन के विचारों पर समाप्ति से पूर्व यह भी उल्लेखनीय है कि जिस तरह उसने धार्मिक व्यक्तियों और तत्वज्ञानियों पर आक्रमण किया था उसी प्रकार विज्ञान और वैज्ञानिकों का भी नहीं बख्शा। स्वयं उसी के शब्दों मे–' विज्ञान तथा वैज्ञानिकों का राज्य चाहे वे आगस्टस कोम्टे के निश्चित शिष्य हो, अथवा जर्मन साम्यवाद की सिद्धान्तवादी विचारधारा के कुछ शिष्य अशक्त होने मे असमर्थ नहीं हो सकते तथा साथ ही वे हास्य-कर दयाहीन, अत्याचारी, दमनशील शोषक, अपकारी होने मे भी असमर्थ नहीं। हम वैज्ञानिकों के विषय मे भी वही कह सकते है जैसे कि हमने धार्मिक व्यक्तियों तथा तत्वज्ञानियों के सम्बन्ध मे कहा है न तो उनमे व्यक्ति तथा जीवधारियों के लिए भावना होती है और न ही आत्मा।'[1]

बैकुनिन ने जिस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की थी, वह सुदूर भविष्य के लिये एक आदर्श के रूप मे नहीं थी, वरन् वह तो उसे एक ऐसा लक्ष्य मानता था जिसकी प्राप्ति शीघ्र ही सम्भवत १९वीं शताब्दी से पूर्व ही करनी थी।

प्रिंस क्रोपोटकिन (Prince Kropotkin 1842–1921) — अराजकतावाद का अत्यन्त स्पष्ट और सम्भवत सर्वाधिक व्यवस्थित रूप क्रोपोटकिन की सजीव, सहानुभूतिपूर्ण एव वैज्ञानिक कृतियों मे मिलता है। रूस के एक उच्चतम कुलीन घराने मे जन्म लेनेवाले इस अराजकतावादी विचारक को आरम्भ मे जो शिक्षा दी गई उसका उद्देश्य उसे उच्च सैनिक अधिकारी बनाना था। क्रोपोटकोन ने ५ वर्ष तक सैनिक सेवा की। एक कौसक रेजिमेण्ट के साथ साइबेरिया ड्यूटी पर रहते हुए उसने यह अनुभव किया कि जीवन सघर्ष मे राज्य का भाग महत्वहीन एव प्रभावहीन है। जीवन मे, राज्य की अपेक्षा और वास्तविक रूप मे, महत्व पारस्परिक सहयोग का है। इस अनुभव ने उसके हृदय मे राज्य के प्रति अनास्था के बीज बो दिये और उसके अराजकतावादी बनने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसने कुछ समय बाद ही सेना की नौकरी छोड़ दी और १८७१ मे रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन मे भाग लिया। तत्पश्चात् सन १८७२ मे वह पश्चिमी यूरोप के देशों मे गया और उसका अन्तर्राष्ट्रीय (*International*) के सदस्यों से सम्पर्क हुआ। सन १८७२ मे ही स्विट्जरलैण्ड मे वह बैकुनिन से मिला और उसके प्रभाव मे आकर अराजकतावादी बन गया। रूस वापिस लौटने पर उसने 'नकारवाद' (*Nihilism*) का प्रचार किया जो कि अराजकतावाद से कहीं अधिक विस्तृत सिद्धान्त है क्योंकि वह न केवल राज्य का खडन करता है बल्कि समस्त स्थापित सामाजिक और नैतिक संस्थाओं तथा मूल्यों का भी तिरस्कार करता

---

1 'Government of science and of men of science even be they positivists disciples of Auguste Comte, or a few disciples of the doctrinaire school of German communism, cannot fail to be impotent ridiculous, inhumane cruel oppressive, exploiting, maleficent We may say of men of science as such what I have said of theologians and metaphysicians, they have neither sense nor heart for individual and living beings' —*Bakunin* God and the State

है। राज्य विरोधी इस प्रचार के कारण सन् १८७४ में क्रोपोटकिन को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया, जहां स सन् १८७६ में वह किसी प्रकार भाग निकला। अपने जीवन के अगले १० वर्ष उसने स्विट्जरलैण्ड और फ्राँस में एक क्रान्तिकारी पत्र का सम्पादन करते हुए व्यतीत किये। इंगलैण्ड में अपने निवास के दौरान वह अधिकांशतः साहित्य-रचना में लगा रहा। सन् १९१७ में रूस में क्रांति हुई और तब वह पुनः स्वदेश लौट आया। श्रमजीवी तानाशाही के विरुद्ध होने के कारण रूस म लौटकर भी उसने क्रान्तिकारी क्रियाओं में कोई भाग नहीं लिया और लेखन कार्य में लगा रहा।

क्रोपोटकिन अपने अन्तिम समय तक अराजकतावादी विचारों का धनी रहा। उसकी रचनायें साम्यवादी अराजकतावाद की विचारधारा का मुख्य स्रोत बनी और उनका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तकें निम्नलिखित हैं—

(1) The Conquest of Bread (1888)
(2) Anarchism : Its Philosophy and Ideal (1896)
(3) The State, Its Part in History (1898)
(4) Fields, Factories and Workshops (1899)
(5) Mutual Aid, A Factor of Evolution (1902)
(6) Modern Science and Anarchism (1903)

सन् १९२१ में क्रोपोटकिन का शरीरांत हो गया। रूसी सरकार ने उसकी शाही अन्त्येष्टि के लिये प्रार्थना की, किन्तु उसके परिवार के सदस्यों ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। क्रापोटकिन एक सज्जन एव आकर्षक व्क्तित्व का महानुभाव था और जो भी उसके सम्पर्क म आते थे वे सभी उसका आदर करते थे।

क्रोपोटकिन अराजकतावादी साम्यवाद के विकास में निस्सन्देह एक प्रमुख विचारक था। वह एक उच्चकोटि का प्राकृतिक वैज्ञानिक था जिसने वैज्ञानिक आधार पर अराजकतावादी दर्शन का निर्माण किया। अपने सिद्धान्तों को ऐतिहासिक एवं विकासवादी आधार प्रदान करते हुए उसने यह मत रखा कि मनुष्य एवं समाज के प्रकृति के सम्बन्ध में यदि किसी निर्णय पर पहुचना है तो इसके लिये प्राकृतिक विज्ञानों (*Natural Sciences*) की प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। उसने यह विचार प्रस्तुत किया कि प्राकृतिक विकास के नियम पशुओं और पशु समुदायों तथा मनुष्य और मानव समाज पर समान रूप से लागू होते हैं। "उनके द्वारा जीवन की अवस्थाओं के साथ अनुकूलता स्थापित करने वाली प्रक्रियाओं का निरूपण होता है, जैसे विभिन्न इंद्रियों, शक्तियों एवं आदतों का विकास जिनके द्वारा मानव तथा मानव समुदाय की अपने वातावरण के साथ अधिकाधिक अनुकूलता स्थापित होती है।"

क्रोपोटकिन ने विकास की प्रक्रिया के दो पहलुओं पर विशेष बल दिया प्रथम, उसने कहा कि "व्यक्ति के जीवन और सामाजिक जीवन दोनों से प्रगति केवल स्थिर विकास की प्रक्रिया द्वारा ही नहीं होती बल्कि कभी कभी सहसा द्रुत गति से और आकस्मिक और स्पष्टतः विनाशकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप भी होती है।" समाज और व्यक्ति दोनों निरन्तर निम्नतर से उच्चतर की ओर बढ़ रहे हैं, लेकिन जब अज्ञान, अकर्मण्यता और रूढिपरायणता के

द्वारा प्रगति रुक जाती है तो मानव जाति को दलदल से निकालने और उसे पुनः विकास पथ पर लाने के लिये तीव्र क्रान्तिकारी कदमों की आवश्यकता पड़ती है। द्वितीय, "पशु जीवन तथा मानव जीवन के विकास में संघर्ष की अपेक्षा सहकारिता के गुणों का प्रमुख स्थान रहा है।" क्रोपोटकिन यह मानता था कि जीवन के संघर्ष में सहायता, प्रेम तथा सहयोग करनेवाले समूह ही जीवित रह पाते हैं, प्रतिस्पर्द्धा तथा कलहप्रियता से नहीं। सावयव विकास का नियम मूलतः पारस्परिक सहायता का नियम है पारस्परिक संघर्ष का नहीं। वातावरण के अनुकूल बनने के लिये सहयोग की प्रभावकारी शक्ति की जीत होती है जबकि सहयोग के गुणों की उपेक्षा करनेवाली प्रतियोगिता शक्ति की पराजय। क्रोपोटकिन ने कहा कि प्राणी जितना अधिक उच्च होगा उसमें सहयोग की शक्तियां उतनी ही अधिक पूर्ण विकसित होंगी। उसने अपने एक सम्पूर्ण ग्रंथ '*Mutual Aid A Factor of Evolution* (*1902*)' में इस सिद्धान्त की विवेचना करते हुए प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा अपने विषय का स्पष्टीकरण किया है। उसने अपने अधिकांश उदाहरण रूस के समीपवर्ती मैदानी पशुजीवन से लिये जहाँ कि संघर्ष बड़े प्रतिकूल वातावरण के विरुद्ध होता है। संक्षेप में प्राकृतिक विज्ञान के अपने अध्ययन से वह इसी परिणाम पर पहुँचा कि सामाजिक विकास को लक्ष्य की प्राप्ति के लिये संघर्ष की अपेक्षा सहयोग का मार्ग अनिवार्य है। उसके ही शब्दों में—"दूसरों के साथ वैसा ही आचरण करो जैसे आचरण की तुम वैसी ही अवस्था में दूसरों से अपने साथ किये जाने की आशा रखते हो।"

क्रोपोटकिन ने अपना यह विश्वास व्यक्त किया कि अपने स्वाभाविक लक्ष्य की ओर मानव समाज की प्रगति में राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं धर्म मौलिक बाधायें हैं, अतः इनका विनाश किया जाना सर्वथा उपयुक्त है।

राज्य पर कठोर प्रहार करते हुए क्रोपोटकिन ने बताया कि राज्य का न कोई प्राकृतिक औचित्य है और न कोई ऐतिहासिक औचित्य ही। राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग की प्रवृत्ति के विरुद्ध है। उसकी रचना और कार्य प्रणाली इस असत्य धारणा द्वारा प्रभावित है कि मनुष्य स्वभाव से प्रतियोगी एवं असामाजिक है। इसके अतिरिक्त राजसत्ता उस आधारभूत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के भी विपरीत है, जिसके अनुसार मानवी शक्तियों का विकास अपने आप स्वतन्त्र रूप से कार्य करने से होता है। क्रोपोटकिन ने कहा कि मनुष्य युगों तक बगैर किसी राज्य सत्ता द्वारा कार्यान्वित नियमों के साथ-साथ रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति बहुत पीछे हुई है। राज्य से पहले मनुष्य स्वतन्त्र समुदायों में संगठित था। अपने पूर्व तम रूपों में कानून केवल रिवाजमात्र थे जिनसे समाज कायम रहता था। समाज में राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का जन्म तब हुआ जबकि समाज आर्थिक अवस्थाओं के कारण स्वरूप विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया जिनमें से एक वर्ग दूसरे का शोषण करना चाहता था। पारस्परिक सहयोग और प्रेम के आधार पर संगठित आदिकालीन समाज में राज्य का जन्म उन कुछ अल्पसंख्यक समूहों की इच्छा के परिणामस्वरूप हुआ जो या तो पुरोहित थे या सैनिक सरदार, और जो जनता को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का एक यंत्र बनाना चाहते थे। इन सम्प्रदायों ने अपनी सत्ता बनाये रखने के अनेक उपायों में से एक उपाय यह

अपनाया कि उन्होने कुछ कानून बनाये जिनके द्वारा समाज में विषमता उत्पन्न हुई और सर्वसाधारण उन अल्पसंख्यक शक्तिशाली व्यक्तियों के अधीन हो गये जेसे-जैसे राजसत्ता का विकास हुआ, कानून अधिकाधिक उन नियमों का रूप धारण करते गये जो उन रीतियो की पुष्टि अथवा समर्थन करते थे जो शासक-वर्गो के लिये उपयोगी एवं हितप्रद हाते थे और उनकी आर्थिक श्रेष्ठता को स्थायित्व प्रदान करते थे। क्रोपोटकिन ने, उपरोक्त विचार के आधार पर बलपूर्वक यह कहा कि राजनीतिक सत्ता इस आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि मनुष्य का अन्तर्निहित शक्तियो का विकास स्वप्रेरित कार्यों के स्वत: करने से ही होता है । वास्तव मे राज्य और राज्य क कानून स्वतन्त्रता के अपने स्वाभाविक लक्ष्य की ओर मानव जाति के प्रगति में सबसे बड़ी बाधा हैं। राज्य और राज्य के कानून अनावश्यक हैं ।

राज्य की निन्दा करते हुए क्रोपोटकिन ने राज्य को मानव प्रगति और स्वतंत्रता का सबसे बड़ा शत्रु बताया-ऐसा शत्रु जिसका भूतकालीन कार्य-कलापों का चिट्ठा एकदम काला रहा है। इतिहास साक्षी है कि राज्य ने हमेशा गरीबो का शापण और अमीरो का पोषण किया है। राज्य ने पूंजीपतियों और भूमिपतियों से किसानों और श्रमिकों की रक्षा नहीं की है बल्कि इन गरीबों के शोषण में, धनिकों को सहारा देकर और भी अधिक धनाढ्य बनाने में सहयोग दिया है। 'यद्‌भाव्यम' (*Laissez Faire*) की नीति का नाममात्र के लिये पालन करने के बावजूद राज्य सदैव पूंजीवादियों और भूस्वामियों का हिमायती रहा है और उसने श्रमिकों के उन सभी प्रयत्नों का विरोध किया है जो वे अपने शोषण क विरुद्ध उटाना चाहते थे या उठते रहे हैं। राज्य को शोषण को प्रोत्साहन व सुविधा देनेवाला सबसे बड़ा अपराधी और सबसे प्रमुख प्रेरक मानते हुए राज्य की परिभाषा मे वह कहता है कि "यह (राज्य) भूमिपतियों, सेनापतियों, न्यायाधीशों, धर्म-पुरोहितों, और आगे चलकर पूंजीपतियों के बीच में पारस्परिक सहायता हेतु बनाया गया एक ऐसा संगठन है जो उन्होंने जनता के ऊपर एक दूसरे के प्रभुत्व को कायम रखने के लिये और उसका शोषण करके स्वयं धनाढ्य बनने के लिये बनाया है।" क्रोपोटकिन के मतानुसार राज्य वैयक्तिक स्वतंत्रता का सदैव शत्रु रहा है, और यदि भाषण, प्रेस तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता जनता को कभी दी भी गई है तो वह उसी सीमा तक जहां तक कि जनता उसका प्रयोग शोषक वर्ग के विरुद्ध नही करती है। राज्य व्यक्ति के सहज अधिकारों का संरक्षक कभी नहीं रहा है।

क्रोपोटकिन की दृष्टि में राज्य की सभी सेवायें अनावश्यक हैं—चाहे वे रक्षात्मक हो, चाहे अन्य किसी प्रकार की। जनता स्वयं कार्य करते हुए आन्तरिक लुटेरों तथा विदेशी आक्रमणकारियो से अपनी रक्षा कर सकती है। इतिहास से यह सिद्ध होता है कि राज्य की स्थाई सेनायें नागरिक सेनाओं द्वारा पराजित हुई हैं और आक्रमण लोक विद्रोह द्वारा व्यर्थ कर दिये गये हैं। शासन समाज को दुष्टो से भी हम सुरक्षित नही रखता। न्यायालयों तथा बन्दीगृहों मे, जो राज्य के द्वारा स्थापित किये गये हैं, समाज मे अपराधों मे कमी करने की अपेक्षा वृद्धि ही की है। राज्य के सांस्कृतिक और परोपकारी काम भी अनावश्यक हैं। जब मनुष्य आर्थिक एवं राजनीतिक दासता से मुक्त

हो जायेंगे, तो अपनी शिक्षा और दानशीलता के लिये आवश्यक सभी बातों की वे स्वय स्वेच्छा से व्यवस्था कर लेंगे।

बैकुनिन की भांति ही क्रोपोटकिन ने नैतिक दृष्टिकोण से भी राज्य की निन्दा की है। उसके कथनानुसार राजसत्ता निश्चित रूप से अपने प्रयोग कर्ताओं को भ्रष्ट करती है चाहे वे प्रयोगकर्ता साधु प्रकृति के ही व्यक्ति क्यों न हों। उसने अपने इस विश्वास को इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है—"यह या वह जघन्य मंत्री बहुत ही श्रेष्ठ व्यक्ति होता यदि उस सत्ता न मिली होती" (*This or that despicable minister might have been on exeellent man if power had not been given to him*)।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि क्रोपाटकिन राज्य को मूलत एक अभिशाप समझता है। उसके अनुसार उपरोक्त सब बातें समस्त प्रकार के राज्यों के सम्बन्ध मे सत्य हैं। एकतन्त्रीय राज्यों के वैधानिक राज्यों मे परिवर्तित हो जाने के कारण राज्य के विशिष्ट स्वरूप मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। लोकतन्त्रात्मक राज्य को एकतन्त्रीय राज्यों से कुछ श्रेष्ठ नहीं बताया जा सकता। मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधित्व इन बातों मे कोई अन्तर पैदा नहीं करता। साधारण जनता मे से व्यक्तियों को निर्वाचित करके उन्हे सार्वजनिक मामलों की व्यवस्था का कार्य नहीं सौंपा जा सकता। वे इस कार्य के सर्वथा अयोग्य हैं। दोष किसी विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली मे नहीं है, बल्कि स्वय राजसत्ता मे है। लोकतन्त्रात्मक शासन कुछ बातों मे चाहे अन्य प्रकार के शासन से अच्छा हो, लेकिन अराजकतावादियों के भावी समाजवादी समाज मे उसे किसी भी रूप मे उपयुक्त शासन नहीं समझा जा सकता—ऐसा समझना भयंकर भूल होगी। मनुष्य के नैतिक विकास के लिये लोकतन्त्र भी उतना ही घातक है जितना कि वर्गतन्त्र या निरंकुशतन्त्र।

क्रोपोटकिन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की भी आलोचना की। उसका मत था कि अपने स्वरूप मे ही व्यक्तिगत सम्पत्ति न्याय के प्रति अपराध है, क्योंकि उसके अधीन एक अल्पसंख्यक वर्ग वर्तमान तथा भूतकाल की पीढ़ियों के अगणित मनुष्यों के सामूहिक प्रयत्नों से उत्पन्न लाभों के अधिकांश [illegible] है। [illegible] सामाजिक अवस्थाओं से व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुष्प-[illegible] का विकास, करोड़ों का बेरोज-[illegible] का सदैव कर्जदार होना आदि। [illegible] विलासी बनाती है। यह युद्ध को प्रोत्साहित करता है और समाज के सदस्यों की अधोगति के लिये उत्तरदायी सिद्ध हुई है। क्रोपोटकिन ने कहा कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य तथा सम्पत्ति की शोषणकारी संस्थायें हमारे पूर्वजों की स्वतन्त्र इच्छाओं के बीच मे साथ साथ प्रविष्ट हुई और आज राजसत्ता के अस्तित्व का मूल कारण है—सम्पत्ति का कार्य। क्रोपाटकिन के मतानुसार उत्पादन के साधन मानव समुदाय के सामूहिक कार्य हैं, उनके द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुयें सबकी सामूहिक सम्पत्ति हैं। सभी वस्तुओं पर सबका समान अधिकार है। वह मेरे और तेरे का विरोधी है तथा मजदूरी पद्धति (*Wages System*) का भी उन्मूलन चाहता है। वस्तुओं का वितरण आवश्यकतानुसार होना चाहिये। क्रोपोटकिन एक

सैद्धान्तिक साम्यवादी है जो "प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार" के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनष्ट हो जाने पर दुःख, दरिद्रता, ऋणग्रस्तता, अभाव आदि गरीबों के कष्ट मिट जायेंगे और अपव्ययता, विलासिता, प्रदर्शन आदि अमीरों के दोष दूर हो जायेंगे। तब समाज के सभी सदस्यों का जीवन आनन्द सहित बीतेगा और किसी को भी कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।

क्रोपोटकिन गिरजों का भी विरोधी था। उसका कहना था कि धर्म का परिणाम निर्धनों के लिये अन्याय के रूप में होता है और इससे धनिकों को अपना सामाजिक स्थान स्थिर रखने में सहायता प्राप्त होती है। 'धार्मिक सत्ता राजनीतिक उत्पीडन तथा आर्थिक विशेषाधिकार की सेविका और उसे पवित्र बनाने वाली है।" क्रोपोटकिन का विश्वास था कि धर्म या तो "जगत की सृष्टि की मीमांसा करनेवाला एक आदिम सिद्धान्त है, प्रकृति को समझाने का एक भद्दा प्रयास है," या "वह एक ऐसी नैतिक प्रणाली है, जो जनता के अज्ञान तथा अंध-विश्वास से लाभ उठाकर, उसे वर्तमान राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत जो अन्याय सहन करने पड़ते हैं उन्हें, सहन करने उपदेश देती है।" हां, वह सामाजिक नैतिकता के अपने विचार को, जो जनता में स्वतः विकसित होती है, धर्म का नाम देने को प्रस्तुत था।

क्रोपोटकिन ने इस समाज के विषय में भी विचार किया है जिसकी स्थापना राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश के बाद होगी। उसने भी भावी समाज का चित्र अनेक बातों में वैसा ही अंकित किया है जैसा कि बैकुनिन ने। मनुष्य, उस समाज में, सदैव मिलकर रहेंगे वे ऐसा किसी भी शासन के दबाव से नहीं करेंगे बल्कि स्वेच्छा से करेंगे। समाज में स्वतंत्र सहयोग होगा। जो व्यक्ति एक से लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे, वे परस्पर-मिलकर एक संघ या समुदाय बना लेंगे। ये छोटे संघ परस्पर संयुक्त होकर वृहत संघों का निर्माण करेंगे। संगठन का क्रम वास्तविक आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार सरलता से जटिलता की ओर रहेगा। ज्यों ज्यों आवश्यकताएं सामने आती जायेंगी त्यों त्यों विभिन्न समुदाय बनने लगेंगे। खेतीहर संगठित होकर समाज के लिये अन्न दाल, गन्ना, रूई आदि उत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार मकान बनाने, जूते बनाने, कपडे बनाने, शिक्षा प्रदान करने आदि विभिन्न कार्यों को करने के लिये उपयुक्त व्यक्तियों के समुदाय होंगे, हां यह निश्चित है कि समस्त छोटे-बड़े संघ या समुदाय व्यक्तियों द्वारा स्वतंत्र इच्छा से किये गये समझौतों के फलस्वरूप बनेंगे। इन समझौतों का पालन सामान्यतः अपने पड़ोसियों से मैत्रीपूर्ण सहयोग की उस आवश्यकता के कारण होगा जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करेगा। कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन न करनेवाले व्यक्तियों को संघ से पृथक कर दिया जायेगा, किन्तु सहयोग और स्वेच्छा पर आधारित इस समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या नगण्य होगी। २० से लेकर ४५ वर्ष तक की आयु के प्रत्येक ऐसे मनुष्य को जो कुछ न-कुछ कर सकता है, अपनी इच्छा और अपनी योग्यता के अनुसार किसी-न किसी संघ या समुदाय में मिलना होगा और ४ या ५ घंटे प्रतिदिन कार्य करना होगा। अभिप्राय यह है कि अराजकतावादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा बहुत उत्पादन का कार्य अवश्य करना पड़ेगा। विभिन्न समु-

दायों द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुयें सबकी सामान्य सम्पत्ति होंगी और उन्हें नागरिकों में उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित किया जायेगा। समझौते के आधार पर सब व्यक्तियों को सभी सुविधायें प्रदान करेंगे मानों वे व्यक्तियों से, क्रोपोटकिन के शब्दों में, यह कहगी कि—

"हम आपको इस प्रकार का आश्वासन देते हैं कि आप हमारे मकानों, भण्डारों, राजपथों, यातायात एवं परिवहन के साधनों,विद्यालयों तथा अद्भुतालयों का इस शर्त पर प्रयोग कर सकेंगे कि आप चौबीस वर्ष की आयु से पैंतालीस–पचास वर्ष की आयु तक प्रतिदिन चार–पांच घण्टे ऐसे काम का सम्पादन करने में लगायें जो जीवनोपयोगी समझा जाय। आप स्वयं यह निर्णय करलें कि आप कौन से समुदाय में प्रविष्ट होना चाहते हैं अथवा आप कोई नया समुदाय संगठित करना चाहते हैं, किन्तु उसे किसी आवश्यक सेवा कार्य का स्वीकार करना होगा। शेष समय में आप मनोरंजन, विज्ञान या कला के उद्देश्य से अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसके साथ अपना सम्पर्क रखें—हम आप से केवल यह चाहते हैं कि आप एक वर्ष में १२०० से १५०० घण्टे किसी भी ऐसे समुदाय में काम करें जो खाद्यान्न वस्त्र या आश्रय-स्थान उत्पन्न करने अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य परिवहन आदि के कार्य में संलग्न है। इसके बदले में हम आपके लिए उन सभी वस्तुओं की गारन्टी देते हैं जो हमारे सघ उत्पन्न करते हैं।"

यद्यपि उत्पादन में उन्हीं का भाग होगा जो काम करते हैं, या काम करने को तत्पर हैं, तथापि उत्पादन का वितरण सेवा के आधार पर नहीं आवश्यकता के आधार पर होगा।" काम से पहले आवश्यकता को रखो और सबसे पहले सब व्यक्तियों का जीने का अधिकार स्वीकृत करो और तब उन सब लोगों की सुख-सुविधा का विचार करो जो उत्पादन में भाग लेते हैं।" क्रोपोटकिन का विश्वास था कि उत्पादन और वितरण की व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तुओं की मात्रा सुख से रहने के लिए पर्याप्त होगी और वस्तु गुणों में भी उन वस्तुओं से श्रेष्ठ होगी जो पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादित होती हैं। साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था में जो श्रम व्यर्थ में नष्ट हो जाता है अब उसका प्रयोग उत्पादन के कार्य में होगा जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी। चूंकि क्रोपाटकिन की योजना में कोई वेतन पद्धति नहीं होगी और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा अतः यह आपत्ति की जा सकती है कि काम करने के लिए किसी भी प्रेरणा की अनुपस्थिति में समाज में अभाव पाया जावेगा। क्रोपाटकिन का उत्तर है कि यह आपत्ति इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य स्वभाव से काम-चोर होते हैं, वे काम करने से बचना चाहते हैं। यह मान्यता गलत है। कर्म एक शारीरिक आवश्यकता है। यह सर्वथा वाछित एवं आवश्यक है कि स्वास्थ्य और जीवन के हित में शरीर की सचित शक्ति का व्यय किया जाय। मनुष्य जिस बात से घृणा करता है वह है आवश्यकता से अधिक काम। अराजकतावादी आदर्श समाज में इस तरह का 'अतिकार्य' नहीं कराया जायेगा। अपनी मनपसन्द के कार्य को ४-५ घंटे प्रतिदिन करना आवश्यकता से अधिक या 'अतिकार्य' नहीं कहा जा सकता और यदि ४-५ घण्टे में किये जाने वाला कार्य भी प्रतिदिन एक सा न हो बल्कि विभिन्न प्रकार का हो और उसकी मात्रा काफी कम हो तो उपरोक्त

वादियों में की जा सकती है यद्यपि उन्होंने स्वयं को अराजकतावादी कह कर नहीं पुकारा है। गांधी और रसल के विचारों की विस्तार से समीक्षा अगले दो अध्यायों में की गई है, अतः यहां केवल टॉलस्टॉय पर दो शब्द लिख देना पर्याप्त होगा।

काउण्ट ली टालस्टाय (Count Leo Tolstoy, 1828–1910)—टॉलस्टॉय का जन्म रूस के एक सम्भ्रान्त जागीरदारी घराने में हुआ था। विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत वह ५ वर्ष सेना में रहा और उसने क्रीमिया के युद्ध में एक सैनिक अफसर के रूप में भाग लिया। अपने सैनिक-अनुभव का उसने अपनी अनेक पुस्तकों में बड़ा ही सजीव, यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया, अतः एक लेखक के रूप में भी उसने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। टॉलस्टॉय को वास्तव में १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग का सबसे प्रसिद्ध रूसी विद्वान और आधुनिक युग का एक अत्यन्त महान् साहित्यकार माना जाता है। उसने अपनी अनेक पुस्तकों में किसानों और भूमिपतियों के जीवनों को चित्रित किया तथा भूमिपतियों के जीवन की कृत्रिमता और शून्यता का दर्शन कराया। जीवन के अन्तिम भाग में उसकी कृतियों और लेखों ने सामान्यतया सामाजिक-दार्शनिक रूप ले लिया। अपनी सभी रचनाओं में टॉलस्टॉय ने निष्कपट श्रम और सादे जीवन की प्रशंसा करते हुए विलासी जीवन, कृत्रिमता, अन्याय, क्रान्ति आदि के विरुद्ध आवाज उठाई है।

५० वर्ष की आयु तक टॉलस्टॉय ने एक ऐसा जीवन व्यतीत किया जो कि एक विद्वान भूमिपति की शान के अनुकूल था किन्तु तत्पश्चात् उसके जीवन का मार्ग एक तपस्वी जीवन की ओर मुड़ गया। १८७० के लगभग टॉलस्टॉय आध्यात्मिक संकट से गुजरा। उसने ईसाई धर्म की परम्परागत मान्यताओं, अर्थात् त्रिदेव (*Trinity–God, Son and the Holy Ghost*) तथा ईसामसीह की दैविकता में विश्वास को ठुकरा दिया, और ईसाई धर्म के एक बुद्धि प्रधान रूप को अंगीकार कर लिया जिसके आधारभूत सिद्धान्त हैं—भ्रातृ भावना, प्रेम-भावना तथा बुराई का अवरोध। टॉलस्टॉय के जीवन का उद्देश्य था—आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति और जीवन में सदाचारिता। अपने नैतिक विश्वासों को वह सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए भी प्रयुक्त करना चाहता था।

टॉलस्टॉय ने यह विचार प्रस्तुत किया कि युद्ध, जुल्म, दमन और शोषण पर आधारित वर्तमान समाज को बदलने के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की आवश्यकता है। उसने राज्य और सम्पत्ति का विरोध प्रधानतः नैतिक आधार पर किया। उसके अनुसार ये संस्थायें प्रभु ईसा की शिक्षाओं के विरुद्ध थीं। ईसा ने सबसे प्रेम करने तथा बुराई का शक्ति से विरोध न करने का उपदेश दिया था, किन्तु राज्य शक्ति पर आधारित है और वह लोगों से अपनी आज्ञाओं का पालन प्रेम के स्थान पर पुलिस एवं सैनिक शक्ति के बल पर कराता है। एक स्थान पर राज्य और राजकीय नियन्त्रण की भर्त्सना करता हुआ वह लिखता है "मैं अपने श्रम से अपने पिता की सहायता करना चाहता हूँ, मैं विवाह करना

भी चाहता हूँ किन्तु मुझे (राज्य द्वारा) छः वर्ष के लिए सैनिक बनाकर कजान भेज दिया जाता है—मैं अपनी सम्पत्ति को बचाता हूँ और उसे अपने बच्चों को देना चाहता हूँ किन्तु एक पुलिसवाला आकर मुझ से मेरी सारी बचत राज्य कर के नाम पर छीन ले, जाता है—मेरी सारी आवश्यकतायें राज्य के अधीन है—मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी तथा मेरे साथियों की स्थिति में सुधार राज्य से मुक्ति पाने पर ही होगा—किन्तु मुझसे कहा जाता है कि मेरे इस तर्क का कारण मेरी अज्ञानता है।'[1] राज्य को पशु-बल पर आधारित, दुष्टों का शासन और लुटेरों से भी अधिक खतरनाक मानते हुए टॉलस्टॉय ने कहा कि राज्य के साथ सहयोग मत करो, कर देने, सैनिक कर्तव्यों को पूरा करने, न्यायिक व प्रशासकीय कार्य करने से इन्कार कर दो। ऐसा करने पर वर्तमान भ्रष्ट समाज बहुत जल्दी ही नष्ट हो जायगा। टॉलस्टॉय ने राज्य को भी धर्म की भाँति ही एक काल्पनिक वस्तु माना और बताया कि राज्य आवश्यक तथा उपयोगी संस्था केवल उन्हीं लोगों के लिए है जो शासक हैं, अन्यथा इसका आचरण यह बतलाता है कि यह दासत्व, युद्ध, भिक्षावृत्ति तथा वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित करनेवाली एक घिनौनी संस्था है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आक्षेप करते हुए टॉलस्टॉय ने यह विचार प्रस्तुत किया कि व्यक्तिगत की सम्पत्ति व्यवस्था में कुछ अल्पसंख्यक व्यक्ति सुख-सुविधाओं और विलासिताओं का जीवन व्यतीत करते हैं। इस ऐशोआराम की प्राप्ति बहुसंख्यक जनता के श्रम से, जो सदा गरीबी में रहती है, होती है। इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके अन्तर्गत होनेवाला मानव का दुराचरण ईसा के मानव-बन्धुत्व तथा दानशीलता के उपदेशों के प्रति अपराध है।

हिंसा और क्रांति के विरोधी तथा शिक्षा और प्रचार के समर्थक इस महान् शान्तिवादी अराजकतावादी विचारक ने समाज के भावी संगठन के विषय में कोई विवरण नहीं दिया, क्योंकि उसका विचार था कि नवीन-समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तार से कुछ लिखना न आवश्यक है और न संभव, तथा "भविष्य वैसा ही होगा जैसा कि मनुष्य और परिस्थितियाँ उसे बनायेंगी। उसने सामान्यतः व्यक्तिगत उद्धार पर बल दिया और संस्था सम्बन्धी सुधारों को प्रायः व्यर्थ बतलाया। यह उसके इस सिद्धान्त का एक स्वाभाविक उप-सिद्धान्त है कि किसी विचारधारा के प्रचार करने का सर्वोत्तम साधन ज्ञान

1. "I want to help my father by my labour—I also want to marry, but instead I am taken and sent to Kazan to be a [illegible]

—*Tolstoy*

तथा उदाहरण हैं। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के सर्वोत्तम साधन हैं—जनता के अन्तःकरण को जागृत करना, अहिंसात्मक विरोध पर अमल करना, एवं प्रेम तथा समानता के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना। वह निष्क्रिय प्रतिरोध का अभ्यास करने का उपदेश देता था। विज्ञान तथा कला का भी वह अच्छा पारखी तथा आलोचक था।

टॉलस्टॉय की शिक्षाओं ने व्यापक प्रभाव डाला। कोकर के कथनानुसार "अप्रत्यक्ष रूप में तथा पूरक रूप में उसके शान्तिमय उपदेशों ने उन आक्रमणात्मक आदोलनों को सहायता दी जिनके फलस्वरूप रूस में पुरातन, आर्थिक तथा राजनीतिक निरकुश शासन का अन्त हुआ। संभवतः उसके इस आग्रह से कि रूस की वास्तविक शक्ति श्रम करनेवाली बहुसंख्यक जनता की है, रूस के किसानो को अपनी मागे प्रस्तुत करने में कुछ प्रोत्साहन मिला। शासनरूढ़ कुलीन वर्ग पर उसने जो आक्षेप किये, उनके कारण शायद नगरों के, मजदूरों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में शायद कुछ लोग शामिल हुए हों। क्रोपोटकिन का विश्वास था कि टॉलस्टॉय ने रूस की समस्त सामाजिक व्यवस्था का जो सजीव चित्रण किया और जीवन के अधिक परोपकारी ढंग के लिये जो अनुरोध किया उससे रूस के बहुत से भूमिपतियों की अन्तरात्मा भी जगी जो तत्कालीन व्यवस्था के अन्यायों को देखकर भी संतुष्ट थे। स्वय टॉलस्टॉय को न तो प्रजातांत्रिक उदारवादी सुधार में दिलचस्पी थी और न समाजवादियों, अराजकतावादियों और शून्यवादियों की क्रान्तिकारी योजनाओं में। वह निरकुश शासन का तीव्र विरोध करता था और उस शासन के समर्थकों की हृदयहीनता की कटु आलोचना करता था, फिर भी जारशाही ने उस पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। बल पर आधारित सत्ता का प्रयोग करनेवालों को ऐसे आदमी से छेड़छाड़ करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता था जो सत्ता के किसी प्रकार के भी बलपूर्वक विरोध की निन्दा करता था।"

टॉलस्टॉय का प्रभाव रूस से अन्यत्र भी, यहां तक कि अमेरिका में भी पड़ा। कुछ देशों में टॉलस्टॉयवादी बस्तियां बसाई गईं। टॉलस्टॉय के प्रभाव ने महात्मा गांधी के दक्षिणी अफ्रीका में अपना फोनिक्स फार्म स्थापित करना तथा भारतीयों के साथ वहां की सरकार के विषमतापूर्ण व्यवहार के विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन चलाने के लिये प्रेरित किया। टॉलस्टॉय ने गांधीजी पर अपना जो अमिट प्रभाव डाला, उसे स्वयं गांधीजी ने स्वीकार किया है।

अराजकतावाद की आलोचना (Criticism of Anarchism)—आलोचकों के अनुसार अराजकतावादी सिद्धान्त में ऐसे अनेक तत्तु हैं जो पूर्णतः आपत्तिजनक हैं। राज्य एक पूर्णतः अनावश्यक, अनुपयोगी और विकारपूर्ण सस्था नहीं है। यद्यपि शासन का अतीत का कारनामा काला रहा है, शासन की अपूर्णता और भूलों ने समाज में भ्रष्टाचार पैदा किया है जिसकी कि मानव-समुदाय को एक बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है लेकिन शासन ने मानव जाति की अविस्मरणीय सेवायें भी की हैं। राज्य ने सभ्यता और सस्कृति का पोषण किया है, कला साहित्य, दर्शन और विज्ञान का उत्थान किया है, व्यक्ति का नैतिक उत्कर्ष किया है और परमार्थ के प्रशसनीय कार्य किये हैं। राज्य एक अभिशाप नहीं है। यह तो एक सामाजिक सस्था है जिसका प्रयोग सर्व-

साधारण के हित में किया जाना चाहिये। आज के कल्याणकारी राज्य मानवता के लिये अनेक क्षेत्रों में जो भूमिका अदा कर रहे हैं वह राज्य की उपयोगिता का ज्वलन्त प्रमाण है। राज्य स्वयं दोषमय नहीं है। यह तो इसके संगठन और संचालकों पर निर्भर करता है कि इसका प्रयोग मानव-कल्याण के लिये किया जाय अथवा अन्य किसी उद्देश्य से।

अराजकतावादियों द्वारा राज्य को दमन शक्ति का यन्त्र कह कर अस्वीकार करना भी अनुपयुक्त है। राजसत्ता की निन्दा करके और मानव स्वभाव में देवत्व की कल्पना करके अराजकतावादी सिक्के के केवल एक ही पहलू पर प्रकाश डालते हैं, दूसरे पर नहीं। वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य न केवल सामाजिक और परोपकारी है बल्कि पाशविक और अपराधी भी है। मनुष्य की इस पाशविक वृत्ति को प्रेम से नहीं बल्कि दंड से ही संयमित रखा जा सकता है। केवल प्रेम के आधार पर निर्मित समाज चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता। मनुष्य मनुष्य है, वह देवता नहीं हो सकता। मनुष्य की दुर्बलताओं पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करके यदि राज्य को हटा दिया जाय तो जंगली जानवरों से भरे एक जंगल का सा दृश्य उपस्थित हो सकता है। राज्य के संरक्षण और कानून की सुरक्षा के अभाव में सब तरफ घोर अव्यवस्था व्याप्त हो जायगी समाज विरोधी समूह परस्पर मिलकर सज्जन और पुण्यात्मा व्यक्तियों को भयभीत करेंगे या नष्ट कर देंगे। राजसत्ता को समाप्त करना एक प्रकार से असंभव है। बर्ट्रेण्ड रसल के अनुसार, "यदि, जैसे कि अराजकतावादियों की इच्छा है, सरकार की ओर से बल का प्रयोग न हो, तब बहुमत अपने आपको संगठित कर लेगा तथा अल्पमत के विरुद्ध बल का प्रयोग करेगा। एक मात्र अन्तर यह रहेगा कि उनकी सेना तथा पुलिस अन्तरिम होगी, स्थाई अथवा व्यावसायिक नहीं।" पुनश्च, "समुदाय का अराजकतावादी आदर्श जिसमें कानून के द्वारा किसी भी कार्य को रोका नहीं जा सकता, किसी प्रकार भी वर्तमान समय में ऐसे संसार की दृढ़ता के साथ मेल नहीं खाता, जैसा कि अराजकतावादी चाहते हैं। राज्य, किसी न किसी रूप में, चाहे उसकी भूलों के सम्बन्ध में अथवा उसकी शक्ति के दुरुपयोग तथा उसकी अयोग्यता के विषय में कितना ही अधिक क्यों न कहा जाय सब मनुष्यों में नितान्त आवश्यक है तथा उसकी आवश्यकता सदैव बनी रहेगी।" सर जॉन सीले के शब्दों में, 'मानव इतिहास में जो कुछ भी महान् अथवा प्रशंसा के योग्य है, वह सब कुछ शासित समुदायों में पाया गया है। यह स्वतन्त्रता पर लगाई गई पाबन्दियों का ही परिणाम है। यदि राज्य समाप्त कर दिया जाए, तब अराजकतावाद की संक्षिप्त अवधि के पश्चात् वृद्ध पुरुषों का शासन अथवा किसी अधिक प्रारम्भिक अथवा मौलिक रूप के किसी अन्य स्वाभाविक समूह की स्थापना होगी तब समाज का अपने छोटे से छोटे उपकरणों से पुनः आरम्भ होगा तथा अन्त में केवल राज्य की पुनर्स्थापना से ही समाज बर्बरता अथवा असभ्यता की अवस्था से बच पाएगा।"

अराजकतावादी समाज वास्तव में मनुष्य के लिए नहीं, देवताओं के लिये ही हो सकता है। मनुष्य तो स्वभाव से ही अपूर्ण है और उसे पूर्ण करने के लिये ही राज्य का अस्तित्व है। मनुष्य को प्रारम्भ से ही पूर्ण मानकर

आपत्ति एकदम ही निराधार सिद्ध होगी। क्रोपोटकिन के अनुसार, अपवाद-स्वरूप यदि कुछ व्यक्ति कामचोर होंगे तो समाज सरलता से उनको नियन्त्रित कर सकेगा। सहयोग और ऐच्छिक काम पर आधारित समाज में ऐसे निकम्मे व्यक्ति को जिस घृणा से देखा जायगा वह घृणा-दृष्टि और उपेक्षा ही उसे सक्रिय बनाने में तथा उसके समान कामचोरों की संख्या को कम करने में काफी होगी और यदि इससे भी वांछित फल न निकले तो निकम्मे व्यक्तियों का संघ से निष्कासन भी सम्भव है। किन्तु क्रोपोटकिन का विश्वास है कि आदर्श समाज में सम्भवतः ऐसी स्थिति आयेगी ही नहीं। यह स्थिति आज के उस समाज में निरन्तर विद्यमान रहती है जिसमें व्यक्ति को अपनी रुचि का काम बहुधा नहीं मिलता, सामर्थ्य से अधिक काम करना पड़ता है और फिर भी यह परिणाम निकलता है कि यदि वह डाक्टर बनना चाहता है तो होता इंजीनियर है प्रशासक बनना चाहता है तो बनता अध्यापक है।

आदर्श समाज में विवादों का निर्णय जनता द्वारा स्वेच्छापूर्वक स्थापित पंच-न्यायालय करेंगे। चूंकि यह समाज-व्यवस्था स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित होगी अतः इसमें समाज-विरोधी कार्यों के लिए उत्तेजन का अधिकांशतः अभाव होगा। यदि फिर भी कहीं ऐसे समाज विरोधी कार्य हुए तो सामान्यतया "नैतिक प्रभाव तथा सहानुभूतिपूर्ण हस्तक्षेप" से उनका दमन हो सकेगा। "जहां इससे सफलता नहीं मिलेगी, वहां समुदायों से निष्कासन का भय अथवा व्यक्तियों द्वारा या असंगठित जन-प्रयत्न के द्वारा बलपूर्वक हस्तक्षेप से आवश्यक प्रतिकार हो सकेगा।" लेकिन ऐसी आवश्यकता यदाकदा ही पडेगी। क्रोपोटकिन ने, इस तरह स्पष्ट किया कि अराजकतावाद का अर्थ शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का अभाव नहीं है। अराजकतावादी समाज में सर्वत्र व्यवस्था होगी, शांति होगी और मनुष्य सानन्द साथ-साथ रह सकेंगे।

क्रोपोटकिन का विश्वास था कि घटनाओं का स्वाभाविक मार्ग अराजकतावादी उद्देश्य की ओर प्रवाहित हो रहा है अर्थात् वर्तमान समय में विश्व अराजकता की ओर ही जा रहा है। आजकल प्रतिदिन लाखों की संख्या में कारोबार बिना सरकारी हस्तक्षेप से होते हैं और समझौतों का ईमानदारी से पालन किया जाता है। समझौतों के पालन के पीछे किसी दण्ड का भय निहित नहीं होता बल्कि अपने पडौसी के विश्वास एवं सम्मान को बनाये रखने की इच्छा अथवा वचन-पालन की स्वाभाविक आदत होती है। आज स्वेच्छाकृत समझौतों के द्वारा विशाल रेलवे कम्पनियों और उत्पादक-संघों का संगठन किया जाता है। इसी तरह सांस्कृतिक व परोपकारी कार्य करने के लिए छोटे-बडे नाना संघों की स्थापना की जाती है। वस्तुतः आज प्रायः हर क्षेत्र में नागरिकों की स्वेच्छापूर्वक सहकारी प्रवृत्तियों की अपेक्षा सरकारी कार्य का महत्व घटता जा रहा है। क्रोपोटकिन ने बताया कि जहां पर शासन का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो रहा है, वहां भी साम्यवादी सिद्धांत का प्रभाव निरन्तर पड़ता जा रहा है। आज सरकारी अजायबघरों, वाचनालयों, पुस्तकालयो, उद्यानों तथा सड़कों आदि का रूप सार्वजनिक हो गया है, वे सबके लिए खुले रहते हैं। इनके प्रयोग के लिए किसी को कुछ नहीं देना

पड़ता। अधिकांश देशों में शिक्षा मुफ्त दी जाती है। ब्रिटेन एवं अन्य देशों में मंगलकारी राज्य का सिद्धांत (*The Conception of Welfare State*) और व्यवहार भी आवश्यकतानुसार वितरण के साम्यवादी आदर्श की ओर ही एक कदम है। इन सब बातों को देखते हुए क्रापोटकिन यही मानता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति सरकारी हस्तक्षेप को घटाते घटाते सर्वथा शून्य कर देने की है।

क्रोपोटकिन का कहना है कि यद्यपि आज विश्व की प्रवृत्ति अराजकतावाद की ओर जाने की है तथापि अराजकतावादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सभी काम शांतिमय ढंग से ही पूरे नहीं हो जायेंगे, अन्त में क्रांति का सहारा लेना ही पड़ेगा। शक्ति के वर्तमान यन्त्रों तथा संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत की गई सम्पूर्ण बाधाओं को उस क्रमिक एवं शांतिमय विकास द्वारा अन्तिम रूप से दूर नहीं किया जा सकता जो कि संसार में हो रहा है। इस विकास का अवसान तो एक अन्तिम क्रांति में होना ही चाहिए। अपनी शुरू की अवस्था में यह क्रांति हिंसात्मक और विनाशकारी होगी। वर्तमान शासकों को निकालना होगा, बन्दीगृहों को नष्ट कर देना होगा तथा पारस्परिक सहयोग को फिर से स्थापित कर देना पड़ेगा। जब दमनकारी सत्ता के आधार भूत साधन बलपूर्वक नष्ट कर दिये जायेंगे, तब जनता व्यक्तिगत सम्पत्ति को छीनने का कार्य करेगी। कृषक जमींदारों को नष्ट कर देंगे और श्रमिक मालिकों को हटा देंगे। जिनके पास अब तक रहने के लिए जमीन नहीं थी अथवा छोटे और अपर्याप्त झोंपड़े थे वे पूंजीपतियों के सुविशाल भवनों की अतिरिक्त जगहों में जा बसेंगे।

इस समस्त कार्य के पश्चात समाज के रचनात्मक पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ होगा। यह सब ऐच्छिक प्रक्रिया के अनुसार होगा, किसी बाहरी सत्ता के दबाव से नहीं। अपने नवीन समाज के चित्र के विषय में क्रोपोटकिन यद्यपि मार्क्स से बहुत कुछ सहमत था और उसकी कल्पना के अराजकतावादी समाज की रूपरेखा साम्यवादी थी, किन्तु मार्क्स के समान वह किसी सरकार या सक्रमणकालीन अधिनायकतन्त्र की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता था। क्योंकि उसका तो अर्थ होगा क्रांति का विनाश। 'यदि राज्य का विघटन एक बार आरम्भ हो गया, यदि एक बार अत्याचार का यन्त्र क्षीण होने लगा तो स्वतन्त्र संघ या सभायें स्वतः बनने लगेंगी। जब सहकारिता राज्य की ओर से जनता पर नहीं लादी जायेगी तब स्वाभाविक आवश्यकताएं ऐच्छिक सहकारिता को जन्म देंगी। राज्य का विनाश हो जाने पर उसके अवशेष में से स्वतन्त्र समाज का जन्म होगा।" क्रोपोटकिन के अनुसार अराजकतावादी समाज अनेक स्वतन्त्र समुदायों से मिलकर बनेगा, किन्तु ऐसे समाज में न ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त संगठन होंगे और न ऐसे वर्ग होंगे और न राज्य ही होगा जो कि एक संगठन को दूसरे के मूल्य पर रक्षा प्रदान करे। सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए ऐच्छिक संघ होंगे जिनमें से कुछ क्षेत्रीय आधार पर होंगे और कुछ व्यावसायिक आधार पर संगठित होंगे। ये संघ वे सभी कार्य करेंगे जो आज राज्य करता है। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे समाज में सामञ्जस्य कैसे स्थापित होगा? इसका उत्तर यह है कि जब लोग समुचित रूप से शिक्षित हों। जब धनी और निर्धन नहीं होंगे, तब हितों के बीच संघर्ष भी

शायद ही कभी होंगे और तव सामञ्जस्य अपने आप ही बना रहेगा। इस तरह अराजकतावादी समाज एक वास्तविक स्वतन्त्रता की दशा होगी जिसमें सब लोग भली प्रकार खुले वातावरण में सांस ले सकेंगे।

आतंकवादी अराजकतावाद
(Terroristic Anarchism)

बैकुनिन तथा क्रोपोटकिन के अराजकतावादी सिद्धान्तों को उनके कुछ अनुयायियों ने आतकवादी रूप दिया। क्रांति में विश्वास रखनेवाले इन अनुयायियों में से कुछ के विचार में यह उचित था कि केवल सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा नहीं, बल्कि कार्यो द्वारा अराजकतावाद का प्रसार किया जाय। इनका विश्वास कार्यो और राजनैतिक हत्याओं में था। बैकुनिन और क्रोपोटकिन के अराजकतावादी सिद्धान्तों के प्रचार के लिये गत शताब्दी में यूरोप और अन्य देशों में अनेक सगठन बनें। जॉन मोस्ट (*Johann Most*) नामक अराजकतावादी ने इस प्रकार के कार्यो को पहले जर्मनी और बाद में सयुक्त राज्य अमेरिका में सगठित किया। उसने अपने अनुयायियों को प्रभुत्व प्राप्त वर्गो के विरुद्ध गुरीला युद्ध व बमों के प्रयोग करने का आदेश दिया, परन्तु यह आन्दोलन शीघ्र ही कुचल दिया गया। सन् १८८६ में शिकागो में अराजकतावादी नेताओं पर मे-दिवस (*May Day*) पर विद्रोह करने का दोषारोप किया गया और उन्हें प्राण दड दिया गया। इस घटना के बाद यह आन्दोलन नष्ट हो गया। मोस्ट को डाइनेमाइट का प्रयोग का समर्थन करने के लिये एक वर्ष के कारावास का दंड मिला। मुक्त होने के बाद उसने अराजकतावादी विचारों को तिलांजलि दे दी। सन् १८९० के बाद इमा गॉल्डमेन के नेतृत्व में अराजकतावादी आन्दोलन पुन: शुरू हुआ, जिसमें यूरोप के अनेक युवक भी शीघ्र ही सम्मिलित हो गये। इन अराजकतावादियों ने बड़ी निर्भीकता से तत्कालीन आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की निन्दा की, किन्तु वे अपने पूर्ववर्ती जॉन मोस्ट एवं अन्य आतंकवादी अराजकतावादियों की भांति तुरन्त ही क्रांतिकारी कार्यों के अवलम्बन पर जोर नहीं देते थे। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक वे सामान्यत: शासन से बचे रहे, लेकिन युद्ध शुरू होते ही उनमें से अनेक जेलों मे डाल दिये गये और अनेक निर्वासित कर दिये गये। इस तरह क्रांतिवादी अराजकतावाद एक प्रकार से अमेरिका से विलुप्त ही हो गया। यद्यपि अमेरिका में आज भी अराजकतावादियों के कुछ छोटे समुदाय विद्यमान हैं और ये समुदाय पत्र भी निकालते है, लेकिन उनके विचार अत्यन्त शान्त एवं काल्पनिक ढग के हैं।

विध्वंसात्मक रूप में अराजकतावाद के व्यावहारिक कार्यक्रम को क्रोपोटकिन और बैकुनिन की अपेक्षा रूस के कुछ 'शून्यवादियों या नकारवादियों' (*Nihilists*) से अधिक प्रोत्साहन मिला। वास्तव में ये शून्यवादी केवल राजकीय संस्थाओं को ही उखाड़ फैंकने के पक्ष में न थे उनका कार्यक्रम तो अराजकतावादियों से अधिक विस्तृत था। वे सस्थापित विचारों, सस्थाओं और मानदडों के विरोधी थे। 'शून्यवाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले साहित्यिक और कलात्मक आलोचना के क्षेत्र में होता था अर्थात् रूस के सांस्कृतिक जीवन की, (विशेषकर १९वीं सदी में) विभिन्न धाराओं में उसके बीज विद्यमान

थे। "कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित परम्परावाद के विरोधी लोग सब प्रकार के परम्परागत मानदंडों (*Traditional Standards*) को नष्ट करने का प्रयत्न करते थे और कलात्मक अभिव्यक्ति के समस्त रूपों में स्वाभाविकता तथा स्वच्छंदता के समर्थक थे। इन्हीं से सम्बद्ध 'यथार्थवादी' दार्शनिक थे, जिन्होंने तत्कालीन दर्शन की मीमांसा पद्धति के स्थान पर प्राकृतिक विज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया और अनुभव को ही प्रमाण मानना उचित समझा। धर्म तथा समाज के क्षेत्र में शून्यवादी दृष्टिकोण सत्तावाद, कट्टरवादिता, सर्वातिशायिता (*Transcedentalism*) तथा नियम-निष्ठता (*Formalism*) की निन्दा में तथा धर्म में नास्तिकता और नीति में सुखवाद (*Hedonism*), परीक्षणवाद (*Experimentalism*) तथा मानववाद (*humanism*) की शिक्षा में प्रकट हुआ। रूस के समाज, राज्य तथा धर्म (चर्च) में निश्चलता, प्रमाद तथा प्रमानुषिकता का जो राज्य था, उसके विरुद्ध शून्यवादियों की ये प्रवृत्तियां एक प्रकार से स्वाभाविक प्रतिक्रिया थीं।"[1]

'शून्यवाद' के विचारों के राजनीतिक रूप का प्रतीक सर्गी नेत्सेव (*Sergei Netschaiev, 1848–1882*) था, जो अराजकतावादी ध्येय की प्राप्ति के लिये सभी साधनों अर्थात् सभी प्रकार के तोड़फोड़ के कार्य और राजनीतिक हत्याओं को उचित मानता था। उसने अपने लेखों में अराजकतावादी कार्यक्रम के विध्वंसात्मक पहलुओं पर अधिक बल दिया। नेत्सेव का सिद्धान्त था कि जब तक कथनी को करनी में परिणत न किया जाय तब तक कथनी का कोई मूल्य नहीं। अराजकतावादियों का कार्य भावी समाज के संगठन की योजना का चित्रमात्र खींचना नहीं है। अराजकतावादियों के "कार्य द्वारा प्रचार के सिद्धान्त" (*Theory of Propaganda by Deed*) को यूरोप भर के अराजकतावादियों ने अपनाया और वह अराजकतावादी सामरिक नीति का विशिष्ट अंग बन गया। संसार के अनेक देशों में जो प्रकट कार्य किये गये उनमें 'शून्यवादी' एवं 'अराजकतावादी' प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। भारत में भी विभाजन के पूर्व कई वर्ष तक आतंकवादी आन्दोलन चला। यह आतंकवादी विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए सभी प्रकार के आतंकवादी कार्यों—बमों और गोलियों द्वारा विरोधियों की हत्यायें करना, और शासकों को आतंकित करने आदि बातों में विश्वास करते थे। परन्तु बैकुनिन और क्रोपोटकिन आतंकवाद और राजनीतिक हत्याओं के समर्थक नहीं थे। उनके विचार में अराजकतावादी क्रान्ति के लिये आतंक के शासन की आवश्यकता नहीं। अराजकतावादियों के लिए संगठित और आवश्यक हो तो हिंसक, कार्यों द्वारा सरकारों को उखाड़ फेंकना उचित नीति है, परन्तु इसका अर्थ आतंकवाद और हत्याओं से नहीं है। उनके अनुसार राज्य, सम्पत्ति तथा चर्च का अन्त होना है, राजनीतिज्ञों, सम्पत्तिवानों तथा धर्म पुरोहितों का नहीं।

कुछ अराजकतावादियों का पूर्णतः शान्तिवादी अराजकतावाद में विश्वास था। टालस्टॉय, गांधी रसल आदि की गिनती ऐसे ही अराजकता-

1 कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ २३१

और कल्पना की इस आधारभूमि पर एक पूर्ण समाज का चित्रांकन करना, मानव मनोविज्ञान का अज्ञान दिखलाना है। पूर्णता मनुष्य का नहीं, देवताओं का गुण हो सकता है। अतः आलोचकों के कथनानुसार, अराजकतावाद यदि कहीं पर एक व्यावहारिक दर्शन बन सकता है तो केवल स्वर्ग में ही, न कि इस पृथ्वी पर।

अराजकतावादियों द्वारा धर्म को अमान्य ठहराना भी गलत है। सचमुच यह एक दुर्भाग्य की बात है कि अराजकतावादी उस शक्ति की उपेक्षा करते हैं जो मनुष्य की पाशविक शक्तियों का उदात्तीकरण करने में सक्षम है। जो चीज जीवन को ऊंचा उठा सकती है, जीवन में क्रांतिकारी सुपरिवर्तन ला सकती है—वह एक सच्चा धर्म है, किन्तु अराजकतावादी उसी का तिरस्कार करते हैं। वे भूल जाते हैं कि सच्चा धर्म वह शक्ति है जिससे त्रिभुवन कम्पित-कारिणी वीरता भी कम्पायमान हो जाती है। जिस पथ पर स्त्री का प्रेम, ससार की वुद्धि, मनुष्य का सौंदर्य, स्वदेह-चिन्ता, अपने मन का स्वार्थ सब नष्ट हो जाते हैं वहां पर भी धर्म अडिग रहता है। धर्म की व्यापकता को इस तरह नष्ट करके उसे एक आडम्बर गिनना धर्म के महत्व को न जानना है। आध्यात्मिक जीवन को तिरस्कृत करना एक भूल है। आध्यात्मिकता तो मनुष्य के जीवन की नैतिकता का आधार है।

अराजकतावादी इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वे घूमकर उसी विन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहां से चले थे। अराजकतावाद, जैसा कि पहले कहा गया है सत्ता विरोधी है। एक ओर वह मानता है कि व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का कोई अंकुश नहीं होना चाहिये. किन्तु दूसरी ओर वह समाज की व्यवस्था का कार्य कुछ ऐसे संघों को सौंपना चाहता है, जो वर्तमान राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यो को सम्पन्न करेंगे। ये सघ भी आखिर उल्लघन पर कुछ न कुछ दण्ड तो देंगे ही। फिर यह कभी संभव नहीं है कि इन सस्थाओं में सब कार्य एक मत होकर किया जावे। बहुमत अल्पमत पर अपना निर्णय थोपेगा और इस प्रकार सत्ता का उपयोग करेगा। स्पष्ट है कि सत्ता तथा वल का अभाव, जिसकी अराजकतावादी कल्पना करते ह, संघों मे सगठित समाज में संभव नहीं हो सकेगा।

अराजकतावादियों का यह कहना यद्यपि सही है कि वर्तमान समाज में होनेवाले अधिकांश अपराधों का मूल वह आर्थिक व्यवस्था है जिसका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा निर्बंद प्रतिस्पर्द्धा है, तथापि यह बात मान्य नहीं है कि समस्त अपराध सम्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अपराधों और संघर्षों का कारण जर (धन) और जमीन के अतिरिक्त जन (स्त्री) भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों की महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या द्वेष और काम भावना से उत्पन्न होने वाले अपराधों की संख्या और समस्यायें भी नगण्य नहीं है। एक केन्द्रीय शासन और फौजदारी कानून के विना ऐसी समस्याओं का हल कैसे किया जायेगा यह समझ में नहीं आता।

आलोचकों का कहना है कि अराजकतावादी स्वतन्त्रता पर अनुचित वल देते है। वे इस बात को पूर्णरूप से भूल जाते है कि स्वतन्त्रता केवल एक साधन मात्र है न कि अपने आप में उद्देश्य। साथ ही स्वतन्त्रता तथा सत्ता एक दूसरे से पृथक वस्तुयें न होकर एक दूसरे की पूरक तथा सहायक है।

क्रोपोटकिन जैसे अराजकतावादियों का यह कथन कि समाज का विकास अराजकतावाद की दिशा में हो रहा है, सत्य प्रतीत नहीं होता। वर्तमान युग में तो राज्य के कार्यक्रम कम होने की बजाय बढ़ रहे हैं।यद्यपि यह सत्य है कि प्रगतिशील देशों में अनेक संगठन ऐच्छिक आधार पर बन रहे हैं और इन संगठनों का समर्थन श्रेणी समाजवादी और बहुलवादी करते हैं, किन्तु अन्त में उन्हें भी राज्य को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ा है। ऐच्छिक तथा अन्य संगठनों का निर्माण एक तथ्य है, किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि ये कभी भी राज्य का स्थान नहीं ले सकते। इनके आपसी सम्बन्धों का नियमन राज्य ही करता है।

अराजकतावादी अपने कल्पना के समाज की बातें तो करते हैं, किन्तु अपने उद्देश्य में स्पष्ट नहीं हैं। राज्य के नष्ट होने के पश्चात् समाज में किस प्रकार की व्यवस्था होगी। ऐच्छिक संघों को संगठित करनेवाली कौनसी सत्ता होगी? यदि इन संघों में झगड़ा होगया तो निपटारा कैसे होगा? तथा किसी सदस्य ने यदि संघ के आदेश मानने से इन्कार कर दिया तो क्या होगा आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें अराजकतावाद निरुत्तर छोड़ जाता है। अराजकतावादी यह भी नहीं बताते कि अराजकतावादी समाज में उन धर्म-पुरोहितों, कबायली परम्पराओं के रक्षकों तथा नैतिक अधिकारियों का कि जिन्होंने भूतकाल में सरकारों की स्थापना करने तथा जनता पर शासन करने में प्रमुख रूप से शासकों की सहायता की थी, क्या दशा होगी। कहीं भी ऐसा सुझाव नहीं मिलता कि अराजकतावादी उन्हें नष्ट कर देंगे जैसा कि साम्यवादी कहते हैं कि पुरातन व्यवस्था के सभी हिमायतियों को श्रमजीवी तानाशाही समाप्त कर देगी।

अराजकतावादी राज्य की तुलना में अपनी शक्ति को आंकने की भी परवाह नहीं करते, और अपने साधनों के विषय में भी एकमत नहीं हैं। क्रोपोटकिन का विचार था कि क्रांति पहले एक देश में होगी और तब वह अन्य देशों में फैल जायगी तथा पूर्ण सफलता प्राप्त करने में लगभग तीन चार वर्ष का समय लगेगा। बैकुनिन ने भी अपनी सामाजिक व्यवस्था की सुदूर भविष्य के लिये एक आदर्श के रूप में कल्पना नहीं की थी वरन् वह तो उसे ऐसा लक्ष्य मानता था जिसकी प्राप्ति शीघ्र ही सम्भवत १९वीं शताब्दी से पूर्व ही करनी थी। किन्तु अराजकतावादी समाज की स्थापना का स्वप्न पूरा होना तो दूर रहा, स्वयं अराजकतावादी दर्शन ही आज मृतप्राय होगया है। पुन, यह विश्वास करना ही एक भयकर भूल है कि आधुनिक राज्य की महान् शक्ति और दृढ विरोध के मुकाबले में एक अराजकतावादी क्रांति सफल हो जायगी। कुछ विध्वंसकारी अराजकतावादियों ने अमेरिका में हिंसात्मक विद्रोह करने की चेष्टा की थी। जॉन मोस्ट ने अपने अनुयायियों से सम्पत्तिशाली वर्गों के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छिड़ने का और बमों तथा विष का प्रयोग करने का निर्देश किया था। किन्तु राज्य ने अपनी एक ही चोट में हिंसक वृत्तिवाले अधिकांश अराजकतावादी नेताओं को प्राणदंड देदिया और जॉन मोस्ट को जेलखाने की हवा खिला दी। बेचारे मोस्ट ने मुक्त होने के बाद अराजकतावादी विचारों को ही तिलांजलि दे दी। बाद में प्रथम विश्व युद्ध के बाद अराजकतावादी नेताओं में से अनेक को कारावास

का दंड दिया गया और अनेक को निर्वासित कर दिया गया। इसके बाद क्रांतिवादी अराजकतावाद की सैद्धान्तिक चर्चा या समर्थन भी समाप्त होगया। अराजकतावादियों के आज जो छोटे समुदाय विद्यमान है उनके विचार बहुत ही शांत और काल्पनिक ढग के हैं।

अन्त में, समस्त वस्तुओं में स्वतंत्र भागीदार होने का अराजकतावादी सिद्धान्त भी यथार्थ से परे है। एक समाज में आलसियों और निष्क्रिय व्यक्तियों की उपस्थिति इसे अव्यावहारिक बना देगी। जब तक मानव स्वभाव में ही कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं हो जाता, तब तक परिश्रम करने वाले लोग अपने खून-पसीने से पैदा की गई वस्तुओं में हराम खोरों को भाग देने के लिये सहर्ष तैयार नहीं हो सकते। प्राय: यह देखा जाता है कि सयुक्त परिवार के एक छोटे से दायरे में भी, जहां कि परिवार के सदस्यों में रक्त का सम्बन्ध होता है, अधिक कमानेवाला भाई या अन्य सदस्य कम कमानेवाले भाई या सदस्य को समान भाग देने पर आपत्ति करता है। तब यह कल्पना निश्चय ही हास्यास्पद है कि समाज के एक वृहत्तर दायरे में समस्त वस्तुओं में समस्त घटक स्वतंत्र भागीदार होंगे। "आवश्यक सामग्री के आवश्यकतानुसार वितरण की प्रणाली के लिए एक अत्यन्त कुशल और शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता है; एक अराजकतावादी समाज में जहां कि स्वार्थी और महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को अपने कमजोर भाईयों का शोषण करने से रोकने के लिए कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं होगी इस प्रणाली के सफल हो जाने की कोई सम्भावना नहीं। अनावश्यक और बुरा होना तो दूर रहा राज्य सामाजिक जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है।

अराजकतावाद का मूल्यांकन (Evaluation of Anarchism)—यद्यपि अराजकतावाद आलोचकों के हाथों में पड़कर आज के समाजवादी युग में एक मृत सिद्धान्त होगया है और यह भी सत्य है कि आज के जटिल समाज व सभ्यता के विकास के लिये इसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता किन्तु इतना होते हुए सैद्धान्तिक दृष्टि से यह एक तथ्यपूर्ण और ठोस विचारधारा है। राज्य में रहते हुए तथा राज्य के आशीर्वादों का उपभोग करते हुए भी हम नहीं भूल सकते कि हमारी पूर्णता इसीमें है कि हम इसके बिना अपने को सुखी तथा आनन्दमय रख सकें। फिर फोरियर (*Fourier*) की इस उपमा में भी कम आकर्षण नहीं है कि "कुछ कंकड लो, उन्हें एक घड़े में बन्द करो और फिर उन्हें हिलादो, वे अपने आपको इस कलात्मक ढंग से व्यवस्थित कर लेंगे कि तुम किसी भी कुशल व्यक्ति को यह कार्य सोंपकर उन्हें इस सुन्दरता से नहीं जमा सकोगे।" लेकिन मनुष्य और पत्थर के ककड़ों में दिन-रात का अन्तर है। प्राकृतिक निर्जीव वस्तुओं के नियम केवल कुछ समानता के आधार पर ही सजीव तथा चेतनापूर्ण मानव-समाज पर लागू नही हुआ करते। पर यह सब होते हुए भी "अराजकतावाद हमारी नागरिकता को एक चुनौती है, जिसे हमें बहुत गभीरता के साथ स्वीकार करना चाहिये और राजनैतिक संस्थाओं में विश्वास करनेवाले को उचित है कि वे उन्हें अधिक लोकप्रिय तथा विश्वास के योग्य बनाने का प्रयत्न करें।"

बाह्य रूप से अव्यावहारिक विचारधारा लगते हुए भी अराजकतावाद शास्त्रीय दृष्टि के एक मूल्यावान दर्शन है जिसने राज्य तथा समाज सम्बन्धी कितने ही सत्यों का उद्घाटन किया है और अनेक दोषों तथा दुर्बलताओं के होते हुए भी पूर्ण मानव समाज के लिये एक आदर्श प्रस्थापित किया है। इसने व्यक्ति को नैतिक रूप से उन्नत प्राणी माना है और इस सर्व स्वीकृत सत्य को सामने ला पटका है कि मनुष्य जन्म से दुर्गुणी नहीं होता, बल्कि इस घृणित समाज के वातावरण में पलकर ही वह व्यभिचारी अथवा दुराचारी बनता है। अराजकतावाद ने इस बात पर भी सर्वथा उचित बल दिया है कि आत्म निर्भरता तथा सहयोग की भावना ही उन्नति का मूल यन्त्र है। राज्य की अति महत्ता के खंडन के साथ–साथ यह बताता है कि मनुष्य अपनी उन्नति के लिये राज्य अथवा अन्य किसी सहायता के लिये हाथ न फैलाये बल्कि अपने पैरों पर खड़ा रहना सीखे और आपस मे मिलजुलकर अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करे। राज्य के अभाव मे व्यक्ति–जीवन की अनिवार्य सामग्री तथा आवश्यकताओं के लिये खुद प्रयत्नशील होगा जिसके कारण उसके जीवन मे एक कमण्यता तथा कर्तव्य–चेतना रहेगी। ऐच्छिक संघों के गठन को स्वीकृति देकर भी अराजकतावाद अपने दर्शन को एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। विभिन्न संघों मे संगठित होने के कारण व्यक्ति अधिक सामाजिक बनेगा और उसकी प्रसुप्त सहयोग की भावना जाग्रत होकर उसे मानवोचित जीवन बिताना सिखलायेगी। वास्तव मे जीवन में उन्नति का मूलमंत्र आत्म–निर्भरता तथा पारस्परिक सहयोग की भावना है, इस पर बल देनेवाले अराजकतावादी सिद्धान्त पर आपत्ति नही की जा सकती।

अराजकतावाद आज के उस समाज के लिये एक न्यायोचित भर्त्सना है जहा पर न्याय और स्वतन्त्रता सारहीन शब्द रह जाते हैं। अराजकतावाद इस तथ्य पर बल देता है कि आधुनिक जनतंत्र हमारी गंभीर समस्याओं का निश्चित समाधान नहीं है। यह राजनीतिक जीवन के बढ़ते हुए यन्त्रीकरण का विरोध करता है, और उन राज्य संस्थाओं की पूजा का विरोध करता है जो आवश्यक रूप से स्वयमाध्य बन जाने की प्रवृत्ति रखती हैं। यह आधुनिक राज्य की उस केन्द्रीयकरण की नीति का विरोध करती है, जो समाज के सभी कार्यों को एक निश्चित रूप देना चाहती हैं, और शनैः शनैः न केवल भौतिक उत्पादन को वरन् साहित्य, विज्ञान, कला एवं शिक्षा को भी राज्य के एकाधिकार में बदल देना चाहता है जिसके अन्तर्गत सभी अल्पसंख्यक शासक दल के मानदंड को स्वीकार करने के लिये बाध्य होंगे। अराजकतावाद का आग्रह है कि प्रत्येक सामाजिक सम्बन्ध की माप उन व्यक्तिगत आवश्यकताओं के आधार पर होनी चाहिये जो उसमें निहित होती हैं, राज्य तो इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये न्याय के आधार पर साधनमात्र है। क्षेत्रवाद, संघवाद तथा राष्ट्रवाद से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीयवाद की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तियों का यह प्रतीक है और वर्तमान राज्य की बढ़ती हुई एकरूपता और यन्त्रीकरण के विरोध मे वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन की सम्पन्नता का दैवीकरण है।

अराजकतावाद द्वारा पूंजीवाद और धर्म की भर्त्सना निराधार नहीं,

है। जो हमारे दैनिक जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप करता है उसका जड़ें पूंजीवाद और धार्मिक भय आदि स्तम्भों पर टिकी हुई है। पूंजीवाद सच्चे रूप में आज के समाज की दयनीय एवं सोचनीय स्थिति का जन्मदाता है। इसी के कारण वर्तमान समाज स्पष्टतः दो असंतुष्ट वर्गों में बंटा है जिनमें चलनेवाला सतत संघर्ष, एक दूसरे की चिन्ता का विषय बना हुआ है। इसे शायद ही कोई विवेकशील प्राणी अस्वीकार करे कि सम्पन्नता तथा बहुलता के मध्य में दरिद्रता का आवास मानव सभ्यता पर बहुत बड़ा कलंक है। धर्म पर अराजकतावादी आक्रमण भी इस दृष्टि से उपयुक्त है कि यथार्थ में धर्म सत्ताधारियों और पूंजीपतियों के हाथ में पड़कर एक पाखण्ड अथवा अफीम मात्र रह गया है और इसने भाग्यवाद के दर्शन द्वारा मानव समाज के एक बड़े हिस्से को आगे न बढ़ने देकर पीछे धकेला है।

अराजकतावादी योजना की अन्तिम व्यावहारिकता उस पुरातन द्विधा के उत्तर पर निर्भर करती है जिसको *Bastiat* ने स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है, "क्या यह सत्य है कि प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था परस्पर विरोधी वर्गों को जन्म देती है, जो अन्ततोगत्वा अनिवार्य रूप में समाज को अति धनाढ्य एवं अत्यन्त दीन ऐसे दो वर्गों में विभक्त कर देगी जो आपस में एक दूसरे से इतनी ही दूर होंगे जितना कि उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से दूर है, या क्या यह और भी सत्य है कि यदि कुछ कृत्रिम प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया जाय तो आर्थिक जीवन स्थाई शान्ति की स्थापना कर सकता है।" यदि पहला विकल्प सत्य है तो समाज का अनिवार्य नियम एक नैतिक अनिवार्यता हो जाता है, और यदि दूसरा विकल्प सत्य है तो राज्य के निरन्तर बढ़ते हुए विकेन्द्रीकरण तथा स्वतंत्र सामुदायिक जीवन की अधिकाधिक वृद्धि के लिये मार्ग खुला हुआ है।

QUESTIONS

Chapter 9

Q. 1. How will you define Utopian Philosophy of Socialism ? Give a brief analysis of the political philosophy of (i) Saint Simon. (ii) Charles Forier. (iii) Robert Owen.

आप कल्पनावादी समाजवाद की परिभाषा कैसे देंगे ? सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा राबर्ट ओवन के राजनैतिक विचारों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कीजिये ।

Q 2. What are the special features of the political philosophy of Karl Marx ? What are the corner stones of Theoritical Foundations of Marxian Theory ?

कार्ल-मार्क्स के राजनैतिक दर्शन की विशेषतायें क्या है ? मार्क्स के प्रेरणा-सूत्र अथवा सैद्धान्तिक मूलाधार क्या है ?

[illegible]

"मार्क्स के उत्थान करते समय समाजवाद एक अव्यवस्थित स्थिति में था, किन्तु उसने शीघ्र ही इसे अपने विचारों से महत्वपूर्ण बना दिया और विश्व के समस्त देशों के श्रमिकों के हितों के लिये इसके अन्तर्गत अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हो गयी ।" विवेचना कीजिये ।

Q. 4. Compare and contrast the dialecties of Hegal and the dialectical materialism of Karl Marx.

हीगल के द्वन्द्ववाद और कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तुलनात्मक विवेचना कीजिये ।

[illegible]

"हीगल के विचारों में द्वन्द्वात्मक चिन्तन शीर्षासन कर रहा था, मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रान्तियां दूर करके उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल खड़ा किया ।" (सबाइन)

इस कथन के प्रकाश में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विवेचना कीजिये ।

Q. 6. "Dialectic enables the party to find the right orientation to any situation, to understand the inner connections of current events, to foresee their course, and to percieve not only how and in what direction they are developing in the present, but how in what direction they are bound to develop in the furture". How far do you agree with this Statement ?

"द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी दिशा को जान सकता है, और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान में किस प्रकार और किस दिशा में चल रहे हैं, अपितु वह यह भी देख सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी।"—आप इस कथन से कहां तक सहमत हैं ?

Q. 7. "The dialectic may give us valuable insight into the history of human development, the Marxist claim that it constitutes the only scientific approach to reality cannot be allowed." Discuss.

"यद्यपि द्वन्द्ववाद हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है लेकिन मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसंधान करने के लिए यही एक मात्र पद्धति है।" विवेचना कीजिये।

Q. 8. What is Marx's materialistic interpretation of History ?

मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से आप क्या समझते हो ? पूर्णतः व्याख्या करिये।

Q. 9. State and examine critically the Marxian theory of social development, and determine the extent to which it has been outdated and outnoted by recent development.

मार्क्स के सामाजिक विकास के सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये और निश्चित कीजिये कि आधुनिक विकास द्वारा यह किस सीमा तक पुरानी पड़ चुकी है ?

Q. 10. "Historical materialism designates that view of the course of history which seeks the ultimate cause and the great moving power of all important historical events in the economic development of society in the changes in the modes of production and exchange, in the consequent division of society into distinct classes and the struggle these classes against one another."—Engels

In light of this statement discuss Marx's materialistic interpretation of history.

Q. 11. Explain and discuss Marx's view of materialistic interpretation of History. What contribution does it make to political philosophy ?

मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को विस्तार से बताइये और उसकी विवेचना कीजिये। राजनीतिक दर्शन के प्रति इसका क्या अनुदाय है ?

Q. 12. Give a critical estimate of the theory of Economic Interpretation or Materialistic conception of History of Karl Marx.

कार्ल मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी धारणा अथवा आर्थिक इतिहास सम्बन्धी धारणा का मूल्यांकन कीजिए।

Q. 13. Give a critical estimate of Marxian theory of (a) Class Struggle, (b) Surplus value.

मार्क्स के (अ) वर्ग-संघर्ष, एवं (ब) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

Q 14. Describe and examine the Marxian theory that—(a) "The mechanism of social change is to be found in the [illegible] T[illegible]ory of surplus value is an [illegible] ording to which the value [illegible] to the quantity of labour [illegible] our is in accordance with the exhisting standard of efficiency of production."—(Wayper)

मार्क्स के इस सिद्धान्त की व्याख्या और परीक्षा कीजिये कि—(अ) "सामाजिक परिवर्तन का यन्त्रीकरण वर्ग संघर्ष के विचार में निहित है, (ब) मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, बशर्ते कि यह श्रम उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के तुल्य हो।'

Q 15. "Marx's theory of value has rather the significance of a political and social slogan than of an economic truth."—(Max Beer). Discuss Marx's theory of Surplus value.

"मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त आर्थिक सत्य के बनिस्पत सामाजिक और राजनैतिक महत्व का नारा है।' मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।

Q. 16. What do you understand by the theory of surplus value as expounded by Karl Marx ?

कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के विषय में आप क्या जानते हैं ?

Q. 17. Give an analysis of the Programme of Marx as laid down in his Manifesto

मैनीफेस्टो में बताये गये कार्ल मार्क्स के प्रोग्राम का विश्लेषण प्रस्तुत कीजिये।

Q 18. "What I did that was new was to prove (i) that the existence of classes is only bound up with the particular historic phases in the development of production, (ii) that the class struggle necessarily leads to the dictatorship of the proletariat, (iii) that this dictatorship itself only constitutes the transition to the abolition of all classes and to a classless society" (Marx) Do you agree with these three claims of Marx ? Give reasons in support of your answer.

"जो कुछ भी मैंने नया किया वह यह सिद्ध करना था कि (i) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास में होनेवाले विशेष ऐतिहासिक पहलुओं से आबद्ध है, (ii) वर्ग-संघर्ष आवश्यक रूप से श्रमिकों के अधिनायकत्व की ओर ले जाता है, (iii) यह अधिनायकत्व स्वयं केवल मात्र उस संक्रमण-कालीन अवस्था की रचना करता है जिसमें सभी वर्गों की समाप्ति होगी और बाद में एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।" (मार्क्स) क्या आप मार्क्स के इन दावों से सहमत हैं ? अपने उत्तर के समर्थन में कारण बताइये।

Q. 19. Critically examine the Marxian concepts of social and political revolution and the dictatorship of proletariat.

मार्क्स की सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति तथा श्रमजीवियों की तानाशाही की धारणाओं की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

Q. 20. 'Indeed, the divergence of interests within the ruling and the ruled classes goes so far that Marx's theory of classes must be considered as a dangerous over simplification, even if we admit that the issue between the rich and the poor is always of fundamental importance." Discuss.

"शासन करनेवाले वर्ग एवं शासित लोगों के हितों के मध्य मार्क्स के विचारों के अनुसार इतना अधिक अन्तर है, कि उसका वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त सामाजिक शांति के लिये अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकता है यद्यपि धनिकों एवं निर्धनों के मध्य संघर्ष सदैव से ही एक मौलिक महत्व का सिद्धान्त माना गया है।" विवेचना कीजिये।

Q. 21. "The state is nothing more than an organised oppression. The state comes into being when governing class finds its need for the protection of a organised coercive power to maintain existing property relationship." Discuss.

"राज्य, जिसमें पूंजीपतियों की प्रधानता होती है, श्रमिकों के शोषण का एक सुनिश्चित योजनाभाव होता है। कुछ लोगों का विचार है कि राज्य की उत्पत्ति ही इन अत्याचारी पूंजीपतियों ने श्रमिकों के शोषण के उद्देश्य से की है।" विवेचना कीजिये।

Q. 22. What is the Marxian Theory of State ? Discuss it briefly.

मार्क्स का राज्य के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है ? संक्षेप में विवेचना कीजिये।

Q. 23. 'Marxist Programme is both evolutionary as well as revolutionary." Discuss it.

"मार्क्सवादी प्रोग्राम विकासवादी के साथ-साथ क्रान्तिकारी भी है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

Q. 24. "Capitalism produces its own gravediggers." Discuss this theory of Marx and examine how according to Marx transformation from capitalism is brought about ?

"पूंजीवाद स्वयं अपनी कब्र खोदनेवालों को जन्म देता है।' मार्क्स के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए बतलाईये कि पूंजीवाद का वह किस प्रकार अन्त करना चाहता है।

Q 25 *How far is the claim of Karl Marx to be regarded as the Founder of 'Scientific Socialism' justified ?*

वैज्ञानिक समाजवाद से आप क्या अर्थ समझते हैं ?

Q 26 "Marx found communism a chaos and lift it a movement Through him it acquired a philosophy and a direction" (Laski) Explain

'मार्क्स ने साम्यवाद को एक अस्त व्यस्त स्थिति में पाया और उसे एक आन्दोलन बना दिया। उसके द्वारा उसे एक दर्शन मिला एक दिशा मिली।" व्याख्या कीजिये।

Q 27 Do you agree with Marx's theory of inevitability of socialism ? Give reasons

क्या आप मार्क्स के समाजवाद के अनिवार्यता के सिद्धान्त से सहमत हैं ?

Q 28 "Marxism is out of date" Do you agree with this view ? Give reasons

मार्क्सवाद अब पुराना पड गया है अथवा प्रचलन से बाहर है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं? कारण बताइये।

Q 29 What is the place of Karl Marx theory of political philosophy ?

राजनीतिक दर्शन के इतिहास मे कार्ल मार्क्स का क्या स्थान है ?

Q 30 Discuss Karl Marx's contribution to the theory of Socialism carefully bringing out the Marxian basis of communism

आधुनिक साम्यवाद के मार्क्सवादी आधार को ध्यान मे रखते हुए कार्ल मार्क्स की, समाजवादी सिद्धान्त की, देन की व्याख्या कीजिये।

Q 31. Give arguments far and against Marxism Do you consider it so be a satisfactory philosophy for the reconstruction of the world ?

मार्क्सवाद के पक्ष तथा विपक्ष मे तर्क दीजिए। क्या आप उसे सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए एक संतोषजनक सिद्धान्त समझते हैं ?

Chapter 10

Q 31 Critically examine the philosophy and success of Fabianism

फेबियनवाद की सफलता तथा उसके दर्शन की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।

Q 32 'The Fabians in effect, thought of advance of socialism in terms mainly not of power alone but of power animated by rational conviction and inspired by the ethical impulse to achieve social justice" (Cole) Discuss

"व्यवहार के रूप में फेबियन्स के लिये समाजवाद की प्रगति का आधार केवल शक्ति नहीं है, किन्तु विवेक-सम्मत विश्वास एवं सामाजिक न्याय को प्राप्त करने की नैतिक भावना द्वारा उत्प्रेरित शक्ति है ।" विवेचना कीजिये ।

Q. 33. Explain the difference between Marxian and Fabian Socialism.

मार्क्सवादी और फेबियन समाजवाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ।

Q. 34. Write an essay on the Aims and Methods of Fabian Socialism.

फेबियन समाजवाद के उद्देश्यों और साधनों पर एक निबन्ध लिखिये ।

Q. 35. Examine the arguments for and against State Socialism.

राज्य समाजवाद के पक्ष तथा विरोध में दिये गये तर्कों का परीक्षण कीजिये ।

Q. 36 Carefully explain collective socialism, its proposals and politics.

समष्टिवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये ।

Q. 37. "Democratic state can not become a social democratic state unless it has in every centre of population a local governing body as throughly democratic in its constitution as the central parliament." (Shaw) Explain the role of the State in collectivist thought, in the light of the statement.

"प्रजातांत्रिक राज्य तब तक समाजवादी प्रजातांत्रिक राज्य नहीं बन सकता जब तक कि हर आबादी के केन्द्र में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का पूर्णतया प्रजातांत्रिक गठन केन्द्रीय संसद के समान न हो ।" (बर्नार्ड शॉ)

उपरोक्त कथन की रोशनी में समष्टिवादी विचारधारा के अन्तर्गत राज्य की भूमिका स्पष्ट कीजिये ।

Q. 38. "So long as democracy in political administration continues to be the dominant principle, Socialism may be quite safely predicted as its economic obverse." (Webb) Discuss.

"जब तक राजनीतिक प्रशासन में जनतंत्री व्यवस्था का विकास होता रहेगा तब तक उसका आर्थिक लक्ष्य अनिवार्य रूप से समाजवाद होगा ।" (वैब) विवेचना कीजिये ।

Q. 39. Discuss with illustration the view of Sydney Webb that History constantly demonstrates both the irresistible progress of democracy and the almost continuous progress of socialism.

उदाहरणों सहित सिडनी वैब के इस विचार की विवेचना कीजिये कि इतिहास लोकतंत्र की अदम्य प्रगति और समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति को लगातार प्रकट करता है ।

Q. 40. What contribution has Collectivism made to the understanding of the nature and functions of the State ?

राज्य के स्वभाव एवं कार्यों को समझाने मे समष्टिवाद की क्या देन है ?

Q 41 "The enormous increase of social wealth is not accompanied by a decreasing number of large capitalists, but by an increasing number of capitalists of all degrees The middle classes change their outlook, but they do not disappear from the social scale"

"The interdependence *of cause and effect between technological* economic evolution and the evolution of other social tendencies is becoming continually more, indirect and accordingly the necessities of the former are losing much of their power to dictate the form of the latter."

Discuss Revisionist and Reformist Socialism, in light of the above Statements.

"सामाजिक धन की भारी वृद्धि ने बडे पू जीपतियो की सख्या मे कमी नहीं की है, वरन् समस्त श्रेणी के पू जीपतियों मे वृद्धि हुई है। मध्य वर्गों का दृष्टिकोण बदल जाता है परन्तु सामाजिक स्तर से वे नष्ट नहीं हो जाते।"

'प्रौद्योगिक, आर्थिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास मे कारण और कार्य की अन्योन्याश्रितता निरन्तर रूप से अधिक परोक्ष होती जा रही है, और फलत पूर्वोक्त की उत्तरोक्त के रूप को निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है।"

उपरोक्त कथनो के प्रकाश मे पुनर्विचारवादी तथा सुधारवादी समाजवाद पर विचार प्रकट कीजिये।

Q. 42 Write an essay on Bernstein Evolutionary Socialism

बर्नस्टाइन के विकासवादी समाजवाद पर एक निबन्ध लिखिये।

Chapter 11

Q 43 '*Syndicalism is organised anarchy.*' *Discuss*

'श्रमिक सघवाद सगठित अराजकता है।' इसकी व्याख्या कीजिए।

Q 44 'Syndicalism is anti-democratic and it is anti rational and anti intellectual' How is Syndicalism related to Anarchism and Facism ?

'श्रम सघवाद लोकतन्त्र विरोधी है, तर्क विरोधी है *तथा बुद्धि विरोधी* है।' श्रम सघवाद किस सीमा तक अराजकतावाद तथा फासिस्टवाद से सम्बन्धित है ?

Q 45 'The syndicalist programme of direct action involves a negation of political action' (Coker) *Examine the* reasons for this disbelief in political action and examine syndicalist programme of direct action

'श्रमिक सघवादियों के प्रत्यक्ष कार्यक्रम की पद्धति मे राजनीतिक कार्यक्रम का निषेध सम्मिलित है।' (कोकर)

राजनीतिक कार्यक्रम के प्रति इस अविश्वास का परीक्षण कीजिये तथा श्रम-संघवादियों के प्रत्यक्ष कार्यक्रम की पद्धति की व्याख्या कीजिये।

Q. 46. 'Syndicalism is the most rational defence of irrationalism.' Explain the main tenents of Syndicalism in the light of the above statement ?

'संघवाद तर्कहीनता का सर्वाधिक तर्कयुक्त बचाव है' उपरोक्त बयान के आधार पर संघवाद के मुख्य आधार सिद्धान्त समझाइए।

Q. 47. Who are the great exponents of the philosophy of Syndicalism ? Write a critical note on the philosophy of Soral.

संघवादी दर्शन के महान् प्रवक्ता कौन हैं ? सोरल के दर्शन पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

Chapter 12

Q. 48. 'Guild socialism is a half way house between Collectivism and Syndicalism.' Substantiate this statement.

"गिल्ड समाजवाद समष्टिवाद और सिंडीकेलिज्म के मध्य का मार्ग है।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

Q. 49. State and examine the fundamental principles of Guild Socialism.

श्रेणी समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन तथा परीक्षण कीजिये।

Q. 50. Compare State Socialism with Guild Socialism and indicate your preference.

राज्य समाजवाद की श्रेणी समाजवाद के साथ तुलना कीजिये, और यह बताइए कि आप किसे पसंद करते है ?

Q 51. "Guild socialism is an attempt to reconcile the syndicalist idea of special producer's interests with the political idea of general public interests." Discuss.

"श्रेणी समाजवाद, उत्पादकों के विशेष हितों से सम्बन्धित श्रम संघवादी सिद्धान्त तथा सामान्य जनहित से सम्बन्धित राजनैतिक सिद्धान्त दोनों को समन्वित करने का प्रयास है" इसकी विवेचना कीजिए।

Q. 52. "The Collectivists look to the state as the rock of their salvation. The Guild Socialists realising that for this as for other purposes the state was but a broken reed, and, in the general class struggle, no better than enemy agent look for deliverance to trade unions." Compare Guild Socialism with Collectivism in the light of this statement.

"समष्टिवादी राज्य को अपनी युक्ति का आधार मानते है। श्रेणी समाजवादी यह अनुभव करते हैं कि इसके लिये तथा अन्यान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये राज्य सर्वथा अनुपयोगी है तथा सामान्य वर्ग संघर्ष में इससे बड़ा कोई शत्रु नहीं है। अतः वे अपनी मुक्ति के लिये श्रमिक संघों पर भरोसा करते है।"

इस वक्तव्य के प्रकाश मे समष्टिवाद एव श्रेणी समाजवाद की तुलना कीजिये।

Q 53 What are the basic ideals of Guild-Socialists ? Compare and contrast their methods and ideas with those of syndicalist.

श्रेणी-समाजवादियों के विचार क्या हैं ? इनके विचार व तरीकों की सघवादियो के तौर तरीकों से तुलना कीजिये।

Q 54 Who are the great exponents of Guild socialism ? Write a critical note on the views of—(a) Hobson, (b) Cole.

श्रेणी समाजवाद के महान् प्रवक्ता कौन है ? हॉब्सन तथा कोल के विचारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

Chapter 13

Q. 55. Examine the changes introduced by Lenin in the Doctrines of Marx

मार्क्स के सिद्धान्तों में लेनिन ने जो परिवर्तन किये उनको जाँचिए।

Q. 56 "Lenin's Marxism presents the anomaly of being atonce for dogmatic assertion of Orthodox Adherence to the principles of the master and at the same time the first rendering of it on points where circumstances required its modification "—(Sabine) Discuss the above statement.

"लेनिन का मार्क्सवाद एक ओर तो मार्क्स के रूढिवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है और दूसरी ओर परिस्थितियों के अनुसार वह उसके सिद्धान्तो मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करता है।"—(सबाइन) इस कथन की व्याख्या कीजिय।

Q 57 "In saying that after the establishment of the dictatorship of the prolatariat and the communist system of economy, the state shall wither away and that in a classless ... will not be necessary, ... show themselves to be ...sts, they so mercilessly lashed

Examine this statement critically showing the special characteristics of Leninism and the changes introduced by Lenin in the doctrines of Marx.

"यह कहकर कि श्रमजीवी तानाशाही और साम्यवाद की आर्थिक प्रणाली की स्थापना के बाद राज्य विलुप्त हो जायगा, और वर्गहीन समाज मे दमनकारी कानून एव शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी सिद्धान्तवादी मार्क्स तथा यथार्थवादी लेनिन अपने आपको उन प्रारम्भिक समाजवादियो से अधिक कल्पनावादी विचारक सिद्ध करते हैं जिन पर कि उन्होंने इतनी निर्दयतापूर्वक प्रहार किये।"

इस कथन की परीक्षा कीजिये और लेनिनवाद की प्रमुख विशेषताओं तथा मार्क्स के सिद्धांत में लेनिन के द्वारा किये गये परिवर्तनों को आलोचनात्मक रूप से प्रकट कीजिये।

Q. 58. "Leninism is Marxism of the of imperialism and of the proletarian revolution." Discuss and show that Leninism was an improvement on Marxism.

"लेनिनवाद, साम्राज्यवाद एवं श्रमजीवी क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है।" विवेचना कीजिये और बताइए कि लेनिनवाद, मार्क्सवाद पर एक सुधार था।

Q 59. "The essence of Leninism lies in the stress upon the dynamic and revolutionary element in Marx." Explain and discuss.

"लेनिनवाद का सार मार्क्स के क्रांतिकारी तत्व पर अधिक बल देना है।" व्याख्या और विवेचना कीजिये।

Q. 60. Examine the fundamentals of Leninism and bring out the points of its difference with Marxism.

लेनिनवाद के आधारभूत सिद्धान्तों की परीक्षा कीजिये और मार्क्सवाद से इसकी भिन्नता प्रकट करिये।

Q. 61. "Leninism is the theory and tactics of the proletarian revolution in genral, and the theory and practice of the dictatorship of the proletariat in particular." Explain.

"लेनिनवाद सामान्य रूप में श्रमजीवी क्रान्ति का सिद्धान्त और हथकन्डा है, और विशेष रूप में श्रमजीवी तानाशाही का सिद्धान्त और व्यवहार है।" व्याख्या कीजिये।

Q. 62. "Thus dialectical materialism can set the mathematician right about Euclidean and non-Euclidian geometry and can instruct the Physicist about the correct relations between matter and electricity" (Sabine). Examine Lenin's views on Dialectical Materialism.

"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक गणितशास्त्री को यूक्लिडियन तथा गैर-यूक्लिडियन की ज्यामिति के बारे में ठीक कर सकता है और एक भौतिकशास्त्री को पदार्थ तथा विद्युत के सम्बन्धों के विषय में शिक्षा दे सकता है।" द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर लेनिन के विचारों की परीक्षा कीजिए।

Q. 63. "The party thus becomes the staff organisation in the struggle of the proletariat to gain power and to retain it after it has been gained. It is 'vain-guard' of the Proletariat, the most self-conscious and at the same time the most devoted and self-sacrificing part of the working class. Marxism is the creed that holds it together, and organisation is the principle that makes it powerful." (Sabine) Critically explain Lenin's views on party.

"सर्वहारा वर्ग की शक्ति प्राप्त करने और प्राप्त शक्ति को सजोये रखने के संघर्ष में दल की स्थिति एक सैनिक संगठन जैसी है। दल सर्वहारा वर्ग

की एक वह अग्रिम सैनिक पंक्ति है जो न केवल वर्ग चेतना में सर्वोपरि होती है, बल्कि श्रमिक वर्ग के लिए त्याग करने में भी सबसे आगे रहती है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त उसे एकता के सूत्र में ग्रथित करता है और संगठन उसे शक्तिशाली बनाता है।" (सबाइन)

लेनिन के दल सम्बन्धी विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Q. 64. "We do not at all disagree with the anarchists on the question of abolition of the state as a final aim, but Marxism differs from Anarchism in that it attempts the necessity of the state and state power in a revolutionary period in general and in the epoch of transition from capitalism to Socialism in particular." (Lenin) Discuss.

"राज्य के विलोप के अन्तिम उद्देश्य के प्रश्न पर हम अराजकतावादियों से बिल्कुल असहमत नहीं हैं, किन्तु मार्क्सवाद अराजकतावाद से इस बात में भिन्न है कि यह क्रान्तिकारी काल में साधारणतया और पूंजीवाद से समाजवाद पर आवर्तन के युग में विशेषतया राज्य और राज-शक्ति की आवश्यकता के लिए प्रयत्नशील होता है।" विवेचना कीजिए।

Q. 65. The history of all countries shows that the working class, exclusively by its own effort, is all to develop only trade union consciousness" (Lenin). Discuss

'सब देशों का इतिहास बताता है कि श्रमिकवर्ग को पूर्णत अपने ही प्रयत्नों से केवल ट्रेड यूनियन चेतना का विकास करना है।" विवेचना कीजिये।

Q. 66. How for do you agree "the Russian Bolshevism as given by Lenin and his followers has given a peculiar twist to Marxian Communism without abandoning it in fundamentals ?

आप इस कथन से कहां तक सहमत हैं कि—"लेनिन और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित रूसी बालशेविक्वाद ने मार्क्सवादी साम्यवाद को, इसके आधारभूत सिद्धान्तों को त्यागे बिना ही, एक विचित्र मोड़ प्रदान किया है ?

Q. 67. What were the views of Lenin on religion, democracy, revolution, war and solidarity of the Party ?

लेनिन के धर्म, प्रजातन्त्र, क्रान्ति, युद्ध और दलीय ठोसता के बारे में क्या विचार थे ?

Q. 68. How have the Communistic and Marxian principles advanced under Stalin ?

स्टालिन के अन्तर्गत साम्यवादी तथा मार्क्स के सिद्धान्तों ने किस प्रकार उन्नति की है ?

Q 69 Critically examine Stalin's theory of 'Socialism in one country'

स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Q. 70. How does Maoism differ from Leninism ?

Q. 71. How does Chinese's Communism differ from Russian Communism ?

Q. 72. "The underlying cause of the Sino-Soviet conflict is the basic paradox between Pluralism in the Communist world and Monolithism in Communist Ideology." —Discuss.

"चीन व रूस के बीच जो संघर्ष है उसका मूल कारण यह है कि साम्यवादी विश्व तो बहुलवादी है किन्तु साम्यवादी विचारधारा एकाग्र प्रकृति की है तथा इन दोनों के बीच विरोधाभास है।" विवेचना कीजिए।

Chapter 14

Q. 73. Discuss the Anarchist view of the State. How would the Anarchist organise their Society ?

राज्य सम्बन्धी अराजकतावादियों के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए। अराजकतावादी अपने समाज का संगठन किस प्रकार करेंगे ?

Q. 74. Show how Collectivist Socialism and Anarchism are the exact opposite of each other.

यह बताइए कि समष्टिवाद और अराजकतावाद किस प्रकार एक दूसरे के विपरीत हैं ?

Q. 75. Discuss and meet, if you can, anarchist attack on the State.

अराजकतावादियों ने राज्य की जो आलोचना की है, उसकी व्याख्या करो।

Q. 76. What is the kind of society envisaged by the Anarchists ? How does it differ from Communism ?

अराजकतावादियों द्वारा प्रस्तावित समाज किम प्रकार का है ? वह साम्यवाद से किस प्रकार भिन्न है ?

Q. 77. State the case for and against Anarchism ?

अराजकतावाद के पक्ष तथा विपक्ष की व्याख्या कीजिए।

Q 78. "Communism deals with the means and Anarchism with the ends." Discuss.

"साम्यवाद साधनों का और अराजकतावाद आदर्शों का वर्णन करता है।" विवेचन कीजिए।

Q. 79. Show how Anarchism and Socialism are the exact opposites of each other ?

दिखाइये कि अराजकतावाद और समाजवाद किस प्रकार ठीक एक दूसरे के भिन्न हैं ?

Q. 80 'The State is an unmitigated evil and the sooner we get rid of the better it will be for the moral growth of man.' Discuss Anarchism in the light of this statement.

'राज्य एक विशुद्ध बुराई और जितना शीघ्र हम उससे छुटकारा पा लें, उतना ही मनुष्य के नैतिक विश्वास के लिये हितकर होगा।' इस वक्तव्य के प्रकाश मे अराजकतावाद का विवेचन कीजिए।

Q 81 'Anarchy is not the absence of order, it is the absence of Force' Discuss

'अराजकतावाद व्यवस्था का अभाव नहीं, यह शक्ति का अभाव है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

Q 82 Compare the aims and methods of Communism and Anarchism. Would it be correct to say that while Communism supplies the theory of the method, Anarchism supplies the theory of the end and that thus both are supplementary ?

साम्यवाद और अराजकतावाद के उद्देश्यो और साधनो की तुलना कीजिये। क्या यह कहना सही होगा कि जबकि साम्यवाद साधन (तरीके) के सिद्धान्त की पूर्ति करता है, वहा अराजकतावाद अन्तिम उद्देश्य के सिद्धान्त की पूर्ति करता है और इस प्रकार दोनो एक दूसरे के पूरक हैं ?

Q 83 "Anarchism confronts our sense of citizenship with a challenge which we should do well to take seriously and the believer in political institution should seek to make them more worthy of popularity and allegiance" Discuss

'अराजकतावाद हमारी नागरिकता को एक चुनौती है, जिसे हम बहुत गम्भीरता के साथ स्वीकार करना चाहिए और राजनीतिक सस्थाओ मे विश्वास करनेवाले को उचित है कि वे उन्हें अधिक लोकप्रिय तथा विश्वास के योग्य बनाने का प्रयत्न करें।" विवेचन कीजिये।

SUGGESTED READINGS

1. *Beer, Max* : The Life and Teaching of Karl Marx.
2. *Berlin, I.* : Karl Marx, His Life & Environment.
3. *Bodin Louis B.* : Theoretical System of Karl Marx.
4. *Burns, E.* : What is Marxism ?
5. *Carr, E. H.* : Karl Marx : A Study in Fanaticism.
6. *Chang, Sherman, H.* : The Marxian Theory of the State.
7. *Hook, Sidney* : Towards the Understanding of Karl Marx.
8. *Laski, Harold J.* : Karl Marx.
9. *Lenin, N.* : The Materialistic Iuterpretation of History.
10. *Lenin* : Karl Marx.
11. *Seligman, E. R. A.* : The Economic Interpretation of History.
12. *Spargo, J.* : Karl Marx : His Life and Work.
13. *Cole* : The Meaning of Marx.
14. *Emile Burns* : What is Marxism?
15. *Maxey* : Political Philosophies.
16. *Lindsay, A. D.* ; Karl Marx's Capital, an Introductory Essay.
17. *Bober, M. M.* : Karl Marx's Interpretation of History.
18. *Barker* : Political Thought in England.
19. *Brameld, T. B.* : A Philosophical Approach to Communism.
20. *Bukharin* : A. B. C. of Communism.
21. *Bukharin* : Programme of World Revolution.
22. *Colton, E. T.* : The X. Y. Z. of Communism.
23. *Carew Hunt* : The Theory and Practice of Communism.
24. *Coker* : Recent Political Thought.
25. *Ebenstein* : Today's Isms.
26. *Gray* : The Socialist Tra ition.
27. *Laidler* : Social Economic Movement.
28. *Sabine* : History of Political Theory.
29. *Wayper* : Political Thought.
30. *Cornforth* : Dialectical Materialism.
31. *Joad* : Modern Political Thought.
32. *Laski* : Communism.
33. *Lenin* : The State and Revolution.
    ,, The Proletarian Revolution.
    ,, Marx, Engels, Marxism.
34. *Schumpter* : Capitalism, Socialism & Democracy.
35. *Stalin* : Leninism.
36. *Popper* : Open Society and its Enemies.
37. *Mao-Tse-Tung* : A New Democracy.

38. *Burns* : Idea's in Conflict.
39. *Stuar—R Schram* : Mao-Tse-Tung and Political Thought
40. *Eastman* : Leon Trotsky
41. *Eastman, Max* : The End of Socialism in Russia.
42 *Eastman, M.* : Marx, Lenin and the Science of Revolution.
43. *Essadbey* : Stalin the Career of a Fanatic.
44. *Gurian, W.* : Bolshevism : Theory and Practice.
45. *Hillquit, M.* : From Marx to Lenin.
46 *Mc Murray, John* : The Philosophy of Communism
47. *Mirsky, D.* : Lenin
48. *Nomad, Marx* : Apostles of Revolution.
49. *Rosenberg, A.* : A History of Bolshevism.
50. *Cole* : The Second International.
51. *Laidler* : History of Socialist Thought.
52 *Russel* : Roads to Freedom.
53. *Cole* : Fabian Society.
54. *Hearnshaw* : Survey of Socialism
55. *Dunning* : A History of Political Theories.
56 *Levine* : Syndicalism in France.
57. *Mac Donald* : Syndicalism
58 *Pouget* : Sabotage.
59. *Soltan* : French Political Thought in the 19th Century.
60 *Sorel* : Reflections on Violence.
61. *Marriam and Barnes* : History of Political Theories, Recent Times.
62. *Carpenter* : Guild Socialism
63 *Cole* : Labour in the Common Wealth
64 *Cole* : Guild Socialism Restated
65. *Cole* : Self Government in Industry.
66. *Hobson* : National Guilds
67. *Hobson* : National Guilds and the State
68. *Orange* : Alphabets of Economics.
69 *Penty* : Old Worlds for New.
70 *Kantsby* : The Dictatorship of the Proletariat.

PART – FIFTH
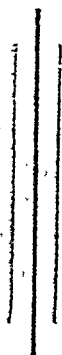
गांधी, लास्की, कोल और रसल के राजनैतिक विचार

(Political Ideas of Gandhi, Laski, Cole and Russell)

"The choice before the world today is between the atom bomb on the one hand and non violence, as indicated by Gandhiji, on the other, and the choice is the matter of life & death .. .the atom bomb is the perfect symbol of force that the west stood for, while Gandhiji is the crown and climax of all that is meant by a spiritual civilization .. the west was under throes of death hrough reliance on physical force Either the west had to accept Gandhiji's Leadership and walk in his appointed way or perish Gandhiji's by climaxing his career, with the triumph over the British Empire, has proved that spiritual force, if given a chance will in the long run prove more potent than any physical force."

—*Dr Holmes*

"Society is federal, authority must be federal".

—*Laski*

"Real democracy is to be found not in a single omnipotent assembly, but in a system of co-ordinated functional representative bodies"

—*Cole*

15

महात्मा गाँधी

(MAHATMA GANDHI)

(1869–1948)

गाँधीवाद और गांधी मार्ग

(Gandhism and the Gandhian Way)

गांधीवाद क्या है, इस प्रश्न का कोई एकदम निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। गांधीजी अपने जीवन में कभी किसी एक मत अथवा सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी नहीं रहे। उन्हें जो बात सत्य तथा अपनी आत्मा के अनुकूल लगती थी उसे अपनाने में वे कभी नहीं हिचकिचाते थे। यही कारण है कि वे सभी धर्म, वादों तथा विचारों की जो अच्छी-अच्छी बातें हैं, उन्हें मानते थे और समाजवादी, उदारतावादी, साम्यवादी अथवा अराजकतावादी किसी भी एक नाम से उन्हें सम्बोधित नहीं किया जा सकता। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक ओर जब कि घोर आस्तिक तथा परम्परावादी होने के कारण उन्हें दकियानूसी (*Conservative*) कहा जा सकता है तो दूसरी ओर सार्वजनिक सभाओं में भाषण करते हुए उनसे अधिक उदारवादी (*Liberal*) का उदाहरण हमें नहीं मिलता। इसी प्रकार यद्यपि उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के विरोधी होने के कारण उन्हें समाजवादी नहीं कहा जा सकता है किन्तु यदि समाजवाद की आधारशिला यह है कि अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक उपभोग करनेवाला गरीबों का शोषक है तो गांधीजी से बड़ा कोई समाजवादी नहीं हो सकता। मार्क्स की बहुत सी मान्यताओं को मानते हुए भी वे मार्क्सवादी नहीं थे। वर्ग-युद्ध का सिद्धान्त, इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा हिंसात्मक क्रांति उन्हें किसी भी कीमत पर मान्य नहीं थी। किन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में सब को अपनी योग्यता से आवश्यकतानुसार वितरण पर लाकर वर्गहीन समाज की स्थापना करनेवालों में उनका नाम सर्व-प्रथम लिखा जाना चाहिये। इसी तरह यदि अराजकता का अर्थ एक विकेन्द्रित समाज-व्यवस्था (*Decentralized Social System*) व भ्रातृभाव तथा प्रेम से संयुक्त स्वाधीन सामाजिक इकाइयों की कल्पना है तो हमें उन्हें एक पक्का अराजकतावादी कहते हुए नहीं हिचकना चाहिये, यद्यपि अपने व्यावहारिक जीवन में वे राज्य के परम-भक्त तथा कानून के निष्ठावान आज्ञा-पालक थे। अतः गांधीवाद को कोई एक पूर्णतः निश्चित-

वाद अथवा विचारवर्ग नहीं कहना चाहिए, उसे किसी निश्चित सिद्धान्त अथवा सूत्र की परिधि मे बाधने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके प्रणेता स्वय गाधीजी किसी एक विचार अथवा मत के अवलम्बी नहीं थे। प्रत्येक बात को उसके गुणो की श्रेष्ठता के आधार पर स्वीकार करने के कारण अनुदारतावाद (*Conservatism*), उदारतावाद (*Liberalism*), समाजवाद (*Socialism*), साम्यवाद (*Communism*), अराजकतावाद (*Anarchism*) तथा राष्ट्रीयतावाद (*Nationalism*) सभी आकर इसमें सम्मिलित दिखलाई देते हैं।

वास्तव मे सरल, सीधे तथा मोटे २ सिद्धान्तों मे विश्वास रखने हुए भी गांधीवाद की कोई निश्चित परिभाषा आज तक नहीं बन सकी है तथा गांधीजी पर आज तक जो साहित्य लिखा गया है वह उसे और भी अधिक जटिल बना देता है। वर्तमान युग में चारों ओर गाधीजी की दुहाइया दी जाती हैं तथा स्थान-स्थान पर उनके शब्दों और विचारों को उद्धृत किया जाता है, लेकिन उनमे बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उनके सिद्धान्तों का सही अर्थ समझ पाये हैं तथा उन्हे प्रयोग मे लाने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण यह है कि उनका दर्शन सरल होते हुए भी व्यापक (*Comprehensive*) तथा स्पष्ट (*Vivid*) होते हुए भी बहुमार्गी (*Versatile*) व विभिन्नतामय (*Varied*) है जिसे किसी एक राजनैतिक दर्शन के रूप मे प्रस्तुत करना बडा कठिन है। फिर भी गाधीजी के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक आदर्शों की विवेचना सरलता से सम्भव है और इन्हीं को सामूहिक रूप से गाधीवाद कहा जा सकता है। पट्टाभीसीतारमैया के अनुसार "वस्तुत उन सिद्धान्तों और नीतियों से मिलकर ही गांधीजी का दर्शन बना है, जिसकी पैरवी वे करते हैं और गाधीवाद से अभिप्राय उस दर्शन से है जिसने उनके जीवन और चरित्र, उनके कार्य और सिद्धियों को, उनके उपदेशों और शिक्षाओं को नया रूप प्रदान किया है।"[1]

'गाधीवाद का शब्द बडा लोकप्रिय हो चुका है। इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग कराची मे, गाधी-इर्विन समझौते के बाद कांग्रेस अधिवेशन मे पहले होनेवाली एक सार्वजनिक सभा मे गाधीजी ने अपने एक महत्वपूर्ण वाक्य मे किया था, जब उन्होने कहा था—"गाधी मर सकता है पर गाधीवाद सदा जीवित रहेगा।"

प्रत्यक्षत: उन्होंने उसी समय गाधीवाद शब्द का निर्माण किया जो सारत. एव व्यापकत उनके सत्य तथा अहिंसा के दर्शन को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।[2] गाधी-इर्विन समझौता सत्य और अहिंसा की विजय थी। यह उनकी सत्याग्रह की शक्ति का एक सम्मान था क्योंकि गाधीजी के अनुसार इस समझौते ने सिद्धान्त रूप से भारत और इङ्गलैंड मे समानता का आधार स्थापित कर दिया था।[3]

---

1. डा० बी० पट्टाभीसीतारामैया—गाधी और गांधीवाद, पृष्ठ २६।
2. वही, पृष्ठ २६।
3. "The Gandhi-Irwin Pact, or the Delhi Pact as the biographer of Lord Irwin calls it was a triumph of truth and non-

मार्च १९३६ में सावली में गांधी सेवा संघ के सदस्यों के सामने भाषण करते हुए गांधीजी ने कहा था:—

"गांधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है और न ही अपने पीछे मैं कोई ऐसा सम्प्रदाय छोड़ जाना चाहता हूं। मैं कदापि यह दावा नहीं करता कि मैंने किन्हीं नये सिद्धान्तों को जन्म दिया है। मैंने तो अपने निजी तरीकों से शाश्वत सत्यों को दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर लागू करने का प्रयत्न मात्र किया है। मैंने जो सम्मतियां बनाई हैं और जिन परिणामों पर मैं पहुंचा हूं वे अन्तिम नहीं हैं। मैं उन्हें कल बदल भी सकता हूं। मुझे संसार को कुछ नहीं सिखाना है। सत्य और अहिंसा उतनी ही पुरानी है जितनी कि ये पहाड़ियां। मैंने तो केवल व्यापक आधार पर सत्य और अहिंसा दोनों क्षेत्रों में अपनी शक्तिभर परीक्षण करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार सत्य और अहिंसा के आचरण में जीवन और उसकी समस्याएं मेरे लिए अनेकविध परीक्षण बन गई हैं। अपनी सहज जन्मजात प्रकृति से मैं सच्चा तो रहा हूं परन्तु हिंसक नहीं। तथ्य तो यह है कि सत्य मार्ग की खोज में ही मैंने अहिंसा को ढूंढ निकाला। मेरा दर्शन जिसे आपने गांधीवाद का नाम दिया है, सत्य और अहिंसा में निहित हैं। आप इसे गांधीवाद के नाम से न पुकारें क्योंकि इसमें कोई वाद तो है ही नहीं।"[1]

वस्तुतः गांधीवाद का किसी निश्चित मत, सिद्धान्त, सूत्र या वाद से सीमांकन नहीं किया जा सकता! गांधीजी के 'दिमाग की खिड़कियां' बन्द नहीं थी, वे किसी लकीर के फकीर हरगिज नहीं थे। लुई फिशर का कहना है कि गांधीजी स्वच्छन्द, निर्बाध तथा ऐसे थे कि जिनके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती थी। किसी भी "वाद" ने उन्हें जकड़ नहीं रखा था और कोई भी अचल, अटल सिद्धान्त उनके विचारों द्वारा कार्यों का कभी पथ-प्रदर्शक नहीं बना। गांधीजी ने जीवनपर्यन्त अपने दिल और दिमाग को खुला रखा। वे "बिना नक्शे के कहीं भी जा सकते थे।" वे स्वतन्त्र स्वभाव के थे जिन्होंने कभी कोई ऐसी बात स्वीकार नहीं की जिसे उनका विवेक स्वीकार न करता हो। उन्होंने केवल इसी आधार पर कहीं बात को स्वीकार नहीं किया कि वह किसी प्रसिद्ध व्यक्ति ने कही हो अथवा किसी विख्यात ग्रन्थ में वह उल्लिखित हो। अपने अनुयायियों और शिष्यों को उन्होंने कभी किसी ऐसे विचार अथवा मन्तव्य से बांधना उचित नहीं समझा जिनको बाद में उनके वे शिष्य परिवर्तित न कर सकें। वास्तव में समस्त वाद "उन आत्माओं के द्वारा जन्म धारण नहीं करते जिनके नाम पर उन्हें चलाया जाता है प्रत्युत उन सीमाओं के द्वारा वे पैदा होते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा उनके प्रारम्भिक विचारों पर लगाये जाते हैं। रचनात्मक योग्यता न रखने के कारण अनुयायी लोग सब विचारों को क्रमबद्ध और सङ्कुठित कर देते हैं। ऐसा करने में

---

violence. It was a tribute to his power of 'Satyagraha', because the Pact, according to Gandiji had established the basis of equality, in principle between India and England."
—*Louis Fischer*, Life of Mahatma Gandhi, Vol. I, Page 34

1. पट्टाभीसीतारमैया—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ २६।

वे प्रारम्भिक सिद्धान्तों को कठोर, लोचहीन, एकपक्षीय और कट्टर बना देते हैं और उन्हें उनकी उस मौलिक नवीनता और ग्राह्यता से वंचित कर देते हैं जो युवावस्था के चिन्ह हैं।"[1]

यदि हमारा आशय किसी भी सिद्धान्त अथवा विचार—सूत्र से है जो गांधीजी ने अपने अनुयायियों के पालने के लिए गढ़ा तो यह कहना पड़ेगा कि गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है। गांधीजी ने स्वयं अपनी आत्म-कथा का 'सत्य के साथ मेरे प्रयोगों की कहानी" (*The Story of my Experiments with Truth*) कहा है। गांधीजी ने अपने सम्पूर्ण जीवन को सत्य की खोज में लगा दिया था, अतः ऐसे जीवन का परिवर्तनशील तथा निरन्तर विकासोन्मुख होना स्वाभाविक था।

गांधीजी के जीवन पर दृष्टिपात करने पर किसी को भी इस बात से इनकार नहीं होगा कि "समाज गांधीजी का एक मन्दिर है, सेवा उनकी पूजा का एक मात्र रूप है और मानवता के प्रति अगाध प्रेम एक मात्र आवेश है। सत्य उनका भगवान है और अहिंसा उसको प्राप्त करने का एक मात्र साधन। वे उस शाश्वत सत्ता की ओर अभिमुख हैं, जिसके कि वे स्थानीय रूप आन्तरिक घटक है।"[2] उनके महान पावन व्यक्तित्व के इसी रूप में उनका महान दर्शन निहित है। वस्तुतः "गांधीवाद पुराने सिद्धान्तों या मतों का, नियमों या व्यवस्थाओं का, आज्ञाओं या निषेधों का नाम नहीं है, परन्तु यह तो जीवन का एक प्रकार है। यह एक नवीन धारणा की ओर संकेत करता है या जीवन के परिणामों के प्रति पुरानी धारणा का पुनः प्रतिपादन करता है और वर्तमान समस्याओं के लिये पुरातन समाधान प्रस्तुत करता है।[3] गांधी और गांधीवाद अपनी सीमाहीन सम्भावनाओं के साथ मानवीय उन्नति के घटक हैं, और इसलिए गांधीवाद अमर है और गांधी के इन शब्दों को हम भारतवासी बार-बार दोहरा सकते हैं कि "गांधी मर सकता है पर गांधीवाद सदा जीवित रहेगा।"

यद्यपि गांधीजी की लिखी हुई सामग्री एक जगह एकत्रित संकलित न होकर यत्र-तत्र बिखरी हुई है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद की तरह गांधीवाद नहीं है, तथापि 'गांधी-मार्ग' निश्चित ही है, और एक जीवन-मार्ग के रूप में गांधीवाद में वे समस्त विशिष्टताएं हैं जो एक "वाद" के लिए आवश्यक होती हैं। इसका एक निश्चित जीवन दर्शन है इसके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निराकरण की एक विशिष्ट विचारधारा और तकनीक का निर्माण किया गया है। एक जीवन मार्ग के रूप में "दर्शन" कहलाने के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। अपने इस अर्थ में गांधीवाद का न केवल अस्तित्व है बल्कि उसका भविष्य भी बड़ा देदीप्यमान है और यह एक ऐसी विचारधारा है जो मानवता को उस विनाश से बचा सकती है जिसमें आज वह भयग्रस्त है।

---

1 जे० बी० कृपलानी—The Gandhian Way, Page 158.
2 डा० बी० पट्टाभिसीतारमैया—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ २४।
3 वही, पृष्ठ २४।

गाँधीजी और उनका जीवन
(Gandhi and His Life)

"अगर मानव जाति का सबसे अच्छा अध्ययन स्वयं मानव है, तो वह अध्ययन और भी उत्कृष्ट हो जाता है जो एक ऐसे महापुरुष के जीवन और चरित्र का विश्लेषण करता है, जो केवल अपने सम सामयिकों में ही नहीं, अपितु अपने पूर्व कालिकों में भी सर्व स्वीकृत रूप से उत्कृष्ट था। अक्सर, हम अपने महापुरुषों को देवतुल्य मानते हैं, और उन्हें रहस्य या रहस्यवाद या दोनों की भावनाओं से आवृत करके उन्हें ऐसी ऊंचाईयों पर प्रतिष्ठित करते हैं जो हमारे पहुंच से बाहर हैं और फिर जब वे विश्व के रंगमंच से विदा हो जाते हैं, तो उनकी प्रशंसा में गीत गाते हैं। परन्तु गांधीजी के साथ बिल्कुल इसके विपरीत था। किसी कवि ने भले ही गाया हो कि 'यश और ख्याति के रास्तों का आखिरी यंत्र कब्रिस्तान हैं' परन्तु गांधीजी के यश के मार्ग उनके जीवन-काल में ही, पूर्व इसके कि नाम और स्मृतियां, उनके चमत्कार और करिश्में किसी दैवीय रहस्य-भावना से आवृत हों, उनके अनुयायियों के सामने सर्वथा प्रकट हो गये थे, गांधीजी अपनी पूर्णता का कोई ढोंग नहीं रखते थे, वे इस पृथ्वी पर पार्थिव थे और स्वर्ग में स्वर्गीय।"[1]

गांधीजी, जिनका वास्तविक नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था, एक साधारण मनुष्य के रूप में २ अक्टुबर, १८६९ ई० को काठियावाड़ में पोरबन्दर नामक स्थान पर एक धर्मासक्त घराने में पैदा होकर देवकोटि तक पहुँचे। उनके पिता करमचन्द गांधी राजकोट के दीवान थे जिन्हें अनुभव के अतिरिक्त और कोई शिक्षा न मिली थी, जो इतिहास और भूगोल से अनभिज्ञ थे, किन्तु सदाचार की प्रतिमूर्ति थे और अपनी अटल निष्पक्षता के कारण घर और बाहर सभी के आदर के पात्र थे। गांधीजी की माता एक अत्यन्त ही धर्मप्राण एवं साधु प्रकृति की महिला थीं जो न प्रार्थना बिना किये भोजन करती थीं और न भगवान को नित्य प्रति बिना श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये अपने जीवन में कोई आनन्द मानती थीं। बालक गांधी के जीवन पर इसी महाप्राण महिला का, जिसमें धर्म कूट कूट कर भरा हुआ था, युगान्तकारी प्रभाव पड़ा।

गांधीजी की प्रारम्भिक शिक्षा राजकोट में हुई और मेट्रिक पास करके वे कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से सन् १८८८ में इंगलैण्ड गये। इंगलैण्ड में, प्रारम्भ में तो उन पर अंग्रेज भद्र पुरुष बनने का रंग चढ़ा, उन्होंने वेष-भूषा, नाच गान आदि में अंग्रेज समाज का अनुकरण किया किन्तु शीघ्र ही वह इस असफल आडम्बर की व्यर्थता समझ गये। उनके आत्मज्ञान ने उन्हें समझाया कि आडम्बरमय जीवन आत्म-शिक्षा के मार्ग में एक बाधा है। अतः मन से भारतीय गांधीजी ने बाहर से भी भारतीय बने रहने का ही निर्णय किया। इंगलैण्ड में रहते हुए उन्होने सादा जीवन बिताया और ब्रह्म-ज्ञानवादियों (*Theosophists*) के सम्पर्क में

---

1. पट्टाभीसीतारमैया—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ १८

आने पर *गीता का* अनुवाद पढ़ा। दिन प्रतिदिन भारतीयता के प्रति अपने स्नेह को अधिकाधिक सजोते हुए अपने इगलैण्ड वास में गांधीजी ने पश्चिम की अनेक अच्छी बातों को सीखा तथा पुस्तकों, समाओं और व्यक्तिगत वार्तालाप के द्वारा अनेक नैतिक एव भोजनशास्त्रीय आन्दोलनों का परिचय प्राप्त किया।

सन् १८९१ मे गाधीजी भारत लौटे, उन्होंने वकालत शुरू की, परन्तु उन्हे सफलता न मिली। सन् १८९३ मे गाधीजी को एक धनाढ्य गुजराती मुसलमान की ओर से एक मुकदमे की पैरवी करने के लिये दक्षिणी अफ्रीका जाना पडा। यद्यपि वे वहां गये थे केवल १ वर्ष के लिये ही किन्तु रह गये २० वर्ष। गाधीजी ने अफ्रीका पहुँचने पर उस अत्याचार और अन्याय को देखा जो वहा की गोरी सरकार प्रवासी भारतीयो पर जाति और रग के नाम पर कर रही थी। गाधीजी तो वह किसान और जुलाहे थे जिनके हृदय मे मानव प्रेम की ज्योति जल रही थी और जिनकी दृष्टि मे महाद्वीपो, जातियों और लिङ्गों की असमानताओं का कोई स्थान नहीं था। अफ्रीका मे मानव के प्रति मानव के उस घोर पक्षपात को देखकर उनका हृदय रो उठा और तब शुरू हो गई कहानी उस निरन्तर और अथक युद्ध की जो १८९३ से लेकर १९१४ तक वे अफ्रीका में शोषण और अत्याचार के विरुद्ध लड़ते रहे। अफ्रीका में उनका यह लम्बा निवास उनके जीवन का एक क्रांतिकारी पक्ष था, *यह उस तैयारी का* प्रारम्भ काल था जिसमे उन्होने सत्याग्रह के उस विलक्षण एव अमोघ शस्त्र का निर्माण किया जिसका सफल प्रयोग आगे चलकर शक्तिशाली विदेशी शासन को उखाड फेंकने और भारत की परतन्त्रता की बेड़ियो को काट फेकने मे किया गया। अफ्रीका मे अपने देशवासियो को और *उनको जो रग-भेद नीति के शिकार थे, उठाने का गाधीजी ने सराहनीय* प्रयत्न किया। उन्होने स्वय ने उनके लिये अनेक कष्ट सहे और यातनाएं भोगी। अन्तत सत्याग्रह के प्रयोग द्वारा भारतीयो के लिये वहा पर उन्होने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति मे सफलता प्राप्त की और जनरल स्मट्स से उनका समझौता हुआ। गाधाजी जानते थे कि श्वेत शासन का विरोध करने का आन्दोलन लम्बा चलेगा और उन्हे तथा उनके अनुयायियों को विजय प्राप्ति से पूर्व भयकर कष्ट उठाने पडेगे, अत उन्होने अपने साथियो को और अपने देशवासियो को आत्मविजय तथा आत्मानुशासन के पाठ पढाये, उन्हे आन्तरिक चरित्र एव अहिंसा के बल पर अपने पथ पर अग्रसर होने को कहा। उन्होने अपने अनुयायियों को सम्बोधित किया—"अंग्रेज लोग चाहते है कि हमारी लडाई मशीनगन के स्तर पर चले। उनके पास शस्त्र हैं, हमारे पास नहीं हैं। उन्हे परास्त करने का हमारे पास केवल एक ही उपाय है, और वह यह कि हम इस लडाई को ऐसे शस्त्रो से लड़े जो उनके पास नहीं है।" गाधीजी ने अफ्रीका का युद्ध 'आत्मा की तलवार' से लडा और तब तक लड़ा जब तक उन्हे विजय प्राप्त न हो गई। "दक्षिणी अफ्रीका का सघर्ष अपने आप मे तो महत्वपूर्ण था ही किन्तु भारत मे उससे कहीं बडे सघर्ष की तैयारी के रूप में इसका महत्व और भी अधिक था। इसने न केवल गाधीजी को भारत के नेता के रूप में अपनी भूमिका अदा करने की योग्यता प्रदान की, बल्कि अहिंसात्मक अवज्ञा की टेकनीक को विकसित करने मे भी

सहायता दी। गांधीजी भारत में एक ऐसे नेता के रूप में लौटकर आए जिसने कि एक कला पर अधिकार कर लिया था और एक आदर्श ग्रहण कर लिया था जिससे भय और अविश्वास दूर थे।"

गांधीजी जब १९१४ में भारत लौटे तो बम्बई में जनता ने उन्हें महात्मा की उपाधि दी; और वस्तुत: गांधीजी महात्मा थे। उन्हें दी गई महात्मा की संज्ञा आकस्मिक नहीं थी। यह एक सार्थक नाम था जो उन्होंने अफ्रीका में अपने चारों ओर की परिस्थितियों के प्रति व्यक्त प्रतिक्रिया से अर्जित किया था मानवता के सामने उस आदर्श पाठ को रख कर पाया था जिसे उन्होंने जीवन के कड़वे अनुभवों की पाठशाला में सीखा था और उनके भावी जीवन की महानता, सात्विकता और पवित्रता ने भी यह सिद्ध कर दिया कि जनता ने उन्हें महात्मा कहकर कोई भूल नहीं की थी। उनका सम्पूर्ण चरित्र ऐसा था जिस पर न कभी कोई जंग लगा था और न कोई दाग। महात्मा बनने के लिये ही गांधी ने जन्म लिया, जीवन में महात्मा का ही उसने आचरण किया और महात्मा के ही रूप में वह चला गया लेकिन उसका जीवन आज भी एक प्रकाश-स्तम्भ की भांति मानवता के पथ को आलोकित कर रहा है।

भारत में गांधीजी ने एक विजेता के रूप में भारत के स्वाधीनता सग्राम का नेतृत्व किया और इस सग्राम को सत्याग्रह और अहिंसा के हथियारों से लड़ा। गांधीजी भारत वापिस आते ही तुरन्त राजनीति में नहीं कूदे और महामना गोखले के परामर्श से कुछ समय तक अपने कान खोलकर किन्तु मुंह बन्द करके रहे'। लेकिन वे अधिक समय तक चुप न रह सके। सन् १९१५ में गोखले का देहान्त हो गया और उधर अहमदाबाद के निकट साबरमती के किनारे गांधीजी ने अपने सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की, जिसका ध्येय था भारत की जनता को सत्याग्रह की प्रशिक्षा देना। साबरमती आश्रम १९३१ तक उनका प्रधान कार्यालय रहा। गांधीजी कांग्रेस के कार्यों में भाग लेने लगे। उन्होंने चम्पारन (बिहार) के किसानों पर नील की खेती करानेवाले गोरों के घोर अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई, जांच समिति की मांग की और अन्त में उन्हें सफलता मिली। इसके बाद उन्होंने अहमदाबाद के मजदूरों की सेवा का काम अपने हाथ में लिया। अहिंसात्मक तरीके से मजदूरों के सगठन और हड़ताल आदि के द्वारा उन्होंने मजदूरों के कष्टों को दूर कराने के लिये पचफैसले की मांग को स्वीकृत कराने में सफलता अर्जित की। इसके बाद उन्होंने सत्याग्रह चलाया, जिसमें किसानों की जीत हुई। सन् १९१४ १८ के महायुद्ध में गांधीजी ने सरकार की सहायता करने का वचन दिया क्योंकि वे आपत्ति के समय शासन की सहायता करना उचित समझते थे। उन्होंने पूर्ण तत्परता के साथ सेना की भर्ती में और अन्य प्रकार से ब्रिटिश शासन को सहायता दी। गांधीजी के मित्रों और सहयोगियों ने उनके इस रवैये की कटु आलोचना की तथा उन पर सगतिहीनता का आरोप लगाया। लेकिन गांधीजी ने नैतिक आधार पर अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा कि युद्धजनित संकट में फंसे हुए विरोधी की स्थिति का लाभ उठाना उनकी अहिंसा के धर्म के विरुद्ध है और साथ ही एक भारतीय के रूप में उनका यह भी कर्त्तव्य है कि वे उस साम्राज्य की पूर्ण सहायता करें जिसमें

कि भारतवासी "निकट भविष्य में ही अन्य उपनिवेशों के समान साझीदार बनने की कामना रखते हैं।" स्पष्ट है कि उस समय तक गांधीजी स्वयं को ब्रिटिश साम्राज्य का नागरिक कहने में गर्व अनुभव करते थे और युद्ध में की गई सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप उन्होंने एक पदक भी प्राप्त किया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके हृदय में भारत की स्वतन्त्रता की लौ नहीं जल रही थी। वास्तव में उनका हृदय और मस्तिष्क इतना उदार चित्त था कि वे ब्रिटिश शासन के राजनीतिपूर्ण धूर्त रवैये को सही रूप में भाप नहीं सके थे और उन्हें ब्रिटिश शासन की उदार हृदयता में विश्वास था।

लेकिन, सन् १९२० में हवा का रुख बदल गया, गांधीजी एक सहयोगी से असहयोगी बन गये। अब उन्होंने भारत में अपना प्रथम राजनीतिक आन्दोलन छेड़ दिया। जिन घटनाओं ने गांधीजी की मनोदशा में यह परिवर्तन किया और उन्हें शासन के साथ असहयोग के लिये बाध्य किया उन्हें स्वयं उन्हीं के शब्दों में जानना दिलचस्प होगा। अपने पत्र *'Young India'* के द्वारा राजद्रोह का प्रचार करने के अपराध में गांधीजी पर मुकदमा चलाया गया। मार्च १९२२ में अपने विरुद्ध चलाये गये इस अभियोग में ब्रूमफील्ड के समक्ष महात्मा गांधी ने अपने ये सुविख्यात शब्द कहे—

'मुझे पहला धक्का रालेट एक्ट के रूप में लगा जो एक ऐसा कानून था जिसका उद्देश्य जनता की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को छीनना था। उसके विरुद्ध मैं एक घोर आन्दोलन चलाने के लिये विवश हो गया। पंजाब का संकट आया जो जालियांवाले बाग के हत्याकाण्ड से आरम्भ हुआ और जिसका अवसान हुआ रेंगते हुए पेट के बल चलने के आदेशों, सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने और अन्य अवर्णनीय अपमानजनक बातों में। मुझे यह भी मालूम हुआ कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने तुर्की की एकता और इस्लाम धर्म के पवित्र स्थानों की रक्षा के सम्बन्ध में भारत के मुसलमानों को जो वचन दिया था, उसके पूरे होने की कोई सम्भावना न थी। परन्तु १९१९ में अमृतसर कांग्रेस में अपने मित्रों की आशंकाओं और चेतावनी के बावजूद मैं अंग्रेज सरकार के साथ सहयोग के लिये लड़ा, क्योंकि मुझे आशा थी कि मुसलमानों को दिये हुए वचन का पालन किया जायगा, पंजाब के जख्मों को भरा जायगा और मेरा विश्वास था कि १९१९ के अधिनियम के सुधार चाहे कितने ही असन्तोषजनक और नाकाफी क्यों न हों, फिर भी वे भारत में एक नवीन युग के सन्देशवाहक थे। परन्तु वह सब आशा भंग हो गई। खिलाफत का वचन पूरा नहीं किया गया। पंजाब के अपराधों पर लीपा-पोती कर दी गई और बहुत से अपराधियों को न केवल दण्ड ही दिया गया, बल्कि वे अपने पदों पर भी बने रहे, कुछ को भारत के खजाने से पेंशन मिलती रही और कुछ को तो पुरस्कार भी दिये गये। मैंने यह भी देखा कि सुधारों में न केवल हृदय परिवर्तन का अभाव था बल्कि वे भारत का धन लूटने और उसकी दासता को और दीर्घजीवी करने की एक योजना मात्र थी।"

गांधीजी का उपरोक्त कथन उस नैतिक आधार को स्पष्ट कर देता है जिसके कारण उन्होंने सरकार के साथ असहयोग की नीति अपनायी। अगस्त १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद ही कांग्रेस में गांधीजी

का प्रधान नेतृत्व कायम हो गया था। १९२१ से १९४७ तक का पूरा युग स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में 'गांधी-युग' या 'गांधी अध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है। १९२१ में असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात करके गांधीजी ने खिलाफत आन्दोलन से उसे संयुक्त कर दिया। गांधीजी द्वारा फूंके हुए इस शंखनाद ने देश के नगर-नगर में, गांव-गांव में, राष्ट्रीय जागरण की लहर दौड़ादी। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने इस सत्याग्रह आन्दोलन को समस्त मूर्खतापूर्ण योजनाओं में सर्वाधिक मूर्खतापूर्ण (*The most foolish of all foolish schemes*) कहा। किन्तु शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हो गया कि अहिंसा का अस्त्र बन्दूकों और तलवारों से अधिक प्रभावशाली होता है। चोट खाये हुए सर्प की भांतिफूफकारते हुए अंग्रेजोंने अपना दमन पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। गांधीजी के इस असहयोग आन्दोलन में निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं था बल्कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, कोर्ट, कौंसिल, कालेज, नौकरी आदि का बहिष्कार स्वदेशी की भावना हड़ताल या विरोध-प्रदर्शन, धरना या पिकेटिंग, लगान बंदी आदि कार्यक्रम थे। सारे देश में असहयोग की लहर फैली। गांधीजी के साथ करीब ५०,००० कार्यकर्त्ता गिरफ्तार किये गये। जब आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था तभी दुर्भाग्यवश चौरी-चौरा की हिंसात्मक घटना घटित हो गई और इस एक घटना ने इस महात्मा राजनीतिज्ञ को असहयोग आन्दोलन स्थगित करने पर विवश कर दिया। गांधीजी के अनुसार तो यह संघर्ष पूर्णतः सत्य और अहिंसा के नैतिक शस्त्रों से लड़ा जाना था। ज्योंही उन्हें यह आभास हुआ कि सर्वसाधारण अभी अहिंसात्मक युद्ध कला में परिपक्व नहीं हुए है और उनके द्वारा हिंसा के प्रयोग होने की सम्भावना है तो उन्होंने ऐसे समय भी आन्दोलन को स्थगित करने का निश्चय कर डाला जब सफलता भारतीय जनता के चरण चूमने को तत्पर थी। गांधीजी के व्यक्तिगत सिद्धान्तों की दृष्टि से यह कदम चाहे ठीक हो, किन्तु उनके इस कदम को उनके सहयोगियों ने अनुचित माना। आन्दोलन की असफलता से सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिकता की अग्नि भड़क उठी। स्थान-स्थान पर आपसी दंगे हुए और पारस्परिक वैमनस्य बढ गया। हिन्दू मुस्लिम एक्य के लिये गांधीजी ने आमरण अनशन ठान लिया। अन्त में उनकी प्रेरणा से १९२४ में देश के नेताओं ने एकता सम्मेलन का आयोजन किया और तात्कालिक रूप से अल्पकालीन शांति स्थापित हुई।

यद्यपि गांधीजी का प्रथम अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन भारत को स्वराज्य दिलाने में असफल हो गया किन्तु वह पूर्णतः निष्फल नहीं गया। इसने कांग्रेस को एक जन-आन्दोलन बना दिया, स्वराज्य का सन्देश घर-घर पहुँचा दिया और जनता की मानसिक स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लादिया। सत्याग्रह के अन्य परिणामों ने भावी सफलता का मार्ग-प्रशस्त कर दिया।

गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन को सोने नहीं दिया। उन्होंने अपना ध्यान रचनात्मक कार्यों की ओर केन्द्रित किया और खादी प्रचार तथा ग्रामोद्योग को प्रधानता देकर जगह-जगह उनके केन्द्र तथा आश्रम स्थापित किये। उन दिनों 'यंग इण्डिया' नामक पत्र का सम्पादन भी वे करते रहे, फिर

'नवजीवन' निकाला, बाद मे 'हरिजन' का सम्पादन विभिन्न भाषाओं मे प्रारम्भ किया जिनमे उनके विचार देश के सामने नियमित प्रकट होते रहे।

सन् १६२६ मे लाहोर अधिवेशन पर प० नेहरू की अध्यक्षता मे पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास होने के पश्चात् गाधीजी ने सन् १६३० मे डाडा-कूच के साथ अपना प्रसिद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड दिया। जनता की उनके प्रति असीम श्रद्धा और अटूट विश्वास ने आन्दोलन को एक बहुत व्यापक स्वरूप दिया। उनकी गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन देश के कोने कोने मे फैल गया और लगभग एक लाख व्यक्तियों को बदी बनाया गया। अभी यह आन्दोलन सफलतापूर्वक चल ही रहा था कि उनका लार्ड इरविन से समझौता हो गया। समझौते के फलस्वरूप गाधीजी ने आन्दोलन बद करके लदन मे दूसरी गोलमेज सभा में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया और कांग्रेस की तरफ से यह दावा किया कि कांग्रेस सम्पूर्ण देश तथा सारे हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाली सस्था थी। सम्मेलन मे साम्प्रदायिक समस्या पर कोई आपसी समझौता नही हो सका और गाधीजी खाली हाथों भारत लौट आये। उन्होंने फिर सत्याग्रह चालू कर दिया और फिर से जेलें ठसाठस भर गई। यह आन्दोलन सन् १६३४ तक चलता रहा। दरिद्र नारायण का सेवा का व्रत लेनेवाले इस अर्द्धनग्न फकीर के पीछे कोटि-कोटि भारतीय नगी, भूखी, पिछडी जनता भक्तिपूर्वक चल पडी। विश्व इतिहास मे इतने बडे जन-आन्दोलन का नेतृत्व किसी एक व्यक्ति ने आज तक नही किया था। काग्रेस का सगठन देश के कोने-कोने में व्याप्त था और गाधी इसके प्राण थे।

सन् १६३५-३६ में राजनीतिक सुधारों के फलस्वरूप काग्रेस के प्रातीय मत्रिमण्डल बने। परन्तु युद्ध के प्रारम्भ होने पर बिना भारतीयो की इच्छा जाने अंग्रेजों ने भारत को युद्ध मे शामिल कर लिया। कांग्रेसी मत्रि-मण्डलो ने त्याग पत्र दे दिये और गाधीजी के नेतृत्व मे काग्रेस की ओर से सन् १६४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया गया जिसमे युद्ध-विरोधी विचार जगह-जगह प्रसारित किये गये। गाधीजी की प्रेरणा से ६ अगस्त १६४२ को प्रसिद्ध 'भारत छोडो' (*Quit India*) आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो विदेशी शासन के प्रति ब्रह्मास्त्र का प्रयोग था और जिसके कारण सम्पूर्ण शासन यत्र को पक्षाघात हो गया। दमन भी तीव्रता से हुआ लेकिन अग्रेजी साम्राज्य की नीव हिल गई। जेल मे गाधीजी ने २१ दिनो का ऐतिहासिक उपवास भी किया। सन् १६४४ मे उन्हे कारावास से मुक्त किया गया। इस समय कायदे आजम जिन्ना के नेतृत्व मे 'पाकिस्तान आन्दोलन' जोर पकडे हुए था। गाधीजी ने जिन्ना से पाकिस्तान सम्बन्धी समस्या को सुलझाने के लिये वार्ता चलायी जो विफल रही। जब प्रान्तीय धारासभाओ के नये चुनाव हुए तो गाधीजी के नाम से ही काग्रेस को चुनाव जीतने मे अभूतपूर्व सफलता मिली। केबिनेट मिशन की घोषणा के अनुसार १६४६ मे अन्तरिम सरकार बनी और फिर माउण्ट बेटन की भारत विभाजन योजना के अनुसार १६४७ का भारतीय स्वाधीनता बिल पास हुआ जिसने भारत और पाकिस्तान के ये दो टुकडे इस देश के किये। प्रारम्भ मे गाधीजी ने विभाजन की योजना का विरोध करते हुए घोषणा की थी कि "भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा।" परन्तु परिस्थितियो के आगे उनकी एक न चली। अपने जीवन में अपने सिद्धान्तों

और स्वाधीनता दिवस पर उनसे खुशियों में शामिल नहीं हुआ जा सका। गांधीजी ने दो उपनिवेशों के इस विभाजन को 'आध्यात्मिक विनाश' कह कर पुकारा।

स्वाधीनता के पश्चात् दोनों देशों में साम्प्रदायिकता की दावाग्नि भड़क उठी। इन्सान पशु बन गया। धर्म, द्वेष और घृणा का आधार बन गया। धर्म के नाम पर खून की होली खेली गई। आजादी के बाद गांधीजी ने अपना समग्र जीवन साम्प्रदायिकता की इस भयंकर आग को शांत करने में होम दिया। ३० जनवरी १९४८ का एक प्रार्थना सभा में होठों पर ईश्वर का नाम लिये वे एक धर्मान्ध की गोली से शहीद हुए।

'सुदूर भारत का एक लंगोटीधारी वृद्ध व्यक्ति। किन्तु उनकी मृत्यु पर मानवता ने आंसू बहाये।"[1] **उनकी मृत्यु एक अनोखी तीर्थ यात्रा की समाप्ति जैसी थी। "जब वे जीवित थे तो दुनियां कभी-कभी उनकी बात की उपेक्षा भी कर देती थी क्योंकि उनका जीवन ऐसे सगीत के समान था जो इतना धीमा बज रहा हो कि उस पर ध्यान ही न जाये, पर उसके थमते ही लगे कि जैसे कुछ छिन गया है। पर भारत में तो गांधी लगभग पुराण-पुरुष का स्थान प्राप्त कर चुके थे।"** किसी ने कहा है कि शताब्दियों तक भारत का काल क्रम 'गांधी पूर्व' और 'गाधी के बाद' के रूप में लिखा जायगा।[2] नेहरू ने उनकी मृत्यु के बाद लिखा था, **'महान् और विख्यात व्यक्तियों के स्मारक संगमरमर या कांसे के बना करते हैं पर स्वर्गिय तेज सम्पन्न इस व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में ही लाखों-करोड़ों इन्सानों के हृदयों मे अपना स्मारक बना लिया था।"**[3] गांधीजी की मृत्यु भी उनके जीवन की तरह ही अकारथ नहीं गई। उनकी मौत से वे विचार और सिद्धान्त और भी अधिक सजीव तथा प्रभावकारी हो उठे जिनके लिये वे जीवन भर लड़े थे। गांधी के बलिदान ने भारतीयों के मन-मानस में सदा-सदा के लिये लौ जलादी कि वे उनके आदर्शों की पूर्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहेगे। उनक मृत्यु के महत्व को डा० स्टेन्ले जोन्स की लेखनी ने यो व्यक्त किया—'गाधीजी अपने जीवन काल मे एक ईश्वरीय यत्र थे और वे मृत्यु के समय भी ईश्वरीय यत्र ही रहे। ईश्वर ने इस दुःखद घटना का प्रयोजन उन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये किया है जिनके लिये वे जीवित रहे थे...हत्यारे की गोलिया गाधीजी और उनके विचारो का अन्त करने के लिये चलाई गई थी लेकिन उन गोलियों का नतीजा यह निकला कि वे विचार स्वच्छन्द हो गय और हमेशा के लिये मानव जाति की थाती बन गये। हत्यारे ने गांधी की हत्या करके उन्हें अमर बना दिया। मृत्यु में वे अपने जीवन स भी अधिक बलशाली हो उठे। संसार मे आज ऐसे करोड़ों व्यक्ति है जो महात्मा और उनके विचारों मे अनुराग रखते हैं। यदि वह अपने जीवन के आदर्शो की बलिवेदी पर बलिदान न होते तो ये ही करोड़ो व्यक्ति उन पर केवल एक उड़ती हुई दृष्टि डाल कर ही रह

1. Quoted by Homes : My Gandhi, Page 126
2. Ibid, P. 134
3. Nehru on Gandhi, Page 154

जाते। किसी भी मानव ने अपने जीवन के आदर्शों का सार अपनी मृत्यु मे उनसे अधिक पूर्णरूप म प्राप्त नही किया।"[1]

गांधीजी पर प्रभाव
(Influence on Gandhiji)

गाधीजी एक बहुत विवेकशील और विशाल-हृदय के भारतीय थे, जिनके विचारों मे कभी भी किसी प्रकार की कट्टरता देखने को नही मिलती। वे हर समय तर्क तथा बुद्धिसगत बात और विचार का स्वागत करने को तैयार रहते थ और यही कारण था कि उनका दर्शन ससार के समस्त धर्मों तथा दर्शनो की चुनी हुई अच्छाईयो का सग है। वसे अपने राष्ट्रीय जीवन मे गाधीजी विशुद्ध भारतीय थे, किन्तु अपन व्यवहारिक जीवन म जिन सिद्धान्तो तथा आदर्शों का उन्होने पालन किया, वे नि सदेह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। गाधीजी की विचार-धारा समनवयात्मक थी। वे सनातनी अवश्य थे (उतने ही जितना सत्य सनातन है), अन्धविश्वासी या रूढ़िवादी नही, क्योंकि सदियों की रूढ़ि-कारा को उन्होंने ही ध्वस्त किया। व्यवहार को आदर्शमय, आदर्श को व्यावहारमय तथा जीवन को कल्याणमय बनाने की साधना उनमें सदैव रही। उनकी धार्मिकता सार्वभौम सार्वदेशिक तथा शाश्वत है, भौगोलिक सीमाओं से वेष्टित नहीं।

अपने दर्शन की रूपरेखा निश्चित करने से पूर्व गाधीजी भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो साहित्यो का गहन अध्ययन कर चुके थे और इन्हीं दोनो साहित्यो के महान विचारको तथा उनकी अमर रचनाओं का उनके जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उनका सारा राजनैतिक अथवा नैतिक जीवन-दर्शन उनके अनुरूप ढलता चला गया।

प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थ—गाधीजी पर प्राचीन भारतीय धम ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव पडा। वे यद्यपि सस्कृत के विद्वान नही थे किन्तु देश की प्राचीन सस्कृति क प्रति उनका गहरा अनुराग था और इसी कारण उन्होने भारतीय धर्म ग्रन्थो का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त किया। पातजलि का 'योग सूत्र' उन्होने सन् १६०३ मे जोहासबग जेल म ही पढ डाला था। रामायण और महाभारत जस लोकप्रिय महान काव्यो पर उनकी अटूट आस्था थी। उपनिषदों म भी उनकी दृष्टि पैनी थी। इस सब विस्तृत अध्ययन का प्रभाव उनके 'अहिंसा सिद्धान्त म भलीभाति देखा जा सकता है। भारतीय प्राचीन धम-ग्रन्थो मे आये हुये ये उपदेश कि सोऽमहम्' तथा 'तत्वमसि' मनुष्य मात्र के प्रति ही नहीं बल्कि समस्त जीवमात्र के प्रति प्रेम, सहानुभूति व अहिंसात्मक दृष्टिकोण रखने की शिक्षा देता है। योग सूत्र के ५ सूत्रों मे अहिंसा पहला सूत्र है। महाभारत में सारा शातिपव और वनपव अहिंसा का उपदेश देते हैं। रामायण की रचना ही महर्षि बाल्मीकि के एक आत क्रौन्च के प्रति अहिंसा व दया जागृत होने पर हुई थी। गाधीवादी

---

1 *Stanlay Jones*: Mahatma Gandhi: An Interpretation, Pages 53-54

विचारधारा इन सबसे अपनी मूल प्रेरणा ग्रहण करती है, और धर्म-ग्रन्थों का यह व्यापक प्रभाव उसे पूर्णतः आक्रान्त किये है।

गीता :—गांधीजी पर सर्वाधिक प्रभाव भगवत् गीता का पडा। गीता उनके जीवन की आध्यात्मिक प्रसंग पुस्तक (*Spiritual Reference Book*) थी। उनके समस्त विचारों पर गीता के कर्म-प्रधान-दर्शन की छाप दिखलाई देती है। इसीलिये राज्य को हिंसा पर आधारित देखकर भी टाल्सटाय की भांति सन्यास ले लेने की अपेक्षा, वे कर्म क्षेत्र में निडर योद्धा की भांति अड़े रहे। उनके एक वाक्य में 'मेरा जीवन बाह्य दुर्घटनाओं से परिपूर्ण है; इस पर भी इन घटनाओं ने मुझ पर कोई प्रभाव नहीं डाला तो इसका श्रेय भगवत् गीता की शिक्षाओं को है।' गीता में आये हुये सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय निग्रह, कर्मयोग, निष्काम कर्म आदि उनके व्यावहारिक जीवन के आदर्श तथा अंग थे। गीता के कर्म का अमर व अमूल्य सदेश उनके दर्शन की पंक्ति २ में प्रतिध्वनित हो रहा है।

कुरान :—गांधीजी कुरान एवं अन्य मुस्लिम पुस्तकों से भी प्रभावित हुये थे। उनकी यह धारणा थी कि हिन्दू जैन, बौद्ध आदि दर्शनों की भांति ही मुस्लिम दर्शन भी प्रेम, सत्य व भाईचारे के सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने अपने अहिंसा सिद्धान्त की जड़ें मुस्लिम दर्शन में पाई थीं और कुरान उनकी दृष्टि में सदैव एक महत्वपूर्ण व समादृत रचना रही।

चीनी कन्फूसियनवाद और जैन तथा बौद्ध धर्म :—चीनी कन्फूसियनवाद तथा टैविज्म (*Tavism*) भारत के जैन और बौद्ध दर्शन की भांति अहिंसावादी सिद्धान्तों पर आधारित है। चीन की परम्परायें सुदीर्घ काल से अहिंसात्मक रही हैं और प्राचीन चीन में अहिंसात्मक एव असहयोग कार्यक्रान्तियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जुडाइज्म (*Judaism*) का यह सिद्धान्त है कि यदि 'यदि तुम्हारा शत्रु भूखा है तो उसे खाने की रोटी दो यदि वह प्यासा है तो उसे पीने को पानी दो, यदि तुम्हारा शत्रु असफल होता है तो हंसो नहीं, और यदि वह ठोकर खाकर गिरता है तो तुम्हारे हृदय को प्रसन्न नहीं होना चाहिये।" कुछ विद्वानों का विश्वास है कि अहिंसा और प्रेम की शिक्षा देने वाला यह विचार भी गांधीजी के प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे थे।

बाईबिल :—गीता की भांति ही गांधीजी की दूसरी परमप्रिय पुस्तक बाइबिल थी। ईसा के वे अनन्य भक्त थे और उनकी शिक्षाओं का उन्होंने जीवन भर पालन किया। बाईबिल के अध्ययन द्वारा गांधीजी को अपने जीवन में एक नवीन प्रेरणा मिली। वे कहते हैं कि उसके '*Sermon on the Mount*' नामक अध्याय को पढकर तो उनकी आत्मा एकदम जाग सी उठी और उन्हें जीवन के उन शाश्वत मूल्यों का ज्ञान हो गया जिनके आधार पर उन्होंने अपने सत्याग्रह और अहिंसा सिद्धान्त को प्रतिपादन किया। इसी '*Sermon*' में उन्हे गीता के निष्काम कर्म और दर्शन का पुनर्भाग मिला और उनकी यह धारणा दृढ़ बन गई कि बाईबिल में आया '*Kingdom of God*' यदि इस दुनिया में स्थापित हो सकता है तो वह सत्य अहिंसा, प्रेम तथा नैतिक बल द्वारा हृदय परिवर्तन से ही हो सकता है। प्राचीन धर्म ग्रन्थों की भांति बाईबिल ने भी उन्हें विश्व-बंधुत्व और देवी परिवार (*Divine Family*) को साकार बनाने की चेतना प्रदान की।

टालस्टाय :—गांधीजी पर सुप्रसिद्ध रूसी दार्शनिक अराजकतावादी टालस्टाय का अवर्णनीय प्रभाव पड़ा, इतना कि उन्हें गांधीजी ने अपना गुरु स्वीकार किया। बल प्रयोग के स्थान पर प्रेम तथा सदभावना का अनुसरण करने हुये शांति मार्ग अपनाने की शिक्षा गांधीजी ने टालस्टाय से ग्रहण की। अहिंसात्मक प्रतिरोध, सत्यान्वेषण, व्यक्ति और समाज का नैतिक पुनर्निर्माण, शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा त्यागमूलक नैतिकतापूर्ण सम्बन्ध, इन्द्रिय निग्रह तथा संयम आदि आदर्शों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। दक्षिण अफ्रीका मे टालस्टाय आश्रम तथा फिनिक्स संस्था बनाकर गांधीजी ने उन सिद्धान्तो को अमली रूप दिया। टालस्टाय की एक पुस्तक '*Kingdom of God is within you*' पढ़ने से गांधीजी का संशयवाद दूर हो गया और वे अहिंसा के दृढ समर्थक हो गये। उनके शब्दों मे 'इसके अध्ययन से मेरे समस्त संदेह दूर हो गये और मेरी अहिंसा मे पक्की आस्था हो गई।'

रस्किन :—चरम आत्मतत्व, चारित्र्य निर्माण तथा मनुष्य की अच्छाईयों म दृढ आस्था रखने हुये गांधीजी जॉन रस्किन से अत्यन्त प्रभावित हुये। रस्किन की अमर व अमूल्य रचनाओं '*Unto this Last*' और '*Crown of Wild Olives*' उनके परमप्रिय ग्रन्थ थे। *Unto this Last* मे रस्किन ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को समाज की सामूहिक पूंजी पर समान नैतिक अधिकार है और पूंजीपति का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह आर्थिक मजदूरी का वितरण करते समय नैतिक दृष्टि से विचार करें। इसी नैतिक सिद्धान्त तथा इसके द्वारा सामूहिक हित की प्राप्ति के लिये व्यक्तिगत हित पर बल देना इस पुस्तक मे रस्किन का उद्देश्य है। गांधीजी इसे पढ़कर इस विचार से इतने अधिक अभिभूत हुये कि उन्होंने इसे सिद्धान्त रूप मे ही स्वीकार नहीं किया बल्कि सर्वोदय समाज की स्थापना द्वारा इसे एक व्यावहारिक वस्तु बनाने के लिये भी अधिक परिश्रम किया। राजनीति के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखना गांधीजी ने इसी महान् साहित्यकार से लिया और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि रस्किन गांधीजी के आध्यात्मिक पूर्वजो (*Spiritual Ancestors*) मे से थे।

क्वेकर्स :—गांधीजी की विचारधारा पर क्वेकर्स (*Quakers*) के सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा। क्वेकर मत अथवा समाज की स्थापना का श्रेय जार्ज फौक्स विलियम पैन, बर्कले आदि कुछ विचारकों को है जो युद्ध विरोधी तथा अहिंसक राज्य के समर्थक थे और जिनका मत था कि मनुष्य के सारे कार्य उसके अन्तःकरण की चेतना द्वारा प्रभावित होने चाहिये। गांधीजी ने अपने व्यावहारिक जीवन मे इस मान्यता को स्वीकार किया। दुखोबार्स (शांतिप्रिय निरामिष भोजी, धार्मिक रूसी सम्प्रदाय) के संगठनों से प्रभावित होकर गांधीजी ने अपने आश्रमों मे अत्यन्त सादगी, पवित्रता तथा त्याग के जीवन का आधार रखा।

इन उपरोक्त प्रभावों के अतिरिक्त अन्य कितने ही शांतिवादी विचारको जैसे विचमैन (*Wichmann*), रोनेण्ड हाल्स्ट (*Roland Holst*), ए० हक्सले (*A Huxley*) तथा गेराल्ड हर्ड (*Gerald Heard*) आदि के विचारो तथा गांधीजी की मान्यताओं म पर्याप्त साम्य है। ये सभी लोग

साधन तथा साध्य (*Means & Ends*) दोनों की पवित्रता में विश्वास करते है और ऐसा मानते हैं कि यदि किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन भ्रष्ट है तो वह पवित्र से पवित्र उद्देश्य भी अपनी पवित्रता से गिर जावेगा। इंगलैंड के उदारपंथी आन्दोलन से प्रभावित होने के कारण प्रारम्भ से ही गांधीजी अंग्रेजों के प्रति घृणा या विद्वेष या नहीं वलिक न्याय-बुद्धि जागृत करने का प्रचार करते रहे। विधिशास्त्री तो वे थे किन्तु कानूनों और काले कानूनों (*Lawless or Obnoxious Laws*) का विरोध करने पर टी० एच० ग्रीन की तरह उन्होंने अपने स्पष्ट और निर्भीक विचार व्यक्त किये। अमरीका के अराजकतावादी हैनरी डेविड थोरा के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी गांधीजी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार गांधीयन विचार को प्रभावित करनेवाले यदि इन समस्त विचारों को देखें तो विदित होगा कि गांधीवाद, कोई नई या अदभुत् विचार-धारा नहीं है वलिक जैसा कि श्री विसारिया का कथन है "वह एक ऐसा दर्शन है, जिसमें विश्व के सारे कोनों के संतों की शिक्षायें आकर सम्मिलित हो गई हैं और उनकी उन्होंने अपनी व्याख्या दी है। वास्तव में वह शाश्वत सत्य की अपनी व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—उन्होंने अपनी प्रेरणा विभिन्न बुद्धि-कूपों से ली है और उसके आधार पर एक नूतन तथा अद्भुत दर्शन का सृजन किया है।"[1]

गांधीजी और उनका धर्म
(Gandbiji and his Religion)

गाँधीजी के पूर्व धर्म पर बहुत अधिक विचार हो चुका था किन्तु तत्कालीन इतिहास और समाज में धर्म के विकृत रूप का दर्शन करने के कारण और संघर्ष, शोषण, अनैतिकता, पाखण्ड, अधविश्वास आदि दोषों से धर्म को आच्छादित देखने के कारण उन्हें इसी समस्या पर पुनः विचार करना पड़ा। गाँधीजी ने विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उन्हें यह बोध हुआ कि सर्वसाधारण में धर्म की जो अवधारणा प्रचलित है वह नितान्त भ्रामक है। इसलिये उन्होंने अपने प्रयोगों और निष्कर्षों के आधार पर धर्म की पुनः व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की।

गांधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्त्व स्वीकार किया जिसे निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण और शून्य हो जाते हैं। गांधीजी का धर्म अपने क्षेत्र में संसार के प्रत्येक कार्य, व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष तथा समाज के प्रत्येक अंग को समेट लेता है। उनकी दृष्टि में और उनके स्वयं की समस्त क्रियाओं का प्रधान प्रेरक धर्म है। उनका विश्वास

---

1. "Gandhi's Philosophy is a synthesis of all the teaching of sages from every corner of the Glob to which he applied his own interpretation. In fact it is nothing but a re-interpretation of the abiding and permanent truth. He drew his inspiration from different wells of thought and wisdom and build up a new and unique Philosophy."

—*Bisaria*

था कि मानव जीवन का अन्तिम ध्येय ईश्वर की प्राप्ति है और हमारी समस्त क्रियायें प्रभु-दर्शन के अन्तिम उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए होनी चाहिए। गांधीजी ने अपने धर्म की व्याख्या करते हुए यह उल्लेखनीय शब्द प्रस्तुत किये—

'धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक या रूढ़िगत धर्म से नहीं परन्तु उस धर्म से है जो सब धर्मों की बुनियाद है और जो हमें अपने सजनहार का साक्षात्कार कराता है।

धर्म हमारे हर काम में समाया हुआ होना चाहिये। यहां धर्म का अर्थ सम्प्रदायवाद नहीं है। इसका विश्व के व्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास है। वह अदृश्य है लेकिन कम वास्तविक नहीं है। यह धर्म हिन्दुत्व इस्लाम और ईसाइयत आदि से परे है। यह उनका स्थान नहीं लेता। यह उन्हें एक रस बनाता है और वास्तविकता प्रदान करता है।

धर्म मानव समाज का शाश्वत तत्व है जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए किसी भी कीमत को चुकाने के लिये तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है तब तक उसे अपने स्वरूप का पता नहीं लग जाता सजनहार का ज्ञान नहीं हो जाता तथा सृष्टा के और अपने बीच का सच्चा सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता

मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता। कुछ लोग अपनी बुद्धि के घमंड में कह देते हैं कि उन्हें धर्म से कोई वास्ता नहीं। परन्तु यह ऐसी ही बात है जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह सांस तो लेता है परन्तु उसके नाक नहीं है। बुद्धि से हो सहज बोध से हो या अंधविश्वास से हो मनुष्य ईश्वर के के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध मानता ही है। कट्टर से कट्टर अज्ञेयवादी या नास्तिक भी किसी नैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करते हैं।'[1]

गांधी धर्म मूलतः मानवतावादी है। उसका चरम लक्ष्य मानव सेवा है। आज व्यक्ति राष्ट्र या समाज की सेवा करना चाहता है उसे अपना विशेष प्रकार का व्यक्तित्व निर्मित करना होगा अपने में विशिष्ट गुणों का समाहार करना होगा। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोपरि गुण यह है कि व्यक्ति मन वचन और कर्म से धार्मिक हो। गांधी धर्म के प्रमुख तत्व हैं सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा। गांधीजी चाहते हैं कि जो व्यक्ति वास्तव में मनुष्य कहलाना चाहता है उसके दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास उन्हीं तत्वों पर आधारित होना चाहिये। यद्यपि गांधीजी अन्य गुणों अस्तेय अपरिग्रह अभय ब्रह्मचर्य, विनम्रता कायिक श्रम आदि का उल्लेख अवश्य करते हैं लेकिन उनका विश्वास है कि जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा के गुणों का विकास कर लेता है उसमें अन्य गुण स्वतः उत्पन्न हो जायेंगे। विचार और आचरण व्यक्तित्व के आधारभूत तत्व हैं। मनुष्य का आचार और विचार सत्य या ईश्वर को साक्षी मानकर होना चाहिए ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से होना चाहिए। गांधीजी का धर्म दैहिक तत्व की उपेक्षा नहीं करता। वे व्यक्तित्व

1 गांधी हरिजन, १०-२-१९४० पृष्ठ ४४५, यंग इंडिया, दिनांक १२ ५-१९२०, पृष्ठ २, यंग इण्डिया, २३-१-१९३०, पृष्ठ २५

का पूर्ण विकास मोक्ष की स्थिति में मानते हैं। मोक्ष की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मोक्ष का अर्थ हर प्रकार से स्वस्थ्य होना ही है......अमरत्व तो आत्मा का गुण है। उसके लिये सब शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न करें।" इस तरह गांधीजी व्यक्तित्व के दैहिक तत्व को भी धर्म के अन्तिम लक्ष्य अथवा अमरत्व से सम्बन्धित कर देते हैं। वे व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और आचारात्मक पक्षों को धर्म से संयुक्त करते हैं। उनकी निष्ठा धर्मानुप्राणित व्यक्तित्व में है।

किंग्सले डेविस, इंजर आदि समाजशास्त्रियों का मत है कि धर्म प्रधानतः मृत्यु तथा संवेगात्मक अशांति की समस्या के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है, मोक्ष का मोहक लक्ष्य सामने रखता है और अपनी संस्थाओं द्वारा कल्याणकारी तथा उपयोगी कार्य करता है। धर्म के ये तीनों प्रकार के कार्य व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं और गांधी धर्म में इन तीनों कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। गांधीजी की धार्मिक अवधारणा ने मृत्यु के भय को दूर करने का व्यावहारिक प्रयत्न किया है। वे आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि जन्म-मरण ईश्वर की इच्छा से होता है और इन अटल नियमों को बदलना मानव शक्ति से परे है। अतः जब मृत्यु निश्चित है और निश्चित समय पर होती है तो मृत्यु से भय करना मूर्खता है। गांधीजी मृत्यु के दुख से मुक्त होने के लिये एक व्यावहारिक उपाय बताते हैं। उनका कहना है कि यदि व्यक्ति अपनी कौटुम्बिकता का विस्तार देशव्यापी कर ले तो देश में होनेवाला प्रत्येक जन्म और प्रत्येक मरण उसी के परिवार का हो जायेगा। जब प्रेम इतना विस्तार कर लेगा तो फिर व्यक्ति कितनी खुशी मनायेगा और कितना शोक करेगा? उसे यही मानकर चलना पड़ेगा कि 'जन्म और मृत्यु दो भिन्न स्थितियां नहीं परन्तु एक ही स्थिति के दो पहलू हैं। एक दुखी होने और दूसरे पर खुशी मनाने का कोई कारण नहीं है।'[1] मृत्यु से अभय के सिद्धान्त को गांधीजी ने स्वयं ने अपने जीवन में कितना घटाया, यह उन शब्दों से प्रकट है जो बमकाण्ड के बाद प्रार्थना सभा में उन्होंने कहे थे—"हमला हो, कोई पुलिस भी मदद पर न आवे, गोलियां भी चलें और तब तक मैं स्थिर रहूं और राम-नाम लेता और आपसे लिवाता रहूं ऐसी शक्ति ईश्वर मुझे दे तब मैं धन्यवाद के लायक हूं।"[2] गांधीजी ने भय के अनेक भेद किये-मृत्यु का भय सम्पत्ति लुट जाने का भय, परिवार का भय, रोग का भय, शस्त्र प्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय आदि। उन्होंने अपना यह विश्लेषण प्रस्तुत किया कि अनेक लोग मृत्यु से भयभीत नहीं होते है किन्तु अन्य प्रकार के दुखों को सहन नहीं कर पाते, उदाहरणार्थ प्रतिष्ठा अथवा धन अथवा वियोग के भय से बचने के लिये वे अनुचित काम कर बैठते हैं और यहां तक कि प्राण भी त्याग देते हैं। गांधीजी ने, धर्म से ओतप्रोत उनकी वाणी ने यह संदेश दिया कि सत्य के उपासक और धर्म के साधक को राजा हरिश्चन्द्र की भांति सभी प्रकार के भयों से ऊपर

---

1. गांधी—यंग इंडिया, २०-११-१९२४
2. गांधी—प्रार्थना-प्रवचन, भाग २, पृष्ठ ३२६

उठना चाहिये, क्योंकि भय मुक्त हुए बिना ससार मे सत्य का पालन करना सभव नहीं है। गाधीजी ने कहा कि भय तो मनुष्य की कल्पना की उपज है अत यदि व्यक्ति यह समझ ले कि यह शरीर मेरा नही ईश्वर का है और ससार की समस्त वस्तुयें मेरी नही ईश्वर की है तथा व्यक्ति तो इस शरीर का और अन्य वस्तुओ का ईश्वर द्वारा नियुक्त रक्षक मात्र है और व्यक्ति का उन पर कोई अधिकार नही है, तो शनै शनै धन शरीर, परिवार आदि से 'अपनापन' हट जायेगा और मनुष्य को किसी प्रकार के भयो की अनुभूति नहीं होगी। सक्षप मे, गाधाजी ने कहा कि मोह भय का कारण है, मोह रहित स्थिति की पराकाष्ठा ही भय है। पूर्ण भय की स्थिति आत्म साक्षात्कार की स्थिति है अर्थात् व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की अवस्था है।[1]

गाधीजी के धर्म ने 'निष्काम कर्म" का उपदेश दिया। उन्होने अपने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा—

'जो मनुष्य परिणाम का अध्ययन करता रहता है, वह बहुत बार कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य काम करने लग पडता है, एक क्रम म से दूसरे मे और दूसरे मे से तीसरे मे पडता जाता है।"[2]

अत आशय है कि गाधीजी आँख बन्द करके निरुद्देश्य कर्म की प्रेरणा देते है लकिन परिणाम के प्रति आसक्ति अथवा मोह को उचित नही समझते। सष्टि कर्म वही है जो बन्धन मुक्त होकर किया जाता है। कर्म का त्याग पतन और अधर्म है, कर्म करते हुए परिणाम या फल का त्याग प्रगति और धर्म है। गाधीजी के शब्दो मे—

"एसा स्वर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म सकटो से बचाता है। इसमत के अनुसार भूठ खून, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव जीवन सरल बन जाता है और सरलता म से शाति उत्पन्न होती है।"[3]

चू कि निष्काम कर्म की साधना एक कठिन कार्य है, अतः गांधीजी भक्ति मार्ग का अनुसरण करने की कहते हैं क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार शुद्ध भक्ति ज्ञान और निष्काम कर्म दोनो का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

गाधीजी का धर्म जादू और रूढि से मुक्त है तथा अपने में चक्र जैसा निकता लिए हुए है। उनके धर्म म जादू का कोई स्थान नहा है।

'गाधीजी का धर्म निष्काम और स्वार्थ रहित साधनो को सर्वोपरि स्थान देता है और जादू तत्कालीन और प्रत्यक्ष स्वार्थो को प्रमुखता प्रदान करता है। गाधीजी धर्म मे आडम्बर, प्रदर्शन और विवेक रहित कार्यों को धर्म-लक्ष्य की पूर्ति की बाधा मानते है, किन्तु जादू तो इन्हीं बाह्याचारो पर ही आधारित होता है। गाधीजी के धर्म का मुख्य आधार नीति-बुद्धि है, किन्तु जादू मे बलि, व्यभिचार सुरापान तथा अन्य अनेक घृणित कार्यों का

---

1 शम्भूरत्न त्रिपाठी—गाँधी धर्म और समाज, पृष्ठ १०२-१०३
2. गाधी—अनासक्तियोग, पृष्ठ ८
3 गांधी—अनासक्तियोग, पृष्ठ ८

समावेश होता है। गांधी धर्म में त्याग, तपस्या मानव-सेवा को महत्व देते हैं, किन्तु जादू, भोग, विलासिता, व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति को मानता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि गांधीजी की धर्म की अवधारणा का जादू से कोई समझौता नहीं होता है। जादू में गुप्तता या रहस्यात्मकता का बहुत महत्व होता है जबकि गांधीजी गुप्तता को पाप समझते हैं। गांधीजी के धर्म या उनकी ईश्वरोपासना में पवित्रता का कोई स्थान नहीं है इसलिए जादू स्वाभाविक रूप से इससे दूर हो जाता है।"[1]

गांधीजी ने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि विश्व के विभिन्न धर्मों को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की एक बहुत मोटी परत ढके हुये है और लगभग सभी धर्मों की आत्मा इन्हीं परतों के नीचे क्रन्दन कर रही हैं। रूढ़ि और अन्धविश्वास विकास और विवेक के शत्रु हैं ये सत्य के शोधन के बाधक हैं। रूढ़ि हृदयहीन और बुद्धिहीन होती है। जब धर्म पर इसका अधिकार हो जाता है तो यह अपने छद्म रूप में समाज के टुकडे २ कर डालते हैं और विध्वन्स तथा विनाश का ताण्डव करती है। '**प्रगतिशील इस्लाम धर्म ने रूढ़ि की सत्ता स्वीकार की, तो मानव-रक्षक धर्म-भक्षक बन गया, विश्व बन्धुत्ववादी इसाई धर्म ने रूढि के अधिनायक तत्व को अंगीकार किया तो कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट संघर्ष के रूप में धर्म बन्धुहंता बना, नैतिकतावादी बौद्ध-धर्म जब रूढ़ियों के अनुशासन में आया तो वज्रयान, तन्त्रयान के रूप में धर्म घोर अनैतिकता का प्रसारक बना। गांधी-धर्म—जिसका नैतिकता आदर्श है, विवेक सबल है, चरम सत्य लक्ष्य है और प्रेम साधन है—विवेकहीन, ज्योतिहीन और हृदयहीन रूढ़ि को कैसे स्वीकार कर सकता है ?**"

यद्यपि गांधीजी "लकीर के फकीर" नहीं थे, किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि वे हर परम्परा के विरोधी थे, हर प्राचीन नीति-रीति के खण्डक थे और हर पुरातन प्रणाली के बहिष्कारक थे। वास्तव में सत्य यह है कि वे अतीत की उन परम्पराओं, धार्मिक विधि-विधानों और आध्यात्मिक कार्य-कलापों में विश्वास करते थे जिससे सत्य का हनन् न हो, नीति का दमन न हो और जो आत्मा का पतन न करे।

गांधीजी ने अपने धर्म को वैज्ञानिक स्वरूप से युक्त बनाया। विज्ञान सृष्टि के रहस्यों को समझता है, और प्रयोग तथा प्रमाण से जो कुछ सत्य होता है उसे क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है। एक वैज्ञानिक वही है जो विशुद्ध तर्क और प्रयोग-प्रमाण से तथ्य को सत्य माने। गांधीजी के ज्ञान और धर्म में सत्य-शोध का सर्वोत्तम स्थान है, अतः उनके धर्म और विज्ञान के लक्ष्य में पूर्ण समानता है। विज्ञान रूढि अन्धविश्वास आदि को महत्व नही देता और गांधीजी का धर्म भी रूढ़ि तथा अन्धविश्वास का घोर विरोधी है। उन्हीं के शब्दों में "मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करना जो बुद्धि को न जांचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। मैं प्रत्येक धर्म ग्रन्थके बारे में अपनी निर्णायक बुद्धि का प्रयोग करता हूं। मैं किसी धर्म ग्रन्थ के वचनों को अपनी बुद्धि पर हावी नहीं होने देता।" स्पष्ट है कि यहां पर गांधीजी का

---

1. शम्भूरत्न त्रिपाठी, गांधी-धर्म और समाज, पृष्ट १११-१२

धर्म ज्ञान के साथ कदम से कदम मिलता है। पुनः विज्ञान की भांति गांधीजी का धर्म प्रयोग-पद्धति को स्वीकार करता है। उन्होंने अपनी आत्मकथा को 'सत्य के प्रयोग' का नाम दिया है, और जिन प्रयोगों का उन्होंने उसमें उल्लेख किया है, उन्हें आध्यात्मिक प्रयोग कहा है। एक सच्चे वैज्ञानिक की भांति, अपने प्रयोगों द्वारा तथ्यों अथवा सत्य के बारे में, उन्होंने लिखा है कि "जैसे विज्ञानशास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम विचार सहित और सूक्ष्मतापूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नहीं कहता कि यही सच्चा परिणाम है, और इस सम्बन्ध में जैसा वह तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोग के सम्बन्ध में मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जाचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा होनेवाले परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं अथवा वही सही है, ऐसा दावा मैं कभी नहीं करना चाहता।", पुनश्च "जैसे वैज्ञानिक प्रयोग सफलतापूर्वक करने के लिए प्रमुक तालीम जरूरी है ठीक वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए कठोर प्रारम्भिक साधना जरूरी है।" वैज्ञानिक प्रवृत्ति में तटस्थता, धैर्य, अध्यवसाय, जिज्ञासा और रचनात्मक कल्पना—ये प्रमुख पांच गुण होते हैं तो गांधीजी की धार्मिक अवधारणा में ये पांचों गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

गांधीजी ने धर्म और संस्कृति को भी संयुक्त किया है। उन्होंने आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसकी मूल भावना धार्मिक अथवा आध्यात्मिक कही जा सकती है। वे मानवता की प्रगति के लिए ईश्वर और धर्म में आस्था रखना अपरिहार्य समझते हैं। सत्य, अहिंसा या प्रेम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह ये पांच बातें धर्म पालन के लिए आवश्यक हैं, ये प्राकृतिक या ईश्वरीय नियम हैं और इनका मानव जीवन के लिए सार्वभौमिक मूल्य है। गांधीजी का कहना है कि संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान इन्हीं मूल्यों पर आधारित होने चाहिए अर्थात् "समाज का संगठन, राजनीति का निर्देशन, अर्थनीति का संचालन कला साहित्य विज्ञान दर्शन का निरूपण इन्हीं मूल्यों द्वारा होना चाहिए।" इस तरह गांधीजी की संस्कृति आत्मकेन्द्रित अथवा स्वार्थवादी नहीं है बल्कि परार्थवादी है। वह स्वच्छन्दतावादी या निरंकुश और विनाशकारी नहीं है बल्कि सहयोगी, रचनात्मक और कल्याणकारी है।

गांधीजी का धर्म सहअस्तित्व का धर्म है, सहिष्णुता का धर्म है। गांधीजी सभी धर्मों की समानता में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि कोई भी धर्म दूसरे धर्मों से श्रेष्ठतर होने का दावा नहीं कर सकता है पर सभी धर्म समान हैं एक ही सत्य पर पहुंचने के विभिन्न मार्ग हैं। गांधीजी विभिन्न धर्मों की उपमा एक ही वाटिका के विभिन्न फूलों या एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाओं से देते हैं। उनका उपदेश था कि सिद्धान्त रूप में, चूंकि ईश्वर एक है, अतः सम्पूर्ण विश्व के लोगों का धर्म भी एक होना चाहिये। लेकिन व्यवहार में सभी आदमी एक से नहीं होते और न उनकी ईश्वर की धारणा एकसी होती है, इसीलिए मनुष्यों की विभिन्न २ प्रकृति और उनके

विभिन्न २ धर्म रहे हैं तथा रहेंगे। परन्तु धर्म मनुष्य की मानवीय आवश्यकता है। चाहे विभिन्न धर्मो का अस्तित्व बना रहे लेकिन यह जरूरी है कि उनमें परस्पर संघर्ष न हों, एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव न हो, जीवन संघर्ष का सिद्धान्त व्यवहार में न लाया जाय बल्कि एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता सद्भावना और समादर की वृत्ति का विकास हो। गांधीजी की पारिभाषिक शब्दावली में "सर्व-धर्म समभाव" का स्वभाव बनना चाहिये अर्थात् सदैव यह मानना चाहिये कि दूसरे धर्म भी आगे बढ़ें और मेरा धर्म भी, दूसरे धर्म भी अच्छे बने और मेरा धम भी, दूसरे धर्म भी नष्ट न हों और मेरा धर्म भी।

गांधीजी धर्म परिवर्तन को नापसन्द करते थे। ३० जनवरी १९३७ के हरिजन में उन्होंने लिखा था—

'एक ईसाई को एक हिन्दू या एक हिन्दू को एक ईसाई बनाने का प्रयास क्यों करना चाहिए? यदि एक हिन्दू एक अच्छा और ईश्वरप्रिय व्यक्ति है तो एक ईसाई को उससे सन्तुष्ट क्यों नहीं होना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के आचार-विचार से कोई सम्बन्ध न हो तो एक चर्च, मस्जिद या मन्दिर मे एक विशेष रूप से उपासना करना एक खोखली बात है, व्यक्तिगत सामाजिक विकास में वह बाधक भी हो सकता है।"

यङ्ग इण्डिया के २३ दिसम्बर १९२६ के अंक में उन्होंने यह घोषणा की कि—

"अन्तःकरण सबके लिए एक ही वस्तु नहीं है। इसलिए यद्यपि व्यक्तिगत आचरण के लिए वह अच्छा मार्गदर्शक है लेकिन सब पर वही आचरण लादना सबके अन्तःकरण की स्वतन्त्रता मे असहनीय हस्तक्षेप करना होगा।"

गांधीजी को स्वधर्म अर्थात् हिन्दू धर्म में गहन आस्था थी, क्योंकि हिन्दू धर्म अन्य सब धर्मो के साथ शान्तिपूर्वक रहता है और यह दावा नहीं करता कि सत्य एक मात्र उसी में है और इसलिए धर्म परिवर्तन कराने वाला धर्म नहीं है।[1] गांधीजी के मत में "हिन्दू धर्म, निःसन्देह शारीरिक वासनाओं के परित्याग का धर्म है ताकि आत्मा स्वच्छ हो सके और इसलिए यह आत्म-संयम की उच्चतम सीमा पर पहुंच गया है। उनकी दृष्टि में गाय 'करुणा पर एक कविता' है और यह 'समस्त मानव के नीचे के विश्व' को प्रतिरूपित करती है और इसे लाखों व्यक्तियों द्वारा मातृरूप में पूजा जाता है। हिन्दू धर्म कोई निषेधिक धर्म नहीं है और इसलिए यह धर्म-परित्याग करनेवाला या मिशनरी धर्म भी नहीं है। हर एक आदमी के लिए अपना निज का धर्म और सब धर्म एक दूसरे के साथ शान्ति से रहें, यही हिन्दू धर्म है। यह युगों के विकास का परिणाम है परन्तु ऐसे सब पुरातन विकास के साथ उसकी ग्रन्थियां भी साथ-साथ आ जाती हैं। अस्पृश्यता एक ऐसी ही ग्रन्थि है और उसकी निवारण की आवश्यकता है।"[2]

---

1. पट्टाभीसीतारमैया—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ १८२।
2. पट्टाभीसीतारमैया, पृष्ठ १८३।

गांधीजी ने श्रीलङ्का के मिशनरियों को असाधारण साहस के साथ यह कह दिया कि—

'*हम अपने भाषणों या अपने लेखों द्वारा धर्म परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझते, हम अपने जीवनों द्वारा केवल ऐसा कर सकते हैं। हमारे जीवनों को खुली पुस्तक की तरह होना चाहिए ताकि हर कोई इसका अध्ययन कर सके।*'"[1]

गांधीजी ने सब धर्मों का अध्ययन *किया और सबको ठीक पाया, किन्तु सभी उनकी दृष्टि में अपूर्ण हैं। "भारत एक ऐसा देश है जहा हर आशा पूर्ण होती है और केवल मनुष्य ही अधर्म है"* परन्तु *"जहा सत्य और भगवान अस्पृश्य की छोटी सी झोंपडी में मूर्तिमान होते हैं।"*[2]

राजनीति का आध्यात्मिकरण
(Spiritualisation of Politics)
अथवा
धर्म और राजनीति
(Religion and Politics)

राज्य और धर्म मानव-समाज की वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्थायें हैं जो अति प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में मानव-क्रियाओं को नियन्त्रित करती रही हैं। अपने अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिये ये दोनों ही शक्तिशाली संस्थायें सदैव क्रियाशील रही हैं। कभी दोनों समानान्तर चलती रहीं, कभी राज्य धर्म के अधीन रहा तो कभी धर्म राज्य के निर्देशन में चला। अन्ततः *दोनों में सत्ता के लिये संघर्ष भी हुआ जिसमें धर्म पराजित हुआ और राज्य धर्म से स्वच्छन्द हो गया।*

प्राचीन हिन्दू राजतन्त्र में धर्म राजा से भी उच्च और सब राजाओं का राजा था। यूरोप में भी प्राचीन काल में राजदर्शन को धर्म पर आधारित किया गया। किन्तु मध्ययुग में धर्म ने राज्य पर इतना कठोर नियन्त्रण किया कि राज्य छटपटाने लगा और आखिर उसने धर्म के पंजे से छूटने के लिये विद्रोह कर दिया। दोनों में संघर्ष हुआ। कभी पोप ने कहा, "*इस संसार का शासन करनेवाली दो सत्तायें हैं—धर्माधिकारियों की पुनीत सत्ता और राजकीय सत्ता। इन दोनों सत्ताओं में धर्म सत्ता गुरुतर है, क्योंकि कयामत के दिन ईश्वर के सम्मुख राजा के कृत्यों का उत्तर धर्म पुरोहितों को ही देना होगा।*"[1] इस पर राज्य ने *'New testament'* के तर्कों का सहारा लेकर यह घोषित किया कि राजसत्ता ईश्वर प्रदत्त शक्ति है; जो भी उसका विरोध करता है वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध करता है। संघर्ष में खूब उखाड़-पछाड़ हुई। कभी राजा को पोप की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी तो कभी पोप को राज्य के अधीन होना पड़ा। यह संघर्ष करीब १००० वर्षों तक चला और अन्त में मध्ययुग की समाप्ति के साथ राजसत्ता की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित हुई।

---

1 *वही पृष्ठ १८४।*
2. *वही पृष्ठ १८५।*

राज्य को धर्मरहित बनाने मे १५वीं शताब्दी के इटली के मेकियावली का बड़ा योग रहा। उसने यह प्रतिपादित किया कि राजनीतिक सफलता के लिये नीति और धर्म को राजनीति से पूर्णतः पृथक रखना चाहिये। उसने कुटिल राजनीति का समर्थन किया। यद्यपि उसके अधार्मिक और अनैतिक राजनीतिक विचारों का प्रबल विरोध हुआ, किन्तु बाद में प्रकारान्तर से विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने उसी की पद्धति का अनुसरण किया और यह कहना अनुचित न होगा कि 'आज विश्व-राजनीति में मैकियाविलीय प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है, अर्थात् आज धर्म रहित राजनीति का साम्राज्य है, छल-छद्म-युक्त राजनीति की प्रमुखता है, नीति-निरपेक्ष राजनीति का बोलबाला है।'' मध्ययुग में 'तथाकथित धर्म' ने राजनीति पर नियंत्रण करके समाज का बहुत अहित किया था अतः प्रतिक्रियास्वरूप धर्म-निरपेक्ष राजनीति को समर्थन मिला, ''किन्तु धर्म-निरपेक्ष होकर राजनीति पूर्णतः स्वच्छंद और कुपथगामिनी हो गई, धूर्तता का पर्याय बन गई, मानवता के विनाश का एक कारण हो गई।''[1]

महात्मा गांधी का उद्भव भी इसी मैकियाविलीय राजनीति के युग में हुआ किन्तु इस धार्मिक और आध्यात्मिक सन्त ने राजनीति के विकृत रूप को स्वीकार नहीं किया। गांधीजी ने, जिनका कि धर्म मानवतावादी था, राजनीति के प्रचलित स्वरूप को देख समझ कर यह अनुभव किया कि कुटिल राजनीति मानवता के लिये किसी भी दशा में उचित नहीं है, राज्य और राजनीति तो मानव-कल्याण का साधन है। गांधीजी का यह दृढ़ विचार था कि, ''जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा।'' अतः उन्होंने राजनीति के प्रचलित मूल्यों को अस्वीकार किया और राजनीति में शुद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये पूर्ण प्रयत्न किये। गांधीजी ने घोषणा की कि धर्म के बिना राजनीति पाप है।

गांधीजी की यह मान्यता थी कि धर्म समाज का अभिन्न अंग है, समाज के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है और धर्म के बिना मनुष्य और समाज जी नहीं सकता। ''मानव प्रवृत्तियों का सारा सन्तक एक अविभाज्य वस्तु है। आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विशुद्ध धार्मिक काम के अलग-अलग खाने नहीं बना सकते।''[2] अतः राजनीति को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता, अथवा धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह स्पष्टतः कहा कि, ''मेरे लिये धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।'' उन्होंने यहां तक कह डाला कि-''राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।''[3]

धर्म गांधीजी के जीवन का श्वास था और उन्होंने राजनीति में प्रवेश इसीलिये किया क्योंकि राजनीति धर्महीन होती जा रही थी और उसमें धर्म

---

1. Dunning—Political Theories, Page 166
2. हरिजन, दिनांक २४-१२-३८ पृष्ठ ३९३
3. *C. F. Andrews*—Mahatma Gandhi : His own story, P. 353-54

की पुनर्स्थापना करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। गांधीजी को यह देखकर और अनुभव करके बड़ा कष्ट होता था कि राजनीति आज के युग में एक आवश्यक बुराई बन गई है। राजनीति जो कि अपने आप में पवित्र नहीं है, मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करती है। उन्हीं के शब्दों में—'यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूं तो केवल इसलिये कि राजनीति हमें एक सांप की भांति चारों ओर से घेरे हुए है। मैं इस सांप से लड़ना चाहता हूं मैं राजनीति में धर्म-प्रवेश चाहता हूं।" इस कथन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजनीतिक क्षेत्र में जो भी कार्य गांधीजी कर रहे थे वे धार्मिक कार्य ही थे। वे उनसे अलग रह नहीं सकते थे क्योंकि उनका उनके जीवन से अविभाज्य सम्बन्ध था। एक प्रसंग में उन्होंने कहा भी था कि-'बहुत से धार्मिक व्यक्ति, जिनसे कि मैं मिला हूं, छद्मवेश में राजनीतिज्ञ है, किन्तु मैं, जो कि राजनीतिज्ञ का वेश रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूं।"

गांधीजी एक महान् कर्मयोगी थे जो जीवन को एक ऐसी अविभाज्य इकाई समझते थे जिसकी विभिन्न क्रियाओं को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता और इसीलिये वह यह मानते थे कि उन्होंने अपने धार्मिक कर्तव्यों के एक अंग के रूप में ही राजनीति में भाग लिया है। उन्होंने राजनीति में धर्म का समावेश करके नैतिकता के उस दोहरे मापदंड को मिटाने का प्रयास किया जो ऐसे शब्दों में निहित होता है कि "राजनीति-राजनीति है", और 'व्यापार-व्यापार है"। उनका यह विश्वास था कि यदि जीवन के एकीकरण के कारक के रूप में धर्म का परित्याग कर दिया गया और जीवन के लौकिक तथा धार्मिक पक्षों के मध्य पार्थक्य की एक दीवार खड़ी कर दी गई तो न केवल धर्म का प्रतिष्ठित स्थान जाता रहेगा बल्कि वह अपने उस वास्तविक कार्य का करना भी बन्द कर देगा जिसके लिये उसका अस्तित्व है। यह कहा जा सकता है कि गांधीजी के अनुसार-

'वे कार्य जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति से संचालित नहीं होते बल्कि अपनी समस्त स्फूर्ति और संचालन-शक्ति मनुष्य के अनाध्यात्मिक स्वरूप से प्राप्त करते हैं, अपना निश्चित समय पूरा कर लेने के उपरान्त निश्चित रूप से संकट और विनाश की ओर ले जाते हैं। अतः भौतिकवादी सभ्यता को सदैव के लिये आनन्द और सौंदर्य की वस्तु समझकर उसका गुणगान करना जानबूझ कर उस विनाश की ओर से आंखें बन्द कर लेना है जो कि अन्त में उसका होकर रहेगा। इसलिये आधुनिक सभ्यता के विषय में गांधीजी का घोषित निर्णय यह है कि यह चार दिन की चांदनी है, क्योंकि अपने अस्तित्व के नियम से ही इसका पतन और ह्रास अवश्यम्भावी है। पदार्थ अपने आपको अपने द्वारा ही बहुत अधिक दिन कायम नहीं रख सकता। वह अपने को केवल आत्मा की शक्ति के द्वारा ही कायम रख सकता है और कोई भी सभ्यता जो कि केवल भौतिक सफलताओं और वैभव पर गर्व करती है, समय की कसौटी पर पूरा नहीं उतर सकती।"[1]

इसीलिये गांधीजी ने घोषणा की कि—

1. Satish Chandra Mukerji in Vishwa Bharti Quarterly, Gandhi Memorial Peace Number.

"जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, वे धर्म को नहीं जानते। जो देश-प्रेम को नहीं जानता वह धर्म को नहीं जानता।"

अपने उपरोक्त कथन से गांधीजी ने यह प्रकट किया कि आचारमूलक धर्म वास्तव में कर्तव्य-प्रेरक है और राजनीतिक क्रियाशीलता इसमें सम्मिलित है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि राजनीति देश धर्म है, उससे अलग होकर व्यक्ति आत्मघात करता है। लेकिन उनकी धार्मिकता का अर्थ रूढ़िवादी धर्म से नहीं था क्योंकि धार्मिक पाखण्ड और आडम्बर युक्त मूर्ति पूजा के वह विरोधी थे। निष्प्राण मूर्तिपूजा के स्थान पर वह मानव पूजा में विश्वास करते थे। गांधीजी के लिये, "धर्म से अलग होकर राजनीति एक मृतदेह के समान थी जिसको जला देना ही उचित था।" राजनीति उनकी दृष्टि में धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी। उनके मतानुसार राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये संघर्ष नहीं है बल्कि वह लाखों पद-दलितों को सुन्दर जीवन-यापन करने योग्य बनाने, मानव के गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व तथा आध्यात्मिक गहराईयों एव सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। एक राजनीतिज्ञ, जो इन उपदेशों की प्राप्ति के लिये काम करता है धार्मिक हुए बिना नहीं रह सकता।

राजनीति को धर्मानुमोदित मानने से गांधीजी का यह अभिप्राय नहीं है कि राजसत्ता धर्माधिकारियों के हाथों में सौंपी जानी चाहिये अथवा राज्य को किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनना चाहिए। उनकी आदर्श सर्वोदय-समाज-व्यवस्था में तो राज्यधर्म—निरपेक्ष है, जिसका आशय है कि राज्य के नागरिकों को निर्वाद रूप से स्वधर्म पालन का पूर्ण अधिकार हो, राज्य न किसी धर्म का संरक्षण करे और न किसी धर्म के उचित विकास मे ही बाधक हो। राज्य का अपना कोई विशेष धर्म या सम्प्रदाय न हो, किंतु राज्य धर्म-रहित भी न हो, अर्थात् राज्य नीति धर्म के सर्वभौमिक नियमों—सत्य, अहिंसा, प्रेम सेवा आदि का पूर्ण पालन करे। गांधीजी ने कहा कि राजनीतिज्ञों को सब धर्मों के प्रति समान भाव रखना चाहिये और राजनीति या सार्वजनिक जीवन में नीति-धर्म के सार्वभौमिक मूल्यों पर अटल रहना चाहिये।

गांधीजी ने धर्म और राजनीति के एक होने का प्रमाण अपने कार्यों से दिया। उन्होंने देशी शासन से भारत की स्वतंत्रता के आन्दोलन को एक साधु की तरह चलाया। उन्होंने प्रेम तथा अहिंसा पर आधारित आत्मा की नैतिक शक्ति से ब्रिटिश हुकूमत का सामना किया। उन्होंने झूठे कानूनों का शांतिपूर्ण विरोध किया तथा झूठे कानूनों को बनानेवाले शासकों से शांतिपूर्ण असहयोग का मार्ग निर्धारित किया। शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार ने अन्त में अपने आपको उनके अहिंसात्मक विद्रोह के सामने असहाय अनुभव किया और वह जनता के प्रतिनिधियों को शासन सत्ता सौंपकर बुद्धिमानीपूर्वक हट गई।

गांधीजी नैतिकता और शुद्ध आचार-विचार को ही सच्चा धर्म मानते थे और उन्होंने राजनीति में भी नैतिक मूल्यों को महत्त्व दिया। उनकी दृष्टि में वह राजनीति हिंसक है जो जीवन के आधारभूत सत्यों को लेकर नहीं

चलती। चूंकि जीवन के आधारभूत सत्य या मूल्य धर्म का ही रूप हैं अथवा ये ही धर्म का रूप हैं, और इन्हीं से मानव जीवन को गति मिलती है, अतः वह राजनीति के आध्यात्मिकरण के पथ में है। जब वह राजनीति का आध्यात्मिकरण करने को कहते हैं तो वह राजनीति से विग्रह, विघटन, विद्रोह, और विनाश की प्रवृत्तियों का उन्मूलन करना चाहते हैं तथा सद्भावना, सहयोग, समन्वय तथा संगठन के तत्वों का अधिकतम समावेश चाहते हैं। सारांशतः उनकी राजनीति धर्म की पूरक है। पाश्चात्य प्रजातन्त्रीय राजनीति को गांधीजी इसीलिये पसन्द नहीं करते थे क्योंकि उसमें पूंजीवादी प्रथाओं और शोषण की खुली छूट है। वह इसे नाजीवाद और फासीवाद कहते थे। उनका यह पक्का विश्वास था कि केवल अहिंसा ही सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना कर सकती है। उन्हीं के शब्दों में—

'सच्चा लोकतन्त्र या जनता का स्वराज्य असत्य और हिंसामय उपायों से कभी नहीं आ सकता। इसका सीधा सा कारण यह है कि उनके प्रयोग का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विरोधियों को दबाकर उनका सफाया करके सारा विरोध समाप्त कर दिया जावेगा। ऐसे वातावरण में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं पनप सकती। *व्यक्तिगत स्वतंत्रता विशुद्ध अहिंसा के राज्य में* ही पूरी तरह काम कर सकती है।'

दरअसल में गांधीजी मूलतः सत्य और अहिंसा के अटल उपासक थे। वह पहले धार्मिक और फिर राजनीतिज्ञ थे। डा० राधाकृष्णनन के अनुसार वह सत्य के लिये राजनीति तो क्या भारत को न्योछावर कर सकते थे। अतः वह राजनीति में पड़ने पर नीति धर्म या नैतिकता को नहीं छोड़ सकते थे और न किसी दशा में ऐसा उचित समझते थे। गांधीजी मन, वचन और *कर्म से धार्मिक आध्यात्मिक थे, अतः राजनीति में भी उन्होंने सफल प्रयोग* कर के प्रदर्शित कर दिया कि धार्मिक राजनीति का सिद्धांत अव्यावहारिक नहीं है, अपितु पूर्ण व्यावहारिक है। धार्मिक और आध्यात्मिक विचार के लोगों के लिए राजनीति में सफलता पाना निश्चित रूप से संभव है। गोखलेजी का शुद्ध राजनीतिक जीवन एक ज्वलंत उदाहरण के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत था और इसीलिये सन् १९१५ में बेंगलोर में गोखले के चित्र का अनावरण करते हुए उनके मुख से ये शब्द फूट पड़े थे कि 'गोखले ने हमें शिक्षा दी है कि देशभक्ति का दावा करनेवाले प्रत्येक भारतीय का स्वप्न, भाषा द्वारा देश का गौरव बढ़ाने की अपेक्षा देश के राजनीतिक जीवन और संस्थाओं का आध्यात्मिकरण करना, होना चाहिए। उन्होंने मेरे जीवन को अनुप्राणित किया तथा आज भी प्रेरित कर रहे हैं, जिससे मैं अपने को शुद्ध करने तथा अपना आध्यात्मिकरण करने का प्रयास कर रहा हूँ। मैंने अपने को उस आदर्श के लिए अर्पित कर दिया है।'[1] श्री गोखले ने जो प्रयोग एक सीमित क्षेत्र में किये थे, गांधीजी ने उनका प्रयोग दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत के विस्तृत क्षेत्र में किया। गोखले अवश्य ही अपने जीवन में अपने अधिक अनुयायी नहीं बना सके लेकिन गांधीजी ने न केवल भारत के बल्कि विश्व के जनसमूह को और राजनीतिज्ञों को प्रभावित

1 *Gandhi—Gokhle My Political Guru P 50*

किया और उनका मार्ग-दर्शन किया था, तथा राजनीति के क्षेत्र में जिसे असम्भव समझा जाता था, उसे सम्भव कर दिखाया। उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि धार्मिक-नैतिक सिद्धान्तों का राजनैतिक क्षेत्र में और सामाजिक क्षेत्र में जो सफलतापूर्वक प्रयोग किया उसे समग्र विश्व के राजनीतिज्ञों ने आश्चर्य और श्रद्धा से स्वीकार किया था। प्रो० अल्बर्ट आइन्सटीन ने सत्य ही कहा था—"गांधीजी ने सिद्ध कर दिया कि केवल प्रचलित राजनीति चालबाजियों और धोखाधड़ियों के मक्कारी भरे खेल के द्वारा ही नहीं, बल्कि जीवन के नैतिकतापूर्ण श्रेष्ठतर आचरण के प्रबल उदाहरण द्वारा भी मनुष्यों का एक बलशाली अनुगामी दल एकत्र किया जा सकता है।"[1] लुइ फिशर के अनुसार "गांधीजी ने सिद्ध कर दिया कि ईसा तथा ईसाई पादरियों और बुद्ध का तथा कुछ इबरानी पैगम्बरों और यूनानी ज्ञानियों का, आध्यात्म आधुनिक समय में तथा आधुनिक राजनीति पर प्रयुक्त हो सकता है।"[2]

निस्सन्देह, यदि गांधीजी भारत की आजादी के लिए लड़नेवाले केवल एक राजनैतिक योद्धा ही होते तो उन्हें मैजिनी, गैरीबल्डी, हैम्पडम, डी वैलरा, सनयात्सेन जैसे संसार के राष्ट्रनायकों की श्रेणी में रखा जाता, उनकी तुलना जोरास्टर, ईसा मसीह तथा बुद्ध सरीखे महान् धर्म-प्रवक्तों से न की जाती। जिस बात ने उन्हें एक राजनीतिक-धार्मिक योद्धा के रूप में अथवा एक संत राजनीतिज्ञ के रूप मे विश्व-व्यापी ख्याति प्रदान की और उनके विचारों को विश्व-व्यापी महत्व प्रदान किया वह उनका राजनीति के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण ही है। "राजनीति में धर्म का समन्वय"—यह आधुनिक पीड़ित मानवता को उनकी सबसे महान् देन है जिसका प्रतिपादन पहले सिद्धान्तो के रूप मे भले ही होता रहा हो, व्यवहार में कार्यान्वियन पहले कभी नही किया गया था।

गांधीजी और ईश्वर
(Gandhi and God)

गांधीजी के जीवन और चिन्तन मे जितना सत्य का स्थान था, उतना ही ईश्वर के प्रति विश्वास भी कूट-कूट कर भरा था। सत्य तो यह है कि गांधीजी के लिये ईश्वर और सत्य अथवा सत्य अथवा ईश्वर मे कोई भेद न था। उनकी ईश्वर की अवधारणा वास्तव मे उनकी सत्य की अवधारणा से पृथक नहीं की जा सकती। इससे कोई अन्तर नही पड़ता कि हम पहली से प्रारंभ करें या दूसरी से। गाधीजी ने स्वय ने बार बार यह उदघोष किया था कि सत्य ही ईश्वर है, सत्य से इन्कार करना ईश्वर से इन्कार करना है। ईश्वर मे गांधीजी की जो अगाध श्रद्धा थी, जो अटूट आस्था थी और ईश्वर के अस्तित्व मे जो उनका अपार विश्वास था, वह यंग इण्डिया के २१ जनवरी १९२६ के अंक में पृष्ट ३० मे उल्लिखित निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है—

"अगर हमारा अस्तित्व है, अगर हमारे माता-पिता और उनके माता-पिता का अस्तित्व रहा है, तो सारी सृष्टि के पिता मे विश्वास रखना उचित

1. *Louis Fischer*: The Life of Mahatama Gandhi, Page 19
2. Ibid, Page 159

ही है। अगर वह नहीं है तो हमारा कोई ठिकाना नहीं। वह एक होते हुए भी अनेक है। वह अणु में भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है। वह सागर की एक बूंद में भी समा जाता है और सातों समुद्रों में भी नहीं समा सकता। बुद्धि उसको जानने में असमर्थ है। वह बुद्धि की पहुंच या पकड़ के परे है। लेकिन इस बात का ज्यादा विस्तार करने की जरूरत नहीं। इस विषय में श्रद्धा अत्यावश्यक है। मेरा तर्क असंख्य अनुमान बना और बिगाड़ सकता है। कोई नास्तिक मुझे वाद विवाद में पछाड़ सकता है। परन्तु मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि की अपेक्षा इतनी तेज दौड़ती है कि मैं सारी दुनिया को चुनौती देकर यह कह सकता हूँ कि 'ईश्वर है, था और सदा रहेगा।'"

ईश्वर में और उसकी हस्ती में अपने इस विश्वास को गांधीजी दूसरों में बलपूर्वक नहीं थोपना चाहते थे, क्योंकि उनका ईश्वर करुणा का धाम है, जो सबको समान दृष्टि से देखता है और सब पर अपनी करुणा की समान वर्षा करता है। गांधीजी ही के शब्दों में—

"परन्तु जो उसकी हस्ती में इन्कार करना चाहे उन्हें ऐसा करने की स्वतन्त्रता है। वह दया और करुणा का धाम है। वह कोई सांसारिक राजा नहीं, जिसे अपनी सत्ता मनवाने को सेना चाहिये। वह हमें स्वतन्त्रता देता है और फिर भी उसकी करुणा ऐसी है कि हम नतमस्तक हो जाते हैं और बाध्य होकर उसकी इच्छा का पालन करते हैं। परन्तु हममें से कोई उसकी मरजी के आगे झुकने को तैयार न हो तो वह कहता है 'अच्छा। मेरा सूर्य तो तेरे लिये फिर भी वैसा ही चमकता रहेगा, मेरे बादल तेरे लिये वैसे ही बरसते रहेंगे। मुझे अपना शासन मनवाने को तुझ पर बल का प्रयोग करने की जरूरत नहीं।' ऐसे ईश्वर की हस्ती में अज्ञानी भले ही शंका करें। मैं उन करोड़ों सयानों में हूँ जो इसे मानते हैं और मुझे उसके आगे झुकने और उसका गौरव गाने में कभी थकावट नहीं लगती।"[1]

गांधीजी ने ईश्वर का अस्तित्व 'सिद्ध' नहीं किया। उनका ऐसा करना एक आश्चर्य की बात होती। वास्तव में शास्त्रीय दर्शन के अस्त्रों का उपयोग करने की अनिच्छा के अतिरिक्त ईश्वर उनके लिये इतना प्रखर अनुभव था कि उसका अस्तित्व स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ निरप्रचलित प्रमाण उन्होंने अवश्य रखे हैं। एक महत्वपूर्ण उद्धरण है—

ईश्वर के अस्तित्व के सीमित प्रमाण देना सम्भव है। जगत में व्यवस्था है और प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक जीवित प्राणी एक अटल नियम से बंधा हुआ है। यह नियम अन्धा नहीं है, क्योंकि मनुष्यों के आचरण को किसी अन्ध नियम के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। तो फिर समस्त जीवन को चलानेवाला यह नियम ईश्वर ही है।"[2]

गांधीजी ने कहा कि यह स्पष्ट तौर पर यह अनुभव करते हैं कि जब चारों ओर हर चीज बदल रही है, नष्ट हो रही है तब इस सारे परिवर्तन के पीछे

1. यंग इण्डिया, २१-१ २६, पृष्ठ ३१
2. फिशर द्वारा उद्धृत, गांधी, पृष्ठ १०८

कोई चेतना शक्ति ऐसी जरूर है जो बदलती नहीं है, जो सबको धारण किये हुए है जो सृजन करती है, संहार करती है और फिर सृजन करती है। यह जीवनदायी शक्ति या सत्ता सिवा ईश्वर के और कुछ नहीं है। चूंकि केवल इन्द्रियों द्वारा दिखायी देने वाली अन्य कोई भी वस्तु न तो स्थायी है और न हो सकती है, इसलिए एकमात्र ईश्वर का ही अस्तित्व है। गांधीजी के कुछ वक्तव्यों में बल नित्यता की बजाय अमरता पर है। "मृत्यु के बीच भी जीवन अटल है, असत्य के बीच भी सत्य अटल है। अन्धकार के बीच भी प्रकाश अटल है। इसलिये मैं समझता हूँ कि ईश्वर जीवन, सत्य प्रेम है।" यहां यह कहना आवश्यक है कि गान्धीजी बार-बार कहते हैं कि सत्य अमर हैं, अथवा उन्हीं के शब्दों में 'मृत्युहीन' है।

गान्धीवादी चिन्तन की सामान्य प्रवृत्ति, जहां तक ईश्वर सम्बन्धी धारणा का प्रश्न है, बौद्धिक दृष्टिकोण को दूसरा स्थान देने की है। गान्धी का भगवान बुद्धि ही नहीं, हृदय को सन्तोष देता है उसे एक नया स्वरूप देता है। वह कहते है–"जो केवल बुद्धि को सन्तोष दे, यदि यह सम्भव भी हो तो वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर तभी ईश्वर है जब वह हृदय पर शासन करता हो और उसका रूपान्तर करता हो।" ईश्वर में आस्था जीवन का निखार करती है, हृदय में प्रकाश और ज्ञान का सागर उण्डेलती है, उसे पावन, उदार और सहिष्णु बनाती है। ईश्वर की सत्ता का सबसे अच्छा प्रमाण उन लोगों के आचरण में परिवर्तन का आना है जो अपने अन्तर्हृदय में उसकी उपस्थिति को अनुभव कर चुके हैं। जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करते हैं वे भय से मुक्त हो जाते हैं और सत्य तथा न्याय से प्रेम करने लगते हैं। वे घृणा, दुर्भावना, लोभ, शक्ति की तृष्णा आदि विकारों का परित्याग कर देते हैं। लगभग हर देश में समय-समय पर होनेवाले ईश्वरभक्तों, पैगम्बरों और अवतारों के शुभ जीवन इस तथ्य के प्रमाण हैं।

गान्धी के ईश्वर को बुद्धि से नहीं पाया जा सकता, तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता विज्ञान के नियमों से नहीं समझा जा सकता। उसकी अनुभूति तो श्रद्धा के बल पर ही हो सकती है। **श्रद्धा ही वह प्रकाश किरण फेंकती है जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है।** अटल आस्था (श्रद्धा) ईश्वर के दर्शन की पूर्व शर्त है। ईश्वर घट घट व्यापी है। उसका वास तो स्वयं मानव-हृदय में है। जो व्यक्ति अपने अन्दर ईश्वर की उपस्थिति के सत्य की जांच करना चाहता है, उसे पहले अपने भीतर जीवित श्रद्धा का विकास करना चाहिये। कभी-कभी गान्धीजी नैतिक अनुभूति को ईश्वर के अस्तित्व की सर्वश्रेष्ठ कसौटी मानते हैं। तब ईश्वर नैतिक नियम का ही दूसरा नाम हो जाता है।

गान्धीजी के अनुसार **ईश्वर को कल्पना मानना बुद्धिहीनता है।** वह तो एक सर्व व्यापक सत्य है जिसमें शुभ-अशुभ प्रत्येक वस्तु निवास करती है, चलती है तथा अपना अस्तित्व रखती है। गान्धी ईश्वर को शुभ-अशुभ का मालिक मानते हैं पर समझते हैं लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि ईश्वर बुरा है। "उसने बुराई पैदा तो की है, परन्तु वह उससे अछूता है।" इस सृष्टि में बुराई से युद्ध करना ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करने का एक सबल मार्ग है।

'मैं यह भी जानता हूँ कि अगर मैं प्राणों की बाजी लगा कर भी बुराई के खिलाफ युद्ध नहीं करूंगा तो मुझे ईश्वर का ज्ञान कभी नहीं होगा। मेरा यह विश्वास मेरे अपने ही नम्र और सीमित अनुभवों से दृढ़ हुआ है। मैं जितना शुद्ध बनने की कोशिश करता हूँ उतनी ही ईश्वर के साथ निकटता अनुभव करता हूँ। जब मेरी श्रद्धा आज की तरह नाममात्र की न रह कर हिमालय की भांति अचल और उसके शिखर पर चमने वाली बर्फ की तरह धवल और तेजस्वी हो जायगी, तब मैं उसके साथ कितनी अधिक निकटता अनुभव करूंगा ? तब तक मैं अपने पत्र लेखक से कहूँगा कि वह कार्डिनल न्यूमैन के साथ उसका यह अनुभव से निकला हुए भजन गाये

हे प्रेमिल ज्योति, चारों ओर घिरे हुए अन्धकार में,
तू मुझे रास्ता बता।
रात अंधेरी है और मैं घर से दूर हूं।
तू मुझे रास्ता बता।
तू मेरे पैरों को थामे रह मैं दूर का दृश्य देखना नहीं चाहता,
मेरे लिये तो एक कदम ही काफी है।'

('यंग इण्डिया', ११-१०-१९२८, पृ० ३४०-४१)

गांधीजी ने ईश्वर को 'अज्ञेय' और अचिन्तेय' भी कहकर पुकारा है। हम ईश्वर के सम्बन्ध में अस्पष्ट और अनिश्चित इसीलिये हैं कि हम सब अचिन्तेय' के विषय में विचार करते हैं 'वर्णातीत' का वर्णन करते हैं 'अज्ञात' को जानने की चेष्टा करते हैं। एस अगम अकथनीय भगवान का हम बखान करने में अक्षम है, इसीलिये 'हमारे शब्द लड़खड़ाते हैं अपर्याप्त हैं और प्रायः परस्पर विरोधी भी हैं। इसीलिये वेदों ने ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' कहा है। लेकिन यह कोई दाप नहीं है प्रत्युत एक वरदान है क्योंकि 'इससे प्रत्येक मनुष्य उसे अपने ढंग से जान सकता है ईश्वर सबके लिए सब कुछ बन सकता है।' किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि तब गांधीवादी चिन्तन में ईश्वर वैयक्तिक है या निर्वैयक्तिक। गांधी के मस्तिष्क और हृदय की पृष्ठभूमि वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती थी। वैष्णव प्रभाव इतना गहरा था कि वह कभी सम्पूर्णतः नहीं दबाया जा सकता था। उनका विश्वास था कि ईश्वर हमारी भक्ति और प्रार्थना का अधिकारी है, उसकी शक्ति और अच्छाई जीवन में मूर्त रूप में प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। ईश्वर को वैयक्तिक रूप में देखने पर ही वह हमारे निय सत्य होता है। 'ईश्वर को प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि उसे उसकी सृष्टि में देखा और उसके साथ एकाकार हुआ जाए।" सर्वोच्च सत्ता पूर्णतः अमूर्त नहीं हो सकती और न वह हमारे लिए सर्वथा अगम्य हो सकती है। पर गांधी के विचारों में एक और भी प्रवृत्ति है जो उन्हें वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा से दूर ले जाती है। इस दृष्टिकोण से सम्बन्धित उनका एक अत्यन्त स्पष्ट कथन इस प्रकार है—'मैं ईश्वर को व्यक्ति नहीं मानता। ईश्वर का नियम और ईश्वर दो पृथक् पदार्थ या तथ्य नहीं हैं, जैसे लौकिक राजा और उसके नियम पृथक होते हैं। ईश्वर तो प्रत्यय है, स्वयं नियम है, इसलिये ईश्वर द्वारा नियम तोड़े जाने की कल्पना असम्भव है।" और भी—'समस्त जीवन को चलानेवाला नियम ही ईश्वर है। नियम और नियम का सृष्टा एक ही है।" गांधीजी का यह विचार हमें अनिवार्य रूप से सत्य पर ले

आता है क्योंकि उन्होंने प्रायः सत्य के रूप में नियम की चर्चा की है। सर्वोच्च सत्ता को जब सत्य माना गया है तो उसका स्वाभाविक अर्थ है वैयक्तिक को छोड़कर निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण अपना लेना। पुनश्च, गांधीजी का यह कथन कि 'यदि मैं यह विश्वास कर पाता कि ईश्वर मुझे हिमालय की गुफा में मिलेगा तो मैं तुरन्त वहां पहुंचता, पर मैं जानता हूं कि मैं उसे मानवता से पृथक् नहीं पा सकता'', उसकी ईश्वर-धारणा को सर्वव्यापक बनाते हैं। गांधीजी ने ईश्वर शब्द का अर्थ-विस्तार किया था और उसे दरिद्र नारायण कह कर भी पुकारा था, जिसका आशय है गरीबों का ईश्वर। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी—' मैं उस ईश्वर के अलावा जो लाखों मूकजनों के हृदय में निवास करता है, और किसी ईश्वर को नहीं मानता।'' गान्धीजी की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता इस से स्पष्ट है कि ''गान्धीजी ने स्वर्ग के भगवान को धरती पर उतार दिया उसे अलौकिक से लौकिक बना दिया, मनुष्यों में सम्पृक्त कर दिया। यह ईश्वर का समाजीकरण भी है, और मानवीकरण भी है।

ईश्वर की महानता, सर्वशक्तिमतत्ता, शालीनता और उसके प्रति अपनी गहन श्रद्धा को व्यक्त करते हुए एक स्थल पर गान्धीजी ने कहा है–'मेरी दृष्टि में ईश्वर सत्य और प्रेम है; ईश्वर नीति और सदाचार है; ईश्वर अभय है; ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर अन्तरात्मा है। वह नास्तिक की नास्तिकता भी है, क्योंकि अपने निस्सीम प्रेम के कारण वह उसे भी रहने देता है। वह हमारे हृदयों की जांच करता है। वह वाणी और बुद्धि से परे है। वह हमें और हमारे हृदयों को खुद हम से भी अधिक जानता है। वह जो कुछ हम कहते हैं उसी को नहीं मान लेता, क्योंकि उसे मालूम है कि हम कुछ जान बूझकर और दूसरे अनजाने अक्सर जो कहते हैं वह करते नहीं जिन्हें उसके व्यक्तिगत अस्तित्व की जरूरत है, उनके लिये वह व्यक्ति रूप है जिन्हें उसके स्पर्श की आवश्यकता है उनके लिये वह साकार है। वह शुद्धतम सार है।''

गान्धीजी ने ईश्वर के अस्तित्व की अमिटता पर प्रकाश डालते हुए दृढ़तम शब्दों में कहा कि कोई कांग्रेस में से अथवा अन्य कहीं से 'ईश्वर' शब्द का निकाल सकता है, लेकिन स्वयं ईश्वर को निकाल देने की शक्ति किसी में नहीं है। अगर उसके नाम पर विभत्स दुराचार या अमानुषिक अत्याचार किये जाते है, तो इससे ई वर का अस्तित्व मिट नहीं सकता। ईश्वर बड़ा सहनशील और धैर्यवान है। किन्तु साथ ही वह अत्यन्त भयंकर भी। वह इस लोक में और परलोक में सबसे कठोर व्यक्ति है। वह हमारे साथ वही व्यवहार करता है जो हम अपने आदमियों और पशु पड़ोसियों के साथ करते हैं। ईश्वर सर्वज्ञाता है जिसके सामने अज्ञान का बहाना नही चल सकता। गान्धी का ईश्वर (और साथ ही हम सबका भी) क्षमाशील भी है, क्योंकि वह हमें सदा पश्चाताप का मौका देता है।

गान्धीजी ने ईश्वर को महानतम लोकतन्त्रवादी की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि वह सबसे बड़ा लोकतंत्रवादी इसलिये है क्योंकि उसने हमें बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की खुली छूट दे रखी है। किन्तु साथ ही उसके बराबर आज तक कोई जालिम भी नहीं हुआ है,

क्योंकि वह कई बार हमारे मुंह तक आए हुए कौर को छीन लेता है, और इच्छा-स्वातंत्र्य की आड़ में हमें इतनी अपर्याप्त छूट देता है कि हमारी बेवकूफी पर हम हंस सकें। गांधीजी ने घोषणा की कि हमारा सबका अस्तित्व उसी महान परमात्मा के हाथ में है। अगर हम चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व रहे तो हम सदा उसका गुणगान करते होंगे और उसकी इच्छा पर चलना होगा। 'हम उसकी बंसी की तान पर नाचते रहें तो कल्याण ही कल्याण है।'

गांधीजी ने, जैसा कि हम उनके एक उपरांत अवतरण में पढ़ चुके हैं, ईश्वर को सत्य तथा प्रेम और अंतःकरण भी कहकर पुकारा है। यहां तक कि बुद्धि और विश्वास को भी जो कि नास्तिकों में पाया जाता है, ईश्वर कहकर सम्बोधित किया गया है। अपने विचार के विकास की बाद की अवस्था में उन्होंने 'ईश्वर सत्य है', इस कथन को बदलकर 'सत्य ईश्वर है', यह कर दिया। उनकी आत्मकथा में एक उल्लेखनीय स्थल है जहां वह कहते हैं कि अंतिम विश्लेषण में सत्य ही ईश्वर है, पर वह निर्वैयक्तिक सत्य कदाचित् ही प्राप्त होता है। वह सदा ही हमारी खोज का लक्ष्य बना रहता है। 'ईश्वर की असंख्य परिभाषायें हैं क्योंकि उसके रूप भी असंख्य हैं। ये मुझे विस्मय और मद से विह्वल कर देते हैं और पलभर के लिए मैं स्तम्भित हो जाता हूँ। पर मैं सत्य के रूप में ही ईश्वर की पूजा करता हूँ। मैं अभी तक उसे पा नहीं सका हूँ, अभी भी मुझे उसकी तलाश है। इस तलाश में मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का त्याग करने को प्रस्तुत हूँ—पर जब तक मैं इस चरम सत्य की उपलब्धि नहीं कर लेता तब तक अपने सापेक्ष सत्य पर दृढ़ रहना आवश्यक है। तब तक वह सापेक्ष सत्य ही मेरा मार्गदर्शन, मेरा कवच, मेरी ढाल है।' यह सच है कि महात्मा गांधी कभी चरम अर्थ में सत्य को जानने का दावा नहीं करते थे किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपने विकास की एक अवस्था में पहुँचकर व विधाता अथवा वय-क्तिक ईश्वर के रूप की बजाय सत्य के सत्ता की व्याख्या को प्रतिश्रय देने लगे थे। जहां पहले वह आग्रह करते थे कि 'ईश्वर सत्य है', वहां बाद में वह कहने लगे थे कि 'सत्य ही ईश्वर है'। गांधीजी के अनुसार अभिव्यक्ति में यह परिवर्तन मनोवैज्ञानिक रूप से बहुत महत्वपूर्ण है। 'ईश्वर सत्य है', इस उक्ति से ऐसा लगता है कि ईश्वर की सत्ता के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। लेकिन ईश्वर विषयक यह परम्परागत विचार नास्तिक लोग स्वीकार नहीं करते। वे तो इस धारणा का एकदम तिरस्कार करते हैं। फिर 'ईश्वर सत्य है' कहने में एक अन्य कठिनाई यह है कि ईश्वर का नाम करोड़ों लोगों ने लिया है और उसके नाम पर अवर्णनीय अत्याचार किये हैं। किन्तु यदि सत्य शब्द को ईश्वर के बाद न लगाकर ईश्वर से पहले लगा दिया जाय अर्थात् यदि सत्य को ही ईश्वर समझा जाय तो इस पर नास्तिकों को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वे भी सत्य की खोज करना चाहते हैं। सत्य की शक्ति या आवश्यकता के आगे नास्तिक लोग भी झुकते हैं और सत्य के सम्बन्ध में कभी दोहरा अर्थ भी नहीं निकलता। सत्य को ढूंढ निकालने की अपनी लगन में नास्तिकों ने ईश्वर के अस्तित्व से भी इन्कार करने में संतोष नहीं किया। सत्य ईश्वर है इस उक्ति का आशय यही है कि यदि ईश्वर सत्य से भिन्न है तो हमें उसके

लिए कोई परवाह नहीं करनी चाहिए। इस धारणा को तो सारी मानव जाति अपना सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्य विषयक विवाद भी उतने ही अन्त रहे हैं जितने ईश्वर-विषयक विवाद, किन्तु व्यवहार-वादी दृष्टि से गांधीजी की यह बात ठीक है कि भिन्न-भिन्न मान्यताओं वाले व्यक्ति भी सत्य के मंच पर एकत्रित हो सकते हैं। इस भांति सत्य जीवन का एकता लानेवाला तत्व हो जाता है और उसे ईश्वर से भी पहले स्थान देना उचित ही है। श्री एन० के० बोस ने इस बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से इन शब्दों में कहा है—"अपनी बदली हुई मान्यता के कारण गांधी ऐसे व्यक्तियों को भी सह-खोजियों के रूप में साथ ले सकते थे जो मानवता या अन्य किसी व्यक्ति को अपना ईश्वर मानते है और जिसके लिए वे अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार हैं। इस भांति सत्य को सर्वोच्च स्थान देने से गांधी सचमुच उदार हो गये और उन्होंने अपने से भिन्न किसी भी ईश्वर की पूजा करनेवाले प्रत्येक अन्य ईमानदार व्यक्ति से पृथकता के सभी चिन्ह मिटा दिये।'[1] 'वास्तव में 'सत्य ही ईश्वर है' कहकर गांधीजी उन सब लोगों को अपना अनुयायी या साथी बना सके जो कि मानवता को अपना उपास्य देव समझते थे और जिसके लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार थे। अन्त में, इसका अर्थ यह भी है कि सत्य से तनिक सा भी डिगना अपने को दैविक तत्व से अलग कर लेना है जिसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक ह्रास होना निश्चित है। जो लोग ईश्वर को पाना चाहते हैं उन्हें दूसरे के साथ आचरण करने में पूर्ण सत्य का पालन करना चाहिए। इसका स्वाभाविक अर्थ यह हुआ कि जो लोग सत्य को विशेष महत्व नहीं देते वे सच्चे सत्याग्रही बनने के योग्य नहीं हैं।

अन्त में, इस विषय की समाप्ति हम निम्नलिखित अवतरण को प्रस्तुत करते हुए करना चाहेंगे जिससे ईश्वर में गांधीजी की अपार निष्ठा प्रकट होती है—

"मुझे जितना विश्वास इस बात का है कि आप और मैं इस कमरे में बैठे हैं उससे कहीं ज्यादा विश्वास ईश्वर के अस्तित्व का है। मैं यह भी कह सकता हूं कि मैं हवा और पानी के बिना रह सकता हूं। लेकिन ईश्वर के बिना नहीं रह सकता। आप मेरी आँखें निकाल लें, परन्तु उससे मैं मरूंगा नहीं; मेरी नाक काट लीजिए, उससे भी मैं नहीं मरूंगा। लेकिन आप ईश्वर में मेरा विश्वास मिटा दीजिए, तो मैं मर जाऊंगा—मेरा प्राण खो जायगा। आप जिसे अन्धविश्वास कह सकते हैं, परन्तु मैं स्वीकार करता हूं कि यह अन्धविश्वास मेरा अटूट सहारा है। बचपन में खतरे या डर का कारण होने पर मैं राम का नाम लेता था; उस समय मुझे जो बल राम-नाम से मिलता था, वही अब इस विश्वास से मिलता है।"[2]

गांधी दर्शन का आध्यात्मिक पहलू
(Metaphysical Aspect of Gandhism)

सत्य क्या है (What is Truth)?—धार्मिक ज्ञान में सत्य का सर्वो-

1. *N. K. Bose*—Studies in Gandhism, Page 369.

परि स्थान है। सत्य की अवधारणा निश्चित करने के लिए विश्व के विभिन्न दार्शनिक अति प्राचीनकाल से प्रयत्नशील रहे हैं, लेकिन अपरिमित बौद्धिक व्यायाम करने के उपरान्त भी वे किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं। सामान्य व्यक्ति भी सत्य-असत्य के निर्णय में अधिकांशतः भ्रमित हो जाते हैं। गांधीजी ने सत्य के तत्व को स्पर्श किया और उनकी यह विशेषता रही कि उन्होंने न केवल सैद्धान्तिक पक्ष बल्कि व्यावहारिक पक्ष पर भी समान बल दिया। सत्य की अवधारणा में वे इतने डूबे कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही सत्य शोध के लिए अर्पित कर दिया। यदि गांधीजी के चिंतन से सत्य को हटाने का प्रयत्न किया जाय तो यह असम्भव कार्य होगा, क्योंकि गांधी-दर्शन और सत्य 'ये दो पृथक धारणायें न होकर एक हैं, सत्य के अभाव में गांधी-दर्शन निष्प्राण है। गांधीजी ने तो सत्य को ही ईश्वर कहकर पुकारा है जिसकी मीमांसा हम उनकी ईश्वर विषयक धारणा में कर चुके हैं।

शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से सत्य शब्द की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने कहा कि "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है—होना या अस्ति, सत्य का अर्थ हुआ—होने का भाव या अस्तित्व।" गांधीजी की मान्यता है कि सत्य के सिवाय अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम है सत् या सत्य है, इसलिए परमेश्वर सत्य है'—ऐसा कहने की अपेक्षा 'सत्य ही परमेश्वर है, ऐसा कहना अधिक उचित है।

सत्य गांधीजी के तत्व ज्ञान का केन्द्र है। इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास सत्य के लिए होना चाहिए। यदि हम ऐसा करना सीख लेते हैं तो शेष सभी नियम सहज ही हमारे हाथ लग जाते हैं और उनका पालन भी सरल हो जाता है। सत्य के अभाव में किसी भी नियम का शुद्ध पालन नहीं किया जा सकता। सामान्यतः सत्य शब्द का अर्थ केवल सच बोलना ही समझा जाता है लेकिन गांधीजी ने सत्य का व्यापकतम अर्थ लेते हुए बारम्बार यह आग्रह किया है कि विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। गांधीजी की दृष्टि में सत्य की आराधना ही सच्ची भक्ति है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

"सत् नाम ही परमेश्वर का है। इसलिए जिसे जो सत्य जान पड़े उसी के अनुसार वह चले, तो उसमें दोष नहीं है; इतना ही नहीं बल्कि वही उसका कर्तव्य है। फिर यदि उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी। कारण, सत्य की शोध के पीछे तपश्चर्या होती है, यानि खुद कष्ट सहन करने की, उसके लिए मर-मिटने की भावना होती है। इसलिए उसमें स्वार्थ की तो गन्ध तक नहीं होती। ऐसे निस्वार्थ शोध में लगा हुआ कोई भी मनुष्य आज तक अन्त-पर्यन्त गलत रास्ते पर नहीं गया। गलत रास्ते पर पांव पड़ते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते पर आ जाता है। इसलिए सत्य की आराधना ही सच्ची भक्ति है और भक्ति तो 'सिर का सौदा' है या यों कहें कि जिसमें कायरता के लिए कोई स्थान नहीं, ऐसा हरि का मार्ग है।"

गांधीजी के अनुसार आत्यन्तिक रूप में ही सत्य ही आत्म साक्षात्कार या मोक्ष है। 'किन्तु गांधीजी का आत्म-साक्षात्कार किसी विन्दु पर जाकर समाप्त नहीं हो जाता। यह प्रतिविन्दु पर प्रकट होकर जीवन को ओत-प्रोत कर लेना चाहता है। जैसे रेखा अनन्त विन्दुओं से बनती है और उसमें किसी ऐसे स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती, जहां विन्दु न हो, वैसे ही गांधीजी जीवन को सत्यमय देखना चाहते हैं। जैसे रेखा मे प्रत्येक स्थान पर विन्दु है वैसे ही जीवन मे या विश्व मे प्रत्येक स्थान पर सत्य है, पर जैसे रेखा में साधारणत: दर्शक विन्दु को देख नही पाता, वैसे ही हम जीवन में सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते। यह सत्य-सिद्धि तभी सम्भव है जब हम सदैव अपनी दृष्टि को निर्दोष और निर्मल रख सकें जब प्रतिक्षण हम अपना निरीक्षण, परीक्षण और 'परिष्करण करते हुए चलें। गांधीजी का यही पथ है। प्रत्येक क्षण उनका जीवन साधन का एक अविच्छिन्न प्रयत्न है। वह सतत प्रयत्नशीलता और जागरूकता का जीवन है। उसमे एक निरन्तर तैयारी है। उसके क्षेत्र बदलते है; पर उसकी साधना प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक रङ्ग मे ज्यों की त्यों चलती रहती है। प्रत्येक अनुभव के साथ सत्य पनपता है।"[1]

गांधीजी का सत्य कल्पित सत्य नहीं है अपितु स्वतंत्र और चिरस्थाई सत्य है। वह विशुद्ध वैज्ञानिक की भांति सत्य को अन्तिम मानते हैं। उनके लिये सत्य वही है, जो ध्रुव है, अटल है, अपरिवर्तनीय है। सत्य की खोज करने का ढग एक वैज्ञानिक के समान प्रयोगात्मक है। उसका पता लगाने के लिये आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। आत्मा को शुद्ध करने के लिये कुछ आवश्यक उपकरणो का होना नितान्त जरूरी है। ये उपकरण हिन्दू शास्त्रों मे उपलब्ध है। ये हैं—सत्य (*Truth*), अहिंसा (*Non-violence*), अस्तेय (*Non-stealing*), अपरिग्रह (*Non possession*), ब्रह्मचर्य (*Celibacy*)। गांधीजी ने कहा कि सत्य अन्तरात्मा की आवाज है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा सदैव सत्य का पालन नही करती। वह सस्कार भेद आदि के कारण उचित और अनुचित होती है।

गाधीजी सत्य पर चलने का उपदेश देते है, किन्तु **यह नहीं कहते कि सत्य का आग्रह ही रूढ़ि से चिपटकर कोई कार्य करे!** सत्याग्रही को सदैव यह मानकर चलना चाहिये कि उसमे दोप हो सकते है, और जब दोप का ज्ञान हो जावे तब उसके लिये उचित है कि भारी से भारी जोखिमो को उठाकर भी वह उस दोप का स्वीकार करे और प्रायश्चित भी करे। शुद्धतम प्रायश्चित तभी सम्भव है जब स्वेच्छा और निष्कपट भाव से अपराध की स्वीकृति हो, और फिर कभी वैसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा हो।

दैनिक जीवन में सत्य सापेक्ष (Relative) है, किन्तु सापेक्ष सत्य के माध्यम से एक निरपेक्ष (Absolute) सत्य पर पहुंचा जा सकता है और यह निरपेक्ष सत्य ही जीवन का चरम लक्ष्य है, इसकी प्राप्ति ही मनुष्य का परम धर्म है। यह तथ्य केवल भावात्मक सत्य (*Abstract Truth*) नहीं है वरन् इसकी प्राप्ति साधारण जीवन में की जा सकती है। इसे इस प्रकार

---

1. श्री रामनाथ 'सुमन'—गांधीवाद की रूपरेखा, पृष्ठ ७१

भी समझा जा सकता है कि सभी मनुष्यों का एक साथ पुनरोत्थान अर्थात् सर्वोदय परम लक्ष्य है। यह एक निरपेक्ष सत्य है जिसे चरम वास्तविकता (*Absolute Reality*) भी कह सकते हैं। गांधीजी 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' सिद्धान्त के विरोधी थे। उनके अनुसार—'यह एक हृदयहीन सिद्धान्त है जिसने मानवता को बडी हानि पहुँचाई है। केवल एक ही वास्तविक, सभ्य और मानव-सिद्धान्त हो सकता है—और वह है सभी व्यक्तियों का अधिकतम सुख और इसे पूर्ण आत्म बलिदान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।" सर्वोदय जीवन का अन्तिम लक्ष्य है जिस तक पहुँचने में अनेक पडाव आते हैं। सर्वोदय के लिये यह आवश्यक है कि गरीबों और दलितों का शोषण बंद हो, सभी देश स्वतन्त्र हों, संसार में आर्थिक और सामाजिक समानता हो। यह पडाव सापेक्ष सत्य हैं जिनके माध्यम से निरपेक्ष सत्य अर्थात् चरम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। इस तरह, संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि अर्धनग्न को वस्त्रदान, भूखे को अन्नदान और बेघर को आश्रय प्रदान करना सत्य है। यही ईश्वर है और इसे ही प्राप्त करना चाहिये। गांधीजी के सत्य के परिवेश में केवल व्यक्ति ही नहीं आता है अपितु इससे समूह और समाज का भी समाहार है। वह चाहते हैं कि सम्पूर्ण सत्य (मन, वचन, कर्म का सत्य) का पालन धर्म, राजनीति, अर्थनीति, परिवार नीति सबमें होना चाहिये। व्यक्ति और समाज का कोई पक्ष सत्य से विरक्त नहीं रहना चाहिये। राजनीति में सत्य के पूर्ण पालन का उनका नवीन प्रयोग तो विश्व-इतिहास के लिये एक अविस्मरणीय घटना है। 'सम्भवत वह विश्ववंद्य इसीलिये हुए कि सत्य के वैयक्तिक जीवन-दर्शन को उन्होंने सामाजिक जीवन दर्शन में परिणत किया। और किसी सीमा तक अपने अनेक अनुयायी बनाकर यह दिखा दिया कि जो व्यक्ति के लिये सम्भव है, वह समूह के लिये भी सम्भव हो सकता है। इस कथन का यह आशय नहीं है कि स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेनेवाले समस्त व्यक्ति गांधीजी के 'सम्पूर्ण सत्य' के पालक थे किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुसंख्यक लोगों ने स्वातंत्र्य संग्राम के दौरान उनकी सत्य की अवधारणा को सिद्धान्त और आचरण में न्यूनाधिक रूप में स्वीकार अवश्य किया, जिसके फलस्वरूप उनके नेतृत्व में बिना किसी सशस्त्र संघर्ष या रक्तपात के भारत स्वतन्त्र हुआ।" अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत ने जो सम्मान अर्जित किया उसके पीछे भी गांधीजी के राजनीतिक सत्य प्रयोगों का बहुत बड़ा योग है।

नैतिक पवित्रता पर बल तथा साधन की श्रेष्ठता में विश्वास (**Stress on the moral purity of the Individual and Belief in the holyness of Ends and Means**)—गांधीवाद नैतिक पवित्रता पर कितना बल देता है यह उनके धर्म ईश्वर और सत्य की अवधारणा से एकदम स्पष्ट है। अत इस सम्बन्ध में विस्तार में न जाकर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि गांधीजी ने अपने जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता को प्रधानता दी थी और वह प्रधानता उनके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार के विचारों में स्पष्ट झलकती है। वस्तुत गांधीवाद राजनीतिक विचार दर्शन होने की अपेक्षा एक नैतिक जीवन दर्शन अधिक है। गांधीजी का विचार था कि मनुष्य की सम्पूर्ण राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक

समस्याएं अपने मूलरूप में नैतिक समस्याएं हैं और इनका निराकरण तभी हो सकता है जब मनुष्य पवित्र आचरण एवं हृदय की शुद्धता पर अधिक बल देवे। गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में शक्ति और घृणा पर आधारित पाश्चात्य जनतंत्र को नापसन्द करते हुए व्यक्ति पर न्यूनतम प्रतिबन्धों का स ८न किया। गांधीजी ने एक नैतिकतापूर्ण रामराज्य की कल्पना की जिसका ‍‍‍‍..धार उन्होंने समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व एवं सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों को माना। गांधीजी किसी वर्ग विशेष के नेता न थे। वह तो नैतिक नियमों के आधार पर सम्पूर्ण मानव जाति को एक करना चाहते थे।

गांधीजी का दर्शन चूंकि एक नैतिक दर्शन है, अतः वह साधन और साध्य दोनों की पवित्रता का उपदेश देता है। गांधीजी कहा करते थे कि साधन और साध्य (*Means and Ends*) एक दूसरे से चोली-दामन की तरह सम्बद्ध हैं और एक की अपवित्रता दूसरे को भी भ्रष्ट कर देती है। अतः यदि आपका साध्य उत्तम है तो उसे प्राप्त करने के साधन उतने ही उत्तम ढूंढो अन्यथा बुरे साधनों द्वारा प्राप्त हुए उसके अवगुण उसकी उत्तमता को फीका कर देंगे। कौटिल्य के इस कथन से वह सहमत न थे कि साध्य ठीक होना चाहिये, साधन चाहे कैसे भी हों। उनकी दृष्टि में तो साधन ही साध्य का निर्माण करता है, अतः उसका श्रेष्ठ होना नितान्त आवश्यक है। साधन (*Means*) की पवित्रता पर बल देते हुए गांधीजी ने यहां तक कह डाला कि यदि आपके अपने पवित्र साध्य के लिये उतने ही पवित्र साधन नहीं मिलते तो उस साध्य को भी छोड़ दो (*Forgo thy holy end if thy means are unholy*)। गांधीजी ने स्वयं अपने जीवनभर इस स्वर्ण-सिद्धान्त का पालन किया है, यहां तक कि देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पुनीत ध्येय के लिये भी उन्होंने कभी क्रांतिकारी, उग्र एवं हिंसात्मक साधनों का प्रयोग नहीं किया। उनके जीवन में अनेक बार अवसर आये जबकि अपने अनुयायियों द्वारा गलत साधन अपनाने पर ही उन्हें अपने पवित्र उद्देश्यों को छोड़ना पड़ा था। उन्होंने १९२२ में असहयोग आन्दोलन को केवल उपरोक्त कारण से ही उस समय अशर्त बन्द कर दिया जबकि अंग्रेजी राज्य का दुर्ग बुरी तरह डगमगाने लगा था और सफलता सामने खड़ी दिखाई देती थी। गांधीजी के इस कदम के पीछे उनकी यह धारणा निहित थी कि यदि साधन साध्य के अनुरूप न रहे तो सफलता यदि प्राप्त भी होगी तो वह क्षणिक होगी। गांधीवाद का 'साधनों की पवित्रता' का यही विचार उसे मार्क्सवाद से भिन्न करता है। जहां साधनों की पवित्रता पर आग्रह करके गांधीजी ने राजनीति के अध्यात्मिकरण की ओर महानतम पग उठाया, वहां फासीवाद और मार्क्सवाद 'साध्य साधनों का औचित्य है' (*The End justifies the Means*)—इस धारणा के प्रमुख समर्थक रहे हैं। मार्क्स एक वर्गहीन समाज के सर्व प्रशंसित आदर्शों की प्राप्ति के लिये रक्तरंजित क्रांति का उपदेश देता है, जबकि गांधीकी मान्यता है कि खून की एक बूंद गिरते ही जिस कीमत पर वह वर्गहीन समाज मिलता है, वह कीमत बहुत महंगी है और इस कारण साधन व साध्य के बीच बहुत सामञ्जस्य और पवित्रता होनी चाहिये। गांधीजी तो खून की एक बूंद गिराये बिना ही स्थापित होनेवाले वर्गहीन समाज में आस्था रखते हैं।

वस्तुत:, इस बात की माग करके कि साधन साध्य के अनुरूप होने चाहियें, गाधीजी ने राजनीति मे एक क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया, और राजनीति की कला को उनकी यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मानी जा सकती है। इस धारणा को कि साध्य साधनों का औचित्य है, गाधीजी ने इसीलिये ठुकरा दिया कि इससे एक कार्य का साध्य और साधन में एक कृत्रिम विभाजन हो जाता है और उसकी सावयवी एकता नष्ट हो जाती है। उनकी यह दृढ धारणा थी कि साध्य और साधन में पृथकता होना तो दूर रहा, उल्टे साधन से ही साध्य का विकास होता है। उनके स्वय के शब्दों मे "साधन बीज के समान है और साध्य वृक्ष के समान। जिस प्रकार वृक्ष और बीज मे सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधन और साध्य मे है।" यहा "बोया पेड बबूल का तो आम कहां ते खाय" लोकोक्ति प्रतिध्वनित होती है। गाधीजी की यह धारणा-'ईसाई सभ्यता के विशाल भाग पर प्रहार करती है।" यह युद्ध की प्रणाली और मार्क्सवादी साम्यवाद की प्रणाली के तो एकदम विरुद्ध है। ये दोनो प्रणालिया बताती हैं कि साध्य, साधनो का औचित्य है। युद्ध और साम्यवाद अपने-अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये किसी भी साधन का प्रयोग कर सकते है। जो चीज आपको आपके लक्ष्य पर ले जाती है वह सही है और जो आपको वहा पहुचने से रोकती है वह गलत है। धोखा, विश्वासघात, चालबाजी, असत्य, हत्या आदि साधनो से यदि अपनी कल्पना के उत्तम उद्देश्यो की सिद्धि होने की आशा हो तो इन सबका प्रयोग किया जायगा। लेकिन गाधी का ज्ञान कहीं अधिक गहरा था। वह जानता था कि यदि एक डाक्टर के रूप में आप गन्दे यत्रो से कोई ऑपरेशन करोगे तो रोगी की स्थिति पहले से भी अधिक शोचनीय हो जायेगी। प्रत्येक गलत साधन लौटकर अपने प्रयोक्ता के पास आयेगा और उसकी आत्मा पर छा जायेगा। उस प्रेत विद्या के छात्र की भाति जो कि अपने गुरु के पास आया और बोला, 'श्रीमान्, मैंने एक प्रेतात्मा को बुलाया है और अब मैं उससे मुक्त नही हो सकता', इस प्रकार शुभ उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक गलत साधन प्रयोग करनेवाले के पास ठहर जायेगा और उसे सताता रहेगा।"[1]

---

1. "*Mahatma Gandhi*" *cuts across a great deal that goes under* the form of Christian civilization, and he goes point blank against the methods of war and the methods of Marxian [illegible] Both of the latter say that end justifies the [illegible] will use any means that [illegible] That is right which gets [illegible] which hinders or obstructs your getting to your goal Deceit, treachery, trickery, lies butchery will be used if they can be used for the supposed right ends Gandhi knew better He knew that if you, [illegible] instruments you would leave the [illegible]

गांधीजी ने साध्य और साधन की श्रेष्ठता के जिस मार्ग-दर्शक को मानवता का मार्ग-दर्शन करने के लिये प्रस्तुत किया है, यदि हम उसके वशवर्ती होकर अपने पथ पर अग्रसर हों तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हम अध:पतन के द्वार से वापिस लौटकर उन्नति और मानवीयता के उस भव्य महल में पुन: प्रवेश कर सकेंगे जहां न युद्धों का भय होगा और न अन्य किसी बात का डर। साधनों की पवित्रता के बल पर शुभ उद्देश्य तक पहुचने का प्राण लेने पर निस्सदिग्ध रूप से मानवता आज के अभिशापों से मुक्त हो सकेगी।

कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्त (Theory of Action and Rebirth)—गांधीजी भारतीय कर्म-सिद्धान्त में आस्था रखते थे। कर्म के नियम सर्वमान्य होते हैं। मनुष्य कर्म के आधार पर स्वयं अपना भाग्य बनाते हैं। "हम स्वय अपने भाग्य के निर्माता हैं। हम अपने वर्तमान को स्वयं ही बिगाड़ या सुधार सकते हैं उस पर हमारा भविष्य निर्भर है" लेकिन इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि हमारा जीवन और कार्य पूर्वनिर्धारित ही होते हैं। कर्म का सिद्धान्त स्वतंत्रता का सिद्धान्त है जो हमें अच्छे और बुरे में चुनाव करने के लिये स्वतंत्रता देता है। हमारी स्वतंत्रता परिणाम निर्धारित नही करती, वह हमारे प्रयत्नों पर निर्भर है। गांधीजी की आस्था पुनर्जन्म मे भी थी। उनका कहना था कि, 'मैं पुनर्जन्म में भी उतना ही विश्वास करता हूँ जितना कि अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसी कारण मैं जानता हूँ कि थोडा सा प्रयत्न भी बेकार नहीं जायगा।" वास्तव में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त गांधीजी को कोई नवीन देन नहीं है। ये दोनों ही सिद्धान्त भारतीय ऋषि-मुनियों ने आत्मिक शोध के उपरांत प्रतिपादित किये थे। ये नैतिकता के वे नियम हैं जो मानव-विकास को संचालित करते हैं। जीवन की पूर्णता के लिये मनुष्य को सदैव उन्नति के अवसर प्रदान करना ही पुनर्जन्म है, जहां एक के बाद दूसरा जन्म पूर्णता की ओर ले जाने के लिये होता रहता है।

गांधीजी और अहिंसा
(Gandhiji & Non-Violence)

सम्पूर्ण गांधीवादी दर्शन अहिंसा के पवित्र सिद्धांत पर आधारित है। गांधीवाद सत्य और अहिंसा की ही व्यापक व्याख्या है। गांधीजी ने सत्य और अहिंसा को अन्योन्याश्रित माना है दोनों को एक ही मुद्रा के दो पार्श्व के रूप में स्वीकार किया है। सत्य, अहिंसा और आत्मसंयम—ये वे विस्तृत सिद्धांत हैं, जिन्हें गांधीजी के प्रत्येक अनुयायी को कार्यरूप में परिणित करना चाहिए। 'अहिंसा एक निषेधात्मक धारणा नहीं है अपितु एक विधेयात्मक कार्य है। यह केवल 'जैसा को तैसा' या 'आंख के बदले आंख और 'दांत के बदले दांत' के सिद्धान्त का निषेध मात्र ही नहीं है। यहां बुराई को अच्छाई से जीतने का जो तुम्हारे साथ बुराई करें उनके साथ भलाई करने का, जो

---

now I cannot rid myself of it." So every wrong means called in to get to right ends will stay to plague the user."

—*Stanley Jones*. op., ct., P. 114

तुम्हारे विरोध में उठ खड़े हो उन्हें क्षमा करने का और जो तुम्हारा कोट चुरायें उन्हें अपना कोट देने का सिद्धान्त है। इस सिद्धांत का अन्तर्निहित भाव यह है कि कोई बदले की भावना नहीं होती, कोई क्षुब्ध होने की भावना नहीं होती और कोई षडयन्त्र नहीं, कोई प्रतिकार नहीं, कोई संगठित युद्ध या गुप्त हत्या नहीं—एक शब्द मे मनसा, वचसा और काया की कोई हिंसा नहीं होती और अन्ततः क्रोध का सर्वथा अभाव होता है।"[1] स्थूल रूप से अधिकांश लोग केवल किसी को न मारना ही अहिंसा समझते हैं, और अहिंसा का शाब्दिक अर्थ भी न मारने से ही है। किन्तु गांधीजी की व्याख्या है कि यह अहिंसा का पूर्ण नहीं आंशिक अर्थ है। किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग अवश्य है, किन्तु अहिंसा मे इसके अतिरिक्त और कुछ भी है। "कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत को जिस चीज की आवश्यकता है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।" अत: गांधीजी के लिए अहिंसा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमे कार्य ही नहीं, अपितु विचार मे भी सावधान रहना आवश्यक है वाणी और संवेगों पर भी नियन्त्रण करना अनिवार्य है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति मे संयम रखना अपेक्षित है।

अहिंसा केवल एक नकारात्मक गुण ही नहीं है,बल्कि इसमें भलाई करना भी उतना ही निहित है जितना कि किसी को हानि न पहुंचाना। इसके अन्तर्गत उपमानवों जीवन भी आ जाता है। अपने सक्रिय रूप में इसका अर्थ है प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना रखना। अहिंसा न निरी अव्यावहारिक वस्तु है, न कोई अवास्तविक भावना, प्रत्युत् यह तो मानवीय स्वभाव और मानवीय हृदय मे एक ऐसा जीवित-जाग्रत क्रियाशील सद्‌गुण रूपी दीपक है जो मन्दातिमन्द आत्मा को भी आदर्श की ज्योति से जगमगा देता है। अहिंसा सर्वोच्च प्रेम, सर्वोच्च दयालुता और सर्वोच्च आत्मबलिदान है। यह मनुष्य का प्रत्येक शक्ति को एक उन्नत बौद्धिक स्तर तक उठा देती है। यह मनुष्य को तुच्छ और व्यक्तिगत स्वार्थों के बन्धनों से मुक्त करके उन सहानुभूतियों के प्रति सचेतन बनाती है, जो मनुष्य का ऊंचा उठाती हैं। गांधीजी की अहिंसा प्रेममय है, किन्तु यह प्रेम स्वार्थ का विषय नहीं है, यह ऐसा प्रेम नहीं है जो प्रेमपात्र से बदले में किसी पुरस्कार की आशा करता है। यह तो सच्चा प्रेम है जो आत्मबलिदान करना जानता है और बदले में कोई प्रतिकार नहीं चाहता। वास्तव में "अहिंसा एक वह शब्द है जिसके विस्तृत अर्थ हैं और व्यापक दर्शन है। यह उपकार और दया का एक एकाकी कार्य नहीं करता है। इसके अन्दर प्रेम—जिसका कि यह समानार्थक है—से निकलने वाले सब सद्गुणों का समावेश है।" अहिंसा तो तब है जब हम अपने विरोधी से भी प्यार करें। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि विपक्षी या विरोधी की हिंसा या बुराई से मेल किया जाय। यह तो नितान्त अनुचित होगा। अहिंसा मार्ग में विपक्षी की बुराई या दुष्प्रकृति को प्रेम के द्वारा दूर करना आवश्यक है। गांधीजी की मान्यता है कि व्यक्ति जो दूसरे को देगा, वही उसे प्राप्त होगा। व्यक्ति हिंसा का उत्तर प्रेम से देता है, तो उसे प्रेम ही प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में

1. पट्टाभी सीतारमैय्या—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ ३६–३७

गांधीजी यहां तक जाते हैं कि यदि एक व्यक्ति सच्चा अहिंसक है तो अपनी हत्या होते समय भी वह अपने हत्यारे के प्रति क्रोध नहीं करेगा, अपितु ईश्वर से उसे क्षमा करने की प्रार्थना करेगा। वह कुछ इसी प्रकार ईश्वर से कहेगा, जैसे ईसा ने सूली पर चढ़ते समय कहा था, "परमपिता, इन्हें (हत्यारों को) क्षमा कर दीजिए, क्योंकि इन्हें पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं।"

गांधाजी ने अहिंसा की व्याख्या करते समय अपनी यह सम्मति प्रकट की कि अहिंसा की निम्नलिखित तीन अवस्थायें हो सकती हैं—

(१) जाग्रत अहिंसा (Enlightened Non-Violence)—इसे वीर पुरुषों की अहिंसा भी कहते हैं। यह वह अहिंसा है जो किसी दुखपूर्ण आवश्यकता से पैदा न होकर अन्तरात्मा की पुकार पर स्वाभाविक रूप से जन्म लेती है। इसको अपनानेवाले अहिंसा को अनिवार्य बोझ समझ कर स्वीकार नहीं करते, वरन् आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता या नैतिकता के कारण स्वीकार करते हैं। इस अहिंसा को माननेवाले उसे जीवन के नियम के रूपमें बिना किसी के सम्मुख झुके हुए, संसार की आलोचनाओं और विरोधों का दृढता से प्रतिरोध करते हैं। यह अहिंसा पर्वतों को भी चलायमान कर सकती है। सबल व्यक्ति इसे अपनाते हैं और मानवीय एकता एव भ्रातृत्व को हृदय में संजोये हुए धैर्य और सत्य को इसके आधारस्तम्भ बनाकर इसका पालन करते हैं। वे शक्तिसम्पन्न होकर भी शक्ति का तनिक सा भी प्रयोग नहीं करते। गांधीजी का कहना है कि ऐसी अहिंसा केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में दृढ़ता के साथ पाली जानी चाहिए और इसी में असम्भव को सम्भव मे बदलने की अपार व अमित शक्ति निहित है।

(२) औचित्य अहिंसा (Reasonable Non-Violence)—इस प्रकार की अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष आवश्यकता के पड़ने पर औचित्यानुसार (*According to Expendiency*) एक नीतिरूप में अपनाई जावे। यह अहिंसा दुर्बल व निष्क्रिय (*Passive*) व्यक्तियों की अहिंसा है जो किसी समस्या के सिर पर आ जाने पर जाना करते है। इस प्रकार की अहिंसा का पालन जीवन के क्षेत्र विशेष में उसको आवश्यक समझ कर किया जाता है। यह इसलिये उत्पन्न नहीं होती कि इसको पालनेवाला अहिंसा में विश्वास रखता है बल्कि इसलिए कि वह अपनी दुर्बलता के कारण हिंसा को नहीं अपना सकता। दुर्बल व्यक्ति ही असहाय होने या अकर्मण्यता के कारण अहिंसक बनते हैं और उन्हें कोई भी नैतिक भावना या प्रेरणा सहायता नहीं प्रदान करती। यद्यपि यह अहिंसा जाग्रत अहिंसा की भांति प्रभावशाली नहीं है, फिर भी यदि इसका पालन ईमानदारी, सच्चाई और दृढ़ता से किया जाय तो यह काफी हद तक लाभदायक सिद्ध होती है। बाद में गांधीजी ने इस प्रकार की अहिंसा को अस्वीकार करते हुए कहा कि, "निर्बलों की अहिंसा जैसी कोई चीज नहीं है, दुर्बलता और अहिंसा परस्पर विरोधी हैं" (*There was no such thing as Non-violence of weak. Non violence and weakness was a contradiction in terms*)

(३) भीरुओं की अहिंसा (Non-Violence of the cowards)—अनेक बार डरपोक तथा कायर लोग भी अहिंसा का दम भरते हैं। गांधीजी

ऐसे लोगों की अहिंसा को अहिंसा न मानकर 'निष्क्रिय हिंसा' (*Passive violence*) मानते हैं। उनका विश्वास था कि 'कायरता और अहिंसा, पानी और आग की भांति एक साथ नहीं रह सकते।' अहिंसा तो वीरों का धर्म है और अपनी कायरता को अहिंसा की ओट मे छिपाना एक निन्दनीय व घृणित कर्म है। गाधीजी कहा करते थे 'कि अगर हमारे हृदय मे हिंसा भरी है, तो हिंसक होना इससे अधिक अच्छा है कि हम अपनी नपुंसकता को ढाकने के लिये अहिंसा का आवरण पहने। हिंसक मे साहस होता है और उससे यह आशा की जा सकती है कि वह किसी दिन अहिंसक बन जाय। लेकिन कायर कभी ऐसा नहीं कर सकता। अहिंसक के साहस और हिंसक के साहस म अन्तर होता है। हिंसक अपनी आत्मरक्षा के लिये हिंसा द्वारा साहस प्रदर्शन करता है, जबकि अहिंसक मे साहस इतना अधिक होता है कि वह आत्मरक्षा के लिये भी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन ग्रहण नहीं करता। वह स्वय मरने को तैयार रहता है किन्तु किसी को भी चोट पहुँचाना या किसी की हत्या आदि करना नहीं चाहता। गाधीजी ने कायर या भागने वाले व्यक्ति को मानसिक हिंसा का अपराधी बताया है क्योंकि वह अपने विरोधी को मन से तो मारना चाहता है लेकिन साहस के अभाव मे पलायन करता है।

गाधीजी की यह प्रबल धारणा थी कि हिंसा मे सफलता जैसी कोई चीज नहीं होती जबकि अहिंसा एक ऐसा अप्रतिहत तथा अप्रमेय अस्त्र है जो न कभी आज तक खाली गया है, न जायेगा। यह केवल कुटियो मे रहने वाले दीन, दुर्बल सन्यासियों का ही धर्म नहीं है बल्कि एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है जिसे प्रत्येक मानव अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन मे सफलता से प्रयोग म ला सकता है। यह आत्मिक बल का प्रतीक है जिसके विरोध म भौतिक बल चाहे कुछ समय के लिये विजयी हो जावे किन्तु अन्त मे चारो खानें चित्त आकर पडेगा।

गाधी तत्वज्ञान की दृष्टि से सत्य की भांति ही अहिंसा भी इतनी व्यापक है कि कोई हिंसा उसका सहारा लिये बिना खड़ी नहीं हो सकती। हिंसा तो अहिंसा का एक विकृत और स्थानच्युत (*Misplaced*) रूप मात्र है। ससार के बडे बडे हिंसा युक्त आन्दोलनो के मूल मे देखे तो वहा भी अहिंसा की स्थापना के लिये ही हिंसा क्षम्य मानी गयी है। जहा दूसरो के कष्ट निवारण का भाव है, जहा लोगों के शोषण से व्यक्ति या व्यक्ति समूह व्यथित है वहा इन शोषित लोगो के प्रति होने वाले शोषण और हिंसा को दूर करने के लिये ही तो हिंसा की जाती है। अभिप्राय यह है कि हिंसा अहिंसा से पूर्णत स्वतत्र और अलग चीज नहीं, वह अहिंसा का ही विकृत और गलत प्रयोग है। ऐसी हिंसा से जो सफलता हमको कभी-कभी दिखाई देती है वह इसलिये कि उसके मूल में अहिंसा थी और *जितनी गहरी अहिंसा की* यह भावना होती है उतनी ही कम हिंसा का आश्रय लेना पडता है। इसका अर्थ यही है कि किसी कार्य के मूल मे जितनी ही अधिक व्यापक और विशुद्ध अहिंसा होती है अथवा हमारा हेतु जितना ही अहिंसामूलक होता है, उतनी ही स्थाई सफलता और सुख हम अपने अथवा समाज के लिये प्राप्त कर सकते हैं। यदि हेतु की भांति साधन भी अहिंसा से ओतप्रोत हो तो जो

परिणाम होता है वह हिंसाहीन और स्थाई रूप से कल्याणकर होता है क्योंकि हेतु के अहिंसक होते हुए भी साधनों में हिंसा होने से जो परिणाम निकलता है वह सर्वदा हिंसामुक्त नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक हित के लिये हिंसा बल के द्वारा की हुई क्रांति जब साधारण अर्थ में सफल कही जाती है तब भी उसमें हिंसा के बीज छिपे रहते हैं, फलतः क्रांति विरोधी शक्तियां, वस्तुतः सतुष्ट न होने से, समय पाकर, उसी हिंसा द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है।

गांधीजी अहिंसा को वैयक्तिक आचरण तक ही सीमित नहीं रखते हैं अपितु वह इसे मानव जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में लागू करते हैं। उन्होंने स्वयं अहिंसा को वैयक्तिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक पक्षों में लागू किया। उनकी अहिंसा पारलौकिक शांति या मोक्ष प्राप्ति का ही साधन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक शांति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय, पारिवारिक निर्माण का भी साधन है। यह मनुष्य के लिये ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणी जगत के प्रति व्यवहार्य है।

गांधीजी अपनी अहिंसा का विस्तार जब सम्पूर्ण प्राणी जगत में कर देते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि क्या मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यावहारिक है? क्या कोई व्यक्ति गीता में वर्णित उस अवस्था तक पहुँच सकता है कि जहां पहुँचकर वह हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त हो जाये, सबके प्रति मैत्री और दयाभाव से पूरित हो, अहंकार से सर्वथा स्वतंत्र हो और सदैव सतुष्ट तथा आत्म-संयत एवं अपने संकल्प पर अटल रहने वाला हो? क्या कोई व्यक्ति उठते बैठते, खाते-पीते छोटे छोटे कीटाणुओं, जीव-जन्तुओं आदि के विनाश से सर्वथा बचा रह सकता है? इस सम्बन्ध में गांधीजी ने अपना स्पष्टीकरण दिया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि हिंसा से सर्वथा मुक्त होना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। पूर्ण अहिंसा की सिद्धि मनुष्य नहीं कर सकता, पूर्ण अहिंसा तो केवल ईश्वर का गुण है। मनुष्य अपूर्ण है अतः उसकी अहिंसा पूर्ण नहीं हो सकती। हिंसा और अहिंसा के सूक्ष्म अन्तर का बड़ा स्पष्ट दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने वे परिस्थितियां बताई हैं कि जिनमें मनुष्य को हिंसा करनी ही पड़ती है और वह उससे बच नहीं सकता।

(क) जीवन के भरणपोषण के लिये जितनी हिंसा अनिवार्य होती है वह क्षम्य होती है। शरीर ईश्वर की धरोहर है जिसे नष्ट करने का व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं है। आवश्यक यह है कि शरीर के प्रति आसक्ति न रखी जाये। शरीर के पोषण और संरक्षण के लिये जानबूझकर दूसरे जीवों की हत्या नहीं की जानी चाहिये, किन्तु जो हिंसायें अनजाने होती हैं, उनके लिये चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। यह मनुष्य की विवशता है। "शरीर की मर्यादाओं को अच्छी तरह समझकर हमें अपने भीतर जो भी शक्ति है, उसे लगाकर अहिंसा के आदर्श की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। अहिंसा के पुजारी के सब कामों का स्रोत दया है। यदि वह छोटे-से-छोटे प्राणियों को भी नष्ट करने से भरसक परहेज रखता है, उन्हें बचाने की कोशिश करता है, तो वह अपने ईमान का

सच्चा होता है। उसके संयम और उसकी करुणा में सतत वृद्धि होती रहेगी, परन्तु वह बाह्य हिंसा से अथवा विमुक्त नहीं हो सकता।" गांधीजी अहिंसा के सम्बन्ध में कल्पनावादी नहीं, व्यावहारिक थे। उन्होंने मनुष्यों या सम्पत्ति को हानि पहुंचानेवाले जीव जन्तुओं को मारने की अनुमति दी है। यदि जंगल में जाते हुए शेर चीते या सड़क पर निकलते हुए पागल कुत्ते आदि जीवन को समाप्त करने के लिए आक्रमण कर दें तो उनका वध भी हिंसा की श्रेणी में नहीं आता। यह हिंसा 'सङ्कटकालीन कर्तव्य' (*Duty in distress*) कही जाती है और विहित है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि गांधीजी हिंसक जीव जन्तुओं की हत्या की अनुमति देते अवश्य हैं लेकिन उनके हृदय का भाव यही है कि यदि मनुष्य अहिंसा का पालन यथोचित रूप से करें तो हिंसक जीव भी मनुष्य को हानि नहीं पहुंचायेंगे।

(ख) आश्रित की रक्षा के लिये की गई हिंसा भी अनिन्दनीय है। यदि कोई आततायी हमारे आश्रितों के जीवन से खिलवाड़ करने के लिए आये तो उसका वध करना भी हिंसा नहीं होगी। स्त्रियां और बच्चे प्रत्येक समाज के मनुष्य के आश्रित हैं, यदि उन पर कोई व्यक्ति अत्याचार करता है तो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी हत्या कर देनी चाहिये।

(ग) जिस व्यक्ति या प्राणी की हिंसा की जाय उसको दुखों से छुटकारा दिलाने के लिये वह आवश्यक हो तो ऐसी हिंसा अपराध नहीं है। उदाहरणार्थ यदि किसी का रोग असाध्य हो जाय और चारों ओर निराशा हो, तो उस व्यक्ति अथवा प्राणी को मारना पाप या हिंसा नहीं। गांधीजी ने अपने आश्रम में तड़पते हुए मरणासन्न बछड़े को कष्ट से मुक्त करने के लिये जहर देने की अनुमति दी थी। यह हिंसा अवश्य हुई किन्तु यह क्षम्य है, क्योंकि इसके पीछे असीम दया तथा परदुःख कातरता का भाव निहित है। गांधीजी के अनुसार, जब रोग असाध्य हो जाय, जब सभी उसके जीवन से निराश हो जाय, जब किसी प्रकार की सेवा या सहायता बेकार हो जाय, और रोगी को अपनी रुचि बताना भी असम्भव हो जाय तो तड़फ तड़फ कर मरनेवाले को हिंसा द्वारा छुटकारा दिलाना भी अहिंसा ही है। उन्होंने कहा था, "यदि मेरा पुत्र भी तड़फ रहा हो और उसका कोई इलाज न हो तो मुझे उसके जीवन को समाप्त करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये" (*Should my child be attacked by rabies and there was no helpful remedy to relieve his agony I would consider it my duty to take his life*)।

कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि एक ऐसे आदर्श की क्या उपयोगिता है जिसे व्यवहार में न लाया जा सके और जिसके लिये कुछ अपवाद करने पड़े। इस आपत्ति का समाधान गांधीजी यह कह कर करते हैं कि वह आदर्श जो पूर्ण रूप से व्यवहार में परिणत किया जा सके वास्तव में एक बहुत ही तुच्छ आदर्श है। जीवन का आनन्द लक्ष्य को प्राप्त करने में नहीं बल्कि उसके लिये सदैव प्रयत्न करते रहना है हम उसके निकट पहुंच सकते हैं किन्तु उसे पूर्ण रूप से कभी प्राप्त नहीं कर सकते। अहिंसा का आदर्श गणितशास्त्र के उस बिन्दु के समान है जिसकी पूर्ण उपलब्धि तो सम्भव नहीं

है, लेकिन यथार्थ जीवन में जिसके निकट हम अवश्य पहुँच सकते हैं। गणितशास्त्र के बिन्दु की इस परिभाषा पर कि उसकी स्थिति होती है, किन्तु कोई आकार नहीं होता, कभी किसी ने कोई आपत्ति नहीं की। पुनश्च, जिन्हें हम अहिंसा का अपवाद कहकर पुकारते हैं, वे वास्तव में ऐसे अपवाद नहीं हैं जो इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध करते हों; वे तो मनुष्य की अपूर्णताओं से उत्पन्न होनेवाली स्थितियां हैं जो अहिंसा के पुजारी को अहिंसा की कला में और अधिक पूर्णता प्राप्त करने के लिये प्रेरित करती है।

अहिंसा में गांधीजी की आस्था का आधार उनका यह विश्वास है कि मनुष्य की प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य हिंसक से अहिंसक होता जा रहा है। सदियों का इतिहास इस परिवर्तन का प्रमाण है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य नरभक्षी थे लेकिन उनकी प्राकृतिक अहिंसा-प्रियता ने इसे अनुचित समझा, अन्यथा आज की विशाल और घनी आबादी के स्थान पर दो–चार सर्वशक्तिशाली व्यक्ति ही दिखाई देते। यह सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, ज्ञान और विवेक आज नहीं होते। नर-भक्षण की अवस्था के बाद मनुष्य ने पशु-पक्षियों के मांस को उदरपूर्ति का आधार बनाया, किन्तु शीघ्र ही स्वाभाविक प्रकृति ने मांस भक्षण के प्रति भी असमर्थता उत्पन्न की और अहिंसाधारी जीव, मनुष्य में कृषि-कर्म प्रारम्भ किया। जिन पशुओं का वध कर के वह अपना पेट भरता था उनको उसने पालना शुरू किया। वस्तुतः नर-भक्षी युग से आज के सभ्य मनुष्य तक आते हुए हमें मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति से अहिंसा की ओर उसका विकास दिखाई देता है। मनुष्य के विकास का इतिहास मूलतः अहिंसात्मक विकास का इतिहास है। यद्यपि मनुष्य ने हिंसा का पूर्ण परित्याग नहीं किया है और वह आज भी एक बड़ी सीमा तक हिंसक है किन्तु कोई मनुष्य चाहे कितना भी बुरा क्यों न हो, उसके अन्तः-स्थल में सद्गुण का निवास होता है और इसलिये वह सत्याग्रही की सहर्ष और बिना किसी दुर्भावना के कष्ट उठाने की भावना को देखकर पिघल जाता है और उसमें सम्वेदना तथा प्रेम की भावनायें जागृत हो जाती हैं। यही बात संघर्ष और हिंसा के बजाय सत्य और प्रेम को मानव-जीवन के नियम बनाती है। यदि मनुष्यों को एक ओर हिंसा और द्वेष तथा दूसरी ओर अहिंसा तथा उदारता के बीच चुनाव करने को कहा जाय तो निश्चित रूप से एक विशाल बहुमत अहिंसा और उदारता का ही चुनाव करेगा। केवल ऐसे ही व्यक्ति इस मार्ग को स्वीकार नहीं करेंगे जो मैकियावली तथा हॉब्स के समान यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य मूल रूप से स्वार्थी और बुरा है।

गांधीजी की अहिंसा क्या है, इसका स्वरूप क्या है, इसका क्षेत्र कितना विशाल है—इन सब पर हम विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। जहां तक अहिंसा की महान् शक्ति और इसके प्रयोग की व्यापकता का सम्बन्ध है, यह कुछ और विस्तार का विषय है जिस पर गांधीजी की 'सत्याग्रह' की अवधारणा पर विचार करते समय प्रकाश डाला जायगा। यहां केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि गांधीजी की अहिंसा को अपना धर्म स्वीकार कर के अपने को असहाय कभी अनुभव नहीं किया। उनके कथनानुसार "कठोरतम धातु भी पर्याप्त ताप के आगे पिघल जाती है इसी प्रकार कठोर से कठोर हृदय भी

अहिंसा के पर्याप्त ताप के आगे द्रवित हो जाता है, और ताप उत्पन्न करने की अहिंसा की क्षमता की कोई सीमा नहीं है।" अहिंसा वह बन्धन है जो सारे समाज को एक सूत्र मे बाधता है। हम इस शक्ति से उसी प्रकार परिचित नही हैं जैसे कि आकाशीय पिण्डो को एक सूत्र मे बाधने वाली आकर्षण की शक्ति से उसकी खोज से पूर्व हम परिचित न थे। अहिंसा प्रजातंत्र का हृदय या अदृश्य आधार है और इसके प्रभाव क्षेत्र मे आनेवाले लोग जितने भी इसके आधारो से परिचित होंगे, उतने ही कम वे युद्धों की ओर प्रेरित होंगे। गाधीजी की दृष्टि मे, हर राष्ट्र के लिये अहिंसा साधन और पूर्ण स्वतन्त्रता एक साध्य है। अहिंसा और सत्य प्रेम के व्याकरण है। वे सत्याग्रही के समाज में उनके प्रयोग की खोज से भी पहले के हैं जैसे कि व्याकरणों के सधि एवं सधिविच्छेद के नियमो से ज्ञात करने मे पहले भाषा के प्रयोग उत्पन्न हो गये थे।"[1]

गांधीजी और सत्याग्रह
(Gandhiji & Satyagrah)

व्यक्ति और समाज को नैतिक बनाने के दृष्टिकोण से गाधीजी ने सत्य, अहिंसा और उचित एवं न्यायपूर्ण साधन आदि कुछ सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जो एक दूसरे से सम्बन्धित थे और तदनुसार एक दूसरे के अनुपूरक और पूरक हैं। गाधीजी की राजनैतिक विचारधारा उनकी आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि मे ही फलती फूलती है और राजनीति के युद्ध क्षेत्र मे उन्होंने जिस सत्याग्रह रूपी हथियार की अनोखी खोज की वह भी आध्यात्मिकता के आधार पर ही प्रतिपादित है। सत्याग्रह ने न केवल युद्ध की कला को प्रभावित किया है, वरन इसने आये दिन होनेवाली क्रान्तियों को भी दिशा प्रदान की है। यही नहीं, सत्याग्रह मानवी ज्ञान और मानवी विचारधारा को भी निकट से प्रभावित किया है। सत्याग्रह एक नया विज्ञान है, कर्मयोग का एक व्यावहारिक दर्शन है। यह एक सक्रिय अवधारणा है जिसकी परीक्षा प्रारम्भ मे मर्यादित क्षेत्रो मे की जा चुकी है और यह सफल सिद्ध हुई है। अब विस्तृत क्षेत्र मे और विशेषकर ससार की विस्फोटक स्थिति मे सत्याग्रह रूपी अस्त्र की परीक्षा होनी शेष है।

'सत्याग्रह' का शाब्दिक अर्थ 'सत्य' पर 'आग्रह' है। सत्याग्रह के सम्पूर्ण दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि 'सत्य की ही जीत होती है।' सत्य पर चलनेवाला कभी झूठ नहीं बोलता, धोखे और चालों का प्रयोग भी नही करता। वह अपनी गतिविधियो को छुपाने का प्रयत्न नहीं करता और अपनी त्रुटियो को भी स्वीकार करने में कभी नही हिचकिचाता। सत्य का सिद्धान्त जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू हो सकता है। इसका महत्वपूर्ण आधार अहिंसा है। अत. 'सत्याग्रह' सिद्धान्त के दो आधार 'सत्य' और 'अहिंसा' हैं।

गाधीवाद का मूल तत्व सत्याग्रह वह केन्द्र है जिसके चारो ओर उनकी अन्य धारणायें—राजनीति का आध्यात्मिकरण, साधनों तथा साध्य की

---

1 डा० पट्टाभिसीतारमैया—गाधी और गाधीवाद पृष्ठ ६८

एकता, विश्व की नैतिक प्रकृति तथा अपने सिद्धान्तों के लिए कुछ भी कष्ट उठाने, यहां तक कि मरने तक का सकल्प—घूमती है। सत्याग्रह की अवधारणा का उदय गांधीवादी दर्शन में कैसे हुआ और इसका अभिप्राय क्या है—इसे स्वय गांधीजी के ही सरल एवं स्पष्ट शब्दों में निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है—

"पिछले तीस साल से मैं सत्याग्रह का उपदेश एवं अभ्यास करता रहा हूँ। सत्याग्रह के सिद्धान्त जैसा कि मैं आज इसे जानता हूँ, क्रमिक विकास का निर्माण करते है। सत्याग्रह का शब्द मैंने दक्षिणी अफ्रीका मे, उस शक्ति को प्रकट करने के लिए प्रचलित किया जिसका भारतीयों ने वहां पूरे ८ साल तक प्रयोग किया और सयुक्त राज्य एव दक्षिणी अफ्रीका में निष्क्रिय प्रतिरोध केनाम से चलनेवाले आन्दोलन से इसका भेद करने के लिए इस शब्द का निर्माण किया गया। इसका मूल अर्थ है "सत्य से चिपटे रहना" अर्थात् सत्य की शक्ति। मैंने इसे प्रेम-शक्ति या आत्मिक शक्ति भी कहा है। सत्याग्रह-प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मैंने यह अनुभव किया कि सत्य-मार्ग का अनुसरण विरोधी पर हिंसा प्रयोग की स्वीकृति नहीं देता परन्तु विरोधी को गलत रास्ते से छुड़ाकर ठीक रास्ते पर लाने की स्वीकृति देता है; और धैर्य का अभिप्राय है, आत्म-पीड़न। इस प्रकार इस सिद्धान्त का अर्थ हुआ सत्य की रक्षा, अपने विरोधी को पीड़ा पहुँचा कर नहीं, अपितु अपने को पीड़ा पहुँचा कर। सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का अस्त्र समझा जाता है और अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए भौतिक शक्तियां हिंसा के प्रयोग को न्याय ठहराता है, जबकि सत्याग्रह बलवानों का अस्त्र है और किसी भी रूप में हिंसा के प्रयोग को निषिद्ध ठहराता है।"

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) दोनों ही शत्रु के अत्याचारों का मुकाबला करना, सघर्ष सुलझाना और सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिये किये जाते हैं। इन दोनों में मुख्य कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि सत्याग्रह एक व्यापक अर्थ में प्रयोग किये जानेवाला शस्त्र है और निष्क्रिय प्रतिरोध उसका एक अंग ही है। सत्याग्रह यदि सत्य के लिये आग्रह करने को कहते हैं तो निष्क्रिय प्रतिरोध असत्य का विरोध करने के लिये प्रयुक्त होता है। किन्तु गांधीजी इन दोनो मे मौलिक अन्तर पाते हैं। उनके अनुसार—

(१) निष्क्रिय प्रतिरोध शीघ्र राजनीतिक परिवर्तन का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह नैतिकता का वह शस्त्र है जिसे आत्मशक्ति के बल पर सचालित किया जाता है।

(२) निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों और शक्तिहीनों का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह बलवानों का ही शस्त्र है जो बिना हानि पहुँचाये स्वयं हानि सहन करने के लिए प्रस्तुत रहते है।

(३) निष्क्रिय प्रतिरोध मे उद्देश्य-पूर्ति के लिये भौतिक शक्ति या हिंसा का प्रयोग न्यायोचित हो सकता है जबकि सत्याग्रह किसी भी रूप में हिंसा के प्रयोग को निषिद्ध ठहराता है।

(४) निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को लाचार बनाकर अपना उद्देश्य पूरा किया जाता है, जबकि सत्याग्रह आत्मशक्ति और प्रेम के आधार पर शत्रु के हृदय-परिवर्तन के लिये प्रयोगान्वित होता है।

(५) निष्क्रिय प्रतिरोध मे शत्रु के प्रति प्रेम का अभाव हो सकता है जबकि सत्याग्रह मे घृणा जैसी दूषित भावना का अस्तित्व भी नही होता।

(६) निष्क्रिय प्रतिरोध मे मजबूरी मे विरोधी के कार्यों को सहन किया जाता है और नकारात्मक कार्य किये जाते हैं जबकि सत्याग्रह मे प्रसन्नतापूर्वक अत्याचार सहन किया जाता है और सकारात्मक कार्य किये जाते है।

(७) निष्क्रिय प्रतिरोध मे व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धि जैसी कोई भावना नही होती और न ही इसमे नैतिक प्रयोग अनिवार्यत: निहित होते हैं, लेकिन सत्याग्रह मे आत्मशुद्धि के नैतिक प्रयत्न निहित हैं।

(८) निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग एक सीमित क्षेत्र म किया जाता है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग विश्व-व्यापी होता है।

स्पष्ट है कि सत्याग्रही प्रेम सत्याग्रह, आत्मशोधन और अहिंसा के साधनो से बुराई, अन्याय, असत्य और अवाछनीय का मुकाबला करते हैं। श्री एन० के० बोस के सुन्दर शब्दो मे 'सत्याग्रह और युद्ध का मुख्य अन्तर इस बात मे है कि जहा युद्ध का उद्देश्य दूसरो को शक्ति के प्रयोग (*Coercion*) द्वारा जीतना है वहा सत्याग्रह का उद्देश्य दूसरो का हृदय परिवर्तन (*Conversion*) है। युद्ध मे एक व्यक्ति दूसरे का चोट पहुचाता है, परन्तु सत्याग्रही स्वय त्याग व कष्ट सहन के लिए तैयार रहता है। सत्याग्रहियो का विश्वास है कि जिन मनुष्यो के हाथो मे शक्ति होती है उन्हे भी प्रेम और असहयोग द्वारा शक्ति छोडने के लिये विवश किया जा सकता है किन्तु इसके लिये सत्याग्रहियो को अधिकतम त्याग के लिये तत्पर रहना आवश्यक है। गाधीजी के मतानुसार मानवी जीवन को नियमित करनेवाला प्रेम' ही है। इसी बात मे पशु और मानव का अन्तर है। मनुष्य अपने पाशविक रूप मे हिंसक, परन्तु आध्यात्मिक रूप मे अहिंसक होता है। गान्धीजी का यह पक्का विश्वास था कि सत्याग्रह कभी असफल नही होता।"

सत्याग्रह एक आध्यात्मिक तरीका है जिसमे अपने अत्याचारियों के विरुद्ध कोई दुर्भाव न रखते हुए अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण किया जाता है और किसी भी परिस्थिति मे सत्य के प्रतिपादन से पीछे नहीं हटा जाता है। "जब डेनियल ने अपनी अन्तरात्मा को क्षुब्ध करनेवाले मीड और परसियन के नियमों का अनादर किया और अपनी अवज्ञा के दड को विनयपूर्वक सहा तब उसने शुद्धतम रूप मे सत्याग्रह किया था। सुकरात एथेन्स के युवको के आगे सत्य का प्रतिपादन करने मे जरा भी विचलित नहीं हुआ और उसने बहादुरी से मृत्यु का आलिंगन किया। इस दशा मे, वह एक सत्याग्रही था। प्रह्लाद ने अपने पिता के आदेशो को नहीं माना, क्योंकि वह

उन्हें अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध समझता था। उसने बिना किसी ननुनच के प्रसन्नतापूर्वक पिता के अत्याचारों को सहन किया। मीराबाई ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण करते हुए अपने पति को अप्रसन्न किया, वह उससे पृथक रहने में ही सन्तुष्ट थी और उसने बड़ी शांति एवं आत्मसमर्पण की भावना के साथ उन सब अत्याचारों को सहा जो उस पर पति की इच्छा को मनवाने के लिये किये गये थे। प्रह्लाद और मीराबाई दोनों ने सत्याग्रह किया। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि न तो डेनियल का, न सुकरात का, न प्रहलाद का और न मीराबाई का अपने अत्याचारियों के विरुद्ध कोई द्वेष-भाव था। डेनियल और सुकरात अपने राज्य के आदर्श नागरिक समझे जाते हैं, प्रहलाद एक आदर्श पुत्र और मीराबाई एक आदर्श पत्नी के रूप में सम्मानित की जाती हैं।

एक सत्याग्रही अपने विरोधी को कष्ट देने की शक्ति का मुकाबला अपने कष्ट सहने की शक्ति से करता है। गांधीजी ने इसे आत्मबल कहा है क्योंकि आत्मा के अस्तित्व और उसकी वास्तविकता में विश्वास सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र के प्रयोग की पहली शर्त है। वह कहा करते थे कि सत्याग्रही की यदि संघर्ष मे मृत्यु भी हो जाय तो भी उसका अन्त नहीं होता। बल्कि विरोधी को सत्य को देखने की सामर्थ्य देने के लिये कभी-कभी मरना आवश्यक हो जाता है। अत्याचारी के अन्तःकरणों को जागृत करने की इतनी शक्ति और किसी चीज में नहीं है जितनी कि सत्याग्रही को अपने उद्देश्य के लिये सहर्ष मरते हुए देखने में।

गांधीजी का कहना था कि सत्याग्रह का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है अपितु यह तो "पारिवारिक जीवन का राष्ट्रीय जीवन में विस्तारमात्र" है। पारिवारिक झगड़ों और मतभेदों को साधारणत प्रेम के नियम द्वारा सुलझाया जाता है। परिवार के पीड़ित सदस्य के हृदय में दूसरे सदस्यों के लिये इतना सम्मान होता हैकि वह अपने से मतभेद रखनेवालों से बिना प्रतिशोध लिये और बिना उन पर क्रुद्ध हुए ही कष्ट और आघात सहन कर लेता है। 'और क्योंकि क्रोध और आत्म-पीडन की भावना को दबाने की प्रक्रियायें बड़ी कठिन है अतः वह सामान्य बातों को सिद्धान्त का रूप नहीं देता अपितु समस्त क्षुद्र बातों में, शेष परिवार के साथ शीघ्र ही एकमत हो जाता है और इस प्रकार दूसरों की शान्ति को क्षुब्ध किये बिना वह अपने लिये अधिकतम शान्ति प्राप्त कर लेता है इस प्रकार उसकी क्रिया, चाहे वह प्रतिरोध करे या आत्मसमर्पण करे, हमेशा परिवार के सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिये होती है। यह प्रेम का नियम ही है जो मूक भाव से परन्तु निश्चित रूप से इस सभ्य संसार के बहुत बड़े भाग में परिवार पर शासन करता है।" गांधीजी की मान्यता है कि प्रेम और सत्य के बल पर, तथा अहिंसा का अमोघ अस्त्र धारण करके, अन्त में, सत्याग्रही विरोधी को अपने पक्ष में कर लेता है। गांधीजी का यह विश्वास और सत्याग्रह का यह मूल्यांकन कितना सही था इसका ज्वलंत प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि उन्होंने और उनके सत्याग्रही साथियों ने न केवल भारत के लिये स्वराज्य जीता, बल्कि उस प्रक्रिया में ब्रिटेन को भी जीत लिया। और इसी का यह सुपरिणाम है कि स्वतंत्रता के बाद भी कभी के शासक और शासित ये दो देश आज मित्र हैं। निस्सन्देह सत्याग्रह गांधीजी द्वारा आविष्कृत

वह विलक्षण शस्त्र है जिसे अपनाकर सदियों से पराधीन चलते आ रहे देश भी अपने विरोधियों का एक बूंद रक्त बहाये बिना ही स्वाधीनता का स्वर्णिम प्रभात देख सकते हैं।

सत्याग्रही विचार और व्यवहार के विभेद से बचते हुए आत्मानुशासन तथा लोकानुशासन से बंधा हुआ रहता है। जनता-जनार्दन की सेवा का आजीवन व्रत लेना सत्याग्रही का श्रेष्ठ संकल्प है। सत्याग्रह का उद्देश्य है विरोध का अन्त करना न कि विरोधी का। सत्याग्रही के सामने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श रहता है। लेकिन इस आदर्श की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि मनुष्य पहले अपने व्यक्तिगत जीवन में सत्याग्रह का पाठ पढ़े अर्थात् अहिंसा का पालन करें। जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में सत्याग्रहवादी और अहिंसावादी नहीं है वह सार्वजनिक विषयों में अहिंसावादी नहीं बन सकता। गांधीजी के शब्दों में "अहिंसा की वर्णमाला का सर्वोत्तम पाठ गृहरूपी पाठशाला में पढ़ा जाता है और मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि यदि हमें वहां सफलता प्राप्त हो जाती है तो निश्चित रूप से हम हर कहीं सफलता प्राप्त करेंगे। एक अहिंसावादी व्यक्ति के लिये सारा संसार ही परिवार है।

सत्याग्रह के सार्वजनिक प्रयोग में पहले यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने हृदय को टटोलकर देख ले और अपने ऊपर विजय प्राप्त करले। पूर्ण आत्मनिग्रह और आन्तरिक अनुशासन ही किसी व्यक्ति को इस सर्वाधिक शक्तिशाली शस्त्र का प्रयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। गांधीजी की दृढ़ मान्यता है कि आन्तरिक चरित्र के अभाव में यह निश्चित रूप से ही प्रभावहीन रहेगा। स्वयं गांधीजी ने त्याग और तपस्यामय जीवन बनाकर तथा अपनी आत्मा को जीत कर सत्याग्रह के शस्त्र का प्रयोग प्रारम्भ किया था। इस प्रकार सत्याग्रह कोई सरल मार्ग नहीं है यह तो खाड़े की धार पर चलने के समान है। जिस तरह युद्ध क्षेत्र में शत्रु से जूझने में पहले सैनिकों और उनके अधिकारियों को लम्बी और कठोर सैनिक ट्रेनिंग लेनी पड़ती है उसी प्रकार एक अहिंसात्मक युद्ध में भाग लेने से पूर्व जनता और जन नेताओं को भी आवश्यक ट्रेनिंग देनी चाहिये। गांधीजी के शब्दों में "इन्द्रिय निग्रह सरल जीवन तथा सत्य के प्रति निष्ठा के अतिरिक्त कानूनप्रियता इस ट्रेनिंग का एक आवश्यक अंग है। केवल कानून का पालन करने की कला में सिद्ध हस्त व्यक्ति ही कानून की अवज्ञा करने की कला जानता है। केवल वही व्यक्ति जो कि निर्माण करना भली प्रकार जानता है, नष्ट कर सकता है।'

सत्याग्रह स्वाश्रित है। इसका प्रयोग करने से पूर्व विरोधी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः, जब विरोधी प्रतिरोध करता है तो यह बहुत अधिक प्रकाशमान होता है। सत्याग्रही के संग्राम में मृत्यु मोक्ष होती है और कारागृह स्वतन्त्रता का द्वार। सत्याग्रही अपने विरोधी के सम्मुख अपना आध्यात्मिक व्यक्तित्व स्थापित करता है और उसके हृदय में यह भावना जागृत करता है कि वह बिना अपने व्यक्तित्व को हानि पहुंचाये उसे हानि नहीं पहुंचा सकता। इस प्रकार सत्याग्रह के कार्य का अन्तिम विश्लेषण 'आत्मानुभूति और सयोग' की कला द्वारा आगे बढ़ता है। 'इस तरह मनुष्यों के बीच के समुदायों के बीच के या राष्ट्रों के बीच के समस्त विरोधों को शान्त करने

के लिये केवल सत्याग्रह नाम के विशाल अस्त्र की खोज की गई है। इस शस्त्र के प्रयोग से सारे विरोध और सारे कलह भौतिक स्तर से ऊंचे उठकर आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाएगें, जहां नैतिक मापदण्डो के अनुसार उन विग्रहों को उच्चतम विचारों और आत्मिक बल के आधार पर सुलझाना सरल होगा। सत्याग्रह आत्माओं का मिलन करता है।"

सत्याग्रह की प्रविधि अथवा तकनीक (The Technique of Satyagrah)—सत्याग्रह की प्रविधि अथवा तकनीक सामूहिक काय के रूप में निम्न लिखित रूपों मे आ सकती है—

(१) असहयोग (Non-Co-operation)—गांधीजी की मान्यता थी कि अत्याचार और शोपण की प्रणाली इसीलिए पनप रही है क्योंकि लोग अज्ञानवश अथवा भाग्यवश अत्याचार और शोपण में प्रसन्नतापूर्वक या अनिच्छा से सहयोग देते है। यदि सभी मनुष्य पूर्णतः किसी अन्यायपूर्ण प्रणाली के साथ असहयोग करना आरम्भ करदे तो वह प्रणाली अन्त में समाप्त हो जायगी। गांधीजी के कथनानुसार, "बड़ी से बड़ी स्वेच्छाचारी सरकार भी शासितों की इच्छा और सहयाग के बिना खडी नहीं रह सकती परन्तु यह सहयाग स्वेच्छाचारी शासक बल द्वारा प्राप्त करता है। ज्योंही प्रजा उसकी स्वेच्छाचारी शक्ति से डरना बन्द कर देती है त्योंही स्वेच्छाचारी की शक्ति का अन्त हो जाता है। जो बात सरकार के विपय में सत्य है वही बात दूसरे शोषक समुदायों और समूहो पर लागू होती है। बुराई के साथ असहयोग स्वय सत्याग्रही की आत्म-शुद्धि करता है और बुराई एव पश्चाताप न करनेवाली संस्थाओ से जो कि स्वय बुराईयों का पुंज होती है, सहयोग वापिस ले लेता है।"

सत्याग्रही असहयोग आन्दोलन के बढ़ाने में हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और घरना—ये अहिंसात्मक उपाय बड़े सहयोगी हैं। हड़ताल का उद्देश्य कार्य को बन्द करके जनता, सरकार और सम्बन्धित सस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना है। लेकिन हड़ताल के विपय मे यह आवश्यक है कि प्रथम तो हड़तालें जल्दी जल्दी न हो अन्यथा उनका प्रभाव समाप्त हो जायगा; और द्वितीय वे पूर्णतः स्वेच्छापूर्वक प्रेमपूर्ण व्यवहार का परिणाम और अहिंसात्मक प्रचार का परिणाम होना चाहिये। सामाजिक बहिष्कार (*Social Boycott*) का अभिप्राय समाज के उन कलंकी लोगों का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और जनमत से सहयोग नहीं करते। गांधीजी यह अनुभव करते थे कि "सामाजिक जीवन में कुछ सीमा तक बहिष्कार न करना असम्भव है, लकिन यह बहुत ही सीमित मात्रा तक प्रयोग में लाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि 'किसी व्यक्ति को आवश्यक समाज-सेवाओं से वंचित कर दिया जाय अथवा अनादर और गालियों से उसके जीवन को असह्य बना दिया जाय।" इसका अर्थ तो हिंसा और दबाव होगा। गाधीजी घरने (*Picketing*) में भी दबाव को निन्दनीय समझते थे। उनका कहना था कि घरना समझाने-बुझानेवाला होना चाहिये। उन्होने बैठकर घरना देने को अत्याचार, जंगलीपन और हिंसा का एक रूप बताया। वे घरने के इस रूप से भी सहमत थे कि घरना देने के स्थल पर

पुरुष 'एक दीवार बनकर' खडे हो जाय ताकि कोई मनुष्य उस स्थान पर नहीं जा सके। गाधीजी का कहना था कि धरना प्रत्येक परिस्थिति मे अहिंसक और शातिपूर्ण होना चाहिए। इसका उद्देश्य किसी उस मनुष्य के मार्ग को रोकना नही है जो किसी विशेष कार्य को करना चाहता है बल्कि उसका उद्देश्य जन-निन्दा द्वारा समाज के कलंकियो (*Black legs*) को लज्जित करना और सचेत करना है। धरना दबाव, धमकी, पुतले जलाने, भूख हड़ताल आदि से रहित होना चाहिये।

(२) सविनय-अवज्ञा (Civil Disobedience)—गाधीजी के शब्दो मे 'सविनय-अवज्ञा' "सबसे अधिक प्रभावशाली और सशस्त्र क्रान्ति का रक्तहीन रूप" है। यह असहयोग की अन्तिम सीढी और उसका सर्वाधिक भयावह रूप है जिसका उद्देश्य "अनैतिक नियमो" को तोडना है। यह "प्रतिरोधी के विद्रोह को असैनिक अर्थात् अहिंसात्मक ढग से प्रकट करता है।" सविनय अवज्ञा आन्दोलन किसी भी रूप मे हिंसापूर्ण एव सैनिक नही होना चाहिये, इसीलिए 'असहयोग' की अपेक्षा 'सविनय' पर अधिक बल देते हुए गाधीजी ने आग्रह किया था कि "सविनय अवज्ञा हृदय से आदरपूर्ण एव सयत होनी चाहिये और कुछ अच्छे सिद्धान्तो पर आधारित होनी चाहिये तथा इसके पीछे घृणा और शत्रुता की कोई भावना नही होनी चाहिये।" यह एक सबसे अधिक शक्तिशाली और उग्र उपचार है, अतः इसे अत्यन्त सावधानीपूर्वक और यथासम्भव कम से कम प्रयोग मे लाना चाहिये, साथ ही इसका क्षेत्र भी आवश्यकता तक सीमित रखना चाहिए। सविनय अवज्ञा का प्रयोग प्रत्येक सम्भव रीति से रक्षित होना चाहिये। इसका प्रयोग करते समय गुण पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिये, अतः यह आवश्यक है कि सभी सत्याग्रही इसका तुरन्त प्रयोग न करें बल्कि प्रारम्भ मे कुछ ऐसे चुने हुए लोग ही आगे बढ़ें जो यह निर्णय कर सकते हो कि कौनसे नियम तोड़े जाने चाहिये और कौन से नही। गाधीजी के अनुसार ऐसा निश्चय या तो नेता या योग्य सत्याग्रहियो की एक केन्द्रीय समिति ही कर सकती है।

(३) हिजरत (Hijrat)—स्थाई निवास स्थान से दूसरी जगह चले जाना हिजरत कहलाता है। गाधीजी ने इस तरह गृह त्याग की सलाह उन लोगो को दी "जो लोग अत्यन्त दुःख अनुभव करते हैं, और एक स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नही रह सकते और उनमे उस शक्ति की कमी है जो सच्ची, अहिंसा से प्राप्त होती है अथवा जो हिंसापूर्ण ढग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं।" सन् १९२८ मे उन्होने बारदोली से सत्याग्रहियो को तथा १९०९ मे लिम्बडी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ के सत्याग्रहियो को गृह त्याग की सम्मति दी थी। सन् १९३५ मे कैथा हरिजनों को अपना घर छोड़ने की सलाह इसीलिए दी गई थी क्योंकि सवर्ण हिन्दुओं ने नियमित रूप से आतंक फैलाकर उनमे अत्यन्त भय पैदा कर दिया था।

(४) उपवास (Fasting)—'उपवास' सत्याग्रह का सबसे शक्तिशाली रूप है जिसे गाधीजी ने 'अग्निबाण' कह कर पुकारा है। उनका कहना था कि इस धार्मिक व्रत को उन्होने विज्ञान के रूप में परिणत कर दिया है।

गांधीजी ने प्रारम्भ में उपवास का प्रयोग केवल अपनी आत्मा की शुद्धि और अपनी भूलों के प्रायश्चित के लिये किया, किन्तु बाद में उन्होंने इसे सार्वजनिक जीवन की शुद्धि के लिए भी अपनाया। इस प्रकार उपवास वैयक्तिक साधन से सामाजिक साधन बन गया। गांधीजी की मान्यता थी कि सार्वजनिक उपवास जनता की आत्मशक्ति या मनोबल में वृद्धि करता है, पिछली भूलों के प्रति सावधान करता है, किसी अन्याय या अत्याचार का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने में अत्यधिक सक्षम है और विपथगामी लोगों में सद्भावना का संचार कर सकता है। वह इसे अन्तिम साधन मानते थे, अर्थात् मनुष्य के जब सब प्रयत्न विफल हो जायें तो ईश्वर द्वारा सहायता प्राप्त करने का उपाय उपवास है। १३ जनवरी, १९४८ को किये गये उपवास के समय उन्होंने कहा था 'मानव-प्रयत्न के रूप मेरे में सारे साधन समाप्त हो गये........तब मैंने अपना सिर ईश्वर की गोद में रख दिया।........ईश्वर ने मेरे लिए उपवास भेजा।........मेरा उपवास आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है और इसका अभिप्राय उन सबको आत्म-शुद्धि की इस प्रक्रिया में भाग लेने को आमन्त्रित करना है, जिनकी इस उपवास के उद्देश्य से सहानुभूति हो।" गांधीजी ने इस उपवास पद्धति में भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान में आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। अनेक अवसरों पर उन्होंने अपने उपवासों से निर्मम शासकों या उत्तेजित जनता का हृदय परिवर्तन किया। गांधीजी ने यह आग्रह किया कि उपवास के शस्त्र को बहुत कम प्रयोग में लाना चाहिये और इसे केवल वही प्रयोग में ला सकता है जो इसमें प्रवीण हो, या यह एक प्रवीण पुरुष की देख-रेख में किया जाय। उनके मतानुसार यह पहले से ही मान लिया जाता है कि उपवासकर्ता में आध्यात्मिक बल है और उसका मस्तिष्क श्रेष्ठ है। उपवास के लिये बहुत उच्चकोटि की पवित्रता, आत्मसंयम, नम्रता और अटल विश्वास आवश्यक है। शुद्ध भाव से किये गये उपवास में विपक्षी पर दबाव नहीं डाला जाता। यह विपक्षी को विवश करने या बाध्य करने की अपेक्षा उसके हृदय को जगाने की प्रणाली है, उसकी बुद्धि में सद्प्रवृत्ति उत्पन्न करने की रीति है। उपवास में विपक्षी को कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहन किया जाता है। सत्य-रूपी ईश्वर विपक्षी के हृदय में भी होता है। आत्म-पीड़न विपक्षी के इसी ईश्वर या सत्य को जाग्रत करता है, और वह न्याय तथा सत्य के पथ पर आ जाता है। यदि कोई उपवास स्वार्थ के लिये या अनुचित और असत् उद्देश्यों के लिये किया जाता है तो वह दबाव भी है और हिंसा भी। ऐसे उपवास न तो उपवास है और न इनके सामने झुकना ही चाहिये। जब उपवास उचित ढंग से संगठित होता है तो गिरी हुई आत्माओं में भी खलबली मचा देता है और प्रेमी हृदयों को कार्य करने के लिये उद्यत कर देता है। गांधीजी उपवास में सामाजिक सम्बन्ध को अत्यन्त महत्व देते हुए यह मत प्रकट करते हैं कि अन्याय या अनैतिक कार्य के विरुद्ध उपवास करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि अन्याय जानबूझकर हुआ है या अनजाने। अनजाने में हुए अपराध क्षम्य हैं। वास्तव में अन्याय और अनैतिकता के निराकरण का उपवास अन्तिम अहिंसक अस्त्र है।

(५) हड़ताल (Strike)—हड़तालों के विषय में गांधीजी के

गाधीजी ने आक्रमणकारी फोजो की प्रगति को रोकने की 'सर्वक्षार-नीति' (*Scorched Earth Policy*) को भी दृढतापूर्वक अस्वीकार करते हुए अपना यह मत रखा कि किसी कुए को विषैला कर देना या उसे भर देना कोई वीरता की बात नहीं है। इसमे कोई बलिदान भी नहीं है क्योकि बलिदान का मुख्य आशय तो पवित्रता होना है।

वास्तव मे हिंसात्मक युद्ध मे और योद्धाओ मे साहस, कार्यशक्ति लक्ष्य के प्रति श्रद्धा, अनुशासन, कष्ट सहिष्णुता, परस्पर एकता, शक्ति की मितव्ययिता, सुरक्षितता, शीघ्र सचालकता आदि के जो सद्गुण होते हैं वे सभी अहिंसात्मक प्रतिरोध मे सन्निहित हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोध भी युद्ध का एक वह सिद्धात है कि तुम आक्रमणकारी या हिंसक के विरुद्ध एक ऐसे अपरिचित मार्ग से आक्रमण करो कि वह हक्का बक्का हो जाय और शिकस्त खा जाये। अहिंसात्मक प्रतिरोधी सरक्षणात्मक मार्ग से आक्रमणकारी को हटाने का यत्न करता है, किन्तु अपनी मानसिक शक्तियो के प्रयोग से वह उस पर एक ऐसा निरन्तर 'आक्रमण' करता रहता है जिसमे अन्तिम विजय उसी की ही होती है। अहिंसात्मक प्रतिरोध और युद्ध मे बहुत ही समानतायें हैं। किन्तु फिर भी पहला हर दृष्टि से दूसरे से श्रेष्ठ है। अहिंसा के प्रतिरोध से जनता के उद्योग धधो तथा कृषि कार्य मे बाधा नहीं पहुचती। इसका परिणाम युद्ध से अधिक पूर्ण होता है क्योकि इससे अधिक पूर्ण शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके परिणाम की पूर्णता और स्थायित्व को देखकर कहा जा सकता है कि इस मार्ग से सफलता युद्ध के समान ही या उससे भी अधिक शीघ्रता से मिलती है। यह एक ऐसा साधन है जिसका प्रयोग बडे और छोटे राष्ट्र, बडे या छोटे समूह आर्थिक दृष्टि से बलवान और कमजोर लोग पृथक पृथक व्यक्ति भी कर सकते हैं। इसके द्वारा दोनो पक्षो और तटस्थो को सत्य की खोज करनी पडती है जबकि युद्ध दोनो पक्षो और तटस्थों को सत्य के प्रति अधा बना देता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध से सबकी हानियां, यदि होती, ही हो तो कम होती हैं। तो, क्या यह ईमानदारी से नही कहा जा सकता कि अहिंसात्मक प्रतिरोध युद्ध का सफल पर्याय है। पुनश्च एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि सत्याग्रह मे सख्या का महत्व नहीं होता और सफलता बहुमत के कारण नहीं, अपितु अल्पमत के कारण होती है, भौतिक दृष्टि से बलवान व्यक्तियो के कारण नही बल्कि नैतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्तियो के कारण होती है। युद्ध का अभिप्राय अनन्त भौतिक तत्वो द्वारा राष्ट्रों को जकड देना है जबकि एक अहिंसक युद्ध का स्वभावत अभिप्राय यह होगा कि मानवीय विचारों और भावनाओ को उनके उद्वेगात्मक तत्वो को उत्तेजित करके उदबद्ध किया जाय।

गान्धीजी के राजनीतिक व आर्थिक विचार
(Political and Economic Ideas of Gandhi)

(क) गान्धीजी का अहिंसा मक समाज (The Non violent society)—गान्धीजी राजनीतिज्ञो मे महात्मा और महात्माओ मे राजनीतिज्ञ थ। अपनी गहन धार्मिक और आध्यात्मिक बुनियादो पर वे उस नवीन अहिंसात्मक समाज का महल खडा करना चाहते थे जिसका न कभी उन्होने

कोई प्रत्यक्ष सुझाव दिया था और न जिसके विवरण के बारे में वे वाद-विवाद करने के पक्ष में ही थे। गांधीजी उन लोगों में से थे जो संसार की दैविक व्यवस्था में विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि उस परमेश्वर की इच्छा के बिना एक तिनका भी नहीं हिल सकता। गान्धीजी यह मानकर चलते थे कि वे ईश्वर का एक यंत्र मात्र हैं और उसकी इच्छा का ही पालन कर रहे हैं। अतः जो मंजिल, जो इच्छा ईश्वर की इच्छानुरूप पूर्ण की जानी हो, उसके बारे में वे निश्चित घोषणा कर भी कैसे सकते थे। कार्डिनल न्यूमैन के शब्दों में, उनका यह कहना था—"मैं दूरस्थ लक्ष्य को देखने की कामना नहीं करता; मेरे लिये तो एक कदम काफी है।" निःसन्देह कुछ व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के मद में गांधीजी के इस प्रकार के रहस्यात्मक दृष्टिकोण और तर्क का उपहास उड़ाते थे, लेकिन उन्हें गांधीजी का यह स्पष्ट और ठोस उत्तर था कि जिस सत्याग्रह आन्दोलन का वे संचालन कर रहे हैं उसका स्वरूप प्रयोगात्मक है, अतः नवीन समाज की रूपरेखा के बारे में कोई भी निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वस्तुतः गांधीजी भविष्य की अपेक्षा वर्तमान के विषय में अधिक सोचते थे। उनकी तत्कालीन चिन्ता भारत को अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराना था, और सत्याग्रह का विज्ञान अभी पूर्ण नहीं हुआ था प्रत्युत् प्रयोग की अवस्था में था। इस स्थिति में उनका यह कहना उचित था कि—

"अहिंसा पर आधारित एक समाज में सरकार की रूपरेखा क्या होगी उसकी मैं जानबूझकर चर्चा नहीं कर रहा हूँ।....जब समाज का निर्माण अहिंसा के नियम के अनुसार किया जायगा तो उसका स्वरूप आज के समाज से मूलरूप में भिन्न होगा, किन्तु मैं पहले से ही यह नहीं कह सकता कि पूर्ण रूप से अहिंसा पर आधारित सरकार कैसी होगी।"[1]

गांधीजी इस बात को उचित समझते थे कि अहिंसात्मक समाज शासन के विवरण के विषय में जनता स्वयं अपने नैतिक स्तर और अपने अधिमान के अनुसार निश्चय करे। भविष्य की अवस्थाओं के राजकीय रूप का विवरण देना उन्हें असामयिक और अवैज्ञानिक प्रतीत होता था। गांधीजी का ऐसा करना तत्कालीन स्थितियों में एक बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था। यदि वह संविधान-निर्मात्री परिषद की कार्यवाही में भाग लेते तो उसके सदस्यों को अपने साथ नहीं ले जा सकते थे क्योंकि उनमें बहुत कम व्यक्तियों का अहिंसा में सजीव विश्वास था और उनकी आवाज परिषद् में सम्भवतः नक्कारखाने में तूती की आवाज होती।

गांधीजी की सत्याग्रह की कला में रचनात्मक और विध्वंसकारी (शुभ अर्थ में) दोनों रूप सम्मिलित थे। एक तरफ सत्याग्रह राजनीतिक एवं दलीय विवादों को तय करने के लिए अहिंसात्मक युद्ध था और दूसरी तरफ वह आन्तरिक संघर्षों और विवादों को यदि पूर्णतः समाप्त करने के लिए नहीं तो एक बड़ी सीमा तक कम करने के लिए एक रचनात्मक कार्यक्रम था।

---

1. Quoted by *G. N. Dhawan* in 'The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.', Page 315

गांधीजी का अहिंसात्मक प्रत्यक्ष संघर्ष का रचनात्मक दृष्टिकोण उनके उस अहिंसात्मक समाज के विषय मे, जिसकी रचना वह करना चाहते थे, सीधा संकेत करता है। 'हिन्द स्वराज्य' और उनके व्याख्यानों तथा लेखों के बिखरे अंश उनके विचार के आदर्श सामाजिक संगठन के बारे मे पर्याप्त सामग्री उपस्थित करते हैं।

गांधीजी के राज्य के प्रति दृष्टिकोण और अहिंसात्मक समाज के प्रति विचार को हम सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत कर सकते हैं।

(१) राज्य के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards the State)—गांधीजी के राज्य सम्बन्धी विचार दार्शनिक अराजकतावादी जैसे थे। टालस्टॉय के विचारों की एक प्रतिच्छाया उनके राजनीतिक विचारों पर गम्भीर रूप से देखी जा सकती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके मतानुसार राज्य एक अनावश्यक दुर्गुण (*Unnecessary evil*) है जो मानव जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। वह राज्य को अनावश्यक ही नहीं प्रत्युत् आर्थिक, ऐतिहासिक और नैतिक सभी दृष्टियों से निरर्थक व निःस्सार सिद्ध करते हैं। राजनीतिक चश्मे से देखने के कारण गांधीजी चाहते थे कि मनुष्य के सारे कार्य स्वतः और स्वेच्छा से किये जाने चाहिए किन्तु राज्य एक ऐसी संस्था है जो इस मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा है।

अराजकतावादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हुए राज्य के विरोध मे गांधीजी का पहला तर्क यह था कि राज्य का मूल हिंसा है। राज्य एक ऐसी संस्था है जो मनुष्य के नित्य प्रति के जीवन मे उस पर बल का प्रयोग कर दबाव डालती है। इसकी जड़े हिंसा मे गड़ी हुई हैं जिसके कारण यह बेचारे गरीबों का शोषण करती है और अपने नागरिकों की नैतिकता का हनन करता है। उनके अपने शब्दों मे—'राज्य एक केन्द्रित तथा व्यवस्थित रूप से हिंसा का प्रतिनिधि है। *व्यक्ति एक सचेतन आत्मवान प्राणी है* किन्तु राज्य एक आत्माहीन यन्त्र है जिसे हिंसा से पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है।' गांधीजी का कहना था कि राज्य द्वारा पुलिस, न्यायालय और सैनिक शक्ति के *माध्यम* से *व्यक्तियों* पर अपनी इच्छा थोपी जाती है। जिस सीमा तक राज्य एक केन्द्रीकृत संस्था है, उस सीमा तक राज्य का आधार निश्चित रूप से हिंसा का ही है क्योंकि केन्द्रीकरण की पर्याप्त शक्ति के अभाव मे न राज्य अब तक *कायम रह* पाता और न आगे उसे स्थाई ही रखा जा सकता है। आधुनिक राज्य प्राचीन और मध्यकालीन राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न इसीलिए है क्योंकि आज यह उनकी अपेक्षा अधिक केन्द्रीकृत है। यह एक तथ्य है कि राज्य का जितना अधिक केन्द्रीकरण होगा, शक्ति पर उसकी उतनी ही निर्भरता बढ़ेगी। सोवियत राज्य, अमेरिकन और ब्रिटिश राज्य से अधिक केन्द्रीकृत इसीलिए है क्योंकि यह उनकी अपेक्षा पशु-बल पर अधिक भरोसा रखता है। गांधीजी की यह मान्यता थी कि हिंसा मे शोषण का निश्चित रूप से निवास रहता है, चाहे राज्य का कोई प्रजातांत्रिक स्वरूप क्यों न हो।

राज्य के विरोध मे गांधीजी का दूसरा तर्क यह था कि राज्य एक

बाध्यकारी शक्ति है जो मानव-व्यक्तित्व के विकास को कुंठित करती है और उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके व्यक्तित्व के लिये निश्चित रूप से घातक है। उनका कहना था कि मानव को अपने आध्यात्मिक विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है लेकिन राज्य दण्ड शक्ति के बल पर इस स्वतंत्रता को सीमित कर देता है। सन् १९३४ में उन्होंने एक भेंट के अवसर पर इस विषय में अपने ये उद्गार प्रकट किये थे:—

"मैं राज्य की शक्ति में किसी भी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूं। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण को कम करने में जनहित कर रहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि यह समस्त प्रकृति के मूल व्यक्तित्व का विनाश करके मनुष्य मात्र को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है।"[1]

गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य आज्ञा करता है और जब कोई आज्ञा दी जाती है तो वह आज्ञा अपने साथ व्यक्ति के कार्य का नैतिक मूल्य नहीं रख सकती। एक कार्य तभी तक नैतिक है जब तक कि वह स्वेच्छापूर्ण है और "कोई भी वह कार्य जो स्वेच्छापूर्ण नहीं है नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम यन्त्रों की भांति कार्य करते हैं, उस समय तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। वही कार्य नैतिक है जो जान-बूझकर और कर्तव्य समझकर किया गया हो।"[2] राज्य की बाध्यकारी शक्ति की उपस्थिति में स्वेच्छापूर्ण और नैतिक कार्यों का सम्पादन नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के तरस्कार में गांधीजी की स्थिति प्राय: वैसी है जैसी कि प्रोधाँ, बैकुनिन तथा क्रोपोटकिन जैसे पश्चिमी अराजकतावादियों की। गांधीजी पूंजीवाद के विरोधी हैं किन्तु राज्य का उनका विरोध इसलिए नहीं है कि उसका पूंजीवाद से घनिष्ट सम्बन्ध है, प्रत्युत इसलिए है कि राज्य नैतिकता विरोधी है। गांधीजी के लिए सर्वाधिक मूल्य व्यक्ति का है और जो चीज व्यक्ति के विकास में बाधक हो वह त्याज्य है। राज्य में चोटी पर कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ में शक्ति का केन्द्रित हो जाना बड़ा खतरनाक है क्योंकि शक्ति के दुरुपयोग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन किये जाने के अवसर सदा विद्यमान रहते हैं।

राज्य के विरोध में गांधीजी का तीसरा तर्क यह था कि अहिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि बैकुनिन, क्रोपोटकिन और अन्य अराजकतावादी भी राज्य को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझते हैं और उसका खण्डन करते हैं, लेकिन उनके ऐसा करने का कारण गांधीजी से बहुत भिन्न है। क्रोपोटकिन राज्य को इसलिए अनावश्यक मानते है क्योंकि राज्य को वर्तमान में जो भी कार्य करने पड़ते हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे ऐच्छिक समुदाय न कर सकते हों। इसके विपरीत गांधीजी की युक्ति नैतिकप्रधान है। उनके अनुसार राज्य का प्रथम

1. Quoted by *N. K. Bose* in 'Studies in Gandhism', Page 67
2. Gandhiji's 'Ethical Religion', Page 40

कार्य सामाजिक आचरण को अनुशासित करना है। २ जुलाई सन् १९३१ के 'यङ्ग इण्डिया' म उन्होंने लिखा था—

मेरे लिये राजनीतिक शक्ति कोई ध्येय नहीं है, परन्तु जनता के लिये एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह जीवन के प्रत्येक विभाग मे अपनी दशा सुधार सके। राजनीतिक शक्ति का अर्थ राष्ट्रीय प्रतिनिधियो द्वारा राष्ट्रीय जीवन को विनियमित करने की क्षमता से है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि वह स्वय ही विनियमित अर्थात् आत्म अनुशासित होने लगे तो किसी प्रतिनिधित्व का कोई आवश्यकता न होगी। तब वह एक ज्ञानमय अराजकता (*Enlightened Anarchy*) की स्थिति होगी। ऐसी अवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक है। वह अपने ऊपर इस प्रकार शासन करता है जिससे कि वह अपने पडोसी के लिये कोई बाधा न बनें। अत, एक आदर्श अवस्था मे कोई राजनीतिक सत्ता न होगी, क्योकि उसमे कोई राज्य नही होगा।"

गाधीजी के उपरोक्त अवतरण से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्त पर अपने जीवन का सचालन करते हैं वे व्यक्तिगत स्वराज्य अथवा आन्तरिक स्वतत्रता प्राप्त कर लेते हैं। उन व्यक्तियो मे आत्मसयम इस सीमा तक आ जाता है कि अपने सामाजिक कर्त्तव्यो का पालन करने का उनका स्वाभाविक स्वभाव बन जाता है। इस स्थिति मे उनके सामाजिक आचरण का अनुशासित करने के लिये किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। चूकि राजनीतिक शक्ति का प्रधान कार्य सामाजिक आचरण का आत्मानुशासित अथवा विनियमित करना है और अहिंसात्मक आदर्श समाज म व्यक्तियो के सयमित जीवन से इस लक्ष्य की स्वत प्राप्ति हो जाती है, अत राज्य की ऐसे समाज मे कोई आवश्यकता नहीं रहती। यहा यह उल्लेखनीय है कि गाधीजी राज्य को एक अनावश्यक बुराई समझकर इसको तिरस्कृत इसलिये करते थे क्योकि उनको यह धारणा थी कि मनुष्य मूलत एक आध्यात्मिक प्राणी है जिसका वास्तविक स्वभाव स्वतत्रता है। ग्रीन की भाति उनका भी विश्वास था कि मानव आत्मा स्वतन्त्रता चाहती है। लेकिन जहा ग्रीन का विश्वास था कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है वहा गाधीजी के अनुसार सच्ची स्वतत्रता का अर्थ था पूर्ण आत्मानुशासन और आत्मसयम अथवा आन्तरिक स्वराज्य, जो केवल ज्ञानमय अराजकता की स्थिति मे ही किया जा सकता है। गाधीजी की यह मान्यता थी कि आवश्यक रूप मे राज्यहीन अहिंसात्मक समाज म ही सच्ची स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का होना सभव है।

इसके पहले कि गाधीजी के राज्य-सम्बन्धी विचारों पर और आगे प्रकाश डाला जाय यह उचित होगा कि हम पहले गाधीजी के उपरोक्त बहुचर्चित अहिंसात्मक राज्यहीन आदर्श समाज की रूपरेखा पर दृष्टिपात करलें। गाधीजी ही के शब्दो मे—

ऐसा समाज असख्य गावो का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढग का नही बल्कि लहरो की तरह एक के बाद एक के रूप

में होगा। जीवन एक मीनार की शक्ल में नहीं होगा, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा रहना पड़ता है। उसमें तो समुद्र की लहरों की तरह जीवन एक के-बाद एक घेरे की शक्ल में होगा और व्यक्ति इनका केन्द्र होगा। यह व्यक्ति सदा गांव के लिये मिटने को तैयार रहेगा, और ग्राम-समूह के लिए मिटने को तैयार रहेगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो मगरूर बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, लेकिन हमेशा नम्र रहते हैं और अपने समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे अभिन्न अंग हैं। इसलिये सबसे बाहर का घेरा अपनी सत्ता और शक्ति का उपयोग भीतरी घेरे को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उसके भीतर के सब लोगों को बल देगा और स्वयं उनसे बल ग्रहण करेगा।..............इस समाज में आखिरी व्यक्ति पहले व्यक्ति के बराबर होगा, या दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी व्यक्ति न पहला होगा, न आखिरी। इस चित्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिये पूरा और बराबर का स्थान है। हम सब एक शानदार पेड़ के पत्ते हैं, जिसका तना जड़ से नहीं हिलाया जा सकता, क्योंकि जड़ें पृथ्वी के गर्भ में गहरी चली गई हैं। जबरदस्त से जबरदस्त आंधी भी उसे हिला नहीं सकती।"

गांधीजी की सामाजिक व्यवस्था में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श की प्राप्ति हो जायगी। चूंकि इस सामाजिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता व्यक्ति की स्वतंत्रता होगी, अतः इसे लोकतंत्र का आदर्श रूप कहा जा सकता है। गांधीजी का विश्वास था कि स्वाधीनता नीचे से आरम्भ होनी चाहिये। इसीलिये उन्होंने अपने आदर्श समाज में यह व्यवस्था दी कि प्रत्येक गांव एक प्रजातंत्र या पंचायत होगा, जिसे पूरी सत्ता होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी और अपना प्रबन्ध आप कर लेने लायक बनना होगा, यहां तक कि वह सारे संसार से अपनी रक्षा कर सके। उसे बाहर के किसी हमले से अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में मर-मिटने की शिक्षा दी जाएगी और उसे तैयार किया जायगा। इस प्रकार अंत में व्यक्ति की ही इकाई होगी। इस स्वाधीन समाज में पड़ोसियों से या संसार से स्वेच्छापूर्वक सहायता लेनी या उन पर निर्भर रहने का बहिष्कार नहीं होता। दोनों ओर शक्तियों का मुक्त और स्वेच्छापूर्ण आदान-प्रदान होगा।" ऐसा समाज अवश्य ही उत्तम संस्कृति और सभ्यतावाला होगा, क्योंकि उसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष यह जानेगा कि उसे क्या चाहिये; और इससे भी अधिक वह यह जानेगा कि किसी को ऐसी चीज की इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो दूसरों को समान श्रम से न मिल सकती हो।"

गांधीजी के आदर्श समाज में ग्राम यद्यपि स्वायत्त शासन और स्वतंत्र तथा न्यूनाधिक आत्म-निर्भर होंगे, तथापि इसका यह आशय नहीं है कि वे एक दूसरे से अलग-अलग होंगे अथवा वे एक प्रकार के ढीले-ढाले संघ में संगठित होंगे। संघ का आधार शक्ति न होकर नैतिक होगा और संघ के पास कोई पुलिस या सेना की शक्ति नहीं होगी। यह समाज विकेन्द्रित होगा जिसमें जीवन सरल और सभ्यता ग्रामीण होगी, नागरिक नहीं। इस अहिंसात्मक समाज का जो सामाजिक-आर्थिक ढांचा होगा वह आज के राज्य से बहुत भिन्न होगा। उसमें बड़े-बड़े नगरों, पुलिस, कानूनी न्यायालयों, जेल, भारी उद्योग और संवाद-

वहन के लिये कोई स्थान नहीं होगा। यह अहिंसात्मक समाज सरकार से मुक्त होगा, क्योंकि अहिंसा के सिद्धान्त का पूर्ण पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं बन जायगा और स्वतः अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

प्रश्न उठता है कि क्या गांधीजी द्वारा विचारित पूर्ण अहिंसात्मक और राज्यहीन समाज की स्थापना इस धरती पर की जा सकती है? गांधीजी स्वयं एक यथार्थवादी विचारक थे न कि स्वप्नलोक में विचरनेवाले। वे जगत की वास्तविकताओं का सदाध्यान रखते थे। इस सम्बन्ध में भी उन्हें आदर्श के साथ-साथ यथार्थ का भी ध्यान था। वे यह मानते थे कि वास्तविक मानव-जीवन में पूर्ण अराजकता की व्यवस्था स्थापित होना संभव नहीं है। तथापि इस व्यंग को भी वह दृढ़ता से अस्वीकार करते थे कि आदर्श समाज का उनका चित्र एक ख्याली पुलाव है और इसलिये किंचित भी विचारणीय नहीं है। उन्होंने बड़े आत्मविश्वास से भरे शब्दों में घोषणा की थी और एक इच्छा प्रकट की थी कि—

"यदि युक्लिड की परिभाषावाले बिन्दु का किसी भी व्यक्ति द्वारा चित्रित न किये जा सकने पर भी अविनाशी मूल्य रहा है, तो मेरा चित्र भी मानव जाति के जीवित रहने के लिये अपना मूल्य रखता है। यह चित्र पूरी तरह तो कभी सिद्ध नहीं होगा, फिर भी हिन्दुस्तान को इस सच्चे चित्र के लिये जीना चाहिये। इस तक पहुंचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिये। हमें क्या चाहिये, इसके लिये हमारे पास ठीक चित्र होना चाहिये तभी हम उससे मिलती-जुलती कोई वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के प्रत्येक गांव में कभी प्रजातंत्र या पंचायती राज्य कायम हुआ, तो मेरा दावा है कि मैं अपने इस चित्र की सचाई साबित कर सकूंगा, जिसमें आखिरी व्यक्ति पहले व्यक्ति के बराबर होगा या दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी व्यक्ति न पहला होगा, न आखिरी।"

गांधीजी यह जानते थे कि आधुनिक समय में समाज के समस्त सदस्यों से पूर्ण आदर्श नैतिकता को प्राप्त कर लेने की आशा करना अत्यन्त दुष्कर और अयथार्थ है, अतः उन्होंने प्लेटो के समान ही मानव-दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए 'द्वितीय सर्वोत्तम राज्य' की स्थिति प्रस्तुत कर दी अर्थात् यह स्वीकार कर लिया कि अपूर्ण मनुष्यों के अपूर्ण संसार में एक प्रधान रूप से अहिंसात्मक राज्य तो संभव हो सकता है, किन्तु पूर्णरूपेण अहिंसात्मक राज्यहीन समाज नहीं। उन्होंने यह मान लिया कि समाज में मानव के सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिये एक प्रकार की सरकार अथवा राजनीतिक सत्ता अवश्य होनी चाहिये बशर्ते कि वह शासन कम से कम करे। थोरो (*Thoreau*) की भांति उनका दृढ़ विश्वास था कि 'वही सरकार सर्वोत्तम है जो सबसे कम शासन करती हो" (*That Go ernment is the best which governs the least*)। गांधीजी मनुष्य के स्वावलम्बी जीवन के समर्थक थे और चाहते थे कि राज्य अपने कार्य कम से कम क्षेत्रों तक सीमित करे। इस तरह कहना चाहिये कि उनका अहिंसात्मक लोकराज्य एक पूर्णरूपेण अहिंसात्मक तथा राज्यहीन समाज के अप्राप्त आदर्श तथा हिंसा से पूर्ण और

व्यक्ति का दमन करनेवाले वर्तमान राज्य के बीच एक समझौता है। "एक अहिंसात्मक लोकतंत्र से गांधीजी का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें जन इच्छा से स्वतंत्र संसद की कोई शक्ति नहीं होती और जिसमें जनता में दुरुपयोग की जानेवाली शक्ति का विरोध करने की सामर्थ्य आ जाती है। उनके मतानुसार एक समाज में स्वराज्य या लोकतंत्र आया हुआ तभी समझा जा सकता है जबकि उसके सदस्यों में सत्ता को नियंत्रित करने की सामर्थ्य की भावना आ जाती है।" व्यक्तिवादी राज्य की गांधीजी की कल्पना वस्तुतः उनकी विचारधारा का प्रमुख स्रोत है। राज्य के अनुचित व अनावश्यक हस्तक्षेप को वह अप्रजातन्त्रात्मक मानते हैं। उनका कथन है कि एक राष्ट्र जो बिना राज्यकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढंग से करता है, वास्तव में सच्चे रूप में प्रजातंत्रात्मक है। जहां ऐसी अवस्था नहीं है वहां शासन-प्रणाली केवल नाममात्र के लिये प्रजातन्त्रीय है।"

अपने अहिंसात्मक लोकतंत्र में जो कि उनके राज्यहीन समाज के आदर्श के सर्वाधिक निकट है, गांधीजी जिस सरकार की सत्ता की इजाजत देते हैं, वह विभिन्न सामाजिक समस्याओं का अहिंसात्मक ढंग से निराकरण करेगी। अपराधियों को भी यह समझा-बुझाकर सुधारेगी, शक्ति का प्रयोग करके नहीं। यह एक सशस्त्र पुलिस भी रख सकती है लेकिन उसका स्वरूप और आचरण आज की पुलिस से सर्वथा भिन्न होगा। गांधीजी के कथनानुसार, "इसके घटक अहिंसा में विश्वास रखनेवाले होंगे; वे जनता के सेवक होंगे, स्वामी नहीं। जनता स्वतः उनको प्रत्येक सहायता देगी और पारस्परिक सहयोग द्वारा वे उत्तरोत्तर घटती हुई अव्यवस्था का सरलता से सामना कर सकेंगे। पुलिस के पास किसी प्रकार के शस्त्र तो होंगे, परन्तु उनका प्रयोग बहुत ही कम किया जायगा और वह भी यदि कभी किया भी गया तो। वास्तव में पुलिसवाले सुधारक होंगे।" इस अहिंसा-प्रधान राज्य में जो जेल खाने होंगे वे वर्तमान जेलखानों से सर्वथा भिन्न होते हुए सुधारात्मक स्वरूप के होंगे। गांधीजी के अनुसार अपराध का मूल कारण मानसिक रोग अथवा सामाजिक दुर्व्यवस्था है। इसलिये ये जेलखानों को सुधार-गृह, पाठशाला तथा अस्पताल का एक सम्मिश्रण बनाना चाहते थे। अभिप्राय यह है कि गांधीजी अपराधी को अहिंसावादी जीवन की शिक्षा देकर सुधारने के पक्ष में थे। व्यावहारिक दृष्टिकोण के धनी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ न थे कि यद्यपि अहिंसा प्रधान राज्य की नैतिक प्रभुसत्ता जनता की अधिकाधिक सद्भावना पर आधारित होगी, किन्तु इस बात की भी सम्भावना रहेगी कि कुछ हिंसा प्रधान संस्थायें अहिंसक राज्य के कार्यों में बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार की परिस्थितियों में गांधीजी ने सरकार का यह कर्तव्य माना है कि वह उन्हें कुचल दे। उनके शब्दों में "कोई भी सरकार निजी फौजी संगठनों को कार्य करने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती, क्योंकि इससे सार्वजनिक शक्ति को सदैव खतरा रहता है। एक अहिंसक राज्य-अपराधों को पनपने तथा नागरिक स्वतन्त्रता के भ्रष्ट होने की अनुमति नहीं दे सकता। कोई भी सरकार देश में अराजकता फैलाने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती।"

हम देख चुके हैं कि गाधीवादी दर्शन जनतत्रवादी है जिसमे समाज के प्रत्येक वर्ग का शारीरिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार का सहयोग होना चाहिये। हम यह भी देख चुके हैं कि जो राष्ट्र राज्य के कार्य-क्षेत्र को कम से कम रखते हुए अपनी समस्याओ का समाधान कर सके वही वास्तविक प्रजातत्र का अधिकारी है। गाधीजी का विश्वास है कि प्रजातत्र अहिंसात्मक साधनो द्वारा मूर्तिमान किया जा सकता है। लेकिन वे लोकतत्र के बहुमत की समस्या के प्रति जागृत है। उनका विचार है कि लोकतत्रात्मक शासन को सकुशल रूप से चलाने के लिये बहुसख्यको की भाति अल्पसख्यको का सहयोग भी आवश्यक है क्योकि "बहुमत के द्वारा एक जीवित श्रद्धा का निर्माण नहीं हो सकता। बहुमत द्वारा निर्मित सरकारो का एक दुष्प्रभाव व्यभिचार है (*A living faith cannot be manufactured by majority corruption is the bone of Government by majority*)। बहुमत को अन्य वर्गों के विचारो का स्वागत करना चाहिये। यह आवश्यक नही है कि बहुमत सदैव सत्य हो। सार्वजनिक हित, जो कि प्रत्येक लोकतत्रात्मक शासन का मौलिक गुण है एक वर्ग अथवा व्यक्ति द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यह कहना असत्य है कि बहुमत हमेशा शक्तिशाली होता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एक हजार मूर्खों से निश्चय ही अच्छा है। उन्होने स्वय लिखा था 'एक गुणवान पुत्र सौ बदमाशो से अच्छा है। पाच पाडव सैकडो कौरवों के मुकाबले मे ज्यादा थे।" सच्चे लोकतत्र के अन्तर्गत बहुमत मे आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिये और अल्पसख्यक वर्ग को भी बहुमत की उचित बातें मान लेनी चाहिये। एक स्थान पर गाधीजी ने अपने मन्तव्य को यो स्पष्ट किया है— विस्तृत विवरणो में एक बहुमत की बात मान लेनी चाहिये किन्तु उसके हर निर्णय को स्वीकार करना दासता होगी। बहुमत के शासन का यह अर्थ नही है कि एक व्यक्ति की राय भी यदि सबल हो तो कुचली जाय, बल्कि उसका भार बहुमत की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिये। यह मेरी वास्तविक प्रजातत्र की कल्पना है।"

प्रजातत्र की चुनाव और प्रतिनिधित्व प्रणाली मे गाधीजी का विश्वास था। वह चाहते थे कि ग्राम-पचायतें ग्रामो का शासन चलायें, ग्राम-पचायतों से जिले के प्रशासन अधिकारी चुने जाय जिलो के प्रशासन प्रान्तीय प्रशासन के लिये प्रतिनिधि चुनें और प्रान्तीय प्रशासन देश के राष्ट्रपति का निर्वाचन करे। किन्तु निर्वाचन मे जो प्रत्याशी खडे हो उनकी अर्हतायें विशेष रूप से कठोर हों। देश के प्रशासन मे भाग लेनेवाला प्रत्याशी नि स्वार्थ सेवी हो योग्य हो और ईमानदार भी हो। वह व्यक्ति पद-लोलुप न हो, अपनी तारीफ का भूखा न हो, अपने राजनीतिक विरोधियो के प्रति वे अहिंसक हो और मतदाताओ को भ्रष्ट करने का प्रयत्न न करनेवाला हो। गाधीजी तो यह भी नहीं चाहते थे कि कोई प्रत्याशी मतो की प्रार्थना करे। प्रत्याशी तो केवल मतदाताओ की सेवा करके उनसे मत प्राप्त करें। गाधीजी सभी पुरुषो और स्त्रियों सभी नागरिकों-को मतदान का अधिकार देना चाहते थे। मतदान के अधिकार के लिये वे केवल अर्हता अत्यावश्यक समझते थे—अर्थात् वह कुछ श्रम करता हो। वे यह नहीं मानते थे कि सम्पत्ति मताधिकार का आधार हो। "कोई व्यक्ति हाथ से श्रम करके जीविकोपार्जन करता है या नही-यही

मताधिकार की कसौटी होनी चाहिये।" शैक्षिक योग्यताओं या सम्पत्ति-विषयक अर्हताओं को भी वे महत्व नहीं देते। वे कहते थे "जो व्यक्ति शारीरिक श्रम करते हैं, वही राज्य की सेवा करते हैं। श्रम ही जीवन को नैतिक मूल्य प्राप्त कराता है। गांधीजी का विश्वास था कि श्रमिक को नागरिक अधिकार प्रदान करना 'भोजन के लिये श्रम के आदर्श' का राजनीति में व्यवहार करना है। इसका उद्देश्य जीवन को आत्म-निर्भर करना तथा लोगों को आत्मविश्वासी और निर्भीक बनाना है। प्रतिनिधित्व और निर्वाचन में गांधीजी की कितनी आस्था थी, यह उनके इन शब्दों से प्रकट होता है—

"स्वराज्य से मेरा अभिप्राय उस भारत सरकार से है, जिसमें जनता की स्वीकृति से शासन-कार्य होता हो, जिसका निश्चय वयस्क जनसंख्या के सर्वाधिक बहुमत के द्वारा हो—चाहे वे स्त्री हो या पुरुष, वहीं जन्म लेनेवाले हों अथवा वहां आकर बस जानेवाले हों, जिन्होंने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की सेवा में योग दिया हो तथा जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम अंकित करवा लिया हो।" पुनश्च "यदि स्वतन्त्रता का जन्म अहिंसापूर्वक होता हो, तब सबके सब अंगीभूत भाग स्वयं ही एक दूसरे पर आधारित होंगे तथा वे प्रतिनिधि उस केन्द्रीय सत्ता के अधीन पूर्ण एकता अथवा मेल-जोल से कार्य करेंगे, जो अपनी स्वीकृति उस विश्वास से प्राप्त करेंगे, जो उनके अंगों द्वारा उस केन्द्रीय सत्ता के प्रति प्रकट किया गया है।"

व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक अनुशासन (Individual Liberty and Social discipline)—गांधीजी के अहिंसात्मक लोकतंत्र का आवश्यक विवरण देने के उपरान्त यह जानना उचित होगा कि गांधीजी व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक अनुशासन के सामञ्जस्य की निरन्तर समस्या को किस प्रकार सुलझाना चाहते थे। गांधीजी एक महान् व्यक्तिवादी थे जिनके अनुसार राज्य, मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में उसको उन्नत बनाने वाले साधनों में से एक है। उनके अनुसार राज्य जनकल्याण का एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य सारे व्यक्तियों का (अधिकतम व्यक्तियों का नहीं) अधिकतम हित प्राप्त करना है। वे राज्य अथवा राज्य के कार्यों में कोई रहस्यात्मक पवित्रता (*Mysterious Sanctity*) नहीं ढूंढते बल्कि उनका विश्वास था कि राज्य मानवीय दुर्बलताओं की उपज है जिसका अपनी सत्ता के दुरुपयोग किये जाने पर विरोध किया जाना चाहिये। इस प्रकार गांधीवाद राज्य को कोई महानता अथवा पृथक व्यक्तित्व नहीं देता, अपितु नागरिकों के सामूहिक हित का लक्ष्य लेकर चलनेवाला एक साधनमात्र मानता है। व्यक्ति गांधीजी की संवेदना का सर्वोपरि बिन्दु है, सत्ता तथा मूल्य का केन्द्र है जिससे कि राज्य जीवन और शक्ति प्राप्त करता है। चूंकि व्यक्ति साध्य है तथा राज्य उसकी आत्मानुभूति के साध्य के लिये एक साधन है, अतः राज्य में सदैव सेवा-भावना बनी रहनी चाहिये और उसे अपने को व्यक्ति का स्वामी कभी नहीं समझना चाहिये।

व्यक्तिवादी चिन्तन को प्रधानता देते हुए भी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने आपको समाज की प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने के कारण ही वह वर्तमान विकसित अवस्था को प्राप्त करता आया है। उनके स्वयं के शब्दों में—

मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कीमत करता हूँ, परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है। अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना सीखकर वह अपनी मौजूदा ऊँचा दर्जे पर पहुँचा। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जंगली जानवरों का कानून है। हमें व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज—जिसका व्यक्ति सदस्य है—दोनों को समृद्ध करता है।"[1]

वर्तमान समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्तव्य के मध्य सामंजस्य की स्थापना अन्ततः राज्य-दण्ड के प्रयोग से होती है। गांधीजी की इच्छा धर्म-पालन के द्वारा एवं अहिंसात्मक रीति से इस सामञ्जस्य की स्थापना करने की थी।

गांधीजी की धारणा थी कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्तव्य के मध्य संघर्ष का आधारभूत कारण यह है कि राज्य अपने स्वरूप में हिंसात्मक है। राज्य इस बात का परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरों का शोषण करने को कटिबद्ध रहते हैं। अहिंसा पर जो समाज आधारित होगा उसमें न इस तरह के शोषण ही होंगे और न संघर्ष के लिए अवसरों का विकास ही। संघर्ष के अवसर अपने आप ही कम हो जायेंगे। मनुष्य में अहिंसा, सत्य और प्रेम के प्रति आस्था में जितनी अधिक वृद्धि होगी और सेवा तथा सहयोग की भावना का जितना अधिक विकास होगा, उसी अनुपात में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्तव्य के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होता जायगा और संघर्ष की स्थिति मिटती जायगी। गांधीजी का कहना था कि जिन लोगों को आन्तरिक स्वतन्त्रता की अनुभूति हो चुकी है वे जानते हैं कि सच्ची आत्मानुभूति का सर्वोत्तम साधन निस्वार्थ लोकसेवा रहा है। एक अहिंसात्मक लोकतंत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक कर्तव्य-पालन का ही दूसरा नाम है। यह उस प्राचीन हिन्दू-आदर्श का पुनरुत्थान है जो धर्म को सामाजिक संगठन एवं व्यक्ति तथा समाज के मध्य समुचित सम्बन्धों का आधार मानता है। गांधीजी की दृष्टि में धर्म से अभिप्राय किसी सम्प्रदाय का होना नहीं है, प्रत्युत "यह वह जीवित आत्मा है जो समाज के विकास के अनुकूल पुष्पित पल्लवित और सञ्चालित होता है। धर्म का कार्य सामाजिक व्यवस्था में समन्वय कायम रखना है और अपना अन्तर्निहित शक्तियों के विकास में व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करना है।"[2]

वर्तमान समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के संघर्ष का एक प्रमुख कारण गांधीजी के मतानुसार यह है कि व्यक्ति के कर्तव्यों की आवश्यकता से अधिक बल दिया [illegible]। गांधीजी अधिकारों [illegible] पर अधिक बल देते थे। [illegible] थी कि यदि लोग केवल अधिकारों का आग्रह करें और [illegible] कम न दें, तो

---

1 हरिजन, २७-५-३९
2 *G N Dhawan, op cit*, *Page 324*

बाध्यकारी शक्ति है जो मानव-व्यक्तित्व के विकास को कुंठित करती है और उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके व्यक्तित्व के लिये निश्चित रूप से घातक है। उनका कहना था कि मानव को अपने आध्यात्मिक विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है लेकिन राज्य दण्ड शक्ति के बल पर इस स्वतंत्रता को सीमित कर देता है। सन् १९३४ में उन्होंने एक भेंट के अवसर पर इस विषय में अपने ये उद्गार प्रकट किये थे:—

"मैं राज्य की शक्ति में किसी भी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूं। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण को कम करने में जनहित कर रहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि यह समस्त प्रकृति के मूल व्यक्तित्व का विनाश करके मनुष्य मात्र को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है।"[1]

गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य आज्ञा करता है और जब कोई आज्ञा दी जाती है तो वह आज्ञा अपने साथ व्यक्ति के कार्य का नैतिक मूल्य नहीं रख सकती। एक कार्य तभी तक नैतिक है जब तक कि वह स्वेच्छापूर्ण है और "कोई भी वह कार्य जो स्वेच्छापूर्ण नहीं है नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम यन्त्रों की भांति कार्य करते हैं, उस समय तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। वही कार्य नैतिक है जो जान-बूझकर और कर्तव्य समझकर किया गया हो।"[2] राज्य की बाध्यकारी शक्ति की उपस्थिति में स्वेच्छापूर्ण और नैतिक कार्यों का सम्पादन नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के तरस्कार में गांधीजी की स्थिति प्रायः वैसी है जैसी कि प्रोधाँ, बैकुनिन तथा क्रोपोटकिन जैसे पश्चिमी अराजकतावादियों की। गांधीजी पूंजीवाद के विरोधी हैं किन्तु राज्य का उनका विरोध इसलिए नहीं है कि उसका पूंजीवाद से घनिष्ट सम्बन्ध है, प्रत्युत इसलिए है कि राज्य नैतिकता विरोधी है। गांधीजी के लिए सर्वाधिक मूल्य व्यक्ति का है और जो चीज व्यक्ति के विकास में बाधक हो वह त्याज्य है। राज्य में चोटी पर कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ में शक्ति का केन्द्रित हो जाना बड़ा खतरनाक है क्योंकि शक्ति के दुरुपयोग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन किये जाने के अवसर सदा विद्यमान रहते हैं।

राज्य के विरोध में गांधीजी का तीसरा तर्क यह था कि अहिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि बैकुनिन, क्रोपोटकिन और अन्य अराजकतावादी भी राज्य को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझते हैं और उसका खण्डन करते हैं, लेकिन उनके ऐसा करने का कारण गांधीजी से बहुत भिन्न है। क्रोपोटकिन राज्य को इसलिए अनावश्यक मानते हैं क्योंकि राज्य को वर्तमान में जो भी कार्य करने पड़ते हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे ऐच्छिक समुदाय न कर सकते हों। इसके विपरीत गांधीजी की युक्ति नैतिकप्रधान है। उनके अनुसार राज्य का प्रथम

1. Quoted by *N. K. Bose* in 'Studies in Gandhism', Page 67
2. Gandhiji's 'Ethical Religion', Page 40

मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कीमत करता हूं, परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मुख्यत एक सामाजिक प्राणी है। अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना सीखकर वह अपनी मौजूदा ऊंचा दर्जे पर पहुंचा। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जंगली जानवरों का कानून है। हमें व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज—जिसका व्यक्ति सदस्य है—दोनों को समृद्ध करता है।'[1]

वर्तमान समाज मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य *सामञ्जस्य की स्थापना प्रायः राज्य-दण्ड के प्रयोग से होती है।* गांधीजी की इच्छा धर्म-पालन के द्वारा एक अहिंसात्मक रीति से इस सामञ्जस्य की स्थापना करने की थी।

गांधीजी की धारणा थी कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य संघर्ष का आधारभूत कारण यह है कि राज्य अपने स्वरूप में हिंसात्मक है। राज्य इस बात का परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरो का शोषण करने को कटिबद्ध रहते हैं। अहिंसा पर जो समाज आधारित होगा उसमे न इस तरह के शोषण ही होंगे और न संघर्ष के लिए अवसरों का विकास ही। संघर्ष के अवसर अपने आप ही कम हो जायेंगे। मनुष्य मे अहिंसा, सत्य और प्रेम के प्रति आस्था मे जितनी अधिक वृद्धि होगी और सेवा तथा सहयोग की भावना का जितना अधिक विकास होगा, उसी अनुपात मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होता जायगा और संघर्ष की स्थिति मिटती जायगी। गांधीजी का कहना था कि जिन लोगों को आन्तरिक स्वतन्त्रता की अनुभूति हो चुकी है वे जानते हैं कि सच्ची आत्मानुभूति का सर्वोत्तम साधन निष्काम लोकतन्त्र सेवा है। एक अहिंसात्मक लोकतन्त्र मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक कर्तव्य-पालन का ही दूसरा नाम है। यह उस प्राचीन हिन्दू-आदर्श का पुनरुत्थान है जो धर्म को सामाजिक संगठन एवं व्यक्ति तथा समाज के मध्य समुचित सम्बन्धो का आधार मानता है। गांधीजी की दृष्टि मे धर्म से अभिप्राय किसी सम्प्रदाय का होना नही है, प्रत्युत् "यह वह जीवित आत्मा है जो समाज के विकास के अनुकूल पुष्पित पल्लवित और संचालित होती है। धर्म का कार्य सामाजिक व्यवस्था मे समन्वय कायम रखना है और अपनी अन्तर्निहित शक्तियो के विकास मे व्यक्ति के अन्त करण का पथ-प्रदर्शन करना है।"[2]

वर्तमान समाज मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के मध्य संघर्ष का एक प्रमुख कारण गांधीजी के मतानुसार यह है कि व्यक्ति के अधिकारों का आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। गांधीजी अधिकारो की अपेक्षा कर्त्तव्यो पर अधिक बल देते थे। *उनकी मान्यता थी कि यदि सब* लोग केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यो पर बल न दें, तो चारो

---

1 हरिजन, २७-५-३९
2 *G N Dhawan*, op cit, Page 324

बाध्यकारी शक्ति है जो मानव-व्यक्तित्व के विकास को कुंठित करती है और उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके व्यक्तित्व के लिये निश्चित रूप से घातक है। उनका कहना था कि मानव को अपने आध्यात्मिक विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है लेकिन राज्य दण्ड शक्ति के बल पर इस स्वतंत्रता को सीमित कर देता है। सन् १९३४ में उन्होंने एक भेंट के अवसर पर इस विषय में अपने ये उद्गार प्रकट किये थे:—

"मैं राज्य की शक्ति में किसी भी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूं। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण को कम करने में जनहित कर रहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि यह समस्त प्रकृति के मूल व्यक्तित्व का विनाश करके मनुष्य मात्र को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है।"[1]

गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य आज्ञा करता है और जब कोई आज्ञा दी जाती है तो वह आज्ञा अपने साथ व्यक्ति के कार्य का नैतिक मूल्य नहीं रख सकती। एक कार्य तभी तक नैतिक है जब तक कि वह स्वेच्छापूर्ण है और "कोई भी वह कार्य जो स्वेच्छापूर्ण नहीं है नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम यन्त्रों की भांति कार्य करते हैं, उस समय तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। वही कार्य नैतिक है जो जान-बूझकर और कर्तव्य समझकर किया गया हो।"[2] राज्य की बाध्यकारी शक्ति की उपस्थिति में स्वेच्छापूर्ण और नैतिक कार्यों का सम्पादन नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के तरस्कार में गांधीजी की स्थिति प्राय: वैसी है जैसी कि प्रोधाँ, बैकुनिन तथा क्रोपोटकिन जैसे पश्चिमी अराजकतावादियों की। गांधीजी पूंजीवाद के विरोधी हैं किन्तु राज्य का उनका विरोध इसलिए नहीं है कि उसका पूंजीवाद से घनिष्ट सम्बन्ध हैं, प्रत्युत इसलिए है कि राज्य नैतिकता विरोधी है। गांधीजी के लिए सर्वाधिक मूल्य व्यक्ति का है और जो चीज व्यक्ति के विकास में बाधक हो वह त्याज्य है। राज्य में चोटी पर कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ में शक्ति का केन्द्रित हो जाना बड़ा खतरनाक है क्योंकि शक्ति के दुरुपयोग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन किये जाने के अवसर सदा विद्यमान रहते हैं।

राज्य के विरोध में गांधीजी का तीसरा तर्क यह था कि अहिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि बैकुनिन, क्रोपोटकिन और अन्य अराजकतावादी भी राज्य को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझते हैं और उसका खण्डन करते हैं, लेकिन उनके ऐसा करने का कारण गांधीजी से बहुत भिन्न है। क्रोपोटकिन राज्य को इसलिए अनावश्यक मानते है क्योंकि राज्य को वर्तमान में जो भी कार्य करने पड़ते हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे ऐच्छिक समुदाय न कर सकते हों। इसके विपरीत गांधीजी की युक्ति नैतिकप्रधान है। उनके अनुसार राज्य का प्रथम

---

1. Quoted by *N. K. Bose* in 'Studies in Gandhism', Page 67
2. Gandhiji's 'Ethical Religion', Page 40

कार्य सामाजिक आचरण को अनुशासित करना है। २ जुलाई सन् १९३१ के 'यङ्ग इण्डिया' में उन्होंने लिखा था—

'मेरे लिये राजनीतिक शक्ति कोई ध्येय नहीं है, परन्तु जनता के लिये एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह जीवन के प्रत्येक विभाग में अपनी दशा सुधार सके। राजनीतिक शक्ति का अर्थ राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन को विनियमित करने की क्षमता से है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण होजाय कि वह स्वयं ही विनियमित अर्थात् आत्म अनुशासित होने लगे तो किसी प्रतिनिधित्व की कोई आवश्यकता न होगी। तब वह एक ज्ञानमय अराजकता (*Enlightened Anarchy*) की स्थिति होगी। ऐसी अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपने ऊपर इस प्रकार शासन करता है जिसमें कि वह अपने पड़ोसी के लिये कोई बाधा न बने। अतः, एक आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता न होगी, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होगा।"

गांधीजी के उपरोक्त अवतरण से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्त पर अपने जीवन का सचालन करते हैं वे व्यक्तिगत स्वराज्य अथवा आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं। उन व्यक्तियों में आत्मसंयम इस सीमा तक आजाता है कि अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने का उनका स्वाभाविक स्वभाव बन जाता है। इस स्थिति में उनके सामाजिक आचरण को अनुशासित करने के लिये किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। चूंकि राजनीतिक शक्ति का प्रधान कार्य सामाजिक आचरण का आत्मानुशासित अथवा विनियमित करना है और अहिंसात्मक आदर्श समाज में व्यक्तियों के संयमित जीवन से इस लक्ष्य की स्वतः प्राप्ति हो जाती है, अतः राज्य की ऐसे समाज में कोई आवश्यकता नहीं रहती। यहां यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी राज्य को एक अनावश्यक बुराई समझकर इसको तिरस्कृत इसलिये करते थे क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी है जिसका वास्तविक स्वभाव स्वतन्त्रता है। ग्रीन की भांति उनका भी विश्वास था कि मानव-आत्मा स्वतन्त्रता चाहती है। लेकिन जहां ग्रीन का विश्वास था कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं और अधिकारों के लिए राज्य आवश्यक है वहां गांधीजी के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ था पूर्णतः आत्मानुशासन और आत्मसंयम, अथवा आन्तरिक स्वराज्य, जो केवल ज्ञानमय अराजकता की स्थिति में ही किया जा सकता है। गांधीजी की यह मान्यता थी कि आवश्यक रूप से राज्यहीन अहिंसात्मक समाज में ही सच्ची स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का होना संभव है।

इसके पहले कि गांधीजी के राज्य-सम्बन्धी विचारों पर और आगे प्रकाश डाला जाय, यह उचित होगा कि हम पहले गांधीजी के उपरोक्त बहुवर्णित अहिंसात्मक राज्यहीन आदर्श समाज की रूपरेखा पर दृष्टिपात करलें। गांधीजी ही के शब्दों में—

'ऐसा समाज असंख्य गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं बल्कि लहरों की तरह एक के बाद-एक के रूप

में होगा। जीवन एक मीनार की शक्ल में नहीं होगा, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा रहना पड़ता है। उसमें तो समुद्र की लहरों की तरह जीवन एक के-बाद एक घेरे की शक्ल में होगा और व्यक्ति इनका केन्द्र होगा। यह व्यक्ति सदा गांव के लिये मिटने को तैयार रहेगा, और ग्राम-समूह के लिए मिटने को तैयार रहेगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो मगरूर बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, लेकिन हमेशा नम्र रहते है और अपने समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे अभिन्न अंग हैं। इसलिये सबसे बाहर का घेरा अपनी सत्ता और शक्ति का उपयोग भीतरी घेरे को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उसके भीतर के सब लोगों को बल देगा और स्वयं उनसे बल ग्रहण करेगा।..............इस समाज में आखिरी व्यक्ति पहले व्यक्ति के बराबर होगा, या दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी व्यक्ति न पहला होगा, न आखिरी। इस चित्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिये पूरा और बराबर का स्थान है। हम सब एक शानदार पेड़ के पत्ते है, जिसका तना जड़ से नहीं हिलाया जा सकता, क्योंकि जड़े पृथ्वी के गर्भ में गहरी चली गई हैं। जबरदस्त से जबरदस्त आंधी भी उसे हिला नहीं सकती।"

गांधीजी की सामाजिक व्यवस्था में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श की प्राप्ति हो जायगी। चूंकि इस सामाजिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता व्यक्ति की स्वतंत्रता होगी, अत: इसे लोकतंत्र का आदर्श रूप कहा जा सकता है। गांधीजी का विश्वास था कि स्वाधीनता नीचे से आरम्भ होनी चाहिये। इसीलिये उन्होंने अपने आदर्श समाज में यह व्यवस्था दी कि प्रत्येक गांव एक प्रजातंत्र या पंचायत होगा, जिसे पूरी सत्ता होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी और अपना प्रबन्ध आप कर लेने लायक बनना होगा, यहां तक कि वह सारे संसार से अपनी रक्षा कर सके। उसे बाहर के किसी हमले से अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में मर-मिटने की शिक्षा दी जायगी और उसे तैयार किया जायगा। इस प्रकार अंत में व्यक्ति की ही इकाई होगी। इस स्वाधीन समाज मे पड़ोसियों से या संसार से स्वेच्छापूर्वक सहायता लेनी या उन पर निर्भर रहने का बहिष्कार नहीं होता। दोनों ओर शक्तियों का मुक्त और स्वेच्छापूर्ण आदान-प्रदान होगा।" ऐसा समाज अवश्य ही उत्तम संस्कृति और सभ्यतावाला होगा, क्योंकि उसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष यह जानेगा कि उसे क्या चाहिये; और इससे भी अधिक वह यह जानेगा कि किसी को ऐसी चीज की इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो दूसरों को समान श्रम से न मिल सकती हो।"

गांधीजी के आदर्श समाज में ग्राम यद्यपि स्वायत्त शासन और स्वतंत्र तथा न्यूनाधिक आत्म-निर्भर होंगे, तथापि इसका यह आशय नहीं है कि वे एक दूसरे से अलग-अलग होंगे अथवा वे एक प्रकार के ढीले-ढाले संघ में सगठित होंगे। संघ का आधार शक्ति न होकर नैतिक होगा और संघ के पास कोई पुलिस या सेना की शक्ति नहीं होगी। यह समाज विकेन्द्रित होगा जिसमें जीवन सरल और सभ्यता ग्रामीण होगी, नागरिक नहीं। इस अहिंसात्मक समाज का जो सामाजिक-आर्थिक ढांचा होगा वह आज के राज्य से बहुत भिन्न होगा। उसमें बड़े-बड़े नगरों, पुलिस, कानूनी न्यायालयों, जेल, भारी उद्योग और संवाद-

वहन के लिये कोई स्थान नही होगा। यह अहिंसात्मक समाज सरकार से मुक्त होगा, क्योकि अहिंसा के सिद्धान्त का पूर्ण पालन करन से प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वय बन जायगा और स्वत. अपने सामाजिक कर्तव्यो का पालन करेगा।

प्रश्न उठता है कि क्या गाधीजी द्वारा विचारित पूर्ण अहिंसात्मक और राज्यहीन समाज की स्थापना इस धरती पर की जा सकती है? गाधीजी स्वय एक यथार्थवादी विचारक थे न कि स्वप्नलोक मे विचरनेवाले। वे जगत की वास्तविकताओं का सदाध्यान रखते थे। इस सम्बन्ध मे भी उन्हे आदश के साथ साथ यथार्थ का भी ध्यान था। वे यह मानते थे कि वास्तविक मानव जीवन मे पूर्ण अराजकता की व्यवस्था स्थापित होना समव नही है। तथापि इस व्यग को भी वह दृढता से अस्वीकार करते थे कि आदर्श समाज का उनका चित्र एक ख्याली पुलाव है और इसलिये किंचित भी विचारणीय नही है। उन्होने बडे आत्मविश्वास से भरे शब्दों मे घोषणा की थी और एक इच्छा प्रकट की थी कि—

"यदि युक्लिड की परिभाषावाले बिंदु का किसी भी व्यक्ति द्वारा चित्रित न किये जा सकने पर भी अविनाशी मूल्य रहा है तो मेरा चित्र भी मानव जाति के जीवित रहने के लिये अपना मूल्य रखता है। यह चित्र पूरी तरह तो कभी सिद्ध नही होगा, फिर भी हिंदुस्तान को इस सच्चे चित्र के लिये जीना चाहिये। इस तक पहुंचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिये। हमे क्या चाहिए, इसके लिये हमारे पास ठीक चित्र होना चाहिये तभी हम उससे मिलती जुलती कोई वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। अगर हिंदुस्तान के प्रत्येक गाव मे कभी प्रजातत्र या पचायती राज्य कायम हुआ, तो मेरा दावा है कि मैं अपने इस चित्र की सचाई साबित कर सकूंगा जिसमें आखिरी व्यक्ति पहले व्यक्ति के बराबर होगा या दूसरे शब्दों मे कहूं तो कोई भी व्यक्ति न पहला होगा, न आखिरी।"

गाधीजी यह जानते थे कि आधुनिक समय मे समाज के समस्त सदस्यो से पूर्ण आदर्श नैतिकता को प्राप्त कर लेने की आशा करना अत्यन्त दुष्कर और अयथार्थ है अत उन्होने प्लेटो के समान ही मानव दुर्बलता को ध्यान मे रखते हुए द्वितीय सर्वोत्तम राज्य' की स्थिति प्रस्तुत कर दी अर्थात् यह स्वीकार कर लिया कि अपूर्ण मनुष्यो के अपूर्ण ससार म एक प्रधान रूप से अहिंसात्मक राज्य तो समव हो सकता है, किन्तु पूर्णरूपेण अहिंसात्मक राज्यहीन समाज नही। उन्होने यह मान लिया कि समाज म मानव के सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिये एक प्रकार की सरकार अथवा राजनीतिक सत्ता अवश्य होनी चाहिये बशर्ते कि वह शासन कम से कम करे। थोरू (*Thoreau*) की भांति उनका दृढ विश्वास था कि 'वही सरकार सर्वोत्तम है जो सबसे कम शासन करती है" (*That Government is the best which governs the least*)। गाधीजी मनुष्य के स्वावलम्बी जीवन के समर्थक थे और चाहते थे कि राज्य अपने कार्य कम से कम क्षेत्रों तक सीमित करदे। इस तरह कहना चाहिये कि उनका अहिंसात्मक लोकतन्त्र एक पूर्णरूपेण अहिंसात्मक तथा राज्यहीन समाज के अप्राप्त आदर्श तथा हिंसा से पूर्ण और

व्यक्ति का दमन करनेवाले वर्तमान राज्य के बीच एक समझौता है। "एक अहिंसात्मक लोकतंत्र से गांधीजी का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें जन इच्छा से स्वतंत्र संसद की कोई शक्ति नहीं होती और जिसमें जनता में दुरुपयोग की जानेवाली शक्ति का विरोध करने की सामर्थ्य आ जाती है। उनके मतानुसार एक समाज में स्वराज्य या लोकतंत्र आया हुआ तभी समझा जा सकता है जबकि उसके सदस्यों में सत्ता को नियंत्रित करने की सामर्थ्य की भावना आ जाती है।" व्यक्तिवादी राज्य की गांधीजी की कल्पना वस्तुतः उनकी विचारधारा का प्रमुख स्रोत है। राज्य के अनुचित व अनावश्यक हस्तक्षेप को वह अप्रजातन्त्रात्मक मानते हैं। उनका कथन है कि एक राष्ट्र जो बिना राज्यकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढग से करता है, वास्तव में सच्चे रूप में प्रजातंत्रात्मक है। जहां ऐसी व्यवस्था नहीं है वहां शासन-प्रणाली केवल नाममात्र के लिये प्रजातन्त्रीय है।"

अपने अहिंसात्मक लोकतंत्र में जो कि उनके राज्यहीन समाज के आदर्श के सर्वाधिक निकट है, गांधीजी जिस सरकार को सत्ता की इजाजत देते हैं, वह विभिन्न सामाजिक समस्याओं का अहिंसात्मक ढग से निराकरण करेगी। अपराधियों को भी यह समझा-बुझाकर सुधारेगी, शक्ति का प्रयोग करके नहीं। यह एक सशस्त्र पुलिस भी रख सकती है लेकिन उसका स्वरूप और आचरण आज की पुलिस से सर्वथा भिन्न होगा। गांधीजी के कथनानुसार, "इसके घटक अहिंसा में विश्वास रखनेवाले होंगे; वे जनता के सेवक होंगे, स्वामी नहीं। जनता स्वतः उनको प्रत्येक सहायता देगी और पारस्परिक सहयोग द्वारा व उत्तरोत्तर घटती हुई अव्यवस्था का सरलता से सामना कर सकेंगे। पुलिस के पास किसी प्रकार के शस्त्र तो होंगे, परन्तु उनका प्रयोग बहुत ही कम किया जायगा और वह भी यदि कभी किया भी गया तो। वास्तव में पुलिसवाले सुधारक होंगे।" इस अहिंसा-प्रधान राज्य में जो जेल खाने होंगे वे वर्तमान जेलखानों से सर्वथा भिन्न होते हुए सुधारात्मक स्वरूप के होंगे। गांधीजी के अनुसार अपराध का मूल कारण मानसिक रोग अथवा सामाजिक दुर्व्यवस्था है। इसलिये ये जेलखानों को सुधार-गृह, पाठशाला तथा अस्पताल का एक सम्मिश्रण बनाना चाहते थे। अभिप्राय यह है कि गांधीजी अपराधी को अहिंसावादी जीवन की शिक्षा देकर सुधारने के पक्ष में थे। व्यावहारिक दृष्टिकोण के धनी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ न थे कि यद्यपि अहिंसा प्रधान राज्य की नैतिक प्रभुसत्ता जनता की अधिकाधिक सद्भावना पर आधारित होगी, किन्तु इस बात की भी सम्भावना रहेगी कि कुछ हिंसा प्रधान संस्थायें अहिंसक राज्य के कार्यों में बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार की परिस्थितियों में गांधीजी ने सरकार का यह कर्तव्य माना है कि वह उन्हें कुचल दे। उनके शब्दों में "कोई भी सरकार निजी फौजी संगठनों को कार्य करने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती, क्योंकि इससे सार्वजनिक शक्ति को सदैव खतरा रहता है। एक अहिंसक राज्य-अपराधों को पनपने तथा नागरिक स्वतन्त्रता के भ्रष्ट होने की अनुमति नहीं दे सकता। कोई भी सरकार देश में अराजकता फैलाने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती।"

वहन के लिये कोई स्थान नही होगा। यह अहिसात्मक समाज सरकार से मुक्त होगा, क्योंकि अहिंसा के सिद्धान्त का पूर्ण पालन करने मे प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वय बन जायगा और स्वतः अपने सामाजिक कर्तव्यो का पालन करेगा।

प्रश्न उठता है कि क्या गाधीजी द्वारा विचारित पूर्ण अहिसात्मक और राज्यहीन समाज की स्थापना इस धरती पर की जा सकती है? गाधीजी स्वय एक यथार्थवादी विचारक थे न कि स्वप्नलोक मे विचरनेवाले। वे जगत की वास्तविकताओ का सदाध्यान रखते थे। इस सम्बन्ध मे भी उन्हे आदर्श के साथ-साथ यथार्थ का भी ध्यान था। वे यह मानते थे कि *वास्तविक मानव-जीवन मे पूर्ण अराजकता की व्यवस्था स्थापित होना संभव* नही है। तथापि इस व्यग को भी वह दृढता से अस्वीकार करते थे कि आदर्श समाज का उनका चित्र एक ख्याली पुलाव है और इसलिये किंचित भी विचारणीय नहीं है। उन्होने बडे आत्मविश्वास से भरे शब्दो मे घोषणा की थी और एक इच्छा प्रकट की थी कि—

"*यदि युक्लिड की परिभाषावाले बिन्दु का किसी भी व्यक्ति द्वारा* चित्रित न किये जा सकने पर भी अविनाशी मूल्य रहा है, ता मेरा चित्र भी मानव जाति के जीवित रहने के लिये अपना मूल्य रखता है। यह चित्र पूरी तरह तो कभी सिद्ध नही हाेगा, फिर भी हिन्दुस्तान को इस सच्चे चित्र के लिये जीना चाहिये। इस तक पहुंचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिये। हमे क्या चाहिये, इसके लिये हमारे पास ठीक चित्र होना चाहिये तभी हम उससे मिलती जुलती कोई वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के प्रत्येक गाव मे कभी प्रजातत्र या पचायती राज्य कायम हुआ, तो मेरा दावा है कि मैं अपने इस चित्र की सचाई साबित कर सकूगा, जिसमे आखिरी व्यक्ति पहले व्यक्ति के बराबर होगा या दूसरे शब्दों में कहे तो कोई भी व्यक्ति न पहला होगा, न आखिरी।"

गाधीजी यह जानते थे कि आधुनिक समय में समाज के समस्त सदस्यो से पूर्ण आदर्श नैतिकता को प्राप्त कर लेने की आशा करना अत्यन्त दुष्कर और अयथार्थ है, अत उन्होने प्लेटो के समान ही मानव-दुर्बलता को ध्यान मे रखते हुए 'द्वितीय सर्वोत्तम राज्य' की स्थिति प्रस्तुत कर दी अर्थात् यह स्वीकार कर लिया कि अपूर्ण मनुष्यो के अपूर्ण ससार मे एक प्रधान रूप से अहिंसात्मक राज्य तो सभव हो सकता है, किन्तु पूर्णरूपेण अहिंसात्मक राज्यहीन समाज नहीं। उन्होने यह मान लिया कि समाज मे मानव के सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिये एक प्रकार की सरकार अथवा राजनीतिक सत्ता अवश्य होनी चाहिये बशर्ते कि वह शासन कम से कम करे। थोरू (*Thoreau*) की भाति उनका दृढ विश्वास था कि "वही सरकार सर्वोत्तम है जो सबसे कम शासन करती हो" (*That Government is the best which governs the least*)। गाधीजी मनुष्य के स्वावलम्बी जीवन के समर्थक थ और चाहते थे कि राज्य अपने कार्य कम से कम क्षेत्रो तक सीमित करदे। इस तरह कहना चाहिये कि उनका अहिसात्मक लोकतत्र एक पूर्णरूपेण अहिंसात्मक तथा राज्यहीन समाज के अप्राप्त आदर्श तथा हिंसा से पूर्ण और

व्यक्ति का दमन करनेवाले वर्तमान राज्य के बीच एक समझौता है। "एक अहिंसात्मक लोकतंत्र से गांधीजी का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें जन इच्छा से स्वतंत्र संसद की कोई शक्ति नहीं होती और जिसमें जनता में दुरुपयोग की जानेवाली शक्ति का विरोध करने की सामर्थ्य आ जाती है। उनके मतानुसार एक समाज में स्वराज्य या लोकतंत्र आया हुआ तभी समझा जा सकता है जबकि उसके सदस्यों में सत्ता को नियंत्रित करने की सामर्थ्य की भावना आ जाती है।" व्यक्तिवादी राज्य की गांधीजी की कल्पना वस्तुत: उनकी विचारधारा का प्रमुख स्रोत है। राज्य के अनुचित व अनावश्यक हस्तक्षेप को वह अप्रजातन्त्रात्मक मानते हैं। उनका कथन है कि एक राष्ट्र जो बिना राज्यकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढग से करता है, वास्तव में सच्चे रूप में प्रजातंत्रात्मक है। जहां ऐसी अवस्था नहीं है वहां शासन-प्रणाली केवल नाममात्र के लिये प्रजातंत्रीय है।"

अपने अहिंसात्मक लोकतंत्र में जो कि उनके राज्यहीन समाज के आदर्श के सर्वाधिक निकट है, गांधीजी जिस सरकार की सत्ता की इजाजत देते हैं, वह विभिन्न सामाजिक समस्याओं का अहिंसात्मक ढग से निराकरण करेगी। अपराधियों को भी यह समझा-बुझाकर सुधारेगी, शक्ति का प्रयोग करके नही। यह एक सशस्त्र पुलिस भी रख सकती है लेकिन उसका स्वरूप और आचरण आज की पुलिस से सर्वथा भिन्न होगा। गांधीजी के कथनानुसार, "इसके घटक अहिंसा में विश्वास रखनेवाले होंगे; वे जनता के सेवक होंगे, स्वामी नहीं। जनता स्वत: उनको प्रत्येक सहायता देगी और पारस्परिक सहयोग द्वारा व उत्तरोत्तर घटती हुई अव्यवस्था का सरलता से सामना कर सकेंगे। पुलिस के पास किसी प्रकार के शस्त्र तो होंगे, परन्तु उनका प्रयोग बहुत ही कम किया जायगा और वह भी यदि कभी किया भी गया तो। वास्तव में पुलिसवाले सुधारक होंगे।" इस अहिंसा-प्रधान राज्य में जो जेल खाने होंगे वे वर्तमान जेलखानों से सर्वथा भिन्न होते हुए सुधारात्मक स्वरूप के होंगे। गांधीजी के अनुसार अपराध का मूल कारण मानसिक रोग अथवा सामाजिक दुर्व्यवस्था है। इसलिये वे जेलखानों को सुधार-गृह, पाठशाला तथा अस्पताल का एक सम्मिश्रण बनाना चाहते थे। अभिप्राय यह है कि गांधीजी अपराधी को अहिंसावादी जीवन की शिक्षा देकर सुधारने के पक्ष में थे। व्यावहारिक दृष्टिकोण के धनी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ न थे कि यद्यपि अहिंसा प्रधान राज्य की नैतिक प्रभुसत्ता जनता की अधिकाधिक सद्भावना पर आधारित होगी, किन्तु इस बात की भी सम्भावना रहेगी कि कुछ हिंसा प्रधान संस्थायें अहिंसक राज्य के कार्यों में बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार की परिस्थितियों में गांधीजी ने सरकार का यह कर्तव्य माना है कि वह उन्हें कुचल दे। उनके शब्दों में "कोई भी सरकार निजी फौजी संगठनों को कार्य करने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती, क्योंकि इससे सार्वजनिक शक्ति को सदैव खतरा रहता है। एक अहिंसक राज्य-अपराधों को पनपने तथा नागरिक स्वतन्त्रता के भ्रष्ट होने की अनुमति नहीं दे सकता। कोई भी सरकार देश में अराजकता फैलाने की अनुमति प्रदान नहीं कर सकती।"

हम देख चुके हैं कि गाधीवादी दर्शन जनतत्रवादी है जिसमे समाज के प्रत्येक वर्ग का शारीरिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार का सहयोग होना चाहिये। हम यह भी देख चुके हैं कि जो राष्ट्र राज्य के कार्य-क्षेत्र को कम से-कम रखते हुए अपनी समस्याओ का समाधान कर सके वही वास्तविक प्रजातत्र का अधिकारी है। गाधीजी का विश्वास है कि प्रजातत्र अहिंसात्मक साधनो द्वारा मूर्तिमान किया जा सकता है। लेकिन वे लोकतत्र मे बहुमत की समस्या के प्रति जागृत है। उनका विचार है कि लोकतत्रात्मक शासन को सकुशल रूप से चलाने के लिये बहुसख्यको की भाति अल्पसख्यकों का सहयोग भी आवश्यक है क्योंकि 'बहुमत के द्वारा एक जीवित श्रद्धा का निर्माण नही हो सकता। बहुमत द्वारा निर्मित सरकारो का एक दुष्प्रभाव व्यभिचार है (*A living faith cannot be manufactured by majority corruption is the bone of Government by majority*)। बहुमत को अन्य वर्गों के विचारो का स्वागत करना चाहिये। यह आवश्यक नही है कि बहुमत सदैव सत्य हो। सार्वजनिक हित, जो कि प्रत्येक लोकतत्रात्मक शासन का मौलिक गुण है एक वर्ग अथवा व्यक्ति द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यह कहना असत्य है कि बहुमत हमेशा शक्तिशाली होता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एक हजार मूर्खों से निश्चय ही अच्छा है। उन्होने स्वय लिखा था 'एक गुणवान पुत्र सौ बदमाशो से अच्छा है। पाच पांडव सैंकडो कौरवो के मुकाबले मे ज्यादा थे।" सच्चे लोकतत्र के अन्तर्गत बहुमत मे आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिये और अल्पसख्यक वर्ग को भी बहुमत की उचित बातें मान लेनी चाहिये। एक स्थान पर गाधीजी ने अपने मन्तव्य को यों स्पष्ट किया है— विस्तृत विवरणो मे एक बहुमत की बात मान लेनी चाहिये किन्तु उसके हर निर्णय को स्वीकार करना दासता होगी। बहुमत के शासन का यह अर्थ नही है कि एक व्यक्ति की राय भी यदि सबल हो तो कुचली जाय, बल्कि उसका भार बहुमत की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिये। यह मेरी वास्तविक प्रजातत्र की कल्पना है।"

प्रजातत्र की चुनाव और प्रतिनिधित्व प्रणाली मे गाधीजी का विश्वास था। वह चाहते थे कि ग्राम-पचायतें ग्रामो का शासन चलायें, ग्राम-पचायतों से जिले के प्रशासन अधिकारी चुने जाय जिलो के प्रशासन प्रान्तीय प्रशासन के लिये प्रतिनिधि चुनें और प्रान्तीय प्रशासन देश के राष्ट्रपति का निर्वाचन करें। किन्तु निर्वाचन मे जो प्रत्याशी खडे हों उनकी अर्हतायें विशेष रूप से कठोर हों। देश के प्रशासन मे भाग लेनेवाला प्रत्याशी निःस्वार्थ सेवी हो योग्य हो और ईमानदार भी हो। वह व्यक्ति पद लोलुप न हो, अपनी तारीफ का भूखा न हो, अपने राजनीतिक विरोधियो के प्रति वे अहिंसक हों और मादकताओ को भ्रष्ट करने का प्रयत्न न करनेवाला हो। गाधीजी तो यह भी नहीं चाहते थे कि कोई प्रत्याशी मतो की प्रार्थना करे। 'प्रत्याशी तो केवल मतदाताओं की सेवा करके उनके मत प्राप्त करें। गाधीजी सभी पुरुषों और स्त्रियों सभी नागरिकों-को मतदान का अधिकार देना चाहते थे। मतदान के अधिकार के लिये वे केवल अर्हता अत्यावश्यक समझते थे—अर्थात् वह कुछ श्रम करता हो। वे यह नहीं मानते थे कि सम्पत्ति मताधिकार का आधार हो। 'कोई व्यक्ति हाथ से श्रम करके जीविकोपार्जन करता है या नही-यही

मताधिकार की कसौटी होनी चाहिये।" शैक्षिक योग्यताओं या सम्पत्ति-विषयक अर्हताओं को भी वे महत्व नहीं देते। वे कहते थे "जो व्यक्ति शारीरिक श्रम करते हैं, वही राज्य की सेवा करते हैं। श्रम ही जीवन को नैतिक मूल्य प्राप्त कराता है। गांधीजी का विश्वास था कि श्रमिक को नागरिक अधिकार प्रदान करना 'भोजन के लिये श्रम के आदर्श' का राजनीति में व्यवहार करना है। इसका उद्देश्य जीवन को आत्म-निर्भर करना तथा लोगों को आत्मविश्वासी और निर्भीक बनाना है। प्रतिनिधित्व और निर्वाचन में गांधीजी की कितनी आस्था थी, यह उनके इन शब्दों से प्रकट होता है—

"स्वराज्य से मेरा अभिप्राय उस भारत सरकार से है, जिसमें जनता की स्वीकृति से शासन-कार्य होता हो, जिसका निश्चय वयस्क जनसंख्या के सर्वाधिक बहुमत के द्वारा हो—चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, वहीं जन्म लेनेवाले हों अथवा वहां आकर बस जानेवाले हों, जिन्होंने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की सेवा में योग दिया हो तथा जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम अंकित करवा लिया हो।" पुनश्च "यदि स्वतन्त्रता का जन्म अहिंसापूर्वक होता हो, तब सबके सब अंगीभूत भाग स्वयं ही एक दूसरे पर आधारित होंगे तथा वे प्रतिनिधि उस केन्द्रीय सत्ता के अधीन पूर्ण एकता अथवा मेल-जोल से कार्य करेंगे, जो अपनी स्वीकृति उस विश्वास से प्राप्त करेंगे, जो उनके अंगों द्वारा उस केन्द्रीय सत्ता के प्रति प्रकट किया गया है।"

व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक अनुशासन (Individual Liberty and Social discipline)—गांधीजी के अहिंसात्मक लोकतन्त्र का आवश्यक विवरण देने के उपरान्त यह जानना उचित होगा कि गांधीजी व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक अनुशासन के सामञ्जस्य की निरन्तर समस्या को किस प्रकार सुलझाना चाहते थे। गांधीजी एक महान् व्यक्तिवादी थे जिनके अनुसार राज्य, मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में उसको उन्नत बनाने वाले साधनों में से एक है। उनके अनुसार राज्य जनकल्याण का एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य सारे व्यक्तियों का (अधिकतम व्यक्तियों का नहीं) अधिकतम हित प्राप्त करना है। वे राज्य अथवा राज्य के कार्यों में कोई रहस्यात्मक पवित्रता (*Mysterious Sancitity*) नहीं ढूढ़ते बल्कि उनका विश्वास था कि राज्य मानवीय दुर्बलताओं की उपज है जिसका अपनी सत्ता के दुरुपयोग किये जाने पर विरोध किया जाना चाहिये। इस प्रकार गांधीवाद राज्य को कोई महानता अथवा पृथक व्यक्तित्व नहीं देता, अपितु नागरिकों के सामूहिक हित का लक्ष्य लेकर चलनेवाला एक साधनमात्र मानता है। व्यक्ति गांधीजी की संवेदना का सर्वोपरि बिन्दु है, सत्ता तथा मूल्य का केन्द्र है जिससे कि राज्य जीवन और शक्ति प्राप्त करता है। चूंकि व्यक्ति साध्य है तथा राज्य उसकी आत्मानुभूति के साध्य के लिये एक साधन है, अतः राज्य में सर्वत्र सेवा-भावना बनी रहनी चाहिये और उसे अपने को व्यक्ति का स्वामी कभी नहीं समझना चाहिये।

व्यक्तिवादी चिन्तन को प्रधानता देते हुए भी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने आपको समाज की प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने के कारण ही वह वर्तमान विकसित अवस्था को प्राप्त करता आया है। उनके स्वयं के शब्दों में—

में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कीमत करता हूं, परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मुख्यत एक सामाजिक प्राणी है। अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना सीखकर वह अपनी मौजूदा ऊंचा दर्जे पर पहुंचा। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जंगली जानवरों का कानून है। हमे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक सयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज—जिसका व्यक्ति सदस्य है—दोनो को समृद्ध करता है।"[1]

वर्तमान समाज मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सामञ्जस्य की स्थापना अन्ततः राज्य–दण्ड के प्रयोग मे होती है। गांधीजी की इच्छा धर्म–पालन के द्वारा एक अहिंसात्मक रीति से इस सामञ्जस्य की स्थापना करने की थी।

गाधीजी की धारणा थी कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सघर्ष का आधारमूल कारण यह है कि राज्य अपने स्वरूप में हिंसात्मक है। राज्य इस बात का परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरो का शोषण करने को कटिबद्ध रहते हैं। अहिंसा पर जो समाज आधारित होगा उसमे न इस तरह के शोषण ही होंगे और न सघर्ष के लिए अवसरों का विकास ही। सघर्ष के अवसर अपने आप ही कम हो जायेंगे। मनुष्य मे अहिंसा, सत्य और प्रेम के प्रति आस्था मे जितनी अधिक वृद्धि होगी और सेवा तथा सहयोग की भावना का जितना अधिक विकास होगा, उसी अनुपात मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होता जायगा और सघर्ष की स्थिति मिटती जायगी। गाधीजी का कहना था कि जिन लोगो को आतरिक स्वतन्त्रता की अनुभूति हो चुकी है वे जानते हैं कि सच्ची आत्मानुभूति का सर्वोत्तम साधन निष्काम लोकतन्त्र सेवा है। एक अहिंसात्मक लोकतत्र मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक कर्तव्य-पालन का ही दूसरा नाम है। यह उस प्राचीन हिन्दू-आदर्श का पुनरुत्थान है जो धर्म को सामाजिक सगठन एवं व्यक्ति तथा समाज के मध्य समुचित सम्बन्धों का आधार मानता है। गाधीजी की दृष्टि मे धर्म से अभिप्राय किसी सम्प्रदाय का होना नही है, प्रत्युत् "वह वह जीवित आत्मा है जो समाज के विकास के अनुकूल पुष्पित पल्लवित और सचालित होती है। धर्म का कार्य सामाजिक व्यवस्था म समन्वय कायम रखना है और अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास म व्यक्ति के अन्त:करण का पथ-प्रदर्शन करना है।"[2]

वर्तमान समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक सयम के मध्य सघर्ष का एक प्रमुख कारण गाधीजी के मतानुसार यह है कि व्यक्ति के अधिकारों को आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। गाधीजी अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यो पर अधिक बल देते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि सब लोग केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यों पर बल न दें, तो चारों

---

1 हरिजन, २७–५–३९

2. *G. N. Dhawan*, op. cit., Page 324

तरफ वड़ी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल जायगी। लेकिन यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हर एक अपना कर्तव्य-पालन करे, तो मानव-जाति में तुरन्त व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जाये। गांधीजी ने यह विश्वास व्यक्त किया कि "यदि आप यह सादा और सार्वत्रिक नियम मालिकों और मजदूरों जमींदारों और किसानों, राजाओं और उनके प्रजाजनों या हिन्दूओं और मुसलमानों पर लागू करें, तो आप देखेंगे कि भारत और ससार के दूसरे भागों में जीवन और व्यवसाय में आज जैसी पाई जाती है, वैसी अशान्ति और अस्त-व्यस्तता पैदा किये बिना जीवन के तमाम क्षेत्रों में अत्यन्त सुखद सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। जिसे मैं *सत्याग्रह का कानून* कहता हूँ, वह कर्तव्यों को पूरी तरह समझने और उनसे पैदा होनेवाले अधिकारों से उत्पन्न होगा। उदाहरणार्थ, एक हिन्दू का अपने मुसलमान पडौसी के प्रति क्या फर्ज है? उसका फर्ज इन्सान के नाते उससे दोस्ती करना, उसके सुख-दुख में शरीक होना और संकट में उसकी सहायता करना है। तब उसे अपने मुसलमान पडौसी से वैसे ही वर्ताव की आशा रखने का हक होगा और बहुत करके उसकी तरफ से आशानुसार ही उत्तर मिलेगा।"[1]

गांधीजी कर्तव्यों के पालन को व्यक्ति के जीवन-मरण की समस्या मानते थे। उनके अनुसार इसमें उसके सभी न्यायपूर्ण अधिकारों का समावेश हो जाता है। अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता जब तक कि उसके साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ न हो। इसी प्रकार अधिकार के बिना कर्तव्य की स्थिति है। अधिकार उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं जो अपने राज्य की सेवा करता है, जहां का वह निवासी है।" प्रकाश का सच्चा स्रोत कर्तव्य है। यदि हम सब अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, तो अधिकारों को ढूंढना कठिन नहीं होगा। यदि अपने कर्तव्यों का पालन किये बिना हम अधिकारों के पीछे भागते हैं, तो वे हमसे उसी प्रकार दूर भाग जावेंगे, जैसे कि दलदल में उत्पन्न होनेवाला जगमगाता हुआ प्रकाश। जितना ही अधिक हम उसका पीछा करते हैं, उतना ही आगे वह भाग खड़ा होता है।"

स्पष्ट है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समाज के प्रति कर्तव्य में संघर्ष का कारण असीमित व्यक्तिवाद है, हमें अपने अधिकारों और कर्तव्यों के सामाजिक स्वरूप को पहचानना है, तथा यह तथ्य भी है कि सामान्य जनता कभी-कभी यह भूल जाती है कि सरकार का अस्तित्व उनके निरन्तर सहयोग से ही है। यदि यह विचार धनात्मक (*Positive*) और नकारात्मक (*Negative*) दोनों रूप से जनता का मार्ग-दर्शन करता है, और लोग सभी लोक-कल्याणकारी कार्यों में और श्रेष्ठ कानूनों की रक्षा करने में यथाशक्ति सहयोग देते हैं तो यह निश्चित है कि संघर्षों के अवसर शनैः शनैः घटते जायेंगे। सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों का पालन एवं धर्मानुसार सामाजिक जीवन का नियमन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक कर्तव्य एवं अनुशासन या संयम के मध्य संघर्ष की समस्या का स्वतः समाधान कर देगा।

(२) विकेन्द्रीकरण (**Decentralisation**)—अहिंसा के आधार पर स्थिर राज्य का एक प्रमुख लक्षण होगा—राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही

क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण। यह बताया जा चुका है कि गांधीजी के अनुसार विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता इसलिए है कि केन्द्रीकृत व्यवस्था पर्याप्त बल एवं हिंसा के बिना टिकी नहीं रह सकती। एक व्यवस्था के रूप में केन्द्रीकरण का परिणाम होता है ऊपर के कुछ व्यक्तियों के हाथों में सत्ता का एकत्रित होना जो सामाजिक समानता तथा व्यक्तित्व के सिद्धांतों से असगत है। गांधीवादी सामाजिक दर्शन में विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत का जो अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, उसे निम्न अवतरण में बड़ी सुन्दर रीति से वर्णित किया गया है—

"विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत का समर्थन गांधीवाद में इस अनुभूति के आधार पर किया जाता है कि केन्द्रीकृत उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था तथा राजनीतिक सत्ता का एकत्रित होना ये दोनों ही बातें व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक वातावरण के प्रतिकूल होती हैं। गांधीजी का विश्वास था कि मानव-सुख का ध्येय, जो व्यक्ति के मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की पूर्ण सुविधा पर निर्भर है, उत्पादन और सत्ता की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में ही प्राप्त हो सकता है। राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा स्वतः कार्य करने की सामर्थ्य पर आधारित जनतन्त्र कारगर होता है और व्यक्ति अपने देश के शासन में भाग ले सकता है इससे मानव जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की अपने आप ही व्यवस्था हो जाती है। उत्पादन और उपभोग दोनों एक ही स्थान पर होंगे, ऐसा नहीं होगा कि उत्पादन किसी एक ही विशिष्ट स्थान पर केन्द्रित हो जिससे उपज तथा सम्पत्ति के वितरण के लिए नियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़े। विकेन्द्रीकरण में मशीनों के प्रयोग का नियमन भी हो सकेगा। स्वार्थ सिद्धि के लिए मशीनों के वर्तमान अनियन्त्रित प्रयोग से असंख्य लोगों का जीवन नीरस तथा भार-रूप हो गया है।'[1]

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि ग्रामों को अपने कार्यों की व्यवस्था करने में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और अपनी ओर से कार्य करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। उसके ऊपर राष्ट्रीय अथवा संघीय सरकार का नियन्त्रण न्यूनतम होना चाहिए। यदि नियन्त्रण स्वरूप में दमनकारी न होकर केवल नैतिक रहे तो यह व्यवस्था आदर्श रहेगी। राष्ट्रीय निकायों के लिए चुनावों का अप्रत्यक्ष बना देने से विकेन्द्रीकरण लाने में बड़ी सहायता मिलेगी। प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्मित राष्ट्रीय संसद अपने हाथों में अत्यधिक सत्ता लेलेगी और इस प्रकार वह व्यक्तित्व के विकास के लिए भयावह हो जायगी। अपने 'हिन्द स्वराज्य' में गांधीजी ने ब्रिटिश संसद की बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

राजनीतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का जो विचार महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया उसकी आवश्यकता को पाश्चात्य संसार आज अनुभव कर रहा है। आज जिस प्रकार बहुलवाद (*Pluralism*) राजसत्ता की निरंकुशता के विरुद्ध आवाज उठाकर उसे अनेक संघों में विभाजित करना चाहता है,

---

1 Theosophical Free Tract No 23, March 21, 1952

वह गांधीवादी दर्शन की इस मान्यता के अनुरूप है कि राज्य सर्वेसर्वा नहीं होना चाहिये; बल्कि राजसत्ता को सीमित, मर्यादित तथा नियंत्रित होना चाहिये। प्रो० जोड का कहना है कि यदि सामाजिक कार्यवाही में मानव-विश्वास को पुनर्जीवित करना है तो "राज्य के टुकड़े करके उसके कार्यों को बांट देना चाहिये।..........शासन की मशीन का आकार छोटा कर देना चाहिये और इसे स्थाई रूप देकर ऐसा बना देना चाहिये कि इसका प्रबन्ध सरलतापूर्वक किया जा सके ताकि अपने राजनीतिक परिश्रम के फल को अपने सामने देखकर वे यह अनुभव कर सकें कि जहां स्वशासन एक तथ्य है वहां समाज उनकी इच्छाओं के सम्मुख छिप जाता है क्योंकि वे स्वयं ही समाज हैं।"[1]

आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय है विशाल पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगों और कारखानों को बन्द करना तथा उनके स्थान पर कुटीर उद्योगों को स्थापित करना। गांधीजी स्वदेशी व कुटीर व्यवसाय (*Cottage Industries*) के समर्थक थे और यूरोप के औद्योगिक इतिहास का अध्ययन कर इस निर्णय पर पहुंचे थे कि भारत जैसे देश में जहां जनसंख्या बहुत अधिक है, बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना, बेरोजगारी व बेकारी को बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करेगी। उद्योगों में पैदा होनेवाले उत्पादन दरिद्र कारीगरों का विनाश कर देगा और मजदूर तथा मालिक के झगड़ों से समाज में अत्यन्त अशान्ति फैल जायगी। देश की कृषि अवनत हो जायगी और कच्चे माल के बिना अन्त में वे बड़े उद्योग भी विनष्ट हो जायेंगे। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि अपने चारों ओर के संसार में आज जिस हिंसा के हम दर्शन करते हैं उसका एक बहुत बड़ा अंश केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था का ही परिणाम है। भौतिक पाश्चात्य सभ्यता की अधिकांश बुराईयां इसी की सन्तान है। साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्व, संघर्ष आदि एक बड़ी सीमा तक इसी की उत्पत्ति है। अतः अहिंसा प्रधान राज्य में अत्यधिक केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के स्थान पर कुटीर-उद्योग-व्यवस्था ही पनपेगी जिसमें कि उत्पादन के यन्त्रों और उत्पादित वस्तु का स्वामी स्वयं श्रमिक होगा। गांधीजी ने यह स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया कि यदि आर्थिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिष्ठान करना है तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करना है तो इसका सर्वोत्तम साधन कुटीर उद्योग ही हैं। कुटीर-उद्योग-व्यवस्था में राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में भी अधिक विषमता नहीं हो सकती।

---

1. "The state must be cut up and its functions distributed.... The machinery of government must be reduced in scale; it must be made manageable by being made local, so that, in seeing the concrete results of their political labours before them men can be brought to realise that where self-government is a fact, society is malleable to their will be cause society is themselves."

—Quoted by *Shriman Narayan*, Vishwa Bharti Quarterly. Gandhi Memorial Peace Number, Page 180

शारीरिक परिश्रम की महान् उपयोगिता मे आस्था रखने वाले गाधीजी के लिये यद्यपि यह स्वाभाविक था कि वे आधुनिक औद्योगिकता, मशीनो द्वारा बडे पैमाने पर केन्द्रीयभूत उत्पादन आदि को मनुष्य जाति के लिए एक अभिशाप मानें, किन्तु इससे यह नही समझा जाना चाहिये कि गाधीजी मशीनो और मशीनो द्वारा सचालित बडे-बडे उद्योगो के सर्वथा विरुद्ध थे। गाधीवाद चर्खा-भक्ति या लगोटी लगाने की सीख देनेवाली आर्थिक व्यवस्था (*Lion Cloth Economy*) नही है। गाधीवाद औद्योगिकरण का विरोधी होते हुए भी मशीनो के प्रयोग *की अनुमति उस सीमा तक देता है* जहा तक कि वह सारे समाज के हित मे बाधक नही है। गाधीजी ऐसी मशीनो के प्रयोग को नही चाहते थे जो *या तो विनाशकारी हो या शोषण* को प्रोत्साहन देनेवाली हो। उदाहरणार्थ तोप, बन्दूक, मशीनगन व बम्ब आदि विनाशकारी है, अत यह सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार बडे-बडे कारखानो म प्रयुक्त होनेवाली वे मशीनें जो श्रमिको का शोषण करने मे पूजीपतियो की सहायता करती है, त्याज्य है। पर रेल, जहाज, सिलाई मशीन, हल, चर्खा, फावडा आदि मशीनो का प्रयोग विहित है, क्योकि वे मनुष्य के लिये आवश्यकता की वस्तुओ का उत्पादन करने म सहायक होती है। वे गृह उद्योगो में काम आनेवाली मशीनो के प्रयोग और उनके सुधार के समर्थक थे, पर कहते थे कि "यांत्रिक शक्ति से चलनेवाली मशीनों का व्यवहार करके लाखो लोगो को बेकार कर देना मेरी दृष्टि म अपराध है।" वास्तव मे 'समय और दूरी को नष्ट करने, पाशविक इच्छाओ की वृद्धि करने तथा उनको पूर्ण करने के लिये जमीन आसमान एक कर देने की उन्मादपूर्ण इच्छा" से उन्हे हार्दिक घृणा थी। *उनके अहिंसा प्रधान राज्य में जीवन बडा* सादा होगा और आवश्यकतायें भी कम होगी जिनकी पूर्ति सरलता से हो सकेगी। ऐसे वातावरण मे उत्पन्न होनेवाली सभ्यता ग्रामीण सभ्यता होगी। इसका एक *बहुत बडा लाभ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय झगडे और तनाव का* अन्त हो जायगा। जब समाज छोटी-छोटी इकाइयों मे बटा होगा, दैनिक आवश्यकता की सारी चीजें स्थानीय कुटीर व्यवसायो से प्राप्त हो जायेंगी, छोटे छोटे गावो में इतनी उन्नत दशा मे होंगे कि *प्रत्येक कारीगर व देश के नागरिक* नौजवान को काम मिल सकेगा तो निश्चित रूप से औद्योगिक पूजीवाद की प्रतियोगिता समाप्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना हो सकेगी। अहिंसा और विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्थिर सरल समाज *से दूसरे समाजों* की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को कोई *भय नहीं* होगा और *न उस समाज को* ही उनसे कोई भय रहेगा। किन्तु यहा यह शका होती है कि क्या आधुनिक राज्य मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को इस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है कि बडे-बडे कारखानों को पूर्णतया बन्द कर दिया जाय। यहां गाधी का आदर्शवाद पुन. यथार्थ से सधि करता है। एक व्यावहारिक [illegible] *नाते गाधीजी ने मनुष्य की दुर्बलताओ का लिहाज किया और* [illegible] किया कि पूर्ण एवं राज्यहीन समाज "एक सुन्दर [illegible] [illegible] सुलभ हो जाती [illegible] [illegible] देना सम्भव नहीं है। अहिंसात्मक राज्य में [illegible] और बिजली [illegible] केन्द्रीकृत उद्योग को बने रहने देने में उन्हे कोई

बशर्ते कि नागरिकगण उद्योगवाद के दोषों से बचे रहें। सिद्धान्त यह है कि बड़े पैमाने के उद्योगों को कुटीर उद्योगों का प्रतिद्वन्द्वी न बनकर उनका सहायक होना चाहिये। वस्तुतः गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित व औद्योगिक व्यवस्था के दुर्गुणों के विरुद्ध चेतावनी देकर एक ऐसी विकेन्द्रित व्यवस्था चाहता है जिसमें कुटीर व ग्राम उद्योग पनपें और पूंजीपति लोग नैतिकता का पालन करते हुए अपने को पूंजी का ट्रस्टी मात्र समझें, स्वामी नहीं।

प्रायः यह कहा जाता है कि गांधीजी ने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का जो विचार प्रस्तुत किया वह अवश्य ही उचित है लेकिन कुटीर-उद्योग के पुनरोत्थान करने का उनका प्रयास एक प्रतिगामी कदम है, "घड़ी को सुईयों को पीछे की ओर घुमाना" है। गांधीजी के आर्थिक विकेन्द्रीकरण की इस आलोचना को पूर्णतः सही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह एक तथ्य है कि जितने रोगों से आज हम ग्रस्त हैं उनमें से अधिकांश आधुनिक उद्योगवाद और उससे उत्पन्न निर्दय शोषण का परिणाम है। साम्यवाद, उद्योगवाद को कायम रखने का लेकिन उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व का समाजीकरण करके उसके दोषों को मिटाने का प्रयास करता है। किन्तु साम्यवाद का प्रयोग उद्योगवाद जनित दोषों से मानव जाति को मुक्त नहीं कर सकते। ये दोष मिट तो तभी सकते हैं जबकि इनके स्रोत को ही नष्ट कर दिया जाय। इसमें संशय की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि मनुष्य इस संसार को एक अधिक श्रेष्ठ निवास-स्थल बनाना चाहता है तो राजनीति ही नहीं बल्कि अर्थ नीति भी सत्य और अहिंसा पर आधारित होनी चाहिये। मानवता को बढ़ते हुए कष्टों से बचाने के लिये उद्योगवाद की नीति का परित्याग करना एक सफल इलाज सिद्ध हो सकता है। विशाल पैमाने का उद्योगवाद यदि आज के समान ही पूर्णतः गतिशील रहा तो मानव जाति को प्रथम दो महायुद्धों से भी भयानक और विनाशकारी तृतीय महायुद्ध की विभीषिकाओं का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

(३) वितरण, अपरिग्रह और अस्तेय (Distribution, Non-possession and Non-Stealing)—वितरण के विषय में गांधीजी का मत था कि इस सम्बन्ध में प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति भर करने के लिये ले। उनका मत था कि प्रकृति स्वयं उतना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिये आवश्यक है। यदि प्रत्येक केवल अपनी आवश्यकता भर के लिये ले और अनावश्यक संग्रह न करे, तो अभावग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न न होने पाये। चूंकि लोग अस्तेय (*Non-Stealing*) व अपरिग्रह (*Non-Possession*) पर नहीं चलते, अतः समाज में आर्थिक विषमता व निर्धनता आदि उत्पन्न होती है। गांधीजी का कहना था कि दूसरे से कोई चीज उसकी इजाजत से लेना भी चोरी है, अगर हमें दरअसल उसकी जरूरत न हो। "अस्तेय व्रत का पालन करनेवाला धीरे-धीरे अपनी आवश्यकतायें घटा लेगा। इस संसार का अधिकांश दुःखदायी दारिद्र्य अस्तेय सिद्धान्त के भंग से पैदा हुआ है। जो अस्तेय-सिद्धान्त का पालन करता है वह भविष्य में प्राप्त की जानेवाली वस्तुओं की चिन्ता नहीं करेगा।" अपरिग्रह का अस्तेय के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है। कोई चीज वास्तव में चुराई न गई हो तो भी अगर हम आवश्यकता के बिना अगर उसका संग्रह करते हैं तो वह चोरी का माल समझा जाना चाहिये। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के

लिये संग्रह करना, अतः अपरिग्रह का अर्थ हुआ भविष्य के लिये संग्रह न करना। सत्य-शोधक, प्रेम धर्म का पालन करने वाला कल के लिये कोई चीज संग्रह करके नहीं रख सकता। ईश्वर परिग्रह नहीं करता। यदि हमें उसकी दया पर भरोसा है, तो हमें निश्चिन्त रहना चाहिये कि वह नित्य हम खाने को देगा अर्थात् हमारी सब जरूरतें पूरी करेगा। यह एक असहनीय बात है कि धनवानों के पास तो जिन चीजों की उन्हें जरूरत नहीं है उनका फालतू भंडार भरा है और दूसरी तरफ लाखों लोग जीविका के अभाव में भूख से मर जाते हैं। यदि हर एक अपनी जरूरत की चीजें ही रखे, तो किसी को कमी न रहेगी और सब सन्तोषपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। आज तो अमीर-गरीब सभी समान रूप से असन्तुष्ट हैं। गरीब आदमी लखपति बनना चाहता है और लखपति करोड़पति। सबमें सन्तोष की भावना फैलाने की दृष्टि से अमीरों को परिग्रह (भविष्य के लिये संग्रह) छोड़ने में पहल करनी चाहिये। यदि वे अपनी निजी सम्पत्ति को साधारण मर्यादा में रखें, तो भूखों को आसानी से खाने को मिल जाये और वे धनवानों के साथ-साथ सन्तोष का पाठ सीख जायें। गांधीजी की यह मान्यता थी कि अधिक धन का एकत्रीकरण धनियों का नैतिक पतन करता है और समाज में आर्थिक विषमता फैलाती है, अतः सम्पत्ति का समान वितरण होना चाहिये। परन्तु कि वे जानते थे कि ऐसा होना सम्भव नहीं है, अतः उनका मत था कि वितरण औचित्यपूर्ण (*Equitable*) होना चाहिये, और विषमताओं को न्यूनतम किया जाना चाहिये, जिससे किसी के लिये भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का अभाव न रहे।

(४) संरक्षकता या न्यास सिद्धान्त (Principle of Trusteeship)- इस समय समाज में जो आर्थिक विषमतायें विद्यमान हैं, उनके निराकरण के विषय में गांधीजी का मत था कि उनका निराकरण उस साम्यवादी ढंग से किया जाना उचित नहीं है जिसके अन्तर्गत धनिकों के धन को उनसे बलपूर्वक छीनकर उसे सार्वजनिक हित के लिये प्रयोग करने की बात कही जाती है, वरन् उनके मतानुसार आर्थिक विषमता की समस्या का हल न्यास (या संरक्षकता) सिद्धान्त पर चलने से हो सकता है। बलपूर्वक धनिकों का धन छीनकर उसे सार्वजनिक हित में लगाना दो दृष्टियों से विशेष हानिकारक और इसलिये त्याज्य है—प्रथम, ऐसा करना हिंसामय है, द्वितीय, धनिकों को पूर्णतः नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित हो जाता है। गांधीजी का विश्वास था कि 'ऐसे व्यक्ति को खोकर जो धन एकत्रित करना जानता है, समाज अपनी क्षति कर लेगा।' इसीलिये गांधीजी चाहते थे कि धनी अपनी सम्पत्ति अपने पास रखें और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिये जितना वह उचित समझे खर्च करे, परन्तु अवशिष्ट सम्पत्ति को समाज की धरोहर (*Trust*) समझें जिसका उपयोग समाज के लिये ही होना है। समान वितरण का सिद्धान्त यह कहता है कि अमीरों को अपने पड़ौसियों से एक रुपया भी अधिक नहीं रखना चाहिये। इस आदर्श को न्यास अर्थात् ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है। गांधीजी के शब्दों में, "धनवान आदमी के पास उसका धन रहने दिया जावेगा, परन्तु उसका उतना ही भाग वह अपने काम में लेगा जितना उसे अपनी जरूरत के लिये उचित रूप में चाहिये, बाकी को वह

समाज उपयोग के लिये धरोहर रूप में समझे। इस तर्क में यह मान लिया गया है कि संरक्षक प्रामाणिक हो।" समाज की वर्तमान अवस्था में ही नहीं बल्कि सभी अवस्थाओं में अपरिग्रह के आदर्श के अनुकूल जीवन व्यतीत करने का व्यावहारिक ढंग यही है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने लिये नहीं बल्कि समाज की ओर से निक्षेप की तरह धारण करें। इस सिद्धान्त के अनुसार निजी तथा अन्य सम्पत्ति में कोई भेद नहीं है। सभी सम्पत्ति, चाहे उसका स्वामी कोई हो, निक्षेप (*Trust*) समझी जानी चाहिये। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये व्यक्ति के उच्चकोटि के नैतिक विकास की आवश्यकता है। यदि राष्ट्र और व्यक्ति इसके अनुसार आचरण करें तो व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण बन्द हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के कारण कम हो जायेंगे।

प्रश्न उठता है कि यदि भरसक प्रयत्न करने पर भी धनी लोग सच्चे अर्थ में समाज के और निर्धनों के संरक्षक न बनें और गरीबों को अधिकाधिक कुचला जाय और वे भूख से मरें, तो क्या किया जाये? इस पहेली का हल ढूंढने के प्रयत्न में गांधीजी अहिंसक असहयोग और सविनय आज्ञा भंग का "सही और अचूक" उपाय सुझाते हैं। धनवान लोग समाज के गरीबों के सहयोग के बिना धन-संग्रह नहीं कर सकते। यदि यह ज्ञान गरीबों में प्रवेश कर के फैल जाये तो वे बलवान हो जायेंगे और अहिंसा के द्वारा अपने को उन कुचलनेवाली असमानताओं से मुक्त करना सीख लेंगे, जिन्होंने उन्हें भूखमरी के किनारे पहुँचा दिया है।[1] गांधीजी ने कहा कि हिंसात्मक साधनों का प्रयोग स्वयं मजदूरों के प्रति विनाशकारी होगा। यदि मजदूरों को अपनी भावनाओं को संयत और नियंत्रित करना नहीं सिखाया जायेगा और उनके संगठन का आधार केवल एक सामान्य शत्रु के प्रति घृणा-भाव होगा तो इस बात की बहुत बड़ी संभावना है कि शक्ति प्राप्त करने के बाद उनमें आपस में ही संघर्ष की शुरूआत हो जायेगी। ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त पूर्णतः अहिंसात्मक है जिसमें अमीरों को ही इस बात का विश्वास दिलाया जाता है कि जो धन उनके पास है वह जनता के श्रम का फल है, केवल उन्हीं के प्रयास का नहीं। यह एक सामाजिक उत्पत्ति है अतः व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए समाज के लिये इसका उपयोग करना हर तरह उचित है।

गांधीजी के एक निकटतम साथी श्री प्यारेलाल ने, ट्रस्टीशिप के उस अन्तिम मसौदे को, जो गांधीजी ने स्वीकार किया था, इस प्रकार प्रकट किया है[2]—

(१) संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) ऐसा साधन प्रदान करती है जिससे समाज की मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्था में बदल जाती है। इसमें पूंजीवाद की तो गुंजाईश नही है, मगर यह वर्तमान पूंजीपति-वर्ग को अपना सुधार करने का मौका देत

1. हरिजन, २५-८-४०, पृष्ठ २६०-६१
2. वही, २५-१०-५२

है । इसका आधार यह शुद्धा है कि मानव स्वभाव ऐसा नहीं है, जिसका कभी उद्धार न हो सके ।

(२) वह सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई हक मंजूर नहीं करती; हां, उसमें समाज स्वयं अपनी भलाई के लिए किसी हद तक इसको इजाजत दे सकता है ।

(३) इसमें धन के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी नियमन की मनाही नहीं है ।

(४) इस प्रकार राज्य द्वारा नियमित संरक्षकता में कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए या समाज के हित के विरुद्ध सम्पत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा ।

(५) जैसे उचित न्यूनतम जीवन वेतन स्थिर करने की बात कही गई है ठीक उसी तरह यह भी तय कर दिया जाना चाहिए कि समाज में किसी भी व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा कितनी आमदनी हो । न्यूनतम और अधिकतम आमदनियों के बीच का फर्क उचित, न्यायपूर्ण और समय समय पर इस प्रकार बदलता रहनेवाला होना चाहिए कि उनका झुकाव उस फर्क को मिटाने की तरफ हो ।

(६) गांधीवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप समाज की जरूरत से निश्चित होगा, न कि व्यक्ति की सनक या लालच से ।

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का बड़ा ही सुन्दर विवरण *Theosophical Free Tract No. 23* में दिया हुआ है जो लम्बा होने के बावजूद यहां ज्यों-का-त्यों उद्धृत करने योग्य है—

"आधुनिक सामाजिक दार्शनिकों द्वारा कल्पित सामाजिक क्रान्ति की दूसरी मुख्य बात 'आर्थिक समानता' है जिसका अर्थ है व्यक्ति की चरम उन्नति के लिये समान अवसरों की सुविधा प्रदान करना । आजकल सम्पत्ति के उचित वितरण की समस्या का समाधान समाजवादी अथवा लोक कल्याणवादी राज्य द्वारा करने की बातचीत की जाती है । यदि हम मान भी लें कि ये दोनों ही उपाय अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रभावकारी हो सकते हैं तो भी उनमें सामाजिक संगठन विकेन्द्रीकरण के प्रथम आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा । समाजवादी राज्य में उत्पादन के साधनों तथा वितरण के तरीकों का समाजीकरण किया जाता है । उनका संचालन प्रबन्धकों विशेषज्ञों आदि की एक विशाल नौकरशाही के द्वारा किया जाता है । लोक कल्याणवादी राज्य में भी गरीबों को मुफ्त सहायता, सामाजिक बीमे तथा राजकीय अस्पताल, निःशुल्क पाठशालाओं आदि के रूप में, अन्य प्रकार के लाभदायक कामों के लिये बढ़ती हुई दर पर कर वसूल करने के लिए एक विशाल नौकरशाही संगठन की आवश्यकता होती है । सम्पत्ति के समान वितरण का समाजवादी तरीका निजी सम्पत्ति जब्त करना है । लोककल्याणकारी राज्य यही काम ऊंची आमदनियों पर ऊंचे कर लगा कर करता है ।

गांधीजी का विश्वास था कि सम्पत्ति के समान विनरण की समस्या के आधार में ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त होना चाहिये। धनी लोग अपनी अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति के ट्रस्टी हैं अथवा उनको ऐसा होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी उचित आवश्यकताओं से अधिक कुछ रखना या संग्रह करना चोरी है। यदि ऐसा है तो सम्पत्ति का समान वितरण किस प्रकार हो? धनी की सम्पत्ति उसी के पास रहेगी और वह उसमें से अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए खर्च करेगा; अवशिष्ट सम्पत्ति को वह अपने पास समाज का निक्षेप समझेगा और उसका उपयोग वह समाज के लिये ही करेगा। किन्तु यदि धनी लोग इस प्रकार गरीबों के संरक्षक न बनें तो क्या किया जाना चाहिए? महात्माजी के पास इसका एक ही उचित एव अचूक उपाय था—अहिंसात्मक असहयोग तथा सविनय अवज्ञा।

धनी लोगों के अपने गरीब भाईयों के प्रति अपनी जिम्मेदारी बतलाने के लिए गांधीजी कहते थे कि वे गरीबों के ऐच्छिक अथवा जबरदस्ती प्राप्त किये हुए सहयोग के बिना धन न प्राप्त कर सकते हैं और न उसे रख ही सकते हैं। पूंजीपतियों, जमींदारों, मिल-मालिकों, साहुकारों, मुनाफाखोरों आदि से उन गरीब लोगों के ट्रस्टी बनने का अनुरोध किया जायगा जिनके ऊपर वे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने, अपने पास बनाये रखने तथा उसकी वृद्धि करने के लिये निर्भर हैं। बनियों के इस विचार को ग्रहण करने तक के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि धन से शक्ति प्राप्त होती है तो श्रम से भी शक्ति प्राप्त होती है। दोनों परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। जब मजदूर अपनी शक्ति को पहचान लेता है तो वह गुलाम बने रहने की अपेक्षा पूंजीपति का सहभागी बनने की स्थिति में पहुंच जाता है। मजदूर के असहयोग से पूंजीपति की आंखें खुल जायेंगी और उसे अपनी त्रुटियां मालूम हो जायेंगी यदि मजदूर लोग प्रायः असफल होते हैं तो इसका कारण यह है कि वे पूंजीपतियों को उनकी जिम्मेदारी का ज्ञान कराने की जगह अपने लिए सम्पत्ति प्राप्त करना और पूंजीपति बन जाना चाहते हैं।

मजदूरों की आवश्यकता के समय अहिंसात्मक असहयोग का प्रयोग करने की शिक्षा धीरे-धीरे ही होगी परन्तु यह दावा किया जा सकता है कि यह उपाय सबसे असंदिग्ध और सबसे जल्दी फल देनेवाला है। यह बात सरलता से समझ में आ सकती है कि पूंजीपतियों के विनाश का अर्थ अन्त में मजदूरों का भी विनाश होगा। कोई भी सामान्य मनुष्य इतना बुरा नहीं होता कि उसका सुधार ही न हो सके और कोई भी साधारण मनुष्य संसार में इतना पूर्ण नहीं है जो यह जान सके कि दूसरा पूर्णतया बुरा है या नहीं।

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की बड़ी आलोचना हुई है और कुछ लोग इसे केवल एक अल्पकालिक उपाय या धोखे की टट्टी समझते हैं। कुछ लोग, जिन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है, समझते हैं कि ट्रस्टी की आवश्यकता केवल क्रान्ति के बाद के युग में उस समय तक ही है जब तक कि समाज स्वयं अपनी वसीयत को अपने हाथों में लेकर उसका प्रबन्ध करना आरम्भ नहीं कर देता। यह सर्वहारावर्ग के साम्यवादी अधिनायकतन्त्र के समान है जो समाज के नेताओं के अपनी वसीयत सम्हालने तक के लिए एक प्रकार के एक दल का ट्रस्टीशिप

है । किन्तु जब तक हम इस सिद्धान्त के दार्शनिक आधार को ठीक-ठीक न समझलें तब तक उसकी ठीक ठीक कल्पना हमारे लिये सभव नहीं ।'

(५) वर्ण व्यवस्था—गांधीजी का अहिंसात्मक राज्य वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर आधारित होगा । वर्ण के बारे में गांधीजी के विचार मौलिकता लिये हुए हैं । इनका जातियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और न रोटी-बेटी व्यवहार से ही कोई सरोकार है । ये ऊँच-नीच के ख्याल या रुपये-पैसे की कमी-बेशी पर नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक बराबरी के सिद्धान्त पर और उस सिद्धान्त पर अमल करने के आदर्श पर बनाये गये हैं । हो सकता है कि यदि पढनेवाला कल्पनाशील न हो तो इन विचारों को आकाश में उड़ना ही समझे लेकिन आदर्शवादी जनता उन पर अमल करने की कोशिश करेगी । गांधीजी के नमूने के समाज में विश्व-विद्यालय का विद्वान प्रोफेसर और गांव का मुखो बड़ा सेनापति और छोटा सा सिपाही होशियार व्यापारी और उसका गुमास्ता मजदूर और भगी सब एक से खानदानी माने जायेंगे और सबकी खानगी माली हालत बराबर होगी । इससे इज्जत या आमदनी बढाने के लिये एक धन्धा छोड़कर दूसरा धन्धा करने का लालच नहीं रहेगा । गांधीजी का विश्वास था कि कोई धंधा करने की लियाकत विरासत में चली आती हो या शिक्षा और आसपास के वातावरण से मिली हो लेकिन सौ में से नब्बे प्रतिशत बच्चों की लियाकत तो पैतृक धधा करने की ही होना सभव है और वह पेशा करने से यदि आमदनी या इज्जत कम न हो, तो वे व्यर्थ ही दूसरा धन्धा ढूंढना न चाहेंगे । जिस तरह योग्यता हो या न हो तो भी सैकड़ो विद्यार्थी युनिवरसिटी की डिगरियों के पीछे पड़ते हैं वैसे वे बेकार कोशिश नहीं करेंगे । गांव के कुशाग्र बुद्धि युवक गांवों को खाली करते नहीं देख जायेंगे यह हो सकता है कि इक्के दुक्के बच्चों का झुकाव दूसरी तरफ हो । यह भी सम्भव है कि आवश्यकतानुसार अलग धन्धों के लिये भी कुछ लोगों को प्रेरणा दी जाय । गांधीजी की कल्पना में इसकी मनाही नहीं है, न उसमें आगे बढ़ने के बजाय एक जगह बैठे रहने की ही गुंजाइश है ।[1]

संक्षेप में यह कहा जाना चाहिये कि वर्ण व्यवस्था सिद्धान्त से गांधीजी का अभिप्राय यह है कि यथासम्भव प्रत्येक व्यक्ति को अपने परम्परागत और वंशानुगत उद्यम करना चाहिये बशर्ते कि वे उद्यम आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों और यह बात केवल आजीविका प्राप्त करने के लिये है । इस सिद्धान्त के बड़े दूरगामी लाभ हैं । यह आर्थिक जीवन में प्रतिस्पर्द्धा और व्यक्तिगत लाभ का भाव मिटानेवाला और समाज में स्थिरता लाने वाला है । यह बालकों को अपने जीवन उद्यम का स्वाभाविक प्रशिक्षण देनेवाला और परिणामस्वरूप तकनीकी प्रगति करनेवाला है । अपने इस सिद्धान्त का समर्थन गांधीजी ने निम्नलिखित आशा और विश्वास भरे शब्दों में किया है—

'मेरा विश्वास है कि ससार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है । प्रत्येक व्यक्ति की कुछ ऐसी जन्मजात सीमायें होती हैं जिन्हें वह नहीं लांघ सकता । उन्हीं सीमाओं को ध्यानपूर्वक देखने से वर्ण

1 गांधीजी—वर्ण व्यवस्था (मशरूवाला की टिप्पणी) पृष्ठ ६

धर्म का विकास हुआ। उससे कुछ प्रवृतियां स्थापित हो जाती है। इससे सारी अशोभनीय प्रतिस्पर्धा दूर हो जाती थी। सीमाओं को मानते हुए भी वर्ण धर्म में ऊंच-नीच का भेद न था; यह एक ओर तो इस बात की गारण्टी थी कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम का उचित प्रतिफल मिलेगा और दूसरी ओर वह अपने पड़ोसी के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह महान धर्म अब पतित और तिरस्कृत हो चुका है। किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना केवल तभी सम्भव है जबकि वर्ण-धर्म को भले प्रकार समझा जावे और उसे क्रियात्मक रूप दिया जावे।"[1]

स्पष्ट है कि गांधीजी के वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त से मुख्य तीन परिणाम निकलते हैं—प्रथम, इसमें समस्त उद्योगों की समानता निहित है जिसमें ऊंच-नीच के भेद-भाव नहीं होंगे; द्वितीय, परम्परागत और वशानुगत उद्योग केवल अपनी जीविकोपार्जन और सामाजिक हित की भावना से काम में लाये जायेंगे, धन-सचय की प्रवृत्ति से नहीं, और तृतीय, भिन्न उद्योगों की आय अधिकाधिक समान होगी। अधिकांश उद्यमों का वशानुगत स्वरूप वर्तमान प्रतिस्पर्धा के सामने इसीलिए नहीं टिक सका क्योंकि विभिन्न उद्यम करनेवालों की आय और प्रतिष्ठा में बहुत अन्तर हो गया तथा लोगों ने अपने जीवन का ध्येय जीविकोपार्जन नहीं बल्कि धन संचित करना बना लिया। आचार्य विनोबा भावे वर्ण-व्यवस्था का सार इन तीनों बातों को समझते हैं—(१) सब काम के लिये समान वेतन, (२) सब तरह की प्रतिस्पर्धा की समाप्ति, तथा (३) ऐसी शिक्षा पद्धति का प्रसार जिसमें लोगों की वशानुगत शक्तियों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता हो।

गांधी जी के वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर कुछ लोगों की यह गम्भीर आपत्ति है कि किसी व्यक्ति से यह मांग करना सर्वथा अनुचित है कि वह प्रत्येक स्थिति में अपना वशानुगत उद्यम ही करे चाहे जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये उसके सामने अन्य कामो में अधिक अवसर मौजूद हों। यदि एक नाई का लड़का वकील या डाक्टर बनने की योग्यता रखता हो, तो उसे नाई का व्यवसाय अपनाने और बाल काटने में ही अपना जीवन बिताने के लिये विवश किया जाना उसकी स्वतंत्रता का हनन करना है। इस प्रकार की माँग करना मूलरूप से गलत है। वैयक्तिक प्रतिभा का विकास अधिकतम तभी हो सकता है जबकि हर व्यक्ति अपना उद्यम चुनने में स्वतंत्र हो। यद्यपि इस प्रकार की आपत्ति में बल है, किन्तु यह आपत्ति तब खोखली हो जाएगी जब विभिन्न कामों को करने वालों की आय और प्रतिष्ठा समान हो तथा वर्तमान ऊंच-नीच के भेद व आय की घोर विषमताओं का अंत कर दिया जाय। जितना ही लोग अहिंसा, सत्य और प्रेम को हृदयगम करेंगे और परस्पर सेवा और सहयोग के लिये तत्पर रहेंगे तथा अपना वशानुगत कार्य करते हुए उस कार्य को अपने आध्यात्मिक विकास और समाज-सेवा का एक साधन समझेंगे उतनी ही अधिक यह आपत्ति एकदम निरर्थक हो जाएगी। यदि एक नाई और एक

---

1. Quoted by *N. K. Bose*, op. cit., Page 205

वकील की आय में समानता हो गई तो न केवल धन-सचय की वर्तमान दौड़ समाप्त हो जाएगी बल्कि समाज में पर्याप्त आर्थिक सन्तुलन और शान्ति की स्थापना भी हो जाएगी। किन्तु इन आदर्शवादी सम्भावनाओं की सुन्दर कल्पना की झोंक में इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि व्यक्तिगत लाभ की भावना सजोये रखना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है और आज की स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा की प्रणाली में एक व्यक्ति को अपना यथानुरूप उद्यम प्रदर्शन के लिये कहना अन्यायपूर्ण होगा। उद्यम की स्वतंत्रता के लिये समाज का जो मूल्य चुकाना पड़ता है, वह निश्चय ही बहुत बड़ा है। गांधीजी का आदर्श वास्तव में एक इतना महान् आदर्श है कि समाज के हर साधारण व्यक्ति द्वारा उसका अनुसरण करना सम्भव नहीं दिखाई देता। इस यथार्थवादी स्थिति को स्वीकार करने के कारण ही गांधीजी ने यह कहा कि—"हो सकता है कि समाज कभी भी लक्ष्य पर न पहुँच सके लेकिन यदि भारत को एक सुखी देश बनाना है तो हर भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह इस लक्ष्य की ओर चले, अन्य किसी दिशा में नहीं।" उनका विश्वास था कि इस लक्ष्य पर चलने से कोई भी समाज आधुनिक संसार के अधिकांश दोषों से वियुक्त हो सकता है।

(९) रोटी के लिए श्रम—गांधीजी के अहिंसा प्रधान राज्य में 'शरीर-श्रम' या 'रोटी श्रम' अर्थात् जीविका के लिये श्रम' को क्रियात्मक रूप दिया जायगा। 'जीने के लिये मनुष्य को काम करना ही चाहिए'—यह नियम पहले-पहल गांधीजी के ध्यान तब उतरा जब उन्होंने 'शरीर-श्रम' पर टालस्टॉय का लेख पढ़ा यद्यपि इसके भी पहले रस्किन की पुस्तक 'Unto the Last' पढ़ने के बाद ही वह इस सिद्धान्त का आदर करने लगे थे। मनुष्य को अपने ही हाथों से मेहनत करके रोटी कमानी चाहिये, इस 'दिव्य कानून' पर सब प्रथम टी० एम० बान्दरेव्ह नामक रूसी लेखक ने बल दिया था, टालस्टॉय ने उसका विज्ञापन किया और उसे अधिक प्रसिद्धि दी तथा यही सिद्धान्त गीता के तीसरे अध्याय में प्रतिपादित किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरी का अन्न खाता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ गांधीजी के अनुसार, केवल शारीरिक श्रम ही हो सकता है। गांधीजी का कहना था कि बुद्धि से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो आदमी शारीरिक श्रम नहीं करता, उसे खाने का क्या हक है। बाइबिल का भी यही उपदेश है कि—"तू अपने पसीने की रोटी खा।" कोई लखपति यदि दिन भर बिस्तर में पड़ा रहे और खाना भी उसे दूसरे ही खिलावें तो वह बहुत दिन तक नहीं खा सकता और अपने जीवन से जल्दी ही ऊब जायगा। इसलिए वह व्यायाम करके भूख पैदा करता है और अपने हाथों से भोजन करता है। इस प्रकार यदि गरीब अमीर सभी को किसी न किसी रूप में व्यायाम करना ही पड़ता है तो उसका रूप उत्पादक अर्थात् रोटी के लिए श्रम क्यों न होना चाहिये? काश्तकार से कोई यह नहीं कहता कि तू प्राणायाम या व्यायाम कर, और ९० फीसदी मनुष्य खेती करके व्यायाम करते हैं। यदि बाकी के १० फीसदी लोग कम से कम अपनी रोटी कमाने जितना श्रम करके इस भारी बहुमत के उदाहरण का अनुगमन करने लगें, तो संसार कितना अधिक सुखी, स्वस्थ और शान्त हो जावे! और यदि

ऐसे लोग इसमें हाथ बंटायें तो खेती-सम्बन्धी कितनी मुसीबतें आसानी से दूर हो जायें ? इसके अलावा, जब निरपवाद रूप में प्रत्येक मनुष्य रोटी के लिये श्रम करने का कर्तव्य स्वीकार करले, तो ऊंच-नीच का बुरा भेद भी मिट जाय।"[1]

गांधीजी ने कहा कि शरीर-श्रम अथवा जीविका या रोटी के लिये श्रम का सिद्धान्त सभी वर्गों के लिये समान रूप से लागू होता है। पूंजी और श्रम मे आज विश्वव्यापी संघर्ष और गरीब अमीरों से ईर्ष्या करते हैं लेकिन यदि सब अपनी रोटी के लिये श्रम करने लगें तो छोटे-बड़े का अन्तर समाप्त हो जायेगा। दूसरे धनिकों के चरित्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। धनिक रहेंगे तो सही, किन्तु वे अपने को अपनी सम्पत्ति के केवल सरक्षक मानेंगे और मुख्यतः उसका उपयोग सार्वजनिक हित में करेंगे। रोटी के लिये श्रम का सिद्धान्त वर्ग-हीन समाज की स्थापना करेगा। गांधीजी ने दृढ़ शब्दों में यह व्यक्त किया कि जो व्यक्ति अहिंसा का पालन करना चाहता हो, सत्य की पूजा करना चाहता हो और ब्रह्मचर्य-पालन को स्वाभाविक बना लेना चाहता हो, उसके लिये शरीर श्रम सचमुच वरदान होगा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य बौद्धिक श्रम द्वारा अपनी आजीविका नहीं कमा सकते ? गाधीजी का उत्तर है कि "नहीं"। उनके अनुसार शरीर की आवश्यकतायें शरीर से पूरी होनी चाहिये। केवल मानसिक अर्थात् बौद्धिक श्रम आत्मा के लिये और आत्मसन्तोष के लिये होता है। अतः उसका कोई पारिश्रमिक नहीं मांगना चाहिये। आदर्श स्थिति में डाक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लिये काम करेंगे न कि अपने लिये। "शारीरिक श्रम का कानून मानने से समाज की रचना में मूक क्रांति होगी। मनुष्य की विजय जीवन संग्राम के स्थान पर परस्पर सेवा के सग्राम की स्थापना करने मे होगी। पशु-धर्म की जगह मानव-धर्म ले लेगा।"[2] शरीर श्रम की आवश्यकता पर बल देने से गांधीजी का आशय बौद्धिक श्रम के मूल्य की उपेक्षा करना नहीं था। उनका तो कहना यह था कि बौद्धिक श्रम कितना भी क्यों न हो, इससे उस शरीर श्रम की कुछ भी क्षति-पूर्ति नहीं होती जिसे सबके समान हित के लिये करने को हम सब पैदा हुए हैं। वह शरीर-श्रम से अनन्त गुना श्रेष्ठ हो सकता है, परन्तु वह उसकी जगह कभी भी नही लेता और न ले सकता है। यह ठीक ऐसी ही बात है जैसे बौद्धिक भोजन हमारे खाने के अन्न से कहीं श्रेष्ठ होता है, मगर अन्न का स्थान हरगिज नहीं ले सकता। गांधीजी का मत था कि पृथ्वी की उपज के बिना बुद्धि की उपज ही असम्भव हो जायगी।[3]

राजनीति के क्षेत्र में 'रोटी के लिये श्रम' के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि मतदाताओं की योग्यतायें शारीरिक श्रम पर आधारित होनी चाहिये, सम्पत्ति या शिक्षा पर नहीं। यह न केवल जनता को आत्म-निर्भर

---

1. मगल प्रभात, १९३०, प्रकरण ९
2. हरिजन, २९-६-३५
3. यंग इण्डिया, १५-१०-२५

और निर्भीक बनायेगा बल्कि उसमें सत्ता के दुरुपयोग का विरोध करने की शक्ति भी उत्पन्न करेगी।

सारांश—इस प्रकार हमने देखा कि विकेन्द्रीकरण, वर्ण व्यवस्था ट्रस्टीशिप, अस्तेय और अपरिग्रह, रोटी के लिए श्रम आदि सिद्धान्त गांधीजी के अहिंसा प्रधान राज्य की आधारशिलायें हैं। ये सिद्धान्त प्रधानतः अहिंसात्मक राज्य को एक आध्यात्मिक लोकतन्त्र बना देंगे जिससे व्यक्ति को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त होगी और वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार समाज की सेवा करते हुए अपना सर्वाङ्गीण विकास करने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। इस अहिंसात्मक समाज में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य के प्रति लोग अधिक सचेष्ट होंगे और सदस्यों में आदर्शों की एकता की बलशाली भावना विद्यमान होगी।

अन्त में यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि गांधीजी के ये सिद्धान्त हमारे सामने एक अत्यन्त ऊंचे और उत्कृष्ट आदर्श की स्थापना करते हैं, किन्तु इन्हें पूर्णतः व्यवहार में ला सकना साधारण जनता के लिये सम्भव नहीं दिखाई देता। कुछ लोग तो इतना तक कह देते हैं कि ये सब हवाई सिद्धांत हैं और उतने ही अव्यावहारिक हैं जितने कि प्लेटो के दार्शनिक राजा, तथा पत्नियों और सम्पत्ति के साम्यवाद के सिद्धान्त। किन्तु इस प्रकार की आपत्ति करनेवालों को गांधीजी का यह दृष्टिकोण अथवा विचार नहीं भूलना चाहिये कि ऐसा आदर्श, जिसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके, वास्तव में एक हीन आदर्श है। तब फिर यह आशा नहीं की जानी चाहिये कि गांधीजी ने उपरोक्त जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनको वह पूर्णतः व्यवहार में लाना सम्भव मानते थे। मशरू वाला ने लिखा है—"गांधीजी की प्रिय उपमा के अनुसार विशुद्ध आदर्श इकलेदस के एक बिन्दु के सदृश्य है, जिसकी हम बुद्धि द्वारा कल्पना तो कर सकते हैं परन्तु जिसे हम पेंसिल की बारीक से बारीक नोक से भी आदर्श रूप में नहीं बना सकते। यह हिमालय की एक ऊंची चोटी के सदृश्य भी है। सत्य, अहिंसा, दर्जे, अवसरों, धन, वितरण जीवन की आवश्यक तथा आराम की वस्तुओं की समानता, राज्य के नियन्त्रण का अभाव, विकेन्द्रीकरण, ग्रामीकरण, शान्ति, साहचर्य सामञ्जस्य युद्ध मानसिक दासता तथा प्रतिस्पर्धा से मुक्ति और एक व्यवस्थित समाज में सतत अधिकतम स्वतन्त्रता इसके कुछ आवश्यक तत्व हैं।" यह ठीक है कि आचरण के इन आदर्श नियमों को निरपेक्ष रूप से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सापेक्षिक रूप से भी ये व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। ये आदर्श नियम तो आचरण के वे नियम हैं जिनके सम्पूर्ण अस्तित्व के अभाव में सामाजिक जीवन हीनार्थमय हो जायेगा। ये नियम विभिन्न मात्राओं में सामाजिक जीवन को अनुशासित करते हैं और अपनी प्रकृति से इस प्रकार के हैं कि हर व्यक्ति कम या अधिक अंश में इन्हें क्रियात्मक रूप दे सकता है। इन नियमों की ग्राह्यता के बारे में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जब कोई व्यक्ति इनके अनुसार अपने जीवन और आचरण को ढालने के प्रति प्रयत्नशील होता है तो इनकी प्राप्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में की जा सकती है। ये आदर्श नियम मनुष्य के मूल स्वभाव में निहित होते हैं, केवल मनुष्य को इन्हें जाग्रत करने की

लगन रखनी पड़ती है। इन नियमों में अविश्वास करने का अर्थ है मनुष्यों को एक ऐसा प्राकृतिक प्राणी मानना जो जंगल के कानून से ऊपर नहीं उठ सकता। इस तरह की अनास्था मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप में अनास्था रखना है। गांधीजी के इन सिद्धान्तों में केवल वे ही व्यक्ति विश्वास करने से इन्कार कर सकते हैं जो अपनी आत्मा एकदम निरे भौतिकवादी दृष्टिकोण के हाथों बेच चुके हैं।

(ख) गांधी का राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय वाद (Nationalism and Internationalism of Mahatma Gandhi)—महात्मा गांधी भारत के व्यापक क्षेत्र में राजनीति को लेकर आए, इसीलिये भारतीय जनता राज-नीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप में उन्हें अधिक जानती-मानती रही है। पर राष्ट्रवाद की सीमा में आजकल व्यावहारिक रूप से जिन बातों का समावेश होता है, गांधी का राष्ट्रवाद, उनका देश प्रेम और उनकी राज-नीति स्पष्टतः उन बातों से भिन्न है। "जो राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिये एक घातक विष हो रहा है, जिसने मानव हृदय के सत्य और सुन्दर का गला घोंट दिया है और जो संसार की शांति के लिये एक महान् खतरा सिद्ध हो रहा है, जिसकी नींव में दुर्बल एवं पीड़ित मानवता की हड्डियां डाली गई हैं, उस राष्ट्रवाद को गांधीजी कैसे उत्तेजन दे सकते थे? यदि गहराई में डूबकर देखा जाय तो दो बातें बिजली की तरह स्पष्ट चमकती दिखाई देती हैं। एक तो यह कि उनका राष्ट्रवाद जीवन की साधना का एक अंग है, स्वतः कोई ध्येय नहीं बल्कि साधन मात्र है। दूसरी बात यह है कि वह राजनीतिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उसकी नींव भौतिक आकांक्षाओं पर आश्रित नहीं है बल्कि जीवन की श्रेष्ठता और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आश्रित है।

महात्मा गांधी ने राष्ट्रवाद के अस्त्र को बहुत शुद्ध रूप में हमारे सामने रखा है क्योंकि उनके अनुसार जहां भारत एक राष्ट्र है, वहां वह विश्व का एक महत्वपूर्ण अंग भी है। गांधीजी का राष्ट्रवाद उनके विश्व-प्रेम का एक अंग है। मनुष्यता का/और विश्व का जो एक बड़ा और महत्वपूर्ण भाग आज सड़ता-गलता जा रहा है, उसे उठाना और बचाना गांधीजी के विश्व-प्रेम में निहित है, अतः उनका राष्ट्रवाद भारत-प्रेम के उस भावी रूप को दर्शाता है जिसमें एक प्रबुद्ध और स्वतंत्र भारत अपने पौरुष और आत्म विश्वास के सहारे पीड़ित तथा कराहते हुए विश्व को शांति और सद्इच्छा का संदेश दे सकेगा। गांधीजी के ये शब्द निश्चय ही स्मरणीय हैं—'मानवता के लिये मरने की आकांक्षा के पूर्व भारत को जीना सीखना होगा" और "मेरा लक्ष्य विश्व मैत्री है, हम विश्व भ्रातृत्व के लिये जीना और मरना चाहते हैं।" गांधीजी ने जीवन भर भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये अथक परिश्रम किया, राष्ट्र भाषा, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय एकता पर बल दिया और यह सब कुछ इसलिये किया क्योंकि, उनके शब्दों में—'मैं अपने देश की स्वतंत्रता इस कारण चाहता हूं कि अन्य राष्ट्र मेरे राष्ट्र से कुछ सीख सकें ··· मेरी राष्ट्रीयता उग्र अन्तर्राष्ट्रीयता है।" गांधीजी मानव जाति के हितार्थ अपने राष्ट्र को भी न्योछावर करने को तत्पर थे। उन्होंने स्वयं कहा था, 'यदि आवश्यकता पड़े तो सारा देश मर जाये ताकि मानवता जीवित रह सके।" गांधीजी की

दृष्टि में एक विशुद्ध देशभक्त राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं बल्कि उसके विकास मे सहायिका है, क्योंकि "एक व्यक्ति के राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। राष्ट्रीयवाद (अथवा राष्ट्रवाद) कोई बुराई नही है। बुराई तो संकीर्णता, स्वार्थ और एकाकीपन की भावनायें हैं जिनसे आज के राष्ट्र ग्रस्त दिखाई देते हैं। • • मेरा राष्ट्रीयवाद के विषय मे विचार यह है कि मेरा देश मानव जाति के जीवन के लिये मर सके।"

विदेशी शासनतत्र को गाधीजी ने किसी भी राष्ट्र के लिये एक मानवता विरोधी कार्य स्वीकार किया। उनके अनुसार विदेशी शासन प्रणाली की सबसे बडी विशेषता यही है कि यह परोपजीवनी है और राष्ट्रीय जीवन को गन्दगी पर जीवित रहती है तथा उससे अपने लिये पोषण सामग्री ग्रहण करती है। जब तक राष्ट्रीय जीवन गन्दा है तभी तक यह शासन प्रणाली चल सकती है, अत राष्ट्रीय जीवन मे जो गदगी आ गई है, जो बुराईयाँ भर गई है, उन्हे दूर करना एक सच्चे राष्ट्रवादी का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिये अहिंसात्मक शक्ति सजीव, सक्रिय शक्ति उत्पन्न करना चाहिये। गाधीजी का उद्देश्य भारत को ठीक मार्ग पर लाना और विश्व शान्ति के लिये सामजस्य की स्थिति पैदा करना था। वह भारत को विश्व की प्रगति का, पीडित राष्ट्रो को उठाने का एक साधन बनाना चाहते थे। स्वय उनके कथनानुसार 'मेरी महत्वाकाक्षा (भारत की) पूर्ण स्वतत्रता से कही ऊची है। मैं भारत की मुक्ति के द्वारा योरोपीय शोषण के घातक पहियो से पृथ्वी की दुर्बल एव पीडित जातियो का उद्धार करना चाहता हूँ।' इसमे कोई सन्देह नही कि यदि राष्ट्रवाद की उनकी इस भावना को हम आगे बढाकर सफल कर सकें तो ससार को एक नवीन प्रकाश और नवीन मार्ग मिल जायगा।

गाधीजी के राष्ट्रवाद मे अहकार का, दूसरी जातियो के सिर पर चढ कर जबर्दस्ती बैठने का अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिये अन्य दुर्बल देशों का स्वेच्छानुसार उपयोग करने का भाव ही नही है। उनकी राष्ट्रीयता अमृतमय है, विषमय नहीं। गाधीजी ने प्रारम्भ से ही अपने सिद्धान्तो के साथ ऐसी शर्तें लगाई कि जिससे भारत को पश्चिम के ढग की राष्ट्रीयता का भक्षक रूप न देखना पडे। उनका खादी आन्दोलन, उनकी अहिंसा, उनका दरिद्र नारायण का प्रेम सात्विक वृत्तियो पर उनका बल, उनकी सरल जीवन प्रणाली—ये सब राष्ट्रीयता को तामसिक मार्ग पर न जाने देनेवाली रोक हैं।

गांधीजी के राष्ट्रवाद मे जाति एव धर्म का भेद भाव नहीं है। वह तो विश्व प्रेम का, विश्व वाद का, मानव जाति की सेवा का एक अग है। वह साधारण कोटि के प्रचलित राष्ट्रवाद से भिन्न है। उनके राष्ट्रवाद मे पृथक् स्वतत्रता नाम की कोई वस्तु नही है क्योंकि वास्तव मे विभिन्न राज्य स्वस्थ तथा गौरवपूर्ण रूप से परस्पर आश्रित रहते हैं। उनके शब्दो मे, "ससार आज इस बात की माँग नही करता कि ऐसे राज्य हो जो पूर्ण रूप से एक दूसरे से स्वतत्र हो तथा परस्पर एक दूसरे से लडते भिडते रहते हों, बल्कि आज तो इस बात की माग की जा रही है कि मित्रतापूर्ण स्वतत्र राज्यो का सघ हो।" वास्तव मे गांधीजी स्वाधीन एव स्वावलम्बी इकाईयों के समर्थक

होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तः-निर्भरता परम आवश्यक मानते थे और चाहते थे कि संसार के राष्ट्र आत्म-निर्भरता की आत्मघातक नीति को छोड़कर अन्तःनिर्भरता रखते हुए एक विश्व संघ की स्थापना करें।

(ग) राष्ट्रीयकरण और हड़ताल के बारे में गांधीजी के विचार (Gandhiji on Nationalisation and Strikes)—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण और हड़तालों के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण रूढ़िवादियों से सर्वथा भिन्न था। बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण का अनुमोदन उन्होंने इसलिये नहीं किया कि इससे राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हो जायगा। राज्य तथा बड़े पैमाने के उद्योग के विरोधी होते हुए भी वे जनता के लिये उपयोगी उद्योगों के विरुद्ध नहीं थे और रेल के इंजिनों, जहाज तथा सिलाई की मशीनों आदि के उद्योगों की इजाजत देते थे। ऐसे बड़े उद्योगों को राज्य द्वारा चलाया जाना चाहिये या नहीं, इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना था कि—"मैं इतना समाजवादी हूँ कि मैं यह कहता हूँ कि ऐसे उद्योग पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिय। उन्हें केवल अत्यन्त आकर्षक और आदर्श स्थितियों में चलाया जाना चाहिये, व्यक्तिगत लाभ के लिये नहीं, बल्कि मानवता के लाभ के लिए, जिसमें लोभ का स्थान प्रेम लेगा। मैं जो चीज चाहता हूँ वह है श्रम की स्थितियों में अन्तर, धन के लिए यह दीवानी दौड़ बन्द होनी चाहिए, और श्रमिक को न केवल समुचित वेतन बल्कि एक ऐसे दैनिक कार्य का आश्वासन दिलाया जाना चाहिये जो कि कोरा नीरस श्रम न हो।"

श्रम को अपने को संगठित करने और हड़ताल करने के बारे में गांधीजी का कहना था कि श्रम को अपना संगठन पूंजी के प्रति शत्रु-भाव से नहीं प्रत्युत उसके साथ समानता का पद प्राप्त करने के उद्देश्य से करना चाहिये। आजकल हड़तालों का दोर-दौरा है। यह वर्तमान असतोष की निशानी है। गांधीजी का विचार था कि हडतालें केवल पूर्णतः उचित उद्देश्य के लिये और सर्वथा अहिंसात्मक ढग से की जानी चाहिये। ऐसी हड़तालों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये जिन्हें उचित सिद्ध न किया जा सके और जो श्रम को पूंजी के विरुद्ध संगठित करने के उद्देश्य से की गई हों। राजनीतिक हेतुओं के लिये श्रमिक हड़तालों का उपयोग करना उनकी दृष्टि में एक भयंकर भूल थी। वे यह मानते थे कि ऐसी हड़तालों द्वारा राजनीतिक स्वार्थ पूरा किया जा सकता है, परन्तु एक अहिंसक असहयोग की योजना में इन्हें स्थान नहीं दिया जा सकता हड़तालें विशुद्धतः न्यायपूर्ण और अहिंसक होनी चाहिये, हड़तालियों में व्यावहारिक एकमत होना चाहिये और यह शक्ति होनी चाहिये कि संघ के कोष का आश्रय लिये बिना वे हड़ताल के दिनों म अपना पालन-पोषण कर सकें। हड़ताल किसी वास्तविक शिकायत के बिना नहीं होनी चाहिये और हड़ताल छोड़ने से पहले हड़तालियों का एक अपरिवर्तनीय न्यूनतम मांग निश्चित करके उसकी घोषणा कर देनी चाहिये। अहिंसा के कार्यक्रम मे सरकार को परेशान करके कुछ भी प्राप्त करने का विचार तुरन्त छोड़ देना चाहिये। हड़ताल की परिस्थिति यथासंभव टाली जानी चाहिये, इस अस्त्र का प्रयोग बहुत सोच-समझकर और प्रायः अन्त में ही किया जाना चाहिये। जब मजदूर हड़ताल कर दें तो मालिकों को दमन

का तरीका न अपनाकर ठीक और सम्मानपूर्ण तरीका निकालना चाहिये और वह यह है कि हर हड़ताल के गुण-दोष पर विचार करके मजदूरों को उनका हक दे दिया जाय, हक वह नहीं जिसे पूंजीपति हक समझते हैं, बल्कि वह जिसे मजदूर खुद अपना हक समझते हैं और ज्ञानपूर्ण लोकमत जिसे उचित मानता हो। गांधीजी ने मालिकों को यह सलाह दी कि उन्हें मजदूरों को उन कारखानों के, जिन्हें मालिक समझते हैं कि हमने खड़ा किया है, स्वेच्छापूर्वक असली मालिक मानना चाहिये। उन्हें यह भी अपना कर्तव्य समझना चाहिये कि मजदूरों को ऐसी अच्छी शिक्षा दी जाये जिससे उनके भीतर छिपी हुई बुद्धि बाहर आये। मजदूरों को एकता से जो शक्ति मिलती है, उसे मालिकों की खुशी से बढ़ाना और उसका स्वागत करना चाहिये।

हड़तालों के संचालन के बारे में गांधीजी ने यह विचार प्रस्तुत किया कि हड़तालें स्वाभाविक होनी चाहिये, जोड़-तोड़ लगाकर खड़ी नहीं की जानी चाहिये। अगर हड़ताल किसी दबाव के बिना संगठित की गई है तो उसमें गुंडापन और लूटपाट की सम्भावना नहीं होगी। हड़तालें शान्तिपूर्ण, सहयोगपूर्ण और बल-प्रदर्शन से रहित होनी चाहिये। गुण-दोष के लिहाज से जो हड़ताल उचित नहीं है वह रद्द होनी चाहिए।

गांधीवाद और समाजवाद
(Gandhism & Socialism)

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि क्या गांधीजी का समाजवादी कहना उचित है और क्या गांधीवाद और समाजवाद अपने आधार और उद्देश्यों में समानता लिए हुए हैं। इस प्रश्न का उत्तर वस्तुतः इस बात पर निर्भर करता है कि आप समाजवाद का क्या अर्थ लेते हैं। यदि समाजवादी एक वह व्यक्ति है जो सामाजिक समानता, सामाजिक न्याय के आदर्शों और राष्ट्रीय धन के न्यायपूर्ण वितरण का विश्वास करता है, भूमि और पूंजी पर निजी स्वामित्व को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध समझता है, एवं अमीरों द्वारा गरीबों के हर प्रकार के शोषण का अन्त करने के लिए सतत प्रयास करता है, तो निश्चय ही महात्मा गांधी को एक सर्वश्रेष्ठ समाजवादी और उपरोक्त ध्येयों को लेकर चलनेवाले उनके दर्शन को समाजवादी दर्शन कहा जा सकता है। गांधीजी सच्चे समाजवादी इसलिए थे क्योंकि वे व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को अधिक महत्व देते थे। यह सच है कि वे व्यक्ति के लिए अधिकाधिक स्वतंत्रता चाहते थे, अर्थात् राजकीय समाजवाद अथवा साम्यवादी शासन प्रणाली के विरुद्ध थे किन्तु उससे भी अधिक सत्य है कि वे गरीबी व दरिद्रता को दूर करके प्रत्येक व्यक्ति को सुखी देखना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन या सामग्री हो वे उसका प्रयोग दूसरे के लिए ही करें। गरीबों के लिए उनके हृदय में रक्त बहता था और उनके दुःखी तथा निराश जीवन में हर्ष और आशा की एक किरण लाने के लिए उन्होंने घोर प्रयत्न किए। सम्पत्तिविहीन वर्ग के लिए जिस उत्साह और व्यग्रता के साथ वे आगे बढ़े उनकी उपमा दुर्लभ है।

आर्थिक समानता उनके रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग थी। उनका कहना था कि आर्थिक समानता के ठोस आधार के बिना सारा रचना-

त्मक कार्यक्रम एक बालू की दीवार होगी। उन्होंने रोटी के लिए श्रम, अस्तेय, अपरिग्रह, ट्रस्टीशिप आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसीलिए किया क्योंकि उनका विश्वास था कि इनके द्वारा धन के न्यायपूर्ण वितरण में और सबके लिये आर्थिक अवसरों की अधिकतम समानता लाने में योग मिलेगा। तब फिर वास्तविकता यही है कि गांधीजी अनेकानेक तथाकथित समाजवादियों से कहीं अधिक सच्चे समाजवादी थे क्योंकि उनका आचरण उनके सिद्धांतों के अनुरूप था। स्वयं गांधीजी ने कहा था कि मैं भारत में अपने आपको समाजवादी कहनेवालों से कहीं बहुत पहले से समाजवादी हूं। पूंजीवाद का अंत करने की उनकी उतनी ही अभिलाषा थी जितनी कि किसी सबसे बड़े समाजवादी अथवा साम्यवादी की हो सकती है। अपने सभी भाषणों और लेखों में वे भारत की जनता की गरीबी और बेरोजगारी की चर्चा करते थे और धनवानों से अपनी सम्पत्ति के विशेषाधिकारों का परित्याग करने की अपील करते थे। गांधीजी ने उदार समाजवाद की भांति समाज की व्यवस्था का आधार पारस्पारक प्रतियोगिता और वर्ग-संघर्ष को नहीं मानते थे अपितु समाज के विविध वर्गों के पारस्परिक सहयोग की कामना करते थे। वे सामाजिक समानता के प्रवर्तक थे और चाहते थे कि सभी व्यक्तियों और व्यवसायों की प्रतिष्ठा समान होनी चाहिए। उनके समाजवाद में "समाज के सदस्य समान है, न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा—राजकुमार और कृषक धनी और कृषक, उद्योगी और मजदूर सभी समान स्तर पर है।" इसके अतिरिक्त यद्यपि गांधीजी बड़े उद्योगों के विरोधी थे तथापि वे स्वीकार करते थे कि इनकी पूर्ण समाप्ति सम्भव नहीं इसलिए इनका राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। उन्होने कहा था—'मैं यह कहने के लिए पर्याप्त समाजवादी हूं कि ऐसी फेक्टरियों का राष्ट्रीयकरण या राज्य-नियन्त्रण होना चाहिये।'

परन्तु यह सब होते हुए भी गांधीजी के समाजवाद का स्वरूप कार्ल मार्क्स के समाजवाद तथा पश्चिम में विकसित हुए इसके अन्य रूपों से बहुत भिन्न है, बल्कि यह कहना चाहिए कि एक प्रकार से वह अद्वितीय है। समाजवाद गांधीजी के स्वभाव का एक अंग था, किन्तु उसका प्रेरणा स्रोत वे पुस्तकें न थीं जिनमें पूंजीवाद की आलोचना भरी पड़ी है अपितु यह उनके सत्य और अहिंसा के सिद्धातों के अनुसार अपने जीवन को ढालने के प्रयास का परिणाम था। गांधीजी एक अहिंसात्मक समाजवाद के प्रवर्तक थे जिनका नारा यह था कि—"हमारा समाज अहिंसा पर आधारित होना चाहिये और पूंजी व श्रम तथा जमींदार और कृषक में सामंजस्यपूर्ण सहयोग होना चाहिये।" यह विश्वास करते हुए कि असत्यपूर्ण और हिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य पर कभी नहीं पहुंचा जा सकता गांधीजी इस परिणाम पर पहुंचे कि केवल अहिंसावादी एवं शुद्ध हृदयवाले व्यक्ति ही एक सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं जिसका आधार यह सिद्धान्त होगा कि—"प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए।" यही कारण था कि उन्होने वर्ग-संघर्ष, वर्ग-घृणा, शक्ति, श्रमजीवी अधिकनायकवाद आदि के विचारों को अपने चिंतन में लेश मात्र भी स्थान नहीं दिया और समाजवाद के मूल लक्ष्य सामाजिक एवं आर्थिक न्याय तथा समानता की प्राप्ति के

लिए केवल सत्य और अहिंसापूर्ण साधनों को ही अपनाया।

गाधीजी का सच्चा समाजवादी न कहनेवाले वे ही व्यक्ति हो सकते है जो विशुद्ध मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद के पोषक हैं, समाजवाद का वर्ग-युद्ध तथा पूजी और श्रम म शाश्वत विरोध के स्तर पर रखते हैं, हिंसक क्रातियो मे विश्वास करते हैं और वर्ग सघर्ष तथा क्राति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए सम्भव ही नही समझते। ऐसे व्यक्ति गाधोजी को अधिक से अधिक एक सुधारवादी समझ सकते हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि गाधीजी न केवल एक सुधारक थे बल्कि उनसे अधिक क्रातिकारी और श्रेष्ठ थे। ससार के आज तक के क्रातिकारियो मे उनका प्रथम स्थान है। हा, वे हिंसक क्रातिकारी न होकर अहिंसक क्रातिकारी थे। वे क्रान्ति के द्वारा अस्थाई परिवर्तन न लाकर समाज के ढाचे और जीवन के मूल्यो मे आमूलचूल क्राति लाकर शान्तिमय और अहिंसात्मक साधनो से एक श्रेष्ठतर और नवीन समाज का निर्माण एव जीवन के नवीन मूल्यो का प्रतिष्ठान करना चाहते थे। समाजवाद (विशेषत रूप मे उसका जो रूप हम देखते हैं) अपनी सफलता के लिये प्राय उन्ही साधनो पर निर्भर करता है जिन पर साम्राज्यवाद निर्भर है। किन्तु गाधीवाद साम्राज्यवाद के हिंसक साधन और आधार को तोडकर उसके स्थान पर एक बिल्कुल ही नवीन आधार एव साधन कायम करना चाहता है अत स्पष्ट ही समाज व्यवस्था के भाव मूल मे वह कही अधिक क्रातिकारी परिवर्तन करने का अभिलाषी है। *समाजवादी के लिए आवश्यक सैनिकता की साख की जगह* गाधीवाद हिंसा और सैनिकता की शक्ति को चुनौती देकर एक नवीन मानसिक निर्माण के आधार पर उससे कही अधिक क्रान्तिकारी और श्रेष्ठतर साख की स्थापना करना चाहता है। अत गाधीजी को एक निरा सुधारवादी समझना और यह मान लेना कि वे यत्र-तत्र छोटे-मोटे परिवर्तनो से ही सन्तुष्ट हो सकते थे एक भारी भूल है। रिचर्ड बी० ग्रेग (*Richard B Gregg*) ने *यह सही ही लिखा है कि—*

'हम आज परिवर्तन के मध्य मे रह रहे हैं और यह केवल बाह्य परिस्थितियो का परिवर्तन नही है वरन् उनके साथ होनेवाले मूल्य एव प्रतीक की अन्त यवस्था का भी परिवर्तन है। आज ससार मे जो कई महान आन्दोलन हो रहे हैं उनमे महात्मा गाधी द्वारा प्रवर्तित आदोलन मूल्य एव प्रतीक मे सबसे अधिक परिवर्तन कर रहा है और जब वस्तुत ऐसा परिवर्तन हो जायेगा और बडे पैमान पर उसकी प्रतिष्ठा हो जायगी तो वह सचमुच क्राति होगी। आज गाधीवाद एव समाजवाद—ये दोनो प्रणालिया जिस रूप मे हैं उनके अनुसार तो समाजवाद के लिए गाधीवाद के प्रधान अगो को ग्रहण एव हजम करना उतना सरल नही है जितना गाधीवाद के लिए समाजवाद के कार्यक्रम की प्रधान बातो का चुनाव *ग्रहण एव उपयोग* कर लेना आसान है। इस प्रकार, इन दोनो व्यवस्थाओ में गाधीवाद अधिक फैलनेवाला (लचीला) एव व्यापक है और इसलिए अधिक टिकनेवाला है।"[1]

1. ... -ect of a change *not only of* of inner systems of values hem Among the various

गांधीवाद निस्सन्देह समाजवाद से अधिक व्यापक और विशद है। जहां गांधीवाद का लक्ष्य है व्यक्ति का विकास और उसकी मुक्ति तथा समष्टि की पुष्टि दोनों है, वहा समाजवाद व्यक्ति की उतनी चिन्ता नहीं करता, उसका दृष्टिकोण केवल समष्टिगत है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि गांधीवाद समन्वयात्मक धर्म है जबकि समाजवाद विभेदात्मक है। गांधीवाद तो सम्पूर्ण जीवन का तत्वज्ञान सामने रखता है। गांधीवाद समाजवाद की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक स्वाभाविक है क्योंकि वह मनुष्य के सबसे प्राकृतिक एवं तात्विक भाव प्रेम को जागृत करता है। गांधीवाद में वचन एव कर्म की एकता है और यह अपने प्रत्येक अनुयायी से शरीर-श्रम की आशा करता है, लेकिन समाजवाद मुख्यतः मजदूरों का पृष्ठ-पोषक होने की घोषणा करके भी अपने अनुयायियों से मजदूर-जीवन के निजी व्यावहारिक अनुभव एवं अनुभव की एकता की अनिवार्य आशा नहीं रख सकता। अमेरिकन लेखक और प्रसिद्ध विचारक, रिचर्ड बी० ग्रेग ने इस बात का जिक्र करते हुए ठीक ही लिखा है कि—'यदि समाजवाद मुख्यतः शरीर-श्रमिकों (जिनकी समाज में सबसे अधिक आवश्यकता है) का कार्यक्रम है तो उसके अनुयायियों में से प्रत्येक का धर्म है कि कुछ न कुछ शरीर श्रम करे—एक प्रतीक की दृष्टि से और इसलिए भी कि सर्वनिष्ठ (*Common*) अनुभव द्वारा आचरण एवं विश्वास की एकता का विकास हो।"

गांधीवाद एक वह व्यावहारिक दर्शन है जो कार्य एवं वाणी की एकता पर सर्वाधिक बल देता है बल्कि यह कहना चाहिये कि यह सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक अथवा आचार प्रधान ही अधिक है। उसके लिये सर्वोत्तम भाषा कार्य की भाषा है। उसके जो कार्यक्रम है उन्हीं में वह प्रकट होता है। किन्तु इसके विपरीत समाजवादी को नित्य के आचरण द्वारा समाजवाद के कार्यक्रम में सहायक होने की बिल्कुल सुविधा नहीं है। गांधीवाद अपने अनुयायियों को समाजवाद की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष रचनात्मक मार्ग तथा साधन प्रदान करता है उदाहरणार्थ अकेले खादी का ही कार्यक्रम सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव के अतिरिक्त देश के करोड़ों गरीबों को तुरन्त सहायक सिद्ध होनेवाला एक अतिरिक्त धन्धा देता है, उनके समय के अपव्यय को रोकता है और बेकारी से फैलनेवाले नाना कुरिवाजों, कुविचारों तथा कुकृत्यों से व्यक्ति और समाज को बचाता है।

---

great movements in the world today, that led by Mahatma Gandhi shows the greatest amount of change of values and symbols. And when such a change really takes place and becomes widely established, that will indeed be revolution. As the two systems stand today, it is easier for Gandhism to select, adopt and use the important parts of the programme of socialism than it is for socialism to adopt the more important parts of Gandhism. Thus of the two systems, Gandhism seems the more flexible and comprehensive and therefore, probably more lasting".

—*Richard B. Gregg*

समाजवाद या साम्यवाद तो अपनी सफलता के लिये गरीबों के कष्ट इस सीमा तक पहुँचा देना चाहता है ताकि उनमें एक भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सके। उनके ओजस्वी (*Dynamic*) कार्यक्रम का यह एक अंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भी समाजवाद की नींव कमजोर है और यह मानव जाति का कोई शाश्वत विज्ञान या स्थाई कार्यक्रम नहीं हो सकता, बल्कि एक विशेष अवस्था में असह्य दुःख एवं कष्ट से पैदा होनेवाली आन्दोलित मन (*Unbalanced mind*) की चिढ़ एवं प्रतिक्रिया का द्योतक है। समाजवाद की सफलता के लिये समाज में दरिद्रता और शोषण का होना जरूरी है। गांधीवाद एक उच्चतर धरातल पर आधारित दर्शन है जो प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था में व्यवहार्य है और जिसे जीवन की प्रत्येक दशा में, समाज के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में प्रयोग में लाया जा सकता है। गांधीवाद की इस विशिष्टता का कारण यह है कि जहां समाजवाद या साम्यवाद, कुल मिलाकर, केवल आर्थिक दृष्टिकोण को प्रधानता देता है और उसी के आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है वहां गांधीवाद आर्थिक ही नहीं, नैतिक और सामाजिक भी अर्थात् संपूर्ण मानवीय दृष्टिकोण को लेकर चलता है और उन सबके समन्वयात्मक आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है।[1]

गांधीवाद समाजवाद से इस रूप में भी श्रेष्ठतर एवं व्यापक है कि जहां समाजवाद वर्तमान समाज-व्यवस्था के दोषों पर केवल एक रोक का काम करता है वहां बड़े-बड़े यन्त्रागारों का नाश एवं छोटे छोटे गृह-उद्योगों का निर्माण करके गांधीवाद वर्तमान समाज व्यवस्था के दोषों के स्रोत पर आघात करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की समस्या का हल गांधीवाद और समाजवाद दोनों चाहते हैं और दोनों ही उसके नियन्त्रण तथा समाज हित में उसके उपयोग के पक्ष में हैं किन्तु गांधीवाद समस्या के मूल पर आघात करते हुए रोग का इलाज करने की अपेक्षा रोग न होने देने की नीति में अधिक विश्वास रखता है। समाजवाद में बड़े बड़े कल कारखानों पर और उद्योगों पर राज्य के एकाधिकार की जो नीति बनाई है, उसमें सम्पत्ति चाहे व्यक्तियों के हाथों में न रहे, पर सम्पत्तिजन्य दोष तो उसमें भी होते ही हैं। इस तरह समाजवाद बुराईयों का स्रोत तो खुला छोड़ देता है केवल बांध देता है। गांधीवाद पूंजीवाद के मूल में प्रहार करता है और पूंजी के उपयुक्त नियन्त्रण तथा वितरण के लिये अपने अनुयायियों पर अस्तेय तथा अपरिग्रह जैसे नैतिक बन्धन लगाता है। ये बन्धन केवल नैतिक मूल्य ही नहीं रखते, इनका आर्थिक एवं सामाजिक मूल्य है। गांधीवाद की नीति और उसकी अर्थ नीति सब एक दूसरे से सम्बद्ध है। गांधीवाद तो लोगों के मनों को उत्तरदायी बनाकर धन-संग्रह करने की प्रवृतियों का नियन्त्रित करने को प्रयत्नशील है। 'सच्चा गांधीवादी पूंजीपति हो ही नहीं सकता अथवा जितने ही प्रतिष्ठक कोई गांधीवाद को ग्रहण करेगा, उतना ही उसके हृदय से संग्रह, अनाचार एवं लूट (*Exploitation*) की भावना नष्ट होती जायगी। इस प्रकार गांधीवाद में उन सब वृत्तियों पर पर्याप्त अंकुश है जिनसे पूंजीवाद का जन्म होता है।

गांधीवाद और समाजवाद की तुलनात्मक विवेचना करते हुए डा० पट्टाभि सीतारमैय्या ने अपने 'गांधीवाद और समाजवाद' लेख में लिखा है—

1. श्री रामनाथ सुमन—गांधीवाद की रूपरेखा, पृष्ठ ७६-६२।

"यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधायें देना है, तो गांधीवाद का यह उद्देश्य है कि हर एक आदमी अपने समय और सुविधाओं को उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयोग करे। यदि समाजवाद पूंजी कर, भारी अतिरिक्त आयकर, जब्ती और शक्ति द्वारा सम्पत्ति को स्थानच्युत करता है, तो गांधीजी युगों पुरानी परम्परा का आह्वान करते हैं जिसने अमीरी के मुकाबले में निर्धनता को और धन के मुकाबले में ज्ञान को महत्व दिया है। यदि समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राज्य की सहायता लेता है, तो गांधीवाद अपनी सफलता के लिए प्रत्येक नागरिक के अन्तःकरण की उन्नति और संस्कृति के विकास पर विश्वास करता है. समाजवाद के बाहर से लदे हुए परिणाम देखने में शानदार मालूम देते हैं, किन्तु वे वास्तव में अनिश्चित और खतरे से परिपूर्ण होते हैं। गांधीवाद के परिणाम जो छोटे दिखाई देते हैं, लोगों की सद्भावनाओं के आधार पर मजबूत और गहरी जड़ जमा लेते हैं। समाजवाद को यह दुःखद दृश्य देखना पड़ा है कि उसके पुजारी अपने सिद्धान्तों और शक्ति को स्थिर रखने के लिये तानाशाह बन गये। गांधीवाद स्वेच्छापूर्वक स्वार्थ त्याग करने में विश्वास करता है। उसने सोगली के ठाकुर, ढसा के दरबार गोपालदास देसाई और कालाकोकर के राजा जैसे आदमी पैदा किये हैं। अधिकांश लोगों के लिए समाजवाद एक वृत्ति है, किन्तु गांधीवाद एक कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है, गांधीवाद प्रत्येक आदमी को उसका कर्तव्य सुझाता है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है गांधीवाद मानव सेवा के लिये घृणा और फूट का त्याग करता है।...... समाजवाद मजदूरी का हिसाब रखता है और प्रत्येक आदमी को राज्य के लिये श्रम करने को विवश करता है, गांधीवाद दुनियां को इस बात की श्रेष्ठता बताता है कि व्यक्तियों के प्रत्येक समूह की परम्परा के अनुसार उस समूह के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने परिवार के लिये काम करना चाहिये। समाजवाद ऐसे समाज में, जहां परिवार के भीतर भी असमानता का बोलबाला है, सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहता है, गांधीवाद हिन्दुओं के उत्तराधिकार विषयक कानूनों से लाभ उठाता है जिनके अनुसार सभी लड़के पिता की सम्पत्ति के समान हकदार होते हैं और मुसलमानों में तो लड़कियों को भी उचित हिस्सा मिलता है। समाजवाद पश्चिम की समाज व्यवस्था के गोलमाल का ईलाज हो सकता है, किन्तु गांधीवाद समाज में ऐसे संगठन-कर्तव्यों को व्यक्त करता रहता है जिसकी ऋषियों ने हजारों वर्षों पहले रचना की थी।"

अन्त में, सैद्धान्तिक पक्ष को छोड़कर, व्यावहारिक पक्ष पर यदि दृष्टि डाली जाय तो गांधीवाद. अपने निकट कार्यक्रम में समाजवाद के कार्यक्रम की अनेक बातों से मिलता-जुलता है। जब तक मशीनरी के सम्पूर्ण त्याग का समय न आवे तब तक गांधीवाद का कार्यक्रम यह रहेगा कि वह व्ययसाध्य एवं बड़े यंत्रागारों पर राष्ट्र का नियन्त्रण स्थापित करे और उनका सञ्चालन केवल जनहित के खयाल से करे। ये यन्त्रागार सिलाई की 'सिंगर मशीन' जैसे छोटे कुटुम्ब में चलाये जा सकनेवाले उपयोगी यंत्र बनावें और उन्हें गांवों में पहुंचावें, ताकि गांवों के उद्योग फल फूल सकें और उन्हें नगरों पर कम से कम निर्भर रहना पड़े। अभिप्राय यह है कि इस 'क्रान्तिकाल' में इन यंत्रागारों

का उपयोग कुटीर उद्योगों को नष्ट करने मे नही बल्कि बढाने में हो और बाद मे, जब गाव पर्याप्त स्वावलम्बी हो जाय तो बडे यत्रागारों की जो थोडी सी आवश्यकता या नियत्रण है उसमे भी धीरे धीरे कमी की जावे। इसका अर्थ यह है कि मशीन को सक्रान्तिकाल के लिये यदि अपनाना ही पडे तो उसे अपना कर भी प्रवृत्ति जीवन क्षेत्र से धीरे धीरे उसे हटाने की हो, बढाने क नहीं जैसा कि व्यावहारिक समाजवाद म देखा जाता है। स्पष्ट है कि कार्यक्रम क बहुत से अशो मे दृष्टिकोण के भिन्न होते हुए भी, गाधीवाद समाजवाद के प्रस्तावों से सहमत है पर वह कहेगा कि इतना ही पर्याप्त नहीं और शायद इनकी प्राप्ति और रक्षा तब तक सभव न होगी जब तक अन्य सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनो का उपयोग न किया जावे और इस दृष्टि स छोटी छोटी एव बहुत करक स्वतत्र ग्राम सस्थायें ससार विशेषतः भारत, के लिये केन्द्रित सरकारी सस्थाओ से कही अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। गाधीवाद समाजवाद का एक परिष्कृत और परिवर्द्धित भारतीय सस्करण है।[1]

गाधीवाद और मार्क्सवाद
(Gandhism and Marxism)

गाधीवाद और समाजवाद की तुलना मे जो विचार रखे गये हैं उनमे से अधिकाश गाधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना पर लागू होते है। सत्य और अहिंसा का जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानने के कारण गाधीजी न केवल समाजवाद की ओर बल्कि सच्चे और पारिभाषिक अर्थ मे मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद की ओर भी प्रवृत्त हुए। "यदि सामाजिक समानता को प्राप्त करने का प्रयास तथा राष्ट्रीय धन का अधिक न्यायपूर्ण वितरण कराने की इच्छा उन्हे एक सच्चा समाजवादी बनाती है तो उनका एक राज्यहीन समाज मे विश्वास, उनका वर्ग भेद को दूर करने का प्रयास तथा उनकी यह धारणा कि प्रधानत अहिंसात्मक राज्य मे 'प्रत्येक से उसकी शक्ति के अनुसार लो और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दो' उन्हें एक साम्यवादी बनाते हैं। लेकिन जिस प्रकार गाधीजी का समाजवाद विलक्षण है, उसी प्रकार उनका साम्यवाद भी मार्क्स और लेनिन के साम्यवाद से बहुत भिन्न है। इस भेद का कारण उनका सत्य और अहिंसा के साथ घनिष्ट एव अभिन्न सम्बन्ध और विश्व के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे उनका गहरा मूल।"

ऊपरी दृष्टि से देखने पर गाधीजी और मार्क्सवादियों या साम्यवादियों के उद्देश्यों मे समानता दिखाई देती है। गरीबों को अमीरों के शोषण से बचाने और गरीबों के लिये सामाजिक न्याय तथा समानता प्राप्त करने के विचारो मे दोनो ही मिलते जुलते हैं। लेकिन जहा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये गाधीजी अहिंसा का साधन अपनाते हैं, वहा साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करते हैं। दोनो मे उद्देश्यो की समानता और साधनो की विषमता को देखकर ही कुछ व्यक्ति प्रायः कहने लगते है कि "हिंसारहित साम्यवाद गांधीवाद ही है।" यह तुलना गणित शास्त्र के फारमूल के समान नहीं हो सकती जो कि बेंथम के "अधिक से अधिक सख्या के व्यक्तियो को अधिक से अधिक खुशहाली" के सिद्धान्त के

---

1. श्री रामनाथ सुमन'—गांधीवाद की रूपरेखा, पृष्ठ १०६–७

समान है। यह सिद्धान्त इतना सादा है कि सत्य नहीं हो सकता। मशरूवाला की गांधी और मार्क्स की भूमिका में आचार्य विनोबा भावे ने कहा है—"गांधी और मार्क्स के तुलनात्मक अध्ययन में संसार चाहे कुछ भी रुचि ले या न ले पर अपने स्वयं के देश में शिक्षित वर्ग के व्यक्तियों में वह अध्ययन का विषय रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उन्हें नाप जोख कर उनकी तुलना करता है। अगर गांधी विचारधारा के साथ आध्यात्मिकता का पुट है तो साम्यवाद के साथ वैज्ञानिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि है। गांधीवाद ने स्वराज्य दिलाकर सिद्ध कर दिया है कि वह केवल काल्पनिक और अव्यावहारिक नहीं है। साम्यवाद ने भी पुराने रूढ़िवादी चीन मे परिवर्तन लाकर अपनी विशेषता सिद्ध की है। इन्हीं के कारण कुछ लोग दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में समानता ढूंढ कर उन्हें निकट ला देते हैं और कहते है कि हिंसा विहीन साम्यवाद गांधीवाद है। पर यथार्थ यह है कि ये दोनों सिद्धान्त मूल रूप से भिन्न हैं और दोनों में सामंजस्य नहीं हो सकता।" गांधीवाद और मार्क्सवाद के बारे में यहां तक कहा गया है कि वे दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और इतने भिन्न हैं जितना हरा और लाल रंग—यद्यपि हम जानते है कि रंग ज्ञान से हीन अंधे व्यक्ति के लिये हरा और लाल रंग समान ही होगे।

वास्तव में "हिंसा विहीन साम्यवाद ही गांधीवाद है"—का विचार निश्चित रूप से भ्रामक है। गांधीजी के दर्शन का आधार नैतिक है जबकि मार्क्स के दर्शन का आधार भौतिक है। गांधीवाद आध्यात्मवाद की महत्ता पर आधारित है, मार्क्सवाद भौतिकवाद पर। गांधीवाद के नीचे धर्म का ठोस मजबूत आधार है और उस पर गांधीजी का सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन स्थित है। स्वयं गांधीजी के शब्दों में "मेरे लिये धर्म से रहित राजनीति कुछ नहीं है।" गांधीजी की दृष्टि में धर्महीन राजनीति एक मौत का फंदा है क्योंकि वह आत्मा को समाप्त कर डालती है। लेकिन मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या करता है और बाहर तथा भीतर दोनों तरफ से भौतिकवादी है। वह धर्म को जनता के लिये एक मादक द्रव्य मानकर तिरस्कृत करता है। साम्यवादी धर्म को पूंजीपतियों के हाथ का ऐसा शस्त्र मानते हैं जिसके द्वारा वे श्रमिकों को अपने भाग्य में मिले हुए अंश से संतुष्ट रखना चाहते हैं। साम्यवादी दल के सदस्यों को अनीश्वरवाद में आस्था की शपथ लेनी पड़ती है। वे स्वयं धर्म का बहिष्कार करते हैं और अन्य लोगों के धार्मिक विश्वास को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्स पुरातन समय से चली आ रही नैतिकता को बुर्जुआपंथी और दम्भी लोगो के अनुकूल समझता है। स्पष्ट है कि गांधीवाद की आत्मा और उसका शरीर—दोनों धर्म और ईश्वर पर आधारित है जबकि मार्क्सवाद आत्मा रूपी तत्व को ठुकराते हुए धर्म को दूर हटाना चाहता है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद में एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहां गांधीवाद साध्य और साधन दोनों को पवित्र मानता है वहां मार्क्सवाद साध्य की श्रेष्ठता में तो विश्वास करता है किन्तु साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों की पवित्रता में नहीं। वह साधनों के सम्बन्ध में तब तक चिंतित नहीं होता जब तक कि साध्य की प्राप्ति होती रहती है। मार्क्सवाद लक्ष्य अथवा उद्देश्य को पाने के लिये हिंसा, छल, कपट आदि किसी भी साधन को अपना सकता है जबकि

गांधीवाद का संदेश है कि भ्रष्ट साधनों के अपनाने से श्रेष्ठ साध्य भी भ्रष्ट हो जाता है। कोई भी वस्तु जो नैतिक रूप से गलत है राजनीतिक रूप से ठीक नहीं हो सकती—इसमें मार्क्सवाद का विश्वास नहीं।

मार्क्स दर्शन में आर्थिक कारक ही सर्वप्रधान है जो न केवल समाज के राजनैतिक ढांचे बल्कि उसके धार्मिक विश्वासों और दर्शन की रूपरेखा भी निर्धारित करते हैं। साम्यवादियों की दृष्टि में समाज की संस्कृति उसके आर्थिक जीवन पर खड़ा किया हुआ एक ऊपरी ढांचा मात्र है, अतः मनुष्य का नैतिक उत्थान करने के प्रयास में अपनी शक्ति का व्यय करना मूर्खता है तथा एक समुचित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना उचित है। इसी कारण मार्क्स के दर्शन में व्यक्ति समाजरूपी यंत्र का एक पुर्जा मात्र है जिसकी अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं है। उसका जो कुछ है, समाज का है और उसे किसी अवस्था में अपने लिए समाज का विरोध नहीं करने दिया जा सकता। लेकिन स्वयं मार्क्स ने अपने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया वह भी तो उसकी व्यक्तिगत विकसित चेतना और ग्रहणशीलता का फल था और उसने भी विचार स्वतंत्रता को अपनाते हुए अपनी जिस विचार प्रणाली को समाज के लिये हितकर समझा, उसे दुनिया के सामने रखा। यदि मार्क्स को अपना मत प्रतिपादन करने की कहीं स्वतंत्रता न मिलती, इंगलैंड में भी उसे मौत के घाट उतार दिया गया होता तो यह सम्भव है कि विश्व मार्क्स के दर्शन से वंचित रह जाता। चूंकि किसी भी विचारधारा का जनक व्यक्ति ही होता है, अतः व्यक्ति को अपनी विचारधारा का विकास करने, अपने विवेक को जागृत करने की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इससे इन्कार करना और केवल अपनी ही बात को थोपते जाना घोर अन्धविश्वास, हठधर्मी और कट्टरता है। "यह इसी हिंसा वृत्ति का परिणाम है कि मार्क्सवादियों ने पहले शक्ति प्राप्त कर अन्य विचारवालों को रूस में खत्म किया और बाद में उसी हिंसा का प्रयोग आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध होने लगा। हमारा ही ढंग ठीक है' इस विचार-प्रणाली का अन्त कभी सच्चे समाज की स्थापना में नहीं हो सकता। इसका अन्त करने-धरने सदैव अनियंत्रित केन्द्रीय सत्ता या हिटलरशाही में होगा।" गांधीवाद मार्क्सवाद के विरुद्ध समाज के हित का आदर्श सामने रख कर भी, व्यक्ति को पर्याप्त स्वतंत्रता देता है। गांधीवाद समाज का हित व्यक्ति को उसका एक पुर्जामात्र बनाने में नहीं मानता बल्कि व्यक्ति और समाज के स्वार्थों को एक कर देने में दोनों में विवेकयुक्त और चेतनायुक्त सामंजस्य करने में तथा व्यक्ति की अन्त साधुता को विकसित करने में मानता है। गांधीवाद विरोधियों को कुचलने में नहीं बल्कि साथ लेकर चलने में और अपनी साधुता से उनका हृदय परिवर्तन कर उन्हें अपना बना लेने में आस्था रखता है। व्यक्ति को श्रेष्ठ बनाकर गांधीवाद समाज को सदैव के लिए श्रेष्ठ बना देना चाहता है। गांधीवाद का आरम्भ बिन्दु व्यक्ति ही है। पहले व्यक्ति को सत्य, अहिंसा, अभय तथा अप्रतिशोध की भावना के कष्ट उठाने के गुणों का अपने अन्दर विकास करना चाहिए और अपने आपको आत्मा के शस्त्र का प्रयोग करने के योग्य बनाना चाहिये। यदि व्यक्ति ऐसा आंतरिक स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे तो बाहरी स्वराज्य अपने आप आ जायगा अर्थात् नवीन सामाजिक व्यवस्था का

निर्माण अपने आप हो जायगा। सरल शब्दों में यह कहना चाहिए कि गांधीवाद और साम्यवाद—ये दोनों क्रान्तिकारी विचारधारायें नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने के लिए समाज में एक भारी उथल-पुथल उत्पन्न करना चाहती है। लेकिन जहां साम्यवादी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया ऊपर से आरम्भ करते हैं अर्थात् हिंसा, वर्ग-संघर्ष और शक्ति के बल पर राजनीतिक सत्ता पर अधिकार जमाकर श्रमजीवी तानाशाही के माध्यम से अवांछित तत्वों (पूंजीपतियो) को नष्ट करके अपनी इच्छानुसार आर्थिक व्यवस्था की रचना करना चाहते हैं, वहां गांधीवादी प्रक्रिया नीचे की ओर से आरम्भ होती है, अर्थात् वह सबसे पहले मनुष्य के हृदय में क्रान्ति लाना चाहता है, उसे आत्मनिर्भर बनाना और उसके चरित्र को उन्नत करना चाहता है। ईब्सन ने ठीक ही कहा है कि "लोग समाज एवं राजनीति में क्रान्ति के लिए शोर करते हैं, पर असल में तो मानवीय आत्मा को विद्रोह करना चाहिये।"

उपरोक्त विचार से दोनों विचारधाराओ मे स्पष्ट ही एक महत्वपूर्ण अन्तर यह निकलता है कि गांधीवादी योजना में व्यक्ति का केन्द्रीय स्थान है, वह साध्य है, और राज्य उसके विकास का केवल एक साधन है। इसके विपरीत मार्क्सवाद या साम्यवाद के लिए व्यक्ति स्वय में एक साध्य नहीं है बल्कि एक साधन है और राज्य के अधीन है। गांधीवाद व्यक्तिवादी होते हुए भी अनियंत्रित व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है प्रत्युत् व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्तव्य के मध्य सामजस्य का प्रवर्तक है, जिसका मार्क्सवाद में अभाव है। स्वय गांधीजी ने लिखा है—"अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जगली पशुओं का कानून है। हमने अब व्यक्तिगत स्वतत्रता और सामाजिक सयम (*Social Restraint*) के बीच सामजस्य करना सीख लिया है। समस्त समाज के कल्याण के लिये स्वेच्छापूर्वक कुछ सामाजिक नियम और बन्धन स्वीकार करने से समाज और व्यक्ति दोनों का हित होता है।" तात्पर्य यह है कि गाधीवाद में व्यक्ति और समाज मे विरोध नहीं है और इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि सामंजस्य की प्रतिमूर्ति गांधीवाद में वर्ग-सघर्ष के लिए कोई स्थान नहो है जबकि वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सवाद या साम्यवाद की आत्मा कहा जा सकता है। एक मुख्य भेद दोनों में यह है कि गाधीवाद के अनुसार समाज मे जो भी वर्ग संघर्ष विद्यमान है उसे मिटाया जा सकता है और पूंजीपतियों व जनता मे प्रेम, सहयोग व एकता की माला गूथी जा सकती है, लेकिन मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग सघर्ष केवल पूंजीपतियो की लाश पर ही समाप्त हो सकता है, इससे पूर्व नहो। गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त बड़ अहिंसात्मक और हृदय परिवर्तनकारी ढग से धनवानो में यह चेतना जागृत करना सभव मानता है कि वे अपनी सम्पत्ति को सामाजिक उत्पादन समझें और अपने आपको उसका ट्रस्टी समझते हुए समाज के प्रति अपना कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व निभायें। सम्पत्ति के अन्यायपूर्ण और अनुचित वितरण से उत्पन्न होनेवाली गम्भीर समस्याओ को सुलझाने का यह एक सफल और क्रान्तिकारी अहिंसक उपाय है—ऐसा गाधीजी का पूर्ण विश्वास था। सभी सम्पत्ति को एक ट्रस्ट के रूप में समझने से मानव का मानव द्वारा शोषण समाप्त हो जायगा और परिणामतः वर्ग-सघर्ष भी मिट जायगा और सामाजिक सहयोग का स्थान ले लगा। मार्क्सवाद में तो धनवानों और निर्धनो अथवा

समृद्धशालियों व अभाव पीड़ितों में प्रेम व सहयोग हो ही नहीं सकता। मार्क्स के लिये श्रम जीवी-विजय और वर्गहीन समाज अन्तिम लक्ष्य है लेकिन इस लक्ष्य की पूर्ति समाज से समृद्धशाली वर्ग का विनाश कर के ही हो सकती है।

गांधीजी और मार्क्स दोनों ही राज्य को एक शक्ति संस्था मानते हैं इसके साम्यवादी प्रभाव व शक्ति का स्वतन्त्रता से आन्तरिक विरोध स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मार्क्स ने शक्ति का आधार वर्ग में खोजा है और राज्य को शोषणकारी वर्ग की एक समिति घोषित कर दिया जबकि गांधीजी ने राज्य को इसलिए अलग किया है कि वह हिंसा पर आधारित है। अंतिम विश्लेषण में दोनों ही अराजकतावादी दार्शनिक प्रतीत होते हैं और एक राज्यहीन समाज की भविष्य में स्थापना होने की आशा रखते हैं, परन्तु गांधीजी एक सच्चे व्यक्तिवादी और व्यावहारिक व्यक्ति होने के कारण अन्त में राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार कर लेते हैं जबकि मार्क्स के विचार में राज्य वर्गों के समाप्त होने पर धीरे धीरे आप ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि एक शक्ति संस्था के रूप में उसका कोई कार्य नहीं होगा। मार्क्स एकदलीय राज्य में श्रमजीवीय तानाशाही में शक्ति का केन्द्रीकरण चाहता है, जबकि गांधीजी शक्ति को उसके आकर्षणों से विहीन करने के लिये शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना चाहते हैं। पुन गांधीजी एक जनतन्त्रवादी है और व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिये जनतन्त्र को आवश्यक समझते हैं जबकि मार्क्स को जनतन्त्र में बिल्कुल आस्था नहीं है। गांधीवाद प्रजातान्त्रिक नेतृत्व का समर्थक है, साम्यवाद तानाशाही नेतृत्व का। गांधीवाद बहुलवादी भी है जबकि साम्यवाद पर बहुलवाद का कोई प्रभाव नहीं है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद तथा मार्क्सवाद के मध्य मौलिक भिन्नतायें उनके जीवन तथा विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोणों में हैं। शेष सार भेद वे चाहे राजनीतिक, धार्मिक आर्थिक अथवा धार्मिक व्यवस्था के बारे में हो,या उद्देश्यों, साधनों या विचारों के सम्बन्ध में हो इसी मौलिक भेद से उत्पन्न होते हैं। साम्यवाद वर्तमान औद्योगिक सभ्यता द्वारा प्रचलित जीवन के मूल्यों को स्वीकार करता है किन्तु गांधीवाद वर्तमान सभ्यता और उसके जीवन मूल्यों का सर्वथा तिरस्कार करता है। इस तरह "गांधीवाद मार्क्सवादी साम्यवाद से उतना ही दूर है जितना कि उत्तरी ध्रुव से, बल्कि वे एक दूसरे से और भी अधिक दूर हैं क्योंकि जबकि दोनों ध्रुवों को पृथ्वी जोड़ती है वहां इन दोनों में कोई सामान्य भूमि नहीं है।" आचार्य विनोबा भावे के अनुसार "दोनों दर्शन आमने सामने एक दूसरे को हड़पने के लिए तैयार हैं।' भविष्य में टक्कर गांधीवाद और साम्यवाद में होगी, साम्यवाद और पूंजीवाद में नहीं—ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

गांधीवाद का मूल्यांकन
(Evaluation of Gandhism)

गांधीवाद आधुनिक युग का एक महानतम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण दर्शन है। गांधीवाद की सफलता का एक बड़ा श्रेय स्वयं गांधीजी के व्यक्तित्व को है। डा० धावन का कहना है कि गांधीजी के राजनीतिक दर्शन का महत्व बहुत कुछ उनके अनुपम व्यक्तित्व से है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने

भी कहा था, "मुझे गांधीजी के बारे में महत्वपूर्ण बात यह मालूम पड़ती है कि यद्यपि वे एक राजनीतिज्ञ, संगठनकर्ता, लोकनेता और नैतिक सुधारक के रूप मे महान् तो है लेकिन मनुष्य के नाते वे इन सबसे बेहत्तर है। इसका कारण यह है कि इनमें से कोई भी गतिविधि या पहलु उनकी मानवता को मर्यादित नहीं कर पाता और यह व्यक्ति उनसे भी महत्तर है।" टैगोर और धावन के ये शब्द गांधीवाद की महानता के द्योतक है। अमेरिकन पादरी डा० जान हेन्स होम्स ने तो यहां तक कहा है कि ईसामसीह के बाद गांधीजी संसार के सबसे बड़े व्यक्ति थे। वे इसलिये इतने महान् व्यक्ति नहीं थे कि उन्होंने अपने देश की स्वाधीनता के संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन किया बल्कि वे महान् इसलिये थे कि हिंसा, स्वार्थ, शक्ति की तृष्णा और नैतिक पतन के वर्तमान वातावरण मे सत्य, अहिंसा और साधनो की विशुद्धता का कठिन पाठ भी उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन का लोगों के गले उतार दिया। उन्होंने यह स्थापित कर दिया कि यदि हम अपना आध्यात्मिक विकास करना चाहते है, वर्तमान सभ्यता के विनाशकारी दोषों से मुक्त होना चाहते हैं, संघर्ष, भय और संशय के जीवन से छुटकारा पाना चाहते हैं तथा एक नैतिक समाज की रचना की ओर अग्रसर होने के आकांक्षी हैं तो हमें इनका पालन करना ही होगा। गांधीजी के सत्य, अहिंसा और साधनों की विशुद्धता के सिद्धान्तों को अव्यावहारिक समझकर बैठ जाने का अर्थ होगा मानवता का परित्याग करके पशुओं के स्तर तक गिर जाना। लॉर्ड बॉयड के शब्दों में—

"क्या यह सम्भव है कि इन तीन महान् सिद्धान्तों को, इन आश्चर्यजनक विचारों को विश्वव्यापी स्तर पर अमल में लाया जा सकता है? मेरा विचार है कि वह समय आ चुका है जबकि इन्हें अमल में लाया जा सकता है, इन्हें अमल में लाया जाना चाहिये और इन्हें अमल में लाया जायगा, क्योंकि मनुष्य अब अनुभव करते हैं कि इसके अतिरिक्त और कोई आशा नहीं है क्योंकि आधुनिक विज्ञान ने विनाश की जो शक्तियां उत्पन्न करदी हैं उन्हें फिर से बंद नहीं किया जा सकता। यदि विज्ञान का प्रयोग हिंसा के लिये, एक विश्व युद्ध के लिये तो इससे सभ्यता का विनाश हो जायगा। सुविख्यात भौतिकशास्त्रियों और रसायनशास्त्रियों का कहना है कि युद्ध के फलस्वरूप मानव-परिवार का पूर्ण विनाश हो सकता है। इसलिये, यदि आप इसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार हिंसात्मक राष्ट्र अब तक करते हैं तो आप बहुत दिन तक जीवित नहीं रह सकते। इसलिये यदि आप जीवित बचे रहना चाहते हैं, तो आपको अहिंसात्मक साधन अपनाने चाहिये। और यदि आप सच्चाई के साथ अहिंसात्मक साधन अपनाते हैं तो आप एक नवीन संसार की रचना करेंगे, एक ऐसे संसार की जिसमें कि न गरीबी होगी, जिसमें वे रोग न होंगे जिन्हें कि रोका जा सकता है, जिसमें कि सम्पूर्ण मानव जाति, समस्त राष्ट्रों का चाहे वे सबसे धनी हों, चाहे सबसे गरीब, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक कल्याण का एक बहुत ही उच्चतर स्तर होगा।"[1]

यदि सत्य, अहिंसा और साधनों की शुद्धता के पालन में पूर्णता एक ऐसा आदर्श है जो मानव की पहुंच से परे है, तो भी आलोचकों का यह

1. Gandhian Outlook and Techniques, Page 312

कहना निरी बकवास है कि गांधीवाद एक कोरा आदर्शवाद है जो यथार्थ की भूमि पर बिल्कुल ही टिका हुआ नही है और गांधीवादी अहिंसात्मक भावी समाज स्वर्ग सा है जो व्यवहार मे असम्भव है तथा प्लेटो के दार्शनिक राज्य की धारणा के समान है। गांधीवाद एक कोरी कल्पना नही है। हम गांधीवादी सिद्धातों को धीरे-धीरे आचरण में व्यवहार मे लाकर अधिकाधिक प्राप्त कर सकते हैं। गांधीवादी सिद्धात कार्य की भाषा हैं, कल्पना की नहीं। स्वय गांधीजी ने इन्हे अपने जीवन मे उतारा है, इनका सफल प्रयोग किया है और तब ससार का कहा है कि वह इन पर चले। हा यह अवश्य है कि इन पर चलना एक दुष्कर कार्य है, लकिन यह कहना गलत है कि यह एक असमव कार्य है। प्रत्येक महान् आदर्श को प्राप्त करन मे कठिनाईयों को झलना ही पडता है। महान आदर्श का आनन्द सतत् प्रयास करते रहने मे ही है, न कि उसे प्राप्त कर लेन मे। गांधीवादी आदर्श समाज को न्यूनाधिक रूप म प्राप्त किया जा सकता है। मानव की अच्छाइयों की तरफ से आख मूद लेना सच्चाई से इन्कार करना है। गाधी और उनका दर्शन महान् इसलिए है कि इसमे राजनीति का आध्यात्मिकरण किया है राजनीति और धर्म की पृथकता का अन्त किया हैं तथा राजनीतिक अनाचारो की समाप्ति के लिए सत्य और अहिंसा के बल पर आधारित सत्याग्रह के अमोघ अस्त्र को मनुष्य के हाथ म सौंपा है। कुछ क्रांतिकारी गांधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रह की हसी उड़ाते हैं और कहते हैं कि सत्याग्रह से सारा देश मिलकर शताब्दियो म इतनी सफलता नहीं पा सकता जितनी कुछ क्रातिकारी कुछ घण्टो मे ही पा सकते हैं। लकिन यह भावना स्वय ही खोखली है और यह भूल जाती है कि अहिंसा एक अप्रतिहत अस्त्र है और उसकी हार मे भी एक जीत छिपी है जो मनुष्य को नैतिक पवित्रता की ओर ले जाती है। सत्याग्रह बुराई को भलाई से जीतने का विज्ञान और कला है। यह शुद्ध हृदय से स्वेच्छा स एव प्रफुल्लता से कष्ट का आमन्त्रण है जो विरोधी के स्वभाव को बदलने मे जादू का सा काम करता है। मनुष्य को इस ध्येय की प्राप्ति के लिए अपने को पुर्नांशक्षित करना है। "वर्णमाला स लेकर डाक्टरेट की डिग्री तक सत्याग्रह का पाठ्यक्रम नवीन और अपरिचित है" इसीलिए नासमझ गाधी के इस अस्त्र की हसी उडाते हैं। ऐस लोग नैतिक शक्ति की महत्ता से अपरिचित हैं। डा० पट्टाभी सीतारमैया ने बडे ही सारगर्भित शब्दो मे गाधीवाद मे निहित बल्कि यह कहना चाहिए कि मानवतावाद मे निहित इस विचार को प्रकट किया है कि—

"आधुनिक समय की सर्वाधिक शोकजनक घटना यह है कि ईसाई और मूर्तिपूजक वैज्ञानिक और दार्शनिक, साधारणजन और मिशनरी, योद्धा और कूटनीतिज्ञ सब हिंसा के रोग स ग्रस्त हैं। वे भौतिक शक्ति के पुजारी हैं और उनका ऐसा विचार है कि अपने पुस्तकालयों और परीक्षण शालाओं म वे जो कुछ भी सीखें मानवीय सम्पर्क के श्रेणी-कक्ष म या जीवन के विश्वविद्यालय में वे कोई भी पाठ पढ़े, अन्तिम पाठ अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो और बडी-बडी सेनाओं म है। ब्रिटेन और जर्मनी के पादरी एक ही ईसामसीह स एक से ही शब्दों में यह प्रार्थना करते हैं कि वह उनके साम्राज्यवाद या फासीवाद को विजय प्रदान करे। नैतिक शक्ति केवल गिरजाघर तक ही सीमित है और

उसका महत्व केवल एक कलापूर्ण सुन्दर वक्तव्य तक ही है। वे यह अनुभव नहीं करते कि किस प्रकार अनाशक्ति या निःसंग ही वह डायनमो है जो उस विद्युत प्रेरक शक्ति को पैदा करता है जिसे हम नैतिक शक्ति कहते हैं। यदि मानव-शरीर वह सर्वोत्तम इंजिन है जिसकी शक्ति फुट पाउन्ड में मापी जा सकती है तो मानव आत्मा उससे भी अधिक उत्कृष्ट इंजन है जो वोल्टों में और एम्पीयर में न मापी जा सकनेवाली नैतिक शक्ति को जन्म देता है। जिस प्रकार हमारे इस मास तथा रक्तमय शरीर को अपने ततुओं की स्थिरता के लिए विधिपूर्वक तैयार किये गये और शरीर का अंग बनाने वाले भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार हमें कुछ निश्चित सत्यों और निश्चित सिद्धांतो के विकास द्वारा जो सब नैतिक शिक्षाओं में उपलब्ध हैं, परन्तु नागरिकों के जीवन-निर्माण में जिनका प्रवेश बहुत कम हो पाता है, अपनी आत्मा को निरन्तर शक्तिमय और ओज-सम्पन्न बनाना चाहिए। हमें एक शिक्षा की नवीन पद्धति का निर्माण करना चाहिए जो बाल्यावस्था से ही इन सिद्धान्तों को अपने में समाविष्ट करले और फिर युवावस्था के निर्माणात्मक काल में से गुजरते हुए जीवन की मध्य अवस्था तक पहुंचने पर यह सिद्धांत हमारे अंग बन जावें ताकि पूरे मनुष्य बन जाने पर, आवेशों से छलती हुआ हमारा शरीर खून का प्यासा न हो अपितु हमारी आत्मा प्रत्येक मनुष्य के लिए उस न्याय की, उस स्वतन्त्रता की और उस शान्ति की कामना करे, जिसे हर मनुष्य चाहता है और उन अभागों को, जिनके पास जीवन के इन अमूल्य वरदानों का अभाव है, उनकी प्राप्ति कराने के लिए प्रयत्नशील हो।"[1]

कुछ लोगों का कहना है कि गांधीजी सत्याग्रह और अहिंसा के द्वारा भारत को अंग्रेजों से ही स्वतन्त्र कराने में सफल हो सके किन्तु यदि हिटलर, मुसोलिनी या स्टालिन जैसे किसी व्यक्ति से उनका पाला पड जाता तो उन्हें गोली से उड़ा दिया जाता। उनका मत है कि सत्याग्रह की विजय एक सभ्य और शिष्ट जाति के विरुद्ध ही हो सकती है, एक कठोर हृदय और निर्मम विरोधी के सामने नहीं। इस तरह की आपत्ति के मूल में वस्तुतः उस मान्यता को न समझ पाना छिपा है जिस पर कि सत्याग्रह आधारित है। ऐसी आपत्ति करनेवाले यह भूल जाते हैं कि सत्याग्रह का सिद्धांत यह मान कर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक अन्तःकरण रखता है जो सत्याग्रही के अन्याय के लिए सहर्ष और स्वेच्छा से उठाये गये कष्ट को देखकर पिघल जाता है और अन्ततः उसकी न्याय-भावना जागृत हो जाती है। अन्तर केवल यही है कि जहां एक उदार और शिष्ट व्यक्ति या जाति से जूझने में सत्याग्रही को कम कष्ट उठाने पड़ेंगे वहां हिटलर या स्टालिन जैसे पाषाण हृदय व्यक्ति से जूझने में उसे अधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे, किन्तु यह निश्चित है कि "एक सत्याग्रही की कभी पराजय नहीं हो सकती। गांधीजी को मानव-प्रवृति की कोमलता में पूर्ण विश्वास था। वे मनुष्य को स्वभावतः बुरा नहीं समझते थे और यह विश्वास करते थे कि शनैः शनैः सभी लोग अच्छा बनने का प्रयत्न करते

---

1. डा० पट्टाभी सीतारमैया—गांधी और गांधीवाद, पृष्ठ ८४-८५

हैं। जब मानव-प्रकृति श्रेष्ठता की ओर विकसित होने की है तो पराजित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

कुछ लोगों का कहना है कि गांधीवाद में कोई मौलिकता नहीं है। यह कहीं की ईंट तथा कहीं के रोड़े से बना हुआ एक भानुमती का कुनबा है जिसमे समाजवाद, उदारतावाद अराजकतावाद आदि न जाने कितने विचार अव्यवस्थित रूप से मिल हुए हैं। फिर सत्य और अहिंसा आदि के जो सिद्धान्त उ होने दिये हैं वे भी कोई नवीन नहीं है। गांधीवाद की यह आलोचना निस्सार है और किसी भी रूप में गांधीजी की महान् देन को धूमिल नहीं करता। गांधीजी की महत्ता इसमें है कि उन्होंने पुराने सिद्धान्तों के आधार पर नई समस्याओं को सुलझाने का भागीरथ प्रयत्न किया। मौलिकता सदैव नवीनता में ही नहीं हुआ करती किन्तु यदि पुरानी से पुरानी बात को भी नवीन ढंग से कहा जाय तो वह मौलिक है। इस दृष्टि से गांधीवाद एक मौलिक दर्शन है जिसमें सब विचारों को अच्छाईयां संगृहीत करके सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत की गई है। अनेक आलोचक गांधीजी पर पूंजीवाद का समर्थक होने का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः यह एक हास्यास्पद बात है कि उनके विचारों में भी लोगों को पूंजीवादी दुर्गन्ध आती है। गांधीजी की ईमानदारी पर इस प्रकार सन्देह करना उनके साथ अन्याय करना है। केवल एक सिपाही से मित्रता होने का अर्थ यह नहीं होता कि हम किसी व्यक्ति के शांतिवादी होने में सन्देह करें। भ्रातृभाव से पूंजीपतियों के साथ मित्रता रखने से गांधीजी को पूंजीवादी बतलाना उपहासास्पद है। सच तो यह है कि गांधीजी बुराई (*Evil i e Capitalism*) के दुश्मन थे, बुराई करनेवाले (*Evil doer i e Capitalist*) के नहीं।

मानव जाति की उन्नति को गांधीजी की एक उल्लेखनीय देन उनकी यह धारणा है कि मानव जीवन एक इकाई है। यह एक ऐसी समन्वयात्मक इकाई है जिसका अलग अलग खंडों में विभाजन नहीं किया जा सकता। इसी धारणा के कारण उन्होंने आर्थिक, राजनीतिक, प्राणीशास्त्रीय मनुष्य को निरस्त कर दिया और सत्य, अहिंसा तथा साधनों की पवित्रता के सिद्धान्तों को जीवन के समस्त क्षेत्रों (जिनमें आर्थिक क्षेत्र भी सम्मिलित है) पर लागू किया। इसी के कारण उन्होंने धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष जीवन के विभेद को ठुकरा दिया और इस बात पर जोर दिया कि सम्पूर्ण जीवन धर्म द्वारा अनुशासित होना चाहिए। हमें यह याद रखना चाहिए कि उन्होंने धर्म को उच्चतम धारणा हमारे सामने रखी उनके लिए धर्म का अर्थ था दीन-हीन और दरिद्र की सेवा करना। यदि एक ओर उन्होंने राजनीति का आध्यात्मिकरण किया वहां दूसरी ओर उन्होंने धर्म का लौकिकीकरण किया। मानव जाति के विचार और संस्कृति को यह निश्चित रूप से ही महत्वपूर्ण देन है।

मानव जाति पर गांधीजी का एक अन्य ऋण यह है कि उन्होंने व्यक्ति के महत्त्व तथा शक्तियों में हमारे विश्वास को पुनः जागृत किया है। पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता ने मानव जाति को सबसे बड़ा आघात यह पहुँचाया है कि उसने व्यक्ति को एक अणु बनाकर रख दिया है। व्यक्ति स्वयं को महाकाय सामाजिक और राजनैतिक यंत्र के सामने असहाय पाता है। जर्मनी रूस और

इटली जैसे राज्यों में तो व्यक्ति को पूर्णतः राज्य रूपी यंत्र का एक पुर्जा मात्र ही बना दिया गया है, लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन जैसे प्रजातंत्रात्मक राज्यों में भी व्यक्ति का महत्व व्यावहारिक दृष्टि से अधिक नहीं है। मंगलकारी राज्य के कार्यों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य और शक्तियों को बहुत कुछ सीमित कर दिया है। गांधीजी की यह एक महान् विशेषता है कि उन्होंने इस बात पर पूर्ण आग्रह किया कि वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक कि सर्वसाधारण दुरुपयोग होने पर राज्य की सत्ता का विरोध करना न सीख जांय। '*Gandhi Memorial Peace Number of the Vishwa Bharati Quarterly*' में दिये गये अपने '*What the West owes to Gandhi*' नामक लेख में ऐलन ने लिखा है—

"गांधी का यह एक गुण था कि संगठन और यंत्र तथा जनता के युग में भी एक मानव प्राणी की अन्तर्हित शक्तियों को प्रकट करते हुए भी उसने इन शक्तियों का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग किया। उसमें हमने देखा कि आत्म-विकास अहम् प्रधान इच्छा द्वारा नहीं, बल्कि परमात्मा तथा मानव कल्याण के लिए अर्पित इच्छा द्वारा क्या किया जा सकता है। उसके पास एक मात्र मान्य शक्ति थी, यह शक्ति वह नहीं थी जो कि दूसरो का दमन करती है, बल्कि वह थी जो कि दूसरो को अपने स्तर तक उठा लेती है। किसान, मजदूर, अछूत सभी उसकी वाणी सुनकर कुछ उदात्त हो गए।...दूसरों को अपने जैसा और आध्यात्मिक जीवन का एक स्वतंत्र केन्द्र बनाने की विलक्षण शक्ति थी। ऐसा करके उसने हमें स्वतंत्रता और प्रभु इच्छा के अनुकूल आचरण करने का प्रयास करना सिखाया।"

अन्त में यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद को सनकियों का विचार दर्शन, कायरों की अहिंसा का पोषक, बालू पर बना हुआ विचार महल, असम्भव तथा अव्यावहारिक आदि कहने का युग बीत गया है क्योंकि स्वतः विरोधियों ने अपनी भ्रांति स्वीकार करली है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज की विशिष्ट परम्परा में गांधीवाद ही अब तक सफल हुआ है और उसका स्थाई प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। गांधीवाद ही एक मात्र वह स्थाई चिन्तनधारा है जिसने भारतीय जीवन को गौरवान्वित किया है उसे सृजनशील बनाया है, और जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल है। गांधीवाद की महानता एक कालिक न होकर सर्वकालिक है, एक देशीय न होकर सर्वदेशीय है क्योंकि—'मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह (गांधीवाद) अधिक क्रान्तिकारी है। राजनीतिक दृष्टि से अधिक सम्भव, सरल, व्यापक एवं व्यावहारिक है। नैतिक दृष्टि से मानव-सौहार्द का जनक एवं प्रेरक होने के कारण श्रेष्ठ है। सामाजिक दृष्टि से वह एक सुसंस्कृत अराजकतावाद है। वह साम्यवाद का एक ऐसा विस्तृत, निर्दोष रूप है जिसमें व्यक्ति की पवित्रता एवं राष्ट्र अथवा समाज का हित दोनों सुरक्षित है और जो समाजवाद की तरह सर्वसाधारण को पूंजीवादी क्रूरता से तो बचाता ही है, उनकी आध्यात्मिक एवं नैतिक प्यास को भी शान्त करता है।"[1] इस वक्तव्य में यह भी जोड़ा जा सकता है कि

---

1. श्री रामनाथ 'सुमन'–गांधीवाद की रूपरेखा, पृष्ठ ११६

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह नये सामाजिक मूल्य, सगठन, नियमन का प्रारूप है जिसमे वर्ग विहीन, शोषण-विहीन, अहिंसक समाज की सस्थाओं को प्रधानता दी गई है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक उपयोगिता के लिये यह सर्व सुलभ उत्पादन-प्रक्रिया है आर्थिक समानता का यह समर्थक है। समाज तथा राज्य म इसका प्रयोग होना चाहिये। भविष्य को अभी इस पर और भी बहुत कुछ कहना है।

16

लास्की, कोल, रसल
(LASKI, COLE, RUSSELL)

गत अध्याय में महात्मा गांधी के दर्शन पर विचार करने के उपरान्त समकालीन राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र के ही तीन अन्य महारथियों की चर्चा हम प्रस्तुत अध्याय में करेंगे। ये तीन महारथी हैं—लास्की, कोल और रसल। राजनीतिक चिन्तन के इन प्रकांड विद्वानों की कृतियों को सम्पूर्ण विश्व में आदर की दृष्टि से पढ़ा जाता है और उनके विचारों के महत्व को स्वीकार किया जाता है। लास्की और कोल इस असार ससार से विदा हो चुके हैं जबकि वयोवृद्ध दार्शनिक रसल अपनी मेधावी बुद्धि से हमें लाभान्वित करने के लिये अभी हमारे मध्य हैं। हम सर्व प्रथम लास्की; तब कोल और सब से अन्त मे रसल के विचारों का अध्ययन करेंगे।

हैरोल्ड जॉजेफ लास्की
(Herold Joseph Laski)
[1893—1950]

जीवन परिचय—"पूंजीवाद और साम्यवाद की संकुचित सीमा से बाहर निकल कर जनतांत्रिक समाजवाद की उदार कल्पना करनेवाले और यूरोप के समाजवादियों में प्रमुख (*Doyen among Socialists*) प्राध्यापक लास्की का जन्म मेन्चेस्टर के सम्पन्न यहूदी परिवार में ३० जून, १८९३ में हुआ। यहूदी होने के नाते निराशा और हीनता की भावना लास्की को जन्म से प्राप्त हुई क्योंकि कल तक दुनियां की वही एक मात्र वेवतन कौम थी।[1] किन्तु लास्की ने अपनी असाधारण प्रतिभा और अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बल पर जन्म से विरासत में मिली कौमी निराशा और हीनता का जुआ उतार फेंका। मूल रूप से हगरी के निवासी लास्की के पिता नाथन ने इगलैण्ड में काफी सपत्ति अर्जित की थी और मेनचेस्टर सोसाइटी में एक सम्मानित स्थिति प्राप्त करली थी। नाथन लास्की ने अपने पुत्र का पालन पोषण पूर्णतः यहूदी धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप किया और स्वभावतः यह चाहा कि उसका पुत्र

---

1. अब इजरायल राज्य का निर्माण हो जाने से यहूदियों का मित्र देश का स्वप्न साकार हो गया है।

भी उन सिद्धान्तों पर चले। लेकिन हैरोल्ड लास्की तो बचपन से ही विचार-स्वातन्त्र्य की प्रतिमूर्ति था। बाल्यावस्था से ही उसने कुछ ऐसी पुस्तकें पढ़ी थी जिनका आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण यहूदी धर्म व संस्कारवाद के विपरीत था। इसके अतिरिक्त मैन्चेस्टर ग्रामर स्कूल के अंग्रेजी के अध्यापक जॉन लिविस पेटन से भी वह बड़ा प्रभावित हुआ था। इस प्रकार के मानसिक और बौद्धिक वातावरण ने अन्त में उस दिन को ला पटका जब हैरोल्ड ने अपने पिता से कह दिया—

"मैं अंग्रेज हूँ, पोलिश नहीं, मैं एक अविश्वासी हूँ, यहूदी नहीं, मैं मेमोनाइड्स और मिल में कोई संगति नहीं देखता और न ही मुझे ऐन वॉरोनिका तथा मूसा के धर्म में ही कोई संगति मिलती है।"[1]

लास्की ने अपना विवाह एक ईसाई लड़की फीडाकेरी से करके सामाजिक कट्टरता का त्याग किया। यह लड़की, जो स्वयं बड़ी प्रतिभाशालिनी थी और जिसने वंश परम्परा (*Heredity*), प्रजातिशास्त्र (*Eugenics*) संतति निरोधन और नारी मताधिकार आदि पर अपने उत्तम व्याख्यानों से हैरोल्ड को बड़ा प्रभावित किया था आयु में उससे लगभग ८ वर्ष बड़ी थी। हैरोल्ड तब केवल एक स्कूली छात्र था। लास्की ने अपने विवाह की सूचना अपने माता पिता को तब दी जब वह फ्रीडा के साथ 'हनीमून' (*Honeymoon*) मनाने के लिये चल दिया। इस सूचना ने नाथन और सहारा लास्की के पारिवारिक एवं धार्मिक अभिमान को बड़ी ठेस पहुँचाई। क्रोधित होकर नाथन ने हैरोल्ड पर कठोर आर्थिक नियंत्रण लगा दिये और बड़ी मुश्किल से वह इस बात पर सहमत हुआ कि ऑक्सफोर्ड में शिक्षा-समाप्ति तक व्यय-पूर्ति के लिये वह उसे २०० पौण्ड की वृत्ति देगा। इस आर्थिक सहायता को भी सशर्त प्रदान किया गया। शर्त यह थी कि हैरोल्ड अपने विवाह के समाचार को सर्वथा गुप्त रखते हुए फ्रीडा से न मिले जो कि स्कॉटलैण्ड में स्वयं अपनी आजीविका कमा रही थी। १९११ से १९१४ तक हैरोल्ड ने ऑक्सफोर्ड के न्यू कालेज में गम्भीर अध्ययन किया और १९१४ में इतिहास में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुआ। शिक्षा समाप्ति पर उसे दी जानेवाली आर्थिक वृत्ति रोकदी गई और स्पष्टतः यह चेतावनी देदी गई कि परिवार के सदस्य के रूप में उसे तभी स्वीकार किया जा सकता था जबकि उसकी पत्नि फ्रीडा यहूदी धर्म स्वीकार करले। यह एक बड़ी कठोर शर्त थी जिसने सन् १९२० तक हैरोल्ड को पारिवारिक सम्बन्ध से व्यवहारतः वंचित रखा। अंत में फ्रीडा की बुद्धिमानी से यह पारिवारिक कलह समाप्त हुआ। १९२० में, हैरोल्ड के न चाहते हुए भी फ्रीडा ईसाई से यहूदी बन गई। इससे हैरोल्ड के माता पिता प्रसन्न हो गये।

ऑक्सफोर्ड में शिक्षा समाप्ति के उपरान्त जब हैरोल्ड को आर्थिक

---

1. [illegible] not a Jew, I can not [illegible] nn Veronica with the [illegible]

—Quoted by [illegible] Martin in Harold Laski, A Biographical Memoir, Page 9

सहायता मिलना बन्द होगई तो उसने अपनी आजीविका कमाने के लिये पत्रकारिता का पेशा अपना लिया प्रतिभाशाली छात्र होने से लास्की ने व्यापक गहन अध्ययन, सूक्ष्म संवेदनाशील अनुभूति, मानवतावादी भावुकता और स्वातंत्र्य प्रियता का जो अक्षय कोष सचित किया था, वह इस समय लास्की के काम आया। पत्रकारिता के क्षेत्र में कूद पड़ने से लास्की को अपने विचारों के प्रचार का अवसर मिला। इस समय उसका 'डेली हैरोल्ड' नामक पत्र से निकट सम्बन्ध रहा। यह पत्र सिन्डीकलवादी विचारधारा के सब से अधिक निकट था। लास्की ने आयरलैण्ड के प्रश्न और श्रमिक समस्याओं पर विभिन्न सम्पादकीय लेख लिखे। प्रथम महायुद्ध के समय उसने कनाडा, संयुक्तराज्य अमेरिका आदि की यात्रा की और दर्शन-शास्त्र पर श्रेष्ठ व्याख्यान दिये। इसी मध्य उसे कनाडा में मॉन्टरियल में मेकगिल (*Macgill*) विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक का पद मिल गया। वहाँ उसने लगभग एक वर्ष तक कार्य किया और तब १९१६ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में (अमेरिका में) उसकी नियुक्ति हो गई। दर्शन-व्याख्याता के रूप में लास्की ने वहां विशेष ख्याति अर्जित की। सन् १९२० में लास्की पुनः इंगलैण्ड आगया और लन्दन स्कूल आफ इकानामिक्स' में प्राध्यापक-पद पर काम करने लगा। ग्राहम वैलास के पश्चात् वह राजनीति विज्ञान का प्राध्यापक बना और १९५० में अपनी मृत्यु पर्यन्त वह इसी स्कूल की सेवा करता रहा।

एक शिक्षक के रूप में लास्की ने सर्वत्र अपनी गहरी छाप डाली और छात्रों का अटूट प्रेम अर्जित किया। उसने युवक छात्रों के साथ सदैव मैत्री भाव रखा और उनकी सहायता करने में हमेशा आगे रहा। एक प्रख्यात राजनीतिक विचारक और शिक्षक के साथ ही एक प्रभावशाली व्याख्यानदाता के रूप में भी लास्की ने कम प्रसिद्धि नहीं पाई। निर्वाचनों के समय उसकी बड़ी मांग रहती थी। वह ब्रिटिश लेबर पार्टी की कार्यकारिणी समिति का सदस्य था और जब १९४५ से १९५० तक लेबर पार्टी सत्तारूढ़ थी तब उनका अध्यक्ष रहा था। राजनीतिक मामलों में परामर्शदाता के रूप में उसका कितना सम्मान था इसका प्रमाण यही है कि महत्वपूर्ण सामयिक विषयों पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट पंडित नेहरू और सर विंसटन चर्चिल जैसे सुविख्यात व्यक्तियों को उसने लम्बे-लम्बे पत्र लिखे और प्रधानमंत्री एटली व उसके मंत्रीमंडल का उसने पथ-प्रदर्शन किया। अमेरिका के सुप्रीमकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश होम्स तथा न्यायमूर्ति फीलिक्स फ्रेन्क फर्टर, उसके घनिष्ट मित्रों में से थे। लास्की के निम्नलिखित शब्द यह बताते हैं कि एक सुखी जीवन के लिये प्रेम और मित्रता का उसके जीवन में कितना मूल्य था—

"और प्रेम तथा मित्रता का गौरव है। पहले के बारे में तो मैं कुछ नहीं कहता, उसके सौंदर्य का शब्दों में वर्णन हो ही नही सकता। दूसरे (मित्रता) के बारे में मैं केवल इतना कहूँगा कि न्यायमूर्ति होम्स; लेन्सबरी, हेनरी नेविन्सन, जे० एल० हैमान्ड, ग्राहम वैलास, वैब्स और स्टेफोर्ड क्रिप्स जैसी विभूतियों से परिचित होना जीवन के मूल स्रोत में अपने हृदय को शीतल करना है। फीलिक्स फ्रेन्कफर्टर से जो स्नेह मुझे मिला है वह उस विवेक से भी बढ़कर है जो मुझ उससे प्राप्त हुआ है, इससे बढ़कर मैं कुछ नहीं कह सकता।......जब मैं पीछे की ओर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे अनुभव होता है

कि मैं धन या शक्ति की कामना नहीं करता, मुझे तो केवल मित्र-रूपी सर्वोच्च उपहार की कामना है और मुझे पूर्णमात्रा मे प्राप्त हुआ है। इससे मुझे साहचर्य की भावना प्राप्त हुई है जिसने कि जीवन को एक ऐसा आनन्द प्रदान किया है जिसका कभी किसी भी दु ख द्वारा विनाश नहीं हो सकता।'[1]

धार्मिक कट्टरता और बन्धन के प्रति परिवार के विरुद्ध लास्की ने जो प्रतिरोध प्रकट किया था, उससे यह स्पष्ट आभास मिल जाता है कि वह एक विद्रोही युवक था जिसमे विचार स्वातन्त्र्य की भावना कूट-कूट कर भरी थी। बाल्यावस्था से मृत्युपय त लास्की का जीवन सघर्ष और सक्रियता से आच्छादित रहा था। आक्सफोर्ड म शिक्षा प्राप्ति के समय होनेवाले विभिन्न राजनैतिक आन्दोलनो ने उसकी विद्रोही प्रवृतियो को सबल प्रदान किया। नारी मताधिकार आन्दोलन श्रमिक सघों के बढते हुए क्रान्तिवाद, सिन्डीकलवाद क प्रभाव आदि ने उसके फेबियनवाद के परित्याग का माग प्रशस्त कर दिया जिसका विश्वास क्रमिक प्रगति मे था। अब लास्की वामपक्षी समाजवाद की ओर उन्मुख हो गया। वैसे, लास्की ने स्वय स्वीकार किया है कि वह अपने स्कूल काल के अ तिम वर्षों से ही किसी न किसी मात्रा में समाजवादी था। इ गलैण्ड म व्याप्त वर्गभेद की तीव्रता ने उसक क्रान्तिकारी विचारो को और भी आगे बढाया। 'एक सचयशील समाज मे अन्तर्निहित दोषो का उसे और अधिक विश्वास हो गया उसन बड़ी निराशाभरी दृष्टि मे यह देखा कि परम्परागत उदारवाद किस प्रकार एक सम्पूर्ण मानव वग की अवहेलना कर रहा है।" अपने इन सभी अनुभवो के कारण फेबियन सोसायटी से अलग होकर वह बहुलवाद तथा गिल्ड समाजवाद की ओर आकर्षित हुआ।

अमेरिका के हार्वर्ड विश्व-विद्यालय मे दशन व्याख्याता के रूप में कार्य करते समय लास्की को जो अनुभव हुआ उससे समाजवाद में उनकी आस्था और भी दृढ हो गई। सन् १९१९ मे बोस्टन पुलिस ने इसलिए पडताल करदी क्योंकि वे अमेरिकन श्रमसघ के साथ सयुक्त होने का अधिकार मागते थे। सरकार और पू जीपतियो ने पुलिस हडताल को कुचल देने का रुख अपनाया और विश्वविद्यालय स हडताल तोडनेवाले सैकड़ों व्यक्तियो को भर्ती किया गया। लास्की ने हडतालियों का पक्ष लेकर विश्वविद्यालय की हस्तक्षेप नीति की तीव्र आलोचना की और नगर अधिकारियो को विश्वविद्यालय की ओर से दी जानेवाली सहायता की कटु भर्त्सना की। इस घटना से उसके खिलाफ एक गम्भीर वातावरण बन गया, लेकिन अध्यक्ष लॉवेल ने बौद्धिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए लास्की की रक्षा की। इस घटना से लास्की को यह विश्वास हो गया कि जो भी आदोलन ऐसे व्यक्तियो की सत्ता को चुनौती देता है जिनके हाथो मे आर्थिक शक्ति हो—उसे कुचलने के लिए राज्य अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग करने मे भी नहीं हिचकिचाता। बोस्टन की इस घटना से लास्की ने यह भी अनुभव किया कि अमेरिकन-विद्यालय प्रणाली पू जीवादी सामाजिक परिस्थिति से घनिष्ट रूप में सम्बधित है।

लन्दन के अनुभवों ने भी लास्की में उगते हुए समाजवादी पौधे को सींचा। १९१९ को भयकर आर्थिक मदी, ब्रिटेन म इस मदी का सामना

---

1 *Laski in* "I believe" edited by Clifton Fadiman

करने के लिए राष्ट्रीय सरकार बनाने की व्यवस्था, अमरीका राष्ट्रपति की नवीन नीति (*New deal Measures*), स्पेन मे फासीवाद के प्रादुर्भाव, जर्मनीमें हिटलर की विजय आदि घटनाओं को देखकर लास्की को यह विश्वास हो गया कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए समानता का होना अनिवार्य है और सच्ची समानता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण न हो जावे। लास्की ने यह भी अनुभव किया कि केवल समाजवादी समाज की स्थापना से ही व्यक्तिगत और समूह की स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। उसे यह प्रतीत होने लगा कि आधुनिक काल में कोई भी राज्य अपना वर्ग-आधार बिना क्रांति के नहीं बदल सकता। स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध होनेवाली उसके हृदय की प्रतिक्रिया ने उसे एक मार्क्सवादी बना दिया, यद्यपि वह मार्क्स की तरह हिंसक क्रांति का समर्थक नहीं था बल्कि 'सहमति के साथ क्रांति' का पक्षपाती था। उसका विश्वास था कि इंगलैण्ड में मजदूर-सरकार बिना गृह युद्ध के ही क्रांति ला सकती थी। मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास रखते हुए और पूर्ण समाजवादी होते हुए भी ब्रिटेन की उदारपंथी परम्परा ने उसे कट्टर बनाने के बजाय मानवतावादी ही अधिक बनाया था। रूसी राज्य क्रांति (सन् १९१७) और उसके पश्चात् सोवियत भूमि में भौतिक विकास के मानवीय प्रयासों का प्रशंसक होते हुए भी लास्की ने अधिनायकवादी अथवा सर्वसत्तावादी दृष्टिकोण का तथा हिंसावादी साम्यवादी मार्ग का विरोध ही किया। मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्तिवाद की छाप उस पर लगी थी। क्रांति का समर्थक होते हुए भी वह क्रांतिकारी नहीं था प्रत्युत् वैधानिकता तथा संसदात्मक जनतन्त्र पर विश्वास रखता था, यद्यपि समाजवादी सरकार से वह यह आशा करता था कि पुरानी रूढ़ियों को तोडकर वह नया मार्ग बनायेगी। ब्रिटेन की परम्परा के अनुकूल लास्की ने जीवनभर प्रगतिशील विचारों का अन्वेषण किया और यह सिद्ध कर दिया कि वैधानिक, न्यायपूर्ण मार्ग का अनुसरण करने पर ही वर्ग-हीन, शोषण विहीन, विकेन्द्रित तथा स्वातन्त्र्य युक्त सच्चा समाजवाद स्थापित किया जा सकता है। जार्ज केटलिन के शब्दों में "उसे मध्यमवर्गीय शिक्षितों के बीच मार्क्सवाद का विक्रेता" (*A broker of Marxism to the middle class intelligentsia*) कहा जाता है। सच्चे लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए राज्य की शक्ति पर श्रमिक-वर्ग के अधिकार को वह आवश्यक मानता था। क्लिफटन फेडीमने द्वारा सम्पादित ग्रन्थ '*I Believe : The Personal Philosophies of certain Eminent Men and Women of our Time*' में दिये गये अपने लेख में वह लिखता है—

"इन सबसे जो महान् सत्य मैंने सीखा है, वह यह है कि मार्क्सवादी दर्शन मोटे रूप से सत्य है। जो कुछ मैंने अपनी आंखों से देखा है और पढ़ा है उसने मेरे सामने अन्य कोई विकल्प ही नहीं छोड़ा।.........मैं विवश होकर इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि कोई भी वर्ग स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति का परित्याग नहीं कर सकता। मैंने यह सीखा है कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के होते हुए यह असम्भव है कि राज्य की शक्ति पर श्रमिक-वर्ग का अधिकार हुए बिना लोकतन्त्री विचार वर्गगत सीमाओं का अतिक्रमण

कर जायें।"[1]

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि लास्की समाजवादी अर्थ–व्यवस्था और योजनाबद्ध विकास का प्रबल समर्थक रहा किन्तु शनैः शनैः साम्यवादी आतंक (*Communist Tyranny*) का भय व्याप्त होने से उसने अपने विचारों में परिवर्तन किया। ब्रिटिश लेबर पार्टी में काम करते समय सन् १९३७ में वह उन लोगों में से था जो साम्यवादियों को लेबर पार्टी में शामिल करना चाहते थे। किन्तु सन् १९४६ में उसने साम्यवादियों का कड़ा विरोध किया और उन्हें लेबर पार्टी में नहीं घुसने दिया।

वैब द्वारा संस्थापित 'लन्दन स्कूल आफ इकानामिक्स' में राजनीति शास्त्र के अध्यक्ष पद पर लगभग ३० वर्षों तक काम करने के पश्चात् ५६ वर्ष की अल्पायु में सन् १९५० में लास्की की मृत्यु हो गई। ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि उसकी अकाल मृत्यु में बहुत बड़ा हाथ उसके द्वारा अगणित और विभिन्न कार्यों का करना था। लास्की ने अपने ऊपर इतना कार्य–भार ले रखा था कि उससे कोई भी मनुष्य थककर चूर-चूर हो सकता था। लास्की ने अपने प्रकाण्ड पांडित्य और गम्भीर विचारों से संसार भर में सम्मान प्राप्त किया। उसके पढ़ाये हुए अगणित छात्र आज बौद्धिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विख्यात हैं।

हैरोल्ड लास्की की महानता और उसके प्रभाव को दर्शाते हुए किंग्जले मार्टिन (*Kingsley Martin*) ने लिखा है—

"जब हैरोल्ड की मृत्यु हो गई, तब एक आक्सफोर्ड महोदय ने संकेत किया कि इंगलैण्ड में १९३० के दशक पर, जिसमें अत्यन्त उच्च उद्देश्य तथा प्रायः सभ्रान्त चिन्तन रहा, किसी भी अन्य व्यक्तित्व की अपेक्षा लास्की का सर्वाधिक प्रभाव रहा। उसके विचार में उसे लास्की युग, भी कहा जा सकता है। केवल ब्रिटेन ही में नहीं, वरन् सारे संसार में, जहां लोगों ने उसकी पुस्तकें पढ़ीं और युद्ध द्वारा प्रदत्त समस्या (साम्यवाद और फासिस्टवाद) के समाधान का प्रयास किया, उसके महान् प्रभाव के विषय में विचार उत्पन्न नहीं हो सकता। उसकी पुस्तकों, लेखों, और व्याख्यानों ने उनका सामना किया चाहे वे हमारी समस्यायें न सुलझा सकीं। कई देशों में उसके शिष्य मन्त्री हो गये। नेहरू और चीन में डेमोक्रेटिक लीग के नेता जैसे व्यक्तियों से उसका निकट सम्पर्क रहा, संयुक्तराज्य अमेरिका में उसका नाम एक विवाद-ग्रस्त वस्तु थी, विद्यार्थियों के समूह उसके कार्यों के विषय में निरन्तर विवाद

---

1. [illegible] the great lessson I have learnt is the broad [illegible]
transcend[illegible]
state power by the working class."
—*Laski*

करते थे और भारत, अफ्रीका और वस्तुतः विश्व के प्रत्येक भाग में उसके व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता था जहां कि युवक व युवतियां राष्ट्रीय स्वाधीनता व सामाजिक न्याय के संघर्ष में अपने जीवन को अर्पण कर रहे थे। उसके प्रभाव की सीमा व यथार्थ संदेह से भरे हैं। उसके स्वभाव की व्याख्या या स्पष्टीकरण करना और उनकी गहनता एवं सम्पादन का मूल्यांकन बताना कोई सरल मामला नहीं। लास्की एक विद्वान और राज्य दार्शनिक था, वह एक राजनीतिज्ञ, लेखक और पत्रकार भी रहा, किन्तु सबसे अधिक, वह एक अध्यापक और मित्र था। उसके व्यक्तित्व के इन सब पहलुओं को उसके समाज में एक मनिषी के उत्तरदायित्व के विचार ने आपस में घनिष्ट रूप से गूंथ दिया था।"[1]

पुनः किंग्जले के ही कथनानुसार, "एक राज्य विचारक के रूप में ब्लम (*Blum*) ने हैरोल्ड की मांटेस्क्यू (*Montesquieu*) और टाकविले (*Tocqueville*) से तुलना की और बताया कि सत्रहवीं शताब्दी से यूरोप या अमेरिका में किसी भी अन्य व्यक्ति को लोकन्तत्रात्मक चिन्तन व संस्थाओं का इतना गहन मौलिक ज्ञान नहीं था। उन विषयों में जिनमें मुझे कुछ विशिष्टता प्राप्त है—पिछली दो शताब्दियों में फ्रांस का साहित्यिक व राजनीतिक इतिहास—मैंने सदैव उसे ही गुरु पाया है। किसी अन्य व्यक्ति की उपेक्षा उसने ही ब्रिटिश लोकमत को युद्ध के क्रांतिकारी महत्व से परिचित किया, केवल उसी ने ही ब्रिटिश लोगों को शिक्षा दी कि वे सामाजिक परिवर्तन को केवल विजय का उपहार न समझ, वरन् उसके आवश्यक परिणाम ढूंढें कि यही वस्तुतः नितान्त अनिवार्य था।"[2]

रचनाएं एवं प्रभाव-स्रोत (Works and Effective Sources)—यह संकेत किया जा चुका है कि लास्की एक महान् लेखक था। उसने अगणित लेख लिखे जिनसे अनेक ग्रन्थ तैयार किये जा सकते हैं। उसने जो विविध महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, उनमें निम्नलिखित बड़े लोकप्रिय हैं—

(1) A Grammar of Politics (1925)
(2) Studies in the Problem of Sovereignty (1917)
(3) Authority in the Modern State (1918)
(4) Karl Marx (1921)
(5) Socialism and Freedom
(6) Communism (1927)
(7) Liberty in the Modern State (1930)
(8) The dangers of Obedience (1930)
(9) Where Socialism stands Today ? (1933)
(10) Recovery through Revolution (1933)
(11) Democracy in Crisis (1933)
(12) Parliamentary Government in England (1938)
(13) The State in Theory and Practice (1934)
(14) The Rise of European Liberalism (1936)
(15) An Introduction to Politics

---

1. *Harold Laski*, A Biographical Memoir, pp. 256-57
2. Ibid., P. 271

(16) [illegible]
(17) [illegible]
(18) [illegible]
(19) The Foundations of Sovereignty
(20) The American Presidency
(21) The American Democracy
(22) What I believe ? (1940)
(23) *The Dilemma of Our Times.*

सर्वप्रथम सन् १९१७ से १९२१ के भीतर *'Authority in the Modern State'*, *'Foundations of Sovereignty'*, और *'Studies in the Problem of Sovereignty'* नामक ग्रन्थों में लास्की ने बहुलवाद (*Pluralism*) के समर्थन में तथा राज्य की सम्प्रभुता के ऊपर अपने मौलिक विचार रखे। अद्वैतवादी या एकत्ववादी (*Monistic*) सम्प्रभुता का खण्डन करते हुए उसने राज्य को मानव समुदायों में से एक माना जो सामाजिक उद्देश्यों में उतना ही स्थान रखता है जितना चर्च या धार्मिक संघ या मुक्त संघ (*Freemason's Lodge*)। राज्य और समाज का विभेद भी स्पष्ट किया गया। *व्यक्तिवाद की झलक भी इन शब्दों में दिखाई दी कि "कानूनी* सिद्धान्तों का तकाज़ा कुछ भी क्यों न हो, वास्तविकता में राज्य के सामने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण कोई नहीं करता। राज्य व्यक्ति के लिये उसी हद तक सम्प्रभु है जब तक उसकी अन्तरात्मा विद्रोह नहीं करती।" यह कहना उपयुक्त होगा कि उपरोक्त तीन प्रारम्भिक ग्रन्थों में लास्की ने वह आधारशिला रखी जिस पर उसने राज्य के उस दर्शन के भवन का निर्माण किया जो उसकी *'Grammar of Politics'* तथा *'The State in Theory and Practice* में पाया जाता है। लास्की के विचारों का स्पष्टीकरण विषद रूप में *'Grammar of Politics'* में ही हुआ। इस ग्रंथ में राज्य की विवादात्मक समस्या पर तर्कपूर्ण विचार मिलते हैं। इस महान् ग्रन्थ में *सामाजिक संगठन, संप्रभुता, अधिकार, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समानता, संघात्मक* शक्ति, राष्ट्रीयता आर्थिक सवास, न्यायप्रणाली, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि पर विचारों का तीव्र खण्डन-मण्डन उपलब्ध है। इसमें कोई संशय नहीं कि नवीन बौद्धिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाली *विगत ४० वर्षों में प्रकाशित सम्भवत* किसी भी अन्य पुस्तक से स्पष्टता व्याख्यात्मकता और उपादेयता में यह कम नहीं है। विश्व की प्रमुखतम सम्माननीय पुस्तकों में इसका स्थान है। अपनी इस महान् पुस्तक को लास्की ने सुपरिचित वेब दम्पत्ति (*Sidney and Beatrice Webb*) तथा उनके द्वारा संस्थापित लन्दन की अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र की सर्वोच्च संस्था को समर्पित किया। अपने विचारों में परिमार्जन परिवर्धन करने के बाद लास्की ने यथार्थवाद की अच्छाइयां ग्रहण करते हुए राज्य को व्यक्ति का हितचिन्तक बताया है और उसके विधायक पक्ष पर प्रकाश डाला है। प्रारम्भ में ही उसने यह माना है कि राज्य के सम्बन्ध में चिंतन करते समय मनुष्य अपने देशकाल और अनुभव की परिधि का ध्यान रखता।" रूसो, हीगल, ग्रीन आदि सभी ने अपनी समकालीन मानसिक पृष्ठभूमि तथा परिस्थिति (*Mental climate*) को सर्वमान्य तथा सार्वजनीन सत्य के रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया

था लास्की ने यह बताया कि मनुष्य अपनी विचारधारा के औचित्य और उसकी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये घोर संघर्ष करता चलता है (*Men fight grimly for the status of ideologies*) वास्तव में दुनियां के लिये नये राजदर्शन (*A new political philosophy to a new world*) देने का प्रयत्न लास्की ने अपने इस अद्वितीय ग्रन्थ में किया।

सन् १६२७ में लास्की ने जो '*Communism*' ग्रन्थ लिखा, वह सम्भवत: पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की उसकी समाजवादी आलोचना थी। '*Karl Marx*' में उसने मार्क्स पर अपने स्वतन्त्र विचार रखे और '*The Socialist Tradition in French Revolution*' में फ्रांस की राज्य क्रांति के समाजवादी तत्व ढूंढ़े। सन् १६३३ में प्रकाशित '*Democracy and Crisis*' ग्रन्थ में जनतन्त्र पर लास्की के विचारों का संग्रह है। इसमें अमेरिका में दिये गये उसके भाषणों का सार है। इस पुस्तक में लास्की ने पुरानी प्रतिनिधिमूलक सरकारी संस्थाओं के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए क्रांतिकारी सुधार और परिवर्तन की बात कही है। १६३५ में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '*The State in Theory and Practice*' में लास्की ने वे नये सिद्धान्त खड़े किये हैं जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा की प्रेरणा के परिणाम कहे जा सकते हैं। '*American Democracy*', '*American Presidency*', तथा '*Parliamentary Govt. in England*' में राज्य-शासन सम्बन्धी सिद्धान्त और सामयिक विचारों का परिचय मिलता है। इन पुस्तकों में हमें एक अभिनव दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि "लास्की एक ओर रूस की समाजवादी व्यवस्था का पोषण (स्वत: ब्रिटेन की उदारवादी विचारधारा से उत्पन्न) तथा दूसरी ओर अमेरिका की उच्चस्तरीय पूंजीवादी अथवा लोक कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था का भक्त था और इस प्रकार उसने सहअस्तित्व के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में मान्यता दी।"[1] बाद में चलकर लास्की के विचारों में और भी अधिक स्थायित्व, स्पष्टता तथा स्वरूपात्मक एकता आ गई।

अब दो शब्द लास्की पर पड़े प्रभाव के बारे में कह देना आवश्यक है। लास्की पर सबसे स्थाई प्रभाव अपने युग का है—बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध जो औद्योगिक प्रगति का युग था। इस युग में उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और युद्ध, महायुद्ध सभी कुछ साथ-साथ चल रहे थे। यूरोप दो शक्तिशाली गुटों में विभाजित हो गया था—एक साम्यवादी यूरोप और दूसरा जनतन्त्रीय यूरोप। ये दोनों एक दूसरे के प्रति सशंकित रहते थे। लास्की पर यूरोप और विश्व की इस दशा का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। उसने इस स्थिति को समझा, और समझाया। इंगलैंड के उदार चिन्तन का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। व्यक्ति स्वातन्त्र्य में अभिव्यक्ति, धर्म, विश्वास, व्यक्ति की अगाध स्वाधीनता, सहिष्णुता, सद्भावना, सहमति आदि गुणों का समर्थन निहित है। यह एक तरह से वह विशिष्ट जीवन प्रणाली है जिसका निषेध करने पर सभ्यता ही खण्डित हो जाती है। लास्की इस जीवन-प्रणाली से अप्रभावित नहीं था। लिण्डसे, बार्कर, ग्राहमवैलास आदि के विचारों से प्रभावित होकर लास्की ने राज्य की एक नवीन व्याख्या की और बहुलवादी स्वरूप निश्चित किया। संविधान-शास्त्री डायसी से भी वह प्रभावित हुआ।

हर्बर्ट फिशर, लेम्सवर्ग, नेविन्सन, कोल, वैब, कार्लमार्क्स, लेनिन व लैसफोर्ड आदि के विचारों का उस पर स्थाई प्रभाव है। प्रारम्भिक ग्रीन विचारक जेम्स हैरिंगटन भी उसके विचारों के समीप है। ग्रीन के व्यक्तिवाद और राज्य के नैतिक आधार का वह प्रशंसक है तथा नैतिक चेतना की अनिवार्यता स्वीकार करता है। श्रमिक आन्दोलन ने लास्की के जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। श्रेणी समाजवाद से मार्क्सवाद और जनतान्त्रिक समाजवाद की ओर उसका झुकाव होता गया। विलियम जेम्स के कार्य-साधकतावाद (*Pragmatism*) का प्रभाव उसके दर्शन में स्पष्ट दिखाई देता है। लास्की ने पूंजीवाद, फासिस्टवाद, उपनिवेशवाद की तीव्र आलोचना की और भारतीय स्वतन्त्र आन्दोलन का समर्थन करके भारत में गौरव-लाभ किया। लास्की अन्तर्राष्ट्रीय एकता का प्रबल समर्थक था और इसीलिये उसने हमेशा विश्व-बन्धुत्व का पक्ष लिया। यद्यपि उसके विचारों में विरोधाभास और अस्थाई तथा क्षणिक परिवर्तन दिखाई देते हैं किन्तु ये उसकी सदाशयता और सद्भावना से प्रेरित बौद्धिक-मानसिक वातावरण की कमजोरी के परिणाम हैं।

लास्की के राजनीतिक विचार
(The Political Philosophy of Laski)

लास्की के राजनीतिक विचार राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में सैद्धांतिक और व्यावहारिक-दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं और समकालीन विचार पर उनका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। इन विचारों के बारे में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि वे गतिहीन कभी नहीं रहे। ये विचार सदैव प्राणवान रहे और यूरोप, अमेरिका तथा अन्य देशों में परिस्थितियों के अनुरूप जो भी परिवर्तन आये उनके अनुरूप ये भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते गये। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक लास्की का चिन्तन विश्लेषणात्मक और रचनात्मक था, किन्तु तत्पश्चात् उसकी रचनाओं में प्रचारवाद प्रधान हो गया और उनमें युद्ध से उत्पन्न समस्याओं पर एक क्रमहीन ढंग से विचार किया गया। युद्ध की समाप्ति के बाद लास्की के पास न इतना समय रहा और न शक्ति ही कि वह अपनी मौलिक धारणाओं पर पुनर्विचार कर सकें। डा० हर्बर्ट डीन का मत है कि "युद्धोत्तरकाल की समस्याओं की उसकी विवेचना का तत्कालीन तथ्यों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उसकी रचनायें मूलतः परस्पर विरोधी धारणाओं से पूर्ण और समय से बहुत पीछे दिखाई देती हैं।" अब हम सर्वप्रथम लास्की द्वारा प्रस्तुत राज्य की प्रकृति और संप्रभुता सम्बन्धी विचारों एवं तत्पश्चात् उसकी अन्य धारणाओं की समीक्षा करेंगे।

(१) राज्य की प्रकृति और संप्रभुता सम्बन्धी विचार (**Laski on the Nature of the State and Sovereignty**)—लास्की उन लेखकों में से है जो राज्य के मुकाबले समाज की सत्ता सर्वोच्च मानते हैं और इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि राज्य और समाज एक हैं, इनमें विभेदात्मक रेखा नहीं खींची जा सकती। विभिन्न मानव सवासों या समुदायों (*Human associations*) की सत्ता मानते हुए वे राज्य को भी एक तरह की संस्था मानते हैं। उनका विचार है कि समाज में समुदायों की स्थिति स्वाभाविक है

और जीवन, दर्शन तथा शासन व्यवस्था पर उनका पूरा प्रभाव है। समुदायों अथवा सवासों का प्रभावशाली अस्तित्व इसी से सिद्ध होता है कि उन पर आघात करके हिटलर और मुसोलिनी ने सर्वव्यापी सावयव राज्य (*Corporate State*) स्थापित किये किन्तु उनका अस्तित्व अधिक समय तक नहीं रह पाया। राजनीतिक दल स्वयं सेवक संस्थायें, शिक्षण-प्रणाली, मजदूर-आन्दोलन, धार्मिक जागृति नवीन विचारधाराओं के प्रचार प्रसार आदि समाज पर निरन्तर सुधार या परिवर्तन करते रहते हैं। आज के बहुमुखी, विशाल, जटिल एव अनेकतापूर्ण समाज में संवासों का सर्वाधिक महत्व है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि २०वीं सदी में श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने वह काम किया है जो राज्य करना नहीं चाहता था अथवा कर नहीं सकता था। भारत में विदेशी शासन का अन्त करने में राष्ट्रीय कांग्रेस और उसकी विभिन्न शाखाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। मिश्र के शासन परिवर्तन पराशिया के तेल सम्बन्धी विवाद, अर्जनटाइना में पेरों के शासन की समाप्ति, रूस में श्रमिक जनतत्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रतिबन्ध, अमेरिका में उच्च जीवन स्तर, भूमि सुधार में भूदान आन्दोलन का प्रभाव आदि सशक्त उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि राज्य और शासन के बाहर भी कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जो अत्यन्त प्रभाव सम्पन्न होती हैं और जिनकी उपेक्षा विशाल विनाश का कारण बन सकती है। ये शक्तियां राज्य को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करती हैं और इनकी पूर्ण उपेक्षा करना किसी भी राज्य के लिये संभव नहीं है। तो फिर स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राज्य एक सामाजिक संवास से अधिक उपयोगी और शक्तिशाली नहीं है। बार्कर के कथनानुसार प्रत्येक सामाजिक संवास अपने-अपने ढग से उपयोगी हैं और ग्राह्य हैं।[1] लेकिन राज्य पर एक ऐतिहासिक दायित्व है और इस दायित्व के कारण वह 'बराबरी वालों मेंप्रमुख' (*Primus inter paeres-chief among equals*) बना हुआ है। यह दायित्व सतुलन तथा सामजस्य बनाने का (*Co-ordinating power of the State*) है। लास्की के कथनानुसार राज्य समाज की महत्वपूर्ण स्थिति है न कि सामाजिक ढांचे की सर्वोच्च चोटी। अन्य सामाजिक उपयोगी संस्थाओं की तरह वह भी एक है।[1] समाज वास्तव में संघात्मक (*Federal*) है और बहुलवादी (*Pluralist*) भी। कानून बनाने में भी समुदाय तथा सस्था के हित को सामने रखना पडता है, दमनकारी अथवा हानिकारक कानून संशोधित या रद्द करवा दिये जाते हैं। राज्य को उच्च स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं माना जा सकता कि वह अधिक शक्तिशाली या अनन्त है।

अपने ग्रन्थ '*Grammar of Politics*' तथा '*The State in Theory and Practice*' में लास्की ने निरंकुश शासन के स्थान पर बहुलवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसने बोदां, हॉब्स, ऑस्टिन आदि विद्वानों के राज्य के एकलवादी सिद्धान्त (*Monistic Theory*) पर प्रहार करते हुए इस विचार को अस्वीकार किया है कि राज्य सभी शक्तियों का स्रोत है, वह कानून और

---

1. "The state is essentially a communitas communitatum, and not the crowning-point of a hiearchical structure".
—Grammar of Politics, Page 105

नैतिकता से परे है। लास्की ने राज्य की सम्प्रभुता की धारणा पर अपने आक्रमण को केन्द्रित करते हुए आस्टिन (*Austin*) की सम्प्रभुता की व्याख्या के तीन अर्थ बताये हैं। प्रथम, राज्य एक वैधिक व्यवस्था (*Legal Order*) है जिसमें एक निश्चित सत्ता का वास होता है और जो शक्ति के अन्तिम स्रोत के समान कार्य करती है। द्वितीय, इसकी शक्ति की सीमा नहीं होती। यह बुद्धिहीन या दोषपूर्ण तरीके से कार्य कर सकती है, किन्तु वैधानिक दृष्टिकोण से उस कार्य का स्वभाव अवैध नहीं किया जा सकता। यदि आदेश राज्य प्रभु का है, तो उसका पालन भी अनिवार्य है। तृतीय, आदेश ही विधि का सार है। विधि का अर्थ होता है 'आपको ऐसा करना चाहिये', या 'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये',[1] अन्यथा ऐसा न मानने पर दंड दिया जाता है।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर अपने बहुपक्षीय आक्रमण का समारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लास्की का तर्क एक सर्वशक्तिमान राज्य के सिद्धान्त के विरुद्ध है। राज्य प्रभु की सत्ता के असीमित स्वभाव की निन्दा करते हुए लास्की का कहना है कि—

"किसी भी स्थान पर किसी राज्य प्रभु ने ऐसी अपरिमित शक्ति धारण नहीं की और ऐसा प्रयोग करने के प्रयोजन के फलस्वरूप सदैव सुरक्षाओं की स्थापना हुई। तुर्की का सुलतान तक अपनी सत्ता के युवाकाल में स्वयं ऐसे परम्परागत व्यवहार के नियमों से आबद्ध था जिनका पालन उसके लिये व्यावहारिक रूप से अनिवार्य था। कानून के क्षेत्र में, सामाजिक तथ्य का ऐसा कोई भाग नहीं था जिसे वह संशोधित नहीं कर सकता हो, किन्तु व्यवहार में वह इसीलिए जीवित रहा क्योंकि उसने उन संशोधनों को लागू करने की चाह नहीं की जो उसे ऑस्टिन के विधि शास्त्र के अनुसार राज्य प्रभु सिद्ध कर देते।"

लास्की का विचार है कि राज्य और नागरिकों के मध्य सम्बन्धों में ऐसी कोई बात नहीं होती जो आस्टिन के सिद्धान्त को सिद्ध करती हो या उसके समान भी हो। कोई भी राज्य अपने नागरिकों पर असीमित एवं निरंकुश शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जो यह प्रमाणित करते हैं कि राज्य को अपने आन्तरिक समूहों के सकल्पबद्ध प्रतिरोध के सामने झुकना पड़ा है। ब्रिटिश संसद, जिसकी शक्तियों पर कानून की कोई सीमायें नहीं है, वैल्श खान-खोदकों के विरोध के कारण 'म्यूनिशन एक्ट' की हड़ताल विरोधीधारा को लागू नहीं कर सकी। इसी प्रकार अमेरिकन कांग्रेस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रेलवे कर्मचारियों के दबाव के कारण एक कानून बनाना पड़ा। लास्की ने अमेरिका में अपरिमित सत्ताधारी की प्राप्ति को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि—वहां न तो कांग्रेस की ओर न प्रेसीडेन्ट को ही अपरिमित शक्तियां प्राप्त हैं, 'अतः

---

1. "It is infact, the final legal depository of social will. It sets the perspective of all other associations It is moreover, the implied logic of this supermacy that whatever remains free of its control does so by its permission"
—Grammar of Politics, Page 105

सैद्धान्तिक रूप में, वहां (संयुक्त राज्य अमेरिका में) कोई राज्य प्रभु नहीं है क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश—यद्यपि संवैधानिक संशोधन से उनकी शक्ति घटायी जा सकती है—उनका पुनरावलोकन कर सकते हैं।" संप्रभुता की खोज व्यावहारिक दृष्टि से न केवल संघात्मक राज्य में अपितु अन्यत्र भी कठिन है। यह संदेहग्रस्त है कि क्या आस्टिन के विचार में बेल्जियम को एक राज्य प्रभुता संपन्न राज्य कहा जा सकता है। संविधान नागरिक को सम्पत्ति, धर्म, सभा आयोजन आदि के बारे में प्रतिभूत करता है (*Guarantees*), यह भी सच है कि इन सब अधिकारों को बेल्जियम की असेम्बली संशोधित कर सकती है, किन्तु संविधान को संशोधित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि असेम्बली के निर्णय का समर्थन एक नई असेम्बली भी करले जिसे जनता ने इसी उद्देश्य से पुन: निर्वाचित किया है (*But before the Constitution can be altered the decision of one Assembly must be ratified by a new one rechosen by the electrorate for that purpose*)। ऐसी कोई गारण्टी नहीं है कि नया सदन अपनी बैठक में, जिसमें दो तिहाई सदस्य अवश्य उपस्थित हैं और जो दो तिहाई मतदान से संशोधन का समर्थन करेंगे, उस संवैधानिक संशोधन को स्वीकार ही करलें। इससे भी अधिक, ऐसी भी कोई गारण्टी नहीं है कि नई असेम्बली अपने स्वभाव में पुरानी असेम्बली से सादृश्य रखती हो और तब इस स्थिति में संवैधानिक संशोधन की असम्भवता ही सिद्ध हो जायगी। जब हम इस पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हैं तो यही पाते हैं कि या तो अपने आन्तरिक विषयों में बेल्जियम एक संप्रभुता सम्पन्न राज्य नहीं है, या उसकी संप्रभुता का निवास निर्वाचकों में है। लेकिन चूंकि आस्टिन के अनुसार संप्रभु निश्चित होना चाहिये, अत: लास्की का कहना है कि निर्वाचक मंडल में संप्रभुता का वास नहीं हो सकता क्योंकि वह एक निश्चित समूह नहीं है। इस परिस्थिति में लास्की यह मत प्रस्तुत करता है कि हेनरी मेन (*Henry Main*) का यह विचार उचित है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से "आस्टिन का सिद्धान्त मूर्खता की सीमा तक कृत्रिम है।" लास्की के अनुसार राज्य को अपरिमित शक्ति से विभूषित करने का परिणाम यह है कि हमें "अन्तर्हित रूप से उस निश्चित भयावह हीगलवाद को स्वीकार करना पड़ता है जिसने कि बिना किसी हिचक के हमारे सामने एक ऐसे महान् सम्पूर्ण को प्रस्तुत कर दिया है जो कि स्वयं हमसे अधिक है।"[1]

संप्रभुता सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त को लास्की नैतिक दृष्टि से भी अमान्य ठहराता है। उसके मतानुसार "आस्टिन का संप्रभुता का सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से तो काफी गलत है ही, यदि उसे व्यवहार में लाया जा सके तो उससे गुलामी की भावना का उदय होगा।"[2] उसका कहना है कि किसी

1. "The result of attributing unlimited authority to the state is the implict acceptance of the certain grim Hegelianism which has swept us unprotestingly on into the Vortex of a great All which is more than ourselves."
—Studies in the Problem of Sovereignty, Page 208
2. *Laski*, Studies in the Problem of Sovereignty, P. 273

व्यक्ति से, उसे किसी बात का नैतिक औचित्य समझाये बिना ही, अन्धा होकर आज्ञापालन की माग करना नैतिक रूप से गलत है, यह उसके नैतिक व्यक्तित्व के विकास को कुठित कर देता है। यहा लास्की व्यक्तिगत अन्तरात्म तथा विविध सामुदायिक भक्तियो के दावो पर जोर देता है। राज्य को व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करने का केवल वही तक अधिकार है जहा तक उसकी अन्तरात्मा सहमत है। "मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात मे ही उचित है।" आदर्शवादी की भाति यह कहना कि राज्य की आज्ञा का पालन करना इसलिये उचित है कि उसका लक्ष्य वह सामान्य हित है जिसमे हमारा स्वय का हित भी सम्मिलित है पर्याप्त नहीं है। कोई भी सरकार ऐसी नही होती जो यह दावा न करती हो कि उसका उद्देश्य सामान्य कल्याण के लिये स्थितिया जुटाना है। भारत मे ब्रिटिश शासन भारत की जनता को सभ्य बनाने का उद्देश्य घोषित करता था तो साम्यवादी श्रमिकों के नाम पर शासन करने का दावा करता है। हिटलर और मुसोलिनी भी इसी प्रकार के दावे किया करते थे। किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि जिन व्यक्तियो को राज्य की आज्ञा का पालन करना है, क्या वे भी ऐसा ही सोचते हैं। दर-असल मे व्यक्ति से सरकार की आज्ञा पालन की अपेक्षा तभी की जानी चाहिये जब वह यह अनुभव करे कि सरकार सामान्य हितो का पोषण कर रही है। इसका स्वभाविक अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्ति पहले सरकार के कार्यों के औचित्य का निर्णय करले। व्यक्ति की भक्ति राज्य सस्था के प्रति न होकर उसके उद्देश्यों के प्रति है। लास्की की भक्ति केवल एक ऐसे राज्य के प्रति ही है जिसमें वह अपना नैतिक ध्येय खोज पाये। व्यक्ति राज्य भक्ति वहीं तक प्रदर्शित कर सकता है, जहा तक उसकी नैतिक उन्नति होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अखड सामाजिक निधि मे अपना अपना योगदान देकर उसे समृद्ध बनाना चाहिये और इसके लिये राज्य के अनियन्त्रित, अदेय, अविभाज्य अधिकार का दिवा स्वप्न दूर करना होगा। लास्की ने स्पष्ट लिखा है कि—"जिस राज्य के प्रति मेरी भक्ति है वह वही राज्य हो सकता है जिसमे मैं नैतिक पर्याप्तता देखता हू। हमारा प्रथम कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति दृढनिष्ठ होना है। मैं अपने चर्च के साथ और राज्य के विरुद्ध रहूगा, अपनी ट्रेड यूनियन के साथ और राज्य के विरुद्ध रहूगा, यदि मेरे अनुभव पर चर्च अथवा ट्रेड यूनियन के प्रभाव की अपेक्षा राज्य का प्रभाव कम पडता है। मेरा कार्य ही विधि को वैधानिकता प्रदान करता है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से लास्की एकलवादी या द्वैतवादी या अद्वैतवादी (*Monist*) सम्प्रभुता का कट्टर विरोधी है और स्पष्टत यह कहना चाहता है कि इस प्रकार की मरीचिका छोड देने पर ही राजनीति तथा समाज का कल्याण हो सकता है। राज्य की बात अन्तिम आदेश (*Final Prescription*) नहीं हो सकती, वह तो केवल दिशा निर्देश का काम करता है तथा उन सदयों को स्पष्ट करता है जिस ओर व्यक्ति समाज, सघ सब बढना चाहते हैं। समाज अनेकतावादी है, राज्य का प्रतिनिधि है इसलिए राज्य भी अनेकतावादी है और सम्प्रभुता

1. *Laski*, Grammar of Politics, Pp 240 289

की कल्पना त्याज्य है। अनुत्तरदायी और निरंकुश राज्य अधिक दिन तक चल नहीं सकता। सम्प्रभुता का यह अर्थ लगाना कि राज्य किसी आन्तरिक या बाह्य शक्ति से नियन्त्रित नहीं है, सर्वथा भ्रामक है। राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय युग में कोई भी देश इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वह दूसरों से बिल्कुल निर्लिप्त या अप्रभावित है। आन्तरिक दृष्टि से विभिन्न विश्वास, सिद्धान्त, तर्क, पक्ष आदि राज्य का रूपान्तर करते रहते हैं। शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को मानने का अर्थ ही यह है कि राज्य शक्ति की अविभाज्यता का खण्डन करना। कार्य-साधकतावाद अथवा व्यावहारिक उपयोगितावाद (*Pregmatism*) की कसौटी पर भी यही झलकता है कि राज्य सीमित है, अनेक बन्धन उसे शिथिल बनाते है। सम्प्रभुता इस प्रकार बहुलवादी है, अनेक टुकड़ों में बटी है और उसे विभाजित होना चाहिये।

लास्की के तर्कों में यद्यपि पर्याप्त बल है, तथापि यह कहा जा सकता हैं कि असीमित सम्प्रभुता पर आक्रमण करते समय लास्की **प्रथम तो एक ऐसी बात की आलोचना करता है जो कि सम्प्रभुता सिद्धान्त के माननेवाले कहते ही नहीं।** सम्प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त के अनुसार राज्य कानूनी रूप से सर्वोपरि है, किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस पर नैतिक अथवा भौतिक सीमाएं भी नहीं होती। "सैद्धान्तिक रूप से यह सिद्धान्त उतना ही अकाट्य है जितना कि यह कि एक वृत्त की समस्त त्रिज्याएं (*Radii*) समान होती हैं। इस धारणा का खण्डन इस आधार पर कभी नहीं किया गया कि एक विद्यार्थी के द्वारा खींचे हुए वृत्त की त्रिज्याएं (*Radii*) समान नहीं होती; इसी प्रकार हम ऑस्टिन के सिद्धान्त का भी इस आधार पर तिरस्कार नहीं कर सकते कि इतिहास में किसी भी शासक ने वास्तविक रूप से उन शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया जो कि सम्प्रभुता सिद्धान्त के अनुसार उसे प्राप्त हैं।" **दूसरी बात यह है कि अन्य बहुलवादियों के समान ही यहां भी राज्य और सरकार को एक समझने की भूल की गई है।** ऑस्टिन और उसके साथी विश्लेषणवादी न्यायविदों ने सरकार की सम्प्रभुता का नहीं, प्रत्युत् राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इतिहास में कभी भी सरकार ने राज्य में निहित समस्त शक्तियों का प्रयोग करने का प्रयास नहीं किया। बहुलवादी राज्य और सरकार तथा शक्ति पर अधिकार और इसके प्रयोग में विभेद को अस्वीकार करते हुए यह दावा करते हैं कि वास्तविक व्यवहार में व्यक्ति को प्रभावित करनेवाले राज्य के कार्य सरकार के ही कार्य होते हैं और राज्य केवल अपने अभिकरण सरकार के माध्यम से ही काम कर सकता है। राज्य की ऐसी शक्तियों को बताने से कोई लाभ नहीं जिनका वह कभी प्रयोग ही नहीं कर सकता; चाहे सामान्य व्यक्ति के लिए यह भेद निरर्थक हो। किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक राजनैतिक दार्शनिक के लिये राज्य और सरकार का भेद महत्वपूर्ण है। एक राजनैतिक दार्शनिक सरकार को उन शक्तियों को नहीं दे सकता जिन्हें वह औपचारिक रूप से राज्य को देता है। वास्तव में सरकार राज्य की सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। राज्य तो स्वभाव से ही व्यक्ति की अपरिमित भक्ति का पात्र है, किन्तु सरकार पर यह बात लागू नहीं होती। **सारांश यह है कि यदि हम राज्य और सरकार में, कानूनी**

और राजनैतिक सम्प्रभुता में, सम्भावित तथा वास्तविक शक्तियों में विभेद करते हैं तो हम राज्य की कानूनी सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मान सकते हैं। तथापि जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर लास्की ने असीमित सम्प्रभुता के सिद्धांत पर आक्रमण किया है वह अवश्य ही प्रशंसनीय है। लास्की का उद्देश्य यह प्रकट करता है कि एक अति केन्द्रीभूत राज्य में व्यक्ति और समुदायों की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। उसके आक्रमण का लक्ष्य हीगल की धारणा का सर्व शक्तिमान राज्य है। वह आदर्शवादियों की कल्पना के उस अति केन्द्रीभूत राज्य का खण्डन करता है जो कुछ निश्चित सम्थाओं के साथ व्यक्तियों का सामंजस्य करना चाहता है। लास्की की दृष्टि में सब तरह की संस्थाओं की उपयोगिता की कसौटी यह है कि वे नागरिकों के कल्याण में कहां तक योग देती हैं और इसीलिए वह व्यक्तियों को राज्य के मामलों में सक्रिय भाग लेने और यह निर्णय करने का अधिकार देता है कि वह अपने घोषित उद्देश्यों को कहां तक पूरा कर रहा है। लास्की ने जिन तथ्यों पर बल दिया है, वे सत्य हैं, किन्तु उसका दोष यह है कि वे केवल अप्रासंगिक हैं। आस्टिन और राज्य के सम्प्रभुता के समर्थक यह कभी नहीं कहते कि राज्य की आलोचना या अवज्ञा करना अनैतिक है और न ही वे हीगलवादियों के समान राज्य को नैतिक रूप से सर्वोपरि समझते हैं। उन्होंने तो राज्य के कानूनी आदेशों के नैतिक औचित्य के प्रश्न से अपने को बिल्कुल अलग रखा है। उन्होंने अपने अन्त करण की अवहेलना करने तथा सरकार के कामों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के विवेक का परित्याग करने को नहीं कहा है।

लास्की ने सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना कानूनी और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी की है। ऑस्टिन के मतानुसार कानून सम्प्रभुता का आदेश है परन्तु लास्की का मत है कि कानून सम्प्रभुता की आज्ञा मात्र नहीं है वरन वह परम्पराओं एवं रीति रिवाजों द्वारा भी निर्मित होता है और उसका पालन स्वयं के औचित्य के कारण होता है। बाह्य तौर पर, एक सर्वोच्च और स्वाधीन सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के हितों के प्रतिकूल है। निष्ठा की सच्ची इकाई संसार है क्योंकि आज्ञापालन की वास्तविक निष्ठा हमारे सहयोगियों के समग्र हितों में निहित है जो केवल किसी विशेष राज्य ही में नहीं वरन् विश्व के विभिन्न भागों में रहते हैं। लास्की का विचार है कि मानवता की मांगों के आधार पर सम्प्रभुत्व के सिद्धान्त को राजनीति से निकाल दिया जाय क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी होने के कारण यह राष्ट्रों के मध्य युद्ध एवं अनावश्यक प्रतियोगिता को जन्म देता है।

राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त की लास्की ने व्यक्ति और समूह के दृष्टिकोण से जो आलोचना की उससे अब हम राज्य के संगठन के लिए उसकी रचनात्मक प्रस्थापनाओं पर आते हैं। इस विषय में लास्की की धारणाएं अधिक मान्य हैं। वह राज्य का संगठन इस प्रकार चाहता है कि व्यक्ति और समूहों को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। वह व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान देता है और व्यक्ति की इच्छाओं पर राज्य की इच्छा को प्रधानता केवल उसी सीमा तक देता है जहां तक 'उस इच्छा का निर्माण ऐसी

बुद्धिमता के साथ किया जाय जिससे कि उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाये।"

लास्की की रचनात्मक प्रतिस्थापनाएं उसके विख्यात ग्रंथ '*Grammar of Politics*' मे उपलब्ध हैं। राज्य के प्रति अपने दृष्टिकोण में लास्की ने इस ग्रंथ में कुछ परिवर्तन प्रदर्शित किया हैं। सम्प्रभुता पर अपने घोर, आक्रमण को शिथिल करते हुए वह स्वीकार करता है कि कानूनी सम्प्रभुता का सिद्धान्त अकाट्य है, यद्यपि उसकी कोई अपनी शक्ति नहीं है वह गतिहीन और केवल मात्र औपचारिक है। यहां लास्की का बहुलवाद भी पूर्वापेक्षा कम कठोर रह गया है और उसने यह स्वीकार किया है कि राज्य एव अन्य ऐच्छिक समुदायों के स्वरूप में आधारभूत अन्तर हैं। प्रमुख अन्तर यही है कि राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति होती है जबकि अन्य समुदायों के पास यह नही होती। वह यह मानता है कि ऐच्छिक समुदायों का अधिकाधिक स्वतन्त्रता होते हुए भी राज्य को अन्य समुदायों से उच्चतर होना चाहिये ताकि वह उनकी अवांछित क्रियाओं पर नियन्त्रण रख सके। लास्की ने राज्य की इस शक्ति के औचित्य के विषय में यह स्वीकार किया है कि उसको यह शक्ति उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि होने के नाते एव नागरिकों के सामान्य कल्याण में अधिकतम योग देने की सामर्थ्य प्रदान करनेवाले सगठन के नाते प्राप्त होती है। राज्य के पास इतनी बाध्यकारी शक्ति होनी ही चाहिये कि जिससे वह नागरिकों एव समूहों को नियन्त्रित करते हुए अपने सामान्य हितों की पूर्ति कर सके। स्पष्ट है कि विभिन्न समुदायो को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए उत्सुक होने पर भी लास्की राज्य को उनसे गौण नहीं अपितु उच्चतर स्थान देना चाहता है।

लास्की राज्य और ऐच्छिक समुदायों के बीच एक भेद और बताता है। वह यह है कि व्यक्ति ऐच्छिक समुदाय की सदस्यता को त्याग सकता है परन्तु वह राज्य की सदस्यता से विलग नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति राज्य के निर्णयों से मतभेद रखता है तो व्यक्ति को इसके बदले में दण्ड दिया जा सकता है। इसका स्वाभाविक अर्थ है कि व्यक्ति के लिए राज्य की इच्छा का महत्व अन्य किसी भी समुदाय की इच्छा से अधिक है। यह उल्लेखनीय है कि लास्की के विचारों में इस प्रकार का परिवर्तन प्रमुखतः दो कारणों से हुआ प्रतीत होता है—प्रथम तो यह है कि उस पर अमेरिका से इंगलैण्ड लौट आने पर वैब दम्पत्ति का गम्भीर प्रभाव पड़ा और दूसरा यह कि वह इंगलैण्ड के मजदूर दल (*Labour Party*) का सदस्य बन गया। यह दल इंगलैण्ड के सर्वाधिक शक्तिशाली दलों में से एक बन चुका था और १९२० के बाद कुछ समय के लिए सत्तारूढ़ भी रहा।

१९३१ में प्रकाशित लास्की के एक अन्य ग्रन्थ '*Introduction to Politics*' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक वह (लास्की) अपने प्रारम्भिक बहुलवाद से और भी अधिक दूर हो गया था। इस ग्रन्थ में लास्की यह विश्वास व्यक्त करता है कि राज्य का मूल तत्व इस बात मे निहित है कि राज्य अपनी सीमाओं के अन्तर्गत रहनेवाले सभी व्यक्तियो और समुदायों पर अपनी इच्छा लाद सकता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की इच्छा अन्य सभी समुदायों की इच्छा से उच्चतर है क्योंकि राज्य

की इच्छा को कानूनी प्रभुता प्राप्त है जबकि अन्य समुदायों की इच्छा को नहीं।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि लास्की राज्य का बाध्यकारी शक्ति को स्वीकार करता है तथापि वह राज्य की शक्ति की ओर से बड़ा सशंकित बना रहता है। कहीं शासक की शक्ति बढ़ न जाय, इस भय से वह सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बना देने का पक्ष लेता है। उसका मत है कि शासक एक लम्बे समय तक के लिए अपने उच्च नैतिकस्तर को स्थिर नहीं रख सकता। एक-न-एक दिन ऐसा अवश्य आता है जबकि दूसरों के जीवन को समुचित और न्यायपूर्ण रूप से संचालित करने के अपने उत्तरदायित्व से विमुख होकर शासक अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगता है। एक जनतन्त्रीय शासन शक्ति के दुरुपयोग की इस प्रकार की सम्भावनाओं को अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा कम कर देता है। जनतन्त्रीय शासन-पद्धति में सरकार के भ्रष्ट होने के और जनहित की बलि पर अपनी स्वार्थ पूर्ति के अवसर न्यूनतम रह जाते हैं। जनतन्त्रीय शासन में नागरिकों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने का एक परम्परागत साधन शक्ति पृथक्करण (*Separation of Powers*) और नियन्त्रण (C . . .) की प्रणाली रही है। लास्की इस प्रणा . . . उसकी धारणानुसार इस तरह के . . . सम्मान करने के लिए विवश करने में असमर्थ हैं। लास्की ने न केवल इन परम्परागत साधनों में अविश्वास ही व्यक्त किया है, बल्कि इनके स्थानापन्न साधन भी सुझाये हैं। उनका कहना है कि सत्ता के केन्द्रों की संख्या में वृद्धि कर देनी चाहिए और ऐसा करने के लिए स्थानीय तथा व्यवसायात्मक संस्थाओं को शक्ति प्रदान करनी चाहिए। स्थानीय स्वशासन का विस्तार होने से अधिकाधिक जनता अपने अधिकारों और शासकीय बातों के प्रति जागरूक व सचेष्ट बन सकेगी। राज्य की शक्ति के विकेन्द्रीकरण को लास्की व्यक्ति के लाभ के लिए अधिक से अधिक अनुकूल समझता है। यह उसका एक ऐसा विचार है जिसके द्वारा यह सम्प्रभुता के सिद्धांत को गहरा आघात पहुँचाता है। लास्की यह भी सुझाव रखता है कि ऐच्छिक समुदायों को सरकार तथा उसके अभिकर्ताओं (*agents*) के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाना चाहिए। ये ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा सरकार को नागरिकों की वास्तविक आवश्यकता एवं इच्छाओं को जानने और अपने निर्णयों में उनकी इच्छाओं को अधिकतम स्थान देने के लिए विवश किया जा सकता है। लास्की ने जो यह कहा है कि, 'सारी शक्ति संघात्मक है' (*All authority is Federal*)—इसका यही अर्थ है। खुले रूप में, इस कथन का यही अभिप्राय है कि ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो व्यक्ति के ऊपर सर्वोच्च नियन्त्रण का दावा कर सके। अधिक से अधिक राज्य व्यक्तियों के जीवन पर आंशिक नियन्त्रण का प्रयोग कर सकता है। मनुष्य अपनी आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक आदि नाना आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु अनेक संस्थाओं में प्रवेश करता है और प्रत्येक संस्था उसके व्यक्तित्व के विकास में अपना योगदान देती है। एक श्रमसंघ श्रमिक के आर्थिक हितों की रक्षा करता है चर्च उसके आध्यात्मिक उत्थान के प्रयत्न करता है और इसी भांति राज्य अपनी जनता की राजनैतिक आवश्यकता को सन्तुष्ट करता है।

राज्य के द्वारा व्यक्ति की नैतिक व आध्यात्मिक आवश्यकतायें पूरी नहीं की जा सकती। चूंकि हमारे जीवन में राज्य केवल आंशिक योगदान है, अतः राज्य के प्रति आज्ञापालन भी आनुपातिक रूप से आंशिक होना चाहिए। यह राजनीति का प्रथम सिद्धांत है कि अधिकार और शक्तियां कार्यों से सम्बन्धित होते हैं। अतः इसमें कोई विचित्रता नहीं है कि राज्य हमसे जिस निष्ठा की अपेक्षा करता हैं वह निष्ठा आंशिक होनी चाहिए। लास्की लिखता है कि—

'हम चाहे जीवन का कोई भी पहलू लें, प्रत्येक स्थल पर शक्ति का संघात्मक होना आवश्यक है, किसी भी विषय पर विधि-निर्माण में भी, सारा काम किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। चूंकि कानून सभी के हितों की रक्षा करता है, अतः इसके निर्माण में सबका परामर्श होना चाहिए जिससे बिल को कानून के रूप में परिणित करते समय उनके दृष्टिकोणों को ध्यान में रखा जा सके। एक और भी मार्ग है जिसके द्वारा राज्य के कानूनों के प्रति ऐच्छिक स्वीकृति प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक कानून के अन्तर्गत वह सब आ जाना चाहिए जिसकी उन सबको आवश्यकता है जिसका उन सब पर प्रभाव पड़नेवाला है। केवल तभी लोग उस कानून के प्रति अपना नैतिक दायित्व निभा सकते हैं।''

'सत्ता संघात्मक होनी चाहिए'—इस अवस्था पर लास्की के सिद्धांत में बहुलवादी तत्व केवल उसका यह आग्रह है कि ''यदि राज्य को मानव आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से पालन करना है तो उसे अपने निर्णय में उन समुदायों की इच्छा को सम्मिलित करना चाहिए जो राज्य तथा व्यक्ति के बीच खडे हुए हैं।'' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लास्की विभिन्न उपयोगी सुझाव देता है—

(क) ऐच्छिक समुदायों के प्रतिनिधियों को प्रत्येक स्तर पर अधिकारियों से मिलना चाहिए और उन्हें सम्बन्धित परामर्श देना चाहिए। इस ध्येय के कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सरकारी विभाग के साथ उससे प्रभावित होनेवाले हितों के प्रतिनिधियों के परामर्शदाता-निकायों को सम्बद्ध कर दिया जाय।

(ख) सरकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह निर्णय करने से पहले इन निकायों से परामर्श करे। इन निकायों को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वे प्रस्थापित व्यवस्थापन की आलोचना कर सकें और नये व्यवस्थापन के सुझाव भी दे सकें।

(ग) राज्य के विभिन्न शासकीय विभागों को सलाह देने के लिए संसद के सदस्यों की समितियां बनाई जावें। प्रत्येक समिति सम्बन्धित मन्त्री से निरन्तर सम्पर्क में रहते हुए अपनी जांच पड़ताल करती रहे।

(घ) स्थानीय स्वायत्त-शासन का पुनर्गठन इस भांति किया जाय कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो जावें। स्थानीय शासन के क्षेत्रों का इस प्रकार पुनर्विभाजन हो कि वे अपने द्वारा सम्पादित किये जानेवाले कार्यों के अनुरूप हो जावें। यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक स्थानीय निकाय को अपने कार्यों पर अधिकाधिक प्रशासकीय अधिकार मिलें।

(ङ) व्यक्तिगत हाथों में छोड़े हुए प्रत्येक उद्योग पर नियन्त्रण स्थापन की दृष्टि से एक प्रतिनिधि निकाय हो। इस प्रकार की औद्योगिक परिषद् में मालिकों उपभोक्ताओं और सरकार के प्रतिनिधि होने चाहिए। इस परिषद् को ऐसे नियमों के निर्माण का अधिकार भी मिलना चाहिए जो सम्पूर्ण उद्योग के लिए स्वीकार्य हों बशर्ते कि उत्पादन का केन्द्रीय मन्त्रालय एवं अन्तिम रूप से व्यवस्थापिका उन पर अपनी स्वीकृति दे दे।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि अपने ग्रन्थ '*Grammar of Politics*' में लास्की ने राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में सामञ्जस्य स्थापित करने का बड़ा प्रशंसनीय प्रयास किया है। "वह सामाजिक नियन्त्रण और सामञ्जस्यकारी संस्था के रूप में राज्य को कायम रखता है और बहुलवादियों की आलोचना का समाधान अधिकतम सम्भव विकेन्द्रीकरण के द्वारा करने का प्रयास करता है।"

लास्की अपने विचारों पर जमकर नहीं बैठ जाता। उसके दिमाग की खिड़कियां खुली हैं और वह आवश्यकतानुसार तथा अपने अनुभवों के आधार पर अपने विचारों में परिवर्धन-परिमार्जन करने से नहीं कतराता। *Grammar of Politics*' के १९३८ के संस्करण में जोड़ा गया नवीन परिचयात्मक अध्याय, यह प्रकट करता है कि अब लास्की ने प्रथम संस्करण के संशोधित बहुलवाद का भी परित्याग कर दिया है और राज्य के विषय में बहुत कुछ मार्क्सवादी धारणा को अपना लिया है। राज्य के स्वरूप के विषय में मार्क्स के विचारों का अनुकरण करते हुए लास्की यह विश्वास प्रकट करता है कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य एक समाज के वर्ग सम्बन्ध को सुरक्षा प्रदान करना है। वह राज्य को सामाजिक नियन्त्रण और सामञ्जस्य की एक मशीन नहीं समझता, जिसकी शक्ति इसलिए सीमित हो कि वह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके। इसके विपरीत अब लास्की उसे समाज में उत्पादन के साधनों के स्वामी-वर्ग के हाथ में एक 'कार्यपालिका यन्त्र' समझता है। अब लास्की की दृष्टि में राज्य का उद्देश्य सामान्य हित अथवा मानव-कल्याण के लिए कार्य करना न होकर समाज के वर्ग-सम्बन्धों को बनाये रखना है। वर्ग-सम्बन्धों को सुरक्षित रखने के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह भी अनिवार्य है कि सरकार अधिकाधिक शक्ति की स्वामी बने, अर्थात् राज्य अविभाज्य एवं अनुत्तरदायी सम्प्रभुता का दावा करे। मार्क्सवाद के प्रभाव में आकर वह बाद में जनतन्त्र को पूंजीवादी जनतन्त्र कहकर पुकारता है, क्योंकि उसका प्रमुख उद्देश्य उस सामाजिक एवं आर्थिक प्रणाली को बनाये रखना है जो कि पूंजीपतियों ने अपनी शक्ति और विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए खड़ी की हुई है। लास्की यह विश्वास प्रकट करता है कि पूंजीवाद के स्थान में समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं किया जा सकता। सच्ची मार्क्सवादी भावना के साथ वह यह घोषित करता है कि पूंजीवादी जनतन्त्र अन्ततः निश्चित रूप से क्रान्ति को जन्म देगा। उसकी पुस्तकों '*Democracy in Crisis*' एवं '*Parliamentary Government in England*' का मुख्य सार यही है। लास्की मोटे रूप से साम्यवादियों की धारणा को भी स्वीकार करता है कि फासीवाद पतनोन्मुख पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है।

यह स्मरणीय है कि यद्यपि लास्की मार्क्स की इस धारणा से सहमत था कि सरकार सदैव समाज के उस वर्ग के हाथों में रहता है जो उत्पादनों का स्वामी होता है और इसलिये समाज के उत्पादन के सम्बन्धों की सुरक्षा के लिये वह बाध्यकारी शक्ति पर अपना अधिकार रखना आवश्यक समझती है, तथापि लास्की श्रमजीवीय तानाशाही का समर्थन नहीं करता और न ही क्रान्ति के नेतृत्व के लिये एक छोटे से अनुशासित दल को आवश्यक समझता है। लास्की क्रान्ति का समर्थक है, किन्तु हिंसक क्रान्ति का नहीं बल्कि सहमतिपूर्ण क्रान्ति का वैधानिकता और संमदात्मक जनतंत्र पर उसका विश्वास है किन्तु समाजवादी सरकार से वह यह आशा करता है कि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर वह नया मार्ग बनायेगी। किंगजले मार्टिन (*Kingsley Martin*) के ये शब्द सही ही हैं कि—

"वह (लास्की) इस बात को तो मानने के लिये तैयार था कि क्रांतिकारी युग में नागरिक अधिकारों पर कुछ आघात करना आवश्यक हो सकना है। परन्तु वह मार्क्सवाद से पूर्णरूप से सहमत नहीं हो सकता था, क्योंकि वह मूलतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास रखता था ...... क्योंकि उसे आशा थी कि सम्पत्तिवान् वर्ग के अधिकांश को नवीन व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए तैयार किया जा सकता है; क्योंकि यद्यपि वह यह विश्वास करता था कि ऐतिहासिक प्रवृतियां हिंसात्मक क्रान्ति की ओर हैं, तथापि वह उसे अपरिहार्य नहीं समझता था।"[1]

स्पष्ट है कि लॉस्की ने मार्क्सवाद को अपनाकर भी लोकतंत्रवाद का परित्याग नहीं किया। यही कारण है कि अनेक उदार लोकतंत्रवादियों की दृष्टि में वह एक लोकतंत्री समाजवादी है। उसने अपने इस विश्वास का कि कोई भी वर्ग स्वेच्छा से शक्ति का परित्याग नहीं करता, उदार लोकतंत्रवादी मान्यताओ के साथ समन्वय करने का अथक प्रयास किया, और इसीलिये उसके विचारों में अनेक असंगतियां प्रवेश कर गईं।

(२) आज्ञाकारिता की समस्या (Problem of Obedience to Law)—लास्की के मतानुसार आज्ञाकारिता अथवा नियम-पालन की समस्या से सम्बन्धित तीन प्रश्न हो सकते हैं—(१) राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन क्यों करना चाहिये? (२) वास्तव में इन कानूनों का पालन क्यों किया जाता है? (३) क्या आज्ञा-पालन की कोई सीमाएं हैं?

लॉस्की ने इन सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। वह आरम्भ से एक उदारवादी था। मिल की भावना के अनुरूप उसने यह

---

1. "He was prepared to agree that to encroach on civil rights might be justified during revolutionary period. But he could never go to the whole Marxis hog because he believed fundamentally in individual liberty....because he hoped that most of the property class could be brought over and persuaded to accept the new system because while he believed that strong historical trends made for violent revolution, he did not regard it as invitable."

—*Kingsley Martin* : Op. cit., Page 88

बताया कि प्रगति का वास्तविक कारण 'विभिन्नताओं का चयन' (*The Selection of Variations*) है, 'एकरसताओं को बनाये रखना' (*Preservation of Uniformities*) नहीं। उसने इस बात में विश्वास प्रकट किया कि प्रत्येक राज दर्शन का प्रारम्भबिन्दु मानव इच्छाओं की अमिट विविधता है। उसके स्वयं के शब्दों में—

"राज्य की इच्छा वह इच्छा है जिसे सामाजिक शक्तियों पर प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये एक-दूसरे से संघर्ष करनेवाली असंख्य इच्छाओं में से अपनाया गया है।"[1]

उपरोक्त सभी कथनों से यह प्रकट होता है कि आदर्शवादियों के इस मत से वह (लॉस्की) सहमत नहीं था कि 'अपने स्वरूप एवं घोषित उद्देश्य के चरित्र के कारण ही राज्य को व्यक्ति की अविभाजित और निरपेक्ष भक्ति प्राप्त करने का अधिकार है।"

लॉस्की बहुलवादी दृष्टिकोण रखने के नाते यह मानता था कि राज्य को अपनी आज्ञाओं के पालन कराने का अधिकार अन्य समुदायों से उच्चतर नहीं है। राज्य के लिये यह उचित है कि वह आज्ञापालन कराने सम्बन्धी अपने अधिकार के लिये अन्य समुदायों से प्रतिद्वन्द्विता करे। यहां व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वयं इस बात का निर्णय करने के लिये सचेष्ट हो कि राज्य का कोई कार्य-विशेष उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है अथवा नहीं। यदि उसका अन्तःकरण यह स्वीकार करे कि राज्य का कार्य उसके उद्देश्य की पूर्ति करता है तो व्यक्ति को राजाज्ञा मान लेनी चाहिये, अन्यथा उसे राज्य की आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देना चाहिये। बिना सोचे-विचारे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना अपनी आत्मा की वाणी का अनादर करना है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि लास्की के विचारानुसार "कानूनविद् का सम्बन्ध कानून के ज्ञान तथा विश्लेषण से उतना नहीं है जितना कि कानून की न्यायता (*Validity*) की कसौटी की खोज से है।' एक सन्तोषजनक कानूनी दर्शन को केवल राज्य के अपने आदेश का पालन कराने के कानूनी अधिकार की ही व्याख्या नहीं करनी चाहिये, वरन् उसके नैतिक अधिकार की ही व्याख्या करनी चाहिये। वह अपनी कसौटी का निरूपण प्रभुता के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की (जिसे वह हाब्स से अभिन्न मानता है) आलोचना में करता है और कहता है कि यह सिद्धान्त यह मानता है कि चूंकि राज्य का अपना मुख्य कार्य आवश्यक रूप से सामाजिक क्रियाओं में उचित सम्बन्ध स्थापित करने में करना चाहिये और चूंकि इस कार्य के सम्पादन में वह किसी भी अन्य सत्ता का निर्देशन प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये राज्य या शासन के, जो उसका प्रतिनिधि है, प्रत्येक निर्णय में यह गुण विद्यमान है और शांतिप्रिय नागरिक को (प्रतिष्ठित सिद्धान्त की इस

1. [illegible]

व्याख्या के अनुसार) शासन की इच्छा को केवल इसलिये ही स्वीकार कर लेना चाहिये कि वह राज्य की इच्छा को व्यक्त करता है। यह मानकर भी कि व्याख्या 'अच्छी वस्तु' है, लास्की इसका विरोध करते हुए कहता है कि जैसा प्रतिष्ठित सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि व्यवस्था सदा ही सबसे बड़ी अच्छाई है और ऐसा ही उसे सदा होना चाहिये, यह सत्य नहीं है। वह उस कानूनी सिद्धान्त का खण्डन करता है जो इस सम्भावना के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता कि वे लोग, जिन्होंने १६४२ में राजा चार्ल्स प्रथम का, १७८६ में फ्रेंच एकतंत्र का तथा १६१७ में रूसी ज़ार का विरोध किया था, जानबूझ कर अव्यवस्था का खतरा उठाते हुए भी पूर्णतः कानून के दायरे में थे; क्योंकि वे ऐसे लक्ष्यों की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील थे जो उन विशेष परिस्थितियों में शांति एवं व्यवस्था से उच्च थे। लास्की के विचार के अनुसार वे राज्य के विरोधी थे किन्तु राज्य से ऊपर स्थिर कानून के प्रति श्रद्धावान थे।"[1]

लास्की का कहना है कि कानून का स्रोत न तो राज्य है और न कोई छोटा समुदाय ही। कानून का स्रोत तो व्यक्ति है जो अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करता है। व्यक्तिगत नागरिक ही ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने जीवन में राज्य के कार्य के परिणामों का अनुभव करते हैं; और इसलिये वे ही ऐसे व्यक्ति हैं जो उसके गुणों के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं। वे अपनी अनुमति देकर कानून को न्यायता प्रदान करते हैं। वे उसका अनुमोदन करते हैं, क्योंकि उससे उनकी इच्छाएं सन्तुष्ट होती हैं। इसलिये श्रेष्ठ कानून वह कानून है जिसके परिणामस्वरूप इच्छा की यथासम्भव अधिकतम सन्तुष्टि होती है, और एक अच्छे कानून को छोड़कर कोई भी कानून औपचारिक अर्थ को छोड़कर अन्य किसी भी अर्थ में पालन किये जाने योग्य नहीं है। लास्की ने अपने सिद्धान्त के विषय में कहा है कि यह सिद्धान्त ऐसे कानून के, जो प्रजा से पालन किये जाने का दावा करता है, एक मात्र स्रोत के रूप में व्यक्ति के अन्तःकरण (*Conscience*) का उद्धार करने का प्रयत्न है। यह सिद्धान्त कानून के स्रोत को वहीं पहुंचा देता है जहां उसे वास्तव में होना चाहिये, अर्थात् व्यक्ति के अनुमोदन करनेवाले मन में।[2]

लास्की के उग्र व्यक्तिवाद का मूल कारण यह है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वतः क्रिया-शक्ति को सर्वाधिक मूल्यवान समझता है और व्यक्ति के विचार और कर्म की स्वतन्त्रता को राज्य के आक्रमण से सुरक्षित रखना चाहता है। परन्तु लास्की के इस विचार में दो प्रमुख दोष हैं। प्रथम तो यह है कि इसे एक बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाने से क्रांति या अराजकता व्याप्त होने की सम्भावना रहती है। ऐसे विचारों से कानून-प्रियता नहीं आ पाती और इस कारण एकता तथा संगठित सामाजिक जीवन असम्भव हो जाता है। दूसरा दोष यह है कि इस तरह की धारणा व्यक्ति को अनुचित बौद्धिक प्राणी बना देती है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति में यह योग्यता नहीं होती

1. कोकर—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ ५६६
2. Law and the State: PP. 282, 283, 295 (कोकर से उद्धृत), पृष्ठ ५७०

कि वह भले और बुरे कानूनो में अन्तर कर सके। यह होना नामुमकिन नहीं है कि एक व्यक्ति का अन्त करण एक गधे का अन्त करण हो। राज्य की आज्ञाओं का उल्लघन तभी किया जाना चाहिये जबकि परिस्थितिया उसके जीवन के मूल्यो और मानदण्ड के विपरीत हो।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *'Grammar of Politics'* मे लास्की उपरोक्त धारणा से तनिक हटते हुए यह बतलाता है कि राजसत्ता एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये है। वह उद्देश्य 'समाज के सामान्य हितों की सिद्धि करना' तथा 'प्रत्येक मानव के अपने आत्म-विकास के हेतु आवश्यक अधिकारो की सुरक्षा करना' है। राजकीय कानूनो का मानने के कर्त्तव्य का आधार यह है कि राजाज्ञापालन सामाजिक एव सभ्य जीवन के लिये आवश्यक है।

लास्की व्यक्ति को दो परिस्थितियों में राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार देता है। प्रथम तब जबकि व्यक्ति सगठित रूप मे यह अनुभव करे कि राज्य सामान्य हितो की रक्षा नहीं कर रहा है। द्वितीय तब जबकि ऐसा प्रतीत हो कि राज्य आत्म विकास के लिये आवश्यक अधिकारो का अपहरण कर रहा है। स्पष्ट है कि लास्की के मन्तव्यानुसार राज्य नैतिकतापूर्ण नियमों से ही व्यक्तियो के हृदय मे भक्ति उत्पन्न कर सकता है।

सन् १९३१ तक लास्की के विचारों मे एक और परिवर्तन आता है। वह अपने उपरोक्त ग्रंथ *'Grammar of Politics'* मे उन अधिकरों का विवेचन करता है जो उसके मतानुसार व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं। प्रमुखतम अधिकार निम्नलिखित हैं -

(१) सम्पत्ति का अधिकार,
(२) भाषण एव सघ बनाने का अधिकार;
(३) पर्याप्त वेतन प्राप्त करने का अधिकार,
(४) शिक्षा का अधिकार;
(५) जीविका कमाने का अधिकार,
(६) कार्य करने के उचित घण्टों का अधिकार;
(७) राजनीतिक शासन में भाग लेने का अधिकार
(८) न्यायिक सरक्षणों का अधिकार आदि।

उपरोक्त अधिकारों का विस्तृत विवेचन करना यहां अनावश्यक है क्योंकि अगले शीर्षक 'लास्की की अधिकारों विषयक धारणा' में इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

लास्की के विचार राज्य के सम्बन्ध म उसकी पुस्तक *'Introduction of Politics'* (१९३१) में उपरोक्त विचारों से भिन्न हैं। इसमें उसने राज्य की भक्ति के आधार को बदल दिया है और वह व्यक्ति के नैतिक विकास की अपेक्षा आर्थिक और सामाजिक सुख का अधिक महत्व देने लगा है। नैतिक जीवन की वह निन्दा नहीं करता अपितु उसका आग्रह भौतिक जीवन पर अधिक है। यहां राजभक्ति की कसौटी यह है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति का न्यूनतम भौतिक सुख किस सीमा तक प्रदान करता है? यहां स्पष्ट ही लास्की मार्क्सवाद से प्रभावित है। आशा रामन के व्यक्तिवादी सिद्धान्त की ओर से

विरक्त सा होते हुए वह अब व्यक्ति के स्थान पर वर्ग पर बल देता है। डीन का लिखना है कि—

"लास्की की रुचि अब उस अल्पमत में नहीं है जो अन्तःकरण के नाम पर आज्ञा-पालन करने से इन्कार करता है, प्रत्युत उन स्थितियों में है जिनके अन्तर्गत भारी बहुमत, श्रमिक वर्ग, उस राज्य के प्रति अपनी भक्ति का परित्याग कर देगा जो उसके शोषकों के हितों का संरक्षण करता है।"

उपरोक्त विचारों से यही प्रकट होता है कि लास्की यहां आकर उदारवाद से मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो गया है।

(३) लास्की की अधिकारों विषयक धारणा (Laski on Rights)—यह हम देख चुके हैं कि लास्की के विचार से राज्य-भक्ति का कर्त्तव्य इस बात पर आधारित है कि राज्य को व्यक्ति के शुभ-जीवन की व्यवस्था करनी चाहिये। शुभ जीवन, जिसके अर्थ को लास्की ने स्पष्ट नहीं किया है, की प्राप्ति के लिये राज्य के पास उपयुक्त साधन यह है कि वह ऐसी बाह्य परिस्थितियों को बनाये रखे जो नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिये सर्वाधिक अनुकूल हों। शुभ जीवन के लिये व्यक्तियों की शक्तियों के विकास हेतु जो आवश्यक शर्तें है, उन्हें ही अधिकार कहा गया है।

अधिकारों के विषय में लास्की के विचार बहुत गम्भीर और भावपूर्ण हैं। व्यक्ति की नैतिक सत्ता (*Ethical contents*) का वास्तवीकरण अधिकारों के अभाव में असम्भव है। लोक कल्याण की व्यापक दृष्टि से अधिकार अनिवार्य हैं। राज्य अधिकारों का सरक्षक है, अधिकारों का हनन या विरोध करके वह आत्मघात ही कर सकता है। एक राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जिनकी वह व्यवस्था करता है। राज्य जितना ही अधिक अपने नागरिकों को सुखी और प्रसन्न, उतना अधिक वह उच्चस्तर का होता है।

राज्य व्यक्ति-हित का भौतिक साधन है, और व्यक्ति-हित सामान्य एवं विशिष्ट अधिकारों में निहित है। व्यक्ति-हित का भौतिक साधन होते हुए भी राज्य अधिकारों का निर्माणकर्त्ता नहीं है बल्कि वह तो केवल उन्हें मान्यता प्रदान करता है।[1] अधिकारों का अस्तित्व राज्य से पूर्व अथवा साथ है। लास्की के कथनानुसार—

"अधिकार सामाजिक जीवन की वे स्थितियां है जिनके बिना सामान्य रूप से, कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता। अधिकार राज्य के पूर्व होते हैं। राज्य उनको स्वीकार करे अथवा न करे, इस बात का अधिकारो पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[2]

---

1. "The state, does not create, but recognizes rights and its character will be apparent from the rights that at any given periods secures recognization."

—*Laski*

2. 'Rights infact are those conditions of Social life without which no man can seek, in general to be himself at the best".

—*Laski*

राज्य के समाप्त कर देने पर भी अधिकार रहेंगे और उनकी प्राप्ति के लिये लोग संघर्ष करेंगे। सारा इतिहास अधिकारों के दर्शन (*Philosophy of Rights*) का दृष्टान्त उपस्थित करता है। उन्हें हम इस अर्थ में ऐतिहासिक नहीं कह सकते कि किसी निश्चित अवधि या सीमा के भीतर मनुष्य ने संघर्षों द्वारा इन्हें जीता बल्कि ये ऐतिहासिक इसलिये हैं कि विशेष समय, समाज, सभ्यता, संस्कृति और आवश्यकताओं के अनुकूल इनकी मांग की जाती रही और भविष्य में होगी। अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक नहीं हैं कि उनकी एक स्थायी और अपरिवर्तनशील सूची तैयार नहीं की जा सकती। वे प्राकृतिक इस अर्थ में हैं कि कुछ लोगों के अधीन तथ्य उनकी मांग करते हैं। अधिकारों में एक सार अवश्य होता है जो समय व स्थान के साथ बदलता है।

अधिकारों का अर्थ उस शक्ति से नहीं लिया जाना चाहिये जिससे इच्छा की सन्तुष्टि होती है। मनुष्य में स्वयं के लिये या किसी दूसरे की हत्या करने की इच्छा जाग्रत हो सकती है किन्तु उसे कोई सभ्य समाज कदापि मान्यता नहीं दे सकता यदि इस प्रकार की इच्छाओं को स्वीकार कर लिया जाय तो समाज का जीवित रहना ही दूभर हो जायगा। अधिकार तो वस्तुतः सामाजिक जीवन की ऐसी स्थितियां हैं जिनके बिना कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम व्यक्त नहीं कर सकता। अधिकार इस अर्थ में अधिकार हैं क्योंकि राज्य के नागरिकों को उनकी उपयोगिता होती है। वे देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था के विरोधी हो सकते हैं, किन्तु उनकी मान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि वे सम्बन्धित जनों की उन्नति के लिये अनिवार्य हैं।

लास्की व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार (Right of Individual against State) देने का समर्थक है। उसके अनुसार—

'यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियों के लिये उन बाह्य वातावरणों की व्यवस्था करे जो उनके चरित्र के विकास के लिये आवश्यक हैं। राज्य के ऊपर नागरिक अपने दावे रखता है, इसलिये राज्य को उसके अधिकारों की रक्षा करनी चाहिये। राज्य को उसके लिये ऐसी शर्तों की गारण्टी करनी चाहिये जिसके बिना वह अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।"

अधिकारों का अस्तित्व उपयोगिता में है, उपयोगिता कार्यों में है, इस लिये अधिकार कर्त्तव्यों की सापेक्षता (Correlative of functions) रखते हैं। दूसरे शब्दों में, अधिकारों का कार्यों से भी सम्बन्ध है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति साधारणतः राज्य के प्रति दो तरह के अधिकार प्राप्त करता है। एक तो संरक्षण-पोषण का अधिकार जिसके अनुसार राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता है, दूसरे, साधनों का अधिकार जिसके द्वारा राज्य का धर्म है कि वह व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास के भौतिक तथा अन्य साधन प्रदान करे। इन अधिकारों के साथ ही कर्त्तव्य पूर्ति के लिए व्यक्ति को बाध्य करना भी राज्य का ही काम माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि अपना विकास करते समय वह दूसरों के मार्ग में बाधक न बनें। साथ ही सामाजिक उन्नति तथा जन समृद्धि (*Common stock of human welfare*) में उसे योगदान देना चाहिये। लास्की का मत है कि एक व्यक्ति को प्राप्त

अधिकारों की संख्या उसके समाज के प्रति व्यक्तिगत योगदान के अनुरूप होना उचित है। जिन अधिकारों का मैं दावा कर सकता हूँ, वे मेरे योगदान के अनुरूप होने चाहिये। योगदान व्यक्तिगत होना चाहिये अन्यथा वह कोई योगदान ही नहीं है। लास्की ही के शब्दों में—

"मेरा दावा इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि एक सामान्य हित की साधना में मैं दूसरों के साथ भागीदार हूं। मेरे अधिकार वे शक्तियां हैं जो मुझे इस लिये दी गई हैं कि जिससे मैं दूसरों के साथ सहयोग करता हुआ उस सामान्य उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयास कर सकूं।"[1]

लास्की का कहना है कि न्यूनतम अधिकार समस्त व्यक्तियों के समान होते हैं और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के न्यूनतम अधिकारों की गारन्टी करे जिनके बिना कोई भी व्यक्ति रचनात्मक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। न्यूनतम अधिकारों की प्राप्ति के बाद ही भिन्नरूपता का प्रश्न उठता है।

लास्की के मत से जिस प्रकार मुझे अपनी मर्जी के अनुसार प्रत्येक कार्य करने का अधिकार नहीं है उसी तरह राज्य भी मेरे लिये ऐसा स्थान नियत नहीं कर सकता जो मुझे राज्य में प्राप्त करना चाहिये। मानव-विकास में कोई स्थिति स्थायी रूप से निश्चित नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व तो वही स्थान प्राप्त करता है या उसे वही स्थान प्राप्त करना चाहिये जिसमें उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हो सके और केवल प्रयोग के द्वारा ही वर्तमान वातावरण में सर्वोच्च स्थिति मालूम की जा सकती है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के व्यवसाय का निर्णायक नहीं हो सकता।

अधिकारों की रक्षा (Safe-guarding of rights)—अब प्रश्न अधिकारों की रक्षा का उठता है। व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के विषय में विभिन्न मत हैं। एक विचारधारा के अनुसार उनकी सुरक्षा का सरलतम उपाय यह है कि उन्हें एक लिखित संविधान में सम्मिलित कर दिया जाय। इस रीति से अधिकार संविधान के अंश बन जाते हैं और जब तक संविधान लागू रहता है, तब तक अधिकारों के लागू रहने की भी प्रत्येक सम्भावना रहती है। उन अधिकारों की अवहेलना करनेवाले न्यायालय द्वारा दण्डनीय होते हैं।

इसमें कोई संशय नहीं कि सैद्धान्तिक रूप से अधिकारों को सांविधानिक संरक्षण देना ठीक है, तथापि अनुभव यह बताता है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का संरक्षण विशेष कीमत नहीं रखता। राष्ट्रीय संकट के अवसर पर तो अधिकारों का कोई मूल्य ही नहीं रहता। इस प्रकार के संरक्षण पर कठोर प्रहार करते हुए लास्की लिखता है—

---

1. "My claim comes from the fact that I share with others in the peersuit of a common end. My rights are powers conferred that I may, with others for the attainment of that common end."

—*Laski*: Grammar of Politics, Page 94

"निस्सन्देह सड़े-गले कागजों से उन्हें अधिक पवित्रता मिलेगी किन्तु वे उनकी सिद्धि की गारण्टी नहीं करेंगे । अमरिकन संविधान का प्रथम संशोधन वैधानिक रूप से भाषण एवं शान्तिपूर्ण सम्मेलन की स्वतन्त्रता प्रदान करता है, चतुर्थ संशोधन वैधानिक रूप से यह व्यवस्था करता है कि किसी नागरिक के मकान की तलाशी तब तक नहीं ली जा सकेगी जब तक सम्भव कारण का वारण्ट जारी न हो जावे; और इसी प्रकार आठवां संशोधन वैधानिक रूप से नागरिक को अत्यधिक जमानत के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है । फिर भी एक उन्मादपूर्ण सप्ताह में कार्यपालिका के कृत्यों ने इन सब संशोधनों को व्यर्थ कर दिया और दक्षिण के काले नागरिकों को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करनेवाले पन्द्रहवें संशोधन को कार्यपालिका या न्यायालयों ने कभी लागू नहीं किया । इंगलैण्ड में 'Ex Parte O Brien तथा फ्रांस में *Pluchurd Case* जैसे अभियोग यह प्रकट करते हैं कि अधिकारों की सुरक्षा अधिनियम की औपचारिकता की अपेक्षा स्वभाव और परम्परा का विषय अधिक है ।"[1]

लॉक तथा मॉन्टेस्क्यू के अनुसार अधिकारों की रक्षा के लिये शक्तियों का पृथक्करण (*Separation of powers*) आवश्यक था, लेकिन लास्की इस मत को भी स्वीकार नहीं करता । उसकी दृष्टि में इस सिद्धान्त में अच्छाई केवल यही है कि यह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर बल देता है । अनुभव बताता है कि जहां न्यायाधीश कार्यकारिणी से स्वतन्त्र होकर कार्य करते हैं, वहां नागरिकों की स्वतन्त्रता की अधिक सुरक्षा होने की सम्भावना होती है ।

लास्की के विचार से तीन ऐसी सामान्य दशाएं या शर्तें हैं जो जनता के अधिकारों की सुरक्षा कार्य को सरल बनाती हैं—

[illegible] होना चाहिये । ऐसे राज्य में [illegible] प्रदर्शित करेंगे जो उन्हें [illegible] उसके सामने कार्य करेगा,

---

1. 'Musty parchments will doubtless give them *greater sanctity; they will not ensure their realisation.* The first Amendment to the American Constitution *legally* secures freedom of speech and of peaceable assembly; the Fourth Amendment legally secures the citizens that his house *shall not be searched* except upon a warrant of *probable cause.* The Eighth Amendment legally secures the citizens against excessive [illegible] of the executive [illegible]

O'Brien' in England and the [illegible] *go to show that the* maintenance of rights is much more a question of *habit and tradition than of the formality to* enactment."

—*Laski*: Grammar of Politics Page 103

तो वे प्रत्येक कानून का उल्लंघन स्वयं देखेंगे और परिणामस्वरूप राज्य के मामलों में और अधिक अभिरुचि लेने लगेंगे। ऐसी स्थिति में जनता अपने स्थानीय अधिकारियों पर अधिक नियन्त्रण रख सकती है। सत्ता का प्रयोग लोगों में उत्तरदायित्व की भावना को उत्तरोत्तर जाग्रत करेगा। इसके विपरीत एक ही स्थान पर सत्ता का केन्द्रीकरण जनता में अनुत्तरदायित्व के भाव पनपायेगा।

(*ii*) केन्द्रीय सरकार परामर्शदात्री संस्थाओं (*Consultative bodies*) से घिरी होनी चाहिये ताकि प्रमुख समस्याओं पर विशेषज्ञों का परामर्श उसे मिल सके। विशेषज्ञों का एक-एक समूह प्रत्येक विभाग के साथ जुड़ा होना चाहिये।

(*iii*) राज्य को अन्य संघों के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। समुदायों को अपनी योजनाएं बनाने और उनको कार्यान्वित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य को उस समय तक कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये जब तक कोई समुदाय राज्य को ही बलपूर्वक नष्ट करने की धमकी न दे।

विशेष अधिकार (Particular Rights)—लास्की का यह दृढ़ विश्वास है कि अधिकारों के स्वस्थ वातावरण में ही मनुष्य की सर्जनात्मक शक्तियों का अभ्युदय होता है और चारित्रिक विशेषताएं अक्षत रहती हैं। किन्तु अधिकारों के जोश में व्यक्ति को यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वह किसी सामाजिक समीकरण (*Civic equalism*) का बीज है अन्यथा उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है।[1] कानून, संस्था, राज्य ये सब अधिकारों की पहली शर्त हैं और उनका काम है अधिकारों को पूर्ति देना (*Rights are not the creatures of Law but its condition precedent*)।

लास्की उन अधिकारों की ओर संकेत करता है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्णतः आवश्यक हैं। जीवन, सुरक्षा, सम्पत्ति, वेतन, परिश्रम, सेवा, शिक्षा, उत्पादन वितरण, न्याय प्राप्ति, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास, जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति, प्रतिनिधित्व करने का अधिकार, सामाजिक-राजनीतिक समता—स्वतन्त्रता का अधिकार आदि सब व्यक्ति-समाज के लिये अदेय अधिकार (*Inalienable rights*) हैं।

लास्की ने एक नागरिक के जो अत्यन्त आवश्यक विशेषाधिकार बताये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) प्रत्येक नागरिक को काम पाने का अधिकार है अर्थात् व्यक्ति का उन वस्तुओं के उत्पादन कार्य में लगा होना वांछित है जो समाज के लिये लाभदायक हो। यदि किसी व्यक्ति को काम का अधिकार नहीं दिया जाता, तो उसका सच्चा और स्वाभाविक अर्थ उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के अधिकार को इन्कार करना है।

---

1. "I must recognise the civic equalism of which I am part, or forfiet my citizenship."

—*Laski* : Grammar of Politics, Page 95

(२) प्रत्येक नागरिक को उचित मजदूरी पाने का अधिकार है। इस अधिकार से आशय यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति की मजदूरी समान हो। यह विचार तो अव्यावहारिक है। इस अधिकार का आशय केवल यह है कि प्रत्येक काम करनेवाले व्यक्ति को अपने जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त मजदूरी मिलनी चाहिये, क्योंकि कोई भी व्यक्ति भूख की पीड़ा से नहीं मरना चाहता जबकि वह अपना सर्वोत्तम योगदान समाज को दे रहा हो।

(३) प्रत्येक नागरिक का यह भी अधिकार है कि वह केवल उचित घंटों तक काम करे। १६वीं शताब्दी के इङ्गलैंड की भांति किसी भी व्यक्ति को बहुत देर तक काम करने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये। यह सर्वथा उचित एवं आवश्यक है कि हर व्यक्ति को उचित अवकाश प्राप्त हो, क्योंकि इसके बिना किसी भी राष्ट्र की सभ्यता का विकास असम्भव प्राय है।

(४) प्रत्येक नागरिक को शिक्षा पाने का अधिकार है। केवल शिक्षा ही एक श्रेष्ठ नागरिक का निर्माण करता है और उसे उचित प्रकार से अपने कर्तव्यों के पालन के प्रति सजग बनाती है। शिक्षा के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि सभी नागरिकों को एकसा बौद्धिक प्रशिक्षण प्राप्त हो। इसका अभिप्राय, वस्तुतः यह है कि हर व्यक्ति को कम से कम इतनी शिक्षा अवश्य मिले जो उसके द्वारा कर्तव्यों के सम्पादन के लिये आवश्यक हो। हर नागरिक को प्रारम्भिक शिक्षा की मांग करने का अधिकार है और इस अधिकार की पूर्ति के बाद ही उच्चशिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(५) प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक शक्ति के प्राप्त करने का अधिकार मिलना चाहिये, अर्थात् उसे यह अधिकार होना चाहिये कि वह मतदान कर सके, प्रतिनिधि निर्वाचित हो सके, पद ग्रहण कर सके और देश के प्रशासन में भाग लेने का अवसर पा सके। मताधिकार में लिङ्ग, सम्पत्ति, नस्ल अथवा धर्म को बाधक नहीं बनना चाहिये।

(६) प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र भाषण का अधिकार मिलना चाहिये क्योंकि यह सर्वथा वांछित है कि हर व्यक्ति अपने आन्तरिक विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता भोगे। यह अधिकार व्यक्ति के विकास में सहायक होगा और उसे इस योग्य बना सकेगा कि वह अपनी शिकायत प्रस्तुत कर सके और अपने पक्ष में लोकमत का सगठन कर सके।

(७) प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय बनाने और सार्वजनिक सम्मेलन करने का भी अधिकार होना चाहिये। अनुभव बताता है कि इन अधिकारों से नागरिकों को वंचित कर देने से राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये भूमिगत क्रांतिकारी संस्थाएं बन जाती हैं।

(८) प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति का अधिकार मिलना चाहिये, यद्यपि उसका यह अधिकार केवल वहां तक सीमित हो जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य हो। इससे अधिक सम्पत्ति रखने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिये।

(९) अन्त में, प्रत्येक नागरिक को उन न्यायिक सुरक्षाओं का भी अधिकार होना चाहिये जो उसकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकें। इस

अधिकार का अभिप्राय: यह है कि न्यायिक प्रशासन निडर एवं निष्पक्ष बने जिनके सामने धनी और निर्धन सब समान हों। प्रशासकीय अधिकारियों को कोई विशेषाधिकार पूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं होनी चाहिये।

लास्की ने यह विचार प्रकट किया कि अधिकारों का निर्धारण व्यक्ति, वर्ग और समाज इन तीनों के हितों को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिये।

(४) **लास्की के स्वतन्त्रता और समानता पर विचार (Laski on Liberty and Equality)**—लास्की के स्वतन्त्रता-विषयक विचार स्थिर नहीं रहे है, प्रत्युत् समय-समय पर इसमे ठीक वैसे ही परिवर्तन हुए हैं जैसे कि उसके आज्ञाकारिता के सिद्धान्त में। अपनी पुस्तक *'Authority in the Modern State'* में लास्की इस मत से असहमति प्रकट करता है कि स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव है। वह उसे "आत्मानुभूति का धनात्मक तथा समान अवसर" कह कर पुकारता है। स्वतन्त्रता की उसकी व्याख्या तब ग्रीन की धारणा से मिलती जुलती प्रकट होती है जब वह भी यही कहता है कि स्वतन्त्रता एक ऐसा सुअवसर है जिसके बिना मनुष्य का व्यक्तित्व सम्भव नहीं है। वह ग्रीन के द्वारा दी गई स्वतन्त्रता की इस परिभाषा से सहमति प्रदर्शित करता है कि--"स्वतन्त्रता करने योग्य कार्य को करने और उपभोग्य वस्तु को उपभोग करने की धनात्मक शक्ति है, और वह कार्य अथवा वस्तु ऐसी हो जिसे हम सामान्य रूप से दूसरों के साथ कर सकें या भोग सकें।"[1]

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे लास्की के विचार १९२९ में प्रकाशित "*Grammar of Politics*" के द्वितीय संस्करण की भूमिका में परिवर्तन का बोध कराते हैं। इस भूमिका मे लास्की उपरोक्त धारणा को गलत, अथवा कम से कम अपर्याप्त बताता हुआ यह विचार प्रस्तुत करता है कि स्वतन्त्रता का सार बन्धनो के अभाव में निहित है। अपने ग्रंथ "*Liberty in the Modern State*" (१९३०) में वह लिखता है कि "स्वतन्त्रता उन सामाजिक अवस्थाओं की सत्ता पर बन्धनों का अभाव है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के सुख की आवश्यक परिस्थितियों को निश्चित करते हैं।" लास्की सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को स्वतन्त्रता पर बन्धन मानते हुए यह मत प्रतिपादित करता है कि राज्य-शक्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता की विरोधी है। यदि नागरिकों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है तो यह जरूरी है कि राज्य व्यक्ति से अपनी मांगों की सीमाएं निश्चित करे।

लास्की के विचारों में पुनः विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। ऐसा सम्भवत: मार्क्सवाद के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ है। सन् १९४३ में प्रकाशित "*Reflections on the Revolution of Our Times,*" और १९४४ में प्रकाशित "*Faith, Reason, and Civilization*" जैसी अपनी

---

1. "Liberty is the positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying, and that, too, something we do or enjoy in common with others."

—T. H. *Green*

उत्तरकालीन कृतियों में लास्की यह कहता है कि स्वतन्त्रता केवल उन परिस्थितियों के अन्तर्गत हो सकती है जो कि समाज के सर्वोच्च उद्देश्य को निश्चित करती हैं। उसके विचार से समाज के कुछ सामान्य हित होते हैं जिनके विरुद्ध समाज के किसी भी व्यक्ति को कुछ भी करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। लास्की यह विश्वास तक प्रकट करता है कि "वे नागरिक, जो एक ऐसे महान उद्देश्य में भाग लेते हैं जिस पर वे सब सहमत हैं उसकी साधना में ही स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं।" इस दृष्टि से, भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के शहीदों दोनों महायुद्धों में अपने देश की स्वातन्त्र्य रक्षा के लिये प्राणों की आहुति दे देनेवाले वीरों ने व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर उच्चतर उद्देश्यों की उपलब्धि के लिये लड़ने में सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त की। लास्की ने कहा कि समाज के हित के लिये व्यक्तिगत हितों का बलिदान स्वतन्त्रता का निषेध नहीं है। "स्वतन्त्रता सार्थक केवल उन सीमाओं के अन्तर्गत ही हो सकती है जो कि उन सिद्धान्तों द्वारा लगाई जाती हैं जिन पर कि सामाजिक व्यवस्था आधारित होती है।"

विचारों की भिन्नता होते हुए भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लास्की के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में चाहे कितनी ही बड़ी क्रांति क्यों न आ गई हो, उसने अपने इस पूर्ववर्ती विचार को पूर्णतः तिलांजलि नहीं दी है कि स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव है। इसका अर्थ है कि वह राज्य और वैयक्तिक स्वतन्त्रता को दो विरोधी तत्व मानता रहा है।

यह उल्लेखनीय है कि लास्की ने स्वतन्त्रता के तीन पहलुओं की ओर संकेत किया है—(i) व्यक्तिगत (ii) राजनीतिक, (iii) आर्थिक। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसे कहते हैं जहां व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन के उन क्षेत्रों में उसका प्रयोग करता है जहां उसके (व्यक्ति के) प्रयत्नों का फल उसी को प्रभावित करता हो। स्पष्ट ही इस प्रकार का क्षेत्र धर्म है और राज्य को इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यदि कानून गरीब व्यक्तियों को वैधानिक शरण नहीं देता है तो यह भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन है। अतः कानून इस तरह का होना चाहिये कि वह अमीर और गरीब दोनों को समान लाभ दे सके। लास्की के अनुसार अत्यधिक जमानत की मांग करना भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आघात है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रधानतः व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बन्धित है और राज्य को चाहिये कि वह जीवन के निजी सम्बन्धों में अपने पूर्ण विकास के लिये व्यक्ति को अवसर प्रदान करे।

राजनीतिक स्वतन्त्रता से लास्की का तात्पर्य है कि व्यक्ति को राज्य के कार्यों में भाग लेने, निर्वाचित होने, विचार व्यक्त करने, राज्य की आलोचना करने, प्रतिनिधि चुनने आदि की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। श्रेष्ठ राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये लास्की दो बातें आवश्यक मानता है—प्रथम, शिक्षा और द्वितीय, प्रेस की स्वतन्त्रता। लास्की का यह दृढ़ विश्वास है कि सच्ची राजनीतिक स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जबकि प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्ति के लिये समान अवसर प्राप्त हो और राज्य के अन्दर निष्पक्ष व स्वतन्त्र समाचार पत्रों का प्रकाशन होता हो। लास्की इस कटु सत्य से परिचित

था कि निर्धनों की मूक वेदना और शब्दहीनता तथा स्पष्ट व ईमानदार विचारों के प्रसार के लिये आवश्यक प्रावधान न होने के कारण स्वतन्त्रता मृगतृष्णा की तरह असंख्य लोगों के लिये है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार रोजी कमाने का अवसर प्राप्त हो और नागरिक वेकारी से सदा मुक्त रहें। आर्थिक स्वतन्त्रता में लास्की उद्योग, सुरक्षा, अवसर, काम करने व वेतन प्राप्त करने आदि की स्वतन्त्रताओं को गिनाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के महत्व को बताते हुए उसने स्वयं लिखा है "राजनीतिक समानता तब तक व्यावहारिक नही हो सकती जब तक कि नागरिको को वास्तव में आर्थिक समानता तथा राजनीतिक महत्ता के अधिकार न दिये जाय।" आर्थिक स्वतन्त्रता तो राष्ट्रीय जीवन का प्राण ही है। सुविधा प्राप्त वर्ग अथवा न्यस्त-स्वार्थ (*Privileged Class or Vested interest*) राष्ट्र के व्यापक हित में घातक है। वे पूंजीवाद पुराण-पथ तथा यथा-स्थिति (*Status quo*) के अनन्य समर्थक है। वर्तमान सभ्यता के अनिवार्य अभिशाप के रूप में वेकारी, दरिद्रता, अपराधी मनोवृत्ति, सामाजिक और संवेगात्मक तनाव (*Social and emotional tensons*), घृणित आवास तथा वेश्यालय (*Hovels and Brothels*) आदि चारों ओर व्याप्त हैं। इन्हें दूर करने तथा स्वस्थ वातावरण वनाने में व्यक्ति और राष्ट्र की सामूहिक बुद्धि लगानी चाहिये। औद्योगिक नीति-निर्धारण में भी जनतांत्रिक रूप से अपना मत प्रकट करने की आजादी वांछनीय है।

स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हुए लास्की ने यह भी वताया कि अधिकारों से उसका क्या सम्बन्ध है। उसके अनुसार अधिकारों के विना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य व्यक्तित्व का आवश्यकताओ से असम्बद्ध रहता है। स्वतन्त्रता स्वास्थ्यकर सक्षम वातावरण की सक्रिय स्थापना है जिसकी छत्रछाया से उच्चतम मानवीय विकास सम्भव है। इस तरह आत्महत्या करने से रोका जाना स्वतन्त्रता का कोई अपहरण नहीं है क्योंकि आत्महत्या तो स्वतन्त्रता का वड़ा भीषण दुरुपयोग है। इसी तरह यदि कानून वच्चों को उचित शिक्षा देने का निर्देश देता है तो वह स्वतन्त्रता पर कोई आघात नहीं है। वह कहता है कि सुविधापूर्ण, सुखदायक तथा उचित जीवनयापन में सहायक नियमो को मानने से स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। उसकी दृष्टि में स्वतन्त्रता केवल नियम अथवा आदेश—पालन नहीं है। वह तो "सुशिक्षित अन्तःकरण की निर्मल प्रवृत्तियों पर आधारित इच्छाओं के प्रोत्साहन का नाम है। सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता की सुरक्षा रहती है। यदि आध्यात्मिक जीवन और वौद्धिक विकास पर प्रतिवन्ध लगाया जाये तो वह नियंत्रण अहितकर तथा अनुचित है किन्तु नियंत्रण से समाज को लाभ होता है तो वह स्वागत योग्य है। स्वतन्त्रता का पतन तव होता है जब व्यक्तियों में उपक्रम (*Initiative*) तथा साहस का लोप होने लगे। सक्रिय मस्तिष्क स्वतन्त्रता का प्रहरी है। स्वतन्त्रता की कसौटी अवसरों के प्रसंग में होती है।

लास्की ने स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कुछ शर्तें निर्धारित की हैं।

पहली शर्त यह है कि समाज में कोई विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग न हो, अर्थात् कानून की दृष्टि में सब समान हों और सबको विकास के समान अवसर मिलें। दूसरी शर्त यह है कि कुछ व्यक्तियों के अधिकार दूसरे व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर न हों। सामान्य नियम शासकों और शासितों, दोनों के लिये मान्य होने चाहिये। मालिक को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह अकारण ही किसी श्रमिक को उसके काम से हटा दे। किसी व्यक्ति की जीविका का दूसरे व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होना अनुचित है। तीसरी शर्त यह है कि शक्ति पर सबकी समान पहुंच होनी चाहिये अर्थात् राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं होना चाहिये। उपरोक्त दोनों-तीनों शर्तों से स्पष्ट है कि लास्की समानता को स्वतन्त्रता की आवश्यक पूर्व शर्त समझता है, हालांकि वह यह मानता है कि समानता और स्वतन्त्रता एक ही वस्तु नहीं है। दोनों को अलग मानते हुए भी लास्की का यह विश्वास शिथिल नहीं होता कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। "स्वतन्त्रता तो आत्मानुभूति के लिये धनात्मक या सकारात्मक (*Positive*) और समान अवसर का प्राप्त होना है। स्वतन्त्रता में समानता को स्वत निहित मानते हुए लास्की का कहना है कि स्वतन्त्रता और समानता "एक ही आदर्श के विभिन्न पहलू" हैं। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिये चौथी शर्त यह है कि राज्य पक्षपात रहित होना चाहिये। यद्यपि यह एक कठिन आदर्श है तथापि इसकी प्राप्ति के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिये। अन्त में शिक्षा और आर्थिक सुरक्षा भी स्वतन्त्रता बनाये रखने की आवश्यक शर्तें हैं।

स्वतन्त्रता पर विचार करते समय लास्की समानता की चर्चा इसलिये करता है क्योंकि समानता के बिना स्वतन्त्रता एकांगी तथा अधूरी है। लास्की के लिये स्वतन्त्रता और समानता एक ही आदर्श के दो पहलू हैं। यद्यपि समानता शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है तथापि लास्की के अनुसार इसका अर्थ यह है कि समाज में किसी व्यक्ति को ऐसा स्थान नहीं दिया जायगा जिससे कि वह 'अपने पड़ौसी पर इस प्रकार आच्छादित हो जाय कि उस पड़ौसी की नागरिकता का ही अन्त हो जाय।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नागरिकता के उद्देश्यों में सब को पर्याप्त भाग मिलना चाहिये और राज्य के प्रश्नों के निर्णय में सबकी बात पर ध्यान दिया जाना चाहिये। लास्की के अनुसार समानता की जबरदस्त मांग यह है कि विशेषाधिकार का अन्त हो जाना चाहिये। यदि समाज में विशेषाधिकारों का प्रचलन है तो समानता कभी नहीं रह सकती। कानून के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति समान होना चाहिये। जन्म अथवा सम्पत्ति के कारण विशेषाधिकारों के अस्तित्व के पीछे कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता। लास्की की मान्यता है कि उन्नति और विकास के लिये, प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर मिलने चाहिये। राज्य में प्रत्येक पद ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये खुला होना चाहिये जो उस पद को पाने की योग्यता रखता हो। लास्की का आशय समानता से यह है कि सभी को पर्याप्त अवसर मिलें, किन्तु पर्याप्त अवसरों का अर्थ समान अवसरों से इस रूप में नहीं लिया जाना चाहिये कि सर्वथा एकरूपता विद्यमान हो। पर्याप्त अवसरों का अर्थ यह है कि व्यक्ति को वे सब अवसर प्राप्त होने चाहिये जो उसके विकास के लिये अनिवार्य हो। पूर्ण समानता व्यावहारिक रूप से प्राप्त

नहीं की जा सकती। जब तक मानवी आवश्यकताएं, इच्छाएं और क्षमताएं भिन्न हैं, तब तक व्यवहार में और पुरस्कार में एकदम एकरूपता नहीं आ सकती। समानता का अर्थ तो समानता लानेवाली प्रक्रिया से है। यह आवश्यक है कि न्यूनतम आधार पर समानता हो। सभी व्यक्तियों को कम से कम उतने अधिकार अवश्य प्राप्त होने चाहिये जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

लास्की का कहना है कि **समानता अत्यधिक रूप में अनुपातों की समस्या है**। हर व्यक्ति को वे सभी वस्तुयें मिलनी चाहिये जिनके अभाव में जीवन सारहीन है। यह सर्वथा आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र, निवास आदि की आवश्यकताएं उपलब्ध हों। लास्की का विचार है कि ये आवश्यकतायें उन्हीं प्रयत्नों के अनुपात में होती है जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति करता है।

लास्की व्यक्ति की गरिमा तथा सामाजिक उपयोगिता में विश्वास करता है। उसका मत है कि **सामाजिक अर्थव्यवस्था इस भांति नियोजित होनी चाहिये जिससे कुछ लोगों को अधिकार देने के पहले सबको पर्याप्त मिलना चाहिये**। मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भेद-भाव केवल तब ही स्वीकार किये जा सकते हैं जबकि सम्पूर्ण समाज के लिये समानता का एक न्यूनतम आधार प्राप्त हो जाय। पहले प्रत्येक व्यक्ति को एक कमरा मिल जाना चाहिए तभी कुछ व्यक्तियों का वैभवशाली भवनों में निवास स्वीकार किया जा सकता है। पहले सबको साधारण भोजन मिल जाना चाहिये, तभी कुछ व्यक्तियों के लिये विलासपूर्ण दावतों का आयोजन हो सकता है। सबको आत्म-विकास के समुचित अवसर प्रदान करने के लिए कुछ लोगों की स्वतन्त्रता को सीमित करना आवश्यक है। धन के अधिक न्यायपूर्ण और समान वितरण के लिये राज्य को नियोजन (*Planning*) करना पड़ता है और आर्थिक व्यवस्था पर सतत नियंत्रण रखना पड़ता है। एक नियोजित समाज में राज्य का जितना अधिक नियन्त्रण होगा, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और पहल करने की शक्ति उतनी ही घट जायगी। लास्की, जो कि स्वतन्त्रता के लिये समानता को आवश्यक समझता है, यह कहता है कि नियोजित उत्पादन जैसे महान कार्य के लिये अपने व्यक्तिगत हितों का त्याग करनेवाले नागरिक भी स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। महान् सामाजिक उद्देश्यों के लिये वैयक्तिक हितों का बलिदान प्रशंसनीय है यदि हम यह माने कि स्वतन्त्रता का अर्थ दूसरों के द्वारा लगाये हुए बन्धनों का अभाव है।

यह द्रष्टव्य है कि जब लास्की यह मान लेता है कि अधिकाधिक समानता लाने के लिये कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता नियंत्रित करना आवश्यक है, तो फिर उसका यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि स्वतन्त्रता और समानता एक ही आदर्श के दो पहलू हैं। इसके विपरीत ये दोनों एक दूसरे के विरोधी सिद्ध होते हैं। जब किसी ऐसे समाज में, जिसमें सम्पूर्ण आर्थिक नियोजन के द्वारा समानता लाने का प्रयास किया जाता है, तो अनेक व्यक्तियों की पहल करने की शक्ति और उनकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है, अर्थात् उनकी स्वतन्त्रता का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। अर्थ-व्यवस्था

पर कठोर नियन्त्रण व्यक्ति की प्रेरणा एवं स्वतन्त्र निर्णय शक्ति को समाप्त कर देता है। अतः, इन परिस्थितियों में, लास्की के इस विश्वास से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि "समानता की ओर बढ़ना स्वतन्त्रता प्राप्ति का ही प्रयास है।" अन्ततोगत्वा स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी सिद्ध होती है। एक को खो कर ही दूसरी को अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। सम्भवतः इस बात को ध्यान में रखने के कारण ही लास्की ने यह आग्रह किया है कि स्वतन्त्रता और समानता दोनों का व्यावहारिक प्रयोग होना चाहिये और इनका व्यावहारिक प्रयोग होने पर ही विश्व-सहयोग सम्भव है।

(४) सम्पत्ति के विषय में लास्की के विचार (Laski's Views on Property)—सम्पत्ति के विषय में लास्की के विचार प्रायः निश्चित हैं। सर्वप्रथम वह वर्तमान युग की सम्पत्ति प्रथा का विश्लेषण करता है। उसका विचार है कि *प्रत्येक समाज में अधिक सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की संख्या कम* होती है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्वामित्व का कर्त्तव्यों के सम्पादन या गुणों के धारण से सम्बन्ध हो। सम्पत्ति का स्वामित्व किसी धनी व्यक्ति की सन्तान मात्र होने से या उसका उत्तराधिकारी होने से प्राप्त हो जाता है। *सम्पत्ति के स्वामित्व का अर्थ है पूंजी पर नियन्त्रण और इसका आशय है* श्रमिकों के जीवन को निर्धारित करने का अधिकार, क्योंकि श्रमिक अपनी आजीविका के लिए अधिकांशतः उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था पर निर्भर होते हैं। आधुनिक युग में उद्योग धन्धों का बड़ा विकास हुआ है और इसलिये पहले की अपेक्षा पूंजी की शक्ति में पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है। लास्की का विचार है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का युग राज्य का बहुत कुछ एक ऐसी संस्था में परिणत कर देता है जिस पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामियों का नियन्त्रण अथवा आधिपत्य स्थापित हो जाता है। सम्पत्तिहीन लोगों के कोई अधिकार नहीं होते, किन्तु आधुनिक युग में, श्रमिकों की 'सहयोग और एकता' की शक्ति ने पूंजीपतियों को अवश्य ही इस बात के लिये बाध्य कर दिया है कि वे श्रमिकों को कुछ सुविधाएं प्रदान करें। लास्की के अनुसार मानवीय भावनाओं ने भी इस कार्य में अपना योगदान किया है।

उपरोक्त बातों का ही यह परिणाम है *कि वर्तमान सम्पत्ति प्रथा में* उत्पादन किसी निश्चित योजना के साथ नहीं होता और उसमें *विनाश के* लक्षण वर्तमान रहते हैं। सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का इस तरह वितरण नहीं हो पाता कि जिनसे लोगों की आवश्यकताओं से *सम्बन्ध स्थापित हो सके*। जब आवश्यकता मकानों की होती है तो सिनेमा स्थापित किये जाते हैं। धन का व्यय मकानों के लिये करना आवश्यक है, लेकिन व्यय किया जाता है युद्ध के जहाजों को बनाने पर। वस्तुएं आवश्यकता के लिए तैयार न की जाकर *अधिकांशतः* केवल लाभ के लिये तैयार की जाती हैं। अनेक गलत वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। जो वस्तुएं बनाई जाती हैं *उनका गलत ढंग से वितरण कर दिया जाता है।* प्राकृतिक साधनों को भी मिलावट के द्वारा इसलिये दूषित कर दिया जाता है कि उनसे व्यक्तिगत लाभ प्राप्त हो सके। व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से ही

व्यवस्थापकों (*Legislators*) और ज्ञान के स्रोतों को भी भ्रष्ट एवं विकृत कर दिया जाता है।

वर्तमान सम्पत्ति-प्रथा कितनी अपर्याप्त है, इसे लास्की ने इन शब्दों में चित्रित किया है—

"यह मनोवैज्ञानिक रूप से अपर्याप्त है क्योंकि, अधिक मात्रा में, यह भय के भाव को मुख्यतः जागृत कर के ऐसे गुणों के संचार को अवरुद्ध करती है जो उन्हें पूर्ण जीवन निर्वाह के योग्य बनाये। यह नैतिक दृष्टि से इसलिये अपर्याप्त है क्योंकि यह उन व्यक्तियों को अधिकार देती है जिन्होंने उसके उपार्जन हेतु कुछ भी नहीं किया है और साथ ही उपार्जन करते समय सामाजिक हित को ध्यान में नहीं रखा है। यह वर्तमान सम्पत्ति प्रथा समाज के एक भाग को दूसरों का रक्त-पिपासू बना देती है, दूसरों को साधारण जीवनयापन करने के अवसर तक से वंचित कर देती है। यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से भी अपर्याप्त है क्योंकि यह स्व-निर्मित धन को इस तरह वितरित नहीं कर पाती कि जिससे वे लोग स्वस्थ और सुरक्षित हो सकें जो इसकी प्रक्रियाओं पर जीवित रहते हैं। इन सब बातों के परिणामस्वरूप ही इस प्रथा ने जनता के विशाल भाग की निष्ठा खो दी है। कुछ लोग इससे घृणा करते हैं; बहुमत इसके प्रति उदासीन है। यह राज्य में उद्देश्य के उस विचार का संचार नहीं करती जिसके द्वारा राज्य समृद्धशाली होता है।"[1]

यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान सम्पत्ति प्रथा पर लास्की के प्रहारों के प्रतिरोध में अनेक लोगों द्वारा इस प्रथा का समर्थन किया गया है और वे इसके अनेक औचित्य प्रस्तुत करते हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) यह आवश्यक है कि मनुष्य को सामान्यतः कार्य करने के लिये कोई प्रेरणा प्राप्त होती रहे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार इस प्रेरणा की पूर्ति करता है, लोगों में कार्य करने का उत्साह भरता है और इस तरह

1. "It is psychologically inadequate because, formost, by appealing mainly to the emotion of fear. it inhibits the exercise of those qualities which enable them to live a full life. It is morally inadequate, in part because it confers rights upon those who have done nothing to earn them, in part because where such rights are related to effort, this in its term has no proportionate reslevancy to social value. It makes a part of the community parasitic upon the remainder; it deprives the rest of the opportunity to live simple lives. It is economically inadequate because it fails so to distribute the wealth it creates as to offer the necessary conditions of health and security to those who live by its processes. In the result, it has lost the allegiance of the wast majority of the people. Some regard it with hate; the majority regard it with indifference. If no longer infuses the state with that idea of purpose through which alone a state can prosper".

—*Laski*

अन्त म समाज को लाभान्वित करता है। इस तर्क मे एक बल है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, तथापि समर्थक यह भूल जाते हैं कि समाज का लाभ तभी सम्भव है जब समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और साथ ही जनता म उनका ठीक प्रकार से वितरण भी हो। केवल व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन करना समाज को वांछित लाभ नहीं पहुँचा सकता।

(२) वर्त्तमान सम्पत्ति-प्रथा के समर्थक सम्पत्ति को नैतिक आधार पर न्यायप्रद बताते हुए कहते हैं कि *सम्पत्ति को प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों का* परिणाम है। अपने श्रम क परिणाम को प्राप्त करन के लिये ही मनुष्य श्रम करता है और इसमे अनुचित या अन्यायपूर्ण कोई बात नहीं। यह उचित है कि एक *व्यक्ति द्वारा आविष्कृत वस्तु उसे लाभ पहुँचाय लेकिन यह आवश्यक* नहीं है कि वह वस्तु समाज के लिये भी लाभकारी सिद्ध हो।

(३) सम्पत्ति के पक्ष मे यह भी कहा जाता है कि यह उन गुणों की जन्मदाता है जो समाज के लिय आवश्यक हैं। सम्पत्ति पारिवारिक प्रेम, दया, उदारता, आविष्कारक वृत्ति, शक्ति आदि गुणों को बढ़ावा देती है। समर्थकों का यह तर्क इस दृष्टि से विशेष ठोस नहीं है कि सम्पत्ति विहीन व्यक्ति भी इन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह सम्पत्ति व गुणों म कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं रहता।

(४) सम्पत्ति के समर्थकों का विचार है कि सम्पत्ति केवल प्रभावशाली मांगों की पूर्ति का फल है किन्तु ये समर्थक यह भूल जाते हैं कि यह भी सर्वथा सम्भव है कि जिस प्रभावशाली माग के लिये उपभोक्ता मूल्य चुका सकता है, वह *समाज क लिये हानिकारक भी हो सकती है।* उदाहरणार्थ अश्लील साहित्य के लिय अथवा बाजारू स्त्रियों के लिये प्रभावशाली माग हो सकती है, इनका उपभोक्ता अधिक भुगतान कर सकता है, परन्तु *क्या कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति* इन वस्तुओं *को समाज के लिये* उपयोगी बता सकता है?

(५) अन्त म, ऐतिहासिक आधार पर इस सम्पत्ति *प्रथा का* औचित्य सिद्ध कर दिया जाता है। यह कहा जाता है कि प्रगतिशील समाज वही है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर निर्मित है। जो समाज पिछड़े हुए हैं, वे समष्टिवादी आधार पर खड़े हैं। यह ठीक है कि इस विचार मे *सत्य का* पर्याप्त अंश है, किन्तु गुणात्मक आधार स यह खोखला है। *ऐतिहासिक* दलील एक भ्रान्ति है। *व्यक्तिगत सम्पत्ति का इतिहास उन विभिन्न सीमाओं* (*Limitations*) से भरपूर है जो इसमे निहित *शक्तियों के प्रयोग* पर लगी हुई हैं।

लास्की मार्क्सवादी के रूप में (Laski as a Marxist) :—मार्क्स के *सिद्धान्तों को वैज्ञानिक दृष्टि से महत्व करनेवालों में* लास्की का नाम प्रमुख है। मार्क्स के हृदय में *सामाजिक न्याय के लिए एक तड़प थी* और दलित वर्ग के लिए गहरी सहानुभूति थी। इसलिए यदि मार्क्सवाद की ओर *वह आकृष्ट हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य* की बात न थी। मार्क्स की ओर उसका आकर्षण विशेष महत्वपूर्ण इसलिए *लगता है कि प्रारम्भ में वह मार्क्स*

के मूलभूत सिद्धान्तों को ठुकराता रहा। उसने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिक व्याख्या और मूल्य के श्रम सिद्धान्त से असहमति प्रकट की। *'Karl Marx'* नामक अपने निबन्ध में लास्की ने मार्क्स की इस धारणा को कि समस्त राजनीतिक घटनाचक्र आर्थिक स्थितियों से निर्धारित होता है, गलत समझ कर ठुकरा दिया। उसने मार्क्स के इस विश्वास में भी अनास्था प्रकट की कि पूंजीवाद से समाजवाद पर संवर्तन हिंसा द्वारा ही हो सकता है। लास्की का विचार था कि हिंसा का समाजवादी लक्ष्य से मेल नहीं बैठता, क्योंकि समाजवादी लक्ष्य तो एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें मानवीय सहयोग एवं सामन्जस्य की प्रवृत्तियां पूर्णतः मुखरित हो सकें। इसके साथ ही लास्की की यह मान्यता भी थी कि आधुनिक सरकारें सैनिक शक्ति में इतनी सबल हैं कि उनके विरुद्ध हिंसात्मक क्रान्ति की सफलता की आशा करना व्यर्थ है।

लेकिन समय बीतने के साथ २ लास्की के विचारों में परिवर्तन आता गया। लास्की का दृष्टिकोण अधिक संतुलित और समीक्षात्मक हुआ। लास्की इस व्यावहारिक परिणाम पर पहुँचा कि किसी भी वर्ग द्वारा स्वेच्छा से शक्ति के परित्याग की आशा नहीं की जा सकती। सम्पत्तिशाली लोग केवल इन तर्कसगत युक्तियों से आश्वस्त नहीं किये जा सकते कि समानता और न्याय के लिए उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व वांछनीय है। इस धारणा पर पहुँचने पर लास्की एक मार्क्सवादी बन गया। सन् १९३१ में उसने यह स्वीकार किया कि मार्क्स की इतिहास की भौतिक व्याख्या मोटे रूप में सही है, हालांकि उसका प्रत्येक विवरण ठीक नहीं कहा जा सकता।

लास्की के हिंसा विरोधी विचारों में भी बड़ा परिवर्तन हुआ। १९३१ से पूर्व तक वह विकासवादी और लोकतन्त्री समाजवाद में गहन विश्वास रखता था, किन्तु तत्पश्चात् क्रांतिकारी समाजवाद की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। सन् १९३३ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ *'Democracy in Crisis'* में लास्की ने शांतिमय उपायों से समाजवाद की स्थापना के बारे में गम्भीर सन्देह प्रकट किया। उसने बताया कि इतिहास ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता कि सङ्कटग्रस्त शासकवर्ग ने कभी उदारतापूर्वक शक्ति का परित्याग किया हो। यह विश्वास करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल होगा कि पूंजीपति वर्ग स्वयं अपने विशेषाधिकारों और अपने शक्ति के विनाश को निमन्त्रित करेगा। *अतीतकाल में क्रांति के द्वारा ही वर्गव्यवस्था* मे परिवर्तन हुए हैं। अतः भविष्य में इससे भिन्न अनुभव किये जाने का कोई कारण नजर नहीं आता। दूसरे शब्दों में लास्की ने यह मान लिया कि वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एक सजीव सिद्धान्त है और क्रांति ही सामाजिक परिवर्तन की जननी है।

यहां यह स्मरणीय है कि क्रांति का समर्थक होते हुए भी लास्की क्रांतिकारी नहीं था। उसने रूस की साम्यवादी क्रांति और समाजवादी व्यवस्था को मान्यता अवश्य दी और उसे उपयोगी भी समझा, लेकिन साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय रूप अथवा आक्रमक-विस्तारक (*Expansionist*) स्वरूप की घोर आलोचना की। मार्क्सवादी वह वहीं तक था जहां तक

समाज की अर्थव्यवस्था बदलकर जनवादीतन्त्र लाने का प्रश्न है। दूसरे शब्दों में, उसने मार्क्सवादी प्रक्रियाविज्ञान *(Methodology)* को बौद्धिक रूप में ग्रहण किया। ऐतिहासिक व्याख्या, आर्थिक विश्लेषण, अतिरिक्त मूल्य, वर्गसंघर्ष आदि सिद्धान्तों के प्रति उसकी मानसिक रुझान अधिक थी। लास्की मार्क्सवाद को रूढ़ या कट्टर *(Orthodox)* अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहता। देशकाल की उपेक्षा करके, साध्य-साधन का विभ्रम पैदा करके मार्क्सवाद असफल ही होता है इसलिये लास्की के अनुसार सच्चा मार्क्सवादी जनतांत्रिक समाजवाद का सुस्थिर रूप ही ग्रहण करेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि लास्की प्रथम तो किसी दल विशेष की *तानाशाही का घोर-विरोधी था,* क्योंकि तानाशाही मानव सभ्यता *और संस्कृति के लिए अभिशाप है, फिर* चाहे उसका स्वरूप कुछ भी क्यों न हो। दूसरे, लास्की नौकरशाही का कटुतम आलोचक था। उसका विश्वास था कि नौकरशाही अपनी शक्ति बनाये रखने के लिए सरकार को पंगु, जनता को असहाय और परिवर्तन को अवरुद्ध बनाये रखती है। साराश में, मार्क्सवाद के हिंसा-प्रयोग को स्वीकार करते हुए भी लास्की का आग्रह इस बात पर रहा कि समाजवादी क्रान्ति लाने के *लिए लोकतन्त्री समाजवादियों को संवैधानिक साधनों का प्रयोग करते रहना* चाहिए। वर्ग संघर्ष में विश्वास करते हुए भी लास्की ने साम्यवादियों के इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं किया कि समाजवादियों को एक हिंसात्मक क्रान्ति की तैयारी करनी चाहिए और क्रांति-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध क्रांति की रक्षा करने के लिए श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही स्थापित करनी चाहिए। सम्भवतः लेबर पार्टी का सदस्य होने के कारण लास्की का संवैधानिक साधनों की उपयोगिता में विश्वास हो गया था। इसीलिए उसने यह मत रखा कि साम्यवादी आतङ्क का निराकरण प्रजातांत्रिक विकास से ही सम्भव है।

लास्की ने आत्मरक्षा के लिए ही हिंसा प्रयोग का समर्थन किया, अर्थात् उसने कहा कि हिंसा का प्रयोग केवल तभी अनिवार्य है जब पूंजीपति संवैधानिक साधनों द्वारा समाजवादी कार्यक्रम को पूरा करने के *मार्ग में* बाधाएं प्रस्तुत करें।

यह उल्लेखनीय है कि प्रजातान्त्रिक विकास में अपनी आस्था के बावजूद लास्की के मन में रूसी प्रयोगों के प्रति हमेशा सद्भावना रही। रूसी क्रांति के पक्ष में लास्की ने मौलिक तर्क प्रस्तुत *किये और कहा कि इस* क्रांति ने *जनता और* नेतृत्व के मध्य नवीन प्रतिभा का स्रोत जारी किया। इसने जनवादी *शिक्षा का* व्यापक प्रचार किया, महिलाओं का उद्धार किया, जातियों और वर्गों की मूल भूत समस्या का *स्थाई लाभ प्रस्तुत किया।* उत्पादन के *लिए योजना* की आवश्यकता बतलाते हुए इस बात ने समाज के आर्थिक, राजनैतिक *ढांचे में* अप्रत्याशित *परिवर्तन किये।* विज्ञान की नई खोजों और अध्ययन की नई दिशाओं को *प्रकाश में लाने के लिए इसका अनुदान अद्वितीय रहा।* औद्योगिक प्रगति में इसने आशातीत सफलता प्राप्त की तथा न्याय और सुधार के लिए नवीन व्यवस्था को जन्म दिया। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि इस *जनप्रिय व्यवस्था ने सदियों की पिछड़ी*

हुई जनता को प्रेरणा, नई सूझ और शक्ति प्रदान की। लास्की के इस पक्ष-पोषण से यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि उसने रूसी-व्यवस्था के केवल प्रशसात्मक गीत ही गाये। वास्तविकता यह है कि उसने इस विषय में एक सन्तुलित और समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया। उसने रूसी क्रांति और व्यवस्था के उन तथ्यों की आलोचना की जिनसे प्रतिक्रियावाद को समर्थन मिलता है और अशांति का वातावरण तैयार होता है।

अन्त में, लास्की के मार्क्सवादी विचारों पर प्रकाश डालते हुए किंग्जले मार्टिन के शब्दों में कहा जा सकता है कि—

"उसकी युक्तियां मार्क्स से भले ही ली गई हों, किन्तु अन्तिम परीक्षण तक वह लेनिन की अपेक्षा विलियम मौरिस (*William Morris*) का समर्थक मालूम होता है। यदि वह एक मार्क्सवादी था, तो उसका कारण यह था 'जैसा कि उसके मित्र लुई लेवी (*Louis Levy*) ने कहा. 'कार्ल मार्क्स का समाजवाद अनिवार्य रूप में मानवतावादी था', तथा जोरेस ब्लम और हैरोल्ड लास्की सभी समाजवादी थे जिन्होंने 'मार्क्सवाद के उस मानवीय पक्ष' पर वल दिया और 'वैज्ञानिक समाजवाद के आविष्कारक को फ्रांस के क्रांतिकारी चिन्तन की मुख्य धाराओं से जोड़ दिया।' इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है कि उसने विलियम मोरिस की भांति यह माना कि समाजवाद और भाईचारा एक ही चीज हैं, और जो कुछ मध्यवर्गीय समाजवादियों में बहुत कम सामान्य है वह वास्तव में ऐसा रहा और उसका व्यवहार ऐसा रहा कि जो दिखाता है कि वह एक समानता पूर्ण समाजवादी जगत में सदैव प्रसन्न रहता, यदि उसे लगातार बोलते रहने और अध्यापन करने की स्वतन्त्रता मिली होती।"[1]

प्रजातंत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता—लास्की ने प्रजातंत्रात्मक शासन का न केवल समर्थन ही किया, अपितु उसे मानवता के लिए आदर्शतन्त्र भी स्वीकार किया है। उसका विश्वास था कि व्यक्तित्व का समग्र विकास एक सच्चे प्रजातंत्र में ही संभव है। संसदात्मक प्रजातंत्र समाज की सामूहिक बुद्धि का

---

1. Kingsley Martin : "His argument might be derived from Marx, but at the final test he was a follower of William Morris rather than of Lenin. If he was a Marxist it was because, as his friend Louis Levy put it 'the socialism of Karl Marx was essentially humanist,' and Jaurès Blum and Harold Laski were all socialists who emphasized, this human side of Marxism' and linked the inventor of Scientific Socialism with the main current of French revolutionary thought.' Another way of putting this is that, like William Morris, he held that Socialism and fellowship are the same thing, and what is far less usual amongst middle class socialists, really lived and behaved in a way which shows that he would have been happy and at home in an egalitarian socialist world, always provided that he had been allowed to go on talking and teaching."

—*Harold Laski*, Page 270

अविच्छिन्न विकास है जिसमें जनता की जागृति और शासन के परिवर्तन-विकल्प एक दूसरे के पूरक (*Complementory*) हैं। किन्तु प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु पूंजीवाद है। प्रजातन्त्र और पूंजीवाद कभी एक साथ नहीं चल सकते। उनके शब्दों में, "पूंजीवादी प्रजातन्त्र की समस्या (आर्थिक पुनरुत्थान की असाधारण घटना के अतिरिक्त) केवल तभी हल हो सकती है जबकि या तो पूंजीवाद का दमन कर दिया जावे या प्रजातन्त्र को कुचल दिया जावे।" पहले का अर्थ होगा एक आर्थिक क्रान्ति लेकिन दूसरे का अर्थ होगा राजनीतिक क्रान्ति। लास्की के मत में पूंजीवाद प्रजातन्त्र का एक बड़ा खतरनाक दुश्मन है क्योंकि वह शक्ल तो प्रजातन्त्र की अख्तियार करता है लेकिन उसकी आत्मा निकृष्टतम अधिनायकत्व की सूचक है। "पूंजीवादी प्रजातन्त्र, जो मार्क्सवादी परिभाषा में उच्चवर्गीय प्रजातन्त्र का पर्याय है, वास्तव में एक खतरनाक सांप या द्विजिह्व (*Boa constrictor*) है जिसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हत्या होती है और निरन्तर अभाव, अवसाद, विनाश का ताण्डव नृत्य होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में प्रजातन्त्र की अवहेलना ही होती है।" अपने एक वक्तव्य में लास्की ने यह बताया कि पूंजीवादी सभ्यता के समय प्रजातन्त्र पर भीषण संकट तब आता है जब शक्तिशाली वर्ग अपने स्वार्थों और अधिकारों के लिए लड़ने पर आमादा हो जाता है। प्रजातन्त्र से लास्की का आशय यह है कि समाज के सभी सदस्य सुख की प्राप्ति में समान रूप से हकदार हैं। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि समाज में विषमता की मात्रा न्यूनतम होनी चाहिए।

लास्की ने वर्तमान निर्वाचन प्रथा को भी अपनी आलोचना का शिकार बनाया। उसने कहा कि यह बात प्रजातन्त्र के विरुद्ध है कि प्रति पांच वर्ष में एक बार मतपेटियों के पास जाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जावे। इसका आशय तो यह हुआ कि सरकार पांच साल में केवल एक दिन अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करती है और—शेष दिनों केवल मनमाना करती है। लास्की के अनुसार घोषणा-पत्र, कार्यक्रम, निर्वाचन-आधार (*Platform*), चुनावों के समय के वायदे ये सब व्यावहारिक दृष्टि में निरर्थक सिद्ध होते हैं क्योंकि शासक-दल इनका उपयोग अपने क्षणिक लाभ के लिए करते हैं। "आदर्श प्रजातन्त्र तो वह है जिसमें समाज के निश्चित मतों को कार्यरूप दिया जाय और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय में जनता की राय अवश्यमेव ली जावे। ऐसा प्रजातन्त्र पूंजीवाद नहीं बल्कि समाजवाद की आधार शिला पर निर्मित होगा। प्रतिक्रियावादी पूंजीवाद का जगह दूरगामी प्रजातन्त्र मानवता के लिए वरदान सिद्ध होगा।"

विश्व एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में लास्की के विचार स्पष्ट एवं आत्मविश्वासपूर्ण हैं। वह समस्त विश्व का एक ही धर्म स्वीकार करता है—जो मानवता है। उसकी दृष्टि में इस मानवता की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है। वह 'एक विश्व' (*One world*) का स्वप्न देखता है। जिस दिन यह स्वप्न साकार होगा उस दिन मानवता के नये मूल्यों की प्राण प्रतिष्ठा होगी। लास्की का विश्वास है कि राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी है और राज्यों में जो क्षेत्रीय तथा आर्थिक विषमता विद्यमान है उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा उपस्थित होती

है। विश्व-संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव की वृद्धि के लिये वह संघवाद की धारणा को मजबूत बनाने का पक्षपाती है। उसका मत था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व के लिये नवीन आशा है लेकिन उसे रचनात्मक कार्यों के द्वारा संसार के पिछड़े हुए देशों की समृद्धि बढ़ानी चाहिये। वस्तुतः एक शांति प्रचारक एवं युद्ध विरोधी विचारक के रूप में लास्की का सर्वत्र उल्लेख किया गया है। वह कहा करता था कि अपना शासन करते समय लोगों के साथ भ्रातृत्व के नियमों का पालन करना चाहिये क्योंकि बिना भ्रातृत्व के स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। मानवता की मुक्ति के लिये उसने विश्व शांति की समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने का समर्थन किया।

लास्की के दर्शन का मूल्यांकन (An Estimate of Laski's Philosophy)—लास्की ने राजनीति पर इतना लिखा है कि इस युग में उसकी टक्कर के लेखक बहुत कम हुए हैं। लास्की दृढ़ विश्वास का प्रचारक होने के साथ-साथ तर्क की तराजू अपने साथ लिये रहा है। उसके महान् एवं गम्भीर विचारों की छाप १९३० के बाद के इङ्गलैण्ड पर परिलक्षित होती है। १९३०–१९५० के बीच के समय को तो 'लास्की युग' तक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। संसार के विभिन्न देशों में लास्की के ग्रन्थों और लेखों को विशेष रुचि और सम्मान से पढ़ा गया है और उनके महत्व को अनुभव किया गया है। लास्की के अनेक सुयोग्य शिष्यों ने उच्च राजनीतिक पदों को सुशोभित किया है। किंग्सले मार्टिन उसकी तुलना मोण्टेस्क्यू और टॉकविल स करते हुए यह विचार प्रकट करता है कि १७वीं शताब्दी से बाद के लोकतन्त्रीय विचारों और संस्थाओं का जितना गहरा तथा मौलिक ज्ञान लास्की को था उतना यूरोप और अमेरिका में सम्भवतः अन्य किसी को नहीं था। इसके विपरीत, हरबर्ट डीन जैसे आलोचकों का विचार है कि एक राजनीतिवेत्ता और सैद्धान्तिक विचारक के रूप में लास्की उस उत्कृष्टता और विशिष्टता का कभी प्रदर्शन नहीं कर सका जो उसके प्रारम्भिक लेखों की प्रतिभा को देखते हुए सम्भव प्रतीत होती थी। लास्की के मूल्य और महत्व के विषय में आलोचकों में वस्तुतः बड़ा मतवैभिन्य है। यदि उसकी प्रशंसा के पुल बांधे गए हैं तो उसे यथार्थ की कसौटी पर अच्छी तरह कसा गया है। डीन सरीखे आलोचकों ने तो लास्की में १९३० के उपरान्त बौद्धिक ह्रास के दर्शन किये है। मिशिगन स्टेट कॉलिज के प्रो० कैरोल हॉकिन्स के अनुसार १९३१ के बाद लास्की एक विद्वान की अपेक्षा एक प्रचारक अधिक बन गया।

इसमें कोई संशय नहीं कि महान् शिक्षाशास्त्री लास्की ने अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा विद्यार्थियों की विचारशक्ति को प्रस्फुटित किया और उनकी कल्पना को सजीव व जागृत बनाया; कलम के धनी के रूप में उसने ब्रिटिश जनमत को युद्ध के क्रांतिकारी परिणामों से परिचित कराया; एक बहुमुखी विचारक के रूप में उसने स्वतन्त्रता और सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध की चिरकालीन समस्या को बीसवीं शताब्दी के विशेष प्रसंग में प्रस्तुत किया, तथापि इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि डा० हरबर्ट डीन जैसे आलोचकों के निर्णय में काफी सत्य है। लास्की के प्रारम्भिक लेख जितने

गहन थे, उनके अनुरूप वह अपनी प्रतिभा का प्रस्फुटन नहीं कर पाया और प्रथम श्रेणी का विचारक नहीं बन सका। स्वयं डीन के शब्दों में —

"लास्की की रचनाओं से पाठकों को प्रायः ऐसा आभास नहीं मिलता कि लेखक किसी विचार से जूझ रहा है। उसमें कोई संघर्ष की भावना नहीं है। ऐसी किसी भावना की अनुभूति नहीं होती कि हम एक जटिल विषय और एक ऐसे शक्तिशाली मस्तिष्क में कोई ऐसा संघर्ष देख रहे हों जो कि उसके विश्लेषण को अपनी शक्ति की अपनी सीमाओं तक और सम्भवतः उनसे भी एक कदम आगे ले जाने के लिये संकल्पबद्ध है।"[1]

लास्की की और भी अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। उसके चिन्तन में दो परस्पर विरोधी तत्व मिलते हैं। एक तरफ तो वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पोषक है, और दूसरी तरफ वह समानता के सिद्धान्त का उपासक है। राज्य की सत्ता से वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये उसने सम्प्रभुता सिद्धान्त पर आक्रमण किया। लास्की के प्रारम्भिक विचार बहुलवादी थे, लेकिन जब उसने देखा कि एक विषमतापूर्ण समाज में स्वतन्त्रता सच्चे अर्थों में कायम नहीं रह सकती, तो वह मार्क्सवादी बन गया और उसने समाज की आर्थिक व्यवस्था पर राजकीय नियंत्रण की मांग प्रस्तुत की। लास्की के इन्हीं विचारों के कारण आलोचकों ने उसे रूसी प्रचारक तक कह डाला है और अमेरिका व यूरोप के प्रतिक्रियावादी खेमों ने उसके विचारों को डरावना माना है। दूसरी ओर साम्यवादियों ने उसे पथभ्रष्ट तथा विभेदक कहा है। किन्तु सचाई तो यह है कि उसने पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य जनतान्त्रिक समाजवाद की प्रबल विचारधारा प्रचलित करके एक नया मार्ग-दर्शन किया है। मैक्स लर्नर एवं एवन्स्टीन जैसे समीक्षकों की धारणा है कि लास्की अपने प्रारम्भिक उदारवाद से कभी विमुक्त नहीं हो सका, और उसने उदारवाद तथा मार्क्सवाद को मिलाने का कठिन कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न किया। हम इसको लास्की के चिन्तन का गुण भी मान सकते हैं और दोष भी। लास्की विश्व को एक सुसंगतिबद्ध और गहन राजनीतिक दर्शन क्यों नहीं दे सका, इसका एक आंशिक कारण डॉ० डीन के अनुसार यह है कि वह प्रायः एक ऐसा सरल सूत्र खोजने को सचेष्ट रहता था कि जिससे विभिन्न सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का समाधान किया जा सके। पहले लास्की बहुलवादी सिद्धान्त में आस्था रखते हुए यह कहता था कि राज्य के अनेक कार्यों का स्थानीय समूह तथा औद्योगिक प्रबन्ध को विशिष्ट एवं विकेन्द्रित संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दिया जाना चाहिये। लेकिन बाद में वह समाज की आर्थिक व्यवस्था पर वह सरकार के नियंत्रण को उचित ठहराने लगा और

1. "*Rarely do* Laski's writings give the readers the sense that the author is struggling with an idea. *There is virtually* no sense of friction, no *feeling that one is* witnessing a clash between a complex and *refractory subject* and powerful mind that is resolved to pursue the analysis to the limit of its powers and *perhaps a step beyond* them."

—*Deane*

अन्त में समाज की सभी समस्याओं का समाधान उसे मार्क्सवाद में दिखाई दिया। यहां यह स्मरणीय है कि समय-समय पर लास्की के साधनों में चाहे कितने ही परिवतन क्यों न आये हों, लेकिन उसका साध्य सदैव अपरिवर्तित ही रहा। वह साध्द था—स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की प्राप्ति।

लास्की ने आज्ञा-पालन के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह भी दोषपूर्ण है। यह कहने से कि प्रत्येक व्यक्ति को उसी कानून का पालन करना चाहिये जो उसके अन्त:करण के अनुसार हो, अराजकता फैल सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्त:करण के विरुद्ध होने के कारण कानूनों की अवहेलना करने लगे तो लोगों में आज्ञापालन का भाव ही लुप्त हो जायगा। साथ ही यह भी सत्य है कि हर व्यक्ति में राज्य के कानूनों का औचित्य परखने की क्षमता भी नहीं होती। राजाज्ञा-पालन के विषय में लास्की के विचारों की तुलना में ग्रीन के विचार अधिक उचित तथा मान्य हैं। ग्रीन ने बताया है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिये करता है क्योंकि राजाज्ञा सामान्य हित की अभिव्यन्जक होती है।

लास्की के विचार में हम जो असंगतियां देखते हैं वास्तव में वे समय-समय पर उसके बदलते हुए दृष्टिकोण का परिणाम है। किन्तु इन असगतियों के आधार पर ही यह बात गलत नहीं हो जाती कि वह २०वीं शताब्दी का एक महान् विख्यात विचारक था। उसने अपना जीवन समाज की सेवा के लिये अर्पित किया और आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयास किया। वह अत्यन्त ही मानवतावादी था। वह वर्गहित नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण समाज के हित के लिय चिन्तित था। अध्यापक होकर सक्रिय राजनीति में अभिरुचि ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष योगदान करना लास्की की मौलिकता और विशेषता थी। बहुलवाद, प्रजातन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की व्याख्या उसने तर्कसम्मत तथा बौद्धिक सूक्ष्मता से की। इन विषयों पर उसके विचार लगभग सर्वमान्य हैं। लास्की का व्यक्तित्व विविधता से रंजित था। विद्वान, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, लेखक, पत्रकार, समाजसेवी, शिक्षक और मित्र के रूप में उसने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। उसके व्यक्तित्व में य सभी पक्ष घुल-मिलकर उसकी मौलिकता को पुष्ट करते हैं।

जी० डी० एच० कोल
(G. D. H. Cole)
(1889-1959)

संक्षिप्त जीवन परिचय एवं रचनाएं—वर्तमानकालीन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जी० डी० एच० कोल का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कोल लास्की का समकालीन विचारक था जिसका जन्म २५ सितम्बर १८८९ को हुआ और १४ जनवरी, १९५९ को देहावसान। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मेग्डालेन कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। आक्सफोर्ड में वह लगभग ४० वर्ष तक रहा और वहां वह सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्त का आचार्य हो गया। वह बहुत दिनोतक *'Worker s Educational Conference'* का भी उपप्रधान रहा।

कोल जब ऑक्सफोर्ड में एक पूर्व स्नातक (*Under graduate*) था तभी वह फेबियन सोसाइटी मे सम्मिलित हो गया और उसने 'फेबियन अनुसंधान विभाग' के संगठन मे महत्वपूर्ण भाग लिया। उसने एक-एक करके अनेक समाजवादी पत्रिकाएं निकाली, किन्तु कोई भी पत्रिका अधिक दिन तक न चल सकी। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण फेबियन सोसाइटी के शिखर के कार्यकर्ताओं में उसने एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान अर्जित किया। फेबियन सोसाइटी का सदस्य होने के नाते उसका वैबदम्पति के समष्टिवादी विचारों से उग्र विरोध हुआ। परिणामत उसने फेबियन सोसाइटी की सदस्यता को त्याग दिया। अब वह एक ऐसे समाजवाद की खोज में लग गया जो फेबियनवाद से कहीं अधिक सकारात्मक एवं परिवर्तनशील हो। प्रारम्भ में छोटी का फेबियनवादी कोल अब श्रेणी समाजवाद (*Guild Socialism*) का सर्वश्रेष्ठ विचारक बन गया। उसने अपने अनेक ग्रंथों एवं लेखों में श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों का विद्वतापूर्ण प्रतिपादन किया। श्रेणी समाजवादी होने के नाते कोल की यह प्रबल इच्छा थी कि पूंजीवाद को समाप्त करके एक ऐसे सहयोगी समाज की रचना की जाय जिसमें मजदूरों को काम की स्थितियों को निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो।

कोल आधारभूत रूप से एक बहुलवादी एवं स्वतंत्रवादी विचारक था। इसके साथ ही वह एक वामपन्थी भी था। तथापि वह उस साम्यवादी दर्शन का समर्थक नहीं था जो कि निर्धारण सिद्धान्त पर आधारित था। यद्यपि वह १९१७ की रूसी क्रांति को एक कल्याणकारी घटना समझता था जो मानवता को सामन्तवादी और साम्राज्यवादी दमन से मुक्त कराने के पथ का संकेत प्रदान करती है। बहुलवादी होने के नाते कोल का विचार था कि समाज का संगठन स्वतन्त्रता के आधार पर होना चाहिये। वह समाज उत्तम है जो स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन प्रदान करता है। इंगलैण्ड में श्रेणी समाजवादी आन्दोलन का ह्रास हो जाने पर और कोल तथा वैब में पुनः मैत्री स्थापित हो जाने पर कोल पुनर्गठित फेबियन सोसाइटी तथा *'New Fabian Research Bureau'* में फिर से आ गया और २५ वर्ष से भी अधिक समय तक उनमे पदासीन रहा। कोल का ब्रिटिश श्रमिक दल से आजीवन सम्बन्ध रहा लेकिन फिर भी उसने दल का डेलिगेट बनने की कभी इच्छा प्रकट नहीं की। वह सक्रिय राजनीतिज्ञ कभी नहीं रहा और न ही कभी दल का परामर्शदाता ही रहा। लास्की की भांति उसने दल की ओर से प्रचार कार्य भी नहीं किया। कोल संसद की सदस्यता के लिये दो बार क्रमश १९२९ और १९४५ में खड़ा हुआ। १९२९ में तो स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उसको उम्मीदवारी से हटना पड़ा और १९४५ में उसको विजय नहीं मिली। कोल को विदेश यात्रा से अरुचि थी और शायद ही वह कभी विदेश यात्रा पर गया हो। कोल कठोर परिश्रमी और कम आराम का जीवन बिताने के कारण मधुमेह रोग से ग्रस्त हो गया।

कोल की रचनाएं बहुत अधिक हैं, और जितनी अधिक पुस्तकें उसने लिखीं उतनी बहुत कम लेखकों ने लिखी हैं। उसने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक किसी भी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा। उसकी

अन्तिम महान् कृति '*History of Socialist Thought*' है जिसके चार भाग हैं। उसकी अन्य प्रमुख रचनाएं निम्नानुसार हैं—

1. Social Theory,
2. Guild Socialism Restated;
3. Intelligent Man's Guide to the Post-war World;
4. A Review of Europe;
5. Great Britain in Post-war World;
6. The Intelligent Man's Guide Through World Chaos;
7. Principles of Economic Planning;
8. Fabian Socialism;
9. Essays in Social Theory;

कोल की सभी रचनायें स्वाभाविक, स्पष्ट एवं सगतिबद्ध हैं। उनमें प्रभाव है और आकर्षण है।

कोल के राजनैतिक विचार
(The Political Ideas of Cole)

प्रा० कोल के राजनीतिक विचारों का अध्ययन बहुलवाद और समाजवाद, इन दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत करना उचित होगा, क्योंकि राजदर्शन को इन्हीं क्षेत्रों में महत्वपूर्ण देन है।

(१) कोल का बहुलवाद (Cole's Pluralism)—कोल का बहुलवादी दृष्टिकोण उसके ग्रन्थ '*Social Theory*' में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् १६२० में हुआ था। इस ग्रन्थ में कोल इस मान्यता को अस्वीकार करता है कि राज्य मनुष्य की सामाजिक चेतना की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है और उसे सामाजिक चेतना का पूर्णतम प्रतिनिधि माना जा सकता है। जब राज्य को मनुष्य की सामाजिक चेतना का सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकरण नहीं माना जा सकता तो इसका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि इसके ऊपर आधारित राजनीतिक सिद्धान्त भी ठीक नहीं हो सकता। अनुभव के तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि न तो राज्य सर्वोपरि सामाजिक संस्था ही है और न उसके कार्यों को समाज में मनुष्यों के कार्यों के समान अथवा समरूप ही समझा जा सकता है। कोल ने कहा कि राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों के अध्ययन तक ही राजनीतिक सिद्धान्त को सीमित नहीं रखा जा सकता।

कोल सामाजिक वातावरण को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। मनुष्य का जन्म और उसके समस्त कार्य-कलाप सामाजिक वातावरण में ही सम्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम बालक का परिचय परिवार से होता है। परिवार के सदस्यों के साथ सम्पर्क से ही उसे प्रथम सामाजिक अनुभूति होती है। शनैः शनैः, आयु बढ़ने के साथ साथ, उसका समाज में विद्यमान नाना समुदायों से परिचय होता जाता है। युवावस्था तक पहुंचने तक उसके सामाजिक वातावरण में नाना-व्यक्तियों और समुदायों, परम्पराओं और संस्थाओं, सुखों एवं दुःखों, अधिकारों तथा कर्तव्यों, इच्छाओं, आशाओं, शंकाओं आदि का सम्मिश्रण हो जाता है। कहने का आशय यह है कि तरुणावस्था में मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों की सीमा अत्यन्त विशाल हो जाती है। राज्य तो सबसे

बाद की चीज है। राज्य रूपी संस्था का मान मनुष्य को सम्भवतः सबसे बाद में हो पाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य के सामाजिक अनुभव में राज्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य के अतिरिक्त हमें अन्य संस्थाओं का अध्ययन करना पड़ता है। राज्य का स्वरूप और व्यक्ति के साथ उसके सम्बन्ध हमारे अध्ययन की एक विशिष्ट सामग्री बन सकती है, लेकिन इस सामग्री अथवा विषय में मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक अनुभव का समावेश नहीं हो सकता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें मनुष्य के विभिन्न समुदायों के साथ सम्बन्धों का अध्ययन करना होगा। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम न केवल राज्य और उसके अन्तर्गत विभिन्न स्थानीय निकायों का अध्ययन करें बल्कि विभिन्न ऐच्छिक एवं अनिवार्य समुदायों तथा संस्थाओं का भी अध्ययन करें। एक व्यक्ति कारखाने, दफ्तर, खान आदि का कर्मचारी हो सकता है; वह किसी धर्म संघ या राजनीतिक-दल का सदस्य हो सकता है, किसी व्यावसायिक अथवा मनोरंजन-दाता समुदाय की सदस्यता भी अपना सकता है; उसकी कुछ रुचियां हो सकती हैं और इन्हीं के कारण वह समान रुचियोंवाले व्यक्तियों से अपना सम्पर्क रख सकता है। इन परिस्थितियों में इस प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती कि व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्ध ही उसका एक मात्र या मुख्य अध्ययन विषय है। वह एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जो कि अपने अन्तर्गत व्यक्ति के नाना प्रकार के समुदायों एवं संघों के साथ सम्बन्धों को सम्मिलित करता है। उसने अपने इस सिद्धान्त को 'सामाजिक सिद्धान्त' कह कर पुकारा है। 'सामाजिक' शब्द समाज का विश्लेषण है और कोल ने समाज को इस प्रकार परिभाषित किया—

"समाज समस्त मानवीय सम्बन्धों का केन्द्र है जहां कि वे (मानवीय सम्बन्ध) विशुद्ध रूप से वैयक्तिक क्षेत्र का अतिक्रमण करते हैं और जातियों तथा उस महान् जाति—मानव जाति (जिसका कि निर्माण हो रहा है) के जीवन के तत्व बन जाते हैं।"

कोल प्राचीन धारणा का खण्डन करते हुए बारम्बार इस बात पर आग्रह करता है कि सामाजिक सिद्धान्त में मनुष्य के समस्त सामाजिक सबंधों का विवेचन किया जाना चाहिए। इसमें केवल उसके राज्य के साथ संबंधों का ही वर्णन नहीं होना चाहिये बल्कि उन असंगठित समुदायों एवं संघों का भी वर्णन किया जाना चाहिए जो कि समाज के अन्तर्गत बनते हैं।

कोल के अनुसार सभी समुदायों का आधारभूत सिद्धान्त 'कार्य' (*Function*) का सिद्धान्त है। समुदायों का निर्माण तब होता है जब किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से व्यक्ति मिलकर अर्थात् पारस्परिक सहयोग के आधार पर कार्य करना आवश्यक समझते हैं। यह तथ्य एक मनोरंजन क्लब अथवा राजनीतिक दल आदि के लिये भी उतना ही सत्य है जितना कि राज्य के लिये। कोल का कथन है कि समस्त समुदायों का कोई न कोई सामान्य उद्देश्य होता है। मनुष्य उस सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु ही उन समुदायों में संगठित होते हैं। राज्य के कार्यों का स्वरूप भी वैसा ही होता है जैसा कि समुदायों के कार्यों का। इस कारण राज्य के पास वाध्य-

कारी शक्ति का होना आवश्यक नहीं। राज्य का आधार शक्ति और कानून न होकर इच्छा है अर्थात् राज्य अथवा किसी भी अन्य समुदायों को जीवित रखने के हेतु यह आवश्यक है कि उसके सदस्य उसे सामान्य कल्याण के लिए अनिवार्य माने और उसके विषय में सामान्य हित के दृष्टिकोण से विचार करें। यदि उसके सदस्य सामान्य कल्याण अथवा हित के लिए अपने वैयक्तिक हितों को न्यौछावर करने के लिए तैयार नहीं होते तो वह समुदाय अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता। कोल का कहना है कि सामान्य हितों के समक्ष व्यक्तिगत हितों के बलिदान की इस वकालत का आशय यह नहीं है कि मनुष्यों को वैयक्तिक हितों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए अथवा उन पर कोई ध्यान ही नहीं देना चाहिये। इसका अभिप्राय तो केवल यह है कि व्यक्तियों में सामान्य हित की प्राप्ति के प्रति एक लगन होनी चाहिए और अपने सामूहिक कार्यों में उसकी सिद्धि के लिए उन्हें सचेष्ट रहना चाहिये। रूसो के सामान्य इच्छा (*General Will*) के सिद्धान्त की कोल द्वारा यही व्याख्या की गयी है।

अपने बहुलवादी विचारों की पुष्टि में कोल का कहना है कि जिस तरह सभी समुदाय क सामान्य उद्देश्य रखते हैं और उसकी पूर्ति के लिए संगठित होते हैं उसी तरह राज्य भी एक उद्देश्य की पूर्ति करता है। राज्य का औचित्य यही है कि वह व्यक्तियों का हित करता है। अतः वांछनीय और आवश्यक यही है कि राज्य के अस्तित्व को अन्य समुदायों के समान ही महत्व दिया जाये, अधिक नहीं।

कोल आगे चलकर विभिन्न समुदायों में भेद करता है और इसके दो आधार बताता है—पहला उद्देश्य और दूसरा साधन। उद्देश्य के आधार पर एक समुदाय दूसरे समुदाय से अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। इसी आधार के बल पर कोल राज्य को एक अधिक महत्वपूर्ण समुदाय मानता है और स्वीकार करता है कि अन्य समुदायों की अपेक्षा राज्य का उद्देश्य अधिक मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है।

राज्य का स्वरूप एवं कार्य-क्षेत्र—कोल ने राज्य के स्वरूप और कार्यों के विषय में जो विचार प्रकट किये है उन पर दो शब्द यहां कह देना आवश्यक होगा। कोल बड़े निश्चय और आग्रह के साथ यह कहता है कि राज्य मनुष्य के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन का सप्रभुता-सम्पन्न स्वामी नहीं है। मनुष्य न केवल राज्य का प्रत्युत् बहुत से अन्य ऐच्छिक समुदायों का भी सदस्य है। राज्य अकेला हमारी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को सतुष्ट नहीं कर सकता, और न यही कहा जा सकता है कि बल प्रयोग एकमात्र राज्य का ही अधिकार है। अन्य समुदाय भी अपनी आज्ञाओं का पालन कराने-हेतु अपने सदस्यों पर न्यूनाधिक रूप में बल-प्रयोग करते हैं। मजदूर-संघ और धर्म-सगठन अपने सदस्यों को दण्डित करते हुए देखे जा सकते हैं। अन्तर केवल यही है कि उनका बल राज्य के बल से भिन्न होता है। किन्तु प्रभाव की दृष्टि से इस बल की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों की इच्छा पर आधारित होता है, अतः प्रत्येक समुदाय को अपने क्षेत्र मे संप्रभुता-सम्पन्न माना जा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि राज्य को अन्य समुदायों का संप्रभु मानना उपयुक्त नहीं है।

वर्तमान राज्यों के कार्यों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को कोल शंका की दृष्टि से देखता है। कोल के अनुसार विगत साठ-सत्तर वर्षों से राज्य के कार्यों में द्रुत-गति से उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। *आर्थिक क्षेत्र* में कल-कारखानों के कानून और श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए अन्य कानून बनाये गये हैं। राज्य ने स्थानीय संस्थाओं के कार्यों का विस्तार किया है और अपनी कर-नीति द्वारा समाज में आय के पुनर्वितरण की चेष्टा की। इसने वर्ग-अधिकारों को बनाये रखने मान्यता प्रदान करने और उनके संशोधन करने के प्रयास किये हैं। विदेशों के साथ भी इसके सम्बन्ध निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। राज्य के कार्यों में इस विस्तार को कोल पसन्द नहीं करता। वह आर्थिक क्षेत्र में राज्य को कोई भी कार्य प्रदान नहीं करना चाहता क्योंकि इस क्षेत्र में भिन्न २ व्यक्तियों के भिन्न २ हित होते हैं जिनका समुचित रूप से सम्पादन राज्य द्वारा नहीं किया जा सकता। इसका कारण कोल की दृष्टि में यह है कि राज्य तो सभी नागरिकों का सामान्य प्रतिनिधित्व करता है, अतः *उसके द्वारा केवल उपभोग को प्रभावित करनेवाले कार्यों का ही सम्पादन किया* जा सकता है। राज्य अपने स्वरूप के कारण ऐसे कार्य करने के योग्य नहीं है जो विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न रूप से प्रभावित करते हैं। राज्य तो एक सर्व-समावेशक समुदाय है अर्थात् उसमें उसके क्षेत्र के अन्तर्गत रहनेवाले समस्त व्यक्ति सम्मिलित हैं। इसलिए उसके द्वारा केवल वे ही कार्य किये जा सकते हैं जो कि सबको समान रूप से प्रभावित करते हों। राज्य सम्बन्धी इस विचारधारा को व्यक्त करते हुए वह लिखता है—

'राज्य मनुष्यों के अन्तरों की अवहेलना करता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध उनके अन्तरों से नहीं, वरन् उनकी समता से है, उसके उद्देश्य तथा रुचि का विषय मनुष्यों की समता है, उनके अन्तर नहीं। राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमें सभी प्रकार के मनुष्य और मनुष्यों की समस्त *स्थितियाँ सम्मिलित हैं। इसीलिए राज्य-क्रियाओं का सम्बन्ध भी केवल उन्हीं चीजों से होना चाहिए जो सभी प्रकार के मनुष्यों और उनकी समस्त* स्थितियों से सम्बन्धित हों और मोटे रूप से उनका सम्बन्ध भी एक प्रकार हो अर्थात् वह सम्बन्ध उसकी समता से हो, उसके अन्तरों से नहीं।'[1]

कोल राज्य को विभिन्न समुदायों के कार्यों में *सामञ्जस्य स्थापित* करने का अधिकार नहीं देता। उसके अनुसार राज्य का *कार्य केवल राज*-नीतिक क्रियाओं तक सीमित है। "राजनैतिक क्रियाएँ वे *क्रियाएँ हैं जिनका*

---

1. "The state ignores the differences between men because ... th their differences, but with their ... concerned with ...
itons of men, m ...
and conditions of ...
in the same way ...
their points of difference" —*Cole. Social Theory Page 96*

सम्बन्ध उन वैयक्तिक संबंधों के सामाजिक विनियमन से होता है जो प्रत्यक्षतः इस बात से उत्पन्न होते हैं कि व्यक्ति समाज में साथ-साथ रहते हैं और उनका प्रत्यक्ष सामाजिक संगठन किया जा सकता है।" संक्षेप में अभिप्राय यह है कि कोल के अनुसार राज्य का उत्पादन पर तथा विभिन्न समुदायों के कार्यों में सामन्जस्य स्थापित करने का कोई अधिकार नहीं है, इसलिए वह सप्रभुता-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। वह अन्य समुदायों से श्रेष्ठ नहीं है अपितु उनके ही स्तर का एक समुदाय है।

कम्यून प्रणाली–कोल ने इस बात का अनुभव किया कि विभिन्न समुदाय अनेक बार आपस में टकरा जाते हैं और स्वार्थ सिद्धि से उपायों की खोज करने लगते हैं। फलतः समाज युद्धस्थल बन जाता है। आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सभी समुदायों में यह बात लागू होती है। अतः समाज में विरोध एवं विषमता उत्पन्न करनेवाले तत्वों को रोकने के लिए एक ऐसी संस्था का होना आवश्यक है जो समाज की एकता की रक्षा कर सके और प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय को अपने उचित क्षेत्र के अन्तर्गत रहने के लिए बाध्य कर सके। आशय यह है कि राज्य की सप्रभुता को अस्वीकार करते हुए भी कोल समाज की एकता सुरक्षित रखने की आवश्यकता को मान्यता प्रदान करता है। इस लक्ष्य के लिए वह कम्यून-प्रणाली का आविष्कार करता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कोल ने राज्य के स्थान पर एक ऐसी संस्था की कल्पना की स्थापना की जो उसके दर्शन में 'कम्यून' (*Commune*) के नाम से प्रख्यात है। यह कहा जा चुका है कि कोल गिल्ड समाजवाद का महान प्रतिपादक था, अतः उसका यह दृढ़ विश्वास था कि गिल्ड समाज की एकीकरण करनेवाली संस्था का संगठन राज्य के संगठन से आवश्यक रूप से भिन्न होना चाहिए। उसे उन अनेक संस्थाओं का प्रतिनिधि होना चाहिए जो स्वयं उपभोक्ताओं एवं उत्पादनकर्त्ताओं की अनेक व्यावसायिक संस्थाओं की प्रतिनिधि हैं यद्यपि इस व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के साथ कुछ मात्रा में प्रादेशिक आधार पर प्रतिनिधित्व भी शामिल किया जा सकता है। कोल का कहना है कि कम्यून का संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय तीनों धरातलों पर होगा। कम्यूनों को राजस्व संबंधी मामलों में महत्वपूर्ण एवं व्यापक अधिकार होंगे। विविध व्यावसायिक संघों के बीच सत्ता-विभाजन का कम्यून को अधिकार होगा। व्यावसायिक संघों के बीच नीति के विवादास्पद और जटिल मामलों का निर्णय कम्यून करेगा। ऐसे सामाजिक मामलों की भी व्यवस्था करेगा जो किसी भी व्यावसायिक सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते, उदाहरणार्थ युद्ध एवं शान्ति की घोषणा तथा सशस्त्र बल का नियंत्रण, वैदेशिक सबंधों का नियंत्रण; नगरों कस्बों और प्रदेशों की सीमाओं का निर्धारण, व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों का नियंत्रण आदि। कम्यून को व्यक्तियों तथा व्यावसायिक संस्थाओं को अपने कानूनों एवं निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकने की सत्ता भी होगी। व्यक्तियों के विरुद्ध दमन का प्रयोग फौजदारी की विधि के अनुसार किया जायेगा। समुदायों के प्रति दमन का प्रयोग आर्थिक बहिष्कार का रूप ग्रहण करेगा, किन्तु दमन का प्रयोग केवल अन्तिम अस्त्र के रूप में ही किया जायेगा, क्योंकि, कोल

के अनुसार, गिल्ड समाजवादी समाज में दमन के अवसर बहुत ही कम आयेंगे। कोल की कम्यून सम्बन्धी धारणा का विस्तृत विवेचन पीछे 'गिल्ड समाजवाद' के नये अध्याय में किया जा चुका है, अतः इस पर यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक है। यहाँ केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि कोल के कम्यून सम्बन्धी विचारों से उसके बहुलवादी सिद्धान्त की मान्यता संदिग्ध हो जाती है क्योंकि उसका कम्यून अप्रत्यक्ष रूप में राज्य का ही स्वरूप है। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'कोल राज्य की सम्प्रभुता को एक द्वार से निकाल कर दूसरे द्वार से कम्यून के रूप में वापिस बुला लेता है।'

(२) कोल का समाजवाद (*Cole's Socialism*)—कोल के समय में समाजवाद के अनेक रूप थे। उनके प्रति कोल का क्या दृष्टिकोण था इसे जानना हमारे लिए महत्वपूर्ण है। कोल में समाजवाद के प्रति धारणा तभी से था जब ऑक्सफोर्ड में वह अपनी शिक्षा प्राप्त कर रहा था। फेबियन सोसायटी की ऑक्सफोर्ड शाखा का यह एक सक्रिय सदस्य था। उसने एक के बाद एक अनेक समाजवादी पत्रिकाएँ भी निकाली यद्यपि किसी न किसी कारण वश उनमें से कोई भी अधिक समय तक प्रचलित न रह सकी। अपने इन कार्यों के कारण कोल विश्व विद्यालय की फेबियन सोसायटी का एक प्रमुख नेता बन गया। उसके अध्ययन मण्डल में उसने जो पार्ट अदा किया उसके परिणामस्वरूप ही वह १९१६ में अपने ग्रन्थ *'World of Labour'* की रचना कर पाया।

फेबियन सोसायटी से कोल का सम्बन्ध अधिक समय तक अविच्छिन्न न रह सका। एक समाजवादी समाज-राज्य के बारे को लेकर कोल एवं फेबियन सोसायटी के अन्य प्रमुख सदस्यों, विशेषकर वैब-दम्पति से मध्य गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। फलस्वरूप कोल ने फेबियन सोसायटी की सदस्यता का परित्याग कर दिया और गिल्ड समाजवाद (*Guild Socialism*) के प्रति अपनी आस्था की घोषणा की। कोल ने फेबियनों का राजनीतिक मजदूर दल तथा लिबरल-दल से सम्बन्ध छुड़ाने का बड़ा प्रयत्न किया था। किन्तु इसमें असफल रहने पर उसने सोसायटी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना ही उचित समझा। फ्रेंच सिंडिकेलिस्ट लोगों के लेखों के अध्ययन तथा माध्यमिक एवं पूर्व-अर्वाचीनकालीन निगमों के उदय और उनके सहज कानूनी अधिकारों पर प्रो० मेटलैण्ड ने जो तर्क दिये थे उनके प्रभाव से यह गिल्ड-समाजवादी विचारों के अनुकूल हो गया था। कोल ने अपनी एक दर्जन पुस्तक-पुस्तिकाओं में गिल्ड-समाजवाद की आलोचनात्मक एवं रचनात्मक विचारों का विस्तृत विवेचन किया और वह गिल्ड समाजवादी आन्दोलन में सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली बन गया।

यह देखना दिलचस्प होगा कि कोल ने राज्य समाजवाद (*State-Socialism*) का विरोध क्यों किया ? इसका एक प्रमुख कारण यह था कि कोल को यह विश्वास हो गया था कि राज्य-समाजवाद श्रमिक-वर्ग की दासता को दूर कर सकने में अक्षम है। यह अवश्य था कि राज्य-समाजवाद श्रमिकों की दशा में कुछ सुधार कर सकता था और राष्ट्रीय धन में उन्हें अपना उचित भाग भी दिला सकता था, किन्तु जिस चीज की, अर्थात् उद्योग में

स्वशासन की, उन्हें सर्वाधिक आवश्यकता थी, वह प्राप्त कर सकने में राज्य-समाजवाद असमर्थ था। कोल के मतानुसार राज्य-समाजवाद घृणित मजदूर-प्रणाली (*Wagery*) का भी अन्त नहीं कर सकता था। इसका एक दोष यह भी था कि वह प्रतिनिधित्व को सम्यक रूप से संचालित नहीं कर सकता था। कोल का यह विश्वास था कि राज्य-प्रतिनिधित्व के एक गलत और अमान्य सिद्धांत पर आधारित है अतः वह लोकतन्त्र का एक उचित यन्त्र नहीं बन सकता। बड़ी २ संसदों में छोटे २ समुदायों की भांति प्रतिनिधित्व नहीं चलाया जा सकता। मनुष्य छोटे समुदायों में तो भले ही स्वशासन की योग्यता रखते हों किन्तु आधुनिक विशाल राज्यों में ऐसा करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। आधुनिक संसदात्मक लोकतन्त्र की समस्यायें अत्यन्त जटिल और बहुमुखी होती हैं। साधारण मनुष्यों में इतनी क्षमता नहीं होती कि वे इस प्रकार की समस्याओं का समाधान कर सकें। इस प्रकार, एक विशाल राज्य में लोकतंत्र केवल मात्र एक आडम्बर होता है, न कि ठोस सच्चाई। कोल ने *Essay in Social Theory*' में लोकतन्त्र के मूल तत्वों पर प्रकाश डाला है। उसके अनुसार लोकतन्त्र का आशय यह है कि मनुष्य अपने पड़ौसियों के प्रति प्रेम-व्यवहार अपनाये। कम से कम उस समय तो वह उनसे अवश्य ही प्रेम करने को तत्पर रहे जबकि उसके हृदय में उनके प्रति विशेष घृणा-भाव न हो। एक लोकतंत्रवादी दूसरों के प्रति सहायक और सहानुभूतिमय होता है। लेकिन ऐसा होना एक छोटे क्षेत्र में ही सम्भव है, क्योंकि एक छोटे क्षेत्र में प्रायः मनुष्य एक दूसरे से परिचित होते हैं। एक विशाल राज्य में, जहां इस प्रकार के पारस्परिक परिचय का अभाव होता है, ऐसा हो सकना सम्भव नहीं। जिन्हें हम जानते तक न हों, उनके प्रति हमारे हृदय में प्रेम और सहानुभूति के भाव उत्पन्न हों, इसकी सामान्यतः आशा नहीं की जा सकती। **आधुनिक समय में विशालकाय राज्यों में निर्वाचन क्षेत्र जितने विशालतर होते चले जाते हैं, प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों से उतने ही दूर हटते चले जाते हैं।** प्रतिनिधि और निर्वाचकों में सम्बन्ध व सम्पर्क नगण्य सा रहता है। दोनों के मध्य निकटतम सम्बन्ध होते हुए भी इतनी अधिक दूरी विद्यमान रहती है कि अधिकांश निर्वाचक अपने प्रतिनिधि को नहीं जानते और न प्रतिनिधि उन्हें जानता है। तब फिर परस्पर सहानुभूति के भाव रखते हुए लोकतन्त्रात्मक व्यवहार केवल एक किताबी चीज रह जाती है। जब मनुष्य एक दूसरे को जानना छोड़ देते हैं तो लोकतंत्र का अन्त हो जाता है। कोल ने लोकतंत्र के इस आडम्बर को अच्छी तरह पहचाना और यह विश्वास प्रकट किया है कि 'राजनीतिक प्रतिनिधित्व के एक सर्वथा गलत सिद्धांत के अनुसार निर्वाचित एक दोषपूर्ण सर्वशक्तिमान संसद से जनता को अपनी रचनाशील शक्ति के पूर्ण विकास का पूरा अवसर देने की आशा नहीं की जा सकती।"

समाजवादी लोकतन्त्रवादियों की क्रमिक संसदीय-पद्धति में कोल ने इस कारण भी अविश्वास प्रकट किया क्योंकि इससे समाजवाद का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। इस क्रमिक संसदीय पद्धति को उन्हीं देशों में सफलता-पूर्वक अपनाया जा सकता है जो पूंजीवादी व्यवस्था के एक पूरे दौर से गुजर चुके हों और जो संसदात्मक ढंग के शासन के अभ्यस्त हो गये हों। इसलिए

रूस, ईरान, इण्डोनेशिया आदि देशों में इसीलिए इसे नहीं अपनाया जा सका है।

रूस के साम्यवाद मे भी कोल को विश्वास नहीं है। साम्यवाद व्यक्ति को कोई विशेष महत्व नहीं देता। हो सकता है कि रूस में एक सत्ताकार (*Monolithic*) राज्य की स्थापना करना साम्यवादी क्रांति की रक्षा करने के लिए आवश्यक रहा हो, किन्तु ऐसी प्रणाली प्रत्येक देश मे नहीं अपनाई जा सकती। यह मानना सर्वथा गलत और अनुपयुक्त है कि रूसी साम्यवादियों के साधन विशेषत जो लेनिन और स्टॉलिन ने अपनाये हर कहीं और हर स्थिति में समाजवादियों को अपनाने चाहिए। कोल को ही नहीं प्रत्युत् अनेक समाजवादियों को भी उस अत्याचार से घृणा हो गई थी जो बोल्शविकों ने अपने विरोधियों का दमन करने के लिए किया था। वस्तुत साम्यवादी-दर्शन में मानव अधिकारों के लिए कोई सच्चा सम्मान नहीं दिखाई देता। साम्यवाद अपनी योजनाओं के लिए व्यक्ति को साधन मानता है। साम्यवाद मे अधिकार की धारणा का सम्बन्ध वर्गों से होता है मानव-प्राणी के नाते व्यक्तियों से नहीं। स्पष्ट है कि उदारवादी कोल ऐसे साम्यवादी दर्शन से सहमत नहीं हो सकता था। उसका तो उदार समाजवादियों की इस धारणा मे विश्वास था कि मानव-प्राणी होने के नाते मनुष्य के कुछ मौलिक अधिकार होते हैं इन मौलिक अधिकारों का आधार वर्ग या रंग नहीं होना चाहिए।

कोल ने बोल्शेविकों के लोकतन्त्र-केन्द्रवाद (Democratic Centralism) से भी घोर असहमति प्रकट की। लोकतन्त्र केन्द्रवाद के सिद्धांत की माग है कि दल का प्रत्येक निर्णय प्रत्येक अवस्था म निर्विरोध रूप से प्रत्येक सदस्य के लिए मान्य है। दलीय अनुशासन के नाम पर दल के किसी भी निर्णय के असहमति प्रकट नहीं की जा सकती। यदि दल का निर्णय साधारण सदस्यों से स्वतन्त्र वाद-विवाद एवं विचार विमर्श के बाद स्थापित किया जाये तब तो उस निर्णय का विरोध न करने की बात को फिर भी उचित ठहराया जा सकता है लेकिन यदि स्थिति यह हो कि साधारण सदस्यों को एकदम उपेक्षित कर दिया जाय उनसे कभी कोई परामर्श न लिया जाय और फिर भी उन पर केन्द्रीय समिति के निर्णयों को थोप दिया जाये तो इसे किसी परिस्थिति म उचित नहीं कहा जा सकता। यह तो केन्द्रीय समिति की तानाशाही है लोकतन्त्रवाद का निर्मम मजाक है। स्टालिन ने इसी सिद्धांत का आश्रय लेकर अपनी नीतियों का विरोध करनेवालों को कुचल डाला। कोल ऐसे लोकतन्त्री-केन्द्रवाद का कभी समर्थन नहीं करता। उसे यह अमान्य था कि कुछ शीर्षस्थ लोगों के निर्णयों को लोकतान्त्रिक निर्णयों का नाम देते हुए दलीय अनुशासन की आड मे जनता पर थोप दिया जाये और इस प्रकार वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को फांसी लगा दी जाये। दल में नौकरशाही की प्रवृत्ति को कोल घृणा की दृष्टि से देखता था। शक्ति का केन्द्रीकरण उसे अस्वीकार था।

उपरोक्त विचारों के आधार पर साम्यवाद का विरोध करने पर भी कोल के हृदय में साम्यवाद के प्रति सम्मान के भाव थे। कोल साम्यवाद के निर्णयवादी चरित्र केन्द्रीकरण तथा नौकरशाही की ओर उसकी प्रवृत्ति को

नापसन्द करता था, किन्तु साथ ही वह साम्यवाद को स्वतन्त्रता की ऐसी महान् शक्ति स्वीकार करता था जिसमें जारों के भयावह अत्याचारों से रूस की जनता को मुक्त कराया। उसे यह भी विश्वास था कि साम्यवाद का विश्व के लिए एक सन्देश है। साम्यवाद में अन्तर्निहित कुछ विशेष गुणों से अत्यधिक आकर्षित होने के कारण ही कोल ने साम्यवाद का विरोध करते हुए भी उसे परास्त करने के लिए समाजवाद के शत्रुओं से कभी हाथ नहीं मिलाया।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कोल न साम्यवादी था और न लोकतंत्री समाजवादी ही। वह वास्तव में एक गिल्ड-समाजवादी था और अपने अन्तिम समय तक गिल्ड-समाजवादी ही रहा। उसके गिल्ड-समाजवादी विचारों पर पर्याप्त प्रकाश 'गिल्ड-समाजवाद' के एक पूर्ववर्ती अध्याय में डाला जा चुका है। इस विषय में यहां इतना ही लिख देना काफी है कि उसके मतानुसार गिल्ड समाजवाद औद्योगिक-लोकतन्त्र तथा राजनीतिक लोकतन्त्र दोनों को महत्व प्रदान करता है। इसके अनुसार केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति न होकर समाजीकरण की प्रवृत्ति होनी चाहिये। अधिकाधिक व्यक्तियों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण पर बल दिया जाये। कोल का यह विचार नहीं था कि समाजवाद की प्राप्ति अथवा सिद्धि केवल एक ही मार्ग से हो सकती है, अथवा यह कि समाजवाद का कोई ऐसा सामान्य रूप हो सकता है जिसे सभी देश समान रूप से अपना सकें। कोल का विचार लचकहीन नहीं था। वह विचार स्वातन्त्र्य का पक्षपाती था और इसीलिए उसकी अभिलाषा थी कि प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों के अनुरूप और अपने निवासियों के स्वभाव के अनुकूल एक समाजवादी पद्धति का निर्माण करें। इस तरह कोल ने यह विश्वास व्यक्त किया कि परिस्थितियों के अनुरूप समाजवाद के रूप को ढाला जा सकता है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी कोल एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी था और उसकी यह परम् इच्छा थी कि एक ऐसा समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किया जाये जिसमें सभी समाजवादी देश भाग ले सकें। वह चाहता था कि एक ऐसा सामान्य मन्च हो जिस पर विभिन्न देशों के समाजवादी दल एकत्रित हों तथा अपने उद्देश्यों तथा व्यवहारों में एक रास्ता स्थापित करने के हेतु सचेष्ट बनें। कोल की आन्तरिक कामना समाजवाद के विश्वव्यापी रूप को देखने की थी। उसका विचार था कि समाजवाद पूर्णतः सफल तभी हो सकता है जबकि वह एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति बन जाये। चारों तरफ से पूंजीवादी देशों से घिरे हुए किसी एक देश में समाजवाद की स्थापना के प्रयत्नों के सफल होने की अधिक सम्भावना नहीं की जा सकती।

कोल समाजवादी आन्दोलन का एकता का पुजारी था। उसे यह देख कर महान् दुःख होता था कि समाजवादी आन्दोलन पारस्परिक फूट के कारण शिथिल पड़ गया है। साम्यवादी और साम्यवाद-विरोधी समाजवादी दल एक दूसरे से संघर्षरत रहते हैं—यह देखकर कोल का संतप्त हृदय अन्तिम समय तक यही आशा संजोये रहा कि किसी प्रकार सभी समाजवादी दल पूंजीवाद को नष्ट करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के सामान्य उद्देश्य के लिए अपने मतभेदों को भुलाकर संगठित हो जायें। उसने [illegible]

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (*Third International*) का विरोध इसीलिये किया क्योंकि उसने सभी देशों के समाजवादी और श्रमिक वर्ग आंदोलन को दो-परस्पर विरोधी (साम्यवादी एवं साम्यवाद विरोधी श्रम तथा समाजवादी दलों) गुटों में विभक्त कर दिया।

कोल समाजवाद को सताये हुये व्यक्तियों के कल्याण के लिए एक व्यापक आन्दोलन समझता था। वह कहता था कि समाज एक विशेष प्रकार के समाजवाद का और उसमें पाये जाने वाले जीवन-मूल्यों का नाम है। यह उन उपायों का नाम नहीं है जिनके द्वारा उस समाज की स्थापना होनी है। *कोल नीति शास्त्र से समाजवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करता था।* उसके अनुसार समाजवाद का मुख्य सम्बन्ध इसी बात से है कि मनुष्य मनुष्य में परस्पर क्या सम्बन्ध हो। कोल ने उन उद्देश्यों को भी बताया है जिनकी प्राप्ति एक समाजवादी समाज का लक्ष्य होना चाहिए। ये उद्देश्य हैं—

(१) देश के निवासियों के जीवन-स्तर को उच्च करना,

(२) देश वासियों को वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करना,

(३) जनता को भाषण संघ एवं उद्योगों की *स्वतन्त्रता प्रदान करके अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने देना,*

(४) देश की आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया जाना,

(५) इस बात पर बल देना कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का प्रयोग इस ढंग से करना चाहिए जिससे समाज का हित हो सके,

(६) मनुष्यों में बंधुत्व की भावना और सामाजिक नैतिकता तथा सत्य का प्रसार करना।

कोल समाजवाद की विचारधारा को नैतिक समझते हुए ऐसे समाज की स्थापना करने का अभिलाषी था *जिसमें सब व्यक्तियों को न्याय प्राप्त हो सके और सबको मनुष्य होने के नाते सम्मान मिले।—समाजवादी समाज* के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति को वह एक रोड़ा समझता था और इसीलिए उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार स्थापित करना अथवा उनका राष्ट्रीयकरण करना न्यायसंगत मानता था। उसका कहना था कि समाजवाद में पूंजीवाद की भावनाओं को दूर करके मानवीय गुणों की और ध्यान *दिया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि समाजवाद की स्थापना के लिए* कोल क्रांतिकारी साधनों को अपनाने के पक्ष में नहीं था। वह विकासवादी समाजवाद (*Evolutionary Socialism*) के पक्ष में था।

बर्टेण्ड रसल

(Bertrand Russell)

संक्षिप्त जीवन परिचय एवं रचनाएं—आधुनिककाल के अत्यन्त सम्मानित प्रमुख और महान् मौलिक विचारक बर्टेण्ड रसल का जन्म इंगलैण्ड के एक विश्व विख्यात धनिक परिवार में १८ मई सन् १८७२ को हुआ था। रसल के दादा जान रसल इंगलैण्ड के उदार प्रधान मन्त्री रह चुके थे। चूंकि

रसल के माता पिता का देहान्त उनके वचपन में ही हो गया था, अतः उनका पालन-पोषण उनके दादा-दादी द्वारा किया गया। सन् १८९० में रसल को अध्ययन हेतु केम्ब्रिज भेजा गया जहां पर वह सीनियर रैंगलर (*Senior Wrangler*) वन गया और उसने विशिष्टतापूर्ण प्रथम श्रेणी प्राप्त की। रसल की गणित और दर्शन में बाल्यावस्था से ही गहरी रुचि थी। जब सन् १९०० में वह पेरिस में गणित शास्त्र-सम्मेलन में गया तो गणित शास्त्र के प्रति उसकी रुचि में विशेष रूप से अभिवृद्धि होगई। सन् १९०३ में उसने अपना प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ *The Principles of Mathematics*' लिखा। सन् १९१० में रसल केम्ब्रिज में अपने पुराने कॉलेज में प्राध्यापक नियुक्त होगया। किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान उसे पदच्युत कर दिया गया क्योंकि उसे कुछ विरोधी रचनाओं के कारण न्यायालय से दण्डित होना पड़ा था। रसल को संयुक्त राज्य अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय से नियुक्ति का आमत्रण मिला, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे वहां जाने के लिये पासपोर्ट तक नहीं दिया। सन् १९१८ में प्रकाशित अपने एक शांतिवादी किन्तु साहसपूर्ण स्पष्ट शैली में लिखे गये लेख के कारण रसल को छः माह का कारावास भी भोगना पड़ा। कारावास में ही उसने अपना ग्रंथ '*Introduction to Mathematical Philosophy*' लिखा। कारावास से मुक्त होने के वाद रसल ने लंदन में कुछ भाषण दिये जिन्हें पैकिंग में पुनः दोराया गया। इन व्याख्यानों का सार उसकी पुस्तक '*Analysis of Mind*' में पाया जाता है। सन् १९२० में रूस भ्रमण के दौरान उसने जो कुछ देखा और अनुभव किया, वह उसकी रचना '*Practice and Theory of Bolshevism*' में उपलब्ध है।

रसल को वचपन से ही अध्ययन के प्रति बहुत प्रेम रहा। ८० वर्ष की अवस्था तक वह लेखन कार्य करता रहा और इसी के सहारे उसने अपनी जीविका का निर्वाह किया। सन् १९५० में रसल नॉवल प्राइज से सम्मानित किया गया। रसल ने चार बार विवाह किया और हर बार उसकी पत्नी ने उसे तलाक दे दिया।

आज के युग में रसल निर्विवाद रूप से एक विश्वस्त दार्शनिक स्वीकार किया जाता है और युद्ध के घोर विरोधी के रूप में न्यायप्रिय लोक मानस का उसे असीम प्यार प्राप्त है। भारत का वह प्रारम्भ से ही एक महान् मित्र रहा है।

जैसा कि कहा जा चुका है, एक सर्वसम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी रसल ने अपनी आजीविका के हेतु लेखन कार्य ही अपनाया और अनेक विश्व-प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। '*Library of Living Philosophers*' में निकली '*Philosophy of Bertrand Russell*' नामक रचना उसकी रचनाओं की ५४ से भी अधिक पृष्ठों में एक सूची निकली है। रसल की प्रमुखतम और अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रचनाएं निम्नलिखित हैं—

1. German Social Democracy (1896)

2. The principles of Mathematics (1913)
3. A critical Exposition of the Philosophy of Leibnitz (1900)
4. Principia Mathematica (with A. N. Whitehead, 1910-12)
5.
6.
7.
8. Mysticism and Logic and other Essays (1918)
9. Roads to Freedom (1918)
10. Introduction to Mathematical Philosophy (1919)
11. The Practice and Theory of Bolshevism (1920)
12. The Analysis of Mind (1921)
13. The problem of China (1922)
14. The A. B C. of Atoms (1923)
15. The A. B. C. of Relativity (192·)
16.
17.
18.
19.
20.
21.
22.
23.
24.
25.

रसल यद्यपि अब लगभग ६५ वर्ष की आयु का है, तथापि वह आज भी मानव की सेवा मे लगा हुआ है। शांति का पुजारी यह वयोवृद्ध दार्शनिक अणुबमों के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा है और अपनी गुरु गम्भीर वाणी मे मानवता को राजनीतिज्ञों के चगुल से निकलकर महाविनाश से बचने की चेतावनी दे रहा है।

रसल के प्रमुख विचार
(Main Ideas of Russell)

रसल की ख्याति का प्रमुख कारण वह देन है जो उसने दर्शन-शास्त्र व गणित शास्त्र को दी है। रसल एक वैज्ञानिक व गणितज्ञ है जिसे निश्चयात्मक विज्ञान से अधिक रुचि है। गणित एक निश्चयात्मक विज्ञान है। किसी भी अन्य विषय की अपेक्षा गणितशास्त्र अधिक निश्चित होने का दावा कर सकता है। रसल ने, जिसका गणितशास्त्र व दर्शनशास्त्र से बाद मे सामाजिक समस्याओं का महत्त्वपूर्ण आवतन हुआ, बताया कि यदि गणित का सही प्रकार से अध्ययन किया जाय तो उसमे सत्य ही नहीं बल्कि उच्चतम सौन्दर्य भी पाया जायगा। साथ ही गणित मे वह शुद्धता और योग्यता भी है कि वह उसी पूर्णता का परिचय दे सकता है जिसका परिचय किसी अन्य उच्चतम या श्रेष्ठ कला द्वारा दिया जा सकता है। १९वी शताब्दी मे जो गणित का विकास हुआ उसने रसल पर काफी प्रभाव डाला था। इस शताब्दी मे गणित की बहुत सी समस्याओं का समाधान किया गया जिसमे मनुष्य

'*Mathematical infinite*' है। पुरानी ज्यामिति जो कि लगभग २,००० वर्ष तक प्रयोग में रही, वह १९वीं सदी के गणितज्ञों के अध्ययन और अनुसंधान के कारण ही बदली जा सकी। रसल ने वस्तुतः प्रारम्भ में गणित में पूर्ण अन्तिम सत्य को देखा। किन्तु ३८ वर्ष की अवस्था में पहुंच कर उसने ऐसा अनुभव किया है कि इस क्षेत्र में अपने भरसक प्रयासों के बावजूद वह किसी निश्चित धारणा से बहुत दूर है। उसकी रचना का अन्तिम परिणाम यह निकला कि अंकगणित में सन्देह किया जाने लगा जिसके सिद्धान्तों पर उससे पूर्व सम्भवतः कभी सन्देह नहीं किया गया था।

प्रथम महायुद्ध के विस्फोट ने रसल के चिन्तन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। अब वह सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति सजीव हो उठा। यह देखकर उसका हृदय क्षोभ से भर गया कि केवल राजनीतिज्ञों को कुतृष्णाओं की पूर्ति के लिये लाखों युवकों के जीवन की बलि दी जा रही थी, और उन्हें उन शत्रुओं को मारने व उनके हाथों मारे जाने के लिए भेजा जा रहा था जिनको उन्होंने कभी देखा भी नहीं था। युद्ध के भयावह विनाश को देखकर रसल का दार्शनिक हृदय रो उठा। उसने युद्ध के कारणों और भविष्य में उसे रोकने के साधनों पर विचार करना आरम्भ कर दिया। युद्ध सम्बन्धित समस्याओं पर लिखे गये उसके विशाल साहित्य ने उसकी प्रसिद्धि में चार चांद लगाए।

युद्ध सम्बन्धी विचार—शांतिवादी रसल ने युद्ध की कठोर निन्दा की है। युद्ध को मानव जाति के लिए महानतम् अभिशाप की संज्ञा देते हुए यह आश्चर्य प्रकट किया है कि मानव जाति के विशाल बहुमत ने ऐसी विनाशकारी वस्तु को अब तक क्योंकर सहन किया है। युद्ध का कोई न्यायोचित कारण नहीं होता और असंख्य व्यक्तियों की जानें व्यर्थ ही चली जाती हैं। यदि युद्ध के अन्तर्गत दोनों पक्षों के मरनेवाले व्यक्ति जीवित रहते तो अगणित कलाओं को जन्म मिलता। संगीत, चित्रकला, शिल्पकला और नाना अन्य ललित-कलाओं को न मालुम कितनी देन प्राप्त होती; किन्तु उनके मरने से विश्व सभ्यता को महान् क्षति पहुंची है, पहुंच रही है और पहुंचती रहेगी।

युद्ध के कारणों पर विचार प्रकट करते हुए रसल का कहना है कि सरकारों की महत्वाकांक्षाएं और कूटनीतिक धृष्टता युद्ध का प्रमुख कारण नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध का कारण जर्मन जाति की दुष्टता नहीं था। युद्ध का मूल कारण तो भावना प्रधान जीवन है। भावावेश में अन्धी होकर एक सरकार या एक जाति दूसरे प्रदेश पर आक्रमण करके अपनी प्रधानता को लादने की कोशिश करती है और जब दूसरा राज्य उसे रोकने की कोशिश करता है तो युद्ध आरम्भ हो जाता है। इस तरह से विनाश का मार्ग सरकारें अपनी गलत प्रकार की नीति से तैयार करती हैं। रसल का विश्वास है कि युद्ध के मूल में प्रमुखतः मनुष्य की आक्रांता भावना और आक्रमण की प्रतिरोधक भावना निहित है। मानव-जीवन में सचेतन बुद्धि की अपेक्षा भावना का अधिक महत्वपूर्ण भाग होता है। स्पष्ट है कि रसल के सामाजिक दर्शन का मूलतत्व उसका मनोविज्ञान पर बल देना है। उसके

अनुसार हमारे दैनिक आचरण को प्रभावित करनेवाली महानतम शक्ति न सचेतन उद्देश्य है और न आर्थिक परिस्थिति, बल्कि भावना है। अपनी इस धारणा द्वारा रसल एक ओर तो हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं की आदर्शवादी व्याख्या पर चोट करता है और दूसरी ओर मार्क्सवादी व्याख्या को भी अस्वीकार कर देता है।

रसल मोटे रूप में भावनाओं की दो श्रेणियाँ करता है—संग्रहात्मक, और सृजनात्मक। संग्रहात्मक भावनाओं के कारण मनुष्य धन एवं वस्तुओं का संग्रह करता है और धन-बल पर दूसरों से सम्पर्क स्थापित करता है। धन एक लौकिक वस्तु है। चूंकि लौकिक वस्तुएं सीमित मात्रा में प्राप्य हैं, अतः यह स्वतःसिद्ध तथ्य है कि मनुष्य अपने धन में वृद्धि दूसरों के धन को लेकर ही कर सकता है। इस प्रकार संग्रह करने की यह भावना अन्त में संघर्ष का मूल कारण सिद्ध होता है। संग्रहात्मक भावना सत्ता की तृष्णा जागृत करती है। सत्ता की तृष्णा ही आधुनिक युग का सबसे बड़ा संकट है। राज्य और सम्पत्ति—ये दोनों संग्रहात्मक भावनाओं के दो महान् साकार रूप हैं जो नाना युद्धों को जन्म देते रहते हैं। सृजनात्मक भावनाओं का सम्बन्ध आन्तरिक वस्तुओं से होता है। ये कला और ज्ञान जैसी आध्यात्मिक चीजों से जुड़ी होती हैं जिन पर कोई एकाकी स्वामित्व नहीं हो सकता। सृजनात्मक भावनाओं से ऐसी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं जिनमें सबका भाग होता है और जिनका सब लोग उपभोग कर सकते हैं। इनसे संघर्ष और ईर्ष्या की भावनाएं पैदा नहीं होतीं। सृजनात्मक भावनाओंवाले पुरुषों पर युद्ध का उन्माद नहीं छाता। ऐसे व्यक्ति अधिकांशतः 'सत्यम् शिवम्, सुन्दरम्' के रंग में रंगे रहते हैं। ईर्ष्या द्वेष संघर्ष प्रतिस्पर्धा आदि दुष्ट भावनाओं से वे साधारणतः मुक्त रहते हैं। कहने का सार यह है कि रसल के मतानुसार संग्रहात्मक भावनाओं से मनुष्य का विनाश और सृजनात्मक भावनाओं से उसका निर्माण होता है। संग्रहात्मक भाव विनाशक हैं जबकि सृजनात्मक भाव जीवनदाता। अतः मनुष्य की सद्बुद्धि और मानवता का तकाजा तो यही है कि समाज की व्यवस्था इस भांति हो कि उसमें संग्रहात्मक भावनाएं पतनोन्मुखी और सृजनात्मक भावनाएं विकासोन्मुखी हों। रसल की मान्यतानुसार राज्य सम्पत्ति एवं युद्ध संग्रहात्मक भावनाओं पर केन्द्रित हैं और इसीलिए ये विरोध के पात्र हैं। रसल की प्रवृत्ति अराजकतावाद की ओर है।

रसल युद्ध का इतना विरोधी है कि वह मदिरापान के त्याग एवं मितव्ययता के सिद्धान्त तक को इसीलिए अस्वीकार करता है ताकि इससे बचे हुए धन द्वारा शस्त्र निर्माण न किया जा सके। बड़े विनोदपूर्ण ढंग से रसल लिखता है कि "मदिरापान पर व्यय किये हुए धन से दूसरे मनुष्यों के जीवन की रक्षा होती है क्योंकि वह धन अत्यन्त विस्फोटक शस्त्रों के निर्माण में नहीं लग पाता।"

रसल ने युद्ध के विरुद्ध अपने शांतिवादी विचारों को कितने उग्र रूप में प्रकट किया इसका पता इस बात से ही चल जाता है कि प्रथम विश्व युद्ध के समय शांतिवादी विचारों के खातिर वह ब्रिटिश सरकार का कोप-

भाजन बना। उसके विरुद्ध दो बार अभियोग चलाया गया। एक बार उस पर १०० पौंड का जुर्माना हुआ और दूसरी बार उसे ६ मास का कारावास दण्ड दिया गया। शासन की नाराजगी का भय रसल को अपने विचार-प्रकाशन से कभी नही रोक पाया है। उसने युद्ध का सतत विरोध इसलिए किया है कि क्योंकि उसका विश्वास है कि युद्ध करने से किसी भी समस्या का समाधान नही होता। आणविक शस्त्रों के आविष्कार ने तो शांति के महत्व को और भी अधिक बढ़ा दिया है क्योंकि यह निश्चित है कि कोई भी विशाल आणविक युद्ध मानव जाति को विनाश के गर्त में पहुंचा देगा। लॉर्ड रसल ने सभी देशों से अपील की है कि उन्हें अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए युद्ध नहीं करना चाहिये।

इसके पहले कि रसल के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डाला जाय, संक्षेप में उसके भावना-सिद्धान्त की समीक्षा पर दो शब्द कह देना उचित होगा। रसल की इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मानव-जीवन मे भावनाओं का विशेष हाथ है और सामाजिक संस्थाओं के मूल्य का निर्णय इस बात से किया जाना चाहिये कि उनका मानव-चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। परन्तु रसल की इन बातों से सहमत होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि जितना ही अधिक मनुष्य का बौद्धिक विकास होता जाता है, उतनी ही अधिक भावनाएं नियंत्रित होती जाती है। मानव सदैव भावनाओं का खिलौना नहीं रहता। सभ्यता से आशय उस अवस्था से है जब कि मानव भावनाओं पर अधिक से अधिक नियंत्रण रखने लगता है। रसल मानव बुद्धि को भावनाओं के अन्तर्गत ला देता है। इस प्रकार वह आदर्शवादियों का विरोधी बन जाता है जो यह विश्वास करते हैं कि बुद्धि अर्थात् विवेक सर्वोपरि स्वामी है। उनके अनुसार विवेक केवल निश्चित साध्यों के लिये साधन ही नहीं सुझाता है बल्कि सम्बन्धो का निर्धारण भी करता है। हो सकता है कि युद्ध का कारण भावनाएं ही हों, पर इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। इतिहास तो यही बताता है कि युद्धों को जन्म मानव-मूर्खता ने दिया है।

रसल के स्वतन्त्रता विषयक विचार—रसल इंगलैण्डवासी होने के नाते स्वभाव से ही स्वतन्त्रता का प्रेमी है। उसके राजनैतिक विचारों में स्वतंत्रता केन्द्रीय स्थान रखती है। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि स्वतन्त्रता उसका सर्वाधिक अभीष्ट राजनीतिक आदर्श है। चूंकि मानव-प्रगति के मार्ग मे अनेकरूपिणी अन्धविश्वासपूर्ण सत्ता सदैव सबसे बड़ी बाधक रही है और आज भी है, अतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा मानव जाति के लिये एक महानतम आवश्यकता है। साम्यवाद और फासीवाद इसीलिये उपेक्षणीय हैं क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कोई मान्यता नहीं देते। रसल के विचारानुसार लोकतत्र स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिये और उसके विकास के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है। चूंकि लोकतंत्र और समाजवाद दोनों साथ-साथ चल सकते हैं, अतः रसल को दोनों ही प्रिय हैं। फिर भी यदि दोनों में से एक को चुनने का प्रश्न उपस्थित हो जाय तो रसल का मतदान समाजवाद की अपेक्षा लोकतत्र के समर्थन मे ही होगा।

रसल का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने का पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। स्वतन्त्रता वह सर्वोच्च अच्छाई है जिसके बिना

व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। आधुनिक जीवन और ज्ञान में इतनी अधिक जटिलता आगई है कि केवल स्वतन्त्र तर्कों के द्वारा ही जीवन के दुःखों का समाधान किया जा सकता है। रसल का विचार है कि स्वतन्त्र तर्कों एवं वाद-विवाद के अभाव में सत्यता की ओर नहीं पहुंचा जा सकता। व्यक्तियों को यह स्वतन्त्रता अनिवार्यतः होनी चाहिये कि वे स्वयं के विचारों की भिन्नताओं और शंकाओं को वाद-विवाद द्वारा मिटा सकें। समय के परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती जारही है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिकाधिक सभ्य होते जारहे हैं त्यों-त्यों उनके पारस्परिक कार्यों में और सामाजिक आवश्यकताओं में काफी अन्तर उत्पन्न होते जा रहे है। इन परिस्थितियों में मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिये कि वह आवश्यकतानुसार और अपनी इच्छानुसार सामाजिक प्रथाओं तथा परम्पराओं के विरुद्ध भी आचरण कर सके। स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति समाज की प्रगति की प्रमुखतम शर्तें है। रसल का विश्वास है कि समाज की कलात्मक, नैतिक, बौद्धिक आदि सम्पूर्ण प्रगति असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों पर निर्भर करती है। ऐसे व्यक्तियों के कार्य असाधारण एवं प्रगति के सूचक होते हैं। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि एक अति संगठित समाज प्रायः ऐसे व्यक्तियों के मार्ग में बाधक बनता है। वर्तमान समाज का संगठन भी इसी प्रकार का है। वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध एक षडयन्त्र है। *ऐसे समाज का उत्कर्ष सही रूप में तभी सम्भव है* जबकि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने की प्रवृत्ति विकासशील बने। रसल इस बात से अपरिचित नहीं है कि स्वतन्त्रता यदि एक अत्यन्त उपयोगी आविष्कार को जन्म दे सकती है तो वही एक अपराधी की भी जननी हो सकती है। किन्तु फिर भी स्वतन्त्रता मानव जाति के लिये परमोपयोगी वस्तु है। चंगेजखां, रॉब्सपियरी, लेनिन आदि व्यक्ति चाहे अच्छे रहे हों या बुरे, किन्तु उनमें "स्फूर्ति का, व्यक्तिगत निर्णय करने का आगे बढने की शक्ति का, मस्तिष्क की स्वाधीनता का तथा कल्पनाशील आदर्श का" एक ऐसा महान् गुण विद्यमान था जिसका इस संसार से लुप्त होना बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा, और यह गुण स्वतन्त्रता से ही जन्म पाता है।

रसल के अनुसार स्वतन्त्रता का मतलब है—रचनात्मक कार्य करने की क्षमता। उसकी स्वतन्त्रता की धारणा है मौलिक कलाकार की परम्पराओं और रूढ़ियों से स्वतन्त्रता। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्तःकरण के आदेश पर सेना में भरती होने से इन्कार करता है तो रसल उस स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें भूख, भय, दमन तथा शोषण नहीं होता। इसीलिये वह एक ऐसी व्यवस्था चाहता है जिसमें ये सब बातें न हों क्योंकि केवल ऐसे वातावरण में ही वास्तविक स्वतन्त्रता हो सकती है। जहां व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण होता हो, जिसमें एक वर्ग भोजन करता हो तथा अधिकांश जनसमूह भूखा मरता हो, ऐसे राज्य में कोरी स्वतन्त्रता से काम नहीं चल सकता। रसल ने प्रश्न किया कि यदि एक हाथ से गेहूँ दिया जाय और दूसरे से स्वतन्त्रता और यह भी कहा जाय कि इनमें से एक चीज चुनलो तो व्यक्ति स्वतन्त्रता नहीं गेहूँ लेगा। अतः राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह राज्य में धन का न्यायोचित वितरण करे, तभी व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

आज अधिकांश मनुष्य स्वतन्त्रता का आशय लेते हैं—अज्ञान के बन्धनों से स्वतन्त्रता शोषण से स्वतन्त्रता, क्षुधा और अरक्षा से स्वतन्त्रता आदि। वे यह मानते है कि ये स्वतन्त्रताएं एक कुशल शासन संगठन मे ही सम्भव है और ऐसा संगठन राज्य के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। रसल के सामने भी यह समस्या विद्यमान है। जिस तरह रूसो के सामने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राजनैतिक सत्ता के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने की समस्या उदित हुई थी, उसी प्रकार की समस्या से रसल भी ग्रस्त है। रसल रूसो की तरह स्वतन्त्रता को व्यक्ति के जीवन का मूल मानता है। वह यह विश्वास करता है कि आधुनिक राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिये उपयुक्त संगठन नहीं है। आधुनिक राज्य का आधार पशुबल है और यह मानव प्रकृति की सग्रहात्मक भावनाओं का साकार रूप है। अतः यदि स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, व्यक्तिगत नैतिकता को बनाये रखना है, समाज के जीवन का मूल्य समझना है तो राज्य के वर्तमान संगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन का होना अत्यन्त आवश्यक है। रसल शांतिमय एवं वैध साधनों द्वारा स्वतन्त्रता की उपलब्धि में विश्वास करता है। स्वतन्त्रता के लिये वह शिक्षा को आवश्यक मानता है और इसीलिये सच्ची शिक्षा के मार्ग में आनेवाली समस्त बाधा और कठिनाइयों के निवारण का समर्थन करता है।

रसल के राज्य सम्बन्धी विचार :—वर्तमान काल में मंगलकारी राज्य की धारणा अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रही है। विगत कुछ वर्षों से उदारवादी लोग राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार का समर्थन करने लगे हैं। किन्तु रसल की गणना उन थोड़े से विचारकों में होती है जिनकी दृष्टि में राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार किसी भी रूप में उपयोगी नहीं समझा जा सकता। यद्यपि रसल यह विश्वास करता है कुछ दिशाओं में राज्य के कार्यक्षेत्र में विस्तार होना चाहिए, तथापि उसका यह मत है कि आजकल राज्य द्वारा जिन असंख्य शक्तियों का प्रयोग किया जाता है उनमें से अधिकांश न केवल अनावश्यक हैं बल्कि निश्चित रूप से वे समाज के लिए हानिप्रद हैं और उनमें पर्याप्त मात्रा में कमी होनी चाहिए।

रसल राज्य के वर्तमान स्वरूप की प्रमुखतया इसलिए आलोचना करता है क्योंकि उसके अनुसार राज्य का मूल हिंसा और पशुबल है। राज्य आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में अपने बल का प्रयोग करता है। आन्तरिक क्षेत्र में शांति और सुव्यवस्था के नाम पर पुलिस, जेल, न्याय-व्यवस्था आदि साधनों द्वारा राज्य अपने घटकों पर बल-प्रयोग करता है। बाहरी क्षेत्र में आक्रमण को रोकने के नाम पर अपना सैनिक-संगठन बना करके, विनाशकारी शस्त्रों का निर्माण करके और अन्य इसी प्रकार के साधनों द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है। अपने नागरिकों के साथ अर्थात् आन्तरिक क्षेत्र में व्यवहार में राज्य जिस शक्ति का प्रयोग करता है वह कानून के अनुसार होती है। नागरिकों के अधिकार कानूनों द्वारा संरक्षित होते हैं और राज्य उनका सम्मान करता है। किन्तु दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में राज्य जिस शक्ति का आश्रय लेता है वह प्रायः कानून से

स्वतन्त्र होती है। यद्यपि राज्यों के मध्य पारस्परिक व्यवहार का विनियमन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून विद्यमान हैं किन्तु यह कानून अभी सच्चे अर्थों में सक्रिय नहीं हो सके हैं। विदेशी आक्रमणों को रोकने के नाम पर अथवा अन्य किसी बहाने की आड़ में शक्तिशाली राज्य प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की परवाह नहीं करता और अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में स्वेच्छाचारिता बरतता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसापूर्ण व्यवहार के कारण राष्ट्रों में संघर्ष की भावना बल पकड़ती है और प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति हेतु कटिबद्ध हो जाता है। वस्तुतः राज्य की शक्ति का अपने बाह्य रूप में प्रयोग अपने आन्तरिक रूप से कहीं अधिक हानिकारक होता है।

रसल राज्य की शक्ति के निकृष्टतम रूप का दर्शन सेना की अनिवार्य भरती में करता है। उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य और खेद होता है कि अधिकतर मनुष्य अनिवार्य भरती को सहन कर लेते हैं—यह जानते हुए भी कि सरकार उनका कोई दोष न होते हुए भी उन्हें मौत के मुख में झोंक देगी। रसल की आत्मा यह अनुभव करके चीत्कार कर उठती है कि लाखों निर्दोष एवं भोले-भाले व्यक्ति कुटिल राजनीति के और सरकार की पाशविक शक्ति के शिकार बन जाते हैं। सरकार अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए निर्दोष व्यक्तियों को दूसरे निर्दोष व्यक्तियों को मारने और उनके द्वारा मारे जाने के लिए विवश कर देती है। युद्ध की बलि-वेदी पर असंख्य लोगों का यह बलिदान निश्चय ही मानव-सभ्यता की महानतम् क्षति है। निरन्तर होने वाली इस क्षति को रोकने का सर्वाधिक प्रभावकारी एवं सबल उपाय अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का पूर्णतः निषेध करना है। रसल का विचार है कि निम्नलिखित उपायों द्वारा युद्ध को अवैध किया जा सकता है और एक शांतिमय समाज की स्थापना हो सकती है—

(१) एक ऐसी विश्व-सरकार की स्थापना की जाये जिसका सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार हो

(२) विभिन्न देशों में धन का ऐसे न्यायपूर्ण ढंग से वितरण हो कि किसी भी देश में किसी दूसरे देश अथवा देशों के प्रति ईर्ष्या-भाव उत्पन्न न हो सके।

(३) समग्र विश्व में जन्म-दर नीची रखी जाये।

स्पष्ट है कि युद्धों की समाप्ति एवं पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए रसल ने जिन शर्तों को प्रस्तुत किया है उनकी व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ति सम्भव नहीं है। विश्व के वर्तमान वातावरण में और अतीत के इतिहास के अनुभव के आधार पर यह कल्पना करना ही उपहासास्पद लगता है कि मानव-जाति बिना शस्त्र उठाये ही शान्तिपूर्ण उपायों से पारस्परिक झगड़ों को सुलझाने की कला सीख जायेगी। किन्तु साथ ही इसमें भी कोई दो मत नहीं है कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होते रहेंगे तब तक राज्य की प्राधिकारिक शक्ति से उत्पन्न होनेवाली बुराइयां भी विद्यमान रहेंगी। साथ ही राज्य भी किसी न किसी बहाने से अपनी शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि करता जायेगा।

बाह्य रूप से राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग का एक अन्य कुपरिणाम यह है कि उसके द्वारा बड़े-बड़े विवाद उठ खड़े होते हैं और राष्ट्रों में छीना-झपटी की भावना उत्पन्न होती है। जीवन और समाज का ढांचा बाह्य-शक्ति के प्रयोग से बदल जाता है, सीमा-विद्रोह खड़े हो जाते हैं। हाल ही का भारत-चीन का सीमा-विवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। हजारों वर्षों से दोनों राष्ट्र एक दूसरे की सीमाओं का आदर करते हुए मैत्री-भाव से रहते चले आये थे। लेकिन चीन के वर्तमान शासन की विस्तारवादी भूख ने सदियों पुराने दो दोस्तों में शत्रुता उत्पन्न कर दी है। चीन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने विशाल सैन्य-बल के द्वारा आतंक एवं अशांति का प्रसार करने पर तुला हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसकी निगाह मे कोई महत्व नहीं रखते। राजनीतिक मर्यादाओं का वह दुश्मन है। अपनी पाशविक शक्ति का नग्न प्रदर्शन करके वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति को पलीता लगाने पर तुला हुआ है। राज्य के निकृष्टतम रूप का दर्शन हमें वर्तमान साम्यवादी चीन मे स्पष्ट देखने को मिलता है। संसार के सभी सभ्य राष्ट्र, चाहे वे ब्रिटेन व अमेरिका के पूंजीवादी खेमे के हों या रूसी साम्यवादी खेमे के, यह आशा लगाये बैठे हैं कि ईश्वर शीघ्र ही चीन के भ्रष्ट-सत्ताधारियों को सद्बुद्धि देगा।

रसल आधुनिक महाकाय राज्यों के अन्य अवगुणों की भी आलोचना करता है। उसका कहना है कि वर्तमान राज्यों के विस्तृत आकार के कारण व्यक्ति का मूल्य घट गया है, वह स्वयं को एक नगण्य इकाई पाता है, उसकी स्वः निर्णय की शक्ति का ह्रास होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक राज्य अत्यन्त केन्द्रीकृत स्वरूप धारण किये हुए हैं। राज्य के कार्यों में निरन्तर विस्तार होता जा रहा है, अतः सरकारी कर्मचारियों की संख्या में भी मनमानी वृद्धि हो रही है। यह सरकारी कर्मचारी बहुत सी बातों में हमारे जीवन को प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः अनुचित रूप से शासित करते हैं।

रसल राज्य की बाह्य शक्ति का जितना विरोधी है, उतना आन्तरिक शक्ति का नही है। वह राज्य की आन्तरिक शक्ति को इसलिए महत्व देता है क्योंकि देश में शांति-व्यवस्था कायम रखने के लिए इसका होना आवश्यक है। विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के लिए यदि राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करता है तो वह भी अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। राज्य के इन कार्यों को, चाहे इनसे कितनी शांति क्यों न हो, छीन लेना असम्भव है। आन्तरिक कानून और व्यवस्था कायम रखने के अतिरिक्त रसल राज्य के और भी अनेक कार्यों को आवश्यक समझता है। उसका मत है कि महान् रोगों की रोकथाम व्यक्तिगत रूप से नहीं हो सकती अतः राज्य को इस दिशा में आवश्यक सहायता तथा निर्देशन देना चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई का उत्तरदायित्व राज्य पर होना चाहिए। बाल-कल्याण और वैज्ञानिक अनुसन्धान की ओर राज्य को सतत सचेष्ट रहना चाहिये। यही नहीं, राज्य को यह भी चाहिये कि वह आर्थिक अन्याय अथवा विषमता को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो। रसल के राज्य सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट होता है कि यद्यपि वह राज्य के बढ़ते हुए कार्य-क्षेत्र को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक मानता है, किन्तु फिर भी उग्र-अराजकतावादियों की भांति राज्य की उपयोगिता को एकदम अस्वीकार नहीं करता और न ही इसे

बिल्कुल समाप्त करने के पक्ष में है। राज्य के औचित्य को प्रकट हुए स्वयं रसल ने लिखा है—

"अराजकतावादी जो कुछ कहते हैं उसके बावजूद कुछ कार्यों के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था प्रतीत होती है। शांति तथा युद्ध, आयात-निर्यात सफाई का प्रबन्ध तथा जन्म वस्तुओं की बिक्री पर नियन्त्रण, एक न्यायपूर्ण वितरण प्रणाली ये तथा अन्य कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें एक समाज में एक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। परन्तु राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए हम यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उसके कार्य केवल उतने ही हों जो कि नितान्त आवश्यक हों। राज्य की शक्तियों को सीमित रखने का केवल एक साधन है और वह यह है कि समाज में ऐसे समुदाय हों जो कि अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए कटिबद्ध हों चाहे उसके लिए राज्य के कानूनों का विरोध ही क्यों न करना पड़े • राज्य, यद्यपि वह अपने वर्तमान रूप में काफी बुराईयों का स्रोत है, कुछ अच्छे कार्यों का साधन भी है। राज्य की आवश्यकता तब तक रहेगी जब तक कि मनुष्य की विनाशकारी प्रवृत्तियां आमतौर से पायी जाती हैं। परन्तु वह केवल एक साधन मात्र है और एक ऐसा साधन है जिसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से और कभी-कभी ही करना होगा, यदि उसे भलाई की अपेक्षा बुराई अधिक करने से रोकना है।"

रसल राज्य को एक आवश्यक बुराई समझता है। राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार उसे प्रसन्नता नहीं देता, किन्तु फिर भी वह यह अनुभव करता है कि एक निश्चित दिशा में राज्य की क्रियाओं का विस्तार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। चूंकि रसल की समस्या राज्य के अत्याचार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, अतः रसल एक ऐसी योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसमें राज्य के कार्यों में अभिवृद्धि होते हुए भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रखी जा सकती है। रसल की इस योजना का उद्देश्य मनुष्य को संगठन और स्वतन्त्रता, दोनों के लाभ प्रदान करना है। उसकी योजना संक्षेप में यह है कि स्वास्थ्य, शिक्षा सफाई, अनुसन्धान को प्रोत्साहन आदि के कार्य उन स्वतन्त्र संस्थाओं को सौंप दिये जाने चाहिये जिन्हें मनुष्य अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाते हैं। राज्य का काम तो केवल कानून और व्यवस्था कायम रखना होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रसल की योजना राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की है। रसल का विश्वास है कि 'यदि स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य और पहल करने के अवसर बढ़ जायेंगे और ऐच्छिक समुदायों की सदस्यता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को इनका अधिकतम भाग प्राप्त हो जायेगा तो जनसाधारण में वह नपुंसकता और विवशता की भावना न रहेगी जो आज के राज्य में पायी जाती है और तब स्वतन्त्रता का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जावेगा। इन समुदायों के कार्यों में राज्य साधारणतया हस्तक्षेप नहीं करेगा। उसका कार्य तो यह देखना होगा कि कुशलता का एक न्यूनतम स्तर अवश्य बना रहे और उनके परस्पर झगड़ों को निपटा दिया जाये। वह एक प्रकार का न्यायालय होगा जिसके पास विभिन्न समुदाय अपने विवाद ला सकते हैं।

यदि ऐसे विवादों का निर्णय करते समय राज्य दोनों पक्षों को अधिकतम मान्य-निर्णय करने का प्रयत्न करे और उन पर अपनी इच्छा न थोपे तो अधिकतम स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो जायेगी।"

रसल की उपरोक्त योजना गिल्ड-समाजवादियों की योजना मे बहुत अधिक भिन्न नही है, और इसकी सफलता की संभावना भी वैसी ही क्षीण अथवा कम है जैसी कि गिल्ड समाजवादी योजना की। फिर भी इसके द्वारा हमे यह महत्त्वपूर्ण संदेश मिलता है कि राज्य की बढती हुई शक्ति द्वारा निगले जाने से व्यक्ति को बचाने का मार्ग हमें ढूंढना ही होगा।

रसल के सम्पत्ति-विषयक विचार—रसल का विचार है कि आधुनिक युग मे सम्पत्ति व्यक्ति के लिए एक अभिशाप बन गई है। सम्पत्ति मानव की प्रगति में रोड़ा अटकाती है, अतः इसका अन्त कर दिया जाना चाहिए। एक आदर्श विश्व-व्यवस्था की यदि स्थापना करनी है तो व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना ही होगा। सम्पत्ति से मनुष्य आदर्श को भूलकर नितान्त भौतिकवादी हो जाता है। धन का पुजारी रचनात्मक कार्यों से आनन्द ग्रहण नही करता। केवल मात्र बाह्य ससार से प्राप्त सुखों का निष्क्रिय उपभोग ही उसके लिए आनन्द है। धन का उपासक जीवन के सभी मूल्यों को धन से ही आंकता है। धन ही उसके जीवन में सफलता की अन्तिम कसौटी होती है। जिसका दिल और दिमाग धन के रंग में रंग जाता है, उसके लिए जीवन के नैतिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं होता। रसल का कहना है कि इंगलैण्ड और अमेरिका के लोग धन के पीछे पागल हो गये है और उन्होंने सभ्यता और संस्कृति की ओर से मुख ही मोड़ लिया है। रसल ने उन व्यक्तियों को ही अच्छा माना है जिनके जीवन मे कुछ आदर्श होते हैं और जिन्हें प्राप्त करने में वे संलग्न रहते हैं। जिन व्यक्तियों के लिए धन ही राम है उनके हृदय में सदैव सबसे बड़ा भय यह विद्यमान रहता है कि कहीं उनका धन जाता न रहे। उनके दिल और दिमाग मे हरदम बना रहने वाला यह भय उनके आनन्द की शक्ति को समाप्त कर देता है।

धन स सम्बन्धित औद्योगिक व्यवस्था है। कोई औद्योगिक व्यवस्था अच्छी है अथवा बुरी, यह कुछ बातों से तय किया जा सकता है। इस मूल्य की परख के लिये रसल हमारे समक्ष निम्नलिखित चार कसौटियां प्रस्तुत करता है:—

(१) क्या इसमें अधिकतम उत्पादन होता है?
(२) क्या उत्पादित धन समान रूप से वितरित किया जाता है?
(३) क्या यह श्रमिकों के लिये कार्य करने की दशाओं को सहन करने योग्य बनाता है?
(४) क्या कार्य की स्वतन्त्रता और जीवन-शक्ति प्राप्त करने के अधिकतम अवसर विद्यमान है?

रसल के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य केवल प्रथम उद्देश्य को प्राप्त करना है। समाजवादी-व्यवस्था दूसरे और तीसरे उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन अन्तिम उद्देश्य की अवहेलना करती है। रसल को

ऐसी कोई भी व्यवस्था मान्य है जिसमे व्यक्ति को कर्म करने की स्वतन्त्रता न हो और जिसमे उसकी जीवन-शक्ति तथा प्रगति को प्रस्फुरण न मिले।

रसल भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व और सम्पत्ति की उत्तराधिकार प्रथा का भी विरोधी है। उसके अनुसार पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का कोई अधिकार नही होना चाहिए। उत्तराधिकार का नियम बिना कमाई अर्थात् अनर्जित आय का सबसे बड़ा स्रोत है। जिस सम्पत्ति को निजी परिश्रम द्वारा न कमाया गया हो उस पर उत्तराधिकार द्वारा स्वामित्व प्राप्त कर लेने का कोई न्यायोचित आधार नहीं हो सकता। आधुनिक वितरण प्रणाली का भी रसल कटु आलोचक है। आधुनिक वितरण प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण है क्योकि इसके द्वारा आर्थिक विषमता फैलती है जो प्रत्यक अवस्था मे हानिकारक है। इसीलिए वह न्यायोचित वितरण का समर्थन करता है। उसके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति का कम से कम इतना वेतन मिलना ही चाहिए कि वह अपना तथा अपने परिवार के सदस्यो का भली-प्रकार पालन-पोषण कर सके। वह समान वितरण का यह अर्थ नही लगाता कि सब को समान रूप से वेतन मिले। उसकी माग तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन-स्तर के अनुसार जीविका चलाने की समुचित साधन दिये जावें।

यह उल्लेखनीय है कि रसल के सम्पत्ति विषयक विचार अधिक उग्र नही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की आलोचना करते हुए भी वह पूंजीवाद का पूर्णतः उन्मूलन करने को नही कहता। उसका कहना है कि यदि पूंजीवाद का प्रभाव क्षेत्र सीमित कर दिया जाय तो उसके उन्मूलन की आवश्यकता नही पड़ेगी। वास्तव मे रसल उन व्यक्तियो मे से है जो किसी भी कठोर व्यवस्था को पसन्द नहीं करते, प्रत्युत् जीवन मे कुछ लचीलापन चाहता है।

रसल के समाजवाद, फासीवाद, प्रजातन्त्रवाद सम्बन्धी विचार—रसल ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में जो अपने विचार प्रस्तुत किये हैं उनसे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि समाजवाद के सामान्य उद्देश्य से उसे सहानुभूति है। उसकी दृष्टि मे समाजवाद प्रमुखत. एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे मशीनो द्वारा उत्पादन सहज बुद्धि के अनुसार होता है। समाजवाद का वह यही उद्देश्य मानता है कि मानव जाति के सुख मे अभिवृद्धि हो। सामान्य जनता के समृद्ध होने पर ही सच्चा समाजवाद स्थापित किया जा सकता है। रसल चाहता है कि अधिक श्रेष्ठ मशीनो तथा उत्पादन के अधिक कुशल साधनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय और इस प्रकार लोगो के जीवन स्तर को ऊंचा उठाया जाय। रसल पाश्चात्य यूरोप की उदारवादी संस्कृति से विशेष प्रभावित है और इसलिये वह यह स्पष्ट रूप से कहता है कि यदि उत्पादन मे वृद्धि और वितरण मे न्याय की प्राप्ति श्रमिको की उस तानाशाही से ही हो सकती है जिसमे स्वतन्त्रता का दमन होता है तो वह यह कीमत चुकाने के लिये तैयार नही है। उसे बॉलशेविको के सामान्य सिद्धान्त से सहानुभूति है, लेकिन बॉलशेविको के साधनो का वह कटु आलोचक है। रसल के समाजवादी विचारो का वर्णन उसके ग्रंथ '*The Practice and Theory of Socialism*' मे मिलता है। ग्रंथ की भूमिका मे वह यह विश्वास प्रकट करता है कि

आज के संसार के लिये समाजवाद आवश्यक है। एक आदर्श व्यवस्था के रूप में रसल रूसी साम्यवाद को वांछनीय समझता है, लेकिन वह रूसी साम्यवाद की विश्व क्रांति के विचार का समर्थन कहीं भी नहीं करता। रूसी साम्यवादियों के साधनों की कटु आलोचना करते हुए वह एक गम्भीर आपत्ति यह प्रकट करता है कि साम्यवाद की श्रमिक वर्गीय तानाशाही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोर विरोधी है। वह किसी भी प्रकार के हिंसापूर्ण क्रांतिकारी साधनों को दृढ़ता से अस्वीकार करता है। रसल साम्यवाद की आलोचना इसलिये भी करता है कि इसमें स्वतन्त्र बौद्धिक आदान-प्रदान की कोई गुंजाइश नहीं है। रूस की क्रांति को वह महत्व इसलिये देता है क्योंकि उसने मनुष्य की आशाओं को इस प्रकार जागृत किया है जो भविष्य में समाजवाद को लाने के लिये आवश्यक है किन्तु रूसी साम्यवाद अथवा बॉलशेविकवाद के आन्तरिक कुलीनतंत्री और बाह्य सैनिक स्वरूप के कारण रसल उससे घृणा करता है। उसका विचार है कि यदि बॉलशेविक क्रांति संसार के महान् देशों में फैल भी गई तो उससे सभ्यता और संस्कृति की हानि ही होगी। बॉलशेविकवाद रसल की एक महत्वपूर्ण आपत्ति यह है कि यह एक राजनीतिक विचारधारा होने के अतिरिक्त धर्म भी है। यह एक धर्म इसलिये है क्योंकि यह 'अंधविश्वास के साथ मानी हुई कुछ कट्टर धारणाओं का एक समूह है, जो जीवन के आचरण को नियन्त्रित करता है, जो प्रमाण से परे है और प्रमाण के विरुद्ध भी जाता है तथा जिसे एक ऐसी पद्धति द्वारा मानव-हृदय में भरा जाता है जो भावना प्रधान या सत्ता प्रधान है, बुद्धि प्रधान नहीं।" साम्यवाद के सम्बन्ध में कोल और रसल दोनों के विचार काफी हद तक समान हैं। दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध करते हैं, जिसके अन्तर्गत मानव के सच्चे व्यक्तित्व का ह्रास होता है। दोनों वर्ग संघर्ष को अस्वीकार करते हैं और दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व का खण्डन करते है। दोनों ही समाज के समस्त घटकों में प्रेम और बन्धुत्व की भावना का संचार करना चाहते हैं।

रसल फासीवाद का खण्डन करता है। उसने फासीवाद के साध्य और साधनों दोनों की कठोर निन्दा की है। फासीवाद इसलिये बुरा है क्योंकि वह घोर राष्ट्रवादी है, पूंजीवादी है तथा लोकतत्र विरोधी है। रसल इसके द्वारा किये गये मनुष्य जाति के आर्य तथा अनार्य में और विशिष्ठ एवं जनसाधारण में विभाजन को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

रसल प्रजातंत्र का पक्षपाती है और उसने प्रजातंत्र की धारणाओं को स्पष्ट करने का सम्यक प्रयत्न किया है। वह प्रजातंत्र को भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है। उसके कथनानुसार सैनिक अधिनायकत्व के रूप में भी प्रजातन्त्र मिलता है जहां कि अल्पमत को शक्ति प्रदान करके अधिकारी बना दिया जाता है। इसका एक अन्य रूप वहां दिखाई पडता है जहां पूर्ण राजनीतिक शक्ति राज्य के वयस्क नागरिकों में विभाजित हो जाती है। इसी प्रकार साम्यवाद में भी लोकतंत्रवाद के दर्शन होते हैं किन्तु रसल के अनुसार आदर्श लोकतंत्र की आत्मा का हर जगह अभाव है।

रसल का कहना है कि एक प्रजातंत्रवादी व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है

कि वह आधुनिक युग मे ऐसे राजनीतिक दर्शन की उन्नति करे जो व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

रसल का महत्व—रसल के सम्पत्ति, राज्य, युद्ध एव साम्यवाद सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट है कि उसने सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओं की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उसने जो भी आलोचनाएं की हैं वे रचनात्मक हैं। उसने केवल प्रचलित व्यवस्थाओं का खण्डन ही नहीं किया है बल्कि उनके लिये रचनात्मक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किये हैं। उसकी विशेषता यह है कि वह केवल आलोचना ही नहीं करता बल्कि यह भी बताता है कि उस दोष को दूर करने के लिये कैसी व्यवस्था की स्थापना की जाय। इससे उसकी वैज्ञानिकता का परिचय मिलता है। रसल ने वर्तमान जगत का और उसकी स्थिति का काफी अध्ययन किया है तथा इसकी दुर्दशा को देखकर वह काफी दुःखी भी हुआ है। उसका यह निश्चित मत है कि इस दुर्दशा को दूर करना ही होगा ताकि मानव अपना उच्चतम विकास कर सके। रसल नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। उसका कहना है कि रोटी कमाने के गुण से बढकर और भी अनेक गुण हैं जिन्हे मनुष्य को अपने अन्दर विकसित करना चाहिये। व्यक्ति का यह सतत प्रयत्न होना चाहिये कि वह सभ्यता और संस्कृति का उन्नायक बने।

रसल को मानवता से निरन्तर प्रेम रहा है। मानवता मे उसकी श्रद्धा है और इस दिशा मे वह हमेशा सक्रिय है। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि वह अभी तक मानवता का सच्चा नेतृत्व करने मे सफल नहीं हो पाया है। रसल के राजनीतिक विचार महत्वपूर्ण एव सम्मानित हैं। अपनी लगभग ६५ वर्ष की आयु मे भी वह मानवता को भावी आणविक संहार से बचाने में लगा हुआ है। इस वृद्धावस्था मे भी मानव जीवन के लिये संघर्ष करनेवाले पर सरकार *मुकदमा चलाती है और उसे दण्ड देती है।* इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि यह तो दुनिया की रीति है कि जो उसे बचाना चाहता है वह उसी को दण्ड देती है।

QUESTIONS

Q. 1. Discuss the principles of Gandhian Political Philosophy. In which sense was he a socialist and in which sense he was not ?

गांधीवादी राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। महात्मा गांधी किस दृष्टि से समाजवादी थे और किस दृष्टि से नहीं ?

Q. 2. Do you agree with the view that Mahatma Gandhi's political philosophy is nothing but pure humanitarian philosophy ?

क्या आप इस मत से सहमत है कि महात्मा गांधी का राजनैतिक दर्शन कुछ नहीं केवल मानवता का दर्शन है ?

Q. 3. Discuss the arguments in favour of decentralisation of the State. Do you think that political decentralisation would not be feasible or lasting without economic decentralisation ? Give a brief outline of the politically and economically decentralised State as conceived by Gandhiji ? Are there any political difficulties in realising it ?

राज्य के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में तर्कों की विवेचना कीजिए। क्या आप सोचते हैं कि राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के बिना आर्थिक विकेन्द्रीकरण स्थायी तथा कर्मयोग्य नहीं बनेगा ? गांधीजी द्वारा कल्पित राजनैतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रित राज्य की संक्षिप्त रूपरेखा दीजिए। क्या उसको उपार्जित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं ?

Q. 4. What are the basic principles of Gandhism ? Does it wish to reduce the functions of the State to the minimum ?

गांधीवाद के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं ? क्या गांधीवाद राज्य को कम से कम कार्य सौंपना चाहता है ?

Q. 5. How far would it be correct to regard Mahatma Gandhi as a political philosopher ? Discuss the value of his contribution to the political thinking of our times.

महात्मा गांधी को एक राजनैतिक दार्शनिक मानना कहां तक ठीक होगा ? हमारे वर्तमान काल की राजनीतिक विचारधारा को उनकी देन का मूल्यांकन कीजिए।

Q. 6. "State is one of the means of enabling people to better their condition in every department of life."

"A nation that runs its affairs smoothly and effectively without much state interference is truly democratic. Where such condition is absent, the form of government is democratic only in name."

"It is better to be violent if there is violence in our breasts than to put on the cloak of non-violence to cover impotence."

Describe Gandhism fully the special reference to Gandhi's ideas found in the above Statements.

"राज्य मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र मे उसको उन्नत बनानेवाले साधनों मे से एक है।"

"एक राष्ट्र जो बिना राजकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढग से करता है, वास्तव मे सच्चे रूप मे प्रजातन्त्रात्मक है। जहां ऐसी अवस्था नही है, वहां शासन प्रणाली केवल नाम मात्र के लिए प्रजातन्त्रीय है।"

"अगर हमारे हृदय मे हिंसा भरी है तो हिंसक होना इससे अधिक अच्छा है कि हम अपनी नपुंसकता तो ढकने के लिए अहिंसा का आवरण पहनें।"

गाधीवाद का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिए और उपरोक्त कथनो मे प्राप्त गाधीजी के विचारो का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए।

Q. 7. "Gandhiji spiritualised Politics and liberlized religion." Comment

"गाधी ने राजनीति को आध्यात्मिकता से और धर्म को उदारता से ओत-प्रोत किया।" विवेचना कीजिए।

Q. 8 Critically analyse the religious basis for the evolution of Gandhian Philosophy and Political Ideas

गाधीजी के दर्शन तथा राजनीतिक विचार के विकास के धार्मिक आधार का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।

Q 9. "At the back of every word that I have uttered since I have known what public life is, and of every act that I have done, there has been a religious consciousness and a downright religious motive." (Gandhi)

Discuss Gandhi's views about religion and politics.

"जब से मुझे सार्वजनिक जीवन का ज्ञान है प्रत्येक शब्द जो मेरे मुह से निकला है, प्रत्येक कार्य जो मैंने किया है, सबके पीछे एक धार्मिक चेतना और धार्मिक उद्देश्य रहा है।" (गाधीजी)

गाधीजी के धर्म तथा राजनीति सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिये।

[illegible] ous, I could [illegible] myself with [illegible] unless I took [illegible] tivities today [illegible] You can not divide social, [illegible] tight compartments. [illegible] human activity. It [illegible] which if they would [illegible] ound and fury signifying nothing Comment

'मेरा उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक रहा है। मैं यदि अपने आपको मानव-समाज से न मिला देता तो धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था और मैं ऐसा तब तक नही कर सकता था जब तक कि मैं राजनीति मे भाग नहीं

लेता। मनुष्य के कार्यों का पूर्ण विस्तार आज एक अविभाज्य सम्पूर्ण बन जाता है। आप आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कार्यों को अलग-अलग भागों में विभाजित नहीं कर सकते। मैं किसी भी धर्म को मानव-क्रियाओं से अलग नहीं जानता। यह दूसरे समस्त कार्यों के लिए एक आधार देता है। यदि जीवन में इस नैतिक आधार की कमी रह जाए तब जीवन एक अर्थहीन ववण्डर हो जाएगा।" (गांधीजी) विवेचना कीजिए।

Q. 11. "I look upon an increase in the power of the State with the greatest fear." (Gandhi) Discuss (a) the grounds on which Gandhiji rejects the modern State and (b) his conception of an ideal polity.

"मैं राज्य की शक्ति में वृद्धि को सबसे अधिक भय की दृष्टि से देखता हूँ" (गांधीजी) विवेचना कीजिये—(अ) इन आधारों की जिन पर कि गांधीजी वर्तमान राज्य का खण्डन करते हैं, और (ब) एक आदर्श जनतंत्र की उनकी धारणा की।

Q. 12. "Gandhi lives for others. Society is Gandhi's temple, service is his sole form of worship, humanity is his single passion. Truth is his one God, and non-violence is his only means of attaining it. His appeal is to the universal of which local forms an integral factor." Discuss.

"गांधीजी दूसरों के लिए जीवित रहते हैं, समाज गांधीजी का मन्दिर है, केवल सेवा उनकी पूजा का ढंग है। मानवता उनका प्रेम है, सत्य उनका एक ईश्वर है और अहिंसा उसके प्राप्त करने का एकमात्र साधन। वह संसार से सम्बन्ध रखते हैं, स्थान जिसका आवश्यक अंग है।" व्याख्या कीजिए।

Q. 13. "The means may be likened to a seed, the end to a tree; and there is just the same inviolable connection between the means and the end as there is between the seed and the tree." (Gandhi)

Discuss Gandhiji's views about means and ends.

"साधन एक बीज की तरह है और उद्देश्य एक पेड। साधन और उद्देश्य में भी वही सम्बन्ध है जो बीज और पेड़ में।" (गांधीजी)

गांधीजी के साधनों और साध्यों सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिए।

Q. 14. Describe 'Satyagrah' and its significance in Gandhiji's life.

'सत्याग्रह' तथा इसका गांधीजी के जीवन में क्या महत्त्व था, उल्लेख कीजिये।

Q. 15. What was Gandhiji's technique of 'Satyagrah'? How can it meet foreign aggression according to Gandhi?

गांधीजी की सत्याग्रह की प्रविधि बताइये। गांधी के अनुसार विदेशी आक्रमण के रोकने में सत्याग्रह की क्या उपयोगिता है?

Q. 16. "Supply brain to them (the Landlords and Capitalists) and remove the present terrible inequality between

them and peasants and workers." Discuss Gandhiji's theory of property and trusteeship.

'भूमिपतियो और पूंजीपतियो को चेतना दो और कृषकों, श्रमिको व उनके मध्य की वर्तमान भयानक असमानता का दूर करो।" गाधीजी के सम्पत्ति और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

Q 17. "The State represents violence in a concentrated and organised form—Society based on non-violence can only consist of groups settled in villages in which voluntary co- ... existence." ... conception

'राज्य एक सयोजित एव सुव्यवस्थित हिंसा का प्रतीक है। अहिंसात्मक आधार पर स्थापित समाज मे सुसम्पन्न गाव होने चाहिये और इन गावो के निवासी पारस्परिक सहयोग का व्यवहार करने के लिये सदैव तैयार रहे।" (गांधीजी)

इस कथन की विवेचना करते हुए गाधी के राज्य एव समाज सुधार सम्बन्धी विचारो की व्याख्या कीजिए।

Q 18 Describe the main features of the non violent state as conceived by Mahatma Gandhi. Is the ideal of a non-violent State at all realisable ?

महात्मा गाधी के विचारानुसार एक अहिंसात्मक राज्य की विशेषताओ पर प्रकाश डालिये। क्या एक अहिंसात्मक राज्य की स्थापना व्यावहारिक रूप से सम्भव है ?

Q 19. "Gandhism is the very antithesis of Marxism" Explain

"गाधीवाद मार्क्सवाद का विरोधी है।" समझाइये।

Q 20 Do you agree that "Gandhism is Marxism minus violence"

Q 21 Estimate the importance in political thought of (a) H J Laski (b) G. D. H Cole, and (c) Bertrand Russell

राजनीतिक चिन्तन मे लास्की कोल और रसल के महत्व का मूल्यांकन कीजिये।

Q 22 'Rights in fact are those conditions of social life without which no man can seek, in general, to be himself at his best' —(Laski)

... authority to the state ...

'Political equality is never real unless it is accompanied by virtual economic equality and political power, otherwise it is bound to be hand maid of economic power." —(Laski)

In light of the above statements examine critically (a) Laski's Theory of Rights, (b) Laski's views on Sovereignty and (c) Laski's views on Liberty.

'अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएं हैं जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपने को समाज का एक आदर्श अंग नहीं बना सकता।"

"यदि राज्य को असीमित सत्ता प्रदान कर दी जाये तो हीगल के एकतंत्रीय सिद्धान्तों के अनुसार उसके एकतंत्रीय अथवा एकलवादी अधिकार में अत्यन्त वृद्धि हो जायगी, किन्तु हम इस अवस्था की सदैव से अवहेलना करते आये हैं, अतः इसे मानने के लिये तैयार नहीं हैं।"

"राजनीतिक समानता तब तक व्यावहारिक नहीं हो सकती जब तक कि नागरिकों को वास्तव में आर्थिक समानता तथा राजनैतिक महत्ता के अधिकार न दिये जायें।"

उपरोक्त कथनों के प्रकाश में निम्नलिखित पर आलोचनात्मक विचार प्रकट कीजिये—

(अ) लास्की का अधिकार सिद्धान्त,
(ब) सप्रभुता पर लास्की के विचार, और
(स) स्वतंत्रता पर लास्की के विचार।

Q. 23. What does Laski say about the Nature of the State?

राज्य की प्रवृति के सम्बन्ध में लास्की की क्या धारणा है?

Q. 24. Discuss the views of Laski on—(a) Problems of Obedience to Law, and, (b) Marxism.

लास्की के नियम पालन की समस्या और मार्क्सवाद के सम्बन्ध में क्या विचार थे, व्याख्या कीजिये।

Q. 25. "The state briefly does not create but recognises rights and its character will be apparent from the right that at any given period secure recognition." (Laski) Discuss.

"प्रत्येक राज्य अधिकारों की रक्षा से ही उचित माना जाता है। उसके स्वरूप को परखने की हमारी सबसे बड़ी कसौटी यह है कि वह व्यक्ति को सुखी बनाने मे किस सीमा तक योग देता है। राज्य अधिकारों का निर्माण नही करता वरन् मान्यता प्रदान करता है।" विवेचना कीजिये।

Q. 26. "Society is federal, authority must be federal." (Laski) In the light of the above statement, examine the Pluralist view of state sovereignty.

"समाज संघात्मक है, शक्ति भी सघात्मक होनी चाहिये।" (लास्की) उपरोक्त कथन के प्रकाश में राज्य सम्प्रभुता के बहुलवादी दृष्टिकोण की विश्लेषण परीक्षा कीजिये।

Q. 27 "Rights therefore, are correlative with functions." (Laski) Discuss Laski's concept of rights.

"अधिकार कर्तव्यों की सापेक्षता रखते हैं।" लास्की की अधिकारों वपयक धारणा की विवेचना कीजिये।

Q. 28. Analyse the special features of the Socialistic ideas of G. D. H. Cole.

जी० डी० एच० कोल के सामाजिक विचारों की विशेषताओं का प्रस्तुत कीजिये।

Q. 29. What do you know about the Pluralistic Theory of Cole ? Explain it clearly.

कोल के बहुलवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

Q. 30. Describe the ideas of G. D. H. Cole regarding (a) Guild Socialism, (b) State and its functions.

कोल के विचारों का वर्णन कीजिये (अ) श्रेणी समाजवाद के बारे मे, (ब) राज्य और उसके कार्यों के बारे में।

Q. 31. Analyse the special features of the political ideas of Bertrand Russell.

रसल के राजदर्शन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

Q. 32. "Russell has a unique political philosophy." Discuss the Statement in the light of Russel's contribution to the recent political thought.

"रसल का एक विचित्र राजदर्शन था" इस कथन की व्याख्या करते हुए राजदर्शन के प्रति उसकी सेवाओं का उल्लेख कीजिये।

SUGGESTED READINGS

1. *Andrews C. F.* : Mahatma Gandhi's Ideas.
2. *Bose N. K.* : Studies in Gandhism.
3. *Datta, Dr. D. M.* : The Philosophy of Mahatma Gandhi.
4. *Dhawan, Dr. G. N.* : The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
5. *Holmes, Dr. John Haynes* : My Gandhi.
6. *Jones, Stanley* : Mahatma Gandhi.
7. *Kripalani* : The Gandhian Way.
8. *Mashruwala* : Gandhi and Marx.
9. *Mazumdar, B. B.* : The Gandhian Concept of the State
10. *Radha Krishnan* : Mahatma Gandhhi.
11. *Ramain Rolland* : Mahatma Gandhi.
12. *Agarwala, A. N.* : Gandhism, A Socialistic Approach
13. *Alexander, Horace* : Social and Political Ideas of Gandhiji
14. *Dantwala, M. L.* : Gandhism Reconsidered, Bombay (1944)
15. *Fisher, Louis* : A Week with Gandhi, London (1943)
16. *Gandhi Memorial* : Peace Number of Vishwa Bharti quarterly.
17. *Gandhi M. K.* : Story of My Experiments with Truth.
18. *Gandhi M. K.* : Non-Violence in Peace and War (1942)
19. *Gandhi M. K.* : Ethical Religion.
20. *Kriplani, J. B.,* : Non-Violent Revolution (1938)
21. *Mazumdar, B. B.* : The Gandhian Concept of the State.
22. *Sitaramayya, B. P.* : Gandhi & Gandhism. (1942)
23. *Sitaramayya, B. P.* : Socialism and Gandhism. (1938)
24. *Shri Ram Nath 'Suman'* : Gandhivad Ki Roop-Rekha.
25. *Deane, H.* : The Political Ideas of Harold J. Laski.
26. *Fadiman, Chiffton (Ed) I Believe* : The Personal Philosophies of Certain Eminent Men and Women of our Time.

27. *Howe, M Dc. Wo'fe (Ed) Holmes* : Laski Letters (1953)
28. *Martin, Kings'ey.* : Harold Laski, A Biographical Memoir
29. *Coker* : Recent Political Thought.
30. *Library of Living Philosophers* : Philosophy of Bertrand Russell.
31. *Russell, Bertrand* : Principles of Social Re-construction
32. *Russell, Bertrand* : History of Western Philosophy, London (1946)
33. *Russell Bertrand* : Roads to Freedom.
34. *Russell, Bertrand* : Freedom and Organisations.
35. *Russell, Bertrand* : Power · A new Social Analysis.
36. *Russell, Bertrand* : Authority and the Individual.